पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय
युगद्रष्टा का
जीवन-दर्शन

सम्वेदना से ही सराबोर था जिनका अंतःकरण, ऐसी ऋषिसत्ता

सजलता एवं अपनत्त्व जीवन भर लुटाने वाली हमारी गुरुसत्ता—माताजी

# समर्पणम्

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।।

मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसत्तायै श्रद्धा-प्रज्ञा युता च या ।।

भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, श्रद्धाप्रज्ञास्वरूपयोः ।।

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ।।

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डझञ्झावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ।।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

# विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है, जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट ज्योति प्रज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषिचेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग-परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युगसंजीवनी के रूप में देखा सकता है, जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनों के अंतस्तल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनरुज्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम, जनपद आगरा, जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिताश्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आस-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्‌भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ? नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज-सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे. जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारीशक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण, जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युगनिर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक दूसरे के पर्याय हैं, की जीवनयात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- ''प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गईं- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।''

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोरकाल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्रदेवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम 'मत्त' नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्रसंत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांतिनिकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाबराय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतस्तल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दु:खी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरीज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्रलेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्षग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्राय: पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनने महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देवसंस्कृति की मूलधाती को पुनरुज्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युगनिर्माण योजना व 'युगनिर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणापत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवासस्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप-साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचारक्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषिपरम्परा का बीजारोपण, प्राण-प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प-साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यानसाधना, मंत्र-चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूलशरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूलशरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युगसंधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। ❑❑❑

# भूमिका

विश्वव्यापी गायत्री परिवार के अधिष्ठाता, धर्म-तंत्र से लोकमानस के परिष्कार हेतु अपना समस्त जीवन एक यज्ञ की तरह जीने वाले पूज्यपाद पं. श्रीराम शर्मा जी आचार्य, जिन्हें सभी श्रद्धा से 'पूज्य गुरुदेव' के नाम से सम्बोधित करते हैं, का व्यक्तित्व इतना बहुआयामी गतिविधियों का केन्द्र रहा है कि उन पर कलम चला पाना, कुछ लिख पाना सूर्य को रोशनी दिखाने के समान है। युगव्यास की तरह जिन्होंने जीवन भर लेखनी की साधना कर मर्मस्पर्शी तत्त्वदर्शन दिया हो, उनके समग्र कर्तृत्व का सम्भवतः जब कभी भी आकलन किया जाएगा, विद्वत्जन हतप्रभ होकर रह जाएँगे कि कैसे एक व्यक्ति के माध्यम से यह सब बन पड़ा। अस्सी वर्ष का जीवन समय-संयम के द्वारा रबर की तरह खींचकर इतना बड़ा बना दिया गया अथवा यह उनकी गायत्री साधना की सिद्धि थी, इसे जानने में खोजी जिज्ञासुओं को अभी कई वर्ष लगेंगे।

परमपूज्य गुरुदेव के समस्त जीवनक्रम को, उनके द्वारा लिखे गए समग्र साहित्य को, उनसे जुड़ी अनुभूतियों व उनके द्वारा लिखे पत्रों को, उनकी सूक्तियों तथा अमृतवाणी को एक स्थान पर बटोरकर लाना नितान्त दुःसाध्य कार्य था। यदि किन्हीं मायनों में यह प्रयास थोड़ा-बहुत सफल होकर सामने आया है, तो इसके मूल में उनकी ही कृपा है, हम सभी का पुरुषार्थ गौण है। जिस अवतारी सत्ता ने एक साथ पाँच-पाँच जीवन जिए हों, उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर शताधिक शोधप्रबन्ध भी लिख दिए जाएँ, तो कम पड़ेंगे। भविष्य बताएगा कि एक महापुरुष, जो १९११ में जन्म लेकर १९९० में महाप्रयाण कर एक नूतन सृष्टि का सृजन कर गया, कैसे एक विराट पुरुष के रूप में, अवतारी सत्ता के रूप में असम्भव दीख पड़ने वाला कार्य सम्पन्न करता चला गया। इसलिए वाङ्मय के इस या किसी भी खण्ड को पढ़कर किसी भी व्यक्ति को यह नहीं मानना चाहिए कि उसने युगऋषि को पूर्णरूप में समझ लिया। ग्लेशियर से निकले विराट हिमखण्ड समुद्र में तैरते रहते हैं। उनका ऊपरी भाग 'आइसबर्ग' के रूप में दीखता भर है, किन्तु अन्दर वह कितना भारी-भरकम एवं गहरा है, यह आभास तक नहीं हो पाता। कई जहाज छोटे हिमखण्ड मानकर जब इनसे टकरा जाते हैं, उलट जाते हैं, तब पता चलता है कि किससे उनका मुकाबला हुआ है? परमपूज्य गुरुदेव के व्यक्तित्व को भी एक विराट हिमखण्ड के रूप में समझा-माना जा सकता है, जिसका एक छोटा-सा ऊपर का दृश्यमान भाग लोगों की दृष्टि में उनके जीवनकाल में आया अथवा यहाँ वाङ्मय में उनके जीवन-दर्शन, उनकी लेखनी से उद्भूत साहित्य रूपी संजीवनी के रूप में दिखाई देता है। बहुत बड़ा भाग अभी ऐसा है, जो दृश्यमान नहीं है-यह ७० तो क्या १०८ खण्डों में दे पाना भी नितान्त असम्भव है। सम्भव है, अगले दिनों जब उनका शताब्दी वर्ष (सन् २०११) मनाया जाए, तो वे सारे अन्तरंग-परोक्ष पक्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर हो सामने आएँ।

वाङ्मय के इस खण्ड को परिचयात्मक खण्ड के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें ऋषि-युग्म के जीवन वृत्तान्त, जीवन दर्शन उनके द्वारा स्थापित मिशन का वर्णन एवं के शेष खण्डों के साथ-साथ उनके साहित्यकार रूप के विषय में विस्तार से विवेचन किया गया है। वाङ्मय का यह प्रथम खण्ड देखने-पढ़ने वाले यह जानकारी प्राप्त कर सकते हैं कि वे किस हस्ती के साथ एकाकार हो रहे हैं। समग्र वाङ्मय के किस खण्ड में क्या-क्या है व किस के लिए कौन-सा प्रारम्भ में पढ़ने योग्य है, यह प्रथम खण्ड पढ़कर ही जाना जा सके, यह प्रयास इसकी रचना के माध्यम से सम्पादन-मण्डल द्वारा किया गया है। तो भी यह न माना जाए कि इस प्रथम खण्ड में पूज्यवर के समग्र चिन्तन का सार आ गया है। इस खण्ड से जीवन-वृत्तान्त के अतिरिक्त यह जाना जा सकता है कि किस स्थान पर, वाङ्मय के किस खण्ड में, कहाँ पर कौन सा विषय है। इससे शेष १०७ खण्डों के बारे में पाठकों को एक सिंहावलोकन में मदद मिल सके, मात्र इतना भर प्रयास इसके द्वारा किया गया है।

इसमें समाहित जीवनक्रम एक ऐसे महापुरुष के जीवन का लीला-अमृत है, जिसकी हर श्वास परमसत्ता को समर्पित रही है। साधनामय जीवन, राष्ट्र को स्वतंत्र बनाने की अदम्य आकांक्षा, स्वाध्यायशीलता इतनी कि मानो सभी कुछ लेखन-कार्य सहस्राधिक शोध-सहायकों के माध्यम से हुआ हो, समाज में छाए पीड़ा-पतन-पराभव के प्रति मन में तीव्र कसक तथा वैज्ञानिक अध्यात्मवाद रूपी दर्शन के प्रतिपादन द्वारा युगचिन्तन को नये आयाम प्रदान करना, ये कुछ ऐसी विलक्षणताएँ हैं, जो एक व्यक्ति में कदाचित ही कभी देखने को मिलती हैं। संवेदना इतनी घनीभूत हो कि वही हर श्वास में मानवमात्र के प्रति करुणा बनकर छलके, ऐसा कुछ जीवनक्रम हमारे पूज्य

गुरुदेव का रहा । उस जीवनक्रम को हम एक स्थान पर लाने का प्रयास करते भी तो कैसे ? यह मात्र एक छोटी-सी कोशिश है, जिसमें आदर्शों के हिमालय रूपी उनके गगनचुम्बी व्यक्तित्व पर विभिन्न कोनों से प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है । दोनों ही सत्ताएँ परमपूज्य गुरुदेव-परमवंदनीया माताजी एक-दूसरे के लिए समर्पित जीवन जीते रहे । दोनों ने परस्पर सदैव एक-दूसरे को स्वयं का पूरक माना । संगठन कैसे खड़ा किया जाता है, ममत्व की बूटी पिला-पिलाकर कैसे लाखों आदर्शवादी साहसियों को एक गोवर्धन के नीचे लाठी लगाने हेतु प्रेरित किया जा सकता है, इसका शिक्षण उनके जीवनक्रम को पढ़ने व जीवन में उसे उतारने की प्रेरणा के माध्यम से मिलता है ।

भारतवर्ष जगद्गुरु रहा है । सैकड़ों महामानव, संस्कृति-पुरुष इस धरती पर जन्म ले रहे हैं, किन्तु इतिहास अगले दिनों जब भी लिखा जाएगा तब युग-निर्माण योजना के प्रवर्तक आचार्य श्रीराम शर्मा एवं माता भगवती देवी शर्मा के जीवनक्रम को न केवल स्वर्णाक्षरों में मण्डित देखा जा सकेगा, लाखों-करोड़ों व्यक्ति उनके जीवन से प्रेरणा पाते हुए भारतीय संस्कृति को विश्व-संस्कृति के रूप में परिणत करते देखे जा सकेंगे । स्वयं परमपूज्य गुरुदेव के शब्दों में ''हम कौन हैं-क्या करने आए थे व क्या कुछ करके चले गए, इसे जब शोधकर्त्ता आने वाले दिनों में अनुसन्धान कर निष्कर्ष निकालेंगे, तो पाएँगे कि एक बहुत बड़ा कार्य इस युग के परिवर्तन का, विराट मानव समुदाय के विचारों में परिवर्तन का इस मिशन के द्वारा सम्भव हो गया जो कि हम स्थापित करके जा रहे हैं । इस मिशन द्वारा आने वाले १००० वर्षों तक का भाग्य नये सिरे से लिख दिया जाय, तो किसी को भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए ।''

इतिहास वास्तव में अगले दिनों हतप्रभ होकर जब यह मूल्यांकन करेगा कि लाखों व्यक्तियों का चिन्तन कैसे तेजी से बदलकर समाजसेवा प्रधान होता चला गया, कैसे उनके साधन लोकहित के लिए अर्पित होते चले गए, तो सभी की दृष्टि वाङ्मय के इन १०८ खण्डों पर जाएगी, जो कि परमपूज्य गुरुदेव-परमवंदनीया माताजी का जीवन्त-जाग्रत, सूक्ष्म व कारणशरीर है । ईश्वर समर्पित जीवन लोकसेवा करते हुए कैसे जिया जा सकता है? राष्ट्रसेवा सही अर्थों में किस प्रकार धर्मतंत्र के माध्यम से सम्भव है तथा श्रद्धा का समाजीकरण किस प्रकार किया जा सकता है, यह तथ्य यदि वाङ्मय के इस खण्ड के मनन द्वारा समझे जा सकें तो स्वाध्याय हेतु जुटाया गया यह समग्र पुरुषार्थ एक-पूजा बन जाएगा । युग-देवता के चरणों में संधिकाल की इस वेला में इससे श्रेष्ठ पुष्पांजलि और क्या हो सकती है ।

**—ब्रह्मवर्चस**

# विषय-सूची

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|

# प्रज्ञावतार का कथामृत

भगवत्कथामृत की महिमा एवं महत्त्व को सभी ने एक स्वर से स्वीकार किया है । पौराणिक आख्यान के अनुसार, वेदज्ञानी महर्षि व्यास को चारों वेदों के संकलन-सम्पादन तथा गहन अनुशीलन के बावजूद जब आत्मिक-शान्ति एवं आत्मविकास के चरम-बिन्दु की प्राप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने अपनी व्यथा देवर्षि नारद को कह सुनाई । जीवन- विद्या के मर्मज्ञ नारद ने उनका समाधान करते हुए कहा- "जीवन, संवेदना का पर्याय है । संवेदना के अंकुरण, प्रस्फुटन एवं अभिवर्द्धन के अनुरूप ही इसका विकास होता है । संवेदनहीन एवं मृतक में कोई अन्तर नहीं । दोनों ही अपना बाह्य कलेवर कितना ही क्यों न बढ़ा लें, लेकिन ये जहाँ भी रहते हैं, दुष्प्रवृत्तियों की निष्करुण दुर्गन्ध ही फैलाते हैं । इस दुर्गन्ध को सुगन्ध में बदलने, दुष्प्रवृत्तियों को सत्प्रवृत्तियों का रूप देने तथा मरे हुओं में जीवन का संचार करने वाली निर्मल संवेदना का स्रोत भगवत्कथा है । भगवत्कथा ऐसी पारसमणि है, जिसकी छुअन मात्र से वासना, साधना में और कुतर्कों के समूह, सजल श्रद्धा में तथा संशयाकुल चित्तवृत्तियाँ अटल-अडिग विश्वास में अपने आप बदल जाते हैं । भगवत्कथा का अमृत-सिंचन तड़पते-कलपते, छटपटाते जीवन को मधुर शान्ति एवं अपरिमित आनन्द से लबालब भर देता है ।"

भगवत्कथा की इस महिमा को भक्तजन ही नहीं, अब मनीषी एवं मनोवैज्ञानिक भी मानने लगे हैं । 'साइकोलॉजी विथ ए सोल' ग्रन्थ की रचनाकार जीन हार्डी का कहना है- आपराधिक एवं पापकृत्यों के प्रेरक तत्त्व, मनुष्य के विचार एवं संस्कार ही हैं । सत्साहित्य पढ़ने एवं स्वाध्याय करने से विचारों में परिवर्तन तो हो जाता है, परन्तु संस्कार बड़े ही हठीले होते हैं, उनमें सहज ढंग से परिवर्तन सम्भव नहीं । लेकिन जब हम महापुरुषों के उदात्त जीवन एवं भावभरे घटना प्रसंगों को पढ़ते-सुनते हैं, तो अपने हठीले संस्कार सहज ही गलने लगते हैं और महापुरुषों के जीवन के अनुरूप ढलने को आतुर हो जाते हैं । जीवन की आन्तरिक एवं बाह्य सतह पर आश्चर्यजनक परिवर्तन साकार हो उठता है ।

सम्भवत: इसे ही गीताकार ने बुद्धियोग की संज्ञा दी है । प्रभु श्रीकृष्ण अपने भक्तों के स्वभाव एवं अपने वरदान की चर्चा करते हुए श्रीमद्भगवद् गीता में कहते हैं-

**मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।**
**कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥**
**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥**

अर्थात्-निरन्तर मुझमें मन लगाने वाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन परस्पर मेरी ही लीला-कथाओं की चर्चा करते हैं । इस चर्चा से ही वे तुष्ट होते हैं और इसी में रमण करते हैं । ऐसे अनन्य भक्तों को ही मैं बुद्धियोग देता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझे ही पाते हैं ।

भगवत्कथा के रूप अनेक हैं और गति अव्याहत । विश्व के विभिन्न देशों, विभिन्न धर्मों, विभिन्न समुदायों में इसके रूप भले ही भिन्न-भिन्न मिलें, पर इसकी उपस्थिति सर्वत्र समान है । अवतारों-पैगम्बरों की लीला-कथाएँ कहीं और किसी भी रूप में क्यों न कही-सुनी जाएँ, मानव को आत्मिक आनन्द में विभोर करती रहती हैं । इनका हर रूप सुहाना है और हर रंग मनोहर है । हाँ ये इतने अधिक हैं कि इन्हें ठीक से गिना नहीं जा सकता, तभी तो गोस्वामीजी महाराज को कहना पड़ा **'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।'**

प्रभु अपने अनन्त रूपों में किसी एक का युगानुरूप प्राकट्य करते हैं । इन्हीं की चर्चा पुराणों में दस अवतार के रूप में कही गयी है । हाँ, उनके हर अवतार का उद्देश्य एक ही रहता है, युग का परिवर्तन । युग-परिवर्तन का यही उद्देश्य लेकर **'सम्भवामि युगे-युगे'** के अपने शाश्वत संकल्प को पूरा करने के लिए ईश्वरीय चेतना **'श्रीराम शर्मा आचार्य जी'** के रूप में अवतरित हुई ।

हम सबके परमपूज्य गुरुदेव, शाश्वत के प्रतिनिधि बनकर हम सबके बीच आए थे । उनकी कथा, उनके लीला-प्रसंगों की चर्चा हममें से हर एक को अतिशय प्रिय है । उनका स्मरण मात्र हमारे भाव एवं विचारों को, श्रद्धा एवं विश्वास के निर्मल सरोवर में डुबा देता है । यों यह चर्चा स्वयं पूज्यवर की लेखनी से 'सुनसान के सहचर' एवं 'हमारी वसीयत एवं विरासत' के पृष्ठों में मुखरित हुई है । अखण्ड-ज्योति के वर्ष ९० के स्मृति अंक एवं बाद के वर्षों में विशेष लेखमाला के रूप में यही पुण्य स्मरण किया जाता रहा है । उनकी लीला-सहचरी वन्दनीया माताजी की पुण्यकथा भी उनके महाप्रयाण के पश्चात् अखण्ड-ज्योति के ही मातृ-स्मृति अंक के रूप में प्रकाशित हुई थी । इसी बीच गायत्री तपोभूमि, मथुरा से 'प्रज्ञावतार हमारे गुरुदेव' का प्रकाशन हुआ, जिसमें अपने आराध्य के जीवन के अनेक अगणित पहलू उजागर हुए ।

गुरुदेव भले ही एक हों, उनकी अभिन्न शक्ति वन्दनीया माताजी का रूप भी एक ही क्यों न हो, लेकिन इस ऋषियुग्म के जीवन के रसभरे और रहस्य भरे प्रसंग असंख्य और अपरिमित हैं । नित ही उनके किसी नये रूप का रहस्य उजागर होता है । मर्यादा पुरुषोत्तम राम और माता सीता भले ही पूर्ण और अद्वितीय हों, परन्तु उनके लीलाचरित कभी पूर्ण नहीं हो सके । महर्षि वाल्मीकि से प्रारम्भ हुई यह कथासरिता कम्बन, तुलसी, कृतिवास आदि न जाने कितने घाटों से होती हुई आज भी नित नये रूपों में प्रवाहित है । प्रज्ञावतार के कथामृत के बारे में भी कुछ ऐसा ही है । उसे जितना कहा गया वह बहुत अल्प है या जो कहा जा रहा है, वह भी अल्प है । आगे जो कहा जाएगा वह भी अल्प एवं अपूर्ण ही होगा । यही इसकी विशेषता है । इसका तनिक-सा स्पर्श किसी भी भक्त-हृदय को क्षुद्र से महान एवं अपूर्ण को पूर्ण करने में समर्थ है । इसी भावानुभूति के साथ परमपूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की जीवनगाथा एवं उनके लीलाप्रसंगों का संकलन उनकी स्नेहिल सन्तानों को अर्पित है । आशा की जाती है कि उनकी याद हम सभी के जीवन में गुरुतत्त्व के रहस्य को उद्घाटित करेगी और अन्तर्चेतना के सरोवर में ईश्वरीय प्रेम के कमल खिल सकेंगे । वाङ्मय के प्रथम खण्ड में दिए जा रहे इस विवरण से परिजन ऋषियुग्म रूपी गुरुसत्ता के व्यक्तित्व को भली-भाँति समझ सकेंगे और आत्मसात कर अपने जीवन को धन्य बना सकेंगे ।

# युगपुरुष का जीवनवृत्त

## प्रस्तावना

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने परिजनों के आग्रह के बावजूद १९७०-७१ तक कभी भी अपने जीवन के अन्तरंग पक्षों को सबके समक्ष उजागर नहीं होने दिया । उनका जीवन इतना सरल, इतना पारदर्शी था कि सभी उन्हें अपना अभिन्न और आत्मीय स्वजन मानते थे । वे कौन हैं ? क्या हैं ? कितना बड़ा संकल्प अपने साथ लेकर आए हैं ? यह वही समझ पाया जिसने उनके साहित्य का मनन किया, उनकी प्राणचेतना 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका का मनोयोगपूर्वक स्वाध्याय किया । पूज्य गुरुदेव ने अपने जैसा ही अपनी सहधर्मिणी माता भगवती देवी को भी ढाल लिया एवं दोनों की हर श्वास-लोकहित में ही समर्पित होती रही । दोनों ने मिलकर जिस वटवृक्ष के बीजांकुर की स्थापना एक मिशन के रूप में की, अब वह बृहद रूप लेकर समाज में सबके समक्ष सबकी दृष्टि में आ गया है । गायत्री व यज्ञ की धुरी पर तपोमय एवं ब्राह्मणत्व भरा जीवन जीकर सारे समाज के ढाँचे को कैसे जर्जर स्थिति से नये भवन के रूप में खड़ा किया जा सकता है इसका नमूना अगले पृष्ठों पर परिजन-पाठकगण भली-भाँति पा सकेंगे । स्थान-स्थान पर घटनाक्रमों के माध्यम से उनकी करुणा भरे अन्तःकरण की झलक-झाँकी देखी जा सकती है तो कहीं-कहीं पर दुष्प्रवृत्तियों, मूढ़मान्यताओं से मोर्चा लेने वाले योद्धा का दर्शन भी किया जा सकता है । पूरे जीवनवृत्त को हमने विभिन्न खण्डों में बाँटा है । इनमें से कई घटनाक्रम कई स्थानों पर भिन्न-भिन्न शब्दावली में वर्णित मिल सकते हैं । इसका मतलब यह नहीं कि यह अनावश्यक 'रिपीटिशन' है । इससे बचा नहीं जा सकता था । इसके बिना उस स्थान पर समझाये जा रहे प्रसंग को भली-भाँति आत्मसात किया नहीं जा सकता । उदाहरणार्थ-सहस्रकुण्डी यज्ञ मथुरा (१९५८) का विवरण, दादागुरु से भेंट-साक्षात्कार, युग-परिवर्तन सम्बन्धी घोषणाएँ, उनकी हिमालय यात्राएँ, सूक्ष्मीकरण से जुड़े गुह्य प्रसंग स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न शब्दावलियों में आए हैं । उन्हें उस प्रसंग विशेष के साथ पढ़कर समझने का प्रयास किया जाय । 'क्रोनोलॉजीकल' क्रम अर्थात् समयावधि के अनुसार जीवनी उसी की लिखी जा सकती है, जिसके जीवन के साथ बहुमुखी विलक्षणताएँ न जुड़ी हों । किन्तु यदि किसी ने पाँच-पाँच जीवन एक साथ जिए हों, अस्सी वर्ष में स्वयं आठ सौ वर्षों का कार्य एकाकी करके रख दिया हो, नितान्त असम्भव पुरुषार्थ अपनी सहधर्मिणी शक्तिस्वरूपा माता वन्दनीया भगवती देवी शर्मा से सम्पन्न करवा लिया हो एवं दोनों एक प्राण होकर एक मिशन के रूप में लाखों सृजन शिल्पियों के समुदाय को अपनी मानस संततियों के रूप में जन्म देकर अभूतपूर्व कार्य सम्पन्न कर दिया हो एवं वह कार्य अभी भी दोनों सत्ताओं के महाप्रयाण के बाद निरन्तर बढ़ता ही जा रहा हो, शिष्य समुदाय एक विराट जनसमुदाय का रूप लेता चला जा रहा हो, तब उनका जीवनक्रम कैसे समयावधि में बाँधकर लिखा जा सकता है । इसी कारण पाठकगण स्थान-स्थान पर इस समय काल-सीमा के बंधन को तोड़कर इस जीवनक्रम को एक कथामृत के रूप में पढ़ें तो वस्तुतः वह लाभ ले पायेंगे, जो भगवत्कथामृत का पान करने से मिलता है ।

परमपूज्य गुरुदेव ने १९७०-७१ में विदाई की वेला में जब वे गायत्री तपोभूमि, मथुरा छोड़कर हिमालय प्रस्थान कर रहे थे, अपनी अन्तःवेदना अपने सम्पादकीय 'अपनों से अपनी बात' में व्यक्त की है । 'हमारी जीवन-साधना के अन्तरंग पक्ष-पहलू' नाम से पहली बार आत्मकथा प्रधान लेखनी उन्होंने जनवरी, १९७१ की अखण्ड-ज्योति पत्रिका में चलाई । इसी नाम से अपनों से अपनी बात लिखी गयी तथा फरवरी, १९७१ की अखण्ड-ज्योति पत्रिका में उन्होंने 'हमारे दृश्यजीवन की अदृश्य अनुभूतियाँ' नाम से इसका उत्तरार्द्ध लिखा । इन दोनों लेखों को, जिन्हें हम संकलित कर इस खण्ड के प्रारम्भ में ही दे रहे हैं, पढ़कर कोई भी उस संत, आत्मज्ञानी, सिद्धपुरुष के अन्तःकरण को, उनकी व्यथा को अनुभूत कर सकता है । समग्र जीवन-वृत्तान्त तो उन्होंने दार्शनिक शैली में जून, १९८४ की 'अखण्ड-ज्योति' के विशेषांक के रूप में तथा बाद में अप्रैल, १९८५ की अखण्ड-ज्योति के जीवनगाथा विशेषांक के रूप में सूक्ष्मीकरण की अवधि में लिखा । यही सब संकलित सम्पादित होकर उनकी आत्म-कथा 'हमारी वसीयत और विरासत' के रूप में सामने आया, किन्तु इससे भी पूर्व 'चमत्कारी भरा जीवनक्रम एवं उसका मर्म' नाम से एक लेख-माला वे दोनों विशेषांकों के बीच की अवधि में फरवरी व मार्च, १९८५ में लिख चुके थे । परिजनों का दबाव था कि बाल्यकाल से अब तक के जीवनवृत्त को विस्तार से दिया जाए, तब अप्रैल, १९८५ का अंक लिखा गया ।

परमपूज्य गुरुदेव के जीवनवृत्त को समग्र रूप से समझने से पूर्व उपर्युक्त चार लेख पढ़ लेना अत्यधिक अनिवार्य है ताकि उनके सांगोपांग स्वरूप को समझा जा सके । विधिवत जीवनवृत्त आरम्भ करने से पूर्व इसलिए हम उनके जीवन से जुड़े, उनकी लेखनी से लिखे गए ये लेख अविकल उसी रूप में दे रहे हैं, ताकि उस विराट व्यक्तित्व के अन्तराल में छिपी उस आत्मसत्ता का दिग्दर्शन किया जा सके, उनकी संवेदनाओं, उनके मूलभूत चिन्तन के घनीभूत रूप मिशन को समझा जा सके ।

# जीवनी सम्बन्धी चार महत्त्वपूर्ण आत्मनिवेदन गुरुसत्ता की लेखनी से

## ( १ ) हमारी जीवन-साधना के अन्तरंग पक्ष-पहलू

*-जनवरी, १९७१*

**हमारे** बहुत-से परिजन हमारी साधना और उसकी **उपलब्धियों** के बारे में कुछ अधिक जानना चाहते हैं और **यह स्वाभाविक** भी है । हमारे स्थूल जीवन के जितने अंश **प्रकाश में** आये हैं वे लोगों की दृष्टि में अद्‌भुत हैं । उनमें **विशिष्टताएँ**, चमत्कारों और अलौकिकताओं की झलक देखी **जा सकती** है । कौतूहल के पीछे उसके रहस्य जानने की **उत्सुकता** छिपी रहनी स्वाभाविक है, सो अगर परिजन **हमारी** आत्म-कथा जानना चाहते हैं और उसके लिए इन **दिनों** विशेष रूप से दबाव देते हैं तो उसे अकारण नहीं **कहा** जा सकता ।

यों हम कभी छिपाव के पक्ष में नहीं रहे, दुराव, छल, कपट हमारी आदत में नहीं, पर इन दिनों हमारी एक विवशता है कि जब तक रंग-मंच पर प्रत्यक्ष रूप से अभिनय चल रहा है, तब तक वास्तविकता बता देने पर दर्शकों का आनन्द दूसरी दिशा में मुड़ जाएगा और जिस कर्त्तव्यनिष्ठा को सर्व साधारण में जगाना चाहते हैं, वह प्रयोजन पूरा न हो सकेगा । लोग रहस्यवाद के जंजाल में उलझ जाएँगे, इससे हमारा व्यक्तित्व भी विवादास्पद बन जाएगा और जो करने-कराने हमें भेजा गया है, उसमें भी हमें अड़चन पड़ेगी । निस्सन्देह हमारा जीवनक्रम अलौकिकताओं से भरा पड़ा है । रहस्यवाद के पर्दे इतने अधिक हैं कि उन्हें समय से पूर्व खोला जाना अहितकर ही होगा । अतः पीछे वालों के लिए उसे छोड़ देते हैं कि वस्तुस्थिति की सच्चाई को प्रामाणिकता की कसौटी पर कसें और जितनी हर दृष्टि से परखी जाने पर सही निकले उससे यह अनुमान लगायें कि अध्यात्म विद्या कितनी समर्थ और सारगर्भित है । उस पारस से छूकर एक नगण्य-सा व्यक्ति अपने लोहे जैसे तुच्छ कलेवर को स्वर्ण जैसा बहुमूल्य बनाने में कैसे समर्थ, सफल हो सका ? इस दृष्टि से हमारे जीवनक्रम में प्रस्तुत हुए अनेक रहस्यमय तथ्यों की समय आने पर शोध की जा सकती है और उस समय उस कार्य में हमारे अति निकटवर्ती सहयोगी कुछ सहायता भी कर सकते हैं, पर अभी वह समय से पहले की बात है । इसलिए उस पर वैसे ही पर्दा पड़ा रहना चाहिए, जैसे कि अब तक पड़ा रहा है ।

आत्मकथा लिखने के आग्रह को केवल इस अंश तक पूरा कर सकते हैं कि हमारा साधनाक्रम कैसे चला ? वस्तुतः हमारी सारी उपलब्धियाँ प्रभु-समर्पित साधनात्मक जीवन-प्रक्रिया पर ही अवलम्बित हैं । उसे जान लेने से इस विषय में रुचि रखने वाले हर व्यक्ति को वह रास्ता मिल सकता है जिस पर चलकर आत्मिक प्रगति और उससे जुड़ी हुई विभूतियाँ प्राप्त करने का आनन्द लिया जा सकता है । पाठकों को अभी इतनी ही जानकारी हमारी कलम से मिल सकेगी, सो उतने से ही इन दिनों सन्तोष करना पड़ेगा ।

६० वर्ष के जीवन में से १५ वर्ष का आरम्भिक बालजीवन कुछ विशेष महत्त्व का नहीं है । शेष ४५ वर्ष हमने आध्यात्मिकता के प्रसंगों को अपने जीवनक्रम में सम्मिलित करते हुए बिताये हैं । पूजा-उपासना का, उस प्रयोग में एक बहुत छोटा अंश रहा है । २४ वर्ष तक ६ घण्टे रोज की गायत्री उपासना को उतना महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए जितना कि मानसिक परिष्कार और भावनात्मक उत्कृष्टता के अभिवर्द्धन के प्रयत्नों को । यह माना जाना चाहिए कि यदि विचारणा और कार्य-पद्धति को परिष्कृत न किया गया होता तो उपासना के कर्मकाण्ड उसी तरह निरर्थक चले जाते जिस तरह कि अनेक पूजा-पत्री तक सीमित मन्त्र-तन्त्रों का ताना-बाना बुनते रहने वालों को नितान्त खाली हाथ रहना पड़ता है । हमारी जीवन-साधना को यदि सफल माना जाए और उसमें दीखने वाली अलौकिकता को खोजा जाए तो उसका प्रधान कारण हमारी अन्तरंग और बहिरंग स्थिति के परिष्कार को ही माना जाए । पूजा-उपासना को गौण समझा जाए । आत्म-कथा के एक अंश को लिखने का दुस्साहस करते हुए हम एक ही तथ्य का प्रतिपादन करेंगे कि हमारा सारा मनोयोग और पुरुषार्थ आत्म-शोधन में लगा है । उपासना जो बन पड़ी है, उसे भी हमने भावपरिष्कार के प्रयत्नों के साथ पूरी तरह जोड़ रखा है । अब आत्मोद्‌घाटन के साधनात्मक प्रकरण पर प्रकाश डालने वाली कुछ चर्चाएँ पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत करते हैं-

साधनात्मक जीवन की तीन सीढ़ियाँ हैं । तीनों पर चढ़ते हुए एक लम्बी मंजिल पार कर ली गई। ( १ ) मातृवत् परदारेषु ( २ ) परद्रव्येषु लोष्ठवत् की मंजिल सरल थी वह अपने आप से सम्बन्धित थी । लड़ना अपने से था, सँभालना अपने घर को था, सो पूर्व जन्मों के संस्कार और समर्थ गुरु की सहायता से इतना सब आसानी से बन गया । मन न उतना दुराग्रही था, न दुष्ट, जो कुमार्ग पर घसीटने की हिम्मत करता । यदा-कदा उसने इधर-उधर भटकने की

कल्पना भर की, पर जब प्रतिरोध का डण्डा जोर से सिर पर पड़ा तो सहम गया और चुपचाप सही राह पर चलता रहा । मन से लड़ते-झगड़ते, पाप और पतन से भी बचा लिया गया । अब जबकि सभी खतरे टल गए, तब सन्तोष की साँस ले सकते हैं । दास कबीर ने झीनी-झीनी बीनी चदरिया, जतन से ओढ़ी थी और बिना दाग-धब्बे ज्यों की त्यों वापस कर दी थी । परमात्मा को अनेक धन्यवाद कि जिसने उसी राह पर हमें भी चला दिया और उन्हीं पद-चिह्नों को ढूँढ़ते-तलाशते उन्हीं आधारों को मजबूती के साथ पकड़े हुए उस स्थान तक पहुँच गये, जहाँ लुढ़कने और गिरने-मरने का खतरा नहीं रहता ।

अध्यात्म की कर्म-काण्डात्मक प्रक्रिया बहुत कठिन नहीं होती । संकल्प-बल मजबूत हो, श्रद्धा और निष्ठा की मात्रा कम न पड़े तो मानसिक उद्विग्नता नहीं होती और शान्तिपूर्वक मन लगने लगता है और उपासना के विधि-विधान भी गड़बड़ाये बिना अपने ढर्रे पर चलते रहते हैं । मामूली दुकानदार सारी जिन्दगी एक ही दुकान पर, एक ही ढर्रे से पूरी दिलचस्पी के साथ काट लेता है । न मन ऊबता है, न अरुचि होती है । पान, सिगरेट के दुकानदार १२-१४ घण्टे अपने धन्धे को उत्साह और शान्ति के साथ आजीवन करते रहते हैं, तो हमें ६-७ घण्टे प्रतिदिन की गायत्री साधना २४ वर्ष तक चलाने का संकल्प तोड़ने की क्या आवश्यकता पड़ती । मन उनका उचटता है जो उपासना को पान-बीड़ी के, खेती-बाड़ी के, मिठाई-हलवाई के धन्धे से भी कम आवश्यक या कम लाभदायक समझते हैं, बेकार के अरुचिकर कामों में मन नहीं लगता ।

उपासना में ऊबने और अरुचि की अड़चन उन्हें आती है जिनकी आन्तरिक आकांक्षा भौतिक सुख-सुविधाओं को सर्वस्व मानने की है । जो पूजा-पत्री से मनोकामनाएँ पूर्ण करने की बात सोचते रहते हैं, उन्हें ही प्रारब्ध और पुरुषार्थ की न्यूनता के कारण अभीष्ट वरदान न मिलने पर खीज होती है । आरम्भ में भी आकांक्षा के प्रतिकूल काम में उदासी रहती है । यह स्थिति दूसरों की होती है, सो वे मन न लगने की शिकायत करते रहते हैं । अपना स्तर दूसरा था । शरीर को बहाना भर माना, वस्तुओं को निर्वाह की भट्टी जलाने के लिए ईंधन भर समझा । महत्त्वाकांक्षाएँ बड़ा आदमी बनने और झूठी वाहवाही लूटने की कभी भी नहीं उठीं । जी यही सोचता रहा हम आत्मा हैं, तो क्यों न आत्मोत्कर्ष के लिए, आत्म-कल्याण के लिए, आत्म-शान्ति के लिए और आत्म-विस्तार के लिए जियें ? शरीर और अपने को जब दो भागों में बाँट दिया, शरीर के स्वार्थ और अपने स्वार्थ अलग बाँट दिये तो वह अज्ञान की एक भारी दीवार गिर पड़ी और अँधेरे में उजाला हो गया ।

जो लोग अपने को शरीर मान बैठते हैं, इन्द्रिय तृप्ति तक अपना आनन्द सीमित कर लेते हैं, वासना और तृष्णा की पूर्ति ही जिनका जीवनोद्देश्य बन जाता है, उनके लिए पैसा, अमीरी, बड़प्पन, प्रशंसा, पदवी पाना ही सब कुछ हो सकता है । वे आत्म-कल्याण की बात भुला सकते हैं और लोभ-मोह की सुनहरी हथकड़ी-बेड़ी चावपूर्वक पहने रह सकते हैं । उनके लिए श्रेय पथ पर चलने की सुविधा न मिलने का बहाना सही हो सकता है । अन्तःकरण की आकांक्षाएँ ही सुविधाएँ जुटाती हैं । जब भौतिक सुख-सम्पत्ति ही लक्ष्य बन गया तो चेतना का सारा प्रयास उन्हें ही जुटाने लगेगा । उपासना तो फिर एक हल्की-सी खिलवाड़ रह जाएगी । कर ली तो ठीक, न कर ली तो ठीक । लोग प्रायः उपासना को कौतूहल की दृष्टि से देखा करते हैं कि इसका भी थोड़ा तमाशा देख लें, कुछ मिलता है या नहीं । थोड़ी देर, अनमनी तबियत से, कुछ चमत्कार मिलने की दृष्टि से उलटी-पुलटी पूजा-पत्री चलाई तो उस पर विश्वास नहीं जमा, सो वह छूट गई । छूटनी भी थी । सच तो यह है कि श्रद्धा और विश्वास के अभाव में, जीवनोद्देश्य को प्राप्त करने की तीव्र लगन के अभाव में कोई भी आत्मिक प्रगति न कर सका । यह सब तथ्य हमें अनायास ही विदित थे, सो शरीर-यात्रा और परिवार-व्यवस्था जमाये भर रहने के लिए जितना अनिवार्य रूप से आवश्यक था, उतना ही ध्यान उस ओर दिया । उन प्रयत्नों को मशीन का किराया भर चुकाने की दृष्टि से किया । अन्तःकरण-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तत्पर रहा सो भौतिक प्रलोभनों और आकर्षणों में भटकने की कभी जरूरत ही अनुभव नहीं हुई ।

जब अपना स्वरूप आत्मा की स्थिति में अनुभव होने लगा और अन्तःकरण परमेश्वर का परम पवित्र निवास-गृह दीखने लगा तो चित्त अन्तर्मुखी हो गया । सोचने का तरीका इतना भर सीमित रह गया कि परमात्मा के राजकुमार आत्मा को क्या करना, किस दिशा में चलना चाहिए ? प्रश्न सरल थे और उत्तर भी सरल । केवल उत्कृष्ट जीवन जीना चाहिए और केवल आदर्शवादी कार्य-पद्धति अपनानी चाहिए । जो इस मार्ग पर नहीं चले, उन्हें बहुत डर लगता है कि यह रीति-नीति अपनाई तो बहुत संकट आयेगा, न जाने कौन-सी गरीबी, तंगी, भर्त्सना और कठिनाई सहनी पड़ेगी । अपने को भी उपहास और भर्त्सना सहनी पड़ी । घर-परिवार के लोग ही सबसे अधिक आड़े आये । उन्हें लगा कि हमारी सहायता से जो भौतिक लाभ उन्हें मिलते या मिलने वाले हैं उनमें कमी आ जाएगी, सो वे अपनी हानि जिसमें समझते, उसे हमारी मूर्खता बताते थे, पर यह बात देर तक नहीं चली । अपनी आस्था ऊँची और सुदृढ़ हो तो झूठा विरोध देर तक नहीं टिकता । कुमार्ग पर चलने के कारण जो विरोध-तिरस्कार उत्पन्न होता है, वही स्थिर रहता है । नेकी अपने आप में एक विभूति है, जो स्वयं को तारती है और दूसरे को भी । विरोधी और निन्दक कुछ ही दिनों में अपनी भूल समझ जाते हैं और रोड़ा अटकाने के बजाय सहयोग देने लगते हैं । आस्था जितनी ऊँची और जितनी मजबूत होगी, प्रतिकूलता उतनी ही

जल्दी अनुकूलता में बदल जाती है । परिवार का विरोध देर तक नहीं सहना पड़ा, उनकी शंका-कुशंका वस्तुस्थिति समझ लेने पर दूर हो गई । आत्मिक जीवन में वस्तुतः घाटे की कोई बात नहीं है । बाहरी दृष्टि से गरीब जैसा दीखने पर भी ऐसा व्यक्ति आत्मिक शान्ति और सन्तोष के कारण बहुत प्रसन्न रहता है । यह प्रसन्नता और सन्तुष्टि हर किसी को प्रभावित करती है और विरोधियों को सहयोगी बनाने में बड़ी सहायक सिद्ध होती है । अपनी कठिनाई ऐसे ही हल हुई ।

बड़प्पन की, लोभ-मोह-वाहवाही की एवं तृष्णा की हथकड़ी, बेड़ी और तौक कटी तो लगा कि अब बन्धनों से मुक्ति मिल गई । इन्हीं तीन जंजीरों में जकड़ा हुआ प्राणी इस भवसागर में औंधे मुँह घसीटा जाता रहता है और अतृप्ति, उद्विग्नता की व्यथा-वेदना से कराहता रहता है । इन तीनों की तुच्छता समझ ली जाए और लिप्सा को श्रद्धा में बदल लिया जाए तो समझना चाहिए कि माया के बन्धन टूट गये और जीवित रहते ही मुक्ति पाने का प्रयोजन पूरा हो गया । "नजरें, तेरी बदली कि नजारा बदल गया" वाली उक्ति के अनुसार अपनी भावनाएँ आत्म-ज्ञान होते ही समाप्त हो गईं और जीवन-लक्ष्य पूरा करने की आवश्यकता उँगली पकड़ कर मार्ग-दर्शन करने लगी । फिर न अभाव रहा, न असन्तोष । शरीर को जीवित भर रखने के लिए, सीमित साधनों से सन्तुष्ट रहने की शिक्षा देकर लोभ, लिप्सा की जड़ काट दी । मन उधर से भटकना बन्द कर दे तो कितनी अपार शक्ति मिलती है और जी कितना प्रफुल्लित रहता है, यह तथ्य कोई भी अनुभव करके देख सकता है, पर लोग तो लोग ही ठहरे, तेल से आग बुझाना चाहते हैं । तृष्णा को दौलत से और वासना को भोग से तृप्त करना चाहते हैं । इन्हें कौन समझाये कि ऐसे प्रयास केवल दावानल ही भड़का सकते हैं । इस पथ पर चलने वाला मृगतृष्णा में ही भटक सकता है । मरघट के प्रेत-पिशाच की तरह उद्विग्न ही रह सकता है, कुकर्म ही कर सकता है । इसे कौन किसे समझाये ? समझने और समझाने वाले दोनों बिड़म्बना मात्र करते हैं । सत्संग और प्रवचन बहुत सुने पर ऐसे ज्ञानी न मिले जो अध्यात्म के अन्तरंग में उतर कर अनुकरण की प्रेरणा देते । प्रवचन देने वाले के जीवनक्रम को उघाड़ा, तो वहाँ सुनने वालों से भी अधिक गन्दगी पायी । सो जी खट्टा हो गया । बड़े-बड़े सत्संग, सम्मेलन होते तो, पर अपना जी किसी को देखने-सुनने के लिए न करता । प्रकाश मिला तो अपने ही भीतर । आत्मा ने ही हिम्मत की और चारों ओर जकड़े पड़े जाल-जंजाल को काटने की बहादुरी दिखाई तो ही काम चला । दूसरों के सहारे बैठे रहते तो ज्ञानी बनने वाले शायद अपनी ही तरह हमें भी अज्ञानी बना देते । लगता है यदि किसी को प्रकाश मिलना होगा तो भीतर से ही मिलेगा । कम से कम अपने सम्बन्ध में तो यही तथ्य सिद्ध हुआ है । आत्मिक प्रगति में बाह्य अवरोधों के जो पहाड़ खड़े थे उन्हें लक्ष्य के प्रति अटूट श्रद्धा रखे बिना, श्रेय-पथ पर लाने का दुस्साहस संग्रह किए बिना निरस्त नहीं किया जा सकता था, सो अपनी हिम्मत ही काम आई । जब अड़ गये तो सहायकों की भी कमी नहीं रही । गुरुदेव से लेकर भगवान तक सभी अपनी मंजिल को सरल बनाने में सहायता देने के लिए निरन्तर आते रहे और प्रगति-पथ पर धीरे-धीरे किन्तु सुदृढ़ कदम आगे ही बढ़ते चले गये । अब तक की मंजिल इसी क्रम से पूरी हुई है ।

लोग कहते रहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन कठिन है, पर अपनी अनुभूति इससे सर्वथा विपरीत है । वासना और तृष्णाओं से घिरा और भरा जीवन ही वस्तुतः कठिन एवं जटिल है । इस स्तर का क्रिया-कलाप अपनाने वाला व्यक्ति जितना श्रम करता है, जितना चिन्तित रहता है, जितनी व्यथा-वेदना सहता है, जितना उलझा रहता है, उसे देखते हुए आध्यात्मिक जीवन की असुविधा को तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य ही कहा जा सकता है । इतना श्रम, इतना चिंतन, इतना उद्वेग-फिर भी क्षण भर चैन नहीं, कामनाओं की पूर्ति के लिए अथक प्रयास, पर पूर्ति से पहले ही अभिलाषाओं का और सौ गुना हो जाना इतना बड़ा जंजाल है कि बड़ी से बड़ी सफलताएँ पाने के बाद भी व्यक्ति अतृप्त और असन्तुष्ट ही बना रहता है । छोटी सफलता पाने के लिए कितना थकाने वाला श्रम करना पड़ा था, यह जानते हुए भी उससे बड़ी सफलता पाने के लिए चौगुने, दस गुने उत्तरदायित्व और ओढ़ लेता है । गति जितनी तीव्र होती जाती है, उतनी ही समस्याएँ उठती और उलझती हैं । उन्हें सुलझाने में देह, मन और आत्मा का कचूमर निकलता है । सामान्य शारीरिक और मानसिक श्रम सुरसा जैसी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ नहीं होता, अस्तु अनीति और अनाचार का मार्ग अपनाना पड़ता है । जघन्य पापकर्म करते रहने पर अभिलाषाएँ कहीं पूर्ण होती हैं ? निरन्तर की उद्विग्नता और भविष्य की अन्ध-तमिस्रा दोनों को मिलाकर जितनी क्षति है उसे देखते हुए उपलब्धियों को अति तुच्छ ही कहा जा सकता है । आमतौर से लोग रोते-कलपते, रोष-शोक से सिसकते-बिलखते किसी प्रकार जिन्दगी की लाश ढोते हैं । वस्तुतः इन्हीं को तपस्वी कहा जाना चाहिए । इतना कष्ट, त्याग, उद्वेग यदि आत्मिक प्रगति के पथ पर चलते हुए सहा जाता तो मनुष्य योगी, सिद्धपुरुष, महामानव, देवता ही नहीं, भगवान भी बन सकता था । बेचारों ने पाया कुछ नहीं, खोजा बहुत । वस्तुतः यही सच्चे त्यागी, तपस्वी, परोपकारी, आत्मदानी, बलिदानी हैं, जिन्होंने अथक परिश्रम से लेकर पाप की गठरी ढोने तक दुस्साहस कर डाला और जो कमाया था उसे साले, बहनोई, बेटे, भतीजों के लिए छोड़कर स्वयं खाली हाथ चल दिये, दूसरे के सुख के लिए स्वयं कष्ट सहने वाले वस्तुतः यही महात्मा, ज्ञानी, परमार्थी अपने को दीखते हैं । वे स्वयं अपने को मायाग्रस्त, पापात्मा और पथभ्रष्ट कहते हैं तो कहते रहें ।

अपने इर्द-गिर्द घिरे असंख्यों मानव देहधारियों के अन्तरंग और बहिरंग जीवन को जब हम देखते हैं तो

लगता है इन सबसे अधिक सुखी और सुविधाजनक जीवन हमीं ने जी लिया । हानि अधिक से अधिक इतनी हुई कि हमें कम सुविधा और कम सम्पन्नता का जीवन जीना पड़ा । सामान कम रहा और गरीब जैसे दीखे । सम्पदा न होने के कारण दुनिया वालों ने हमें छोटा समझा और अवहेलना की । बस इससे अधिक घाटा किसी आत्मवादी को हो भी नहीं सकता, पर इस अभाव से अपना कुछ भी हर्ज नहीं हुआ, न कुछ काम रुका । दूसरे षट्रस व्यंजन खाते रहे, हमने जौ, चना खाकर काम चलाया । दूसरे जीभ के अत्याचार से पीड़ित होकर रुग्णता का कष्ट सहते रहे, हमारा सस्ता आहार ठीक तरह पचता रहा और नीरोगता बनाये रहा । घाटे में हम क्या रहे । जीभ का क्षणिक जायका खोकर हमने कड़ी भूख में 'किवाड़ पापड़' होने की युक्ति सार्थक होती देखी, जहाँ तक जायके का प्रश्न है, उस दृष्टि से तुलना करने पर विलासियों की तुलना में हमारी जौ की रोटी अधिक मजेदार थी । धन के प्रयास में लगे लोग बढ़िया कपड़े, बढ़िया घर, बढ़िया साज-सज्जा अपनाकर अपना अहंकार पूरा करने और लोगों पर रौब गाँठने की विडम्बना में लगे रहे । हम स्वल्प साधनों में उनका-सा ठाट तो जमा नहीं सके, पर सादगी ने जो आत्म-सन्तोष और आनन्द प्रदान किया, उससे कम प्रसन्नता नहीं हुई और छिछोरे, बचकाने लोग मखौल उड़ाते रहे हों पर वजनदार लोगों ने सादगी के पर्दे के पीछे झाँकती हुई महानता को सराहा और उसके आगे सिर झुकाया । नफे में कौन रहा, विडम्बना बनाने वाले या हम ? अपनी कसौटी पर अपने आप को कसने के बाद यही कहा जा सकता है कि कम परिश्रम, कम जोखिम और कम जिम्मेदारी लेकर हम शरीर, मन की दृष्टि से अधिक सुखी रहे और सम्मान भी कम नहीं पाया । पागलों की पागल प्रशंसा करें, इसमें हमें कोई ऐतराज नहीं, पर अपने आप से हमें कोई शिकायत नहीं, आत्मा से लेकर परमात्मा तक और सज्जनों से लेकर दूरदर्शियों तक अपनी क्रिया-पद्धति प्रशंसनीय मानी गई । जोखिम भी कम और नफा भी ज्यादा । खर्चीली, तृष्णाग्रस्त, बनावटी, भारभूत जिन्दगी पाप और पतन के पहियों वाली गाड़ी पर ही ढोई जा सकती है । अपना सब कुछ हलका रहा, बिस्तर बगल में दबाया और चल दिए । न थकान, न चिन्ता । हमारा व्यक्तिगत अनुभव यही है कि आदर्शवादी जीवन सरल है । उसमें प्रकाश, सन्तोष, उल्लास सब कुछ है । दुष्ट लोग आक्रमण करके कुछ हानि पहुँचा दें, तो यह जोखिम-पापी और घृणित जीवन में भी कम कहाँ है ? सन्त और सेवा-भावियों को जितना त्रास सहना पड़ता है, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिशोध के कारण भौतिक जीवन में और भी अधिक खतरा रहता है । कत्ल, खून, डकैती, आक्रमण, ठगी की जो रोमांचकारी घटनाएँ आये दिन सुनने को मिलती हैं, उनमें भौतिक जीवन जीने वाले ही अधिक मरते-खपते देखे जाते हैं । इतने व्यक्ति यदि स्वेच्छापूर्वक अपने प्राण और धन गँवाने को तत्पर हो जाते तो उन्हें देवता माना जाता और इतिहास धन्य हो जाता । ईसा, सुकरात, गाँधी जैसे संत या उस वर्ग के लोग थोड़ी-सी संख्या में ही मरे हैं । उनसे हजार गुने अधिक तो पतनोन्मुख क्षेत्र में ही हत्याएँ होती रहती हैं । दान से गरीब हुए भामाशाह तो उँगलियों पर गिने जाने वाले ही मिलेंगे, पर ठगी, विश्वासघात, व्यसन, व्यभिचार, आक्रमण, मुकद्दमा, बीमारी, बेवकूफी के शिकार होने वाले आये दिन अमीर से फकीर बनते लाखों व्यक्ति रोज ही देखे-सुने जाते हैं । आत्मिक क्षेत्र में घाटा, आक्रमण, दुःख कम है, भौतिक में अधिक । इस तथ्य को यदि ठीक तरह से समझा गया होता तो लोग आदर्शवादी जीवन से घबराने और भौतिक लिप्सा में औंधे मुँह गिरने की बेवकूफी न करते । हमारा व्यक्तिगत अनुभव यही है कि तृष्णा-वासना के प्रलोभन में व्यक्ति पाता कम, खोता अधिक है । हमें जो खोना पड़ा वह नगण्य है, जो पाया वह इतना अधिक है कि जी बार-बार यही सोचता है कि हर व्यक्ति को आध्यात्मिक जीवन जीने की, उत्कृष्ट और आदर्शवादी परम्परा अपनाने के लिए कहा जाए, पर बात मुश्किल है । हमें अपने अनुभवों की साक्षी देकर उज्ज्वल जीवन जीने की गुहार मचाते मुद्दत हो गई, पर कितनों ने उसे सुना और सुनने वालों में से कितनों ने उसे अपनाया ?

**मातृवत् परदारेषु** और **परद्रव्येषु लोष्ठवत्** की दो सीढ़ियाँ चढ़ना भी अपने लिए कठिन पड़ता, यदि जीवन का स्वरूप, प्रयोजन और उपयोग ठीक तरह समझने और जो श्रेयस्कर है, उसी पर चलने की हिम्मत एवं बहादुरी न होती । जो शरीर को ही अपना स्वरूप मान बैठा और तृष्णा-वासना के लिए आतुर रहा, उसे आत्मिक प्रगति से वंचित रहना पड़ा है । पूजा-उपासना के छुट-पुट कर्मकाण्डों के बल पर किसी की नाव किनारे नहीं लगी है । हमें २४ वर्ष तक निरन्तर गायत्री पुरश्चरणों में निरत रहकर उपासना का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय पूरा करना पड़ा, पर उस कर्मकाण्ड की सफलता का लाभ तभी सम्भव हो सका, जब आत्मिक प्रगति की भावनात्मक प्रक्रिया को, जीवन-साधना को उसके साथ जोड़े रखा । यदि दूसरे की तरह हम देवता को वश में करने या ठगने के लिए उससे मनोकामनाएँ पूरी कराने के लिए जन्त्र-मन्त्र का कर्मकाण्ड रचते रहते, जीवनक्रम के निर्वाह की आवश्यकता न समझते तो निस्सन्देह अपने हाथ भी कुछ नहीं पड़ता । हम अगणित भजनानन्दी और तन्त्र-मन्त्र के कर्मकाण्डियों को जानते हैं जो अपनी धुन में मुद्दतों से लगे हैं । पूजा-पाठ उनका हमसे ज्यादा लम्बा और चौड़ा है, पर बहुत बारीकी से जब उन्हें परखा तो छूँछ मात्र पाया । झूठी आत्म-प्रवंचना उनमें जरूर पाई, जिसके आधार पर वे यह सोचते थे कि इस जन्म में न सही, मरने के बाद उन्हें स्वर्गसुख जरूर मिलेगा, पर हमारी परख और भविष्यवाणी यह है कि इनमें से एक को भी स्वर्ग आदि नहीं मिलने वाला है, न उन्हें कोई सिद्धि-चमत्कार हाथ लगने वाला है । कर्मकाण्ड और पूजा-पाठ की श्रेणी में साधक तभी आता है, जब उसका जीवन-क्रम उत्कृष्टता

की दिशा में क्रमबद्ध रीति से अग्रसर हो रहा हो तथा उसका दृष्टिकोण भी सुधर रहा हो और क्रिया-कलाप में उस रीति नीति का समावेश हो जो आत्मवादी के साथ आवश्यक रूप से जुड़े रहते हैं । धूर्त, स्वार्थी, कंजूस और शरीर तथा बेटे के लिए जीने वाले लोग यदि अपनी विचारणा और गतिविधियाँ परिष्कृत न करें तो उन्हें तीर्थ, व्रत, उपवास, कथा, कीर्तन, स्नान, ध्यान आदि का कुछ लाभ मिल सकेगा, इसमें हमारी सहमति नहीं है । यह उपयोगी तो हैं, पर इनकी उपयोगिता इतनी ही है जितनी कि लेख लिखने के लिए कलम की । कलम के बिना लेख कैसे लिखा जा सकता है ? पूजा-उपासना के बिना आत्मिक प्रगति कैसे हो सकती है ? यह जानने के साथ-साथ हमें यह भी जानना चाहिए कि बिना स्वाध्याय, अध्ययन, चिन्तन, मनन की बौद्धिक विकास प्रक्रिया सम्पन्न किए बिना केवल कलम कागज के आधार पर लेख नहीं लिखे जा सकते ? न कविताएँ बनाई जा सकती हैं ? आन्तरिक उत्कृष्टता बौद्धिक विकास की तरह है और पूजा अच्छी कलम की तरह । दोनों का समन्वय होने से ही बात बनती है । एक को हटा दिया जाए तो बात अधूरी रह जाती है । हमने यह ध्यान रखा कि साधना की गाड़ी एक पहिये पर न चल सकेगी, इसलिए दोनों पहियों की व्यवस्था ठीक तरह जुटाई जाए । हमने उपासना कैसे की ? इसमें कोई रहस्य नहीं है । गायत्री महाविज्ञान में जैसा लिखा है, उसी क्रम से हमारा इसी गायत्री मन्त्र का सामान्य उपासनाक्रम चलता रहा है । हाँ, जितनी देर तक भजन करने बैठे हैं, उतनी देर तक यह भावना अवश्य करते रहते हैं कि ब्रह्म की परम तेजोमयी सत्ता, माता गायत्री का दिव्य प्रकाश हमारे रोम-रोम में ओत-प्रोत हो रहा है और प्रचण्ड अग्नि में पड़कर लाल हुए लोहे की तरह हमारा भौंड़ा अस्तित्व उसी स्तर का उत्कृष्ट बन गया है, जिस स्तर का कि हमारा इष्टदेव है । शरीर के कण-परमाणुओं में गायत्री माता का ब्रह्मवर्चस समा जाने से काया का हर अवयव ज्योतिर्मय हो उठा और उस अग्नि से इन्द्रियों की लिप्सा जलकर भस्म हो गई, आलस्य आदि दुर्गुण नष्ट हो गये । रोग विकारों को उस अग्नि ने अपने में जला दिया । शरीर तो अपना है, पर उसके भीतर प्रचण्ड ब्रह्मवर्चस लहलहा रहा है । वाणी में केवल सरस्वती ही शेष है । असत्य, छल और स्वाद के असुर उस दिव्य मन्दिर को छोड़कर पलायन कर गये । नेत्रों में गुण-ग्राहकता और भगवान का सौन्दर्य हर जड़-चेतन में देखने की क्षमता भर शेष है । छिद्रान्वेषण, कामुकता जैसे दोष आँखों में नहीं रहे । कान केवल जो मंगलमय है उसे ही सुनते हैं । बाकी कोलाहल मात्र है, जो श्रवणेन्द्रिय के पर्दे से टकराकर वापस लौट जाता है ।

गायत्री माता का परम तेजस्वी प्रकाश सूक्ष्मशरीर में, अन्तःकरण चतुष्टय में-मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार में प्रवेश करते और प्रकाशवान होते देखा और अनुभव किया कि वह ब्रह्मवर्चस अपने मन को उस भूमिका में घसीटे लिए जा रहा है जिसमें पाशविक इच्छा-आकांक्षाएँ विरत हो जाती हैं और दिव्यता परिप्लावित कर सकने वाली आकांक्षाएँ सजग हो पड़ती हैं । बुद्धि निर्णय करती है कि क्षणिक आवेशों के लिए, तुच्छ प्रलोभनों के लिए मानव-जीवन जैसी उपलब्धि विनष्ट नहीं की जा सकती । इसका एक-एक पल आदर्शों की प्रतिष्ठापना के लिए खर्च किया जाना चाहिए । चित्त में उच्च निष्ठाएँ जमतीं और सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की ओर बढ़ चलने की उमंगें उत्पन्न करती हैं । सविता देवता का तेजस अपनी अन्तःभूमिका में प्रवेश करके अहं को परिष्कृत करता है और मरणधर्मा जीवधारियों की स्थिति से योजनों ऊपर उड़ा ले जाकर ईश्वर के सर्व-समर्थ, परम-पवित्र और सच्चिदानन्द स्वरूप में अवस्थित कर देता है ।

गायत्री पुरश्चरणों के समय केवल जप ही नहीं किया जाता रहा, साथ ही भाव-तरंगों से मन भी हिलोरें लेता रहा । कारणशरीर, यानी भाव-भूमि के अन्तस्तल में आत्मबोध, आत्मदर्शन, आत्मानुभूति और आत्म-विस्तार की अनुभूति को अन्तर्ज्योति के रूप में अनुभव किया जाता रहा । लगा अपनी आत्मा परम तेजस्वी सविता देवता के प्रकाश में पतंगों के दीपक पर समर्पित होने की तरह विलीन हो गयी । अपना अस्तित्त्व समाप्त, उसकी स्थान पूर्ति परम तेजस द्वारा । मैं समाप्त, तू का आधिपत्य । आत्मा और परमात्मा के अद्वैत मिलन की अनुभूति में ऐसे ब्रह्मानन्द की सरसता क्षण-क्षण अनुभूत होती रही, जिस पर संसार भर का संमवेत विषयानन्द निछावर किया जा सकता है । जप के साथ स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीरों में दिव्य प्रकाश की प्रतिष्ठापना आरम्भ में प्रयत्नपूर्वक ध्यानधारणा के रूप में की गई थी, पीछे वह स्वाभाविक प्रकृति बनी और अन्ततः प्रत्यक्ष अनुभूति बन गई । जितनी देर उपासना में बैठा गया, अपनी सत्ता के भीतर और बाहर परम तेजस्वी-सविता की दिव्य ज्योति का सागर ही लहलहाता रहा और यही प्रतीत होता रहा कि हमारा अस्तित्व इस दिव्य ज्योति से ओत-प्रोत हो रहा है । प्रकाश के अतिरिक्त अन्तरंग और बहिरंग में और कुछ है ही नहीं, प्राण की हर स्फुरणा में ज्योति-स्फुल्लिंगों के अतिरिक्त और कुछ बचा ही नहीं । इस अनुभूति में कम से कम पूजा के समय की अनुभूति को दिव्य-दर्शन और दिव्य-अनुभव से ओत-प्रोत बनाये ही रखा । साधना का प्रायः सारा ही समय इस अनुभूति के साथ बीता ।

पूजा के ६ घण्टे, शेष १८ घण्टों को भरपूर प्रेरणा देते रहे । काम करने का जो समय रहा उसमें यह लगता रहा कि इष्ट देवता का तेजस ही अपना मार्ग-दर्शक है, उसके संकेतों पर ही प्रत्येक क्रिया-कलाप बन और चल रहा है । लालसा और लिप्सा से, तृष्णा और वासना से प्रेरित अपना कोई कार्य हो रहा हो ऐसा कभी लगा ही नहीं । छोटे बालक की माँ जिस प्रकार उँगली पकड़ कर चलती है, उसी प्रकार उस दिव्य-सत्ता ने मस्तिष्क को पकड़ कर

ऊँचा सोचने और शरीर को पकड़ कर ऊँचा करने के लिए विवश कर दिया । उपासना के अतिरिक्त जाग्रत अवस्था के जितने घण्टे रहे उनमें शारीरिक नित्य-कर्मों से लेकर आजीविका उपार्जन, स्वाध्याय, चिन्तन, परिवार-व्यवस्था आदि की समस्त क्रियाएँ इस अनुभूति के साथ चलती रहीं, मानो परमेश्वर ही इन सबका नियोजन और संचालन कर रहा हो । रात को सोने के ६ घण्टे ऐसी गहरी नींद में बीतते रहे, मानो समाधि लग गई हो और माता के आँचल में अपने को सौंपकर परम शान्ति और सन्तुष्टि की भूमिका में आत्म-सत्ता से तादात्म्यता प्राप्त कर ली हो । सोकर जब उठे तो लगा नया जीवन, नया उल्लास, नया प्रकाश अग्रिम मार्गदर्शन के लिए पहले से ही पथ-प्रदर्शन के लिए सामने खड़ा है ।

२४ वर्ष के २४ महापुरश्चरण काल में कोई सामाजिक, पारिवारिक जिम्मेदारियाँ कंधे पर नहीं थीं । सो अधिक तत्परता और तन्मयता के साथ यह जप ध्यान का साधनाक्रम ठीक तरह चलता रहा । मातृवत् परदारेषु और परद्रव्येषु लोष्ठवत् की अटूट निष्ठा ने काया को पाप कर्मों से बचाये रखा । अन्न की सात्त्विकता ने मन को मानसिक अधःपतन के गर्त में गिरने से भलीप्रकार रोक रखने में सफलता पाई । जौ की रोटी और गाय की छाछ का आहार रुचा भी और पचा भी । जैसा अन्न, वैसा मन की सच्चाई हमने अपने जीवनकाल में पग-पग पर अनुभव की । यदि शरीर और मन का संयम कठोरतापूर्वक न किया गया होता तो न जाने जो थोड़ी सी प्रगति हो सकी, वह हो सकी होती या नहीं ।

## (२) हमारे दृश्यजीवन की अदृश्य अनुभूतियाँ

*-फरवरी १९७१*

अपनी अध्यात्म साधना की दो मंजिलें २४ वर्ष में पूरी हुईं । मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् आदर्शों में व्यतिक्रम प्रायः युवावस्था में ही होता है । काम और लोभ की प्रबलता के भी वही दिन हैं, सो १५ वर्ष की आयु से लेकर २४ वर्षों में ४० तक पहुँचते-पहुँचते वह उफान ढल गया । कामनाएँ, वासनाएँ, तृष्णाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ प्रायः इसी आयु में आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाती हैं । यह अवधि स्वाध्याय, मनन, चिन्तन से लेकर आत्म-संयम और जप-ध्यान की साधना में लग गई । इसी आयु में बहुत करके मनोविकार प्रबल रहते हैं, सो आमतौर से परमार्थ प्रयोजनों के लिए ढलती आयु के व्यक्तियों को ही प्रयुक्त किया जाता है ।

उठती उम्र के लोग अर्थ-व्यवस्था से लेकर सैन्य-संचालन तक अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर उठाते हैं और उन्हें उठाने चाहिए । महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इन क्षेत्रों में बहुत अवसर रहता है । सेवाकार्यों में योगदान भी नवयुवक बहुत दे सकते हैं पर लोक-मंगल के लिए नेतृत्व करने की वह अवधि नहीं है । शंकराचार्य, दयानन्द, विवेकानन्द, रामदास, मीरा, निवेदिता जैसे थोड़े ही अपवाद ऐसे हैं जिन्होंने उठती उम्र में ही लोक-मंगल के नेतृत्व का भार कन्धों पर सफलतापूर्वक वहन किया हो । आमतौर से कच्ची उम्र गड़बड़ी ही फैलाती है । यश, पद की इच्छा, धन का प्रलोभन, वासनात्मक आकर्षण के बने रहते जो सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, वे उलटी विकृति पैदा करते हैं । अच्छी संस्थाओं का भी सर्वनाश इसी स्तर के लोगों द्वारा होता रहता है । यों बुराई-भलाई किसी आयु विशेष से बँधी नहीं रहती, पर प्रकृति की परम्परा कुछ ऐसी ही चली आती है, जिसके कारण युवावस्था महत्त्वाकांक्षाओं की अवधि मानी गई है । ढलती उम्र के साथ-साथ स्वभावतः आदमी कुछ ढीला पड़ जाता है, तब उसकी भौतिक लालसाएँ भी ढीली पड़ जाती हैं, मरने की बात याद आने से लोक-परलोक, धर्म-कर्म भी रुचता है, इसलिए तत्त्ववेत्ताओं ने वानप्रस्थ और संन्यास के लिए उपयुक्त समय आयु के उत्तरार्द्ध को ही माना है ।

न जाने क्या रहस्य था कि हमें हमारे मार्गदर्शक ने उठती आयु में तपश्चर्या के कठोर प्रयोजन में संलग्न कर दिया और देखते-देखते उसी प्रयास में ४० साल की उम्र पूरी हो गई । हो सकता है वर्चस्व और नेतृत्व के अहंकार का, महत्त्वाकांक्षाओं और प्रलोभनों में बह जाने का खतरा समझा गया हो । हो सकता है आन्तरिक परिपक्वता, आत्मिक बलिष्ठता पाये बिना कुछ बड़ा काम न बन पड़ने की आशंका की गई हो । हो सकता है महान कार्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक संकल्प, बल, धैर्य, साहस और सन्तुलन परखा गया हो । जो भी हो अपनी उठती आयु उस साधनक्रम में बीत गई जिसकी चर्चा कई बार कर चुके हैं ।

उस अवधि में सब कुछ सामान्य चला, असामान्य एक ही था-हमारा गौ-घृत से अहर्निश जलने वाला अखण्ड दीपक । पूजा की कोठरी में वह निरन्तर जलता रहता । इसका वैज्ञानिक या आध्यात्मिक रहस्य क्या था ? कुछ ठीक से नहीं कह सकते । गुरु सो गुरु, आदेश सो आदेश, अनुशासन सो अनुशासन, समर्पण सो समर्पण । एक बार जब ठोक-बजा लिया और समझ लिया कि इसकी नाव में बैठने पर डूबने का खतरा नहीं है तो फिर आँख मूँदकर बैठ ही गये । फौजी सैनिक को अनुशासन प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है । अपनी अन्धश्रद्धा कहिए या अनुशासनप्रियता, अतः जीवन की जो दिशा निर्धारित कर दी गई, कार्य-पद्धति जो बता दी गई उसे सर्वस्व मानकर पूरी निष्ठा और तत्परता के साथ करते चले गये । अखण्ड दीपक की साधना-कक्ष में स्थापना भी इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत आती है । मार्गदर्शक पर विश्वास किया, उसे अपने आपको सौंप दिया तो उखाड़-पछाड़, क्रिया में तर्क-सन्देह क्यों ? वह अपने से बन नहीं पड़ा । जो साधना हमें बताई गई उसमें अखण्ड दीपक का महत्त्व

है, इतना बता देने पर उसकी स्थापना कर ली गई और पुरश्चरणों की पूरी अवधि तक उसे ठीक तरह जलाये रखा गया। पीछे तो यह प्राणप्रिय ही बन गया। २४ वर्ष बीत जाने पर उसे बुझाया जा सकता था, पर यह कल्पना भी ऐसी लगती है कि हमारा प्राण ही बुझ जाएगा, सो उसे आजीवन चालू रखा जाएगा। हम अज्ञातवास गये थे, अब फिर जा रहे हैं तो उसे धर्मपत्नी सँजोये रखेगी। यदि एकाकी रहे होते, पत्नी न होती तो और कुछ साधना बन सकती थी। अखण्ड दीपक सँजोए रखना कठिन था। कर्मचारी या दूसरे अश्रद्धालु एवं आन्तरिक दृष्टि से दुर्बल लोग ऐसी दिव्य अग्नि को सँजोये नहीं रह सकते। अखण्ड-दीपक स्थापित करने वालों में से अनेकों के जलते बुझते रहते हैं, वे नाममात्र के ही अखण्ड हैं। अपनी ज्योति अखण्ड बनी रही, इसका कारण बाह्य सतर्कता नहीं, अन्तर्निष्ठा ही समझी जानी चाहिए, जिसे अक्षुण्ण रखने में हमारी धर्मपत्नी ने असाधारण योगदान दिया।

हो सकता है अखण्ड दीपक अखण्ड यज्ञ का स्वरूप हो। धूपबत्तियों का जलना, हवन-सामग्री की, जप मन्त्रोच्चारण की और दीपक-घी होमे जाने की आवश्यकता पूरी करता हो और इस तरह अखण्ड हवन की कोई स्व-संचालित प्रक्रिया बन जाती हो। हो सकता है जल भरे कलश और ज्वलन्त अग्नि की स्थापना में कोई अग्नि-जल का संयोग रेल-इंजन जैसी भाप शक्ति का सूक्ष्म प्रयोजन पूरा करता हो। हो सकता है अन्तर्ज्योति जगाने में इस बाह्य-ज्योति से कुछ सहायता मिलती हो, जो भी हो अपने को इस 'अखण्ड-ज्योति' में भावनात्मक प्रकाश, अनुपम आनन्द, उल्लास से भरा-पूरा मिलता रहा। बाहर चौकी पर रखा हुआ यह दीपक कुछ दिन तो बाहर ही बाहर जलता दीखा, पीछे अनुभूति बदली और लगा कि हमारे अन्तःकरण में यही प्रकाश-ज्योति ज्यों की त्यों जलती है और जिस प्रकार पूजा की कोठरी प्रकाश से आलोकित होती है, वैसे ही अपना समस्त अन्तरंग इस ज्योति से ज्योतिर्मय हो रहा है। शरीर, मन और आत्मा में स्थूल, सूक्ष्म और कारण कलेवर में हम जिस ज्योतिर्मयता का ध्यान करते रहे हैं, सम्भवतः वह इस अखण्ड दीपक की ही प्रतिक्रिया रही होगी। उपासना की सारी अवधि में भावना-क्षेत्र वैसे ही प्रकाश से जगमगाता रहा है, जैसा कि उपासना कक्ष में अखण्ड दीपक आलोक बिखेरता है। अपना सब कुछ प्रकाशमय है। अन्धकार के आवरण हट गये। अन्धतमिस्रा की मोहग्रस्तता जल गई, प्रकाशपूर्ण भावनाएँ, विचारणाएँ और गतिविधियाँ शरीर और मन पर आच्छादित हैं। सर्वत्र प्रकाश का समुद्र लहलहा रहा है और हम तालाब की मछली की तरह उस ज्योति-सरोवर में क्रीड़ा-कल्लोल करते विचरण करते हैं। इन अनुभूतियों, आत्मबल, दिव्यदर्शन और अन्तःउल्लास को विकासमान बनाने में इतनी सहायता पहुँचाई कि जिसका कुछ उल्लेख नहीं किया जा सकता। हो सकता है यह कल्पना ही हो, पर सोचते जरूर हैं कि यदि यह 'अखण्ड-ज्योति' जलाई न गई होती तो पूजा की कोठरी के धुँधलेपन की तरह शायद अन्तरंग भी धुँधला बना रहता। अब तो वह दीपक दीपावली के दीपपर्व की तरह अपनी नस-नाड़ियों में जगमगाता दीखता है। अपनी भावभरी अनुभूतियों के प्रवाह में ही जब ३२ वर्ष पूर्व पत्रिका आरम्भ की तो संसार का सर्वोत्तम नाम जो हमें प्रिय लगता था, पसन्द आता था 'अखण्ड-ज्योति' रख दिया। हो सकता है उसी भावावेश में प्रतिष्ठापित पत्रिका का छोटा-सा विग्रह संसार में मंगलमय प्रगति की प्रकाश किरणें बिखेरने में समर्थ और सफल हो सका हो।

साधना के तीसरे चरण में प्रवेश करते हुए "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की किरणें फूट पड़ीं। मातृवत् परदारेषु और परद्रव्येषु लोष्ठवत् की साधना अपने काय-कलेवर तक ही सीमित थी। दो आँखों में पाप आया तो तीसरी विवेक की आँख खोलकर उसे डरा-भगा दिया। शरीर पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिए और वैसी परिस्थितियाँ बनने की जिनसे आशंका रहती है उनकी जड़ काट दी, तो दुष्ट व्यवहार असम्भव हो गया। मातृवत् परदारेषु की साधना बिना अड़चन के सध गई। मन ने सिर्फ आरम्भिक दिनों में ही हैरान किया। शरीर ने सदा हमारा साथ दिया। मन ने जब हार स्वीकार कर ली तो वह हताश होकर हरकतों से बाज आ गया। पीछे तो वह अपना पूरा मित्र और सहयोगी ही बन गया। स्वेच्छा से गरीबी वरण कर लेने, आवश्यकताएँ घटाकर अन्तिम बिन्दु तक ले आने और संग्रह की भावना छोड़ने से 'परद्रव्य' का आकर्षण चला गया। पेट भरने के लिए, तन ढँकने के लिए जब स्व-उपार्जन ही पर्याप्त था तो 'परद्रव्य' के अपहरण की बात क्यों सोची जाए? जो बचा, जो मिला-सो देते बाँटते ही रहे। बाँटने और देने का चस्का जिसे लग जाता है, जो उस अनुभूति का आनन्द लेने लगता है, उसे संग्रह करते बन नहीं पाता। फिर किस प्रयोजन के लिए परद्रव्य का पाप कमाया जाए? गरीबी का, सादगी का, अपरिग्रही ब्राह्मण जीवन, अपने भीतर एक असाधारण आनन्द, संतोष और उल्लास भरे बैठा है, इसकी अनुभूति यदि लोगों को हो सकी होती तो शायद ही किसी का मन परद्रव्य की पाप-पोटली सिर पर लादने को करता। अपरिग्रह अनुदान की प्रतिक्रिया अन्तःकरण पर कितनी अनोखी होती है, उसे कोई कहाँ जानता है? पर अपने को तो यह दिव्य विभूतियों का भण्डार अनायास ही हाथ लग गया।

अगले कदम बढ़ने पर तीसरी मंजिल आती है- 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'। अपने समान सबको देखना। कहने-सुनने में ये शब्द मामूली से लगते हैं और सामान्यतया नागरिक कर्त्तव्यों का पालन, शिष्टाचार, सद्व्यवहार की सीमा तक पहुँचकर बात पूरी हो गई दीखती है, पर वस्तुतः इस तत्त्वज्ञान की सीमा अति विस्तृत है। उसकी परिधि वहाँ पहुँचती है, जहाँ परमात्म-सत्ता के साथ घुल

जाने की स्थिति आ पहुँचती है । इस साधना के लिए दूसरे के अन्तरंग के साथ अपना अन्तरंग जोड़ना पड़ता है और उसकी संवेदनाओं को अपनी संवेदना समझना पड़ता है । वसुधैव कुटुम्बकम् की मान्यता का यही मूर्तरूप है कि हम हर किसी को अपना मानें । अपने को दूसरों में और दूसरों को अपने में पिरोया हुआ, घुला हुआ अनुभव करें । इस अनुभूति की प्रतिक्रिया यह होती है कि दूसरों के सुख में अपना सुख और दूसरों के दु:ख में अपना दु:ख अनुभव होने लगता है । ऐसा मनुष्य अपने तक सीमित नहीं रह सकता, स्वार्थों की परिधि में आबद्ध रहना उसके लिए कठिन हो जाता है । दूसरों का दु:ख मिटाने और सुख बढ़ाने के प्रयास उसे बिलकुल ऐसे लगते हैं, मानो यह सब अपने नितान्त व्यक्तिगत प्रयोजन के लिए किया जा रहा हो ।

संसार में अगणित व्यक्ति पुण्यात्मा और सुखी हैं, सन्मार्ग पर चलते और मानव-जीवन को धन्य बनाते हुए अपना-पराया कल्याण करते हैं । यह देख-सोचकर जी को बड़ी सान्त्वना होती है और लगता है, सचमुच यह दुनिया ईश्वर ने पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाई है । यहाँ पुण्य और ज्ञान मौजूद है, जिसका सहारा लेकर कोई भी आनन्द-उल्लास की, शान्ति और सन्तोष की दिव्य उपलब्धियाँ समुचित मात्रा में प्राप्त कर सकता है । पुण्यात्मा, परोपकारी और आत्मावलम्बी व्यक्तियों का अभाव यहाँ नहीं है । वे संख्या में कम भले ही हों, पर अपना प्रकाश तो फैलाते ही हैं और उनका अस्तित्व यह तो सिद्ध करता ही है कि मनुष्य में देवत्व मौजूद है और उसे जो चाहे थोड़े से प्रयत्न से सजीव एवं सक्रिय कर सकता है, धरती वीरविहीन नहीं । यहाँ नर-नारायण का अस्तित्त्व विद्यमान है । परमात्मा कितना महान, उदार और दिव्य हो सकता है, इसका परिचय, उसकी प्रतिकृति उन आत्माओं में देखी जा सकती है, जिन्होंने श्रेय पथ का अवलम्बन किया और काँटों को तलवों से रौंदते हुए लक्ष्य की ओर शान्ति, श्रद्धा एवं हिम्मत के साथ बढ़ते चले गये । मनुष्यता को गौरवान्वित करने वाले इन महामानवों का अस्तित्त्व ही इस जगती को इस योग्य बनाये हुए है कि भगवान बार बार नरतनु धारण करके अवतार के लिए ललचाए । आदर्शों की दुनिया में विचरण करने वाले और उत्कृष्टता की गतिविधियों को अवलम्बन बनाने वाले महामानव बहिरंग में अभावग्रस्त दीखते हुए भी अन्तरंग में कितने समृद्ध और सुखी रहते हैं, यह देखकर अपना चित्त भी पुलकित होने लगा । उनकी शान्ति अपने अन्त:करण को छूने लगी । महाभारत की वह कथा अक्सर याद आती रही जिसमें पुण्यात्मा युधिष्ठिर के कुछ समय तक नरक जाने पर वहाँ रहने वाले प्राणी आनन्द में विभोर हो गये थे । लगता रहा जिन पुण्यात्माओं की स्मृति मात्र से अपने को सन्तोष और प्रकाश मिलता है, वे स्वयं न जाने कितनी दिव्य अनुभूतियों का अनुभव करते होंगे ।

इस कुरूप दुनिया में जो कुछ सौन्दर्य है, वह इन पुण्यात्माओं का ही अनुदान है । असीम अस्थिरता से निरन्तर प्रेत-पिशाचों जैसा हाहाकारी नृत्य करने वाले अणु-परमाणुओं से भरी-बनी इस दुनिया में जो स्थिरता और शक्ति है वह इन पुण्यात्माओं द्वारा ही उत्पन्न की गई है । सर्वत्र भरे बिखरे जड़ पंचतत्वों में जो सरसता और शोभा दीखती है, उसके पीछे इन सत्पथगामियों का प्रयत्न और पुरुषार्थ ही झाँक रहा है । प्रलोभनों और आकर्षणों के जंजाल के बन्धन काटकर जिन्होंने सृष्टि को सुरभित और शोभामय बनाने की ठानी, उनकी श्रद्धा ही धरती को धन्य बनाती रही है । जिनके पुण्य-प्रयास लोक-मंगल के लिए निरन्तर गतिशील रहे, इच्छा होती रही उन नर नारायणों के दर्शन और स्मरण करके पुण्यफल पाया जाए । इच्छा होती रही उनकी चरण-रज मस्तक पर रखकर अपने को धन्य बनाया जाए । जिन्होंने आत्मा को परमात्मा बना लिया, उन पुरुष-पुरुषोत्तमों में प्रत्यक्ष परमेश्वर की झाँकी करके लगता रहा अभी भी ईश्वर साकार रूप में इस पृथ्वी पर निवास करते, विचरते दीख पड़ते हैं । अपने चारों ओर इतना पुण्य-परमार्थ दिखाई पड़ते रहना बहुत कुछ सन्तोष देता रहा और यहाँ अनन्त काल तक रहने के लिए मन करता रहा । इन पुण्यात्माओं का सान्निध्य प्राप्त करने में स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि आदि का सबसे अधिक आनन्द पाया जा सकता है । इस सच्चाई के अनुभवों ने हस्तामलकवत स्वयं सिद्ध करके सामने रख दिया और कठिनाइयों से भरे जीवनक्रम के बीच इसी विश्व-सौन्दर्य का स्मरण कर उल्लसित रहा जा सका ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु की यह सुखोपलब्धि एकांगी न रही, उसका दूसरा पक्ष भी सामने अड़ा रहा । संसार में दु:ख कम नहीं । कष्ट और क्लेश, शोक और सन्ताप, अभाव और दारिद्र्य से अगणित व्यक्ति नारकीय यातनाएँ भोग रहे हैं । समस्याएँ, चिन्ताएँ और उलझनें लोगों को खाये जा रही हैं । अन्याय और शोषण के कुचक्र में असंख्यों को बेतरह पिसना पड़ रहा है । दुर्बुद्धि ने सर्वत्र नारकीय वातावरण बना रखा है । अपराधों और पापों के दावानल में झुलसते, बिलखते, चिल्लाते, चीत्कार करते लोगों की यातनाएँ ऐसी हैं जिससे देखने, सुनने वालों को रोमांच हो आते हैं, फिर जिन्हें वह सब सहना पड़ता है उनका तो कहना ही क्या ? सुख-सुविधाओं की साधन-सामग्री इस संसार में कम नहीं है, फिर भी दु:ख और दैन्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता । एक-दूसरे को स्नेह-सद्भाव का सहारा देकर व्यथा-वेदनाओं से छुटकारा दिला सकते थे, प्रगति और समृद्धि की सम्भावना प्रस्तुत कर सकते थे, पर किया क्या जाए ? जब मनोभूमि विकृत हो गई, सब कुछ उलटा सोचा और अनुचित किया जाने लगा तो विष-वृक्ष बोकर अमृत-फल पाने की आशा कैसे सफल होती ?

सर्वत्र फैले दु:ख-दारिद्र्य, शोक-सन्ताप से किस प्रकार समस्त मानव प्राणियों को कितना कष्ट हो रहा है, पतन और पाप के गर्त में लोग किस शान और तेजी से गिरते-मरते चले जा रहे हैं, यह दयनीय दृश्य देखे, सुने तो

अन्तरात्मा रोने लगी । मनुष्य अपने ईश्वरीय अंश अस्तित्व को क्यों भूल गया ? उसने अपना स्वरूप और स्तर इतना क्यों गिरा दिया ? ये प्रश्न निरन्तर मन में उठते रहे । बुद्धिमानी, चतुरता, समझ कुछ भी तो यहाँ कम नहीं है । लोग एक से एक बढ़कर कला-कौशल उपस्थित करते हैं और एक से एक बढ़कर चातुर्य-चमत्कार का परिचय देते हैं, पर इतना क्यों समझ नहीं पाते कि दुष्टता और निकृष्टता का पल्ला पकड़ कर वे जो पाने की आशा करते हैं, वह मृग-तृष्णा ही बनकर रह जाएगी, केवल पतन और सन्ताप ही हाथ लगेगा । मानवीय बुद्धिमत्ता में यदि एक कड़ी और जुड़ गई होती, समझदारी ने इतना और निर्देश किया होता कि ईमान को साबित और सौजन्य को विकसित किए रहना मानवीय गौरव के अनुरूप और प्रगति के लिए आवश्यक है, तो इस संसार की स्थिति कुछ दूसरी ही होती है । फिर सब सुख-शान्ति का जीवन जी रहे होते । किसी को किसी पर अविश्वास, सन्देह न करना पड़ता और किसी के द्वारा ठगा, सताया न जाता । तब यहाँ दु:ख-दारिद्र्य का अता-पता भी न मिलता, सर्वत्र सुख-शान्ति की सुरभि फैली अनुभव होती ।

समझदार मनुष्य इतना नासमझ क्यों, जो पाप का फल दु:ख और पुण्य का फल सुख होता है, इतनी मोटी बात को भी मानने के लिए तैयार नहीं होता । इतिहास और अनुभव का प्रत्येक अंकन अपने गर्भ में यह छिपाये बैठा है कि अनीति अपनाकर स्वार्थ, संकीर्णता से आबद्ध रहकर हर किसी को पतन और संताप ही हाथ लगा है । उदात्त और निर्मल हुए बिना किसी ने भी शान्ति नहीं पाई है । सम्मान और उत्कर्ष की सिद्धि किसी को भी आदर्शवादी रीति नीति अपनाये बिना नहीं मिली है । कुटिलता सात पर्दे भेद कर अपनी पोल आप खोलती रहती है, यह हम पग-पग पर देखते हैं, फिर भी न जाने क्यों यही सोचते रहते हैं कि हम संसार की आँखों में धूल झोंककर अपनी धूर्तता को छिपाये रहेंगे । कोई हमारी दुरभिसन्धियों की गन्ध न पा सकेगा और लुक-छिपकर आँख-मिचौनी का खेल सदा खेला जाता रहेगा । यह सोचने वाले लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि हजारों आँख से देखने, हजारों कानों से सुनने और हजारों पकड़ से पकड़ने वाला विश्वात्मा किसी की भी धूर्तता पर पर्दा नहीं पड़ा रहने देता । वस्तुस्थिति प्रकट होकर रहती है और दुष्टता छत पर चढ़कर अपनी कलई आप खोलती और अपनी दुरभिसन्धि आप बखानती है । यह सनातन सत्य और पुरातन तथ्य लोग समझ सके होते और अशुभ का अवलम्बन करने पर जो दुर्गति होती है, उसे अनुभव कर सके होते तो क्यों सन्मार्ग का राजपथ छोड़कर कंटकाकीर्ण कुमार्ग पर भटकते ? और क्यों रोते-बिलखते इस सुरदुर्लभ मानव-जीवन को सड़ी हुई लाश की तरह ढोते, घसीटते ?

दुर्बुद्धि का कैसा जाल-जंजाल बिखरा पड़ा है और उसमें कितने निरीह प्राणी-करुण चीत्कार करते हुए फँसे-जकड़े पड़े हैं, यह दयनीय दुर्दशा अपने लिए मर्मान्तक पीड़ा का कारण बन गई । आत्मवत् सर्वभूतेषु की साधना ने विश्व-मानव की इस पीड़ा को अपनी पीड़ा बना दिया, लगने लगा मानो अपने ही हाथ-पाँवों को कोई ऐंठ-मरोड़ और जला रहा हो । "सबमें अपना आत्मा पिरोया हुआ है और सब अपनी आत्मा में पिरोये हुए हैं" गीता का यह ज्ञान जहाँ तक पढ़ने-सुनने से सम्बन्धित रहे वहाँ तक कुछ हर्ज नहीं, पर जब वह अनुभूति की भूमिका में उतरे और अन्त:करण में प्रवेश प्राप्त करे, तो स्थिति दूसरी ही हो जाती है । अपने अंग-अवयवों का कष्ट अपने को जैसा व्यथित-बेचैन करता है, अपने स्त्री, पुत्रों की पीड़ा जैसे अपना चित्त विचलित करती है, ठीक वैसे ही आत्म-विस्तार की दिशा में बढ़ चलने पर लगता है कि विश्व-व्यापी दु:ख अपना ही दु:ख है और व्यथित-पीड़ितों की वेदना अपने को ही नोंचती-कचोटती है ।

पीड़ित मानवता की, विश्वात्मा की, व्यक्ति और समाज की व्यथा-वेदना अपने भीतर उठने और बेचैन करने लगी । आँख, दाढ़ और पेट के दर्द से बेचैन मनुष्य व्याकुल फिरता है कि किस प्रकार-किस उपाय से इस कष्ट से छुटकारा पाया जाए ? क्या किया जाए ? कहाँ जाया जाए ? की हलचल मन में उठती है और जो सम्भव है उसे करने के लिए क्षण भर का विलम्ब न करने की आतुरता व्यग्र होती है । अपना मन भी ठीक ऐसा ही बना रहा । दुर्घटना में हाथ-पैर टूटे बच्चे को अस्पताल ले दौड़ने की आतुरता में माँ अपने बुखार-जुकाम को भूल जाती है और बच्चे को संकट में से बचाने के लिए बेचैन हो उठती है । लगभग अपनी मनोदशा ऐसी ही तब से लेकर अद्यावधि चली आई है । अपने सुख-साधन जुटाने की फुरसत किसे है ? विलासिता की सामग्री जहर-सी लगती है, विनोद और आराम के साधन जुटाने की बात कभी सामने आई तो आत्म-ग्लानि ने उस क्षुद्रता को धिक्कारा, जो मरणासन्न रोगियों के प्राण बचा सकने में समर्थ पानी के एक गिलास को अपने पैर धोने की विडम्बना में बिखेरने के लिए ललचाती है । भूख से तड़प कर प्राण त्यागने की स्थिति में पड़े हुए बालकों के मुख में जाने वाला ग्रास छीनकर माता कैसे अपना भरा पेट और भरे ? दर्द से कराहते बालक से मुँह मोड़कर पिता कैसे ताश-शतरंज का साज सजाये ? ऐसा कोई निष्ठुर ही कर सकता है । आत्मवत् सर्वभूतेषु की संवेदना जैसे ही प्रखर हुई, निष्ठुरता उसी में गल-जलकर नष्ट हो गई । जी में केवल करुणा ही शेष रह गई, वही अब तक जीवन के इस अन्तिम अध्याय तक यथावत बनी हुई है । उसमें कमी रत्ती भर भी नहीं हुई वरन् दिन-दिन बढ़ोत्तरी ही होती गई ।

**सुना है कि आत्म-ज्ञानी सुखी रहते हैं और चैन की नींद सोते हैं । अपने लिए ऐसा आत्म-ज्ञान अभी तक दुर्लभ ही बना हुआ है । ऐसा आत्म-ज्ञान कभी मिल भी**

**सकेगा या नहीं इसमें पूरा-पूरा सन्देह है** । जब तक व्यथा-वेदना का अस्तित्व इस जगती में बना रहे, जब तक प्राणियों को क्लेश और कष्ट की आग में जलना पड़े, तब तक हमें भी चैन से बैठने की इच्छा न हो, जब भी प्रार्थना का समय आया, तब भगवान से निवेदन यही किया । **हमें चैन नहीं, वह करुणा चाहिए जो पीड़ितों की व्यथा को अपनी व्यथा समझने की अनुभूति करा सके, हमें समृद्धि नहीं वह शक्ति चाहिए, जो आँखों से आँसू पोंछ सकने की अपनी सार्थकता सिद्ध कर सके** । बस इतना ही अनुदान-वरदान भगवान से माँगा और लगा कि द्रोपदी को वस्त्र देकर उसकी लज्जा बचाने वाले भगवान हमें करुणा की अनन्त संवेदनाओं से ओत-प्रोत करते चले जाते हैं । अपने को क्या कष्ट और अभाव है, इसे सोचने की फुरसत ही कब मिली ? अपने को क्या सुख-साधन चाहिए इसका ध्यान ही कब आया है ? केवल पीड़ित मानवता की व्यथा-वेदना ही रोम-रोम में समाई रही और यही सोचते रहे कि अपने विश्वव्यापी कलेवर परिवार को सुखी बनाने के लिए क्या किया जा सकता है । जो पाया उसका एक-एक कण हमने उसी प्रयोजन के लिए खर्च किया, जिससे शोक-सन्ताप की व्यापकता हटाने और संतोष की साँस ले सकने की स्थिति उत्पन्न करने में थोड़ा योगदान मिल सके ।

**हमारी कितनी रातें सिसकते बीती हैं-कितनी बार हम बालकों की तरह बिलख-बिलख कर, फूट-फूट कर रोये हैं, इसे कोई कहाँ जानता है ? लोग हमें संत, सिद्ध, ज्ञानी मानते हैं, कोई लेखक, विद्वान, वक्ता, नेता समझते हैं, पर किसने हमारा अन्तःकरण खोलकर पढ़ा-समझा है । कोई उसे देख सका होता तो उसे मानवीय व्यथा-वेदना की अनुभूतियों से, करुण-कराह से हाहाकार करती एक उद्विग्न आत्मा भर इस हड्डियों के ढाँचे में बैठी बिलखती ही दिखाई पड़ती** । कहाँ कथित आत्मज्ञान की निश्चिन्तता, निर्द्वन्द्वता और कहाँ हमारी करुण कराहों से भरी अन्तरात्मा । दोनों में कोई तालमेल नहीं । सो जब कभी सोचा यही सोचा कि अभी वह ज्ञान जो निश्चिन्तता, एकाग्रता और समाधि सुख दिला सके हमसे बहुत दूर है । शायद वह कभी मिले भी नहीं, क्योंकि इस दर्द में ही जब भगवान की झाँकी होती है, पीड़ितों के आँसू पोंछने में ही जब कुछ चैन अनुभव होता है तो उस निष्क्रिय मोक्ष और समाधि का प्रयास करने के लिए कभी मन चलेगा ऐसा लगता नहीं, जिसकी इच्छा ही नहीं वह मिला भी किसे है ?

पुण्य-परोपकार की दृष्टि से कभी कुछ करते बन पड़ा हो सो याद नहीं आता । ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए कोई साधन बन पड़ा हो ऐसा स्मरण नहीं । आत्मवत् सर्वभूतेषु के आत्म-विस्तार ने सर्वत्र अपना ही आपा बिखरा दिखलाया तो वह मात्र दृष्टि-दर्शन न रह गया । दूसरों की व्यथा-वेदनाएँ भी अपनी बन गईं और वे इतनी अधिक चुभन, कसक पैदा करती रहीं कि उन पर मरहम लगाने के अतिरिक्त और कुछ सूझा नहीं । पुण्य करता कौन ? परमार्थ के लिए फुरसत किसे थी ? ईश्वर को प्रसन्न करके स्वर्ग-मुक्ति का आनन्द लेना आया किसे ? विश्व-मानव की तड़पन अपनी तड़पन बन रही थी सो पहले उसी से जूझना था, अन्य बातें तो ऐसी थीं जिनके लिए अवकाश और अवसर की प्रतीक्षा की जा सकती थी । हमारे जीवन के क्रिया-कलाप के पीछे उसके प्रयोजन को कभी कोई ढूँढ़ना चाहे तो उसे इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि संत और सज्जनों की सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों का जितने क्षण स्मरण-दर्शन होता रहा उतने समय चैन की साँस ली और जब जन-मानस की व्यथा-वेदनाओं को सामने खड़ा पाया तो अपनी निज की पीड़ा से अधिक कष्ट अनुभव हुआ । लोक-मंगल, परमार्थ, सुधार, सेवा आदि के प्रयास कुछ यदि हमसे बन पड़े तो उस संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह हमारी विवशता भर थी । दर्द और जलन ने क्षण भर चैन से न बैठने दिया तो हम करते भी क्या ? जो दर्द से इठा जा रहा है वह हाथ-पैर न पटके तो क्या करे ? हमारे अब तक के समस्त प्रयत्नों को लोग कुछ भी नाम दें, किसी रंग में रँगें, असलियत यह है कि विश्व-वेदना की आन्तरिक अनुभूति ने करुणा और संवेदना का रूप धारण कर लिया और हम विश्व-वेदना को आत्म-वेदना मानकर उससे छुटकारा पाने के लिए बेचैन-घायल की तरह प्रयत्न-प्रयास करते रहे । भावनाएँ इतनी उग्र रहीं कि अपना आपा तो भूल ही गये । त्याग, संयम, सादगी, अपरिग्रह आदि की दृष्टि से कोई हमारे कार्यों पर नजर डाले तो उसे इतना भर समझ लेना चाहिए कि जिस ढाँचे में अपना अन्तःकरण ढल गया, उसमें यह नितान्त स्वाभाविक था । अपनी समृद्धि, प्रगति, सुविधा, वाहवाही हमें नापसन्द हो ऐसा कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । उन्हें हमने जान-बूझकर त्यागा सो बात नहीं है । वस्तुतः विश्व-मानव की व्यथा अपनी वेदना बनकर इस बुरी तरह अन्तःकरण पर छाई रही कि अपने बारे में कुछ सोचने-करने की फुरसत ही न मिली, वह प्रसंग सर्वथा विस्मृत ही बना रहा । इस विस्मृति को कोई तपस्या, संयम कहे तो उसकी मर्जी, पर जब स्वजनों को अपनी जीवन-पुस्तिका कुछ सभी उपयोगी पृष्ठ खोलकर पढ़ा रहे हैं तो वस्तुस्थिति बता ही देनी उचित है ।

हमारी उपासना और साधना साथ-साथ मिलकर चली हैं । परमात्मा को हमने इसलिए पुकारा कि वह प्रकाश बनकर आत्मा में प्रवेश करे और तुच्छता को महानता में बदल दे । उसकी शरण में इसलिए पहुँचे कि उस महत्ता में अपनी क्षुद्रता विलीन हो जाए । वरदान केवल यह माँगा कि हमें वह सहृदयता और विशालता मिले, जिसके अनुसार अपने में सब को और सब में अपने को अनुभव किया जा सकना सम्भव हो सके । २४ महापुरश्चरणों का जप, ध्यान, तप, संयम सब इसी परिधि के इर्द-गिर्द घूमते रहे हैं ।

अपनी साधनात्मक अनुभूतियों और उस मंजिल पर चलते हुए समक्ष आये उतार चढ़ावों की चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि यदि किसी को आत्मिक प्रगति की दिशा में चलने का प्रयत्न करना हो और वर्तमान परिस्थितियों में रहने वालों के लिए यह सब कैसे सम्भव हो सकता है ? इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ढूँढ़ना हो, तो उसे हमारी जीवन-यात्रा बहुत मार्ग-दर्शन कर सकती है । वस्तुतः हमने एक प्रयोगात्मक जीवन जिया है । आध्यात्मिक आदर्शों का व्यावहारिक जीवन में तालमेल बिठाते हुए आन्तरिक प्रगति के पथ पर कैसे चला जा सकता है और उसमें बिना भटके कैसे सफलता पाई जा सकती है ? हम इसी तथ्य की खोज करते रहे हैं और उसी के प्रयोग में अपनी चिन्तन-प्रक्रिया और शारीरिक गतिविधि केन्द्रित करते रहे हैं । हमारे मार्गदर्शक का इस दिशा में पूरा-पूरा सहयोग रहा है, सो अनावश्यक जाल-जंजालों में उलझे बिना सीधे रास्ते पर सही दिशा में चलते रहने की सरलता उपलब्ध होती रही है । उसी की चर्चा इन पंक्तियों में इस उद्देश्य से कर रहे हैं कि जिन्हें इस मार्ग पर चलने की और सुनिश्चित सफलता प्राप्त करने का प्रत्यक्ष उदाहरण ढूँढ़ने की आवश्यकता है, उन्हें अनुकरण के लिए एक प्रामाणिक आधार मिल सके ।

आत्मिक प्रगति के पथ पर एक सुनिश्चित एवं क्रमबद्ध योजना के अनुसार चलते हुए हमने एक सीमा तक अपनी मंजिल पूरी कर ली है और उतना आधार प्राप्त कर लिया है जिसके बल पर यह अनुभव किया जा सके कि परिश्रम निरर्थक नहीं गया, प्रयोग असफल नहीं रहा । क्या विभूतियाँ या उपलब्धियाँ प्राप्त हुईं ? इसकी चर्चा हमारे मुँह शोभा नहीं देती । इसको जानने, सुनने और खोजने का अवसर हमारे चले जाने के बाद ही आना चाहिए । उसके इतने अधिक प्रमाण बिखरे पड़े मिलेंगे कि किसी अविश्वासी को भी यह विश्वास करने के लिए विवश किया जा सकेगा कि न तो आत्म-विद्या का विज्ञान गलत है और न उस मार्ग पर सही ढंग से चलने वाले के लिए आशाजनक सफलता प्राप्त करने में कोई कठिनाई है । इस मार्ग पर चलने वाला आत्म-शान्ति, आन्तरिक-शक्ति और दिव्य-अनुभूति की परिधि में घूमने वाली अगणित उपलब्धियों से कैसे लाभान्वित हो सकता है ? इसका प्रत्यक्ष प्रमाण ढूँढ़ने के लिए भावी शोधकर्त्ताओं को हमारी जीवन-प्रक्रिया बहुत ही सहायक सिद्ध होगी । समयानुसार ऐसे शोधकर्त्ता उन विशेषताओं और विभूतियों के अगणित प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं ढूँढ़ निकालेंगे, जो आत्मवादी-प्रभुपरायण जीवन में हमारी ही तरह हर किसी को उपलब्ध हो सकना सम्भव है ।

# ( ३ ) विश्वास, सन्देह और समाधान

**—फरवरी, १९८५**

पौन शताब्दी से काया और चेतना के ईंट गारे से बनी इस प्रयोगशाला में हम दत्त-चित्त होकर एक ही प्रयत्न करते रहे हैं कि अध्यात्म-तत्त्वज्ञान की यथार्थता और प्रतिक्रिया वस्तुतः है क्या ? विकसित बुद्धिवाद की दृष्टि में वह भावुकों का अन्धविश्वास और धूर्तों का जादुई व्यवसाय है । इसे उनका स्वनिर्मित जाल-जंजाल और बता दिया जाता तो हमें इतनी पीड़ा न होती जितनी कि उन्हें ऋषिप्रणीत, शास्त्रसम्मत और आप्तजनों द्वारा परीक्षित, अनुमोदित कहे जाने पर होती है और साथ ही परीक्षा की कसौटी पर अप्रामाणिक भी ठहराया जाता है, तो असमंजस का ठिकाना नहीं रहता । एक ओर चरम सत्य, दूसरी ओर पाखण्ड कहकर उसे विलक्षण स्थिति में लटका दिया जाता है, तो मन की व्याकुलता यह कहती है कि इस सन्दर्भ में किसी निर्णायक निष्कर्ष पर पहुँचा जाना चाहिए ।

आज नास्तिकवादी ही उसका मजाक नहीं उड़ाते, आस्तिकवादी भी यही कहते हैं कि बताये हुए क्रिया-कृत्यों को लम्बे समय तक करते रहने पर भी उनके हाथ ऐसा कुछ नहीं लगा, जिस पर वे सन्तोष एवं प्रसन्नता व्यक्त कर सकें । ऐसी दशा में सिद्धान्तों एवं प्रयोगों में कहीं-न कहीं त्रुटि होनी चाहिए । इस त्रुटि का निराकरण करने एवं अध्यात्म की यथार्थता प्रकाश में लाने के लिए कुछ कारगर प्रयत्न होने ही चाहिए । इसे कौन करे ? सोचा कि जब अपने को इतना लगाव है तो यह कार्य खुद अपने ही कंधों पर ले लेना चाहिए । अध्यात्म यदि विज्ञान है तो उसका सिद्धान्त यथार्थता से जुड़ा होना चाहिए और परिणाम ऐसा होना चाहिए जैसा कि वैज्ञानिक उपकरणों का तत्काल सामने आता है । प्रतिपादन और परिणाम की संगति न बैठने पर लोग आडम्बर का लांछन लगाएँ, तो उन्हें किस प्रकार रोका जाए । यदि वह सत्य है तो उसका जो बढ़ा-चढ़ा माहात्म्य बताया जाता है, उससे अन्य अनेकों को लाभ ले सकने की स्थिति तक क्यों न पहुँचाया जाए ?

अब तक का प्रायः पौन शताब्दी का हमारा जीवन-क्रम इसी प्रकार व्यतीत हुआ है । इसे एक जिज्ञासु साधक का प्रयोग-परीक्षण कहा जाए तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी ।

घटनाक्रम पन्द्रह वर्ष की आयु से आरम्भ होता है, जिसे अब ६० वर्ष से अधिक हो चले । इससे पूर्व की अपरिपक्व बुद्धि कुछ कठोर दृढ़ता अपनाने की स्थिति में भी नहीं थी और न ही मन में उतनी तीव्र उत्कण्ठा थी । आरम्भिक दिनों में उठती जिज्ञासा ने तद्विषयक अनेकों पुस्तकों को पढ़ने एवं इस क्षेत्र के अनेकों प्रतिष्ठित

सिध्याने की लिप्सा नहीं, वरन् तथ्यों को अनुभव में उतारने के लिए कठिन से कठिन प्रक्रिया अपनाने की साहसिकता थी । पूछताछ से, अध्ययन से समाधान न हुआ तो वह उत्कण्ठा अन्तरिक्ष में भ्रमण करने लगी और एक पारंगत समाधानी को सहायता के लिए ढूँढ़ लाई ।

ब्राह्मण कुल में जन्म लेने और पौरोहित्य कर्मकाण्ड की परम्परा से सघन सम्बन्ध होने के कारण दस वर्ष की आयु में ही महामना मालवीय जी के हाथों पिताजी ने उपनयन करा दिया था और गायत्री मन्त्र की उपासना का सरल कर्मकाण्ड सिखा दिया था । इस गुह्य विद्या के अन्यान्य पक्ष तो हमें बाद के जीवन में विदित हुए । निर्धारित क्रम अपनी जगह ज्यों-त्यों करके चल रहा था और लक्ष्य तक पहुँचने का जिज्ञासाभाव क्रमश: अधिक प्रचण्ड हो रहा था । इसी उद्वेग में कितनी ही रातें बिना सोए निकल जातीं ।

पूजा की कोठरी अलग एकान्त में थी । उस दिन ब्रह्ममुहूर्त में अपनी कोठरी दिव्यगन्ध और दिव्यप्रकाश से भर गई । माला छूट गई और मन:स्थिति तन्द्राग्रस्त जैसी हो गयी । लगा कि सामने पूर्व कल्पनाओं से मिलते-जुलते एक ऋषि खड़े हैं-प्रकाशपुंज के रूप में । इस दिव्यदर्शन ने घबराहट उत्पन्न नहीं की, वरन् तन्द्रा सघन होती चली गई और शरीराध्यास लगभग छूटकर अपनी चेतना ही और चैतन्य होती चली गयी । प्रकट होने वाली सत्ता ने कुछ संक्षिप्त शब्द कहे-''तेरी पात्रता और इच्छा की हमें जानकारी है, सो सहायता के लिए अनायास ही दौड़ आना पड़ा । अपनी पात्रता को अधिक विकसित करने के लिए महाप्रज्ञा की एक समग्र तप-साधना कर डाल ।'' उनका तात्पर्य था, ''गायत्री महामन्त्र का एक वर्ष में एक महापुरश्चरण करते हुए चौबीस वर्षों में चौबीस महापुरश्चरण सम्पन्न करना ।'' विधि-विधान उन्होंने संक्षेप में बता दिया । यह अवधि जौ की रोटी और छाछ पर बिताने की आज्ञा दी, ताकि इन्द्रिय-संयम से लेकर अर्थ-संयम, समय-संयम और विचार-संयम तक की समस्त मनोनिग्रह प्रक्रियाएँ सम्पन्न हो सकें और तत्त्वज्ञान धारण कर सकने की पात्रता परिपक्व हो सके । उनका संकेत था-इतना कर सका तो आगे का मार्ग बताने हम स्वयं अबकी भाँति फिर आयेंगे । इतना कहकर वे अन्तर्द्धान हो गये ।

जिज्ञासु का मस्तिष्क भगवान ने दिया है और उसमें तर्कबुद्धि की न्यूनता नहीं रखी है । आश्चर्य है कि इस स्तर की विचारणा के साथ-साथ उतनी ही प्रचण्ड श्रद्धा और संकल्प-शक्ति का भण्डार कहाँ से और कैसे भर गया ? दोनों दिशाएँ एक-दूसरे के विपरीत हैं, पर अपनी मानसिक बनावट में इन दोनों का ही परस्पर विरोधी समन्वय मिल गया । दूसरे दिन से वही चौबीस वर्ष की संकल्प-साधना समग्र निष्ठा के साथ आरम्भ कर दी । कुटुम्बियों-सम्बन्धियों ने इसी प्रयोजन में ७ घण्टे नित्य बिताने की २४ वर्ष लम्बी प्रतिज्ञा की बात सुनी तो सभी खिन्न हुए । अपने-अपने ढंग से समझाते रहे । जौ पर निर्वाह इतने लम्बे समय तक शरीर को क्षति पहुँचाएगा । विद्या पढ़ना रुक गया तो भविष्य में क्या बनेगा ? आदि-आदि । बहुत कुछ ऐसा सुनने को मिलता रहा, जिसका अर्थ होता था कि इतना लम्बा और कठोर साधन न किया जाए । पर अपनी जिज्ञासा इतनी प्रचण्ड थी कि अध्यात्म की तात्त्विकता को समझने के लिए एक क्या ऐसे कई शरीर न्योछावर कर देने का मनोबल उमगता रहा और समझाने वालों को अपना निश्चय और अभिप्राय स्पष्ट शब्दों में कहता रहा । घर में गुजारे के लायक बहुत कुछ था, सो उसकी चिन्ता करने की बात सामने नहीं आई ।

एक-एक करके वर्ष बीतते गए । पूछने वालों को एक-ही उत्तर दिया-''एक जुआ खेला है । इसको अन्त तक ही सँभाला जाएगा ।'' चौबीस वर्ष एक-एक करके इसी प्रकार पूरे हो गए । सात घण्टे की नित्य प्रक्रिया से मन ऊबा नहीं । जौ की रोटी और छाछ का आहार स्वास्थ्य की दृष्टि से अपूर्ण और हानिकारक कहा जाता रहा, पर वैसा कुछ घटित नहीं हुआ । लम्बे समय तक लम्बी प्रक्रिया के साथ सम्पन्न करने का क्रम यथावत चलता गया । उसमें ऊब नहीं आई । रुचि यथावत बनी रही । इस अवधि में मनोबल घटा नहीं, बढ़ा ही । चौबीस वर्ष पूरे होने के दिन निकट आने लगे तो मन में आया कि एक और ऐसा ही क्रम बता दिया जाएगा तो उसे भी इतनी ही प्रसन्नतापूर्वक किया जाएगा । परिणाम की कुछ और जन्मों तक प्रतीक्षा की जा सकती है ।

यह पंक्तियाँ आत्म-कथा के रूप में लिखी नहीं जा रही हैं और न उनके साथ अप्रासंगिक विषयों का समावेश किया जा रहा है । अध्यात्म भी विज्ञान है क्या ? इस प्रयोग-परीक्षण के सन्दर्भ में जो कुछ भी बन पड़ा है, उसी की चर्चा की जा रही है, ताकि अन्यान्य जिज्ञासुओं को भी कुछ प्रकाश और समाधान मिल सके ।

इन २४ वर्षों में कुछ भी शास्त्राध्ययन नहीं किया और न समीप आने वाले विद्वान विज्ञजनों से कोई चर्चा की । कारण कि इसमें निर्धारित दिशा और श्रद्धा में व्यतिरेक हो सकता था, जबकि अध्यात्म का मूलभूत आधार प्रचण्ड इच्छा और गहन श्रद्धा पर टिका हुआ था । दिशा-विभ्रम से अन्तराल डगमगाने न लगे, इसलिए प्रयोग का एकनिष्ठ भाव से चलना ही उपयुक्त था और वही किया भी गया । मन दिन में ही नहीं, रात को स्वप्नावस्था में भी उसी राह पर चलता रहा ।

नियत अवधि भारी नहीं पड़ी, वरन् क्रमश: अधिक सरस होती गई । समय पूरा हो गया । प्रकाशपुंज मार्ग-दर्शक के पहले जैसी स्थिति में फिर दर्शन हुए, इसी प्रभात वेला में । देखते ही तन्द्रा आरम्भ हुई और क्रमश: अधिक गहरी होती गई । मूक भाषा में पूछा गया-''इन २४ वर्षों में कोई चित्र-विचित्र अनुभव हुआ हो तो बता ?'' मेरा एक

ही उत्तर था-"निष्ठा बढ़ती ही गयी है और इच्छा उठती रही है कि अगला आदेश हो और उसकी पूर्ति इससे भी अधिक तत्परता तथा तन्मयता को सँजोकर की जाए। आकांक्षा तो एक ही है कि अध्यात्म आडम्बर है या विज्ञान ? इसकी अनुभूति स्वयं कर सकें, ताकि किसी से बलपूर्वक कह सकना सम्भव हो सके।"

अपनी बात समाप्त हो गयी। मार्गदर्शक ने कहा-"विश्वास में एक पुट और लगाना बाकी है, ताकि वह समुचित रूप से परिपक्व हो सके। इसके लिए २४ लाख आहुतियों का गायत्री यज्ञ करना अभीष्ट है।" मैंने इतना ही कहा कि-"शरीरगत क्रियाएँ करना मेरे लिए शक्य है, पर इतने बड़े आयोजन के लिए जो राशि जुटाई जाएगी और प्रबन्ध में असाधारण उतार-चढ़ाव आयेंगे उन्हें कर सकना कैसे बन पड़ेगा ? निजी अनुभव और धन इस स्तर का है नहीं, तब आपका नया आदेश कैसे निभेगा ?"

मन्द मुसकान के बीच उस प्रकाशपुंज ने फिर कहा कि-"विश्वास की कमी रही न ? हमारे कथन और गायत्री के प्रतिफल से क्या नहीं हो सकता ? इसमें सन्देह करने की बात कैसे उठ पड़ी ? यही कच्चाई है, जिसे निकालना है। शत-प्रतिशत श्रद्धा के बल पर ही परिपक्वता आती है।"

मैं झुक गया और कहा-"रूपरेखा बता जाइये। मैं ऐसे कामों के लिए अनाड़ी हूँ।" उन्होंने संक्षेप में किन्तु समग्र रूप में बता दिया कि-एक हजार कुण्डों में २४ लाख आहुतियों का गायत्री यज्ञ कैसे हो ? इन दिनों जो प्रमुख गायत्री उपासक हैं, उन्हें एक लाख की संख्या में कैसे निमन्त्रित किया जाए ? मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ अनायास ही हल होती चलेंगी।

दूसरे दिन से वह कार्य आरम्भ हो गया। कार्त्तिक सुदी पूर्णिमा सम्वत् २०१५ का मुहूर्त था। चार दिन पहले आयोजन आरम्भ होना था। एक लाख आगन्तुक और इससे दो-तीन गुने दर्शकों के लिए बैठने, निवास करने, भोजन, शयन, लकड़ी, सफाई, रोशनी, पानी आदि के अनेकानेक कार्य एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए थे। जैसे मन में आया, वैसा ढर्रा चलता रहा। आगन्तुकों के पते कलम अपने आप लिखती गई। आयोजन के लिए छह-सात मील का एरिया आवश्यक था। वह कहीं खाली मिल गया, कहीं माँगने पर किसानों ने दे दिया। जिनके पास डेरे, तम्बू, राशन, लकड़ी, कुओं में लगाने के पम्प-जेनेरेटर आदि थे, उन सभी ने देना स्वीकार कर लिया। एडवांस माँगने का ऐसे कामों में रिवाज है, पर न जाने कैसे लोगों का विश्वास जमा रहा कि हमारा पैसा मिल जाएगा। न किसी ने देने के लिए कहा और न ही दिया गया। पूरी तैयारी होने में एक महीने से भी कम समय लगा। सहायता के लिए स्वयं-सेवकों का अनुरोध छपा गया तो देखते-देखते वे भी ५०० की संख्या में आ गए। सभी ने मिल-जुलकर काम हाथों में ले लिया।

नियत समय पर निमन्त्रित गायत्री उपासकों की एक लाख की भीड़ आ गई। उनके साथ ही दर्शकों के हुजूम थे। अनुमान दस लाख आगन्तुकों का किया जाता है। स्टेशनों पर अन्धाधुन्ध भीड़ देखी गयी और बस स्टैण्डों पर भी वही हाल। भले अफसरों ने स्पेशल ट्रेनें और बसें छोड़ना आरम्भ किया। मथुरा शहर से चार मील दूर यज्ञ स्थल था। अपने-अपने बिस्तर सिर पर लादे सभी आते चले जाते थे। एक लाख के ठहरने का प्रबन्ध किया गया था, पर उसी में चार लाख समा गए। भोजन के लंगर चौबीस घण्टे चलते रहे। किसी को भूखे रहने की, छाया न मिलने की शिकायत न करनी पड़ी। कुओं में पम्प वालों ने अपने पम्प लगा दिए। बिजली कम पड़ी तो दूर-दूर कस्बों तक से गैस बत्तियाँ आ गईं। टट्टी-पेशाब और स्नान की समस्या सबसे अधिक पेचीदा होती है। वह भी इतनी सुव्यवस्था से सम्पन्न हो गयी कि देखने वाले चकित रह गए।

जंगल में पैसा पास न रखने एवं अमानत रूप में दफ्तर में रखने का ऐलान किया गया। फलतः अमानतें जमा होती चली गयीं। सब कुछ व्यवस्था से था। किसी का एक पैसा न खोया। देखने वाले इस आयोजन की तुलना इलाहाबाद के कुम्भ मेले से करते थे, पर पुलिस या सरकार का एक आदमी न था। लोगों ने अपनी ओर से डिस्पेन्सरियाँ, प्याऊ व स्वल्पाहार केन्द्र खोल रखे थे। मीलों का एरिया खचाखच भरा हुआ था। यज्ञ नियत समय पर विधिवत होता रहा। यज्ञशाला की परिक्रमा देने तीस-पचास मील दूर से अनेकों बसें आई थीं। पूर्णाहुति के दिन हम और हमारी धर्मपत्नी हाथ जोड़कर खड़े रहे। सभी से प्रसाद लेकर (भोजन करके) जाने की प्रार्थना की। न जाने कहाँ से राशन आता गया। न जाने कौन उसका मूल्य चुकाता गया। न जाने किसने इतने बड़े राशन के पर्वत को खा-पीकर समाप्त कर दिया। सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह कि न किसी का एक पैसा खोया, न किसी को चोट लगी और न किसी को ढूँढ़ना-खोजना पड़ा। पैसा कहीं से आता व कहीं से जाता रहा, उसमें से खेरीज की कुछ बोरियाँ शेष रह गयी थीं, जिससे सफाई की व्यवस्था कर दी गयी। स्वयंसेवकों को टिकट दिला दिए गए। बचना तो क्या था, घाटा भी नहीं हुआ। लोग कहते थे-रेत के बोरे आटा बन जाते, पानी का घी बन जाता है, यह किम्बदन्ती यहाँ सही होती देखी गयी। कुम्भ मेलों जैसी संरक्षकों, बजट, टैक्स आदि की यहाँ कोई व्यवस्था न थी। फिर भी सारी व्यवस्था यहाँ सुचारु रूप से ऐसे चल रही थी, मानो किसी यन्त्र पर सारा ढर्रा घूम रहा हो।

मथुरा के इर्द-गिर्द सौ-सौ मील तक यह चर्चा फैल गयी कि महाभारत के बाद इतना बड़ा आयोजन इसी बार हो रहा है। जो उसे देख न सकेंगे, जीवन में दुबारा ऐसा अवसर न मिल सकेगा। इस जनश्रुति के कारण आदि से अन्त तक प्रायः दस लाख व्यक्ति उसे देखने आए।

आयोजन समाप्त होने के बाद भी तीन दिन तक परिक्रमा चलती रही । कुण्डों की भस्म लोग प्रसादस्वरूप झाड़-झाड़ कर ले गए ।

वस्तुतः आयोजन हर दृष्टि से अलौकिक-दर्शनीय था । हजार कुण्ड की भव्य यज्ञशाला । एक लाख प्रतिनिधियों के बैठने लायक पण्डाल, २४ घण्टे चलने वाली भोजन-व्यवस्था, रोशनी, पानी, बिछावट-जिधर भी दृष्टि डाली जाए, आश्चर्य लगता था । सात मील का पूरा क्षेत्र ठसाठस भरा था । पूर्णाहुति के बाद भी तीन दिन तक आगन्तुक भोजन करते रहे । अक्षय भण्डार कभी चुका नहीं । जो आरम्भ में आए थे, उन्होंने जाते ही अपने क्षेत्रों में चर्चा की और बसों-बैलगाड़ियों की भीड़ बढ़ती चली गयी । भीड़ और भव्यता देखकर हर आगन्तुक अवाक रह जाता था । ऐसा दृश्य वस्तुतः इन लाखों में से किसी ने भी इससे पूर्व देखा न था ।

यह गायत्री महा-पुरश्चरण के जप-तप, साधन एवं पूर्णाहुति यज्ञ की चर्चा हुई । सबसे बड़ी उपलब्धि इस आयोजन की यह थी कि आमन्त्रित किन्तु अपरिचित गायत्री उपासकों में से प्रायः एक लाख हमारे मित्र, सहयोगी एवं घनिष्ट बन गए । कन्धे से कन्धा और कदम से कदम मिलाकर चलने लगे । गायत्री परिवार का इतना व्यापक गठन देखते देखते बन गया और नवयुग के सूत्रपात का क्रिया-कलाप इस प्रकार चल पड़ा मानो उसकी सुनिश्चित रूपरेखा किसी ने पहले से ही बनाकर रख दी हो ।

# (४) चमत्कारों से युक्त यह जीवनक्रम एवं उसका मर्म

*-मार्च, १९८५*

विगत साठ वर्षों की हमारी जीवनचर्या अलौकिक घटना-प्रसंगों एवं दैवीसत्ता के मार्गदर्शन में संचालित ऐसी कथा-गाथा है, जिसके कई पहलू ऐसे हैं जो अभी भी जन-साधारण के समक्ष उजागर नहीं किए जाने चाहिए । किन्तु पहली बार हमने अपने मार्गदर्शक के निर्देश पर अपनी जीवनयात्रा के उन गुह्यपक्षों का प्रकटीकरण करने का निश्चय किया है, जिससे सर्व-साधारण को सही दिशा मिले । ऐसे कुछ प्रसंगों को पाठक पिछले पन्नों पर पढ़ चुके हैं ।

ऋद्धि-सिद्धियों के सम्बन्ध में सर्व-साधारण को अधिक जिज्ञासा रहती है । हमारे विषय में एक सिद्ध-पुरुष की मान्यता जन-मानस में बनती रही है । बहुत खण्डन करने एवं अध्यात्म दर्शन का तत्व सामने रखने पर भी यह मान्यता संव्याप्त है ही कि हम एक चमत्कारी सिद्धपुरुष हैं । अब हमें इस वसन्त पर निर्देश मिला कि अपनी जीवन-गाथा को एक खुली पुस्तक के रूप में सबके समक्ष रख दिया जाए, ताकि वे चमत्कारों एवं उन्हें जन्म देने वाली साधना-शक्ति की सामर्थ्य से परिचित हो सकें ?

ऋद्धियाँ एवं सिद्धियाँ क्या हैं, इस सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण बड़ा स्पष्ट रहा है । वह शास्त्रसम्मत भी है एवं तर्क की कसौटी पर खरा उतरने वाला भी । हमारे प्रतिपादन के अनुसार योगाभ्यास एवं तपश्चर्या के दो विभागों में अध्यात्म साधनाओं को विभाजित किया जा सकता है । इनमें तपश्चर्या प्रत्यक्ष है और योगाभ्यास परोक्ष । तप शरीर प्रधान है और योग मन से सम्बन्धित । इनके प्रतिफल दो हैं । एक सिद्धि, दूसरा ऋद्धि । शरीर से वे काम कर दिखाना जो आमतौर से उसकी क्षमता से बाहर समझे जाते हैं, सिद्धि के अन्तर्गत आते हैं । पुरातनकाल में वर्षा अपेक्षाकृत अधिक होती थी । नदी-नाले चार महीने तेजी से बहते रहते थे । पुल नहीं थे । नावों पर ही निर्भर रहना पड़ता था । उनके भी वेगवती हो जाने और भँवर पड़ने लगने पर नावों का आवागमन भी बन्द हो जाता था । आवश्यक काम आ जाने पर तपस्वी लोग जल पर चलकर पार हो जाते थे, वे वायु में भी उड़ सकते थे । शरीर को अंगद के पैर के समान इतना भारी बना लेना कि रावण सभा के सभी सभासद मिलकर भी उसे उठा न सकें, इसी प्रकार की सिद्धि है । सुरसा का मुँह फाड़कर हनुमान को निगलने का प्रयत्न करना, हनुमान का उससे दूना रूप दिखाते जाना और अन्त में मच्छर जितने लघु बनकर उस जंजाल से छूट भागना, यह सिद्धि वर्ग है । उससे शरीर को असामान्य क्षमताओं से सम्पन्न बनाया जाता है ।

ऋद्धि आन्तरिक हैं । आत्मिक हैं । साधारण मनुष्य मन को जिस सीमा तक ग्रहीत कर सकते हैं, उसकी तुलना में अत्यधिक मनोबल का, इच्छाशक्ति का भाव-प्रभाव का होना यह ऋद्धि है । शाप-वरदान की क्षमता ऋद्धियों में आती है और अतिशीतल क्षेत्रों में रह सकना, बिना अन्न-जल के निर्वाह करना, आयुष्य को साधारणजनों की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ा लेना यह सिद्धि है । मनोबल जिसका जितना बढ़ा हुआ होगा, वह दूसरों को अपनी प्रतिभा से उतना ही अधिक प्रभावित कर सकेगा । तपस्वी अपनी शारीरिक क्षमताओं में से स्थानान्तरण कर सकता है । परकाया प्रवेश और शक्तिपात यह सिद्धि स्तर की क्षमता है । ऋद्धि के अनुदान किसी के व्यक्तित्व, चरित्र एवं स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं । जिसके पास जिसका बाहुल्य है, उसी के लिए यह सम्भव है कि अपनी विशेषता स्थिर रखते हुए भी दूसरों को अपने अनुदानों से लाभान्वित कर सके । पदार्थों का स्वरूप बदल देना, उसकी मात्रा को बढ़ा देना यह सिद्धपुरुषों का काम है । साधना से यह सब असम्भव भी नहीं है ।

ऋद्धि सिद्धियाँ कितने प्रकार की होती हैं ? उन्हें किस प्रकार प्राप्त किया जाता है और फिर उनका प्रयोग

उपयोग किस प्रकार किया जाता है ? इसका विवरण योगग्रन्थों, तन्त्रों तथा विज्ञजनों से हमने जाना एवं अनुभव भी किया है, किन्तु इनका प्रयोग कभी प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया । वस्तुत: इसकी आवश्यकता हमें कभी नहीं पड़ी । अपनी समस्त इच्छाएँ उसी दिन समाप्त हो गईं, जिस दिन महान मार्गदर्शक का साक्षात्कार हुआ । उस दिन के उपरान्त एक ही आशंका शेष है कि मार्गदर्शक सत्ता का संकेत कब किस निमित्त मिले और उसे करने में तत्परता-तन्मयता का कोई कण शेष न रहे ।

आदेश जब भी मिलते हैं, तब उन्हें पूरा करने के लिए जिस प्रकार के सहयोगियों की, साधनों की, सूझ-बूझ की आवश्यकता पड़ती है वह हाथों-हाथ हमें उपलब्ध होती चली गयी । ऋद्धि-सिद्धियों की आवश्यकता इसी निमित्त पड़ सकती थी । वे सिर पर लदतीं तो व्यर्थ का अहंकार चिपकता और वह व्यक्तित्व को पतनोन्मुख बनाता । इसलिए अच्छा ही हुआ कि ऋद्धि-सिद्धियों की उपलब्धि के लिए उनके विधान एवं प्रयोग जानने के बावजूद प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं पड़ी । जो अतिशय दुष्कर काम थे वे होते चले और उसे भगवान का आदेश या अनुग्रह कहकर अपनी ओर से मेहनत करने की, बखान करने की, अहन्ता लादने की आवश्यकता नहीं पड़ी । यह अच्छा ही हुआ । भविष्य के लिए अपनी कोई निजी योजना नहीं, जिसके लिए सिद्धियों का संग्रह किया जाए । दिव्य आदेश आते हैं तो उनकी पूर्ति के लिए जो जितना अभीष्ट है, वह उतनी मात्रा में उसी समय मिल ही जाता है, फिर व्यर्थ ही सिद्धि-साधना के झंझट में क्यों पड़ें ?

ऋद्धियाँ विशुद्ध आत्मिक होती हैं । उनका दूसरों को परिचय देने की आवश्यकता नहीं पड़ती । कोई उन्हें देख, समझ या जाँच भी नहीं पाता । हमें वे मिली हैं और गूँगे के गुड़ की तरह निरन्तर अनुभव करते हुए आनन्दमग्न रहने का अवसर मिल जाता है ।

सिद्धपुरुषों को स्वर्ग और मुक्ति का दैवी अनुदान मिलता है । स्वर्ग कोई स्थान या लोक विशेष है, यह हमने कभी नहीं माना । स्वर्ग उत्कृष्ट दृष्टिकोण को कहते हैं । जो भी कृत्य अपने से बनता है उसमें उत्कृष्टता और आदर्शवादिता घोल लेते हैं । वे होते भी इसी स्तर के हैं । सर्वत्र ईश्वर की संव्याप्ति ही दृष्टिगोचर होती है । इसी आनन्द को स्वर्ग कहते हैं । वह हमें निरन्तर उपलब्ध है । दुश्चिन्तन दुष्कर्म से स्पर्श ही नहीं होता, फिर नरक कहाँ से आये ?

मुक्ति, भव-बन्धनों से होती है । वासना, तृष्णा और अहन्ता को भवसागर कहा गया है । लोभ को हथकड़ी, मोह को बेड़ी और गर्व को गले का तौक कहते हैं । जीव इन्हीं से बँधा रहता है । अपने सिर पर गुरुदेव का निर्देशन और कार्यान्वयन ही इस प्रकार चढ़ा रहता है कि इन मानसिक शत्रुओं को बुलाने और उनके निमित्त कुछ करने की गुंजाइश ही नहीं रहती । मुक्ति के लिए दूसरों को मरने तक की प्रतीक्षा करनी होती होगी । पर हमारे लिए जीवन और मरण एक जैसे हैं । जिन कारणों से जीवन प्रिय और मरण अप्रिय लगता है, वे भेदभाव जीवन-साधना के साथ ही तिरोहित हो गये हैं ।

ऋद्धि आन्तरिक होती है और स्वानुभूति तक ही उसकी सीमा है । आत्म-सन्तोष, लोकसम्मान और दैवी-अनुग्रह यह तीन दिव्य अनुभव कहे जाते हैं । सो अपने को हर घड़ी होते रहते हैं । अभावों से असन्तोष होता है । कुकर्म भी आत्म-प्रताड़ना उत्पन्न करते हैं । दोनों में से एक का भी निमित्त कारण नहीं, फिर असन्तोष कैसे उभरे, कर्त्तव्य और उसका परिपालन, महान के प्रति समग्र समर्पण, इतना कर चुकने के बाद किसी को भी असन्तोषजन्य उद्वेग नहीं सहना पड़ता । हमें भी नहीं सहना पड़ा है । अब तो शरीर की वृद्धावस्था के साथ-साथ कामनाओं का समाधान विवेक ही कर देता है । इसलिए न अभाव लगता है, न असन्तोष ।

लोकसम्मान दूसरी ऋद्धि है । इसके लिए हमें अलग से कुछ करना नहीं पड़ा । सच्चे मन से हमने हर किसी का सम्मान और सहयोग किया है । स्नेह और सद्भाव लुटाया है । जो भी सम्पर्क में आया उसे आत्मीयता के बन्धनों में बाँधा है । उसकी प्रतिक्रिया दर्पण के प्रतिच्छाया की तरह होनी चाहिए । प्रतिध्वनि की तरह भी । रबड़ की गेंद जितने जोरों से जिस ऐंगिल से मारी जाती है, उतने ही जोर से, उसी ऐंगिल में वह लौट आती है । हमारा स्नेह और सम्मान दूसरों के मन से टकराकर ज्यों का त्यों वापस लौटता रहा है । हमने किसी को शत्रु नहीं माना । किसी के मन में अपने लिए दुर्भाव नहीं सोचा, तो अन्य कोई किसी भी मन:स्थिति में क्यों न हो, हमें उसकी अनुभूति सद्भावनाओं से भरी-पूरी ही लगती है । जीवन बीतने को आया । कोई हमारे विरोधियों, शत्रुओं, अहित करने वालों के नाम पूछे तो हम एक भी नहीं बता सकेंगे । जिन्होंने नासमझी में हानि पहुँचाई भी है, उन्हें भूला-भटका, बाल-बुद्धि माना है । हर किसी का सम्मान हमने किया है और लौटकर लोक-सम्मान ही हमें मिला । किसी ने न भी दिया हो तो भी हम उसे समीक्षा और हित-कामना ही मानते रहे हैं ।

तीसरी ऋद्धि है-दैवी-अनुग्रह । यह उच्चस्तरीय क्रिया-कलापों और उनकी सफलताओं से भी लगता है । इसके अतिरिक्त आकाश के तारे, पौधों पर लगे हुए फूल, बादलों से बरसते हुए जल-बिन्दु, हवा से हिलते पत्ते, नदियों की लहरें, चिड़ियों का कलरव हमें अपने ऊपर दुलार लुटाते, फूल बरसाते दृष्टिगोचर होते हैं । देवता फूल तोड़ते, उनका वजन लादते और बरसाने का झंझट उछालने के जंजाल में क्यों पड़ेंगे । प्रकृति की हलचलों में, प्राणियों की चहल-पहल में, वनस्पतियों में जो सौन्दर्य भरा-पूरा दीखता है, वह दूसरे संसार को फूलों से भर देता है ।

हमें भीतर और बाहर से उल्लास और उत्साह ही उमगता दीखता है । जीवन को उलट-पुलटकर देखने पर

उसमें चन्दन जैसी सुगन्ध ही आती दीखती है । भूतकाल की ओर गरदन-मोड़कर देखते हैं तो शानदार दीखती है । वर्तमान का निरीक्षण करते हैं तो उसमें भी उमंगें छलकती दीखती हैं । भविष्य पर दूर-दृष्टि डालते हैं, तो प्रतीत होता है कि भगवान के दरबार में अपराधी बनकर नहीं जाना पड़ेगा । परीक्षा में अच्छे नम्बर लाने वाले विद्यार्थी और प्रतिस्पर्द्धा जीतने वाले खिलाड़ी की तरह उपहार ही मिलेगा ।

हमारी आत्मा ने हमें कभी बुरा नहीं कहा, तो दूसरे भी क्यों कह सकेंगे । जो कहेंगे तो अपनी व्याख्या अपने मुँह कर रहे होंगे । हमें अपनी प्रशंसा करने और प्रतिष्ठा देने को ही मन करता है । ऐसी दशा में इस लोक और परलोक में हमें अच्छाई से ही सम्मानित किया जाएगा । इससे बढ़कर मनुष्य जीवन की सार्थकता और हो भी क्या सकती है ?

आत्म-साधना करने वाले ऋद्धि-सिद्धियों के अनुपात से अपनी सफलता-असफलता आँकते रहे हैं । हमें इसके लिए अतिरिक्त प्रयत्न नहीं करना पड़ा, पर जो बाहर जाता है वह भरपूर मात्रा में मिल गया ।

ईश्वर-दर्शन हमने विराट ब्रह्म के रूप में किया है । विश्व-मानव के रूप में हमने उसे एक क्षण के लिए भी छोड़ा नहीं और न ही उसने ही ऐसी निष्ठुरता दिखाई कि हमें साथ लिए बिना अकेला ही फिरता । कभी वार्तालाप हुआ है तो उसमें एक झगड़े की ही स्थिति उत्पन्न होती रही है । राम और भरत राज्यतिलक को गेंद बनाकर झगड़ते रहे थे कि इसे मैं नहीं लूँगा, तुम्हें दूँगा । हमारा भी भगवान के साथ ऐसा ही विग्रह चला है कि तुझे क्या चाहिए जो मैं दूँ । गुम्बज की आवाज की तरह हमारा उत्तर यही रहा है कि तुझे क्या चाहिए, अपना मनोरथ बता ताकि उसे पूरा करके धन्य बनूँ ।

भगवान बॉडीगार्ड (अंगरक्षक) की तरह पीछे-पीछे चला है और संरक्षण करता रहा है । आगे-आगे पायलट की तरह चला है, रास्ता साफ करता हुआ और बताता हुआ । हमारी भी अकिंचन काया-गिलहरी की तरह उसके लिए सर्वतोभावेन समर्पित रही है ।

□□□

# एक बीज जो गलकर वटवृक्ष बना

## ऋषिसत्ता का अवतरण और उनका बचपन

भगवान समय-समय पर अपने ऐसे संदेशवाहक इस संसार में भेजते रहते हैं, जो मनुष्य जाति की तत्कालीन उलझनों को सुलझाने और विकृतियों को सुधारने में योगदान दे सकें। देवदूत स्वयं ही सब कुछ नहीं कर लेते। वे लोकचेतना उत्पन्न करते हैं और जन-समाज में लोकमंगल की भावना को प्रखर बनाकर अनेक परमार्थ परायण व्यक्ति उत्पन्न कर लेते हैं। उन्हीं के सहयोग से सामूहिक सत्प्रयत्नों द्वारा समय-समय पर युगपरिवर्तन की ईश्वरीय इच्छा पूर्ण होती है। अवतारी देवदूतों के क्रिया-कलाप सदैव इसी स्तर के होते हैं।

हम सबका सौभाग्य ही है कि विश्व के प्रकाशस्तम्भ महामानवों और देवदूतों की शृंखला में एक नई कड़ी के रूप में परमपूज्य गुरुदेव का उदय हुआ। लगता है भारत ही नहीं सारे विश्व की विषम परिस्थितियों के निवारण एवं अनुकूल परिस्थितियों को लाने के लिए ही उन्हें भेजा गया था, अन्यथा इन विषम परिस्थितियों में साधनरहित एक सामान्य-सा दिखाई देने वाला व्यक्ति उतना कर ही नहीं सकता, जितना परमपूज्य गुरुदेव ने कर दिखाया।

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जन्म एक सुसंस्कृत एवं सुसम्पन्न ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके परदादा पं. मोतीलाल शर्मा अपने समय के मूर्धन्य विद्वान थे। पौरोहित्य कर्म के लिए अपने समय में बेहद लोकप्रिय थे। सनाढ्य ब्राह्मण कुल में जन्मे भारद्वाज गोत्र एवं राजौरिया उपगोत्र (अल्ल) वाले श्री मोतीलाल जी मूलतः कातकी (उ. प्र.) के निवासी थे। उनके पूर्वज कातकी से मोहम्मदी तदुपरान्त मरसेना में आये। वहाँ से आँवलखेड़ा (आगरा) में आकर बस गये। उनके दो पुत्र एवं दो पुत्रियाँ थीं। प्रथम पुत्र थे- पं. रूपकिशोर शर्मा एवं द्वितीय पुत्र थे- पं. देवलाल शर्मा। पुत्रियों का नाम था- वाचादेवी एवं कौशल्यादेवी। पं. रूपकिशोर शर्मा को विरासत में बचपन से ही सांस्कृतिक-आध्यात्मिक वातावरण मिला था। अपने समय के वे प्रख्यात ज्योतिषी, वैद्य, समाजसेवी तथा सद्गृहस्थ तपस्वी थे। इनके दो विवाह हुए थे- प्रथम विवाह- भीकनपुर (एतमादपुर-आगरा) की कन्या अनारदेवी से, जिनका २० वर्ष की अवस्था में निस्संतान निधन हो गया था। तदुपरान्त दूसरा विवाह सलेमपुर (सादाबाद-मथुरा) की कन्या श्रीमती यशोदादेवी के साथ हुआ जिनसे चार पुत्र रत्न हुए। प्रथम पुत्र पं. ज्योति प्रसाद शर्मा, द्वितीय पुत्र पं. द्वारका प्रसाद शर्मा, तृतीय पुत्र पं. भूदेव प्रसाद शर्मा जिनकी १८ वर्ष की अल्पायु में ही मृत्यु हो गई थी। चतुर्थ पुत्र पं. रामप्रसाद शर्मा थे। चिरंजीवी तीनों पुत्रों को पिता के तीन गुण विरासत में प्राप्त हुए। पं. ज्योति प्रसाद शर्मा नामानुरूप ज्योतिषाचार्य थे। जिनके ज्योतिष ज्ञान की किंवदन्तियाँ उस क्षेत्र में आज भी प्रचलित हैं। द्वितीय पुत्र पं. द्वारका प्रसाद शर्मा को पिता से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ। ये निः-शुल्क चिकित्सा करने के लिए उस क्षेत्र में प्रसिद्ध थे। चतुर्थ पुत्र श्री रामप्रसाद शर्मा अपने समय के गणमान्य लोकसेवी, राजनयिक तथा जमींदारी का काम-काज देखने वाले व्यक्ति थे। पं. रूपकिशोर जी की द्वितीय पत्नी श्रीमती यशोदा देवी की भी मृत्यु हो जाने के उपरान्त विधि के विधान के अनुसार और उनकी उग्र साधना एवं तपश्चर्या की फलश्रुति को चरितार्थ करने के लिए पं. रूप किशोर शर्मा को तृतीय विवाह करने के लिए विवश होना पड़ा। उनका तृतीय विवाह बुर्ज नौजी पो. एवं थाना सहपऊ (मथुरा) के पं. लीलाधर शर्मा की शीलवती एवं बालतपस्विनी कन्या कुमारी दानकुँवरि देवी के साथ सम्पन्न हुआ। इनसे पं. रूपकिशोर को तीन संतानें हुईं- प्रथम थे मानवता के अनन्य पुजारी, ब्रह्मर्षि, गायत्री माता के वरद पुत्र, प्राणिमात्र के सहज सहचर, युगपुरुष, युगद्रष्टा, युगप्रवर्तक, विश्वबन्धुत्व के एवं विश्वशान्ति के समर्थक-पोषक, अभिनव विश्वामित्र, वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य। इसके उपरान्त दो पुत्रियाँ और हुईं- प्रथम किरण देवी और द्वितीय रामदेवी।

दैवयोग से आचार्यजी पिता का स्नेह कम प्राप्त कर सके। पं. रूपकिशोर जी की मृत्यु आचार्यजी की बारह वर्ष की आयु के अवसर पर ६७ वर्ष की उम्र में ही हो गई थी। इनका-लालन-पालन वात्सल्यमयी माता, दानकुँवरि देवी की स्नेहिल छाया में सम्पन्न होता रहा। उनके त्याग-तप तथा पिता के तपस्वी रूप का संस्कार बीज रूप में आचार्य जी को प्राप्त हुआ, जो कालान्तर में वट-वृक्ष के रूप में विकसित हुआ।

पं. रूपकिशोर जी का अपने क्षेत्र में बड़ा मान-सम्मान था। अनेक धनी-मानी, राजे-महाराजे इनके मित्र थे, जो अधिकतर इनसे मिलने आया करते थे। इनकी श्रीमद्भागवत की कथा सुनने के लिए जन-समूह उमड़ा करता था। वे निस्पृह भाव से भगवद् कथा सुनाया करते थे। इनके प्रभाव से एक डाकू का हृदय-परिवर्तन हो गया था। उन दिनों आँवलखेड़ा से एक किलोमीटर दूर चौपड़ा नाम के गाँव में धाँधू नाम का एक डकैत रहता था। वह बहुत ही हट्टा-कट्टा एवं बलवान था। उसमें २०-३० आदमियों की ताकत थी। उस इलाके में उसका बड़ा आतंक था। एक

दिन उसकी मुलाकात पं. रूपकिशोर जी से हो गई। उन्होंने उसे समझाया-बुझाया। इसका प्रभाव यह हुआ कि वह उनके चरणों में गिर पड़ा और उनकी शरण में आ गया। पंडितजी का उस इलाके में प्रभाव था ही। पुलिस भी उनका सम्मान करती थी। उन्होंने पुलिस से कह-सुनकर हिस्ट्रीशीट से उसका नाम निकलवा दिया और उसे बनेड़ा के महाराजा शाह दुर्गाप्रसाद जी का सिपाही बना दिया। पं. रूपकिशोर जी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने स्कंद पुराण, गरुड़ पुराण, भागवत एवं महाभारत की टीकाएँ लिखी थीं। आयुर्वेद की भी एक पुस्तक लिखी थी। उनकी ये हस्तलिखित पुस्तकें अभी तक सुरक्षित हैं। गुरुदेव को अनेक संस्कार पैतृक सम्पत्ति के रूप में अपने पिताश्री से ही मिले थे।

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का प्रथम विवाह श्री रूपराम शर्मा, बरसौली (अलीगढ़) की कन्या सरस्वती देवी से हुआ था। इनसे गुरुदेव की तीन संतानें हुईं- प्रथम श्री ओमप्रकाश शर्मा, जिनका विवाह श्रीराम प्रसाद जी की कन्या शारदा देवी से हुआ है। दूसरी संतान है- दयावती उपाध्याय, जिनका विवाह श्री रामेश्वर दयाल उपाध्याय, सोहनपुर पो. सोनई (मथुरा) के साथ हुआ है। तीसरी पुत्री श्रद्धावती थी, जिनका श्री चंद्रप्रकाश जी से विवाह हुआ था। इनकी मृत्यु सन् १९५५ में हो गई थी। वंदनीया माता सरस्वती देवी शर्मा की मृत्यु के बाद आचार्य जी का दूसरा विवाह परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा के साथ सम्पन्न हुआ। इनकी दो संतानें हैं- श्री मृत्युंजय शर्मा, जिनका विवाह श्री बाँकेलाल जी शर्मा की सुपुत्री निर्मल शर्मा के साथ हुआ एवं पुत्री शैलबाला, जिनका विवाह परमपूज्य गुरुदेव ने डॉ० प्रणव पण्ड्या आत्मज श्री सत्यनारायण पण्ड्या के साथ सम्पन्न कर दिया। वंदनीया माताजी के पिता पं. जसवंत सिंह शर्मा, साधूराम का कूचा (आगरा) के निवासी थे। कन्या भगवती देवी के सम्बन्ध में बचपन में ही एक ज्योतिषी ने कहा था कि- या तो यह कन्या किसी ऐसे घर में जाएगी जहाँ दो जून खाने का प्रबन्ध भी नहीं होगा या फिर ऐसे घर में जाएगी जहाँ इसका जय-जयकार होगा। ज्योतिषी की वह भविष्यवाणी वंदनीया माताजी के सम्बन्ध में शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध हुई। आज गुरुदेव के नाम के साथ लाखों-करोड़ों लोग 'वंदनीया माताजी की जय' का नारा लगा रहे हैं। जिस प्रकार देवर्षि नारद ने गिरिराज हिमालय की कन्या पार्वती के सम्बन्ध में घोषणा की थी, लगभग वैसी ही बात यहाँ भी चरितार्थ हुई है। वंदनीया माताजी सच्चे अर्थों में गुरुदेव के आदर्शों की अनुगामिनी रही हैं। उनकी सच्ची सहचरी परमतपस्विनी, साक्षात अन्नपूर्णा, महाममतामयी माता थीं, जिनके स्नेह की शीतल छाया में आज लाखों-करोड़ों संतानें सुख और शान्ति का अनुभव कर रही हैं।

# साधना के बीजांकुर बाल्यकाल में ही प्रस्फुटित हो गये थे

शैशवकाल से ही परमपूज्य गुरुदेव के उस साधक स्वरूप के बीजांकुर प्रस्फुटित होने लगे थे, जिनके कारण उनकी दिव्य मार्गदर्शक सत्ता ने भी उन्हें पात्र समझा। दस वर्ष की आयु से ही उनके मन में यह ऊहापोह चल रहा था कि 'साधना से सिद्धि' का सिद्धान्त सही है या गलत? इसका परीक्षण उन्होंने स्वयं पर किया। सारे सुयोग वैसे ही बनते चले गये एवं संकल्प को प्रयास रूप में परिणत होने का योग भी मिल गया।

गुरुदेव के पिताश्री संस्कृत के उद्भट विद्वान थे एवं महामना मालवीय जी के सहपाठी थे, घनिष्ठ मित्र भी। उन्होंने आचार्य जी का यज्ञोपवीत संस्कार बनारस में मालवीय जी से ही करवाया। यज्ञोपवीत संस्कार कराते समय उन्होंने कई उपदेश दिए पर जो उन्हें सतत याद रहे वे उन्हें सतत चिन्तन के लिए उद्वेलित करते रहे। उन्होंने कहा था- "गायत्री ब्राह्मण की कामधेनु है। वह अभीष्ट फल प्रदान करे इसके लिए श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा का अवलम्बन लेना जरूरी है।" बात याद तो हो गई पर दो बातें समझ में नहीं आईं। एक यह कि "ब्राह्मण बनने के लिए क्या करना होगा" क्योंकि बताया यह गया था कि गायत्री ब्राह्मण की कामधेनु है फिर वे तो जन्म से सनाढ्य ब्राह्मण परिवार में ही जन्मे थे और वे तो ब्राह्मणोचित नित्यकर्म भी पिता द्वारा दिये गये प्रशिक्षणानुसार बचपन से ही सीखते व करते आ रहे थे। ऐसी दशा में पुनः ब्राह्मण बनने का प्रश्न कहाँ उठता है?

दूसरा प्रश्न दिमाग में उठा कि "श्रद्धा, प्रज्ञा, निष्ठा का अवलम्बन लेना जरूरी है" इसका क्या तात्पर्य हुआ? बनारस से आगरा लौटते हुए रेल में जितना भी अवसर मिला वे अपने पिताजी से इन्हीं दो बातों के सम्बन्ध में कुरेद-कुरेद कर पूछते रहे। उन्होंने बालजिज्ञासा का समाधान इस प्रकार किया, जिसे दस वर्ष की बाल-बुद्धि भी भलीप्रकार समझ सके। जो नहीं समझ में आया उसे उन्होंने दुबारा बिना टाले वह सब कुछ बताया जो वे चाहते थे।

संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान व सरस अन्तःकरण वाले पिता ने बालक की हर शंका का समाधान कर साधना के प्रति न केवल रुचि जगा दी अपितु गायत्री का मर्म समझाते हुए यज्ञोपवीत संस्कार की सार्थकता को उनके रोम-रोम में पिरो दिया। गायत्री ही जिनकी आगे चलकर इष्ट बनीं एवं करोड़ों व्यक्तियों से जिन्होंने गायत्री साधना करवा ली, ऐसे श्रीराम के पिता ने सच्चे मार्गदर्शक की वह पूरी भूमिका निभाई जो गुरु के साक्षात्कार से पहले सम्पन्न होनी ही थी।

पूज्य गुरुदेव के पिताजी ने कहा कि गायत्री कामधेनु है, इसका तात्पर्य यह है कि वह मनुष्य की समस्त

कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं, वह समस्त मंत्रों का बीज है, प्रमुख है, वेदमाता है। चारों वेद चारों मुखों से ब्रह्माजी ने इसी महामंत्र की व्याख्या स्वरूप बनाये हैं। सभी देवताओं, ऋषिगणों, ब्राह्मणों और उपासनापरायण महापुरुषों ने इसी का अवलम्बन लिया है। यज्ञोपवीत उसी की दिव्य प्रेरणाओं का सार-संक्षेप प्रतीक रूप में पहनाया जाता है ताकि साक्षात गायत्री माता कंधे पर, छाती पर, कलेजे पर, पीठ पर हर समय विराजमान होने के कारण उस तत्वज्ञान को समझाती रहें जिससे वे फलित होती हैं और साधक अपनी पात्रता बढ़ाता हुआ सच्चे अर्थों में 'ब्राह्मण' बनता है।

सच्चे अर्थों में और झूठे अर्थों में ब्राह्मण होने की बात गुरुदेव को पिताजी द्वारा इस प्रकार समझाई गई कि वंश परम्परा से ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से तो वंशानुक्रम प्रभाव आता है और थोड़ी-बहुत विशेषता प्रकट होती है, किन्तु श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा की मनोभूमि बन जाने से किसी भी वंश में जन्मा हुआ व्यक्ति ब्राह्मण बन सकता है। इसके अभाव में वंश परम्परा मात्र मिट्टी के खिलौने जैसी रह जाती है।

यहाँ यह बताना प्रासंगिक होगा कि मथुरा पहुँचने पर जब पूज्य गुरुदेव ने सन् १९४९ में सद्ज्ञान पुष्पमाला के अंतर्गत पुस्तकें प्रकाशित कीं तो ६ आना सीरीज में एक पुस्तक थी 'गायत्री ब्राह्मण की कामधेनु है।' पुस्तक तो लोगों ने बाद में पढ़ी, शीर्षक पर अधिक आपत्ति उठायी कि क्या केवल ब्राह्मण ही गायत्री जप कर सकते हैं व मात्र उन्हीं को वह फलित हो सकती है? गुरुदेव ने अज्ञान-ग्रस्त पाठक समुदाय का गहराई से अध्ययन कर अगले संस्करण में ब्राह्मणत्व की व्याख्या पुनः नये सिरे से की व गायत्री के लिए वंश, कुल, लिंग, गोत्र, वर्ण कुछ भी बाधक नहीं बनता. यह बात विस्तार से समझाते हुए पुस्तक का नाम ही बदल दिया- 'गायत्री ही कामधेनु है'। यह परिवर्तन तत्कालीन समाज में संव्याप्त मूढ़-मान्यताओं व अज्ञान को देखते हुए उचित ही था क्योंकि फिर इस पुस्तक को ढेरों व्यक्तियों ने पढ़ा व इसके सात से भी अधिक संस्करण प्रकाशित हुए। प्रत्यक्ष कामधेनु से सिद्धियाँ प्राप्त होने की जिज्ञासा हर व्यक्ति के मन में होती है। इसी मनोविज्ञान के जादू ने लोगों को सम्मोहित किया व पुस्तक खूब बिकी। यह प्रसंग बिल्कुल अलग है कि उनमें से कितने सही अर्थों में ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर गुरुदेव द्वारा गायत्री के तत्वदर्शन को आत्मसात कर पाए?

पूज्य गुरुदेव के पिताजी ने आगे और विस्तार से समझाते हुए बनारस से वापसी के मार्ग में बताया कि गायत्री को त्रिपदा-तीन चरणों वाली कहा गया है। इसी कारण उसमें तीन व्याहृतियाँ भी लगीं। त्रिपदा के कई अर्थ हो सकते हैं, पर जो अर्थ अध्यात्म तत्वदर्शन में सही माना जाता है, उसका अभिप्राय यही है कि जीवन में श्रद्धा, प्रज्ञा, निष्ठा को बड़ी गहराई से उतारा जाय। पं. रूप किशोर जी ने अपने जिज्ञासु पुत्र को मालवीय जी द्वारा बताये संकेतों-सूत्रों को बड़े हृदयग्राही ढंग से समझाया। पूरी रेलयात्रा में इसी प्रसंग पर चर्चा होती रही।

उन्होंने कहा- 'श्रद्धा' का अर्थ है परिपूर्ण विश्वास। ऐसा विश्वास जिसमें शंका-कुशंका, तर्क-वितर्क आदि की कोई गुंजाइश न हो। 'प्रज्ञा' का अर्थ है- स्वविवेक। इतना दृढ़ जिसमें अपना संकल्प ही मूर्तिमान हो सके। किसी से पूछने की कोई गुंजाइश ही न रहे।

अपना आपा इतना संतुष्ट हो जाए कि मान्यता को यथार्थता के रूप में देखा जा सके। 'निष्ठा' अर्थात् नियमित क्रिया, इतनी सुनिश्चित क्रिया कि उसे सर्वोपरि महत्त्व की माना जा सके। जिस प्रकार प्रातःकाल उठते ही कुछ खाने-पीने की इच्छा होती है, उससे भी अधिक व्याकुलता निर्धारित उपासनात्मक क्रिया-कृत्यों को करने के लिए उठे और खाया पिया तब जाए, जब शारीरिक नित्यकर्म करने की तरह मन की मलीनता को स्वच्छ करने के लिए, आत्मा की भूख बुझाने के लिए संकल्पित साधनाकृत्य पूरा कर लिया जाय।

बालक श्रीराम पिता की मर्मस्पर्शी विवेचना को सुनते रहे कि "मनुष्य के तीन शरीर होते हैं। कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर व स्थूलशरीर। कारणशरीर भावनाओं का उद्‌गम है। यह भावशरीर भी कहलाता है। भावना से ही पाषाण देवता बनते हैं। मीरा के गिरधर गोपाल, रामकृष्ण की काली इसीलिए चमत्कार दिखा सके कि उनके साथ साधक की श्रद्धा-भावना अत्यन्त घनिष्टतापूर्वक जुड़ी हुई थी। अध्यात्म में सारा चमत्कार श्रद्धा का है। इसीलिए महामना मालवीय जी ने कारणशरीर को बलिष्ठ बनाने का निर्देश दिया।"

"प्रज्ञा सूक्ष्म शरीर में रहती है। प्रज्ञा अर्थात् हर बात में गहराई से प्रवेश कर समूची तर्क-शक्ति का प्रयोग कर किसी निर्णय पर पहुँच जाना। जब विश्वास जम जाय, किसी अन्य के बहकाने-फुसलाने का कोई प्रभाव न पड़े तो समझना चाहिए कि- 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' जाग पड़ी। इसके कारण विश्वास शिथिल नहीं होता व मान्यताएँ नहीं डगमगातीं।"

"स्थूल शरीर में निष्ठा का विकास अर्थात् कार्य की नियमितता, सुव्यवस्था। शरीर का प्रत्येक अवयव इतना अभ्यस्त हो जाए कि काम को सुचारु रूप से किये बिना चैन न मिले। बिगुल बजते ही सैनिकों के ड्यूटी पर आ उपस्थित होने की तरह तत्परता हो। जिस कार्य में अनन्य निष्ठा होती है उसमें मन न लगने, समय न मिलने जैसी बहानेबाजी की गुंजाइश नहीं रहती।"

आत्मिक प्रगति के लिए जिन तीन तत्त्वों का समन्वय-समावेश जीवन में करना पड़ता है, उन्हें बड़े विस्तार से समझने पर बालक श्रीराम की जिज्ञासा अध्यात्म तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में और भी बढ़ने लगी। उनके पिता ने कहा कि गायत्री कामधेनु तो है और अमृतोपम दूध भी देती है, पर उसे चारा, दाना-पानी की व्यवस्था भी चाहिए अन्यथा भूखी-प्यासी गाय से दोहनी भरकर दूध प्राप्त करने की आकांक्षा अपूर्ण ही बनी रहेगी।

स्वयं पूज्य गुरुदेव अपनी लेखनी से अपनी इस यात्रा के जो प्रसंग लिख गए हैं, उनकी ही लिपि में नीचे प्रस्तुत हैं-

[illegible]

''महामना मालवीय जी के सूत्रों की पिताजी ने जो व्याख्या की, वह मस्तिष्क से लेकर अन्तःकरण के कोने-कोने में समा गई। कई बार इस संदर्भ में और भी जिज्ञासाएँ उठती रहीं और उनका भी भीतर से ही समाधान होता रहा।'' अध्यात्म का इतना सारगर्भित विवेचन उन्हें बाल्यकाल में ही प्राप्त हो गया था। संभवतः यज्ञोपवीत संस्कार के साथ जो द्विजत्व प्राप्त होता है, वह अन्तर्ज्ञान के रूप में पिताश्री की वाणी के माध्यम से उन्हें प्राप्त हुआ व फिर दो वर्ष बाद पिताश्री के स्वर्गवास के बाद उनकी बराबर परीक्षा लेता रहा। अन्ततः पंद्रह वर्ष की आयु में उनकी पथ-प्रदर्शक गुरुसत्ता ढूँढ़ती हुई उनके पास पहुँच ही गई।

जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही जिसे साधना का इतना पोषक आहार उपलब्ध हो जाए तथा सुसंस्कारिता के बीज पूर्व से ही विद्यमान हों, उसका भावी जीवनक्रम कैसा होगा, इसकी पूर्व कल्पना की जा सकती है। पूज्य गुरुदेव की बहुमुखी जीवन-साधना के चमत्कारी प्रसंगों का प्राकट्य अन्यान्य महापुरुषों की तरह शैशवकाल से ही होने लगा था। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे।ऐसे महापुरुष की जीवनी को लिपिबद्ध करना कितना दुष्कर कार्य हो सकता है, इसकी कल्पना सामान्य पाठक नहीं कर सकते। अनेक प्रयासों के बाद यह संभव है कि उनके शैशवकाल के कुछ ऐसे अविज्ञात घटनाक्रम छूट गए हों, जिनकी फलश्रुतियाँ आगे देखने को मिलें।

पूज्य गुरुदेव का जन्म आश्विन कृष्णा १३ संवत् १९६८ में आगरा जिले के आँवलखेड़ा ग्राम में हुआ। यह यमुना पार, आगरा-जलेसर मार्ग पर आगरा से १२ मील दूर अवस्थित है। आज तो यहाँ पूज्य गुरुदेव की माताजी की स्मृति में स्थापित लड़कों का इण्टर कॉलेज एवं पूज्यवर द्वारा अपनी जन्मभूमि में स्थापित लड़कियों का डिग्री कालेज, एक चिकित्सालय तथा शक्तिपीठ स्थापित हो जाने से अच्छी-खासी कस्बे स्तर की जनसंख्या है, पर कभी यह छोटा-सा गाँव मात्र था। जिस घर में वे जन्मे वह एक सम्पन्न घर था। २००० बीघा जमीन थी, किसी बात की कमी नहीं थी। संभवतः उनके पिता पंडित रूपकिशोर शर्मा एवं माता दानकुँवरि जी स्वयंभू मनु-शतरूपा की तरह तप-साधना कर साक्षात भगवान को अपने घर जन्म लेने के लिए विवश कर दिया था। तप की अवधि में एक ही प्रार्थना रही होगी कि वे एक ऐसी सुसन्तति को जन्म दें जो अपने सत्कार्यों से विश्व-वसुधा को धन्य कर दे। यही हुआ भी।

उनकी प्राथमिक स्तर तक की तथा संस्कृत की शिक्षा घर रहकर ही एक उच्च संस्कारवान आत्मा पण्डित रूपराम जी के माध्यम से पूरी हो गई। मास्टर जी उन्हें नैसर्गिक परिकर में ले जाते व वहाँ अनौपचारिक तरीके से व्यावहारिक शिक्षा देते । प्रतिभा के धनी वे इतने थे कि वजीफे के साथ प्राइमरी बोर्ड की परीक्षा आगरा मण्डल से उत्तीर्ण की, किन्तु इसके बाद स्वयं ही इस बाबू बनाने वाली शिक्षा पर विराम लगा दिया। जब समय मिलता अपने कुछ सखाओं को लेकर चले जाते व अमराई के सघन कुंजों में बैठकर गायत्री व अध्यात्म-साधना की चर्चा करते।

जितना कुछ पढ़ा था, उससे विद्या ऋण चुकाने के लिए उन्होंने दलित, शोषित से लेकर हर उस बालक को जिसे विद्यार्जन का अवसर नहीं मिल पाया था, अक्षर ज्ञान कराते थे ताकि इसके बाद वे व्यावहारिक जीवन की साधना सीखकर स्वयं को गढ़ सकें। विद्या-विस्तार का उनका यह क्रम स्वयं के लिए भी तथा औरों को वितरित करने के रूप में भी आजीवन चलता रहा।

पण्डित मदन मोहन मालवीय द्वारा दिया गया गायत्री मंत्र और पिता द्वारा की गई उसकी सारगर्भित व्याख्या उन्होंने गाँठ बाँध ली थी। जब भी अवसर मिलता, घर से निकल भागते व किसी वृक्ष के नीचे गायत्री जप में निरत तब तक बैठे रहते जब तक कि घर वाले ढूँढ़ न लें । क्रमबद्ध अनुष्ठान भले ही पन्द्रह वर्ष की आयु में हिमालयवासी अपने गुरु रूपी परोक्ष सत्ता से मार्गदर्शन के बाद आरम्भ हुए हों, उन्होंने अपने ब्राह्मणत्व को वेदमाता गायत्री की नियमित उपासना के माध्यम से उपनयन संस्कार के बाद ही जगाना आरम्भ कर दिया था।

# गुरुसत्ता से साक्षात्कार, आध्यात्मिक परिणय

दैवी सत्ता का प्राकट्य जब किसी महामानव के जीवन में होता है तो सोने में सुगन्धि का काम करता है। परोक्ष मार्गदर्शक सूक्ष्म शरीरधारी ढूँढ़ते भी उन्हें ही हैं, जिनके माध्यम से उन्हें मानव मात्र के कल्याण हेतु सारा ढाँचा विनिर्मित करना होता है। समष्टिगत चेतना का अवतरण जिस स्थूल तनधारी में होता है, फिर वह सामान्य न रहकर असामान्य अवतारी पुरुष हो जाता है। क्रिया-कलाप चर्मचक्षुओं से तो सामान्य ही जान पड़ते हैं, किन्तु वह जो कुछ कर्तृत्व करता चला जाता है, वही उस युग की नीति का आधार बन जाता है। युगपरिवर्तन ऐसी ही आत्मबल सम्पन्न आत्माओं के बलबूते बन पड़ता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि पूज्य गुरुदेव के बाल्यकाल में ही पन्द्रह वर्ष की आयु के बाद आए वसंत पर्व के ब्रह्ममुहूर्त में पूजा की कोठरी में, एक प्रकाशपुंज प्रकट हुआ। उस दिव्य प्रकाश से सारी कोठरी जगमगा

उठी। प्रकाश के मध्य एक योगी का सूक्ष्म छाया शरीर उभरा। इनका स्थूल शरीर एक ऐसे कृशकाय सिद्धपुरुष के रूप में है, जो अनादिकाल से एकाकी, नग्न, मौन, निराहार रहकर अपनी तप-ऊर्जा द्वारा अपने को अधिकाधिक प्रचण्ड-प्रखर बनाता चला आ रहा है। एक दिगम्बर देहधारी हिमराशि के मध्य खड़ी दुर्बल काया- यह तो स्थूल रूप में उपलब्ध इनका एकमात्र चित्र है, जो गुरुदेव की पहली हिमालययात्रा के समय उनके आग्रह पर स्वयं स्वामी सर्वेश्वरानन्द जी ने उनके समक्ष प्रस्तुत किया। यही चित्र गायत्री परिवार में दृश्य प्रतीक के रूप में आज भी उपलब्ध है।

किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, उनका सूक्ष्म अस्तित्व, जिसमें वे गति, काल, दिशा से परे सतत परिभ्रमण करते व अन्यान्य ऋषि-सत्ताओं की तरह प्रचण्ड प्राणधारी आत्माओं को मार्गदर्शन देते दिखाई देते हैं। वे ही अपने सूक्ष्म रूप में दिव्य प्रकाश के रूप में गुरुदेव के समक्ष आये एवं उनके कौतूहल को समाप्त करते हुए बोले- ''हमारे तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरों के सम्बन्ध हैं। तुम्हारे पिछले जन्म एक से एक बढ़कर रहे हैं, किन्तु प्रस्तुत जीवन और भी विलक्षण है। इस जन्म में समस्त अवतारी सत्ताओं के समतुल्य पुरुषार्थ करना है, भारतीय संस्कृति के नवोन्मेष हेतु एक विशाल संगठन देवमानवों का खड़ा करना है तथा इसके लिए प्रचण्ड तप-पुरुषार्थ करना है।''

पूज्य गुरुदेव सन् १९८५ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि ''हमने तो कभी गुरु की खोज नहीं की, फिर यह अकारण अनुकम्पा किसलिए?'' अदृश्य से इस प्रकटीकरण ने उनके अंदर असमंजस पैदा किया। उनके इस असमंजस को, चिन्तन चेतना को उस सूक्ष्म शरीरधारी सत्ता ने पढ़ लिया व कहा कि ''देवात्माएँ जिनके साथ सम्बन्ध जोड़ती हैं, उन्हें परखती हैं, उनकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करती हैं। शक्तिसम्पन्न महामानव अकारण अपनी सामर्थ्य किसी निरर्थक व्यक्ति के निमित्त नहीं गँवाते । सूक्ष्म शरीरधारी होने के नाते जो काम हम नहीं कर सकते; वह स्थूलशरीर के माध्यम से तुम से कराएँगे। समय की विषमताओं को मिटाने के लिए तुम्हारा प्रयोग करेंगे। देखने में तो यों तुम्हारा दृश्यजीवन साधारण व्यक्ति के समान होगा, पर कर्तृत्व सभी असाधारण होंगे, तुम से सीमित आयु में हम कई सौ वर्ष का कार्य करा लेंगे व समय आने पर तुम्हें वापस बुला लेंगे ताकि हमारी ही तरह युगसंधि वेला में प्रचण्ड पुरुषार्थ सम्पन्न कर प्रत्यक्ष शरीरधारी देवमानवों को नवयुग की पृष्ठभूमि बनाने हेतु पर्याप्त शक्ति मिले। दृश्य कर्तृत्व जो तुम्हें करना है उसके लिए पर्याप्त आत्मबल, ब्रह्मवर्चस चाहिए जो तप द्वारा ही संभव हो सकता है।''

अपनी गुरुसत्ता व अपने बीच वार्त्तालाप के इस प्रसंग को पूज्य गुरुदेव ने स्वयं अपने निकटतम कार्यकर्त्ताओं को वार्त्तालाप के दौरान सुनाया था। जो समयानुसार प्रकाशित होना था, उसे वे समय-समय पर बताते रहे। लिपिबद्ध यह अभिव्यक्ति उन्हीं की अनुभूति है। कई प्रसंग ऐसे हैं जो प्रकाशित नहीं हुए, क्योंकि उन पर विराम लगा दिया गया था। अब उनके निर्देशानुसार ही उनका अनावरण किया जा रहा है। स्वयं पूज्य गुरुदेव कहते थे कि हमने मात्र जिज्ञासुओं के समाधान हेतु रामकृष्ण परमहंस, समर्थ रामदास, कबीर के रूप में सम्पन्न कर्तृत्व का अपनी कलम से उल्लेख किया है, पर हमें मात्र इन्हीं तीन बंधनों में बाँधने न लगे। इन विवेचनों से तात्पर्य यही है कि जो भी पहले बन पड़ा वह प्रकट व अप्रकट रूप से कई अवतारी सत्ताओं के द्वारा बन पड़े कार्यों के समकक्ष था व आगे जो किया जाना था इससे भी कई गुना था। ''आगे जब भी हमारा मूल्यांकन किया जाएगा तो लोग समझेंगे कि हमने कितने महापुरुषों के रूप में जीवन इस अस्सी वर्ष की आयु में ही जिया है। इतना कुछ करके पहले से ही रख दिया है, सब कुछ अपनी परोक्ष सत्ता के मार्गदर्शन में कि वर्षों शोधकर्त्ता उसका मूल्यांकन करके स्वयं को बड़भागी मानते रहेंगे।''

पूज्य गुरुदेव की इस सूक्ष्म मार्गदर्शक सत्ता के सम्बन्ध में जो हिमालयवासी है, विवरण कई ग्रन्थों में मिलते हैं। इस्लाम धर्म का एक ग्रन्थ है- 'तजकर रसुल गोशिया' जो हिजरी सन् १२८९ में दिल्ली के प्रसिद्ध गौस अलीशाह के पट्टशिष्य श्री गुलहसन ने लिखा है। यह पुस्तक आज भी श्री दीपसिंह हिम्मतसिंह राज लौटा पो. आंकलाव गुजरात में उपलब्ध है। इस पुस्तक के पृष्ठ क्रमांक ४८ पर दादागुरु रूपी सूक्ष्म शरीर सत्ता का स्पष्ट उल्लेख है कि १५० वर्ष पूर्व श्री गुलहसन शाह की मुलाकात स्वामी श्री श्रवणनाथ के माध्यम से हरिद्वार में श्री सर्वेश्वरानन्द जी से हुई थी। वे इच्छानुसार जब चाहते अपना वयोवृद्ध शरीर छोड़कर १२ वर्ष के बालक बन जाते थे। उनके अनेकानेक दृश्य चमत्कारों का वर्णन श्रीशाह ने किया है।

वस्तुत: ऐसे सन्तों की आयु का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वे चमत्कारों को देखने की ललक में आतुर सामान्य व्यक्तियों की भीड़ देख स्वयं ही सूक्ष्म शरीरधारी हो, दुर्गम हिमालय प्रस्थान कर जाते हैं। मात्र समष्टिगत हित हेतु अपने सुपात्रों का चयन करने भूलोक पर आवागमन करते रहते हैं। भूख, प्यास आदि लौकिक बंधनों से वे मुक्त होते हैं।

पायलट बाबा रचित ग्रन्थ 'हिमालय कह रहा है' (१९८२) में पृष्ठ १४५, २३६, ५७१, ५७२, ५८७, ५८९ पृष्ठों पर विस्तार से योगीराज श्री सर्वेश्वरानन्द जी का उल्लेख आया है। स्वयं पूज्य गुरुदेव ने अपनी गुरुसत्ता के दृश्यरूप के सम्बन्ध में कभी कुछ न लिखा, न कहा । अपने हर कार्य को उनके मार्गदर्शन में सम्पन्न वे मानते थे। अपने हर कार्य का, उपलब्धि का श्रेय सदैव परोक्ष सत्ता को देते थे। यह विनम्रता भी हो सकती है व महामानव के रूप में स्वयं श्रेय न लेने की उनकी नीति भी, किन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि जिस प्रकाशपुंज ने उनके जीवन

के पन्द्रहवें वसंत में साक्षात्कार किया था, वह निश्चित ही उनकी गुरुसत्ता थी, जो उनकी ही तलाश में थी व उस पावन दिन उनसे एकाकार हो उन्हें विलक्षण अवतारी सत्ता बना गई।

एक गायत्री परिजन की अनुभूति के माध्यम से ऊपर व्यक्त किए गए कथन को स्पष्ट करना चाहेंगे। स्वयं गुरुदेव कहते थे कि हमारी मार्गदर्शक सत्ता सदैव हमारे साथ रहती है व हमारे आगे पायलट की तरह चलती रहती है। उसी सत्ता को, जिसे हम सभी दादागुरु कहकर पुकारते हैं, देखने की जिज्ञासा नवसारी (गुजरात) के श्री मगन भाई गाँधी ने की। गुरुदेव ने कहा कि "मुझे देखकर मेरे ही अंदर उनकी अनुभूति कर लें, किन्तु वे जिद पर अड़े रहे। अंततः पूज्य गुरुदेव ने उत्तरकाशी में अमुक स्थान पर, अमुक रूप में, अमुक दिन उनके अन्न क्षेत्र में दिखाई देने की बात बताई और कहा कि इसके बाद गहराई में मत जाना। वे मन्तव्य समझ नहीं पाए। उत्तरकाशी में बताए गये दिन वे प्रतीक्षा करते रहे। जैसी शक्ल बतायी गयी थी, उसी शक्ल के धवल केशधारी बाबा प्रकट हुए, सफेद वस्त्रों में और भिक्षा ली व गंगा किनारे नीचे तेजी से उतर गए। मगन भाई ने पीछा किया। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि इतनी तीव्र गति से चलकर वे किधर निकल गए । वे एक कंदरा के समक्ष खड़े चारों ओर दृष्टि दौड़ाने लगे, तभी झाड़ी के पीछे से कुछ आवाज आई। पहुँचे तो देखा वे ही श्वेत केशधारी बाबा बैठे हैं, किन्तु यह क्या जैसे ही उन्होंने अपना स्मित मुखमण्डल मगन भाई की ओर किया वे देखकर आश्चर्य चकित रह गए कि ये तो अपने गुरुदेव स्वयं हैं पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, जिनसे वे कोठरी में ५ दिन पूर्व मुलाकात कर सारा अता-पता नोट करके लाए थे। गुरुदेव ने कहा "अब तो विश्वास हुआ कि मैं व मेरी गुरुसत्ता एक ही हैं। अब आगे से अविश्वास न करना, न ही संत बाबाओं के पीछे भागना।" इतना कहकर वे अन्तर्द्धान हो गए।

सारी यात्रा छोड़कर मगन भाई वापस हरिद्वार लौटे, बार-बार गुरुदेव के चरणों पर गिरकर क्षमा माँगी व कहा कि मुझ नादान को सजा दीजिए, क्योंकि उसने गुरुसत्ता पर अविश्वास किया। गुरुदेव ने प्यार से समझा भर दिया, समाधान हो गया।

यहाँ प्रकाशपुंज के प्रकटीकरण के बात के प्रसंग को यहीं छोड़ उपर्युक्त विवरण इसलिए देना पड़ा कि परिजनों में चमत्कार संबंधी कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। उन्हें विराम देने के लिए इतना ही लिखना पर्याप्त है कि गुरुसत्ता व उनकी मार्गदर्शक सत्ता का साक्षात्कार उनके आध्यात्मिक विवाह के रूप में सम्पन्न हुआ व दूध-पानी की तरह गुरु-शिष्य की सत्ता मिलकर एक हो गयी, दोनों एक रूप हो गए।

# समर्पण की परिणति-प्रचण्ड आत्मबल

महान मार्गदर्शक का सर्वप्रथम अनुग्रह जो पहले दिन मिला, उसने पूज्य गुरुदेव से सम्पूर्ण समर्पण माँगा, भावी जीवन मानव मात्र के हित हेतु जीने के लिए माँगा। उनके मास्टर ने उन्हें सच्चे अर्थों में नग्न, निर्वस्त्र कर दिया। अपना कहने जैसा उनके पास कोई पदार्थ तो क्या, शरीर, मन, भावना, कामना कुछ नहीं बचा। एक अवधूत स्थिति में लाकर उन्हें छोड़ दिया गया।

पहला आदेश था चौबीस लक्ष के चौबीस गायत्री महापुरश्चरण अगले दिनों सम्पन्न करना। उन्होंने कहा- "चाहे कितनी भी प्रतिकूलताएँ आएँ, तुम्हें लक्ष्य अवश्य पूरा करना है। इस बीच कुछ समय स्वतंत्रता संग्राम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी पड़ सकती है, पर नियम-भंग मत होने देना । जो भी समयक्षेप उधर हो उसकी पूर्ति कड़ी तपस्या करके बाद में कर लेना है ताकि इसकी पूर्ति पर तुमसे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कराये जा सकें। इस बीच चार बार हिमालय बुलाने की बात उन्होंने कही। कभी एक वर्ष के लिए, कभी कम अवधि के लिए।" हिमालय बुलाया जाना इसलिए जरूरी था कि वह सिद्ध आत्माओं की साधनास्थली है। वह ऐसा पारस है, जिसका स्पर्श मात्र कर व्यक्ति तपे कुन्दन की तरह निखर जाता है।

स्थूल हिमालय तो हिमाच्छादित पहाड़ भर है, जो पाकिस्तान से लेकर बर्मा की सीमा तक फैला है, पर उनके गुरुदेव का आशय उस हिमालय से था जो उसका हृदय माना जाता है, उत्तराखण्ड का वह क्षेत्र जो दुर्गम है तथा यमुनोत्री ग्लेशियर से लेकर नन्दादेवी तक जिसका विस्तार है। यहीं वे ऋषिसत्ताएँ निवास करती हैं जिनका आध्यात्मिक प्रकाश अभी भी भारतीय संस्कृति के मूल्यों को जिन्दा रखे हुए है। कभी पं. मदनमोहन मालवीय जी ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु भूमिपूजन हेतु यहीं से स्वामी कृष्णाश्रम जी को बुलाया था। परमहंस योगानन्द जी की पुस्तक 'ऑटोबायोग्राफी ऑफ योगी' में लाहिड़ी महाशय के गुरु महावतार बाबा का जो उल्लेख किया गया है, वे भी यहीं सूक्ष्मशरीर धरकर रहते थे। थियोसाफी की संस्थापिका मैडम ब्लावट्स्की के अनुसार अदृश्य सिद्धपुरुषों की पार्लियामेंट इसी दुर्गम क्षेत्र में है, जिसे अध्यात्म चेतना का 'ध्रुवकेन्द्र' माना गया है। यहीं सभी सूक्ष्मशरीरधारी ऋषिसत्ताएँ निवास करती हैं तथा यहीं देवताओं की क्रीड़ास्थली भी है। पृथ्वी पर कभी स्वर्ग रहा होगा तो वह यहीं रहा होगा, ऐसी पूज्य गुरुदेव की अपनी बार-बार की हिमालय यात्रा के बाद मान्यता रही।

हिमालय यात्रा कब करनी है, इसका निर्देश समय-समय पर सूक्ष्मप्रेरणा के रूप में किए जाने की बात कह कर उस परोक्षसत्ता ने तीसरा निर्देश दिया कि जन्म-जन्मान्तरों से पुण्य संग्रह करती आ रही देवसत्ताओं की

पक्षधर जाग्रतात्माओं को संगठित कर एक माला में पिरोया जाना है। वे ही नवयुग निर्माण, सतयुग की वापसी में प्रमुख भूमिका निबाहेंगी। इसके लिए उन्होंने पूजागृह में जल रही दीपक ज्योति को लक्ष्य कर 'अखण्ड ज्योति' नाम से समय आने पर विचारक्रान्ति का सरंजाम पूरा करने वाली एक पत्रिका आरंभ करने की बात कही व कहा कि उस दीपक को अब सतत जलाते रहना। इसके प्रकाश से तुम्हें प्रेरणा मिलती रहेगी एवं समष्टिगत प्रवाह से वे सभी विचार प्राप्त होते रहेंगे, जिनके माध्यम से अगले दिनों अध्यात्म तंत्र का परिष्कार नवयुग का सूत्रपात होना है। ''अखण्ड दीपक ही समय-समय पर परोक्ष जगत से आने वाले दैवी मार्गदर्शन को तुम तक पहुँचाएगा, अतः जहाँ भी रखो, इसे अपने पास पूजागृह में रखना। इसका दर्शन मात्र लोगों का कल्याण कर देगा।''

चौथा मार्गदर्शन था चौबीस लक्ष के चौबीस महापुरश्चरणों की समाप्ति पर एक विशाल सहस्रकुण्डी महायज्ञ आयोजित करना ताकि दैवी सत्ता की अंशधारी आत्माएँ एक स्थान पर एकत्र हो सकें। इन्हीं में से गायत्री परिवार रूपी संगठन का बीजांकुर उभरने व कालान्तर में वृक्ष का रूप लेने की बात वे बता गए। यह भी कह गए कि समय-समय पर वे बताते रहेंगे कि उन्हें कौन -सा कदम उठाना है? कब कहाँ स्थान परिवर्तन करना है, क्या कार्यक्रम कहाँ से आरंभ करना है। वे तो मात्र एक समर्पित शिष्य की तरह अपना कर्तव्य निबाहते रहें, शक्ति उन्हें सतत उनके द्वारा प्राप्त होती रहेगी।

दिव्य प्रकाशधारी सत्ता ने निर्देश दिया कि जो आत्मबल का उपार्जन अगले दिनों होगा, उसका नियोजन प्रतिकूलताओं से जूझने, नवसृजन का आधार खड़ा करने तथा देवताओं की, ऋषियों की प्राणशक्ति का अंश लेकर जन्मी जाग्रतात्माओं का एक परिवार खड़ा करने के निमित्त करना है। उनका मूक निर्देश था कि ''प्रस्तुत वेला परिवर्तन की है। इसमें अगणित अभावों की एक साथ पूर्ति करनी है, साथ ही एक साथ चढ़ दौड़ीं अनेकानेक विपत्तियों से जूझना है। इसके लिए व्यापक स्तर पर ऋषि सत्ताओं द्वारा जो मोर्चेबन्दी पहले की जाती रही है उसकी झलक-झाँकी भी तुम्हें दिखाएँगे तथा तुम्हें किस प्रकार यह सब करना है, यह भी सतत बताते रहेंगे। आगे उन्होंने बताया कि- ''हम लोगों की तरह तुम्हें भी सूक्ष्मशरीर के माध्यम से अति महत्त्वपूर्ण कार्य करने होंगे। इसके लिए पूर्वाभ्यास हिमालय यात्रा द्वारा सम्पन्न होगा।

*(अखण्ड ज्योति अप्रैल १९८५ पृष्ठ ९)*

भौतिक दृष्टि से देखा जाए तो १५ वर्ष के किशोर को गुरुसत्ता द्वारा ऊपर दिए गये निर्देशों को घाटे का सौदा माना जाता। जो खेलने-खाने, शौक-मजे की उम्र है, उसमें प्रतिबन्ध किस बालक को अच्छे लगते हैं, किन्तु यही तो अन्तर होता है अवतारी सत्ताधारी महापुरुष एवं सामान्य नरतन धारी भौतिक ऐषणाओं में डूबे मनुष्य में। जो अपनी प्रसुप्त सुसंस्कारिता को जगाकर अपनी पात्रता विकसित कर लेता है, स्वयं भगवान उसे ढूँढ़ने जा पहुँचते हैं। घुन लगा बीज तो कभी अंकुरित हो नहीं पाता, उल्टे आसुरी माया के प्रपंचों में उलझकर ऐसा व्यक्ति शिश्नोदर परायण जीवन जीता स्वयं दुःखी होता, दूसरों को त्रास देता, जीवन यों ही गँवा देता है।

गुरुदेव को उनके पिता ने गायत्री रूपी कामधेनु का पयपान महामना मालवीय जी के माध्यम से कराके जो सबसे बड़ी शक्ति दी थी, वह थी 'आत्मबल'। इसी को एक प्रकार से ब्रह्मवर्चस भी कहा जा सकता है। जिसका आत्मबल विकसित हो गया उसकी आंतरिक प्रौढ़ता विकसित हो जाती है। गुण-कर्म-स्वभाव का सर्वांगपूर्ण परिष्कार हो उसमें अनेक उत्कृष्टताएँ जुड़ जाती हैं। इस तत्त्व के विकसित होते ही अनायास ही अंतकरण से ऐसी अलौकिकताएँ फूट पड़ती हैं, जिन्हें ऋद्धि-सिद्धि के नाम से सम्बोधित किया जाता रहता है।

संभवतः गुरुदेव के सूक्ष्म शरीरधारी मार्गदर्शक ने यही उचित समझा कि अपने सुयोग्य शिष्य से उसके उपासनागृह में साक्षात्कार कर उसके अंदर छिपे महामानव का, अवतारी सत्ता का उसे परिचय करा दिया जाए ताकि भविष्य में जो किया जाना है, उसका पूरा खाका उसके दिमाग में बैठ सके। समस्त मानव जाति का व विश्व का कल्याण उन्हें जिस प्रयोजन में दीखा उसे पूरा करने के लिए प्रकाशपुंज के रूप में आए व तप-साधना का आदर्श ही नहीं, अटूट विश्वास और प्रचण्ड साहस, पर्याप्त मनोबल देकर चले गए। दिव्य सत्ताओं का प्यार-अनुदान भी विचित्र होता है। संभवतः यही शक्तिपात प्रक्रिया भी है।

शक्तिपात के सम्बन्ध में लोगों के मन में तरह-तरह की भ्रान्तियाँ हैं। गुरु सिर पर हाथ रखता है व बिजली के प्रवाह की तरह से पूरे शरीर में करेण्ट दौड़ जाता है, गुरु की सारी शक्ति शिष्य में आ जाती है। यही कपोल-कल्पित मान्यता जन-सामान्य की है। कोई कहता है कि गुरु कुण्डलिनी जगाकर शिष्य को सारी शक्ति दे जाते हैं। उदाहरण के लिए वे रामकृष्ण, विवेकानन्द, नित्यानन्द, मुक्तानन्द इत्यादि के प्रसंगों का हवाला भी देते हैं।

पर सबसे बड़ी बात जो साधारणजन समझ नहीं पाते, वह है अंतरंग की पवित्रता एवं पात्रता का विकास। मैले कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता है? पात्र उलटा रखा हो तो पानी उसमें कैसे भरे ? खिड़कियाँ बन्द हों तो सूर्य किरणों, ताप व पवन का अंदर प्रवेश कैसे हो? शिष्य जब अपना शिष्यत्व सार्थक कर देता है व गुरु यह समझ लेता है कि जो कुछ भी अनुदान दिया जा रहा है, उसका दुरुपयोग नहीं होगा, समष्टि के हित हेतु ही प्रयोग होगा तो शक्ति संचार अवश्य होता है, किन्तु इस प्रक्रिया को इतना सुगम नहीं समझ लिया जाना चाहिए कि हम भी लाइन में लग जाएँ। गुरु का सिर पर हाथ भी स्पर्श हो गया तो निहाल हो जाएँगे।

हजारों वर्षों में कहीं एक गुरु ऐसा आता है जो शक्ति देने की पात्रता रखता है व ऐसा शिष्य पैदा होता है जो उसे संग्रहीत कर उसे सुनियोजित दिशा दे सके। यदि

शक्तिपात इतना सरल होता तो इतने धर्माधीशों, महामण्डलेश्वरों के रहते धर्मतंत्र इतना अशक्त मूढ़मान्यता ग्रस्त रहा होता ? शक्ति-संचार जब भी होता है शिष्य-मुक्ति के लिए नहीं, उसे कीर्ति के शिखर पर पहुँचाने के लिए नहीं अपितु उसके माध्यम से लोकहित का कर्तृत्व कराये जाने के लिए। विवेकानन्द को शक्ति बिजली के झटके के रूप में मिली कि नहीं, यह या तो स्वयं रामकृष्ण परमहंस बता सकते हैं या स्वामी विवेकानन्द। दोनों ने ऐसा नहीं कहा। हाँ, विवेकानन्द को वास्तविक आत्मबोध, स्वयं की गरिमा का साक्षात्कार अवश्य रामकृष्ण ने करा दिया व कहा कि परोक्ष सत्ता सूक्ष्म जगत से सदैव तेरे साथ रहेगी, वे ही तेरे से सब कार्य सिद्ध कराएँगी। विश्वधर्म सम्मेलन में संभवतः उसी सत्ता ने गेरुआ वस्त्रधारी एक रात्रि पहले रेलवे वैगन में ठिठुरकर सो रहे अकिंचन से ऐसी सारगर्भित वक्तृता करा ली कि विश्वभर में उनका डंका बज गया।

वसंत पंचमी के उस ब्रह्ममुहूर्त में गुरुदेव ने अपना तप, आत्मबल शिष्य पर उँड़ेलकर उसकी चेतना को झकझोर दिया, आत्मबोध कराया एवं शिष्य ने अपना आपा, अस्तित्व ही उन्हें समर्पित कर दिया। समर्पण में स्वयं की इच्छा कैसी? जो मार्गदर्शक की इच्छा वही अपनी इच्छा। तर्क की यहाँ कोई गुंजाइश ही नहीं। कठपुतली तो बाजीगर के इशारे पर नाचती है। पोली वंशी कृष्ण के मुँह से लगी, वही अलापती चली गयीं जो तान छोड़ी गई। यह समर्पण ही गुरुदेव को वह सारी शक्ति सामर्थ्य दे गया, जिसकी परिणति आज इतने बड़े युगान्तरकारी मिशन संगठन व विश्वव्यापी समुदाय के रूप में दिखाई देती है। धन्य है वह गुरु, धन्य है ऐसा शिष्य।

पूज्यवर की १९२६ में अपने प्रकाशपुंज से भेंटवार्ता के बाद वर्षों का मूल्यांकन करें तो हम पाते हैं कि १९२६, २७, २८ में तो उन्होंने अनुष्ठानक्रम पूरी तरह चलाया। १९२८ के उत्तरार्द्ध से १९३६ के उत्तरार्द्ध तक वे स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के रूप में सक्रिय रहे। फिर बापू का निर्देश मिलने पर लेखनी की साधना, पूजा-उपासना का नियमित क्रम १९३७ से आरंभ कर १९५१ तक यथावत चलाया एवं पूर्णाहुति के रूप में पहले दो शतकुण्डी गायत्री महायज्ञ १९५३ तथा १९५६ में तथा सहस्र कुण्डी महायज्ञ के रूप में १९५८ में सम्पन्न किए। पूर्णाहुति तक उन्होंने सारे व्रत अनुशासनों का निर्वाह उसी प्रकार किया जैसे कि उनके गुरु ने उन्हें बताया था। इस बीच १९५१ में वे एक बार हिमालय यात्रा पर गए, जो कुछ माह की थी व पुनः बाद में १९६१ में एक वर्ष के लिए दुर्गम हिमालय उन्होंने प्रवास किया। सब कुछ अपने मार्गदर्शक के बताये निर्देशों के अनुरूप।

उत्सुकता सबके मन में रहती है कि यह तप-साधना उन्होंने किस प्रकार कब सम्पन्न की होगी? अलौकिक पुरुषों के अविज्ञात साधनाक्रम के विषय में यह जिज्ञासाएँ उठना स्वभाविक है। इस सम्बन्ध में स्वयं गुरुदेव अपनी पुस्तक 'सुनसान के सहचर' में लिखते हैं कि- "हमारी २४ लक्ष महापुरश्चरण की साधना गायत्री उपासना को इतना महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए जितना कि मानसिक परिष्कार और भावनात्मक उत्कृष्टता के अभिवर्द्धन के प्रयत्नों को। यह माना जाना चाहिए कि यदि विचारणा और कार्यपद्धति को परिष्कृत न किया गया होता तो उपासना के कर्मकाण्ड उसी तरह निरर्थक चले जाते जिस तरह कि अनेक पूजा-पत्री तक सीमित मन्त्र-तन्त्रों का ताना-बाना बुनते रहने वालों को नितान्त खाली हाथ रहना पड़ता है। हमारी जीवन-साधना को यदि सफल माना जाए और उसमें दीखने वाली अलौकिकता को खोजा जाए तो उसका प्रधान कारण हमारी अन्तरंग और बहिरंग स्थिति के परिष्कार को ही माना जाए। पूजा-उपासना को गौण माना जाए। आत्मकथा के एक अंश को लिखने का दुस्साहस करते हुए हम एक ही तथ्य का प्रतिपादन करेंगे कि हमारा सारा मनोयोग और पुरुषार्थ आत्म-शोधन में लगा है। उपासना जो बन पड़ी है, उसे भी हमने भाव-परिष्कार के प्रयत्नों के साथ पूरी तरह जोड़ रखा है।"

*(पृष्ठ १३५ प्रथम संस्करण, सन् १९६५)*

उपर्युक्त प्रसंग जिस सरलता, निश्छलता व गंभीरता के साथ उन्होंने लिखा है- उसे उन्होंने अपने शिष्यों को भी सदैव उसी स्तर पर जीवन में उतारने का सन्देश दिया। शिष्यगण सदा ही कर्मकाण्ड, जप-अनुष्ठान की बारीकियाँ, गिनती आदि के बारे में पूछा करते तो उनका स्पष्ट उत्तर जिस प्रकार का होता था, उसकी बानगी नीचे दिये जा रहे दो पत्रों के नमूनों से ली जा सकती है जो उन्हीं की लिपि में यथारूप में दिये जा रहे हैं।

(१) "तुम्हारी अनुष्ठान शृंखला के विवरणों से बड़ी प्रसन्नता हुई। तप ही ब्राह्मण की सच्ची सम्पत्ति है। ईश्वर के निकट पहुँचने के इन साधनों को अपनाकर मनुष्य कुछ खोता नहीं, पाता ही है। शर्त इतनी ही है कि उपासना कर्मकाण्ड प्रधान भावविहीन न हो। भावना का परिष्कार ही वस्तुतः आत्मबल का अभिवर्द्धन करता है। कर्म काण्ड उसका बाह्य उपकरण मात्र है।"

१७-८-५०

हमारे आत्म स्वरूप,

आपका पत्र मिला। पढ़कर प्रसन्नता हुई। बहुत अधिक थका देने वाला जप आपके लिए उपयुक्त नहीं। गृहत्यागी लोगों के सामने अन्य कार्यक्रम नहीं होते, इसलिए वे इस प्रकार की कठोर तपश्चर्या कर सकते हैं। आप इतना ही करें जितना आसानी से हो सके। जप संख्या बढ़ाने की अपेक्षा अपनी भावना में वृद्धि करें।

(२) हमारे आत्म स्वरूप, १७-८-५०

आपका पत्र मिला। पढ़कर प्रसन्नता हुई। बहुत अधिक थका देने वाला जप आपके लिए उपयुक्त नहीं। गृहत्यागी लोगों के सामने अन्य कार्यक्रम नहीं होते, इसलिए वे इस प्रकार की कठोर तपश्चर्या कर सकते हैं। आप इतना ही करें जितना आसानी से हो सके। जप संख्या बढ़ाने की अपेक्षा अपनी भावना में वृद्धि करें।

शार्टकट की तलाश करने वाले एवं स्वल्पकाल में ही स्वल्प श्रम से अपरिमित लाभ उठाने की अधीरता दिखाने वालों को गुरुदेव सदा ही कहा करते थे कि अध्यात्म एक नकद धर्म है, जिसे मात्र आत्म-शोधन की तपश्चर्या से ही प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः विडम्बना और भ्रम-जंजाल से भरे हुए आज के तथाकथित अध्यात्म की निरर्थकता ने जनमानस में जो अश्रद्धा और अविश्वास का माहौल बना दिया था, उसके निवारण के लिए ऐसे ही आत्मबल संपन्न व्यक्ति द्वारा अपने आपको प्रयोगशाला बनकर सिद्ध बनने का रहस्योद्घाटन जरूरी था। यही कार्य पूज्य गुरुदेव ने आजीवन किया। जादू की तरह तुर्त-फुर्त चमत्कार दिखा सकें, ऐसे कर्मकाण्डों की तलाश में भटकने वालों को गुरुदेव यह बताना चाहते थे कि सिद्धियों और विभूतियों का, गरिमा और महिमा का राजमार्ग आत्म-शोधन और आत्म-निर्माण की चाल से चलकर ही पूरा होता है। अध्यात्म एक क्रमबद्ध विज्ञान है, जिसका सहारा लेकर कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष लाभ उठा सकता है।

पूज्य गुरुदेव गायत्री महामंत्र के माध्यम से ऋतम्भरा प्रज्ञा और ब्रह्मवर्चस की साधना करते थे। इन दोनों ही तत्त्वों को वे अपने आत्म-देवता में समाविष्ट मानते थे। उनका मत था कि जिसने अन्तःकरण को तपोवन बना लिया व वहाँ एकनिष्ठ होकर ब्रह्मचेतना से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास किया, वही सच्चा साधक है।

पूज्य गुरुदेव की साधना-पद्धति को जितना समीप से, गहराई से वंदनीया माताजी ने देखा व समझा था उतना अवसर शायद ही किसी को मिला हो। वंदनीया माताजी कहा करती थीं कि गुरुदेव ने जितना कड़ा तप किया है, उतने ही दिव्य अनुदान उन्हें मिले हैं। वस्तुतः उनका सारा जीवन तपोमय रहा है। सब कुछ साधन व कमा सकने की असीम संभावनाएँ होते हुए भी जो अपनी भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं पर कड़ा नियंत्रण लगा ले, वह सही अर्थों में जीवन-संग्राम में प्रतिकूलताओं से लड़ रहा एक जुझारू योद्धा है।

चौबीस महापुरश्चरणों के बारे में लोगों को मात्र इतनी जानकारी है कि प्रतिदिन छह से आठ घण्टा बैठकर वे ४० से ९० मालाएँ गायत्री का जप प्रतिदिन करते रहे। परम सात्त्विक, जौ की रोटी तथा छाछ पर निर्वाह करते रहे एवं अनुष्ठानकाल में प्रयुक्त बंधनों-प्रतिबंधनों का कठोरता से पालन करते रहे। गौ माता के गोबर में जो तिल-जौ निकलता है, उसे निथारकर स्वच्छ कर उससे जितना अन्न मिल जाता है उससे शरीरयात्रा चल जाती थी। तीन वर्ष तो वे नैमिषारण्य में रहे। जहाँ के व्यक्ति अभी भी बताते हैं कि श्रद्धालुओं द्वारा सरोवर में डाले गए चावलों को वे कपड़े की आड़ लगाकर एकत्र कर लेते थे व उतने को ही पकाकर बिना किसी मिर्च-मसाले के उदरस्थ कर नित्य ५ घण्टे जल में खड़े रहकर जप किया करते थे। यह तो वह पक्ष है जो अभी तक ज्ञात है, दृश्य है, प्रत्यक्ष है, पर उन दिनों प्रसिद्धि से दूर रहने के कारण वे उसे संपन्न कर सके। चालीस वर्ष तक की आयु जो युवावस्था का चरमोत्कर्ष मानी जाती है, उन्होंने कड़ी तप-साधना में नियोजित कर दी। इस अवधि में कितनी ही बार निराहार रहना पड़ा, मात्र मट्ठे पर ही जीकर अपनी काया का अनिवार्य, किन्तु सीमित पोषण वे करते रहे। वस्तुतः यह तो उनकी स्थूल व दृश्य साधना थी। मोटेतौर से जितना देखा जा सके, उतना ही समझा जा सकता है, पर वस्तुतः साधना उस क्रिया-कलाप तक ही सीमित नहीं थी।

काया के कर्मकाण्डात्मक क्रिया-कलापों से बहुत आगे बढ़कर वह तो मन और प्राण की सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर की परिधि में प्रवेश कर गई थी। अपनी पाँचों इन्द्रियों और पाँचों मन-संस्थान का परिष्कार करने हेतु उन्होंने अथक परिश्रम किया था व यह देखा था कि दसों देवताओं को विनाश के मार्ग पर एक इंच भी न गिरने दिया जाए, वरन् उन्हें पवित्रता और प्रखरता के पथ पर ही अग्रसर रखा जाए। इस प्रकार अंतः को परिमार्जित कर वे पंचकोषों को जगाने में सफल हो गए, जिन्हें अनेकों अद्भुत ऋद्धियों-सिद्धियों का केन्द्र माना जाता है। वस्तुतः अगणित व्यक्ति जिन्हें साधना सम्बन्धी मार्गदर्शन देकर उन्होंने कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया तथा जिन्हें अपने तप का एक अंश देकर विभूति संपन्न बना दिया अथवा कष्ट-निवारण में उनकी मदद की, इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि वे एक ऐसे सिद्ध स्तर के साधक थे जो सतत कमाने व पूँजी को दिल खोलकर सुपात्रों में बाँटने में ही विश्वास रखते थे। स्वयं के लिए अथवा स्वजनों के लिए अपने निज के तपोबल का, अर्जित सम्पदा का उन्होंने कभी उपयोग नहीं किया। वे लिखते हैं कि हमने अपने लिए व आत्मीय

निकटस्थ परिजनों के लिए दवा दारू का ही प्रयोग किया है। वस्तुत: किसी दु:खी की वेदना बाँटनी पड़ी तो सबने मिलकर बाँटी है। इतना जरूर किया कि किसी के कष्ट को मृत्यु स्तर से क्रम कर छोटी-मोटी दुर्घटना के रूप में टाल दिया गया। इस ग्रंथ में अन्यत्र ऐसे कई महत्वपूर्ण घटना प्रसंगों का विवरण दिया गया है जिन पर उनके जीवनकाल में उनकी इच्छानुसार पर्दा ही पड़ा रहा।

पूज्य गुरुदेव यह मानते थे कि तर्क और विवेक का अंश भी अपनी चेतना का अविच्छिन्न अंग रहा है। अपने गुरु के निर्देश पर उन्होंने गायत्री पर गहरा अनुसंधान करने की ठान ठानी और सोचा कि इस प्रयोग के समुचित सत्परिणाम होंगे तो इसके लिए अन्यान्यों को भी साहस एवं विश्वास के साथ परामर्श दे सकेंगे। इसके लिए जो उपासनाक्रम हाथ में लिया गया, उसे पूरी जिम्मेदारी के साथ अपनाया गया ताकि उनका निज का मन इस बात के लिए न कचोटे कि आधे-अधूरे प्रयोग करने के कारण असफलता हाथ लगी। जो वैद्य रस-भस्म बनाते हैं और बेचते हैं, पर उनका विधान अधूरा रहने देते हैं। वे रोगी की भी हानि करते हैं और स्वयं भी अपयश के भागी बनते हैं। इसीलिए उन्होंने एक ही निश्चय किया कि जो करना वह पूरी रीति-नीति से परिपूर्ण आस्था के साथ किया जाए।

साधारणतया साधक अपने साधना के स्वरूपों को गोपनीय ही रहने देते हैं, किन्तु गुरुदेव का जीवन तो एक खुली किताब है। उन्होंने जो भी किया उसे लेखनी के माध्यम से जन-जन तक पहुँचा दिया। जिसे उचित समझा, वाणी से समझाया व जिसे और अधिक पात्र समझा उसके रोम-रोम में वह ज्ञान समाविष्ट कर दिया। १९५० से १९६१ के बीच की उनकी अखण्ड-ज्योति पत्रिका गायत्री विज्ञान, गायत्री रहस्य, गायत्री के अनुभव, गायत्री तंत्र एवं गायत्री योग नामक पाँच २००-२०० पृष्ठ के ग्रंथ तथा तीन भागों में छपा गायत्री महाविज्ञान इसकी साक्षी देते हैं। बाद में विज्ञानसम्मत प्रतिपादनों के साथ जोड़कर अपनी सुबोध शैली में उन्होंने १९७७ में चार विशेषांक अखण्ड ज्योति के प्रकाशित किए (मार्च से जून, १९७७), जिसमें उन्होंने साधना विधान का निचोड़ लिखकर रख दिया। इन सबके बावजूद भी जो स्थूल में सब कुछ खोज रहा हो इसे क्या कहा जाए?

पूज्य गुरुदेव की जीवन-साधना का महत्वपूर्ण अंग था 'आत्मवत सर्वभूतेषु!' 'मातृवत परदारेषु' एवं 'परद्रव्येषु लोष्ठवत' तो काया की परिधि तो वे कभी की लाँघ चुके थे, पर अपने समान सबको देखना, समानुभूति करना एवं दूसरों के अंत:करण से अपने को इस गहराई से जोड़ लेना कि लाखों परिजन उसे अपना परमप्रिय सखा, पिता, अभिभावक मानने लगें, साधना की सर्वोपरि सिद्धि है।

दुनिया के सारे वैभव, कौशल और समर्थता को एक पलड़े पर रखा जाए एवं सरस भाव-संवेदनाओं को तुला के दूसरे पलड़े पर, तो दूसरा अधिक वजनदार सिद्ध होगा। उसी में शक्ति है दूसरों का हृदय जीतने की, उसी के बल पर व्यक्ति आत्मसत्ता को क्रमश: ऊँचा उठाते हुए उच्चतम सोपानों को प्राप्त करता चला जाता है। वही है जिसके अंतराल में जागने पर साधारण मनुष्य देवमानव महामानव बन अगणित व्यक्तियों की श्रद्धा का केन्द्र बन जाता है। पूज्य गुरुदेव ने दुनिया की तीनों शक्तियों को परे रख महत्त्व दिया भावसिक्त अंत:करण को। उनके 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के आत्म-विस्तार ने सर्वत्र अपना ही आपा बिखरा दिखलाया तो वह मात्र दृष्टि-दर्शन न रह गया वरन् दूसरों की व्यथा वेदनाएँ भी उनकी अपनी बन गईं और वे इतनी अधिक चुभन-कसक पैदा करती रहीं कि उन पर मरहम लगाने के अतिरिक्त और कुछ सूझा नहीं। फिर पुण्य-परमार्थ की अलग से कौन चिन्ता करता? मीरा की तरह से उनका अंत:करण पुकारता रहता-" हे, री! मैं तो प्रेम दीवानी, मेरा दरद न जाने कोय।" उनका दर्द था पीड़ित मानवजाति, शोषित प्राणी समुदाय को कैसे कष्ट से, व्यथा से, पतन से मुक्ति दिलाई जाए ताकि औरों के लिए एक ऐसा मार्ग प्रशस्त हो जिस पर चलकर लोक-सेवा की जा सके।

इस सम्बन्ध में एक प्रसंग यहाँ पर उनके बाल्यकाल से सम्बन्धित देना अप्रासंगिक न होगा। वे जब मात्र बारह वर्ष के थे तब की उनके ग्राम आँवलखेड़ा की यह घटना है। वे एक समृद्ध ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। पिता कुल पुरोहित थे। आस-पास की सभी जमींदारियों में बड़ा सम्मान था तथा जब भी कभी भागवतपारायण होता उनके पिता पं. रूपकिशोर जी को ही बुलाया जाता। गाँव के बीच एक किलेनुमा हवेली में उनका निवास था, पर बालक श्रीराम का मन वहाँ घुटता रहता। वह निकल जाता अपने साथियों के साथ-दुखियों, बीमारों की तलाश में। गाँव में कभी हाट-बाजार लगता तो उनके स्वयं सेवकों की टोली सबको पानी पिलाती। सबको प्राथमिक सहायता से लेकर पशुचिकित्सा के पैम्फलेट्स हाथों से बाँटते। सब ढेरों आशीर्वाद देते। ऐसे ही दिनों में एक दिन उन्हें जानकारी मिली कि उनके घर में काम करने वाली हरिजन महिला 'छपको' तीन-चार दिनों से किसी कारण से आ नहीं रही। वे उसे प्यार से अम्मा कहकर बुलाते थे। निकल पड़े व पहुँच गए हरिजनों के टोले में। गाँव के सभी ब्राह्मणों ने टोका-रोका व कहा कि घर जाकर पढ़ाई करो, भंगियों में तुम्हारा कोई काम नहीं है; कहीं छू लिया तो प्रायश्चित और करना पड़ेगा।

वे भला कब रुकने वाले थे? गंदी नालियों से गुजरते हुए वे पहुँच गए उस अम्मा के घर व देखकर हैरान रह गए कि उसकी हथेली में बड़ा घाव है व बिना दवा कराए उच्च ताप में वह बिस्तर में पड़ी है। पहले ढेरों उलाहने दिए और फिर कहा कि अभी मलहम-पट्टी का सामान लेकर आता हूँ। शोषित समुदाय की उस वृद्धा ने श्रीराम को रोकते हुए कहा कि वह खुद ही पाँच मील दूर अस्पताल जाकर मलहम करा लेगी, पर वे तो घर से

सामान लेकर ही लौटें। खूब मन लगाकर कीड़ों से सने गैंग्रीन में बदल रहे घाव को धोया और लाल दवा लगा कर मलहम-पट्टी कर दी, फिर कहा कि जड़ी-बूटियों का काढ़ा और बना लाता हूँ ताप उतर जाएगा। वह डबडबाए नेत्रों से उन्हें आशीर्वाद देती रही, किन्तु आगे का मार्ग और भी दुष्कर था। घर पहुँचे तो गंगाजल लिए घर वाले खड़े थे ताकि स्नान कराके पवित्र किया जा सके व फिर प्रताड़ित कर आगे के लिए सावधान किया जा सके। बालक श्रीराम का कहना था कि- ''तुम लाख रोको, मैं जाऊँगा जरूर। तब तक कि उस बुढ़िया के घाव ठीक नहीं हो जाते । अत: गंगाजल की व्यवस्था और कर लेना क्योंकि रोज ही मुझे पवित्र करना पड़ेगा।'' डाँट पड़ी तथा भोजन भी नहीं दिया गया, किन्तु बालक कच्ची मिट्टी का नहीं बना था।

वह पुन: अगले दिन गया व फिर पाँच दिन तक जब तक कि उस वृद्धा के घाव सूखकर वह चलने योग्य नहीं हो गई। इस बीच उसे घर के बाहर एक कोठरी में रहना पड़ा, सभी बुजुर्गों की डाँट भरी-पूरी मात्रा में सुननी पड़ी, रोज गंगाजल से नहाना पड़ा, जाने के मार्ग बदलने पड़े, पर दूसरे की पीड़ा मिटाने का जो संकल्प लिया था वह पूरा होकर ही रहा। संभवत: स्वयं महाकाल ने उस वृद्धा हरिजन महिला के मुँह से उसे ढेरों आशीर्वाद दिए, कहा कि आगे चलकर वह एक बहुत बड़ा महात्मा बनेगा, ढेरों व्यक्तियों के हृदय का सम्राट बनेगा। हुआ भी यही। बीसवें दशक की उस वृद्धा माँ की आत्मा जहाँ भी होगी उस छोटे बालक रूपी वामन की इस अवतार-लीला को देख रही होगी व सोचती होगी कि वह कितनी बड़भागी थी कि स्वयं निष्कलंक प्रज्ञावतार का प्रतिनिधि उसकी सेवा हेतु आया।

घटना छोटी है, किन्तु एक बालक के अंदर विद्यमान प्रसुप्त सुसंस्कारिता की एक झलक देती है कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के बीजांकुर तो उन्हीं दिनों फूट चुके थे। उन्हीं के गाँव का एक पटवारी था- नाम था लाला हुब्बलाल। उसका आतंक ऐसा था कि जब तक सामने वाले को निचोड़ न लेता था, छोड़ता नहीं था। उसके कोप ने कई खाती-पीती गृहस्थियों को धूल में मिला दिया। बालक श्रीराम उन दिनों गाँव का मदरसा पास करके आगरा आ गए थे। पूरे जनपद में दौरा करने वाली एक सेवा समिति बना चुके थे जो अशक्तों, अनाश्रितों को कम्बल, रजाइयाँ बाँटती थी। घूमते हुए एक दिन वे अपने गाँव भी पहुँचे, सूची बनाई । देखा तो सबसे पहला नाम उस लाला हुब्बलाल का था, जो कुछ वर्ष पहले आस-पास के क्षेत्र का बेताज बादशाह था, किन्तु अब फालिज का शिकार हो, चिथड़ों में लिपटा भिनभिनाती मक्खियों के बीच गंदगी से सना टूटी चारपाई पर पड़ा था। दिन भर रोता था व कहता था- ''लोगो ! देखो पाप का परिणाम, देखो मुझे भगवान ने कैसा दण्ड दिया है।''

गुरुदेव युवा श्रीराम जब कंबल आदि लेकर पहुँचे तो वे लिपटकर रो पड़े। कहने लगे ''लल्लू! यह क्या हुआ? भगवान मुझे कब तक सजा देगा?'' गुरुदेव ने उन्हें दिलासा दी, ढाढस बँधाया व अपनी समिति के सदस्यों सहित सभी ने उनकी खूब सेवा की, जो आदमी पास नहीं फटकते थे, उन्हें प्रेरणा दी कि ''पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।'' लालाजी ने अंतिम प्रयाण तो किया पर अंत तक सब पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा से उनकी सेवा करते रहे।

यह है युगद्रष्टा का, अवतार सत्ता का ममत्व से अभिपूरित समष्टि से जुड़ी महाप्राण की सत्ता का स्वरूप। ऐसे महामानवों का न कोई दुश्मन होता है, न कोई बैरी। सब उनके अपने होते हैं। अपनी जीवन-यात्रा में अगणित ईर्ष्यालु व्यक्तियों ने उनके विरुद्ध दुरभिसंधियाँ रची होंगी, न जाने क्या-क्या कहा होगा, पर उन्होंने प्रत्युत्तर में कुछ नहीं कहा। स्नेह ही स्नेह, यही तो है ईश्वरीय सत्ता का वह अंतरंग रूप, जो सन्तों को आत्मिक प्रगति एवं लौकिक समृद्धि के शीर्ष शिखर पर पहुँचा देता है। दुलार बाँटने व पीड़ा-पतन निवारण में जुटे रहने का जो मार्गदर्शन हमें वह दे गये हैं, वह अन्यान्य उपदेशों से भी अधिक मूल्यवान व वरेण्य है।

## किशोरावस्था के कुछ हृदयस्पर्शी प्रसंग

बाल्यकाल व युवावस्था के दिनों में कोई धूनी रमाकर घण्टों जप करता बैठा रहे तो ऐसा जीवन असामान्य ही कहा जाएगा। हमारे देश में ऐसी असामान्यताओं की या तो जमकर पूजा की जाती है या खुलकर उपहास उड़ाया जाता है। पूज्य गुरुदेव जिस मिट्टी के बने थे, उसमें उन्होंने अपने कठोर तप की बाहर वालों को खबर तक नहीं लगने दी व एक सेवाभावी, विनम्र, औरों के प्रति सदाशय पण्डित जी के पुत्र के रूप में शीघ्र ही अपने गाँव व आस-पास के इलाके में प्रख्यात हो गये। आँवलखेड़ा में बिताये उनके तीसरे दशक के उत्तरार्द्ध व चौथे के पूर्वार्द्ध के दिन बहुरंगी गतिविधियों से भरे पड़े हैं। जो कुछ जानकारी समकालीन व्यक्तियों से मिली है, वह यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। इस अवधि में वे आँवलखेड़ा, आगरा व आस-पास के गाँवों में सक्रिय रहे। सन् १९३६ तक स्वतंत्रता संग्राम के सैनानी के नाते बड़ी समर्पित क्रान्तिकारी भूमिका निभाते रहे।

ग्रामीण किसानों की उन दिनों स्थिति बड़ी दयनीय थी। सिंचाई के साधनों व कीटनाशक दवाओं के अभाव में खेतों की पैदावार बहुत ही कम होती थी। पूज्य गुरुदेव ने अपने ग्रामीण अनुभव व अध्ययन के आधार पर अनेक फसलों को उगाने, रखरखाव, अधिक उपज लेने का महत्व दर्शाने वाली एक पैसा मूल्य की सोलह पुस्तकें प्रकाशित कीं। फसली बुखार, पशुओं को रोग से कैसे बचाएँ? इन सब पुस्तकों को वे नगण्य से मूल्य पर हाट-बाजार में जाकर बाँटा करते। यह बात अलग है कि घर से कोई मदद न मिलने के कारण उन्होंने अपनी प्रथम पत्नी श्रीमती सरस्वती देवी की सोने की हँसली ही गिरवी रखकर यह काम किया।

खड़ी हिन्दी में ये सब किताबें लिखी जातीं तो शायद जनता प्रभावित नहीं होती। देहाती ब्रजभाषा में उन्होंने जाति-भेद, मृतक-भोज, खर्चीली शादी, पण्डावाद एवं अन्यान्य अंधविश्वासों पर पाँच पुस्तकें बड़ी व्यंग्यात्मक शैली में लिखीं, जो बड़ी लोकप्रिय हुईं। एक पुस्तक 'बेटा की तेरहवीं' में वे लिखते हैं कि पंडित जी दही-बूरा कुल्हड़ पर कुल्हड़ पिये जा रहे हैं व कंगाल हो गए घरवालों को उलाहना सुना रहे हैं- ''चौं पौहे के खाजे में म्हों मार रह्यौ ऐ।'' समाज की मूढ़-मान्यताओं के प्रति क्रान्तिकारी अभियान उनका तब से ही आरंभ हो चुका था।

इसी अवधि में उन्होंने देशभक्ति की ओजपूर्ण कविताएँ लिखीं। ये सभी कानपुर के 'विद्यार्थी' (संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी) कलकत्ता के 'विश्वामित्र' तथा आगरा के दैनिक 'सैनिक' में प्रकाशित होती रहीं। किस्मत, मस्ताना जैसी प्रसिद्ध पत्रिकाओं में भी वे कविताएँ भेजते रहे। दुर्भाग्यवश इन कविताओं का संकलन अब उपलब्ध नहीं है, नहीं तो पाठकों को उनके किशोर लेखक स्वरूप की जानकारी मिलती। १९४० में अखण्ड-ज्योति प्रकाशित करने से पूर्व तो वे 'सैनिक' पत्र में ही मत्तजो नाम से कार्य भी करते रहे थे तथा स्वतंत्रता संग्राम के लिए क्रान्तिकारी स्तर का संघर्ष भी करते रहे। उनका मत्तजी नाम पड़ने के दो कारण बताये जाते हैं। एक तो वे देशभक्ति के लिए उन्मत्त थे, जिसमें अँग्रेजों के कुशासन से देश को मुक्त कराने के लिए प्राणपण से लगना उन्हें पसंद था। दूसरे एक घटना, जिसकी चर्चा आगे की गई है, में पुलिस पिटाई से इतना बेहोश होकर कीचड़ में रात्रिभर पड़े रहे थे कि अगले दिन लोग यह सोचकर ढूँढने निकले कि शायद अब मर-मरा गये होंगे। देखा तो बेहोश थे, दाँत में झण्डा अभी भी था। उनकी यह लगन, चाहे मर जाएँ, देखकर उनका मतुआ या 'मत्त' नाम सन् २८-२९ में ही पड़ गया था।

आर्थिक दृष्टि से कड़की के दिन थे, क्योंकि स्वतंत्रता सैनानी होने के नाते इनके घर कई बार पुलिस छापा मार चुकी थी। कुर्की भी हो चुकी थी। डर के मारे कोई फसल भी नहीं उठा रहा था। वे घर वालों को समझाते कि थोड़े दिन कष्ट सहना है, फिर सब ठीक हो जाएगा, पर वस्तुतः सब उनकी इस देशनिष्ठा से परेशान थे। इन्हीं दिनों के जीवन का एक विचित्र प्रसंग है जिनसे उनकी गोमाता के प्रति भक्ति व परदुखकातरता की अनुभूति होती है। 'सियाराम मय सब जग जानी' वाले नवनीत अंतःकरण से परिपूर्ण युवा श्रीराम ने देखा कि गाँव के कुछ मुसलमान कसाई दो गायों को जो अभी भी पर्याप्त दूध दे सकती थीं, मात्र लँगड़ी थीं, काटने के लिए ले जा रहे थे। पूछा कि उन्होंने कितने में खरीदी हैं। पता चला २८ रुपये में खरीदी हैं। सोचा क्या किया जाए? कहाँ से आयें ये पैसे? तुरंत गाँव के साहूकार गुलजारी के पास जाकर ३५ रुपये उधार लिए। बैलगाड़ी किराये पर ली, घास के दो बड़े-बड़े गट्ठर खरीदे व गायों को उठवाकर बैलगाड़ी पर दोनों गायों को रखवाया। दोनों बैलों के साथ स्वयं भी लगे व सुबह के चले रात देर तक हाथरस पहुँच कर वहाँ की गोशाला में गायों को पहुँचा दिया। अगले दिन बैलगाड़ी प्रातः तक लौटकर लौटा दी, किराया चुकाया व एक हफ्ते में सूद सहित कर्जा भी। अपना सब कुछ लगाकर भी जिसने दो गायों को बचाया, उसके भविष्य को संभवतः सूक्ष्मजगत से देखने वाले देवतागण ही समझते थे। भले ही तत्कालीन नरतनधारी व्यक्तियों ने इसका कोई मूल्यांकन न किया हो।

महिलाओं के बारे में उनका दृष्टिकोण बिलकुल साफ था। वे जानते थे कि जब तक देश की आधी जनशक्ति नारी को ऊँचा नहीं उठाया गया, देश प्रगति नहीं कर सकता। इसके लिए नारी जागृति अभियान का शुभारंभ उन्होंने अपने घर से ही कर दिया था। अपनी माताजी को अक्षरज्ञान का महत्त्व बताया, सुलेख कैसे लिखा जाए यह समझाया, धीरे-धीरे वह अच्छा लिखने लगीं। दूसरे नंबर पर उन्होंने अपनी धर्मपत्नी अर्धांगिनी को साक्षर बनाने का जिम्मा लिया। उन्होंने भी बड़े प्रतिरोध के बाद लिखना सीखना चालू किया व क्रमशः दो-तीन बार तख्ती लिख-लिख कर बताने लगीं। वे इन सबका महत्त्व दोनों को बराबर समझाते रहे। माँ को बताते कि आप रामायण पढ़ सकेंगी, पत्नी को बताते कि घर से चिट्ठी आयेगी या वे लिखेंगे तो किससे पढ़वाएँगी? बात छोटी-सी है, पर तीस के दशक में एक किशोर, नारी-साक्षरता की दिशा में इस सीमा तक सोच रहा था व जग का सुधार अपने से ही करने का बीड़ा भी उठा चुका था। बाद में उन्होंने घर में एक प्रौढ़ पाठशाला आरंभ कर दी, जिसमें हिंदू-मुस्लिम दोनों ही धर्म की महिलाएँ आतीं व अक्षरज्ञान तथा फिर लोकव्यवहार का ज्ञान सीखतीं। बाद में मथुरा पहुँचने पर 'स्त्रियों का गायत्री अधिकार' पुस्तक लिखने तक उन्होंने नारी जागरण की पूरे भारत में धूम मचा दी थी।

एक बार गाँव के साहूकार जी के घर में आग लग गई व पूरे घर में फैल गई। लोग बाल्टी भरके पानी तो डालने लगे, पर किसी को उनकी युवा बहू की चिन्ता नहीं थी जो अंदर फँसी बैठी थी। छप्पर के पास से एक नसैनी लटक कर आँगन में जाती थी। मत्तजी ने आव देखा न ताव, चढ़कर तुरन्त आग में पहुँचे व जब तक छप्पर नीचे गिरे, उसे लेकर बाहर आ गये व प्राथमिक चिकित्सा दी। जब तक साहूकारजी धन्यवाद देते, वे रवाना हो चुके थे। ऐसी थी उनकी सेवा-साधना।

आँवलखेड़ा की ही एक और घटना नारी-मुक्ति से जुड़ी है। उस गाँव की एक ब्राह्मण विधवा युवती किसी मुसलमान से गर्भवती हो गई। माँ-बाप पूरे गाँव में निंदाभाजक बन गये। उसे घर से बाहर न निकलने देते थे। कोई गर्भपात की सलाह देता था तो कोई युवती को जहर देने की। पूज्य गुरुदेव ने साहस किया व उसके घर वालों से बात की कि इसका पुनर्विवाह कराने की जिम्मेदारी मैं लेता हूँ। जो इससे विवाह करेगा, वह इसके बच्चे की भी देख-रेख करेगा। वे उसे मथुरा आर्यसमाज ले गये जहाँ की चौकशाखा के बाद में प्रधान बने वहाँ उचित वर ढूँढ़कर

उसका विवाह एक विधुर से करा दिया। उसने बड़ा उदारतापूर्वक उसकी संतान को अपने पास रखा। इन दिनों अभी भी वह महिला कानपुर के एक मोहल्ले में अपने जीवन का उत्तरार्द्ध बिता रही है व हर पल धन्यवाद देती है उस देवदूत को जिसने उसे कुरीतियों की बेड़ी से मुक्त कराया। ''एक गर्भवती विधवा का पुनर्विवाह?'' क्या कोई सोच सकता था, उन दिनों जबकि जातिवाद और आड़े आ रहा था, साम्प्रदायिकता भी। समाज सुधारक श्रीराम की लगन देखकर सब दंग तो रह गए पर किसी ने कल्पना न की होगी कि आने वाले वर्षों में, यह व्यक्ति पूरे भारत में आदर्श विवाहों की धूम मचा देगा, पतितों- शोषितों का उद्धार एक मसीहा ही कर सकता है । उनमें ईसा जैसी वह करुणा-आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावनाएँ उनमें कूट-कूट कर भरी थीं।

अगस्त १९३० का एक प्रसंग है। उनकी हवेली के फाटक की सफाई तथा ताऊजी की घोड़ी पर खरहरा करने को एक सफाई कर्मचारी आता था- गिरवर। सहज भाव से उसने कहा-''श्रीरामजी, हमें भी अपने यहाँ सत्य नारायण भगवान की कथा करानी है, पर हम अछूतों के यहाँ कोई कैसे आएगा?'' उसकी करुण वाणी पूज्यवर को स्पर्श कर गई। वे बोले- ''कल तुम सब नहा-धोकर तैयार रहना। हम तुम्हारे घर आयेंगे।'' उसे विश्वास नहीं हुआ, पर वे पहुँच गए पोथी, हवन कुण्ड, सामग्री, शंख, झालर व सजावट का सामान लेकर। पूरे टोले के हरिजन एकत्र हो गये थे। पहले हवन हुआ, फिर सत्यनारायण कथा इसके बाद शंखनाद, फिर प्रसाद बाँटा गया। शंखनाद सुनकर गाँव के ब्राह्मण व ठाकुर लट्ठ लेकर हरिजनों के टोले की ओर दौड़ पड़े, पर तब तक श्रीरामजी सारा सामान समेटकर बाजरे के खेतों में होते हुए भाग चुके थे। बाद में घर में अच्छी-खासी डाँट पड़ी। विनम्रतापूर्वक सब सुनकर उन्होंने कह दिया कि उन्होंने तो मात्र हवन किया व कथा पढ़ी, ब्राह्मण का कार्य किया । इसमें गलत क्या है? कोई आखिर समझ कैसे पाता कि एक अवतारी, क्रांतिकारी, समाजसुधारक अगले दिनों सारी जाति, वर्ण, लिंग के व्यक्तियों को एकत्र कर विचारक्रांति के बीज बो रहा है, उसकी भूमिका का यह एक अध्याय भर है।

वस्तुत: छोटे-छोटे बाल्यकाल के घटनाक्रम ही महामानवों की प्रौढ़ावस्था की नींव के पत्थर बनते हैं। उस समय भले ही उन्हें समझा न जा रहा हो, पर समयानुसार कालान्तर में जब बीज परिपक्व होकर उर्वर भूमि पाकर अंकुरित, पल्लिवित, पुष्पित होते हैं तब तक उस वृक्ष को देखकर सभी हर्षोन्मत्त हो उठते हैं। विराट व्यक्तित्वों के साथ काल्पनिक गलत कथानक जोड़ने वालों की कोई कमी नहीं है, पर जो वास्तविक घटनाएँ हैं, वे इतिहास पटल पर स्वर्णिम अक्षरों में अंकित होती हैं, स्मरणीय बन जाती है व जब यह गौरवपूर्ण इतिहास सारी मानव-जाति के समक्ष आता है, तब सब कहते हैं कि हमें तो पहले ही लगता था कि होनहार है महापुरुषों का मूल्यांकन वस्तुत: समय पर व जीवित रहते नहीं हो पाता, बाद में इनकी महत्ता समझ में आती है।

## सत्याग्रही के नाते एक जुझारू योद्धा श्रीराम 'मत्त'

पूज्य गुरुदेव ने अवतारों की परिभाषा तीन प्रकार से की है- संत, सुधारक शहीद। तीनों ही परिभाषाएँ अपने में अनूठी हैं। एक विचित्र समन्वय यह है कि इस निष्कलंक प्रज्ञावतार में इन तीनों ही स्वरूपों का सम्मिश्रण समुचित अनुपात में मिलता है। ''संत हृदय नवनीत समाना'' उक्ति उनके जीवन में सार्थक होती है, जब हम उनके बाल्यकाल व बाद के संस्मरण, इतना बड़ा गायत्री परिवार व उसके अभिभावक के रूप में अपनी अनुभूतियाँ लुटाते उन्हें पाते हैं, सुधारक तो वे जन्म से थे। इसकी चिनगारी तो आँवलखेड़ा में ही दिखाई देती है, जब वे छुआछूत का भेदभाव दूर करने से लेकर, मेहतरानी की सेवा व उनके टोले में पूजा-पाठ करने तक का उपक्रम आरंभ कर देते हैं।

शहीद अर्थात् ऐसी लगन और निष्ठा कि देश, समाज, धर्म और कर्त्तव्य के प्रति अपनी कुर्बानी तक दे देने की ललक। उनके मार्गदर्शक ने उन्हें अपने महा अनुष्ठान में परिस्थितियों के अनुरूप समझौता कर वर्षों में कटौती कर लेने का संकेत कर दिया था। अत: वे उनके आदेश का पालन करते हुए स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। यह युगधर्म था। हजारों स्वयं-सेवकों में एक न भी जाता तो किसी का कोई क्या बिगाड़ लेता, किंतु प्रेरणा औरों को भी तो देनी थी। अत: सत्याग्रही बनने का संकल्प पूरा करने के विचार को अमली स्वरूप दिया व वे घर से भाग खड़े हुए।

जिन परिस्थितियों में वे भागे वे संभवत: औरों के साथ रही होतीं तो न कर पाते। वे अपनी विधवा माँ के इकलौते बेटे थे। शादी हो चुकी थी। माँ चाहती थी कि वे भी पुरोहिताई करें व कुछ पिता की संपत्ति में अभिवृद्धि करें। ऐसे में 'काँग्रेस' रूपी मौत के कुएँ में कूदना आत्मघाती कदम ही माना जाता था। सभी को भय था कि वे कहीं भाग न जाएँ अत: घर पर ताले डाल दिये गये। वे घर से पानी भरा लोटा लेकर शौच के बहाने निकले एवं घर से १७ किलोमीटर दूर आगरा को गाँव की ओर मुँह करके यह देखते हुए कि कोई पीछा तो नहीं कर रहा है चलते रहे जब थोड़ी दूर निकल गए तब आगरा की ओर मुँह करके चलने लगे और २ घंटे में पहुँचे । वहाँ वे अपने मित्र जगन प्रसाद जी रावत, ठाकुर ऊधमसिंह तथा ठाकुर गंगासिंह दद्दू से मिले। चारों तरफ जनसम्पर्क का माहौल बनाया एवं सभाओं में गर्म उत्तेजक भाषण देकर नये स्वयंसेवकों की भर्ती चालू करते हुए सत्याग्रह आन्दोलन को और उग्र बनाया।

सत्याग्रह आंदोलन के अन्तर्गत टेलीफोन के तार काटने से लेकर पुलिस थानों पर छापे मार हमले बोलने तक का कार्य उन्होंने व उनके युवा मित्रों ने किया। अपने

छह-आठ वर्ष के इस जीवनकाल में गुरुदेव का 'योद्धा' वाला वह रूप उभर कर आता है, जिसको हम परिमार्जित प्रौढ़रूप में बाद में पण्डों से संघर्ष करते हुए सहस्रकुण्डी यज्ञ में तथा पूरे समाज में संव्याप्त अनीति से मोर्चा लेते हुए युगनिर्माण के सूत्रधार के रूप में देखते हैं। अगणित चोटें खाई हैं इस आजादी के सिपाही ने जो बिना नाम व यश की आकांक्षा के लड़ा व एक स्वयंसेवक मात्र रहना जिसने पसन्द किया।

अपने जीवनकाल के इस अध्याय पर पूज्य गुरुदेव अपनी आत्मकथा में जो लिखते हैं, वह उनकी लिपि में ही प्रस्तुत है- [illegible]

''देश के लिए क्या किया? कितने कष्ट सहे? सौंपे गये कार्यों को कितनी खूबसूरती से निबाहा, इसकी चर्चा करना यहाँ सर्वथा अप्रासंगिक है। उसे जानने की आवश्यकता प्रतीत होती हो तो वे उत्तर प्रदेश सरकार के सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित आगरा संभाग के स्वतंत्रता सेनानी पुस्तक पढ़ लें। उसमें ढेरों महत्त्वपूर्ण कार्यों के साथ हमारे नाम का उल्लेख अनेक बार हुआ है, पर यहाँ तो केवल यह देखना है कि हमारे हित में मार्गदर्शक ने किस हित को ध्यान में रखा ?''

इस आत्मविवेचना में कितना भोलापन है व यश न लेने की, आत्म-स्तुति न करने की एक ऐसी वृत्ति का दर्शन होता है, जो आज कहीं दिखाई नहीं देती। उन दिनों दो दिन जेल काटने वाले भी आज मंत्री पद की शोभा बढ़ा रहे हैं, जब देश की भूखी जनता दाने-दाने को तरसती रही। तब उन्होंने अपने कोठे भरे, पर निस्पृह लोकसेवी उन दिनों भी थे, इसके साक्षी हैं पूज्य गुरुदेव, जिनने अपनी इस आठ वर्ष की तपस्या का प्रतिदान न सुविधाओं के रूप में लिया और न पद-वैभव के रूप में।

गुरुदेव बताते थे कि इस अवधि में जेल में व जेल से बाहर अनेक प्रकृति के लोगों से मिलना हुआ। इनसे बहुत कुछ सीखने को मिला। जेल में ही लोहे के तसले की पीठ को कागज, कंकड़ को फाउण्टेन पेन व 'लीडर' की एक पुरानी प्रति को पाठ्य पुस्तक बनाकर साथियों से पूछते-पूछते अँग्रेजी सीख ली। उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाओं का अभ्यास जेल में रहते-रहते होता रहा। कई बार जिम्मेदारी के पद सौंपने के आग्रह हुए, पर उन्होंने सदा स्वयंसेवक ही बने रहने का अनुरोध किया। कभी किसी पद की चाह नहीं की।

काँग्रेस उन दिनों गैरकानूनी थी। कलकत्ता में १९३३ में एक बड़ा अधिवेशन होने जा रहा था। देशभर से सत्याग्रही कलकत्ता रवाना होने लगे। सरकार ने बंगाल की सीमा में प्रवेश करने के लिए बड़ी संख्या में हर जिले की सी. आई. डी. लगा रखी थी। वर्द्धवान स्टेशन पर हर डिब्बे की तलाशी लेकर गिरफ्तारियाँ की गयीं। आगरा से चला आखिरी जत्था श्री रावत जी, गोपालनारायण व श्रीराम मत्त का था। तीनों ने कई रेलें बदलीं, पर अन्ततः आसनसोल स्टेशन पर आगरा के ही सब इंस्पेक्टर ने पहचान कर उतार लिया व उसी जेल में बन्द कर दिया, जहाँ अन्य व्यक्तियों का आगमन थोड़ी देर में होना था। ये थे महामना मदनमोहन मालवीय, स्व. जवाहरलाल नेहरू की माता स्वरूपा रानी, गाँधीजी के बड़े पुत्र देवीदास गाँधी, रफी अहमद किदवई, शोभालाल गुप्त, कन्हैयालाल खादीवाला, गोपीनाथ श्रीवास्तव इत्यादि। लगभग दो सप्ताह तक बड़ी रौनक रही। मालवीय जी व माता स्वरूपा रानी सबके साथ सगे बच्चों जैसा व्यवहार करते। जो कुछ मिलता मिल-बाँटकर खाते। शाम को सत्याग्रहियों को कबड्डी खिलाई जाती व फिर उपदेश-परामर्श का क्रम चल पड़ता था।

एक दिन मालवीय जी ने कहा- ''यदि काँग्रेस को लोकप्रिय बनाना है, तो हर घर से एक मुट्ठी अनाज या एक पैसा संग्रह करना चाहिए ताकि जनता यह समझे कि काँग्रेस हमारी है।'' औरों के गले यह परामर्श उतरा कि नहीं किंतु बालक श्रीराम मत्त को यह सूत्र समझ में आ गया। उन्होंने युग निर्माण योजना से लेकर गायत्री परिवार खड़ा करने तक इसी सूत्र को लेकर व्यवहार में उतारा। परिणति स्वरूप मिली अपार जनश्रद्धा व प्रत्येक की घनिष्ट आत्मीयता। करोड़ों की पूँजी से बने इस संगठन की प्रत्येक गतिविधि के मूल में यह अंशदान की मूलवृत्ति आज भी जिन्दा है। इसी से करोड़ों भारतीयों का एक संगठन बना है।

आसनसोल जेल का प्रसंग चल रहा था। वहाँ से सरकार ने सभी को छोड़ दिया व सभी कलकत्ता पहुँचे। अन्य लोग तो मंच की तरफ बढ़ गये, पूज्य गुरुदेव उत्तर प्रदेश के ग्रामीण परिकर से आये सत्याग्रहियों के जत्थे में मिल गये, सबकी कुशल पूछी व उन्हीं के साथ लौट आए। आने के बाद पुनः 'सैनिक' प्रेस में कम्पोजिंग, प्रूफ रीडिंग, सम्पादन का काम सँभाल लिया। कई बार प्रेस पर छापा पड़ता, क्योंकि श्रीकृष्ण दत्त जी पालीवाल इसके मालिक थे व सभी सैनानी उन्हीं के पास रह रहे थे। ऐसे में नियमित रूप से संयत भाषा में सेंसर से बचाते हुए पत्र निकालने का काम एक कुशल स्तर का सम्पादक ही कर सकता था, जिसे पूज्यवर ने बखूबी किया।

इन्हीं दिनों एक क्रांतिकारी काम उन्होंने और किया। गाँधी-इर्विन समझौते के अन्तर्गत एक विषय लगानबन्दी

बालक श्रीराम को महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी द्वारा गायत्री मंत्र की दीक्षा

बालक श्रीराम को सर्वेश्वरानन्दजी द्वारा दर्शन एवं भविष्य का निर्धारण

आततायी पुलिस की लाठियाँ सहीं, पर ध्वज नहीं छोड़ा

गाय के गोबर से निकले जौ की रोटी और छाछ पर चौबीस-चौबीस लाख के चौबीस महापुरश्चरण संपन्न किए

का भी था। आगरा सबसे बड़ा जिला संयुक्त प्रान्त का था। लगानबन्दी सम्बन्धी आँकड़े पन्तजी ने नैनीताल से मँगवाये। पूज्य गुरुदेव ने अकेले गाँवों में घूम-घूम कर किसानों के नाम, रकबा, लगान की रकम आदि की पूरी छान-बीन कर सारे आँकड़े तैयार किए। इतनी विस्तृत, प्रामाणिक जानकारी पंतजी के पास पहुँची तब उन्हें यह मालूम हुआ कि यह काम श्रीराम मत्त नामक एक देहाती स्वयंसेवक का है, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इन्हीं आँकड़ों के आधार पर पूरे प्रान्त के उन सभी देशभक्त किसानों या गाँवों का लगान माफ कर दिया गया जिन्होंने लगानबन्दी का एलान किया था। स्वयं महात्मा गाँधी ने इस कार्य की प्रशंसा करते हुए कार्यकर्त्ताओं से कहा था कि – ''काँग्रेस को कार्यकर्त्ता चाहिए तो इस स्तर का।'' गुरुदेव के जीवनवृत्त का यह १९३६ तक का प्रसंग बड़े उतार-चढ़ावों व संघर्ष भरे घटनाक्रमों से भरा है। इसका वास्तविक मूल्यांकन तब होगा, जब लोग जानेंगे कि एक सर्वोच्च स्तर का धर्मोपदेशक, महर्षि अरविन्द की तरह ऐसा क्रांतिकारी जीवन जीता रहा, जिसकी हमें कोई जानकारी तक नहीं रही।

## पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ( श्रीराम मत्त ) का स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान

सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी, राष्ट्रसंत पं. श्रीराम शर्मा आचार्य उर्फ श्रीराम मत्त (वे राजनीति में इसी नाम से पुकारे जाते थे।) का परिवार क्षेत्र का प्रतिष्ठित पुरोहित-ब्राह्मण परम्परा का था, पर बालक श्रीराम प्रारम्भ से ही इस जातिगत अहंकार से ऊपर थे। इस मामले में वे कबीर से बहुत प्रभावित थे- ''जाति-पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।'' कबीर के प्रति निष्ठास्वरूप उन्होंने बाल्यावस्था में ही अपने गाँव में एक बुनताघर खोला था, जहाँ गाँव के बच्चों को बुलाकर वे उन्हें बुनाई सिखाते थे। हरिजन सेवा और स्वदेशी आन्दोलन दोनों ही उन्हें विरासत में बापू से मिले थे।

सत्याग्रह उनके जीवन में कूट-कूटकर भरा था। घर वाले नहीं चाहते थे कि वे स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लें। कम उम्र में शादी हो गई थी, ससुराल वाले भी असहयोग करते थे। घर वालों ने तो एक तरह से उन पर पहरा बैठा दिया था, पर वे एक दिन पाखाने जाने के बहाने घर से लोटा लेकर निकले और नेकर-बनियान में ही सीधे 'आगरा काँग्रेस स्वयंसेवक भर्ती दफ्तर' में जाकर रुके। उनकी अन्तःप्रेरणा इतनी जबर्दस्त थी कि वे किसी भी प्रतिरोध के सामने कभी झुके नहीं।

आगरा जिले का स्वाधीनता संग्राम यों १८५७ के गदर से ही प्रारम्भ हो गया था, जब आगरा के क्रान्तिकारियों ने अँग्रेजों के महत्त्वपूर्ण फौजी ठिकाने पर आक्रमण करने के लिए ३० कि. मी. लम्बी यात्रा की थी। पाँच जुलाई को भयंकर युद्ध हुआ था। सुचेता नाम का यह गाँव फतेहपुर सीकरी मार्ग पर पड़ता है, जहाँ आज भी खुदाई में मिलने वाली शहीदों की हड्डियाँ इस जिले के गौरवपूर्ण स्वाधीनता संग्राम की याद दिलाती हैं।

१९१९ में रौलट एक्ट आने के साथ ही यहाँ स्वाधीनता संग्राम के नये अध्याय की शुरुआत हुई, जिसे लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, हृदयनाथ कुजरू आदि निरन्तर हवा देकर भड़काते रहे। १९२३-२४ में श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल के आ जाने और सैनिक अखबार का प्रकाशन प्रारम्भ हो जाने के साथ ही यहाँ काँग्रेस संगठित हुई और इस जिले में व्यापक रूप से स्वाधीनता संग्राम प्रारम्भ हुआ। यों पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी के हृदय में आजादी की आग तभी भड़क उठी थी, जब महात्मा गाँधी ने देशव्यापी दौरा किया और विद्यार्थियों से गुलामी की जंजीरें मजबूत करने वाली अँग्रेजी शिक्षापद्धति के प्रति विद्रोह की आग भड़काई। उनकी अपील की सारे देश में व्यापक प्रतिक्रिया हुई। पूज्य आचार्य जी भला उससे अछूते क्यों रहते ? वे तब तक प्राइमरी ही उत्तीर्ण कर सके थे, उन्होंने स्कूली पढ़ाई से मुँह मोड़ लिया। घर पर रहकर ही संस्कृत भाषा, अपने भारतीय आर्षग्रंथ तथा विशेष रूप से महापुरुषों की जीवनियाँ और राजनेताओं की वक्तृताएँ पढ़ने में अभिरुचि लेने लगे। विश्वकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भी किसी स्कूल में शिक्षा नहीं पाई थी, उनका ज्ञान स्व-उपार्जित था। पूज्य आचार्य जी की विद्या भी इसी कोटि की थी। उससे उनके हृदय में स्वाभिमान और स्वाधीनता की आग तीव्र गति से भड़कती चली गई। राजनेताओं के भाषण सुनने के लिए वे दूर- दूर तक जाते। स्वयंसेवक के रूप में भर्ती हो जाने के बाद से तो आगरा ही उनकी गतिविधियों का केन्द्र-बिन्दु हो गया।

### सक्रिय स्वाधीनता संग्राम का श्रीगणेश

श्री पालीवाल जी ने दैनिक सैनिक की स्थापना की। यहीं से पूज्य आचार्य जी के सक्रिय राजनीतिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। उन्होंने प्रेस का कार्य, कम्पोज, प्रूफ रीडिंग और लेखन आदि प्रारम्भ किया। अपना काम इतनी लगन, निष्ठा और कुशलतापूर्वक करते थे कि देखने वालों को भी आश्चर्य होता था। स्वभाव की मृदुलता के कारण वे न केवल दैनिक सैनिक परिवार के परम चहेते बने; अपितु श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी के विशेष कृपापात्र भी बने। लेखन की प्रतिभा उन्होंने बाबू गुलाबराय एम. ए. के लेख पढ़-पढ़कर स्वयं विकसित की।

उनके क्रान्तिकारी गीत न केवल दैनिक सैनिक में छपे; अपितु कानपुर से छपने वाले पत्र 'विद्यार्थी' जिसके सम्पादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी थे, में भी नियमित रूप से प्रकाशित होते थे। श्री विद्यार्थी जी उनको निरन्तर प्रोत्साहित करते रहते थे, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने अपने गीत कलकत्ता से छपने वाले दैनिक विश्वामित्र में

**भी भेजना** प्रारम्भ कर दिया। इन गीतों ने समूचे बंगाल में क्रान्ति की आग भड़काने में अपूर्व योगदान दिया। पीछे तो **'किस्मत'** और 'मस्ताना' जैसी प्रसिद्ध पत्रिकाओं ने भी उनकी रचनाएँ प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया। ये गीत अक्सर काँग्रेस के कार्यक्रमों-अधिवेशनों में भी गाये जाते थे।

उनके इन गीतों ने जहाँ एक ओर स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों का मनोबल बढ़ाया, वहीं क्रान्ति की ज्वाला भी द्रुतगति से भड़काई। ये गीत दैनिक सैनिक में 'मत्त प्रलाप' शीर्षक से नियमित रूप से छपा करते थे, जिन्हें आज भी चिरंजीव पुस्तकालय ने सुरक्षित करके रखा है। १९३५-३६ में छपे कुछ गीत इस प्रकार हैं-

**देख-देखकर बाधाओं को पथिक न घबरा जाना।**
**सब कुछ करना सहन किन्तु मत पीछे पैर हटाना।।**
**माता व्यथित हुई कैसे ? जल आँखों में भर आया।**
**रोती है, जननी यह कैसा संकट जननी तुझ पर आया।।**
**कोई भी हो दुश्मन तेरा निश्चय मिट जावेगा।**
**त्रिंस कोटि हुंकारों से नभमण्डल फट जायेगा।।**
**मलय मरुत हो बन्द, बवंडर के प्रचण्ड झोंके आवें।**
**शान्त हिमालय फटें शिलाएँ उड़ें चूर हो टकरावें।।**
**परिवर्तन निश्चित है, बहिरे सुनें आँख अन्धे खोलें।**
**सोने वाले उठें, सिपाही जागें, सावधान हो लें।।**

उनकी यह पंक्तियाँ बताती हैं कि उनके हृदय में क्रान्ति की कितनी जबर्दस्त आग बचपन से ही जल रही थी। यह एक अबूझ पहेली है कि वे ऊपर से उतने ही विनम्र और सेवाभावी थे। एक बार श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आगरा आये और उन्होंने श्री पालीवाल जी से कहा- मैं काँग्रेस के नेताओं से तो बहुत मिल चुका हूँ, मुझे उन स्वयंसेवकों से भेंट कराओ, जिन पर गाँधीजी की छाप हो। श्री पालीवाल जी उन्हें आचार्य जी के पास ले गये और बोले, "यह बालक सच्चे अर्थों में काँग्रेस का स्वयंसेवक है।" श्री नवीन जी झुककर उनके पैर छूने लगे, जबकि आयु में वे बहुत बड़े थे। संकोचवश आचार्य जी पीछे हटने लगे तो नवीन जी ने कहा- "बेटा! आज देश को तुम जैसे स्वयंसेवकों की ही जरूरत है।" श्री नवीन जी के इस कथन को पूज्य आचार्य जी ने न केवल साबरमती जाकर स्वयं सेवा का भाव पक्का किया, अपितु सारा जीवन ही स्वयंसेवक के रूप में गुजारा। जितना कार्य उन्होंने अकेले किया, उतना कार्य करने वाला व्यक्ति शायद ही कोई और इतिहास में ढूँढ़ने पर मिले। उन्होंने बिना किसी यश की कामना से यदि एकनिष्ठ होकर कार्य न किया होता, तो ३५०० पुस्तकों की संरचना, उनका प्रकाशन-प्रसार, ५-६ पत्रिकाओं का नियमित सम्पादन-प्रकाशन, देश के कोने-कोने की यात्रा, ३००० शक्तिपीठों, १२००० प्रज्ञामण्डलों की स्थापना और १० लाख अखण्ड-ज्योति परिवार का एक विस्तृत संगठन खड़ा न हो पाता।

## परमविश्वस्त स्वयंसेवक

भारत के प्रथम सूचना प्रसारण मंत्री श्री बालकृष्ण केसकर तब आगरा क्षेत्र के काँग्रेस कोषाध्यक्ष थे। उनके पास गाँव-गाँव से एकत्र किया हुआ चन्दा आता था। एक समय ब्रिटिश हुकूमत ने काँग्रेस को गैरकानूनी घोषित कर दिया था, तब बड़ी संख्या में जेल जाने वाले सत्याग्रही भर्ती करने पड़ते थे, उनके घरवालों की आजीविका चलाने के लिए विशेष रूप से बिरला जैसे श्री-सम्पन्नों से बड़ी मात्रा में चन्दा आता था। यह धन गुप्त रखना पड़ता था। जिनके घरों में कुर्की हो जाती थी, उनका पता लगा-लगा कर उन तक आर्थिक सहायता पहुँचानी पड़ती थी। श्री केसकर जी को उस समय एक ऐसे विश्वस्त स्वयंसेवक की आवश्यकता पड़ी, जो न केवल इस कोष की रक्षा कर सके, अपितु समय-कुसमय वापस लौटने पर उनके लिए चाय-भोजन आदि की व्यवस्था कर दिया करे। उन्होंने श्री पालीवाल जी से एक ऐसे स्वयंसेवक की माँग की। श्री पालीवाल जी ने यह कार्य स्वयंसेवक श्रीराम मत्त (पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी) को सौंपा। परमपूज्य आचार्य जी कम उम्र होने के कारण प्रायः संदेह से बच जाते थे, अतएव उन्होंने यह कार्य पूरी तल्लीनता से निभाया। पूज्य गुरुदेव अपने संस्मरण बताते समय उस कार्य को सबसे कठिन कहते थे। आगरा में वकील साहब की भुतही हवेली में उन्हें अकेले रहना पड़ता था। भूमिगत श्री केसकर जी जब कभी आते थे, तभी उनका यह एकाकीपन टूटता था।

प्रदेश के काँग्रेसजन उनके इस जीवट से भली-भाँति परिचित थे। १९५८ में जब वे मथुरा में सहस्र कुण्डी यज्ञ कर रहे थे, तो प्रधानमंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने उस पर रोक लगाने का आदेश दिया। वे दिन खाद्यान्न संकट के थे और श्री नेहरू जी के मस्तिष्क में यह बात थी कि यज्ञों में अन्न जलाया जाता है।

इस बात का पता डॉ० सम्पूर्णानन्दजी को लगा, तो उन्होंने स्वयं हस्तक्षेप किया और श्री नेहरू को पूज्य आचार्य जी का परिचय देकर कहा था- उन जैसा राष्ट्रीय चरित्र का व्यक्ति मिलना दुर्लभ है। उनका कोई भी कार्य संदेहास्पद नहीं हो सकता। श्री नेहरू जी आश्वस्त हुए कि यज्ञ आहुतियाँ काष्ठ औषधियों की दी जाने वाली हैं, सो उन्होंने श्री डॉ० सम्पूर्णानन्द जी के कहने मात्र से यह प्रतिबन्ध वापस ले लिया। उल्लेखनीय है कि मथुरा का यह सहस्रकुण्डी यज्ञ एक ऐतिहासिक आयोजन के रूप में सम्पन्न हुआ, जिसमें उस समय के लोकसभा अध्यक्ष श्री अनंतशयनम् आयंगर सहित अनेक मूर्धन्य राजनेताओं ने भाग लिया। सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध उन्होंने एकाकी मोर्चा अपने इसी असाधारण मनोबल और पुरुषार्थ के सहारे लिया।

## गाँधीजी आगरा आये

अगस्त, १९२९ में महात्मा गाँधी आगरा आये और दो सप्ताह ठहरे। उन्होंने स्थान-स्थान पर वक्तृताएँ देकर

स्वाधीनता की आग भड़काई और लोगों को बड़ी संख्या में लाहौर अधिवेशन में पहुँचने के लिए उत्साहित किया। आचार्य जी लम्बी यात्रा करके लाहौर पहुँचे। उसके बाद से तो कांग्रेस अधिवेशनों में पहुँचना उनका नियमित क्रम बन गया। २१ दिसम्बर, १९२९ को रावी तट पर सम्पन्न कांग्रेस के ऐतिहासिक अधिवेशन में रात १२ बजे पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित हुआ, तो चारों ओर तालियों की गड़गड़ाहट गूँज उठी। श्री जवाहरलाल जी नाच उठे थे। उनके इस अभूतपूर्व देशप्रेम ने आचार्य जी के हृदय में उनके प्रति असीम श्रद्धा पैदा कर दी। वे तब १८ वर्ष के नौजवान थे, उन्होंने जवाहरलालजी की प्रशस्ति में अनेक गीत लिखे, जो अनेक पत्र-पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर छपे।

इसी अधिवेशन में २६ जनवरी, १९३० को पूर्ण स्वराज्य दिवस घोषित किया गया और देश भर में जुलूस, सभाएँ आदि करने का निश्चय किया गया। पूज्य आचार्य जी भी बड़े अरमान लेकर आगरा लौटे।

उस दिन आगरा में भी चुंगी कचहरी के सामने भारी सभा हुई। सारे शहर को तिरंगे झंडों से सजाया गया था। सभा में प्राय: २५ हजार लोग सम्मिलित हुए। श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने झण्डा फहराया। तीसरे पहर जुलूस निकाला गया, जिसका एक छोर फुलट्टी में था, तो दूसरा रावतपाड़ा। यह जुलूस आमसभा में बदला तो वहाँ की उपस्थिति ४० हजार हो गई। वहीं निश्चय किया गया कि इस तरह का आजादी दिवस प्रत्येक गाँव में मनाया जाये। पूज्य आचार्य जी वहीं से चिनगारी लेकर अपने गाँव आँवलखेड़ा पहुँचे। घर-घर सम्पर्क अभियान चलाया और पूर्ण स्वराज्य दिवस में सम्मिलित होने का आग्रह किया। आँवलखेड़ा में जो उत्सव मनाया गया, इसे देखकर तो श्री रावत जी भी उछल पड़े, उन्होंने प्रसन्न होकर युवक मत्त जी को छाती से लगा लिया।

इसके बाद सत्याग्रह ने तूफानी गति पकड़ी । बाग मुजफ्फरखाँ में सत्याग्रह छावनी खोल दी गई, जहाँ दिन-रात सत्याग्रही आने लगे। नगरवासियों ने उनके भोजन आदि की व्यवस्था में कमी नहीं पड़ने दी। यहाँ से दस-दस सत्याग्रहियों के जत्थे नमक बनाने जाने लगे। पूज्य आचार्य जी उनमें जाने का बार-बार अनुनय करते, पर श्री पालीवाल जी ने उन्हें यह कहकर मना कर दिया कि वे (श्री पालीवालजी) गिरफ्तार हो गये, तो सैनिक प्रेस का काम रुक जाएगा। उन दिनों वे इस खूबी से अखबार का काम सँभालते थे कि किसी को भी श्री पालीवाल जी की अनुपस्थिति का बोध भी नहीं होता था। इतने पर भी उन्हें जहाँ भी समय मिलता था, नमक बनाने वाले सत्याग्रहियों में जा मिलते थे। नमक सत्याग्रह आगरा में इस तेजी से बढ़ा कि कभी-कभी तो बाजारों में नमक का पहाड़-सा लग जाता था। उल्लास इतना था कि लोग हाथोंहाथ नमक ले जाते थे। पूज्य आचार्य जी इस सत्याग्रह आन्दोलन को भड़काने में श्री पालीवाल जी के दायें-बायें हाथ बन कर लगे रहे।

## मत्तजी अर्थात देश-प्रेम में मतवाले

आगरा जिले में वहाँ से प्राय: ४० किलोमीटर दूर कस्बा जरार, कांग्रेस सत्याग्रह का मुख्य केन्द्र बन गया। उसे कांग्रेस की छावनी कहा जाता था। तब आगरा के कलेक्टर श्री विलियम्सन थे। गाँव के जमींदार श्री सूरजपाल सिंह अँग्रेजों के बड़े खैरख्वाह थे। उन्हें बुलाकर विलियमसन ने डाँट लगाई और कहा कि यदि कांग्रेस छावनी जरार से हटी नहीं, तो उनकी जमींदारी छीन ली जाएगी और हथियार के लाइसेन्स भी छीन लिए जाएँगे। श्री सूरजपाल सिंह ने अपने गुण्डों को लेकर सत्याग्रहियों को बुरी तरह पीटना, कष्ट देना, महिलाओं को बेइज्जत करना, जेवर लूटना प्रारम्भ किया, पर सत्याग्रही टस से मस नहीं हुए। एक दिन श्रीचंद दोनोरिया को तो इतना पीटा कि वे बेहोश हो गये। उन्हें मरा समझकर छोड़ दिया गया। पीछे कई माह बाद बेहोशी दूर हुई।

इस बीच पूज्य आचार्य जी तथा अन्य सत्याग्रहियों सर्व श्री रामबाबू, टीकाराम पालीवाल (पंजाबी शेर), मूलचंद, रामचन्द्र पालीवाल, अली ठाकुर, मेघसिंह उमरेठा, मुरारीलाल तथा गौतम सिंह आदि ने लगातार संघर्ष जारी रखा। एक दिन तो विलियमसन अपनी पुलिस लेकर चढ़ बैठा, एक ओर सूरजपाल सिंह के गुण्डे, दूसरी ओर पुलिस। सत्याग्रहियों की भयंकर पिटाई हुई। पूज्य आचार्य जी के हाथ में झण्डा था। पुलिस अधिकारियों ने उन्हें इतना पीटा कि वे बेहोश होकर कीचड़ में गिर गये, पर झण्डा नहीं छोड़ा वे उसे मुँह में दबाए रहे । उनकी छाती पर पैर रखकर ही पुलिस झण्डे को निकाल पायी, सो भी फटा हुआ। आचार्य जी रात भर कीचड़ में पड़े रहे। लोगों ने उन्हें मृत समझा। उन्हें डाक्टर के पास ले जाया गया। झण्डे का टुकड़ा अभी तक भी उनके दाँतों में दबा हुआ था। उपचार के पश्चात् जब वे होश में आये, तभी वह टुकड़ा निकाला जा सका।

यहीं से उनका नाम 'मत्तजी' अर्थात् देशप्रेम में मतवाले पड़ा और वे इसी नाम से पुकारे जाते रहे। उपचार करने वाले डाक्टरों को भी तरह-तरह से सताया गया। सत्याग्रहियों पर उलटे मुकदमे चले। आचार्य जी को छह माह की सजा हुई। तमाम अत्याचारों के बावजूद जरार की कांग्रेस छावनी तोड़ी नहीं जा सकी।

पूज्य आचार्य जी जेल से लौटे तब तक प्रेस आर्डिनेंस द्वारा दैनिक सैनिक के प्रकाशन पर रोक लगा दी गई थी। उसके स्थान पर साइक्लोस्टाइल सत्याग्रह समाचार सैनिक सहनाद आदि प्रारम्भ हुआ। उसमें पूज्य आचार्य जी ने बड़ा कार्य किया। प्रशासन ने जगह-जगह छापे डाले, पर किसी को भी गिरफ्तार नहीं किया जा सका। उसके हॉकर्स तक गिरफ्तार हुए, जुर्माने हुए, सजाएँ हुईं, पर समाचार संचार का कार्य सरकार किसी भी तरह रोक नहीं पाई।

अब पूज्य आचार्य जी समर्पित भाव से आन्दोलनों में भाग लेने लगे। श्री मोतीलाल जी नेहरू के आह्वान पर

प्रारम्भ हुए विदेशी वस्त्र और ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार में उन्होंने बढ़-चढ़कर कार्य किया, इस कार्य में आगरा जिला सबसे आगे रहा। नशाखोरी के विरुद्ध पिकेटिंग, चौकीदारों, मुखियाओं से इस्तीफे दिलाने, कालेजों पर धरने, बाल भारत सभा, ग्राम-ग्राम प्रचार और समानान्तर सरकारों की स्थापना तथा किरावली काण्ड में आचार्य जी की भूमिका एक तपे हुए सैनिक की थी। इन आन्दोलनों में सक्रियता के कारण उन्हें ५ अप्रैल, १९३२ को गिरफ्तार किया गया। १९ मई को उन्हें छह माह की कैद और २५ रुपये जुर्माने की सजा सुनाई गई।

## आगरा का लगानबंदी आन्दोलन और पूज्य आचार्यजी

बारदौली से उठाये गये लगानबन्दी आन्दोलनों की लपटें अब तक आगरा पहुँच चुकी थीं। उसके लिए श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी के झाँसी जेल से छूटकर आते ही आगरे में इस आन्दोलन ने तीव्र गति पकड़ ली। उन्होंने इस कार्य के लिए गाँव-गाँव, तहसील स्तर पर सभाएँ कीं और काँग्रेस कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित किया। जमींदारों से अपील की गई कि वे मालगुजारी अदा न करें। आन्दोलन के लिए किरावली तहसील के दो गाँव बरौदा तथा भिलावटी को चुना गया। पूज्य आचार्य जी नवम्बर में जेल से छूटकर आ गये थे। २० दिसम्बर को इस सम्बन्ध में जुलूस और सभाएँ हुईं, उन्हें देखकर ब्रिटिश हुकूमत घबड़ा गई। इन गाँवों में किसी भी प्रकार का जुलूस आदि निकालने पर निषेधाज्ञा लागू कर दी गई तथा श्री कृष्ण दत्त पालीवाल जी, श्री जगनप्रसाद जी रावत तथा श्री द्वारिका प्रसाद के बरौदा जाने पर रोक लगा दी गई।

जब कोई उपाय नहीं सूझ रहा था, तब पूज्य आचार्य जी ने, जिनकी धार्मिक कार्यों में विशेष श्रद्धा थी- यज्ञ को अस्त्र बनाने का सुझाव दिया। धार्मिक कार्य में सरकार प्रतिबन्ध नहीं लगा पाएगी, इस दृष्टि से पूज्य आचार्य जी ने वहाँ विशाल यज्ञ की तैयारी की। २० तारीख की शाम तक भारी संख्या में लोग पहुँच गये, समिधा, सामग्री, प्रसाद के ढेर लग गये। रात में प्रबन्ध देखने श्री रावत जी व पालीवाल जी भी चुपचाप पहुँचे, सारी बातें समझाकर वे गाँव के समीप ही बाजरे के एक खेत में छुप गये, जहाँ दो बालकों की सहायता से उनका इस लगानबन्दी यज्ञ से सम्बन्ध बना रहा। दूर-दूर से लोग यह अभूतपूर्व कार्यक्रम देखने आने लगे। रेलवे ने बरौदा के टिकट देने बन्द कर दिए तो लोग बिना टिकट पहुँचने लगे। पुलिस ने आक्रमण कर दिया। धारा १४४ लगा दी गई। प्रसाद लूट लिया। कुछ खाया, कुछ बिखराया। भारी मारपीट की। कुछ लोगों को पोखरों में फेंक दिया गया, पर न तो भाषण बन्द हुए और न ही लोगों का आना। प्रायः ५०,००० किसान वहाँ पहुँचे। बरौदा टस से मस नहीं हुआ।

भिलावटी में उतनी भीड़ तो नहीं थी, पर वहाँ भी किसानों ने लगान न देने की प्रतिज्ञा की। बरौदा से उठा यह आन्दोलन आगरा जिले में दूर दूर तक तेजी से फैलता चला गया। श्री कृष्णदत्त जी पालीवाल, जगनप्रसाद रावत जी, उलफतसिंह जी, श्री गंगासिंह जी, श्री रणधीर, श्री किताबसिंह, श्री रामचन्द्र पालीवाल (फिरोजाबाद), श्री जमुना प्रसाद (लौकीगढ़ी), श्री मुंशीलाल गोस्वामी ने इस सत्याग्रह यज्ञ में विशेष भूमिका निभाई, पर एत्मादपुर तथा फिरोजाबाद तहसील में जो कार्य श्रीराम मत्त (पूज्य आचार्य जी) ने किया उसकी सारे देश में चर्चा हुई।

पुलिस लगातार प्रमुख नेताओं की पकड़ के लिए भाग-दौड़ करती रही, पर वे कभी गाड़ी, कभी पैदल और कभी ऊँट पर यात्रा करते, रात-रात भर गाँव-गाँव लगानबन्दी के लिए प्रतिज्ञापत्र भरवाते। एक ही रात में यह लोग ८-८, १०-१० गाँवों तक जाते और सूर्योदय से पहले ही आगरा पहुँचकर दिनभर अगले कार्यक्रम की रूपरेखा तय करते और विश्राम कर थकावट उतारते। इसके पश्चात् गिरफ्तारियों का दौर प्रारम्भ हुआ। प्रायः सभी प्रमुख नेता जेलों में डाल दिए गए, पर पूज्य आचार्य जी (श्रीराम मत्त) ने अपना कार्य बन्द नहीं किया।

## सरकार की दमन नीति और सन् ४२ का आन्दोलन

१९३२ से लेकर १९३६ तक सरकार की दमन नीति इतनी उग्र हो गयी थी कि सत्याग्रह आन्दोलन के नरमपंथी नौजवानों में भी हिंसा भड़क उठी। एक ओर सरकार आन्दोलनकारियों पर गोलियाँ बरसाती थी, उन्हें आजीवन कारावास और मौत की सजाएँ दी जा रही थीं, दूसरी ओर नवयुवक भी मार-काट, बम फेंकने, सरकारी प्रतिष्ठान जलाने आदि पर उतारू हो गये थे। आगरा क्षेत्र भला उससे अछूता कैसे रहता। यहाँ हिंसात्मक कार्यवाहियाँ- थानों पर बम फेंकने, बड़े अँग्रेज पदाधिकारियों को गोलियों का निशाना बनाने के साथ बड़े पैमाने पर रेल, डाक-तार व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने जैसे कार्य होने लगे।

आगरा उन दिनों तार व टेलीफोन का समूचे उत्तर भारत का विशिष्ट केन्द्र था। लाइनें काटने और संचार व्यवस्था भंग करने के लिए एक क्रान्तिकारी दल बनाया गया, जिसमें पूज्य आचार्य जी (श्रीराम मत्त) के अतिरिक्त श्री जगनप्रसाद जी रावत, उलफत सिंह, राधेश्याम, कृष्णजीवन दास, भगवान सहाय, गोवर्धन सिंह, सिरोली दद्दू, गंगासिंह, प्यारेलाल व श्याम वर्मा प्रमुख थे, यह सभी गुप्त रूप से कार्य करते थे। श्री जगन प्रसाद रावत जी ने बम्बई की यात्रा की और वहाँ से सुरक्षित तार काटने के अनेक यन्त्र लेकर आये। इनसे तार के खम्भे भी आसानी से काटे जा सकते थे। यह कार्य गुप्त रूप से चलता था और एक स्थान में दो या तीन से अधिक स्वयंसेवक नहीं जाते थे, इसलिए लाख प्रयास करने पर भी पुलिस उन्हें पकड़ नहीं पायी। पूज्य आचार्य जी ने एक

बार अपने साथियों के साथ आगरा-टूंडला स्टेशनों के बीच गाड़ी रोककर फर्स्ट क्लास तथा कई सेकण्ड क्लास डिब्बों में से पहले यात्रियों को नीचे उतार दिया, पीछे उनमें तेल छिड़कर आग लगा दी। इस समूचे कार्यक्रम का उन्होंने जिस तरह संचालन किया, उनकी सूझबूझ और साहस पर सभी सहयोगी मुग्ध थे। कुछ ही क्षणों में सारा कार्य सम्पन्न कर वे कहाँ विलुप्त हो गये, पता भी न चला। पुलिस उनका पीछा करती रह गई।

१९३६ से काँग्रेस में पदाभिकारियों के चुनाव और मंत्रिमण्डल बनाकर स्वराज्य चलाने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। उससे कार्यकर्त्ताओं में पदलिप्सा की भावना आने लगी। पूज्य आचार्य जी तब भी एक स्वयंसेवक के ही रूप में कार्य करते रहे। १९३६ में द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हो गया, तो अँग्रेजों ने उसका लाभ अपने पक्ष में लेना चाहा, अतः काँग्रेस मन्त्रिमण्डल ने इस्तीफा दे दिया। १९४० में काँग्रेस ने अँग्रेजों को द्वितीय विश्वयुद्ध में सहयोग देने के लिए स्वराज्य की शर्त लगायी, पर अँग्रेज निरन्तर कूटनीतिक चाल चलते रहे, अतएव फिर से सत्याग्रह का रास्ता अपनाया गया। इस समय दैनिक 'सैनिक' पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये, तब अनेक नवयुवक छोटे-छोटे घरों में ही प्रेस लगाकर जन-भावनाओं के आधार पर छोटे-छोटे पत्र-पत्रिकाएँ निकालने लगे। पूज्य आचार्य जी ने भी क्रान्तिकारी आन्दोलनों के साथ-साथ 'अखण्ड ज्योति' मासिक पत्रिका का प्रकाशन वसन्त पर्व १९४० से फ्रीगंज आगरा से प्रारम्भ किया, जो अब तक अविराम चलता चला आ रहा है। उस जमाने में उसमें निरंतर क्रान्तिकारी राष्ट्रभक्ति जगाने वाले लेख छपते थे।

## साबरमती के निर्देश अर्थात अध्यात्म-प्रवेश

पूज्य आचार्य जी के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास के बारे में सरकार के द्वारा प्रकाशित पुस्तक में दो बार की जेल यात्रा का विवरण है, पर पूज्य गुरुदेव स्वयं बताया करते थे कि वे तीन बार जेल गये हैं। उनके एक अन्य साथी अखिल भारतीय स्वतंत्रता संग्राम सेनानी संगठन के संयोजक श्री रामसिंह ने अपने एक पत्र में लिखकर बताया कि "मैं ५ अगस्त १९३२ को छत्ता बम काण्ड में बन्दी बनाकर आगरा जिला जेल भेजा गया, तब श्री राम पहले से ही बन्दी के रूप में मौजूद था, इससे इतना तो निश्चित है कि वह १९३२ में जेल गया था और मेरे साथ एक साल तक जेल में रहा। यद्यपि सरकारी रिकार्ड्स में श्रीराम की जेल यात्रा ६ माह बतायी गयी है, किन्तु वह रिकार्ड अधूरा है। लगभग सभी स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों ने कई-कई बार जेल यात्रायें की हैं।"

"श्रीराम शर्मा, श्री कृष्णदत्त पालीवाल के अखबार दैनिक सैनिक में लेखन का कार्य करते थे। यहीं से काँग्रेसी नेताओं के गहरे सम्पर्क में आये थे। श्रीराम शर्मा को बरहन मण्डल काँग्रेस कमेटी का मन्त्री नियुक्त किया गया था, इसलिए वे काँग्रेस के आन्दोलनों में सक्रिय भूमिका निभाते थे। अपने इन्हीं कार्यों के अन्तर्गत वे नमक सत्याग्रह और लगानबन्दी आन्दोलनों में हिस्सा लेने वाले अग्रिम पंक्ति के नेता थे। इन आन्दोलनों के कारण ही उन्हें डेढ़ वर्ष की सजा हुई थी, जिसमें मैं उनके साथ एक ही बैरक में एक साल रहा।"

श्री रावतजी के शब्दों में, एक समय वह आया जब सभी बड़े राजनेता आन्दोलन से थक से रहे थे। कुछ तो अपने निजी धन्धों में लगने वाले थे, तब श्रीराम ही थे, जिन्होंने उन्हें झकझोरा और फिर से संग्राम में लगाया। यह एक विलक्षण बात है कि जिन दिनों वे इस सत्याग्रह में भाग ले रहे थे, उन्हीं दिनों पूँजीवाद, जनसंख्या वृद्धि, शिक्षा प्रसार, कन्याओं के साथ भेद-भाव जैसी सामाजिक कुरीतियों पर भी वे सशक्त लेख लिखते थे, जो दैनिक सैनिक में नियमित रूप से छपते थे। इससे पता चलता है कि वे भविष्यद्रष्टा भी थे और इस देश की सामाजिक कुरीतियों को भी राजनैतिक पराधीनता का मुख्य कारण मानते थे। उनके मन में अध्यात्म के प्रति गहन अभिरुचि थी। सो उन्हें जब भी समय मिला पाण्डिचेरी के आश्रम भी गये और शान्तिनिकेतन की भी यात्रा की। दुर्गम हिमालय की यात्राएँ तो उनके जीवन का एक उदात्त पक्ष है, जिन्होंने उन्हें विश्व क्षितिज पर एक महान आध्यात्मिक पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित किया।

१९४२ का आन्दोलन चरमसीमा पर था, तब उन्होंने कई बार साबरमती की यात्रा की और गाँधीजी के समीप रहकर प्रत्यक्ष सेवा-धर्म की शिक्षा ली। इस समय साबरमती आश्रम में रह रहे श्री दुर्गाशंकर जी द्विवेदी ने बताया कि पूज्य आचार्य जी जब भी आते थे, प्रायः उन्हीं के पास ठहरा करते। महात्मा गाँधी जी उनकी किसान आन्दोलन की उपलब्धियों से परिचित थे, उन्हें इस बात का भी बोध हो गया था कि आज जो काँग्रेस स्वाधीनता की लड़ाई लड़ रही है, वह सत्ता पाते ही मार्ग से विचलित हो सकती है, अतएव वे इस विचार के पक्ष में थे कि स्वराज्य प्राप्ति के साथ ही काँग्रेस अपना लक्ष्य पूरा हुआ मान ले, उसे समाप्त कर दिया जाए और शासन सत्ता तपे हुए मूर्धन्यों को सौंपी जाए। प्रख्यात काँग्रेस-राजनेता श्री महावीर त्यागी ने एक पुस्तक लिखी है- 'मेरी कौन सुनेगा।' इसमें उनके स्वाधीनता संग्राम के संस्मरण हैं। इस पुस्तक का प्रथम संस्मरण बापूजी पर है। उनकी उसमें व्यथा व्यक्त की गई है। अन्तिम दिनों में काँग्रेसी राजनेता स्वयं ही उनकी बातों की उपेक्षा करने लगे थे। सरदार बल्लभ भाई पटेल का पार्लियामेण्ट में बहुमत होने पर भी महामना बापू ने जिन जवाहर लाल नेहरू को देश का प्रधानमंत्री बनाने का मार्ग प्रशस्त किया, ऐसे श्री नेहरू तक उनकी अवज्ञा करते थे। बापू कहते थे, स्वाधीनता तभी परिपुष्ट होगी, जब राजनीति के साथ धर्मतंत्र से लोकशिक्षण का कार्य भी चले। उन्होंने अध्यात्म की शक्ति से ही इतना बड़ा महाभारत लड़ा था, उसी शक्ति को वे सर्वोपरि मानते थे, उसी में सामाजिक हित सन्निहित देखते थे। उन्होंने इस कार्य के लिए पूज्य आचार्य जी को सर्वथा सुयोग्य पात्र के

रूप में देखा। उन्हें इसी क्षेत्र में कार्य करने की प्रेरणा दी। वे उनकी आज्ञा मानकर आगरा से मथुरा चले आये और उन्होंने साबरमती की तरह का आश्रम 'गायत्री तपोभूमि' बनाया और स्वतन्त्र प्रेस लगाकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया, जो अब तक देश की प्रायः आठ भाषाओं में दस लाख की संख्या में प्रतिमाह छपती है। काँग्रेस राजसत्ता की उपलब्धियाँ एक ओर और उनकी धर्मसत्ता की सेवाएँ और उपलब्धियाँ दूसरी ओर, दोनों की तुलना की जाए तो युगपुरुष परमपूज्य गुरुदेव पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य (श्रीराम मत्त) का पलड़ा निश्चित रूप से भारी पड़ेगा। उसका सही मूल्यांकन आने वाला युग ही करेगा।

## ताम्र-पत्र भेंट

वर्ष १९८८ में स्व. प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी ने सभी प्रान्तीय सरकारों से आग्रह किया कि वे पता लगायें किन स्वाधीनता संग्राम सेनानियों को अब तक सम्मानित नहीं किया गया। तब उत्तर प्रदेश सरकार ने भी खोजबीन की और पाया कि एक जाज्वल्यमान सितारे को उन्होंने पहचाना तक नहीं, जिसने यथार्थ में राजसत्ता के लिए नहीं, सच्चे अर्थों में भारत की आजादी के लिए स्वाधीनता संग्राम लड़ा। १५ अगस्त, १९८८ को आई. ए. एस. माननीय श्री हरिश्चन्द्र जी, प्रभारी जिलाधीश सहारनपुर ने स्वयं शान्तिकुंज हरिद्वार पहुँचकर पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को विशिष्ट लोगों की उपस्थिति में ताम्रपत्र भेंट किया। स्वाधीनता संग्राम सेनानी प्रमाणपत्र व पेन्शन के परिपत्र प्रदान किए। पूज्य गुरुदेव ने सबका आभार माना, साथ ही उन्होंने तत्कालीन स्वाधीनता संग्राम सेनानी पेन्शन अनुसचिव श्री अम्बिका प्रसाद मिश्रा जी को पत्र भी लिखा-

"आपकी दौड़-धूप सफल हुई। स्वतन्त्रता सेनानी पेन्शन पत्र आया है। हम दोनों (वे और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती भगवती देवी शर्मा) को रोटी, कपड़ा और मकान की सुविधा यहाँ प्राप्त है। फिर अनुदान लेकर क्या करेंगे? कहीं बाहर हम लोग आते-जाते नहीं, ऐसी दशा में 'पास' आदि की सुविधा भी अनावश्यक है। पेंशन राशि ४०१ रुपये है। इसे आप किसी सरकारी हरिजन सहायता कोष में समर्पित करा दें। यदि ऐसा कोई कानून न हो, तो मुख्यमंत्री राहत कोष में उसे दिला दें।"

शुभाकांक्षी

(-हस्ताक्षर श्रीराम शर्मा आचार्य)

स्वाधीनता संग्राम के इस महायोद्धा का महाप्रयाण २ जून, १९९० को शान्तिकुंज हरिद्वार में हुआ। 'प्रखर प्रज्ञा' के रूप में उनकी समाधि बनाई गई है, जो लाखों लोगों को राष्ट्र के पुनर्निर्माण की प्रेरणा देती रहती है। उनकी प्रथम पुण्यतिथि पर २७ जून, १९९१ को भारत सरकार ने उनके सम्मान में १ रुपये का रंगीन डाक टिकिट प्रसारित किया, जिसका विमोचन तत्कालीन उपराष्ट्रपति महामहिम डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने ताल कटोरा स्टेडियम नई दिल्ली में किया। पहले ही दिन टिकटों की उतनी बिक्री हुई, जितनी महात्मा गाँधी जी के सम्मान में निकाली गई टिकिटों की भी नहीं हुई थी। ये शब्द डाक विभाग के एक उच्च अधिकारी के हैं। उस दिन तत्कालीन भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश माननीय श्री रंगनाथ जी मिश्र तथा तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने जो उद्‌गार व्यक्त किए, वह उनके स्वाधीनता संग्राम में योगदान का हृदयस्पर्शी वर्णन है, जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक 'देशमणि' में किया है। इस कार्यक्रम का वीडियो कैसेट शान्तिकुंज में धरोहर के रूप में उपलब्ध है, वह इस तप-पूत सेनानी की सेवाओं की उत्कृष्ट मिसाल है।

स्वतन्त्रता संग्राम में उनके योगदान की जितनी जानकारी है, कर्तृत्व उससे भी कई गुना अधिक है। अनेक लोगों के पास उनके अनूठे संस्मरण हैं। उन पर पी-एच. डी. कर रहे धूलिया (महाराष्ट्र) के एक शोध छात्र श्री चन्द्रमोहन भावसार ने इस दिशा में बहुत परिश्रम किया है और अनेक अविज्ञात तथ्यों का पता लगाया है, यदि सरकार इस सम्बन्ध में प्रयास करे, तो उनके कर्तृत्व और उपलब्धियों का एक बड़ा भाग प्रकाश में आ सकता है।

# १९३५-३६ में पूज्य गुरुदेव द्वारा रचित क्रांतिकारी काव्य, जो सैनिक पत्र में सतत छपता रहा

### मत्त-प्रलाप

अंधकार कुछ सूझ न पड़ता, होता है हिमपात।<br>
जग की सारी शक्ति लगाए बैठीं तेरी घात॥<br>
इन्द्रवज्र गिरता है ऊपर, लेता सिंधु उफान।<br>
मेरु उड़े जाते हैं, ऐसा आता है तूफान।<br>
नष्ट-भ्रष्ट करने आते हैं, प्रलय मेघ घनघोर।<br>
पर, तेरा तो पथ निश्चित है, बढ़ता जा उस ओर।<br>
देख-देख, इन बाधाओं को, पथिक! न घबरा जाना।<br>
सब कुछ करना सहन, किंतु मत पीछे पैर हटाना॥

—श्रीराम 'मत्त'

* * *

चीर भूमि का पेट, किया श्रम से गेहूँ उत्पन्न।<br>
कहाँ चला जाता है, मेरा कष्ट उपार्जित अन्न?<br>
मैं, मेरे पशु, सुत, जन, दारा, करते हैं उपवास।<br>
कौन हड़प जाता है, मेरी रोटी, मेरे ग्रास?<br>
लकड़ी, अन्न, तेल, घी, सब्जी, दाल, रूई, गुड़, राब।<br>
पैदा करता, फिर भी रहता, इनका मुझे अभाव!!<br>
यह क्या जादू? गोरखधंधा? भूल भुलैया जाल!<br>
श्रम-जीवी भूखा है, बैठा-ठाला मालामाल!!<br>
एक एक के बाद अहो कितनी, अनन्त आपत्ति!<br>
गिरा-गिरा कर लात लगाती जाती कोई शक्ति?

* * *

—श्रीराम 'मत्त'

माता! व्यथित हुई कैसे? जल आँखों में भर आया।
हैं! रोती है। कैसा संकट, जननी तुझ पर आया॥
किधर गया वह नारकीय नर, जिसने तुझे सताया।
इतनी हिम्मत किसने की? था कौन? कहाँ से आया??
कर तेरा अपमान, इसी जगती पर है? जीवित है?
बता कौन है? इन्द्र? वज्र? रवि? वायु? सिंधु? पर्वत है??

कोई भी हो, तेरा दुश्मन, निश्चय मिट जावेगा।
त्रिंस कोटि हुंकारों से नभ मण्डल फट जावेगा॥

–श्रीराम 'मत्त'

❁ ❁ ❁

### किसान

छाती तोड़ महान परिश्रम, तेरे का परिणाम।
झपट, हड़पता रहता है, यह क्रूर विश्व अविराम।
तू भूखा, नंगा रोगी रहता, व्याकुल बेचैन।
पर वह 'ही-ही' हँसता है, लखि तेरे गीले नैन।
तेरे करुणा पूर्ण दुखों से, जाता हृदय पसीज।
पर वह झुँझलाता है, उलटा तुझ पर बरबस खीज।
इस पूँजीमय निर्दय जग का, देख कुटिल व्यवहार।
ज्वालामुखी! न फट जाना। मिट जाएगा संसार॥

ओ, हिमगिर से क्षमाशील, उपकारी सदय किसान।
देख! शान्त रखना अपना दुखपूरित हृदय महान॥

–श्रीराम 'मत्त'

❁ ❁ ❁

### परिवर्तन युग

मलय-मरुत हो बंद, बवंडर के प्रचण्ड झोंके आवें।
शांत हिमालय फटे, शिलाएँ उड़ें चूर हों टकरावें॥
चलता रहे प्रतप्त ग्रीष्म, सागर सूखे 'खल-बल' खौले।
वज्रपात हो, भूमि कम्प हो, सर्वनाश हौले, हौले॥
फट जावे भूतल का पर्दा, उसमें विश्व समा जावे।
लड़ें दिशाएँ, उलटें, रवि, शशि, शून्य शून्य ही रह जावे॥

परिवर्तन युग आवे, बहिरे सुनें, आँख अंधे खोलें।
सोने वाले उठें! सिपाही जागें! सावधान हो लें॥

–श्रीराम 'मत्त'

❁ ❁ ❁

### जवाहर के प्रति

देख दुर्दशा माता की, जल आँखों में भर आया।
सिंहासन पर लात मार कर, भिक्षा-पात्र उठाया॥
छोड़ राजप्रासाद पिता का, घर-घर अलख जगाया।
समझाया ''स्वाधीन बनो'' जो तेरे पथ पर आया।
ओ, इस युग के बुद्ध-तपस्वी, मौन, साधनाकारी।
बंधन से निर्वाण सिखाती, वाणी वीर तुम्हारी॥

हुई एक से एक बड़ी तेरी अनुपम कुर्बानी।
आज और क्या देने आया ओ दधीच से दानी॥

–श्रीराम 'मत्त'

❁ ❁ ❁

# लेखनी द्वारा लोक-शिक्षण का सूत्रपात

सन् १९३८-३९ के दिन भारत और विश्व के इतिहास भरी उथल-पुथल के थे। भारत में स्वतंत्रता संग्राम जोरों पर था। महाकाल कुछ ही वर्षों में आजादी के साथ एक नये सूर्योदय के समीप राष्ट्र को लिए जा रहा था। उधर परोक्ष जगत में एक विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि रची जा रही थी। हिटलर का उदय हो चुका था व उसका अधिनायकवाद पोलैण्ड व फ्रांस को अपनी जकड़ में ले चुका था। भविष्य में क्या होगा? ये संभावनाएँ दिव्यदर्शी आत्माओं को ही दृष्टिगोचर होती थीं। साधारण व्यक्ति भविष्य का पूर्वानुमान कब कर पाते हैं?

पूज्य गुरुदेव इन दिनों 'सैनिक' समाचार पत्र से अवकाश लेकर अपनी तप-साधना में लीन थे। वे इस बीच स्वतंत्रता संग्राम में अपनी भूमिका निभाने के बाद बापू से यह निर्देश ले आए थे कि उन्हें योगीराज अरविन्द एवं महर्षि रमण की तरह आध्यात्मिक शक्ति के सहारे परतंत्रता से मुक्ति पा रहे भारत व युद्ध की पीड़ा भुगत रहे विश्व को प्रचण्ड सामर्थ्य परोक्ष जगत से प्रदान करनी है। यही उनकी मार्गदर्शक सत्ता का निर्देश भी था। इन दिनों जिन्होंने पूज्य गुरुदेव को लेखनी द्वारा संघर्ष कर एक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका निकालने की स्थिति में देखा था, वे एक सामान्य व्यक्ति का संघर्ष मात्र ही समझ पाए थे। वस्तुतः पूज्य गुरुदेव युग-परिवर्तन के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए अपनी लेखनी द्वारा लोक-शिक्षण का, जन-जन का आत्मबल बढ़ाने का, उन्हें तपोनिष्ठ बनाने का शिक्षण आरंभ करना चाहते थे। 'सैनिक' मूलतः एक समाचारपत्र था। उससे वे यह कार्य नहीं कर सकते थे, जो अध्यात्म मंच से संभव था, वह भी तप में लीन एक अवतारी सत्ता द्वारा, जिसका अवतरण ही इसलिए हुआ था कि विचारों में संव्याप्त भ्रांतियों का उन्मूलन कर वह एक नये अभियान का, प्रज्ञा-अभियान का सूत्रपात करें। उन्हें लेखनी के माध्यम से आने वाले युग के लिए संस्कारवान आत्माओं का आह्वान करना था। इसके लिए अपनी व्यवस्था, चाहे वह शुरुआत में छोटी ही हो, बनाना बहुत जरूरी था।

'सैनिक' पत्र छोड़ने के बाद डेढ़ वर्ष का समय उन्होंने स्वाध्याय व अपनी भावी तैयारी हेतु गहन मन्थन में लगाया। इसके लिए उन्होंने कलकत्ता, पटना, वाराणसी, दिल्ली, पूना, मद्रास की विभिन्न पुस्तकालय छान मारे। अध्यात्म तत्त्वज्ञान से लेकर समाज के नव-निर्माण सम्बन्धी आवश्यक संदर्भ और विवरण संकलित कर उन्हें सिलसिलेवार जमाया। इसके बाद शुरुआत दो हजार संस्कारवान आत्माओं से की। इन व्यक्तियों से उनका सम्पर्क या तो प्रत्यक्ष हो चुका था या वे परोक्ष रूप से उनकी रुचि को जानते थे। अपनी दृष्टि से उन्होंने उन्हें परखा कि उनकी मनोभूमि आत्म-निर्माण, आत्म-विकास एवं तदुपरांत युगपरिवर्तन के संस्कारों के बीज बोने योग्य है या नहीं। इन सभी को उन्होंने उनके स्वरूप और स्तर के अनुसार अलग-अलग पत्र लिखे।

कोई कल्पना कर सकता है कि एक अकेला व्यक्ति पत्राचार, स्वाध्याय, लेखन-प्रकाशन की व्यवस्था, कागज का प्रबंध, पत्रिका के लिए रजिस्ट्रेशन की अनुमति आदि की भागदौड़ कैसे कर सकता है? पर यह सब उन्होंने अकेले उस अवधि में किया जब ब्रिटिश प्रशासन का दमनचक्र अपने चरम पर था एवं सभी सामग्री युद्ध के कारण आसानी से नहीं मिल पा रही थी। इस पर भी संकल्प यह कि हम बिना किसी से साधन माँगे, किसी प्रकार की वित्तीय सहायता लिए पत्रिका प्रकाशित करेंगे। जिन्हें पत्रिका या समाचार पत्र निकालने का कटु अनुभव है वे जानते हैं कि प्रतिकूल परिस्थितियों में सब कुछ कर पाना एकाकी व्यक्ति के वश की बात नहीं, पर पूज्य गुरुदेव के संकल्प के साथ गुरु का बल जुड़ा था, महाकाल का आश्वासन साथ में था कि वे किसी से भी बिना किसी सहायता माँगे विचार-क्रांति का माहौल तैयार करेंगे। उन्होंने सब कुछ दाँव पर लगा दिया। कुछ धनपति वित्तीय समूहों ने उनके शुभसंकल्प को सुनकर धनराशि देने की बात कही तो उन्होंने अस्वीकार कर दी। यह उनके ब्राह्मणत्व को एक चुनौती थी कि क्या वे अपने आत्मबल से कुछ कर सकते हैं? यदि हाँ, तो वे शुरुआत कर दिखाएँ।

उन दिनों घर वालों से लेकर, मित्रों-परामर्शदाताओं ने उन्हें यही राय दी कि वे स्वतंत्र पत्रिका निकालने के स्थान पर, अच्छा हो जनरुचि की पुस्तकें लिखें अथवा वापस गाँव जाकर अपने पिता के कथा-पठन-पाठन के काम को सँभाल लें। सभी को इस काम में घाटा ही घाटा नजर आ रहा था, पर महाकाल के वरद् पुत्र के लिए तो यह अभियान एक कर्मसाधना की शुरुआत थी। उन्हें किसी का परामर्श क्या प्रभावित करता। वे तो महाकाल की आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करने के साथ-साथ लोकसंग्रह के लिए भी कर्म कर रहे थे। उनका हर कार्य दिव्यसत्ता की स्फुरणा के साथ मानवीय चेष्टा का कलेवर भी धारण किए रहता था। कर्तृत्व के माध्यम से जो शिक्षण करना था, उसे उन्हें अपने जीवन में भी तो उतारना था। पुरुषार्थ असंभव स्तर का ही सही, कर डालने का निर्णय कर अन्ततः उन्होंने पत्रिका का नामकरण कर उसकी शुरुआत बसंतपंचमी १९४० से विधिवत् कर दी।

नाम चुनने के लिए कोई ऊहापोह नहीं करनी पड़ी। जो अखण्ड-ज्योति उन्होंने पंद्रह वर्ष की आयु में प्रदीप्त की थी, जिसके प्रकाश में उन्हें सूक्ष्म शरीरधारी सत्ता के दर्शन हुए थे, उसी प्रकाशपुंज को लक्ष्य रख उन्होंने पत्रिका का नाम 'अखण्ड-ज्योति' रख दिया। यही तो उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत था। जिस प्रकाश में गायत्री महापुरश्चरण साधना अब तक चली थी व अगले दिनों और प्रचण्ड रूप में चलनी थी, वही इस पत्रिका का नाम बनकर आया व सभी परिजनों को इसका इतिहास बताते हुए उन्होंने दो हजार पते जो छाँटे थे, उन्हें नमूने की एक-एक प्रति भेज दी कि यदि आपको पसंद आये तो आप अन्य पाँच व्यक्तियों को भी इसे पढ़ाएँ। वे भी ग्राहक बनना चाहें तो जब सुविधा हो तब चन्दा भेज दें। मूल्य था प्रत्येक पत्रिका का नौ पैसा, वार्षिक डेढ़ रुपया।

पत्रिका के मुखपृष्ठ पर भगवान कृष्ण सुदर्शन हाथ में लिए युद्ध क्षेत्र में खड़े हैं, यह चित्र था मानो यह परिजनों को आश्वासन था कि आने वाली प्रतिकूलताओं की घड़ी में भी वे महाकाल के संरक्षण में हैं, इसलिए निश्चिन्त रहें। पत्रिका में विभिन्न लेखकों के लेख थे एवं अध्यात्म विधा पर सारगर्भित विवेचना थी। यह थी नवयुग के मत्स्यावतार की शुरुआत, जो बाद में अनेक सोपानों को पार करती हुई इस स्थिति में पहुँची जैसी कि आज है। एक साधक की लेखनी के अनुष्ठान का यह प्रथम पुष्प था।

## 'पाती', जो सबके पास नियमित पहुँचती थी

बड़े-बड़े कार्य मात्र संकल्प बल के सहारे संभव हो पाते हैं। अखण्ड-ज्योति का प्रथम पुष्प प्रकाशित करने का दुस्साहस करने के साथ उन्होंने सबको पत्र लिखने के अलावा एक और काम किया था, सबके पते अपने हाथ से लिखे व डाकघर तक भी उन्हें पहुँचाया। प्रथम अंक में यह भी लिखा है कि 'अगला अंक हम निश्चित तिथि पर ही छपाकर तैयार रख लेंगे और रजिस्ट्रेशन नंबर आते ही पाठकों की सेवा में भेजेंगे। बिना नंबर आए पत्रिका भेजने में तिगुना पोस्टेज लगेगा, इसलिए अगले अंक के लिए पूरी फरवरी प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि फिर भी नंबर न आया तो २८ फरवरी को तिगुना पोस्टेज लगाकर भी 'ज्योति' अवश्य भेज देंगे।' (पृष्ठ ३, जनवरी १९४०)

पाठकगण कल्पना कर सकते हैं कि जिसने पत्नी के गहने व अपना सब कुछ बेचकर छपाने की कहीं किसी तरह व्यवस्था की हो, वह हर पत्रिका पर तिगुना पोस्टेज
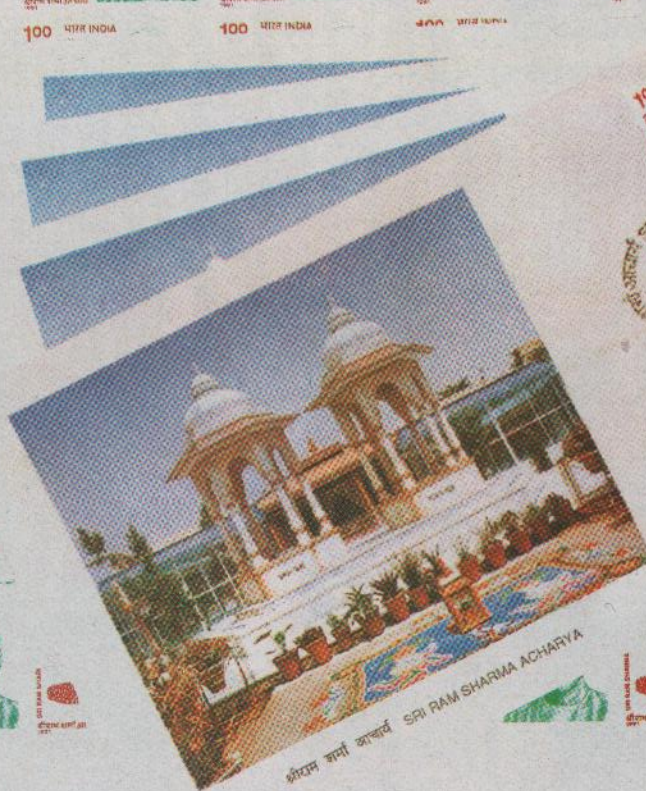
सन् १९९१ में उपराष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा जी ने पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी की स्मृति में
डाक-टिकट का विमोचन किया

ताम्रपत्र द्वारा स्वतंत्रता संग्राम सेनानी आचार्यजी का सम्मान

कीर्तिस्तम्भ, भव्य स्मारक व चिरपुरातन आवास—सदियों तक कहता रहेगा युगपुरुष की कथा गाथा

भी देने को तैयार है, पर पाठकों को 'ज्योति' के प्रकाश से वंचित नहीं रखना चाहता, न ही वह सरकारी तंत्र से कोई समझौता करना चाहता है। यह संकल्प किसी साधारण मानव का नहीं हो सकता। संकल्प, केवल संकल्प वह भी एकाकी संकल्प।

पूज्य गुरुदेव ने उन्हीं दिनों अपने स्वाध्याय के आधार पर अपनी पहली पुस्तक लिखी थी 'मैं क्या हूँ?' यह पुस्तक अखण्ड ज्योति कार्यालय फ्रीगंज आगरा से उसी वर्ष प्रकाशित हुई थी। इस प्रथम चिन्तन नवनीत में उनके वही विचार उभर कर आये हैं, जिन्हें वे व्यवहार के माध्यम से सबके समक्ष प्रकट कर रहे थे। यह था उनकी प्रसुप्त संकल्प शक्ति का जागरण और आत्मदेव की आराधना, जीवन-देवता की साधना के बल पर प्रचण्ड पुरुषार्थ। इस पुस्तक की कुछ पंक्तियाँ देखने योग्य हैं-

"साधारण और स्वाभाविक योग का सारा रहस्य इसमें छिपा है कि आदमी आत्मस्वरूप को जाने, अपने गौरव को पहचाने, अपने अधिकार की तलाश करे और अपने पिता की अतुलित सम्पत्ति पर अपना हक पेश करे। यह राजमार्ग है, सीधा-सच्चा और बिना जोखिम का। यह मोटी बात हर किसी की समझ में आ जानी चाहिए कि अपनी शक्ति और औजारों की, कार्यक्षमता की जानकारी और अज्ञानता, किसी भी कार्य की सफलता, असफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।"

अपना यही संदेश तरह-तरह से, भिन्न-भिन्न अवसरों पर अखण्ड-ज्योति व पुस्तकों के माध्यम से दोहराते हुए वे मनुष्य को ईश्वर का अंश-अविनाशी राजकुमार आत्मा, परम वैभवशाली परमात्मा की विभूतिवान संतान कहकर सम्बोधित करते रहे।

अपनी इस पुस्तक 'मैं क्या हूँ' के अंश उन्होंने अखण्ड-ज्योति पत्रिका के प्रथम वर्ष के अंकों पर स्थान-स्थान पर दिए हैं। इन लेखों में उन्होंने संकल्पशक्ति को मनोबल भी कहा है। इससे आगे प्राणबल और आत्मबल की विवेचना की है। प्राणशक्ति को वे दूसरे मनुष्यों का कायाकल्प कर देने वाली और वातावरण को बदलने में समर्थ बताते हैं तो आत्मबल को पारस से भी ज्यादा क्षमतावान सिद्ध करते हैं। जो लोग पूज्य गुरुदेव के सम्पर्क में आए हैं, वे भली-भाँति जानते हैं कि उन्होंने समय-समय पर तीनों ही सामर्थ्यों का उपयोग कर मनुष्य में छिपे देवत्व को जगाने की, प्रसुप्त को उभारने की चेष्टा की। अखण्ड-ज्योति का शुभारंभ उनकी इन विभिन्न शक्ति रूपों का आरंभिक परिचय ही था।

'मैं क्या हूँ' सद्ज्ञान ग्रन्थमाला का आरंभिक पुष्प था। बाद में इस शृंखला में कई पुस्तकें जुड़ती चली गयीं। यथा-ईश्वर कौन है? कहाँ है? कैसा है?, आगे बढ़ने की तैयारी, मरने के बाद हमारा क्या होता है?, आन्तरिक उल्लास का विकास, सफलता के तीन साधन, योग के नाम पर मायाचार, बिना औषधि के कायाकल्प इत्यादि। ये सभी पुस्तकें तब की ६ आना सीरीज के नाम से प्रख्यात हुई व जहाँ पहुँचीं चमत्कार दिखाती चली गयीं। इन पुस्तकों के अंश समय-समय पर 'अखण्ड-ज्योति' में भी छपते थे। 'अखण्ड-ज्योति' के प्रथम पृष्ठ से अंत तक सारी सामग्री पूज्य गुरुदेव की लिखी होती थी, पर लोकरुचि को देखते हुए वे लेखकों के कल्पित नाम भी दे दिया करते थे। कभी-कभी ये नाम वास्तविक भी होते, पर उस व्यक्ति की पूर्वानुमति से वे अपने ही चिन्तन को अखण्ड-ज्योति के प्रथम कुछ वर्षों मे विभिन्न लेखकों के नाम देते हुए देते रहे। जब बाद में पत्रिका ने अपनी जड़ें गहराई से जमा लीं तो उन्होंने नाम देने का क्रम बन्द कर दिया, पर यह सिलसिला पंद्रह वर्ष तक चला। कई बार अन्य सहयोगियों, अपने अनुयाइयों को श्रेय देने के लिए उन्होंने उनके नाम दिए।

लेखों को पढ़ने के बाद लगता है, मानो पाठकों को निजी तौर पर सम्बोधित करते हुए ये लिखे गये हैं। एक नमूना अगस्त १९४० की पत्रिका से उद्धृत है- "हमारा विश्वास है कि अखण्ड-ज्योति के पाठक कुछ न कुछ भजन-पूजा, साधना, अनुष्ठान करते होंगे। वे जैसा भी कुछ अपने विश्वास के कारण करते हों करें। परंतु एक साधना को करने के लिए हम उन्हें अनुरोधपूर्वक प्रेरित करेंगे कि वह दिन-रात में से कोई भी पंद्रह मिनट का समय निकालें और एकान्त में शान्तिपूर्वक सोचें कि वे क्या हैं? वे सोचें कि क्या वे उस कर्त्तव्य को पूरा कर रहे हैं, जो मनुष्य होने के नाते उन्हें सौंपा गया था । मन से कहिए कि वह निर्भीक सत्यवक्ता की तरह आपके अवगुण साफ-साफ बताए।" यह शैली ऐसी लगती है जैसे किसी को व्यक्तिगत पत्र लिखा जा रहा हो। हर पाठक इन्हें पढ़ने के बाद ऐसा अकुलाता था कि उनके संपर्क में आने के बाद यह संपर्क निरन्तर बनाये ही रहे। इसे लेखनी का चमत्कार कहें या उनकी प्राणशक्ति का। अखण्ड-ज्योति का प्रभाव इतना जबरदस्त था कि परिजन जरूरी चिट्ठी की तरह हर माह इसकी प्रतीक्षा करते थे।

प्रारंभ के तेरह अंक गुरुदेव ने आगरा से प्रकाशित कर अपनी सत्ता के संकेतों पर श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मथुरा को अपना निवास-स्थान बनाया। प्रकाशन की सारी व्यवस्थाएँ नये सिरे से बनाई, पर पत्रिका की छपाई व डिस्पैच में एक दिन की भी नागा नहीं होने दी। प्रारम्भ के कुछ अंकों में आत्मविकास, शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी विज्ञापन भी दिए गए परंतु बाद में उन्होंने पाठकों को लिखा कि- "धार्मिक और आध्यात्मिक सामग्री प्रस्तुत करने वाली पत्रिका में विज्ञापनों का कोई औचित्य नहीं। कोई इतर विषय इसमें शोभा नहीं देता। अतः हम घाटा उठाकर भी पत्रिका बराबर भेजते रहेंगे व अधिक से अधिक ठोस सामग्री भी।"

यह प्रामाणिकता ही उस अखण्ड-ज्योति का प्राण है जो आज तक अगणित व्यक्तियों में प्राणसंचार करती आयी है। गुरुदेव "स्नेह से सनी एक सोने की लौ" अपने पास रखते थे, जिसे ज्योति के रूप में अपने प्रियजनों तक

हर माह एक पाती की तरह पहुँचा देते थे। इसी ने उन सभी को उनका अपना बनाया।

## खिलौने बाँटने के लिए भी चली थीं लेखनी

''अखण्ड ज्योति के प्रथम अंक को देखकर कई पाठकों ने शिकायत के पत्र भेजे कि उसमें सम्मोहन, तंत्र, संतानोत्पत्ति और योग आदि क्रियाओं का बहुत थोड़ा बयान है। अपने इन स्नेहीबंधुओं से हमें एक प्रार्थना करनी है कि जल्दी न करें। धीरे-धीरे और थोड़ा-थोड़ा ही वे ग्रहण करके मनन करते जाएँ और उसे अभ्यास में लाते जाएँ। एक साथ उच्च कक्षा की चर्चा आरंभ कर देना अनुचित और निष्फल होगा।'' अखण्ड-ज्योति के फरवरी, १९४० अंक में तीसरे पृष्ठ पर यह पंक्तियाँ छपी हैं। माह भर पहले प्रकाशित अखण्ड-ज्योति के प्रवेशांक में सम्मोहन विद्या, निद्राविज्ञान, स्वरयोग, शारीरिक लक्षणों से मनुष्य की पहचान जैसे चार विषयों पर लेख प्रकाशित हुए थे, इन्हीं की प्रतिक्रिया ऊपर व्यक्त की गयी थी।

आज के परिजन जो पिछले चार दशक से पूज्य गुरुदेव के सम्पर्क में आने के बाद उनके प्रगतिशील विचारों को पढ़ते आ रहे हैं, उनको ये पंक्तियाँ असमंजस में डाल सकती हैं। उन्हें लग सकता है कि जिन विषयों एवं मान्यताओं को स्वयं पूज्य गुरुदेव ने अंध-विश्वास व मूढ़तायुक्त कहा है, वे इस पत्रिका के आरंभ में मेस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म, शकुनशास्त्र, संतानोत्पत्ति आदि के रूप में छपे व पाठकों को गुरुदेव ने आश्वासन दिया कि वे क्रमश: इन विषयों को छूते व उन तक सारगर्भित रूप में पहुँचाते रहेंगे, क्या पूज्य गुरुदेव प्रचलित अंध-विश्वासों का समर्थन कर रहे थे? यह दुविधा किसी भी विचार-क्रांति के पथिक पाठक के मन में आ सकती है।

वस्तुत: यह उनका वह रूप था जिसमें उन्होंने पाठक मनोविज्ञान को पढ़ने का प्रयास किया था। देखा कि आत्मज्ञान की घुट्टी कडुवी है व इसे सुगर कोटेड गोली के रूप में देना है तो जिज्ञासा को जिन्दा बनाये रखकर धीरे-धीरे इन सभी विषयों के प्रति आकर्षण को प्रगतिशील मोड़ देना होगा। यही विचार-परिवर्तन है, ब्रेनवाशिंग है वस्तुत: यह बड़ी धीमी प्रक्रिया होती है।

उन्होंने आश्वासन ही नहीं दिया, पुस्तकें भी छह आना सीरीज में इन ऑकल्ट विषयों पर लिखीं जिन के शीर्षक पाठकों को देखकर आश्चर्य हो सकता है। सम्मोहन विद्या, जीव-जन्तुओं की मूक भाषा, आकृति देखकर मनुष्यों की पहचान, परकाया प्रवेश, वशीकरण की सच्ची सिद्धि, मनचाही सन्तान, भोग में योग, हस्तरेखा विज्ञान इत्यादि। यह नामावली अपूर्ण है। लगभग साठ पृष्ठों की इन विभिन्न पुस्तकों में इन विधाओं का जो स्पष्टीकरण अध्यात्म तत्वज्ञान को आधार बनाकर किया गया है, वह लेखनशैली का अध्ययन करने वाले किसी भी हिन्दी प्रेमी के लिए शोध का विषय हो सकता है।

यह कल्पना तक नहीं की जा सकती कि वशीकरण, मनचाही सन्तान, सम्मोहन जैसे विषयों को आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, शरीररक्षापरक जामा पहनाया गया होगा। परन्तु शीर्षक को आकर्षक देखकर पुस्तक को एक बार आदि से अन्त तक पढ़ने वाला पाठक अपने चिन्तन को आमूलचूल परिष्कृत करके ही उठता है। इस जाल में कई विचारशील, तथाकथित प्रगतिशील पाठक भी आ गए एवं सभी पूज्य गुरुदेव की पत्रिका के पाठक बनते चले गए क्योंकि कभी कल्पना भी नहीं थी कि एक दिग्भ्रान्त करने वाले विषय पर तत्त्वदर्शन की सारगर्भित पुस्तक भी लिखी जा सकती है। इन पुस्तकों के ढेरों संस्करण छपे व हाथों हाथ बिक गए। 'मैं क्या हूँ?' जैसे आत्मोपनिषद से शुरुआत करने वाले मनीषी को भी पाठक रुचि को देखते हुए उन दिनों झुनझुना बाँटकर ललचाने वाली विधि का उपयोग करना पड़ा था।

लेकिन वे अपने संकल्प से कभी भी डिगे नहीं। उन्होंने इन विषयों का प्रतिपादन या पुष्टि न अपनी पत्रिका में की, न ही इन पुस्तकों में। १९४० की ही एक अखण्ड ज्योति में वे लिखते हैं कि ''इस पत्र में तंत्र शास्त्र मेस्मेरिज्म, प्रेतवाद, मनोविज्ञान आदि की चर्चा करने में कुछ विलक्षणता और अटपटापन देखकर किसी को न तो भ्रम में पड़ना चाहिए, न ही आश्चर्य करना चाहिए। यह सब मनोविज्ञान और अध्यात्म विद्या द्वारा सामयिक रोगों की चिकित्सा विधि मात्र है। यह रोते हुए बच्चों को खिलौने देना है।''

भली-भाँति समझा जा सकता है कि इन प्रतिपादनों द्वारा वे क्या कर रहे थे। धीरे-धीरे क्रमिक गति से वे इन विषयों पर छाये भ्रान्तियों के कुहासे को मिटा रहे थे। सही राह पर लाने के लिए श्रद्धासिक्त मनोभूमि वाले व्यक्तियों को वेदान्तदर्शन का एक झटका देने की बजाय यह मनोवैज्ञानिक चिकित्सा वाली तकनीक ज्यादा सही थी। यदि वे उन दिनों अध्यात्म के सही किन्तु अप्रचलित स्वरूप को लोगों के समक्ष सीधे रखते तो शायद वे निराश होकर पढ़ना बन्द कर देते, किन्तु जिस विषय को उन्होंने रहस्य-रोमांच के घेरे में बन्द कर रखा था, उसका स्पष्टीकरण जब उन्हें मिलता चला गया तो वे क्रमश: उनके होते चले गए।

एक दो पुस्तकों से समझ में आ जाएगा कि वह शैली स्वयं में निराली भी थी कि नहीं। 'मनचाही सन्तान' में वे मनोनिग्रह, कुदृष्टि पर नियंत्रण तथा इन्द्रिय-संयम का ही प्रभाव बताते हैं कि मनचाही सन्तान उत्पन्न नहीं की जाती, उसमें सुसंस्कारों का प्रवेश कर उसे सुयोग्य बनाया जा सकता है। गृहस्थ को एक तपोवन बताते हुए वे सन्तानोत्पादन के इच्छुकों को भी तप का अणुव्रत समझाते हैं। 'सम्मोहन-विद्या' एवं 'आकृति देखकर मनुष्य की पहचान' जैसी पुस्तकें आज की जन-सम्पर्क कला व लोक-व्यवहार विधा के विशेषज्ञों के लिए दिशा-निर्देशन का काम

दे सकती है। दूसरों को कैसे पढ़ा जाय व कैसे उन्हें अपने सद्विचारों तथा सही प्रभामण्डल द्वारा अपना बनाया जाए, यही व्याख्या इन में है। क्या अब भी कोई शीर्षक देखकर किसी प्रकार का दोषारोपण लेखनी शिल्प के इस कलाकार पर, महामनीषी पर करेंगे? संभवत: नहीं । प्रस्तुत पुस्तकों को इसीलिए नये सिरे से प्रकाशित कर परिजनों के समक्ष श्रद्धांजलि समारोह के समय प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि वे १९४० से उद्भूत चिन्तन का अब भी लाभ उठा सकें।

**तुलसी मीठे वचन ते सुख उपजत चहुँ ओर।**
**वशीकरण एक मंत्र है, तज दे वचन कठोर।।**

तुलसीदास जी की इन पंक्तियों की ही व्याख्या वशीकरण पुस्तक में की हो, तो पढ़ने के बाद ही व्यक्ति को लगेगा कि वशीकरण तो उसकी मीठी वाणी व सद्व्यवहार में ही निहित है। सभी पुस्तकें इसी प्रकार की हैं व इन सबने क्रांतिकारी चिन्तन का नवनीत भावुक जनमानस के समक्ष रखा। उन दिनों रहस्य विद्या का जाल पूरे भारत व विश्व-मानस पर छाया था। उसका रहस्योद्घाटन कर उन्होंने सत्य का दिग्दर्शन कराया।

## सिद्धान्त और साधना को शब्द मिले

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका में प्रारंभिक वर्ष में अन्दर के टाइटिल पृष्ठ पर दो पंक्तियाँ निकलती थीं।

**सुधा बीज बोने से पहिले, कालकूट पीना होगा।**
**पहिन मौत का मुकुट, विश्वहित मानव को जीना होगा।**

ये मात्र पंक्तियाँ नहीं, बल्कि सूत्रसंचालक की संकल्प शक्ति की परिचायक सूक्ति है, जो बताती है कि वे किस लक्ष्य को लेकर लेखन क्षेत्र में कूदे थे। सच तो यह है कि श्रद्धासिक्त भाव क्षेत्र में अमृत बीज बोने के लिए वे आए थे, किन्तु इसके लिए अनिवार्य सावधानियाँ भी बताते हैं कि शिव की तरह (मूढ़-मान्यताओं, अंधविश्वासों, प्रतिगामी विचारधाराओं का) विषपान उन्हें व उनके पाठकों को करना होगा। विश्व- हितार्थाय जीने के लिए सिर पर मौत का मुकुट पहन कर, खतरा उठाकर भी चलना होगा। यह अध्यात्म क्षेत्र में उतरने वालों के लिए एक चेतावनी भी थी व दुस्साहसी साधकों को आमंत्रण भी। गुरुदेव कहते थे- ''मिट्टी का है देह-दीप जलना मेरा इतिहास है।'' यह उनकी ही लिखी उन दिनों की कविताओं की एक पंक्ति है। कितना प्रचण्ड आत्मबल सम्पन्न रहा होगा, यह व्यक्ति जो प्रचलनों के विपरीत चलने का साहस स्वयं ही नहीं कर रहा था, अपनी नाव पर औरों को भी बैठने का आमंत्रण सतत दे रहा था।

अगले ही वर्ष जब वे आगरा से मथुरा चले आए तो कागज के अभाव में हाथ से बने कागज व हैण्डप्रेस से स्वयं छापकर पत्रिका जन-जन तक पहुँचानी आरम्भ की, साथ ही अपनी वे प्रथम पंक्तियाँ इस प्रकार कर दीं-

**''सन्देश नहीं मैं स्वर्गलोक का लाई।**
**इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आई।।''**

'अखण्ड ज्योति' के आह्वान को इस रूप में बदलने का क्या मर्म हो सकता है? यह गहन विश्लेषण का विषय है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि देवत्व से अभिपूरित विचार जो इस पत्रिका द्वारा जन-जन तक पहुँचते थे, वे धरती पर स्वर्ग जैसी परिस्थिति का ही निर्माण कर रहे थे। पाठकों को न केवल आन्तरिक उल्लास की अनुभूति होती थी, वरन् वे औरों से चर्चा कर उसका विस्तार ही करते थे। संभवत: पहले निमंत्रण को बड़ा चुनौती भरा मानकर विश्वयुद्ध की विभीषिका का हल समीप आते देख उन्होंने पहले ही इसकी भविष्यवाणी कर दी थी कि नवयुग का आगमन सन्निकट है, जिसमें सब की मन:स्थिति बदली हुई होगी व परिस्थितियाँ भी स्वयं तब बदल जाएँगी। आगे वर्षों तक यही आह्वान पत्रिका पर आता रहा।

प्रगति यात्रा चल रही थी। क्रमश: परिजनों का समुदाय एकत्र होता जा रहा था। फरवरी १९४७ के अंक में उन्होंने लिखा कि साधु-बाबाओं, तांत्रिकों, मांत्रिकों और चमत्कारी फकीरों की पोल खोलने का समय अब समीप आ गया है। नोट दूने करने वाले, ताँबे से सोना बनाने वाले, मन की बात जानकर आशीर्वाद देकर मालामाल कर देने वाले धूर्त आज भी अपना उल्लू सीधा करते देखे जाते हैं। लोग उन के हाथों लुटकर शर्म के कारण या उनके चंगुल में फँसे रहने के कारण सही बात नहीं बताते। इन सबकी पोल खोलते हुए इस विशेषांक में उन्होंने सबको सतर्क किया था कि यह अध्यात्म नहीं है। इस प्रवृत्ति से सतर्क रहें व औरों को भी सावधान करें।

अपनी पत्रिका में उन्होंने लिखा कि- ''पूरे भारतवर्ष की यात्रा करने के बाद खरे और खोटे का अन्तर हमारी समझ में आ गया है। उचित यही है कि धूर्त लोग जिन हथकण्डों को अपनाते हैं, उनका रहस्योद्घाटन सार्वजनिक रूप से कर दिया जाए ताकि सर्वसाधारण ठगी के इस जंजाल से बचे। एक-दो व्यक्तियों को बताने से तो वे संभवत: इसकी आड़ में धन्धा कर सकते थे, पर सार्वजनिक रूप से बताने पर ऐसा नहीं होगा।' इन्हीं दिनों 'योग के नाम पर मायाचार' नामक पुस्तक उन्होंने प्रकाशित की। सद्ज्ञान ग्रन्थमाला के इस सड़सठवें पुष्प के १९४८ में प्रकाशित होने के साथ ही 'जादूगरी या छल,' 'जीवन की गूढ़ गुत्थियों पर तांत्रिक प्रकाश', 'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद', 'गायत्री की दिव्य सिद्धियाँ' 'श्री समृद्धि-शक्ति के अनुदान' 'गायत्री ही कामधेनु है' जैसी पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। स्पष्ट था कि सिद्धि-चमत्कारों को लेकर आमतौर पर लोगों के मन-मस्तिष्क में बैठी दुर्बलता को मिटाने व उसके स्थान पर अध्यात्म के सशक्त पक्ष को उभारने में लगे थे। गायत्री का तत्त्वज्ञान लिखने के पहले उन्होंने उस कूड़े की सफाई की, जो मन-मस्तिष्क में संव्याप्त था।

अध्यात्मदर्शन पर आधारित इस पत्रिका में मात्र आत्मा, परमात्मा, परलोक, पुनर्जन्म का ही विवेचन नहीं था, अपितु उन्होंने शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवार-निर्माण, मनोविज्ञान, राजनीति, समाजशास्त्र सभी को अध्यात्म के घेरे में लेकर

उसकी ऐसी सटीक व्याख्या प्रस्तुत करना आरंभ कर दी थी कि वह सुग्राह्यशैली सहज ही सबके गले उतरती चली गई। वर्ष में एक पूरा अंक मनोविज्ञान को समर्पित रहता था जिसमें मनोवैज्ञानिक विधियों द्वारा व्यक्तित्व विकास के रहस्य समझाए गए थे। स्वास्थ्य विशेषांक में आहार-विहार के संयम से लेकर रोगों का घरेलू उपचार, जीवनी-शक्ति संवर्द्धन सब शामिल था। शिक्षा और परिवार-निर्माण को भी गहराई तक प्रवेश कर अध्यात्म की परिधि में समझाया गया। जिन दिनों 'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद' शब्द लेखकों की लेखनी के नीचे आया भी नहीं था, उन दिनों वे योग साधना के वैज्ञानिक पक्ष को उद्घाटित करते हुए ६४ पृष्ठ की एक किताब सन् १९४६ में ही प्रकाशित कर चुके थे। आज तो परिजन उसका बड़ा परिवर्द्धित स्वरूप पढ़ते व पाते हैं किन्तु उस जमाने के हिसाब से वह प्रस्तुतीकरण अनूठा था।

अपने अंग-अवयव बने परिजनों को परिमार्जित करने के उनके प्रयास क्रमशः उत्तरोत्तर सघन होते चले गए। अध्यात्म साधना के प्राथमिक पाठों में आत्मशुद्धि व पात्रता-संवर्द्धन की महत्ता समझाने के बाद उन्होंने भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रतीकों का मर्म समझाना आरम्भ किया। इस क्रम में शिखा और सूत्र की उपयोगिता, उन्हें धारण करने का विनम्र अनुरोध, उनका वैज्ञानिक आधार, गंगा-गौ गायत्री-गुरु गीता का महत्त्व, स्वस्तिक, तुलसी, प्रतिमा, देवालय, तीर्थ, पर्व-संस्कार आदि सभी पक्षों पर महत्त्वपूर्ण विवेचन करते हुए शिक्षण संस्कार की प्रक्रिया चलाई।

अपनी इस पत्राचार साधना में वे क्रमशः आगे के पाठ, नया परामर्श, पहले बताई गई दिशाधारा से आगे का निर्देशन ऐसे करते चले गए जैसे वे स्वयं सामने बैठकर समझा रहे हों। पत्रकारिता की इस पत्राचार विधा को अनूठा, अभूतपूर्व ही कहा जाए, क्योंकि यह साधना जैसे गूढ़तत्त्व पर आधारित थी।

दस वर्ष बाद ही पूज्य गुरुदेव ने 'गायत्री चर्चा' शीर्षक से एक अलग स्तम्भ शुरू कर दिया था, जिसमें सामान्य गायत्री उपासना, संध्यावन्दन के उपचार, गायत्री जप की विधि, भावनाओं के परिष्कार-परिमार्जन को प्राथमिकता जैसे विषयों से शुरुआत की। क्रमशः उच्चस्तर की ओर प्रेरित करते हुए गुरुदेव ने गायत्री के पाँच मुखों की प्रेरणा स्वरूप पाँच कोषों की साधना, तीन शरीरों के परिष्कार-उन्नयन की साधना, सावित्री तथा कुण्डलिनी साधना और आत्मा-परमात्मा के मेल-मिलन की साधना की विभिन्न दिशाओं में परिजनों को अग्रसर कर दिया। अब यह आश्चर्य का ही विषय है कि एक ही पत्रिका में सभी परिजनों को उनकी मनःस्थिति, प्रकृति, रुचि के अनुरूप साधना की सामग्री भी मिली और प्रेरणा भी। जो जिस पथ पर अग्रसर हो गया, उसे वही मार्ग प्रकाशित होता दिखाई देने लगा। सामान्य-सी शैली में सामान्य ढंग से कोई बात कहकर हजारों भिन्न प्रकृति के व्यक्तियों का समाधान करने की क्षमता अलौकिक और दिव्य ही कही जाएगी।

'गायत्री चर्चा' के पत्रों पर प्रेरणा देते हुए उन्होंने गायत्री महाशक्ति का जो तत्वज्ञान अपनी पत्रिका के पृष्ठों पर दिया था, उसे क्रमबद्ध कर उन्होंने 'गायत्री महाविज्ञान' पाठकों के समक्ष रखा। इसके पहले पाँच खण्ड लिखे गए फिर इसे परिवर्द्धित कर तीन खण्डों में प्रकाशित किया गया। गायत्री महाविद्या के ऊपर एक प्रामाणिक ग्रन्थ विश्व-कोष यदि आज विश्व में कहीं है तो इस महाविज्ञान के रूप में विद्यमान है। इसके पूज्य गुरुदेव के महाप्रयाण तक २९ संस्करण निकल चुके थे एवं अँग्रेजी अनुवाद के भी, जो पिछले वर्ष ही छपा था, दो संस्करण पाठकों तक पहुँच चुके हैं। यह एक अमूल्य निधि के रूप में पाठक समुदाय में पहुँचा, क्योंकि अब तक आद्यशक्ति के सिद्धान्त एवं व्यवहार, साधना एवं तत्त्वज्ञान का समन्वित रूप कहीं देखने को नहीं मिला था।

महाविज्ञान के सृजन के साथ-साथ ही पचासवें दशक के अंत में गुरुदेव संगठन पक्ष की नींव रखना प्रारंभ कर चुके थे। अतः उन्होंने सामूहिक साधना पर विशेष ध्यान देने की चर्चा अपने विशेष स्तम्भ में करना आरंभ कर दी थी। अब तक उनकी स्वयं की कोई प्रशिक्षणस्थली भी मथुरा में नहीं थी, जिसमें वे आगन्तुक जिज्ञासुओं को ठहराते एवं संगठन की महत्ता समझाते, उनकी शंकाओं का समाधान करते अथवा परामर्श द्वारा प्रेरणा देते। जो भी परिजन आते वे घीयामण्डी मथुरा वाले घर में ही मिलने आते थे। स्थान छोटा था पर हर व्यक्ति उनका आतिथ्य पाकर जाता। न्यूनतम में अपना निर्वाह कर वे औरों का आतिथ्य कैसे कर पाते होंगे एवं साथ ही अपनी साधना का क्रम भी निर्बाध गति से चला कर पत्र-परामर्श एवं सम्पादन कार्य भी करते रहे, यह एक रहस्यमय प्रसंग है। जो भी उनके पास आया, वह उनके एवं वन्दनीय माताजी के भाव भरे सत्कार एवं सत्परामर्श से निहाल होकर, उनका होकर गया।

अब वे आगन्तुकों की बढ़ती संख्या देखकर एक ऐसा सुसंस्कारित स्थान ढूँढ रहे थे जहाँ वे अपने लम्बे महापुरश्चरण की पूर्णाहुति कर सकें, साथ ही सुनियोजित सामूहिक साधना व शिक्षणक्रम भी चला सकें। यहीं से गायत्री तपोभूमि का शुभारम्भ माना जाना चाहिए। यह एक महज संयोग ही नहीं है कि जिस वर्ष गायत्री महाविज्ञान खण्डों में लिखा गया उसी वर्ष देश को स्वतंत्रता मिली एवं जब देश गणतंत्र बनने के बाद प्रथम अखिल भारतीय चुनाव प्रक्रिया की ओर बढ़ा, तभी गायत्री तपोभूमि की भी स्थापना हुई बल्कि यह तो इस दिव्य सत्ता की पूर्व निर्धारित योजना ही थी।

## चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति एवं तपोभूमि की स्थापना

साधना की सफलता का मूल तो साधक की अटूट निष्ठा एवं आत्मशोधन है, किन्तु एक पक्ष जो बड़ी महत्त्वपूर्ण

भूमिका निभाता है, वह है सुसंस्कारित साधनास्थली में साधना करने की सुविधा उपलब्ध होना। जहाँ यह उपलब्ध हो जाती है, वहाँ थोड़े ही पुरुषार्थ से साधक अपना लक्ष्य सिद्धि कर लेते हैं। वातावरण की अपनी महत्ता है। देवात्मा हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों के मध्य गंगा किनारे की गई उपासना का अपना प्रतिफल है तथा श्रेष्ठ संस्कारों से अनुप्राणित भूमि में साधना का अपना।

महर्षि रमण ने अपनी एकान्त साधना के लिए शैव साधकों की तपस्थली अरुणाचलम् को चुना, क्योंकि वहाँ वे सारे संस्कार विद्यमान थे, जहाँ वे न्यूनतम पुरुषार्थ से अपनी सिद्धियों को जगा सकते थे। योगीराज अरविन्द ने भी वेदपुरी को ही अपनी तप:स्थली बनाया जो महर्षि अगस्त्य की तपोभूमि थी। रावण महाबली था पर तपशक्ति से डरता था। उसके निर्देश थे कि उसके असुर उत्तर में कहीं भी जाएँ पर वेदपुरी, जहाँ आज पाण्डिचेरी स्थित है, से कोसों दूर रहें क्योंकि उस स्थान के प्रभामण्डल का प्रभाव असुरत्व के लिए विनाशकारी था। गोविन्दपाद जो आद्य शंकराचार्य के गुरु थे, ने अमरकण्टक को अपनी साधनास्थली बनाया, वहाँ पर आचार्य शंकर को चारों धामों की यात्रा करने का उपदेश दिया व शक्ति प्रदान की। यह महत्ता भूमि के संस्कारों की है।

पूज्य गुरुदेव ने अपनी जीवनयात्रा के साधनाकाल रूपी पूर्वार्द्ध की पूर्णाहुति के लिए एवं भावी गतिविधियों को क्रिया रूप देने के लिए जिस स्थान का चयन किया, वह महर्षि दुर्वासा की तप-स्थली था। यह स्थान यमुना किनारे मथुरा से वृन्दावन जाने वाले मार्ग पर स्थित था। वे अखण्ड-ज्योति के जनवरी, १९५२ अंक में लिखते हैं कि- ''मथुरा में गायत्री तीर्थ बनने की योजना किसी व्यक्ति के संकल्प से नहीं, वरन् माता की प्रेरणा से बनी है। ब्रह्मविद्या के गंभीर अन्वेषण एवं विशद विस्तार के लिए एक केन्द्रीय स्थान जरूरी था। कितने ही सूक्ष्म एवं रहस्यमय कारणों से वह स्थान मथुरा चुना गया व अब वहाँ गायत्री माता का मन्दिर व तपोभूमि बननी है।'' यही स्थान बाद में गायत्री तपोभूमि नाम से प्रख्यात हुआ।

भूमिका चयन करने के बाद उससे भी कठिन कार्य निर्माण का है। धर्मधारणा भारत में अभी भी जिन्दा है, पर उन दिनों जब चारों ओर मूढ़-मान्यताएँ घर किए हुए बैठी थीं, गायत्री के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ संव्याप्त थीं, यह काम भगीरथ के गंगावतरण के समान दुष्कर था। पूज्य गुरुदेव ने सबसे पहले गायत्री चर्चा स्तम्भ के माध्यम से सब पाठकों की मनोभूमि बनाई एवं गायत्री तीर्थ बनाने की आवश्यकता बताते हुए अंत: की सदाशयता जगाई। यों यह कार्य इस युग का ब्रह्मर्षि, यह विश्वामित्र, अकेला भी कर सकता था, पर जनता के अंश-अंश सहयोग द्वारा उनका अपनत्व संस्था से जोड़ते हुए ही वह कार्य होना है, यही उनका लक्ष्य था। साथ ही सहयोग देने वाले हर व्यक्ति को उन्होंने गायत्री उपासक कहा तथा प्रत्येक से हाथ से मंत्र लेखन व नियमित अनुष्ठान करने को कहा। उनके स्वयं के चौबीस लक्ष के चौबीस महापुरश्चरणों की समाप्ति का समय आ रहा था। गायत्री जयन्ती १९५३ में उसकी औपचारिक पूर्णाहुति होनी थी। उस दिन तक उन्होंने तपोभूमि पर मन्दिर के निर्माण तथा गायत्री माता की मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा कर डालने का निश्चय कर लिया व इस पुनीत कार्य में सभी साधकों से सहयोग माँगा इसके लिए नवम्बर माह १९५१ के अंक में गायत्री तपोभूमि का संभावित रूप क्या होगा, इसका एक चित्र छापा व उसके नीचे एक पंक्ति दी, ''देखें किन्हें पुण्य मिलता है इस पवित्र तीर्थ को बनाने का।'' आश्चर्य होता है यह देखकर कि तपोभूमि वैसी ही बनी जैसा कि इसका प्रारूप बनाया गया था।

ज्येष्ठ सुदी १० गायत्री जयन्ती, १९५२ तक उन्होंने हस्त लिखित चौबीस लक्ष गायत्री मंत्र गायत्री तपोभूमि पहुँचाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति से कहा। इस प्रकार एक हजार चुने हुए साधकों द्वारा इस लक्ष्य पूर्ति के लिए तिथि निर्धारित कर दी व उस दिन तक उन्हें हस्तलिखित गायत्री मंत्र प्राप्त हो गए, पर मन्दिर अभी था कहाँ? निर्माण तो हुआ ही नहीं था।

अपने पाठकों को श्रेय देने के लिए उनके नगण्य से अनुदान को भी अखण्ड-ज्योति में छापा व जिन-जिन ने नैष्ठिक उपासना की, उनके चित्र जुलाई अंक में छापे। जिनमें सावित्री देवी, शिवशंकरजी मिश्र, बालाशंकर जी भट्ट, नन्दकिशोर उपाध्याय, पुरुषोत्तम साखरे तथा शालिग्राम जी दुबे कुछ नाम हैं। वस्तुत: जुलाई, १९५२ का अंक ही गायत्री साधना की अनुभूतियों पर आधारित अंक था। इस तथा आगे के अंकों की 'गायत्री चर्चा' प्रसंग में उन्होंने स्थान-स्थान पर गायत्री उपासना का महत्त्व तथा फैलायी जा रही भ्रान्तियों के निवारण हेतु शास्त्रसम्मत, तर्कसम्मत समाधान दिए। दिसम्बर १९५२ की अखण्ड ज्योति में उन्होंने घोषणा कर दी कि ज्येष्ठ सुदी १० सं. २०१० गायत्री जयन्ती (सन् १९५३) को कई महान कार्यों की पूर्णाहुति होगी। उसमें प्रथम थी सहस्रांश गायत्री ब्रह्मयज्ञ की पूर्णाहुति। १२५ करोड़ गायत्री महामन्त्रों का जाप, १२५ लाख आहुतियों का हवन, १२५ हजार उपवास तीनों ही पूरे होने को आ रहे थे, वे सभी गायत्री जयन्ती तक पूरे हो जाने की संभावना उन्होंने व्यक्त की थी। दूसरा था-सवा करोड़ हस्तलिखित मंत्रों के संकल्प की पूर्ति व उसकी भी पूर्णाहुति। तीसरा था- स्वयं के २४-२४ लक्ष के २४ पुरश्चरणों की पूर्णाहुति। चौथा था- गायत्री मन्दिर में गायत्री माता की मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा। ऋषिकल्प सात्त्विकता का इस आयोजन में पूरा ध्यान रखे जाने का उन्होंने आश्वासन दिया व स्वयं बैसाख सुदी १५ से ज्येष्ठ सुदी १० तक चौबीस दिन मात्र गंगाजल पीकर निराहार उपवास रखने की घोषणा की।

यह प्राणप्रतिष्ठा पर्व कितना महत्त्वपूर्ण था, इसको भली-भाँति समझा जा सकता था। जब हम देखते हैं कि इसके लिए पूर्व से पूज्य गुरुदेव ने क्या-क्या तैयारियाँ कीं।

(१) भारतवर्ष के सभी प्रमुख तीर्थों (चौबीस तीर्थों) का जल एवं सभी सिद्धपीठों (इक्यावन) की रज एकत्रित कर सभी तीर्थों व सिद्धपीठों को गायत्री तीर्थ में प्रतिनिधित्व देने की घोषणा व छह माह में यह कार्य पूरा भी कर लिया गया।

बारह महाशक्ति का चरणोदक भी स्थान-स्थान से मँगाया गया।

(२) सात सौ वर्षों से जल रही एक महान सिद्धपुरुष की धूनी की अग्नि की स्थापना करने की बात कही गयी।

(३) अधिकारी विद्वानों द्वारा यज्ञ, वेदपाठ, प्राणप्रतिष्ठा, मूर्ति-स्थापना, रुद्राभिषेक, प्रवचन, सत्संग इस आयोजन में सम्पन्न होने की बात लिखी गयी।

(४) सवा करोड़ मंत्रलेखन भी प्रस्तावित गायत्री तीर्थ में उसी दिन स्थापित किए जाने की घोषणा की गयी।

इस आयोजन में बहुत बड़ी भीड़ को नहीं, मात्र १२५ उन गायत्री उपासकों को बुलाया गया, जिन्होंने संतोषजनक ढंग से समस्त विधि-विधानों को पूरा कर गायत्री उपासना संपन्न की थी। साथ ही ज्ञानवृद्ध, आयुवृद्ध, लोकसेवी, पुण्यात्मा, सत्पुरुषों के पते भी माँगे गये ताकि उनसे इस पुण्य आयोजन हेतु आशीर्वाद लिया जा सके। कितना कुछ सुनियोजित व शालीनता, सुव्यवस्था से भरा-पूरा आयोजन था जिसमें स्वयं को सिद्ध न बताकर सबके आशीर्वाद माँगे ताकि भूमि के संस्कारों को जगाकर एक सिद्धपीठ विनिर्मित किया जा सके।

सब कुछ इसी प्रकार चला एवं चौबीस दिन का जल उपवास पूज्य गुरुदेव ने निर्विघ्न पूरा किया। जो साधक ब्रह्म यज्ञ में आए थे, उन्हें मात्र दुग्ध दिया जाता व लकड़ी की खड़ाऊँ पर चलने और यथासंभव सारी तप-तितिक्षाओं का निर्वाह करने को कहा गया। गायत्री जयन्ती के दिन वाराणसी से पधारे तीन संतों ने ब्रह्मयज्ञ की शुरुआत की। अरणिमंथन द्वारा अग्नि प्रज्ज्वलन का प्रयास किया गया, पर तीन-चार बार करने पर भी असफलता हाथ लगी। पूज्य गुरुदेव अधूरे बने गायत्री मन्दिर के फर्श पर बैठे सारी लीला देख रहे थे। उन्होंने जटा पाठ, घन पाठ सामगान के लिए उपयुक्त निर्देश दिए तथा अरणिमंथन हेतु लाए गए काष्ठ को अपने हाथ से स्पर्श कर वापस किया। एक सहयोगी को बुलाकर कहा कि नारियल की मूँज लाओ। उसके आने पर उसमें भी मंत्रोच्चारण द्वारा प्राण फूँके तथा पुन: अरणिमंथन किये जाने का निर्देश दिया। जैसे ही काष्ठों का घर्षण हुआ, मूँज को स्पर्श करा दिया तथा तुरन्त अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी, इसी यज्ञ कुण्ड में धूनी भी स्थापित कर दी गयी। यज्ञ पूर्ण हुआ एवं संध्या सभी के साथ संतरे का रस लेकर पूज्य गुरुदेव ने अपना उपवास तोड़ा। एक महायज्ञ, जो सन् १९२६ में इस महापुरुष ने आरंभ किया था, की पूर्णाहुति इस पावन दिन हुई। घोषणा की गई कि आगामी पाँच वर्षों में एक शतकुण्डीय यज्ञ, एक नरमेध यज्ञ एवं एक सहस्रकुण्डी महायज्ञ अंत में सम्पन्न होगा, जिसमें विराट स्तर पर गायत्री साधक भाग लेंगे।

पूर्णाहुति के दिन ही उन्होंने शाम को एक और विलक्षण घोषणा की कि अभी तक उन्होंने किसी को गुरु के नाते दीक्षा नहीं दी है। अभी तक सत्यधर्म की दीक्षा ही वे देते आये हैं। अब वे अगले दिन प्रात: अपने जीवन की पहली गुरुदीक्षा देंगे। जो लेना चाहें वे उस दिन उपवास रखें। स्वयं वे भी निराहार रहेंगे तथा अपने समक्ष साधकों को बिठाकर यज्ञाग्नि की साक्षी में दीक्षा देंगे। दीक्षा का यह प्रारम्भिक दिन था व इसके बाद अनवरत क्रम चल पड़ा। यही दिन दीक्षा के लिए क्यों चुना, यह एक साधक द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि २४ लक्ष के चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति व चौबीस दिन के जल-उपवास की समाप्ति पर उनमें अब पर्याप्त आत्मबल का संचय हो चुका है तथा अब वे अपनी परोक्ष सत्ता के संकेत पर अन्यों को अपने मार्ग पर चलने की विधिवत आध्यात्मिक प्रेरणा दे सकते हैं। ब्रह्मवर्चस सम्पन्न गुरुदेव ने पूर्णाहुति के अगले दिन वाले गुरुवार से दीक्षा देना आरंभ किया व उनके माध्यम से स्थूलसूक्ष्म रूप में ज्ञान-दीक्षा, प्राणदीक्षा, संकल्प-दीक्षा लगभग पाँच करोड़ से अधिक व्यक्ति उनके महानिर्वाण तक ले चुके थे। सिद्ध साधक का सिद्धतीर्थ बनाने का यह प्रथम सोपान पूर्ण हो चुका था। अब विशाल गायत्री परिवार बनाने की, संगठन को सुव्यवस्थित करने की सुविस्तृत स्तर पर तैयारी करनी थी, जिस निमित्त वे गायत्री तपोभूमि के निर्माण के बाद प्राणपण से जुट गए।

## विशाल संगठन की सुनियोजित शुरुआत

जितने भी बड़े-बड़े कार्य इस जगती पर सम्पन्न हुए हैं, वे संघशक्ति के बल पर ही हुए हैं। ऋषिरक्त के संचय से सीता का जन्म हुआ था, जो रावण के विनाश का कारण बना तथा देवताओं की अंशधर सत्ता महाकाली के रूप में जन्म लेकर शुम्भ, निशुम्भ, मधुकैटभ इत्यादि दैत्यों का संहार कर पायीं। राम को रीछ-वानरों का सहयोग लेना पड़ा, तो कृष्ण को ग्वाल-बालों का, अर्जुन सुदामा जैसे सखाओं का। बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन संघारामों में से निकले भिक्षुओं भिक्षुणियों के बल पर ही संभव हो सका। गाँधी ने भी सत्याग्रहियों की सेना एकत्र न की होती, तो परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्ति न मिलती।

महाकाल के अग्रदूत जब भी जन्म लेते हैं, आत्मबल सम्पन्न होते हैं। स्वयं सब कुछ करने की सामर्थ्य भी रखते हैं, किंतु स्रष्टा का खेल बिल्कुल निराला है। वह चाहता है श्रेय उन अगणित नरतनधारी देवात्माओं को मिले जो अवतारी सत्ता के साथ जन्म लेती हैं। पूज्य गुरुदेव रूपी महाकाल की सत्ता जब जन्मी और उनका साक्षात्कार अपनी परोक्ष मार्गदर्शक सत्ता से हुआ तो उन्हें अपना उद्देश्य समझ में आ गया था कि उन्हें एक विशाल संगठन खड़ा करना है, जिसके माध्यम से वे विचार-क्रान्ति को, जनमानस के परिष्कार को सम्पन्न कर दिखाएँ। इसके लिए उनकी दुर्गम हिमालयवासी सत्ता हर पग पर उनका मार्गदर्शन करती रही।

स्वतंत्रता संग्राम सैनानी के नाते अपनी भूमिका निभाकर, 'सैनिक' समाचार पत्र के सम्पादन से मुक्ति लेकर जब 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका के रूप में अपने विचारों के विस्तार द्वारा उन्होंने अपनी छूटी हुई तप-साधना को अगले चरण पर पहुँचाया तो उनका लक्ष्य था आत्मशक्ति का

संवर्द्धन तथा तप से उद्‌भूत लेखनी द्वारा तत्कालीन समाज का बहुमुखी मार्गदर्शन। लेखनी दो तरह से चली-एक प्यार व ममत्व भरा स्वयं की लेखनी से व्यक्तिगत परामर्श। दूसरे लेखों के रूप में जिनमें व्यक्ति, परिवार, समाज से जुड़ी समस्याओं का आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में समाधान समाहित रहता था। १९५३ की गायत्री जयन्ती पर जब उन्होंने गायत्री तपोभूमि की स्थापना कर अपनी पहली गुरुदीक्षा दी तो एक अध्याय का पटाक्षेप हो गया था, वह था चौबीस लक्ष के चौबीस महापुरश्चरणों की साधना, जिसकी पूर्णाहुति उस दिन की गयी तथा दूसरा अध्याय आरम्भ हो गया था, वह था- गायत्री परिवार के रूप में एक सुव्यवस्थित संगठन की स्थापना। मणिमुक्तकों को ढूँढ़कर एकत्र कर उनमें प्राणशक्ति भरने का सुनियोजित कार्य यदि गायत्री जयन्ती सन् १९५३ से आरंभ हुआ मानें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। क्योंकि इसके पूर्व तो वे पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे, वातावरण गर्म कर रहे थे तथा हर परिजन को आने वाले समय के लिए अपनी तैयारी कैसे की जाए, यह मार्गदर्शन दे रहे थे। 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ द्वारा उन्होंने गायत्री के तत्त्वज्ञान को व्यावहारिक जामा पहनाकर उसे इतना जन-सुलभ बना दिया कि हर व्यक्ति जो उनके सम्पर्क में आया, वह गायत्री साधना न्यूनाधिक किसी न किसी रूप में करने लगा।

गायत्री महायज्ञ अभी बड़े रूप में संपन्न होने थे। यज्ञ की प्रेरणा 'संगतिकरण' अर्थात् परमार्थ प्रयोजनार्थ श्रेष्ठ व्यक्तियों का संघबद्ध होना, उन्हें भली-भाँति याद था। अतः उन्होंने शतकुण्डी व सहस्रकुण्डी महायज्ञों के रूप में वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय यज्ञ परम्परा का पुनरुज्जीवन कर एक विशाल संगठन की स्थापना करने का संकल्प इसी दिन लिया।

पूज्य गुरुदेव अगस्त, १९५३ की अखण्ड ज्योति की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ में लिखते हैं कि ''गायत्री तपोभूमि की स्थापना माँ भगवती की इच्छा और प्रेरणा से ही हुई है। इसका मुख्य कार्य होगा- भारतीय संस्कृति, धर्म और आत्मविज्ञान की आधारशिला गायत्री का जन-जन तक विस्तार। यह गायत्री तपोभूमि भारतवर्ष के तपस्वियों, गायत्री उपासकों का एक ऐसा केन्द्रीय संगठन बिन्दु है, जहाँ उनका पारस्परिक संगठन व सहयोग स्थापित होगा। जन-साधारण में गायत्री साधना का विस्तार करने की जो योजना है, उससे राष्ट्र में एक तपोमयी भूमिका का सूक्ष्म वायुमण्डल बनेगा और उस वातावरण में अनेक मनोरम पुष्प प्रस्फुटित होंगे।'' (पृष्ठ २९, अगस्त १९५३ अखण्ड-ज्योति) पहली बार वे इसी अंक में लिखते हैं कि- ''अब सभी गायत्री उपासकों को जो हमसे जुड़े हैं अपना दैनिक उपासना क्रम चालू रख रविवार के दिन साप्ताहिक कार्यक्रम रखना व सामूहिक हवन करना चाहिए।''

संभवतः गायत्री परिवार की विधिवत स्थापना का यह शुभारम्भ था। समयदान का आह्वान भी पहली बार इसी अंक में इसी स्तंभ में किया गया था। उन दिनों 'अपनों से अपनी बात' स्तंभ आरम्भ नहीं हुआ था। 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ के अंतर्गत ही वे अपनी बात कह लिया करते थे। अनेक व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लगाने का पुण्यफल एकान्त साधना से कहीं अधिक बताते हुए वे गायत्री माता के निमित्त श्रम व समय सब से माँगते हैं व सेवा के लिए समर्पित कार्यकर्त्ताओं का आह्वान भी पहली बार इसी के माध्यम से करते हैं। क्रमशः इन्हीं प्रसंगों को आगे बढ़ाते हुए १९५४ की जून में पहला पंद्रह दिन का जीवनविद्या सत्र आयोजित हुआ जिसमें संजीवनी विद्या पर, जीवन जीने की कला पर व्याख्यानों का क्रम चला। संभवतः यह बौद्धिक स्तर का पहला समागम था।

इसके पश्चात् जो दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम पूज्यगुरुदेव द्वारा उठाया गया, वह था संगठन निर्माण हेतु पंद्रह माह का एक अनुष्ठान का शुभारंभ, जिसकी पूर्णाहुति १०८ कुण्डी महायज्ञ के यज्ञ के रूप में अप्रैल, १९५६ में की जानी थी। पंद्रह माह के इस अनुष्ठान में गायत्री विद्या का अधिकाधिक प्रचार जन-जन तक करने के लिए सबसे कहा गया व वसंत पंचमी १९५५ को उन्होंने घोषणा की कि वे १०८ कुण्डी महायज्ञ में नरमेध यज्ञ करेंगे। घोषणा चौंकाने वाली थी, क्योंकि इससे तो पौराणिक आशय नरबलि का ही निकलता था। पूज्यवर ने अखण्ड-ज्योति के अंकों में इसका स्पष्टीकरण किया कि नरमेध का अर्थ है- विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा किसी उद्देश्य विशेष के लिए उच्चस्तरीय त्याग। अपना जीवन समाज को समर्पित करना तथा मन, बुद्धि, प्राण जीवन, इच्छा, आकांक्षा आदि को परमार्थ के लिए यज्ञ भगवान को आहुतियाँ दिया जाना। इस विशाल यज्ञ से जुड़ी नरमेध प्रक्रिया द्वारा उन्होंने ऋषिरक्त में छिपे त्यागतत्त्व का आह्वान किया तथा परिजनों, पाठकों की आत्माओं को झकझोरा।

'अखण्ड-ज्योति' पढ़ने वाले पाठक निरन्तर प्रकाश प्रेरणा पा रहे थे व गायत्री की सद्‌बुद्धि विस्तार की प्रेरणाओं को जन-जन तक फैला रहे थे। इसी वर्ष १९५५ में पूज्य गुरुदेव ने मथुरा में भादों से महामृत्युंजय यज्ञ, विष्णुयज्ञ, शतचण्डीयज्ञ, नवग्रहयज्ञ तथा चारों वेदों के यज्ञों के आयोजन किए। इनमें जो मथुरा न आ सके उनसे अपने यहाँ एक छोटा-सा यज्ञ प्रति सप्ताह कर लेने का निवेदन किया। साथ ही नित्य-नियमित जप करते रहने व मंत्रलेखन का अनुरोध भी। ऊपर वर्णित यज्ञ चैत्र माह १९५६ (संवत् २०१३) तक चलने थे। इनके समापन पर ही विशाल १०८ कुण्डी महायज्ञ व नरमेध यज्ञ का आयोजन किया गया। नरमेध प्रक्रिया देखने हजारों व्यक्ति आ जुटे। जिन्होंने समाज के लिए कार्य करने का संकल्प लिया था उनके हाथ अलग-अलग रंग की रेशम की डोरियों से खम्भों से बाँधे गये। उन्हें कलावा पहनाकर उन पर अक्षत् पुष्प वर्षा कर यज्ञ समाप्ति पर उन्हें समाज को समर्पित कर बंधनमुक्त कर दिया गया।

इस यज्ञ में जो बीस अप्रैल से चौबीस अप्रैल, १९५६ तक चला, कई विशिष्ट अतिथियों व बीस हजार से अधिक

व्यक्तियों ने भाग लिया। लोकसभा के सभापति अनन्तशयनम् आयंगार ने इसका उद्घाटन किया। यह पूज्य गुरुदेव द्वारा तपोबल से जनशक्ति जुटाने के लिए किया गया संगतिकरण था। यह एक ऐसा महायज्ञ था, जिसकी परिणति पूरे भारत में स्थान-स्थान पर यज्ञायोजनों के रूप में होनी थी। अपने इस कार्यक्रम के अंतिम दिन गुरुदेव ने घोषणा की कि भारत में वे १०८ स्थानों पर गायत्री महायज्ञ छोटे-बड़े रूप में पूरे आगामी दो वर्षों में सम्पन्न करेंगे। वस्तुतः इनकी संख्या १०८ न रहकर १००८ से भी अधिक हो गई एवं ये पाँच व नौ कुण्डी से १०८ कुण्डी यज्ञ स्तर के हुए। पहली बार अखिल भारतीय गायत्री परिवार की सदस्यता का पत्र सितम्बर, १९५६ को अखण्ड-ज्योति में छापा गया व बाकायदा अधिकृत शाखाएँ स्थापित कर दी गईं। यह प्रगतिक्रम बताता है कि कितने सुनियोजित ढंग से संगठन का सूत्रपात पूज्यवर द्वारा किया गया।

दिसम्बर, १९५६ में पूज्य गुरुदेव ने एक वर्ष तक २४ लक्ष गायत्री महामंत्र का महापुरश्चरण सामूहिक स्तर पर किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया तथा इसे 'आध्यात्मिक वरुणास्त्र' कहा, जो १९५७ में संभावित प्रकृति प्रकोपों, अन्तर्ग्रही प्रभावों तथा युद्धोन्माद की संभावनाओं से मानवमात्र को बचाने के लिए किया जाना था। जून, १९५७ में पहला अखिल भारतीय गायत्री परिवार सम्मेलन ७ से १२ जून की तारीखों में बुलाया गया एवं गायत्री उपासक, शाखा कार्यवाहक या मंत्री तथा व्रतधारी सक्रिय कार्यकर्त्ता ये तीन श्रेणियाँ अपने परिजनों की करके प्रत्येक को जिम्मेदारियाँ बाँट दीं। इस सम्मेलन में संगठन का महत्त्व सबको समझाया गया, विभिन्न प्रान्तों की गोष्ठियाँ की गयीं तथा किस प्रकार गायत्री विधा से सम्बन्धित पुस्तकों द्वारा गायत्री व यज्ञ-भावना का जन-जन तक विस्तार किया जाना है, यह बताया गया।

१९५७ की दिसम्बर अखण्ड-ज्योति में पूज्य गुरुदेव द्वारा बताया गया कि १४ सितम्बर, १९५८ से गुरु व नेप्च्यून की युति आरंभ हो रही है। ऐसे में पाँच वर्ष भयंकर आपदाओं से भरे हो सकते हैं। इसके लिए गायत्री परिवार के संभावित एक लाख सदस्यों द्वारा ब्रह्मास्त्र अनुष्ठान १९५८ में किया जाना चाहिए। वह इसकी महापूर्णाहुति स्वरूप १००८ कुण्डों का एक विशाल महायज्ञ कार्तिक सुदी १२ से १५ (२३ नवम्बर से २६ नवम्बर), १९५८ की तिथियों में मथुरा में तपोभूमि में करने की विधिवत घोषणा कर दी गयी। यह यज्ञ १०१ यज्ञशालाओं में १ लाख होताओं द्वारा संपन्न होना था। इस विराट आयोजन द्वारा एक लाख गायत्री उपासकों की श्रद्धाशक्ति का केन्द्रीकरण कर पूज्य गुरुदेव ने इस विशाल संगठन को उस महायात्रा पर ला खड़ा किया, जिसे अगले दिनों करोड़ों व्यक्तियों को अपनी चपेट में लेना था। यह उस मिशन का प्रगति की दिशा में अभूतपूर्व मोड़ था।

# एक सफलतम बीजारोपण जिसकी परिणति देखी जा सकती है

"यह सब अदृश्य सत्ता का खेल था। इस आयोजन में सूक्ष्म शरीर से वे ऋषि भी उपस्थित हुए थे, जिनके दर्शन हमने प्रथम हिमालय यात्रा में किए थे। सभी सूक्ष्म एवं कारण शरीरधारी थे। इन सब कार्यों के पीछे जो शक्ति काम करती रही; उसके सम्बन्ध में किसी को कोई तथ्य विदित नहीं। लोग इसे हमारी करामात कहते रहे, किंतु भगवान साक्षी है कि हम जड़भरत की तरह, मात्र दर्शक की तरह यह सारा खेल देखते रहे। जो शक्ति व्यवस्था बना रही थी, उसके सम्बन्ध में कदाचित ही किसी को कुछ आभास हुआ हो।"

प्रस्तुत पंक्तियाँ अप्रैल, १९८४ को 'अखण्ड-ज्योति' के जीवनवृत्त विशेषांक में पूज्य गुरुदेव द्वारा लिखी यहाँ उद्धृत हैं। यह प्रसंग सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन का चल रहा है, जो वस्तुतः राजसूय वाजपेय स्तर का एक विशाल आयोजन था। कई रहस्यमयी विशेषताओं से भरा-पूरा यह सारा कार्यक्रम रहा। आमंत्रित तो मात्र एक लाख नैष्ठिक उपासक थे किंतु आ गए थे इससे सात-आठ गुने अधिक, दस मील के घेरे में ये सब ठहरे। किसने आवास-व्यवस्था की व किसने भोजन की? सब पहेलियाँ हैं, पर कहीं भी कोई अव्यवस्था नहीं थी। राशि जो सहयोग हेतु जुटी थी वह मात्र टेण्ट खड़ा कर लेने जितनी थी, शेष व्यवस्था किस महाशक्ति ने सँभाल ली, इसे पूज्य गुरुदेव अदृश्य मार्गदर्शक सत्ता का खेल विनम्रतापूर्वक मानते हैं, पर यदि इसे उनकी संगठन क्षमता का चमत्कार भी कहा जाए तो कुछ अत्युक्तिपूर्ण न होगा। इस विशाल आयोजन में उन्होंने अपने आत्मबल के सहारे सब कुछ जुए पर लगा दिया। बदले में एक लाख से अधिक निष्ठावान परिजनों का एक संगठन देखते-देखते खड़ा हो गया। इस दिव्य वातावरण में अन्तःप्रेरणा ने उन्हीं परिजनों को यह दायित्व भी सौंपा कि प्रत्येक व्यक्ति न्यूनतम एक हजार विचारशील व्यक्तियों को अपने समीपवर्ती क्षेत्र में से ढूँढ़कर अपना सहयोगी बनाए।

वस्तुतः युगनिर्माण योजना के विचार-क्रान्ति अभियान एवं धर्मतंत्र से लोक-शिक्षण की भूमिका इस आयोजन से पूरी तरह बन गई। जिन-जिन व्यक्तियों ने इसमें भाग लिया उन्हें विभिन्न काम सौंपे गए जिनसे संगठन सशक्त बना-

(१) कार्यकर्त्ताओं के जन्मदिवसोत्सव मनाने की परम्परा चलाना एवं पारिवारिक यज्ञ व सत्संग के रूप में न्यूनतम साप्ताहिक आयोजन। इनका बड़ी संख्या में प्रचलन हुआ।

(२) विधिवत स्नान-ध्यान नियम-पूजन न कर पाने वालों के लिए गायत्रीमंत्रलेखन का क्रम चला। २४०० मंत्र लिखकर लोग कापियाँ गायत्री तपोभूमि में जमा करने लगे। इससे आंदोलन बच्चों, बड़ों सभी के माध्यम से घर-घर तक पहुँच गया।

(३) जो पाठ कर सकें, उनमें वितरण करने के लिए एक रुपये की सौ की दर से एक करोड़ गायत्री चालीसा छापे गए, इन्हें महायज्ञ के प्रसाद के रूप में बाँटा गया।

(४) विचार-क्रान्ति को घर-घर पहुँचाने के लिए पुस्तकों का पढ़ाने व वापस लेने की योजना के अन्तर्गत झोला पुस्तकालयों का क्रम चला। ज्ञानरथ, लोहे की धकेल गाड़ी के रूप में बने, जिनके माध्यम से युगसाहित्य के प्रसार में और भी तीव्रता आई। जन-जन तक प्रचार के लिए पूज्य गुरुदेव ने छोटी-छोटी विज्ञप्तियों व विभिन्न विषयों पर पच्चीस पैसा सीरीज के सत्तर ट्रैक्ट लिखे। यह साहित्य झोला पुस्तकालयों व ज्ञानरथों द्वारा घर-घर पहुँचाया गया।

(५) इसी अभियान के अन्तर्गत सद्वाक्यों के स्टीकर, पोस्टर छपे जो घरों में, कमरों में सर्वत्र लगे दिखाई देने लगे। दीवारों पर आदर्श वाक्य लेखन का आंदोलन सब शाखाओं द्वारा चलाया गया, जिसमें युगपरिवर्तन के लिए जिस विचारधारा की आवश्यकता थी उसे सुन्दर अक्षरों में गाँव-गाँव की दीवारों पर लिखाया गया।

(६) साइकिलों पर धर्म-प्रचार की पदयात्रा हेतु चार-चार के जत्थे निकले। रास्ते में मिलने वालों को गीत सुनाना और रात्रि को प्रज्ञासत्संग के माध्यम से रामचरितमानस की प्रगतिशील प्रेरणा, गीताकथा, वाल्मीकि रामायण तथा प्रज्ञा पुराण कथा का आयोजन चल पड़ा।

(७) इसी महायज्ञ में स्थान-स्थान पर इसी स्तर के महायज्ञ विशुद्ध रूप से वनौषधियों द्वारा आयोजित होने की योजना बनी, जिनमें स्वयं पूज्य गुरुदेव कई स्थानों पर गए। इन यज्ञों में सम्मिलित होने वालों में से प्रत्येक से यह कहा गया कि वे अपनी वैयक्तिक दुष्प्रवृत्तियों और सामाजिक कुरीतियों में से एक को संकल्पपूर्वक छोड़ें और न्यूनतम एक सत्प्रवृत्ति अपनाने का व्रत लें। उपस्थित लोगों में से अधिकांश ने ऐसा ही किया। कुरीतियों में से विशेषतया जातिगत ऊँच-नीच, धूमधाम और दहेज को विवाहों में से हटाना, भिक्षा व्यवसाय, मृतकभोज जैसी कुप्रचलन एवं स्वार्थप्रेरित अनैतिकताओं को हटाने पर विशेष जोर दिया गया।

(८) गायत्री तपोभूमि में आने वाले कार्यकर्त्ताओं को शिक्षण दिया गया कि वे न्यूनतम एक घण्टा समय और दस पैसा नित्य अपने क्षेत्र में सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन के लिए लगाते रहने का व्रत लें। अधिक सक्षम लोगों ने एक दिन की आय भी इस पुण्य-प्रयोजन हेतु दी।

(९) वानप्रस्थ परम्परा को पुनरुज्जीवित किया गया एवं अनेकों रिटायर्ड व्यक्तियों को समीपवर्ती क्षेत्र में सेवाकार्य करने के लिए तत्पर होने को कहा गया। इस प्रकार हजारों अनुभवी व्यक्ति सेवाकार्यों में जुट गए।

(१०) वृक्षारोपण, स्वच्छता अभियान, सामूहिक श्रमदान, शिक्षासंवर्द्धन, नशा-निवारण, पर्दा-प्रथा निवारण, चलपुस्तकालयों की स्थापना जैसे रचनात्मक कार्यों को स्थान-स्थान पर आरंभ कर उनका मार्गदर्शन क्रम आरंभ कर दिया गया।

(११) मार्च, १९६२ की अखण्ड ज्योति में पहली बार घोषणा पत्र के रूप में अधिकृत सत्संकल्प प्रकाशित किया गया। लाखों व्यक्ति इसमें दी गई आचारसंहिता के अनुरूप चलने लगे। इससे संगठन की जड़ें मजबूत हुईं। सन् १९६४ में युगनिर्माण योजना का शतसूत्री कार्यक्रम प्रसारित किया गया।

(१२) कार्यकर्त्ताओं के किशोर बालकों की विशेष शिक्षा के लिए एक वर्षीय पाठ्यक्रम निरन्तर चलाने का क्रम १९६५ से आरम्भ किया गया, जिसमें वे गृह-उद्योगों के माध्यम से आजीविका उपार्जन व समाजसेवा की शिक्षा सीखने लगे। ऐसे एक सौ छात्रों की भर्ती, छात्रावास एवं प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया गया।

(१३) गायत्री तपोभूमि मूलतः उपासना कार्यों के लिए बनी थी। १९७१ तक तो नौ दिवसीय सत्रों के माध्यम से पूज्य गुरुदेव यह क्रम बराबर चलाते रहे, फिर प्रचार, प्रकाशन तंत्र के तेजी से बढ़ने से उनके वहाँ से शांतिकुंज आ जाने के बाद नई भूमि खरीद कर वहाँ प्रज्ञानगर बसाया गया तथा बड़े कार्यक्रमों के अनुरूप नई इमारतें बना दी गईं और रोटरी ऑफसेट व बड़ी साइज की कई ऑफसेट मशीनें भी खरीदी गईं। इस प्रकार गायत्री तत्त्वज्ञान से आरम्भ हुआ लोकशिक्षण युग-परिवर्तनकारी साहित्य रचने वाली बहुमुखी कार्य-पद्धति के रूप में विकसित हो सब दिशाओं में फैल गया। गुजराती, मराठी, उड़िया, अँग्रेजी आदि भाषाओं मेंसाहित्य का अनुवाद होकर पत्रिका कई रूपों में प्रकाशित होने लगी।

(१४) चूँकि पूज्य गुरुदेव को ऋषिपरम्परा के बीजारोपण व नई गतिविधियों को कार्यरूप देने हेतु मथुरा छोड़कर हरिद्वार आना था, उनकी विदाई के पूर्व जिम्मेदारी वितरण के निमित्त मथुरा के सहस्रकुण्डी यज्ञ स्तर के पाँच महायज्ञ विभिन्न स्थानों पर हुए। बिहार में टाटानगर, उत्तर प्रदेश में बहराइच, राजस्थान में भीलवाड़ा, मध्यप्रदेश में महासमुन्द तथा गुजरात में पोरबन्दर स्थानों पर ये कार्यक्रम बड़े उत्साहपूर्वक सम्पन्न हुए। पूज्य गुरुदेव एवं माताजी दोनों इन कार्यक्रमों में गए एवं पूरे भारत में एक नये उत्साह का उभार आया व निर्धारित कार्यक्रमों में असाधारण अभिवृद्धि हुई।

संक्षेप में यही हैं सहस्रकुण्डी महायज्ञरूपी समुद्र मंथन की १४ रत्नों के रूप में उपलब्धियाँ, जो आने वाले चौदह वर्षों में एक विशाल संगठन के रूप में परिणत, गायत्री परिवार को हस्तगत हुईं एवं नवयुग के एक ऐसे मत्स्यावतार का जन्म हुआ, जो बढ़ते-बढ़ते उस स्थिति में आ पहुँचा है जिसे एक सुनियोजित अनुशासित, समाजसेवी संगठन के रूप में लाखों देवमानवों द्वारा सम्पन्न होता देखा जा सकता है।

जो 'अखण्ड-ज्योति' एकाकी एक व्यक्ति द्वारा आँवलखेड़ा से मथुरा, फिर वहाँ से शांतिकुंज तक प्रज्ज्वलित रखी गई है, उसका विराट रूप उस दावानल के रूप में देखा जा सकता है जो विचार-क्रान्ति से मिले हुए गायत्री उपासना कार्यक्रम के रूप में दावानल की तरह व्यापक क्षेत्र में फैलती और गजब की ऊर्जा उत्पन्न करती चली गयी।

जो गुरुदेव को एक सिद्धपुरुष महामानव के रूप में जानते हैं वे उनका एक दूसरा रूप संभवतः न देख पाए हों। वह है एक विशाल जन-समुदाय से आत्मीयता के आधार पर घनिष्ट जन-सम्पर्क कर उन्हें लोक-सेवा के क्षेत्र में मोड़ देने वाला एक करामाती बाजीगर। यह एक सत्य है कि उन्होंने गायत्री व यज्ञ को जन-जन तक पहुँचा दिया, परंतु बिखरे हुए मणिमुक्तकों को एक माला में पिरोकर आपस में गूँथकर उन्हें समाजदेवता के चरणों में अर्पित कर देना एक अवतारी शक्ति का ही काम हो सकता था। ऊपर से साधारण नजर आते, इस महाब्राह्मण और सर्वोदय स्तर का कार्य करने वाले लोकनायक ने इस कार्य को ऐसा अमली जामा पहनाया कि देखने वाले दंग रह गये।

यह एक संयोग नहीं, अकाट्य सत्य है कि जिन व्यक्तियों से पूज्य गुरुदेव ने सहस्रकुण्डी महायज्ञ में भागीदारी करवाई तथा बाद में अपने क्षेत्रीय दौरों से लेकर व्यक्तिगत जन-सम्पर्क तक जिन-जिन से मिले, उन्हीं में से अगणित, उनका दायित्व सँभालने आगे आए व आज स्थायी कार्यकर्त्ता व समयदानी कर्मठ परिजनों के रूप में सक्रिय हैं। जिन स्थानों पर इस महायज्ञ में शाखा-संगठन स्थापित होने के संकल्प लिए गए, वहीं बीस वर्ष बाद शक्तिपीठ बने। क्या इसे एक सुनियोजित संगठन के सुयोग्य सूत्रधार की महालीला नहीं कहेंगे?

## आर्षसाहित्य का पुनरुद्धार

ज्येष्ठ सुदी १० संवत् २०१८ (गायत्री जयन्ती १९६१) को चारों वेदों के साथ उपनिषदों के तीन खण्ड गायत्री तपोभूमि, मथुरा से पूज्य गुरुदेव द्वारा सम्पादित हो पहली बार प्रकाशित हुए। उपनिषदों के ज्ञान-खण्ड, साधना-खण्ड एवं ब्रह्मविद्या खण्डों में कुल १०८ उपनिषद थे, जिनकी हिन्दी में सरल टीका पहली बार जन-समुदाय के समक्ष प्रस्तुत की गयी थी। इसकी भूमिका में पूज्य गुरुदेव लिखते हैं कि- ''उपनिषदों को जीवन का सर्वांगपूर्ण दर्शन ही कहना चाहिए। उनमें जीवन को शान्ति और आनन्द के साथ जीने तथा प्रगति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते जाने की विधा का भली-भाँति विवेचन हुआ है। लौकिक और पारलौकिक, बाह्य और आन्तरिक, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के दोनों ही पक्ष जिसके आधार पर समुन्नत हों, वह महत्त्वपूर्ण ज्ञान उनमें भरा हुआ है। इनकी एक-एक पंक्ति में अमृत भरा प्रतीत होता है। इस शाश्वत ज्ञान के समुद्र में जितना गहरा उतरा जाए, उतना ही अधिकाधिक आनन्द उपलब्ध होता चलता है।''

इस भूमिका व समग्र आर्ष साहित्य को जब तत्कालीन राष्ट्रपति सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन् को भेंट किया गया तो उन्होंने कहा कि- *''यदि यह ज्ञाननवनीत मुझे कुछ वर्ष पूर्व मिल गया होता तो संभवतः मैं राजनीति में प्रवेश न कर आचार्य श्री के चरणों में बैठा अध्यात्म दर्शन का शिक्षण ले रहा होता।''* यह तथ्य सर्वविदित है कि स्वयं श्री राधाकृष्णन् ने भारतीय व पाश्चात्य दर्शन पर अनेक टीकाएँ लिखी हैं जो विश्व भर में पाठ्य पुस्तकों के रूप में पढ़ाई जाती हैं।

पूज्य गुरुदेव के सम्पादन कार्य में सहयोगी एक प्रमुख कार्यकर्त्ता को अडयार (मद्रास) में एक अधिवेशन को १९८१ में सम्बोधित करने का व मद्रास विश्वविद्यालय के प्रोफेसर्स से बातचीत का मौका मिला तो वह यह जानकर हतप्रभ रह गया कि मात्र आचार्य श्री का आर्ष वाङ्मय पढ़ने के लिए वहाँ के संस्कृत, दर्शन व मनोविज्ञान विभाग के प्राध्यापकों ने हिन्दी सीखी व इतनी सुन्दर टीका उन्हें कहीं देखने को नहीं मिली।

आर्ष वाङ्मय का पुनरुद्धार वस्तुतः पूज्य गुरुदेव की पूरे समाज को एक महत्त्वपूर्ण देन है, जिसका सही मूल्यांकन अभी किया जाना है। मध्यकाल के अंधकार युग में भारतीय समाज को जो सबसे बड़ी क्षति हुई थी, वह थी उसके विद्या-वैभव का लोप। आतताइयों ने उन दिनों जगह-जगह आग लगाकर सुरक्षित ग्रन्थों से भरे पुस्तकालय राख कर दिये थे। विद्या और ज्ञान की प्राचीन परम्परा के वाहक विद्वानों और मनीषियों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर मौत के घाट उतार दिया था। फिर भी उन दिनों ऐसे मनस्वी व साहसी भी थे, जिन्होंने प्राणों की बाजी लगाई और उन ग्रन्थों को लेकर जंगलों में भाग गए, गिरि-कन्दराओं में अभावग्रस्त स्थिति में रहकर उन्होंने इस विरासत की सुरक्षा की व अवसर आने पर इस विद्या के पठन-पाठन का सिलसिला पुनः शुरू किया, लेकिन यह क्रम सीमित ही रहा।

अधिकांश ग्रन्थ जिनका उल्लेख हम आज उपलब्ध प्राचीन साहित्य में पढ़ते हैं, अपना अस्तित्व खो चुके हैं। आर्ष साहित्य भी विलोप का ग्रास होते-होते बचा, क्योंकि कुछ समर्पित देवसंस्कृति के अनुरागियों ने इसे प्राणों से भी ज्यादा प्रिय मानकर बचाने की चेष्टा की। फिर भी यह कुछ स्थानों तक ही सीमित रहा। जन-जन तक न पहुँच पाया। वाराणसी, प्रयाग, हरिद्वार, नदिया, अवन्तिका, द्वारिका, नासिक, पुणे, रामेश्वरम, पुरी, कांची, अयोध्या, मथुरा जैसे कुछ गिने-चुने स्थान ही थे, जहाँ कतिपय ब्राह्मण परिवार और प्राचीन वाङ्मय को सर्वोपरि महत्त्व देने वाले लोग आर्ष साहित्य को जानते और उसका अध्ययन करते थे। ब्रिटिशकाल आया व प्राच्य साहित्य के प्रति रुचि वाले मैक्समूलर, मैकडॉनल, पालडायसन, विलसन आदि मनीषियों ने इस साहित्य की ढूँढ़-खोज की लेकिन उस से भारतीय जन-साधारण को कुछ अधिक न मिल पाया।

पाश्चात्य विद्वानों को वेदों का सायण भाष्य ही उपलब्ध हो पाया था। महीधर, उव्वट, रावण आदि के भाष्यों की उन्हें भनक भी नहीं थी। उन्नीसवीं सदी में स्वामी दयानन्द ने वेदों पर भाष्य लिखना शुरू किया। वे ऋग्वेद के छह मण्डलों का ही भाष्य कर निर्वाण को प्राप्त हो गए। उनके शिष्यों ने अन्यान्य ग्रन्थों का भाष्य चालू किया पर उन पर सदैव यही आरोप लगता रहा कि अपने विचारों व पूर्वाग्रहों को उन्होंने आर्ष साहित्य पर जबरदस्ती थोपा है। मूर्तिपूजा को न मानने वाले आर्यसमाजियों ने जहाँ कहीं प्रतीक-पूजा का उल्लेख आया, बिना उसका तात्त्विक विश्लेषण किए उसे काट ही दिया। वेदों में अवतारवाद का उल्लेख नहीं है, तो

आर्यसमाज के विद्वानों ने राम, कृष्ण आदि अवतारी सत्ताओं को भी साधारण मानव की भाँति निरूपित किया। साकारध्यान, योग, व्यक्ति, तीर्थ, मन्दिर, सगुण उपासना आदि पर उनका दृष्टिकोण स्थूलवादी ही रहा।

एक तो वैदिक वाङ्मय बिल्कुल विलुप्त ही था फिर जो भी सपने आता उसके प्रस्तुतीकरण को लेकर भी विवाद ! महायोगी अरविंद, कुमार स्वामी और श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने भी आर्ष वाङ्मय के भाष्य किए, लेकिन इनमें से किसी का भी भाष्य समग्र नहीं है। जिन जिनको अपनी इस पुरातन धरोहर से अवगत होने, ज्ञानगंगा का अवगाहन करने की आकांक्षा उठती थी, उन्हें मन मारकर रह जाना पड़ता था।

पूज्य गुरुदेव ने स्वतंत्रता आन्दोलन के बाद से ही वैदिक साहित्य, आर्ष वाङ्मय को अपने मूल रूप में सरल हिन्दी टीका सहित प्रस्तुत करने की भूमिका मन में बना ली थी। उनकी मार्गदर्शक सत्ता द्वारा उन्हें सौंपे गए अनेक भागीरथी कार्यों में से एक आर्ष साहित्य को जन-सुलभ कराना भी था। अध्ययन और सामग्री संकलन का कार्य इसी कारण उन्होंने १९३६-३७ से ही आरंभ कर दिया था, जब वे आगरा में थे।

चारों वेदों के संहितापाठ समग्र रूप में कहीं भी एक स्थान पर उपलब्ध नहीं थे। सार्वदेशिक आर्यसभा, वैदिक पुस्तकालय, काशी विद्वतपरिषद् और वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर जैसे कतिपय प्रकाशकों ने उन्हें अंश-अंश में प्रकाशित किया था। संपूर्ण पाठ प्राप्त करने के लिए गुरुदेव ने काशी, नदिया, पूना, नासिक की यात्रा की व अलग-अलग मण्डल अध्याय, सूक्त, मंत्र जैसा भी जहाँ से मिला, लिया एवं क्रमबद्ध किया। यही कठिनाई उपनिषदों के संकलन में आई। मंडूकोपनिषद् आठ नौ उपनिषद् ही प्रसिद्ध हैं, वही आसानी से मिलते हैं, लेकिन पूज्य गुरुदेव को एक सौ आठ उपनिषदों के मूल पाठ जुटाने थे। प्रयत्नपूर्वक यह भी संकलित कर क्रमबद्ध किए गए। आर्ष साहित्य में वेद व उपनिषद् के अलावा, छहों दर्शन, अठारह पुराण, बीस स्मृतियाँ, चौबीस गीताएँ, आरण्यक, ब्राह्मण, निरुक्त, व्याकरण आदि भी आते हैं। ये सभी आसानी से मूलरूप में उपलब्ध नहीं थे। पुराणों का कार्य सबसे अधिक दुरूह था। लगभग साठ पुराणों के नाम मिलते हैं। पुराण, उपपुराण और औप पुराणों का वर्गीकरण इन्हीं में से किया गया था। कुछ विद्वान जिन्हें प्रमुख पुराण मानते हैं, दूसरे उन्हें उपपुराण व कुछ उन्हें औपपुराण कहते हैं। पूज्यवर ने काशी के विद्वानों से सम्पर्क कर अठारह पुराणों की नामावली तय की। यद्यपि उन सब में परस्पर मतभेद था, पर अन्तिम सम्मति उनकी ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई।

संपूर्ण वाङ्मय जुटा लेने के बाद प्रत्येक ग्रन्थ पर भाष्य लिखने के लिए उन्हें एकान्त की आवश्यकता थी। पत्रिका और पुस्तकों का लेखन, सम्पादन, साधकों-जिज्ञासुओं से सम्पर्क व दिशा निर्देशन, संगठन के संचालन आदि सभी कार्य अपने में महत्त्वपूर्ण थे। इन सबका सुनियोजन कर उपयुक्त व्यक्तियों को कार्यभार सौंप, वन्दनीया माताजी को अखण्ड-ज्योति के सम्पादन की गुरुतर जिम्मेदारी सँभलवाकर एक वर्ष के लिए तप करने गंगोत्री गोमुख के दुर्गम हिमालय वाले क्षेत्र में चले गए। साथ में सारे आर्ष वाङ्मय का मूल संकलन भी ले गए, ताकि तप से उद्भूत आत्मबल के प्रकाश में बाद में उत्तरकाशी में रहकर सारा भाष्य व टीका का कार्य सम्पन्न कर सकें। 'सुनसान के सहचर' पुस्तक यदि उनके हिमालय प्रवास के चिन्तन का नवनीत है, तो समग्र आर्ष वाङ्मय उसके तुरन्त बाद उत्तरकाशी में मात्र छह माह की अवधि के उस पुरुषार्थ का सार है, जो उन्होंने लेखनी के माध्यम से एक मनीषी, ऋषि, तत्त्वदर्शी की भूमिका निभाकर सम्पन्न किया।

सारे भाष्य को उन्होंने क्रमबद्ध कर मथुरा भेजते रहने का क्रम चालू रखा। वह कम्पोज होता रहा, किन्तु छपाई तभी हुई जब पूज्य गुरुदेव ने स्वयं आकर सारी अशुद्धियों को ठीककर स्वयं प्रूफ पढ़कर प्रेस में दिया। यही सर्वशुद्ध भाष्य प्रथम संस्करण के रूप में गायत्री जयन्ती, १९६१ को प्रकाशित हुआ। सर्वप्रथम वेद व उपनिषद् छपे, बाद में पुराण आदि अन्य ग्रन्थ। पुराणों ने थोड़ा समय जरूर लिया, क्योंकि इन्हीं में मध्यकाल के टीकाकारों द्वारा अपना उल्लू सीधा करने के लिए जोड़े गए अनावश्यक अंश ज्यादा थे। इन अंशों को पहचानना व पूर्वापर संगति बिठाकर उन्हें संपादित करना एक दुष्कर कार्य था। किन्तु पूज्य गुरुदेव की अठारह से बीस घण्टे नित्य काम करने की शैली ने इस कार्य को आसान कर दिया व समग्र आर्ष साहित्य पाँच वर्ष में छपकर जन-सामान्य के सामने आ गया। बाद में अन्यान्य प्रकाशकों के पास संस्करणों के छपते रहने व प्रूफ रीडिंग में प्रमाद होने से अशुद्धियाँ बढ़ती गयीं।

मूल ग्रन्थों का प्रथम संस्करण जिनके पास उपलब्ध है, उसे प्राप्त कर देखा जा सकता है कि आर्ष साहित्य के नाम पर पूज्य गुरुदेव के सम्पादित पाठ और अनुवाद ही आज आसानी से उपलब्ध हैं। आर्ष साहित्य को जिसने जन-सुलभ बना दिया, ऐसे युगपुरुष को हर संस्कृति प्रेमी नमन करने हेतु सहज श्रद्धावश प्रेरित हो जाता है। यदि मूल शुद्ध भाष्य जिसकी छपाई स्वयं पूज्य गुरुदेव की देखरेख में हुई, पुनः उपलब्ध कराया जा सके तो यह शिष्य समुदाय की सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

## प्रतिबंधरहित गायत्री एवं मुक्त यज्ञ

महाकुम्भ १९८८ का प्रसंग है। प्रयाग में कांची कामकोटि पीठ के शंकराचार्य स्वामी जयेन्द्र सरस्वती ने पूज्य गुरुदेव के विषय में अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा था- ''आचार्य जी ने गायत्री को जन-जन तक पहुँचाने के लिए भागीरथी प्रयत्न किया है। उनका एकाकी पुरुषार्थ सारे संत समाज की सम्मिलित शक्ति के स्तर का है।'' शंकराचार्य की इस सम्मति पर वहाँ उपस्थित संतजन विस्मित हुए, क्योंकि अब तक तो चारों मठ के शंकराचार्य गुरुदेव की आलोचना ही करते आए हैं, वह भी मात्र इसलिए कि उनकी राय में गायत्री मंत्र की दीक्षा द्विजों को ही दी जानी

चाहिए। अन्य वर्ण के लोगों को यह अधिकार दिए जाने पर वे सभी बड़ा कट्टरपंथी रुख रखते आये हैं।

स्त्रियों के गायत्री अधिकार के विषय में भी अन्य संत-महात्मा-महामण्डलेश्वर एक तरफ हैं एवं पूज्य गुरुदेव एक तरफ। पूज्यवर की प्रारंभ से ही यह मान्यता रही कि गायत्री व यज्ञ भारतीय संस्कृति के मानवमात्र को दो दिव्य अनुदान-वरदान हैं। किसी को भी जाति व लिंग, वर्ण का भेद किए बिना गायत्री को जपने व यज्ञ कार्य करने का पूरा अधिकार है। अपने विरोध में क्या कहा जा रहा है, इसकी उन्होंने जीवनभर परवाह नहीं की। जब कांची के शंकराचार्य की उपर्युक्त अभिव्यक्ति व पं. श्रीराम शर्मा आचार्य की प्रशंसा कुम्भ में पधारे पण्डितगणों ने सुनी तो सुनने वालों का चौंकना स्वाभाविक था। पूछने वालों ने प्रश्न किया- "आचार्य जी ने क्या शास्त्रों की अवलेहना कर जिस-तिस को गायत्री दीक्षा नहीं दी? क्या यह उचित है?" इस पर संत श्री का कहना था कि "शास्त्र विधि, शास्त्र के अनुशीलन से निर्धारित होती है, शास्त्र को शस्त्र बना लेने से नहीं। आचार्य जी ने जो भी किया, वह शास्त्रसम्मत ही है।"

बात अपनी जगह बिल्कुल सही थी। जिन लोगों ने गायत्री और यज्ञ को जनसुलभ बनाने के लिए गुरुदेव को पानी पी-पीकर कोसा, वे शास्त्रों का उपयोग हथियार बनाकर ही कर रहे थे, अन्यथा पाँचवें दशक में ही गायत्री महाविज्ञान, गायत्री ही कामधेनु है, स्त्रियों का गायत्री अधिकार आदि पुस्तकों में शास्त्रीय उद्धरणों एवं प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया गया था कि गायत्री और यज्ञ सबके लिए हैं। इसके लिए किसी की संस्तुति की गुरुदेव ने कभी अपेक्षा नहीं की, न ही अपनी प्रगति-यात्रा में इन व्यवधानों से कभी रुके।

यह बात सही है कि द्विजों को ही गायत्री का अधिकार है, लेकिन द्विज कौन से? शास्त्रीय प्रमाणों से पूज्य गुरुदेव ने समझाया कि द्विज वह जिसका दूसरा जन्म हुआ हो। जन्म से तो सभी शूद्र होते हैं, द्विजत्व तो अर्जित किया जाता है। एक जन्म माता-पिता द्वारा होता है, यह काया का जन्म है। दूसरा जन्म आत्मिक है और यह गायत्री और यज्ञ रूपी सद्ज्ञान व सत्कर्म के समन्वय से सम्भव होता है। गायत्री माता है व यज्ञ पिता। यह भारतीय संस्कृति का निर्धारण है। जिसने इन दोनों की सान्निध्य में आत्मिक प्रगति और दिव्य-स्फुरणा का अनुभव किया, वही द्विज है। यही शास्त्रोक्त व तथ्यसम्मत प्रतिपादन है। इन प्रतिपादनों से प्रतिगामियों व विरोध के लिए विरोध करने वालों, स्वार्थ पर जिनकी चोट पड़ती हो, ऐसे लोगों ने तरह-तरह की अफवाहें फैलाई व प्रत्यक्ष विघ्न भी उत्पन्न किए, लेकिन गुरुदेव इन अवरोधों से बिना प्रभावित हुए कभी रुके नहीं, चलते ही रहे।

गायत्री तपोभूमि की स्थापना के बाद पहली बार जब उन्होंने दीक्षा देना आरंभ किया, वे दीक्षार्थियों से कुछ व्रत-नियमों का पालन करने के लिए कहने लगे। नियमित गायत्री जप, सात्विक रहन-सहन, अभक्ष्य भक्षण त्याग के मूल में जो उद्देश्य था, वह यही कि दीक्षा लेने वाला आचारशुद्धि, आत्मशोधन के महत्त्व को समझ कर अपने को दिनोंदिन परिष्कृत करता चले। जो भी इन नियमों का पालन करने को तत्पर दीखता, वह चाहे जिस जाति या लिंग का हो, उसे वे बे-रोक-टोक दीक्षा देते। दीक्षा की यह प्रक्रिया जब गति पकड़ती गई तो लाखों लोगों ने गायत्री मंत्र की प्रेरणा को, सद्बुद्धि को अपने अंदर धारण कर लिया और ब्रह्मलोक से अवतरित इस कामधेनु का पयपान कर भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में प्रगति का लाभ लेने लगे। ऐसे व्यक्ति जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से गुरुदेव से मंत्रदीक्षा ग्रहण की, वे इन दिनों गायत्री मंत्र की प्रेरणाओं को अपने जीवन में उतार कर जीवन जी रहे हैं, ऐसे व्यक्तियों की संख्या लगभग पाँच करोड़ से अधिक है। कितनी बड़ी सेवा मानव समुदाय की, वे अपने जीवित रहते कर गए व अब सौ गुना अधिक व्यक्तियों को सद्बुद्धि की प्रेरणा देने का संकल्प लेकर गए हैं, वह पूरी होने पर निश्चित ही नवयुग की संभावनाओं को साकार देखा जा सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

उन्होंने समाज की जो सेवा की, उसका मूल्यांकन लोक-प्रशस्ति से नहीं, ऐसे ब्राह्मणत्व सम्पन्न व्यक्तियों के उद्‌गारों से किया जाना चाहिए जिन्होंने स्वयं वैसा जीवन जिया है। कांची के शंकराचार्य की चर्चा ऊपर हो चुकी है। आर्य समाज के प्रधान रहे महात्मा आनन्द स्वामी गुरुदेव को अत्यधिक स्नेह भी करते थे एवं सम्मान भी। वे जब गायत्री की प्रतिमा को प्रतिष्ठा करने वाले एक आर्यसमाजी पूज्य गुरुदेव के संस्थान गायत्री तपोभूमि में पधारे तो उन्होंने उपस्थित जन समुदाय को खरी-खोटी सुनाते हुए गायत्री को सार्वभौम बनाने के उनके प्रयासों की भूरि- भूरि सराहना की थी। अपने ही प्रमुख व सम्माननीय महात्मा के उद्‌गार संभवतः उपस्थित कट्टरपंथियों को कड़ुए लगे होंगे पर उनमें वास्तविकता थी, क्योंकि वे द्रष्टा की नजरों में जो महामानव का मूल्यांकन होता है, उसी की अभिव्यक्ति कर रहे थे। बाद में अपने महानिर्वाण से कुछ वर्ष पूर्व जब महात्मा आनन्द स्वामी हरिद्वार पधारे तो स्वयं गायत्री माँ की मूर्ति को नमन व प्रतीक-पूजा कर, एकपक्षीय व्याख्या करने वालों को चुनौती दे डाली। उन्होंने उपस्थित सभी श्रोताओं को बताया कि सृष्टि का नवसृजन जिस सत्ता ने किया है, उसी ने गायत्री परिवार व युगनिर्माण योजना के सूत्रधार के रूप में जन्म लिया है। पूज्य गुरुदेव ने बड़ी विनम्रतापूर्वक मंच से कहा कि वे महाकाल के प्रतिनिधि मात्र हैं, किन्तु उपस्थित श्रोता मुग्ध थे, यह जानकर कि वे कैसी सत्ता के सान्निध्य में हैं।

यज्ञों के लिए यजनकर्त्ताओं की कभी जाति-पाँति नहीं पूछी गयी। जहाँ भी आयोजन होता वहाँ निर्धारण के समय ही निर्देश दे दिये जाते कि यज्ञ में सम्मिलित होने वाले पहले कुछ साधनात्मक उपचार कर लें। गायत्री का लघु अनुष्ठान, चौबीस हजार मंत्रों का जाप, नौ दिन तक संयम नियम से रहना। यदि लघु अनुष्ठान संभव न हो तो गायत्री चालीसा का चौबीस सौ पाठ। इतना भी न हो सके तो मंत्रलेखन ही पर्याप्त है। पंचाक्षरी ॐ भूर्भुवः स्वः का जप भी जो कर ले उसे भी

वे यज्ञ की पात्रता दे देते थे। मात्र वनौषधियों से होने वाले इन यज्ञों में पहले दिन कलश यात्रा इसी तथ्य की घोषणा करती थी कि सभी स्त्री-पुरुषों को यज्ञ में सम्मिलित होने का अधिकार है। ब्राह्मण तो, व्यक्ति अपने कर्मों से बनता है, जन्म से नहीं होता। यह एक क्रान्तिकारी आंदोलन था, संभवतः पिछले सभी समाज-सुधारकों से भी अधिक प्रचण्ड स्तर का क्रान्तिकारी, युगान्तरकारी।

मथुरा का १०८ कुण्डी महायज्ञ जब १९५६ में सम्पन्न होने जा रहा था, तब मथुरा के कई पण्डों-ब्राह्मणों ने विरोध किया। उन्होंने सभी तरह की तरकीबों से विघ्न पहुँचाने का प्रयास कर लिया। जब इनका एक प्रतिनिधि मण्डल पूज्य गुरुदेव से मिलने आया तो उन्होंने उनका सम्मानपूर्वक स्वागत कर बिठाया, प्रत्येक को दुशाला, दक्षिणा दी व उनकी बात को बिना किसी प्रतिरोध के सुना। उनके इस व्यवहार से ही अपनी बात कहकर जाने वाले उन्हीं ब्राह्मणों में से कुछ ने यज्ञ कार्य में सहयोग तक दिया। कोई उनका कभी कुछ बिगाड़ नहीं पाया व इसके बाद अभूतपूर्व स्तर का १००८ कुण्डीय महायज्ञ भी उन्होंने सम्पन्न किया व लाखों ने उसमें भाग लिया। यह एक योद्धा, युगपरिवर्तन को कृत संकल्प व्यक्ति का ही कर्तृत्व हो सकता था कि उसने यज्ञ जैसे पुनीत कार्य को सबके लिए जनसुलभ बना दिया। अध्यात्म में गतिशील साम्यवाद लाने का श्रेय किसी को जाता है तो पूज्य गुरुदेव को।

मथुरा से बाहर सुदूर क्षेत्रों में भी उनका कम विरोध नहीं हुआ। कई व्यक्ति भ्रान्तियाँ फैला देते कि जहाँ आचार्य जी यज्ञ करने जा रहे हैं, वहाँ अनिष्ट होने वाला है। क्योंकि गायत्री मंत्र कीलित है। वे ऐसा प्रचार भी करते कि इसे तो कोई सिद्ध ब्राह्मण ही जप सकता है। ऐसे विघ्नों का कोई प्रभाव जन समुदाय पर नहीं पड़ा, क्योंकि वे उनका साहित्य पढ़कर पहले ही अपने अज्ञान के स्थान पर सद्ज्ञान की प्रतिष्ठापना कर चुके थे। कुछ व्यक्ति जो सभा में विघ्न फैलाने या शास्त्रार्थ करने की धमकी से आते उन्हें वे पहले सुनने को कहते व अपने प्रवचन में ही कुछ ऐसा कह देते कि न केवल उसका समाधान हो जाता, बल्कि उसका आध्यात्मिक कायाकल्प भी हो चुका होता था। वे कहते कि- ''गायत्री तो वेदमाता है, जगतजननी है, ज्ञान स्रोत है, मातृस्वरूप है, सद्बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी है। वह कैसे अपनी संतान का अहित कर सकती है। वह कुपित भी नहीं होती व अपना आँचल पकड़ने वाले को कभी मझधार में भी नहीं छोड़ती।'' लाखों व्यक्ति उन्हें सुनकर उनके होते चले गए।

अब तो परम्परावादी आचार्य, महामण्डलेश्वर तक गुरुदेव के गायत्री व यज्ञ की दिशा में किए गए कार्य की महत्ता को स्वीकारते व सराहते हैं। इस सन्दर्भ में स्वामी करपात्री जी की सम्मति उल्लेखनीय है। वे बड़े कट्टरपंथी माने जाते हैं, पर अपनी मान्यताओं के प्रति हठी इन्हीं करपात्री जी ने १९७४ में हरिद्वार में कुम्भ में कहा था कि- ''श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने गायत्री को सबकी बना दिया। मेरी अपनी दृष्टि में यह बात मैं आज भी मानता व कहता हूँ कि यह ठीक नहीं है, लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि गायत्री सबकी होने के बाद लुप्त होने से बच गयी। यदि इसे ब्राह्मणों के भरोसे छोड़ दिया जाता तो कौन इसे याद रखता ?''

स्वामी अखण्डानन्द जी जो करपात्री जी के गुरु भाई थे, ने दिल्ली के लक्ष्मी नारायण मन्दिर में अक्टूबर, १९७८ में चली प्रवचन माला में कहा था कि जो गायत्री का गंगाजल की तरह सेवन करना चाहते हों, वे आचार्य जी का मार्ग अपनाएँ। वह आसान है और निरापद भी। आचार्य जी ने तो यज्ञ को भी देवदर्शन की तरह सुलभ कर दिया।

क्या इसके बाद भी किन्हीं और की सम्मति आवश्यक है?

# युगनिर्माण का सत्संकल्प-मिशन का घोषणापत्र

''मैं आस्तिकता और कर्त्तव्यपरायणता को मानव-जीवन का धर्मकर्त्तव्य मानता हूँ।'' यह थीं प्रथम पंक्तियाँ उस अधिकृत सत्संकल्प की, घोषणा-पत्र की जिसे युग-निर्माण योजना का प्रारंभिक उद्घोष कहा जा सकता है। मार्च १९६२ की अखण्ड-ज्योति में पहली बार पूज्य गुरुदेव ने इस सत्संकल्प को लिखते हुए यह आह्वान किया कि नित्य प्रातःकाल एवं शुभ अवसरों पर इसे सामूहिक रूप से पढ़ा जाए। सभी परिजनों, पंजीकृत शाखाओं को एवं ज्ञानमंदिर चलाने वाले परिजनों को उद्बोधन करते हुए सितम्बर १९६२ के अंक में लिखा गया कि यह वह विचार-बीज है जिसके आधार पर युग निर्माण की संभावनाएँ सुनिश्चित होंगी।

युगपरिवर्तन की बात एक क्रान्तिकारी स्तर का विचारक ही कह सकता है। वही सोच सकता है कि सड़ी-गली मान्यताओं से घिरा यह समाज तभी बदल सकता है जब व्यक्ति अपने आपको आमूल-चूल बदले। परिस्थितियों को बदलने की बात तो सब कहते हैं, पर मनःस्थिति को बदल कर विचार करने की शक्ति द्वारा अपने श्रेष्ठ संकल्पों को जाग्रत कर यदि व्यक्ति स्वयं को बदल ले तो यह सारा समाज बदल जाय। यह एक दार्शनिक एवं मनोविज्ञान का मनीषी विद्वान ही सोच सकता है। 'युग' को बदलने जैसे असंभव दीखने वाले कार्य को तभी व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है जब उसकी एक इकाई समाज व उसकी भी एक इकाई परिवार तथा अन्ततः व्यक्ति का सर्वांगपूर्ण परिष्कार हो। मनुष्य बदलता है तो जमाना भी बदलने लगता है। दृष्टिकोण में परिवर्तन आते ही वातावरण बदला हुआ दिखाई पड़ने लगता है। ''एक-एक व्यक्ति का निर्माण होता चले तो युगनिर्माण हुआ दृष्टिगोचर होगा'' यह एक अवतार स्तर की सत्ता ही कह सकती है जिसे भविष्य भी दिखाई पड़ता है एवं वर्तमान को बदलने का सारा ताना-बाना भी जो परोक्ष जगत के साथ ही बुनती चलती है!

कोई यह भी कह सकता है कि 'युग निर्माण' 'युग-परिवर्तन' बड़े-बड़े शब्द हैं, लच्छेदार अभिव्यंजनाएँ हैं। यह सब कैसे संभव है, जब विषमताएँ, अलगाववाद, मूढ़

मान्यताएँ ही चारों ओर संव्याप्त हों। क्या यह एक यूटोपिया नहीं है कि व्यक्ति समाज ही नहीं, एक पूरे युग को, 'एरा' को बदलने की बात कह रहा है परंतु इन सबके मूल में उस सत्साहस एवं प्रचण्ड मनोबल, इच्छा-शक्ति को देखा जाना चाहिए जो सृष्टा के **'एकोऽहं बहुस्यामि'** संकल्प स्तर की है तथा **'धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे'** के रूप में मानवमात्र को दिया गया आश्वासन यह महामानव का संकल्प है एवं उसी की परिणति है कि उसी विषमता भरे समुदाय में आज जो परिवर्तन की बात सोची जा रही है, सभी विचारक जिसके बारे में अपना मतैक्य प्रकट करते दिखाई देते हैं, उसके मूल में व्यक्ति निर्माण ही है।

इतना बड़ा समुदाय जो प्रज्ञापरिवार, गायत्री परिवार के रूप में अखण्ड-ज्योति, युगशक्ति गायत्री के पाठकों के परिकर के रूप में दिखाई देता है उसने इस सत्संकल्प की संजीवनी द्वारा ही स्वयं को उस स्तर तक पहुँचाया है, जहाँ वे आज हैं।

पूज्य गुरुदेव लिखते हैं कि ''युग परिवर्तन के लिए जिस अवतार की आवश्यकता है, वह पहले आकांक्षा रूप में ही अवतरित होगा। इसी अवतार का सूक्ष्म स्वरूप यह युग निर्माण सत्संकल्प है।'' यह कथन एक निश्छल निर्मल अन्तः-करण वाले उस महामानव का है जो जीवन भर इसी निमित्त तपा तथा कुन्दन की तरह उस अग्नि में तप कर सोना बना। उसके विचार ही आज सूक्ष्मजगत में छाए सारे परिवर्तन का सरंजाम बनाते दिखाई देते हैं। कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी यदि यह कहा जाय कि स्वयं निष्कलंक प्रज्ञावतार के संकल्प के रूप में यह घोषणा-पत्र प्रकट हुआ।

अपने इस सत्संकल्प में पहला स्थान पूज्य गुरुदेव ने आस्तिकता को दिया जो व्यक्ति को सन्मार्ग पर चलाती है, उसे भगवत्सत्ता के अनुशासन में रहना सिखाती है। आस्तिकता भी ऐसी जो व्यक्ति को पलायनवादी न बनाए बल्कि कर्मयोगी, कर्त्तव्यपरायण बनाए। भगवान के प्रति सच्चा समर्पण, सक्रिय समर्पण है, यही सूत्र समझाते हुए वे कहते हैं कि यदि आस्तिकता कभी जीवन में फलित होगी तो व्यक्ति कर्त्तव्यपालन को सबसे पहले महत्त्व देगा। कर्त्तव्य शरीर के प्रति तो यह है कि उसे भगवान का मंदिर समझा जाय व आत्मसंयम व नियमितता के माध्यम से उसे स्वस्थ, नीरोग, सशक्त बनाये रखा जाय। मन को स्वच्छ रखना, कलुषरहित, निष्पाप बनाये रखना उतना ही जरूरी है जितना व्यक्ति शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखता है। यदि मानसिक स्वास्थ्य अक्षुण्ण बना रहा तो जीवनीशक्ति भी सही बनी रहेगी, मनोविकार व दुर्भावनाएँ सतायेंगी नहीं तथा आधि-व्याधि समीप भी नहीं आयेंगी। मनन व चिन्तन, स्वाध्याय व सत्संग ऐसी औषधियाँ हैं जो मन को सदैव इधर-उधर भागने से रोककर सही दिशा दिखाती हैं व सदैव आत्म-निर्माण, आत्म-विकास की प्रेरणा देती रहती हैं। सद्विचारों के लिए श्रेष्ठ साहित्य ही वरेण्य होना चाहिए व सतत स्वाध्यायरत रह, श्रेष्ठ व्यक्तियों का सान्निध्य प्राप्त कर उनके समूह में रहकर व्यक्तियों को सही चिन्तन की शैली का अभ्यास करना चाहिए, यह सत्संकल्प का प्रथम पाठ है। यदि इतनी व्यवस्था भी कोई जीवन में कर ले तो वह तो ही बदल जाएगा, साथ ही अनेकों को भी बदलने में समर्थ हो सकेगा।

आगे वे लिखते हैं कि सामुदायिकता की भावना जब तक विकसित नहीं होगी, हर व्यक्ति अपने हित के बजाय सब का हित पहले नहीं सोचेगा, बल्कि चारों ओर संकीर्ण स्वार्थपरता का ही साम्राज्य बना रहेगा। आध्यात्मिक साम्यवाद का मूलमंत्र है जो पूज्य गुरुदेव बताते हैं-**'सबके हित में अपना हित'** यहां एकता-समता का, सामाजिक न्याय का मूल आधार स्तंभ है। ''मैं नहीं, हम सब'' की बात सोची जाय तथा 'वर्ण' और 'लिंग' का अनुपयुक्त भेद भाव समाप्त किया जाए। आज जब चारों ओर साम्राज्यवाद, अधिनायकवाद ढह चुका है व वर्ण भेद के खिलाफ संघर्ष जारी है, यह कथन तब कितना समयानुकूल था, यह भली भाँति समझा जा सकता है।

आत्म-सुधार की प्रेरणा देने के लिए कुछ गुणों को जीवन में उतारने की बात संकल्प में आगे कहते हैं ''नागरिकता, नैतिकता, मानवता, सच्चरित्रता, शिष्टता, उदारता जैसे सद्गुणों को सच्ची सम्पत्ति समझकर मैं उन्हें अपने जीवन में बढ़ाता चलूँगा।'' 'सच्ची सम्पत्ति' शब्द गौर करने योग्य है। सम्पदा तो भौतिक जगत में कई रूपों में बिखरी पड़ी है, पर सच्ची सम्पत्ति वह है जो व्यक्ति को नरमानव से देव मानव बना दे। ये गुण जो ऊपर बताये गये हैं, जीवन में उतारे जाएँ, तो व्यक्ति महामानव बनकर ही रहेगा। साधना, स्वाध्याय, संयम व सेवा इन चार सूत्रों में, जो वे आगे लिखते हैं, सारा अध्यात्म दर्शन समाया हुआ है। आत्म-शोधन व फिर सद्विचारों का आरोपण अपने ऊपर कठोर नियंत्रण एवं सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन हेतु सेवा-साधना या समाज-देवता की आराधना जो करता चले वह आत्म-कल्याण का पथ तो प्रशस्त करेगा ही, बल्कि, औरों की मुक्ति का निमित्त भी बनकर सहज ही श्रेय पाता चलेगा।

वस्तुतः सत्संकल्प का एक-एक अक्षर क्रांति का बीज है। किसी एक को भी जीवन में उतार लिया जाए तो व्यक्ति की, स्वयं की आत्मिक-प्रगति ही नहीं भौतिक प्रगति का द्वार भी खुला मिलेगा। न केवल वह बदलेगा, बल्कि उसके आस-पास का परिकर भी बदल जाएगा।

बुद्धावतार के उत्तरार्द्ध में जन्मे प्रज्ञावतार के प्रतीक पूज्यवर ने आगे सूत्र दिया है कि ''परम्पराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व दिया जाएगा तथा अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता ही शिरोधार्य होगी।'' विवेक यदि परम्पराओं के समक्ष जाग्रत रहे तो समाज में जो भेड़ों के अन्धानुकरण की

लहर देखी जाती है वह समाप्त हो जाय। दुष्प्रवृत्तियाँ, कुरीतियाँ, मूढ़-मान्यताएँ, विवेक की उपेक्षा करने से ही पनपती हैं। विवेक रूपी नेत्र के जाग्रत होते ही इनके मिटने में देर नहीं लगती। आज समाज में व्यक्ति अनीति का 'शार्टकट' वाला रास्ता अपनाकर अदूरदर्शितापूर्ण ढंग से सफलता को पाकर हर्षोन्मत्त होता, अंततः पछताता दिखाई देता है। यदि नीति का स्थायी महत्त्व समझा जाए तो व्यक्ति नीति की राह पर चलना, ईमानदारी से जीवन बिताना श्रेयस्कर मानेगा। मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी भी फिर वह नीति तथा विधि रहेगी, जिसके आधार पर सफलता प्राप्त की गयी।

स्वार्थ नहीं, परमार्थ को प्रधानता देते हुए सत्प्रवृत्ति विस्तार हेतु समय, प्रभाव, उपार्जन, ज्ञान एवं पुरुषार्थ का एक अंश लगाने की प्रेरणा देते हुए पूज्यवर कहते हैं कि यही सच्चा धर्म है, युगधर्म है। ब्राह्मण वही है जो सौ हाथ से कमाए, हजार हाथों से दान करे। ऐसा ब्राह्मणत्व अर्जित करने की वे सबको प्रेरणा देते हैं।

''आत्मनः **प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**'' यह सूक्त पढ़ा तो कइयों ने होगा पर जीवन में इसे उतारना जो संभव कर लेता है, वह सबकी निगाह में चढ़ जाता है। यदि हम दूसरों से अच्छे व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं तो हमें भी उनसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। जन-सम्पर्क के, व्यवस्था-कौशल के, दूसरों को अपना बनाने के, संजीवनी विद्या के जीवन जीने की कला के सारे सूत्र इस एक ही वाक्य में समा जाते हैं कि -''मैं दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करूँगा जो मुझे अपने लिए पसंद नहीं।''

ईमानदारी और परिश्रम की कमाई ही पचती है। इससे उलटे व्यवहार वाली तो बीमारी बनकर कोढ़ बनकर इसी जन्म में व्यक्ति को त्रास देती है व क्रिया की प्रतिक्रिया का कर्मफल वाला सिद्धान्त समझाती है। अनीति को राह पकड़कर अधिक कमाने वाले वित्तेषणाग्रस्त व्यक्ति शोषण करते हैं, नर-पिशाच की पदवी पाते हैं व लोकभर्त्सना के भाजक बनते हैं, पर जो अपना उपार्जन श्रम की स्वेद बूँदें बहाकर ईमानदारी से करता है, वह स्वभावतः सेवापरायण, उदारमना तथा सज्जन होता है। अध्यात्मवादी को यही जीवन-नीति अपनानी चाहिए, भले ही प्रत्यक्ष घाटा ही क्यों न दिखाई देता हो।

अगला सूत्र है नारी जाति के प्रति माता, बहिन और पुत्री की दृष्टि रखेंगे, कुदृष्टि से ही कामुकता पनपती व अन्यान्य विकार जन्म लेते हैं। विश्व-शांति का एक प्रमुख आधार बताते हुए पूज्य गुरुदेव लिखते हैं कि विश्व की आधी जनशक्ति नारी है। यदि उसके प्रति पूज्य व पवित्र दृष्टि रखी जाने लगे तो उस पर शोषण, अत्याचार स्वतः बन्द हो जाएँगे तब नर-नारी दोनों मिलकर एक स्वस्थ व श्रेष्ठ समाज की रचना करेंगे। दाम्पत्य जीवन तो जिया जाए पर सन्तानोत्पादन को एक कर्त्तव्य मात्र मानते हुए कुदृष्टि प्रधान कामुक जीवन न जिया जाए। नारी की महत्ता अग्नि के समान बताते हुए वे कहते हैं कि इसे ऊष्मा माना जाए, जीवन का स्रोत माना जाय। नारी की भावनाओं को यथोचित सम्मान देकर उसे भी ऊँचा उठने का पूरा अवसर दिया जाए। रमणी की नहीं, भोग्या की नहीं, अपितु माता की, भगिनी की दृष्टि रखी जाय तो ही व्यक्ति-निर्माण, परिवार-निर्माण संभव है।

अंत में पूज्य गुरुदेव लिखते हैं कि मनुष्य भाग्य निर्माता है, अपने भविष्य का निर्धारण वह स्वयं करता है। इस असाधारण सामर्थ्य का अधिपति होने के कारण यह उद्घोष करने में उसे कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि यदि वह उत्कृष्ट बनेगा व दूसरों को श्रेष्ठ बनाने का प्रयास करेगा तो युग अवश्य बदलेगा। **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** के आध्यात्मिक मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार कितना शुभ व श्रेष्ठ यह संकल्प है कि युग अवश्य बदलेगा, क्योंकि मैं वह नहीं रहूँगा जो आज हूँ। मैं आज से भी श्रेष्ठ व उत्कृष्ट अपने को बनाता रहूँगा व पारस से छूकर लोहे से सोना बन जाने की तरह औरों को भी वैसा बनाता चलूँगा। यदि ऐसा हुआ तो युग अवश्य बदलेगा क्योंकि फिर समाज में श्रेष्ठ व्यक्तियों का, सद्भावना को महत्त्व देने वाले नररत्नों का, संवेदना से भरे-पूरे देवमानवों का बाहुल्य होगा। पुरुषार्थ ही प्रधान है भाग्य नहीं, यह मान्यता इस घोषणा में कूट-कूट कर भरी हुई है कि ''मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है।'' ऐसे व्यक्ति जो पुरुषार्थ द्वारा अपने भविष्य को श्रेष्ठ व उत्तम बनाते हैं, सुगंधित चन्दन के वृक्षों के समान अपनी सुरभि चारों ओर बिखेरते हैं, युगप्रवर्तक कहलाते हैं व मल्लाह बनकर अपनी नाव स्वयं खेते तथा औरों को भी पार लगाते हैं। जब ऐसे व्यक्ति हों तो युग क्यों नहीं बदलेगा? अवश्य बदलेगा।

एक युगपुरुष द्वारा लिखा गया यह सत्संकल्प(घोषणा-पत्र) स्वयं में एक दस्तावेज है, युग-निर्माण के लम्बे सफर में एक कीर्तिस्तंभ है। बाद में मार्च, १९८९ में इसी को एक संशोधित प्रगतिशील रूप दिया गया, जिसमें मूल बातें तो वही थीं, जिनका विवेचन ऊपर किया गया है, पर कुछ पक्षों को इसलिए जोड़ा गया कि वे समय के अनुकूल-उपयुक्त थे। इसमें समझदारी, बहादुरी व जिम्मेदारी को भी ईमानदारी के साथ जोड़ दिया गया। राष्ट्रीय एकता व अखण्डता की बात नये सिरे से दुहराई गई तथा अंत में अपना विश्वास पूरी मजबूती से इस संकल्प पर प्रकट करते हुए लिखा कि - ''हम बदलेंगे युग बदलेगा, हम सुधरेंगे युग सुधरेगा।''

महाकाल जब यह कह रहा हो तब उसकी अंशभर आत्माएँ ऐसा क्यों नहीं करेंगी। युगपरिवर्तन का शुभारम्भ हो चुका है, नवयुग निश्चित ही आना है, यह विश्वास यदि हम बनाये रखें, स्वयं को बदलते हुए ऊँचा उठने की दिशा में बढ़ते चलें तो पूज्य गुरुदेव का 'इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य' उद्घोष निश्चित ही साकार होकर रहेगा।

# नारी जाग्रति के प्रणेता, युगऋषि पूज्य गुरुदेव

**''केवल नारी नहीं, सुनो हम साथी हैं, भगिनी माँ हैं।
नहीं वासना का साधन हैं, हम ममता हैं, गरिमा हैं।।
आँचल में जीवनधारा है, कर में आतुर राखी है,
मस्तक पर सिन्दूर बिन्दु, अनुराग त्याग की सीमा है
हैं गृहिणी, सहधर्मचारिणी, कुल दीपक की बाती है।''**

प्रस्तुत कविता की पंक्तियाँ अखण्ड-ज्योति अप्रैल १९६३ के अंक से ली गयी हैं। ये बताती हैं कि सूत्र-संचालक ने कितनी अंतःपीड़ा के साथ इन्हें अपनी पत्रिका में प्रकाशित किया होगा। वस्तुतः नारी जागरण अभियान स्वयं में एक ऐसा आंदोलन है जिसका शुभारंभ कर, गति देकर लाखों महिलाओं में प्रगति की उमंग भर देने का जो पुरुषार्थ सूत्र-संचालक पूज्य गुरुदेव द्वारा सम्पन्न हुआ, यह अकेला कार्य ही उन्हें युगनिर्माताओं की श्रेणी में बिठा देता है। आधी जनशक्ति के दमन, शोषण, उत्पीड़न पर वस्तुतः पिछले दो हजार वर्षों में कहा तो बहुत गया, पर उसे आन्दोलन का रूप छुट पुट स्तर पर ही दिया गया। सड़े-गले मूढ़-मान्यताओं से भरे इस समाज को जब तक जमकर झकझोरा नहीं जाता, तब तक बदलने की बात तो दूर उनमें गतिशीलता भी नहीं आती।

पूज्य गुरुदेव ने 'अखण्ड-ज्योति' के शुभारंभ के साथ ही अपनी लेखनी यदि 'मैं क्या हूँ' जैसे जटिल, आत्मोपनिषद् प्रधान विषय पर चलाई थी तो दाम्पत्य जीवन की निर्मलता एवं गृहस्थ एक तपोवन जैसे व्यावहारिक विषयों पर भी विशद् विवेचन किया था। उद्देश्य एक ही था-पुरुष अपने घर में बैठी अपनी पत्नी को यथोचित सम्मान देना सीखें, नारी शक्ति की महत्ता को पहचानें व उन्हें भी आगे बढ़ने के उपयुक्त अवसर प्रदान करें। मात्र बच्चे जनने की मशीन न समझकर उन्हें बराबर का साझीदार बनाएँ। यह संयोग नहीं है कि उन्हीं दिनों शरतचन्द्र चटर्जी, प्रेमचन्द्र आदि की कृतियाँ उपन्यास जगत में इन्हीं विषयों पर लिखी जा रही थीं। रवीन्द्रनाथ टैगोर की नारी की व्यथा-वेदना पर मार्मिक कथाएँ उन दिनों खूब पढ़ी जा रही थीं। मिशन के सूत्र-संचालक पूज्यवर ने शुरुआत कुदृष्टि के शोधन से की। यदि नर अपने कामुक चिन्तन को बदल लेता है तो नारी पर अनावश्यक दबाव, शोषण स्वतः ही बन्द हो जाता है। सुखी गृहस्थ कैसे बना जाए, इसके लिए भी उन्होंने दाम्पत्य जीवन की पवित्रता पर जोर दिया।

क्रमशः गायत्री व यज्ञ का प्रतिपादन करते-करते उन्होंने नारी पाठकों को याद दिलाया कि वे अपनी गरिमा को पहचानें। जून सन् १९५१ की अखण्ड-ज्योति में वे लिखते हैं कि वैदिककाल में ऋषिकाएँ ही समाज की विभिन्न गतिविधियों का संचालन करती थीं। सभी ब्रह्मवादिनी थीं तथा कइयों ने मंत्रों की रचना तक की है। वेदाध्ययन, ब्रह्म-उपासना, यज्ञ, शिक्षण आदि गृहस्थ संचालन के अतिरिक्त उनके द्वारा सम्पादित कार्य थे। बृहदारण्यक का उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा कि-''जिस प्रकार पुरुष ब्रह्मचारी रहकर तप, स्वाध्याय, योग आदि द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, वैसे ही स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी रहकर आत्म-निर्माण एवं परमार्थ का संपादन करती हैं।'' अथर्ववेद का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि **''ब्रह्मचर्येण कन्या ३युवानं विन्दते पतिम्''** (*अथर्व ११/७/१८*) अर्थात् कन्या ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करती हुई उपयुक्त पति को प्राप्त करती है।

संभवतः पूज्य गुरुदेव धर्म-क्षेत्र में ऐसे पहले प्रवक्ता रहे हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक पुरुषार्थों से लेकर बौद्धिक जगत के, समाज क्षेत्र के विभिन्न कार्यों में पुरुष व स्त्री दोनों को समान अवसर दिए जाने की वकालत उस जमाने में की, जबकि ऐसा समाजशास्त्री भी खुलकर नहीं कह पा रहे थे। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के बाद जब वहाँ १०८ एवं १००८ कुण्डीय गायत्री महायज्ञ सम्पन्न हुए तो वंदनीया माताजी एवं पूज्य गुरुदेव दोनों की उनके संचालन, व्यवस्था में समान जिम्मेदारी थी। सभी आमंत्रित नर व नारियों को यज्ञोपवीत, दीक्षा, गायत्री अनुष्ठान एवं यज्ञ में भाग लेने की पूरी स्वतंत्रता दी गयी एवं वहीं से उस अभियान की शुरुआत हुई जिसे उन्होंने नारी जाग्रति या महिला जागरण अभियान नाम दिया। मार्च, १९५८ में गुरुदेव अपनी पत्रिका में लिखते हैं कि- ''नारी जाति के बौद्धिक व भावनात्मक उत्कर्ष के भारी महत्त्व को समझते हुए यह विचार उठता है कि हमारी धर्मपत्नी की शक्ति, योग्यता व भावना का उपयोग क्यों न इस कार्य में किया जाए।'' उन दिनों वंदनीया माताजी की इच्छा कन्याओं के लिए गुरुकुल आरंभ करने की थी। इसके लिए पूज्य गुरुदेव व माताजी दोनों कई कन्या गुरुकुलों का निरीक्षण करके आए थे। संभवतः उन दिनों परिजनों की कन्या को घर से बाहर भेजने की हिचक को देखते हुए वे इस चिन्तन को कार्य का स्वरूप नहीं दे पायीं पर बाद में शांतिकुंज आने पर सुनियोजित ढंग से इस कार्य को चला सकीं।

सन् १९५८ के महायज्ञ के बाद अगले वर्ष ही १९५९ की गायत्री जयंती पर उन्होंने पहली महती जिम्मेदारी वंदनीया माताजी के कंधों पर डाली। वह थी अखण्ड-ज्योति के संपादन की। २ वर्ष तक अपनी हिमालय यात्रा एवं आर्ष ग्रन्थों के भाष्य हेतु बाहर रहने के कारण वे परोक्ष मार्गदर्शन वंदनीया माताजी का करते रहे, किंतु सारा प्रत्यक्ष दायित्व वंदनीया माताजी ने बड़ी कुशलतापूर्वक सँभाला। यहीं से उन्हें दस वर्ष बाद सौंपे जाने वाले अतिमहत्त्वपूर्ण कार्य की नींव पड़ चुकी थी।

अपनी विदाई से एक वर्ष पूर्व उन्होंने 'आध्यात्मिक काम विज्ञान' के नाम से एक छह अंकों तक धारावाहिक चलाने वाली एक लेखमाला प्रकाशित की। इसमें मूल प्रतिपादन यह था कि- ''प्रजनन प्रक्रिया के मूल में छिपी पवित्रता को पहचाना जाना चाहिए। नर और नारी दोनों मिलकर एक व्यवस्थित शक्ति का रूप धारण करते हैं। जब तक यह मिलन न हो, चेतना व गति उत्पन्न ही न होगी। कामबीज का दुरुपयोग न कर उसका परिष्कार किया जाना चाहिए। नर-नारी का निर्मल सामीप्य ही आध्यात्मिक काम विज्ञान है।'' यह एक क्रांतिकारी

प्रतिपादन था, जिसके माध्यम से नर की शक्ति का स्रोत नारी को बताया गया था व मर्यादित यौन सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए किस प्रकार दोनों प्रगति पथ पर बढ़ सकते हैं, इसका मार्गदर्शन किया गया था।

वंदनीया माताजी को मातृत्व की उदात्त गरिमा से भरा-पूरा बताते हुए मई, १९७१ की अखण्ड-ज्योति में उन्होंने लिखा कि- ''जून के बाद माताजी शांतिकुंज हरिद्वार रहेंगी। अखण्ड घृतदीप उनके साथ चला जाएगा। वे भी २४ लक्ष के २४ महापुरश्चरण संपन्न करेंगी।'' गुरुदेव ३० जून, १९७१ को हिमालय चले गए एवं सारा कार्यभार वंदनीया माताजी ने सँभाला। यह पूज्य गुरुदेव के स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का प्रथम चरण था। उन्होंने प्रत्यक्ष से अपना स्वरूप काफी पीछे कर वंदनीया माताजी के माध्यम से मिशन का मार्गदर्शन-संचालन आरंभ कर दिया था। एक वर्ष की अवधि जब तक गुरुदेव अपनी मार्गदर्शक सत्ता के पास रहे; माताजी के पास बारह कन्याएँ आ गईं, जो १२ १३ वर्ष की सुसंस्कारी विभूतियाँ थीं। इन्होंने अखण्डदीप के पास अखण्ड महापुरश्चरण वंदनीया माताजी के मार्गदर्शन में आरंभ कर दिया, जो चार वर्ष में समाप्त हो गया। इन्हीं कन्याओं की संख्या बढ़ी व इनको प्रशिक्षिका बनाकर शांतिकुंज के नारी-जागरण सत्र चलाये गये, जो ३-३ माह के थे।

इन नारी-जागरण सत्रों की विशेषता यह थी कि इनमें गुरुकुल स्तर की शिक्षा के साथ-साथ परिवार-निर्माण व लोकसेवी बनने का समग्र शिक्षण दिया जाता था। आठवें दर्जे से अधिक पढ़ी वयस्क कन्याओं व महिलाओं को प्रवेश दिया गया। स्वास्थ्य संरक्षण, शिशुपालन, घर की स्वच्छता, परिवार-व्यवस्था, कुरीतियों से संघर्ष, सामान्य संगीत शिक्षा, लाठी व्यायाम, स्काउटिंग, संस्कार कर्मकाण्ड तथा स्वावलम्बन की शिक्षा इनमें दी जाती थी। युग नेतृत्व तथा समूह संचालन भी इन्हें यहाँ सिखाया गया। प्रवेश संख्या बढ़ती गई, शांतिकुंज का भी विस्तार होता गया एवं जुलाई १९७५ में 'महिला जाग्रति अभियान' नाम से एक स्वतंत्र पत्रिका प्रकाशित होना आरंभ हो गई। इस पत्रिका में ऊपर बताये गये विषयों का विवेचन व मार्गदर्शन समाहित था। आरंभिक वर्ष से ही इसकी पाठक संख्या बीस हजार पहुँच गई, जो बताती है कि ऐसे साहित्य की कितनी आवश्यकता उस समय थी। इस पत्रिका में चुनौती थी-

**जब तक नारी के नयनों से बहता है जल खारा।**
**तब तक नवयुग का न पूर्ण होगा मृदुस्वप्न तुम्हारा॥**

पूरी पत्रिका सारे परिकर को संबोधित थी व इसके लेखों ने न केवल परिवार के मुखिया को, बच्चों को व अन्यान्य सदस्यों को भी जीवन जीने की नयी दिशा दी। पाँच वर्ष बाद इस पत्रिका को युगनिर्माण पत्रिका से समन्वित कर इन विषयों का विवेचन इसमें किया जाने लगा।

सबसे महत्त्वपूर्ण व चौंका देने वाली घोषणा पूज्यवर ने अक्टूबर, ७५ में की, जब उन्होंने देवकन्याओं के जत्थे क्षेत्रों में नारी सम्मेलन हेतु भेजे जाने का निर्णय लिया व नवम्बर में उन्हें रवाना कर दिया गया। वंदनीया माताजी व पूज्य गुरुदेव द्वारा प्रशिक्षित इन तपस्विनी देवकन्याओं के जहाँ-तहाँ ओजपूर्ण व्याख्यान हुए। इस प्रकार एक नई क्रांति का तूफान आया। सभी ओर महिला नेतृत्व की, युग-परिवर्तन की दुंदुभि बजती चली गई। यह दृश्य देखने योग्य था कि जिस सभा को बड़े-बड़े वक्ता नहीं सँभाल पाते उसे गेरुआ वस्त्रधारी इन देवकन्याओं ने न केवल बाँधे रखा, बल्कि उनके चिन्तन को भली-भाँति झकझोरा। यह क्रम नवम्बर, १९७५ से १९७९ तक निर्बाध गति से चलता रहा, फिर शक्तिपीठों के निर्माण की घोषणा कर गुरुदेव ने क्षेत्रीय कार्यक्रमों को नई दिशा प्रदान की। देवकन्याओं के प्रशिक्षण के साथ त्रैमासिक महिला शिक्षण शांतिकुंज में सतत चलता रहा। अब उसका परिवर्द्धित स्वरूप युगशिल्पी शिक्षण के रूप में चलता है जिसमें स्वावलम्बन, संगीत, कर्मकाण्ड एवं संभाषण कला का बहुमुखी शिक्षण दिया जाता है।

इन्हीं प्रशिक्षित कन्याओं-महिलाओं ने क्षेत्र का नेतृत्व सँभाला एवं लगभग पच्चीस हजार महिला संगठन पूरे देश में गठित किए। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि क्षेत्र की सक्रियता, कार्यकर्त्ताओं की तत्परता एवं स्फूर्ति के मूल में इन महिलाओं का ही सबसे बड़ा हाथ है।

पूज्य गुरुदेव संभवतः पहले युगपुरुष हैं जिन्होंने 'इक्कीसवीं सदी-नारी सदी' की घोषणा की है। उनकी घोषणा है कि अब नारी का वर्चस्व प्रमुख होगा तथा वही नवसृजन के निमित्त प्रमुख भूमिका निभाएगी। उनके महाप्रयाण के बाद माँ शारदामणि की तरह वंदनीया माताजी द्वारा संगठन का समग्र सूत्र-संचालन कुशलतापूर्वक सँभाल लिए जाने से यह भविष्यवाणी साकार होती चली गई। नारी जाग्रति के लिए इस महामनीषी द्वारा संपन्न पुरुषार्थ युगों-युगों तक याद किया जाता रहेगा।

## प्राण-प्रत्यावर्तन सत्रों से गायत्री तीर्थ की स्थापना तक

पूज्य गुरुदेव के जीवन के अस्सी वर्ष का हर दिन, हर पल एक महत्त्वपूर्ण निर्धारण से जुड़ा हुआ है। जिन्होंने उन्हें समीप से देखा व उनकी रीति-नीति का अध्ययन किया है, वे भली-भाँति जानते हैं कि वे अपने लिए एक सुनियोजित रूपरेखा निर्धारित करके आए। प्रत्येक वसंत पर्व उनका आध्यात्मिक जन्मदिन रहा है व वर्ष भर के महत्त्वपूर्ण निर्णय उसी दिन लिए जाते रहे हैं। ज्ञानपर्व के रूप में गायत्री जयंती एवं संकल्प-कर्म-अनुशासन पर्व के रूप में गुरुपूर्णिमा पर्व मनाये जाते हैं। हर दस वर्ष के अन्तराल से वे न्यूनाधिक समय के लिए १९४१, १९५१, १९६०-६१ व १९७१ में हिमालय अज्ञातवास के लिए गये व अपने मार्गदर्शक का महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देशन लेकर लौटे।

सन् १९६१ के अज्ञातवास से लौटने के बाद उनका सुनिश्चित निर्धारण था कि दस वर्ष बाद वे वर्तमान कार्यस्थली मथुरा को छोड़कर हिमालय चले जायेंगे। बाद का निर्धारण उनके गुरुदेव करेंगे। एक लेख सन् १९६२ की अखण्ड-ज्योति में प्रकाशित हुआ था- ''हमारे भावी सवा नौ वर्षों का कार्यक्रम'' उन्होंने तब तक घोषणा नहीं की थी कि अपने आयुष्य का ६० वर्ष पूरा होते ही वे मथुरा से प्रयाण कर हमेशा के लिए हिमालय की गोद में जा बैठेंगे, किंतु अपनी सीमा-रेखा का तभी निर्धारण कर लिया था। एक पत्र जो उन्होंने उन दिनों एक परिजन को लिखा था, विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। उस पत्र को यहाँ यथारूप प्रकाशित किया जा रहा है-

*हमारे आत्मस्वरूप,*

*पत्र मिला। फार्म भी। युगनिर्माण सम्बन्धी आवश्यक परिपत्र अगले सप्ताह भेजेंगे।*

*आपका मारकेश हमारे यहाँ रहते सफल नहीं होगा। हम अभी ८।।। वर्ष इधर हैं। तब तक आप पूर्ण निश्चिन्त रहें।*

*नवरात्रि में आपका साधनाक्रम चल रहा होगा। सब स्वजनों को हमारा आशीर्वाद और माताजी का स्नेह कहें।*

*श्रीराम शर्मा आचार्य*

इस पत्र से यह स्पष्ट है कि अपने परिजन का संरक्षण उन्होंने जून, १९७१ तक अपने मथुरा रहने तक करने का आश्वासन दिया था। वह पूरा भी किया, पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपनी प्रत्यक्ष से परोक्ष में जाने की स्पष्ट घोषणा लिखित में उन्होंने लगभग नौ वर्ष पहले ही कर दी। यह एक द्रष्टा, जो भविष्य के गर्भ में झाँक सकता है, का ही कार्य हो सकता है।

विदाई के पहले अपनी अन्तर्व्यथा को उन्होंने किसी से नहीं छिपाया। जनवरी ६९ से चालू हुई उनकी लेखनी जून १९७१ तक बराबर परिजनों को रुलाती रही, उद्वेलित करती रही व आगे का कार्य सँभालने सम्बन्धी मार्गदर्शन करती रही। चार-चार दिन के मिलनसत्र जून ७० से जून ७१ तक सतत चलाये गये। इसमें गुरुदेव को अपने मन की बात कहने का मौका मिला। प्रत्येक सत्र में लगभग २००० व्यक्ति एक वर्ष तक आये, इस प्रकार लगभग दो लाख व्यक्ति उनसे वर्ष भर में मिल गए। ''आगामी दो सौ दिन जिनमें बीस वर्ष का काम निपटाना है।'' शीर्षक से 'अपनों से अपनी बात' स्तंभ के अन्तर्गत उन्होंने लिखा कि उन्हें अगले दिनों क्या-क्या कार्य प्रत्यक्ष रूप से करने हैं, परिजनों को क्या जिम्मेदारियाँ सँभालनी हैं तथा वे अपनी आगामी उग्र तपश्चर्या क्यों करने जा रहे हैं?

अप्रैल १९७१ में संपादकीय स्तंभ में वे लिखते हैं- ''पीछे जो किया जा चुका, हमें उससे हजार-लाख गुना काम अभी और करना है। उच्च आत्माओं को मोहनिद्रा से जगाकर ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति के लिए लोकमंगल के क्रिया-कलापों में नियोजित करना है।''....''विदाई का वियोग हमारी भावुक दुर्बलता हो सकती है या स्नेहसिक्त अंतःकरण की स्वाभाविक प्रक्रिया। जो भी हो हम उसे इन दिनों लुप्त करने का यथासंभव प्रयास कर रहे हैं। मन की मचलन का समाधान कर रहे हैं। गत एक वर्ष से देशव्यापी दौरे करके परिजनों से भेंट करने की अपनी आन्तरिक इच्छा को एक हद तक पूरा किया है। अब विदाई सम्मेलन बुलाकर एक बार अन्तिम बार जी भर कर अपने परिवार को फिर देखेंगे।''

उपर्युक्त पंक्तियाँ संभवतः परिजनों को भावी संभावनाएँ बताने व उनकी अंतिम परीक्षा लेने के लिए लिखी गयी थीं। विदाई सम्मेलन १६ जून, १९७१ से २० जून, १९७१ तक गायत्री तपोभूमि मथुरा में संपन्न हुआ। सहस्रकुण्डी महायज्ञ से भी बड़ा यह समागम था व लाखों व्यक्तियों ने अश्रुपूरित नेत्रों से उन्हें विदाई दी। वे तथा वंदनीया माताजी एवं उनका अखण्ड दीपक शांतिकुंज आ गए, जो अभी बनकर मात्र रहने योग्य स्थिति में ही था। नौ दिन तक वे घनिष्ट कार्यकर्त्ताओं एवं वंदनीया माताजी को महत्त्वपूर्ण निर्देश देते रहे एवं दसवें दिन रात्रि २ बजे उठकर बिना किसी को बताए अपने गन्तव्य पर चले गये।

'अखण्ड-ज्योति' निरन्तर जलती रही व पूज्य गुरुदेव की चिन्तन-चेतना सभी पाठकों का दैनन्दिन जीवन में मार्गदर्शन करती रही। जनवरी, १९७२ में बंगलादेश के मुक्ति युद्ध के समापन के बाद अल्प-अवधि के लिए पूज्य गुरुदेव शांतिकुंज अचानक आए एवं माताजी को प्रत्यक्ष मार्गदर्शन देकर फिर चले गए। जून, १९७२ में अपनी

गुरुसत्ता के मार्गदर्शन पर सप्तऋषियों की तपस्थली में रहकर ऋषि-परम्परा का बीजारोपण कर देवमानवों को विनिर्मित करने हेतु अपना प्रचण्ड तपोबल संचित कर वापस लौट आए। अपनी आत्म-कथा में अपनी ही लेखनी से उन्होंने इस एक वर्ष की अवधि में गुरुसत्ता द्वारा क्या निर्देश दिए गए, इनका खुलासा स्वयं किया है।

पूज्य गुरुदेव की लिपि में -

[illegible]

*क्या करना होगा? इसके उत्तर में इतना ही कहा गया कि हरिद्वार आश्रम को गायत्री तीर्थ के रूप में विकसित करना होगा और उन प्रवृत्तियों का आरंभ करना होगा, जिन्हें पूर्वकाल में ऋषि करते रहे हैं। वह परम्पराएँ लुप्तप्राय हो जाने से उन्हें अब पुनरुज्जीवन प्रदान करने की आवश्यकता होगी। संक्षेप में यही था सार-संदेश।*

मूल कार्य यह था कि शांतिकुंज, जो ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की तपस्थली रही है, में ऋषियों द्वारा संचालित समस्त गतिविधियों को चलाया जाए। इसके लिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण परामर्श व प्राण-प्रत्यावर्तन सत्र सबसे पहले आयोजित किए। वस्तुतः गुरुदेव अपने तप की एक प्रखर चिनगारी सुसंस्कारी आत्माओं को देकर उन्हें ज्योतिर्मय बनाना चाहते थे ताकि नवसृजन के लिए एक महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी वे निभा सकें। ग्रहण करने की जिनमें पात्रता हो, ऐसे ही व्यक्तियों को स्वीकृति दी गयी। स्थान सिद्धपीठ था ही, उर्वर अन्तःकरण में प्राण अनुदान का खाद-पानी देकर उस बीज को अंकुरित, पल्लवित करना था जो असंख्य परिजनों में से कुछ सौ में विद्यमान पाया गया। यह एक महज संयोग नहीं है कि इन दिनों जो कार्यकर्त्ताओं की एक सशक्त टीम पूज्य गुरुदेव के बाद गुरुतर दायित्वों को सँभाल रही है एवं वंदनीया माताजी के मार्गदर्शन में उन सब निर्धारणों को क्रिया रूप दे रही है, जो पूज्य गुरुदेव अदृश्यजगत से सौंप रहे हैं, वह प्राण-प्रत्यावर्तन सत्रों की अग्निपरीक्षा से गुजर चुकी है। अगस्त, १९७२ को अखण्ड-ज्योति में उन्होंने लिखा है कि ''प्रत्यावर्तन तप की पूँजी का वितरण है। जिन भाग्यवानों को इसका थोड़ा-सा भी अंश मिल सका, वे निश्चित रूप से उसके लिए अपने भाग्य को सराहना जन्म जन्मान्तरों तक करते रहेंगे।''

प्रत्यावर्तन सत्र फरवरी, १९७३ से आरंभ किये गए एवं फरवरी, १९७५ तक चले। ये विशुद्धतः साधना सत्र थे। विभिन्न मुद्राओं, त्राटकयोग, सोऽहम, नादयोग, आत्मब्रह्म की दर्पण साधना तथा तत्वबोध की साधना इनमें कराई गई। पंद्रह मिनट पूज्य गुरुदेव एकान्त में परामर्श भी देते थे। सीमित संख्या में प्राणवान साधकों को यह अनुदान दिया गया। ऐसे प्रखर साधना सत्र फिर आगे कभी नहीं हुए। इस बीच तीन-तीन माह के वानप्रस्थ सत्र भी चले, अध्यापकों के तीन सत्र भी मई-जून, १९७४ में संपन्न हुए तथा साथ-साथ रामायण सत्र एवं महिला जागरण सत्र भी चलते रहे। प्राण-प्रत्यावर्तन सत्र को फरवरी ७५ से बन्द कर नौ दिवसीय जीवन-साधना सत्र में बदल दिया गया। यही साधनाक्रम फिर आगे कल्पसाधना तथा चान्द्रायण सत्रों आदि के रूप में चलता रहा।

स्थान कम पड़ने से गायत्री नगर की नई जमीन खरीदी गई एवं उसमें देवमानवों को बसने के लिए आमन्त्रित किया गया। नगर का निर्माण एवं जड़ी-बूटी उद्यान लगाना प्रारंभ कर दिया गया। १९७६ से १९८० तक का समय ब्रह्मवर्चस की स्थापना, निर्माण तथा गायत्री नगर के गायत्री तीर्थ के रूप में स्थापित होने का समय है। सभी ऋषियों की गतिविधियों के अनुरूप यहाँ उनसे सम्बन्धित गतिविधियाँ भी आरंभ कर दी गयीं। भगीरथ परम्परा में ज्ञानगंगा का विस्तार, चरक परम्परा में दुर्लभ वनौषधियों का आरोपण व उन पर प्रयोग-परीक्षण, व्यास परम्परा में युग-साहित्य के साथ-साथ चार खण्डों में प्रज्ञापुराण का सृजन, नारद परम्परा में संगीत के माध्यम से जन-जन की भावनाओं को तरंगित करने का शिक्षण, समर्थ गुरु रामदास व आद्यशंकराचार्य परम्परा में पाँच केन्द्रीय संस्थानों के अतिरिक्त चौबीस सौ प्रज्ञा संस्थानों की स्थापना, पातंजलि परम्परा में प्राण-प्रत्यावर्तन एवं प्रज्ञायोग की साधना द्वारा योगदर्शन को व्यावहारिक रूप प्रदान करना, विश्वामित्र परम्परा में सिद्धपीठ की स्थापना कर संजीवनी विद्या का शिक्षण व नवयुग की पृष्ठभूमि का निर्माण, पिप्पलाद परम्परा में संस्कारी आहार के माध्यम से कल्पसाधना, सूतशौनिक परम्परा में रामचरित मानस की प्रगतिशील प्रेरणा व गीता-कथा तथा प्रज्ञापुराण कथा द्वारा समागमों का आयोजन व लोकशिक्षण, ये कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ ऐसी थीं जिनसे गायत्रीतीर्थ को संस्कारित किया गया।

वैशेषिक-कणाद परम्परा में अध्यात्म-विज्ञान के समन्वय के अनुसंधान हेतु ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की स्थापना जून, १९७९ में की गई जो कि अपने समय का एक भगीरथी पुरुषार्थ है।

आज के गायत्रीनगर रूपी समग्र गायत्रीतीर्थ को देखकर लगता नहीं कि यह स्थापना मानवी प्रयासों से इतने कम समय में हुई होगी। सन् १९६१ से १९९० की पूज्य गुरुदेव की प्रगति यात्रा का अध्ययन करने पर युगपरिवर्तन के निमित्त ही यह सब पूर्व नियोजित स्थापनाएँ

थीं, जो समय के साथ क्रिया रूप लेती गईं। यही होती है युगविश्वामित्रों की कार्य शैली।

# एक देव-परिवार की टकसाल की स्थापना

तीर्थों के विषय में हर व्यक्ति की मान्यता भिन्न-भिन्न प्रकार की है। कोई इन्हें पर्यटन स्थली मानता है, कोई इनकी दर्शन-झाँकी से मिलने वाले कौतुक को ही सब कुछ समझता है, कोई-कोई इन्हें इनकी पृष्ठभूमि से जोड़ कर सुसंस्कारित स्थान मानते हैं जहाँ महामानवों, ऋषियों ने या देवमानवों ने अपने श्रेष्ठ कृत्यों द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ समय-समय पर कीं। गायत्रीतीर्थ में ऋषि-परम्पराओं का बीजारोपण करते समय पूज्य गुरुदेव ने इन सब पक्षों का ध्यान रखते हुए ही उसकी उपमा एक नर्सरी, एक टकसाल, एक ऐसे कारखाने से दी थी जहाँ से महामानव रूपी पौध समाज के कोने-कोने में भेजी जानी थी, वे सिक्के ढलने थे जिन्हें हर कसौटी पर खरा उतरना था।

भव्य निर्माण मठ, मन्दिर तो अनेकों बने हुए हैं व बनते रहते हैं, किन्तु उनकी सार्थकता तभी है, जब उनमें काम करने वाले प्राणवान हों, किसी श्रेष्ठ उद्देश्य के साथ जुड़े हों। यह चिन्तन तपस्वी, मनस्वी ऋषिप्रवर के मन को सदैव मथता रहा कि समाज में जो सत्प्रवृत्तियाँ फैलानी हैं, दुष्प्रवृत्तियों के बाहुल्य से मोर्चा लेना है, उसके लिए जिस स्तर के व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ेगी, उन्हें उपयुक्त वातावरण में श्रेष्ठ स्तर का शिक्षण भी देना पड़ेगा। उनकी सुसंस्कारिता तभी अंकुरित, पल्लवित होगी जब उन्हें उर्वर भूमि में सभी अनुकूल परिस्थितियाँ मिलें।

'अखण्ड ज्योति' परिवार की स्थापना एक साधारण मनोरंजन करने वाली पत्रिका के सदस्यों का परिकर बनाने के लिए नहीं की गयी थी, अपितु इसके सम्पर्क में आने वाली हर संस्कारवान आत्मा को सत्परामर्श व स्वाध्याय हेतु श्रेष्ठतम पाठ्यसामग्री प्रदान की गयी थी। जो साहित्य विगत पचास वर्षों में पूज्य गुरुदेव ने लिखा वह युगसाहित्य कहलाया, जिसमें सामयिक समस्याओं का समाधान व उलझनों का हल, परिस्थितियों के अनुरूप किया गया था। जब उन्होंने इसी 'अखण्ड ज्योति' के पृष्ठों पर (अप्रैल 'अखण्ड ज्योति' १९८०, पृष्ठ ३३ से ५६) प्रेरणाप्रद वातावरण देवस्तर की ढलाई हेतु बसने वाले देवपरिवार का अंग बनने के लिए जाग्रतात्माओं को निवास आमंत्रण भेजा, तब यही परिकल्पना उनके मन में रही कि गायत्री नगर को गुरुकुल, आरण्यक स्तर का बनाया जाए, जहाँ रहकर अखण्ड-ज्योति, युगनिर्माण योजना एवं युगशक्ति गायत्री के पाठक-गुरुदेव के सभी मानसपुत्र तीर्थकल्प का भी लाभ ले सकें तथा अपनी प्रतिभा का परिष्कार कर उन महामानवों की पूर्ति कर सकें जिनके अभाव से ही समाज में सारी समस्याएँ पनपी हैं।

पूज्य गुरुदेव इस अंक में इसी स्तम्भ में लिखते हैं कि "धर्म और अध्यात्म के चमकीले बोर्ड वाले स्टालों की सजधज समाज में कम नहीं है। कलेवर की दृष्टि से धर्माडम्बर किसी अन्य से पीछे नहीं। इतने पर भी प्रभावी वातावरण का अभाव अभी भी जहाँ का तहाँ है। सुविधा सम्पन्न धर्म स्थान देखे जाते हैं, पर उच्चस्तरीय आत्माओं का निवास न होने के कारण वहाँ भी ऐसा कुछ नहीं दीखता, जिसमें अनगढ़ों को भी ढलने का, बदलने का अवसर मिले। इस अभाव के रहते उस ऊर्जा की कमी खटकती ही रहेगी, जिससे धान पकते और अण्डों से चूजे निकलते हैं।"

ऊपर जो वर्णन पूज्य गुरुदेव द्वारा किया गया है, वह कितना वास्तविकता से भरा है इसका सहज अध्ययन तीर्थ स्थानों पर जाकर किया जा सकता है। पूज्य गुरुदेव का अध्यात्म प्रगतिशील कर्मयोगपरक अध्यात्म रहा है, जिसमें व्यक्ति मात्र बाबाजी न बनकर बैठे अपितु विश्व उद्यान को सींचने, समुन्नत बनाने में अपनी ओर से कोई कसर न छोड़े। इस अध्यात्म को जिन्दा कौन करे? मात्र प्रखर प्रतिभा सम्पन्न सुसंस्कारित व्यक्ति ही ऐसा कर सकते हैं व ऐसे देवमानवों के निर्माण हेतु एक गलाई-ढलाई के लिए उपयुक्त स्थान चाहिए था जहाँ वे जैसा चाह रहे थे वैसा निर्माण कर सकें। भवनों के निर्माण से कई गुना अधिक कठिन है व्यक्तियों का निर्माण। ऐसे व्यक्ति जो युगनेतृत्व कर सकें, मल्लाह की भूमिका निभा सकें, दूसरों का मार्गदर्शन कर सकें।

वातावरण कैसे श्रेष्ठ बनाया गया। इसके लिए वे लिखते हैं कि जहाँ सहज ही श्रेष्ठता के अनुगमन की प्रेरणा प्रस्तुत उदाहरणों को देखकर अंदर से उमगने लगे, उत्कृष्टता के उदाहरणों का जहाँ बाहुल्य हो, वहीं देव-वातावरण है व जहाँ ऐसा प्रभाव होगा वहाँ के सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति देवों जैसा उत्कृष्ट स्तर का दृष्टिकोण अपनाते देखे जाएँगे। वातावरण को श्रेष्ठता से अनुप्राणित करने के लिए ही गायत्रीतीर्थ को तप की ऊर्जा से संस्कारित कर यहाँ दैवी संरक्षण उपलब्ध कराया गया तथा ऋषिपरम्पराओं की स्थापना कर उन प्रचलनों को आरंभ किया गया, जो सतयुग की वापसी में सदा से सहायक रहे हैं।

गायत्रीनगर को युगशिल्पियों का प्रशिक्षण संस्थान बनाया गया- बौद्धविहारों और संघारामों जैसा। मात्र बसने के लिए, समय गुजारने के लिए धर्मशाला नहीं बनायी गयी, अपितु साँचे की भूमिका निभा सकने वाले प्राणवानों को जो स्वयं 'डाई' बन सकें व दूसरों को भी अपने जैसा बना सकें, टीचर्स ट्रेनर (शिक्षकों के भी अध्यापक) की भूमिका निभा सकें, ऐसी प्रतिभाओं को रहने हेतु आमंत्रित किया गया। ऐसे प्राणवान आत्म-निर्माण और लोक-कल्याण की दुहरी साधना साथ-साथ कर सकें, इसलिए उन्हें परमार्थ कार्य में नियोजित होने को आमंत्रित किया गया।

इसके लिए पूज्य गुरुदेव ने शर्त रखी कि जो अपनी भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं को नियंत्रित कर ब्राह्मणोचित निर्वाह में तपोमय जीवन जी सकें तथा परमार्थ हेतु अपना १२ से १८ घण्टे का श्रम समाज के नव-निर्माण हेतु लगा सकें, वे ही आएँ। कहना न होगा कि जो भी आए उन्हें पूरी कसौटी पर कसकर प्रशिक्षण-प्रक्रिया से गुजारने के बाद रहने का अवसर दिया गया एवं उन्होंने गुरुदेव की इच्छा को पूर्ण करते हुए अपने पद, सम्मान, वैभव को लात मारकर यहाँ का सीधा, सरल जीवन स्वीकार किया। पूज्य गुरुदेव के निर्देशों के अनुरूप स्वयं के जीवन को, अपने परिवार को ढाला एवं देखते-देखते उच्च शिक्षित प्रतिभावान ढाई सौ व्यक्तियों का एक देवपरिवार यहाँ बस गया।

पूज्य गुरुदेव ने आध्यात्मिक साम्यवाद की परिकल्पना को कण-कण में संचरित किया है। यहाँ वरिष्ठता की एक ही कसौटी है विनम्रता, स्वयं पर अंकुश व कर्मनिष्ठ जीवनचर्या। अभी इनकी संख्या बढ़ेगी और भी नये देवमानव परिवार आएँगे तथा तीर्थक्षेत्र का भी विस्तार होगा, पर करोड़ों व्यक्तियों की दृष्टि केन्द्रित होगी आरण्यकवासी इन कार्यकर्त्ताओं पर। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूज्य गुरुदेव द्वारा जिये गये जीवन, उनके द्वारा निर्धारित आदर्शों को ही जीवन में उतार कर वे अपना लोकसेवा के क्षेत्र में पदार्पण सार्थक कर सकते हैं। जो इनका निर्वाह नहीं कर पाएगा, महाकाल उनके स्थानापन्नों की व्यवस्था भी कर लेगा, किन्तु भगवान का यह कार्य रुकेगा नहीं, सतत बढ़ता ही रहेगा।

# युगचेतना के निर्झर-शक्ति केन्द्र, प्रज्ञा-संस्थान

यह एक संयोग मात्र नहीं है जिस वर्ष ब्रह्मवर्चस के रूप में चौबीस गायत्री प्रतिमाओं से सज्जित केन्द्रीय शक्तिपीठ का उद्घाटन हुआ, जिसमें प्रयोगशाला व दार्शनिक शोध ग्रन्थालय जुड़े थे, ठीक इस वर्ष गुरुदेव के चिन्तन क्षेत्र में एक नया चक्रवात घूम रहा था। वह था केन्द्र में प्रशिक्षित किये जा रहे समयदानी परिव्राजकों के माध्यम से पूरे भारत में फैले सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के कार्य का, धर्मतंत्र से लोक शिक्षण रूपी महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम का सुनियोजित विकेन्द्रीकरण। इसके लिए वसंत पंचमी, उनके आध्यात्मिक जन्मदिवस पर एक महत्त्वपूर्ण संदेश आया- वह था नवचेतना के निर्झर केन्द्रों के रूप में प्रज्ञा संस्थानों की स्थापना का। यह वर्ष था सन् १९७९ का व युग निर्माण योजना को प्रारंभ हुए पच्चीस वर्ष हो चुके थे अतः उसका यह रजत जयन्ती वर्ष था। मात्र प्रतिपादन ही नहीं, अंतराल में सद्भावों को जगाने के लिए एक विशाल ज्ञानयज्ञ की आवश्यकता को समझते हुए गुरुदेव द्वारा पहले चौबीस एवं फिर आवश्यकता को देखते हुए चौबीस सौ स्थानों पर प्रज्ञा-संस्थान, शक्तिपीठ या गायत्री तीर्थ स्थापित करने का निश्चय कर लिया गया।

पूज्यवर चाहते थे कि गायत्री का तत्त्वज्ञान जन-जन तक पहुँचे। इसी उद्देश्य से 'युग शक्ति गायत्री पत्रिका' का प्रकाशन भी कुछ वर्ष पूर्व आरंभ कर सद्बुद्धि विस्तार की प्रक्रिया आरंभ हो गई थी। यही निष्कलंक प्रज्ञावतार का संकल्प भी रहा है। ऋतम्भरा प्रज्ञा को ही उन्होंने दूसरे शब्दों में ब्रह्मविद्या कहा- जिसके अवधारण मात्र से आस्था संकट के मिटने की संभावनाएँ बतायी गयीं। उन्होंने आद्यशक्ति गायत्री की सामयिक भूमिका को युगशक्ति के संघशक्ति के अवतरण के रूप में प्रतिपादित किया जो लाखों-करोड़ों बदले हुए अन्तःकरणों के रूप में अपना विराट रूप दिखाने जा रही थी। युगशक्ति के विस्तार हेतु आरम्भ किया गया प्रव्रज्या अभियान गति पकड़ चुका था, स्थान-स्थान से परिजन आकर इस परम्परा में दीक्षित हो रहे थे, अब समय आ गया था कि प्रज्ञावतार का आलोक उनके माध्यम से भारत भूमि के कोने-कोने तक पहुँचे।

गायत्री तीर्थ अथवा शक्तिपीठ इसी उद्देश्य को पूरा करने वाले मूलरूप में जन-जागृति के केन्द्र बनने जा रहे थे। ठीक उसी तरह जैसे कि कभी आद्य शंकराचार्य ने चार स्थानों पर चार धामों की स्थापना कर विराट भारत को एक सूत्र में आबद्ध करने का प्रयास किया था एवं समर्थ रामदास ने स्थान-स्थान पर हनुमान मन्दिर के रूप में जाग्रति केन्द्र, व्यायामशालाएँ प्रतीक रूप में स्थापित की थीं। निर्माण कहाँ-कहाँ हो व किस रूप में हो, यह जिज्ञासा शान्त करते हुए उन्होंने लिखा कि- ''हमारी कभी यह इच्छा नहीं रही कि विशाल मन्दिरों की संख्या अनावश्यक रूप से बढ़ाई जाए। स्थापनाएँ जहाँ हों, वहाँ वे गायत्री-तीर्थ के रूप में विनिर्मित हों, जहाँ देवप्रतिष्ठा से लेकर धर्मधारणा को सुस्थिर एवं प्रगतिशील बनाने की रचनात्मक गतिविधियाँ चलें। यदि यह पहले से स्थापित देवालयों में भी चल पड़े तो इसे नयी स्थापना-नवजागरण मानना चाहिए।''

इस प्रकार एक क्रान्तिकारी प्रतिपादन सामने आया कि जहाँ साधन हों, पुरुषार्थ हो, उमंगें हों, वहाँ नूतन निर्माण किया जाए, जो केन्द्रीय निर्धारणों के अनुरूप हो तथा जहाँ पुराने देवालयों का जीर्णोद्धार संभव हो, वहाँ मन्दिर का स्वरूप दे दिया जाए। वैसे प्रथम चरण में चौबीस स्थानों का निर्धारण किया गया था किन्तु लक्ष्य चौबीस से बढ़ाकर चौबीस सौ कर दिया गया व पहले दस वर्ष में उत्तर भारत के हिन्दी भाषी प्रान्तों व उनसे जुड़े प्रांतों में निर्माण की बात सोची गयी। दक्षिण भारत व शेष भारत को ९० के दशक के बाद अन्यान्य भाषाओं में साहित्य के अनुवाद व प्रकाशन के बाद स्पर्श करने की बात सोची गयी।

मत्स्यावतार की तरह से शक्तिपीठ संकल्प ने विस्तार लिया। पहले जिन परिजनों ने आकर निर्माण के संकल्प लिए उन्हें स्थापना हेतु प्रतीक रूप में पहली राशि केन्द्र की ओर से गुरुदेव माताजी के हाथों से दी गयी, ताकि बीजारोपण प्राणवान हो। प्रत्येक शक्तिपीठ के निर्माण का इतिहास अनेकानेक चमत्कारी प्रसंगों से जुड़ा हुआ है। जो

व्यक्ति कभी अपने लिए एक कमरे के निर्माण के लिए भी सोच नहीं सकते थे, उन्होंने इतने विशाल निर्माण एकाकी अथवा संघशक्ति के बलबूते कर दिखाए। मूल स्रोत था वह प्रेरक बल, जो पूज्य गुरुदेव की वाणी एवं लेखनी से प्रकट होकर अर्द्धमृतकों, निष्क्रियों में भी प्राण फूँककर उन्हें खड़ा कर रहा था।

प्रत्येक तीर्थ को, शक्तिपीठ को एक या अधिक ब्रह्मवर्चस की शक्ति-धाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाली गायत्री प्रतिमाओं की स्थापना हेतु कहा गया तथा सत्साहित्य का एक प्रचार-केन्द्र व सत्संग हेतु एक-एक कक्ष विनिर्मित करने के लिए प्रेरित किया गया। जहाँ व्यवस्था बन पड़े, वहाँ परिव्राजकों के लिए एक निवास भी बनाने को कहा गया। परिव्राजकों को स्थायी महन्त बनने के लिए नहीं, बल्कि गायत्री यज्ञ का प्रचार विस्तार इस पूरे क्षेत्र में कर एक विनम्र लोकसेवी के रूप में सबका श्रद्धाभाजन बनने की प्रेरणा दी गयी। इन्हें तीन माह से लेकर एक वर्ष तक एक स्थान पर रहकर फिर बुद्ध के प्रचारकों की तरह आगे बढ़कर नया कार्यक्षेत्र सँभालने की प्रेरणा दी गयी। केन्द्रीय शिक्षण तंत्र भी इसी स्तर का बनाया गया।

धर्म-चेतना के इस पुनरुज्जीवन के देवप्रयास ने गहरी जड़ें पकड़ीं व स्थान-स्थान पर छोटे-बड़े प्रज्ञाकेन्द्र, प्रज्ञा-संस्थान, प्रज्ञामण्डल तथा छोटे स्वाध्याय-मण्डल स्थापित होते चले गए। पहले जिन्हें गायत्री परिवार की शाखाएँ कहा जाता था व जिन्होंने १९५८ के सहस्रकुण्डी महायज्ञ से साधना स्वर्ण जयन्ती समारोह तक महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई थीं, उन्हीं को प्रकारान्तर से इन्हें स्थापित करने का श्रेय मिला। कुछ ऐसे नये प्राणवान व्यक्ति भी उभर कर आए, जिन्हें आगे चलकर महत्वपूर्ण भूमिका निभानी थी।

उन्होंने शक्तिपीठ संचालकों को निर्माण हेतु बधाई, धन्यवाद व आशीर्वाद भी दिया, स्वयं वहाँ जाकर कइयों का शिलान्यास व उद्घाटन भी किया। १९८१-८२ में यही क्रम चला। साथ ही वे सबको सचेत भी करते चले गए कि निर्माण तब तक प्राणहीन है, जब तक वहाँ क्रिया-कलाप नहीं चलते। वे लोकभर्त्सना व निन्दा के पात्र बनेंगे, यदि वे सफेद हाथी मात्र बनकर रह गए। उन्होंने कहा कि हमने ब्रह्मविद्यालय की स्थापना की है, मन्दिरों की नहीं। नियुक्त परिव्राजक इसके उपाध्याय हैं, अध्यापक हैं। समय-समय पर वे यह इशारा करते रहे कि १९८०-१९९० के बीच हम स्थूल रूप से तो तंत्र का विकेन्द्रीकरण कर भवनों की, कार्यालयों की, संगठन शाखाओं की स्थापना कर जाएँगे पर इनमें प्राण सतत फूँकते रहेंगे व सन् २००० के आते-आते मात्र सक्रिय, श्रद्धावान, संवेदनाशील युग नेतृत्व कर सकने में सक्षम प्रतिभाशाली ही इन स्थापनाओं से जुड़े रहेंगे। धनाध्यक्ष एवं जड़ निर्माण से चिपके रहने वाले लोकेषणाग्रस्त व्यक्ति हमारे संगठन का अंग नहीं बन सकते। सूक्ष्म व कारण शरीर से हम १९९० के बाद वह काम करेंगे जो स्थूल शरीर से नहीं कर पाए। संकेत स्पष्ट था व अभी भी सब के लिए एक चेतावनी है कि जन-जन से संचित धनराशि से विनिर्मित ज्ञान-विस्तार को समर्पित प्रज्ञाकेन्द्र यदि सक्रिय न रहें, गतिविधियों का विस्तार न कर सके तो परोक्ष जगत से महाकाल की शक्ति सब को झकझोर कर नये तंत्र को आगे ला खड़ा करेगी व उनसे सारा कार्य करा लेगी।

गतिविधियाँ क्या-क्या चलें, इसका संकेत वे 'अपनों से अपनी बात' स्तम्भ के अंतर्गत अखण्ड-ज्योति व युग शक्ति गायत्री, युग-निर्माण योजना में तथा प्रज्ञा अभियान पाक्षिक पत्रों में सतत करते रहे। प्रतिमाओं के दर्शन के माध्यम से आगंतुकों को ऋतम्भरा-प्रज्ञा का दर्शन समझाना, जिज्ञासुओं की गायत्री-यज्ञ-अध्यात्म सम्बन्धी जिज्ञासाओं का समाधान करना, नियमित साधना-उपासना का क्रम शक्तिपीठों में चलाना, युग-संगीत के माध्यम से जन-चेतना को झकझोरना, जन्म-दिवसोत्सव मनाकर सभी परिवारों में धर्मधारणा का विस्तार करना, रामायण-गीता, प्रज्ञापुराण की कथा द्वारा प्रगतिशील अध्यात्म का प्रतिपादन करना, अपने मण्डल की तीर्थयात्रा धर्मप्रचार की पदयात्रा, साइकिल यात्रा सतत चलाना जन जन को युग-साहित्य की संजीवनी से परिचित कराना, इस के लिए चल-पुस्तकालयों की व्यवस्था करना, स्वाध्याय-मण्डलों की स्थापना व उनका संचालन, बाल-संस्कार-शालाओं तथा प्रौढ़ पुरुषों व महिलाओं की साक्षरता हेतु नियमित कक्षाएँ चलाना, वृक्षारोपण द्वारा हरीतिमा विस्तार करना तथा नशा निवारण हेतु व्यापक स्तर पर सामूहिक प्रतिज्ञा, यज्ञों में देव दक्षिणा आंदोलन चलाना-ये अनेकों कार्यों में से कुछ थे जिन पर पूज्यवर सतत जोर देते रहे।

दृश्य-श्रव्य साधनों, स्लाइडप्रोजेक्टर व टेपरिकार्डर तथा झोला पुस्तकालय, ज्ञानरथ के माध्यम से ये सभी गतिविधियाँ परिव्राजक प्रशिक्षण प्राप्त युगशिल्पियों द्वारा जोर पकड़ने लगीं। एक स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा परिजनों में चल पड़ी कि किस का केन्द्र सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के क्षेत्र में आगे रहता है। इसी बीच राष्ट्रीय अखण्डता-एकता के निमित्त विशाल महायज्ञों का संदेश पूज्यवर ने परिजनों तक पहुँचाया व १९८६ ८७ में विशाल राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों की धूम मच गई। सांप्रदायिक सद्भाव हेतु आयोजित इन कार्यक्रमों में यज्ञों से जुड़ी दुष्प्रवृत्ति-उन्मूलन प्रतिज्ञाओं के अलावा राष्ट्रीय अखण्डता हेतु सभी धर्म सम्प्रदायों की विभूतियों से एकजुट होकर धर्मधारणा के विस्तार का आह्वान किया गया था। इनका प्रतिफल यह निकला कि लाखों नये व्यक्ति इस युग के ऋषि की सार्वभौम विचारधारा से जुड़ गए। लगभग एक हजार स्थानों पर ऐसे बड़े-बड़े यज्ञ व सम्मेलन दो वर्ष की अवधि में सम्पन्न हो गए।

मिशन के विस्तार को देखते हुए बसंत पर्व १९८८ पर उन्होंने एक नया निर्धारण किया कि अब यज्ञ कुण्डों के स्थान पर ज्ञान के प्रतीक दीप प्रज्वलित किये जायें व ऐसे दीपयज्ञ स्थान स्थान पर हों। जन्म-दिवसोत्सव से लेकर हर शुभकार्य का शुभारंभ व महासम्मेलन का

स्वरूप दीपयज्ञमय बना दिया गया। इन दीपयज्ञों में पदार्थों की आहुति नाममात्र की होने से वे सर्वसुलभ बन गए व लोक-कल्याण की प्रखर भावना एवं विचारणा साथ जुड़ जाने से सूक्ष्मजगत को व्यापक स्तर पर प्रभावित करते चले गए।

नीतिपुरुष वे होते हैं जो स्वयं का निर्धारण महाकाल के निर्देश पर करते हैं, वह लोकप्रचलन बन जाता है। पूज्य गुरुदेव के कर्तृत्व के बहुमुखी पक्षों में एक संगठन को विशाल रूप देने वाला वह पक्ष भी है जो ऊपर दिया गया। इस सब के मूल में जो संकल्पशक्ति काम करती रही है, वह मानव स्तर की नहीं, अवतारी स्तर के महापुरुष की थी, इसका कार्य के परिमाण को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

## प्रज्ञा आलोक का दिग-दिगन्त में विस्तार

अपनी चौथी हिमालययात्रा से लौटकर आने के बाद शांतिकुंज में रहकर अपनी १९७२ से १९८१ तक की दो पंचवर्षीय योजनाओं की घोषणा पूज्य गुरुदेव ने की। इन योजनाओं में पहले पाँच प्रमुख कार्यों निज की तप-साधना द्वारा युग-निर्माण आंदोलन का परोक्ष सूत्र-संचालन, प्राण प्रत्यावर्तन के सघन अनुदान, नारी जागरण का अभिनव सूत्रपात, वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की स्थापना का भगीरथी प्रयास तथा प्रवासी भारतीयों में देव-संस्कृति का विस्तार में से चार की चर्चा तो हो चुकी। पाँचवाँ प्रसंग विदेश में बसे प्रवासियों व नागरिकों को देव-संस्कृति के महत्त्वपूर्ण निर्धारणों से अनुप्राणित कर उन्हें उस केन्द्रीय धुरी से जोड़ना था जो प्राण-संचार करती रह सके। इसके लिए दिसम्बर, १९७२ में स्वयं पूज्य गुरुदेव ने ढाई माह की अफ्रीका के पूर्वीभाग की यात्रा की। यह यात्रा कई उद्देश्यों से जरूरी थी।

युग-निर्माण की चर्चा करते समय वे सदा कहते थे कि मिशन का कार्य क्षेत्र सारा विश्व है व अवधि तब तक की है जब तक कि यह युग, यह समय, यह एरा बदल नहीं जाता। शुरुआत उन लोगों से करना उन्होंने अनिवार्य समझा जो भारत के राजदूत बनकर पीढ़ियों से वहाँ जा बसे थे, इनमें प्रधानता गुजरात प्रान्त से जाने वालों की है, किन्तु राजस्थान, पंजाब व अन्यान्य स्थानों से रोजगार हेतु बाहर गए परिजनों की संख्या भी कम नहीं है। इनमें से कई पूज्य गुरुदेव से अखण्ड-ज्योति के माध्यम से जुड़े हुए थे। इनसे पत्र-व्यवहार व मार्गदर्शन का क्रम चल ही रहा था। ये व्यक्ति न केवल अफ्रीका के तंजानिया, केन्या, मोमबासा, जाम्बिया, जिम्बाब्वे, कांगो, युगाण्डा, साऊथ अफ्रीका, मलावी जैसे देशों में बसे हुए हैं, बल्कि यूरोप के इंग्लैण्ड, नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड जर्मनी तथा कनाडा, सूरीनाम, फिजी, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, मलेशिया एवं अमेरिका आदि राष्ट्रों में भी बहुतायत से विद्यमान हैं। इन सभी से मिलना तो इतनी कम अवधि में संभव नहीं था, किन्तु उस विधा की तो शुरुआत करनी ही थी जिसके माध्यम से परिजनों को आवश्यक प्रेरणा, प्रकाश एवं दिशा-निर्देश दिया जा सके। अन्यान्य धर्मों के अनुयाइयों तथा विज्ञानवेत्ताओं से मिलना भी उनका उद्देश्य था ताकि वसुधैव कुटुम्बकम् के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए स्थूलशरीर से जो जाना जा सकना संभव है, वह इस यात्रा से जान लिया जाए।

सोचा जा सकता है मात्र अफ्रीका के कुछ देशों की यात्रा द्वारा तो वह प्रयोजन पूरा नहीं होता, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि उनकी यात्रा अन्यान्य धर्मगुरुओं के समान नहीं थी जो सुख-उपभोग की तलाश में, धन बटोरने की ललक में, धर्म के नाम पर, योग-साधना के नाम पर संव्याप्त आस्था वाली मानसिकता का दोहन करने अधिकांश समय वहीं बने रहते हैं। चोंगा भले ही उन्होंने बाबाजी का पहन रखा हो, किन्तु आचरण में पाश्चात्य भोग-विलास की ही प्रधानता रहती है। पूज्य गुरुदेव ने जीवन भर एक ब्राह्मण की जिन्दगी जी है व सफेद खादी की धोती व एक कुर्ते से ही जीवन भर काम चलाया है। विमान यात्रा का खर्च सुनकर उन्होंने समुद्र से यात्रा कर अधिक दिन प्रवास में बिताना पसंद किया, ताकि अनावश्यक भार परिजनों पर न पड़े व जहाज पर व्यतीत समय को वे स्वाध्याय-साधना में लगा सकें। आज की परिस्थितियों में यह भले ही अव्यावहारिक प्रतीत होता हो, किन्तु मिशन का सूत्र संचालक जिन आदर्शों पर जीवन भर चला था, उनके माध्यम से ही अपनी रीति-नीति का निर्धारण कर रहा था। यदि इसे एक आदर्श शुरुआत कहें तो उचित होगा, क्योंकि वे आने वाले दिनों में प्रज्ञापरिजनों, प्रवासियों तथा विश्वभर के नागरिकों में घूम-घूमकर प्रचार करने वाले विवेकानन्दों, रामतीर्थों, कुमारजीवों, महेन्द्रों व संघमित्राओं के लिए एक उदाहरण सामने रखना चाहते थे। यह यात्रा एक बीजारोपण मात्र थी, इसलिए सूत्र- संचालक ने ८० वर्ष के जीवन के ढाई माह इस कार्य के लिए निर्धारित कर दिए, किन्तु यह कार्य बाद में भी सतत चलना ही था।

वे अपने ममत्व भरे मार्गदर्शन से अनेकों परिजनों को अपना बनाकर लौटे व लौटते हुए उन्होंने कल्पना कर ली कि देव-संस्कृति के मूल स्वरूप से जब तक प्रत्येक भारतवासी को, प्रवासी नागरिकों को एवं विश्व-वसुधा पर बसने वाले हर व्यक्ति को अवगत नहीं कराया जाता, तब तक वे अज्ञान के अंधकार में ही भटकते रहेंगे। भोगवादी जीवन ही जहाँ सब कुछ है, नास्तिकतावादी तत्त्वदर्शन जहाँ हावी होता जा रहा हो, वहाँ भारतीय संस्कृति की आस्थावादी मान्यताओं का पहुँचना जरूरी है। यहीं से शुभारंभ हुआ वह अभियान, जो एक शोधग्रन्थ के रूप में १९७५ में 'समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान' के नाम से साकार होकर गायत्री तपोभूमि से प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ से इस महामनीषी का युगद्रष्टा व विचारक वाला

वह स्वरूप परिलक्षित होता है, जिसमें मानवमात्र के उत्थान के लिए पीड़ा दिखाई देती है व सभी को दयनीय स्थिति से उबारने हेतु किये जा सकने वाले प्रयासों की प्रेरणा के दर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति चिरकाल से विश्वमानव की सेवा करती रही है व उन्हीं आदर्शों को आधार बनाकर पुन: वह कार्य संपन्न करती रह सकती है, इसका प्रत्यक्ष मार्गदर्शन इस देवदूत द्वारा इसमें किया गया है।

अब तक न जाने कितने भारत माँ के सपूत पिछली दो सदियों में भारत से बाहर जाकर बस गए, पर उनकी खोज-खबर किसी ने नहीं ली, न उनको सुनियोजित दिशा देने का प्रयास किया। बुद्धि की दृष्टि से कुशल एवं भावनाओं की दृष्टि से संपन्न इन प्रवासियों का अधिकांश धर्मगुरुओं ने दोहन ही किया, उन्हें उनके मूल स्वरूप का बोध कराके मार्गदर्शन नहीं दिया। विवेकानन्द एवं रामतीर्थ के बाद गिने-चुने व्यक्ति ही ऐसे पहुँच पाये, जो वहाँ के विलास प्रधान, भोगवादी स्वरूप से अप्रभावित रह अपनी संस्कृति के रंग में विदेशियों को रँग सके। प्रस्तुत ग्रन्थ इन महामानवों के पुरुषार्थ के बाद किया गया एक ऐसा लेखनी का तप कहा जा सकता है जिसका उद्देश्य था देवमानवों के अंदर से उनका ब्राह्मणत्व जगाया जाए, उन्हें उनकी गरिमा का बोध कराके उन महान परम्पराओं से परिचित कराना जो समस्त संसार का कभी भला करती थीं व आगे भी करती रहेंगी।

अपनी पुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा कि ''भारतीय कभी नर-पशु नहीं रहे। वे क्षुद्र-स्वार्थों के लिए न तो कभी जिये हैं और न मरे-खपे हैं। जन्मघुट्टी में ही उनको मानवीय कर्त्तव्यों को अपनाने की और उस के लिए बढ़-चढ़कर त्याग-बलिदान करने की शिक्षा पिलाई जाती है। वे पेट और परिवार की नहीं, आदर्शों की रक्षा करने एवं समस्त संसार से पीड़ा एवं पतन को निरस्त करने के लिए अपने चिन्तन और कर्तृत्वों को नियोजित रखते थे। इस देवोपम रीति नीति को अपनाकर वे आत्मिक विभूतियों से और भौतिक समृद्धि से भरे-पूरे बन सके साथ ही अपना तथा समस्त संसार का भला कर सके। यही है हमारी सांस्कृतिक पुण्य-परम्परा पूर्वजों की विरासत और गौरवगरिमा की आधार शिला, जिसके माध्यम से हमें पूरे भावावेश और प्रचण्ड-पुरुषार्थ के साथ अपनी नवोदित सत्ता की प्राण-प्रतिष्ठा करनी है।

प्रस्तुत पंक्तियाँ एक प्रकार का शंखनाद हैं, जिसके माध्यम से युगनिर्माण योजना के अन्तर्गत संसार भर को मानवीय-संस्कृति का सन्देश सुनाने तथा वैसी ही गतिविधियाँ अग्रसर करने की प्रेरणा दी गयी। इस पुस्तक में विश्व के कोने-कोने में संव्याप्त भारतीय सभ्यता, विभिन्न भारतीय संस्कृति के अवशेष चिह्नों की जानकारी तथा अमेरिका-यूरोप से लेकर रूस, जापान, कोरिया, दक्षिण पूर्व एशिया में सम्पन्न महान कर्तृत्व की बड़े विस्तार से व्याख्या की गयी है। इस शोधग्रन्थ में अंत में प्रवासी भारतीयों की वर्तमान स्थिति, विदेशों में भारतीयता प्रेमी संगठनों की जानकारी तथा भारतीय तत्त्वज्ञान को विश्वव्यापी कैसे बनाया जाए, यह मार्गदर्शन है। इस ग्रन्थ ने प्रबुद्ध वर्ग में न केवल अच्छी-खासी ख्याति प्राप्त की, सभी अखण्ड ज्योति पाठकों को अपने गौरवमय अतीत की झाँकी भी करा दी। यही पुस्तक प्रवासी परिजनों के लिए भावी मार्गदर्शन का आधार भी बनी। अब इसे हिन्दी व अँग्रेजी में पुन: प्रकाशित किया गया है।

'अखण्ड ज्योति' मात्र हिन्दी व गुजराती तक सीमित रहने से मिशन का कार्यक्षेत्र फैल नहीं सकता था। अत: इस पुस्तक के प्रकाशन के दो वर्ष बाद एक योजना बनी, जिसमें पत्रिका अथवा पुस्तकें इंग्लिश, तमिल, तेलगू, बंगाली, गुरुमुखी जैसी पाँच भाषाओं में प्रकाशित किया जाए। युग शक्ति गायत्री के नाम से ये गुजराती, मराठी व उड़िया में पहले ही प्रकाशित हो रही थी। साथ ही प्रवासी भारतीयों के लिए सांस्कृतिक चेतना, गायत्री एवं यज्ञ तथा योग के वैज्ञानिक स्वरूप का परिचय देने वाली तीन छोटी पुस्तिकाएँ हिन्दी, अँग्रेजी व गुजराती में १९७१-८० में प्रकाशित हुईं। गायत्री महाविज्ञान के समन्वित तीनों खण्ड तथा पूज्य गुरुदेव की आत्म-कथा जो १९५८ में लिखी गई, का अँग्रेजी अनुवाद भी पुस्तक आकार में प्रकाशित हुआ। इन सभी में उपासना, साधना-आराधना से लेकर लोक सेवा सम्बन्धी विशद मार्गदर्शन भी है।

पत्र-व्यवहार द्वारा समय-समय पर प्रवासी भारतीयों व उनके सम्पर्क में आने वाले वहाँ के नागरिकों को मार्गदर्शन देते रहने का एक क्रम चल पड़ा व अब कार्यकर्ताओं के समूह सुनियोजित ढंग से प्रशिक्षण हेतु यहाँ बुलाने तथा यहाँ से दो या तीन लोकसेवी, निस्पृह परिव्राजक स्तर के उच्च शिक्षित कार्यकर्त्ता सतत भेजे जाते रहने की योजना पूज्य गुरुदेव अपने सामने बनाकर गए हैं।

पूज्य गुरुदेव का संकल्प है कि युगसन्धि के शेष दस वर्षों में उनका संदेश विश्व के जन-जन तक पहुँचे, इसके लिए विश्व की अन्यान्य भाषाओं में साहित्य का अनुवाद होते रहने की प्रेरणा वे सूक्ष्म शरीर से प्रतिभाशालियों को देते रहेंगे। फ्रेंच व रशियन में यह कार्य आरम्भ हो चुका है। विश्व में भाषाएँ तो ३००० के लगभग हैं, किन्तु मान्यता प्राप्त पाँच ही हैं। अँग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश, चीनी व रूसी। शुरुआत अभी तीन से हुई है, शेष के माध्यम से पूरे आचार्य श्री के वाङ्मय को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाया जा सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। युगचेतना का आलोक पहुँचते ही संस्कृति के दूतों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होगी, क्योंकि भारतवर्ष की झाँकी वहाँ के नागरिक उनमें करेंगे। इसीलिए उनकी चेतना को झकझोरने का काम प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से यह तंत्र सतत् करता रहेगा। तब 'युगनिर्माण' एक वास्तविकता बन जाएगा, हम सबके जीवन में साकार होने वाला एक सुखद सत्य होगा।

# इस युग का अभूतपूर्व समुद्र मन्थन

अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय कर दोनों के शाश्वत स्वरूप का सरल, सुबोध प्रस्तुतीकरण एवं वैज्ञानिक गवेषणाओं, आधुनिकतम यंत्रों के माध्यम से प्रमाणीकरण एक ऐसा पुरुषार्थ है, जिसके सम्पादन पर पूज्य गुरुदेव को इस युग का सबसे बड़ा मनीषी, वैज्ञानिक, दार्शनिक सिद्ध किया जा सकता है। वे स्वयं एक जीती-जागती प्रयोगशाला के रूप में चुनौती भरा जीवन जीते रहे। अध्यात्म साधनाएँ पूर्णत: विज्ञानसम्मत हैं, यह उन्होंने अपने जीवन के माध्यम से प्रमाणित किया। ब्रह्मवर्चस सम्पन्न आचार्य श्री के अनेकानेक कर्तृत्वों में, उनकी ८० वर्ष की जिन्दगी की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों से जड़े हीरक मालाओं के हार में एक हीरा और जुड़ता है- वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की परिकल्पना, उस दिशा में आवश्यक दार्शनिक शोध कर युग साहित्य का प्रस्तुतीकरण तथा एक अत्याधुनिक प्रयोगशाला एवं दुर्लभ ग्रन्थों से सज्जित 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' की स्थापना।

इसकी शुरुआत काफी पहले से हो चुकी मानी जानी चाहिए। पूज्य गुरुदेव ने अपने प्रथम 'अखण्ड ज्योति' अंक के साथ सन् १९४० के दशक में ही अध्यात्म को मान्यताओं के वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण का कार्य आरम्भ कर दिया था। 'मैं क्या हूँ' जैसे गूढ़ दार्शनिक विषय पर मनोविज्ञान का आधार बनाकर उन्होंने प्रतिपादित किया था कि व्यक्ति जैसा चाहे, स्वयं को बना सकता है। इसके लिए उसे 'आटोसजेशन' की तकनीक का आश्रय लेना होगा जो कि मूलत: ध्यानयोग है। बाद में उन्होंने १९४७ में दो विशेषांक 'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद' पर ही प्रकाशित किए, साथ ही एक पुस्तक भी सद्ज्ञान ग्रन्थमाला की इसी विषय पर प्रकाशित की। यह वर्ष था जब भारतवर्ष परतंत्रता के बन्धनों से मुक्त होने जा रहा था। धर्म और अध्यात्म भी मूढ़मान्यताओं, अंधविश्वासों, सड़ी-गली परम्पराओं के आवरण में जकड़े किसी देवदूत के द्वारा अपनी मुक्ति चाहते थे ताकि वे नवीन समाज की संरचना का आधार खड़ा कर सकें। उन्हें इस पाश से मुक्त कर विज्ञान का कलेवर प्रदान करने का श्रेय पूज्य गुरुदेव को ही जाता है।

उन दिनों आस्तिकता, तत्त्वदर्शन, साधना, संयम जैसे विषयों को वैज्ञानिक ढंग से समझाते हुए उन्होंने उपासना विधियों की उपयोगिता को सुबोध शैली में समझाया। पहली बार जन-साधारण के सम्मुख ऐसा प्रतिपादन आया, जिससे वे प्रेरणा ले सकें कि अध्यात्म मात्र शास्त्रवचन ही नहीं है अपितु, उसका पूरा आधार विज्ञानसम्मत भी है। बाद की अखण्ड-ज्योति के अंकों में वे शब्द-शक्ति की महत्ता, गायत्री के चौबीस अक्षरों का वैज्ञानिक विवेचन, यज्ञ-विज्ञान के महत्त्वपूर्ण पक्षों तथा कुण्डलिनी महाशक्ति को विज्ञानसम्मत आधार पर लिखते रहे। यह क्रम १९६७-६८ तक चला।

यह समय आते-आते उन्हें ऐसा लगा कि अब प्रबुद्ध वर्ग में अखण्डज्योति की गहरी पैठ हो चुकी है व प्रबुद्ध पाठक उनके प्रतिपादनों को पसंद कर रहा है। उन्होंने अनुभव किया कि यदि वे इस प्रतिपादन से भरी- पूरी सामग्री 'अखण्ड ज्योति' के पृष्ठों पर देते रहे तो वह वर्ग, जो अध्यात्म साधनाएँ, धर्म-धारणा, कर्मकाण्ड, प्रतीक-उपासना आदि नामों से ही कतराता रहा है अथवा मन में उनके सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ पाले हुए है, भी उनकी बात समझकर इस आलोक का विस्तार कर सकेगा।

इस कार्य के लिए वे श्रेय उन्हीं को देना चाहते थे, उन्हें ही निमित्त बनाना चाहते थे, जो विज्ञान की विधाओं से जुड़े थे। 'अखण्ड-ज्योति' पाठक वर्ग में विज्ञान पढ़ने- पढ़ाने वाले अध्यापकों की कमी नहीं थी। उनके ही सम्पर्क में चिकित्सक, इंजीनियर, भौतिकी आदि के ऐसे विशेषज्ञ विद्वान भी थे, जिनका चिन्तन प्रत्यक्षवाद, बुद्धिवाद प्रधान था। कहना न होगा कि यही चिन्तन आस्था व श्रद्धा की काट अपने अस्त्रों से करता आ रहा है। पूज्य गुरुदेव ने उन्हीं अस्त्रों का प्रयोग अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु किया।

अपनी निराली शैली में उन्होंने दो सौ चुने हुए विज्ञान की विभिन्न विधाओं से जुड़े व्यक्तियों को वसंत पर्व १९६८ पर पत्र लिखे कि वे उनके माध्यम से 'अखण्ड ज्योति' के लिए मानवमात्र के कल्याण के लिए आ चुके इस उत्तरार्द्ध में भी विज्ञान विषय का अध्ययन करना चाहते हैं। उन सभी से भौतिकी, रसायनशास्त्र, जैविकी, मनोविज्ञान, वैद्युतिकी, भूगर्भशास्त्र, नृतत्वविज्ञान, समाजशास्त्र जैसे विषयों पर विशद् विवेचना करने वाले नोट्स मँगाये गये थे। विषय का खुलासा उन्होंने 'अखण्ड ज्योति' में प्रकाशित अपने उद्बोधन में कर दिया था कि "विज्ञान और बुद्धिवाद की मान्यताओं ने मानवीय आदर्शवादिता को गहरा आघात पहुँचाया है और सांस्कृतिक मूल्यों के विनाश का गहरा संकट आ खड़ा हुआ है। जड़ परमाणुओं से चेतना जन्म लेती है, मानवीय अस्तित्व एक संयोग मात्र है, आत्मा का स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं- शरीर के साथ ही जीवन समाप्त हो जाता है, कर्मफल की दण्ड-व्यवस्था नाम की किसी चीज का अस्तित्व ही नहीं है, प्रकृति प्रेरणा का अनुसरण ही जीव का स्वाभाविक धर्म है, कामवृत्ति की तृप्ति आवश्यक है, उसे रोकने से काम्पलेक्सेस पैदा होते हैं व माँसाहार विज्ञानसम्मत है, किसी की पीड़ा का कोई महत्त्व नहीं- इन प्रतिपादनों ने मनुष्य को बंदर से विकसित हुआ एक नरपशु मात्र बना दिया है। नैतिक और सामाजिक उच्छृंखलताओं का कारण यही आस्थासंकट है। इससे जूझने के लिए विज्ञान के अस्त्रों का ही प्रयोग करना होगा।" नोट्स इसी आधार पर मँगाये गये थे। प्रत्येक विषय की विशद गूढ़ सामग्री भरे फुलस्केप पन्नों पर लिखे नोट्स मथुरा आने लगे। लगभग बीस हजार से अधिक पन्ने विभिन्न विषयों पर एकत्रित हो गये।

यह एक अनसुलझी गुत्थी है कि कब कैसे उन सभी नोट्स का अध्ययन किया गया होगा, क्योंकि कुछ ही माह बाद सभी ने देखा कि 'अखण्ड ज्योति' की प्रतिपादन शैली

धारदार तर्कों द्वारा आस्तिकता के तत्त्वदर्शन की काट करने वाले पक्षों पर एक दूसरा ही विवेचन प्रस्तुत करने लगी थी। ये सभी आधार विज्ञानसम्मत थे व लगने लगा था कि अभी तक सोचा जा रहा ढर्रा गलत था। १९६९ में प्रकाशित कुछ लेखों के शीर्षक दृष्टव्य हैं। लोकोत्तर जीवन विज्ञान-भूल भी, धर्मरहित विज्ञान हमारा विनाश करके छोड़ेगा, बिन्दु में समाया सिन्धु, नास्तिक दर्शन पर वैज्ञानिक आक्रमण, आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण-भूत, परलोक और पृथ्वी, कितने दूर कितने पास, जीवकोषों के मन और मानसोपचार, अन्तरिक्ष के सूक्ष्मशक्ति प्रवाह इत्यादि।

पूज्य गुरुदेव की लेखनी से उद्‌भूत इन सरस प्रतिपादनों को पढ़कर वैज्ञानिक वर्ग को, बुद्धिजीवी वर्ग को लगा कि अध्यात्म तो प्रगतिशील है, विज्ञानसम्मत है। अभी तक की उनकी सारी मान्यताएँ धराशायी हो रही थीं। इस बीच गुरुदेव के दौरे जहाँ-जहाँ हुए वहाँ मेडीकल कालेज, पी. जी. कालेज, आडिटोरियमों में उन्होंने प्रत्येक स्थान पर बुद्धिजीवियों को सम्बोधित कर उनको इस आंदोलन में सम्मिलित होने का आह्वान किया। एक नया वर्ग देखते-देखते जुड़ता चला गया व पूज्य गुरुदेव की शान्तिकुंज में आरम्भ की गयी सत्र-शृंखला में बड़ी संख्या में दर्शन एवं विज्ञान विषय की विभूतियाँ सम्मिलित होकर स्वयं को धन्य मानने लगीं। परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल, अतीन्द्रिय सामर्थ्य, सिद्धियाँ, साधना-उपचार, कुण्डलिनी-अष्टचक्र, अंतरंग में विद्यमान विराट संभावनाएँ, मन्दिर-मूर्ति, शिखा-सूत्र, तिलक, संध्या-पूजा अग्निहोत्र, जप-व्रत आदि का वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण हजारों ऐसे व्यक्तियों को खींचकर प्रज्ञा परिवार में सम्मिलित कर रहा था जो पहले इन नामों से ही बिदकते थे।

'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद' की इस नई चिन्तनधारा ने ७० से ९० के दो दशकों में पूरे भारत व विश्व में एक व्यापक उथल-पुथल मचाई एवं शोध का एक नया आयाम ही खोल दिया। साधना का वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत कर पूज्य गुरुदेव ने अनेक बुद्धिजीवियों को प्राणप्रत्यावर्तन, जीवन-साधना, कुण्डलिनी जागरण एवं उच्चस्तरीय गायत्री साधना सत्रों में सम्मिलित कर उनका आत्मबल बढ़ाया व इस योग्य बनाया कि वे आस्थासंकट से मोर्चा ले सकें। इसके लिए सभी प्रतिपादनों का सारगर्भित पहला संकलन १९७८-७९ में ४२ पुस्तकों के एक सेट के रूप में तथा दूसरा संकलन १९८४-८५ में २५ पुस्तकों के एक सेट के रूप में प्रकाशित हुआ।

सबसे महत्त्वपूर्ण स्थापना १९७८-७९ में हुई जब उन्होंने कणाद ऋषि की तपःस्थली में भगीरथी के तट पर ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान की स्थापना की। शान्तिकुंज से लगभग आधा किलोमीटर दूरी पर विनिर्मित यह संस्थान स्वयं में अनूठा है। यहाँ बौद्धिक अनुसंधान व वैज्ञानिक प्रयोग-परीक्षण का क्रम जून ७९ से आरंभ हुआ। नवयुग के अनुरूप तत्त्वदर्शन के निर्माण हेतु युगमनीषी का आह्वान किया गया एवं दुर्लभग्रन्थों से भरा एक ग्रंथालय विनिर्मित हुआ, जिसमें विज्ञान व अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर खण्डन व मण्डन करने वाले दोनों ही पक्षों की विभिन्न विषयों की पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का अनुसंधान एवं शोध ग्रन्थों का विश्व भर से संकलन किया गया। उद्देश्य एक ही था विज्ञान की सहायता से श्रेष्ठता के समर्थन एवं भविष्य-निर्माण के लिए सुदृढ़ आधार खड़े करना। युग-परिवर्तन के नये आयाम तलाश करने के लिए भविष्य विज्ञान, सर्वधर्म समभाव एवं देव-संस्कृति पर शोधकार्य भी इसी के साथ हाथों में लिए गए। अपने ही परिवार में से उच्चशिक्षित, पदार्थ-विज्ञान, चिकित्साशास्त्र एवं अन्यान्य विधाओं में निष्णात ऐसे नररत्न निकलकर आ गए जिन्होंने स्थायी रूप से यहीं रहकर अथवा कुछ समय नियमित रूप से इस कार्य के लिए देते रहने का संकल्प लिया। इस प्रकार यहाँ दार्शनिक शोध का क्रम चल पड़ा एवं दिसम्बर १९७९ व जनवरी १९८० में आयोजित तीन सत्रों में बुद्धिजीवी वर्ग के चिन्तन को पूज्य गुरुदेव ने भलीभाँति मथा।

प्रत्यक्ष प्रमाणों की प्रस्तुति हेतु प्रयोगशाला की आवश्यकता और थी, जहाँ यह प्रतिपादित किया जा सके कि अध्यात्म-उपचारों को अपनाने से काया की जीवनी शक्ति बढ़ती है, मनोबल व आत्मबल में वृद्धि होती है, तनाव का शमन होता है एवं रोगों के होने की संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। चिकित्सा-विज्ञान, मनोविज्ञान एवं पदार्थ-विज्ञान की सम्मिलित एक ऐसी प्रयोगशाला १९८४ तक बनकर खड़ी हो गई, जिसमें कल्प-साधकों, युगशिल्पी साधकों तथा आहार-नियमन, जप-अनुष्ठान, ध्यान, नादयोग, त्राटक आदि सम्पादित करने वाले व्यक्तियों पर प्रयोग-परीक्षण आरंभ हो गए। गायत्री मंत्र की शब्द-शक्ति एवं यज्ञ के रूप में पदार्थ की कारण- शक्ति की शोध इस संस्थान की निराली विशेषता है। अन्यान्य विषयों पर तो अनुसंधान अब विश्व की कुछ प्रयोगशालाओं में आरंभ भी हो चुके हैं, किन्तु मंत्रशक्ति की प्रभावोत्पादकता, ध्वनिविज्ञान का विश्लेषणात्मक अध्ययन एवं यज्ञ की भौतिकीय व रासायनिक आधार पर विशद् विवेचना संभवतः इसी संस्थान की विज्ञान जगत को एक अनोखी देन है।

गैस लिक्विड क्रोमेटोग्राफी, फ्रेक्शनल डिस्टीलेशन एवं साल्वेण्ट एक्सट्रैक्शन के माध्यम से यहाँ वनौषधियों की गुणवत्ता भी प्रमाणित की जाती है व यह भी बताया जाता है कि उनका सूक्ष्मीकृत रूप में चूर्ण, क्वाथ-फाण्ट या वाष्पीभूत अग्निहोत्र धूम्र के रूप में प्रयोग समग्र स्वास्थ्य के लिए लाभकारी (होलिस्टीक हीलिंग) है। मंत्रों के उच्चारण व श्रवण का शरीर के अंग-प्रत्यंगों पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा विभिन्न वर्णों (स्पेक्ट्रम के सात रंग) व प्रकाश ज्योति का ध्यान किस तरह से शरीर की विद्युत को प्रभावित कर उसे सुनियोजित करता है, इसे मल्टीचैनेल पॉलीग्राफ, बायोफीडबैक, इलेक्ट्रोएन के फेलोग्राफी, इलेक्ट्रोकार्डियोग्राफी तथा साइकोमेट्री के उपकरणों से देखा-परखा जाता है। रक्त के श्वेतकण व विभिन्न हारमोन्स, एन्जाइम्स, जीवनीशक्ति बढ़ाने वाले

द्रव्यों तथा फेफड़ों की रक्तशोधन प्रक्रिया को प्राणायाम, आसन, मुद्राएँ, बन्ध, ध्यान तथा आहार-संयम कैसे प्रभावित करते हैं? इसके लिए यहाँ स्पेक्ट्रोफोटोमीटर, इलेक्ट्रोफोरेसिस ऑटोएनालाईजर, स्पायरोमेट्री आदि के प्रयोग-परीक्षण होते हैं। सारे यंत्रों का विश्लेषण कम्प्यूटर्स द्वारा किया जाता है।

अभी तक सम्पन्न शोधकार्य एवं पूज्य गुरुदेव द्वारा निर्देशित भावी शोध संकल्पनाओं को शीघ्र ही पुस्तकाकार एवं बुलेटिन के रूप में प्रकाशित करने की योजना है, ताकि जन-जन तक यह जानकारी पहुँच सके कि अध्यात्म साधनाओं का अवलम्बन घाटे का सौदा नहीं बल्कि जो लाभ होता है वह पूर्णतः विज्ञानसम्मत है, प्रत्यक्षवाद की कसौटी पर प्रमाणित किया जा सकता है, देव-संस्कृति के निर्धारण मात्र कपोल-कल्पित नहीं हैं वरन् तथ्यों पर आधारित हैं, यह देखकर नयी पीढ़ी, बुद्धिवादी समुदाय को भी आश्वासन मिलेगा कि एक ऐसा संस्थान है, जो मात्र इसी कार्य को समर्पित है।

पूज्य गुरुदेव ने सतयुगकालीन ऋषियों की तरह जो वैज्ञानिक भी हुआ करते थे समय-समय पर १९८४ तक स्वयं ब्रह्मवर्चस जा-जाकर व तत्पश्चात् शोधकर्ताओं का मार्गदर्शन कर एक ऐसा सुदृढ़ आधार खड़ा कर दिया है कि दार्शनिक विवेचनाओं एवं वैज्ञानिक आँकड़ों के माध्यम से वह सारा प्रतिपादन अब प्रस्तुत करना संभव है, जो नवयुग की आधारशिला रखेगा। विज्ञान व अध्यात्म का समन्वय एक समुद्रमंथन के समान इस युग में सम्पन्न हुआ पुरुषार्थ कहा जा सकता है। समुद्रमंथन से निकले चौदह रत्नों की तरह इस शोध-अनुसंधान से उद्भूत निष्कर्ष आने वाले समय में जन-जन का मार्गदर्शन करेंगे, जीवन जीने की शैली दिखाएँगे तथा उज्ज्वल भविष्य का पथ प्रशस्त करेंगे।

पूज्य गुरुदेव स्वयं को कलम का सिपाही, एक विनम्र लोकसेवी तथा ऋतम्भराप्रज्ञा के आराधक कहते रहे। यह सब तो उनके जीवन का अंग है, किन्तु इन सबसे भी कुछ अधिक व सशक्त रूप में स्वयं 'वर्चस' सम्पन्न एक ऐसे 'ब्रह्मर्षि' का जीवन उन्होंने जिया। ब्रह्मवर्चस उस तत्त्वदर्शन की शोध का उत्तरार्द्ध है, जो उन्होंने स्वयं चौबीस लक्ष के चौबीस गायत्री महापुरश्चरण कर अपनी काया में जीवन के प्रारंभिक काल में आरंभ की थी। दृश्य रूप में तो उत्तरार्द्ध का पटाक्षेप हो गया है, प्राणों का महाप्राण में विसर्जन हो चुका है, किन्तु उनकी परोक्ष सामर्थ्य शीघ्र ही इन शोध परिणामों को विश्व-मानस के समक्ष प्रतिष्ठित करेगी।

## उज्ज्वल भविष्य के प्रवक्ता महाकाल के अंशधर

युग का अर्थ होता है एक काल अवधि, एक पूरा एक 'जमाना'। जिस जमाने की जो विशेषताएँ, प्रमुखताएँ होती हैं, उन्हें युग के साथ जोड़कर उस काल अवधि को सम्बोधित करते हैं। जैसे ऋषियुग, यंत्रयुग, ज्ञानयुग। जब भी युगपरिवर्तन की बात कही जाती है तो उसमें उस कालावधि की चपेट में आने वाले पूरे समष्टिगत तंत्र को बदलने से आशय होता है। पूज्य गुरुदेव ने जब युगनिर्माण की बात कही तो यह तो कहा कि यह व्यक्ति-निर्माण से होगा, किन्तु उसका पूर्वार्द्ध भी बता दिया, युगपरिवर्तन अर्थात् इस कालखण्ड से जुड़े हर व्यक्ति के सोचने के ढर्रे में, रीति-नीति तथा महत्त्वाकांक्षाओं में आमूलचूल परिवर्तन।

यह परिवर्तन कैसे हो? यह एक सर्वाधिक जटिल प्रसंग है, क्योंकि यह निर्माण से भी दुरूह, समयसाध्य एवं कष्टसाध्य प्रक्रिया है। विश्वभर में समय-समय पर द्रष्टा, मनीषी, भविष्यद्रष्टा जन्मे हैं व उन्होंने तत्कालीन समय को देखते हुए अपनी अन्तर्दृष्टि के आधार पर भविष्य के विषय में जो भी कुछ कहा है, वह निराश ही करने वाला है। लगता है कि मानव के कृत्यों के कारण महाविनाश की, महाप्रलय की घड़ी निकट आ पहुँची। व्यक्ति संकीर्ण स्वार्थपरता से बाहर नहीं निकल पा रहा, समाज मूढ़मान्यता से ग्रस्त है तथा राष्ट्र युद्धोन्माद में चूर हैं। ऐसी स्थिति को देखते हुए पर्यवेक्षकगण कहते हैं कि यदि मनुष्य ने अपनी चाल नहीं बदली तो अमर्यादित प्रजनन से लेकर मनोविकार, आवेशग्रस्तता एवं शहरीकरण, औद्योगीकरण से लेकर प्रदूषण, अन्तर्ग्रही विक्षोभ, प्रकृति प्रकोप एवं युद्ध ही इस धरित्री को देखते-देखते नष्ट कर डालेंगे।

उनका यह मूल्यांकन संव्याप्त परिस्थिति को देखते हुए गलत भी नहीं कहा जा सकता। चारों ओर अविश्वास, विद्वेष, अलगाववाद, पारस्परिक विग्रह, सम्प्रदायवाद एवं सत्ता की भोगलिप्सा ही छाई दिखाई देती है। दो विश्वयुद्ध एवं २५० छिटपुट युद्ध इसी सदी में हो चुके, किन्तु मनुष्य को लड़े बिना चैन ही नहीं मिलता, ऐसा लगता है अब जीवाणु युद्ध, रासायनिक युद्ध कल्पना मात्र तक सीमित नहीं रहे, विभिन्न युद्धों में एक दशक में ही उनका निर्ममतापूर्वक प्रयोग हो चुका है। सभी का प्रतिफल एक ही नजर आता है- मनुष्य जाति की सामूहिक आत्महत्या की तैयारी ।

ऐसी विपरीत व दुर्धर्ष परिस्थितियों में भी कोई एक महामनीषी सबका मनोबल बढ़ाते हुए मूल समस्या को ठीक कर मानव जाति को सही राह पर ले जाने की तथा उज्ज्वल भविष्य लाने की बातें करता है, तो आश्चर्य तो होता है परन्तु वह बातें ही नहीं करता, बल्कि एक पूर्व चित्रांकन, छोटा संस्करण एवं एक सुदृढ़ नींव विनिर्मित करता चला जाता है, तो इस दुस्साहस पर विश्वास करने को भी मन करता है।

पूज्य गुरुदेव की ही हस्तलिपि में अभी तक अप्रकाशित एक लेख से उनका भविष्य कथन उद्धृत है-

*हम अकेले हैं, जो अन्य सभी के कथनों का सम्मान करते हुए इतना भर कहते हैं- "उन परिस्थितियों को देखते हुए जिस महाविनाश की संभावना व्यक्त की गई है, वह निराधार नहीं है। फिर भी इतना निश्चित है कि वृत्रासुर, महिषासुर जैसे दुर्दान्त दैत्य जब निरस्त हो चुके हैं, तो कोई कारण नहीं कि सशक्त क्षमता के रहते वर्तमान विनाश संकट को परास्त न किया जा सके और उसके सर्वथा प्रतिकूल सृजन की नई परिस्थितियाँ न बन सकें। लंकादहन के उपरान्त अविलम्ब धर्मराज्य का सतयुगी वातावरण आ गया था। उसकी पुनरावृत्ति फिर न हो सके, ऐसा कोई कारण नहीं।"*

यह संकल्प एक ऐसी सत्ता का है जो यह मान रही है कि परिस्थितियों में बिगाड़, मनुष्य बहुत कर चुका, किन्तु अब सुधार की बारी है। हर युग में सतयुग आता रहा है, तो अब कलियुग जो अपनी अन्तिम साँसें गिन रहा है, क्यों नहीं सतयुग की वापसी के साथ ही पलायन कर युगपरिवर्तन को सुनिश्चित करेगा? वस्तुतः यह विधेयात्मक चिन्तन ही इस प्रज्ञापुंज का, ऋषिसत्ताओं की पक्षधर, महाकाल की सत्ता का सर्वाधिक सबल सशक्त पक्ष है, जिसने लाखों प्रज्ञा परिजनों में नये प्राण फूँककर उन्हें पुनरुज्जीवित कर दिया। अपनी उलटी चाल बदल कर नये सिरे से सतयुगी ब्राह्मण परम्परा वाली जिन्दगी जीने लगना, एक प्रकार से नये जीवन के समान ही तो कहा जाएगा।

पूज्य गुरुदेव ने जब 'अखण्ड ज्योति' प्रकाशित की तब द्वितीय विश्वयुद्ध चल रहा था। सुदर्शन चक्रधारी श्रीकृष्ण उसके मुखपृष्ठ पर आश्वासन देते विराजमान थे। शीघ्र ही भारत को आजादी मिलने जा रही थी। उसके बाद संभावित भारतव्यापी अराजक परिस्थितियों को दृष्टिगत रख साधना-अनुष्ठान की महत्ता एवं ब्रह्मास्त्र अनुष्ठान रूपी गायत्री महापुरश्चरण की आवश्यकता को पत्रिका में प्रतिपादित किया जाने लगा था। इसके बाद सहस्रकुण्डी महायज्ञ १९५८ में सम्पन्न हुआ व सभी परिजनों को एक सूत्र में आबद्ध कर गायत्री परिवार रूपी संगठन बनाया। इस संगठन के माध्यम से अष्टग्रही योग, भारत-चीन युद्ध (१९६८), भारत-पाक युद्ध (१९६५), बंगला मुक्ति संघर्ष (१९७१), आपातकाल (१९७६) तक गायत्री की उच्चस्तरीय, पंचकोषी तथा स्वर्ण जयन्ती साधना द्वारा अभयदान देते हुए वे अपनी भूमिका को स्पष्ट करते चले जा रहे थे। उनकी तप-साधना भी इसी क्रम से प्रचण्ड होती गयी व उसकी स्थूल परिणति सूक्ष्मीकरण साधना के रूप में १९८४ में जाकर हुई, इस बीच 'महाकाल और युग प्रत्यावर्तन प्रक्रिया' (१९७१) नामक एक पुस्तक एवं 'अखण्ड ज्योति' की लेखमाला (१९६७) के माध्यम से वे महाकाल के रौद्ररूप व परिजनों को भावी देवासुर संग्राम में अपनी भूमिका समझने व बदलने का संकेत सतत् देते आ रहे थे।

इसके बाद महाकाल रौद्र रूप में ताण्डव नृत्य करने की मुद्रा में 'अखण्ड ज्योति' के पृष्ठों पर (१९६७) में आने लगे व उन्हीं दिनों युग-प्रत्यावर्तन प्रक्रिया का स्वरूप 'अखण्ड ज्योति' के पृष्ठों पर उन्होंने स्पष्ट किया। वे लिखते हैं- "महाप्रलय का अन्तिम ताण्डव नृत्य तब होता है, जब पंचतत्वों से बनी प्रकृति जराजीर्ण हो जाती है। तत्त्व बूढ़े होने के कारण अपना काम ठीक तरह समयानुसार नहीं कर पाते। ऋतुएँ समय पर नहीं आतीं और उत्पादन, पोषण, विनाश की क्रम-व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में महाकाल का अन्तिम ताण्डव नृत्य इस ब्रह्माण्ड को चूर्ण-विचूर्ण कर छितरा-बिखरा देने वाली महाज्वालाएँ प्रचण्ड करता है और नयी सृष्टि के सृजन की भूमिका सम्पादित करने के लिए महाकाली फिर अपने प्रसव प्रजनन की तैयारी में लग जाती है," किन्तु साथ ही आगे वे लिखते हैं- "त्रिपुरारी महाकाल ने अतीत में भी त्रिविध माया-मरीचिका को अपने त्रिशूल से तोड़-फोड़ कर विदीर्ण किया था, अब वे फिर उसी की पुनरावृत्ति करने वाले हैं। धर्म जीतने वाला है, अधर्म हारने वाला है। लोभ, व्यामोह और अहंकार के कालपाशों से मानवता को पुनः मुक्ति मिलने वाली है। संहार की आग में तपा हुआ मनुष्य अगले ही दिनों पश्चात्ताप, संयम और नम्रता का पाठ पढ़कर सज्जनोचित प्रवृत्तियाँ अपनाने वाला है।"

संभव है कि परिजनों को अशुभ परिस्थितियाँ देखकर लगता हो कि समय आखिर बदलेगा कैसे? पूज्य गुरुदेव के प्रयासों की शृंखला कभी टूटी नहीं। उन्होंने १९८० में युगसन्धि का बीजारोपण किया गया तथा युगसन्धि के बीस वर्ष व नवयुग के आगमन की बेला सन् २००० के बाद की निर्धारित की गयी। इसी के साथ प्रज्ञा पुरश्चरण का क्रम आरंभ कर दिया गया व सामूहिक धर्मानुष्ठानों की महत्ता बताते हुए १९८३ से १९८८ तक एक सुनियोजित क्रम इसका चला। इस बीच शान्तिकुंज में आर्य भट्ट परम्परा के अन्तर्गत स्थापित वेधशाला में शोध कार्य चल रहा था। गणना के पूरा होते ही उस स्थान को संस्कारित पावन भूमि मानकर यंत्रों को हटा कर वहाँ बड़े शैड बना

दिए गए, जहाँ विधिवत युग सन्धि महापुरश्चरण वसंत पंचमी १९८९ में आरंभ कर दिया गया जो लाखों प्रज्ञा परिजनों द्वारा नित्य नियमित रूप से केन्द्र एवं पूरे विश्व में एक साथ सम्पन्न किया जा रहा है। चूँकि सामूहिक सत्प्रयासों के परिणाम स्वयं पूज्य गुरुदेव ने अपने जीवन में क्रियान्वित एक वैज्ञानिक की तरह प्रस्तुत किये हैं, इसलिए यह विश्वास सुनिश्चित होता लगता है कि यदि उनके निर्देशों ही के अनुरूप मानव जाति चली तो भविष्य निश्चित उज्ज्वल है। इस बात को उन्होंने द्रष्टाओं के भविष्य-कथनों के माध्यम से और स्पष्ट करते हुए 'युग परिवर्तन एक सुनिश्चित सम्भावना' व 'अखण्ड ज्योति' के लेखों के माध्यम से समझाना आरंभ कर दिया था। जीनडिक्सन, जूलवर्न, नोस्ट्राडेमस, प्रो. हरार, कीरो, मदर शिप्टन, महर्षि अरविन्द एवं स्वामी विवेकानन्द की भारत एवं विश्व का भविष्य सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा कि- ''समय को तो बदलना ही है, क्योंकि यह महाकाल की प्रेरणा है ईश्वर की इच्छा है, युग की माँग है। इसे युग धर्म का पांचजन्य उद्घोष भी कह सकते हैं। इसमें प्रचण्ड मानवी पुरुषार्थ उभरेगा, पर स्मरण रखा जाए कि इसके पीछे नियन्ता की प्रचण्ड प्रेरणा और सुनिश्चित योजना काम कर रही होगी।''

'प्रज्ञावतार का स्वरूप और क्रियाकलाप' 'ध्वंस के साथ नवसृजन भी' तथा 'सुरक्षा साधना का समर्थ ब्रह्मास्त्र' जैसे लेखों द्वारा जहाँ उन्होंने महाकाल द्वारा नवसृजन की सुनिश्चितता का तथ्य प्रतिपादित किया, वहीं 'इक्कीसवीं सदी बनाम उज्वल भविष्य' (दो खण्डों ) तथा सतयुग की वापसी 'प्रज्ञावतार की विस्तार प्रक्रिया' जैसी पुस्तकों द्वारा सबकी जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए यह स्पष्ट किया कि जब अन्तराल बदलेगा, भाव-संवेदनाएँ जागेंगी तो सद्बुद्धि का उदय होगा। यही प्रज्ञावतार की व्यष्टि तंत्र में अवतरित सूक्ष्म प्रेरणा है। यही सद्बुद्धि व्यक्ति के क्रिया-कृत्यों में आमूलचूल परिवर्तन कर उदार सहकारिता पर आधारित समाज बनाएगी।

उनके सभी भविष्य-कथनों को मनीषी वर्ग ने बड़ी गंभीरता से पढ़ा है व विगत एक दशक की परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि परिवर्तन बड़ी तेजी से आ रहा है। देखते-देखते उपनिवेशवाद पूरी धरती से मिट गया एवं युद्ध पर उतारू दो महाशक्तियों के राष्ट्रनायकों का दिमाग न जाने किस अदृश्य शक्ति ने परस्पर संघर्ष से उलटकर सृजन की दिशा में मोड़ दिया। पूर्वी यूरोप के देशों में आई परिवर्तन की लहर ने सारे अधिनायकवादी उखाड़ फेंके। अब कुप्रचलन और अनैतिकता को अंगीकार करने वालों के विरुद्ध विश्व भर में लोकनिंदा व प्रताड़ना का माहौल बनता जा रहा है। सभी मिलजुलकर रहने व प्रकृति से साहचर्य बिठाकर रहने की रीति-नीति अपनाने की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। मनुष्य का चिंतन न जाने कौन-सी अदृश्य शक्ति इस तेजी से बदल रही है कि परमार्थ के लिए, सत्प्रयोजनों के लिए देवमानवों में सहज ही उमंगें उठने लगी हैं। यदि यह परिवर्तन एक छोटे स्तर पर भी कहीं क्रियारूप लेता दिखाई देता हो तो भविष्य में महाकाल एवं अदृश्य जगत में विद्यमान समर्थ सत्ताओं से और व्यापक स्तर पर सक्रिय होने की आशा की जा सकती है।

एक छोटा सा बीजारोपण शान्तिकुंज एवं प्रज्ञा अभियान के रूप में महाकाल के अग्रदूत द्वारा हो चुका। इसने अपनी सूक्ष्मीकरण साधना द्वारा इसे प्रचण्ड गति प्रदान की। अब वे सूक्ष्म व कारण शरीर से सक्रिय हैं। वस्तुतः वे पूरी मानव जाति के लिए सुरक्षा कवच विनिर्मित कर रहे हैं। यदि उनके बताए निर्देशों को हम जीवन में उतारते चलें तो यह परिवर्तन भावी पांच वर्षों में ही बड़ी तेजी से भारत से आरंभ होकर विश्वभर में संव्याप्त होता दृष्टिगोचर होगा। जाग्रतात्माओं को उस सत्ता का सन्देश है-

[illegible]

*अगले दिनों जब शांतिकुंज से सम्बन्धित नवनिर्माण में योगदान करने वालों का इतिहास लिखा जाएगा, तो हो सकता है कि उस प्रकाशन में मात्र पहली पीढ़ी की ही नहीं, वरन उन पदचिह्नों पर चलने वाली दूसरी-तीसरी पीढ़ी भी अपने को गौरवान्वित अनुभव करे।*

*.........शान्तिकुंज एक शक्तिकेन्द्र के रूप में उभरा है। यह किसी व्यक्तिविशेष की योजना, क्षमता एवं प्रयत्नशीलता भर की प्रतिक्रिया नहीं है। इसका सूत्र-संचालन वह दैवी सत्ता कर रही है, जिसने असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए आदिकाल में ही प्रतिज्ञा की थी और अब तक वह आश्वासन ठीक प्रकार निभता चला*

*आया है। शांतिकुंज-उद्भव में उसी की भावना एवं संरचना उभरती हुई देखी जा सकती है और दृष्टिवानों को आश्वासन दिलाती है कि पूर्व दिशा में उदय हुआ स्वर्णिम सूर्य, संसार भर को अगले दिनों प्रकाश प्रदान करेगा। शान्तिकुंज की योजनाओं को निरन्तर और समयदान के लिए प्रबुद्ध परिजनों, मूर्धन्य विद्वानों का उभरता उत्साह सफलता का ही साक्षी है।*

# स्रष्टा के अजस्र अनुदान-सृजन-शिल्पियों के लिए सुरक्षित

सन्तुलन बिगड़ने पर जब मनुष्य के हाथ-पैर फूलते हैं तो स्रष्टा को अपनी अनुपम कलाकृति बचाने के लिए स्वयं ही दौड़कर आना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर भूतकाल में उन्होंने समय-समय पर अपना वचन निभाया है। ''यदा-यदा हि-'' वाली प्रतिबद्धता में इसके लिए वे स्वयं स्वेच्छापूर्वक न केवल बँधे हैं, वरन् उसकी पूर्ति भी यथासमय करते रहे हैं। इस बार भी अपने वचन से मुकरने वाले नहीं हैं।

भगवान के अवतरण में कारणभूत दो तथ्य हैं- अधर्म का नाश और धर्म का संस्थापन। उनकी विनाश और सृजनलीला में यही दो प्रयोजन प्रमुख रूप से सुसम्बद्ध रहते हैं। यहाँ पूरा जोर जिस ध्रुवकेन्द्र पर केन्द्रीभूत है, उसे एक शब्द में 'धर्म' ही कहना चाहिए और माना जाना चाहिए कि भगवान की रुचि का, जिम्मेदारी का, लीला का यही प्रमुख केन्द्रबिन्दु रहता है। इतिहास साक्षी है कि महान परिवर्तनों की विषम वेला में निराकार भगवान का अभीष्ट प्रयोजन साकार महामानवों के द्वारा ही सम्पन्न हुआ। आत्मा भी तो अपना काम, शरीर के माध्यम से ही कराती है। यहाँ तक कि शरीर को भी बड़े और कड़े कामों के लिए उपकरणों और वाहनों की आवश्यकता पड़ती है। भगवान भी ऐसा ही करते हैं। स्वयं श्रेय लेने की अपेक्षा वे भक्तजनों को ही श्रेय से लादते हैं। सच्चे भक्तों की पहचान मात्र इसी एक कसौटी पर होती है कि वे भगवान के कितने काम आये।

राष्ट्र की सुरक्षा संकट में पड़ने पर अनिवार्य भर्ती कानून लागू होता है और हर स्वस्थ और प्रौढ़ को सेना में भर्ती होने के लिए विवश किया जाता है। समर्थ होते हुए भी जो बहाने बनाते, बगलें झाँकते और आनाकानी करते हैं, उन्हें धिक्कारा ही नहीं घसीटा भी जाता है। श्रेय वे पाते हैं जो समय की विषमता देखते हुए, उछल-कर आगे आते, पहली पंक्ति में खड़े होते और सीना तानकर अपनी देशभक्ति का परिचय देते हैं। पदोन्नति के समय, बड़े काम सौंपते समय इन अग्रणी और साहसी लोगों का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है, जबकि घसीटकर भर्ती किये गयों को खाई खोदने, मशीनें पोंछने और लाशें ढोने जैसे काम सौंपे जाते हैं। अच्छा हो हम समय की विषमता और आवश्यकता को समझें। बगलें न झाँकें और अग्रिम पंक्ति में खड़े होने के शौर्य-साहस का परिचय दें।

अवतारों के मात्र दो प्रयोजन होते हैं -अधर्म का नाश और धर्म का उद्धार। प्रज्ञावतार को भी यही करना पड़ा है। अनास्था को गलाने के लिए उनकी भट्टी गरम हो रही है साथ ही आस्था के भाव भरे ढाँचे में मानवी चेतना को ढालने के लिए आवश्यक प्रबंध कर रखा गया है। अब व्यक्तियों की मारकाट करने से नहीं, प्रवाह को बदलने से काम चलेगा। निस्सन्देह भूतकालीन अवतारों की तुलना में प्रज्ञावतार का काम बहुत बड़ा है। वे दसों या चौबीसों मिलकर जितना काम कर सके , इससे चौगुना-सौगुना काम करने की आवश्यकता इन दिनों पड़ेगी। इस हेतु उसके सहचरों को, कार्यवाहकों को अधिक प्रखरता का परिचय देना पड़ेगा साथ ही सौभाग्य का श्रेय पुरस्कार भी उसी अनुपात में मिलेगा।

मारकाट से काम बनता है या नहीं यह पिछले दो विश्वयुद्धों में देखा जा चुका । महाभारत का प्रभाव भी कुछ ही समय रहा था और लंका की असुरता भी समय बीतते ही फिर नये सिरे से सिर उठाने लगी थी। विष वृक्ष की जड़ें हरी-भरी बनी रहने पर टहनियाँ काटने पर भी वे नये सिरे से उग आती हैं। अबकी बार जड़ों पर कुल्हाड़ा चलेगा। चोर की माँ को पकड़ा जाएगा। बहाव को दीवार लगाकर रोकने की अपेक्षा उफनने वाले स्रोत को बंद किया जाएगा। अब मच्छर मारने के स्थान पर गंदगी साफ करने का अभियान चलेगा। सामयिक लीपापोती की अपेक्षा यह समग्र स्वच्छता अभियान ही कुछ कारगर एवं चिरस्थायी परिणाम उपस्थित कर सकेगा। परिस्थितियों के अनुरूप अपना साहस अब अधिक मात्रा में सँजोना होगा और ऊँचे स्तर का पराक्रम करने योग्य मनोबल जुटाना होगा।

भगवान अपने सहचरों को आवश्यक क्षमता एवं सुविधा प्रदान करते हैं। जिसके सहारे सामान्य परिस्थितियों के रहते हुए अपनी आन्तरिक वरिष्ठता का प्रमाण प्रस्तुत करते ही, वह अनुदान प्राप्त करने लगते हैं, जिसके आधार पर वे देखने में छोटे रहते हुए भी बड़े उत्तरदायित्व निभा सकें, बड़े काम कर सकें, श्रेय पा सकें। ईश्वर निराकार है इसलिए उसके अनुदान भी पदार्थ नहीं, वरन् भावना क्षेत्र के होते ही हैं। अन्त:क्षेत्र की बलिष्ठता मिलने पर मनुष्य ऐसे पराक्रम प्रस्तुत करता है, जिसे देखकर सामान्यजन दाँतों तले उँगली दबाने लगें और चकित होकर उसे सिद्धि, चमत्कार, वरदान आदि का नाम देने लगें।

वस्तुत: होता इतना ही है कि मनुष्य अपनी आन्तरिक उत्कृष्टता परिपक्व करके आदर्शवादिता अपनाने का सुनिश्चित संकल्प करता है। महानता को जीवनचर्या में समाविष्ट करते हुए ऐसी रीति-नीति अपनाता है, जिससे ईश्वरीय प्रयोजन सध सके, भले ही तात्कालिक घाटे जैसा कुछ दृष्टिगोचर होता रहे। यही है वह स्थिति, जिसके आधार पर किसी की प्रामाणिकता, परिपक्वता एवं पात्रता सिद्ध होती है। इतनी मंजिल स्वयं पार कर लेने के

उपरान्त वे दैवी अनुदान बरसने लगते हैं, जिनके सहारे मनुष्य महामानव, ऋषि, देवात्मा एवं अवतार जैसी वरिष्ठता प्राप्त करता हुआ दृष्टिगोचर होने लगता है।

भगवान के भक्तों को तीन अनुदान-वरदान मिलते रहे हैं, ये ही इन दिनों उन प्रज्ञा परिजनों के लिए सुरक्षित हैं जो इस आड़े समय में महाकाल के सहचर बनने के लिए अपनी संकल्पवान साहसिकता का परिचय दे सकें। (१) आत्मसन्तोष या आत्मबल, (२) लोकश्रद्धा, जन-सहयोग, (३) प्रतिकूलताओं को अनुकूलताओं में बदलने वाली अदृश्य सहायताएँ।

स्मरण रखने योग्य यह है कि पदार्थपरक वैभव मात्र निर्वाह, विलास या प्रदर्शन के काम आता है। उसके सहारे महानता नहीं सधती। यदि साधनों के सहारे बड़े काम हो सके होते तो अब तक महामानवों को मिल सकने वाली गरिमा भी श्रीमन्तों ने खरीद ली होती, किन्तु वैसा कभी हुआ नहीं है। धन कुबेरों की, चतुर बुद्धिमानों की, शस्त्र सज्जित योद्धाओं की अपने-अपने क्षेत्र में उपयोगिता है, पर जहाँ तक युग-परिवर्तन जैसे महान प्रयोजनों का सम्बन्ध है वहाँ मात्र संकल्प के धनी, लिप्साओं को कुचलने वाले कालजयी ही उस भार को वहन करने में समर्थ होते हैं जिसे युगदेवता किन्हीं जाँचे-परखे लोगों को ही प्रदान करते रहे हैं।

इन दिनों जाग्रत आत्माओं की परीक्षा वेला है। उन्हें अपनी गरिमा प्रकट करते हुए अग्रगमन के लिए कदम उठाने चाहिए। जो उतना कर सकेंगे उन्हें आत्म-संतोष, जन-सहयोग एवं अदृश्य आलोक की कमी न रहेगी। इन दैवी अनुदानों के सहारे वे उतना कर सकेंगे जिसे मनुष्य जन्म को सार्थक बनाने वाला सौभाग्य कहा जा सके।

# भावी मिलन इस तरह संभव रहेगा

गुरुदेव कहते थे- सम्पर्क साधने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्यक्ष मिलन ही इस हेतु अनिवार्य हो। व्यापक शक्तियों का कोई रूप नहीं हो सकता। यहाँ तक कि प्रेम, द्वेष, सर्दी-गर्मी, पवन आदि तक को हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। परब्रह्म के महासमुद्र में उठती हुई लहरें देवी-देवताओं की वस्तुस्थिति तक को हम नहीं देख-समझ सकते। मात्र प्रतिमाओं और छवियों के आधार पर अपनी इच्छा केन्द्रीभूत करते हैं। वस्तुतः वैसी छवियों वाला कोई देवी-देवता है नहीं। ध्यान-कल्पना के निमित्त ही साधक अपनी इच्छानुसार प्रत्यक्षवादी होने के कारण प्रतिमाएँ गढ़ता है और उसके सहारे अपनी श्रद्धा बढ़ाता है।

अदृश्य जगत में दिवंगत आत्माएँ भी विद्यमान रहती हैं। वैज्ञानिकों ने भी अनन्त आकाश को खाली नहीं, सूक्ष्म सम्पदा से भरा-पूरा पाया है, पर उसे देखने या पकड़ने के लिए विशेष यन्त्र-उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। खुली आँखों से उन्हें नहीं देखा जा सकता।

प्रकृति का दृश्य भाग तो थोड़ा-सा है। देखने, सुनने, बोलने, छूने, सूँघने की पकड़ में थोड़ा-सा ही दायरा आता है। विश्व-ब्रह्माण्ड में संव्याप्त पदार्थ सम्पदा का अधिकांश भाग ताप, ध्वनि, प्रकाश तरंगों के रूप में है। उन्हीं की उलट-पुलट से बहुत कुछ बनता-बिगड़ता रहता है। सामान्य स्थिति में उनके साथ सरल सम्पर्क नहीं सधता। इसके लिए विशिष्ट वैज्ञानिक उपकरणों अथवा आध्यात्मिक प्रयोगों का माध्यम अपनाना पड़ता है।

विचार मात्र ही नहीं शब्द और वाणी भी एक स्थान की स्थिति दूसरे स्थान में जा दिखाते हैं। रेडियो-टेलीविजन के माध्यम से यह कार्य होते हुए देखा जा सकता है। यह अदृश्य दर्शन है। जो व्यक्ति या वस्तु यहाँ नहीं है, सहस्रों कोस दूर है, उसको प्रत्यक्षवत देखना यों आश्चर्यजनक तो है, पर है प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत ही।

यह सिद्धान्त अन्यत्र भी लागू होता है। दूर-दूर रहने पर भी प्रेम अथवा द्वेष की तरंगें चलती रहती हैं और वे अपना प्रभाव वैसा ही छोड़ती हैं जैसा निकटवर्ती होने पर होता है। माता के पेट में रहने वाला भ्रूण यों प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता, तो भी दोनों परस्पर अविच्छिन्न रूप से जुड़े रहते हैं और एक के शरीर का भाग दूसरे के शरीर में पहुँचता रहता है। कछवी अपने अण्डे देकर रेत में गाढ़ देती है और स्वयं पानी में चली जाती है, इतने पर भी अपना भावसम्पर्क किसी न किसी प्रकार उस अण्डे के साथ बनाये रहती है। इसी आधार पर वह पकता और बड़ा होता है। यदि किसी प्रकार इसी अवधि में कछवी की मृत्यु हो जाए तो जननी का प्राणप्रवाह प्राप्त न कर सकने के कारण अण्डा सड़ जाता है। उसमें से बच्चा उत्पन्न नहीं होता। यह घटनाएँ बताती हैं कि दूरवर्ती होने पर भी सूक्ष्म-चेतना के माध्यम से निकटवर्ती ही नहीं इष्ट को अन्तराल में विराजमान भी देखा जा सकता है। मीरा, रामकृष्ण परमहंस आदि को दिव्यसत्ता के प्रत्यक्ष दर्शन, अनुभव एवं अनुदान इसी आधार पर उपलब्ध होते रहते थे।

क्या दो मनुष्यों के बीच ऐसे प्रयोग चल सकते हैं। तान्त्रिक विद्या में इसके लिए द्वेष और आध्यात्मिक मार्ग की साधना में इसके लिए प्रेम आवश्यक है। यही दो शक्तियाँ ऐसी हैं जिनके सहारे दूरस्थ को निकटवर्ती बनाया जा सकता है। तान्त्रिक विधि से उसे त्रास दिया जा सकता है और प्रेम के आधार पर उल्लास से भरा जा सकता है। यदि ऐसा न होता तो द्रौपदी का चीरविस्तार और ग्राह से गज की मुक्ति वाले प्रसंग अमान्य ठहराये जा सकते हैं। पिछले ही दिनों योगी अरविन्द की मौन-साधना और शरीरगत निश्चेष्टता उग्र तप का रूप धारण करके स्वतन्त्रता संग्राम में विजय दिलाने में समर्थ हो चुकी है। इस परोक्ष घटनाक्रम को कोई बिरले ही जानते हैं। प्रत्यक्षदर्शी तो उसे प्रत्यक्ष स्वतन्त्रता आन्दोलन की दृश्यमान गतिविधियों तक ही सीमित मानते हैं। ऐसे लोगों

को तो स्वर्ग से धरती पर गंगा का अवतरण संभव कर दिखाने वाले प्रसंग को भी ध्यान करना चाहिए। आध्यात्मिक गुरुत्वाकर्षण भू-मण्डल के इर्द-गिर्द दौड़ने वाले चुम्बकत्व से किसी प्रकार कम नहीं है। इस अदृश्य शक्ति के सहारे ब्रह्माण्ड के अगणित ग्रह-नक्षत्र परस्पर एक-दूसरे को पकड़े और जकड़े हुए हैं। मनुष्य एक सशक्त एवं अद्‌भुत चुम्बक है। वह अपनी गुह्य क्षमता से किसी भी दृश्य-अदृश्य को अपने निकट खींच सकता है या अपने निकट घसीटकर बुला सकता है। इस चुम्बकत्व के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच अनेक महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान चलते रहते हैं। संसार के अन्य आदान-प्रदानों की तुलना में इसे किसी प्रकार कम नहीं समझना चाहिए। यदि इस तत्त्व की सत्ता इस जाल में काम न कर रही होती तो मनुष्य परस्पर निर्जीव खिलौनों की तरह ही काम करते। उनकी काया ही कुछ दौड़-धूप करती दीखती। भावना के अभाव में प्रेम और द्वेष यह दोनों ही शक्तियाँ निरर्थक हो जातीं और इस संसार में रस-विष कुछ भी न रहता। सर्वत्र निर्जीवता और नि:स्तब्धता ही छाई होती।

यह इसलिए कहा जा रहा है कि भावी जीवन में हमारा प्रत्यक्ष शरीर दर्शन देते रहने की स्थिति में न रहेगा। आने वाले वर्षों में एकान्तवास में उन गतिविधियों को अधिक सशक्त रूप से अधिक सफलतापूर्वक चलाया जा सकेगा, जिनके लिए दौड़-धूप की, मिलन-सम्पर्क की विशालकाय योजनाएँ बनानी पड़ती हैं। इतना अवरोध पड़ने पर भी किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि जिस प्रयोजन के लिए यह तप-साधना ओढ़ी गयी है वह समाप्त हो जाएगी। लोगों को प्रत्यक्ष न दीख पड़ने पर भी वह प्रक्रिया जीवनपर्यन्त ही नहीं, चेतना बदल जाने पर भी सूक्ष्म शरीर में चलती रहेगी और लक्ष्य तथा प्रयोजन के प्रति हमारा प्रत्यक्ष शब्दवेधी बाण की तरह अपनी गति से चलता रहेगा।

## भावी सम्पर्क और सहयोग

अब तक के हमारे जीवन में निजी सम्पर्क का ऐसा क्रम भी चला है जिसमें परिजन अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयों का विवरण सुनाते और उनका समाधान पाने के लिए हमारा सहयोग प्राप्त करते रहे हैं। भले ही वह परामर्श के रूप में मिला हो, पर यह ऐसा सशक्त हुआ है, मानो किसी ने सिर पर लदे भारी बोझ को उठाकर अपने सिर पर लाद लिया हो। लोगों के साथ घनिष्टता जुड़ने और उनके द्वारा लोकमंगल की अनेकों गतिविधियाँ द्रुतगति से चलते रहने का यह भी एक रहस्यमय कारण है।

जब हमारी स्थूल मुलाकात संभव न होगी तब भी स्वजनों के सम्पर्क का क्रम पूर्ण रूप से बन्द न होगा उसके लिए दूसरी अप्रत्यक्ष राह निकाल ली गयी है।

रविवार के दिन परिजनों से दृश्य वार्तालाप का क्रम चलता रहेगा। इसका उपाय अत्यन्त सरल है। प्रात:काल सूर्योदय के समय शान्तचित्त एकान्त में बैठकर हिमालय हरिद्वार की दिशा में मुख करके पालथी मारकर बैठना चाहिए।

इसके उपरान्त दस बार लम्बी साँस ली जाए। सीने में भरी हवा को इस प्रकार निकाला जाए जैसे मल-मूत्र त्याग के अवसर पर जोर लगाया जाता है। निजी वायु के साथ निजी संकल्प-विकल्प भी बाहर निकल जाते हैं। खाली होने पर सम्पर्क-साधना और जिज्ञासाओं का समाधान मिलना सरल हो जाता है।

दाहिने हाथ को भगवान का प्रतीक-प्रतिनिधि माना जाए और उसे मस्तिष्क पर दस मिनट तक घुमाता रहा जाए। इस हाथ घुमाने के साथ ही मस्तिष्क में ऐसे उत्तर या समाधान उठने लगेंगे जो कि प्रत्यक्ष मिलन या परामर्श से भी सम्भव नहीं हो पाते। यदि अपना मन निर्मल स्थिति में हुआ तो विश्वास किया जाना चाहिए कि यह वैसा ही सुयोग मिल रहा होगा जैसा कि निकटतम बैठकर जी खोलकर किया जा सकता था।

# महाप्रयाण के साथ एक युग का पटाक्षेप

सूक्ष्मीकरण की एकाकी तप साधना पूज्य गुरुदेव के जीवनकाल एवं मिशन के इतिहास का एक अति महत्त्वपूर्ण मोड़ है। इस अवधि में उनकी तप-साधना सूक्ष्म रूप से पाँच वीरभद्रों को क्रियाशील बनाने में लगी रही व लेखनी 'अखण्ड-ज्योति' एवं 'युगशक्ति गायत्री' के माध्यम से हर प्रज्ञा-परिजन के मन को सतत मथती रही। इसी दौरान सन् १९८५ का वर्ष उनकी आयुष्य का पिचहत्तरवाँ वर्ष होने के कारण ही रजत जयन्ती वर्ष मनाया गया एवं इसी वर्ष अप्रैल, १९८५ में उन्होंने अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर पहली बार प्रकाश डाला। इन्हीं लेखों व सूक्ष्मीकरण साधना के अन्तर्गत लिखे गये लेखों का समन्वित रूप उनकी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' के रूप में नवम्बर, १९८५ में प्रकाशित हुआ।

इन दो वर्ष की अवधि में जिसका समापन वसंत पर्व १९८६ पर हुआ, दर्शन-झाँकी के कौतुक वाले वर्ग से उन्होंने मुक्ति पा ली एवं अनेकों ऐसे प्राणवान व्यक्ति उनसे जुड़ गये जो उनके मूल स्वरूप को, उनकी आत्म-कथा को पढ़कर, भली-भाँति हृदयंगम कर उनके प्रत्यक्ष दर्शन न हो पाने की स्थिति में भी आ जुड़े थे। इनमें से कुछ देव-परिवार का अभिन्न अंग बन गये, कुछ क्षेत्र में सक्रिय हो गये जिन्हें आदर्शवाद रुच नहीं रहा था, वे स्वयं को तीव्र गति से चल रहे प्रज्ञावतार के प्रवाह में अपने को न जोड़ स्वत: अलग हो गये अथवा थपेड़ों ने उन्हें अलग कर दिया। इस प्रकार १९८४ से १९८६ की अवधि प्रज्ञा-परिवार के लिए एक युगान्तरकारी परिवर्तन का स्वरूप लेकर आयी।

वसंत पर्व १९८६ पर अपनी सूक्ष्मसत्ता के निर्देशानुसार उन्होंने तप-साधना को साथ जारी रखते हुए परिजनों से

सीमित रूप में मिलते रहने का क्रम पुन: बना लिया, जो निर्बाध गति से वसंत पर्व १९९० तक चलता रहा। इन चार वर्षों की अवधि में जो कार्य उनके मार्गदर्शन में सम्पन्न हुआ, वह विगत चालीस वर्षों के बराबर हुआ माना जा सकता है। इसी अवधि में उन्होंने कार्यक्षेत्र से जुड़े कार्यक्रमों को नई गति दी। सात लाख गाँवों व एक लाख कस्बों तक पहुँचने के लिए एक नई कार्यशैली निर्धारित हुई। पूर्णाहुति वर्ष होने के कारण एक हजार १०८ कुण्डीय गायत्री यज्ञों व इतने ही छोटे २४ कुण्डीय यज्ञों को मनाने का निर्णय १९८६ में ही लिया गया। यह तीन वर्ष से चली आ रही देवात्मशक्ति की कुण्डलिनी जागरण साधना की महापूर्णाहुति थी। लाखों व्यक्ति इस माध्यम से मिशन से जुड़ गये। अगले ही वर्ष समय की आवश्यकता को देखते हुए इन यज्ञों को विस्तार देने के लिए न्यूनतम सामग्री में संपन्न करने के लिए दीपयज्ञों का निर्धारण हुआ, जो जन्मदिवसोत्सवों से लेकर एक लक्ष वेदीय दीपयज्ञों का स्वरूप लेता हुआ विस्तार लेता चला गया।

जनवरी १९८७ का 'अखण्ड-ज्योति' अंक 'कुण्डलिनी जागरण विशेषांक' था। इसमें व्यष्टिगत और समष्टिगत नवसृजन के निमित्त किए जाने वाले साधना पराक्रम का सचित्र, शास्त्रोक्त एवं विज्ञानसम्मत प्रतिपादन था। एक गूढ़ विषय पर एक सरल-सुबोध व्याख्या परिजनों के समक्ष आयी। विश्व वातावरण में संव्याप्त अवांछनीयताओं के परिशोधन हेतु की गयी इस साधना को विश्व-राष्ट्र की कुण्डलिनी जागरण साधना नाम दिया गया। प्रकारान्तर से इस अंक में पूज्य गुरुदेव द्वारा सम्पन्न सूक्ष्मीकरण साधना एवं अगले दिनों सूक्ष्म एवं कारणशरीर से सम्पन्न होने वाली साधना की विस्तृत रूपरेखा थी।

इक्कीसवीं सदी विशेषांक जो फरवरी, १९८७ में प्रकाशित हुआ इस साधना का क्रिया पक्ष था। पूज्य गुरुदेव का 'इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य' उद्घोष यहीं से प्रकट हुआ। उज्ज्वल भविष्य का मूल आधार उन्होंने अपना संकल्प-बल बताया जो उच्चसत्ता की प्रेरणा से महाकाल की चुनौती की तरह अवधारित किया गया। इसी अंक में उन्होंने लिखा कि "इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए हमने स्थूल शरीर से काम लेना प्राय: बंद कर दिया है। उसके साथ एक हल्का तंतु ही जुड़ा रखा है। जब उसकी भी आवश्यकता न होगी तो एक झटके से इसे भी तोड़कर अलग कर देंगे।"

वसंत पर्व १९८८ के 'अखण्ड ज्योति' विशेषांक में 'ज्योति फिर भी बुझेगी नहीं' शीर्षक से एक लेख में उन्होंने लिखा- "सोचा जाता है कि गुरुजी ८० वर्ष का आयुष्य पूरा करना चाहते हैं। इस दृष्टि से माताजी भी उतनी आयु का लाभ ले सकेंगी जितनी कि गुरुदेव। इस महाप्रयाण का समय अब बहुत दूर नहीं है। हाथ के नीचे वाले अनिवार्य कामों की जल्दी-जल्दी निपटाने की बात बनते ही चार्ज दूसरों के हाथों चला जाएगा। सन्देह हो सकता है कि उस दशा में वर्तमान प्रगति रुक सकती है और व्यवस्था बिगड़ सकती है। वस्तुत: यह मिशन तंत्र बाजीगर (जगतनियंता) द्वारा संचालित है। वही कोई गड़बड़ी होते देखेगा और तत्परतापूर्वक सुधारेगा। आखिर लाभ-हानि भी तो उसी की है। मिशन के भविष्य के सम्बन्ध में भी हर किसी को इसी प्रकार सोचना चाहिए और निराशा जैसे अशुभचिन्तन को पास नहीं फटकने देना चाहिए।"

ऊपर की पंक्तियों से स्पष्ट है कि वे अपने दृश्य कार्यों को एक पूर्व निर्धारित अवधि में समेट रहे थे ताकि वे अपने भावी उत्तरदायित्व को सूक्ष्मशरीर से सम्पन्न करने हेतु सक्षम हो सकें। "शरीर के निष्प्राण होने के उपरान्त जो चर्मचक्षुओं से हमें देखना चाहेंगे वे इसी अखण्ड-ज्योति की जलती लौ में हमें देख सकेंगे एवं यह आश्वासन हम देते हैं कि यह ज्योति कभी बुझेगी नहीं।" जैसे शब्दों से उन्होंने दु:खी परिजनों को आश्वासन भी दे दिया था कि वे स्वयं को सँभालें व भावी सुनिश्चितता को समझते हुए सौंपे दायित्वों को पूरा भर करते चलें।

वसंत पर्व १९८८ पर प्रकाशित इन पंक्तियों को पढ़कर सभी को लगा कि पूज्य गुरुदेव पुन: दर्शन देना संभवत: बंद कर देंगे, शरीर त्याग की बात तो किसी के मन में भी नहीं थी एवं न ही शब्दों का भावार्थ वे समझ पाए थे। लगभग दस हजार निकटवर्ती परिजनों का एक समूह पुन: शांतिकुंज आ गया। शिवरात्रि पर एकत्रित इस वर्ग के एक विशेष सत्र को मिनी वसंत पर्व की उपमा दी गयी व आश्वस्त किया गया कि अभी गुरुदेव अपना आश्वासन पूरा निभाएँगे, किंतु उन्हें समीप से- गहराई से समझने वाले भली-भाँति समझ रहे थे कि प्रत्यक्षत: स्वास्थ्य बहुत अच्छा दीखते हुए भी अब वे जिन्दगी का अन्तिम महत्त्वपूर्ण अध्याय सम्पन्न कर रहे हैं। यही कारण है कि सन् १९९० की वसंत पंचमी पर जब उन्होंने अंतिम दर्शन व अंतिम वसंत पर्व की बात कही तो सूक्ष्म दृष्टि वालों ने उसका अर्थ तुरन्त समझ लिया। 'सतयुग की वापसी' 'नवयुग का मत्स्यावतार' एवं 'नव-सृजन के निमित्त महाकाल की तैयारी' जैसी पुस्तकों में वे पहले ही संकेत दे चुके थे कि वे अब सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर से सक्रिय होने जा रहे हैं। ये सभी पुस्तकें १९८९ के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित हो चुकी थीं। जिन्होंने उन्हें गहराई से पढ़ा, वे युगपरिवर्तन का मर्म, गुरुसत्ता के वास्तविक स्वरूप व उनकी उस निमित्त भावी तैयारी हेतु तत्परता समझ रहे थे।

'नवसृजन के निमित्त महाकाल की तैयारी' पुस्तक में वे लिखते हैं- "अब जीवन का दूसरा अध्याय आरंभ होता है। अब इसमें जो होना है उसे और भी अधिक महत्त्वपूर्ण-मूल्यवान माना जा सकता है। स्थूल के अतिरिक्त सूक्ष्म व कारण शरीरों का अस्तित्व अध्यात्म विज्ञानी बताते रहे हैं। उन्हें स्थूलशरीर की तुलना में असंख्य गुनी अधिक शक्तिशाली कहा गया है। उन्हीं का प्रयोग अब एक शताब्दी तक किया जाना है। यह कार्य

सन् १९९० के वसंत पर्व से आरम्भ किया जा रहा है। यहाँ से लेकर सन् २००० तक दस वर्ष युगसंधि का समय है। परिजन देखेंगे कि इस अवधि में जो गतिविधियाँ चलेंगी उसका केन्द्र 'शान्तिकुंज हरिद्वार' होगा।

यही प्रसंग 'वसंत पर्व पर महाकाल का संदेश' नाम से प्रकाशित हुआ। जिसमें परिजनों को उन्होंने अस्सी ब्रह्मकमल खिलने व अपने जीवन का प्रथम अध्याय समाप्त होने की बात कही। यही प्रसंग मार्च, १९९० अखण्ड-ज्योति के सम्पादकीय एवं अप्रैल, १९९० की पत्रिका में दी गयी विशेष लेखमाला 'इक्कीसवीं सदी में हमें क्या करना होगा' के अन्तर्गत दिये गये 'हम बिछुड़ने के लिए नहीं जुड़े हैं' शीर्षक लेख में उनकी लेखनी से प्रकट हुआ। वे लिखते हैं- ''दृश्य शरीर रूपी गोबर की मशक चर्मचक्षुओं से दिखे या न दिखे, विशेष प्रयोजनों के लिए नियुक्त किया गया प्रहरी अगली शताब्दी तक पूरी जागरूकता के साथ अपनी जिम्मेदारी वहन करता रहेगा।'' आगे के शब्द उन्हीं की लिपि में यथावत प्रस्तुत हैं।

[illegible]

*शान्तिकुंज परिकर में संचालक अपना सूक्ष्मशरीर-अदृश्य अस्तित्व बनाये रहेंगे। आने वाले, रहने वाले अनुभव करेंगे कि उनसे अदृश्य किंतु समर्थ प्राण-प्रत्यावर्तन और मिलन, आदान-प्रदान भी हो रहा है। इस प्रक्रिया का लाभ अनवरत रूप से जारी रहेगा।*

*...कहने, सुनने, करने-कराने की प्रक्रिया चलती रहने के संबंध में इस वसंत पर्व पर उपस्थित परिजनों से जब ऊपर से उतरे आदेश के अनुसार यह कहा था कि हममें से कोई किसी से अगले दिनों बिछुड़ न सके। जो प्रमाद और उपेक्षा बरतेगा, उसे शान्तिकुंज की संचालक शक्ति झकझोरती, उनके कान उमेठती और बाधित करती रहेगी। हर व्यक्ति सक्रिय रहकर ही चैन से बैठ सकेगा। कहा भले ही अलंकारिक भाषा में गया हो, पर इसे एक सच्चाई मानकर चलना चाहिए कि ऐसे सशक्त सूत्र मजबूती के साथ परस्पर बाँधे गये हैं, जो बिछुड़ने देने की स्थिति आने नहीं देंगे, भले ही हम लोगों में से किसी का दृश्यमान शरीर रहे या न रहे।''*

उपरोक्त आश्वासन में एक चेतावनी भी थी व दिलासा भी। इतना सब स्पष्ट होते हुए भी सहज मोहवश हममें से किसी को भी यह कल्पना न रही होगी कि वे स्थूलशरीर का चोला यों उतार फेंकेंगे जैसे दास कबीर अपनी झीनी चदरिया ज्यों की त्यों धर कर रखने की बात कह गये हैं। वसंत पर्व पर, प्रत्यक्ष मिलनक्रम बंद होने से ३० अप्रैल, ९० तक जब उन्होंने निकटवर्ती कार्यकर्त्ताओं की एक विशेष गोष्ठी में ब्रह्मबीज के ब्रह्मकमल में विस्तृत होने एवं उसकी सुवास कोने-कोने तक पहुँचाने के लिए ७, ८ जून को ज्येष्ठ पूर्णिमा के अवसर पर ६ महानगरों में ६ विशाल ब्रह्मयज्ञ, लक्षवेदीय दीपयज्ञ के आयोजन की बात कही तो संभवत: औरों को उनके इस अंतिम अध्याय पर शीघ्र पर्दा गिरने की बात मन में भी नहीं आयी होगी। किंतु वंदनीया माताजी एवं उनके समीपवर्ती सहयोगियों को भली-भाँति समझ में आ रहा था कि वे लक्ष्य निर्धारित कर चुके हैं। उनको वसंत पर्व पर ही बता दिया गया कि गायत्री जयन्ती तक ही उनका दृश्य अस्तित्व है। उसके बाद वे सूक्ष्म व कारणशरीर को और सक्रिय बनाने के लिए परोक्ष जगत में विचरण कर जाएँगे। गायत्री जयंती तक वे क्रमश: अपनी चेतना को समस्त अंगों से सिकोड़ना चालू रखेंगे, ताकि इच्छानुसार जब चाहें, शरीर छोड़ दें।

इतना होने पर भी मन में यह आश्वासन था कि जून की पूर्णिमा के ब्रह्मयज्ञों का निर्धारण उन्हीं का है। तब तक तो उन्हें सशरीर रहना ही है। किंतु ८ मई को उन्होंने यह कहकर कि प्रस्तुत पूर्णिमा के कार्यक्रम श्रद्धांजलि कार्यक्रम होंगे व वे अपना शरीर माँ गायत्री के अवतरण के पुण्य दिन, गायत्री जयन्ती पर उन्हीं की गोद में सिर रखते हुए महाप्रयाण कर जाएँगे, सब कुछ स्पष्ट कर समीपवर्ती परिजनों को शोकविह्वल कर दिया। एकाएक कोई घटनाक्रम घटित होने पर संभवत: कोई बड़ी क्षति हो सकती थी, किंतु वे सुनियोजित ढंग से अपने जीवनवृत्त का समापन करना चाह रहे थे।

महापुरुषों की लीला अपरम्पार होती है। स्थूल दृष्टि उन्हें भले ही समझ न पाए, किंतु जो उन्हें समीप से देख चुके हैं, अपने सान्निध्य में जिनको उन्होंने विगत छह-सात वर्षों की पूरी अवधि में रखा, उनको यह लीला समझ में आ रही थी। इस बीच उन्होंने मिशन की भावी रीति-नीति सम्बन्धी स्पष्टीकरण, कार्यकर्त्ताओं के दायित्व तथा सूत्रसंचालन सत्ता सम्बन्धी महत्वपूर्ण निर्देश देते रहने का क्रम बनाए रखा। उनका कथन था कि- ''शक्ति के जाने पर तो संस्था का काम रुक सकता है, किंतु व्यक्ति के जाने पर नहीं। वे स्वयं शक्ति स्वरूप हैं एवं वंदनीया

माताजी ही उनकी शक्ति को संग्रहीत रख परिजनों को दैनन्दिन जीवन से लेकर स्नेह बाँटने तक मिशन के दृश्य क्रिया-कलापों सम्बन्धी मार्गदर्शन इसके बाद करती रहेंगी। उत्तराधिकारियों के रूप में वे लोकसेवी कार्यकर्त्ताओं की एक सशक्त टीम छोड़े जा रहे हैं, जिनसे उनकी अपेक्षा है कि वे उनके जैसा ही ब्राह्मणोचित जीवन जियेंगे, उनके जैसी ही संयमित दिनचर्या अपनाते हुए परमार्थ प्रयोजनों में अपनी सारी शक्ति नियोजित करेंगे। लोकेषणा को कभी पास नहीं फटकने देंगे व परस्पर प्रतिद्वन्द्विता आदर्शवाद के क्षेत्र में करेंगे। कौन कितना विनम्र बना, यही उसकी वरिष्ठता की कसौटी होगी। उनके द्वारा समर्पित भाव से ब्रह्मपरायण जीवन किस प्रकार जिया गया, इसी आधार पर उनका मूल्यांकन प्रत्यक्षत: इन दिनों वंदनीया माताजी एवं परोक्ष रूप से वे सतत करते रहेंगे व सतत उनकी चेतना को झकझोर कर वे कार्य कराते रहेंगे जो उनकी गुरुसत्ता ने उनसे कराया।''

उन्होंने बार-बार यही कहा कि- ''यह काम भगवान का है, अवतार सत्ता का है, अत: कभी रुक नहीं सकता। सूक्ष्म व कारणशरीर से वे क्रमश: भारत एवं विश्व भर में सक्रिय होते हुए मूर्धन्यों को झकझोरेंगे एवं युगचेतना के आलोक को आगामी दस वर्षों में ही पूरे भारत व विश्वभर में संव्याप्त कर देंगे। ब्रह्मकमल जब परिपक्व स्थिति में पहुँचकर विभाजित होता है, तो अनेकों ब्रह्मबीज अपने पीछे छोड़ देता है। हमारे सम्पर्क में प्रत्यक्ष रूप से आए पच्चीस लाख कार्यकर्त्ता एवं इनसे भी सौ गुना अधिक वे जो अगले दिनों जुड़ेंगे, हमारा मार्गदर्शन सतत प्राप्त करते रहेंगे, क्योंकि अब हम उनके और अधिक निकट आ गये हैं। प्रत्यक्ष वंदनीया माताजी, आने वाले कुछ समय के लिए जब तक उनकी गुरुसत्ता उन्हें सक्रिय बनाये रखना चाहती है, सारे क्रिया-कलापों का संचालन कर शांतिकुंज को एक विश्वविद्यालय का रूप देंगी जहाँ नियमित रूप से साधना-अनुदान के वितरण, ममत्व भरे मार्गदर्शन एवं कौशल-प्रशिक्षण का क्रम चलता रहेगा।''

उनके इन अंतिम दिनों में समीप रहने वाले एक चिकित्सक शिष्य को यह निर्देश नोट तो कराये जाते रहे, साथ ही उसके मन में बार-बार उनके शरीर को लेकर मच रहे अन्तर्द्वन्द्व व उहापोह को पढ़ते हुए समाधान भी दिया जाता रहा। उनका कहना था कि - ''चेतना को मापने वाली मशीन अभी विज्ञान ने नहीं बनाई, अत: तुम जड़ यंत्रों से शरीर की जाँच-पड़ताल कर सब कुछ सामान्य पाकर भी हमें असामान्य पाते हो, तो इसमें दोष न यंत्रों का है, न तुम्हारा। स्थूल विज्ञान जिसको अध्यात्म से समन्वित करने का हम जीवनभर प्रतिपादन करते रहे, इन यंत्रों से नहीं बता सकता कि चेतना का ९५ प्रतिशत अंश हम पहले से ही सूक्ष्म व कारण शरीर की तैयारी हेतु रवाना कर चुके हैं। पाँच प्रतिशत अंश जो शेष बचा है, इस काया की देख-रेख तब तक करता रहेगा, जब तक अनिवार्य है। यंत्रों अथवा औषधि द्वारा काया से छेड़-छाड़ न किए जाने का हमारा निर्देश है। जब हम शरीर छोड़ें न तो प्राणों को लौटाने की चेष्टा करना, न काया से मोह करना। इस पार्थिव शरीर की अन्त्येष्टि हमारे ही द्वारा विनिर्मित प्रखरप्रज्ञा-सजलश्रद्धा रूपी तीर्थस्मारकों के समक्ष गायत्रीतीर्थ के प्रांगण में उपस्थित परिजनों की साक्षी में पावन गायत्री जयन्ती के दिन कर दी जाए। काया को औरों के दर्शन हेतु रोका न जाए क्योंकि इससे परिजन हमारी काया से मोह करने लगेंगे व चेतना जो कि सब कुछ है, हमारा कर्तृत्व जो शाश्वत, चिरस्थायी है, को परे रख देंगे। हम चाहेंगे कि लोग हमारी चेतना से जुड़ें, इसी कारण हम अन्त्येष्टि यहीं, इसी शांतिकुंज में पावन गंगादशहरा गायत्री जयन्ती के दिन ही कराने का आग्रह कर रहे हैं। माताजी को हम शक्ति देंगे ताकि वे स्वयं पर नियंत्रण रख सकें व मिशन से जुड़े एक भी बालक को हमारी कमी अनुभव न होने दें।''

छाती पर पत्थर रखकर उस कार्यकर्त्ता ने इन निर्देशों को सुना, महाकाल की अंशधर सत्ता के स्वरूप को समझा व गुरुसत्ता द्वारा अपने महाप्रयाण के बाद किए जाने वाले कर्तृत्वों को नतमस्तक हो स्वीकार किया। परिजनों को आश्चर्य हो सकता है, किंतु शक्ति कलशों को लक्षवेदीय ब्रह्म यज्ञायोजन स्थलों पर भेजने एवं अपने कर्तृत्व पर एक श्रद्धांजलि विशेषांक लिखे जाने व उसका प्रारूप कैसा हो, यह जीवन्त मार्गदर्शन उस सत्ता का ही दिया हुआ था। जीवित रहते सशरीर कोई महामानव ही २४ दिन तक सतत अपने बाद के भावी जीवनक्रम का निर्धारण कर हँसते-मुसकराते हुए स्थूल रूप से सदा के लिए विदाई लेने की योजना बना सकता है। उसने यह आश्वासन भी ले लिया कि उनके जाने के बाद शोक या विलाप न कर अपने मनोबल, आत्मबल में वृद्धि का सभी परिजन प्रयास-अभ्यास करेंगे तथा क्रिया-कलापों को इतना बहुमुखी बनाएँगे कि हर परिजन गुरुसत्ता के दृश्यमान शरीर का रोम-रोम, अंग-अवयव बनता दिखाई दे। परोक्ष रूप से सभी ने यह आश्वासन उन्हें दिया। २५ मई से गुरुदेव ने भोजन व जल दोनों ही लेना बंद कर दिया। कृत्रिम माध्यम से देने का प्रयास करने पर उन्होंने समझाया कि वे स्वेच्छा से यह सब कर रहे हैं। अपनी चेतना को सिकोड़कर महाप्रयाण की स्थिति में लाने के लिए अब वे अन्न व जल न लेकर वांछित दिन महासमाधि लेना चाहेंगे। उनके निर्देशानुसार कोई अतिरिक्त प्रयास फिर नहीं किया गया।

दो जून (गायत्री जयन्ती) की प्रात:काल का समय था। ब्राह्म मुहूर्त था। वंदनीया माताजी को, परिजनों को क्या कहना है एवं आगे कैसे कार्य करना है, यह सन्देश उन्होंने दिया एवं फिर दोनों ने अंतिम विदाई ली। दोनों को दृश्य शरीर के पृथक् होने की अनुभूति हो रही थी, किंतु स्वयं पर वज्र रख वंदनीया माताजी अपने आराध्य का सन्देश सुनाने नीचे चली आईं। लगभग सात हजार से अधिक व्यक्तियों ने उस सन्देश को सुना, जो वंदनीया

माताजी ने करुणासिक्त अंत:करण से निकली अपनी वाणी से कहा। उनके उद्‌बोधन के बाद प्रणाम व भोजन का क्रम चल पड़ा। जैसे ही युगसंगीत की प्रथम पंक्ति पूज्यवर के कक्ष में पहुँची- **''माँ तेरे चरणों में हम शीश झुकाते हैं''** उनके हाथ नमन की मुद्रा में ऊपर उठे एवं हृदय की धड़कन बन्द हो गई। कार्डियोस्कोप जो विगत तीन सप्ताह से सतत हृदय का स्पन्द बता रहा था, अब यह संकेत दे रहा था कि २ जून, १९९० की प्रात: ८ बजकर ५ मिनट पर स्थूल काया से प्राण विसर्जित हो, महाप्राण में विलीन हो चुके हैं। एक युग का पटाक्षेप हो चुका था।

शोक-विह्वल उनके पुत्रों एवं निकटस्थ कार्यकर्ताओं ने पहले स्वयं को सँभाला एवं फिर युगद्रष्टा की उस नश्वर देह को गंगाजल से स्नान कराके खादी के कोरे वस्त्र पहनाकर उन्हें उसी मुद्रा में लिटा दिया। मौन गायत्री जप तब तक चलता रहा, जब तक कि नीचे सभी कार्यकर्त्ताओं का प्रणाम व भोजन का क्रम समाप्त नहीं हो गया। यह उसी अनुशासन के अन्तर्गत था, जो नियमित दिनचर्या को प्रभावित न होने देने के रूप में वे स्वयं चाहते थे। प्रणाम समापन के बाद वंदनीया माताजी स्वयं दर्शनार्थ ऊपर आयीं। अपने आराध्य देवता का स्थूल शरीर ही उनके समक्ष था। प्राणों का विसर्जन जब हुआ तब उन्हें सूक्ष्म रूप से सन्देश भी प्राप्त हो गया था तथा अनुभूति भी हो चुकी थी। उनका शोक सभी को और विह्वल कर सकता था अत: उन्होंने स्वयं पर नियंत्रण रखा एवं पार्थिव शरीर को अंतिम प्रणाम हेतु नीचे ले चलने के लिए कहा। कहा जा सकता है कि वे सौभाग्यशाली थे जो उनका अंतिम दर्शन कर सके, किंतु जीवनदर्शन से शिक्षा देने वाला वह अवतारी पुरुष जो कहना था, वह सब पहले ही अपने हर परिजन को कह चुका था व अब कराने के लिए उनके और निकट, और समीप पहुँच चुका था।

अंतिम दर्शन का दृश्य सभी के अंत:करण को विदीर्ण करने वाला था। सभी ने अपनी पुष्पांजलि समर्पित की एवं उस वातावरण में भी सबको एक विचित्र अनुभूति होती रही कि वे आश्वासन दे गये हैं तो ज्योति बुझ कैसे सकती है? हम सभी अपने कर्तृत्व द्वारा ज्योति को सतत जलायें रखेंगे। शाम तक बाहर से आए सभी परिजन एवं स्थानीय, निकटवर्ती स्थानों से आए उनके अनुयायी, उनके सम्पर्क में आये अधिकारीगण व हरिद्वार के नागरिक दर्शन हेतु आते रहे। शाम को पार्थिव शरीर जो फूलों से सजा था, शांतिकुंज आश्रम में स्थित दो छतरियों प्रखरप्रज्ञा-सजलश्रद्धा के समक्ष ले जाया गया एवं उनके दोनों पुत्रों एवं दौहित्र द्वारा अग्नि को समर्पित कर दिया गया। वंदनीया माताजी जो सजल श्रद्धा की साकार मूर्ति थीं, पूरे समय वहाँ बैठी सबका मनोबल बढ़ाती रहीं। जीवन भर जिसने ममत्व की धार बहाई थी, अपना सब कुछ मिटाकर स्नेह-करुणा को जलधारा बहाकर उस सरिता में अगणितों को स्नान करा जिसने उन्हें पवित्र बना दिया था, वह युगऋषि, युगद्रष्टा, महाकाल का वरद पुत्र, अवतारी पुरुष अब वहाँ नहीं था। शेष थी वहाँ विद्यमान भस्म एवं वह ताप, जिसमें वह लाखों व्यक्तियों को तपाकर कुन्दन बनने की प्रेरणा दे गया। वह सारा कर्तृत्व अपने पीछे छोड़ गया था जिसका अनुगमन कर ब्रह्मकमल के रूप में विकसित हो अपनी सुगंध दिग्दिगन्त में फैलाने की प्रत्येक को वह प्रेरणा दे गया है। वह जाते जाते कह गया है-

**कहीं भी तुम रहो वंशज मेरे, सन्तान मेरी।**
**मेरी आवाज, मेरा स्वर सदा अनुभव करोगे॥**

# परमपूज्य गुरुदेव का महाप्रयाण

एक युगपुरुष, जिसने लगभग पौन शताब्दी तक करोड़ों व्यक्तियों को ममत्व के सूत्र में बाँधे रखा, एक परिवार के रूप में संगठित कर दिया। वह गायत्री जयन्ती (२ जून, १९९०) के पावन दिन प्रात: ८ बजकर ५ मिनट पर महाप्रयाण कर गया। वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, जिन्हें परिजन श्रद्धा से पूज्य गुरुदेव नाम से सम्बोधित करते रहे हैं, के पार्थिव शरीर को उसी दिन सायंकाल ५.३० पर लगभग पाँच हजार परिजनों की उपस्थिति में सजल श्रद्धा, प्रखर प्रज्ञा नामक उन्हीं के द्वारा विनिर्मित स्मारकों के समक्ष अग्नि को समर्पित कर दिया गया। इस प्रकार स्थूल काया की अस्सी वर्ष की एक सुनियोजित यात्रा समाप्त हुई।

अखण्ड ज्योति संस्थान व गायत्री तपोभूमि मथुरा, शान्तिकुंज एवं ब्रह्मवर्चस हरिद्वार के संस्थापक-संचालक, अखिल विश्व गायत्री परिवार के सूत्रधार के उद्घोषक तथा इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य प्रत्यक्षत: हमारे बीच से चले जाने से परिजनों का शोकाकुल होना स्वाभाविक है, पर उनसे जुड़े सभी परिजन यदि उनके जीवन से जुड़े वैविध्यपूर्ण, चमत्कारी घटनाक्रमों, महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर दृष्टि डालेंगे और उनका अन्तिम पन्द्रह दिनों में दिया गया आश्वासन समझेंगे जिसमें हमें आश्वस्त किया है कि अब वे और अधिक निकटता व सघनता से उपलब्ध हो सकेंगे, उनका मार्गदर्शन यथावत मिलता रहेगा तो हिम्मत बँधती दिखाई देती है, ऐसे में शोक की नहीं संकल्प की जरूरत है। उन्हें जाना तो था ही उन्होंने सन् १९८५ में ही हीरक जयन्ती वर्ष के समापन पर पत्रिकाओं में लिख दिया था कि- ''हमारे मार्गदर्शक ने हमारी स्थूलकाया को पाँच वर्ष का एक्सटेंशन दे दिया है। तत्पश्चात् हमारा सूक्ष्म व कारण शरीर सक्रिय होगा एवं घनीभूत प्राणऊर्जा के रूप में चारों ओर संव्याप्त होकर वह सब करेगा, जो चमड़े की इस काया द्वारा संभव नहीं है।''

इन शब्दों पर सम्भवत: उस समय विरलों का ध्यान गया होगा पर जिस प्रकार सूक्ष्मीकरण साधना के तुरन्त बाद उन्होंने अपनी गतिविधियों में तीव्रता लाकर भारत

भर में राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों तथा दीपयज्ञों का ताना-बाना बुना था, शांतिकुंज परिसर में विस्तारक्रम आरंभ किया था और फिर क्रमशः अपने सारे उत्तरदायित्व वन्दनीया माताजी को सौंपते हुए उसी वर्ष वसंत पंचमी से मिलने-जुलने का क्रम बन्द कर दिया था, उससे भली-भाँति पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। उस वर्ष की जनवरी एवं मार्च की अखण्ड-ज्योति जिन्होंने पढ़ी हो तथा अप्रैल की इक्कीसवीं सदी लेखमाला का अवलोकन किया हो, उन्हें अनुमान हो गया होगा कि वसंत पर्व पर महाकाल के संदेश में दिये गये निर्धारणों का ही उनमें निर्वाह हुआ था। सभी में स्पष्ट संकेत था कि वे अब सूक्ष्मशरीर की सत्ता से ही सक्रिय रह परिजनों के और निकट आ जाएँगे एवं इस वर्ष कभी भी अपनी पार्थिव देह छोड़ सकते हैं।

यह स्पष्ट संकेत उनकी मार्गदर्शक सत्ता द्वारा उन्हें मई मध्य में मिल गया था कि गायत्री के सिद्धसाधक होने के नाते उन्हें अपने प्राणों को इसी पावन दिन गायत्री जयन्ती, गंगादशहरा के दिन महाप्राण में विसर्जित कर देना चाहिए। जीवनभर जिसने स्वयं उच्चस्तरीय गायत्री साधना के शीर्ष तक स्वयं को पहुँचाया, अगणित व्यक्तियों को जाति, वंश, लिंग, वर्ण का भेद किए बिना गायत्री उपासक बना दिया उसके लिए महानिर्वाण हेतु इससे श्रेष्ठ दिन और हो भी क्या सकता था। यह सही कि पूज्यवर अब प्रत्यक्षतः हमारे बीच उस रूप में नहीं हैं, जिसमें वे मुसकराते, खिलखिलाते प्यार उँड़ेलते दिखाई देते थे, पर जैसा कि उनका निर्देश है उनका प्यार भरा मार्गदर्शन समस्याओं को सुलझाने वाला हल केवल उनके ध्यान करने मात्र से उपलब्ध हो जाया करेगा, क्योंकि अब वे कायपिंजर से मुक्त हो विराट से विराटतम् तथा सूक्ष्म रूप में करोड़ों गुने आकार में सारी वसुधा पर संव्याप्त हो गये हैं।

उनके द्वारा आरंभ किया गया विचारक्रान्ति का, युग-परिवर्तन का सारा कार्य अब और तीव्रगति से सारे भारतवर्ष व विश्वभर में चल पड़ेगा, क्योंकि यह दैवी सत्ता द्वारा संचालित शक्ति का अभियान है। व्यक्ति के न रहने पर तो काम रुक सकता है, पर शक्ति का कभी क्षय नहीं होता, मरण नहीं होता। वह तो सूक्ष्म रूप में और सामर्थ्यवान हो जाती है एवं अन्यान्य मनुष्यों, भावनाशीलों, लोकसेवियों के शरीरों को उपकरण बनाकर उनसे वह सारा काम करा लेती है, जिसके लिए उसका अवतरण हुआ था।

वे अपनी शक्ति वंदनीया माताजी को हस्तान्तरित कर गये थे तथा उनके माध्यम से सारे परिजनों को वही ममत्व, दैनन्दिन जीवन तथा लोकसेवा के क्षेत्र से, नवनिर्माण से जुड़ा मार्गदर्शन सतत मिलता रहा। निधि के रूप में वे करोड़ों की राशि से विनिर्मित शांतिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि तथा २४०० प्रज्ञा संस्थान, पच्चीस लाख सक्रिय भावनाशीलों का परिकर तथा चिंतन चेतना के रूप में प्रचुर परिमाण में साहित्य लिखकर छोड़ गये हैं। धर्मतंत्र से लोकमानस का परिष्कार, अध्यात्म का विज्ञानसम्मत प्रतिपादन, व्यक्ति, परिवार व समाज का नव-निर्माण करने वाला मार्गदर्शन तथा नवयुग की स्थापना हेतु तैयारी सम्बन्धी जो संजीवनी उनकी लेखनी से प्रकट हुई थी, वह रुकी नहीं है। यह आगे भी उनकी शक्ति से अनुप्राणित हो सतत चलती रहेगी तथा असंख्यों व्यक्तियों का मार्गदर्शन करती रहेगी। आने वाले दस वर्षों के लिए तो साहित्य वे लिखकर रख ही गये हैं। वह सबको और प्रखर रूप में पत्रिकाओं एवं पुस्तकों के माध्यम से भारत की तदुपरान्त विश्व की सभी भाषाओं में प्रकाशित हो उपलब्ध होता रहेगा।

समाज के नव-निर्माण तथा सतयुग की वापसी हेतु लोकसेवियों के उत्पादन की, प्रशिक्षण की परम्परा जो वे स्थापित कर गये थे, वह अपना कार्य बखूबी निभाती रहेगी। ब्रह्मकमल के रूप में विकसित, पल्लवित हो पूज्य गुरुदेव ने जीवन जिया है तो उसकी सुगंध एवं उद्भूत ब्रह्मबीजों से कोई क्षेत्र भला अछूता कैसे रह सकता है? शांतिकुंज आश्रम का अभी दस गुना विस्तार होना है तथा इसको विश्वविद्यालय के रूप में परिणत होना है। सिद्ध साधना आरण्यक तो यह है ही, जिसमें सुसंस्कारित बीजों को अंकुरित होने के निमित्त प्रचुर परिमाण में ऊर्जा विद्यमान है। परिजन अगले दिनों बड़ी संख्या में गुरुदेव के कर्तृत्व रूपी विराट रूप को देखने यहाँ आयेंगे तथा प्रज्ञा आलोक के विस्तार का संदेश लेकर यहाँ से जाएँगे। निःशुल्क छात्रावास, प्रशिक्षण तथा अतिथि-सत्कार का क्रम यहाँ पहले की तरह ही चलता रहेगा।

पूज्य गुरुदेव ने अपनी देह परित्याग करने सम्बन्धी पूर्वानुमान को परोक्ष रूप से तो समय-समय पर, किंतु प्रत्यक्षतः दिन विशेष की सूचना देते हुए मई मध्य में घोषित कर दिया था। परिजनों को यह लग सकता है कि ऐसा था तो हमें सूचना दे दी जाती, हम भी अंतिम दर्शन कर लेते। किंतु उनका निर्देश था कि ऐसा नहीं किया जाए। क्योंकि इससे तो परिजनों का मोह-काया तक सीमित होकर रह जाता एवं अंत्येष्टि के बाद वे काया को ही सब कुछ मानते हुए उनके कर्तृत्व की उपेक्षा करने लगते। उन्होंने परमार्थी ब्रह्मपरायण जीवन जिया है, जिसमें अपने पर कड़ा अंकुश लगाया है एवं उदारतापूर्वक अपनी शक्ति, विभूति, सम्पदा को लुटाया है। यही अपेक्षा उनकी परिजनों से भी रही है। समय का जो उपयोग उन्होंने किया एवं समाज के हित के लिए जैसा उसका सुनियोजन किया, यदि उसका एक अंश भी हम लोग अपने जीवन में उतार सकें, तो अपना जीवन धन्य कर लेंगे।

अस्सी वर्ष की आयु में उन्होंने आठ सौ वर्ष की आयु में किए जाने योग्य जीवन जिया है। काया कब तक साथ देती? फिर भी चूँकि संकेत आ चुका था, किसी भी प्रकार की व्याधि न होते हुए भी उन्होंने अपनी चेतना को शरीर के विभिन्न अंगों में सिकोड़ना आरंभ कर दिया था।

चूँकि चेतना को मापने का कोई यंत्र अभी तक बना नहीं। अत: यह अनुमान लगाना कठिन था कि रक्त आदि सभी का विश्लेषण एक स्वस्थ व्यक्ति जैसा होते हुए भी वे महाप्रयाण की बात क्यों सोच रहे हैं? स्थूल दृष्टि से सोचने वाले चिकित्सक जो सोच व कर सकते हैं, वह सब करने का उन्होंने प्रयास किया, परन्तु वे उस सीमा से परे थे। विजातीय द्रव्य की एक बूँद भी उन्होंने स्वीकार नहीं की तथा एक सप्ताह पहले से क्रमश: कम करते-करते जल व अन्न बिलकुल बन्द कर दिया। जब अवसान की वेला आई तो गायत्री माँ को प्रणाम कर स्वयं हृदय की धड़कन बन्द कर दी। सब कुछ इतना शीघ्र हुआ कि यह कह पाना कि उन्हें कुछ दिन और जीवित रखा जा सकता था, चेतना की सत्ता का मखौल उड़ाने के समान होगा।

पूज्य गुरुदेव ने बहुमुखी जीवन जिया है। बाल्यकाल में अपने गुरुदेव से साक्षात्कार से लेकर हिमालय यात्रा तक, स्वतंत्रता संग्राम सैनानी के नाते, यातना भुगतने से जेल यात्रा तक, परिजनों को स्नेह से अभिपूरित कर अपना अंग-अवयव बनाने तक, एक विश्वव्यापी समाजसेवी संगठन बनाने से लेकर अगणित भावनाशील लोकसेवियों के निर्माण तक, अपनी चमत्कारी अनुभूतियों द्वारा अगणित व्यक्तियों को संजीवनी देने से लेकर आत्मविकास संबंधी मार्गदर्शन तक तथा लेखनी द्वारा अपनी चिन्तन-चेतना को जन-जन तक पहुँचाने जैसे कार्यों से भरा-पूरा यह विराट व्यक्तित्व रहा है। उनके जीवन पर एक अविस्मरणीय श्रद्धांजलि अंक सन् १९९० के अगस्त-सितम्बर के संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित किया जा चुका है।

पूज्य गुरुदेव ने कहा था कि -''मेरे जाने के बाद शोक न किया जाए क्योंकि मैं शक्ति के रूप में और अधिक विराट परिकर में पहुँच जाऊँगा। सभी को मेरी अनुभूति होती रहेगी।'' उनका अन्तिम संदेश इस प्रकार है-

**''अस्सी वर्ष जी गई लम्बी सोद्देश्य शरीरयात्रा पूरी हुई। इस अवधि में परमात्मा को हर पल अपने हृदय और अंत:करण में प्रतिष्ठित मानकर एक-एक क्षण का पूरा उपयोग किया है। शरीर अब विद्रोह कर रहा है। यों उसे कुछ दिन और घसीटा भी जा सकता है, पर जो कार्य परोक्ष मार्गदर्शक सत्ता ने सौंपे हैं, वे सूक्ष्म और कारणशरीर से ही सम्पन्न हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में कृशकाय शरीर से मोह का कोई औचित्य भी नहीं है।**

**'ज्योति बुझ गई' यह भी नहीं समझा जाना चाहिए। अब तक के जीवन में जितना कार्य इस स्थूलशरीर ने किया है, उससे सौ गुना सूक्ष्म अन्त:करण से सम्भव हुआ है। आगे का लक्ष्य विराट है। संसार भर के छह अरब मनुष्यों की अन्तश्चेतना को प्रभावित और प्रेरित करने, उनमें आध्यात्मिक प्रकाश और ब्रह्मवर्चस जगाने का कार्य पराशक्ति से ही संभव है। जीवन की अन्तिम घड़ियाँ उसी उपक्रम में बीती हैं। इसके उपरान्त वे सभी परिजन, जिन्हें हमने ममत्व के सूत्रों से बाँधकर परिवार के रूप में विस्तृत रूप दे दिया है, संभवत: स्थूल नेत्रों से हमारी काया को नहीं देख पाएँगे, पर हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि इस शताब्दी के अंत तक, जब तक सूक्ष्मशरीर कारण के स्तर तक न पहुँच जाए, हम शांतिकुंज परिसर व प्रत्येक परिजन के अन्त:करण में विद्यमान रहकर अपने बालकों में नवजीवन और उत्साह भरते रहेंगे। उनकी समस्या का समाधान उसी प्रकार निकलता रहेगा जैसा कि हमारी उपस्थिति में उन्हें उपलब्ध होता।**

**हमारे आपसी सम्बन्ध अब और भी प्रगाढ़ हो जाएँगे, क्योंकि हम बिछुड़ने के लिए नहीं जुड़े थे। हमें एक क्षण के लिये भी भुला पाना आत्मीय परिजनों के लिए कठिन हो जाएगा।**

**ब्रह्मकमल के रूप में हम तो खिल चुके, किन्तु उसकी शोभा और सुगन्धि के विस्तार हेतु ऐसे अगणित ब्रह्मबीज देवमानव उत्पन्न कर जा रहे हैं जो खिलकर समूचे संस्कृति सरोवर को सौंदर्य-सुवास से भर सकें, मानवता को निहाल कर सकें।**

**ब्रह्मनिष्ठ आत्माओं का उत्पादन, प्रशिक्षण एवं युग-परिवर्तन के महान कार्य में उनका नियोजन बड़ा कार्य है। यह कार्य हमारे उत्तराधिकारियों को करना है। शक्ति हमारी काम करेगी तथा प्रचण्ड शक्तिप्रवाह अगणित देवात्माओं को इस मिशन से अगले दिनों जोड़ेगा। उन्हें संरक्षण, स्नेह देने, खरादने, सँवारने का कार्य माताजी सम्पन्न करेंगी। हम सतयुग की वापसी के सरंजाम में जुट जाएँगे। जो भी संकल्पनाएँ नवयुग के सम्बन्ध में हमने की थीं, वे साकार होकर रहेंगी। इसी निमित्त कायपिंजर का सीमित परिसर छोड़कर हम विराट घनीभूत प्राण ऊर्जा के रूप में विस्तृत होने जा रहे हैं।''**

**देव समुदाय के सभी परिजनों को मेरे कोटि-कोटि आशीर्वाद, आत्मिक प्रगति की दिशा में अग्रसर होने हेतु अगणित शुभकामनायें।''**

*- श्रीराम शर्मा आचार्य*

# श्रद्धांजलि समारोह एवं स्मृति उपवन की स्थापना

**''मैं विष पीने का अभ्यासी, अमृत की चाह नहीं करता।''**

यह पूज्य गुरुदेव को कविता की प्रिय पंक्ति थी। वस्तुत: रुद्र का, महाकाल का जीवन ही तो जिया था उन्होंने। जीवन भर दुष्प्रवृत्तियों, अवांछनीयताओं का हलाहल पीकर जो काया से प्राणों के महाप्रयाण के बाद भी मुक्ति की कामना नहीं करता, उलटे यह कहता है कि- ''मेरे उत्तर संस्कार अन्यान्य व्यक्तियों की तरह न किए जाएँ। यह कार्य तो सन् २०९० के बाद की पीढ़ी करेगी। तब तक मुझे मुक्त नहीं होना है। जब तक इस धरती पर अज्ञान, अभाव, अनीति को मिटाकर नवयुग की

स्थापना नहीं हो जाती, मैं मुक्ति की कामना कैसे कर सकता हूँ?'' पूज्य गुरुदेव के उत्तर संस्कार उनके निर्देशानुसार नहीं किये गये, परंतु जिस 'प्रखर प्रज्ञा' स्मारक के समक्ष उनकी काया भस्मीभूत हुई, वहाँ उनके अवशेषों से भरे कलश की स्थापना १३ जून को शास्त्रोक्त पद्धति से लगभग तीन हजार व्यक्तियों की उपस्थिति में सम्पन्न कर उनकी प्राण-प्रतिष्ठा कर दी गयी। यह स्थान उन्हीं के निर्देशन में १९८२-८३ में बनाया गया था। प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्ति समाधिस्थल पर पुष्प चढ़ाना चाहते थे, अतः 'प्रखर प्रज्ञा' पर ही उनके स्थूल शरीर के अवशेष स्थापित कर दिए गये।

पूज्य गुरुदेव का हिमालय-सा विराट व्यक्तित्व शान से जी गई जिन्दगी एवं ब्रह्मवर्चस के अनुरूप तप से अर्जित समस्त उपलब्धियाँ सामने रखकर वंदनीया माता जी के निर्देशानुसार यह निर्णय लिया गया था कि अपनी अंतःपीड़ा को सृजनात्मक साकार रूप देने के लिए एवं उन सभी परिजनों, जिनको उन्होंने छाती से चिपकाकर रखा था, स्नेह का पयपान कराया था, को भी यह अभिव्यक्ति कर पूज्य गुरुदेव के निर्धारणों के अनुरूप संकल्प लेने का अवसर देने के लिए एक विराट अन्तर्राष्ट्रीय श्रद्धांजलि समारोह शरद पूर्णिमा पर १ से ४ अक्टूबर, १९९० की अवधि के बीच आयोजित किया जाए। पूरे भारत व विश्व का शिष्य समुदाय इसमें एकत्र हो तथा जिन आदर्शों पर चलकर वे ब्रह्मबीज से ब्रह्मकमल बने, उन्हीं के अनुरूप चलने की वह यज्ञाग्नि की साक्षी में शपथ लें। इसीलिए एक हजार आठ कुण्डीय गायत्री यज्ञ एक से चार अक्टूबर की अवधि में इस समारोह के साथ सम्पन्न करने का निर्णय लिया गया।

कई परिजनों की इच्छा थी कि पूज्य गुरुदेव की स्मृतिस्वरूप कुछ विशेष निर्माण किया जाए। पूज्य गुरुदेव स्वयं जो जीवन जीकर गए एवं अपनी अनगिनत उपलब्धियाँ व रहस्यमय प्रसंग शोधकर्त्ताओं के लिए छोड़ गए, वे अपने आप में जीती-जागती स्मृतियाँ हैं। वे स्वयं नहीं चाहते थे कि कोई भवन या मूर्ति के रूप में उनको बन्द किया जाए। ऐसा विराट व्यक्तित्व भला सीमेण्ट-चूने के भवन या पत्थर की बनी मूर्ति में कैद हो सकता है ? एक बार प्रसंग चलने पर उन्होंने वंदनीया माताजी को बताया था कि- ''मेरे जाने के बाद मेरी स्मृति में तुम चाहो तो एक सुन्दर उपवन बनवा सकती हो, जिसमें प्रकृति का सौन्दर्य कूट-कूट कर भरा हो। हर जर्रा-जर्रा यही कहे कि आचार्य जी समष्टि के घटक थे, हम ही में समाहित हैं। हम में ही उनका दर्शन कर लो। मुझे हिमालय से अपार स्नेह है। वही तो एक ऐसी थाती है जिसे मैं पूर्ण रूप से अपनी, सिर्फ अपनी कह सकता हूँ। उसी के स्पर्श ने मेरे बौने व्यक्तित्व को हिमालय-सा विराट बना दिया। कभी मैंने हिमालय की प्रतिमा बनवाई थी, जिसे एक हाल में रखवाया था। बाद में उसे तोड़कर बाहर कर दिया। बच्चों को उससे बड़ा कष्ट हुआ। मेरी इच्छा है कि उससे भी विशाल हिमालय का लघु संस्करण-सा नजर आने वाली एक प्रतिमा विनिर्मित हो। मेरा निवास उसके कण-कण में रहेगा।''

वस्तुतः प्राकृतिक सौन्दर्य के वे जन्मजात पुजारी थे। आठ वर्ष की उम्र में हिमालय के आह्वान पर घर से वे भाग निकले थे एवं बाद में हिमालयवासी सत्ता स्वयं उनके घर आकर उन्हें निहाल कर गयी थी तथा दस-दस वर्ष के अन्तराल पर चार बार हिमालय उसने अपने साथ उन्हें रखा।

पूज्यवर के अनुसार वहाँ न केवल चारों धाम हैं जिनके दर्शन के लिए लाखों व्यक्ति प्रतिवर्ष वहाँ जाते हैं, अपितु वह सिद्ध-साधकों की क्रियास्थली है, देवताओं का क्रीड़ांगन है एवं देव-संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण देन इस आर्यावर्त्त, ब्रह्मावर्त्त को है। सारे ऋषिगणों, जिनकी परम्पराओं का बीजारोपण शांतिकुंज में किया गया है, ने हिमालय पर तप करके ही सिद्धियाँ प्राप्त कीं व अपनी आध्यात्मिक ऊर्जा से विश्वमानव को लाभान्वित किया। कभी भगीरथ गंगा को लेकर आये थे तो वह शिवजी के खुले केशों के रूप में स्थित नीलकण्ठ से होते हुए गोमुख से धरती पर प्रकट हुई व भगीरथी के रूप में सुरसरि बनकर भारतभूमि को अभिसिंचित करती चली गयीं। इस युग के भगीरथ ने प्रचण्ड तप करके उज्ज्वल भविष्यरूपी नवयुग के गंगावतरण का पुरुषार्थ सम्पन्न कर दिखाया व केन्द्र शांतिकुंज को बनाया। ऐसे में उनकी यह इच्छा कि हिमालय सब तो नहीं जा सकते, पर उसकी प्रतीक स्थापना तो भव्य रूप में हो सकती है और वह भी तप से संस्कारित इस पावन-भूमि पर, जहाँ कभी महर्षि विश्वामित्र ने एवं अब इस युग के नूतन सृष्टिसृजेता ने तप किया, उचित ही लगती है।

हिमालय एक प्रकार का ऊर्जा का घनीभूत प्राणकेन्द्र है, जो अमृत रूप में धरती पर बहता है। पूज्य गुरुदेव जैसे तपःपूरित व्यक्तित्व का यदि प्रतीक कोई हो सकता है, तो वह हिमालय ही हो सकता है। यह न केवल प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रतीक स्थापना है, वरन् दुर्गम हिमालयवासी दिव्य शक्तियों के प्रखर प्राणसंचार केन्द्र की भी स्थापना है। हिमालय के दुर्गम क्षेत्र में जो गोमुख से उत्तर-पूर्व एवं सुमेरु, चौखम्बा, स्वर्गारोहिणी, अलकनन्दा आदि पर्वत शृंगों से भी आगे स्थित है। हर किसी का जाना संभव नहीं, किंतु उस दिव्यकेन्द्र की स्थूल-स्थापना कर उसमें प्राण-संचार तो किया जा सकता है। जो हिमालय न जा सकें, वे भी इसकी ऊर्जा का समुचित लाभ ले सकें, इसीलिए स्मृति उपवन में पूज्य गुरुदेव द्वारा व्यक्त इच्छा के अनुसार देवात्मा हिमालय की भव्य प्रतिमा पिछले दिनों गुरु पूर्णिमा संवत् २०५४ ( २० जुलाई, १९९७) के दिन शांतिकुंज परिसर में की गई है।

इस स्मृति उपवन के लिए शांतिकुंज से लगी हुई बारह बीघे की जमीन खरीदी गई थी व इसमें वास्तुपूजन कर भूमि को संस्कारित करने के उद्देश्य से, एक हजार

आठ कुण्डों की भव्य यज्ञशाला में लगभग पाँच लाख परिजनों द्वारा एक विराट गायत्री महायज्ञ १ से ४ अक्टूबर, १९९० के बीच आयोजित श्रद्धांजलि समारोह में सम्पन्न होने की योजना बनी । इस श्रद्धांजलि समारोह में सम्पन्न होने के बाद ही स्मृति उपवन के निर्माण का कार्य चालू हो गया। इस उपवन में लगभग १५ फीट ऊँची एवं साठ फीट चौड़ी एक विशाल हिमालय की प्रतिमा की स्थापना की गयी है। हिमालय क्षेत्र के हृदय वाले, उत्तराखण्ड स्थित यमुनोत्री ग्लेशियर से लेकर नंदादेवी तक के पर्वत क्षेत्र की मुख्य चोटियाँ, घाटियाँ, गुहा-उपत्यिकाएँ, सरोवर, प्रपात, नदियाँ, प्रमुख तीर्थ, धाम एवं ऋषिगणों की तप:स्थलियों का जीवन्त दिग्दर्शन इस प्रतिमा में किया जा सकता है। हिमालय दुर्लभ, सुगंधित प्राण संचार करने वाली एवं साथ में हिमालय की संस्कृति का परिपूर्ण जीवन्त चित्रण मल्टीमीडिया के माध्यम से हिमालय के पीछे स्थित दीवाल पर देखा जा सकता है। जिसे सुरक्षा हेतु गुम्बद रूप में विनिर्मित किया गया है। अंदर प्रवेश करते ही साधक हिमालय की चेतना में अनुप्राणित हो उठते हैं। कायाकल्प जैसा चमत्कार पैदा करने वाली वनौषधियों की उत्पादन-स्थली भी है। संजीवनी बूटी, रुदन्ती, ब्रह्मकमल, वत्सनाभ जैसी औषधियाँ यहीं उत्पन्न होतीं एवं जन-जन में प्राण का संचार करती हैं। इनके स्थानों को यहाँ न केवल प्रतीक रूप में दर्शाया गया है, अपितु इन जड़ी-बूटियों को वहीं जलवायु व मिट्टी प्रदान कर-आरोपित कर एक उद्यान भी हिमालय के समीप बनाया गया है। लगभग ३० फूलों की घाटियाँ हिमालय क्षेत्र में हैं, जो बद्रीनाथ के समीप हेमकुण्ड के पास गोविन्दघाट से लेकर यमुनोत्री के समीप हर की दून घाटी तथा नन्दनवन तक फैली हैं। इन सब स्थानों का दर्शन आगन्तुक हिमालय में कर सकते हैं। पूज्य गुरुदेव तथा सतयुगकालीन एवं बाद के युग के महामानवों, ऋषियों, अवतारों ने जहाँ-जहाँ तप किया है, उन स्थानों को भी इसमें दर्शाया गया है। हिमालय में वैसी ही गंगा प्रवाहित की गयी है जैसी वह गोमुख से निकलकर देवप्रयाग में अलकनन्दा-भगीरथी संगम पर एक धारा के रूप में प्रवाहित होकर ऋषिकेश-हरिद्वार तक आकर मैदानी सफर आरंभ करती है। आज के इलेक्ट्रॉनिक माध्यम से संभव बन पड़ा यह विराट निर्माण वस्तुतः देखने योग्य है।

पूरे उपवन में स्थान-स्थान पर झीलें बनायी जा रही हैं। इसमें हिमालय से उतरी गंगा का जल प्रवाहित हो रहा होगा। प्रकृति का पूरा साहचर्य परिजनों को मिल सके, इसके लिए बड़े-बड़े वृक्षों के सघन कुंज व लताओं से ढँकी प्राकृतिक कुटियाएँ भी विनिर्मित की जा रही हैं। जहाँ साधक कुछ समय बैठकर दिव्यसत्ताओं-पूज्य गुरुदेव की उपस्थिति का, सातत्य का ध्यान कर सकें। स्थान-स्थान पर वनौषधियाँ एवं नेत्रों को मोहित कर देने वाले पुष्पों से लदे गुल्म भी लगाए गए हैं। निर्मल-निष्पाप, प्रकृति के सान्निध्य में निवास करने वाले सौम्य प्रकृति के प्राणी व पक्षी यथा खरगोश, हिरण, चीतल, मोर, बतख, तोते, मैना आदि भी इस परिसर में विचरण कर रहे होंगे। वस्तुतः आगन्तुक पर्यटकों-परिजनों को लगेगा कि वे प्रकृति के उस सौन्दर्य को देख रहे हैं, जिसे आधुनिकता की अंधी दौड़ ने उनसे दूर बनाये रखा है। प्रकृति की समस्वरता, निविड़ एकाकीपन से भरा माहौल उन्हें अन्तर्मुखी बनने व आत्म-साक्षात्कार करने के लिए विवश करेगा। प्रचण्ड ऊर्जा के स्रोत हिमालय के उस उपवन में उपस्थिति उन्हें दिव्य संरक्षण प्रदान करेगी, उनमें दिव्य भावनाओं का संचार करेगी।

यह सब कुछ वैसा ही होने जा रहा है जैसा कि पूज्य गुरुदेव को प्रिय था। उनकी स्मृति में इस गायत्री उपवन एवं देवात्मा हिमालय के रूप में अक्षुण्ण बनी रह आने वाले समय में वर्षों तक उनके कर्तृत्व को जीवन में उतारने की प्रेरणा देती रहेगी। उनकी इच्छानुसार एक मनोरम कल्पना को साकार रूप देने की जो चेष्टा की जा रही है, इसके मूल में दिव्य सत्ता का संकल्प-बल ही है जो बाद के चार वर्षों में वंदनीया माताजी के उद्‌गारों के रूप में प्रकट हुआ। उस संकल्प के साथ जुड़ी देवसत्ताओं की अंशधर शिष्य वर्ग की सघन श्रद्धा देखते ही देखते पूरे विराट परिसर का निर्माण करा देगी, इसमें कोई संदेह किसी को नहीं होना चाहिए। प्रतिभाएँ, विभूतियाँ स्थान-स्थान से आकर इस कार्य में यथाशक्ति अपना सहयोग भिन्न-भिन्न रूपों में पहले भी देती रही हैं, आगे भी देती रहेंगी, यह विश्वास सबके मन में सुदृढ़ है। ❑❑❑

# साधक की डायरी के पृष्ठ-सुनसान के सहचर

## परमपूज्य आचार्य जी का अज्ञातवास

परमवन्दनीया माता भगवती देवी शर्मा अखण्ड-ज्योति के जून, १९६० के अंक में अपने सम्पादकीय में लिखती हैं कि यह अंक जब तक पाठकों के हाथों में पहुँचेगा, तब तक परमपूज्य आचार्य जी अपनी अज्ञातवास की यात्रा को रवाना हो चुके होंगे। ४ जून को गायत्री जयन्ती का पर्व मनाने के बाद वे अपने पुनीत संकल्प की पूर्ति के लिए चल पड़ेंगे और एक वर्ष तक किसी विशिष्ट साधना में संलग्न रहेंगे।

### साधनामय जीवन

यों उनका जीवन आरम्भ से ही साधनामय है। जितना समय साधारण व्यक्ति अपनी आजीविका कमाने में लगाते हैं, उतना वे नित्य अपनी साधना में देते रहे हैं। उन्होंने सर्वसाधारण के सामने अपने जीवन को एक प्रयोग के रूप में उपस्थित किया है कि गृहस्थ रहते हुए, आजीविका उपार्जित करते हुए, लोकसेवा करते हुए कोई भी मनुष्य आध्यात्मिक साधना कर सकता है और उस मार्ग में आशाजनक प्रगति भी सम्भव हो सकती है। आमतौर से लोग गृहस्थ जीवन को लोकसेवा एवं परमार्थसाधना में बाधक मानते हैं, उनका अनुमान होता है कि ब्रह्मचारी या संन्यासी ही कोई आध्यात्मिक प्रगति कर सकने में सफल हो सकते हैं, गृह-जंजालों में फँसे हुए लोगों के लिए तो वह मार्ग कठिन ही है। ऐसे लोगों की निराशा का समाधान यों शास्त्र-प्रमाणों, तर्कों और उदाहरणों से भी हो सकता है, पर परमपूज्य आचार्य जी ने इसके लिए अपना उदाहरण उपस्थित करना ही सर्वोत्तम उपाय समझा। गृहस्थ रहे और यह प्रमाणित किया कि आत्मोन्नति के लिए गृहस्थ जीवन किसी भी प्रकार बाधक नहीं हो सकता, वरन् एक अच्छी परिस्थिति उत्पन्न कर लेने पर तो वह सहायक भी होता है।

### क्या गृहस्थ जीवन बाधक बना ?

जब साधना-क्रम ठीक ही चल रहा था और गृहस्थ जीवन उनके मार्ग में कुछ बाधक भी न था, तो घर छोड़ कर कहीं दूर दिशा में अज्ञातवास करके ही कोई साधना करने की आवश्यकता उन्हें क्यों पड़ी? यह जिज्ञासा 'अखण्ड-ज्योति' परिवार के प्रत्येक प्रेमी सदस्य के मन में उठनी स्वाभाविक है। जब उन्होंने अपना यह विचार मेरे सामने रखा तो मुझे भी यही आशंका हुई कि- "कहीं गृह-व्यवस्था उनके कार्यक्रम में बाधक तो नहीं हो रही है? मैं कहीं उनके मार्ग में रोड़ा तो नहीं हूँ?" यों जब से मैंने इस घर में प्रवेश किया है, तभी से मैंने यहाँ जीवित तीर्थ के दर्शन किए हैं। देव-प्रतिमा को चलती-फिरती, खाती-बोलती देखा है, फलस्वरूप मेरी अन्तरात्मा एक विशुद्ध 'भक्त' की भावना के ढाँचे में ढल गई है। उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप ही मैंने अपने को बनाने और चलाने का प्रयत्न किया है, परिवार की परिस्थितियों को भी ऐसा ही बनाया है, जिससे उनके लक्ष्य की पूर्ति में बाधा न पड़े। फिर भी मनुष्य, मनुष्य ही है। उससे गलतियाँ होनी स्वाभाविक हैं, सम्भव है कोई पारिवारिक कारण ऐसा हुआ हो, जिससे उन्हें घर छोड़कर कहीं अज्ञातवास में साधना करना सुविधाजनक जँचा हो।

इस आशंका को मैंने उन्हीं के सामने रखा, क्योंकि यदि घर वस्तुतः असुविधाजनक एवं बाधक सिद्ध हुआ हो तो यह मेरी अब तक की जीवन-साधना को असफल ही सिद्ध करता है, साथ ही उनका वह प्रयत्न भी असफल हो जाता है, जिसके अनुसार वे संसार में यह उदाहरण उपस्थित कर रहे थे कि गृहस्थ जीवन आध्यात्मिक प्रगति के पथ में बाधक नहीं, वरन् सहायक है। आचार्य जी की अज्ञातवास जाने की घोषणा, अब तक के हम दोनों के प्रयत्न को असफल ही सिद्ध कर सकती है। ऐसी दशा में जबकि दो छोटे बच्चों के उत्तरदायित्व से मुक्त होने से पूर्व ही वे गृह-त्याग की बात सोचते हैं, तो निश्चय ही वह गृहस्थ जीवन की तुच्छता एवं व्यर्थता को ही सिद्ध करता है।

### अब तक के प्रयत्न की असफलता

आचार्य जी समर्थ हैं। उनके जीवन में अगणित आश्चर्यजनक सफलताएँ जुड़ी हुई हैं। गृहस्थ में अध्यात्म साधना की सफलता का उनका प्रयोग यदि व्यर्थ चला जाता है, तो इस एक असफलता से उनका कुछ बिगड़ता नहीं. शेष सफलताएँ भी उनके जीवन को प्रकाशवान बनाए रखने के लिए पर्याप्त हैं, पर मेरा तो सारे जीवन में केवल एक ही प्रयोग रहा है, वह है- "उनके अनुकूल अपने को ढालना और परिवार का वातावरण भी उनके अनुकूल उत्पन्न करना।" यदि यह प्रयत्न व्यर्थ गया, तो मेरे लिए यह अत्यधिक दुःख और लज्जा की ही बात हो सकती है। ऐसा असफल जीवन जीने में मुझे कोई उत्साह नहीं, यह बात मैंने आचार्य जी को तभी बता दी थी, जब उन्होंने अज्ञातवास का प्रस्ताव सर्वप्रथम मेरे सामने रखा था।

मैंने उन्हें यह भी बताया था कि इसकी प्रतिक्रिया उनके लाखों अनुयायियों पर भी होगी। वे भी यही सोचेंगे कि जब आचार्य जी गृहस्थ वातावरण से अपने उद्देश्य पूरे न कर सके, तो हमारे लिए भी वह सम्भव नहीं है। जब उन्हें घर छोड़ तप-साधना के लिए अज्ञातवास ही चुनना

पड़ा, तो हमारे लिए भी यही मार्ग उचित है। ऐसा सोच कर हजारों परिवार, जो उनका अनुकरण करके अपने-अपने गृहस्थ जीवनों को आदर्श बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं और उन प्रयत्नों में भारी सफलता भी मिल रही है, वह सब कुछ व्यर्थ हो जाता है।

अब आचार्य जी का जीवन अकेले उनका ही नहीं रहा, वरन् असंख्यों व्यक्ति उनसे प्रकाश प्राप्त करते हैं, इसलिए यदि कोई गलत कदम उठा तो उसका प्रभाव उन सभी पर पड़ेगा, जो उनसे प्रकाश प्राप्त करते हैं। उनकी प्रत्येक क्रिया एक आदर्श एवं अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित करती है। इसलिए अज्ञातवास की बात से जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है, उसके लिए मैंने उन्हें अत्यन्त विनम्र शब्दों में समझाया और उन्हें इसके लिए पुनर्विचार करने की प्रार्थना की। यों नारी सुलभ हृदय प्राप्त होने से मुझमें मोह आदि दुर्बलताएँ भी कम नहीं हैं। स्वभावतः मैं उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति के साथ ममता भी उतनी ही रखती हूँ, जितनी कोई नारी रख सकती है। इसलिए उनके सान्निध्य का सुख मेरे लिए स्वर्ग और उनके वियोग का दुःख नरकतुल्य अनुभव होना भी स्वाभाविक ही है। फिर भी मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि इस दुर्बलता से प्रेरित होकर मैं यह सब नहीं कह रही हूँ। ऐसे तो अनेक अवसरों पर मैंने आत्म-नियंत्रण कर लिया है। नित्य कठोर श्रम संकल्प, आत्मदान, आजीवन ब्रह्मचर्य आदि अनेकों पिछले प्रसंगों की उन्हें याद दिलाते हुए मैंने कहा कि मुझमें दुर्बलताएँ तो अनेक हैं, पर वे ऐसी नहीं हैं कि उनके मार्ग में, उनके आदर्शों की पूर्ति में किसी प्रकार बाधक हों। इसलिए अज्ञातवास विरोधी मेरा प्रस्ताव केवल मोह न माना जाए। उसके अतिरिक्त जो तथ्य उसमें सन्निहित हों, उन्हें भी समझा जाए।

## मार्गदर्शन में बाधा पड़ेगी

अनेक साधक अपनी आध्यात्मिक साधना में आचार्य जी से नियमित मार्गदर्शन प्राप्त करते हुए प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। अज्ञातवास में चले जाने पर क्या उनकी प्रगति, बीच में ही रुकी न पड़ी रहेगी? समय-समय पर सांसारिक पीड़ाओं और परेशानियों से त्रस्त व्यक्तियों को जो ज्योति एवं शान्ति की सामग्री उनसे उपलब्ध होती रहती है, वह क्रम क्या टूट न जाएगा? इस प्रकार एक विशाल जन-समुदाय अपनी लौकिक और पारलौकिक गुत्थियों को सुलझाने में जिस सम्बल का सहारा लेता है, यदि वह उनके सामने से हट जाए, तो क्या उन्हें धक्का न लगेगा, निराशा न होगी? फिर इतने बड़े परिवार के अगणित व्यक्ति उन्हें अपने प्राणप्रिय आत्मीयजन की भाँति प्यार भी करते हैं, उनके सान्निध्य के लिए भ्रमर की भाँति मँडराते रहते हैं, क्या उन सबकी कोमल भावनाएँ इस अज्ञातवास के कारण वेदनाग्रस्त न होंगी?

गायत्री तपोभूमि तथा अखण्ड-ज्योति कार्यालय द्वारा जो युगनिर्माण के कार्यक्रम अभी चल रहे हैं, उनके यथावत चलते रहने के लिए भी उनकी उपस्थिति अभी आवश्यक है। दोनों ही संस्थाएँ अभी उन्हीं से मार्गदर्शन प्राप्त करती हैं। दोनों को ही देर तक, अभी उनकी आवश्यकता है। उनके अज्ञातवास से दोनों के ही कार्यक्रमों में अड़चन आएगी। नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान योजना, जिसके अन्तर्गत अनेक वैयक्तिक एवं सामाजिक बुराइयों का शमन एवं चरित्र गठन का कार्य अत्यन्त विशाल पैमाने पर किया जाने को है, उनके सक्रिय सहयोग के बिना लड़खड़ा सकता है। होमात्मक २४ हजार कुण्डों के गायत्री यज्ञ सफलतापूर्वक जरूर पूर्ण हो गये, पर भारत भूमि में यज्ञीय जीवनयापन की वैदिक परम्परा का विकास किया जाना अभी शेष है। इन सब कार्यक्रमों को अधूरी स्थिति में छोड़कर अज्ञातवास को चले जाने से राष्ट्र को एक बड़ी आवश्यकता को हानि ही पहुँचेगी।

## आशंकाओं का समाधान

मेरी इन सब आशंकाओं को आचार्य जी ने बहुत ध्यानपूर्वक सुना। यों वे अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी हैं, दूर तक प्रत्येक बात को बहुत सावधानी से सोचते हैं और काफी विचार-विमर्श के बाद ही किसी निर्णय पर पहुँचते हैं। इस अज्ञातवास सम्बन्धी निर्णय के पीछे भी बहुत दिनों से उनकी सूक्ष्म दृष्टि काम कर रही थी और गुण-दोष पर पर्याप्त विचार-विनिमय करने के पश्चात् ही उन्होंने यह प्रस्ताव उपस्थित किया था। फिर भी जब मैंने अपने तर्क उनके सामने उपस्थित किए तो उन्होंने कई दिनों तक फिर पुनर्विचार किया। इतने पर भी उन्हें अपना पूर्व निर्धारित निर्णय ही अधिक उपयुक्त लगा और उन्होंने पुनः अपना वही विचार दुहराया। मेरी आशंकाओं के बारे में भी उन्होंने उत्तर दिए। कई बार उनकी युक्तियाँ तो मेरी समझ में ठीक तरह नहीं आतीं, कभी-कभी मन में सन्देह भी बना रहता है, फिर भी उनके साथ इतने लम्बे समय से रहने के कारण मैं जानती हूँ कि उनके विचारों, निर्णयों एवं अभिवचनों के पीछे कोई अतीन्द्रिय शक्ति काम करती है और इसके परिणाम प्रायः वैसे ही होते हैं, जैसे वे सोचते हैं। तपोभूमि का निर्माण, गायत्री परिवार का संगठन, सहस्र कुण्डी गायत्री यज्ञ, देश भर में २४ हजार यज्ञ, वेदों का प्रकाशन, युगनिर्माण की विशद् योजना आदि कार्यों के आरम्भ करते समय जो साधन उपलब्ध थे, उनसे इन कार्यों की सफलता तो क्या, थोड़ी प्रगति की भी आशा नहीं की जा सकती थी, पर हम सबने आश्चर्य की तरह देखा कि ये असम्भव जैसे कार्य सम्भव ही नहीं सरल भी हो गये। ये प्रसिद्ध बातें हैं, इनके अतिरिक्त और भी अगणित ऐसी बातें हैं, जिन्हें सब कोई तो नहीं, पर थोड़े से लोग जानते हैं कि उनकी अन्तःप्रेरणा भी अद्भुत होती है और उसके पीछे सुनिश्चित तथ्य छिपे होते हैं।

जब उन्होंने अपने अज्ञातवास जाने की बात पुनः पुष्ट कर दी तो उसकी उपयोगिता और आवश्यकता स्वीकार

करने में मुझे कुछ कठिनाई न थी, उनके विचार को सरल बनाना ही मेरा कर्त्तव्य था, वही मैं कर भी रही हूँ। जो काम उन्होंने कभी भी सौंपा उसे अपनी तुच्छ योग्यता और शक्ति की परवाह न करके सदा मैंने आँख मूँदकर शिरोधार्य किया, अभी भी कर रही हूँ। आगे भी करूँगी, जो आशंकाएँ मेरे मन में थीं वे व्यक्तिगत रूप से समाधान कर लीं, उनका निर्णय मेरे लिए वेद वाक्य है, पर मेरी ही भाँति 'अखण्ड-ज्योति' के अनेक पाठक भी यह आशंकाएँ कर सकते हैं, क्योंकि अपना सारा ही अखण्ड-ज्योति परिवार उन्हें मेरी ही तरह श्रद्धा, आदर और आत्मीयता की दृष्टि से देखता है, सभी का उन पर अधिकार है। सभी उनसे अपने मन की व्यथा कह सकते हैं, सभी को उनके वियोग का कष्ट हो सकता है, सभी को उनका सान्निध्य न रहने से हानि दृष्टिगोचर हो सकती है, इसलिए सभी को इन प्रश्नों को उनके सामने उपस्थित करने की इच्छा हो सकती है, जो मैंने उनके सामने रखे। इन आशंकाओं के उन्होंने जो उत्तर दिए, वे हम सबके लिए विचारणीय हैं, अतएव उन्हें इस लेख में लिपिबद्ध किया जा रहा है।

## तपश्चर्या के लिए नीरवता आवश्यक

आचार्य जी का कथन है कि साधना और तपश्चर्या दो भिन्न वस्तुएँ हैं, दोनों की शक्ति और मर्यादाएँ भी भिन्न भिन्न हैं। साधना सामूहिक परिस्थितियों में हो सकती है, इससे मनुष्य के सूक्ष्मशरीर में सन्निहित अन्नमय कोष और मनोमय कोष की शुद्धि, पुष्टि और अभिवृद्धि हो सकती है और साधक के गुण, कर्म, स्वभाव में सात्त्विक परिवर्तन हो सकता है, इस परिवर्तन से उत्पन्न हुई आंतरिक निर्मलता के कारण ईश्वरीय प्रकाश की दिव्य किरणें साधक के अन्तःप्रदेश में आतीं और उसे आलोकित करती हैं। वह आत्म-कल्याण के मार्ग पर बढ़ता है और शांति भी प्राप्त करता है। अन्नमय कोष को साधना द्वारा परिपुष्ट कर लेने पर शरीर नीरोग और दीर्घजीवी, कष्टसहिष्णु और तितिक्षाशील बन सकता है। उसकी प्रतिभा निखर सकती है और कठिनाइयों से लड़कर सफलता का मार्ग प्रशस्त करने योग्य पुरुषार्थ उत्पन्न हो सकता है। मनोमय कोष की साधना से मानसिक विकारों, कुविचारों और दुर्गुणों का शमन होता है, स्मरण शक्ति एवं बुद्धिबल में अभिवृद्धि होती है, चंचलता नष्ट होती और चित्त की एकाग्रता में सफलता मिलती है। साहस, धैर्य, निर्भयता, श्रद्धा बढ़ती है और इन्द्रिय विषयों के लिए उठती रहने वाली लिप्सा एवं वासना पर नियन्त्रण स्थापित होता है। मन के प्रवाह को कुमार्ग में से रोककर सन्मार्ग पर अग्रसर करना एवं जन्म-जन्मान्तरों के संग्रहीत कुसंस्कारों का परिशोधन किया जा सकता है। शरीर का सर्वोपरि संचालक, मनोवृत्तियों का प्रधान निर्माणकर्ता मन ही है। मनोमय कोष की साधना करके मन जब काबू में आ जाता है, तो आत्म-निर्माण का कार्य सरल हो जाता है। फिर मनुष्य अपने आपको अभीष्ट परिस्थितियों के अनुरूप ढाल सकता है। अपने में मनोवांछित विशेषताएँ उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार वह अपने भाग्य का निर्माता आप बन सकता है।

## उपासना और तपस्या का अन्तर

आचार्य जी ने यह भी बताया कि उपासना और साधना जो सामूहिक जीवन में रहकर की जा सकती है, उसके द्वारा अन्नमय कोष और मनोमय कोष को विजय करके अपने व्यक्तिगत जीवन में अनेक सतोगुणी विशेषताएँ उत्पन्न करके जीवन-लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए प्रगति की जा सकती है और धीरे-धीरे इस मार्ग पर चलते हुए ईश्वर-प्राप्ति भी हो सकती है। सर्वसाधारण के लिए, सद्गृहस्थों के लिए यही उपासना एवं साधना का मार्ग सरल एवं उपयुक्त भी है। ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग, यह तीनों ही योग इस उपासना मार्ग के अन्तर्गत आते हैं। तपश्चर्या का मार्ग उससे ऊपर का तथा अधिक शक्तिशाली है। आत्मा के सूक्ष्म अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत अनेक 'शक्ति केन्द्र' सन्निहित हैं। इनमें कुण्डलिनी योग के अन्तर्गत षट्चक्र तो प्रसिद्ध ही हैं। पर बात वहीं तक सीमित नहीं है, इन षट्चक्रों से भी सूक्ष्म अन्य अगणित 'शक्ति ग्रंथियाँ' मनुष्य के स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में मौजूद हैं और उनमें अपने ढंग की अनेक विशेषताएँ छिपी हुई हैं। इन सुप्त संस्थानों को जाग्रत एवं क्रियाशील बनाकर मनुष्य अपने अन्दर ऐसे चुम्बकीय शक्ति केन्द्र उत्पन्न करता है, जो अखिल विश्व के अदृश्य अन्तरिक्ष में फैली हुई प्रकृति और परमेश्वर की अनेक विभूतियों को अपनी ओर आकर्षित कर सके। तप का उद्देश्य उन आध्यात्मिक शक्तियों की उपलब्धि है, जो अपना ही नहीं अन्य अनेक व्यक्तियों का भी महत्त्वपूर्ण श्रेय-साधन कर सकती हैं।

घर का वातावरण यदि सात्त्विक हो तो उपासना का क्रम आनन्दपूर्वक चल सकता है, पर तप एक विशेष प्रकार की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसके लिए नीरव एवं निर्वात वातावरण की आवश्यकता होती है। सामूहिक जीवन में निरन्तर नानाप्रकार के विचार, भाव और प्रभाव उत्पन्न होते रहते हैं, उससे मन पर जो प्रतिक्रिया होती है, उससे उपासना का कार्यक्रम तो चलता रह सकता है, पर तप में विक्षेप उत्पन्न होता है। तप के लिए हर किसी को नीरव, निर्वात एकान्त वातावरण में जाना पड़ता है। देवताओं, मनुष्यों और असुरों ने विभिन्न उद्देश्यों के लिए अब तक अगणित बार तप किए हैं और उसके फलस्वरूप प्रकृति माता एवं परमपिता के सम्मुख अपने उन आध्यात्मिक पुरुषार्थों के बदले में अभीष्ट प्रतिफल-वरदान भी प्राप्त किए हैं, पर हुआ यह सब घर से बाहर वन, पर्वत आदि एकान्त स्थानों में ही है। घर रहकर उपासना हो सकती है, तपस्या नहीं।

## तपश्चर्या का अर्थ संन्यास नहीं

तप का अर्थ संन्यास नहीं है। संन्यासी घर छोड़कर, कषाय वस्त्र धारण कर, परिव्राजक बनता है। उसका पुनः गृहस्थ में प्रवेश नहीं हो सकता, पर तपस्या में ऐसी बात नहीं है। अनेक गृहस्थ तप द्वारा अभीष्ट शक्ति प्राप्त करके पुनः अपने सांसारिक जीवन में रहे हैं। प्राचीनकाल में अनेक ऋषि कठोर तप करते थे, उनमें से अधिकांश गृहस्थ थे। वशिष्ठ, विश्वामित्र, लोमस, जमदग्नि, अत्रि, गौतम, याज्ञवल्क्य आदि ऋषि कई-कई बालकों के पिता थे और अपनी धर्मपत्नियों के साथ गृह-व्यवस्था में रहते हुए भी सघन वनों में तप की साधना-व्यवस्था करते थे। भगीरथ ने गंगा को लाने के लिए प्रचण्ड तप किया, तप का उद्देश्य पूरा होने पर वे पुनः अपने घर आ गए। रावण, कुम्भकरण, मेघनाद, भस्मासुर, सहस्रार्जुन आदि ने प्रचण्ड तप किए थे, उन्होंने भी अभीष्ट शक्ति प्राप्त की और अपने-अपने साधारण जीवन में लौट आये। पार्वती ने पति प्राप्त करने के लिए, ध्रुव ने ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए, स्वयंभू मनु और शतरूपा रानी ने दिव्य पुत्र प्राप्ति के लिए तप किया और सफलता का वरदान प्राप्त कर अपने घरों को लौट आए।

आचार्य जी ने बताया कि-तप और संन्यास दो सर्वथा भिन्न चीजें हैं। वे न तो संन्यास ले रहे हैं, जिससे बच्चों की जिम्मेदारी से विमुख होने का प्रश्न पैदा हो और न सार्वजनिक जीवन से ही अलग हो रहे हैं, ताकि मार्गदर्शन प्राप्त करने वाले लोगों के मार्ग में कोई अड़चन न आवे। तप-साधना में साधक की शक्तियाँ और भी तीव्र, सूक्ष्म एवं स्वच्छ हो जाती हैं, इसलिए वह दूर रहते हुए भी दूसरों को अन्तःप्रेरणा देता रह सकता है। लौकिक कार्यों में तो वाणी तथा वस्तु-विनिमय की आवश्यकता भी पड़ती है, पर आध्यात्मिक कार्यों में इसकी विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। वह कार्य सूक्ष्म चेतना के आधार पर दूर रहते हुए भी हो सकते हैं। अज्ञातवास में रहते हुए भी जिन लोगों को प्रेरणा देने की आवश्यकता है, वह कार्य निर्बाध गति से चल सकता है।

तांत्रिक तपश्चर्याएँ घर में नहीं, वरन् मरघट आदि नीरव स्थानों में रात्रि के समय होती हैं, इसमें भी जनकोलाहल से दूर रहने का ही उद्देश्य छिपा हुआ है। प्राचीनकाल में व्यस्त जीवन में रहने वाले लोग भी जब सुविधा मिलती थी, तब कुछ समय के लिए किन्हीं पवित्र तीर्थों की एकान्त भूमि में, वहाँ निवास करने वाले तपस्वियों के सान्निध्य में स्वल्पकालीन तप करने जाया करते थे। आजकल तीर्थों का वह वातावरण नहीं रहा, वहाँ भी शहरी रंग-ढंग जम गए हैं, पर प्राचीनकाल में उनकी स्थापना इसी दृष्टि से हुई थी। आज वे परम्पराएँ लुप्त होती जाती हैं, फिर भी तप का महत्व अनादिकाल से जैसा था, वैसा ही अब भी है और आगे भी बना रहेगा।

## अधूरे कार्य न रुकने का आश्वासन

अनेक आवश्यक कार्यों को अधूरे छोड़कर अभी तप-साधना के लिए जाने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि जो समस्याएँ सामने हैं, उन्हें सुलझाने के लिए बड़े परिमाण में आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता है। गायत्री परिवार ने युग-निर्माणकारी जिस नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान योजना का आरम्भ किया है, उसे विशाल एवं व्यापक पैमाने पर विस्तृत किया जाना है। हमारा राष्ट्र लम्बे अन्धकार युग को पार कर अब स्वाधीनता का प्रभातकाल देख रहा है। इस पुनीत पर्व पर राष्ट्र को सुनियोजित करने के लिए अनेक प्रयत्न अनेक दिशाओं में हो रहे हैं, पर हमारी सबसे बड़ी सनातन सम्पत्ति आध्यात्मिकता के विकास के लिए जो प्रयत्न होना चाहिए था, उसकी ओर उदासीनता एवं उपेक्षा ही दृष्टिगोचर होती है। जिन आन्तरिक सद्गुणों के आधार पर कोई जाति महान बन सकती है, उन्हें विकसित करने वाला अध्यात्मवाद आज उपेक्षा के गर्त में पड़ा है। उसे अग्रगामी बनाकर ही मानवता का वास्तविक रूप देखा जा सकता है। हमारा देश महापुरुषों का देश रहा है। इसका विकास तभी माना जा सकता है, जब यहाँ के निवासी अपने उज्ज्वल चरित्र और उच्च आदर्शों को कार्यान्वित करके केवल अपने यहाँ ही सच्ची शान्ति स्थापित न करें, वरन् अनैतिकता से उत्पन्न हुई समस्याओं से संत्रस्त सारे संसार का भी मार्गदर्शन कर सकें। इस स्थिति को उत्पन्न करने के लिए गायत्री परिवार द्वारा तथा अन्य माध्यमों द्वारा प्रयत्न चल रहे हैं। इन प्रयत्नों में उत्साह, शक्ति, ईमानदारी, त्याग तथा पुरुषार्थ की भारी आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति कार्यकर्त्ताओं की अन्तःप्रेरणा द्वारा ही हो सकती है। यह प्रेरणा सभी को समुचित रूप से उपलब्ध होती रहे, इसके लिए उग्र तप ही एकमात्र उपाय हो सकता है। इस अज्ञातवास में यही शक्ति उपलब्ध करने का प्रयत्न होगा।

व्यक्तिगत रूप से भी अनेक साधक अपना आत्मबल बढ़ाने और जीवनोद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील हैं, परन्तु इनके अपने प्रयत्न ही पर्याप्त नहीं हैं और न मौखिक मार्गदर्शन मिलते रहने से ही काम चल सकता है, वरन् आवश्यकता इस बात की है कि उनकी निज की साधना के अतिरिक्त कोई बाह्य शक्ति और सहायता भी उनकी प्रगति को तीव्र बनाने में सक्रिय सहायता प्रदान करे, तभी इनकी साधनाएँ सफल हो सकती हैं। इस प्रकार का सहायता कोष भी तप-साधना द्वारा ही संचित होने की आशा की जा सकती है। आचार्यजी साधक परिवार के लिए इसी शक्ति कोष की खोज में जा रहे हैं।

## परिजनों के लिए अधिक सहकार

जिस प्रकार अपना धन देकर कोई किसी दूसरे की आर्थिक कठिनाई को हल कर सकता है, जिस प्रकार अपना रक्त देकर कोई किसी दूसरे घायल या बीमार को

जीवन-रक्षा कर सकता है, इसी प्रकार कोई व्यक्ति अपनी तपस्या का एक अंश किसी दूसरे को देकर उसकी कठिनाइयों को सरल कर सकता है। किसी तपस्वी के आशीर्वाद के आधार पर इन दुखियों की बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के हल होने की अनेक घटनाएँ होती रहती हैं। यह आशीर्वाद केवल जीभ हिला देने मात्र से सफल नहीं हो सकते, वरन् उसे सफल बनाने के लिए तप और पुण्य की आवश्यक मात्रा भी देनी पड़ती है। इस संसार में कर्मफल का अटूट नियम है। मनुष्य अपने शुभ-अशुभ कर्मों के फलस्वरूप ही सुख-दुःख प्राप्त करता है। यदि किसी को उसके प्रारब्ध से अधिक सुख देना हो या उसके प्रारब्ध से जुड़े हुए दुःखों का कोई अंश कम करना हो, तो इसके लिए सशक्त आशीर्वाद मिलना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब आशीर्वाद देने वालों के पास तप की पूँजी समुचित मात्रा में संग्रहीत हो और वे उसमें से आवश्यक अंश भी उस आशीर्वाद प्राप्त करने वाले को प्रदान करें। धर्मसेवा के कार्यों में लगे हुए ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जिनके मार्ग को सरल बनाने के लिए उन्हें इस प्रकार की सहायता आवश्यक होती है। इस अज्ञातवास साधना में एक प्रकार का आध्यात्मिक सहायता कोष एकत्रित करना भी आचार्य जी का उद्देश्य है।

आगामी सन् ६२ में ज्योतिषशास्त्र के अनुसार एक राशि पर आठ ग्रह एकत्र होने हैं। महाभारत के समय एक राशि पर सात ग्रह थे, इसका दुष्परिणाम १८ अक्षौहिणी जन-समूह का तथा आर्थिक एवं सामाजिक सुव्यवस्था के भारी विनाश के रूप में हुआ था। आठ ग्रहों का एक राशि पर एकत्र होना उससे भी अधिक कुयोग है, उसकी शान्ति के लिए अनेक उच्चकोटि के तपस्वी इन दिनों विशिष्ट तपस्याओं में संलग्न हो रहे हैं, आचार्य जी के तप का एक उद्देश्य यह भी है।

## देश और जाति की सेवा

इसके अतिरिक्त भी विश्व की अनेक समस्याएँ उनके सामने हैं। व्यक्तिगत रूप से उन्होंने अपने लिए स्वर्ग, मुक्ति और ऋद्धि-सिद्धि की कभी आकांक्षा नहीं की। धर्मसेवी निस्पृह ब्राह्मण का आदर्श जीवन बनाना और निभाना, इसको मात्र उनकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा है। बाकी तो वे जो कुछ भी करते और सोचते हैं, उसमें लोकहित एवं परमार्थ की भावनाएँ ही प्रधान रूप में रहती हैं। इस तप-साधना के समय भी उनके सामने ऐसे ही प्रश्न हैं। भारत की प्राचीन अध्यात्म विद्याएँ एक-एक करके लुप्त हो गईं या लोप होती जा रही हैं, इनकी खोज और संरक्षण करना आवश्यक है। वेदों का सामान्य शिक्षात्मक अर्थ उन्होंने जनसाधारण को उपलब्ध कर दिया, पर अभी वेद मंत्रों के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अर्थों को प्रकाश में लाया जाना शेष है। यह कार्य सूक्ष्म योग दृष्टि प्राप्त होने पर ही सम्भव है, वह दृष्टि तप साधना के बिना और किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकती।

'गायत्री तपोभूमि' तथा 'अखण्ड-ज्योति' के बारे में यह चिन्ता है कि कहीं भविष्य में डगमगाने न लगें, पर आचार्य जी पूर्ण निश्चिन्त हैं। जिन आत्मदानियों ने गायत्री तपोभूमि तथा गायत्री परिवार का संचालन कार्य अपने जिम्मे लिया है, वे काफी विश्वस्त और कर्मठ हैं। वे अपने उत्तरदायित्वों को भलीप्रकार समझते हैं और उन्हें निभाते भी रहेंगे। 'अखण्ड-ज्योति' के लिए आचार्यजी ने नियमित रूप से अपनी रचना देते रहने का आश्वासन दिया है। अब वे पाठकों को अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर करने का मार्गदर्शन 'अखण्ड-ज्योति' के माध्यम से निश्चित रूप से करते रहेंगे। इस प्रकार गायत्री तपोभूमि की ही भाँति 'अखण्ड-ज्योति' का प्रकाशदीप भी अपने ढंग से जलता रहेगा।

## मंगलमय यात्रा शुभ हो

आचार्य जी कम से कम एक वर्ष के लिए जा रहे हैं, यह समय आगे भी बढ़ सकता है। कहाँ जा रहे हैं, यह स्थान उन्होंने सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं किया है, पर निश्चित रूप से वह हिमालय ही होगा। तप की प्राचीन परम्पराएँ हिमालय की ओर से ही पूर्ण होती रही हैं, अब भी इसके लिए वही स्थान उपयुक्त है। निश्चित अवधि के पश्चात् वे अज्ञात स्थान से ज्ञात स्थान में निवास करने लगेंगे, पर इन दिनों जो विचारधारा उनके मन में चल रही है, इससे प्रतीत होता है कि वे सार्वजनिक सेवा का आधार लेखनी, वाणी से ऊपर उठाकर तप-साधना ही बनाएँगे। उनका आगामी कार्यक्रम तपप्रधान ही होगा।

मेरे मन में जो अनेक आशंकाएँ प्रारम्भ में थीं, लगभग वैसी ही अनेक पाठकों ने भी अपने पत्रों में प्रदर्शित की हैं, पर इतना विवेचन उपलब्ध होने पर मेरा समाधान हो गया और यह विश्वास बन गया कि उनकी तप-साधना देश एवं जाति के लिए किसी प्रकार अहितकर नहीं, वरन् लाभदायक ही है।

वे अब तक जन-साधारण की सेवा में जीवनभर संलग्न रहे हैं, इस तप-साधना के बाद वे जनता जनार्दन की और अधिक ठोस सेवा कर सकेंगे। तप के लिए जितना एकान्त उन्हें चाहिए, वह मिलना उचित ही है, उससे वे अब की अपेक्षा और भी अधिक सक्षम बनेंगे और 'अखण्ड-ज्योति' परिवार के परिजनों की ही नहीं, अपितु भारतीय धर्म और संस्कृति की भी विशाल परिमाण में एक महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकने में समर्थ होंगे।

उन्हें अनेक कष्ट उठाने होंगे, वे हम सबसे दूर रहेंगे, इस विचार से हमारे दुर्बल हृदय में करुणापूर्ण आर्द्रता उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। उनकी विदाई की बात स्मरण करते ही आँखों से आँसू झर पड़ते हैं, पर यह सन्तोष है कि ऐसे ही आँसुओं से सींचे जाने पर धर्म का पौधा हरा रह सकता है। वेदमूर्ति आचार्य जी ने अपने सारे जीवन को तिल-तिल कर ज्ञान की ज्योति जलाने के लिए होमा है, हम लोग अश्रु-बिन्दुओं से उनके चरणों में श्रद्धांजलि चढ़ाते हुए

भी सन्तोष कर सकते हैं। गायत्री माता इन महामानव के महान लक्ष्यों को पूर्ण करें, यही कामना है।

# 'अखण्ड-ज्योति' के उत्तरदायित्वों में परिवर्तन

अपने अज्ञातवास से पूर्व ही परमपूज्य गुरुदेव ने अखंण्ड ज्योति' का सारा उत्तरदायित्व परमवन्दनीया माता जी को सौंप दिया था। वे ही उसका संचालन और सम्पादन कर रही थीं।

वन्दनीया माताजी लिखती हैं कि 'अखण्ड-ज्योति' के अंकों पर सम्पादक के स्थान पर मेरा नाम पढ़कर पाठकों को आश्चर्य होगा। अपने परिवार के अधिकांश सदस्य ऐसे हैं, जो बहुधा मथुरा आते रहते हैं और मेरे कार्यक्षेत्र से भलीप्रकार परिचित हैं। काफी दिन हो गये परिवार के परिजनों की भोजन व्यवस्था का कार्य मेरे जिम्मे है। बाहरी दृष्टि रखने वाले, मेरे कार्यभार को देखकर बहुधा खिन्न होते हैं और सहानुभूति प्रकट करते हैं, पर मुझे अपने उस कार्य में कितना आनन्द और सन्तोष है, इसे मैं ही जानती हूँ। अब वह कार्य मेरे स्वभाव का एक अंग बन गया है। परिवार के परिजनों, आगन्तुक अतिथियों की आए दिन बड़ी संख्या देखकर मुझे भोजन सम्बन्धी अधिक कार्यभार की वृद्धि से परेशानी होना तो दूर उलटे दूने आनन्द का अनुभव होता है। बहुत दिनों से यही मेरी कार्यशैली रही है। अब उस कार्यशैली से भिन्न 'अखण्ड-ज्योति' के सम्पादन के कार्य से भी मुझे संलग्न देखकर पाठकों को निश्चय ही आश्चर्य होगा।

हमारे छोटे परिवार जिसमें मैं, आचार्य जी, मेरी सास तथा दो बच्चे कुल पाँच प्राणी हैं, की परिस्थितियों तथा गतिविधियों से परिजन भलीप्रकार परिचित हैं। कुछ समय से आचार्य जी ने 'अखण्ड-ज्योति' का कार्य अपने जिम्मे लेने के लिए मुझसे कहा था, पर इन दिनों मेरी व्यस्तता, स्वल्प सामर्थ्य तथा अनुभवहीनता के कारण मुझे भारी संकोच था और मैं अपनी कमजोरियों की ओर उनका ध्यान दिलाकर यह बराबर कहती रही कि यह कार्य मेरे बस का नहीं है। इतना बड़ा कार्यभार अपने कंधे पर उठाने में मुझे भारी झिझक, संकोच और भय दबा रहा था, अपनी उस मानसिक स्थिति को मैं बराबर आचार्य जी के सामने रखती रही, वे भी वस्तुस्थिति से अपरिचित नहीं हैं, पर अन्त में जो निर्णय उन्होंने किया, जो आदेश उन्होंने दिया उसे शिरोधार्य करना ही मेरे लिए एकमात्र मार्ग था। वह मैंने स्वीकार किया। कई महीने से चल रहे हम लोगों के बीच एक विवाद का अन्त हुआ। फलस्वरूप सम्पादन में नाम परिवर्तन से पाठक जिस प्रकार आश्चर्यचकित होंगे, उसी प्रकार मैं भी भारी संकोच अनुभव कर रही हूँ।

आचार्य जी के घर में जब से मेरा प्रवेश हुआ है, तब से मैंने उन्हें देवता रूप में पाया और परमेश्वर के रूप में पूजा है। उनकी प्रत्येक इच्छा और आज्ञा में मुझे अपना सौभाग्य और कल्याण अनुभव होता रहा है। समय-समय पर वे मुझे कड़ी परीक्षाओं में डालते रहे हैं। गत नरमेध यज्ञ में उन्होंने अपनी सारी पैतृक एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति, मेरे जेवर तथा प्रेस आदि जो कुछ था, सार्वजनिक घोषित कर देने, समाज को सर्वस्व दान कर देने का विचार किया, मुझसे सलाह ली, मेरी मनोभूमि में कुछ कच्चाई थी, पर उन्होंने कुछ गम्भीरता से उस बात का महत्त्व बताया तो मेरे लिए यही बात सर्वश्रेष्ठ थी। उतनी ही आन्तरिक प्रसन्नता से मैं भी सहमत हो गई थी, जितनी कि उनकी आन्तरिक इच्छा थी। इसी प्रकार छह वर्ष पूर्व जब उन्होंने शेष जीवन में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने की बात सोची और मुझसे सलाह ली तो मुझे वहाँ परम कल्याण का मार्ग अनुभव हुआ। कुछ दिन पूर्व वे दोनों बच्चों को समाज को देकर और मुझे अपने साथ लेकर धर्मप्रचार के लिए देशव्यापी पर्यटन की बात सोचते थे, तब भी मेरी पूर्ण सहमति थी। अब उन्होंने अपनी वर्तमान इच्छा, मुझे 'अखण्ड-ज्योति' चलाते रहने और स्वयं अन्यान्य महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर अग्रसर होने का निश्चय किया, तो इसमें भी मुझे क्यों इनकारी होती। मेरी अयोग्यता बाधक थी, उसी के कारण संकोच भी था, पर जब उनका आदेश, आशीर्वाद सामने है, तो दूसरी बात सोचने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। मैंने अपने इस छोटे-से जीवन में ऐसी अगणित घटनाएँ देखी हैं, जिनमें उनके आशीर्वाद को पाकर तुच्छ व्यक्ति भी महान कार्य सम्पन्न कर सके हैं। उसी बलबूते पर मेरा संकोच शान्त हो जाता है और 'अखण्ड-ज्योति' की गुरुतर जिम्मेदारी को अपने कंधे पर लेने का साहस किसी प्रकार समेट पाती हूँ।

'अखण्ड-ज्योति' के सम्पादन सम्बन्धी यह परिवर्तन आचार्य जी ने क्यों किया, इसकी एक विस्तृत पृष्ठभूमि है. उनका जीवन साधनामय जीवन है। सच्चे अर्थों में उनका अन्तःविश्लेषण किया जाए तो वे और कुछ पीछे, साधक पहले हैं। यही उनका सबसे प्रिय कार्य रहा है, इसी में उनका मन रमता एवं रुचता है। २४-२४ लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरण उन्होंने पूरे कर लिए थे, तो उन्होंने उसकी पूर्णाहुति स्वरूप कुछ धर्म-प्रचार कार्य करने का संकल्प किया था। उसमें उन्हें सात वर्ष लगाने थे। वे सात वर्ष अगले साल पूरे हो जाते हैं, इसलिए उन्हें अब फिर अपने साधना क्षेत्र में लौटना है। 'अखण्ड-ज्योति' का यह सम्पादन परिवर्तन भी इसी योजना का एक अंग है।

अपने २४ महापुरश्चरण पूर्ण कर लेने पर उन्होंने पूर्णाहुति की सात वर्षीय योजना बनाई थी, उसमें- (१) गायत्री तपोभूमि की स्थापना, जिसके द्वारा विश्वव्यापी गायत्री प्रचार हो सके। (२) अखण्ड अग्नि की स्थापना, जिसमें नित्य यज्ञ होते रहने से यज्ञशक्ति की परिपुष्टि होना, (३) गायत्री परिवार की स्थापना, जिसमें २४०० शाखाओं के अन्तर्गत सवालक्ष उपासक नित्य-नियमित उपासना का संकल्प लेकर प्रतिदिन कम से कम सवा करोड़ गायत्री

जप करते रहें। (४) सहस्र कुण्डी यज्ञ, जिसमें देश भर के गायत्री उपासक एक स्थान पर एकत्रित होकर एक सम्मिलित शक्ति का उद्भव कर सकें। (५) युगनिर्माण के लिए नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान आन्दोलन का आरम्भ। (६) देश भर में २४००० कुण्डों के यज्ञ कराके गायत्री और यज्ञ का व्यापक प्रसार तथा भावी अशुभ समय की शान्ति की सम्पन्नता। (७) चारों वेदों का सरल, सुबोध एवं सस्ता हिन्दी भाष्य करके वेदज्ञान का विस्तार। सात वर्षों में यह सात कार्य उन्हें सम्पन्न करने थे।

कार्य बहुत बड़े थे। जिन दिनों २४ महापुरश्चरण उन्होंने पूर्ण किए थे और यह सप्तसूत्री योजना मुझे बताई थी, तो मैं अवाक रह गई थी। अपने साधन जितने सीमित थे, योजना का प्रत्येक भाग उतना ही बड़ा था, उसे देखते हुए सातों तो क्या एक कार्य का एक अंश भी पूरा होना सम्भव नहीं दीखता था, क्योंकि इन कार्यों के लिए प्रचुर धन, विशाल जन-सहयोग और काफी समय एवं श्रम लगाने की आवश्यकता स्पष्ट थी। जिस छोटे-से घर में हम पाँच प्राणी रहते हैं, उसके सीमित दायरे और सीमित साधनों को देखते हुए यह सप्त सूत्री योजना असम्भव जैसी लगी। मैंने अपना सन्देह उनके सामने विनम्र शब्दों में रखा तो वह मुसकराए और बोले- ''तुम्हें इतने दिन साथ रहते हो गए, पर अभी भी तुम इन कार्यों में हम लोगों की व्यक्तिगत तुच्छ सामर्थ्य के आधार पर सफल-असफल होने का अनुमान लगाती हो? इस संकल्प को हम नहीं, वरन् वह शक्ति पूरा करेगी, जिसके साथ जिसकी गोदी में हम लोगों ने अपने आपको सर्वतोभावेन सौंपा हुआ है।'' मैं चुप हो गई। उनकी आत्मिक प्रेरणा के आधार पर अनेक लोगों को सफलताएँ प्राप्त करते देखा है, फिर अपना संकल्प अधूरा क्यों रहेगा? यह सोचकर मैंने मस्तक झुका लिया।

२४ महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति स्वरूप जो संकल्प उन्होंने किए थे, उनमें से ५ पूर्णतया पूरे हो गये। दो संकल्प शेष हैं, उनके लिए अभी एक वर्ष शेष है, वे भी इस अवधि में पूरे हो जाने की सम्भावना है। (१) गायत्री तपोभूमि बन गई। यह आदर्श देवालय, साधनाश्रम तथा धर्मप्रचार का केन्द्र भारत के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धर्म-स्थानों में से एक है। (२) ऋषियों के आश्रमों में रहने वाली अखण्ड अग्नियाँ जो कभी न बुझें और जिनका पूजन नित्य यज्ञ द्वारा होता रहे, देश भर में अब दो-चार स्थानों पर ही रह गई हैं। ऐसी अग्नियों का असाधारण आध्यात्मिक महत्त्व है, पर वह परम्परा लुप्त हो चली है। ऐसी अखण्ड अग्नि-स्थापना तपोभूमि में हो चुकी और उसकी सदा जलते रहने की व्यवस्था का क्रम भी बन गया। (३) अखिल भारतीय गायत्री परिवार की शाखाएँ २४०० से अधिक हो गई हैं। सवा लक्ष उपासकों द्वारा सवा करोड़ जप का क्रम भलीप्रकार चल पड़ा है। (४) सहस्र कुण्डी महायज्ञ बड़ी सफलता और शान्ति के साथ सम्पन्न हो गया, इसे इस युग का महानतम एवं अभूतपूर्व यज्ञ माना जाता है। (५) नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान योजना का युगनिर्माणकारी कार्यक्रम अभी गायत्री परिवार की शाखाओं द्वारा ही प्रसारित किया गया है, यह आशा है कि उसका देशव्यापी रूप बनेगा और प्राचीनयुग की महान परम्पराओं को भारत भूमि में प्रतिष्ठापित करने के लिए यह योजना महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त करेगी।

ये पाँच कार्य सम्पन्न हो चुके। इन्हें ठीक प्रकार चलते रहने की योजना चल रही है। छठवें संकल्प के अनुसार २४ हजार कुण्डों के यज्ञ होने थे, एक हजार कुण्डों का तपोभूमि में और तेईस हजार कुण्डों का देशभर में। उसका आधे से अधिक भाग अब तक पूर्ण हो चुका। जो आधा भाग शेष है, वह भी वर्तमान प्रगति को देखते हुए अगले वर्ष पूर्ण हो जाना निश्चित है। चारों वेदों का सरल भाष्य करने और उसे अत्यन्त स्वल्प मूल्य में जनता तक पहुँचाने की योजना में आचार्य जी लगे हुए हैं। तीन वेदों का भाष्य हो चुका। एक का होना शेष है। अब उनका प्रकाशन और प्रचार होना है। यह कार्य अगले एक वर्ष में पूरा कर लेने का उनका विचार है। तब तक उनके संकल्पों के सात वर्षों की अवधि भी पूर्ण हो जाएगी।

इस सप्तसूत्री संकल्प को पूर्ण करके आचार्य जी पुनः अपनी विशेष साधना में लगेंगे। पूरी बात तो अभी उन्होंने स्पष्ट नहीं की है, पर मालूम होता है किन्हीं विशेष स्थानों पर किन्हीं विशेष आत्माओं के सान्निध्य में मथुरा से बहुत दूर रहने की उनकी योजना है। वे राष्ट्र के लिए एक विशेष शक्ति का आविर्भाव करने के लिए कुछ विशेष साधनात्मक कार्यक्रम बना रहे हैं। इसलिए अगले एक वर्ष में सप्तसूत्री संकल्प का शेष भाग पूरा करने के साथ-साथ वे अपनी वर्तमान सभी जिम्मेदारियों से छुटकारा पाने और आवश्यक उत्तरदायित्वों को दूसरों के हाथों सौंप देने में लगे हुए हैं। अखण्ड-ज्योति का यह सम्पादकीय परिवर्तन भी उसी का एक पूर्व भाग माना जा सकता है।

अब उनके अपने और मेरे भावी कार्यक्रम की बात रह जाती है। आचार्य जी अगले नये साधनात्मक कार्यक्षेत्र में प्रवेश करेंगे। उनकी योजनाएँ आध्यात्मिक आधार पर होती हैं, उनके पीछे कुछ दिव्य सन्देश रहते हैं, इसलिए उनमें हेर-फेर करने, अनुरोध करने की भी अपनी हिम्मत नहीं होती। वैयक्तिक जीवन में कुछ मानसिक तथा बाहरी कठिनाइयाँ उनके सान्निध्य के अभाव में दुःखी करती हैं, करेंगी, पर इसके लिए मैं उनको महान लक्ष्य से विचलित नहीं करना चाहती। मैं अब तक कभी उनके मार्ग में बाधक बनी भी नहीं और न आगे बनना चाहती हूँ। वे जो उचित समझते हैं, निश्चय ही उसके पीछे औचित्य ही परिपूर्ण होता है।

मेरे लिए एक ही कार्य उन्होंने सौंपा है कि ''साधना का यह प्रचण्ड स्रोत सूखने न पाए, जिसके आधार पर गायत्री परिवार की सारी गतिविधियों की सफलता निर्भर है।'' चूँकि परिवार काफी बड़ा हो गया है, उसकी

योजनाएँ भी बहुत बड़ी हैं, उनको पूरा करने में गायत्री तपोभूमि निवास आत्मदानी तथा देशभर में फैले हुए व्रतधारी तथा उपासकगण संलग्न हैं, पर उनकी उस शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रिया के पीछे एक सूक्ष्म शक्ति सम्पन्न आध्यात्मिक प्रेरणा की भी आवश्यकता है, जिसके आधार पर युगनिर्माण के कार्यक्रमों में आवश्यक निष्ठा एवं तत्परता सब लोगों में बनी रहे। आचार्य जी अगले वर्ष में जिस साधना में लगेंगे, वह बहुत ऊँचे स्तर की है। मुझे उन्होंने यह सौंपा है कि ''गायत्री परिवार की प्रवृत्तियों में समुचित अध्यात्म तत्त्व सन्निहित रहे, इसके लिए मैं भी एक विशेष साधनाक्रम में लग जाऊँ।''

मुख्य रूप से उन्होंने मुझे ये काम सौंपे हैं- (१) अखण्ड घृत दीपक जो यहाँ जलता है, वह २४ पुरश्चरणों के लिए था। वह कार्य पूरा हो जाने पर भी उसका विसर्जन न हो। उसे अभी १० वर्ष और प्रज्वलित रखा जाए। जिस प्रकार ४० दिन में एक गायत्री अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार ४० वर्ष तक जलते रहने पर अखण्ड घृत दीप भी सिद्ध-ज्योति बन जाता है। जब तीस वर्ष यह दीपक जल चुका, सारे परिवार ने क्रमशः २४ घण्टे जागरण रखकर उसे जलाए रखा, तो अब दस वर्ष के लिए ही इसे अधूरा क्यों छोड़ा जाए? दस वर्ष और भी इस दीपक को ज्वलित रखकर इसको 'सिद्ध-ज्योति' बनाया जाए।

(२) इस दीपक के सम्मुख अब अखण्ड जप का आयोजन किया जाए और दस वर्षों में २४ लक्ष के २४ अनुष्ठान और कराने का आयोजन करूँ।

यह दसवर्षीय योजना उन्होंने मेरे लिए प्रस्तुत की है। दस वर्ष तक इस योजना को पूर्ण करके मैं इस कार्य का उत्तरदायित्व अन्यों पर छोड़कर उस दिशा में बढ़ूँ जिसकी अभी से चर्चा करना असामयिक ही होगा।

उनकी आज्ञा को मैंने शिरोधार्य किया है। 'अखण्ड-ज्योति' कार्यालय में जो घृत दीप जलता है, उसका अधिकांश उत्तरदायित्व अब तक भी मुझ पर तथा हमारी सास जी पर था, फिर भी आचार्य जी उसकी देखभाल एवं सुरक्षा में बहुत समय देते थे, अब वह उत्तरदायित्व मैंने अपने ऊपर पूर्णतया ले लिया है।

अखण्ड जप किस प्रकार आरम्भ किया जाए, इसके लिए जनशक्ति की आवश्यकता पड़ेगी। यह किस प्रकार पूर्ण हो यह अभी विचार करना है। अभी इस व्यवस्था में तीन-चार महीने लग सकते हैं। तैयारी पूर्ण होने पर इसे आरम्भ कर दूँगी और दस वर्ष में २४-२४ लक्ष के २४ महापुरश्चरण इसी अखण्ड दीपक की छाया में पूरे करने में संलग्न रहूँगी।

(३) 'अखण्ड-ज्योति' का सम्पादन आरम्भ कर दिया है और यह प्रयत्न करूँगी कि पत्रिका में गए हुए लेखों के साथ वह प्रेरणा भी जुड़ी हुई हो, जिससे उन लेखों का प्रभाव पाठक की अन्तरात्मा पर निश्चित रूप से हो।

इस आयोजन का उद्देश्य गायत्री परिवार के सदस्यों की आत्मिक स्थिति तथा सुख-शान्ति की अभिवृद्धि ही है। इसी संकल्प के आधार पर यह त्रिविध कार्यक्रम आरम्भ किया गया है।

मेरे लिए जो दसवर्षीय कार्यक्रम निर्देशित हुआ है, उसे ईश्वरीय आदेश मानकर मैं आरम्भ करती हूँ। आचार्य जी को, उनके आदेशों को मैंने सदा इसी रूप में देखा और माना है, पर अपनी दुर्बलताओं के कारण मेरा नारी हृदय बार-बार सकपका जाता है।

आप पाठकों, परिजनों, आत्मीयों, धर्मपुत्रों से एक ही अनुरोध है कि जब इस भारी बोझ को लेकर चलने में मेरे दुर्बल पैर कँपकपाने लगें, तब आप प्रोत्साहन और शुभकामना एवं सहानुभूति का एक शब्द कह दिया करें। वह ममता भरा शब्द भी मुझे देवतुल्य आचार्य जी के आशीर्वाद की ही तरह अपेक्षित है।

## 'अखण्ड-ज्योति' की भावी विधि-व्यवस्था

वे लिखती हैं कि, गत अंक में आचार्य जी के आगामी कार्यक्रम तथा तपोभूमि एवं 'अखण्ड-ज्योति' की व्यवस्था के सम्बन्ध में चर्चा थी। परमपूज्य आचार्य जी जो सोचते हैं या आयोजन करते हैं, उसमें कोई दैवी सूक्ष्म-प्रेरणा सन्निहित होती है, इसलिए मैं उनके आदेश में कभी ननुनच नहीं करती। पिछले सहस्रकुण्डी गायत्री महायज्ञ की घोषणा उन्होंने अचानक प्रातःकाल उठते ही कर दी थी। इससे पहले न किसी से पूछा, न योजना बनाई, न बजट बनाया, न यह सोचा कि इतने बड़े आयोजन को किस प्रकार पूर्ण किया जा सकेगा। जब उन्होंने घोषणा की तो इतने विशाल आयोजन और अपनी साधनहीनता की तुलना करते हुए मैंने उनके सम्मुख अपना संशय उपस्थित किया, तो हँसकर बोले- ''जिसका कार्य है वह स्वयं जो इसे करा रहा है, स्वयं सारी व्यवस्था करेगा। हम लोग निमित्त मात्र हैं, अपना कर्त्तव्य करें, चिन्ता के झंझट में क्यों पड़ें?'' मेरे पास चुप होने के अतिरिक्त और मार्ग न था। मन का सन्देह बना रहा, भय, चिन्ता और परेशानी बनी रही, पर जब यह महान कार्य अभूतपूर्व सफलता के साथ सम्पन्न होते आँखों से देख लिया, तब पश्चात्ताप हुआ कि व्यर्थ ही मैंने आशंका और चिन्ता को इतने दिन मन में दबाए रहने का क्लेश उठाया। आचार्य जी की इच्छाओं और योजनाओं के पीछे जो शक्ति काम करती है, वह गलत मार्गदर्शन नहीं करती।

अभी जो योजना उन्होंने बनाई है, उसके अनुसार एक वर्ष में वे अपनी साधना और शोध को पूर्ण करने के लिए मथुरा से बाहर जाने वाले हैं। कितना समय लौटने में लगेगा, इसके बारे में उन्होंने किसी को कुछ नहीं बताया। वह समय अभी अनिश्चित है। उनके कन्धों पर यों अनेक उत्तरदायित्व हैं, पर मथुरा में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले उनके दो ही कार्यक्रम हैं- (१) गायत्री तपोभूमि,(२) 'अखण्ड-ज्योति'-कार्यालय। इनकी उन्होंने व्यवस्था बना दी है।

आचार्य जी चाहते हैं कि उनकी ३० वर्ष की कमाई का प्रतीक अखण्ड दीपक अभी १० साल और जलता रखा जाए और ४० वर्ष का जो दीप-अनुष्ठान होता है, वह पूर्ण किया जाए। जिस प्रकार अखण्ड अग्नि की स्थापना पर उस अग्नि का भोजन यज्ञ रूप में नित्य होना आवश्यक है, उसी प्रकार अखण्ड दीपक के आगे भी उसका भोजन कम से कम ६० माला जप नित्य होना आवश्यक है। गायत्री तपोभूमि में अखण्ड अग्नि रहती है। वहाँ एक हजार आहुतियों का हवन नित्य होता है। 'अखण्ड-ज्योति' कार्यालय में जो अखण्ड दीप जलता है उसके सम्मुख हम दोनों मिलकर कम से कम ६० माला जप अवश्य कर लेते हैं। इस प्रकार एक वर्ष में २४ लक्ष पुरश्चरण हम लोग अभी भी अवश्य कर लेते हैं। छह वर्ष पूर्व तक अकेले आचार्य जी अपना एक महापुरश्चरण एक वर्ष में स्वयं पूरा करते थे। जब उनके पुरश्चरण पूर्ण हो गए और सप्तसूत्री कार्यक्रम की पूर्णाहुति में वे लगे, तब से हम और वे दोनों मिलकर एक वर्ष में एक पुरश्चरण पूरा करते रहे हैं। इसी से जो थोड़ा आत्मबल, तपबल उत्पन्न होता है उसे वे परिवार के अनेक परिजनों को पुण्य-प्रसाद के रूप में दान करके उनकी भौतिक एवं आत्मिक प्रगति में, कष्ट-निवारण में सहायता करते हैं।

अब उनके बाहर चले जाने पर यह प्रक्रिया कैसे जारी रहे? इसके लिए उन्होंने अखण्ड दीप के आगे अखण्ड जप का आयोजन किया है। उनके शरीर द्वारा ६० माला से जितना तपबल उत्पन्न होता था, अब उनके अभाव में उतना तपबल तभी उत्पन्न हो सकेगा, जब 'अखण्ड-जप' जारी रखा जाए। यह अखण्ड जप कुमारी कन्याओं द्वारा पूर्ण होगा। गायत्री अनुष्ठानों की पूर्णाहुति में कन्या भोजन का स्पष्ट विधान है। इस उपासना में कन्याओं को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। वैसे भी इस भावना के समान ही हिन्दू धर्म में कन्याओं का पूज्य स्थान है। गौ के समान ही कन्याएँ भी पूजनीय मानी गई हैं। उनमें धर्मतत्त्व सबसे अधिक होता है। तपस्वी और नैष्ठिक ब्राह्मणों के अभाव में यदि धर्मकार्य के उपयुक्त किसी का नम्बर आता है, तो वह कन्या ही है। चूँकि अब नैष्ठिक सच्चे ब्राह्मण दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, इसलिए यही उचित था कि अखण्ड-ज्योति कार्यालय में, अखण्ड दीप के आगे अखण्ड जप कुमारी कन्याओं द्वारा सम्पन्न हो।

आगामी दस वर्ष तक यह अनुष्ठान जारी रखने का आचार्य जी का मेरे लिए आदेश हुआ है। इसलिए अखण्ड जप के चालू रहने पर २४ लक्ष के २४ पुरश्चरण पूर्ण किए जाने हैं। अभी इतनी ही योजना है। १२ कन्याएँ दो-दो घण्टा प्रतिदिन जप करके २४ घण्टे का अखण्ड जप पूरा कर लेंगी। इस व्यवस्था के अनुसार २४ महापुरश्चरण १० वर्ष में आसानी से पूरे हो जाएँगे। इतना तो होना ही है, पर मेरी इच्छा है कि बढ़े हुए गायत्री परिवार की अधिक सेवा-सहायता हो सके तथा धर्मसेवकों को अधिक प्रेरणा मिल सके, इसके लिए २४ महापुरश्चरण ही काफी नहीं हैं, उनकी संख्या १०८ की जाए। यह बोझ काफी बड़ा हो जाएगा, इसलिए अभी २४ पुरश्चरण पूरे करने के लिए १२ कन्याओं की योजना ही बनाई गई है।

'अखण्ड-ज्योति' के सम्पादन के बारे में यही है कि मैं अपनी स्वल्प योग्यता को जानती हूँ, उससे चिन्तित भी हूँ, पर जो कार्य सौंपा गया है, उसे ईश्वरीय आदेश मानकर शिरोधार्य करती हूँ। युगनिर्माण के लिए समाजसेवा और धार्मिक क्रान्ति के लिए जीवन यज्ञ का एवं गायत्री परिवार के संगठन के लिए गायत्री परिवार पत्रिका का प्रकाशन हो रहा है, उसे आत्मदानी बच्चे उत्साहपूर्वक चला रहे हैं। 'अखण्ड ज्योति' का उद्देश्य अध्यात्म और साधना है, वह उत्तरदायित्व मेरे कंधे पर आया है, तो उसे भी आचार्य जी के आशीर्वाद और पाठकों के सद्भाव पर विश्वास करते स्वीकार करती हूँ।

यों अखण्ड-ज्योति अब भी आध्यात्मिक है। अध्यात्म विषय रूखा होता है। उसमें सबकी रुचि नहीं होती। आगामी योजना के अनुसार तो वह और भी अधिक आध्यात्मिक हो जाएगी। ऐसी दशा में जिनकी अभिरुचि इस मार्ग में कम है या जो मनोरंजन के लिए अखबार खरीदते और पढ़ते हैं, उनके लिए वह और भी अधिक रूखी हो जाएगी। ऐसी दशा में ग्राहक संख्या अब की अपेक्षा उसकी और भी घटेगी। यह बहुत ही अच्छा और सुविधाजनक होगा कि आगे से 'अखण्ड-ज्योति' के ग्राहक वे ही रहें, जो अध्यात्म मार्ग के सच्चे जिज्ञासु हैं। मनमौजी लोग इसकी सदस्यता छोड़ दें। उनके कारण यहाँ की व्यवस्था में भी बड़ी गड़बड़ी पड़ती है। हर साल ढेरों पत्रिकाएँ अधिक छप जाती हैं, जो बेकार जाती हैं, कभी-कभी कोई अंक कम पड़ जाता है और ग्राहकों को शिकायतें करनी पड़ती हैं।

'अखण्ड-ज्योति' का महान मिशन गत २० वर्षों में बहुत कुछ कार्य कर चुका। उसे सफल कहा जा सकता है। आचार्य जी के कार्य सफल रहे हैं, इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। अब इस मिशन का उत्तरार्द्ध मेरी अयोग्यता और अनुभवहीनता के कारण लड़खड़ा सकता है, असफल हो सकता है। इन कठिन घड़ियों में परिवार के परिजनों का स्नेह, सद्भाव एवं सहयोग अभीष्ट है।परिवार के सदस्यों को आचार्य जी तो अपना बन्धु, आत्मीय और स्नेहभाजन मानते रहे हैं। कुछ गुरुजनों को छोड़कर शेष के प्रति वे पुत्र भाव रखते रहे हैं। मेरी भी स्वाभाविक मातृ ममता वैसी ही रहेगी। इन परिवर्तन की घड़ियों में परिजनों के प्रति असीम मातृ भाव रखते हुए उनसे भी ममता एवं आत्मीयता की आशा रखूँगी। उस भारी उत्तरदायित्व को निबाहने में माता की कृपा, श्री आचार्य जी के आशीर्वाद के बाद स्वजनों के सद्भाव को ही प्रमुख आधार माना है। यह आधार दुर्बल साबित न होगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

# हमारा भूत और भविष्य

अखण्ड ज्योति दिसम्बर, १९५९ में परमवन्दनीया माताजी लिखती हैं- "इस अंक के साथ 'अखण्ड-ज्योति' के २० वर्ष पूरे होकर २१वाँ आरम्भ होता है। इस लम्बे समय में कितनी यात्रा की जा चुकी, इस पर दृष्टिपात करने से परिवार के प्रत्येक सदस्य का मस्तक गर्व से ऊँचा हो सकता है। 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका अब से २० वर्ष पूर्व आरम्भ की गई थी। तब परमपूज्य आचार्य जी के मस्तिष्क में एक ही आकांक्षा थी कि इस देवभूमि भारत में पुनः देवत्व की अमृतमयी सुरसरि वैसे ही प्रवाहित हो जैसे प्राचीनकाल के ऋषियुग में यहाँ प्रवाहित होती थी और उस अमृतजल से अभिसिंचित होकर इस उद्यान का प्रत्येक प्रफुल्लित पौधा, इस देवलोक का प्रत्येक मानव अपने उच्च विचारों की सुगन्ध तथा श्रेष्ठ कार्य के सौन्दर्य द्वारा सर्वत्र आनन्द एवं उल्लास बिखेरता था।

कर्मनिष्ठ माली की तरह, एक नैष्ठिक तपस्वी की तरह इस उजड़े उद्यान में आचार्य जी ने अपने स्वेदबिन्दु बहाए, फलस्वरूप आज आशाजनक हरियाली की लहलहाती खेती चारों ओर दिखाई देती है। लेखक कितने ही इस देश में मौजूद हैं। अखबार निकालने वालों और पुस्तकों की रचनाएँ करने वालों की भी कमी नहीं, 'अखण्ड-ज्योति' की या यहाँ के प्रकाशन की उन लोगों की वृत्तियों से तुलना की जाए, तो अपना पलड़ा हर दृष्टि से हलका ही रहेगा, पर बात कुछ और ही थी। पत्रिका निकाली गई केवल विचारों के विस्तार की सुविधा के लिए। वस्तुतः इसके पीछे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मिशन; एक क्रमबद्ध कार्यक्रम था। पत्रिका उसका एक सहायक अंश मात्र थी। जो करना था, किया जाता था, वह तो उस तरह किया गया, जिस तरह भगीरथ ने अपना जीवन गलाकर किया था। गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने के लिए तृषित भू भाग में वनस्पतियों को तृप्त और विकसित करने के लिए जिस तरह भगीरथ चिरकाल तक एक पाँव से खड़े रहे और अपना लक्ष्य पूर्ण होने तक गंगावतरण होने तक अडिग रूप से अपनी तपस्या में संलग्न रहे, उसी का अनुकरण पूज्य आचार्य जी ने किया है। इस लम्बी अवधि में उनकी तपस्या का बहुत कुछ परिणाम दिखाई पड़ने लगा है। यद्यपि यह साधना अभी पूर्ण नहीं हुई। अभी वह और भी तीव्र तत्परतापूर्वक जारी रहेगी और जिस ज्ञानगंगा की अभी फुहारें ही ऊपर से उतर सकी हैं, उसे अनतः देवभूमि में अवतीर्ण होने तक यह महाअभियान जारी रहना ही है।

पिछले बीस वर्षों में 'अखण्ड-ज्योति' केवल अपने अंक निकालती रही हो, पाठकों का मनोरंजन करने वाले लेख ही छापती रही हो, ऐसी बात नहीं है। उसने असंख्यों निष्प्राणों में प्राण फूँके हैं और अगणित मनुष्यों का कायाकल्प किया है। ऐसे लोगों की संख्या दसियों हजार है, जिनके जीवन पहले बहुत ही निम्न श्रेणी के थे। पाप-तापों में, विषय-विकारों में, ईर्ष्या-तृष्णा में जो निरन्तर जलते रहते थे, पर जब से उन्होंने इस पारस का स्पर्श आरम्भ किया तब से उनके शरीर भले ही ज्यों के त्यों ही हों, आत्मिक दृष्टि में कायाकल्प ही हो गया। उन्हें गृहस्थ में रहते हुए विरक्त, सादे कपड़े पहनने वाला सन्त कहा जा सकता है। इस आत्मिक कायाकल्प का प्रभाव केवल उन तक ही सीमित रहा हो सो बात नहीं है, उनके सारे परिवार पर, कुटुम्बी-सम्बन्धियों पर भी उसकी छाप पड़ी और उन्होंने भी अपने को पूर्व स्थिति की अपेक्षा सन्मार्ग की दिशा में काफी अग्रसर बना लिया। व्यक्तियों से समाज बनता है। अच्छे व्यक्ति, सन्मार्गगामी व्यक्ति यदि बढ़ें तो निश्चय ही हमारा, समाज का, राष्ट्र का, धर्म का मस्तक ऊँचा होता है।

समाज-सुधार के प्रयत्न दूसरे लोग पत्ते सींचकर कर रहे हैं। अमुक बुराई छोड़ो, अमुक कुरीति त्यागो, अमुक आदत छोड़ो, अमुक काम करो, अमुक मत करो की पुकार चारों ओर से उठ रही है, एक बुराई कम नहीं हो पाती तब तक दूसरी उपज पड़ती है। आदमी से चोरी छुड़ाई जाए तो जब तक चोरी छूटने नहीं पाती कि जुआ खेलना आरम्भ कर देता है। अन्तःकरण गन्दा हो, आत्मा मलीन हो, भीतर मैल भरा हो तो एक बुराई छोड़ने पर भी वह दूसरी बुराइयों से नहीं बच पाता। इसलिए ऋषियों ने अलग-अलग समस्याओं का एक ही हल सुझाया था, आस्तिकता, धार्मिकता। इस तत्त्व को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है- धार्मिकता, नैतिकता, मानवता, कर्त्तव्य-परायणता, सामाजिकता आदि। वस्तु एक ही है, नाम अलग-अलग हैं। ईश्वर की सर्वव्यापकता, न्यायशीलता, निष्पक्षता पर विश्वास करके जब तक मनुष्य पाप के दुष्परिणामों के कठोर दण्ड और पुण्य के सत्परिणामों के आनन्द पर विश्वास नहीं करता, तब तक अन्य रीतियों से उसे सन्मार्ग पर चला पाना कठिन होता है। इस महान तत्त्वज्ञान को जन साधारण के अन्तःकरण में प्रविष्ट करने का पूज्य आचार्य जी ने गत बीस वर्षों में प्रयत्न किया और उसका सत्परिणाम आज सबके सामने प्रत्यक्ष है। सत्पथ के हजारों पथिक गत बीस वर्षों से आत्म-निर्माण की साधना कर रहे थे, जब उनका लोकसेवा के लिए, धर्मप्रसार के लिए आह्वान किया गया, वे सोते सिंह की तरह उठकर खड़े हो गए और युगनिर्माण की पुनीत प्रक्रिया में जूझ पड़ने की साध के साथ प्राणपण से जुटे हुए हैं। नैतिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान योजना का युगनिर्माणकारी कार्यक्रम देशभर में चल रहा है, उसका बौद्धिक, आत्मिक रूप तो आँखों से नहीं देखा जा सकता, पर गायत्री यज्ञ आन्दोलन के रूप में लाखों नर-नारी जिस कार्यक्रम को उल्लासपूर्वक करते दिखाई पड़ते हैं, उससे यह सहज ही अनुमान हो जाता है कि यह महाअभियान बाह्य प्रक्रियाओं तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसकी जड़ें जनसाधारण के अन्तःप्रदेश में भी गहराई तक प्रवेश कर रही हैं। मनुष्य को सभी अर्थों में मनुष्य बनाने का, पशुता को मानवता में

परिणत करने का, यह पुण्य आयोजन आशाजनक रीति से सफल हो रहा है. आगे इसकी सफलता के लिए हम सब और भी अधिक आशाएँ कर सकते हैं।

'अखण्ड-ज्योति' लकड़हारे के हाथ की कुल्हाड़ी की तरह, आचार्य जी के महान मनोरथों को पूरा करने में भारी योगदान करती रही है। उसने एक हृदय में जलती हुई आग को प्रदीप्त ही नहीं किया, वरन् उसकी चिनगारियाँ उड़ाकर अनेक जगह आग की ज्वालाएँ जलाई हैं। यह दीपक एक ही जगह नहीं जलता रहा है, वरन् असंख्य दीपक इससे जले हैं, उसकी क्रमबद्ध पंक्ति आज जगमग करती हुई, दीपावली की तरह चारों ओर दीख रही है। गायत्री परिवार के १० लाख सदस्यों को एक ऐसी ही दीपमालिका कहा जा सकता है।

गत बीस वर्षों का अतीत बहुत ही उज्ज्वल रहा है, पर आगे जो और भी अनेक गुनी कठिन मंजिल उपस्थित है, उसे पूरा करने में अखण्ड-ज्योति का योगदान और भी अधिक मात्रा में अपेक्षित है, पर यकायक जो परिवर्तन इस समय हुआ है उसे देखते हुए मेरी ही तरह अनेक पाठकों का भी जी कमजोर पड़ता है। परमपूज्य आचार्य जी शारीरिक दृष्टि से बहुत दुर्बल हैं, पर उनके रोम-रोम में से शक्ति का स्रोत बहता है। वे जिस कार्य में हाथ डालते हैं, वह पूरा होता ही चला जाता है, इस खुले रहस्य को हममें से हर कोई भली-भाँति जानता है। उनके हाथों में 'अखण्ड-ज्योति' का भविष्य और भी अधिक प्रज्ज्वल होने की हर कोई आशा कर सकता है, पर जब वे अपने उत्तरदायित्व को छोड़ रहे हैं और छोड़कर मेरे दुर्बल कंधे पर डाल रहे हैं, तब तो सहज ही अनेकों आशंकाएँ मन में उठने लगती हैं और भय होने लगता है कि गत बीस वर्ष का इतिहास कहीं आगे धुँधला न पड़ जाए! इधर से उधर परिवर्तन में कहीं इस दीपक की लौ मन्द न होने लगे, कहीं बुझ जाने का अवसर उपस्थित न हो जाए।

पिछले दिनों में हजारों पाठकों ने ऐसे अनुरोध भरे पत्र भेजे हैं कि जिनमें मुझसे कहा गया है कि आचार्य जी की संभावित यात्रा को रोका जाए, उन्हें अभी न जाने दिया जाए। अखण्ड-ज्योति की जिम्मेदारी से उन्हें मुक्त न होने दिया जाए। परिजनों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए मैंने आचार्य जी से यह अनुरोध किया था, पर उनका जो उत्तर है, उसके पीछे जो भारी बल है, उसे देखते हुए निरुत्तर ही होना पड़ता है।

उन्होंने मुझसे कहा-तुम्हें केवल 'अखण्ड-ज्योति' का व्यवस्थापक मात्र बनाया गया है, जो प्रेरणाशक्ति अब तक उसके द्वारा प्रवाहित होती रही है, वह हमारे न रहने पर भी यथावत जारी रहेगी। जो उच्चकोटि के विचार अब तक दिए जाते रहे हैं, उससे एक दर्जे और भी ऊँचे विचार पाठकों को मिलेंगे। अखण्ड-ज्योति का भविष्य अन्धकारमय होने की किसी को कल्पना तक नहीं करनी चाहिए। जो लक्ष्य अभी सामने खड़ा है, उसे पूरा होने तक यह दीपक जलता ही नहीं रहेगा, वरन् और भी ऊँची बत्ती से और भी ऊँची लौ के साथ जलेगा।

आचार्य जी ने अपने कार्यक्रम में थोड़ा अन्तर किया है, उसी के अनुरूप यह सब हलचल हो रही है। उन्होंने अपने २४ महापुरश्चरण किए थे, उसी के बल पर युगनिर्माण का इतना विशाल आन्दोलन बन और पनप सका। यदि केवल प्रचार के बल पर अन्य सभी सोसायटियों के ढंग से काम किया गया होता, तो जितना हो सका है, उसका हजार हिस्सा भी अपने दुर्बल साधनों से सम्भव न हुआ होता। तप की शक्ति प्रचण्ड है, उसके बल पर ही अध्यात्म जगत के सारे काम चलते हैं। तप की पूँजी जहाँ हो, वहाँ उतनी ही विजय मिलेगी। तप के बिना केवल बाह्य साधनों से कोई बड़ी सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती।

संसार के सामने आज अनेक दुखद प्रसंग बढ़ रहे हैं, भविष्य में यह कठिनाइयाँ और भी बढ़ने वाली हैं। इनके शमन और समाधान के लिए जो प्रयत्न किए जाते हैं, उनमें तप की पूँजी बड़ी मात्रा में अभीष्ट होगी। आचार्य जी उसे ही उपलब्ध कराने के लिए बाहर जाने की तैयारी कर रहे हैं। केवल नश्वर मोह बन्धनों के कारण इस महान तैयारी को रोकना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है? पाठकों को, परिजनों को उनकी जुदाई का दुःख होना स्वाभाविक है, उनका सहज वात्सल्य इतने वर्षों से जिन्हें प्राप्त हुआ है, उससे वंचित होने की कल्पना से निश्चय ही वे दुःखी होंगे। मुझे भी लम्बे समय से उनके चरणों में बैठने का, पाठकों की अपेक्षा अधिक समीपता का सौभाग्य प्राप्त करने का अवसर मिला है। मेरे मन में भी उनके प्रति सामान्य नारी की अपेक्षा कुछ अधिक ही श्रद्धा-भक्ति है, उनकी जुदाई की मुझे भी कम कसक नहीं है, पर भावना से कर्त्तव्य ऊँचा है। हम लोग उनके भागीरथी प्रयत्नों में बाधक नहीं बनेंगे, उनके गंगावतरण के जीवन-लक्ष्य को विलम्बित करना हमारे लिए किसी प्रकार उचित न होगा।

वे अज्ञात स्थान को तप-साधना के निमित्त आगामी गायत्री जयन्ती-जेष्ठ सुदी १० के बाद चले जाएँगे। अभी उनको इस कार्य में एक वर्ष लगने की बात कही है, पर यह अवधि पूर्ण निश्चित नहीं है और भी अधिक समय लग सकता है। देशभर में धर्म-भावनाओं का विस्तार करके सच्ची विश्वशान्ति का जो आयोजन, गायत्री परिवार द्वारा चल रहा है, उसमें समुचित बल बनाए रखना उनकी इस तप-साधना का उद्देश्य है। इसलिए यह सोचना उचित न होगा कि उनके जाने से हममें से किसी की व्यक्तिगत, आत्मिक स्थिति या सामूहिक कार्यक्रमों में कोई कमी आएगी। उनकी तपस्या या बल पाकर तो इस सब में वृद्धि होने वाली है।

वे आगे से कठोर साधना में संलग्न होंगे साथ ही गम्भीर आध्यात्मिक अनुभवों एवं साधना मार्ग के महत्त्वपूर्ण मर्मों को अधिकारी परिजनों के सामने

उपस्थित करेंगे। गत छह वर्षों से संस्था संचालन में उनकी अधिकांश शक्ति लगती रही, इसलिए आध्यात्मिक विज्ञान के मर्मप्रसंगों को उपस्थित कर सकना उनके लिए सम्भव न हो सका। अब चूँकि उनका सारा समय ही अध्यात्म साधना में लगेगा, इसलिए वह योग और अध्यात्म के दक्षिणमार्गी और वाममार्गी साधना के, योग और तंत्र के उन पहलुओं पर स्वयं प्रकाश डालेंगे, जो अब तक अज्ञात एवं रहस्यमय ही बने हुए हैं।

भारत की इस पुण्यभूमि में धर्म-भावनाओं का आवश्यक विस्तार होना है, यह होगा, होकर रहेगा। इस पुण्य श्रेय में 'अखण्ड-ज्योति' अगले वर्षों में भी योगदान देगी। पिछले बीस वर्ष उसके बहुत शानदार रहे। आगे भी इस शान में कोई कमी आएगी, ऐसी सम्भावना नहीं है। यह आश्वासन प्राप्त होने के बाद अब अपनी सारी आशंकाएँ दूर हो गई हैं। परिजनों को मेरी व्यक्तिगत कमजोरियों को, अयोग्यताओं को ध्यान में रखकर सम्भव है 'अखण्ड-ज्योति' के भविष्य के बारे में कुछ चिन्ता हुई हो, पर हम लोग तो बाँस की तुच्छ वंशी मात्र हैं। बजाने वाले की कला अमर है, उसकी ध्वनिलहरी में कभी कमी पड़ने वाली नहीं है। 'अखण्ड-ज्योति' अपना विनम्र प्रयत्न वैसा ही जारी रखेगी, जैसा गत बीस वर्षों से रखती आई है। अब तक वह सर्वसाधारण की ही पत्रिका थी, अब वह अध्यात्म मार्ग के जिज्ञासुओं एवं साधना पथ के पथिकों का मार्गदर्शन करने के लिए निकलेगी। इसी लक्ष्य के आधार पर व्यक्ति का तथा विश्व का सच्चा कल्याण सुनिश्चित भी है।

# सुनसान के सहचर

परमपूज्य गुरुदेव १ जुलाई सन् १९६० को हिमालय अज्ञातवास पर प्रस्थान कर गये। वहाँ दुर्गम हिमालय की कन्दराओं में बैठकर उन्होंने प्रकृति के साहचर्य की अनुभूतियों को, 'सुनसान के सहचर' नामक इस भावपूर्ण रचना में अभिव्यक्ति दी है। इस पुस्तक की भूमिका में वे लिखते हैं- ''इसे एक सौभाग्य, संयोग ही कहना चाहिए कि जीवन को आरम्भ से अन्त तक एक समर्थ सिद्ध-पुरुष के संरक्षण में गतिशील रहने का अवसर मिल गया। जहाँ उस महान मार्गदर्शक ने जो भी आदेश दिए, वे ऐसे थे, जिसमें इस अकिंचन जीवन की सफलता के साथ-साथ लोक-मंगल का महान प्रयोजन भी जुड़ा रहा।''

''१५ वर्ष की आयु से उनकी अप्रत्याशित अनुकम्पा बरसनी शुरू हुई। इधर से भी यह प्रयत्न हुए कि महान गुरु के गौरव के अनुरूप शिष्य बना जाए। सो एक प्रकार से उस सत्ता के सामने शारीरिक और भावनात्मक क्षमताएँ उन्हीं के चरणों पर समर्पित हो गईं। जो आदेश हुआ उसे पूरी श्रद्धा के साथ शिरोधार्य और कार्यान्वित किया गया। अपना यही क्रम अब तक चला आ रहा है। अपने अद्यावधि क्रिया कलापों को एक कठपुतली की उछल-कूद कहा जाए, तो उचित विश्लेषण ही होगा।''

''पन्द्रह वर्ष समाप्त होने और सोलहवें में प्रवेश करते समय यह दिव्य साक्षात्कार मिलन हुआ। उसे ही विलय भी कहा जा सकता है। आरम्भ में २४ वर्ष तक जौ की रोटी और छाछ इन दो पदार्थों के आधार पर अखण्ड दीपक के समीप २४ गायत्री महापुरश्चरण करने की आज्ञा हुई, सो ठीक प्रकार सम्पन्न हुए। उसके बाद दस वर्ष धार्मिक चेतना उत्पन्न करने के लिए प्रचार और संगठन, लेखन, भाषण एवं रचनात्मक कार्यों की शृंखला चली। ४ हजार शाखाओं वाला गायत्री परिवार बनकर खड़ा हो गया। उन वर्षों में एक ऐसा संघतन्त्र बनकर खड़ा हो गया, जिसे नवनिर्माण के लिए उपयुक्त आधारशिला कहा जा सके। चौबीस वर्ष की पुरश्चरण साधना, तपबल का दस वर्ष में व्यय हो गया। अधिक ऊँची जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए नई शक्ति की आवश्यकता पड़ी। सो इसके लिए फिर आदेश हुआ कि इस शरीर को एक वर्ष तक हिमालय के उन दिव्य स्थानों में रहकर विशिष्ट साधना करनी चाहिए, जहाँ अभी भी आत्म-चेतना का शक्तिप्रवाह प्रवाहित होता है। अन्य आदेशों की तरह यह आदेश भी शिरोधार्य ही हो सकता था।''

''सन् ६० में एक वर्ष के लिए हिमालय तपश्चर्या के लिए प्रयाण हुआ। गंगोत्री में भगीरथ के तपस्थान पर और उत्तरकाशी में परशुराम तपस्थान पर यह एक वर्ष की साधना सम्पन्न हुई। भगीरथ की तपस्या गंगावतरण को और परशुराम की तपस्या दिग्विजयी महापरशु प्रस्तुत कर सकी थी। नवनिर्माण के महान प्रयोजन में अपनी तपस्या के कुछ श्रद्धाबिन्दु काम आ सकें, तो वह उसे भी साधना की सफलता ही कहा जा सकेगा।''

उस एकवर्षीय तप-साधना के लिए गंगोत्री जाते समय मार्ग में अनेक विचार उठते रहे। जहाँ जहाँ रहना हुआ, वहाँ-वहाँ भी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार मन में भाव भरी हिलोरें उठती रहीं। लिखने का व्यसन रहने से उन प्रिय अनुभूतियों को लिखा भी जाता रहा। उनमें से कुछ ऐसी थीं, जिनका रसास्वादन दूसरे करें तो लाभ उठाएँ। उन्हें 'अखण्ड-ज्योति' में छपने भेज दिया गया। छप गई। अनेक ऐसी थीं जिन्हें प्रकट करना अपने जीवनकाल में उपयुक्त नहीं समझा गया, सो नहीं भी छपाई गईं।

उन दिनों 'साधक की डायरी के पृष्ठ', 'सुनसान के सहचर' आदि शीर्षक से जो लेख 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका में छपे, वे लोगों को बहुत रुचे। बात पुरानी हो गयी पर अभी लगा कि लोग उन्हें पढ़ने के लिए उत्सुक हैं, सो इन लेखों को पुस्तकाकार में प्रकाशित कर देना उचित समझा गया। घटनाक्रम अवश्य पुराना हो गया, "पर उन दिनों की जो विचार, अनुभूतियाँ उठती रहीं, वे शाश्वत हैं, उनकी उपयोगिता में समय के पीछे पड़ जाने के कारण कुछ अन्तर नहीं आया है। आशा की जानी चाहिए कि भावनाशील अन्तःकरणों को वे अनुभूतियाँ

अभी भी हमारी तरह ही स्पंदित कर सकेंगी और पुस्तक की उपयोगिता एवं सार्थकता सिद्ध हो सकेगी।

एक विशेष लेख इसी संकलन में और है, वह है- 'हिमालय के हृदय का विवेचन-विश्लेषण।' बद्रीनारायण से लेकर गंगोत्री के बीच का लगभग ४०० मील परिधि का वह स्थान है, जहाँ प्रायः सभी देवताओं और ऋषियों का तप-केन्द्र रहा है। इसे ही धरती का स्वर्ग कहा जा सकता है। स्वर्ग कथाओं से जो घटनाक्रम एवं व्यक्त चरित्र जुड़े हैं, उनकी यदि इतिहास, भूगोल से संगति मिलाई जाए, तो वे धरती पर ही सिद्ध होते हैं और उस बात में बहुत वजन मालूम पड़ता है, जिसमें इन्द्र के शासन एवं आर्यसभ्यता की संस्कृति का उद्‌गम स्थान हिमालय का उपर्युक्त स्थान बताया गया है। अब वहाँ बर्फ बहुत पड़ने लगी है। ऋतु परिस्थितियों की शृंखला में अब वह 'हिमालय का हृदय' असली उत्तराखण्ड इस योग्य नहीं रहा कि वहाँ आज के दुर्बल शरीरों वाला व्यक्ति निवास स्थान बना सके। इसलिए आधुनिक उत्तराखण्ड नीचे चला गया और हरिद्वार से लेकर बद्रीनारायण, गंगोत्री, गोमुख तक ही उसकी परिधि सीमित हो गई है।

'हिमालय के हृदय' क्षेत्र में जहाँ प्राचीन स्वर्ग की भी विशेषता विद्यमान है, वहाँ तपस्याओं से प्रभावित शक्तिशाली आध्यात्मिक क्षेत्र भी विद्यमान है। हमारे मार्गदर्शक वहाँ रहकर प्राचीनतम ऋषियों की इस तपसंस्कारित भूमि से अनुपम शक्ति प्राप्त करते हैं। कुछ समय के लिए हमें भी उस स्थान पर रहने का सौभाग्य मिला और वे दिव्य स्थान अपने भी देखने में आये। सो उनका जितना दर्शन हो सका, उसका वर्णन 'अखण्ड-ज्योति' में प्रस्तुत किया गया था। यह लेख भी अपने ढंग का अनोखा है। उससे संसार में एक ऐसे स्थान का पता चलता है, जिसे आत्म-शक्ति का ध्रुव कहा जा सकता है। धरती के उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुवों में विशेष शक्तियाँ हैं। अध्यात्म शक्ति का एक ध्रुव हमारे अनुभव में आया है, जिसमें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ भरी पड़ी हैं। सूक्ष्म शक्तियों की दृष्टि से भी और शरीरधारी सिद्ध पुरुषों की दृष्टि से भी।

इस दिव्य केन्द्र की ओर लोगों का ध्यान बना रहे, इस दृष्टि से उसका परिचय तो रहना ही चाहिए, इस दृष्टि से उस जानकारी को मूल्यवान ही कहा जा सकता है, जो 'हिमालय के हृदय' लेख में प्रस्तुत की गई है।

## हमारा अज्ञातवास और तप-साधना का उद्देश्य

तप की शक्ति अपार है। जो कुछ अधिक से अधिक शक्तिसम्पन्नतत्त्व इस विश्व में हैं, उसका मूल 'तप' में ही सन्निहित है। सूर्य तपता है, इसलिए ही वह समस्त विश्व को जीवन प्रदान करने लायक प्राण-भण्डार का अधिपति है। ग्रीष्म की ऊष्मा से जब वायुमण्डल भलीप्रकार तप लेता है, तो मंगलमयी वर्षा होती है। सोना तपता है तो खरा, तेजस्वी और मूल्यवान बनता है। जितनी भी धातुएँ हैं, वे सभी खान से निकलते समय दूषित, मिश्रित व दुर्बल होती हैं, पर जब उन्हें कई बार भट्टियों में तपाया, पिघलाया और गलाया जाता है, तो वे शुद्ध एवं मूल्यवान बन जाती हैं। कच्ची मिट्टी के बने हुए कमजोर खिलौने और बर्तन जरा से आघात में टूट सकते हैं। तपाए और पकाए जाने पर मजबूत एवं रक्तवर्ण हो जाते हैं। कच्ची ईंटें भट्टे में पकने पर पत्थर जैसी कड़ी हो जाती हैं। मामूली से कच्चे कंकड़ पकने पर चूना बनते हैं और उनके द्वारा बने हुए विशाल प्रासाद दीर्घकाल तक बने खड़े रहते हैं।

मामूली-सा अभ्रक जब सौ बार अग्नि में तपाया जाता है, तो चन्द्रोदय रस बन जाता है। अनेक बार अग्नि संस्कार होने से ही धातुओं की मूल्यवान भस्म रसायनें बन जाती हैं और उनसे अशक्ति एवं कष्टसाध्य रोगों से ग्रस्त रोगी पुनः जीवनीशक्ति प्राप्त करते हैं। साधारण अन्न और दाल-शाक जो कच्चे रूप में न तो सुपाच्य होते हैं और न स्वादिष्ट, वे ही अग्नि-संस्कार से पकाये जाने पर सुरुचिपूर्ण व्यंजनों का रूप धारण कर लेते हैं। धोबी की भट्टी में चढ़ने पर मैले-कुचैले कपड़े निर्मल एवं स्वच्छ बन जाते हैं। पेट की जठराग्नि द्वारा पचाया हुआ अन्न ही रक्त-अस्थि का रूप धारण कर हमारे शरीर का भाग बनता है। यदि यह अग्नि-संस्कार की, तप की प्रक्रिया बन्द हो जाए, तो निश्चित रूप से विकास का सारा क्रम ही बन्द हो जाएगा।

प्रकृति तपती है, इसीलिए सृष्टि की सारी संचालन-व्यवस्था चल रही है। जीव तपता है, उसी से उसके अन्तराल में छिपे हुए पुरुषार्थ, पराक्रम, साहस, उत्साह, उल्लास, ज्ञान, विज्ञान प्रभृति रत्नों की शृंखला प्रस्फुटित होती है। माता अपने अण्ड एवं गर्भ को अपनी उदरस्थ ऊष्मा से पकाकर शिशु का प्रसव करती है। जिन जीवों ने मूर्च्छित स्थिति से ऊँचे उठने की, खाने-सोने से कुछ अधिक करने की आकांक्षा की है, उन्हें तप करना पड़ा है। संसार में अनेक पुरुषार्थी, पराक्रमी एवं इतिहास के पृष्ठों पर अपनी छाप छोड़ने वाले महापुरुष जो हैं, उन्हें किसी न किसी रूप में अपने-अपने ढंग का तप करना पड़ा है। कृषक, विद्यार्थी, श्रमिक, वैज्ञानिक, शासक, विद्वान, उद्योगी, कारीगर आदि सभी महत्त्वपूर्ण कार्य-भूमिकाओं का सम्पादन करने वाले व्यक्ति वे ही बन सके हैं, जिन्होंने कठोर श्रम, अध्यवसाय एवं तपश्चर्या की नीति को अपनाया है। यदि इन लोगों ने आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता, शिथिलता एवं विलासिता की नीति अपनाई होती तो वे कदापि उस स्थान पर न पहुँच पाते, जो उन्होंने कष्टसहिष्णु एवं पुरुषार्थी बनकर उपलब्ध किया है।

सभी पुरुषार्थों में आध्यात्मिक पुरुषार्थ का मूल्य और महत्त्व अधिक है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि सामान्य सम्पत्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति-सम्पदा की महत्ता अधिक है। धन, बुद्धि, बल आदि के आधार पर अनेक व्यक्ति उन्नतशील, सुखी एवं सम्मानित बनते हैं, पर

उन सबसे अनेकों गुना महत्त्व वे लोग प्राप्त करते हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक बल का संग्रह किया है, पीतल और सोने में, काँच और रत्न में जो अन्तर है, वही अन्तर सांसारिक सम्पत्ति एवं आध्यात्मिक सम्पदा के बीच में भी है। इस संसार में धनी, सेठ, अमीर, उमराव, गुणी, विद्वान, कलावन्त बहुत हैं, पर उनकी तुलना उन महात्माओं के साथ नहीं हो सकती, जिन्होंने अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ के द्वारा अपना ही नहीं, सारे संसार का हितसाधन किया। प्राचीनकाल में सभी समझदार लोग अपने बच्चों को कष्टसहिष्णु, अध्यवसायी, तितिक्षाशील एवं तपस्वी बनाने के लिए छोटी आयु में ही गुरुकुलों में भर्ती कराते थे, ताकि आगे चलकर वे कठोर जीवनयापन करने के अभ्यस्त होकर महापुरुषों की महानता के अधिकारी बन सकें।

संसार में जब भी कोई महान कार्य सम्पन्न हुए हैं, तो उनके पीछे तपश्चर्या की शक्ति अवश्य रही है। हमारा देश देवताओं और नररत्नों का देश रहा है। यह भारतभूमि स्वर्गादपि गरीयसी कहलाती रही है। ज्ञान, पराक्रम और सम्पदा की दृष्टि से यह राष्ट्र सदा से विश्व का मुकुटमणि रहा है। उन्नति के इस उच्च शिखर पर पहुँचने का कारण यहाँ के निवासियों की प्रचण्ड तपनिष्ठा ही रही है। आलसी और विलासी, स्वार्थी और लोभी लोगों को यहाँ सदा से घृणित एवं निकृष्ट श्रेणी का जीव माना जाता रहा है। तप-शक्ति की महत्ता को यहाँ के निवासियों ने पहचाना और उसके उपार्जन में पूरी तत्परता दिखाई, तभी यह सम्भव हो सका कि भारत को जगद्‌गुरु, चक्रवर्ती शासक एवं सम्पदाओं के स्वामी होने का इतना ऊँचा गौरव प्राप्त हुआ।

पिछले इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत का बहुमुखी विकास तपश्चर्या पर आधारित एवं अवलम्बित रहा है। सृष्टि के उत्पन्नकर्ता प्रजापति ब्रह्माजी ने सृष्टिनिर्माण के पूर्व विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पुष्प पर अवस्थित होकर सौ वर्षों तक गायत्री उपासना के आधार पर तप किया, तभी उन्हें सृष्टिनिर्माण एवं ज्ञान-विज्ञान के उत्पादन की शक्ति उपलब्ध हुई। मानव धर्म के प्रतिपादक भगवान मनु ने अपनी रानी शतरूपा के साथ प्रचण्ड तप करने के पश्चात् ही अपना महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व पूर्ण किया था। भगवान शंकर स्वयं तप रूप हैं। उनका प्रधान कार्यक्रम सदा से तप-साधना ही रहा। शेषजी तप के बल पर ही इस पृथ्वी को अपने शीश पर धारण किए हुए हैं। सप्त ऋषियों ने इसी मार्ग पर दीर्घकाल तक चलते रहकर वह सिद्धि प्राप्त की, जिससे सदा उनका नाम अजर-अमर रहेगा। देवताओं के गुरु बृहस्पति और असुरों के गुरु शुक्राचार्य अपने-अपने शिष्यों के कल्याण, मार्गदर्शन और सफलता की साधना अपनी तप-शक्ति के आधार पर ही करते रहे हैं।

नई सृष्टि रच डालने वाले विश्वामित्र की, रघुवंशी राजाओं का अनेक पीढ़ियों तक मार्गदर्शन करने वाले वशिष्ठ की क्षमता तथा साधना इसी में ही अन्तर्हित थी। एक बार राजा विश्वामित्र जब वन में अपनी सेना को लेकर पहुँचे तो वशिष्ठजी ने कुछ सामान न होने पर भी सारी सेना का समुचित आतिथ्य कर दिखाया, तो विश्वामित्र दंग रह गए। किसी प्रसंग को लेकर जब निहत्थे वशिष्ठ और विशाल सेना सम्पन्न विश्वामित्र में युद्ध ठन गया तो तपस्वी वशिष्ठ के सामने राजा विश्वामित्र को परास्त ही होना पड़ा। उन्होंने "**धिक्‌बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलंबलम्**" की घोषणा करते हुए राजपाट छोड़ दिया और सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति की तपश्चर्या के लिए शेष जीवन समर्पित कर दिया।

अपने नरकगामी पूर्व पुरुषों का उद्धार करने तथा प्यासी पृथ्वी को जलपूर्ण करके जन-समाज का कल्याण करने के लिए गंगावतरण की आवश्यकता थी। इस महान उद्देश्य की पूर्ति लौकिक पुरुषार्थ से नहीं, वरन् तपशक्ति से ही सम्भव थी। भगीरथ कठोर तप करने के लिए वन को गए और अपनी साधना से प्रभावित कर गंगाजी को भूलोक में लाने एवं शिवजी को उन्हें अपनी जटाओं में धारण करने के लिए तैयार कर लिया। यह कार्य साधारण प्रक्रिया से सम्पन्न न होते। तप ने ही उन्हें सम्भव बनाया।

च्यवन ऋषि इतना कठोर दीर्घकालीन तप कर रहे थे कि उनके सारे शरीर पर दीमक ने अपना घर बना लिया था और उनका शरीर एक मिट्टी के टीले जैसा बन गया था। राजकुमारी सुकन्या को दो छेदों में से दो चमकदार चीजें दिखाई दीं और उनमें उसने काँटे चुभो दिए। यह चमकदार चीजें और कुछ नहीं च्यवन ऋषि की आँखें थीं। च्यवन ऋषि को इतनी कठोर तपस्या इसीलिए करनी पड़ी कि वे अपनी अन्तरात्मा में सन्निहित शक्ति केन्द्रों को जाग्रत करके परमात्मा के अक्षय शक्ति भण्डार में भागीदार मिलने की अपनी योग्यता सिद्ध कर सकें।

शुकदेव जी जन्म से साधनारत हो गए। उन्होंने मानव जीवन का एकमात्र सदुपयोग इसी में समझा कि इसका उपयोग आध्यात्मिक प्रयोजनों में करके नर-तनु जैसे सुरदुर्लभ सौभाग्य का सदुपयोग किया जाए। वे चकाचौंध पैदा करने वाले वासना एवं तृष्णाजन्य प्रलोभनों को दूर से नमस्कार करके ब्रह्मज्ञान की, ब्रह्मतत्त्व की उपलब्धि में संलग्न हो गए।

तपस्वी ध्रुव ने खोया कुछ नहीं। यदि वह साधारण राजकुमार की तरह मौज शौक का जीवनयापन करता, तो समस्त ब्रह्माण्ड का केन्द्र बिन्दु ध्रुवतारा बनने और अपनी कीर्ति को अमर बनाने का लाभ उसे प्राप्त न हो सका होता। उस जीवन में भी उसे जितना विशाल राज-पाट मिला, उतना अपने पिता की अधिक से अधिक कृपा प्राप्त होने पर भी उसे उपलब्ध न हुआ होता। पृथ्वी पर बिखरे अन्नकणों को बीनकर अपना निर्वाह करने वाले कणाद ऋषि, वट-वृक्ष के दूध पर गुजारा करने वाले वाल्मीकि ऋषि भौतिक विलासिता से वंचित रहे, पर इसके बदले में जो कुछ पाया, वह बड़ी से बड़ी सम्पदा से कम न था।

भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने अपने काल की लोकदुर्गति को मिटाने के लिए तपस्या को ही ब्रह्मा के रूप में प्रयोग किया। उन्होंने व्यापक हिंसा और असुरता के वातावरण को दया और हिंसा के रूप में परिवर्तित कर दिया। दुष्टता को हटाने के लिए यों अस्त्र-शस्त्रों का, दण्ड-दमन का मार्ग सरल समझा जाता है, पर वह भी सेना एवं आयुधों की सहायता से उतना नहीं हो सकता, जितना तपोबल से । अत्याचारी शासकों का सारी पृथ्वी से उन्मूलन करने के लिए परशुराम जी का फरसा अभूतपूर्व अस्त्र सिद्ध हुआ। उसी से उन्होंने बड़ी-बड़ी सेना तथा सामन्तों से सुसज्जित राजाओं को परास्त करके २१ बार पृथ्वी को राजाओं से रहित कर दिया। अगस्त्य का कोप बेचारा समुद्र क्या सहन करता। उन्होंने तीन चुल्लुओं में सारे समुद्र को उदरस्थ कर लिया। देवता जब किसी प्रकार असुरों को परास्त न कर सके, लगातार हारते ही गये तो तपस्वी दधीचि ने तेजस्वी हड्डियों का वज्र प्राप्त कराकर इन्द्र द्वारा देवताओं की नाव को पार लगाया।

प्राचीनकाल में विद्या का अधिकारी वही माना जाता था, जिसमें तितिक्षा एवं कष्टसहिष्णुता की क्षमता होती थी। ऐसे ही लोगों के हाथ में पहुँचकर विद्या उसका व समस्त संसार का लाभ करती थी। आज विलासी और लोभी प्रकृति के लोगों को ही विद्या सुलभ हो गई। फलस्वरूप वे उसका दुरुपयोग भी खूब कर रहे हैं। हम देखते हैं कि अशिक्षितों की अपेक्षा सुशिक्षित ही मानवता से अधिक दूर हैं और वे ही विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न करके संसार की सुख-शान्ति के लिए अभिशाप बने हुए हैं। प्राचीनकाल में प्रत्येक अभिभावक अपने बालकों को तपस्वी मनोवृत्ति का बनाने के लिए उन्हें गुरुकुलों में भेजता था और गुरुकुलों के संचालक बहुत समय तक बालकों में कष्ट-सहिष्णुता जाग्रत करते थे और जो इस प्रारम्भिक परीक्षा में सफल होते थे, उन्हें ही परीक्षाधिकारी मानकर विद्यादान करते थे। उद्दालक, आरुणि आदि अगणित छात्रों को कठोर परीक्षाओं में से गुजरना पड़ता था। इसका वृत्तान्त सभी को मालूम है।

ब्रह्मचर्य, तप का प्रधान अंग माना गया है। बजरंगी हनुमान, बालब्रह्मचारी भीष्म के पराक्रमों से हम सभी परिचित हैं। शंकराचार्य, दयानन्द प्रभृति अनेकों महापुरुष अपने ब्रह्मचर्य व्रत के आधार पर ही संसार की महान सेवा कर सके। प्राचीनकाल में ऐसे अनेक गृहस्थ होते थे, जो विवाह होने पर भी पत्नी समेत अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

आत्मबल प्राप्त करके तपस्वी लोग उस तपबल से न केवल अपना आत्म-कल्याण करते थे, वरन् अपनी थोड़ी-सी शक्ति अपने शिष्यों को देकर उनको भी महापुरुष बना देते थे। विश्वामित्र के आश्रम में रहकर रामचन्द्र जी का, सांदीपन ऋषि के गुरुकुल में पढ़कर कृष्णचन्द्र जी का ऐसा निर्माण हुआ कि भगवान ही कहलाए! समर्थ गुरु रामदास के चरणों में बैठकर एक मामूली-सा मराठा बालक, छत्रपति शिवाजी बना। रामकृष्ण परमहंस से शक्तिकण पाकर नास्तिक नरेन्द्र, संसार का श्रेष्ठ धर्मप्रचारक विवेकानन्द कहलाया। प्राणरक्षा के लिए मारे-मारे फिरते हुए इन्द्र को महर्षि दधीचि ने अपनी हड्डियाँ देकर उसे निर्भय बनाया, नारद का जरा-सा उपदेश पाकर डाकू बाल्मीकि महर्षि बाल्मीकि बन गया।

उत्तम सन्तान प्राप्त करने के अभिलाषी भी तपस्वियों के अनुग्रह से सौभाग्यान्वित हुए हैं। शृंगी ऋषि द्वारा आयोजित पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा, तीन विवाह कर लेने पर भी संतान न होने पर राजा दशरथ को चार पुत्र प्राप्त हुए। राजा दिलीप ने चिरकाल तक अपनी रानी समेत वशिष्ठ के आश्रम में रहकर गौ चराकर जो अनुग्रह प्राप्त किया, उसके फलस्वरूप ही डूबता वंश चला, पुत्र प्राप्त हुआ। पाण्डु जब सन्तानोत्पादन में असमर्थ रहे तो व्यास जी के अनुग्रह से परम प्रतापी पाँच पाण्डव उत्पन्न हुए। अनेकों ऋषि-कुमार अपने माता-पिता के प्रचण्ड अध्यात्मबल को जन्म से ही साथ लेकर पैदा होते थे और वे बालकपन में वे कर्म कर लेते थे, जो बड़ों के लिए भी कठिन होते हैं। लोमस ऋषि के पुत्र शृंगी ऋषि ने राजा परीक्षित द्वारा अपने पिता के गले में सर्प डाला जान देखकर क्रोध में शाप दिया कि सात दिन में यह कुकृत्य करने वाले को सर्प काट लेगा। परीक्षित की सुरक्षा के भारी प्रयत्न किए जाने पर भी सर्प काटे जाने का ऋषि कुमार का शाप सत्य ही होकर रहा।

शाप और वरदानों के आश्चर्यजनक परिणामों की चर्चा से हमारे प्राचीन इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं। श्रवणकुमार को तीर मारने के दण्डस्वरूप उनके पिता ने राजा दशरथ को शाप दिया कि वह भी पुत्र-शोक से इसी प्रकार बिलख-बिलख कर मरेगा, तपस्वी के मुख से निकला हुआ वचन असत्य नहीं हो सकता था, दशरथ को इसी प्रकार मरना पड़ा था। गौतम ऋषि के शाप से इन्द्र और चन्द्रमा जैसे देवताओं की दुर्गति हुई। राजा सगर के दस हजार पुत्रों को कपिल के क्रोध करने के फलस्वरूप जलकर भस्म होना पड़ा। प्रसन्न होने पर देवताओं की भाँति तपस्वी ऋषि भी वरदान प्रदान करते थे और दुःख दारिद्र्य से पीड़ित अनेक व्यक्ति सुख-शान्ति के अवसर प्राप्त करते थे।

पुरुष ही नहीं, तप-साधना के क्षेत्र में भारत की महिलाएँ भी पीछे न थीं! पार्वती ने प्रचण्ड तप करके मदन-दहन करने वाले समाधिस्थ शंकर को विवाह करने के लिए विवश किया, अनुसूया ने अपनी आत्मशक्ति से ब्रह्मा, विष्णु, महेश को नन्हें-नन्हें बालक के रूप में परिणत कर दिया। सुकन्या ने तप करके अपने वृद्ध पति को युवा बनाया। सावित्री ने यम से संघर्ष करके अपने मृतक पति के प्राण लौटाए। कुन्ती ने सूर्य का तप करके कुमारी अवस्था में सूर्य के समान तेजस्वी कर्ण को जन्म दिया। क्रुद्ध गान्धारी ने कृष्ण को शाप दिया कि जिस

प्रकार मेरे कुल का नाश किया है, वैसे ही तेरे कुल का इसी प्रकार परस्पर संघर्ष में अन्त होगा। उनके वचन मिथ्या नहीं गये। सारे यादव आपस में लड़कर ही नष्ट हो गए। दमयन्ती के शाप से व्याध को जीवित जल जाना पड़ा। इड़ा ने अपने पिता मनु का यज्ञ सम्पन्न कराया और उनको अभीष्ट प्रयोजन प्राप्त करने में सहायता की। इन आश्चर्यजनक कार्यों के पीछे उनकी तपशक्ति की महिमा प्रत्यक्ष है।

देवताओं और ऋषियों की भाँति ही असुर भी यह भली-भाँति जानते थे कि तप में ही शक्ति की वास्तविकता केन्द्रित है। उन्होंने भी प्रचण्ड तप किए और वरदान प्राप्त किए, जो सुर पक्ष के तपस्वी भी प्राप्त न कर सके थे। रावण ने अनेक बार सिर का सौदा करने वाली तप-साधना की और शंकर जी को इंगित करके अजेय शक्तियों का भण्डार प्राप्त किया। कुम्भकरण ने तप द्वारा ही सोने (नींद) का अद्भुत वरदान पाया था। मेघनाद, अहिरावण और मारीचि की विभिन्न माया शक्ति भी उन्हें तप द्वारा ही मिली थी। भस्मासुर ने सिर पर हाथ रखने से किसी को भी जला देने की शक्ति तप करके ही प्राप्त की थी। हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, सहस्रबाहु, बालि आदि असुरों के पराक्रम का भी मूल आधार तप ही था। विश्वामित्र और राम के लिए सिरदर्द बनी हुई ताड़िका, श्रीकृष्ण चन्द्र के प्राण लेने का प्रयास करने वाली पूतना, हनुमान को निगल जाने, सीता को नानाप्रकार के कौतूहल दिखाने वाली त्रिजटा आदि अनेकों असुर नारियाँ भी ऐसी थीं, जिन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में अच्छा-खासा परिचय दिया है।

इस प्रकार के दस-बीस नहीं हजारों-लाखों-प्रसंग भारतीय इतिहास में मौजूद हैं, जिनसे तपशक्ति के लाभों से लाभान्वित होकर साधारण नरतनुधारी जीवों ने विश्व को चमत्कृत कर देने वाले स्वरूप पर कल्याण के महान आयोजन पूर्ण करने वाले उदाहरण उपस्थित किए हैं। इस युग में महात्मा गाँधी, सन्त विनोबा, ऋषि दयानन्द, मीरा, कबीर, दादू, तुलसीदास, सूरदास, रैदास, अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ आदि आत्मबल सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा जो कार्य किए गए हैं, वे साधारण भौतिक पुरुषार्थियों द्वारा पूरे किए जाने सम्भव न थे। हमने भी अपने जीवन के आरम्भ से ही वह तपश्चर्या का मार्ग अपनाया है। २४ महापुरश्चरणों के कठिन तप द्वारा उपलब्ध शक्ति का उपयोग हमने लोक-कल्याण में किया है। फलस्वरूप अगणित व्यक्ति हमारी सहायता से भौतिक उन्नति एवं आध्यात्मिक प्रगति की उच्च कक्षा तक पहुँचे हैं। अनेकों को भारी व्यथा-व्याधियों से, चिन्ता-परेशानियों से छुटकारा मिला है। साथ ही धर्म जाग्रति एवं नैतिक पुनरुत्थान की दिशा में आशाजनक कार्य हुआ है। २४ लक्ष गायत्री उपासकों का निर्माण एवं २४ हजार कुण्डों के यज्ञों का संकल्प इतना महान था कि सैकड़ों व्यक्ति मिलकर कई जन्मों में भी पूर्ण नहीं कर सकते, किन्तु वह सब कार्य कुछ ही दिनों में बड़े आनन्दपूर्वक पूर्ण हो गए। गायत्री तपोभूमि का, गायत्री परिवार का निर्माण एवं वेदभाष्य का प्रकाशन ऐसे कार्य हैं, जिनके पीछे साधना-तपश्चर्या का ही प्रताप झाँक रहा है।

आगे और भी प्रचण्ड तप करने का निश्चय किया है और भावी जीवन को तप-साधना में ही लगा देने का निश्चय किया है, तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। हम तप का महत्त्व समझ चुके हैं कि संसार के बड़े से बड़े पराक्रम-पुरुषार्थ एवं उपार्जन की तुलना में तप-साधना का मूल्य अत्यधिक है। जौहरी काँच को फेंककर रत्न की साज-सँभाल करता है। हमने भी भौतिक सुखों को लात मारकर यदि तप की सम्पत्ति एकत्रित करने का निश्चय किया है, तो उससे मोहग्रस्त परिजन भले ही खिन्न होते रहें, वस्तुतः उस निश्चय में दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता ही ओत-प्रोत है।

राजनेता और वैज्ञानिक दोनों मिलकर इन दिनों जो रचना कर रहे हैं, वह केवल आग लगाने वाली, नाश करने वाली ही है। ऐसे हथियार तो बन रहे हैं, जो विपक्षी देशों को तहस-नहस करने में अपनी विजय पताका को गर्वपूर्वक फहरा सकें, पर ऐसे शस्त्र कोई नहीं बना पा रहा है, जो लगाई हुई आग को बुझा सकें, आग लगाने वालों के हाथों को कुंठित कर सकें और जिनके दिलों व दिमागों में नृशंसता की भट्ठी जलती है, उनमें शान्ति एवं सौभाग्य की सरसता प्रवाहित कर सकें। ऐसे शान्ति शस्त्रों का निर्माण राजधानियों में, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में नहीं हो सकता है। प्राचीनकाल में जब भी इस प्रकार की आवश्यकता अनुभव हुई है, तब तपोवनों की प्रयोगशाला में तप-साधना के महान प्रयत्नों द्वारा ही शान्ति शस्त्र तैयार किये गए हैं। हम सरीखी और भी कई आत्माएँ इसी प्रयत्न के लिए अग्रसर हुई हैं।

संसार को, मानव जाति को सुखी और समुन्नत बनाने के लिए अनेक प्रयत्न हो रहे हैं, उद्योग-धंधे, कल-कारखाने, रेल, तार, सड़क, बाँध, स्कूल, अस्पताल आदि का बहुत कुछ निर्माण कार्य चल रहा है। इससे गरीबी और बीमारी, अशिक्षा और असभ्यता का बहुत कुछ समाधान होने की आशा की जाती है, पर मानव अन्तःकरणों में प्रेम और आत्मीयता का, स्नेह और सौजन्य का, आस्तिकता और धार्मिकता का, सेवा और संयम का निर्झर प्रवाहित किए बिना विश्वशान्ति की दिशा में कोई ठोस कार्य न हो सकेगा। जब तक सन्मार्ग की प्रेरणा देने वाले गाँधी, दयानन्द, शंकराचार्य, बुद्ध, महावीर, नारद, व्यास जैसे आत्मबल सम्पन्न मार्गदर्शक न हों, तब तक लोकमानस को ऊँचा उठाने के प्रयत्न सफल न होंगे। लोकमानस को ऊँचा उठाए बिना, पवित्र और आदर्शवादी भावनाएँ उत्पन्न किए बिना लोक की गतिविधियाँ, ईर्ष्या-द्वेष, शोषण, अपहरण, आलस्य, प्रमाद, व्यभिचार, पापाचार से रहित न होंगी, तब तक क्लेश और कलह से, रोग और दरिद्रता से कदापि छुटकारा न मिलेगा।
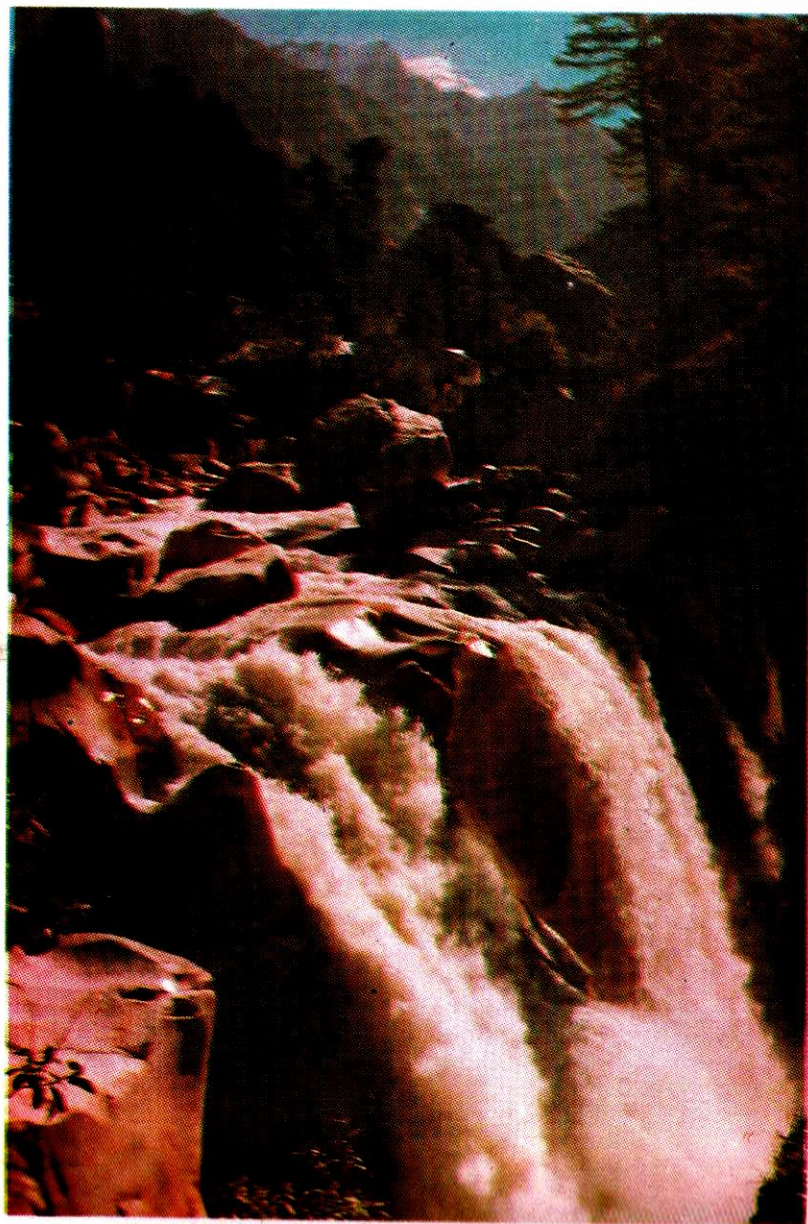
गंगोत्री के निकट भगीरथ शिला—जहाँ पूज्यवर ने तप किया

गायत्री साधक एवं स्वतंत्रता संग्राम सेनानी—पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

गंगा का उद्गम गोमुख—पूज्य गुरुदेव की तपस्थली

दुर्गम हिमालय की एकांत साधना के साधक—आचार्यजी
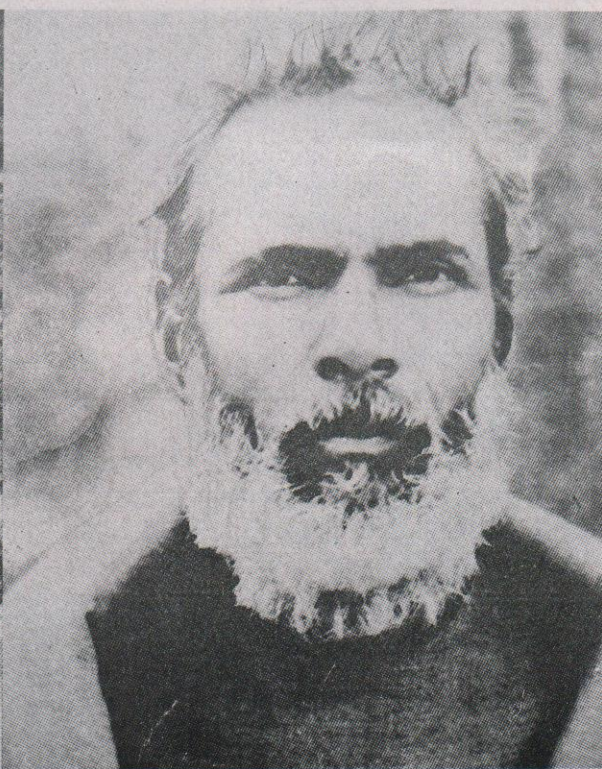
गुरुदेव का तपस्वी रूप

लोकमानस को पवित्र, सात्विक एवं मानवता के अनुरूप नैतिकता से परिपूर्ण बनाने के लिए जिन सूक्ष्म आध्यात्मिक दिव्य तरंगों को प्रवाहित किया जाना आवश्यक है, वे उच्चकोटि की आत्माओं द्वारा विशेष तप-साधना से ही उत्पन्न होंगी। मानवता की, धर्म और संस्कृति की यही सबसे बड़ी सेवा है। आज इन प्रयत्नों की तुरन्त आवश्यकता अनुभव की जाती है, क्योंकि जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, असुरता का पल्ला अधिक भारी होता जाता है। देरी करने में अहित और अनिष्ट की ही अधिक संभावना हो सकती है।

समय की इसी पुकार ने हमें वर्तमान कदम उठाने को, अज्ञातवास में जाने को बाध्य किया है। हमने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए आज तक कुछ भी प्रयत्न नहीं किया है। धन-ऐश्वर्य कमाना तो दूर आध्यात्मिक साधनाओं के लिए भी हमारा दृष्टिकोण व्यक्तिगत लाभ नहीं रहा। जो कुछ भी जप-तप करते हैं, प्राय: उसी दिन किसी पीड़ित-परेशान व्यक्ति के कल्याण के लिए अथवा संसार में धार्मिक वातावरण उत्पन्न करने के लिए उसे दान कर देते हैं। अभी कई जन्म भी लेने का विचार है। संसार में धर्म की स्थापना हुए बिना, मानव प्राणी के अन्तराल में मानवता की समुचित प्रतिष्ठापना किए बिना किसी स्वर्गमुक्ति में जाने का हमारा विचार बिलकुल ही नहीं है। इसलिए हम अपने लिए कोई सिद्धि नहीं चाहते। विश्वहित ही हमारा अपना हित है। इसी लक्ष्य को लेकर तप की अधिक उग्र अग्नि में अपने को तपाने को वर्तमान कदम उठाया है।

# हिमालय में प्रवेश

## मृत्यु-सी भयानक सँकरी पगडण्डी

आज बहुत दूर तक विकट रास्ते से चलना पड़ा। नीचे गंगा बह रही थी, ऊपर पहाड़ खड़ा था। पहाड़ के निचले भाग में होकर चलने की सँकरी-सी पगडण्डी थी। उसकी चौड़ाई मुश्किल से तीन फुट की होगी। उसी पर होकर चलना था, एक पैर भी इधर-उधर हो जाए, तो नीचे गरजती हुई गंगा के गर्भ में जलसमाधि लेने में कुछ भी देर न थी। जरा बचकर चलें तो दूसरी ओर सैकड़ों फुट ऊँचा पर्वत सीधा तना खड़ा था, यह एक इंच भी अपनी जगह से हटने को तैयार न था। सँकरी-सी पगडण्डी पर सँभाल-सँभाल कर एक-एक कदम रखना पड़ता था, क्योंकि जीवन और मृत्यु के बीच एक-डेढ़ फुट का अन्तर था।

हम लोग कई पथिक साथ थे। वैसे रास्ते में खूब हँसते-बोलते चलते थे, पर जहाँ वह सँकरी पगडण्डी आई कि सभी चुप हो गए। बातचीत के सभी विषय समाप्त थे, न किसी को घर की याद आ रही थी और न किसी अन्य विषय पर ध्यान था। चित्त पूर्ण एकाग्र था और केवल यही एक प्रश्न पूरे मनोयोग के साथ चल रहा था कि अगला पैर ठीक जगह पर पड़े। एक हाथ से हम लोग पहाड़ को भी पकड़ते चलते थे। यद्यपि उसमें पकड़ने जैसी कोई चीज नहीं थी, तो भी इस आशा से कि यदि शरीर की झोंक गंगा की तरफ झुकी तो उस सन्तुलन को ठीक रखने में पहाड़ को पकड़-पकड़ कर चलने का उपक्रम कुछ-न-कुछ सहायक होगा। इस प्रकार डेढ़-दो मील की यह यात्रा बड़ी कठिनाई के साथ पूरी की। दिल हर घड़ी धड़कता रहा। जीवन को बचाने के लिए कितनी सावधानी की आवश्यकता है, यह पाठ क्रियात्मक रूप से आज ही पढ़ा।

यह विकट यात्रा पूरी हो गई, पर अब जी में कई विचार उसके स्मरण के साथ-साथ उठ रहे हैं। सोचता हूँ यदि हम सदा मृत्यु को निकट ही देखते रहें तो व्यर्थ की बातों पर मन दौड़ाने वाली मृगतृष्णाओं से बच सकते हैं। जीवन-लक्ष्य की यात्रा भी हमारी आज की यात्रा के समान ही है। जिसमें हर कदम साध-साध कर रखा जाना जरूरी है। यदि एक भी कदम गलत या गफलत भरा उठ जाए, तो मानव-जीवन के महान लक्ष्य से पतित होकर हम एक अथाह गर्त में गिर सकते हैं। जीवन हमें प्यारा है, तो उस प्यार को चरितार्थ करने का एक ही तरीका है कि सही तरीके से अपने को चलाते हुए इस सँकरी पगडण्डी से पार ले चलें, जहाँ से शान्तिपूर्ण यात्रा चल पड़ेगी। मनुष्य जीवन ऐसा ही उत्तरदायित्व पूर्ण है, जैसा उस गंगा तट की सँकरी पगडण्डी पर चलने वालों का। उसका ठीक तरह निर्वाह कर देने पर ही सन्तोष की साँस ले सके और यह आशा कर सके कि उस अभीष्ट तीर्थ के दर्शन कर सकेंगे। कर्त्तव्यपालन की पगडण्डी ऐसी ही सँकरी है। उसमें लापरवाही बरतने पर जीवन-लक्ष्य के प्राप्त होने की आशा कौन कर सकता है? धर्म को पहाड़ की दीवार की तरह पकड़ कर चलने पर हम अपना वह सन्तुलन बनाये रह सकते हैं, जिससे खतरे की ओर झुक पड़ने का भय कम हो जाए। आड़े वक्त में इस दीवार का सहारा ही हमारे लिए बहुत कुछ है। धर्म की आस्था भी जीवन-लक्ष्य की मंजिल को ठीक तरह पार कराने में बहुत कुछ मानी जाएगी।

## चाँदी के पहाड़

आज सुक्की चट्टी पर धर्मशाला की ऊपरी मंजिल की कोठरी में ठहरे थे, सामने ही बर्फ से ढकी पर्वत की चोटी दिखाई पड़ रही थी। बर्फ गर्मी से पिघल कर धीरे-धीरे पानी का रूप धारण कर रही थी, वह एक झरने के रूप में नीचे की तरफ बह रहा था। कुछ बर्फ पूरी तरह गलने से पहले ही पानी के साथ मिलकर बहने लगती थी, इसलिए दूर से झरना ऐसा लगता था, मानो फेनदार दूध ही ऊपर से बहता चला आ रहा हो। दृश्य बहुत ही शोभायमान था, उसे देख-देखकर आँखें ठण्डी हो रही थीं।

जिस कोठरी में अपना ठहरना था, उससे तीसरी कोठरी में अन्य यात्री ठहरे हुए थे। उनमें दो बच्चे भी थे, एक लड़की दूसरा लड़का। दोनों की उम्र ११-१२ वर्ष के लगभग रही होगी, उनके माता-पिता यात्रा पर थे। इन बच्चों को कुलियों की पीठ पर, इस प्रान्त में चलने वाली 'कण्डी' सवारी में बिठाकर लाये थे। बच्चे बहुत हँसमुख और बातून थे।

दोनों में बहस हो रही थी कि यह सफेद चमकता हुआ पहाड़ किस चीज का है। उन्होंने कहीं सुन रखा था कि धातुओं की खानें पहाड़ों में होती हैं। बच्चे ने संगति मिलाई कि पहाड़ चाँदी का है। लड़की को इसमें सन्देह हुआ, वह यह तो नहीं सोच सकी कि चाँदी इस प्रकार खुली पड़ी होती तो कोई न कोई उसे उठा ले जाने की कोशिश जरूर करता। वह लड़के की बात से सहमत नहीं हुई। बहस और जिद्दा-जिद्दी चल पड़ी।

मुझे विवाद मनोरंजक लगा, बच्चे भी प्यारे लगे। दोनों को बुलाया और समझाया कि यह पहाड़ तो पत्थर का है, पर ऊँचा होने के कारण बर्फ जम गई है। गर्मी पड़ने पर यह बर्फ पिघल जाती है और सर्दी पड़ने पर जमने लगती है। वह बर्फ ही चमकने पर चाँदी जैसी लगती है। बच्चों का एक समाधान तो हो गया, पर वे उसी सिलसिले में और ढेरों प्रश्न पूछते गये, मैं भी उनके ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से पर्वतीय जानकारी से सम्बन्धित बहुत-सी बातें उन्हें बताता रहा।

सोचता हूँ बचपन में मनुष्य की बुद्धि कितनी अविकसित होती है कि वह बर्फ जैसी मामूली चीज को चाँदी जैसी मूल्यवान समझता है। बड़े आदमी की सूझ-बूझ ऐसी नहीं होती, वह वस्तुस्थिति को गहराई से सोच और समझ सकता है। यदि छोटेपन में ही इतनी समझ आ जाए, तो बच्चों को भी यथार्थता को पहचानने में कितनी सुविधा हो।

पर मेरा यह सोचना भी गलत ही है, क्योंकि बड़े होने पर भी मनुष्य समझदार कहाँ हो पाता है। जैसे ये दोनों बच्चे बर्फ को चाँदी समझ रहे थे, उसी प्रकार चाँदी-ताँबे के टुकड़ों को, नगण्य अहंकार को, तुच्छ शरीर को बड़ी आयु का मनुष्य भी न जाने कितना अधिक महत्त्व दे डालता है और उनकी ओर इतना आकर्षित होता है कि जीवन-लक्ष्य को भुलाकर भविष्य को अन्धकारमय बना लेने की परवाह नहीं करता।

सांसारिक क्षणिक और सारहीन आकर्षणों में हमारा मन उनसे भी अधिक तल्लीन हो जाता है, जितना कि छोटे बच्चों का मिट्टी के खिलौने के साथ खेलने में, कागज की नाव बहाने में लगता है। पढ़ना-लिखना, खाना-पीना छोड़कर पतंग उड़ाने में निमग्न बालक को अभिभावक उसकी अदूरदर्शिता पर धमकाते हैं, पर हम बड़ी आयु वालों को कौन धमकाए? जो आत्म-स्वार्थ को भुलाकर, विषय-विकारों के इशारे पर नाचने वाली कठपुतली बने हुए हैं। बर्फ चाँदी नहीं है यह बात मानने में इन बच्चों का समाधान हो गया था, पर तृष्णा और वासना जीवन-लक्ष्य नहीं हैं, इस हमारी भ्रान्ति का कौन समाधान करे?

## पीली मक्खियाँ

आज हम लोग सघन वन में होकर चुपचाप चले जा रहे थे तो सेवार के पेड़ों पर भिनभिनाती पीली मक्खियाँ हम लोगों पर टूट पड़ीं। बुरी तरह चिपट गईं, छुड़ाए से भी न छूटती थीं। हाथों से, कपड़ों से उन्हें हटाया भी, भागे भी, पर उन्होंने बहुत देर तक पीछा किया। किसी प्रकार गिरते-पड़ते लगभग आधा मील आगे निकल गए तब उनसे पीछा छूटा। उनके जहरीले डंक जहाँ लगे थे, वहाँ सूजन आ गई। दर्द भी होता रहा।

सोचता हूँ, इन मक्खियों को इस प्रकार आक्रमण करने की क्यों सूझी? क्या इनको इसमें कुछ मिल गया है, हमें सताकर इन्होंने क्या पाया? लगता है, यह मक्खियाँ सोचती होंगी कि यह वनप्रदेश हमारा है, हमें यहाँ रहना चाहिए, हमारे लिए ही यह सुरक्षित प्रदेश रहे, कोई दूसरा इधर पदार्पण न करे। उनकी अपनी भावना के विपरीत हमें उधर से गुजरते देखा तो समझा होगा कि यह हमारे प्रदेश में हस्तक्षेप करते हैं, हमारे अधिकारक्षेत्र में अपना अधिकार चलाते हैं। हमारे उधर से गुजरने को सम्भव है उन्होंने ढीठता समझा हो और अपने बल एवं दर्प का प्रदर्शन करने एवं हस्तक्षेप का मजा चखाने के लिए आक्रमण किया होगा।

यदि ऐसी ही बात है तो इन मक्खियों की मूर्खता थी। वह वन तो ईश्वर का बनाया हुआ था, कुछ उन्होंने स्वयं थोड़े ही बनाया था। उन्हें तो पेड़ों पर रहकर अपनी गुजर-बसर करनी चाहिए थी। सारे प्रदेश पर कब्जा करने की उनकी लालसा व्यर्थ थी, क्योंकि वे इतने बड़े प्रदेश का आखिर करतीं क्या? फिर उन्हें सोचना चाहिए था कि यह साझे की दुनिया है, सभी लोग इसका मिल-जुलकर उपयोग करें तो ही ठीक है। यदि हम लोग उधर से निकल रहे थे, उस वनश्री की छाया, शोभा और सुगन्ध का लाभ उठा रहे थे, तो थोड़ा हमें भी उठा लेने देने की सहिष्णुता रखतीं। उन्होंने अनुदारता करके हमें काटा, सताया, अपने डंक खोये, कोई-कोई तो इस झंझट में कुचल भी गईं, घायल हुईं और मर भी गईं। वे क्रोध और गर्व न दिखातीं तो क्यों उन्हें व्यर्थ यह हानि उठानी पड़ती और क्यों हम सबकी दृष्टि में मूर्ख, स्वार्थी सिद्ध होतीं। हर दृष्टि से इस आक्रमण और अधिकारलिप्सा में मुझे कोई बुद्धिमानी दिखाई न दी। यह पीली मक्खियाँ सचमुच ही ठीक शब्द था।

पर उन बेचारी मक्खियों को ही क्यों कोसा जाए? उन्हीं को मूर्ख क्यों कहा जाए? जबकि आज हम मनुष्य भी इसी रास्ते पर चल रहे हैं। इस सृष्टि में जो विपुल

उपभोग सामग्री परमात्मा ने पैदा की है, वह उसके सभी पुत्रों के लिए, मिल-बाँटकर खाने और लाभ उठाने के लिए है, पर हममें से कोई जितना हड़प सके उतने पर कब्जा जमाने के लिए उतावला हो रहा है। यह भी नहीं सोचा जाता कि शरीर की, कुटुम्ब की आवश्यकता थोड़ी ही है, उतने तक ही सीमित रहें, आवश्यकता से अधिक वस्तुओं पर कब्जा जमा कर दूसरों को क्यों कठिनाई में डालें और क्यों मालिकी का व्यर्थ बोझ सिर पर लादें, जबकि उस मालिकी को देर तक अपने कब्जे में रख भी नहीं सकते।

पीली मक्खियों की तरह ही मनुष्य भी अधिकारलिप्सा में, स्वार्थ और संग्रह में अंधा हो रहा है। मिल-बाँटकर खाने की नीति उसकी समझ में ही नहीं आती। जो कोई उसे अपने स्वार्थ में बाधक होते दीखता है, उसी पर आँखें दिखाता है, अपनी शक्ति प्रदर्शित करता है और पीली मक्खियों की तरह टूट पड़ता है। इससे उनके इस व्यवहार से कितना कष्ट होता है, इसकी चिन्ता किसे है?

पीली मक्खियाँ नन्हें-नन्हें डंक मारकर, आधा मील पीछा करके वापस लौट गईं, पर मनुष्य की अधिकारलिप्सा, स्वार्थपरता और अहंकार से उद्धत होकर किए जाने वाले आक्रमणों की भयंकरता को जब सोचता हूँ, तो बेचारी पीली मक्खियों को ही बुरा-भला कहने में जीभ सकुचाने लगती है।

## ठण्डे पहाड़ के गरम सोते

कई दिन से शरीर को सुन्न कर देने वाले बर्फीले ठण्डे पानी से स्नान करते आ रहे थे। किसी प्रकार हिम्मत बाँधकर एक-दो डुबकी तो लगा लेते थे, पर जाड़े के मारे शरीर को ठीक तरह स्नान करना नहीं बन पड़ रहा था, जैसा देह की सफाई की दृष्टि से आवश्यक है। आज जगन्नाथ चट्टी पर पहुँचे तो पहाड़ के ऊपर वाले तीन तप्त कुण्डों का पता चला, जहाँ से गरम पानी निकलता है। ऐसा सुयोग पाकर मल-मलकर स्नान करने की इच्छा प्रबल हो गई। गंगा का पुल पार कर ऊँची चढ़ाई की टेकरी को कई जगह बैठ-बैठकर हाँफते-हाँफते पार किया और तप्त कुण्डों पर जा पहुँचे, बराबर-बराबर तीन कुण्ड थे। एक का पानी इतना गरम था कि इससे नहाना तो दूर हाथ दे सकना भी कठिन था। बताया गया कि यदि चावल-दाल की पोटली बाँधकर इस कुण्ड में डाल दी जाय, तो वह खिचड़ी कुछ देर में पक जाती है। यह प्रयोग तो हम न कर सके, पर पास वाले दूसरे कुण्ड में जिसका पानी सादा गरम था। खूब मल-मलकर स्नान किया और हफ्तों की अधूरी-आकांक्षा पूरी की। कपड़े भी गरम पानी से खूब धुले, अच्छे साफ हुए।

सोचता हूँ कि जिन पहाड़ों पर बर्फ गिरती रहती है और छाती में से झरने वाले झरने सदा बर्फ-सा ठंडा जल प्रवाहित ही करते रहते हैं, उनमें कहीं-कहीं ऐसे उष्ण सोते क्यों फूट पड़ते हैं? मालूम होता है कि पर्वत के भीतर कोई गन्धक की पर्त है, वही अपने समीप से गुजरने वाली जल-धारा को असह्य उष्णता दे देती है। इसी तरह किसी सज्जन में अनेक शीतल-शान्तिदायक गुण होने से उसके व्यवहार ठण्डे सोतों की तरह शीतल हो सकते हैं, पर यदि दुर्बुद्धि की एक भी परत छिपी हो तो उसकी गर्मी गरम सोतों की तरह बाहर फूट पड़ती है और वह छिपती नहीं।

जो पर्वत अपनी शीतलता को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते हैं, उन्हें इस प्रकार की गन्धक जैसी विषैली पर्तों को बाहर निकाल फेंकना चाहिए। यह एक दूसरा कारण इन तप्तकुण्डों का और भी हो सकता है कि शीतल पर्वत अपने भीतर के इस विकार को निकाल-निकालकर बाहर फेंक रहा हो और अपनी दुर्बलता को छिपाने की अपेक्षा सबके सामने प्रकट कर रहा हो, जिससे उसे कपटी और ढोंगी न कहा जा सके। दुर्गुणों का होना बुरी बात है, पर उन्हें छिपाना उससे भी बुरा है। इस तथ्य को यह पर्वत जानते हैं, यदि मनुष्य भी इसे जान लेता तो कितना अच्छा होता।

यह भी समझ में आता है कि हमारे जैसे ठंडे स्नान से खिन्न व्यक्तियों को गरम जल से स्नान कराने की सुविधा और आवश्यकता का ध्यान रखते हुए पर्वत ने अपने बहुत भीतर बची थोड़ी-सी गर्मी को बाहर निकाल कर रख दिया हो। बाहर से तो वह भी ठंडा हो चला है फिर भी भीतर कुछ गर्मी बच गई होगी। पर्वत सोचता होगा, जब सारा ही ठंडा हो चला तो इस थोड़ी-सी गर्मी को बचाकर ही क्या करूँगा, इसे भी क्यों न जरूरतमंदों को दे डालूँ। उस आत्मदानी पर्वत की तरह कई व्यक्ति भी ऐसे हो सकते हैं, जो स्वयं अभावग्रस्त, कष्टसाध्य जीवन व्यतीत करते हों और इतने पर भी जो शक्ति बची हो उसे भी जनहित में लगाकर इन तप्त कुण्डों का आदर्श उपस्थित करें। इस शीत प्रदेश का वह तप्त कुण्ड भुलाए नहीं भूलेगा। मेरे जैसे हजारों यात्री उसका गुणगान करते रहेंगे, क्योंकि उसमें त्याग भी तो असाधारण है। स्वयं ठंडा रहकर दूसरों के लिए गर्मी प्रदान करना, भूखे रहकर दूसरों को रोटी जुटाने के समान है, सोचता हूँ बुद्धिहीन जड़ पर्वत जब इतना कर सकता है, तो क्या बुद्धिमान बनने वाले मनुष्य को केवल स्वार्थी ही रहना चाहिए?

## आलू का भालू

आज गंगोत्री यात्रियों को एक दल का और भी साथ मिल गया। उस दल में सात आदमी थे। पाँच पुरुष दो स्त्रियाँ। हमारा बोझा तो हमारे कंधे पर था, पर उन सातों का बिस्तर एक पहाड़ी कुली लिए चल रहा था, कुली देहाती था, उसकी भाषा भी ठीक तरह समझ में नहीं

आती थी, स्वभाव का भी अक्खड़ और झगड़ालू जैसा था। झाला-चट्टी की ओर ऊपरी पठार पर जब हम लोग चल रहे थे, तो उँगली का इशारा करके उसने कुछ विचित्र डरावनी-सी मुद्रा के साथ कोई चीज दिखाई और अपनी भाषा में कुछ कहा। सब बात तो समझ में न आई, पर दल के एक आदमी ने इतना ही समझा- भालू-भालू। वह गौर से उस ओर देखने लगा। घना कुहरा उस समय पड़ रहा था, कोई चीज ठीक दिखाई नहीं पड़ती थी, पर जिधर कुली ने इशारा किया था, उधर काले-काले कोई जानवर उसे घूमते नजर आये।

जिस साथी ने कुली के मुँह से भालू-भालू सुना था और उसके इशारे की दिशा में काले-काले जानवर घूमते देखे थे, वह बहुत डर गया। उसने पूरे विश्वास के साथ यह समझ लिया कि नीचे भालू-रीछ घूम रहे हैं। वह पीछे था, पैर दाब कर जल्दी-जल्दी आगे लपका कि वह भी हम सबके साथ मिल जाए। कुछ ही देर में वह हमारे साथ आ गया। होंठ सूख रहे थे और भय से काँप रहा था। उसने हम सबको रोका और नीचे काले जानवर दिखाते हुए बताया कि भालू घूम रहे हैं। अब यहाँ जान का खतरा है।

डर तो हम सभी गये, पर यह न सूझ पड़ रहा था कि किया क्या जाए? जंगल काफी घना था, डरावना भी। उसमें रीछ के होने की बात असम्भव भी नहीं थी। फिर हमने पहाड़ी रीछों की भयंकरता के बारे में भी कुछ बढ़ी-चढ़ी बातें परसों ही साथी यात्रियों से सुनी थीं, जो दो वर्ष पूर्व मानसरोवर गये थे। डर बढ़ रहा था, काले जानवर हमारी ओर आ रहे थे। घने कुहरे के कारण शक्ल तो साफ नहीं दीख रही थी, पर रंग के काले और कद में बिलकुल रीछ जैसे थे, फिर कुली ने इशारे से भालू होने की बात बता ही दी है, अब सन्देह की कोई बात नहीं। सोचा, कुली से ही पूछें कि अब क्या करना चाहिए। पीछे मुड़कर देखा तो कुली ही गायब था। कल्पना की दौड़ ने एक ही अनुमान लगाया कि वह जान का खतरा देखकर कहीं छिप गया है या किसी पेड़ पर चढ़ गया है। हम लोगों ने अपने भाग्य के साथ अपने को बिलकुल अकेला असहाय पाया।

हम सब एक जगह बिलकुल नजदीक इकट्ठे हो गए। दो-दो ने चारों दिशाओं की ओर मुँह कर लिए। लोहे की कील गढ़ी हुई लाठियाँ जिन्हें लेकर चल रहे थे, बन्दूकों की भाँति सामने तान लीं और तय कर लिया कि जिस पर रीछ हमला करे वह उसके मुँह में कील गढ़ी लाठी ठूँस दे और साथ ही सब लोग उस पर हमला कर दें कोई भागे नहीं। अन्त तक सब साथ रहें चाहे जिए चाहे मरें। योजना के साथ सब लोग धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। रीछ जो पहले हमारी ओर आते दिखाई दे रहे थे, नीचे की ओर उतरने लगे। हम लोगों ने चलने की रफ्तार काफी तेज कर दी, दूनी से भी अधिक। जितनी जल्दी हो सके खतरे को पार कर लेने की सबकी इच्छा थी। ईश्वर का नाम सबकी जीभ पर था। मन में भय बुरी तरह समा रहा था। इस प्रकार एक-डेढ़ मील का रास्ता पार किया।

कुहरा कुछ कम हुआ, आठ बज रहे थे। सूर्य का प्रकाश भी दीखने लगा। घनी वृक्षावली भी पीछे रह गई, भेड़-बकरी चराने वाले भी सामने दिखाई दिए। हम लोगों ने सन्तोष की साँस ली, अपने को खतरे से बाहर अनुभव किया और सुस्ताने के लिए बैठ गए। इतने में कुली भी पीछे से आ पहुँचा। हम लोगों को वह घबराया हुआ देखकर कारण पूछने लगा। साथियों ने कहा- "तुम्हारे बताए हुए भालुओं से भगवान ने जान बचा दी, पर तुमने अच्छा धोखा दिया, बजाय उपाय बताने के तुम खुद छिप गए।"

कुली सकपकाया, उसने समझा उन्हें कुछ भ्रम हो गया। हम लोगों ने उसके इशारे से भालू बताने की बात दुहराई तो वह सब बात समझ गया कि हम लोगों को क्या गलतफहमी हुई है। उसने कहा-"झालागाँव का आलू मशहूर है। बहुत बड़ा-बड़ा पैदा होता है, ऐसी फसल इधर किसी गाँव में नहीं होती, वही बात मैंने उँगली के इशारे से बताई थी। झाला का आलू कहा था आपने उसे भालू समझा। वह काले जानवर तो यहाँ की काली गायें हैं, जो दिन भर इसी तरह चरती-फिरती हैं। कुहरे के कारण ही वे रीछ जैसी आपको दीखीं। यहाँ भालू कहाँ होते हैं, वे तो और ऊपर पाये जाते हैं, आप व्यर्थ ही डरे। मैं तो टट्टी करने के लिए छोटे झरने के पास बैठ गया था। साथ होता तो आपका भ्रम उसी समय दूर कर देता।"

हम लोग अपनी मूर्खता पर हँसे भी और शर्मिन्दा भी हुए। विशेषतया उस साथी को जिसने कुली की बात को गलत तरह समझा, खूब लताड़ा गया। भय मजाक में बदल गया। दिन भर उस बात की चर्चा रही, उस डर के समय में जिस-जिस ने जो-जो कहा था और किया था, उसे चर्चा का विषय बनाकर सारे दिन आपस की छींटाकशी, चुहलबाजी होती रही, सब एक-दूसरे को अधिक डरा हुआ परेशान सिद्ध करने में रस लेते रहे। मंजिल आसानी से कट गई, मनोरंजन का अच्छा विषय रहा।

भालू की बात जो घण्टे भर बिलकुल सत्य और जीवन-मरण की समस्या मालूम पड़ती रही, अन्त में एक भ्रान्ति मात्र सिद्ध हुई। सोचता हूँ कि हमारे जीवन में ऐसी अनेकों भ्रान्तियाँ भर किए हुए हैं और उनके कारण हम निरन्तर डरते रहते हैं, पर अन्ततः वे मानसिक दुर्बलता मात्र साबित होती हैं। हमारे ठाट-बाट और फैशन में कमी आ गई तो लोग हमें गरीब और मामूली समझेंगे, इस डर से अनेकों लोग अपने इतने खर्चे बढ़ाए रहते हैं, जिनको पूरा करने के लिए कठिन पड़ता है। 'लोग क्या कहेंगे' यह बात चरित्र-पतन के समय याद आए तो ठीक भी है, पर यदि वह दिखावे में कमी के समय मन में आए तो यही मानना पड़ेगा कि वह अपडर मात्र है। खर्चीला भी और व्यर्थ भी। सादगी से रहेंगे तो गरीब समझे

जाएँगे, कोई हमारी इज्जत न करेगा, यह भ्रम दुर्बल मस्तिष्कों में ही उत्पन्न होता है, जैसा कि हम लोगों की एक छोटी-सी ना-समझी के कारण भालू का हुआ था।

अनेक चिन्ताएँ, परेशानी, दुविधाएँ, उत्तेजनाएँ तथा दुर्भावनाएँ आए दिन सामने खड़ी रहती हैं, लगता है, यह संसार बड़ा दुष्ट और डरावना है, यहाँ की हर वस्तु भालू की तरह डरावनी है, पर जब आत्मज्ञान का प्रकाश होता है, अज्ञान का कुहरा फटता है, मानसिक दौर्बल्य घटता है, तो प्रतीत होता है कि जिसे हम भालू समझते थे, वह तो पहाड़ी गाय थी। जिन्हें हम शत्रु मानते हैं, वे तो हमारे ही स्वरूप हैं, ईश्वर के अंश मात्र हैं। ईश्वर हमारा प्रिय पात्र है, तो उसकी रचना भी मंगलमय ही होनी चाहिए। उसे जितने विकृत रूप में हम चित्रित करते उतना ही उससे डर लगता है। यह अशुद्ध चित्रण हमारी मानसिक भ्रान्ति है, वैसी ही जैसी कि कुली के शब्द आलू को भालू समझकर उत्पन्न कर ली गई थी।

## रोते पहाड़

आज रास्ते में 'रोते पहाड़' मिले। उनके पत्थर नरम थे। ऊपर किसी सोते का पानी रुका पड़ा था। पानी को निकलने के लिए जगह न मिली। नरम पत्थर उसे चूसने लगे। वह चूसा हुआ पानी जाता कहाँ? नीचे की ओर वह पहाड़ को गीला किए हुए था, जहाँ जगह थी वहाँ वह गीलापन धीरे-धीरे इकट्ठा होकर बूँदों के रूप में टपक रहा था। इस टपकती बूँदों को लोग अपनी भावना के अनुसार 'आँसू की बूँदें' कहते हैं। जहाँ-तहाँ से मिट्टी उड़कर इस गीलेपन से चिपक जाती है, उसमें हरियाली के जीवाणु भी आ जाते हैं। इस चिपकी हुई मिट्टी पर एक हरी मुलायम काई जैसी उग आती है। इस काई को पहाड़ में 'कीचड़' कहते हैं। जब वह रोता ही है, तो आँखें दुखती ही होंगी और कीचड़ निकलती होगी। यह कल्पना कर लेना कौन कठिन बात है। रोते हुए पहाड़ आज हम लोगों ने देखे। उनके आँसू भी कहीं से पोंछे। कीचड़ों को टटोल कर देखा। बस इतना ही कर सकते थे। पहाड़ तू क्यों रोता है? इसे कौन पूछता? और क्यों वह इसका उत्तर देता?

पर कल्पना तो अपनी जिद की पक्की है, मन ही मन पर्वत से बातें करने लगी। पर्वतराज! तुम इतनी वनश्री से लदे हो, भागदौड़ की कोई चिन्ता भी तुम्हें नहीं है, बैठे-बैठे आनन्द के दिन गुजारते हो, तुम्हें किस बात की चिन्ता? तुम्हें रुलाई क्यों आती है?

पत्थर का पहाड़ चुप खड़ा था, पर कल्पना पर्वत अपनी मनोव्यथा कहने ही लगा। बोला-मेरे दिल का दर्द तुम्हें क्या मालूम। मैं बड़ा हूँ, ऊँचा हूँ, वनश्री से लदा हूँ, निश्चिन्त बैठा रहता हूँ, देखने को मेरे पास सब कुछ है, पर निष्क्रिय, निश्चेष्ट जीवन में भी क्या कोई जीवन है। जिसमें गति नहीं, संघर्ष नहीं, आशा नहीं, स्फूर्ति नहीं, प्रयत्न नहीं, पुरुषार्थ नहीं, वह जीवित होते हुए भी मृतक समान है। सक्रियता में आनन्द है। मौज की छानने और आराम करने में तो केवल काहिली की, मुर्दनी की नीरवता मात्र है, इसे अनजान लोग ही आराम और आनन्द कह सकते हैं। इस सृष्टि के क्रीड़ांगन में जो जितना खेल लेता है, वह अपने को उतना ही तरोताजा और प्रफुल्लित अनुभव करता है। सृष्टि के सभी पुत्र प्रगति के पथ पर उल्लास भरे सैनिकों की तरह कदम-पर-कदम बढ़ाते, मोर्चे पर मोर्चा पार करते चले जाते हैं, दूसरी ओर मैं हूँ जो सम्पदाएँ अपने पेट में छिपाए मौज की छान रहा हूँ। कल्पना बेटी, तुम मुझे सेठ कह सकती हो, अमीर कह सकती हो, भाग्यवान कह सकती हो, पर हूँ तो मैं निष्क्रिय ही। संसार की सेवा में अपने पुरुषार्थ का परिचय देकर लोग अपना नाम इतिहास में अमर कर रहे हैं, कीर्तिवान बन रहे हैं, अपने प्रयत्न का फल दूसरों को उठाते देखकर गर्व अनुभव कर रहे हैं, पर एक मैं हूँ, जो अपना वैभव अपने तक ही समेटे बैठा हूँ। इस आत्मग्लानि से यदि मुझे रुलाई आती है, आँखों में आँसू बरसते हैं और कीचड़ निकलते हैं तो उसमें अनुचित ही क्या है?

मेरी नन्हीं-सी कल्पना ने पर्वतराज से बातें कर लीं, समाधान भी पा लिया, पर वह भी खिन्न ही थी। बहुत देर तक यही सोचती रही, कैसा अच्छा होता, यदि इतना बड़ा पर्वत अपने टुकड़े-टुकड़े करके अनेकों भवनों, सड़कों, पुलों के बनाने में खप सका होता। तब भले ही वह इतना बड़ा न रहता, सम्भव है, इस प्रयत्न से उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता, लेकिन तब वह वस्तुतः धन्य हुआ होता, उसका बड़प्पन सार्थक हुआ होता। इन परिस्थितियों से वंचित रहने पर यदि पर्वतराज अपने को अभागा मानता है और अपने दुर्भाग्य को धिक्कारता हुआ सिर धुनकर रोता है, तो उसका यह रोना सकारण ही है।

## लदी हुई बकरियाँ

छोटा-सा जानवर 'बकरी' इस पर्वतीय प्रदेश की तरणतारिणी कामधेनु कही जा सकती है। वह दूध देती है, ऊन देती है, बच्चे देती है, साथ ही वजन भी ढोती है। आज बड़े-बड़े बालों वाली बकरियों का एक झुण्ड रास्ते में मिला, लगभग सौ-सवा सौ होंगी। सभी लदी हुई थीं। गुड़, चावल, आटा लादकर वे गंगोत्री की ओर जा रही थीं। हर एक पर उसके कद और बल के अनुसार दस-पन्द्रह सेर वजन लदा हुआ था। माल-असवाब की ढुलाई के लिए खच्चरों के अतिरिक्त इधर बकरियाँ ही साधन हैं। पहाड़ों की छोटी-छोटी पगडण्डियों पर दूसरे जानवर या वाहन काम नहीं कर सकते।

सोचता हूँ कि जीवन की समस्याएँ हल करने के लिए बड़े-बड़े विशाल साधनों पर जोर देने की कोई इतनी बड़ी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि समझी जाती है, जबकि व्यक्ति साधारण उपकरणों से अपने निर्वाह के साधन जुटाकर शान्तिपूर्वक रह सकता है। सीमित उद्योगीकरण की बात दूसरी है, पर यदि वे बढ़ते ही रहे

तो इन बकरियों तथा उनके पालने वाले जैसे लाखों की रोजी-रोटी छीनकर चंद उद्योगपतियों की कोठियों में जमा हो सकती है। संसार में युद्ध की जो घटाएँ आज उमड़ रही हैं, उसके मूल में भी इस उद्योग व्यवस्था के लिए बाजार जुटाने, उपनिवेश बनाने की लालसा ही काम कर रही है।

बकरियों की पंक्ति देखकर मेरे मन में यह भाव उत्पन्न हो रहा है कि व्यक्ति यदि छोटी सीमा में रहकर जीवन-विकास की व्यवस्था जुटाए तो इसी प्रकार शान्तिपूर्वक रह सकता है, जिस प्रकार इन बकरियों वाले भोले-भाले पहाड़ी रहते हैं। प्राचीनकाल में धन और सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना ही भारतीय समाज का आदर्श था। ऋषि-मुनि एक बहुत छोटी इकाई के रूप में आश्रमों और कुटियों में जीवनयापन करते थे। ग्राम उससे कुछ बड़ी इकाई थी। सभी अपनी आवश्यकताएँ अपने क्षेत्र में अपने समाज से पूरी करते थे और हिल-मिलकर सुखी जीवन बिताते थे, न उसमें भ्रष्टाचार की गुंजाइश थी, न बदमाशी की। आज उद्योगीकरण की घुड़-दौड़ में छोटे गाँव उजड़ रहे हैं, बड़े शहर बस रहे हैं, गरीब पिस रहे हैं, अमीर पनप रहे हैं, विकराल राक्षस की तरह धड़धड़ाती हुई मशीनें मनुष्य के स्वास्थ्य को, स्नेह-सम्बन्धों को तथा सदाचार को भी पीसे डाल रही हैं। इस यंत्रवाद, उद्योगवाद, पूँजीवाद की नींव पर जो कुछ खड़ा किया जा रहा है, उसका नाम विकास रखा गया है, पर यह अन्ततः विनाश ही सिद्ध होगा।

विचार असम्बद्ध होते जा रहे हैं। छोटी बात मस्तिष्क में बड़ा रूप धारण कर रही है, इसलिए इन पंक्तियों को यहीं समाप्त करना उचित है। फिर भी बकरियाँ भुलाए नहीं भूलतीं। वे हमारे प्राचीन भारतीय समाज रचना की एक स्मृति को ताजा करती हैं, इस सभ्यतावाद के युग में उन बेचारियों की उपयोगिता कौन मानेगा, पिछड़े युग की निशानी कहकर उनका उपहास ही होगा, पर सत्य-सत्य ही रहेगा। मानव-जाति जब कभी शान्ति और सन्तोष के लक्ष्य पर पहुँचेगी, तब धन और सत्ता का विकेन्द्रीकरण अवश्य हो रहा होगा और लोग इसी तरह श्रम और सन्तोष से परिपूर्ण जीवन बिता रहे होंगे, जैसे बकरी वाले अपनी मैं-मैं करती हुई बकरियों के साथ बिताते हैं।

## प्रकृति का रुद्राभिषेक

आज भोजवासा चट्टी पर आ पहुँचे। कल प्रातः गोमुख के लिए रवाना होना है। यहाँ यातायात नहीं है, उत्तरकाशी और गंगोत्री के रास्ते में यात्री मिलते हैं, चट्टियों पर ठहरने वालों की भीड़ भी मिलती है, पर यहाँ वैसा कुछ नहीं। आज कुल मिलाकर हम छह यात्री हैं। भोजन अपना-अपना सभी साथ लाये हैं, यों कहने को तो भोजवासा की चट्टी है, यहाँ धर्मशाला भी हैं, पर नीचे की चट्टियों जैसी सुविधा यहाँ कहाँ है?

सामने वाले पर्वत पर दृष्टि डाली तो ऐसा लगा मानो हिमगिरि स्वयं अपने हाथों भगवान शंकर के ऊपर जल का अभिषेक करता हुआ पूजा कर रहा हो। दृश्य बड़ा ही अलौकिक था। बहुत ऊपर से एक पतली-सी जलधारा नीचे गिर रही थी। नीचे प्रकृति के निर्मित बड़े शिवलिंग थे, धारा उन्हीं पर गिर रही थी। गिरते समय यह धारा छींटे-छींटे हो जाती थी। सूर्य की किरणें उन छींटों पर पड़कर उन्हें सात रंगों के इन्द्रधनुष जैसा बना देती थीं। लगता था साक्षात शिव विराजमान हैं, उनके शीश पर आकाश से गंगा गिर रही है और देवता सतरंग के पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। दृश्य इतना मोहक था कि, देखते-देखते मन नहीं अघाता था। उस अलौकिक दृश्य को तब तक वैसे ही देखता रहा, जब तक अन्धेरे ने पटाक्षेप नहीं कर दिया।

सौंदर्य आत्मा की एक प्यास है, पर वह कृत्रिमता की कीचड़ में उपलब्ध होना कहाँ सम्भव है? इन वन-पर्वतों के चित्र बनाकर लोग अपने घरों में टाँगते हैं और उसी से सन्तोष कर लेते हैं, पर प्रकृति की गोदी में जो सौन्दर्य का निर्झर बह रहा है, उसकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। यों इस सारे ही रास्ते में सौंदर्य बिखरा पड़ा था, हिमालय को सौंदर्य का सागर कहते हैं, उसमें सौन्दर्य का पान करने से आत्मा के अन्तःप्रदेश में एक सिहरन-सी उठती है। जी करता है, इस अनन्त सौंदर्य राशि में अपने आप को खो क्यों न दिया जाए?

आज का दृश्य यों प्रकृति का एक चमत्कार ही था, पर अपनी भावना उसमें एक दिव्य झाँकी का आनन्द ही लेती रही, मानो साक्षात् शिव के ही दर्शन हुए हों। इस आनन्द की अनुभूति में आज अन्तःकरण गद्‌गद् हुआ जा रहा है। काश, इस रसास्वादन को एक अंश में लिख सकना मेरे लिए सम्भव हुआ होता, तो जो यहाँ नहीं हैं, वे भी कितना सुख पाते और अपने भाग्य को सराहते।

### मील के पत्थर

आज फिर वही कठिनाई सामने आ गई, जो उत्तरकाशी से चलते हुए आरम्भिक दो दिनों में आई थी। भटवाड़ी चट्टी तक रास्ते को चौड़ा करने और सुधारने का काम चल रहा था, इसलिए मील के पत्थर उन दो दिनों में नहीं मिले। रास्ते में कड़ी चढ़ाई-उतराई और कठिन मंजिल थोड़ी ही देर में थका देती थी। घने जंगलों का प्राकृतिक सौंदर्य, था तो बहुत भला, पर रोज-रोज चौबीसों घण्टे वही देखते रहने से आरम्भ में जो आकर्षण था वह घट ही रहा था। सुनसान में अकेली यात्रा भी अखरने ही वाली थी। जन कोलाहल में व्यस्त जीवन बिताने के बाद नीरव एकान्त भी कष्टदायक होता है। यह सूनापन और कठोर श्रम जब शरीर और मन को थकाने लगता, तो एक ही जिज्ञासा उठती, आज कितनी मंजिल पार कर ली? कितनी अभी और शेष है?

थोड़ी-थोड़ी दूर चलकर सामने से आने वालों से पूछते अब अगली चट्टी कितनी दूर है? उसी से अन्दाज लगाते कि आज अभी कितना और चलना है। कुछ रास्तागीर घमण्डी होते, जानकर भी उपेक्षा करते, न बताते, कुछ को मालूम ही न था, कुछ अन्दाज से बताते तो उसमें मीलों का अन्तर होता, इससे यह भी आशा कम ही रहती थी कि पूछने पर भी समाधानकारक उत्तर मिल ही जाएगा। यह एक बड़ी कमी थी, खासतौर से अकेले चलने वाले के लिए। सात-पाँच की भीड़ में हँसते-बोलते आसानी से मंजिल कट जाती है, पर अकेले के लिए तो उसे काटना काफी कठिन होता है। इस कठिनाई में मील के पत्थर कितना काम देते हैं, इसका अनुभव भटवाड़ी चट्टी से लेकर गंगोत्री तक की यात्रा में किया। इस बीच में मील तो नहीं गढ़े थे, पर पहाड़ों की दीवार पर सफेदी पोत कर लाल अक्षरों से २५/७ इस प्रकार के संकेत जहाँ-तहाँ लिख दिए थे। इसका अर्थ था धरासूँ से पच्चीस मील सात फर्लांग आ गए। पिछली चट्टी पर कौन-सा मील था, अगली चट्टी पर कौन-सा मील पड़ेगा, यह जानकारी नक्शे के आधार पर थी ही, मंजिल का पता चलता रहता। इस सुनसान में यह मील फर्लांग के अक्षर बड़े सहायक थे, इन्हीं के सहारे रास्ता कटता था। एक फर्लांग गुजरने पर दूसरे की आशा लगती और वह आ जाती तो सन्तोष होता कि इतनी सफलता मिली, अब इतना ही शेष रह गया?

यह गंगोत्री से गोमुख का १८ मील का रास्ता बड़ी मुश्किल से कटा, एक तो यह था भी बड़ा दुर्गम, फिर उस पर भी मील-फर्लांग जैसे साथी और मार्ग-दर्शकों का अभाव, आज ये पंक्तियाँ लिखते समय यह परेशानी कुछ ज्यादा अखर रही है।

सोचता हूँ मील का पत्थर अपने आप में कितना तुच्छ है। उसकी कीमत, योग्यता, सामर्थ्य, विद्या, बुद्धि सभी उपहासास्पद हैं, पर यह अपने एक निश्चित और नियत कर्त्तव्य को लेकर यथास्थान जम गया है। हटने की सोचता तक नहीं। उसे एक छोटी-सी बात मालूम है धरासूँ इतने फर्लांग है। बस, केवल इतने से ज्ञान को लेकर वह जनसेवा के पथ पर अड़ गया है। उस पत्थर के टुकड़े की, नगण्य और तुच्छ की, यह निष्ठा अन्ततः कितनी उपयोगी सिद्ध हो रही है। मुझ जैसे अगणित पथिक उससे मार्ग-दर्शन पाते हैं और अपनी परेशानी का समाधान करते हैं।

जब यह जरा-सा पत्थर का टुकड़ा मार्ग-दर्शन कर सकता है, जब मिट्टी का जरा-सा एक-दो पैसे मूल्य का दीपक प्रकाश देकर रात्रि के खतरों से दूसरों की जीवन-रक्षा कर सकता है, तो क्या सेवाभावी मनुष्य को इसलिए चुप ही बैठना चाहिए कि उसकी विद्या कम है? बुद्धि कम है, सामर्थ्य कम है? योग्यता कम है? कमी हर किसी में है, पर हममें से प्रत्येक अपने क्षेत्र में, अपने से कम जानकारी में, कम स्थिति के लोगों में बहुत कुछ कर सकता है। ''अमुक योग्यता मिलती तो अमुक कार्य करता'' ऐसी शेखचिल्ली कल्पनाएँ करते रहने की अपेक्षा क्या यह उचित नहीं कि अपनी जो योग्यता है, उसी को लेकर अपने से पिछड़े हुए लोगों को आगे बढ़ाने का, मार्गदर्शन का काम कर दें। मील का पत्थर सिर्फ धरासूँ और गंगोत्री का अन्तर मात्र जानता है, उतना ही बता सकता है, पर उसकी सेवा भी क्या कम महत्त्व की है। उसके अभाव में उत्तरकाशी से भटवाड़ी तक परेशानी रही और कल गोमुख दर्शन का जो सौभाग्य मिलने वाला है, उसकी सुखद कल्पना में उन पत्थरों का अभाव बुरी तरह खटक रहा है।

हममें से कितने ऐसे हैं, जो मील के पत्थरों से अधिक जनसेवा कर सकते हैं, पर आत्म-विश्वास, निष्ठा और जो कुछ है उसी को लेकर अपने उपयुक्त क्षेत्र में अड़ जाने की निष्ठा हो, तभी तो हमारी उपयोगिता को सार्थक होने का अवसर मिले।

## अपने और पराए

लगातार की यात्रा ने पैरों में छाले डाल दिए। आज ध्यानपूर्वक पैरों को देखा तो दोनों पैरों में कुल मिलाकर छोटे-बड़े दस छाले निकले। कपड़े का नया जूता इसलिए पहना था कि कठिन रास्ते में मदद देगा, पर भलेमानस ने भी दो जगह काट खाया। इन छाले और जख्मों में से जो कच्चे थे वे सफेद और जिनमें पानी पड़ गया यहाँ वे पीले हो गए हैं। चलने में दर्द करते हैं और दुखते हैं। लगता है पैर अपने सफेद-पीले दाँत निकाल कर चलने में लाचारी प्रकट कर रहे हैं।

मंजिल दूर है। गुरुपूर्णिमा तक हर हालत में नियत स्थान पर पहुँचना है। पैर अभी से दाँत दिखाएँगे तो कैसे बनेगी? लँगड़ा-लँगड़ा कर कल तो किसी प्रकार चल लिया, पर आज मुश्किल मालूम पड़ती है। दो-तीन छाले जो फूट गए, जख्म बनते जा रहे हैं। बढ़ गए तो चलना कठिन हो जाएगा और न चला जा सका तो नियत समय पर लक्ष्य तक पहुँचना कैसे सम्भव होगा? इस चिन्ता ने आज दिन भर परेशान रखा।

नंगे पैर चलना और भी कठिन है। रास्ते भर ऐसी पथरीली कंकड़ियाँ बिछी हुई हैं कि वे जहाँ पैर में गढ़ जाती हैं, काँटे की तरह दर्द करती हैं। एक उपाय करना पड़ा। आधी धोती फाड़कर दो टुकड़े किए गए और उन्हें पैरों से बाँध दिया गया। जूते उतार कर थैले में रख लिए। काम चल गया। धीरे-धीरे रास्ता कटने लगा।

एक ओर तो यह अपने पैर हैं जो आड़े वक्त में दाँत दिखाने लगे, दूसरी ओर यह बाँस की लाठी है, जो बेचारी न जाने कहाँ जन्मी, कहाँ बड़ी हुई और कहाँ से साथ हो ली। यह सगे भाई जैसा काम दे रही है। जहाँ चढ़ाई आती है, तीसरे पैर का काम करती है। जैसे बूढ़े बीमार को कोई सहृदय कुटुम्बी अपने कन्धे का सहारा देकर आगे ले चलता है, वैसे ही थकान से जब शरीर चूर-चूर होता है, तब यह लाठी सगे-सम्बन्धी जैसा ही सहारा देती है।

गंगनानी चट्टी से आगे जहाँ वर्षा के कारण बुरी तरह फिसलन हो रही थी। एक ओर पहाड़, दूसरी ओर गंगा का तंग रास्ता, उस कठिन समय में इस लाठी ने ही कदम-कदम पर जीवन-मृत्यु की पहेली को सुलझाया। उसने भी यदि जूतों की तरह साथ छोड़ दिया होता तो कौन जाने आज यह पंक्तियाँ लिखने वाली कलम और उंगलियों का कहीं पता भी न होता।

बड़ी आशा के साथ लिए हुए जूते ने काट खाया। जिन पैरों पर बहुत भरोसा था, उन्होंने भी दाँत दिखा दिए। पर बे पैसे की लाठी इतनी काम आई कि कृतज्ञता से इसका गुणानुवाद गाते रहने को जी चाहता है।

अपनों से आशा थी, पर उन्होंने साथ नहीं दिया। इस पर झुँझलाहट आ रही थी कि दूसरे ही क्षण पराई लगने वाली लाठी की वफादारी याद आ गई। चेहरा प्रसन्नता से खिल गया। जिन्होंने अड़चन पैदा की उनकी बजाय उन्हीं का स्मरण क्यों न करूँ, जिसकी उदारता और सहायता के बल पर यहाँ तक आ पहुँचा हूँ। अपने-पराए की क्या सोचूँ? उस ईश्वर की दृष्टि से सभी अपने, सभी पराए हैं।

## स्वल्प से सन्तोष

आज रास्ते भर पहाड़ी जनता के कष्टसाध्य जीवन को अधिक ध्यान से देखता आया और अधिक विचार करता रहा। जहाँ पहाड़ों में थोड़ी-थोड़ी चार-चार, छह-छह हाथ जमीन भी काम की मिली है, वहाँ उतने ही छोटे-छोटे खेत बना लिए हैं। बैलों की गुजर वहाँ कहाँ? कुदाली से ही मिट्टी को खोदकर जुताई की आवश्यकता पूरी कर लेते हैं। जब फसल पकती है, तो पीठ पर लाद कर इतनी ऊँचाई पर बसे हुए अपने घरों में पहुँचते हैं और वहीं उसे कूट-पीट कर अन्न निकालते हैं। जहाँ झरने का पानी नहीं, वहाँ बहुत नीचे गहराई तक का पानी सिर और पीठ पर लादकर ले जाते हैं। पुरुष तो जहाँ-तहाँ नहीं दिखाई देते, सारा कृषि कार्य स्त्रियाँ ही करती हैं। ऊँचे पहाड़ों पर से घास और लकड़ी काटकर लाने का काम भी वे ही करती हैं।

जितनी यात्रा करके हम थक जाते हैं, उससे कहीं अधिक चढ़ने-उतरने और चलने का काम इन्हें करना पड़ता है। कोई मनोरंजन के साधन भी नहीं। ये लोग कहीं हाथ से कती ऊन के बने, कहीं सूती फटे-टूटे कपड़ों में ढँके थे, फिर भी सब बहुत प्रसन्न दीखते थे। खेतों पर काम करती हुई स्त्रियाँ मिलकर गीत गाती थीं। उनकी भाषा न समझने के कारण उन गीतों का अर्थ तो समझ में न आता था, पर उल्लास और सन्तोष जो उनमें से टपका पड़ता है, उसे समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं हुई।

सोचता हूँ अपने नीचे के प्रान्तों के लोगों के पास यहाँ के निवासियों की तुलना में धन, सम्पत्ति, शिक्षा, साधन, सुविधा, भोजन, मकान सभी कुछ अनेक गुना अधिक हैं। उन्हें श्रम भी काफी कम करना पड़ता है, फिर भी लोग अपने को दुःखी और असन्तुष्ट ही अनुभव करते हैं, हर घड़ी रोना ही रोते रहते हैं। दूसरी ओर ये लोग हैं कि अत्यधिक कठिन जीवन बिताकर जो निर्वाह योग्य सामग्री प्राप्त हो जाती है, उसी से काम चला लेते हैं और सन्तुष्ट रहकर शान्ति का जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसा यह अन्तर क्यों है?

लगता है, असन्तोष एक प्रवृत्ति है, जो साधनों से नहीं तृष्णा से सम्बन्धित है। साधनों से तृष्णा तृप्त नहीं होती वरन् सुरसा के मुँह की तरह और अधिक बढ़ती है। यदि ऐसा न होता तो इस पहाड़ी जनता की अपेक्षा अनेक गुने सुख-साधन रखने वाले असंतुष्ट क्यों रहते और स्वल्प साधनों के होते हुए भी यह पहाड़ी लोग गाते-बजाते, हर्षोल्लास से जीवन क्यों बिताते?

अधिक साधन हों तो ठीक है। उनकी जरूरत भी है, पर वे जितने मिल सकें उतने से प्रसन्न रहने और परिस्थिति के अनुसार अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करने की नीति को क्यों त्यागा जाए? और क्यों अशान्त और असन्तुष्ट रहकर उपलब्ध ईश्वरीय उपहार का तिरस्कार किया जाए?

सभ्यता की अन्धी दौड़ में अधिक खर्च और अधिक असन्तुष्ट रहने का जो रास्ता हमने अपनाया है, वह सही नहीं है। इस तथ्य का प्रतिपादन यह पहाड़ी जनता करती है, भले वह इस विषय पर भाषण न दे सके, भले ही वह इस आदर्श पर निबन्ध न लिख सके।

## गर्जन-तर्जन करती भैरों घाटी

आज भैरों घाटी पार की। तिब्बत से व्यापार करने के लिए नैलंग घाटी का रास्ता यहीं से है। हर्षिल के व्यापारी इसी रास्ते तिब्बत के लिए माल बेचने ले जाते हैं और बदले में उधर से ऊन आदि लाते हैं। चढ़ाई बहुत कड़ी होने के कारण थोड़ी-थोड़ी दूर चलने पर ही साँस फूलने लगती थी और बार-बार बैठने एवं सुस्ताने की आवश्यकता अनुभव होती थी।

पहाड़ की चट्टान के नीचे बैठा सुस्ता रहा था। नीचे गंगा इतने जोर से गर्जन कर रही थी, जितनी रास्ते भर में अन्यत्र नहीं सुना। पानी के छींटे उछलकर तीस-चालीस फुट तक ऊँचे आ रहे थे। इतना गर्जन-तर्जन, इतना जोश, इतना तीव्र प्रवाह यहाँ क्यों है, यह जानने की उत्सुकता बढ़ी और ध्यानपूर्वक नीचे झाँककर देखा तथा दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाई।

दिखाई दिया कि यहाँ गंगा दोनों ओर सटे पहाड़ों के बीच बहुत छोटी-सी चौड़ाई में होकर गुजरती है। यह चौड़ाई मुश्किल से पन्द्रह-बीस फुट होगी। इतनी बड़ी जलराशि इतनी तंग जगह में होकर गुजरे तो वहाँ प्रवाह की तीव्रता होनी ही चाहिए। फिर उसी मार्ग में कई चट्टानें पड़ती थीं, जिनसे जलधारा तेजी से टकराती थी उस टकराहट से ही घोर शब्द हो रहा था और इतनी ऊँची उछालें छींटों के रूप में मार रहा था। गंगा के प्रचण्ड प्रवाह का दृश्य यहाँ देखते ही बनता था।

सोचता हूँ कि सोरों आदि स्थानों में जहाँ मीलों की चौड़ाई गंगा की है, वहाँ जलधारा धीमे-धीमे बहती रहती है, वहाँ प्रवाह में न प्रचण्डता होती है और न तीव्रता, पर इस छोटी घाटी के तंग दायरे में होकर गुजरने के कारण जलधारा इतनी तीव्र गति से बही। मनुष्य का जीवन विभिन्न क्षेत्रों में बँटा रहता है, बहुमुखी रहता है, उसमें कुछ विशेषता पैदा नहीं हो पाती, पर जब एक विशिष्ट लक्ष्य को लेकर कोई व्यक्ति उस सीमित क्षेत्र में ही अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रित कर देता है, तो उसके द्वारा आश्चर्यजनक उत्साहवर्द्धक परिणाम उत्पन्न होते देखे जाते हैं। मनुष्य यदि अपने कार्यक्षेत्र को बहुत फैलाने, अनेक और अधूरे काम करने की अपेक्षा अपने लिए एक विशेष कार्यक्षेत्र चुन ले तो क्या वह भी इस तंग घाटी में गुजरते समय उछलती गंगा की तरह आगे नहीं बढ़ सकता है? उन्नति नहीं कर सकता?

जलधारा के बीच पड़े हुए शिला-खण्ड पानी से टकराने के लिए विवश थे। इसी संघर्ष में गर्जन-तर्जन हो रहा था और छोटे रूई के गुब्बारों के बने पहाड़ की तरह ऊपर उठ रहे थे। सोचता हूँ, यदि कठिनाइयाँ जीवन में न हों तो व्यक्ति की विशेषताएँ बिना प्रकट हुए ही रह जाएँ। टकराने से शक्ति उत्पन्न होने का सिद्धान्त एक सुनिश्चित तथ्य है। आराम का, शौक-मौज का जीवन, विलासी जीवन निर्जीवों से कुछ ही ऊँचा माना जा सकता है। कष्ट-सहिष्णुता, तितिक्षा, तपश्चर्या एवं प्रतिरोधों से बिना खिन्नता मन में लाए, वीरोचित भाव से लिपटने का साहस यदि मनुष्य अपने भीतर एकत्रित कर ले, तो उसकी कीर्ति भी उस आज के स्थान की भाँति गर्जन-तर्जन करती हुई दिग्दिगन्त में व्याप्त हो सकती है, उसका विशेषतायुक्त व्यक्तित्व छींटों के उड़ते हुए फुब्बारे की तरह से ही दिखाई दे सकता है। गंगा डरती नहीं, न शिकायत करती है, वह तंगी में होकर गुजरती है, मार्ग रोकने वाले रोड़ों से घबराती नहीं, वरन् उनसे टकराती हुई अपना रास्ता बनाती है। काश, हमारी अंत:चेतना भी ऐसे ही प्रबल वेग से परिपूर्ण हुई होती तो व्यक्तित्व के निखरने का कितना अमूल्य अवसर हाथ लगता।

## सीधे और टेढ़े पेड़

रास्ते भर चीड़ और देवदारु के पेड़ों का सघन वन पार किया। यह पेड़ कितने सीधे और ऊँचाई तक बढ़ते चले गए हैं, उन्हें देखकर प्रसन्नता होती है। कोई-कोई पेड़ पचास फुट तक ऊँचे होंगे। सीधे ऐसे चले गए हैं, मानो ढाल कर लट्ठे गाढ़ दिए हैं। मोटाई और मजबूती भी काफी है।

इनके अतिरिक्त तेवार, दादरा, पिनखू आदि के टेढ़े-मेढ़े पेड़ भी बहुत हैं, जो चारों ओर छितराए हुए हैं, इनकी बहुत डालियाँ फूटती हैं और सभी पतली रहती हैं। इनमें से कुछ को छोड़कर शेष ईंधन के काम आते हैं। ठेकेदार लोग इन्हें जलाकर कोयला भी बना ले जाते हैं। यह पेड़ जगह तो बहुत घेरते हैं, पर उपयोग इनके साधारण हैं। चीड़ और देवदारु से जिस प्रकार इमारती और फर्नीचर का काम होता है, वैसा इन टेढ़े, तिरछे पेड़ों से बिलकुल भी नहीं होता। इसलिए इनकी कोई पूछ भी नहीं करता, मूल्य भी इनका बहुत सस्ता होता है।

देखता हूँ जो पेड़ लम्बे गए हैं, उन्होंने इधर-उधर शाखाएँ नहीं फोड़ी हैं, ऊपर को एक ही दिशा में सीधे बढ़ते गए हैं। इधर-उधर मुड़ना इन्होंने नहीं सीखा। शक्ति को एक ही दिशा में लगाए रहने से ऊँचे उठते रहना स्वाभाविक भी है। चीड़ और देवदारु के पेड़ों ने यही नीति अपनाई है, वे अपनी इस नीति की सफलता का गर्वोन्नत मस्तक से घोषणा कर रहे हैं। दूसरी ओर वे टेढ़े-तिरछे पेड़ हैं जिनका मन अस्थिर, चित्त चंचल रहा। एक ओर टिका ही नहीं, विभिन्न दिशाओं का स्वाद चखना चाहा और यह देखना चाहा कि देखें किस दिशा में ज्यादा मजा है, किधर जल्दी सफलता मिलती है। इस चंचलता में उन्होंने अनेक दिशाओं में अपने को बाँटा, अनेक-अनेक शाखाएँ फोड़ीं। छोटी-छोटी टहनियों से उनका कलेवर फूल गया, वे प्रसन्न भी हुए कि हमारी इतनी शाखाएँ हैं, इतना फैलाव-फुलाव है।

दिन बीत गए। बेचारी जड़ें सब शाखाओं को खूब विकसित होने के लायक रस कहाँ से जुटा पातीं। प्रगति रुक गई, टहनियाँ छोटी और दुबली रह गईं। पेड़ का तना भी कमजोर रहा और ऊँचाई भी न बढ़ सकी। अनेक भागों में विभक्त होने पर मजबूती तो रहती ही कहाँ से? बेचारे यह दादरा और पिनखू के पेड़ अपनी डालियाँ छितराए तो रहे, लेकिन समझदार व्यक्तियों में उनका मूल्य कुछ ऊँचा नहीं। उन्हें कमजोर और बेकार माना गया। अनेक दिशाओं में फैलकर जल्दी से किसी न किसी दिशा में सफलता प्राप्त करने की उतावली में अन्ततः कुछ बुद्धिमत्ता साबित न हुई।

देवदारु का एकनिष्ठ पेड़ मन ही मन इन टेढ़े-तिरछे पेड़ों की चाल-चपलता पर मुसकराता हो तो आश्चर्य ही क्या है? हमारी यह चंचलता, जिसके कारण एक लक्ष्य पर चीड़ की तरह सीधा बढ़ सकना सम्भव न हो सका, यदि विज्ञ व्यक्तियों की दृष्टि में हमारे ओछे रह जाने का कारण जँचती हो तो इसमें अनुचित ही क्या है?

## पत्तीदार साग

साग-भाजी का इधर शौक ही नहीं है। आलू छोड़कर और कोई सब्जी यहाँ नहीं मिलती। नीचे के दूर प्रदेशों से आने के और परिवहन के साधन न होने से आलू भी महँगा पड़ता है। चट्टी के दुकानदार एक रुपया सेर देते हैं। यों इधर छोटे-छोटे झरने हैं, उनसे जहाँ-तहाँ थोड़ी-थोड़ी सिंचाई भी होती है, किन्तु यहाँ भी शाक-भाजी पैदा करने का रिवाज नहीं है। रोज आलू खाते-खाते ऊब गया। सब्जी के बारे में वहाँ निवासियों तथा दुकानदारों से चर्चा

की तो उन्होंने बताया कि जंगल में खड़ी हुई तरह-तरह की वनस्पतियों में से तीन पौधे ऐसे होते हैं, जिनके पत्तों का साग बनाया जाता है- (१) मारचा, (२) लिंगड़ा, (३) कोला।

एक पहाड़ी को पारिश्रमिक के पैसे दिए और इनमें से कोई एक प्रकार की पत्तियाँ लाने को भेजा। पौधे चट्टी के पीछे ही खड़े थे, वह बात की बात में मारचा की पत्तियाँ दो-चार सेर तोड़ लाया। बनाने की तरकीब भी उसी से पूछी और उसी प्रकार उसे तैयार किया। बहुत स्वादिष्ट लगा। दूसरे दिन लिंगड़ा की और तीसरे दिन कोला की पत्तियाँ वहाँ के निवासियों से मँगवाईं और बनाईं खाईं। तीनों प्रकार की पत्तियाँ एक-दूसरे से अधिक स्वादिष्ट लगीं। चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। एक महीने से हरी सब्जी नहीं मिली थी, इसे खाकर तृप्ति अनुभव की।

उधर के पहाड़ी निवासी रास्ते में तथा चट्टियों पर मिलते ही थे। उनसे जगह-जगह मैंने चर्चा की कि इतने स्वादिष्ट पत्तीदार साग जब आपके यहाँ पैदा होते हैं, उन्हें काम में नहीं लेते? पत्तीदार साग तो स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत लाभदायक होते हैं। उनमें से किसी ने न तो मेरी सलाह को स्वीकार किया और न उन सागों को स्वादिष्ट तथा लाभप्रद ही माना। उपेक्षा दिखाकर बात समाप्त कर दी।

सोचता हूँ, इस संसार में किसी वस्तु का महत्त्व तभी समझ में आएगा जब उसकी उपयोगिता का पता हो। यह तीनों पत्तीदार साग मेरी दृष्टि में उपयोगी थे, इसलिए वे महत्त्वपूर्ण जड़ें और स्वादिष्ट थीं। इन पहाड़ियों ने इस उपयोगिता को न तो जाना था और न माना ही था, इसलिए उनके समीप यह मुफ्त का साग मनों खड़ा था, पर उससे वे लाभ नहीं उठा पा रहे थे। किसी वस्तु या बात की उपयोगिता जाने और अनुभव किए बिना मनुष्य न तो उसकी ओर आकर्षित होता है और न उसका उपयोग करता है, इसलिए किसी वस्तु का महत्त्वपूर्ण होने से भी बढ़कर है, उसकी उपयोगिता को जानना और उनसे प्रभावित होना।

हमारे समीप भी कितने ही ऐसे तथ्य हैं जिनकी उपयोगिता समझ ली जाए तो उनसे आशाजनक लाभ हो सकता है। ब्रह्मचर्य, व्यायाम, ब्रह्ममुहूर्त में उठना, सन्ध्यावन्दन, समय का सदुपयोग, सात्विक आहार, नियमित दिनचर्या, व्यसनों से बचना, मधुर भाषण, शिष्टाचार आदि अनेक तथ्य ऐसे हैं, जिनका उपयोग हमारे लिए अतीव लाभदायक है और इनको व्यवहार में लाना कठिन भी नहीं है, फिर भी हममें से कितने ही इनकी उपेक्षा करते हैं, व्यर्थ समझते हैं और हृदयंगम करने पर होने वाले लाभों से वंचित रह जाते हैं।

पहाड़ी लोग उपयोगिता न समझने के कारण ही अपने बिलकुल समीप प्रचुर मात्रा में खड़े पत्तीदार शाकों का लाभ नहीं उठा पा रहे थे। इसके लिए उनकी निन्दा करना व्यर्थ है। हमारे समीप भी तो आत्म-कल्याण के लिए अगणित उपयोगी तथ्य बिखरे पड़े हैं, पर हम इन्हें कब उनको व्यवहार में लाते और लाभ उठाते हैं? मूर्खता में कोई किसी से पीछे कहाँ है?

## बादलों तक जा पहुँचे

आज प्रातःकाल से ही वर्षा होती रही। यों तो पहाड़ों की चोटी पर उड़ते हुए बादल रोज ही दीखते, पर आज तो वे बहुत ही नीचे उतर आए थे। जिस घाटी को पार किया गया वह भी समुद्र तल से १० हजार फुट की ऊँचाई पर थी। बादलों को अपने ऊपर आक्रमण करते, अपने को बादल चीर कर पार होते देखने का दृश्य मनोरंजक भी था और कौतूहलवर्द्धक भी। धुनी हुई रूई के बड़े पर्वत की तरह भाप से बने ये उड़ते हुए बादल निर्भय होकर अपने पास चले आते। घने कुहरे की तरह चारों ओर एक सफेद अँधेरा अपने चारों ओर फिर जाता। कपड़ों में नमी आ जाती और शरीर भी गीला हो जाता। जब वर्षा होती तो पास में ही दीखता कि किस प्रकार रूई का बादल गल कर पानी की बूँदों में परिणत होता जा रहा है।

अपने घर-गाँव में जब हम बादलों को देखा करते थे, तब वे बहुत ऊँचे लगते थे, नानी कहा करती थीं कि जहाँ बादल हैं, वहीं देवताओं का लोक है। यह बादल देवताओं की सवारी हैं, इन्हीं पर चढ़कर वे इधर-उधर घूमा करते हैं और जहाँ चाहते हैं पानी बरसाते हैं। बचपन में कल्पना किया करता था कि काश, मुझे भी एक बादल चढ़ने को मिल जाता, उस पर चढ़कर चाहे जहाँ घूमने निकल जाता। उन दिनों मेरी दृष्टि में बादल की कीमत बहुत थी। हवाईजहाज से भी अनेक गुनी अधिक। जहाज चलाने को तो उसे खरीदना, चलाना, तेल जुटाना सभी कार्य बहुत ही कठिन थे, पर बादल के बारे में तो कुछ करना ही न था, बैठे कि चाहे जहाँ चल दिए।

आज बचपन की कल्पनाओं के समान बादलों पर बैठकर उड़े तो नहीं, पर उन्हें अपने साथ उड़ते तथा चलते देखा तो प्रसन्नता बहुत हुई। हम इतने ऊँचे चढ़े कि बादल हमारे पाँवों को छूने लगे। सोचता हूँ, बड़े कठिन लक्ष्य जो बहुत ऊँचे और दूर मालूम पड़ते हैं, मनुष्य इसी तरह प्राप्त कर लेता होगा, पर्वत चढ़ने की कोशिश की, तो बादल की बराबर पहुँच गया। कर्त्तव्य कर्म का हिमालय भी इतना ही ऊँचा है। यदि हम उस पर चढ़ते ही चलें तो साधारण भूमिका में विचरण करने वाले शिश्नोदर परायण लोगों की अपेक्षा वैसे ही अधिक ऊँचे उठ सकते हैं, जैसे कि निरन्तर चढ़ते-चढ़ते दस हजार फुट की ऊँचाई पर आ गए।

बादलों को छूना कठिन है, पर पर्वत के उच्च-शिखर के तो वह समीप ही होता है। कर्त्तव्यपरायणता की ऊँची मात्रा हमें बादलों जितना ऊँचा उठा सकती है और जिन बादलों तक पहुँचना कठिन लगता है वे स्वयं ही खिंचते

हुए हमारे पास चले आते हैं। ऊँचा उठने की प्रवृत्ति हमें बादलों तक पहुँचा देती है, उन्हें हमारे समीप तक स्वयं उड़कर आने के लिए विवश कर देती है। बादलों को छूते समय ऐसी-ऐसी भावनाएँ उनसे उठती रहीं, पर बेचारी भावनाएँ अकेली क्या करें। सक्रियता का बाना उन्हें पहनने को न मिले तो वे एक मानस तरंग मात्र ही रह जाती हैं।

## जंगली सेब

आज रास्ते में और भी कितने ही यात्रियों का साथ था। उनमें कुछ स्त्रियाँ भी थीं। रास्ते में बिन्नी के पेड़ों पर लगे हुए सुन्दर फल दीखे। स्त्रियाँ आपस में पूछने लगीं यह किस-किस के फल हैं। उन्हीं में से एक ने कहा यह जंगली सेब हैं। न मालूम उसने जंगली सेब की बात कहाँ से सुन रखी थी। निदान यही तय हुआ कि यह जंगली सेब के फल हैं। फल खूब लदे हुए थे। देखने में पीले और लाल रंग मिले हुए बहुत सुन्दर लगते थे और प्रतीत होता था यह खूब पके हैं।

वह झुण्ड रुक गया। सयानी-सी लड़की पेड़ पर चढ़ गई, लगता था उसे अपने ग्रामीण जीवन में पेड़ों पर चढ़ने का अभ्यास रहा है। उसने ४०-५० फल नीचे गिराए। नीचे खड़ी स्त्रियों ने उन्हें आपा-धापी के साथ बीना। किसी के हाथ ज्यादा लगे, किसी के कम। जिसके हाथ कम लगे थे, वह उससे लड़ रही थी, जिसने ज्यादा बीने थे। लड़ती जाती थी और कहती जाती थी तूने रास्ता रोककर, झपटकर अधिक बीन लिए, मुझे नहीं बीनने दिए। जिसके पास अधिक थे, वह कह रही थी मैंने भाग-दौड़ कर अपने पुरुषार्थ पर बीने हैं, जिसके हाथ-पैर चलेंगे वही तो नफे में रहेगा। तुम्हारे हाथ पैर चलते तो तुम भी अधिक बीनतीं।

इन फलों को अगली चट्टी पर भोजन के साथ खायेंगे, बड़े मीठे और सुन्दर हैं। रोटी के साथ खाने में अच्छे लगेंगे। धोती के पल्लों में बाँधकर वे प्रसन्न होती हुई चल रही थीं कि कीमती फल, इतनी तादाद में उन्होंने अनायास ही पा लिए। लड़ाई-झगड़ा तो शान्त हो गया था, पर ज्यादा-कम बीनने की बात पर मनोमालिन्य जो उत्पन्न हुआ था, वह बना हुआ था। एक-दूसरे को नाराजगी के साथ घूर-घूर कर देखती चलती थीं।

चट्टी आई। सब लोग ठहरे। भोजन बना। फल निकाले गए। जिसने चखे उसी ने थू-थू किया। वे कड़वे थे। इतनी मेहनत से लड़-झगड़ कर लाए हुए सुन्दर दीखने वाले जंगली सेब कड़वे और बेस्वाद थे, इनको चखकर उन्हें बड़ी निराशा हुई। सामने खड़ा हुआ पहाड़ी कुली हँस रहा था। उसने कहा- "यह तो बिन्नी का फल है। उसे कोई नहीं खाता। इसकी गुठली का तेल भर निकालते हैं।" बिना समझे-बूझे उन्हें बीनने, लाने और खाने की मूर्खता पर वे सभी स्त्रियाँ सकुचा रही थीं।

मैं भी साथ था। इन सब माजरे के आदि से अन्त तक साथ था। दूसरे और यात्री, उन यात्रियों को भूल पर मुसकरा रहे थे, कनखियाँ ले रहे थे, आपस में उन फलों का नाम ले-लेकर हँसी कर रहे थे। उन्हें हँसने का एक प्रसंग मिल गया था, दूसरों की भूल और असफलता पर आमतौर से लोगों को हँसी आती ही है। केवल पीला रंग और बढ़िया रूप देखकर उनके पका, मीठा और स्वादिष्ट फल होने की कल्पना कर ली, यह उनकी भूल थी। रूप से सुन्दर दीखने वाली सभी चीजें मधुर कहाँ होती हैं, यह उन्हें जानना चाहिए था। न जानने पर शर्मिंदगी उठानी पड़ी और परेशानी भी हुई। आपस में लड़ाई-झगड़ा होता रहा, सो व्यर्थ ही।

सोचता हूँ बेचारी इन स्त्रियों की ही हँसी हो रही है और सारा समाज रंग-रूप पर मुग्ध होकर पतंगे की तरह जल रहा है, उस पर कोई नहीं हँसता। रूप की दुनिया में सौंदर्य का देवता पुजता है। तड़क-भड़क, चमक-दमक सबको अपनी ओर आकर्षित करती है और उस प्रलोभन से लोग बेकार चीजों पर लट्टू हो जाते हैं। अपनी राह खोटी करते हैं और अन्त में उनकी व्यर्थता पर इसी तरह पछताते हैं, जैसे यह स्त्रियाँ बिन्नी के कड़वे फलों को समेटकर पछता रही हैं। रूप पर मरने वाले यदि अपनी भूल समझें तो उन्हें गुणों का पारखी बनना चाहिए, पर यह तो तभी सम्भव है, जब रूप के आकर्षण से अपनी विवेक-बुद्धि को नष्ट होने से बचा सकें।

बिन्नी के फल किसी ने नहीं खाए। वे फेंकने पड़े। खाने योग्य वे थे भी नहीं। धन, दौलत, रूप, यौवन, राग-रंग, विषय-वासना, मौज-मजा जैसी अगणित चीजें ऐसी हैं, जिन्हें देखते ही मन मचलता है, किन्तु दुनिया में चमकीली दीखने वाली चीजों में से अधिकांश ऐसी ही होती हैं, जिन्हें पाकर पछताना और अन्त में उन्हें आज के जंगली सेबों की तरह फेंकना ही पड़ता है।

## सँभलकर चलने वाले खच्चर

पहाड़ों पर बकरी के अतिरिक्त खच्चर ही भारवाहन का काम करते हैं। सवारी के लिए भी उधर वे ही उपलब्ध हैं। जिस प्रकार अपने नगरों की सड़कों पर गाड़ी, ठेले, ताँगे, रिक्शे चलते हैं, उसी तरह चढ़ाव-उतार की विषम और खतरनाक पगडंडियों पर यह खच्चर ही निरापद रूप से चलते-फिरते नजर आते हैं।

देखा कि जिस सावधानी से ठोकर और खतरा बचाते हुए इन पगडंडियों पर हम लोग चलते हैं, उसी सावधानी से यह खच्चर भी चल रहे हैं। हमारे सिर की बनावट ऐसी है कि पैरों के नीचे की जमीन को देखते हुए, खतरों को बचाते हुए आसानी से चल सकते हैं, पर खच्चरों के बारे में ऐसी बात नहीं है, उनकी आँखें ऐसी जगह लगी हैं और गर्दन का मुड़ाव ऐसा है, जिससे सामने देखा जा सकता है पर पैरों के नीचे देख सकना कठिन है। इतने पर भी खच्चर का हर कदम बड़ी

सावधानी से और सहज-सही रखा जा रहा था, जरा-सी चूक होने पर वह भी उसी तरह लुढ़क कर मर सकता है, जैसे कल एक बछड़ा गंगोत्री की सड़क पर चूर-चूर हुआ मरा पड़ा देखा था। बेचारे का पैर जरा-सी असावधानी से गलत जगह पड़ा कि अस्सी फुट की ऊँचाई से आ गिरा और उसकी हड्डियाँ चकनाचूर हो गई। ऐसा कभी-कभी ही होता है, खच्चरों के बारे में तो ऐसी घटना कभी नहीं सुनी गई।

लादने वालों से पूछा तो उन्होंने बताया कि खच्चर रास्ता चलने के बारे में बहुत ही सावधानी और बुद्धिमत्ता से काम लेता है। तेज चलता है, पर हर कदम को थाह-थाह कर चलता है। ठोकर या खतरा हो तो तुरन्त सँभल जाता है, बढ़े हुए कदम को पीछे हटा लेता है और दूसरी ठीक जगह, पैर के सहारे तलाश कर वहीं कदम रखता है। चलने में उसका ध्यान, अपने पैरों और जमीन की स्थिति के संतुलन में ही लगा रहता है। यदि वह ऐसा न कर सका होता तो इस विषम भूमि में उसकी कुछ उपयोगिता ही न होती।

खच्चर की बुद्धिमत्ता प्रशंसनीय है। मनुष्य जबकि बिना आगा-पीछा सोचे गलत दिशा में कदम उठाता रहता है और एक के बाद एक ठोकर खाते हुए भी सँभलता नहीं, पर इन खच्चरों को तो देखें कि हर कदम का संतुलन बनाए रखने से जरा भी नहीं चूकते। यदि इस ऊबड़-खाबड़ दुरंगी दुनिया के जीवन-मार्ग पर चलते हुए इन पहाड़ी खच्चरों की भाँति अपना हर कदम सावधानी के साथ उठा सकने में समर्थ हो सके होते, तो हमारी स्थिति भी वैसी ही प्रशंसनीय होती जैसी इस पहाड़ी प्रदेश में खच्चरों की है।

## गोमुख के दर्शन

आज गंगामाता के मूल उद्गम को देखने की चिर-अभिलाषा पूरी हुई। गंगोत्री तक पहुँचने में जितना कठिन मार्ग मिला था, उससे कहीं अधिक दुर्गम यह गंगोत्री से गोमुख तक का अठारह मील का टुकड़ा है। गंगोत्री तक के रास्ते में जो जब टूट-फूट होती है, उसे सड़क विभाग के सरकारी कर्मचारी ठीक करते रहते हैं, पर इस उपेक्षित मार्ग को जिसमें बहुत कम लोग ही कभी-कभी जाते हैं, कौन सुधारे? पर्वतीय मार्गों को हर साल बिगड़ना ही ठहरा, यदि एक दो वर्ष उनकी उपेक्षा रहे तो वे काफी जटिल हो जाते हैं। कई जगह तो रास्ते ऐसे टूट गए थे कि वहाँ से गुजरना जीवन के साथ जुआ खेलने के समान था। एक पैर फिसलने की देर थी कि जीवन का अन्त ही समझना चाहिए।

जिस हिमस्तूप (ग्लेशियर) से गंगा की छोटी-सी धारा निकली है, वह नीले रंग की है। गंगामाता का यह उद्गम हिमाच्छादित गिरि शृंगों से बहुत ही शोभनीय प्रतीत होता है। धारा का दर्शन एक साधारण से झरने के रूप में होता है। वह है तो पतली-सी ही, पर वेग बहुत है। कहते हैं कि यह धारा कैलाश से, शिवजी की जटाओं से आती है। कैलाश से गंगोत्री तक का सैकड़ों मील का रास्ता गंगा भीतर ही भीतर पार करती है और उसे करोड़ों टन ग्लेशियर का दबाव सहन करना पड़ता है, इसी से धारा इतनी तीव्र निकली है। जो हो, भावुक हृदय के लिए यह धारा ऐसी ही लगती है, मानो माता की छाती से दूध की धारा निकली है, उसे पान करके, इसी में निमग्न हो जाने की ऐसी ही हूक उठती है जैसी गंगालहरी के रचयिता जगन्नाथ मिश्र के मन में उठी थी और स्वरचित गंगालहरी के एक एक श्लोक का गान करते हुए एक एक कदम उठाते और अन्तिम श्लोक गाते हुए भावावेश में माता की गोद में ही विलीन हो गए। कहते हैं कि स्वामी रामतीर्थ भी ऐसे ही भावावेश में गंगामाता की गोद में कूद पड़े थे और जलसमाधि ले गए थे।

अपनी हूक मैंने पान और स्नान से ही शान्त की। रास्ते भर उमंगें और भावनाएँ भी गंगाजल की भाँति हिलोरें लेती रहीं। अनेक विचार आते और जाते रहे। इस समय एक महत्त्वपूर्ण विचार मन में आया, उसे लिपिबद्ध करने का लोभ संवरण न कर सका। इसलिए उसे लिख ही रहा हूँ।

सोचता हूँ कि यहाँ गोमुख में गंगा एक नन्हीं-सी पतली धारा मात्र है। रास्ते में हजारों झरने, नाले और नदी उससे मिलते गए हैं। उनमें से कई तो इस गंगा की मूल धारा से कइयों गुने अधिक बड़े हैं। उन सबके संयोग से ही गंगा इतनी बड़ी और चौड़ी हुई है, जितनी हरिद्वार, कानपुर, प्रयाग आदि में दिखाई पड़ती है। उसमें से बड़ी-बड़ी नहरें निकाली गई हैं। गोमुख के उद्गम का पानी तो उनमें से एक नहर के लिए भी पर्याप्त नहीं हो सकता। यदि कोई नदी-नाले रास्ते में उसे न मिलें तो सम्भवत: सौ पचास मील की मिट्टी ही उसे सोख ले और आगे बढ़ने का अवसर ही न रहे। गंगा महान है, अवश्य ही महान है क्योंकि वह नदी-नाले को अपने स्नेह बन्धन से बाँध सकने में समर्थ हुई। उसने अपनी उदारता का अंचल फैलाया और छोटे-छोटे झरनों-नालों को भी अपने बाहुपाश से आबद्ध करके छाती से चिपटाती चली गई। उसने गुण-दोषों की परवाह किए बिना सभी को अपने उदर-अंचल में स्थान दिया। जिसके अन्तर में आत्मीयता की, स्नेह-सौजन्य की अगाध मात्रा भरी पड़ी है, उसे जलराशि की कमी कैसे पड़ सकती है, दीपक जब स्वयं जलता है तो पतंगे भी उस पर जलने को तैयार हो जाते हैं। गंगा जब परमार्थ के उद्देश्य से संसार में शीतलता फैलाने निकली है तो क्यों न नदी-नाले भी उसकी आत्मा में अपनी आत्मा को आहुति देंगे? गाँधी, बुद्ध, ईसा की गंगाओं में कितनी आत्माएँ आज अपने को आत्मसात करा चुकी हैं, यह सभी को स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है।

गंगा की सतह सबसे नीची है, इसीलिए नदी-नालों का गिर सकना सम्भव हुआ। यदि उसने अपने को नीचा

न बनाया होता, सबसे ऊपर उठकर चलती, अपना स्तर ऊँचा रखती, तो फिर नदी-नाले तुच्छ होते हुए भी उसके अहंकार को सहन न करते, उससे ईर्ष्या करते और अपना मुख दूसरी ओर मोड़ लेते। नदी-नालों की उदारता और त्याग को चरितार्थ करने का अवसर गंगा ने अपने को नम्र बनाकर, नीचे स्तर पर रखकर ही दिया है। अन्य अनेक महत्ताएँ गंगा की हैं, पर यह एक महत्ता ही उसकी इतनी बड़ी है कि जितना भी अभिवादन किया जाए, कम है।

नदी-नदों ने, झरने और सर सोतों ने भी अपना अलग अस्तित्व कायम न रखने की, अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं और कीर्ति स्थापित करने की लालसा को दमन करने की जो दूरदर्शिता दिखाई है, वह भी सर्वथा अभिनन्दनीय है। उन्होंने अपने को खोकर गंगा की क्षमता, महत्ता और कीर्ति बढ़ाई। सामूहिकता का, एकत्रीकरण का, मिलजुल कर काम करने का महत्त्व समझा, इसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाए, कम है। संगठन में ही शक्ति है, यह उन्होंने वाणी से नहीं, मन से नहीं, प्रत्यक्ष क्रिया से कर दिखाया, कर्मवीरता इसे ही कहते हैं। आत्म-त्याग के इस अनुपम आदर्श में जितनी महानता है उतनी ही दूरदर्शिता भी है। यदि वे अपना अलग अस्तित्व बनाये रहने पर अड़े रहते, सोचते जो मेरी क्षमता है, उसका यश मुझे ही मिलना चाहिए और गंगा में मिलने से इनकार कर देते, तो अवश्य ही उनका अपना अस्तित्व भी अलग रहता और नाम भी, पर वह होता इतना छोटा कि उसे उपेक्षणीय और नगण्य ही माना जाता। उस दिशा में उस जल को गंगाजल कोई नहीं कहता और उसका चरणामृत सिर पर चढ़ाने को कोई लालायित न रहता।

गोमुख पर आज जिस पुनीत जलधारा में माता गंगा का दर्शन-मज्जन मैंने किया, वह तो उद्‌गम मात्र था। पूरी गंगा तो सहस्रों नदी-नालों के संगठन से सामूहिकता का कार्यक्रम लेकर चलने पर बनी है। गंगासागर ने उसी का स्वागत किया है। सारी दुनिया उसी को पूजती है। गोमुख की तलाश में तो मुझ जैसे चन्द आदमी ही पहुँच पाते हैं।

गंगा और नदी-नालों के सम्मिश्रण का महान परिणाम यदि सर्वसाधारण की, नेता और अनुयायियों की समझ में आ जाए, लोग सामूहिकता के, सामाजिकता के महत्त्व को हृदयंगम कर सकें, तो एक ऐसी ही पवित्र पापनाशिनी, लोकतारिणी संघ शक्ति का प्रादुर्भाव हो सकता है, जैसा गंगा का हुआ है।

## तपोवन का मुख्य दर्शन

भगवती भागीरथी के मूल उद्‌गम गोमुख के दर्शन करके अपने को धन्य माना। यों देखने में एक विशाल चट्टान में फटी हुई दरार में से दूध जैसे स्वच्छ जल का उछलता हुआ झरना बस यही गोमुख है। पानी का प्रवाह अत्यन्त वेग वाला होने से बीच में पड़े हुए पत्थरों से टकराकर वह ऐसा उछलता है कि बहुत ऊपर तक छींटे उड़ते हैं। इन जलकणों पर जब सूर्य की सुनहरी किरणें पड़ती हैं तो वे रंगीन इन्द्रधनुष जैसी बहुत ही सुन्दर दीखती हैं।

इस पुनीत निर्झर से निकली हुई गंगा माता लाखों वर्षों से मानव-जाति को तरण-तारण का संदेश देती रही है, जिस महान संस्कृति को प्रवाहित करती रही है, उसके स्मरण मात्र से आत्मा पवित्र हो जाती है। इस दृश्य को आँखों में बसा लेने को जी चाहता है।

चलना इससे आगे था। गंगा बामक, नन्दनवन, भगीरथ शिखर, शिवलिंग पर्वत से घिरा हुआ तपोवन यही हिमालय का हृदय है। इस हृदय में अज्ञात रूप में अवस्थित कितनी ऊँची आत्माएँ संसार के तरण-तारण के लिए आवश्यक शक्ति-भण्डार जमा करने में लगी हुई हैं। इसकी चर्चा न तो उचित है, न आवश्यक। वह असामयिक भी होगी इसलिए उस पर प्रकाश न डालना ही ठीक है।

यहाँ से हमारे मार्गदर्शक ने आगे का पथ-प्रदर्शन किया। कई मील की विकट चढ़ाई को पार कर तपोवन के दर्शन हुए। चारों ओर हिमाच्छादित पर्वत-शृंखलाएँ अपने सौन्दर्य की अलौकिक छटा बिखेरे हुए थीं। सामने वाला शिवलिंग पर्वत का दृश्य बिलकुल ऐसा था मानो कोई विशालकाय सर्प फन फैलाए बैठा हो। भावना की आँखें, जिन्हें प्राप्त हों वह भुजंगधारी शिव का दर्शन अपने चर्मचक्षुओं से ही यहाँ कर सकता है। दाहिनी ओर लालिमा लिए हुए सुमेरु हिम पर्वत है। कई और नीली आभा वाली चोटियाँ ब्रह्मपुरी कहलाती हैं। इससे थोड़ा और पीछे हटकर बायीं तरफ भगीरथ पर्वत है। कहते हैं कि यहीं बैठकर भगीरथ जी ने तप किया था, जिससे गंगावतरण सम्भव हुआ।

यों गंगोत्री में भी गौरीकुण्ड के पास एक भगीरथ शिला है, इसके बारे में भी भगीरथ जी के तप की बात कही जाती है, पर वस्तुतः यह हिमाच्छादित स्थान भगीरथ पर्वत ही है। इंजीनियर लोग इसी पर्वत में गंगा का उद्‌गम मानते हैं।

भगीरथ पर्वत के पीछे नीलगिरि पर्वत है, जहाँ से नीले जल वाली नील नदी प्रवाहित होती है। यह सब रंग-बिरंगे पर्वतों का स्वर्गीय दृश्य एक ऊँचे स्थान पर से देखा जा सकता है। जब बर्फ पिघलती है तो भगीरथ पर्वत का विस्तृत फैला हुआ मैदान दुर्गम हो जाता है, बर्फ फटने से बड़ी-बड़ी खाई जैसी दरारें पड़ती हैं, उनके मुख में कोई चला जाए तो फिर उसके लौटने की आशा नहीं की जा सकती। श्रावण-भाद्रपद महीने में जब बर्फ पिघल चुकी होती है, तो यह प्रदेश सचमुच ही नन्दनवन जैसा लगता है। केवल नाम ही इसका नन्दनवन नहीं है, वरन् वातावरण भी वैसा ही है। उन दिनों मखमल जैसी घास उगती है और दुर्लभ जड़ी-बूटियों की महक से सारा प्रदेश सुगन्धित हो उठता है। फूलों से यह धरती लद-सी जाती है। ऐसी सौन्दर्य स्रोत भूमि में यदि देवता निवास करते हों, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। पाण्डव सशरीर

स्वर्गारोहण के लिए यहाँ आये होंगे, इसमें कुछ भी अत्युक्ति मालूम नहीं होती।

हिमालय का यह हृदय तपोवन जितना मनोरम है, उतना ही दुर्लभ भी है। शून्य से भी नीचे जमने लायक बिन्दु पर जब यहाँ सर्दी पड़ती है, तब इस सौन्दर्य को देखने के लिए कोई विरला ही ठहरने में समर्थ हो सकता है। बद्रीनाथ, केदारनाथ तीर्थ इस तपोवन की परिधि में ही आते हैं। यों वर्तमान रास्ते से जाने पर गोमुख से बद्रीनाथ लगभग ढाई सौ मील है, पर यहाँ तपोवन से माणा घाटी होकर केवल बीस मील ही दूर है। इस प्रकार केदारनाथ यहाँ से बारह मील है, पर हिमाच्छादित रास्ते सबके लिए सुगम नहीं हैं।

इस तपोवन को स्वर्ग कहा जाता है। उसमें पहुँचकर मैंने यही अनुभव किया, मानो सचमुच स्वर्ग में ही खड़ा हूँ। यह सब उस परम शक्ति की कृपा का ही फल है, जिनके आदेश पर यह शरीर निमित्त मात्र बनकर कठपुतली की तरह चलता चला जा रहा है।

# धरती पर देवभूमि के दर्शन

## गंगा का उद्गम

गोमुख आजकल गंगोत्री से १८ मील आगे है, किन्तु प्राचीनकाल में वह गंगोत्री में ही था। विशाल भगीरथ शिला वहीं है, जिस पर बैठकर भगीरथजी ने तप किया था। पार्वती के तप का स्थान गौरी कुण्ड है। गंगोत्री का यह स्थान बहुत ही भव्य है। शिवजी ने अपनी जटाओं में गंगा को वहीं लिया बताते हैं। यहाँ जलधारा बहुत ऊँचे से बड़े कोलाहल के साथ गिरती है। नारद जी भागीरथी का उद्गम देखकर जब वापस गए तो ब्रह्माजी ने उनकी बड़ी प्रशंसा की थी और कहा था-

**धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि धन्यो धन्यः पुनः पुनः।**
**यत्त्वयासेवितं तीर्थं पुण्यं गंगोत्तरम् मुने॥**

हे नारद! तुम धन्य हो। तुमने गंगोत्री का सेवन किया। तुम कृतकृत्य हो गए, तुम्हें बार-बार धन्यवाद है।

इस पुण्य तीर्थ की प्रशंसा करते हुए बहुत कुछ कहा गया है-

**तापसानां तपः स्थानं मुनीनां मननालयः।**
**भक्तानां च विरक्तानामावसो हृदयं प्रियः॥**

यह तपस्वियों के तप का स्थान है, मुनियों के मनन करने की भूमि है। भक्तों और विरक्तों के हृदय को आह्लादित करने वाला यह क्षेत्र है।

**ब्रह्मैव परमं साक्षात् द्रव रूपेण धावति।**
**पुमर्थ करणार्थं को गंगेति शुभ संज्ञया।**

यहाँ साक्षात् परब्रह्म ही पृथ्वी पर 'गंगा' इस शुभ नाम से मनुष्यों को चारों पदार्थ देने के लिए जल रूप में बह रहे हैं।

**कुत्र गंगोत्तरी तीर्थं कुत्र काशी गयादयः।**
**प्रचण्ड द्युमणेरग्रे खद्योतः किं प्रकाशते॥**

कहाँ तो गंगोत्तरी तीर्थ और कहाँ काशी, गया आदि तीर्थ। मध्यान्ह काल के सूर्य के सामने खद्योत क्या प्रकाश कर सकता है?

**न पापं न दुराचारं कौटिल्यं कूटकर्म च।**
**न धर्मध्वजिता यत्र नवा दुःखं महाद्भुतम्॥**

इस क्षेत्र में पाप नहीं, दुराचार नहीं, कुटिलता नहीं, छल वंचना नहीं और साथ ही किसी प्रकार का दुःख भी नहीं है।

**भगीरथतपः स्थानं त्रिषुलोकेषु विश्रुतम्।**
**इदं भूलोक वैकुण्ठमिति जानहि नारद॥**

हे नारद! यह पवित्र पुण्य तीर्थ भगीरथ का तप स्थान तीनों लोकों में प्रसिद्ध है, इसे तुम भूलोक का स्वर्ग ही समझो।

ऋतु विशेषज्ञों का कथन है कि यह प्रदेश अब धीरे-धीरे गरम होता जा रहा है। पहले जितनी बर्फ पड़ती थी अब उतनी नहीं पड़ती। गंगा ग्लेशियर धीरे धीरे गलता जा रहा है और अब गोमुख १८ मील पीछे चला गया है। लगभग १ मील तो अभी कुछ ही वर्षों में हटा है। इसलिए गंगा के उद्गम तक जाने वालों को अब गंगोत्री से १८ मील ऊपर जाना पड़ता है। इस पुण्य उद्गम का वर्णन करते हुए कहा गया है-

**तत्र प्रालेय संघात भूषिते भुवि भूषणे।**
**गोमुखे गोमुखाकार महातुहिन गह्वरात्॥**
**निर्गच्छति महावेगा गंगा सुरतरंगिणी।**
**पावनी पावनार्थाय पृथ्वीलोक निवासिनाम्॥**

बर्फ के समूह से भूषित और भूमि के विभूषण उस गोमुख स्थान में गौ के मुख के सदृश बर्फ की महान गुफा से पुण्यवती सुरनदी गंगाजी भू-लोक के निवासियों को पावन करने के लिए महान वेगवती होकर निकलती हैं।

गंगोत्री से ९ मील पर चीड़ के वृक्षों का वन है, इसे चीड़वासा कहते हैं। वासा शब्द उधर वन के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। चीड़वासा अर्थात् चीड़ के वृक्षों का वन। यहाँ एक पुण्यात्मा ने एक छोटी-सी धर्मशाला बना दी है। इसमें प्रबन्धक तो कोई नहीं रहता, पर भोजन पकाने तथा जल रखने को कुछ बर्तन पड़े रहते हैं। जो वहाँ पहुँच जाता है, वही उसका प्रबन्धक बन जाता है। यहाँ से भोजवासा प्रारम्भ होता है। भोजवासा अर्थात् भोजपत्र के वृक्षों का वन। इस वृक्ष के ऊपर जो वल्कल निकलता है, उससे ओढ़ने-बिछाने का, वस्त्रों का, कुटिया ढँकने का काम चल जाता है। इस क्षेत्र में पाँच महात्माओं की कुटिया हैं, जो शीतकाल में भी भीषण बर्फ के नीचे यहीं रहते हैं। गंगा के दूसरी पार स्वामी तत्त्व बोधानन्द जी की कुटिया है। ग्रीष्म ऋतु में जब उधर आने-जाने का मार्ग खुलता है, तब यह लोग ९ महीने के

लिए जीवन-निर्वाह की आवश्यक सामग्री जमा कर लेते हैं और अग्नि के सहारे जीवन-धारण किए रहते हैं। एक महात्मा रघुनाथ दास अन्न नहीं लेते, वे ग्रीष्म में हरे और शीत में सूखे पत्ते आलू के साथ बनाकर कितने ही वर्षों से काम चला रहे हैं। भोजपत्र के पेड़ में जहाँ-तहाँ कूबड़ जैसी मुलायम गाँठें निकल आती हैं, जिन्हें 'भुजरा' कहते हैं । इस पानी में उबालने से बढ़िया किस्म की चाय बनती है जो रंग, स्वाद और गर्मी देने में बाजारू चाय की अपेक्षा हर प्रकार उत्कृष्ट होती है। शीत-निवारण के लिए इन महात्माओं का दैनिक पेय यही रहता है। दूध और चीनी का तो वहाँ अभाव ही रहता है। इसलिए इस 'भुजरा' के उबाले हुए क्वाथ को वे नमक डालकर पिया करते हैं।

इस भोजवासा क्षेत्र में एक छोटी सी नदी है, जिसे 'भोजगढ़' कहते हैं। गढ़ शब्द पहाड़ी भाषा में नदी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भोजगढ़ अर्थात् भोजपत्र वन में बहने वाली नदी। इसके बाद फूलवासा अर्थात् फूलवन आरम्भ हो जाता है। जहाँ कोई वृक्ष नहीं मिलता, भूमि पर वनस्पतियाँ उगी होती हैं। यह वनस्पतियाँ श्रावण-भाद्रपद महीनों में सुन्दर पुष्पों से सुशोभित होती हैं। इसे पार करके गोमुख आता है।

इस १८ मील प्रदेश में कोई सड़क या पगडण्डी नहीं है। जानकार मार्गदर्शक कुछ पहचाने हुए वृक्षों, पत्थरों, शिखरों तथा दृश्यों के आधार पर चलते हैं और यात्री को गोमुख तक ले पहुँचते हैं। रास्ते में कई स्थान ऐसे हैं जहाँ थोड़ी-सी चूक होने पर जीवन का अन्त ही हो सकता है। चलने और चढ़ने में कितनी कठिनाइयाँ हैं, इनका वर्णन न करते हुए यहाँ तो यही कहना उचित है कि इस प्रदेश में प्रवेश करने पर मनुष्य थकान और कष्टों को भुलाकर एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है। प्रकृति माता की इस सुहावनी गोद से, जब वह कोलाहल भरे हुए दुष्प्रवृत्तियों से भरे हुए शहरों की तुलना करता है तो वह सचमुच ही अपने को नरक से निकल कर एक स्वर्गीय वातावरण में निमग्न पाता है।

भगवती भागीरथी का उद्गम, दर्शक को एक आध्यात्मिक आनन्द में विभोर कर देता है। यदि गंगा को एक नदी मात्र माना जाए तो भी उसके इस उद्गम का प्राकृतिक सौन्दर्य इतना सुशोभित है कि कोई सौन्दर्य पारखी उस दृश्य पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। 'गोमुख' शब्द से ऐसा अनुमान किया जाता है कि वहाँ गाय के मुँह की शक्ल का कोई छेद होगा वहाँ से धारा गिरती होगी, पर वहाँ ऐसी बात नहीं है। बर्फ के पर्वत में एक गुफा जैसा बड़ा छेद है, उसमें से अत्यन्त प्रबल वेग से पिचकारी की तरह एक छोटी-सी जलधारा उछलती हुई निकलती है। उस शोभा का वर्णन कर सकना किसी कलाकार का ही काम है। यदि गंगा को एक आध्यात्मिक धारा माना जाए तो उसके उद्गम स्थल से वह अध्यात्म तत्त्व भी प्रबल वेग के साथ उद्भूत होता है। कोई भी श्रद्धालु हृदय यहाँ यह प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है कि कोई दिव्य अध्यात्म तरंगें उसके अन्तःकरण के कण-कण को एक दिव्य आनन्द में सराबोर कर रही हैं। गंगा का अध्यात्म यों जहाँ भी वह बहती है हर जगह है, पर उसकी पूर्ण निर्मलता देखनी हो तो वह इस गोमुख पर ही दृष्टिगोचर होती है।

भोजवासा से यहाँ तक ८ मील की दूरी में कोई विश्रामस्थल नहीं है। जहाँ-तहाँ बड़े पत्थर बाहर निकले हुए हैं उनके नीचे सुस्ताया जा सकता है। साल में तीर्थ यात्रियों की संख्या अब ५-६ सौ तक होने लगी है। उन सभी को पहली रात जहाँ चीड़वासा की धर्मशाला में विश्राम किया था, वहीं फिर लौट कर जाना पड़ता है। ८ मील जाना और ८ मील लौटना यह १६ मील, इतनी विकट चढ़ाई और दुर्गम पथ के कारण बहुत भारी पड़ते हैं। कोई श्रद्धालु यहाँ गोमुख पर कुछ देर विश्राम या भजन-ध्यान करना चाहे तो कर नहीं सकता, क्योंकि उसे तुरन्त लौटने की चिन्ता पड़ती है अन्यथा १६ मील का मार्ग कैसे पार हो? रात हो जाए, वर्षा होने लगे तब तो मार्ग मिलना भी कठिन है। इसलिए यात्री कुछ देर यहाँ ठहरना चाहता है, पर मन मारकर वापस ही लौटता है। कुछ दिन पूर्व गंगा के उस पार एक उदासीन बाबा रहते थे, उनका शरीर शान्त हो जाने से वह कुटिया भी अस्तव्यस्त हो रही है। मन में विचार उठा कि यहाँ छोटी धर्मशाला होती तो भोजवासा की तरह यहाँ भी लोग ठहरते और एक दिन १६ मील चलने की आपत्ति से भयभीत होकर इस पुण्यभूमि का लाभ कुछ समय अवश्य उठाते। स्थान की आवश्यकता मन को खींचती रही। संकल्प ने कहा, यह कुछ असम्भव नहीं है। यहाँ इस गंगा के उद्गम गोमुख पर एक छोटी धर्मशाला बन सकती है, शीघ्र ही बनेगी भी।

गोमुख तक यात्रियों का आना सम्भव होता है, उससे ऊपर घोर हिमालय प्रारम्भ हो जाता है। जहाँ जाने का न कोई मार्ग है और न प्रयोजन। हिमालय का हृदय यहीं से प्रारम्भ होता है। उसमें प्रवेश कर हमें तपोवन तक जाना था, समीप ही नन्दनवन है। वहाँ पहुँचकर अपना प्रयोजन पूर्ण हुआ। जितना ठहरना था, ठहरा गया, जो करना था किया गया, जो कहना था कहा गया, जो सुनना था सुना गया। उससे सर्वसाधारण का कोई प्रयोजन नहीं है। उन व्यक्तिगत बातों की चर्चा भी अप्रासंगिक होगी।

धरती के स्वर्ग को देखने की प्रबल इच्छा उठ रही थी और किसी के अनुग्रह से ही वह असम्भव दीखने वाले कार्य की व्यवस्था सहज ही बन गई। प्रभु की महान कृपा और महात्माओं के आशीर्वाद से कठिन कार्य भी सहज हो सकते हैं। अपना मनोरथ भी सहज हो गया, उसके सब उपकरण जुट गए। साथी और मार्गदर्शक भी थे। थके-माँदे पैरों में नया जीवन आया और ठंड सहन न कर सकने वाली दुर्बल काया भी तनकर खड़ी हो गई। ठिठुरते पैर आगे को बढ़ने लगे।

यात्रा अभियानों के वर्णन में बहुधा लेखक अपने व्यक्तिगत प्रसंगों की चर्चा अधिक करते हैं। इसमें आत्मश्लाघा बहुत रहती है, हमें वैसा कुछ भी न करके केवल वहाँ की परिस्थिति का ही वर्णन करना है।

गोमुख से ऊपर का अगम्य हिमालय चिरकाल से आवागमन रहित है। वहाँ जाने का कुछ प्रयोजन भी नहीं समझा जाता। गोमुख से दो मील ऊपर जहाँ तपोवन आरम्भ होता है, वहाँ श्रावण, भाद्रपद महीनों में बड़ी कोमल और पौष्टिक वनस्पतियाँ उगती हैं। यदि भेड़, बकरियाँ चर लें तो उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा हो जाता है, बच्चे मजबूत देती हैं और ऊन भी बहुत मुलायम निकलता है, इन लाभों को देखते हुए कभी-कभी कोई दुस्साहसी पहाड़ी बकरी वाले अपनी भेड़ें कुछ दिन के लिए उधर ले पहुँचते हैं। यह लोग भी गोमुख से दो-तीन मील ऊपर तक ही जाते हैं। इन्हें छोड़कर और कभी मनुष्यों के दर्शन उधर नहीं होते। यह तपोवन क्षेत्र ही है, जहाँ यह मनुष्य और पशु कभी-कभी देखे जाते हैं। जंगली भेड़ें जिन्हें बरड़ कहते हैं वे, कस्तूरी हिरन तथा भूरा भालू भी इस क्षेत्र में कभी-कभी विचरण करते नजर आते हैं। पेड़ एक नहीं, केवल घास एवं वनस्पतियाँ हैं, जिनमें से एक मनभावन गन्ध आती रहती है, जो इस गन्ध की तेजी को सहन नहीं कर सकते हैं, उनका सिर चकराने लगता है। इससे थोड़ा आगे चलकर नन्दनवन है। यहाँ श्रावण, भाद्रपद के महीने वसन्त ऋतु माने जाते हैं। इन दो महीनों में ही यह वनस्पतियाँ उगती, बढ़ती, फूलती, पकती और समाप्त हो जाती हैं। आश्विन से बर्फ पड़ने लगती है, तब वह हरियाली भी समाप्त हो जाती है। यह हरियाली जब फूलती है तो इसमें सैकड़ों प्रकार के एक-से-एक बढ़कर सुन्दर फूल खिलते हैं। इनकी बनावट, विचित्रता और भिन्नता देखकर ऐसा लगता है जैसे किसी चतुर चित्रकार ने रंग-बिरंगे पुष्पों से सुसज्जित मखमली कालीन जमीन पर बिछा दिया हो।

नन्दनवन से लगा हुआ भगीरथ शिखर है। कहते हैं कि तपस्वी भगीरथ इस पर्वत के रूप में यहाँ सदा विराजमान रहते हैं। यह शिखर भी उतना ही सुन्दर है, जितना कि उसके नीचे का मैदान नन्दनवन।

नन्दनवन देवताओं का वन माना जाता है। प्राचीनकाल में सम्भव है यहाँ कोई वृक्ष रहे हों, पर आज तो यह सुन्दर हरियाली ही शेष है, जिसे देखकर प्रकृति की इस अद्भुत कृति पर आश्चर्य होता है और विचार आता है कि आज यह छोटी हरियाली इतनी सुन्दर लगती है तो प्राचीनकाल में जब यहाँ वृक्ष होंगे तो वे भी इतने सुन्दर होंगे और उनके वातावरण में रहने वाले भी वैसे ही सुन्दर होते होंगे जैसे देवता चित्रण किए जाते हैं। रंग-बिरंगे फूलों के साथ रहने वाली तितली जब उन्हीं के रंग की वैसी ही सुन्दर हो जाती है, तो इस नन्दनवन में विचरण करने वाली आत्माओं के वैसी ही सुन्दर होने में कोई सन्देह की बात नहीं है। इस धरती के नन्दनवन की शोभा के बारे में उल्लेख मिलता है कि-

**अगहन गहनं वै लता विटपिवर्जितम्।**
**प्रशांतमति गम्भीरं विशालं ग्राव संकुलम्॥**
**कृष्णरक्तैः श्वेतपीतैः पुष्पैर्दिव्यैः मनोहरैः।**
**इन्द्राणी केश भूषाभिः समाच्छन्नं समततः॥**

"यहाँ गहन वन नहीं हैं। लता, वृक्ष आदि कुछ भी नहीं हैं। प्रशान्त और अत्यन्त गम्भीर प्रदेश है। जो विशाल और शिलाओं से भरा हुआ है। इन्द्राणी के केशों में लगे आभूषणों जैसे मन को मोहित करने वाले रंग-बिरंगे फूल वहाँ खिले रहते हैं।

**अहो तत्रत्य सुषमां को वा वर्णयितुं प्रभुः।**
**इन्द्रोप्यक्षि सहस्रेण यां विलोक्य न तृप्यति॥**

वहाँ की प्राकृतिक शोभा का वर्णन कौन कर सकता है? इस सौन्दर्य को इन्द्र अपने हजारों नेत्रों से देखकर भी तृप्त नहीं होता।

तपोवन में एक विशाल शिला के नीचे थोड़ी-सी आड़ ऐसी है कि उसके नीचे दस व्यक्ति विश्राम कर सकते हैं। कुछ गुफा जैसी स्थिति उसकी है। इसके अतिरिक्त इस प्रदेश में और कोई छाया का स्थान ऐसा नहीं है, जिसके नीचे रात को विश्राम किया जा सके। पेड़ तो है ही नहीं। लकड़ी भी यहाँ नहीं मिलती। एक मोटे डंठल की वनस्पति ऐसी होती है कि उसके डंठलों को जलाकर अग्नि का कुछ प्रयोजन सिद्ध किया जा सकता है। तपोवन से सटा हुआ ही शिवलिंग शिखर है। इसका दृश्य कैलाश जैसा ही लगता है। इसे देखने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो यह शिखर प्रकृति का बनाया हुआ एक विशाल शिवलिंग है, जिसे किसी ने यहाँ विधिवत स्थापित किया हो।

तपोवन से गोमुख की दिशा में मेरु शिखर है। इसके नीचे मेरु ग्लेशियर है, जो केदार शिखर तक चला गया है। शिवलिंग शिखर से निकल कर स्वर्ग गंगा नामक एक छोटी-सी नदी बहती है। ऊपर से इसकी दो धाराएँ दो ओर से आती हैं, तपोवन के मध्य भाग में वे दोनों मिलकर गंगा-यमुना मिलने जैसा संगम बनाती हैं।

पुराणों में वर्णन आता है कि गंगा पहले स्वर्ग में निवास करती थीं, पीछे भगीरथ के तप के कारण भूतल निवासियों का कल्याण करने के लिए नीचे आईं। यह दृश्य यहाँ प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। हिमालय के हृदय, धरती के स्वर्ग में यह स्वर्ग गंगा बहती है। यही धारा गंगा ग्लेशियर में कुछ दूर के लिए विलीन होकर फिर नीचे गोमुख पर प्रकट होती है। शिवजी अपनी जटाओं में गंगा को धारण किए हुए हैं, यह दृश्य भी शिवलिंग शिखर पर स्पष्ट है। यह स्वर्ग गंगा में मेरु शिखर से निकल कर शिवलिंग के भाग को स्पर्श करती हुई तपोवन में प्रवाहित होती है।

तपोवन के अन्त में गंगा ग्लेशियर से सटा हुआ गौरी सरोवर है। यहाँ भगवती उमा, शिव के समीप ही सरोवर

रूप से विराजती हैं। कठोरता और करुणा का यह युग्म सब प्रकार वन्दनीय है। शिव और शक्ति, यहाँ पर्वत और सरोवर के रूप में साकार हैं। एक को तप कहें, तो दूसरे को भक्ति। एक ज्ञान है तो दूसरे को भावना कह सकते हैं। शिवलिंग पर्वत के समीप गौरी सरोवर का जोड़ा देखते-देखते भावनाशील हृदयों में साक्षात् शिव-पार्वती के दर्शनों जैसा आह्लाद उत्पन्न होता है।

इस स्वर्गीय दृश्य को देखते-देखते गंगा ग्लेशियर के सहारे-सहारे कुछ मील और आगे बढ़ जाते हैं, तो कीर्ति ग्लेशियर के कोने पर मान-सरोवर झील आ जाती है। लम्बाई-चौड़ाई में तिब्बत वाली मान-सरोवर की बराबर यह नहीं है, पर निर्मलता, पवित्रता और दिव्य तत्त्वों की दृष्टि से यह स्वर्ग-सरोवर संसार के सभी जलाशयों की अपेक्षा अधिक शान्ति और पवित्रता प्रदान करने वाली है।

इतने क्षेत्र में विचरण करने पर भी अभी यहाँ की नीचे की भूमि पर से सुमेरु के दर्शन नहीं हो सकते हैं। किसी शिखर से दर्शन हो सकते हैं, पर ऊपर चढ़ सकना सम्भव नहीं। चिकनी बर्फ और सीधी चढ़ाई होने के कारण बिना विशेष उपकरणों की सहायता के यहाँ के किसी शिखर की चोटी पर केवल पैरों के बल-बूते चढ़ा नहीं जा सकता। इसलिए सुमेरु के दर्शन के लिए अभी गंगा ग्लेशियर में ही आगे बढ़ना होगा और 'गहन हिमधारा' से 'वरुण वन' तक पहुँचना होगा। यहाँ से सुमेरु के दर्शन भलीप्रकार होते हैं। वरुण वन में मिट्टी है, यहाँ निचाव होने के कारण पानी की नमी रहती है, नन्दनवन जैसी वनस्पतियाँ भी यहाँ हैं। इससे आगे का मार्ग जाने योग्य नहीं। चौखम्बा शिखर जिन पर पाण्डवों ने स्वर्गारोहण किया था, यहाँ से दिखाई देते हैं। बस, दर्शनों का लोभ अब यहीं छोड़ना पड़ता है। इससे आगे का मार्ग अवरुद्ध है। अब यहाँ से ऊँचाई के साथ-साथ मार्ग की दुर्गमता भी अकथनीय होती है। इसलिए धरती का स्वर्ग देखने की आकांक्षा वाले को इतने से ही सन्तोष करके वापस लौटना पड़ेगा।

अग्निपुराण के अनुसार शिवजी ने ताण्डव नृत्य यहीं किया था। जब यह दुनिया पापों के भार से इतनी डूब गई थी कि प्राणी यहाँ शान्तिपूर्वक न रह सकें, तो उन्होंने अपना डमरू और त्रिशूल उठाकर थिरकना आरम्भ कर दिया था। उस ताण्डव नृत्य से प्रलय उत्पन्न हो गई, प्रचण्ड अग्नि ज्वालाएँ दसों दिशाओं में उठने लगीं और वह सब जिस पर पापी मानव इतराता फिरता था, देखते-देखते क्षणभर में नष्ट हो गया। उस ताण्डव नृत्य की भूमि में पग-पग पर मन पूछता था, हे भूतभावन! अभी ताण्डव नृत्य में कितनी देर है, क्या पापी मानव के कुकर्मों का प्याला भरने में अभी भी कुछ देर बाकी है?

पुरातत्त्ववेत्ताओं ने मानव जाति की आदि उत्पत्ति मेरु पर्वत पर मानी है। आदम हव्वा का स्वर्ग से पृथ्वी पर आना भी इसी पर कहा जाता है। प्रलय के समय नूह की नाव की कथा तथा मार्कण्डेय ऋषि को बालक के रूप में दर्शन होने की घटना भी इसी स्थान से सम्बन्धित बताई जाती है। इन सब विशेषताओं के कारण प्राचीनता के प्रति प्रेम रखने वाले किसी भावुक हृदय व्यक्ति के लिए ऐसा स्थान एक प्रकार से विशेष आकर्षणों का उद्रेक करने वाला बन सकता है। अपने लिए भी इस भूमि के कण-कण में से प्राचीन काल की अनेकों महत्त्वपूर्ण घटनाएँ अपने सुमस्थल को एक साथ ही पूर्ण अन्तःकरण की भावनाओं में ओत-प्रोत कर रही हैं।

पुराणों में कहा गया है कि सिद्ध योगी सद्गुरु अभी हैं, पर कलियुग के प्रभाव से हिमालय के किसी गुप्तस्थान पर अदृश्य रूप में रहते हैं। गुरु गीता में ऐसे सद्गुरु का वर्णन आता है, जो साधक के ज्ञान-चक्षु को खोलकर उसका अज्ञानान्धकार दूर कर देते हैं, वे गुरु स्वयं त्रिमूर्ति और परब्रह्म स्वरूप हैं। उन सद्गुरुओं को अजर-अमर ऋषि महर्षियों से ही तात्पर्य है, जो अब स्थूलभाव से दिखाई नहीं पड़ते। लिंगपुराण के सातवें अध्याय में इन सद्गुरुओं का वर्णन है और उनका निवास हिमालय के सुमेरु पर्वत पर बताया गया है। श्रीमद्भागवत् के बारहवें स्कन्ध में दूसरे अध्याय के ३७वें श्लोक में इन सिद्ध पुरुषों का निवास स्थान कलाप ग्राम में बताया गया है। १०वें स्कन्द के अध्याय ८७ में श्लोक ५, ६, ७ में भी ऐसा वर्णन है और महाभारत मौसल पर्व के अध्याय ७ में भी कलाप ग्राम में सिद्ध पुरुषों के निवास स्थान का वर्णन है।

यह सिद्ध भूमि यही है। उन अदृश्य आत्माओं के चर्मचक्षुओं से दर्शन कर सकना तो किन्हीं विरलों का ही सौभाग्य हो सकता है, पर इस पुण्य प्रदेश में ऐसा अनुभव अवश्य होता है कि जिस क्षेत्र में प्राचीनकाल में इतनी ऊँची आत्माएँ क्रीड़ा करती रही हैं, वह आज भी उस पूर्व कालीन प्रभाव से सर्वथा रहित नहीं है। अश्रद्धालु और अविश्वासी तक यहाँ आस्तिकता की निष्ठा जमने के लायक बहुत कुछ अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। श्रद्धा, शान्ति, वैराग्य और विवेक की भावनाएँ अपने आप ही अन्तःकरण में उद्वेलित होने लगती हैं और ऐसा अनुभव होता है, मानो यहीं छिपी हुई कोई अदृश्य दिव्य शक्तियाँ इन भावनाओं को अपनी करुणा, दया और प्रगति का विश्वास दिलाने के लिए प्रसाद रूप में प्रदान कर रही हैं।

'धरती के स्वर्ग' प्रदेश का यह एक छोटा-सा भाग देखा गया। मुख्य केन्द्र स्थान सुमेरु के दर्शन प्राप्त किए गए। वहाँ तक पहुँचना सम्भव न हो सका, पर जितने क्षेत्र में प्रवेश किया गया, जो कुछ देखा गया वह भी अपनी तुच्छता और साधन-हीनता को देखते हुए कम सौभाग्य की बात नहीं है। दूसरे लोगों को यहाँ पहुँचने पर कैसा अनुभव होगा, यह कहना कठिन है, पर अपने को पूरी अनुभूति के साथ देवभूमि का अनुभव हुआ। प्राचीनकाल में यहाँ सशरीर देवता रहते होंगे, आज वे इस सुनसान में चर्म-चक्षुओं से कहीं नहीं दीखे, पर ऐसा अनुभव बराबर होता रहा कि यहाँ देवतत्त्वों की एक प्रभावशाली सत्ता अब भी मौजूद है और वह अपनी

उपस्थिति से अन्तःकरण को बार-बार उद्वेलित कर रही है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु अपने अन्दर देवत्व धारण किए हुए है और उसमें से आत्मतत्त्व का सबल संदेश देने वाली दिव्य किरणें प्रबल वेग के साथ उद्भूत हो रही हैं। प्राचीनकाल में भारत समस्त संसार को अध्यात्मवाद का संदेश देने वाला जगद्गुरु रहा है। लगता है उस संदेश का उद्गम तप-साधनाओं द्वारा उपलब्ध किया जाता होगा। भारत की आरण्यक संस्कृति पापतापों से जलते हुए प्राणी पर अमृत छिड़कती रहती है, कौन जाने आरण्यकों में श्रेष्ठ आरण्यक कभी यह हिमालय का हृदय, धरती का स्वर्ग प्रदेश ही न रहा होगा।

इस क्षेत्र में फैले हुए शिखरों की ऊँचाई और गहनता का अनुमान लगाने के लिए कौन स्थान कितना ऊँचा है, यह जानने से स्थिति का सही अनुमान लगाने में सुगमता होगी। समुद्र तल से ऋषीकेश लगभग २००० फीट ऊँचा है। गंगोत्री १०॥ हजार, गोमुख १२७७०, नन्दनवन १४२३०, भगीरथ पर्वत २२४९५, मेरु शिखर २१८५०, सत्पथ शिखर २३२१३, केदारनाथ शिखर २२७७०, सुमेरु २०७७०, स्वर्गारोहण शिखर २३८८०, चन्द्र पर्वत २२०७३, नीलकण्ठ शिखर २१६४० फीट ऊँचा है। इतने ऊँचे पर्वतों और शिखरों पर पहुँच सकना अत्यन्त उच्चकोटि के साधनों से सम्पन्न, लाखों रुपया खर्च करने वाले पर्वतारोही दलों का काम है। केवल शारीरिक बल और स्वल्प साधन सामग्री के आधार पर तरुण वन तक पहुँच सकना ही सम्भव है। यहाँ पहुँचने से धरती के स्वर्ग के प्रायः सभी प्रमुख दिव्य स्थानों के दर्शन हो जाते हैं।

एवरेस्ट शिखर पर चढ़ने के लिए भारत सरकार की सहायता से १३ व्यक्तियों का एक दल गया था, जिसे १८ टन (लगभग ५०० मन) आवश्यक उपकरण अपने साथ ले जाने पड़े थे और इस सामान को ढोने को ६५० कुली तथा मार्ग बनाने के लिए ५२ शेरपा साथ गए थे। लाखों रुपया खर्च हुआ था। अन्य पर्वतारोही दलों को भी ऐसी ही व्यवस्था करनी पड़ती है। केदार शिखर पर स्विट्जरलैण्ड का एक दल चढ़ाई कर भी चुका है, पर कहते हैं कि उसे सफलता नहीं मिली। इसलिए इन शिखरों पर पहुँच सकना निस्संदेह कठिन है, पर जितना अपनी इस यात्रा में पहुँच सकना सम्भव हुआ, वह भी धार्मिक भावना से जाने वाले व्यक्ति के लिए कम सन्तोषजनक नहीं है।

इस पुण्यप्रदेश में पहुँचने पर किसी भौतिक दृष्टिकोण के व्यक्ति के मन में सम्भव है पत्थर, बर्फ, घास, पानी तथा प्रकृति की थोड़ी-सी सुन्दरता मात्र ही दृष्टिगोचर हो, पर जिसके हृदय में श्रद्धा है, उसके लिए उस श्रद्धा-भावना को पुष्ट और विकसित करने के लिए यहाँ बहुत कुछ है। अन्तःकरण के सात्त्विक तत्त्व यहाँ उसे लगता है मानो इस पृथ्वी का समस्त सतोगुण एकत्रित होकर उसकी अन्तरात्मा में प्रवेश कर रहा है। मन की एकाग्रता और बुद्धि में स्थिरता उत्पन्न होती है, आध्यात्मिक अभिरुचि, पापों से घृणा, ईश्वरीय निष्ठा, आत्म-परायणता एवं भक्ति-भावना की हिलोरें अनायास ही हृदय में उठने लगती हैं। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की झाँकी अपने चारों ओर होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य का अटूट भण्डार दिखाई पड़ता है। इस शोभा को लेखनी तथा वाणी से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, यह तो अनुभव करने की चीज है। इस वातावरण की झाँकी नीचे देखिए-

**देव सेव्यं च तत्स्थानं देवतानां च दुर्लभम्।**
**महा पुण्य महोपुण्य पुरवेरवलौकितम्॥**
**नैतत् केवलमक्षाणां सदैवाह्लादकं मुने।**
**सर्व पुण्यं महातीर्थमूर्द्ध भूषेति विद्धितत्॥**

"यह स्थान देवताओं द्वारा सेवनीय, परम दुर्लभ और महान पुण्यप्रद है। इसे पुण्यात्मा लोग ही अवलोकन करते हैं। हे नारद! यह स्थान केवल इन्द्रियों को सुख प्रदान करने वाला ही नहीं, अपितु उसे समस्त महान् तीर्थों का शिरोमणि जानो।"

**तथाहि कलधौताभैः सायंच कनक प्रभैः।**
**प्रहर्षयति या चित्तं पर्वतानैरलौकिकैः॥**
**किमयं तपनीयाद्रिः किंवा रजत पर्वतः।**
**इति संदेहा तो तत्र बाढ़ मुह्यन्ति मानवः॥**

"दिन में चाँदी के प्रकाश वाले और सायं सुवर्ण के प्रकाश वाले दिव्य पर्वत शिखरों से चित्त को अत्यन्त आह्लाद प्राप्त होता है। मनुष्य सन्देहग्रस्त होकर सोचता है कि क्या यह सोने का पर्वत है? क्या यह चाँदी का पर्वत है?"

प्रातः और सायंकाल जब सूर्य पीत और रक्तवर्ण होता है, तो उसकी आभा के प्रतिबिम्ब से हिमाच्छादित शिखर सूर्य के रंग के तथा अपनी स्थिति और विशेषताओं के कारण विविध रंगों के दिखाई पड़ते हैं। इन्द्रधनुष की झाँकी जगह-जगह होती है। उस दृश्य को देखकर उस सौन्दर्य समुद्र में मनुष्य अपने को खोया-खोया सा अनुभव करता है।

**सौन्दर्यं ब्रह्मणो रूपं प्रकृत्यामनुवर्तते।**
**प्रकृतेर्नास्ति सौन्दर्यं स्व स्वरूपात्मको गुणाः॥**
**तादृशास्तादृशे स्थाने ब्रह्म सौन्दर्य दीपिते।**
**ब्रह्मसम्पत्तिमायान्ति भावाविष्टधियोबलात्॥**

"सौन्दर्य ब्रह्म का ही स्वरूप है। प्रकृति स्वयं सुन्दर नहीं है, वह ब्रह्म के प्रकाश से सौन्दर्यवान होती है। ब्रह्म-सौन्दर्य से सम्पन्न ऐसे पुण्य स्थानों में ब्रह्मविद् लोग भावाविष्ट होकर स्वयमेव ब्रह्मसमाधि को प्राप्त हो जाते हैं।

जिस आत्म-स्थिति को प्राप्त करने के लिए बहुत समय तक साधना करने के उपरान्त सफलता मिलती है, वह इस वातावरण में प्रवेश करने पर कुछ समय के लिए अनायास ही उपलब्ध होती है। इन विशेषताओं को देखते हुए यदि इस देवभूमि में नन्दनवन के समीप ही ऋषियों तथा देवताओं ने तपोवन को तप-साधना के लिए अपना

उपयुक्त स्थान चुना था, तो उनका यह निर्णय उचित ही था।

आज मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक स्थिति वहाँ निवास करने योग्य नहीं है। पूर्वकाल की भाँति अब वहाँ वृक्ष तथा जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक साधन भी नहीं रहे हैं, फिर भी इस पुण्य प्रदेश के दर्शन करके अपने भाग्य को धन्य बना सकना अभी भी मनुष्य की सामर्थ्य के भीतर है। हममें से कई ऐसे साहसी जिनका स्वास्थ्य ठीक स्थिति में है, आवश्यक उपकरणों के सहारे यहाँ तक पहुँच सकते हैं।

कैलाशवासी शंकर के सिर से गंगा प्रवाहित होती है। इसकी संगति तिब्बत में स्थित कैलाश पर्वत से नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ से गंगा का गोमुख तक आना भौगोलिक स्थिति के कारण किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। गंगोत्री से जेलूखागा घाटी होकर कैलाश करीब ३०० मील है। फिर बीच में कई आड़े-पहाड़ आए हैं, जिसके कारण भी कोई जलधारा या हिमधारा वहाँ तक नहीं आ सकती। असली शिवलोक इस धरती के स्वर्ग में ही हो सकता है। गंगा ग्लेशियर शिवलिंग के समीप है। स्वर्ग गंगा भी वहीं है। गौरी सरोवर वहाँ मौजूद ही है। इस प्रकार गंगा-धारण करने वाले शिव का कैलाश यह हिमालय का हृदय ही हो सकता है। यदि प्राचीन कैलाश यहाँ न रहा होता तो भगीरथ जी यहाँ तप क्यों करते? वे तिब्बत वाले कैलाश पर ही शिव के समीप क्यों न जाते? इस पुण्य प्रदेश में शिवलिंग, केदार शिखर और नीलकण्ठ शिखर यह तीनों ही शिवजी के निवास हैं। मानसरोवर का भी इस देवभूमि में होना स्वाभाविक है। सुरालय, हिमधारा, सत्पथ हिमधारा तथा वरुण वन नामों से भी इसी प्रदेश का देवभूमि होना सिद्ध है। अष्टवसुओं ने जिस स्थान को अपना निवास बनाया वह वसुधारा भी अलकापुरी के पास ही है। इन सब बातों पर विचार करने से वास्तविक कैलाश और मानसरोवर इसी प्रदेश में अवस्थित सिद्ध होते हैं।

आजकल का तिब्बत प्रदेश वाला कैलाश अब विदेशी प्रतिबन्धों के कारण यात्रा की दृष्टि से दिन-दिन असुविधाजनक हो रहा है। वहाँ डाकुओं का भी भय सदा रहता है। दूरी भी बहुत है। उस प्रदेश में भारतीय वातावरण भी नहीं है, न अपनी भाषा, न संस्कृति। वहाँ जाकर विदेश-सा अनुभव होता है। जिस समय भारत की संस्कृति का वहाँ तक विस्तार रहा था, उस समय वह तीर्थ भी उपयुक्त रहा होगा, पर शिव का वास्तविक निवास, गंगा का वास्तविक उद्गम और सच्ची आध्यात्मिक मानसरोवर का दर्शन करना हो, तो हमें इस हिमालय के हृदय-धरती के स्वर्ग में वास्तविक कैलाश की खोज करनी पड़ेगी। परीक्षा के लिए कोई व्यक्ति तिब्बत वाले कैलाश और इस हिमालय के हृदय वाले कैलाश की यात्रा करके देखे, वह स्वयं अनुभव करेगा कि धरती के स्वर्गप्रदेश वाला कैलाश कितना शान्तिप्रद एवं कितने दिव्य वातावरण से परिपूर्ण है। यदि भारत सरकार या धनीमानी सज्जन इस मार्ग को ठीक करने और दो-तीन जगह ठहरने योग्य सुविधा उत्पन्न कर सकें तो आध्यात्मिक यात्रा प्रेमियों और पर्वतारोहण में अभिरुचि रखने वाले सामान्य स्थिति के लोगों के लिए भी यह प्रदेश पहुँचने योग्य बन सकता है और इस प्रदेश के गरीब मजदूरों को यात्रियों के साथ जाने से आजीविका का भी एक द्वार खुल सकता है।

इसी प्रदेश के उत्तर भाग से बद्रीनाथ जाने का एक मार्ग खोज निकाला गया है। वैसे गोमुख से वर्तमान प्रचलित मार्ग से बद्रीनाथ २५० मील है, पर इस सीधे मार्ग से २५ मील ही है। गत दो-तीन वर्षों में कई दुस्साहसी सन्तों के दल इस मार्ग से बद्रीनाथ यात्रा कर भी चुके हैं। स्विट्जरलैण्ड के पर्वतारोही दल के साथ मुखवा गाँव का दलीप सिंह नामक एक कुली गया था, उसने इस मार्ग की जानकारी प्राप्त की, फिर उसके नेतृत्व में दो-तीन अभियान हुए, जो सफलतापूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुँचे। गोमुख से रवाना होकर पहले दिन तपोवन की शिला गुफा में, दूसरे दिन सीता ग्लेशियर, तीसरे दिन चतुरंगी ग्लेशियर के ऊपर, चौथे दिन अरवा नदी के किनारे, पाँचवें दिन गस्तोली माना गाँव होते हुए बद्रीनाथ पहुँच जाते हैं। खुले मैदान में छोटा-सा टैण्ट लगाकर चारों ओर के प्रचण्डशीत के वातावरण में रात काटना मृत्यु से लड़ाई-लड़ने के समान है। फिर भी थकान के मारे घण्टे दो घण्टे पेट में घोंटू देकर नींद आ ही जाती है। साथ-साथ लोग एक-दूसरे से सटकर भी कुछ गर्मी उत्पन्न करते हैं। शरीर का जो भी अंग खुला रह जाता है, वही ऐसा लगता है, मानो गलने लगा। केवल श्रद्धा और साहस ही यहाँ मनुष्य को सावधान रखते हैं अन्यथा यदि यात्री यहाँ की भयंकरता से डरने लगे और अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे तो उसकी भी पाण्डवों की तरह हिम-समाधि हो जाना सहज है।

इस मार्ग में २० हजार फुट की ऊँचाई चन्द्र पर्वत के निकट पार करनी पड़ती है। अधिक ऊँचाई पर हवा कम हो जाने से सिर में चक्कर आते हैं, मन उदास रहता है। पक्की बर्फ की दरारों के ऊपर कच्ची बर्फ जम जाती है, तो नीचे की दरारें दिखाई नहीं पड़तीं और उनमें फँसकर प्राण गँवा बैठने का खतरा रहता है, इसलिए यात्री आपस में कमर से रस्सियाँ बाँधकर दूर-दूर अलग-अलग चलते हैं, ताकि कोई एक उन दरारों में फँसे तो उस रस्सी के कारण इन खाइयों में धँस जाने से बचाया जा सके। इस मार्ग में कई जगह बर्फ पर फिसल कर रास्ता तय करना पड़ता है। प्रात: जब ठण्ड में बर्फ जमी रहती है, तब तक चला जा सकता है, जब धूप निकलने से कच्ची बर्फ नरम हो जाती है और पिघलने लगती है तो पैर फँसते हैं। फिर यात्रा बन्द करनी पड़ती है। शाम को ४ बजे से बादल घिर आते हैं, तब पास बैठे हुए व्यक्ति भी दीखते नहीं। कुहरा और अँधेरा छा जाता है। खाने के लिए

नमकीन सत्तू और नमकीन चाय पर रहना पड़ता है। स्टोव यहाँ का सच्चा साथी है। उस पर बार-बार चाय बनाकर थकान उतारनी पड़ती है। दूध की जगह पर मक्खन और चीनी की जगह पर नमक डालने से कामचलाऊ चाय बन जाती है। बर्फ रात को काफी कड़ी हो जाती है, उस पर कम्बल बिछाकर सोया जा सकता है। ठण्ड काफी रहती है, ऊनी कपड़े, स्वेटर, मोजे, दस्ताने, जूते, मफलर, टोपा दिन-रात कसे रहते हैं। शरीर खोलने और स्नान करने का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं है। बर्फ सूरज की धूप में काँच की तरह चमकती है, तो इसके प्रतिबिम्ब से आँखें खराब हो जाती हैं। इसलिए दिन के समय गहरा रंगीन चश्मा पहने रहने पड़ता है। ऊँचे पर्वतों पर पानी नहीं। वहाँ तो स्टोव से बर्फ पिघलाकर काम चलाना पड़ता है। दोपहर को बर्फ पिघलने से भी छोटे गड्ढों में जहाँ-तहाँ कुछ देर के लिए पानी भर जाता है। उसे भी उस समय काम लिया जा सकता है। हवा की कमी अनुभव होती है ? दम फूलता है, साँस जल्दी लेनी पड़ती है, रास्ता बना हुआ न होने से अनुमान और कम्पास के सहारे चलना पड़ता है। थोड़ा भी वजन ले चलना अनभ्यस्त लोगों के लिए कठिन होता है, इसके लिए अभ्यस्त कुली ही सहायक होते हैं। इस प्रकार की अनेकों कठिनाइयाँ उस विकट क्षेत्र में हैं, पर साहस, धैर्य और श्रद्धा के आधार पर वे सभी पार हो जाती हैं। अब तक के इन यात्रा अभियानों में कोई जीवनहानि नहीं हुई।

## हिमालय का हृदय-धरती का स्वर्ग

बहुत दिन पूर्व किसी मासिक पत्रिका में एक लेख पढ़ा था जिसका शीर्षक था- "स्वर्ग इस पृथ्वी पर ही था।" लेखक ने धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं, यह लेख भूगोल और इतिहास की दृष्टि में रखकर लिखा था। उसमें अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया था कि "हिमालय का मध्य भाग प्राचीनकाल में स्वर्ग कहलाता था। आर्य लोग मध्य एशिया से विस्थापित होकर भारत में आये थे। उन दिनों हिमालय इतना ठंडा न था, पिछली हिम-प्रलय के बाद वह हिमाच्छादित हो जाने के कारण मनुष्यों के लिए दुर्गम हुआ है। इससे पूर्व यहाँ का वातावरण मनुष्यों के रहने योग्य ही नहीं, अनेक दृष्टियों से अत्यन्त सुविधाजनक एवं शोभायमान भी था। इसलिए आर्यों के प्रमुख नेतागण, जिन्हें देव कहते थे, इसी भूमि में निवास करने लगे। गंगा यमुना के दुआब, आर्यावर्त और जम्बूद्वीप में बसे हुए अपने साथियों और अनुयायियों का मार्गदर्शन वे यहीं रहकर करते थे। सम्पत्ति, आयुध, ग्रन्थ तथा अन्य आवश्यक उपकरण वे यहीं सुरक्षित रखते थे, ताकि आवश्यकतानुसार तथा समयानुसार उनका उपयोग समतल भूमि निवासियों के लिए होता रहे और वे वस्तुएँ युद्ध के समय दस्युओं, असुरों, अनार्यों के हाथ न लगने पाएँ। देवताओं के राजा की पदवी 'इन्द्र' होती थी। प्रत्येक इन्द्र का सिंहासन इस हिमालय के हृदय प्रदेश, स्वर्ग में ही होता था।"

इस लेख में यद्यपि अनेकों प्रबल युक्तियाँ थीं, पर उस समय वे अपने मन में उतरती नहीं थीं, क्योंकि जिस स्वर्ग की इतनी महिमा गाई गई है, जिसे प्राप्त करने के लिए हम इतना त्याग और तप करते हैं, क्या वह इसी पृथ्वी का एक साधारण क्षेत्र मात्र होगा? फिर स्वर्ग को एक लोक कहा गया है। लोक का अर्थ है, पृथ्वी से बहुत दूर अंतरिक्ष में स्थित कोई ग्रह-नक्षत्र जैसा स्थान। इसके अतिरिक्त मानव की अन्तरात्मा में अनुभव होने वाली सुख-शान्ति को भी स्वर्ग माना जाता है। फिर हिमालय के एक भाग विशेष को स्वर्ग कैसे माना जाए?

लेकिन उसे पढ़कर यह एक बात कुछ समझ में आई कि आध्यात्मिक दृष्टि से स्वर्ग कोई लोक विशेष हो सकता है, सुख-शान्ति की अमुक आन्तरिक स्थिति को भी स्वर्ग कहा जा सकता है, पर यही शब्द पृथ्वी के किसी महत्त्वपूर्ण भाग के लिए प्रयुक्त हुआ हो ऐसा भी हो सकता है। इस तथ्य पर विचार किया, तो कई ऐसी बातें सूझ पड़ीं जो पृथ्वी पर स्वर्ग होने की सम्भावना को प्रकट करती हैं।

राजा दशरथ अपनी पत्नी समेत इन्द्र की सहायता के लिए अपने रथ पर सवार होकर स्वर्ग गये थे। जब रथ का पहिया धुरी में से निकलने लगा तब साथ में बैठी हुई कैकेयी ने अपनी उँगली धुरी के छेद में डालकर रथ को टूटने से बचाया था। एक बार अर्जुन भी इन्द्र की सहायता के लिए स्वर्ग गए थे, तब इन्द्र ने उर्वशी अप्सरा को उनके पास भेजकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न किया था। एक बार इन्द्र का इन्द्रासन खाली होने पर नीचे से राजा नहुष को वहाँ ले जाया गया और उन्हें वहाँ बिठाया गया था। त्रिशंकु भी सशरीर वहाँ पहुँचे थे। राजा ययाति सशरीर स्वर्ग गए थे, पर जब उन्होंने वहाँ अपने पुण्यों की बहुत प्रशंसा करनी आरम्भ की, तो उनके पुण्य क्षीण हो गए और उन्हें स्वर्ग से नीचे धकेल दिया गया। देवर्षि नारद बहुधा देव सभा में आया-जाया करते थे। इस प्रकार के अनेकों उदाहरण ऐसे हैं, जिनसे स्वर्ग में मनुष्यों का सशरीर जाना सिद्ध होता है। देवता तो प्राय: नीचे आया ही करते थे। रामायण और भागवत में पचासों जगह देवताओं के पृथ्वी पर आने और मनुष्यों से सम्पर्क स्थापित करने के वर्णन आते हैं। अप्सराएँ स्वर्ग से ऋषियों के आश्रमों में आती थीं और ऋषियों को मोहित करके उनके साथ रहती तथा संतान उत्पन्न करती थीं। शृंगी ऋषि को उन्होंने मोहित किया था, विश्वामित्र के साथ रहकर मेनका ने शकुन्तला को जन्म दिया था। यह सूक्ष्म शक्ति वाले, सूक्ष्म रूप वाले, देवी-देवताओं का वर्णन नहीं है, वरन् उनका है जो मनुष्यों की तरह ही शरीर धारण किए थे। चन्द्रमा और इन्द्र ने ऋषि पत्नियों से व्यभिचार किया और फलस्वरूप उन्हें शाप का भागी भी होना पड़ा है।

इन घटनाओं पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि यदि स्वर्ग नामक कोई स्थान पृथ्वी पर भी रहा हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि ऐसा न होता तो देवताओं का पृथ्वी पर और भूलोकवासियों का स्वर्ग में पहुँचना कैसे सम्भव रहा होता?

पुराणों में सुमेरु पर्वत का विस्तृत वर्णन आता है, जिसमें कहा गया है कि देवता सुमेरु पर्वत पर रहते थे। पातंजलि योगप्रदीप में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है- ''मध्य में सुवर्णमय पर्वतराज सुमेरु विराजमान है। इस सुमेरु पर्वतराज के चारों दिशाओं में चार शृंग (पहाड़ की चोटी) हैं। उनमें जो पूर्व दिशा में शृंग है वह रजतमय है। दक्षिण दिशा में जो है, वह वैदूर्यमणिमय है, जो पश्चिम दिशा में शृंग है, वह स्फटिकमय (प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाला) है और जो उत्तर दिशा में शृंग है, वह सुवर्णमय (सुवर्ण के रंग वाले पुष्प विशेष के वर्ण वाला) है।.....सुमेरु पर्वत देवताओं की उद्यान भूमि है, जहाँ मिश्रवन, नन्दनवन, चैत्ररथवन, सुमानसवन चार वन हैं। सुमेरु के ऊपर सुधर्म नामक देवसभा है, सुदर्शन नामक पुर है और वैजयन्त नामक प्रासाद (देवमहल ) है। ...... इसके ऊपर स्वर्गलोक है, जिसको महेन्द्रलोक कहते हैं। इसमें त्रिदश, अग्निष्वात, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित वशवर्ती, परिनिर्मित वशवर्ती ये छह देवयोनि विशेष निवास करते हैं। ये सब देवता संकल्प सिद्ध अणिमादि ऐश्वर्य सम्पन्न और कल्पायुष वाले तथा वृन्दारक (पूजने योग्य) कामभोग और औपपादिक देह वाले हैं और उत्तम अनुकूल अप्सराएँ इनकी स्त्रियाँ हैं। .....सुमेरु अर्थात् हिमालय पर्वत उस समय भी ऊँची कोटि के योगियों के तप का स्थान था।''

महाभारत में पाण्डवों के स्वर्गारोहण का विस्तारपूर्वक वर्णन है। स्वर्ग जाने के लिए द्रौपदी समेत पाँचों पाण्डव हिमालय में गए थे। अन्य सब तो बीच में ही शरीर त्यागते गए, पर युधिष्ठिर सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर सशरीर स्वर्ग जाने में समर्थ हुए हैं। इन्द्र का विमान उन्हें स्वर्ग को ले गया। यह स्वर्गारोहण स्थान सुमेरु पर्वत के समीप ही है। बद्रीनाथ से आगे तेरह मील चलने पर सीढ़ियों की तरह एक के ऊपर एक यह स्वर्गारोहण शिखर दिखाई पड़ते हैं। इन्हें स्वर्ग की सीढ़ियाँ भी कहते हैं। चौखम्भा शिखरों को भी स्वर्ग की सीढ़ी कहा जाता है। इस प्रदेश में पहले यक्ष, गन्धर्व, किन्नर रहते थे, जिन्होंने स्वर्गारोहण के लिए जाती हुई द्रौपदी का अपहरण कर लिया था। भीम ने उनसे युद्ध करके द्रौपदी को छुड़ाया था।

पुराणों में सुमेरु के स्वर्णमय होने का वर्णन है। कवियों ने स्थान-स्थान पर सोने के पहाड़ के रूप में सुमेरु की उपमा दी है। अब भी इन हिमाच्छादित सुमेरु पर्वत पर पीली सुनहरी आभा दृष्टिगोचर होती है। देवताओं के कोषाध्यक्ष कुबेर देवता की नगरी अलकापुरी यहाँ से समीप ही है। अलकनन्दा के उद्गम स्थल को अलकापुरी कहा जाता है। इससे भी इस प्रदेश में स्वर्ग होने की बात पुष्ट होती है।

सुमेरु पर्वत, स्वर्गारोहण, अलकापुरी, नन्दनवन यह सभी स्थान हिमालय के उस भाग में आज भी मौजूद हैं। इसे ही हिमालय का हृदय कहते हैं। इस स्थान को यदि प्राचीनकाल में स्वर्ग कहा जाता हो, तो असम्भव नहीं है। गंगाजी का उद्गम भी यह पुण्य क्षेत्र है। पुराणों में वर्णन है कि गंगा स्वर्ग से नीचे उतरीं। गंगा ग्लेशियर इसी प्रदेश में फैला हुआ है। भगवती गंगा शिवजी के मस्तक पर उतरीं इस आख्यान की भी पुष्टि इस तरह होती है कि शिवलिंग शिखर गोमुख से ऊपर है। गंगा वहीं होकर आती हैं। शिवलिंग शिखर के पास ही नन्दनवन है। नन्दनवन स्वर्ग में ही था, इसका वर्णन पुराणों में आता है। नन्दिनी नदी यहीं बहती है। स्वर्ग में रहने वाली कामधेनु की पुत्री नन्दिनी के साथ इस नदी की कुछ संगति बैठती है। चन्द्र पर्वत इसी प्रदेश में है। कहते हैं चन्द्रमा इसी पर्वत पर निवास किया करते थे। बद्रीनाथ क्षेत्र से मिले हुए सूर्य कुण्ड, वरुण कुण्ड, गणेशकुण्ड अब भी मौजूद हैं। कहते हैं कि इन देवताओं का निवास इन-इन प्रदेशों में रहता था। केदार शिखर होकर इन्द्र का हाथी ऐरावत नीचे आया करता था, ऐसे वर्णन मिलते हैं। एक बार ऐरावत पर चढ़े हुए इन्द्र दुर्वासा ऋषि के आश्रम के समीप होकर गुजरे और ऋषि के स्वागत का तिरस्कार किया, तो उन्हें दुर्वासा ऋषि ने शाप दे दिया था।

गंगोत्री से गोमुख की ओर चलते हुए मार्ग में यह विचार आया कि यदि किसी प्रकार सम्भव हो सके तो इस धरती के स्वर्ग के दर्शन करने चाहिए। भावना धीरे-धीरे अत्यन्त प्रबल होती जाती थी, पर इसका उपाय न सूझ पड़ता था। गोमुख से आगे वह धरती का स्वर्ग आरम्भ होता है। मीलों की दृष्टि से इसकी लम्बाई-चौड़ाई बहुत नहीं है। लगभग ३० मील चौड़ा और इतना ही लम्बा यह प्रदेश है। यदि किसी प्रकार इसे पार करना सम्भव हो तो बद्रीनाथ, केदारनाथ इसके बिलकुल नीचे ही सटे हुए हैं। यों बद्रीनाथ गोमुख से पैदल के रास्ते लगभग २५० मील है, पर इस दुर्गम रास्ते से तो २५ मील ही है। ऊँचाई की अधिकता, पर्वतों के ऊबड़-खाबड़ होने के कारण चलने लायक मार्ग न मिलना तथा शीत अत्यधिक होने के कारण सदा बर्फ जमा रहना, रास्ते में जल, छाया, भोजन, ईंधन आदि की कुछ भी व्यवस्था न होना आदि कितने ही कारण ऐसे हैं जिनसे वह प्रदेश मनुष्य की पहुँच से बाहर माना गया है। यदि ऐसा न होता तो गंगोत्री, गोमुख आने वाले २५० मील का लम्बा रास्ता क्यों पार करते? इस २५ मील से ही क्यों न निकल जाते?

इस मार्ग से कितने ही वर्ष पूर्व स्विट्जरलैण्ड के पर्वतारोही दल ने चढ़ने का प्रयत्न किया था। उसे उस आरोहण में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। सुना था कि शिवलिंग पर चढ़ते हुए दल के एक कुली

का पैर टूट गया था और एक आरोही केदार शिखर पर चढ़ते हुए बर्फ की गहरी दरारों में फँसकर अपने प्राण गँवा बैठा था। फिर भी उस दल ने वह मार्ग पार कर लिया था। इसके बाद दुस्साहसी हिम अभ्यस्त महात्माओं के एक दो दल भी उस दुर्गम प्रदेश को पार करके बद्रीनाथ के दर्शन कर चुके हैं।

साहस ने कहा- ''यदि दूसरे इस मार्ग को पार कर चुके हैं तो हम क्यों पार नहीं कर सकते?'' बुद्धि ने उत्तर दिया- ''उन जैसी शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य अपनी न हो, ऐसे प्रदेशों का अभ्यास और अनुभव भी न हो, तो फिर किसी का अन्ध अनुकरण करना बुद्धिमत्ता नहीं है।'' भावना बोली- ''अधिक से अधिक जीवन का खतरा ही तो हो सकता है यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। कहते भी हैं कि स्वर्ग अपने मरने से ही दीखता है। यदि इस धरती के स्वर्ग को देखने में प्राणसंकट का खतरा मोल लेना पड़ता है, तो कोई बड़ी बात नहीं है। उसे उठा लेने में संकोच न करना चाहिए'' व्यावहारिकता पूछती थी- ''चल भी दिए तो रास्ता कौन दिखायेगा? उतनी सर्दी को शरीर कैसे सहन करेगा? सोने और खाने-पीने की क्या व्यवस्था होगी? अब तक समुद्रतल से ११ हजार फुट ऊँचाई चढ़ी गई है। ऋषिकेश से यहाँ तक आने में १७० मील में ९ हजार फुट चढ़े, जिससे पैरों के देवता कूँच कर गए हैं अब आगे १२ मील के भीतर ९ हजार फुट और चढ़ना पड़ेगा, तो उस चढ़ाई की दुर्गमता पैरों के बस से सर्वथा बाहर की बात होगी।''

इस प्रकार अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था। निर्णय कुछ नहीं हो पा रहा था। प्रश्न केवल साहस का ही न था, अपनी सीमित शक्ति के भीतर भी वह सब है या नहीं, यह भी विचार करना था। मस्तिष्क सारी शक्ति लगाकर समस्या का हल खोज रहा था, पर कोई उपाय सूझ नहीं पड़ता था। अन्तरात्मा कहती थी कि-''अब धरती के स्वर्ग के बिलकुल किनारे पर आ गए, तो उसके भीतर प्रवेश करने का लाभ भी लेना चाहिए। गंगातट पर से प्यासे लौटने में कौन समझदारी है। मरने पर स्वर्ग मिला या न मिला कौन जाने। यहाँ बिलकुल ही समीप धरती का स्वर्ग मौजूद है तो उसका लाभ क्यों नहीं लेना चाहिए?''

स्मरण शक्ति ने इस दुर्गम पथ की स्थिति बताने वाला एक प्राचीन श्लोक उपस्थित कर दिया-

**तत ऊर्ध्वंतु भूमीदृक्षा मर्त्यं संचार दूरगाः।**
**आच्छन्नाः संततस्थापि घनोत्तुंग महाहिमैः॥**
**गोमुखी तु विशाला दूर्गाति दूरे विराजते।**
**तत्रायं गमने मार्गः सिद्धानांचामृतांधसाम्॥**

''उस (गोमुख) से आगे के पर्वत अतीवस घने, ऊँचे और भारी बर्फ से ढँके हैं। वे मनुष्य की पहुँच से बाहर हैं। उस ओर से बद्रीनारायण पुरी बहुत दूर नहीं है, लेकिन वह मार्ग मनुष्य के लिए असम्भव है, वह सिद्ध और देवताओं का मार्ग है। इस मार्ग से वे ही जाते हैं।''

''अपने ऐसे भाग्य कहाँ, जो इस सिद्ध और देवताओं के मार्ग पर चल सकें।'' इस प्रकार की निराशा बार-बार मन में आती थी, पर साथ ही आशा की एक बिजली भी कौंधती थी और कोई कहता था कि- ''**जाकी कृपा पंगु गिरि लंघहि, रंक चलहि सिर छत्र धराई**'' वाली कृपा उपलब्ध होती है तो यह भूतल का दुर्गम प्रदेश ही क्या, और भी ऊँचे से ऊँचे दुर्गम स्तरों को पार और प्राप्त किया जा सकता है।''

यह भाव जैसे-जैसे प्रबल होते गए, वैसे-वैसे ही अन्तःकरण में एक नवीन आशा और उत्साह का संचार होता गया। सर्वशक्तिमान की सत्ता कैसी अपरम्पार है कि वह कामना पूर्ण होकर रही, वह दिन भी आया जब उस पुण्य प्रदेश में प्रवेश करके यह तन सार्थक बना। न भूलने योग्य उन क्षणों का जब भी स्मरण हो आता है, तब रोमांच खड़े हो जाते हैं, आत्मा पुलकित हो उठती है और सोचता हूँ कि ''प्रभु! यदि उन्हीं आनन्दमय क्षणों में चिरशान्ति प्राप्त हो जाती तो कितना उत्तम होता, पर जो कर्मफल अभी और भोगना है, उसे कौन भोगता, यह सोचकर किसी प्रकार मन को समझाना ही पड़ता है।''

इस पुण्यप्रदेश हिमालय के हृदय और धरती के स्वर्ग की यात्रा और स्थिति का वर्णन करने से पूर्व इस क्षेत्र की महत्ता पर विचार करेंगे। जिस प्रकार हृदय में स्थित रक्त, धमनियों के द्वारा सारे शरीर में फैलता है, जैसे उत्तर ध्रुव का चुम्बकत्व सारी पृथ्वी पर अपना आकर्षण फैलाए हुए है, लगता है कि उसी प्रकार हिमालय का यह हृदय अपने दिव्य स्पन्दनों के दूर-दूर तक अध्यात्म तरंगों को प्रवाहित करता है।

जिस प्रकार हृदय के ऊपर कितने ही प्रकार के स्वर्ण रत्नों से जटित आभूषण धारण किए जाते हैं, उसी प्रकार इस हिमालय के हृदय के चारों ओर एक घेरे के रूप में कितने ही महत्त्वपूर्ण तीर्थों की एक सुन्दर शृंखला पहनाई हुई है। महाभारत के बाद जो तीर्थ इस क्षेत्र में अस्त-व्यस्त हो गए थे, उनका पुनरुद्धार करने की प्रेरणा जगद्‌गुरु आद्यशंकराचार्य को हुई और उन्होंने कठिन प्रयत्न करके उन तीर्थों को पुनः स्थापित किया। जिस प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने बृजभूमि के विस्मृत पुण्य क्षेत्रों को अपने योग बल से पहचान कर उन स्थानों का निर्माण कराया था, उसी प्रकार जगद्‌गुरु शंकराचार्य को भी यह प्रेरणा हुई थी कि वे उत्तराखण्ड की विस्मृत देवभूमियों तथा तपोभूमियों का पुनरुद्धार करावें। वे दक्षिण भारत के केरल प्रान्त से चलकर उत्तराखण्ड आये और उन्होंने बद्रीनाथ आदि अनेकों मन्दिरों का निर्माण कराया। आज उत्तराखण्ड का जो गौरव परिलक्षित होता है, उसका बहुत कुछ श्रेय उन्हीं को है।

इस 'हिमालय के हृदय' के किनारे-किनारे जितने तीर्थ हैं उतने भारतवर्ष भर में और कहीं नहीं हैं। देवताओं की निवासभूमि सुमेरु पर्वत पर बताई गई है।

सुमेरु पर पहुँचना मनुष्यों के लिए अगम्य है, इसलिए जनसम्पर्क की दृष्टि से कुछ नीचे उत्तराखण्ड की तपोभूमि में देवताओं ने अपने स्थान बनाए। राजा का व्यक्तिगत समय अपने राजमहलों में व्यतीत होता है, वहाँ हर कोई नहीं पहुँचता, पर राजदरबार का स्थान राजा जनकार्यों के लिए ही सुरक्षित रखता है। सुमेरु यदि देवताओं का राजमहल कहा जाए, तो उससे कुछ ही नीचे के समीपतम देवस्थानों को राजदरबार कहा जा सकता है। उत्तराखण्ड के नक्शे पर एक दृष्टि डाली जाए तो यह निश्चय हो जाता है कि 'हिमालय के हृदय' से नीचे के भाग को देवभूमि कहा जाना सार्थक ही है।

हरिद्वार से ही लीजिए। यहाँ ब्रह्माजी ने यज्ञ किया था। दक्ष प्रजापति ने कनखल में यज्ञ किया था और उनकी पुत्री सती अपने पति शिव का अपमान सहन न करके इसी यज्ञ में कूद पड़ी थीं। यह मायापुरी, सप्तपुरियों में से एक है। देवप्रयाग में वाराह भगवान का निवास हुआ है। सूर्य तीर्थ यहाँ है, रघुनाथ जी तथा काली भैरव की भी स्थापना है। आगे ढुंढप्रयाग तीर्थ में गणेश जी ने तप किया था। श्रीनगर में भैरवी पीठ है, चामुण्डा, भैरवी, कंसमर्दिनी, गौरी, महिषमर्दिनी, राजेश्वरी देवियों का यहाँ निवास है। चण्ड-मुण्ड, शुंभ-निशुंभ, महिषासुर आदि असुरों का उन्होंने यहीं वध किया था। सौडी चट्टी से ५ मील ऊपर स्वामिकार्तिक का स्थान है। इससे पूर्व मठचट्टी के सामने सूर्य प्रयाग में सूर्य पीठ है और वहाँ से दो मील भणगा गाँव में छिन्नमस्ता देवी तथा वहाँ से दो मील आगे जैली में कूर्मासना देवी विराजमान हैं। गुप्त काशी में अन्नपूर्णा देवी का निवास है। नारायण कोटितीर्थ में लक्ष्मी सहित नारायण की प्रतिष्ठा है। १ मील पश्चिम के पहाड़ पर यक्ष देवता का मेला लगता है। रामपुर से दो मील आगे शाकम्भरी देवी है जहाँ एक मास शाक खाकर तप करने का बड़ा महत्त्व माना जाता है। त्रियुगी नारायण में नारायण मन्दिर के अतिरिक्त लक्ष्मी, अन्नपूर्णा और सरस्वती की स्थापना है। शिव-पार्वती विवाह भी यहीं हुआ था। उस विवाह की अग्नि एक चतुष्कोण कुण्ड में अभी तक जलती रहती है। नारायण मन्दिर में अखण्ड दीपक भी जलता है। सोन प्रयाग में मन्दाकिनी और वासुकी गंगा हैं। वासुकी नाग का निवास इस गंगा के तट पर था। पास ही कालिका देवी का स्थान है, सोन प्रयाग से आधा मील आगे वह स्थान है, जहाँ शिव ने गणेश का सिर काटा था और फिर हाथी का सिर लगाया था। यहाँ बिना सिर के गणेश की प्रतिमा है।

केदारनाथ तीर्थ में वह स्थान है जहाँ पाण्डव अपने कुलघात के दोष का निवारण करने के लिए शंकर भगवान के दर्शनों के लिए गए थे, पर उनके पाप को देखते हुए शिवजी वहाँ से भैंसे का रूप बनाकर भागे। भागते हुए भैंसे को पीछे से पाण्डवों ने पकड़ लिया। जितना अंग पकड़ में आया उतना वहाँ रह गया, शेष अंग को छुड़ाकर शिवजी भाग गए। हिमालय में पांच केदार हैं-केदारनाथ, मध्यमेश्वर, तुंगनाथ, रुद्रनाथ, कल्पेश्वर। रुद्रनाथ के समीप वैतरणी नदी बहती है। पुराणों में वर्णन आता है कि यमलोक में जाते समय जीव को रास्ते में वैतरणी नदी मिलती है। गोपेश्वर में एक वृक्ष पर लिपटी हुई बहुत पुरानी कल्पलता है, जो प्रत्येक ऋतु में फूल देती है। स्वर्ग में कल्पवृक्ष या कल्पलता होने की बात की संगति इस कल्पलता से बिठाई जाती है। पास ही अग्नि तीर्थ है। यहीं कामदेव का निवास था। शंकरजी से छेड़छाड़ करने के अपराध में उसे यहीं भस्म होना पड़ा था। काम की पत्नी रति ने यहाँ तप किया था, इसलिए वहाँ रतिकुण्ड भी है।

पीपल कोटि से ३॥ मील आगे गरुड़ गंगा है, यहाँ विष्णु का वाहन गरुड़ का निवास माना जाता है। जोशीमठ में नृसिंह भगवान विराजते हैं। विष्णु प्रयाग में विष्णु भगवान का निवास है। यहाँ ब्रह्मकुण्ड, शिवकुण्ड, गणेशकुण्ड, टिंगीकुण्ड, ऋषिकुण्ड, सूर्यकुण्ड, दुर्गाकुण्ड, कुबेरकुण्ड, प्रह्लादकुण्ड अपने अधिपतियों के नाम से विख्यात हैं। पाँडुकेश्वर से एक मील आगे शेषधारा है जहाँ शेषजी का निवास माना जाता है। बद्रीनाथ में नर, नारायण, गरुड़, कुबेर, उद्धव तथा लक्ष्मीजी की प्रतिमाएँ हैं। सरस्वती, गंगा और अलकनन्दा के संगम पर केशव प्रयाग है, पास ही सम्याप्रास तीर्थ है, यहाँ गणेश गुफा तथा व्यास गुफा है। व्यास जी ने महाभारत गणेश जी द्वारा यहीं लिखाया था।

केदारखण्ड में वर्णन है कि कलियुग में म्लेच्छ शासन आ जाने और पाप बढ़ जाने से शंकर जी काशी छोड़कर उत्तरकाशी चले गए, अब यहीं उनका प्रमुख स्थान है। विश्वनाथ का मन्दिर यहाँ प्रसिद्ध है। देवासुर संग्राम के समय आकाश से गिरी हुई शक्ति की स्थापना भी दर्शनीय है। आगे ढोढी तालाब है, जहाँ गणेशजी का जन्म हुआ था।

गंगोत्री के समीप रुद्रगैरु नामक स्थान है, यहाँ से रुद्र गंगा निकलती है, यहाँ एकादश रुद्रों का निवास स्थान है। जागला चट्टी के पास गुंगुम नाला पर वीरभद्र का निवास है।

इस प्रकार हिमालय के हृदय स्थल पर खड़े होकर जिधर भी दृष्टि घुमाई जाए, उधर तीर्थों का वन ही दिखाई देता है। गंगोत्री आदि ठण्डे स्थानों के निवासी जाड़े के दिनों में ऋषिकेश, उत्तरकाशी आदि कम ठण्डे स्थानों में उतर आते हैं। उसी प्रकार लगता है कि देवता भी सुमेरु पर्वत से नीचे उतर कर उत्तराखण्ड में अपने सामयिक निवास स्थल बना लेते होंगे। इन देवस्थलों में आज भी जनकोलाहल वाले बड़े नगरों की अपेक्षा कहीं अधिक सात्विकता एवं आध्यात्मिकता दृष्टिगोचर होती है। देवतत्त्वों की प्रचुरता का यह प्रत्यक्ष प्रमाण कोई व्यक्ति अब भी देख सकता है।

तपस्वी लोग तपस्या द्वारा देवतत्त्वों को ही प्राप्त करते हैं। जहाँ देवतत्त्व अधिक हों, वहीं उनका प्रयोजन सिद्ध

होता है। इसलिए प्राचीन इतिहास, पुराणों पर दृष्टि डालने से यही प्रतीत होता है कि प्रायः प्रत्येक ऋषि ने उत्तराखण्ड में आकर तप किया है। उनके आश्रम तथा कार्यक्षेत्र भारत के विभिन्न प्रदेशों में रहे हैं, पर वे समय-समय पर तप-साधना करने के लिए इसी प्रदेश में आते रहे हैं। विविध कामनाओं के लिए विभिन्न व्यक्तियों ने भी तपस्याएँ इधर ही की हैं। अनेक असुरों ने भी अपने उपासना क्षेत्र इधर ही बनाए थे। कतिपय देवताओं ने भी तप यहीं किया था। इसे ही अर्थों में धरती का स्वर्ग और हिमालय का हृदय तो यहीं से आरम्भ पड़ता है।

बद्रीनाथ में विष्णु भगवान ने तपस्वी का रूप धारण कर स्वयं घोर तप किया था। उस तीर्थ में जाने का प्रधान द्वार होने के कारण हरिद्वार नाम पड़ा। राजा श्वेत ने यहाँ तप किया था। कुशावर्त पर्वत पर दत्तात्रेय जी ने तप किया था। हरिद्वार से तीन मील आगे सप्तसरोवर नामक स्थान पर गंगा के बीच में बैठकर सप्तऋषियों ने तप किया था। गंगाजी ने उनकी सुविधा के लिए उनका स्थान छोड़ दिया और सात धाराएँ बनकर बहने लगीं। बीच में सातों ऋषियों के तप करने की भूमि अलग अलग छूटी हुई है। इसी स्थान पर जह्नु मुनि तप करते थे। जब भगीरथ गंगा को लाए और भगवती बड़े वेग से गर्जन-तर्जन करती आ रही थीं तो मुनि को यह कौतूहल बुरा लगा। उन्होंने गंगा को अंजली में भरकर पी लिया। भगीरथ आगे-आगे चल रहे थे, उन्होंने गंगा को लुप्त हुआ देखा तो आश्चर्य में पड़े। कारण मालूम होने पर उन्होंने जह्नु मुनि की बड़ी अनुनय-विनय की तब उन्होंने गंगा को उगल दिया। इसी से सप्त सरोवर के बाद की गंगा को जह्नु पुत्री या जाह्नवी कहते हैं। इससे ऊपर की गंगा 'भागीरथी' कहलाती है। जह्नु के उदर में रहने के कारण वे जह्नुतनया कही गईं।

रावण, कुम्भकरण, मेघनाद आदि को मार डालने के कारण रामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी को ब्रह्महत्या का पाप लगा। इस पाप के फलस्वरूप लक्ष्मणजी को क्षयरोग और रामचन्द्रजी को उन्निद्र रोग हो गया। वशिष्ठजी ने इस पाप से छूटने के लिए उन्हें तप करने को कहा। लक्ष्मणजी ने लक्ष्मण झूला में और रामचन्द्रजी ने देवप्रयाग में दीर्घकाल तक घोर तप किया। बड़े भाइयों को इस प्रकार तप करते देखकर भरत और शत्रुघ्न ने भी उनका अनुकरण किया। भरत ने ऋषिकेश में और शत्रुघ्न ने मुनी की रेती में तप किया। इसी क्षेत्र में बाबा काली-कमली वालों का बनाया हुआ 'स्वर्गाश्रम' नामक स्थान है, जहाँ आज भी अनेक सन्त महात्मा तप करते हैं। लक्ष्मण झूला से ३० मील आगे व्यासघाट में व्यासजी ने तप करके आत्मज्ञान पाया था।

देवप्रयाग में ब्रह्माजी ने भी तप किया था। अलकनन्दा और गंगा के संगम का दृश्य अद्भुत ही मनोहर है। प्रसिद्ध विद्वान मेधातिथि ने यहीं तप करके सूर्य शक्ति को प्रत्यक्ष किया था। वशिष्ठ तीर्थ भी यहीं है, जहाँ वशिष्ठजी ने तप किया था। यहीं वशिष्ठ गुफा नाम की एक विशाल गुफा भी नगर से कुछ पहले है। रघुवंशी राजा दलीप, रघु और अज ने यहाँ तप किए थे, शापपीड़ित वैताल और पुष्पमाल किन्नरी ने भी अपने पापों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए देवप्रयाग के समीप ही तप किया था।

आगे चलकर इन्द्रकील नामक स्थान पर अर्जुन ने तप करके पाशुपति अस्त्र प्राप्त किया था। खाण्डव ऋषि जहाँ तप करते थे, उसके समीप बहने वाली नदी खाण्डव गंगा कहलाती है। श्रीनगर के पास राजा सत्यसंध ने तप करके कोलासुर राक्षस को मारने योग्य सामर्थ्य प्राप्त की थी। राजा नहुष ने भी यहीं तप करके इन्द्र पद पाया। वह्नि धारा और वह्नि पर्वत के बीच अष्टावक्र ऋषि का तप स्थान है। राजा देवल ने भी समीप ही कठोर साधना की थी।

रुद्रप्रयाग में नारदजी ने तप करके संगीत सिद्धि प्राप्त की थी। अगस्त्य मुनि ने जहाँ अपना सुप्रसिद्ध नवग्रह अनुष्ठान किया था, वह उन महर्षि के नाम पर 'अगस्त्य मुनि' कहलाने लगा। शौनक ऋषि ने यहाँ एक यज्ञ किया था। भीमी चट्टी के पास मन्दाकिनी के समीप भीम ने तप किया था। इससे आगे शोणितपुर में बाणासुर ने अपने रक्त का यज्ञ करके तपस्या की थी और शिवजी को प्रसन्न करके सम्पूर्ण जगत को जीत लेने में सफलता प्राप्त की थी।

चन्द्रमा को जब क्षयरोग हो गया था, तो उसने कालीमठ से पूर्व मतंग शिला से पाँच मील आगे राकेश्वरी देवी के स्थान पर तप करके रोगमुक्ति पाई थी। फाटा चट्टी से आगे जमदग्नि ऋषि का आश्रम है। सोमद्वार से आगे २॥ मील पर गौरी कुण्ड है। पास ही नाथ सम्प्रदाय के आचार्य गुरु गोरखनाथ का आश्रम है। उन्होंने यहीं तप किया था। केदारनाथ तीर्थ में इन्द्र ने जिस स्थान पर तप किया था, वह स्थान इन्द्र पर्वत कहलाता है। ऊखीमठ में राजा मान्धाता ने तप किया था। गुप्त काशी के पूर्वी मन्दाकिनी नदी के दूसरी पार राजा बलि ने तप किया था, यहीं बलिकुण्ड है। तुंगनाथ के पास मार्कण्डेयजी का आश्रम है। मण्डल गाँव चट्टी के पास बालखिल्य नदी है। यह नदी बालखिल्य ऋषियों ने अपनी तप साधना के लिए अभिमंत्रित की थी। राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ यहीं किया था और सन्तान के लिए सौ वर्ष तक आयोजन भी इसी स्थान पर किया था।

नन्दप्रयाग से आगे विरही नदी के तट पर सती विरह में दुःखी शंकर ने अपने शोक को शान्त करने के लिए तप किया था। कुम्हार चट्टी से ६ मील पश्चिमोत्तर ऊर्गम गाँव है, यहाँ राजा अज ने तप किया था। कल्पेश्वर के समीप दुर्वासा ऋषि का स्थान था। समीप ही कल्पस्थल है, जहाँ पूर्वकाल में कल्पवृक्ष का होना माना जाता है। वृद्ध बद्री के पास गुफाएँ हैं जहाँ प्राचीनकाल में तपस्वी लोग अपनी साधनाएँ किया करते थे। जोशीमठ में जगद्गुरु शंकराचार्य ने तप किया था, उपनिषदों के भाष्य लिखे और ज्योतिष पीठ नामक गद्दी स्थापित की थी। यहीं उन्होंने अपना नश्वर शरीर भी त्यागा। जोशीमठ से छह

मील आगे तपोवन है। यहाँ व्यासजी का वेद विद्यालय था। शुकदेव जी का आश्रम भी यहाँ से समीप में ही है। पाण्डुकेश्वर में पाण्डवों के पिता राजा पाण्डु ने तप किया था। यहाँ से ६ मील आगे हनुमान चट्टी है, जहाँ वृद्ध होने पर हनुमानजी ने तप किया। एक बार भीम उधर से निकले, उन्हें अपने बल पर अभिमान था। हनुमानजी ने कहा- ए वीर! मैं बहुत वृद्ध बन्दर हूँ । अब मुझ से मेरे अंग भी नहीं हलते, तुम मेरी पूँछ उठाकर सरका दो, तो बड़ी कृपा हो। भीम ने पूँछ उठाई पर उठ न सकी। तब उन्होंने हनुमानजी को पहचाना और क्षमा माँगी। हनुमान चट्टी के पास अलकनन्दा के उस पार क्षीर गंगा और घृत गंगा का संगम है। पूर्वकाल में इनका जल दूध और घी के समान पौष्टिक था। यहीं वैखानस मुनि तप करते थे। राजा मरुत ने यहीं एक बड़ा यज्ञ किया था, जिसकी भस्म अभी भी वहाँ मिलती है । कर्णप्रयाग में कर्ण ने सूर्य का तप करके कवच और कुण्डल प्राप्त किए थे।

गंगोत्री मार्ग में उत्तरकाशी तपस्वियों का प्रमुख स्थान रहा है। परशुराम जी ने यहीं तप करके पृथ्वी को २१ बार अत्याचारियों से विहीन कर देने की शक्ति प्राप्त की थी। जड़-भरत का स्वर्गवास यहीं हुआ था, उनकी समाधि अब भी मौजूद है। नचिकेता का तपस्थल भी यहीं है। नचिकेता सरोवर देखने योग्य है। यहाँ से आगे नाकोरी गाँव के पास कपिल मुनि का स्थान है। पुरवा गाँव के पास मार्कण्डेय और मतंग ऋषियों की तपोभूमियाँ हैं। इसके पास ही कचौरा नामक स्थान में पार्वती जी का जन्म हुआ था। हरिप्रयाग (हर्षिल), गुप्तप्रयाग (कुसिघाट) तीर्थ भी इसी मार्ग में पड़ते हैं। आगे गंगोत्री का पुण्य धाम है, जहाँ भगीरथ ने तप करके गंगा का स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरण किया था। यहाँ अभी भी कितने ही महात्मा प्रचण्ड तप करते हैं। शीत ऋतु में, जबकि कभी-कभी तेरह फुट तक बर्फ पड़ती है, ये तपस्वी बिलकुल नग्न शरीर रहकर अपनी कुटियाओं में तप करते रहते हैं। गोमुख गंगा का वर्तमान उद्गम यहाँ से १८ मील है। उस मार्ग में भी कई महात्मा निवास करते और तप-साधना में संलग्न रहते हैं।

सिक्खों के गुरु गोबिन्दसिंह ने जोशीमठ के पास हेमकुण्ड में २० वर्ष तक तप करके सिक्ख धर्म को प्रगतिशील बनाने की शक्ति प्राप्त की थी। स्वामी रामतीर्थ का यही सबसे प्रिय प्रदेश था। वे गंगा और हिमालय के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। टिहरी के पास गंगाजी में स्नान करते समय वे ऐसे भावविभोर हुए कि उसकी लहरों में ही विलीन हो गए।

उत्तराखण्ड को साधना क्षेत्र में चुनने में इनमें से प्रत्येक ने सूक्ष्म दृष्टि से ही काम लिया है। वे जानते थे कि हिमालय के हृदय, धरती के स्वर्ग प्रदेश की दिव्य शक्ति अपनी ऊष्मा को अपने निकटवर्ती क्षेत्र में ही अधिक बिखेरती है, इसलिए वहीं पहुँचना उत्तम है। अग्नि का लाभ उठाने के लिए उसके समीप ही जाना पड़ता है। आध्यात्मिक तत्त्वों की किरणें जहाँ अत्यन्त तीव्र वेग से प्रवाहित होती हैं, वह स्थान सुमेरु केन्द्र ही है। केवल पानी वाली गंगा ही वहाँ से नहीं निकलती, आध्यात्मिक गंगा का उद्गम भी वहीं है। उस पुण्य प्रदेश धरती के स्वर्ग को देख सकना कैसे सम्भव हुआ? वहाँ क्या देखा और क्या अनुभव किया? वहाँ की दुर्गमता किस प्रकार सुगम बनी है? इसका विवरण अब उपस्थित करना है।

# अध्यात्म-साधना के लिए हिमालय की उपयोगिता

किसी भी कार्य की सफलता के लिए उपयुक्त स्थान और अवसर की आवश्यकता होती है। यह ठीक है कि मनस्वी पुरुषार्थी लोग पत्थरों पर भी अपना रास्ता बना लेते हैं और असम्भव को भी सम्भव बना देते हैं। यह भी ठीक है कि एकाग्रता, निष्ठा, तन्मयता और प्रबल इच्छाशक्ति की प्रचण्डता के सामने अनुपयुक्त परिस्थितियाँ भी उपयुक्त बन जाती हैं, पर साथ ही यह भी मानना ही पड़ेगा कि उपयुक्त स्थान और वातावरण का भी कम महत्त्व नहीं है। यदि कार्य के अनुकूल परिस्थितियों एवं साधनों की व्यवस्था कर ली जाए तो मंजिल सहज ही प्राप्त होती है और असफलता का भय बहुत अंशों में दूर हो जाता है। इसके प्रतिकूल यदि साधनों का अभाव हो, तो मनस्वी व्यक्तियों को भी अपना लक्ष्य पूर्ण करने में बहुत देर लगती है और बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। अनुकूल साधन प्राप्त होने पर जितने समय और श्रम में जितनी सफलता प्राप्त की जाती है, प्रतिकूल परिस्थितियों में उससे बहुत कम सफलता, अत्यधिक श्रम और समय लगाने पर उपलब्ध होती है। इसलिए उचित यही है कि किसी कार्य को करने के लिए उसके उपयुक्त परिस्थितियाँ और साधनों को तलाश कर लिया जाए।

यदि खेती ऊसर या पथरीली जमीन पर की जाए तो फसल बहुत कम ही उपजेगी। अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए उपजाऊ जमीन ढूँढ़नी पड़ेगी और साथ ही खाद, सिंचाई की सुविधा का भी प्रबन्ध करना होगा। यह ठीक है कि कोई मनस्वी व्यक्ति प्राण-पण से जुट जाएँ, तो ऊसर जमीन को भी अपने पुरुषार्थ से उपजाऊ बना सकते हैं, पर इसमें उन्हें उससे कहीं अधिक शक्ति व्यय करनी पड़ेगी जितनी कि अधिक उपजाऊ और जल-सुविधा की भूमि प्राप्त होने पर करनी पड़ती । इसलिए बुद्धिमान लोग, कार्य की सफलता के लिए, उपयुक्त साधनों और परिस्थितियों के सम्बन्ध में भी समुचित ध्यान दिया करते हैं।

आध्यात्मिक साधनाएँ कहीं भी की जा सकती हैं, अपना घर भी उसके लिए बुरा नहीं है। 'सभी भूमि गोपाल' की होने के कारण सर्वत्र परमात्मा ही समाया हुआ है, इसलिए किसी स्थान विशेष में प्रभु का स्मरण करने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। फिर भी उपयुक्त स्थान की अपनी बहुत कुछ विशेषता होती है। गीता के विभूतियोग अध्याय में भगवान ने बताया है कि

विशेषतायुक्त प्रत्येक वस्तु में मेरी प्रधानता समझनी चाहिए। यही बात स्थान के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

जिस प्रकार पशुओं में गौ, पक्षियों में हंस, वृक्षों में पीपल, पौधों में तुलसी, धान्यों मे जौ की सात्त्विकता प्रसिद्ध है, सतोगुणी तत्त्वों की मात्रा अधिक होने से उनका सान्निध्य एवं सेवन सब प्रकार मंगलमय माना जाता है, इसी प्रकार कुछ स्थानों और नदी-सरोवरों में यह सूक्ष्म सात्त्विक शक्ति प्रचुर परिमाण में पाई जाती है, तदनुसार उनके समीप रहने वालों में भी सत्तत्त्व बढ़ता है और आध्यात्मिक सफलता का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने ऐसे स्थानों की खोज उसी प्रकार की थी, जिस प्रकार आजकल सोने, चाँदी आदि धातुओं की खानें खोजी जाती हैं। जो स्थान सत्तत्त्व से ओत-प्रोत मिले, उन्हें तीर्थ घोषित किया गया। वहाँ ऋषि-मुनियों ने अपने निवास एवं साधना के स्थान बनाए। साथ ही जनता को भी उन तीर्थों में स्नान एवं दर्शन के अभिप्राय से समय-समय पर आते रहने और वहाँ कुछ दिन निवास करके आत्मिक एवं स्वास्थ्यलाभ करने का निर्देश किया। इन तीर्थों में उन ऋषियों का सान्निध्य, सत्संग एवं मार्गदर्शन भी आगन्तुक तीर्थयात्रियों को प्राप्त होता था, जिससे उनके अन्तःकरण की मुरझाई हुई कली फिर हरी हो जाती थी।

दुर्भाग्य और समय के फेर से आज तीर्थों का वातावरण भी विकृत हो गया है। वहाँ के निवासी ऋषियों के वंशज कहकर दानदक्षिणा तो बटोरते हैं, पर चरित्र, तप, त्याग एवं ज्ञान-विज्ञान से रहित होने के कारण आगन्तुकों का कुछ भला नहीं कर पाते। इतना ही नहीं उलटे अपने निम्न मानसिक स्तर और लूट-खसोट के कारण लोगों में अश्रद्धा ही उत्पन्न करते हैं। इतना सब होते हुए भी उन स्थानों की सूक्ष्म शक्ति अभी भी पूर्ववत बनी हुई है। गंगा में अनेक मगर, मेढक पड़े रहें, उसमें मल-मूत्र एवं दुष्कर्म भी करते रहें तो भी गंगा अपवित्र नहीं होती और न उसकी महत्ता में कोई कमी आती है। इसी प्रकार जो स्थान ऋषियों ने सत्तत्त्व प्रधान खोजे थे, मूलतः आज भी वैसे ही बने हुए हैं यद्यपि बाह्य वातावरण वहाँ का बहुत करके उलटा ही हो गया है।

स्थान की अपनी विशेषता होती है। श्रवणकुमार जब अपने अन्धे माता-पिता की काँवर कंधे पर रखकर उन्हें तीर्थयात्रा कराने ले जा रहे थे, तो एक स्थान ऐसा आया जहाँ पहुँचते ही श्रवणकुमार का मन बदल गया। उन्होंने काँवर जमीन पर रख दी और माता-पिता से कहा- ''आप लोगों को आँखें ही तो नहीं हैं, पैदल चलिए, मैं सिर्फ आपको रास्ता बताऊँगा, कंधे पर लादे न फिरूँगा।'' आदर्श पितृभक्त श्रवणकुमार में इस प्रकार का अचानक परिवर्तन देखकर उसके पिता क्रुद्ध न हुए वरन् वस्तुस्थिति को समझ गए और उन्होंने कहा- ''हम लोग पैदल ही चलेंगे, पर तुम इतना अवश्य करो कि जल्दी ही इस स्थान को छोड़ दो और तेजी से चलकर कहीं दूसरी जगह में हमें ले चलो।'' श्रवणकुमार ने ऐसा ही किया। जैसे ही वह क्षेत्र समाप्त हुआ, बालक की बुद्धि ने पलटा खाया और वह अपनी भूल पर बड़ा दुःखी हुआ। माता-पिता से रो-रोकर क्षमा माँगने लगा और पुनः उन्हें कंधे पर बिठा लिया।

श्रवणकुमार के पिता ने बालक को सान्त्वना देते हुए एक पुराना इतिहास बताया कि इस स्थान पर एक दानव रहता था और यहाँ कुकृत्यों एवं कुविचारों का केन्द्र जमा रहता था। उन्हीं अशुभ संस्कारों से संस्कारित होने के कारण यह भूमि ऐसी है कि यहाँ कोई सद्विचार वाला व्यक्ति पहुँचे तो वह भी कुविचारी बन जाता है। इसलिए हे पुत्र, इसमें तुम्हारा दोष नहीं है, यह भूमिगत दोष है। ऐसी पातकी भूमियों से दूर ही रहना चाहिए।

इसी प्रकार की एक कथा तब की है, जब महाभारत होने को था। श्रीकृष्ण जी को भय था कि भाई-भाइयों का युद्ध है, कहीं ऐसा न हो कि लड़ते-लड़ते किसी का मोह उमड़ पड़े और दुष्टों के संहार का कार्य अधूरा ही रह जाए। इसलिए युद्ध के लिए ऐसी भूमि ढूँढ़नी चाहिए जहाँ नृशंसता और निर्ममता का बोलबाला हो। ऐसी भूमि तलाश करने के लिए श्रीकृष्ण जी ने सभी दिशाओं को दूर-दूर तक दूत भेजे और वहाँ की विविध घटनाओं के समाचार लाकर देने का आदेश दिया। दूत गए और बहुत दिन बाद अपने समाचार लाकर दिए। एक दूत ने बताया कि- ''उसने एक स्थान पर ऐसी घटना देखी कि बड़ा भाई छोटे भाई को कह रहा था कि वर्षा के कारण खेत की मेंड़ टूट गई है, उसे ठीक कर आओ। छोटे भाई ने बड़े को बड़ा अपमानजनक उत्तर दिया और कहा, यह कार्य तू कर। बड़े भाई को ऐसा क्रोध आया कि छोटे भाई का गला मरोड़ डाला और उसकी लाश को घसीटता हुआ वहाँ ले गया, जहाँ खेत की मेंड़ टूटी पड़ी थी। उस लाश को ही उसने मिट्टी की जगह डालकर मेंड़ सुधारी, इस घटना को सुनकर श्रीकृष्ण जी समझ गये कि जहाँ भाई-भाई के बीच नृशंसता बरती जा सकती हो, वही भूमि इस युद्ध के लिए उपयुक्त है। उन्होंने उसी जगह लड़ाई का झण्डा गढ़वा दिया और अन्त तक दोनों ही पक्ष इस युद्ध को एक-दूसरे के खून के प्यासे होकर लड़ते रहे।

उपर्युक्त दो घटनाओं में जिस प्रकार भूमि के कुसंस्कारित होने की चर्चा है, उसी प्रकार सुसंस्कारी भूमियाँ भी होती हैं और वहाँ रहने से मनुष्य की भावनाओं और विचारधाराओं में तदनुकूल प्रवाह उठने लगते हैं। यदि उन प्रेरणाओं को थोड़ा प्रोत्साहन एवं सिंचन मिलता रहे तो निस्संदेह उस स्थान की सुसंस्कारिता से बहुत लाभ उठा सकते हैं। अध्यात्म मार्ग के पथिकों के लिए तो ऐसे स्थान बहुत ही मंगलमय होते हैं। ऐसे स्थान का चुनाव कर लेने से उन्हें आधी सफलता तो उस चुनाव के कारण ही मिल जाती है।

सतोगुणी आध्यात्मिक साधनाओं के लिए हिमालय का उत्तराखण्ड बहुत ही उपयुक्त है। प्राचीनकाल में अधिकांश ऋषियों ने इसी भूमि में अपनी तपस्याएँ पूर्ण की

थीं। इस प्रदेश में भ्रमण करने से पता चलता है कि भारतवर्ष के प्रधान-प्रधान सभी ऋषियों के आश्रम प्राय: इसी क्षेत्र में थे। कुछ ऋषि ऐसे भी थे, जो आवश्यक प्रयोजनों के लिए देश के विभिन्न भागों में जाकर वहाँ अभीष्ट कार्य करते थे और कार्य की सुविधा के लिए वहाँ भी आश्रम बनाते थे, पर जब भी उन्हें अधिक आत्मबल उपार्जन के लिए तप करने की आवश्यकता पड़ती थी तब फिर इसी हिमालय भूमि में जा पहुँचते थे। सहस्रधारा होकर गंगा इसी प्रदेश में बहती है। यों गंगा का प्रथम दर्शन गंगोत्री से १८ मील ऊपर गोमुख नाम के स्थान में होता है, पर वहाँ तो एक छोटा पतला-सा प्रधान झरना मात्र है। गंगा में जो जल एकत्रित होता है, वह उत्तराखण्ड की हजार निर्झरणियों, लघु नदियों द्वारा होता है। इन सब को भी गंगा का अंग मानते हैं और ऐसा समझा जाता है कि गंगा इस प्रदेश में सहस्रधारा होकर बही है और फिर अन्त में सब मिलकर हरिद्वार से एक सम्मिलित पूर्ण गंगा बन गई है। इस प्रकार सारा हिमालय प्रदेश, उत्तराखण्ड, गंगा के द्वारा पवित्र होकर आध्यात्मिक साधना के साधकों के लिए अलभ्य सुयोग उपस्थित करता है।

ये ऊँचे, ठण्डे, पर्वतीय प्रदेश स्वास्थ्य के लिए जलवायु की दृष्टि से बहुत ही लाभदायक माने जाते हैं। धनी सम्पन्न लोग गर्मी के दिनों में शान्ति, मनोरंजन एवं स्वास्थ्यलाभ करने के लिए इन मनोरम प्रदेशों में सैर करने जाया करते हैं। काश्मीर, शिमला, देहरादून, मंसूरी, अलमोड़ा, नैनीताल, दार्जिलिंग आदि अनेकों स्थान ऐसे हैं, जहाँ जलवायु की उत्तमत्ता के कारण स्वास्थ्यलाभ करने और प्राकृतिक, मनोरम दृश्यों से आँखों तथा मनोदशा को सुधारने के लिए लाखों व्यक्ति जाया करते हैं और इस कार्य के लिए बहुत धन भी खर्च करते हैं। इस प्रकार उत्तराखण्ड का गंगा से पवित्र हिमालय प्रदेश स्वास्थ्यलाभ करने के लिए अद्वितीय एवं अनुपम स्थान है।

इस गए-गुजरे जमाने में, जबकि सर्वत्र बेईमानी और बदमाशी की विजय पताका फहरा रही है, उत्तराखण्ड आज भी अधिकांश बुराइयों से बचा हुआ है। यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ की यात्रा को लाखों यात्री हर साल जाते हैं, उन सभी को इस बात की गवाही में पेश किया जा सकता है कि उस प्रदेश के पहाड़ी आमतौर से ईमानदार होते हैं। चोरी, व्यभिचार, गुण्डई, झूठ, हरामखोरी, ईर्ष्या आदि पातकों की पहुँच वहाँ नहीं के बराबर ही है। जिन यात्रियों को पहाड़ियों से व्यवहार करना पड़ता है, वे एक स्वर से कह सकते हैं कि नीचे के प्रदेशों की अपेक्षा पहाड़ी लोग लाख दर्जे ईमानदार और भले होते हैं। पुलिस के रजिस्टरों को भी इस सबूत में पेश किया जा सकता है कि इस प्रदेश में अपराध कितने कम होते हैं। इसका कारण उस प्रदेश के सूक्ष्म वातावरण की सात्त्विक विशेषता ही है जिसके प्रभाव से वहाँ के निवासी अभी भी नेक और ईमानदार माने जाते हैं।

साधकों में जो अन्त:ऊष्मा बढ़ती है उसे शांत करने के लिए हिमालय की शीतलता एक अद्‌भुत रसायन का काम करती है। गर्म प्रदेशों में रहकर कठोर तपश्चर्या करने में कई बार बढ़ी हुई अंत:ऊष्मा शान्त हो सकी तो उस स्थिति में हानि होने की सम्भावना रहती है, पर हिमालय के अंचल में रहकर साधना करने वालों को कोई भय नहीं रहता।

जिस प्रकार मनुष्य उन्नति करने से ऊँचा उठता है, जिसमें सद्‌गुण आते हैं वह उच्च पद को प्राप्त करता है, जिससे भगवान प्रसन्न होते हैं, वह दिन-दिन ऊपर की ओर बढ़ता है। हिन्दुओं के श्रेष्ठ लोक, जहाँ देवताओं समेत भगवान रहते हैं, ऊपर माने जाते हैं। मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि अन्य धर्मावलम्बी भी अपना ईश्वर ऊपर आसमान में मानते हैं। ऊँचाई देवत्व की प्रतीक मानी जाती है। पृथ्वी पर भी यही नियम लागू होता है, जो स्थान पृथ्वी पर जितने ऊँचे हैं वे उतने ही दिव्य वातावरण से युक्त माने जाते हैं। हिमालय की ऊँचाई भी उसकी उच्च आध्यात्मिक विशेषताओं का एक कारण है। इसे स्वर्ग माना गया है।

पाण्डव हिमालय में शेष जीवन समाप्त करने के लिए ऊँचाई ही नहीं, वरन् वातावरण की उच्चता को भी ध्यान में रखते हुए गए थे। स्वर्गारोहण नामक एक स्थान है जिसके बारे में कहा जाता है कि यहीं हिमालय में पहुँच कर पाण्डवों ने सीधा स्वर्ग को प्रस्थान किया था। एक मत यह भी है कि प्राचीनकाल में उत्तराखण्ड ही स्वर्गलोक था। यहाँ तपस्वी, साधक, ऋषि-मुनि एवं देवस्वभाव के सत्पुरुष रहते थे। यहाँ इतनी अधिक सत्प्रवृत्तियाँ फैली रहती थीं कि इस वातावरण में लोगों को वे शारीरिक और मानसिक व्यथा, बाधाएँ न सताती थीं, जो संसार में सर्वत्र आमतौर से देखी जाती हैं। वहाँ के आनन्द और उल्लासमय वातावरण को देखते हुए यदि उस क्षेत्र का नाम स्वर्ग रखा गया हो तो इसमें कुछ आश्चर्य की भी बात नहीं है। सम्भव है पाण्डव दिल्ली के क्षुब्ध वातावरण से हटकर शेष जीवन वहीं व्यतीत करने और देवपुरुषों के सान्निध्य में रहने गए हों। गंगोत्री से आगे गोमुख से सीधे बद्रीनाथ जाने के पर्वतीय मार्ग में नन्दन कानन नामक क्षेत्र आता है। स्वर्ग में नन्दन कानन होने की बात प्रसिद्ध ही है।

जो हो यह एक तथ्य है कि आध्यात्मिक साधनाओं के लिए गंगा तटवर्ती हिमालय भाग एक उपयुक्त स्थान है। साधना की महत्ता समझने वाले केवल तीर्थयात्रा और देवदर्शन के लिए ही नहीं, कुछ समय निकालकर यदि उधर साधना के लिए भी जाया करें तो उनकी साधना का मार्ग अधिक प्रशस्त हो सकता है। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य बढ़ाने के लिए कतिपय पहाड़ी प्रदेश अच्छे माने जाते हैं, उसी प्रकार आत्मोन्नति की दृष्टि से भी गंगा तटवर्ती हिमालय सब प्रकार उपयुक्त ही है।

# साधना के लिए गंगा-तट की महिमा और महत्ता

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के अध्याय १०, श्लोक ३१ में स्वयं मुख से कहा है- "**स्रोतसामस्मि जाह्नवि**" अर्थात् नदियों में भगीरथी गंगा मैं हूँ।

भागवद्स्कन्ध ११, अध्याय १६ में आता है- "**तीर्थानां स्रोतसां गंगा**" तीर्थों में गंगा सबसे श्रेष्ठ है।

यों गंगाजल की लौकिक महत्ता भी कम नहीं है। पर इसका मूल महत्त्व तो पारलौकिक एवं आध्यात्मिक ही है। गंगा से कितने मनुष्यों और अन्य जीव-जन्तुओं की तृष्णा शान्त होती है, कितनी भूमि हरी-भरी शस्य-श्यामला बनती है, उसके जल से सिंचित होकर कितनी घास-पात, कितना अन्नशाक, फलों का भण्डार उत्पन्न होता है, इसे सभी लोग जानते हैं। सभी मानते हैं कि लाखों-करोड़ों मनुष्यों और पशु-पक्षियों का जीवन गंगा पर निर्भर रहता है। यदि गंगा का अवतरण न हुआ होता, तो आज जहाँ की भूमि हरी-भरी दीखती है, जहाँ अगणित मनुष्य और पशु-पक्षी आनन्द से किलोल करते हैं वहाँ का दृश्य दूसरा ही हुआ होता। उस भूमि पर आज श्मशान जैसी विभीषिका दृष्टिगोचर होती । भगवती गंगा जिस प्रदेश में होकर गुजरती है, वहाँ के समीपवर्ती लोगों को तो जीवन के बहुमूल्य आधार दिए ही हैं, साथ ही दूरवर्ती जनता को भी बहुत कुछ दिया है। यहाँ की समृद्धि दूर-दूर तक फैलकर प्रकारान्तर से सारे देश की श्री, समृद्धि को बढ़ाती है। जैसे पानी से भरे हुए भगौने को उसके किसी एक छोटे स्थान पर भी आग से गरम किया जाए तो वह गर्मी सारे बर्तन या पानी में फैलकर सभी को गरम कर देती है, इसी प्रकार गंगा के द्वारा उत्पन्न हुई समृद्धि सारे देश को ही नहीं, सारे विश्व को समृद्ध बनाती है। जो सघन वन गंगा के किनारे हैं उनकी लकड़ी देश के कोने-कोने में जाकर गृह-निर्माण एवं काष्ठ शिल्प की आवश्यकता पूरी करती है। यहाँ की उर्वरा भूमि में उत्पन्न हुआ अन्न समीपवर्ती लोगों की आवश्यकता से कहीं अधिक होता है और दूरवर्ती लोगों की भी क्षुधा शान्त करने में सहायक होता है। ब्राह्मी आदि अगणित जड़ी-बूटियाँ गंगाजल में हैं। गंगा के द्वारा मनुष्य जाति को जो आर्थिक लाभ होता है, जो विपुल श्री सम्पदा प्राप्त होती है, उसका अनुमान लगा सकना भी कठिन है।

आरोग्य की दृष्टि से गंगाजल का जो महत्त्व है, उससे आधुनिक वैज्ञानिक एवं डाक्टर भी आश्चर्यचकित हैं। विश्लेषण करने पर गंगाजल में ताँबा, स्वर्ण, पारद आदि धातुओं एवं अनेक बहुमूल्य क्षारों की ऐसी संतुलित मात्रा मिली है, जिसका सेवन एक प्रकार से औषधि का काम करता है। अच्छे स्वास्थ्य को वह और भी अधिक बढ़ाने में सहायक होता है। गिरे हुए स्वास्थ्य को गिरने से रोकता है और बीमारों को नीरोग बनाने में बहुमूल्य औषधि का काम करता है। अनेक रोगी जो वर्षों तक खर्चीला औषधि उपचार करने पर रोगमुक्त न हो सके, केवल मात्र गंगाजल के सेवन से रोग मुक्त होते देखे गए हैं। कोढ़ की एकमात्र चिकित्सा गंगाजल मानी गई है। प्राचीनकाल के आयुर्वेद ज्ञाता कोढ़ी लोगों को गंगा किनारे रहने और निरन्तर गंगाजल सेवन करते रहने की सलाह देते थे और उसका परिणाम भी आशाजनक होता था। आज शहरों का मल-मूत्र पड़ते रहने से गंगा की वह विशेषता नहीं रही और रोगियों को उतना लाभ नहीं होता, फिर भी प्राचीन परिपाटी के अनुसार आज भारत के भी अधिकांश कोढ़ी गंगा किनारे निवास करते देखे जा सकते हैं।

संग्रहणी, शोथ, वायु विकार, श्वास रोग, मृगी, हृदय रोग, रक्त-चाप, मूत्ररोग, वीर्य और रज विकारों में गंगाजल का प्रभाव होता है, यों लाभ तो सभी रोगों में करता है। गंगाजल चिरकाल तक किसी शीशी या बर्तन में रखा रहने पर भी खराब नहीं होता। यह गुण संसार के और किसी सरोवर आदि के जलों में नहीं है। जल के खराब न होने का कारण यह है कि उसमें विकृति उत्पन्न करने वाले दूषित कीटाणुओं को मार डालने का गुण है। डाक्टरों ने एक बार यह परीक्षण किया कि हैजे के कीटाणु भरी बोतल को एक पात्र में रखकर थोड़े से गंगाजल में डाला और इसके परिणाम की जाँच की। उन्हें आशा थी कि विषैले कीटाणुओं से गंगाजल भी वैसा ही विषैला हो जाएगा, पर परिणाम इससे भिन्न ही निकला। गंगाजल में पड़ते ही हैजे के कीटाणु नष्ट हो गए, पर गंगाजल दूषित न हुआ। यदि गंगा में वह विशेषता न हुई होती, तो प्रतिदिन लाखों मन मलमूत्र जो उसमें पड़ता है, इसके कारण उसका जल रोग उत्पन्न करने वाला हो गया होता। ऐसा तो नहीं हुआ है, गंगा की पवित्रता तो अभी भी बनी हुई है पर प्रतिदिन पड़ने वाली गन्दगी को नष्ट करने में उस जल के गुणकारी अमूल्य तत्त्व तो नष्ट होते हैं और उसकी आरोग्यवर्द्धनी शक्ति भी घटती है। अब वही गंगाजल अधिक उपयोगी माना जाता है जो हिमालय के उन भागों में उपलब्ध है, जहाँ मल-मूत्र का अधिक मिश्रण नहीं हो पाया है। यदि गंगा तटवर्ती हिमालय प्रदेशों में आरोग्यवर्द्धक स्वास्थ्य गृह खोलने की ओर सरकार ध्यान दे तो उससे रोगियों को शारीरिक ही नहीं, आध्यात्मिक भी आशाजनक लाभ हो सकता है।

संसार की प्रत्येक वस्तु के तीन स्तर होते हैं। (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण। बाह्य दृष्टि से जो गुण या लाभ दिखाई पड़ते हैं स्थूल हैं। जो वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा गम्भीर अनुसंधान द्वारा प्रमाणित होते हैं, वे सूक्ष्म हैं और जो तत्त्वदर्शी आत्मविज्ञानवेत्ता सूक्ष्मद्रष्टा योगियों के द्वारा योग दृष्टि से देखे और समझे जाते हैं, वे कारण गुण कहलाते हैं। तुलसी यों स्थूल दृष्टि से एक हरा-भरा पौधा मात्र है। सूक्ष्म दृष्टि से ज्वरनाशक एवं अन्य कई रोगों के शमन का गुण उसमें है। कारण शोध पर पता चलता है कि उसमें सतोगुणी आध्यात्मिक तत्त्व इतनी अधिक मात्रा में हैं कि

उसे घर में लगाने से और सेवन करने से शरीर में सतोगुणी प्रवृत्तियाँ अनायास ही बढ़ने लगती हैं। इसीलिए इसका धार्मिक कार्यों में उत्साहपूर्वक प्रयोग किया जाता है। गाय के सम्बन्ध में भी यही बात है। स्थूल दृष्टि से दूध में प्राणतत्त्व एवं जीवनीशक्ति की इतनी अधिक मात्रा है जितनी संसार के और किसी पदार्थ में नहीं। कारण दृष्टि से उसके कणों में देवत्व के परमाणु व्याप्त हैं, जिसके सान्निध्य से मनुष्य में दिव्य गुण, धर्म स्वभावों की, आचार एवं विचारों की अभिवृद्धि होती है। तुलसी और गाय की तरह प्रत्येक पदार्थ में अपने-अपने स्थूल और कारण स्तर होते हैं। उन्हीं के अनुसार उनके गुणों का निरूपण किया जाता है। प्याज और लहसुन में स्थूल दृष्टि से थोड़ी-सी बदबू के अतिरिक्त अन्य सब गुण ही गुण हैं, पर कारण दृष्टि से उनमें तामसिकता की प्रधानता है। सेवन करने वालों में कामविकार और क्रोध भड़काते हैं. इसलिए इन्हें त्याज्य माना जाता है।

गंगा भी स्थूल दृष्टि से, एक आर्थिक लाभ वाली उपयोगी नदी मात्र है। सूक्ष्म दृष्टि से उसमें आरोग्य वृद्धि का विशेष गुण है, किन्तु कारण दृष्टि से उसकी महिमा एवं महत्ता अपार है। उसकी कल-कल ध्वनि कानों को पवित्र करती है, उसके दर्शन से नेत्रों की कुवासनाएँ शान्त होती हैं, उसकी समीपता से मन के कुविचारों पर अंकुश लगता है, उसके स्नान और पान से अन्तःकरण की भावनाएँ सात्विक बनती हैं। मनुष्य के रोम-रोम में जन्म- जन्मान्तरों से संचित दुष्प्रवृत्तियाँ रमी होती हैं, इन्हीं के उभार से मनुष्य दुष्कर्म करने का थोड़ा-सा भी अवसर मिलने पर फिसल पड़ता है और न चाहते हुए भी बरबस दुष्कर्म कर बैठता है। यदि इन संस्कारजन्य प्रवृत्तियों पर अंकुश लग सके तो मनुष्य बहुत से पापों से बच सकता है।

गंगा के माहात्म्य में जगह-जगह उसके पापनाशक गुण का वर्णन किया गया है, उसका तात्पर्य इन्हीं मानसिक दुष्प्रवृत्तियों से है जो अवसर आने पर प्रलोभन उत्पन्न होने पर कुमार्ग की ओर, कुकर्म की ओर धकेल देती हैं। गंगा का सान्निध्य, इनके ऊपर एक शक्तिशाली अंकुश के समान हैं। गंगा माहात्म्य में पापनाश का मूल तत्त्व यही अंकुश है।

कई लोग सोचते हैं कि किए हुए दुष्कर्मों का फल हमें गंगा स्नान करने के बाद न भोगना पड़ेगा, यह सोचना गलत है। किए हुए शुभ-अशुभ कर्मों का प्रतिफल तो भोगना ही पड़ता है, वह स्नान आदि साधारण उपायों से छूट नहीं सकता। साधारणतया प्रत्येक कर्म का फल भोगना ही पड़ता है, पर यदि उससे भी छुटकारा पाना हो तो प्रायश्चित्त और तपश्चर्या का कष्टसाध्य उपाय ही उसका माध्यम हो सकता है। चोरी करने वाले को जेल होती है, पर यदि चोर अपनी भूल मानकर अपना पाप प्रकट कर दे, चुराई हुई वस्तु लौटा दे और जितना दण्ड कानून से मिलना चाहिए उतना दण्ड भुगतने को स्वेच्छापूर्वक तैयार हो जाए, तो उसे जेल से छूट मिल सकती है। जैसे गोपाल ने घनश्याम की चोरी की। कुछ दिन बाद उसे सद्बुद्धि आई। चोरी के पाप की भयंकरता को समझा। अब वह उस पाप से छूटना चाहता है। उसने अपनी अन्तरात्मा से सलाह ली। वह घनश्याम के पास पहुँचा। अपना पाप प्रकट किया। चुराई हुई वस्तुएँ लौटा दीं और साथ ही उसे छह महीने की कानूनन सजा होनी चाहिए थी, उसके बदले में वह घनश्याम के यहाँ कैदी के तौर पर बिना वेतन मजदूरी नौकरी करने को तैयार हो गया, साथ ही भविष्य में वैसा न करने की प्रतिज्ञा भी ली। ऐसी स्थिति में निश्चय ही घनश्याम को दया आवेगी, वह उसकी शुद्ध भावना का सम्मान भी करेगा। क्रोध के स्थान पर उस पर प्रेम करेगा और उसने जिस मजबूरी में चोरी की थी वह वस्तुएँ तो खर्च कर डालीं, पर अब चुराई हुई वस्तुएँ लौटाने की व्यवस्था करने में उसे कितना कष्ट और त्यागपूर्ण दौड़धूप करनी पड़ी, उसे देखते हुए सम्भव है घनश्याम कुछ वस्तुएँ लौटा भी दे और कम भी ले ले। साथ ही मानवता के नाते वह इतना तो अवश्य ही करेगा कि छह महीने तक कैदी के रूप में उसने जो निःशुल्क सेवा करने का प्रस्ताव किया था, उसे अस्वीकार कर दे और गोपाल को गले लगाते हुए कहे- मित्र! तुम्हारा इतना अलौकिक साहस ही क्या कम है जो अपना पाप प्रकट कर दिया, वस्तुएँ लौटा दीं। इतना भी इस दुनिया में कौन करता है? तुम्हारा सौजन्य सराहनीय है। भूल सभी से हो जाती है, पर उस भूल को स्वीकार करना और उसका प्रायश्चित्त करना यह तो किसी मनुष्य की महानता का सबसे बड़ा प्रमाण है। तुम महान हो, तुमने जो साहस दिखाया उसके लिए मैं गद्गद् हूँ। अब इतना मैं नहीं कर सकता कि तुम्हें कैदी की तरह छह महीने अपने घर में रखूँ। मैंने तुम्हें क्षमा ही नहीं किया, वरन् अपना सम्मानास्पद मित्र भी माना है। आओ, हम लोग गले मिलें और एक-दूसरे के सच्चे मित्र बनकर रहें।

इस प्रकार प्रायश्चित्त में ही चुराने वाले के मन की कँपकँपी का और जिसका चुराया गया था, उसके रोष एवं शाप का शमन हो सकता है। न्यायाधीश को भी अपने न्याय दण्ड का प्रयोग करने की माथापच्ची नहीं करनी पड़ती। शास्त्रकारों ने उन सभी पाप कर्मों के प्रायश्चित्त बताये हैं जो किए जा चुके और जिनके दण्ड मिलने निश्चित हैं। इन प्रायश्चित्तों के आधार पर मनुष्य स्वयं अपने आपको सुधार सकता है और उनके दण्ड को तपश्चर्या आदि के रूप में भुगत सकता है। किए जा चुके पापों की निवृत्ति का तो प्रायश्चित्त ही एकमात्र उपाय है जो गंगातट पर और भी सुगमता से हो सकता है, पर गंगा माहात्म्य का वर्णन करते हुए शास्त्रकारों ने जिन पापों के नाश का उल्लेख किया है वे मनोगत कुसंस्कार ही हैं। इनकी गणना भी मानसिक पापों में ही है, उनका उफान रुक जाना भी एक प्रकार से भावी पाप नष्ट हो जाना ही है। पिछले और अनेक जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं।

इसका तात्पर्य यही है कि पिछले अनेक जन्मों के संचित उन कुसंस्कारों का शमन होता है जो पाप कर्मों के वास्तविक उत्पादक हैं।

गंगा के सान्निध्य से इन पापवृत्तियों के नष्ट होने के अनेकों शास्त्रप्रमाण मिलते हैं। पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड, अध्याय ६०, २९ और ४३ में इस प्रकार के कतिपय श्लोक हैं, उनमें से कुछ नीचे देखिये-

**गंगेतिस्मरणादेवक्षयंयातिचपातकम्।**

**कीर्तनादतिपापानिदर्शनाद्गुरुकल्मषम्॥**

गंगाजी के नाम के स्मरण मात्र से पातक, कीर्तन से अतिपातक और दर्शन से भारी-भारी पाप (महापातक) भी नष्ट हो जाते हैं।

**स्नानात्पानाच्चजाह्नव्यांपितृणांतर्पणात्तथा।**

**महापातकवृन्दानिक्षयंयान्तिदिनेदिने॥**

गंगाजी में स्नान, जलपान और पितरों का तर्पण करने से महापातकों की राशि का प्रतिदिन क्षय होता रहता है।

**अग्निनादह्यतेतूलंतृणंशुष्कंक्षणाद्यथा।**

**तथागंगाजलस्पर्शात्पुंसांपापंदहेत्क्षणात्॥**

जैसे अग्नि का संसर्ग होने से रूई और सूखे तिनके क्षणभर में भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार गंगाजी अपने जल का स्पर्श होने पर मनुष्यों के सारे पाप एक ही क्षण में दग्ध कर देती हैं।

**तपोभिर्बहुभिर्यज्ञैर्व्रतैर्नानाविधैस्तथा।**

**पुरुदानैर्गतिर्याचगंगासंसेवतांचसा॥**

तपस्या, बहुत से यज्ञ, नानाप्रकार के व्रत तथा पुष्कल दान करने से जो गति प्राप्त होती है, गंगाजी सेवन करने से मनुष्य उसी गति को पा लेता है।

**त्यजन्तिपितरंपुत्राःप्रियंपत्न्यःसुहृद्गणाः।**

**अन्येचबान्धवाःसर्वेगंगातुनपरित्यजेत्॥**

पुत्र पिता को, पत्नी प्रियतम को, सम्बन्धी अपने सम्बन्धी को तथा अन्य सब भाई-बन्धु भी प्रिय बन्धु को छोड़ देते हैं, किन्तु गंगाजी अपने जनों का परित्याग नहीं करती।

**विष्णुपादाब्जसंभूतेगंगेत्रिपथगामिनि।**

**धर्मद्रवेतिविख्यातेपापंमेहरजाह्नवि॥**

गंगे! तुम विष्णु का चरणोदक होने के कारण परम पवित्र हो तथा तीनों लोकों में गमन करने से त्रिपथ गामिनी कहलाती हो। तुम्हारा जल धर्म है इसलिए तुम धर्मदेवी के नाम से विख्यात हो। जाह्नवी! मेरे पाप हर लो।

**विष्णुपादप्रसूतासिवैष्णवीविष्णुपूजिता।**

**त्राहिमामेनसस्तस्मादाजन्ममरणान्तिकात्॥**

भगवान विष्णु के चरणों से तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है। तुम विष्णु द्वारा सम्मानित वैष्णवी हो। मुझे जन्म से लेकर मृत्यु तक के पापों से बचाओ।

**श्रद्धयाधर्मसम्पूर्णेश्रीमतारजसाचते।**

**अमृतेनमहादेविभागीरथिपुनीहिमां॥**

धर्म से परिपूर्ण महादेवी भगीरथी ! तुम अपने शोभायमान रज:कणों से और अमृतमय जल से मुझे श्रद्धा-सम्पन्न बनाती हुई पवित्र करो।

**गंगागंगेतियोब्रूयाद्योजनानांशतैरपि।**

**मुच्यतेसर्वपापेभ्योविष्णुलोकंसगच्छति॥**

जो सैकड़ों योजन दूर से भी 'गंगा, गंगा' ऐसे कहता है वह सब पापों से मुक्त हो विष्णुलोक को प्राप्त होता है।

**पाठयज्ञपरैःसर्वैर्मन्त्रहोमसुरार्चनैः।**

**सागतिर्नभवेज्जंतोर्गङ्गासंसेवयाचया॥**

पाठ, यज्ञ, मन्त्र, होम और देवार्चन आदि समस्त शुभ कर्मों से भी जीव को वह गति नहीं मिलती, जो गंगाजी के सेवन से प्राप्त होती है।

**विशेषात्कलिकालेचगंगामोक्षप्रदानृणां।**

**कृच्छ्राच्चक्षीणसत्वानामनन्तःपुण्यसम्भवः॥**

विशेषत: इस कलिकाल में सत्त्वगुण से रहित मनुष्यों के कष्ट से छुड़ाने, मोक्ष प्रदान करने वाली गंगाजी ही हैं। गंगाजी के सेवन से अनन्त पुण्य का उदय होता है।

**पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति।**

**अवगाढ़ा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥**

गंगाजी नाम लेने मात्र से पापों को धो देती हैं, दर्शन करने पर सप्तपीढ़ियों तक को पवित्र कर देती है।

**न गंगासदृशं तीर्थं न देवः केशवात्परः।**

**ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः॥**

ब्रह्मा जी का कथन है कि गंगा के समान तीर्थ, श्रीविष्णु से बढ़कर देवता तथा ब्राह्मणों से बढ़कर कोई पूज्य नहीं है।

**तीर्थानांतुपरंतीर्थंनदीनामुत्तमानदी।**

**मोक्षदासर्वभूतानांमहापातकिनामपि॥**

गंगा तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ, नदियों में उत्तम नदी तथा सम्पूर्ण महापातकियों को भी मोक्ष देने वाली है।

**सर्वेषांचैवभूतानांपापोपहतचेतसाम्।**

**गतिमन्वेषमाणानांनास्तिगंगासमागतिः॥**

जिनका चित्त पाप से दूषित है, ऐसे समस्त प्राणियों और मनुष्यों की गंगा के सिवा अन्यत्र गति नहीं है।

**पवित्राणांपवित्रंयामंगलानांचमंगलम्।**

**महेश्वरशिरोभ्रष्टासर्वपापहराशुभा॥**

भगवान शंकर के मस्तक से होकर निकली हुई गंगा सब पापों को हरने वाली और शुभकारिणी हैं। वे पवित्रों को भी पवित्र करने वाली और मंगलमय पदार्थों के लिए भी मंगलकारिणी हैं।

कहा भी गया है- "**औषधि जाह्नवी तोयं वैद्यो नारायणः हरिः।**" अर्थात् आध्यात्मिक रोगों की दवा गंगाजल है और इन रोगों के रोगियों के चिकित्सक नारायण हरि परमात्मा हैं। उन्हीं की कृपा से आन्तरिक

पाप-दोषों का समाधान होता है। पाप वृत्तियाँ एक प्रकार की आध्यात्मिक बीमारियाँ ही हैं। इनका उपचार सांसारिक उपायों से नहीं, वरन् गंगा तट पर निवास करते हुए नारायण हरि की परब्रह्म परमात्म की उपासना करने में ही है।

## सुनसान की झोंपड़ी

इस झोंपड़ी के चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ है। प्रकृति स्तब्ध । सुनसान का सूनापन अखर रहा था। दिन बीता, रात आई। अनभ्यस्त वातावरण के कारण नींद नहीं आ रही थी। हिंस्र पशु, चोर, साँप, भूत आदि तो नहीं पर अकेलापन डरा रहा था। शरीर के लिए करवटें बदलने के अतिरिक्त कुछ काम न था। मस्तिष्क खाली था, चिन्तन की पुरानी आदत सक्रिय हो उठी। सोचने लगा- अकेलेपन का डर क्यों लगता है?

भीतर से एक समाधान उपजा, मनुष्य समष्टि का अंग है। उसका पोषण समष्टि द्वारा ही हुआ है। जल तत्त्व से ओत-प्रोत मछली का शरीर जैसे जल में ही जीवित रहता है, वैसे ही समष्टि का एक अंग, समाज का एक घटक, व्यापक चेतना का एक स्फुल्लिंग होने के कारण उसे समूह में ही आनन्द आता है। अकेलेपन में उस व्यापक समूह चेतना से असंबद्ध हो जाने के कारण आन्तरिक पोषण बन्द हो जाता है, इस अभाव की बेचैनी ही सूनेपन का डर हो सकता है।

कल्पना ने और आगे दौड़ लगाई। स्थापित मान्यता की पुष्टि में उसने जीवन के अनेक संस्मरण ढूँढ़ निकाले। सूनेपन के अकेले विचरण करने के अनेक प्रसंग याद आये, उनमें आनन्द नहीं था, समय ही काटा गया था। स्वाधीनता संग्राम में जेलयात्रा के उन दिनों की याद आई जब काल-कोठरी में बन्द रहना पड़ा था । वैसे उस कोठरी में कोई कष्ट न था, पर सूनेपन का मानसिक दबाव बहुत पड़ा था। एक महीने बाद जब कोठरी से छुटकारा मिला, तो शरीर पके आम की तरह पीला पड़ गया था। खड़े होने में आँखों तले अँधेरा होता था।

चूँकि सूनापन बुरा लग रहा था, इसलिए मस्तिष्क के सारे कलपुर्जे उसकी बुराई साबित करने में जी-जान से लगे हुए थे। मस्तिष्क एक जानदार नौकर के समान ही तो ठहरा। अन्तस् की भावना और मान्यता जैसी होती है, उसी के अनुरूप वहाँ विचारों का, तर्कों, प्रमाणों, कारणों और उदाहरणों का पहाड़ जमा कर देता है। बात सही है या गलत, यह निर्णय करना विवेक-बुद्धि का काम है। मस्तिष्क की जिम्मेदारी तो इतनी भर है कि अभिरुचि जिधर भी चले, उसके समर्थन के लिए, औचित्य सिद्ध करने के लिए आवश्यक विचार-सामग्री उपस्थित कर दे, अपना मन भी इस समय वही कर रहा था।

मस्तिष्क ने अब दार्शनिक ढंग से सोचना आरम्भ कर दिया, स्वार्थी लोग अपने आपको अकेला मानते हैं, अकेले के लाभ-हानि की ही बात सोचते हैं, उन्हें अपना कोई नहीं दीखता, इसलिए वे सामूहिकता के आनन्द से वंचित रहते हैं। उनका अन्तिम समय सूने मरघट की तरह साँय-साँय करता रहता है। ऐसे अनेक व्यक्तियों के जीवनचित्र सामने आ खड़े हुए, जिन्हें धन-वैभव की, श्री-समृद्धि की कमी नहीं, पर स्वार्थ सीमित होने के कारण सभी उन्हें पराये लगते हैं, सभी से उन्हें शिकायत और कष्ट है।

विचारप्रवाह अपनी दिशा में तीव्र गति से दौड़ा चला जा रहा था। लगता था वह सूनेपन को अनुपयुक्त ही नहीं, हानिकर और कष्टदायक भी सिद्ध करके छोड़ेगा। तब अभिरुचि अपना प्रस्ताव उपस्थित करेगी, इस मूर्खता में पड़े रहने से क्या लाभ? अकेले में रहने की अपेक्षा जन-समूह में रहकर ही जो काम्य है, वह सब क्यों न प्राप्त किया जाए।

विवेक ने मन की गलत दौड़ को पहचाना और कहा-, यदि सूनापन ऐसा ही अनुपयुक्त होता तो ऋषि-मुनि, साधक और सिद्ध, विचारक और वैज्ञानिक क्यों उसे खोजते? क्यों उस वातावरण में रहते? यदि एकान्त का कोई महत्त्व न होता, तो समाधि-सुख और आत्म-दर्शन के लिए उसकी तलाश क्यों होती? स्वाध्याय और चिन्तन के लिए, तप और ध्यान के लिए क्यों सूनापन ढूँढ़ा जाता? दूरदर्शी महापुरुषों का मूल्यवान समय क्यों उस असुखकर अकेलेपन में व्यतीत होता?

लगाम खींचने पर जैसे घोड़ा रुक जाता है, उसी प्रकार वह सूनेपन को कष्टकर सिद्ध करने वाला विचार-प्रवाह भी रुक गया। निष्ठा ने कहा- एकान्त-साधना की आत्म-प्रेरणा असत नहीं हो सकती। निष्ठा ने कहा- जो शक्ति इस मार्ग पर खींच लाई है, वह गलत मार्ग-दर्शन नहीं कर सकती। भावना ने कहा- जीव अकेला आता है, अकेला जाता है, अकेला ही अपनी शरीररूपी कोठरी में बैठा रहता है, क्या इस निर्धारित एकान्त विधान में उसे कुछ असुखकर प्रतीत होता है? सूर्य अकेला चलता है, चन्द्रमा अकेला उदय होता है, वायु अकेला बहता है। इसमें उन्हें कुछ कष्ट है ?

विचार से विचार कटते हैं, इस मनःशास्त्र के सिद्धान्त ने अपना पूरा काम किया। आधी घड़ी पूर्व जो विचार अपनी पूर्णता अनुभव कर रहे थे, अब वे कटे वृक्ष की तरह गिर पड़े। प्रतिरोधी विचारों ने उन्हें परास्त कर दिया। आत्मवेत्ता इसीलिए अशुभ विचारों को शुभ विचारों से काटने का महत्त्व बताते हैं। बुरे से बुरे विचार चाहे वे कितने प्रबल क्यों न हों, उत्तम प्रतिपक्षी विचारों से काटे जा सकते हैं। अशुद्ध मान्यताओं को शुद्ध मान्यताओं के अनुरूप कैसे बनाया जा सकता है, यह उस सूनी रात में करवटें बदलते हुए मैंने प्रत्यक्ष देखा। अब मस्तिष्क एकान्त की उपयोगिता, आवश्यकता और महत्ता पर विचार करने लगा।

रात धीरे-धीरे बीतने लगी। अनिद्रा से ऊबकर कुटिया से बाहर निकला, तो देखा कि गंगा की धारा अपने

प्रियतम समुद्र से मिलने के लिए व्याकुल प्रेयसी की भाँति तीव्र गति से दौड़ी चली जा रही थी। रास्ते में पड़े हुए पत्थर उसका मार्ग अवरुद्ध करने का प्रयत्न करते, पर वह उनके रोके रुक नहीं पा रही थी। अनेक खण्डों की चोट से उसके अंग-प्रत्यंग घायल हो रहे थे, तो भी वह न किसी की शिकायत करती थी और न निराश होती थी। इन बाधाओं का उसे ध्यान भी न था, अँधेरे का, सुनसान का उसे भय न था। अपने हृदयेश्वर के मिलन की व्याकुलता उसे इन सब बातों का ध्यान भी न आने देती थी। प्रिय के ध्यान में निमग्न 'हर-हर कल-कल' का प्रेमगीत गाती हुई गंगा निद्रा और विश्राम को तिलांजलि देकर चलने में ही लौ लगाए हुए थी।

चन्द्रमा सिर के ऊपर आ पहुँचा था। गंगा की लहरों में उसके अनेकों प्रतिबिम्ब चमक रहे थे। मानो एक ही ब्रह्म अनेक शरीरों में प्रविष्ट होकर एक से अनेक होने की अपनी माया दृश्य रूप से समझा रहा हो। दृश्य बड़ा सुहावना था। कुटिया से निकल कर गंगातट के एक बड़े शिलाखण्ड पर जा बैठा और निर्निमेष होकर उस सुन्दर दृश्य को देखने लगा। थोड़ी देर में झपकी लगी और उस शीतल शिलाखण्ड पर ही नींद आ गई।

लगा कि वह जलधारा कमल पुष्प-सी सुन्दर एक देवकन्या के रूप में परिणत होती है। वह अलौकिक शांति, समुद्र-सी सौम्य मुद्रा में ऐसी लगती थी मानो इस पृथ्वी की सारी पवित्रता एकत्रित होकर मानुषी शरीर में अवतरित हो रही हो। वह रुकी नहीं, समीप ही उस शिलाखण्ड पर आकर विराजमान हो गई। लगा मानो जाग्रत अवस्था में ही सब देखा जा रहा हो।

उस देवकन्या ने धीरे-धीरे अत्यन्त शान्त भाव से मधुर वाणी में कुछ कहना आरम्भ किया। मैं मंत्रमोहित की तरह एकचित्त होकर सुनने लगा। वह बोली- "नर तनुधारी आत्मा, तू अपने को इस निर्जन वन में अकेला मत मान। दृष्टि पसारकर देख, चारों ओर तू ही बिखरा पड़ा है। मनुष्य तक अपने को सीमित मत मान! इस विशाल सृष्टि में मनुष्य भी एक छोटा-सा प्राणी है। उसका भी एक स्थान है, पर सब कुछ वही नहीं है। जहाँ मनुष्य नहीं वहाँ सूना है, ऐसा क्यों माना जाए। अन्य जड़-चेतन माने जाने वाले जीव भी विश्वात्मा के वैसे ही प्रिय पुत्र हैं जैसा मनुष्य। तू उन्हें क्यों अपना सहोदर नहीं मानता? उनमें क्यों अपनी आत्मा नहीं देखता? उन्हें क्यों अपना सहचर नहीं समझता? इस निर्जन में मनुष्य नहीं हैं, पर अन्य अगणित जीवधारी मौजूद हैं। पशु-पक्षियों की, कीट-पतंगों की, वृक्ष-वनस्पतियों की, अनेक योनियाँ इस गिरिकानन में निवास करती हैं। सभी में आत्मा है, सभी में भावना है। यदि तू इन अचेतन समझे जाने वाले चेतनों की आत्मा से अपनी आत्मा को मिला सके तो हे पथिक! तू अपनी खण्ड-आत्मा को समग्र-आत्मा के रूप में देख सकेगा।"

धरती पर अवतरित हुई वह दिव्य सौंदर्य की अद्भुत प्रतिमा देवकन्या बिना रुके कहती ही जा रही थी- "मनुष्य को भगवान ने बुद्धि दी, पर वह अभागा उसका सुख कहाँ ले सका? तृष्णा और वासना में उसने इस दैवी वरदान का दुरुपयोग किया और जो आनन्द मिल सकता था, उससे वंचित हो गया। वह प्रशंसा के योग्य प्राणी, करुणा का पात्र है, पर सृष्टि के अन्य जीव इस प्रकार की मूर्खता नहीं करते, उनमें चेतना की मात्रा न्यून भले ही हो, पर भावना को उनकी भावना के साथ मिलाकर तो देख। अकेलापन कहाँ-कहाँ है, सभी तेरे ही सहचर हैं। सभी तेरे बन्धु-बान्धव हैं।"

करवट बदलते ही नींद की झपकी खुल गई। बड़बड़ाकर उठ बैठा। चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, तो वह अमृत-सा सुन्दर सन्देश सुनाने वाली देवकन्या वहाँ न थी। लगा मानो वह इसी सरिता में समा गई हो। मानुषी रूप छोड़कर जलधारा में परिणत हो गई हो। वे मनुष्य की भाषा में कहे गये शब्द सुनाई पड़ते थे, पर हर-हर कल-कल की ध्वनि में भाव वे ही गूँज रहे थे, संदेश वही मौजूद था, ये चमड़े वाले कान उसे सुन तो नहीं पा रहे थे, पर कानों की आत्मा उसे अब भी समझ रही थी, ग्रहण कर रही थी।

यह जाग्रत था या स्वप्न? सत्य था या भ्रम? मेरे अपने विचार थे या दिव्य संदेश? कुछ समझ नहीं पा रहा था। आँखें मलीं, सिर पर हाथ फिराया। जो सुना, देखा था, उसे ढूँढ़ने का पुनः प्रयत्न किया, पर कुछ मिल नहीं पा रहा था, कुछ समाधान हो नहीं रहा था।

इतने में देखा कि उछलती हुई लहरों पर थिरकते हुए अनेक चन्द्र प्रतिबिम्ब एक रूप होकर चारों ओर से इकट्ठे हो रहे हैं और मुसकराते हुए कुछ कह रहे हैं। इनकी बात सुनने की चेष्टा की, तो नन्हें बालकों जैसे वे प्रतिबिम्ब कहने लगे हम इतने चन्द्र तुम्हारे साथ खेलने के लिए, हँसने-मुसकराने के लिए मौजूद हैं। क्या तुम हमें अपना सहचर न मानोगे? क्या हम अच्छे साथी नहीं हैं? मनुष्य! तुम अपनी स्वार्थी दुनिया में से आये हो, जहाँ जिससे जिसकी ममता होती है, जिससे स्वार्थ सधा, वह प्रिय, वह अपना! जिससे स्वार्थ न सधा, वह पराया, वह बिराना। यही तुम्हारी दुनिया का दस्तूर है न, उसे छोड़ो। हमारी दुनिया का दस्तूर सीखो। यहाँ संकीर्णता नहीं, यहाँ आत्मा है, ऐसा सोचा जाता है। तुम भी इसी प्रकार सोचो। फिर हम इतने चन्द्रबिम्बों के सहचर रहते तुम्हें सूनापन प्रतीत ही न होगा।

तुम तो यहाँ कुछ साधना करने आए हो न! साधना करने वाली इस गंगा को देखते नहीं, प्रियतम के प्रेम में तल्लीन होकर उससे मिलने के लिए कितनी तल्लीनता और आतुरता से चली जा रही है, रास्ते के विघ्न उसे कहाँ रोक पाते हैं? अन्धकार और अकेलेपन को वह कहाँ देखती है? लक्ष्य की यात्रा से एक क्षण के लिए भी

उसका मन कहाँ विरत होता है? यह साधना का पथ अपनाना है, तो तुम्हें भी यही आदर्श अपनाना होगा। जब प्रियतम को पाने के लिए तुम्हारी आत्मा भी गंगा की धारा की तरह द्रुतगामी होगी तो कहाँ भीड़ में आकर्षण लगेगा और कहाँ सूनेपन में भय लगेगा? गंगा तट पर निवास करना है, तो गंगा की प्रेम-साधना भी सीखो साधक!

शीतल लहरों के साथ अनेक चन्द्र बालक नाच रहे थे, मानो अपनी मथुरा में कभी हुआ रास-नृत्य प्रत्यक्ष हो रहा हो। लहरें गोपियाँ बनीं, चन्द्र ने कृष्ण का रूप धारण किया, हर गोपी के साथ एक कृष्ण। कैसा अद्‌भुत रास-नृत्य यह आँखें देख रही थीं। मन आनन्द से विभोर हो रहा था। ऋतम्भरा प्रज्ञा कह रही थी- देख, देख अपने प्रियतम की झाँकी देख। हर काया में एक आत्मा उसी तरह नाच रही है, जैसे गंगा की शुभ्र लहरों के साथ एक ही चन्द्रमा के अनेक बिम्ब नृत्य कर रहे हैं।

सारी रात बीत गई। ऊषा की अरुणिमा प्राची से प्रकट होने लगी। जो देखा वह अद्‌भुत था। सूनेपन का भय चला गया। कुटी की ओर पैर धीरे-धीरे लौट रहे थे, पर सूनेपन का प्रश्न अब भी मस्तिष्क में मौजूद था।

## एकान्त के साथी

मनुष्य की यह एक अद्‌भुत विशेषता है कि वह जिन परिस्थितियों में रहने लगता है उनका अभ्यस्त भी हो जाता है। जब मैंने इस निर्जनवन की सुनसान कुटिया में प्रवेश किया तो सब ओर सूना-ही-सूना लगता था। अन्तर का सूनापन जब बाहर निकल पड़ता, तो सर्वत्र सुनसान ही दीखता था, पर अब जबकि अन्तर की लघुता धीरे-धीरे विस्तृत होती जा रही है, चारों ओर अपने-ही-अपने हँसते-बोलते नजर आते हैं। अब सूनापन कहाँ? अब अन्धेरे में डर किसका?

अमावस्या की अँधेरी रात, बादल घिरे हुए, छोटी-छोटी बूँदें, ठण्डी वायु का कम्बल को पारकर भीतर घुसने का प्रयत्न। छोटी सी कुटिया में पत्तों की चटाई पर पड़ा हुआ यह शरीर आज फिर असुखकर अनभ्यस्तता अनुभव करने लगा। नींद आज फिर उचट गई। विचारों का प्रवाह फिर चल पड़ा। स्वजन सहचरों से भरे, सुविधाओं से सम्पन्न घर और इस सघन तमिस्रा की चादर लपेटे वायु के झोंकों से थर-थर काँपती हुई जल से भीग कर टपकती पर्णकुटी की तुलना होने लगी। दोनों के गुण-दोष गिने जाने लगे।

शरीर असुविधा अनुभव कर रहा था। मन भी उसी का सहचर ठहरा। वही क्यों इस असुविधा में प्रसन्न होता? दोनों की मिलीभगत जो है। आत्मा के विरुद्ध ये दोनों एक हो जाते हैं। मस्तिष्क तो इनका खरीदा हुआ वकील है। जिसमें इनकी रुचि होती है, उसी का समर्थन करते रहना इसने अपना व्यवसाय बनाया हुआ है। राजा के दरबारी जिस प्रकार हवा का रुख देखकर बात करने की कला में निपुण होते थे, राजा को प्रसन्न रखने, उसकी हाँ में हाँ मिलाने में दक्षता प्राप्त किए रहते थे, वैसा ही यह मस्तिष्क भी है। मन की रुचि देखकर उसी के अनुकूल यह विचार-प्रवाह को छोड़ देता है। समर्थन में अगणित कारण हेतु, प्रयोजन और प्रमाण उपस्थित कर देना इसके बायें हाथ का खेल है। सुविधाजनक घर के गुण और इस कष्टकारक निर्जन के दोष बताने में वह बैरिस्टरों के कान काटने लगा। सनसनाती हुई हवा की तरह उसका अभिभाषण भी जोरों से चल रहा था।

इतने में सिरहाने की ओर छोटे-से छेद में बैठे हुए झींगुर ने अपना मधुर संगीत-गान आरम्भ कर दिया। एक से प्रोत्साहन पाकर दूसरा बोला। दूसरे की आवाज सुनकर तीसरा, फिर उससे चौथा, इस प्रकार उसी कुटी में अपने-अपने छेदों में बैठे कितने ही झींगुर एक साथ गाने लगे। उनका गायन यों उपेक्षा बुद्धि से तो अनेकों बार सुना था। उसे कर्कश, व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण समझा था, पर आज मन के लिए कुछ और काम न था। वह ध्यानपूर्वक इस गायन के उतार-चढ़ावों को परखने लगा। निर्जन की निन्दा करते-करते वह थक भी गया था। इस चंचल बन्दर को हर घड़ी नये-नये प्रकार के काम जो चाहिए। झींगुर की गान-सभा का समा बँधा तो उसी में रस लेने लगा।

झींगुर ने बड़ा मधुर गान गाया। उसका गीत मनुष्य की भाषा में न था, पर भाव वैसे ही मौजूद, जैसे मनुष्य सोचता है। उसने गाया- "हम असीम क्यों न बनें? असीमता का आनन्द क्यों न लें? सीमा ही बन्धन है, असीमता में मुक्ति का तत्त्व भरा है। जिसका इन्द्रियों में ही सुख सीमित है, जो कुछ चीजें और कुछ व्यक्तियों को ही अपना मानता है, जिसका स्वार्थ थोड़ी-सी कामनाओं तक ही सीमित है, वह बेचारा क्षुद्र प्राणी, इस असीम परमात्मा के असीम विश्व में भरे हुए असीम आनन्द का भला कैसे अनुभव कर सकेगा? जीव तुम असीम हो, आत्मा का असीम विस्तार कर, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द बिखरा पड़ा है। उसे अनुभव कर और अमर हो जा।"

इकतारे पर जैसे वीतराग ज्ञानियों की मण्डली मिल-जुलकर कोई निर्वाण पद गा रही हो, वैसे ही यह झींगुर अपना गान निर्विघ्न होकर गा रहे थे। किसी को सुनाने के लिए नहीं। स्वान्तः सुखाय ही उनका यह प्रयास चल रहा था। मैं भी उसी में विभोर हो गया। वर्षा के कारण क्षतिग्रस्त कुटिया से उत्पन्न असुविधा विस्मृत हो गई। सुनसान में शान्तिशील गाने वाले सहचरों ने उदासीनता को हटाकर उल्लास का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

पुरानी आदतें छूटने लगीं। मनुष्यों तक सीमित आत्मीयता ने बढ़कर प्राणिमात्र तक विस्तृत होने का प्रयत्न किया, तो अपनी दुनिया बहुत चौड़ी हो गई। मनुष्य के सहवास में सुख की अनुभूति ने बढ़कर अन्य प्राणियों के साथ भी वैसी ही सुखानुभूति करने की प्रक्रिया सीख ली। अब इस निर्जन वन में भी कहीं सूनापन दिखाई नहीं देता।

आज कुटिया से बाहर निकल कर इधर-उधर भ्रमण करने लगा, तो चारों ओर सहचर दिखाई देने लगे। विशाल वृक्ष पिता और पितामह जैसे दीखने लगा। कषाय वल्कलधारी भोज-पत्र के पेड़ ऐसे लगते थे, मानो गेरुआ कपड़े पहने कोई तपस्वी-महात्मा खड़े होकर तप कर रहे हों। देवदारू और चीड़ के लम्बे-लम्बे पेड़ प्रहरी की तरह सावधान खड़े थे, मानो मनुष्य जाति में प्रचलित दुर्बुद्धि को अपने समाज में न आने देने के लिए कटिबद्ध रहने का व्रत उन्होंने लिया हुआ हो।

छोटे-छोटे लता-गुल्म नन्हें-मुन्ने बच्चे-बच्चियों की तरह पंक्ति बनाकर बैठे थे। पुष्पों में उनके अपने सिर सुशोभित थे। वायु के झोंकों के साथ हिलते हुए ऐसे लगते थे, मानो प्रारम्भिक पाठशाला के छोटे छात्र सिर हिला-हिला कर पहाड़े याद कर रहे हों। पल्लवों पर बैठे हुए पक्षी मधुर स्वर में ऐसे चहक रहे थे, मानो यक्ष गन्धर्वों की आत्माएँ खिलौने जैसे सुन्दर आकार धारण करके इस वनश्री का गुणगान और अभिनन्दन करने के लिए ही स्वर्ग से उतरी हों। किशोर बालकों की तरह हिरन उछल-कूद मचा रहे थे। जंगली भेड़ें (वरड) ऐसी निश्चिन्त होकर घूम रहीं थीं मानो इस प्रदेश की गृहलक्ष्मी यही हों। मन बहलाने के लिए चाबीदार कीमती खिलौने की तरह छोटे-छोटे कीड़े पृथ्वी पर चल रहे थे। उनका रंग-रूप, चाल-ढाल सभी कुछ देखने योग्य था। उड़ते हुए पतंग, फूलों से अपने सौन्दर्य की प्रतिस्पर्द्धा कर रहे थे। हममें से कौन अधिक सुन्दर और कौन अधिक असुन्दर है, इसकी होड़ उनमें लगी हुई थी।

नव-यौवन का भार जिससे सँभालने में न आ रहा हो, ऐसी इतराती हुई पर्वतीय नदी बगल में ही बह रही थी। उसकी चंचलता और उच्छृंखलता, दर्प देखते ही बनता था। गंगा में और भी नदी आकर मिलती हैं। मिलन के संगम पर ऐसा लगता था, मानो सहोदर बहिनें ससुराल जाते समय गले मिल रही हों, लिपट रही हों। पर्वतराज हिमालय ने अपनी सहस्र पुत्रियों (नदियों) का विवाह समुद्र के साथ किया है। ससुराल जाते समय ये बहिनें कैसी आत्मीयता से मिलती हैं, संगम पर खड़े-खड़े इस दृश्य को देखते देखते जी नहीं अघाता। लगता है हर घड़ी इसे देखते रहें।

वयोवृद्ध राजपुरुषों और लोकनायकों की तरह पर्वत शिखर दूर-दूर तक ऐसे बैठे थे, मानो किसी गम्भीर समस्याओं को सुलझाने में दत्त-चित्त होकर संलग्न हों। हिमाच्छादित चोटियाँ उनके श्वेत केशों की झाँकी करा रही थीं, उन पर उड़ते हुए छोटे बादल ऐसे लगते थे, मानो ठण्ड से बचाने के लिए नई रूई का बढ़िया टोपा उन्हें पहनाया जा रहा है। कीमती शाल-दुशालाओं में उनके नग्न शरीर को लपेटा जा रहा हो।

जिधर भी दृष्टि उठती उधर एक विशाल कुटुम्ब अपने चारों ओर फैला हुआ नजर आता था। उनके जुबान न थी, वे बोलते न थे, पर उनकी आत्मा में रहने वाला चेतन बिना शब्दों के ही बहुत कुछ कहता था। जो कहता था, हृदय से कहता था और करके दिखाता था। ऐसी बिना शब्दों की, किन्तु अत्यन्त मार्मिक वाणी इससे पहले कभी सुनने को नहीं मिली थी। उनके शब्द सीधे आत्मा तक प्रवेश करते और रोम-रोम को झंकृत किए देते थे। अब सूनापन कहाँ? अब भय किसका ? सब ओर सहचर ही सहचर जो बैठे थे।

सुनहरी धूप ऊँचे पर्वत शिखरों से उतर कर पृथ्वी पर कुछ देर के लिए आ गई थी, मानो अविद्याग्रस्त हृदय में सत्संगवश स्वल्प स्थायी ज्ञान उदय हो गया। ऊँचे पहाड़ों की आड़ में सूरज इधर-उधर ही छिपा रहता है, केवल मध्याह्न को ही कुछ घण्टों के लिए उनके दर्शन होते हैं, उनकी किरणें सभी सिकुड़ते हुए जीवों में चेतना की एक लहर दौड़ा देती हैं। सभी में गतिशीलता और प्रसन्नता उमड़ने लगती है। आत्मज्ञान का सूर्य भी प्रायः वासना और तृष्णा की चोटियों के पीछे छिपा रहता है, पर जब कभी, जहाँ कहीं वह उदय होगा, वहीं उसकी सुनहरी रश्मियाँ एक दिव्य हलचल उत्पन्न करती हुई अवश्य दिखाई देंगी।

अपना शरीर भी स्वर्णिम रश्मियों का आनन्द लेने के लिए कुटिया से बाहर निकला और मखमल के कालीन-सी बिछी हरी घास पर टहलने की दृष्टि से एक ओर चल पड़ा। कुछ ही दूर रंग-बिरंगे फूलों का एक बड़ा पठार था। आँखें उधर ही आकर्षित हुईं और पैर उसी दिशा में उठ चले।

छोटे बच्चे अपने सिर पर रंगीन टोपे पहने हुए पास-पास बैठकर किसी खेल की योजना बनाने में व्यस्त हों, ऐसे लगते थे वे पुष्पसज्जित पौधे। मैं उन्हीं के बीच जाकर बैठ गया। लगा जैसे मैं भी एक फूल हूँ। यदि ये पौधे मुझे भी अपना साथी बना लें तो मुझे भी अपने खोये बचपन पाने का पुण्य अवसर मिल जाए।

भावना आगे बढ़ी। जब अन्तराल हुलसता है तो तर्कवादी कुतर्की विचार भी ठण्डे पड़ जाते हैं। मनुष्य के भावों में प्रबल रचना शक्ति है, वे अपनी दुनिया आप बसा लेते हैं। काल्पनिक ही नहीं शक्तिशाली भी, सजीव भी। ईश्वर और देवताओं तक की रचना उसने अपनी भावना के बल पर की है और उनमें अपनी श्रद्धा को पिरोकर उन्हें इतना महान बनाया है जितना कि वह स्वयं है। अपने भाव फूल बनने को मचले तो वैसा ही बनने में देर न थी। लगा कि इन पंक्ति बनाकर बैठे हुए पुष्प बालकों ने मुझे भी सहचर मानकर मुझे भी अपने खेल में भाग लेने के लिए सम्मिलित कर लिया है। जिसके पास मैं बैठा था, वह बड़े से पीले फूल वाला पौधा बड़ा हँसोड़ तथा वाचाल था। अपनी भाषा में उसने कहा- "दोस्त, तुम मनुष्यों में व्यर्थ जा जन्मे। उनको भी कोई जिन्दगी है, हर समय चिन्ता, हर समय उधेड़बुन, हर समय तनाव, हर समय कुढ़न। अब की बार तुम पौधे बनना, हमारे साथ रहना। देखते नहीं हम सब कितने प्रसन्न हैं, कितने

खिलते हैं, जीवन को खेल मानकर जीने में कितनी शान्ति है, यह हम लोग जानते हैं। देखते नहीं हमारे भीतर आन्तरिक उल्लास सुगन्ध के रूप में बाहर निकल रहा है। हमारी हँसी फूलों के रूप में बिखरी पड़ रही है। सभी हमें प्यार करते हैं, सभी को हम प्रसन्नता प्रदान करते हैं। आनन्द से जीते हैं और जो पास आता है उसी को आनन्दित कर देते हैं। जीवन जीने की यही कला है। मनुष्य बुद्धिमानी का गर्व करता है, पर किस काम की वह बुद्धिमानी, जिससे जीवन की साधारण कला, हँस-खेल कर जीने की प्रक्रिया भी हाथ न आए।''

फूल ने कहा- ''मित्र, तुम्हें ताना मारने के लिए नहीं, अपनी बड़ाई करने के लिए भी नहीं, यह मैंने एक तथ्य ही कहा है? अच्छा बताओ, जब हम धनी, विद्वान, गुणी, सम्पन्न, वीर और बलवान न होते हुए भी अपने जीवन को हँसते हुए तथा सुगन्ध फैलाते हुए जी सकते हैं, तो मनुष्य वैसा क्यों नहीं कर सकता? हमारी अपेक्षा असंख्य गुने साधन उपलब्ध होने पर भी यदि वह चिन्तित और असंतुष्ट रहता है, तो क्या इसका कारण उसकी बुद्धिहीनता मानी जाएगी?''

''प्रिय, तुम बुद्धिमान हो, जो उन बुद्धिहीनों को छोड़कर कुछ समय हमारे साथ हँसने-खेलने चले आए। चाहो तो हम अकिंचनों से भी जीवनविद्या का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सीख सकते हो।''

मेरा मस्तक श्रद्धा से नत हो गया- ''पुष्प मित्र, तुम धन्य हो। स्वल्प साधन होते हुए भी तुमको जीवन कैसे जीना चाहिए, यह जानते हो। एक हम हैं, जो उपलब्ध सौभाग्य को कुढ़न में ही व्यतीत करते रहते हैं। मित्र, तुम सच्चे उपदेशक हो, वाणी से नहीं जीवन से सिखाते हो, बालसहचर, यहाँ सीखने आया हूँ तो तुमसे बहुत सीख सकूँगा। सच्चे साथी की तरह सिखाने में संकोच न करना।''

हँसोड़ पीला पौधा खिलखिलाकर हँस पड़ा। सिर हिला हिलाकर यह स्वीकृति दे रहा था और कहने लगा, ''सीखने की इच्छा रखने वाले के लिए पग-पग पर शिक्षक मौजूद हैं, पर आज सीखना कौन चाहता है? सभी तो अपनी पूर्णता के अहंकार के मद में ऐंठे-ऐंठे से फिरते हैं। सीखने के लिए हृदय का द्वार खोल दिया जाए, तो बहती हुई वायु की तरह शिक्षा, सच्ची शिक्षा स्वयं हमारे हृदय में प्रवेश करने लगे।''

## विश्व-समाज की सदस्यता

नित्य की तरह आज भी तीसरे पहर उस सुरम्य वनश्री के अवलोकन के लिए निकला। भ्रमण में जहाँ स्वास्थ्य-संतुलन की, व्यायाम की दृष्टि रहती है, वहाँ सूनेपन के सहचर से, इस निर्जन में निवास करने वाले परिजनों से कुशल क्षेम पूछने और उनसे मिलकर आनन्दलाभ करने की भावना भी रहती है। अपने आपको मात्र मनुष्य जाति का सदस्य मानने की संकुचित दृष्टि जब विस्तीर्ण होने लगी, तो वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी, कीट-पतंगों के प्रति भी ममता और आत्मीयता उमड़ी। ये परिजन मनुष्य की बोली नहीं बोलते और न उनकी सामाजिक प्रक्रिया ही मनुष्य जैसी है, फिर भी अपनी विचित्रताओं और विशेषताओं के कारण इन मनुष्येतर प्राणियों की दुनिया भी अपने स्थान पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार धर्म, जाति, रंग, प्रान्त, देश, भाषा, भेष आदि के आधार पर मनुष्यों-मनुष्यों के बीच संकुचित साम्प्रदायिकता फैली हुई है, वैसी ही एक संकीर्णता यह भी है कि आत्मा अपने आपको केवल मनुष्य जाति का सदस्य माने। अन्य प्राणियों को अपने से भिन्न जाति का समझे या उन्हें अपने उपयोग की, शोषण की वस्तु समझे। प्रकृति के अगणित पुत्रों में से मनुष्य भी एक है। माना कि उसमें कुछ अपने ढंग से विशेषताएँ हैं, पर अन्य प्रकार की अगणित विशेषताएँ सृष्टि के अन्य जीव-जन्तुओं में भी मौजूद हैं और वे भी इतनी बड़ी हैं कि मनुष्य उन्हें देखते हुए अपने आपको पिछड़ा हुआ ही मानेगा।

आज भ्रमण करते समय यही विचार मन में उठ रहे थे। आरम्भ में इस निर्जन के जो सदस्य जीव-जन्तु और वृक्ष-वनस्पति तुच्छ लगते थे, महत्त्वहीन प्रतीत होते थे, अब ध्यानपूर्वक देखने से वे महान लगने लगे और ऐसा प्रतीत होने लगा कि भले ही मनुष्य को प्रकृति ने बुद्धि अधिक दे दी हो, पर अन्य अनेकों उपहार उसने अपने इन निर्बुद्धि माने जाने वाले पुत्रों को भी दिए हैं। उन उपहारों को पाकर वे चाहें तो मनुष्य की अपेक्षा अपने आप पर कहीं अधिक गर्व कर सकते हैं।

इस प्रदेश में कितनी ही प्रकार की चिड़ियाँ हैं, जो प्रसन्नतापूर्वक दूर-दूर देशों तक उड़कर जाती हैं। पर्वतों को लाँघती हैं। ऋतुओं के अनुसार, अपने प्रदेश पंखों से उड़कर ही बदल लेती हैं। क्या मनुष्य को यह उड़ने की विभूति प्राप्त हो सकती है। हवाई जहाज बनाकर उसने एक भोंड़ा-सा प्रयत्न किया तो है, पर चिड़ियों के पंखों से उसकी क्या तुलना हो सकती है? अपने आपको सुन्दर बनाने के लिए सजावट की रंग-बिरंगी वस्तुएँ उसने आविष्कृत की हैं, पर चित्र-विचित्र पंखों वाली, स्वर्ग की अप्सराओं जैसी चिड़ियों और तितलियों जैसी रूपसज्जा उसे कहाँ प्राप्त हुई है?

सर्दी से बचने के लिए लोग कितने तरह के वस्त्रों का उपयोग करते हैं, पर रोज ही आँखों के सामने गुजरने वाले वरड (जंगली भेड़) और रीछ के शरीर पर जमे हुए बालों जैसे गरम ऊनी कोट, शायद अब तक किसी मनुष्य को उपलब्ध नहीं हुए। हर छिद्र से हर घड़ी दुर्गन्ध निकालने वाले मनुष्य की हर घड़ी अपने पुष्पों से सुगन्धि बिखेरने वाले, लता-गुल्मों से क्या तुलना हो सकती है? साठ-सत्तर वर्ष में जीर्ण-शीर्ण होकर मर-खप जाने वाले मनुष्य की इन अजगरों से क्या तुलना की जाए, जो चार सौ वर्ष की आयु को हँसी-खुशी पूरा कर लेते हैं। वट और पीपल के वृक्ष तो एक हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं।

कस्तूरी मृग जो सामने वाले पठार पर छलाँग मारते रहते हैं, किसी भी मनुष्य को दौड़ में परास्त कर सकते

हैं। भूरे बाघों से मल्ल-युद्ध में क्या कोई मनुष्य जीत सकता है? चींटी की तरह अधिक परिश्रम करने की सामर्थ्य भला किस आदमी में होगी? शहद की मक्खी की तरह फूलों में से कौन मधुसंचय कर सकता है? बिल्ली की तरह रात के घोर अन्धकार में देख सकने वाली दृष्टि किसे प्राप्त है? कुत्तों की तरह घ्राणशक्ति के आधार पर बहुत कुछ पहचान लेने की क्षमता किस की होगी? मछली की तरह निरन्तर जल में कौन रह सकता है? हंस के समान नीर-क्षीर विवेक किसे होगा? हाथी के समान बल किस व्यक्ति में है? इन विशेषताओं युक्त प्राणियों के देखते हुए मनुष्य का यह गर्व करना मिथ्या मालूम पड़ता है कि वही संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।

आज के भ्रमण में यही विचार मन में घूमते रहे कि मनुष्य ही सब कुछ नहीं है, सर्वश्रेष्ठ भी नहीं है, सबका नेता भी नहीं है। उसे बुद्धिबल मिला, यह सही है, उसने अपने सुख-साधन बढ़ाये यह भी सही है पर साथ ही यह भी सही है कि इसे पाकर उसने अनर्थ ही किया। सृष्टि के अन्य प्राणी जो उसके भाई थे, यह धरती, उनकी भी माता ही थी, उस पर जीवित रहने, फलने-फूलने और स्वाधीन रहने का उन्हें भी अधिकार था, पर मनुष्य ने सबको पराधीन बना डाला, सबकी सुविधा और स्वतन्त्रता को बुरी तरह पददलित कर डाला। पशुओं को जंजीरों से कसकर उनसे अत्यधिक श्रम लेने के लिए पैशाचिक उत्पीड़न किया, उनके बच्चों के हक का दूध छीनकर स्वयं पीने लगा, निर्दयतापूर्वक वध करके उनका माँस खाने लगा। पक्षियों और जलचरों के जीवन को भी उसने अपनी स्वाद-प्रियता और विलासिता के लिए बुरी तरह नष्ट किया। माँस के लिए, दवाओं के लिए, फैशन के लिए, विनोद के लिए उनके साथ कैसा नृशंस व्यवहार किया है, उस पर विचार करने से दम्भी मनुष्य की सारी नैतिकता मिथ्या ही प्रतीत होती है।

जिस प्रदेश में अपनी निर्जन कुटिया है, उसमें पेड़-पौधों के अतिरिक्त जलचर, नभचर जीव-जन्तुओं की भी बहुतायत है। जब भ्रमण को निकलते हैं तो अनायास ही उनसे भेंट करने का अवसर मिलता है। आरम्भ के दिनों में वे डरते थे, पर अब तो पहचान गए हैं। मुझे अपने कुटुम्ब का ही एक सदस्य मान लिया है। अब न वे मुझसे डरते हैं और न अपने को ही उनसे डर लगता है। दिन-दिन यह समीपता और घनिष्ठता बढ़ती जाती है। लगता है, इस पृथ्वी पर ही एक महान विश्व मौजूद है। उस विश्व में प्रेम, करुणा, मैत्री, सहयोग, सौजन्य, सौन्दर्य, शान्ति, सन्तोष आदि स्वर्ग के सभी चिह्न मौजूद हैं। उससे मनुष्य दूर है। उसने अपनी एक छोटी-सी दुनिया अलग बना रखी है, मनुष्यों की दुनिया। इस अहंकारी और दुष्ट प्राणी ने ज्ञान-विज्ञान की लम्बी-चौड़ी बातें बहुत की हैं। महानता और श्रेष्ठता के, धर्म और नैतिकता के लम्बे-चौड़े विवेचन किए हैं, पर सृष्टि के अन्य प्राणियों के साथ इसने जो दुर्व्यवहार किया है, उससे उस सारे पाखण्ड का पर्दाफाश हो जाता है, जो वह अपनी श्रेष्ठता, अपने समाज और सदाचार की श्रेष्ठता बखानते हुए प्रतिपादित किया करता है।

आज विचार बहुत गहरे उतर गए, रास्ता भूल गया, कितने ही पशु-पक्षियों को आँखें भर-भर कर देर तक देखता रहा। वे भी खड़े होकर मेरी विचारधारा का समर्थन करते रहे। मनुष्य ही इस कारण सृष्टि का श्रेष्ठ प्राणी नहीं माना जा सकता कि उसके पास दूसरों की अपेक्षा बुद्धिबल अधिक है। यदि बल ही बड़प्पन का चिह्न हो तो दस्यु, सामन्त, असुर, दानव, पिशाच, बेताल, ब्रह्मराक्षस आदि की श्रेष्ठता को मस्तक नवाना पड़ेगा। श्रेष्ठता के चिह्न हैं- सत्य, प्रेम, न्याय, शील, संयम, उदारता, त्याग, सौजन्य, विवेक, सौहार्द्र। यदि इनका अभाव रहा तो बुद्धि का शस्त्र धारण किए हुए नर-पशु उन विकराल नख और दाँतों वाले हिंस्र पशुओं से कहीं अधिक भयंकर है। हिंस्र पशु भूखे होने पर ही आक्रमण करते हैं, पर यह बुद्धिधारी नर-पशु तो तृष्णा और अहंकार के लिए ही भारी दुष्टता और क्रूरता का निरन्तर अभियान करता रहता है।

देर बहुत हो गई थी। कुटी पर लौटते-लौटते अँधेरा हो गया। उस अँधेरे में बहुत रात गये तक सोचता रहा कि मनुष्य की भलाई की, उसी की सेवा की, उसी के सान्निध्य की, उसी की उन्नति की बात जो हम सोचते रहते हैं, क्या इसमें जातिगत पक्षपात भरा नहीं है? क्या यह संकुचित दृष्टिकोण नहीं है? सद्गुणों की अपेक्षा से ही मनुष्य को श्रेष्ठ माना जा सकता है, अन्यथा वह अन्य जीवधारियों की तुलना में अधिक दुष्ट ही है। हमारा दृष्टिकोण मनुष्य की समस्याओं तक ही क्यों सीमित रहे? हमारा विवेक मनुष्येतर प्राणियों के साथ आत्मीयता बढ़ाने, उनके सुख-दुख में सम्मिलित होने के लिए अग्रसर क्यों न हो? हम अपने को मानव-समाज की अपेक्षा विश्व-समाज का एक सदस्य क्यों न मानें?

इन्हीं विचारों में रात बहुत बीत गई। विचारों के तीव्र दबाव में नींद बार-बार लगती-खुलती रही। सपने बहुत दीखे। हर स्वप्न में विभिन्न जीव-जन्तुओं के साथ क्रीड़ा, विनोद, स्नेह, संलाप करने के दृश्य दिखाई देते रहे। उन सबके निष्कर्ष यही थे कि अपनी चेतना विभिन्न प्राणियों के साथ स्वजन-सम्बन्धियों जैसी घनिष्ठता अनुभव कर रही है। आज के सपने बड़े ही आनन्ददायक थे। लगता रहा जैसे एक छोटे क्षेत्र से आगे बढ़कर आत्मा विशाल विस्तृत क्षेत्र को अपना क्रीड़ांगन बनाने के लिए अग्रसर हो रही है। कुछ दिन पहले इस प्रदेश का सुनसान अखरता था, पर अब तो सुनसान जैसी कोई जगह दिखाई ही नहीं पड़ती। सभी जगह तो विनोद करने वाले सहचर मौजूद हैं। वे मनुष्य की तरह भले ही न बोलते हों, उनकी परम्पराएँ मनुष्य की अपेक्षा हर दृष्टि से उत्कृष्ट ही हैं। ऐसे क्षेत्र में रहते हुए जी ऊबने का अब कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

## लक्ष्यपूर्ति की प्रतीक्षा

आहार हल्का हो जाने से नींद भी कम हो जाती है। फल तो अब दुर्लभ हैं, पर शाकों से भी फलों वाली सात्विकता प्राप्त हो सकती है। यदि शाकाहार पर रहा जाए, तो साधक के लिए चार-पाँच घण्टे की नींद पर्याप्त हो जाती है।

जाड़े की रात लम्बी होती है। नींद जल्दी ही पूरी हो गई। आज चित्त कुछ चंचल था। यह साधना कब तक पूरी होगी? लक्ष्य कब तक प्राप्त होगा? सफलता कब तक मिलेगी? ऐसे-ऐसे विचार उठ रहे थे। विचारों की उलझन भी कैसी विचित्र है, जब उसका जंजाल उमड़ पड़ता है तो शान्ति की नाव डगमगाने लगती है। इस विचार प्रवाह में न भजन बन पड़ रहा था, न ध्यान लग रहा था। चित्त ऊबने लगा। इस ऊब को मिटाने के लिए कुटिया से निकला और बाहर टहलने लगा। आगे बढ़ने की इच्छा हुई। पैर चल पड़े। शीत तो अधिक थी, पर गंगामाता की गोद में बैठने का आकर्षण भी कौन कम मधुर है, जिसके सामने शीत की परवाह हो? तट से लगी हुई एक विशालशिला जलधारा में काफी भीतर तक धँसी पड़ी थी। अपने बैठने का वही प्रियस्थान था। कम्बल ओढ़कर उसी पर जा बैठा। आकाश की ओर देखा, तो तारों ने बताया कि अभी दो बजे हैं।

देर तक बैठा रहा तो झपकी आने लगी। गंगा का 'कलकल-हरहर' शब्द भी मन को एकाग्र करने के लिए ऐसा ही है, जैसे शरीर के लिए झूला-पालना। बच्चे को झूला-पालने में डाल दिया जाए तो डालने के साथ ही उसे नींद आने लगती है। जिस प्रदेश में इन दिनों यह शरीर है वहाँ का वातावरण इतना सौम्य है कि यह जलधारा का दिव्य कलरव ऐसा लगता है, मानो वात्सल्यमयी माता लोरी सुना रही हो। चित्त एकाग्र होने के लिए, यह ध्वनि-लहरी कलरव नादानुसंधान से किसी भी प्रकार कम नहीं है। मन को विश्राम मिला। चित्त शान्त हो गया। झपकी आने लगी। लेटने को जी चाहा। पेट में घुटने लगाए। कम्बल ने ओढ़ने-बिछाने के दोनों काम साध दिए। नींद के हलके झोंके आने आरम्भ हो गए।

लगा कि नीचे पड़ी शिला की आत्मा बोल रही है, उसकी वाणी कम्बल को चीरती हुई, कानों से लेकर हृदय तक प्रवेश करने लगी। मन तंद्रित अवस्था में भी उसे ध्यानपूर्वक सुनने लगा।

शिला की आत्मा बोली- "साधक! क्या तुझे आत्मा में रस नहीं आता, जो सिद्धि की बात सोचता है? भगवान के दर्शन से क्या भक्तिभावना में कम रस है? लक्ष्य प्राप्ति से क्या यात्रा मंजिल कम आनन्ददायक है? फल से क्या कर्म का माधुर्य फीका है? मिलन से क्या विरह कम गुदगुदा है? तू इस तथ्य को समझ। भगवान तो भक्ति से ओत-प्रोत ही हैं। उसे मिलने में देरी ही क्या है? जीव को साधना का आनन्द लूटने का अवसर देने के लिए ही उसने अपने को पर्दे में छिपा लिया है और झाँक-झाँक कर देखता रहता है कि मेरा भक्त भक्ति के आनन्द में सराबोर हो रहा है या नहीं? जब वह उस रस में निमग्न हो जाता है, तो भगवान भी आकर उसके साथ रास-नृत्य करने लगता है। सिद्धि वह है जब भक्त कहता है, मुझे सिद्धि नहीं, भक्ति चाहिए। मुझे मिलन की नहीं, विरह की अभिलाषा है। मुझे सफलता में नहीं, कर्म में आनन्द है। मुझे वस्तु नहीं, भाव चाहिए।"

शिला की आत्मा आगे भी कहती ही गई। उसने और भी कहा- "साधक! सामने देख, गंगा अपने प्रियतम से मिलने के लिए कितनी आतुरतापूर्वक दौड़ी जा रही है। उसे इस दौड़ में आनन्द है। समुद्र से मिलन तो उसका कब का हो चुका, पर उसमें उसने रस कहाँ पाया? जो आनन्द प्रयत्न को अन्तकाल तक जारी रखने का व्रत लिया हुआ है फिर अधीर साधक तू ही क्यों उतावली करता है? तेरा लक्ष्य महान है, तेरा पथ महान है, तू महान है, तेरा कार्य भी महान है। महान उद्देश्य के लिए महान धैर्य चाहिए। बालकों जैसी उतावली का यहाँ क्या प्रयोजन? सिद्धि कब तक मिलेगी, यह सोचने में मन लगाने से क्या लाभ?"

शिला की आत्मा बिना रुके कहती ही रही। उसने आत्मविश्वासपूर्वक कहा- "मुझे देख। मैं भी अपनी हस्ती को उस बड़ी हस्ती में मिला देने के लिए यहाँ पड़ी हूँ। अपने इस स्थूल शरीर को, विशाल शिलाखण्ड को सूक्ष्म, अणु बनाकर इस महासागर में मिला देने की साधना कर रही हूँ। जल की प्रत्येक लहर से टकराकर मेरे शरीर के कुछ कण टूटते हैं और वे रजकण बनकर समुद्र की ओर बह जाते हैं। इस तरह मिलन का बूँद-बूँद स्वाद ले रही हूँ, तिल-तिल अपने को घिस रही हूँ। इस प्रकार प्रेमी के प्रति आत्मदान का आनन्द कितने दिनों तक लेने का रस ले रही हूँ। यदि उतावले अन्य पत्थरों की तरह बीच जलधारा में पड़कर लुढ़कने लगती तो सम्भवत: कब की मैं लक्ष्य तक पहुँच जाती। फिर यह तिल-तिल अपने को प्रेमी के लिए घिसने का जो आनन्द है, उससे तो वंचित ही रह गई होती?"

"उतावली न कर, उतावली में जलन है, खीझ है, निराशा है, अस्थिरता है, निष्ठा की कमी है, क्षुद्रता है। इन दुर्गुणों के रहते कौन महान बना है और कौन लक्ष्य तक पहुँचा है? साधक का पहला लक्षण है, धैर्य। धैर्य की परीक्षा ही भक्ति की परीक्षा है। जो अधीर हो गया सो असफल हुआ। लोभ और भय के, निराशा और आवेश के, जो अवसर साधक के सामने आते हैं, उनमें और कुछ नहीं, केवल धैर्य परखा जाता है। तू कैसा साधक है, जो अभी इस पहले पाठ को भी नहीं पढ़ पाया?"

शिला की आत्मा ने बोलना बन्द कर दिया। मेरी तंद्रा टूटी। इस उपालम्भ ने अन्त:करण को झकझोर डाला। "पहला पाठ भी अभी नहीं पढ़ा और चला है बड़ा साधक बनने।" लज्जा और संकोच से सिर नीचा हो गया, अपने को समझाता और धिक्कारता रहा। सिर ऊपर उठाया तो देखा, ऊषा की लाली उदय हो रही है। उठा और नित्यकर्म की तैयारी करने लगा।

# विदाई की घड़ियाँ, गुरुसत्ता की व्यथा-वेदना

## गायत्री तपोभूमि, मथुरा से विदाई, उनका भविष्यकथन एवं अन्तस की वेदना

परमपूज्य गुरुदेव ने गायत्री तपोभूमि, मथुरा को अपनी कर्मभूमि के रूप में १९५२-५३ में बनाकर खड़ा किया था । महर्षि दुर्वासा की इस तप-स्थली से 'युग-निर्माण-योजना' का सूत्रपात हुआ एवं बड़े महत्त्वपूर्ण निर्धारण इस अवधि में सम्भव हुए । हिमालय-प्रवास से (१९६१-६२ में) लौटते ही उन्होंने अपनी शेष अवधि का कार्यक्रम सबके समक्ष प्रस्तुत कर दिया था । यों तो पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार उन्हें मथुरा छोड़कर हिमालय तप-साधना हेतु तथा परमवंदनीया माता भगवती देवी को शान्तिकुंज-हरिद्वार, विश्वामित्र ऋषि की तपोभूमि में जून, १९७१ में आना था, किन्तु मई, १९६६ से ही उन्होंने अपने अंत: की टीस को सबके समक्ष व्यक्त करते हुए 'भावी पाँच वर्षों के कार्यक्रम एवं जन-जन से अपेक्षाएँ' शीर्षक से 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका के माध्यम से देना आरम्भ कर दिया था । युगद्रष्टा पुरुषों को भविष्य का सारा स्वरूप हस्तामलकवत् दिखाई देता है । तदनुसार ही उनकी सारी जीवन-पद्धति होती है । उस समय तो कोई समझ नहीं पाता, किन्तु बाद में जब विगत पर दृष्टि डालते हैं, तो समझ पाते हैं कि ऐसे महामानवों, अवतारी पुरुषों के हर क्रिया-कलाप के पीछे कितना सूक्ष्मचिन्तन समाहित होता है । आज जब हम वाङ्मय के पृष्ठों पर उनका पूर्व चिन्तन दे रहे हैं, तो तीस वर्ष पूर्व के सूक्ष्म जगत के घटनाक्रम दृष्टि-पटल पर आ जाते हैं ।

१९६७ की जून माह की 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका में पृष्ठ १७ पर एक लेख प्रकाशित हुआ-'महाकाल और उसका युग-निर्माण प्रत्यावर्तन' । इसमें पूज्यवर ने संकेत किया कि-''आगामी तीस वर्ष अत्यन्त कष्ट भरे हैं । युग-परिवर्तन की पृष्ठभूमि बन रही है । महाकाल की इच्छा कभी अपूर्ण नहीं रह सकती । महाकाली अपनी सृजनात्मक और संघर्षात्मक प्रक्रिया को प्रचण्ड करने में संलग्न है । पिछले दिनों दो खण्ड अवतारों ने, श्रीरामकृष्ण परमहंस एवं योगीराज अरविन्द के रूप में जन्म लिया है । तीसरा अवतरण युग-निर्माण आन्दोलन के रूप में आजकल चल रहा है । इसमें महाकाल भी काम कर रहा है और महाकाली भी, जिससे आज की मानव-जाति की अंधकारपूर्ण दुर्दशा कल के स्वर्ग-सौभाग्य जैसे उज्ज्वल भविष्य में परिणत हो सके । पूर्ण अवतार लगभग तीस वर्ष की कठिन अवधि के उपरान्त प्रकट होगा । महान व्यक्तियों के रूप में भी और महान परिवर्तन के रूप में भी । इस प्रयोजन को पूरा करने के लिए भगवान दिव्य आत्माओं का वरण कर रहे हैं । उन्हें हम शत-शत प्रणाम करें, यही मन करता है ।''

परमपूज्य गुरुदेव ने भविष्य को न केवल पढ़ा था, अपितु वे उसे गढ़ने के लिए भी धरती पर आए थे । लगभग चार माह बाद अक्टूबर, १९६७ की पत्रिका 'अब फिर से सतयुग आएगा-यह बोल रहा है महाकाल' इस शीर्षक की कविता प्रकाशित हुई । यह अंक विशेषांक था-'महाकाल और उनकी युग-प्रत्यावर्तन प्रक्रिया' नाम से । भावी विभीषिकाएँ महाकाल और उनका रौद्ररूप, त्रिपुरारी महाकाल, शिव का तृतीय नेत्रोन्मीलन, दशमावतार और इतिहास की पुनरावृत्ति आदि के वर्णन के बाद इस अंक में लिखा गया था कि आज की सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता लोकसेवा ही है और इसके लिए अपने परिवार, जो कि गायत्री परिवार के रूप में उच्चस्तरीय आत्माओं का भाण्डागार है, को बढ़-चढ़कर आगे आकर अपने त्याग, बलिदान का परिचय देना चाहिए । बाद में यही सारी सामग्री पुस्तकाकार में भी छपी ।

यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि युग-परिवर्तन, विभीषिकाओं के निवारणार्थ सामूहिक साधना रूपी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग यह शब्दावली परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी से सतत इस अवधि के बाद काफी जोर देकर एक चेतावनी, एक मार्गदर्शन के रूप में सभी परिजनों को मिलने लगी थी । अपने तृतीय हिमालय-प्रवास व हमेशा के लिए गायत्री तपोभूमि छोड़ने की बात वे १९६२ से ही कहते आ रहे थे । 'पत्रिका' में यह प्रवाह १९७१ के बाद वंदनीया माताजी के माध्यम से जारी रहा, साथ ही साधकों के निर्माण की प्रक्रिया भी जारी रही । एक ही उद्देश्य था-समष्टि का हित-साधन, सृष्टि की विकासात्मक भवितव्यता को गति देना ।

### विदाई की वेला का मार्मिक शुभारम्भ-मई, १९६६ से ही

पिछले दिनों में हमने अपने विशाल परिवार में से कुछ ऐसे प्रबुद्ध साथी ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है, जो युग-निर्माण की पुण्य-परम्परा को हमारे पीछे भी प्रगतिशील रख सकें । इस दृष्टि से गतवर्ष परिजनों से पूछा था कि आप लोगों में से ऐसे कौन-कौन हैं, जो हमारे कन्धों पर आये हुए उत्तरदायित्वों के भार को अपना कन्धा लगाकर हल्का कर सकें ? इसका उत्तर सन्तोषजनक मिला था । बेशक परिवार में ऐसे लोग भी हैं, जो हमारी विचारधारा में रस लेते हैं, उसे पसन्द करते हैं और 'अखण्ड-ज्योति' अथवा अन्य साहित्य को पढ़कर अपना संतोष कर लेते हैं । परिवार में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो पूजा-उपासना के माध्यम से, अपनी कतिपय कठिनाइयों के समाधान की

आशा करते हैं, उनका मूल प्रयोजन उतना मात्र ही है । इस दृष्टि से वे सम्पर्क में आते हैं, सम्पर्क में आने पर किसी प्रकार संकोचवश ही सही, अखण्ड-ज्योति या अन्य पुस्तक भी पढ़ने लगते हैं । वैसे उनकी इस सम्बन्ध में कोई निजी दिलचस्पी नहीं है ।

उपर्युक्त दो प्रकार के लोगों से हम कुछ विशेष आशा नहीं करते । उनके बारे में उतना ही सोचते हैं कि अपनी साहित्यिक अभिरुचि को तृप्त करने अथवा उपासनात्मक मार्ग-दर्शन से मिल सकने वाले प्रलोभन के कारण वे किसी प्रकार आज हमारे साथ हैं । कल उन्हें उपयोगिता कम दिखाई पड़ी, अपना प्रयोजन कम सधता दीखा तो वे साथ छोड़ देंगे । परिवार की सदस्यता त्यागते उन्हें देर न लगेगी । इस श्रेणी के लोगों को सहचर मात्र कहा जा सकता है । रास्ता चलते कितने ही लोगों का साथ हो जाता है । बोलते, बात करते मंजिल कट जाती है, फिर जिसका जिधर अभिप्राय था, उधर रुक जाता है या चला जाता है । समय के साथ एक-दूसरे को भूल भी जाते हैं । लाखों व्यक्ति हमारे जीवन-सम्पर्क में ऐसे भी आये हैं, जो कभी बड़े घनिष्ट थे, पर अब एक-दूसरे को लगभग भूल चुके हैं । इसी प्रकार जो आज अपने सहचर हैं, उनमें से भी अनेकों ऐसे होंगे जो अगले दिनों अपना साथ छोड़ देंगे ।

इस भीड़-भाड़ में से हम ऐसे लोगों को तलाश करने में कुछ दिन से लगे हुए हैं, जो हमारे सच्चे आत्मीय, साथी एवं कुटुम्बी के रूप में अपनी निष्ठा का परिचय दे सकें । बात यह है कि हमारा कार्य काल समाप्त होने जा रहा है । हमें अपनी वर्तमान गतिविधियाँ देर तक चलाते रहने का अवसर नहीं मिलेगा । किसी महान शक्ति के मार्गदर्शन एवं संकेत पर हमारा अब तक का जीवनयापन हुआ है । आगे भी इस शरीर का एक-एक क्षण उसी की प्रेरणा से बीतेगा । वह शक्ति हमें वर्तमान कार्यक्रमों से विरत कर दूसरी दिशा में नियोजित कर देगी, ऐसा आभास मिल गया है । अतएव हमारा यह सोचना उचित ही है कि जो महान उत्तरदायित्व हमारे कंधों पर है, उसका भार-वहन करने की जिम्मेदारी किन के कंधों पर डालें ? जो मशाल हमारे हाथ में थमाई गई है, उसे किन हाथों में सौंप दें ? उस दृष्टि से हमें अपने उत्तराधिकारियों की तलाश करनी पड़ रही है ।

गतवर्ष हमने परिजनों से यह पूछताछ की थी कि आप लोगों में से कौन ऐसे हैं, जो हमारे उत्तराधिकारी के रूप में आगे आ सकते हैं ? कोई भौतिक धन-दौलत पास में होती तो 'अखण्ड-ज्योति' परिवार का हर सदस्य अपने को हमारा सच्चा अनुयायी एवं शिष्य बताता और जो उसे मिलता, उस पर खुशी मनाता । पर जो चीज मिलने वाली है, वह आध्यात्मिक है, प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ती, फिर उसके बदले में तृष्णा और वासना की पूर्ति नहीं होती, इतने पर भी वह पात्रता की कसौटी पर खरा उतरने के पश्चात् ही मिल सकती है, उत्तराधिकार में मिलने वाली इसी वस्तु को लेकर कोई करेगा भी क्या ? अधिकांश ने ऐसा ही सोचा है और जिन लोगों के, उत्तराधिकार की इच्छा प्रकट करने वालों के नाम आए हैं, वे कम ही हैं । उन्हें सन्तोषजनक संख्या में नहीं कहा जा सकता ।

हमें जिस महान परम्परा का उत्तराधिकार मिला है, वह ऐसा ही है, जिसमें तृष्णा-वासना की पूर्ति जैसा कुछ नहीं है । श्रम और झंझट बहुत है, फिर भी गम्भीरतापूर्वक देखने से यह प्रतीत होता है कि जो लोग सारी जिन्दगी धन तथा भोग के लिए पिसते-पिलते रहने के पश्चात् जो पाते हैं, उससे हमारी उपलब्धियाँ किसी प्रकार कम नहीं । ठीक है, अमीरों जैसे ठाट नहीं बन सके, पर जो कुछ मिल सका है; वह उतना बड़ा है कि उस पर पहाड़ों जैसी अमीरी न्योछावर की जा सकती है । सामान्य बुद्धि इस उपलब्धि का मूल्यांकन नहीं कर पाती, पर जो थोड़ी गम्भीरता से समझ और देख सकता है, वह यह विश्वास करेगा ही कि अमीरी की तुलना में यह आध्यात्मिक उपलब्धियाँ भी कम महत्त्व की, कम मूल्य की नहीं हैं ।

हमने जो पाया है, वही हम अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ जाना चाहते हैं । हमें भी इसी परम्परा के अनुसार कुछ मिला है । हर पुत्र को पिता की सम्पत्ति में हिस्सा मिलता है । जो हमारे निकटतम आत्मीय होंगे, उन्हें हमारी संग्रहीत पूँजी का भी लाभ मिलना चाहिए, मिलेगा भी । गाँधीजी की संग्रहीत पूँजी का विनोबा, नेहरू, पटेल, राजेन्द्रप्रसाद आदि अनेकों ने भरपूर लाभ उठाया । यदि वे लोग गाँधीजी के सम्पर्क से दूर रहते और अपने दूसरे चतुर लोगों की तरह भौतिक कमाई में जुटे रहते तो वह सब कहाँ से पाते, जो उन लोगों ने पाया । हम गाँधी तो नहीं, पर इतने निरर्थक, दरिद्र एवं खाली हाथ भी नहीं हैं कि जिनके निकट सम्पर्क में आने वाले को कुछ न मिले । यह खुला रहस्य है कि लाखों व्यक्ति साधारण सम्पर्क का लाभ उठाकर अपनी स्थिति में जादुई मोड़ दे सकने में सफल हुए हैं और इस सम्पर्क की सराहना करते हैं । भविष्य में जिन्हें हमें अपना उत्तराधिकार सौंपना है, उन्हें वर्तमान स्थिति में ही पड़ा रहना पड़े, ऐसा नहीं हो सकता । वे सहज ही ऐसा कुछ पा सकेंगे, जिसके लिए चिर-काल तक प्रसन्नता एवं सन्तोष अनुभव करते रह सकें ।

आध्यात्मिक महानता की, सत्पात्रता की कसौटी के सम्बन्ध में हम इस तथ्य को अनेक बार प्रस्तुत कर चुके हैं कि व्यक्ति के गुण, कर्म व स्वभाव का उत्कृष्ट होना ही उसकी आन्तरिक महानता का परिचायक है । इसी आधार पर संसार में, इसी आधार पर परलोक में और इसी आधार पर ईश्वर के समक्ष किसी का वजन एवं मूल्य बढ़ता है । अपने दैनिक-जीवन में हम कितने संयमी, सदाचारी, शान्त, मधुर, व्यवस्थित, परिश्रमी, पवित्र, संतुलित, शिष्ट, कृतज्ञ एवं उदार हैं, इन सद्‌गुणों का दैनिक-जीवन में कितना अधिक प्रयोग करते हैं, यह देख-समझ कर ही किसी को, उसकी आन्तरिक वस्तुस्थिति को जाना जा सकता है । जिसका दैनिक-जीवन फूहड़पन से भरा हुआ

है वह कितना ही जप, ध्यान, पाठ, स्नान करता हो, आध्यात्मिक स्तर की कसौटी पर ठूँठ या छूँछ ही समझा जाएगा ।

महानता की एक स्पष्ट परख यह है कि व्यक्ति अपने शरीर या परिवार के क्षेत्र से बाहर भी अपनी आत्मीयता को विस्तृत कर सका या नहीं ? जो उसी दायरे में सोचता और करता है, उसे संकीर्ण, अनुदार एवं तुच्छ कहा जाएगा । महान आत्मा, महात्मा वह है जो विराट ब्रह्म की; विश्वमानव की सेवा में अपनी क्षमता एवं प्रतिभा की श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए नतमस्तक होता है । अक्षत, चन्दन, पुष्प, धूप-दीप तो पूजा के प्रतीक मात्र हैं, असली पूजा तो लोकमंगल के लिए किये गये उदार सत्प्रयत्नों से ही आँकी जाती है । जो कृपण परमार्थ का महत्त्व न समझ सका, लोकमंगल के लिए जिसने कुछ भी त्याग कर सकने की हिम्मत न की, ऐसा अभागा व्यक्ति भावना की दृष्टि से पक्का नास्तिक है, फिर चाहे उसके तिलक और केश कितने ही लम्बे क्यों न हों । ईश्वरभक्त आस्तिक को लोकसेवी होना ही चाहिए । जिसके हृदय में अध्यात्म की करुणा जगेगी, वह सेवाधर्म अपनाये बिना रह ही न सकेगा । कार्य कुछ कठिन है, पर ध्यान रखना चाहिए, बड़ी चीजों की कीमत बड़ी होती है । आध्यात्मिक लाभ जीवन-साधना का महँगा मूल्य चुका कर ही प्राप्त किया जा सकता है । सस्ते दाम में वह नहीं खरीदा जा सकता । माला घुमाने की कीमत पर न तो ईश्वर मिल सकता है, न आत्मा । कर्मकाण्ड तो उपासना का कलेवर है, उसका प्राण तो भावनात्मक उत्कर्ष के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है ।

उत्तराधिकारियों की पात्रता इसी कसौटी पर कसी गई है । दो छोटे कार्यक्रम इस परख के लिए स्वजनों के सामने प्रस्तुत किये गये थे और देखा गया था कि किसमें कितनी वास्तविकता है । दो अत्यन्त छोटे कार्यक्रम थे-(१) एक घण्टा प्रतिदिन जन-जागरण के लिए देते रहना, (२) दस पैसा प्रतिदिन इसी ज्ञानयज्ञ के लिए समर्पित करना । यह दोनों इतने सरल हैं कि जिनमें रत्तीभर भी सद्भावना जग पड़ी होगी, उन्हें इसमें तनिक भी कठिनाई अनुभव न होगी । जिनकी रुचि इस ओर नहीं उनके लिए हजार बहाने गढ़ लेना बायें हाथ का खेल है । उत्तराधिकारियों की रुचि आत्म-निर्माण की, धर्म-साधना की दिशा में जगी या नहीं, हमारे अनुरोध का कुछ मूल्य समझा या नहीं-इसकी पहचान इस तरह सहज ही हो सकती है कि उपर्युक्त दो छोटे-से प्रयोग आरम्भ कर दिये या नहीं ।

एक घण्टा समय का क्या उपयोग करें । इस प्रश्न का उत्तर अपनी परिस्थिति के अनुसार कर लेना चाहिए । प्रतिदिन समय न मिलता हो तो छुट्टी के दिन अथवा जब अवसर मिले, तब कई घण्टे जन-जागरण के लिए खर्च किए जा सकते हैं । महीने में कुल मिलाकर ३० घण्टे तो खर्च हो ही जाने चाहिए । (१) अपने कुटुम्बी, पड़ोसी, मित्र-परिजनों में विचार-क्रान्ति की प्रेरणा देने वाला साहित्य पढ़ाने या सुनाने के लिए उनके पास जाना, सम्पर्क बनाना, (२) किसी स्थान विशेष पर बैठकर वहाँ पुस्तकालय, वाचनालय जैसी प्रवृत्ति चलाना, स्थानीय संगठन का कार्यालय चलाना, (३) प्रबुद्ध परिजनों के जन्म-दिन मनाने की व्यवस्था करना, उनमें सम्मिलित होना तथा उन आयोजनों में एकत्रित लोगों को प्रेरणा देना, (४) संगठनात्मक प्रक्रिया चल पड़ने पर शतसूत्री, युग-निर्माण योजना के कार्यक्रमों में से जो रचनात्मक एवं आन्दोलनात्मक कार्य अपने लिए विशेष उपयुक्त हो, उसे चलाना । यों दैनिक जीवन में विभिन्न प्रयोजनों के लिए सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को ऐसी सत्प्रेरणाएँ देते रहना ही चाहिए, पर कम से कम एक घण्टा-(महीने में ३० घण्टे) अलग से सुरक्षित रखा जाए । इतना भर करते रहने से एक व्यक्ति ही अपने क्षेत्र में संगठनात्मक एवं रचनात्मक कार्यक्रम को आशाजनक सीमा तक बड़ी सरलता और सफलतापूर्वक आगे बढ़ा ले जा सकता है ।

दस पैसा प्रतिदिन-महीने में ६ रुपया, प्रतिदिन या एक बार भी जमा करते चलना चाहिए । इसका उपयोग केवल मात्र सद्ज्ञान प्रसार के लिए आवश्यक उपकरण, सत्साहित्य खरीदने के लिए ही करना चाहिए । अन्य किसी काम में इस पैसे का उपयोग नहीं होना चाहिए । घर में पूजा, कथा की तरह ज्ञानमन्दिर का स्थापित होना भी आवश्यक है । विचार-क्रान्ति का, सांस्कृतिक एवं नैतिक पुनरुत्थान का प्रयोजन पूरा कर सकने वाला सुबोध साहित्य हर घर में रहना चाहिए । हर उत्तराधिकारी के घर में इस प्रकार का पुस्तकालय चले । 'अखण्ड-ज्योति' और युग निर्माण पत्रिकाएँ इसी पैसे से मँगाई जाएँ ।

दस पैसा प्रतिदिन सद्ज्ञान प्रसार के उपकरण-सत्साहित्य खरीदने में और एक घण्टे का समय जन-सम्पर्क में लगाना, यद्यपि बहुत ही छोटा और सरल कार्य है, पर इस प्रारम्भिक प्रयोजन को नियमित रूप से करते रहने पर सेवा-साधना का क्रमबद्ध अभियान चल पड़ता है । दूसरे से कुछ कहने वाले को लोकलाज वश अपने को भी अपेक्षाकृत अधिक सुधरा हुआ बनाना पड़ता है । सेवा-धर्म अपनाने वाले के गुण, कर्म, स्वभाव स्वयमेव उत्कृष्टता की दिशा में विकसित होने लगते हैं और उसकी पात्रता का कोष भी बढ़ता चला जाता है, जो आध्यात्मिक प्रगति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है ।

'अखण्ड-ज्योति' परिवार के परिजनों में से प्रत्येक को अब पुन: अपने उत्तराधिकार के लिए आमंत्रित करते हैं । जिन्होंने अपनी प्रतिज्ञा की थी, उन्हें उसे नियमित रूप से चालू रखने का स्मरण दिलाते हैं । कहकर मुकर जाना बुरी बात है । प्रतिज्ञा तो पालन करने के लिए ही की जाती है । उसे मखौल नहीं बनाया जाना चाहिए । जिन्होंने यह दोनों बातें अभी आरम्भ नहीं की हैं, उनसे इस बार पुन: अनुरोध करते हैं कि वे आत्म-निर्माण एवं समाज-निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं आवश्यक इन छोटे-छोटे दो कार्यों को तत्काल आरम्भ कर दें । 'कथनी' के क्षेत्र से आगे बढ़कर 'करनी' में यदि इस प्रकार दो कदम आगे

बढ़ाये जा सकें, तो यह आशा बँध जाएगी कि महापुरुषों के मार्ग पर हम आगे भी चल सकेंगे और उन उपलब्धियों को प्राप्त कर सकेंगे, जो सच्चे अध्यात्म मार्ग पर चलने वालों को निश्चित रूप से मिलती हैं।

उपासनात्मक जीवन बिताने के कारण उस क्षेत्र में हमारी जो अनुभूतियाँ और उपलब्धियाँ हैं, उन्हें हस्तान्तरित करने की अब हमें उतावली हो रही है, पर दिया उन्हें ही जा सकता है, जो सत्पात्र हैं। सत्पात्र उत्तराधिकारियों के हाथ में हम बहुत कुछ सौंपना चाहते हैं। उन्हीं सौंपी जाने वाली वस्तुओं में से एक युग-निर्माण योजना की जाज्वल्यमान मशाल भी है। जीवन को धन्य बनाने के महत्त्वाकांक्षियों को हम सादर आमंत्रित करते हैं, हमारा महान उत्तराधिकार सँभालने के लिए। जिनकी भावनाएँ जीवित हों वे आगे आएँ और वह प्राप्त करें, जिसे प्राप्त करने वाले को मानव-जीवन की सार्थकता का लाभ मिलता है।

# विदाई की घड़ियाँ

## सन् १९७१ की विदाई पूर्व वेला में पूज्यवर द्वारा अभिव्यक्त चिन्तन

जनवरी सन् १९६९ में जबकि हम आयु की दृष्टि से लगभग ५८ वर्ष पूरे कर ५९वें वर्ष में प्रवेश करने जा रहे हैं, हमारे सांसारिक जीवन में एक बड़ा विराम यहीं लग जाना है। एक छोटे नाटक का यहीं पटाक्षेप है। दो वर्ष में कुछ ही अधिक दिन शेष हैं कि हमें अपनी वे सभी हलचलें बन्द कर देनी पड़ेंगी, जिनकी सर्व-साधारण को जानकारी बनी रहती है। इसके उपरान्त क्या करना होगा? इसकी सही रूपरेखा तो हमें भी मालूम नहीं है, पर इतना सुनिश्चित है कि यदि आगे भी जीना पड़ा तो उससे सर्वसाधारण का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होगा।

ऐसा विचित्र और कष्टकर निर्णय हमें स्वेच्छा से नहीं करना पड़ा है, वरन् इसके पीछे एक विवशता है। अब तक का सारा जीवन हमने एक ऐसी सत्ता के इशारे पर गुजारा है, जो हर घड़ी हमारे साथ है। हमारी हर विचारणा और गतिविधि पर उसका नियन्त्रण है। बाजीगर की उँगलियों से बँधे हुए धागों के साथ जुड़ी हुई कठपुतली तरह-तरह के अभिनय करती है। देखने वाले इसे कठपुतली की करतूत मानते हैं, पर असल में वह बेजान लकड़ी का एक तुच्छ सा उपकरण मात्र है। खेल तो बाजीगर की उँगलियाँ करती हैं। हमें पता नहीं कि मन में कभी कोई इच्छा प्रेरणा से उठी हो, कोई क्रिया अपने मन से की हो? जहाँ तक स्मृति साथ देती है अपना क्रम एक ही ढर्रे पर लुढ़कता चला आ रहा है कि हमारी मार्गदर्शक शक्ति, जिसे हम गुरुदेव के नाम से स्मरण करते हैं जब भी जो निर्देश देती रही है बिना ननुनच किए कठपुतली की तरह हलचलें करते रहे हैं।

सौभाग्य ही कहना चाहिए कि आरम्भिक जीवन से ही हमें ऐसा मार्गदर्शन मिल गया। उसे तो अभागा ही कहा जाएगा जो ऐसा प्रकाश पाकर भी अन्धकार में भटके। यदि हमारी कोई विशेषता और बहादुरी है, तो वह इतनी भर है कि प्रलोभनों और आकर्षणों को चीरते हुए दैवी निर्देशों का पालन करने में हमने अपना सारा साहस और मनोबल झोंक दिया। जो सुझाया गया वही सोचा और जो कहा गया वही करने लगे। इस प्रक्रिया में एक नगण्य-सी जिन्दगी का एक छोटा-सा नाटक समाप्त हो चला, यही हमारी नन्हीं-सी आत्म-कथा है। अब जीवन के अन्तिम चरण में जो निर्देश मिला है, उससे इनकार कौन करे? कैसे करे? अपने बस की यह बात नहीं। जब सारी जिन्दगी के हँसते-मुसकराते दिन एक इशारे पर गुजार दिए तो अब हम जरा-जीर्ण काया की सुविधा-असुविधा का, परिजनों की मोह-ममता का क्या विचार करेंगे? दो-ढाई वर्ष बाद हमें अपना वर्तमान क्रिया-कलाप समाप्त करना ही है और एक ऐसी तपश्चर्या में संलग्न होना ही है, जिसमें जन-सम्पर्क की न तो छूट है और न सुविधा।

पिछले और अगले दिनों की कभी तुलना करने लगते हैं तो लगता है छाती फट जाएगी और एक हूक पसलियों को चीर कर बाहर निकल पड़ेगी। कोई हमारी चमड़ी उघाड़कर भीतर का अन्तरंग परखने लगे तो उसे माँस और हड्डियों में एक तत्त्व उफनता दृष्टिगोचर होगा, वह है-असीम प्रेम। हमने जीवन में एक ही उपार्जन किया है-प्रेम। एक ही सम्पदा कमाई है-प्रेम। एक ही रस हमने चखा है और वह है प्रेम का। यों सभी में हमें अपनापन और आत्मभाव प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है, पर उनके प्रति तो असीम ममता है, जो एक लम्बी अवधि में भावनात्मक दृष्टि से हमारे अति समीप रहते रहे हैं। इनसे विलग होते हुए हमें कम व्यथा नहीं है।

प्रिय प्रेमीजन अपनी विरह वेदना व्यक्त करते हुए, 'यह बिछोह का अवसर टाल दो और अब तक की तरह आगे भी ऐसे ही बने रहो' की बात कहते हैं तो उनकी आत्मीयता और व्यथा भलीप्रकार समझ में आ जाती है। हर किसी को विश्वास रखना चाहिए कि और कुछ हमारे पास हो चाहे न हो, असीम प्यार भरी ममता से हमारा अन्तःकरण भरा-पूरा अवश्य है। जिसने हमें तिल भर प्यार किया है, उसके लिए अपने मन में से ताड़ बराबर ममता उमड़ी है। लम्बी अवधि से जिनके साथ हँसते, खेलते और प्यार करते चले आ रहे हैं, उनसे विलग होने की बात सोचकर हमारा मन भी गाय-बछड़े के वियोग की तरह कातर हो उठता है। कई बार लगता है कोई छाती में कुछ हूल रहा है। यह वियोग कैसे सहा जाएगा। जिसकी कल्पना मात्र से दिल बैठ जाता है, उस असह्य को सहन करने में कितना बोझ पड़ेगा? और कहीं उस बोझ से यह टूटा ढचड़ा चरमराकर बैठ तो नहीं जाएगा, ऐसी आशंका होती है।

ज्ञान और वैराग्य की पुस्तकें हमने बहुत पढ़ी हैं। माया, मोह की निरर्थकता पर बहुत प्रवचन सुने हैं। संसार

मिथ्या है, कोई किसी का नहीं, सब स्वार्थ के हैं, आदि-आदि । ब्रह्मचर्चा में भी सम्मिलित होने का अवसर मिला है । यदा-कदा उन शब्दों को दूसरों के सामने दुहराया भी है, पर अपनी दुर्बलता को प्रकट कर देना ही भला है कि हमारी मनोभूमि में अभी तक भी वह तत्त्व-ज्ञान प्रवेश नहीं करता है । न कोई पराया दीखता है और न कहीं माया का आभास होता है, जिससे विलग-विरत हुआ जाए । जब अपनी ही आत्मा दूसरों में जगमगा रही है, तो किससे मुँह मोड़ा जाए ? किससे नाता तोड़ा जाए ? जो हमें नहीं भुला पा रहे हैं, उन्हें हम कैसे भूल जाएँगे ? जो साथ घुले और जुड़े हैं, उनसे नाता कैसे तोड़ लें ? कुछ भी सूझ नहीं पड़ता । पढ़ा हुआ ब्रह्मज्ञान रत्ती भर भी सहायता नहीं करता । इन दिनों, बहुत करके रात में जब आँखें खुल जाती हैं, तब यही प्रसंग मस्तिष्क में घूम जाता है । स्मृति-पटल पर स्वजनों की हँसती-बोलती मोह-ममता से भरी एक कतार बढ़ती-उमड़ती चली आती है । सभी एक से एक बढ़कर प्रेमी, सभी एक से एक बढ़कर आत्मीय, सभी की एक से एक बढ़कर ममता । इस स्वर्ग में से घसीट कर हमें कोई कहाँ लिए जा रहा है ? क्यों लिए जा रहा है ? इन्हें छोड़कर हम कहाँ रहेंगे ? कैसे रहेंगे ? कुछ भी तो सूझ नहीं पड़ता । आँखें बरसती रहती हैं और सिरहाने रखे वस्त्र गीले होते रहते हैं ।

यह सोचने की गुंजाइश नहीं कि जिस कठोर कर्त्तव्य में हमें नियोजित किया जा रहा है वह अनुपयुक्त है । हमें कोई सता रहा है या बलात् विवश कर रहा है । हमें दूसरों से जितना प्यार है, हमारे मार्ग-दर्शक को हमारे प्रति उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्यार है, स्वजनों की व्यथा हमें जैसे विचलित कर देती है, हमारी व्यथा उन्हें कुछ भी प्रभावित न करती हो सो बात नहीं, पर वे दूरदर्शी हैं, हम अज्ञानी । वे हमारे शरीर, मन और आत्मा का उपयोग अच्छी तरह समझते हैं, इससे उनके निर्णय और निर्देश अनुपयुक्त नहीं हो सकते । उसके पीछे हमारी आस्था का और विश्वमानव का अविच्छिन्न हितसाधन जुड़ा हुआ है, यह सुनिश्चित है । यदि ऐसा न होता तो वे न तो हमारे परिवार को रुलाते और न हमें इधर-उधर मुँह छिपाकर चुप-चुप सिसकते रहने की व्यथा-वेदना सहने का भार डालते ।

गुरुदेव की विवशता है । आज की उबलती हुई दुनिया को शीतलता प्रदान कर सकने वाली परिस्थितियों की आवश्यकता है । वे परिस्थितियाँ समुद्र-मंथन जैसे एक महान संघर्ष से उत्पन्न होंगी । उस संघर्ष-अभियान का सूत्र-संचालन करने के लिए तेजस्वी आत्माओं का आगे आना आवश्यक है । ऐसी आत्माएँ हैं तो, पर उनकी नसों का ओज जम गया है । वे अकड़े और जकड़े बैठे हैं । जरूरत उस गर्मी की है जो इस अकड़न और जकड़न की स्थिति को बदले और जो जम गया है उसे पिघलाकर गतिशील बना दे । ऐसी गर्मी किसी प्रचण्ड तपस्या से ही उत्पन्न हो सकती है । पिछले स्वतन्त्रता संग्राम से ऐसी गर्मी श्री रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमण और योगी अरविन्द जैसे तपस्वी उत्पन्न करते रहे हैं, अब उससे भी बड़ा मनुष्य के भावनात्मक नव-निर्माण का लक्ष्य सामने है । इसके लिए प्रबुद्ध आत्माओं का अवतरण और जागरण एक अनिवार्य आवश्यकता है । इसकी पूर्ति अनादि को उस सूक्ष्म ऊष्मा से भर देने पर सम्भव है, जो समर्थ और सजग आत्माओं को तुच्छता के बन्धनों से मुक्त करके महानता की भूमिका में जाग्रत कर सके । ऐसी आत्माएँ आज भी विद्यमान हैं, पर उनकी अज्ञात मूर्च्छा उठने ही नहीं देती । इनको जगाने के लिए जिस प्रखर ऊर्जा और प्रबल कोलाहल की जरूरत है, वह किसी बड़े प्रयत्न से ही सम्भव है । लगता है ऐसा प्रयत्न उन्हें यह सूझा है कि कुछ ही दिन बाद हमें एक अद्भुत तपश्चर्या में संलग्न होना है ।

इतने महान प्रयोजन की पूर्ति के लिए यदि अपने को पात्र समझा गया है तो यह एक बड़ी बात है । ऐसे सौभाग्य के लिए कुछ भी न्योछावर किया जा सकता है । भगवान साहस दे तो जीवित दधीचि की तरह अपनी अस्थियों का उपहार देवप्रयोजन के लिए समर्पित कर देना एक अनुपम सौभाग्य ही माना जाएगा । छुट-पुट त्याग, बलिदान तो इन साठ वर्षों में आये दिन करते रहने पड़े हैं, पर अब अन्तिम पटाक्षेप के समय इतनी बड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण होने का श्रेय मिलता है, तो इससे कोई आत्मवेत्ता, सुखी, सन्तुष्ट, प्रसन्न और प्रमुदित ही हो सकता है । इसमें हमारे लिए रोने-कलपने की क्यों आवश्यकता पड़े ?

इन दिनों हमारी आन्तरिक स्थिति कुछ ऐसी है जिसका विश्लेषण कर सकना हमारे लिए कठिन है । हमारी व्यथा-वेदना के कष्ट से डरने की, परीक्षा में काँपने की अथवा मोह-ममता न छोड़ सकने वाली बात अज्ञानी जैसी लगती भर है वस्तुतः वैसी है नहीं । डर या कायरता की मंजिल पार हो चुकी । सुख सुविधा की इच्छा के लिए अब मरने के दिनों गुंजाइश भी कहाँ रही ? शौक-मौज की आयु ढल गई । अब तो और कोई न सही अपना जराजीर्ण शरीर भी पग-पग पर असुविधाएँ उत्पन्न करेगा । ऐसी दशा में सुविधाओं की कामना, असुविधाओं की अनिच्छा भी रोने-कलपने का कारण नहीं है । कारण एक ही है-हमारी भावुकता और छलछलाते प्यार से भरी मनोभूमि । जिनका रत्ती भर भी स्नेह हमने पाया है, उनका बदला पहाड़ जैसा प्रतिदान देने के लिए मन मचलता रहता है । अपनों के साथ अपनेपन भरा भावनात्मक आदान-प्रदान अन्तःकरण में जो उल्लास उमगाता रहता है, उसका रस छोड़ते नहीं बनता । प्रियजनों के बिछोह की कल्पना न जाने क्यों कलेजे को मरोड़ डालती है । ब्रह्मज्ञान की दृष्टि में यदि इसे मानवीय दुर्बलता कहा जाए तो हमें अपनी यह त्रुटि स्वीकार है । आखिर एक नगण्य से तुच्छ मानव ही तो हम हैं । कब हमने दावा किया है योगी-यती होने का । हमारी दुर्बलता, ममता, बुद्धि यदि हमें आज बेतरह कचोटती है तो उसे हम छिपाएँगे भी

नहीं । एक दुर्बल मानवप्राणी की भावभरी दुर्बलता से उसके प्रियजनों को परिचित होना ही चाहिए ।

यह एक तथ्य है कि हमारा हर कदम अपने छोटे से भावभरे परिवार से विलग होने की दिशा में बढ़ रहा है । जब साठ वर्ष एक-एक करके देखते-देखते सामने बैठे पखेरुओं की तरह उड़ गये तो अब इन बेचारे दो वर्षों की क्या चलेगी । आजकल करते, देखते-देखते वह दिन भी आ ही रहा है जब हमें अपना झोला और कम्बल पीठ पर लादे, किसी अज्ञात दिशा में पदार्पण करते हुए देखा जाएगा और अन्तिम अभिवादन की एक कसक भरी स्मृति लेकर हम सब अपने-अपने बन्धन क्षेत्रों की ओर लौट जाएँगे और एक सुखान्त कथानक का दुखान्त पटाक्षेप हो जाएगा । अब उस स्थिति को न तो टाला जा सकता है और न बदला । यह दर्द भरा दुखान्त पटाक्षेप हमारे लिए कितना असह्य होगा और छाती पर कितना बड़ा पत्थर बाँधकर हम अपना मानसिक सन्तुलन फिर स्थिर कर सकेंगे ? इस सम्बन्ध में अभी कुछ कह सकना कठिन है । समय ही बताएगा कि उस समय कैसी बीतेगी और उसका समाधान कैसे सम्भव होगा ?

अभी तो इतना ही आवश्यक प्रतीत होता है कि एक बार अपने जी की दबी हुई व्यथाएँ अपने स्वजन-परिजनों के सामने बैठकर खोल दें । कहते हैं कि मन खोलकर कह लेने से चित्त हल्का हो जाता है । परिजनों को अनावश्यक भी लगे, पर हमारे लिए यह सुखद ही होगा । जो हमें थोड़ी राहत दे सके, ऐसा कुछ निरर्थक हो तो भी उदारतापूर्वक उसे सुन भी लिया जाना चाहिए । यह पंक्तियाँ लिखते हुए सोचा यही गया है कि पाठक इसे बिना ऊबे पढ़ते सुनते रहेंगे, जो काफी लम्बी हैं ।

सबसे बड़ा भार हमारे ऊपर उन भावभरी सद्भावनाओं का है, जिन्हें ज्ञात और अज्ञात व्यक्तियों ने हमारे ऊपर समय-समय पर बरसाया है । सोच नहीं पाते कि इनका बदला कैसे चुकाया जाए । ऋण हमारे ऊपर बहुत है । कितनी असीम प्यार, कितनी आत्माओं का, कितनी आत्मीयता और सौजन्यता से हमने पाया है, उसकी स्मृति से जहाँ एक बार रोम-रोम पुलकित हो जाता है वहाँ दूसरे ही क्षण यह सोचते हैं कि उनका बदला कैसे चुकाया जाए ? प्रेम का प्रतिदान भी तो दिया जाता है, लेकर के ही तो नहीं चला जाना चाहिए, जिससे पाया है उसे देना भी तो चाहिए । अपना नन्हा-सा कलेवर, नन्हा-सा दिल, नन्हा-सा प्यार किस-किसका कितना प्रतिदान चुका सकना इससे सम्भव होगा, यह विचार आते ही चित्त बहुत भारी और बहुत उदास हो जाता है ।

• जिन्होंने हमारी कुछ सेवा-सहायता की है, उनकी पाई-पाई चुका देंगे । न हमें स्वर्ग जाना है और न मुक्ति लेनी है । चौरासी लाख योनियों के चक्र में एक बार भगवान से प्रार्थना करके इसलिए प्रवेश करेंगे कि इस जन्म में जिस-जिस ने जितना-जितना उपकार हमारा किया हो, जितनी सहायता की हो, उसका एक-एक कण ब्याज सहित हमारे उस चौरासी चक्र में भुगतान करा दिया जाए । घास, फूल, पेड़, लकड़ी, बैल, गाय, भेड़ आदि बनकर हम किसी न किसी के कुछ काम आते रह सकते हैं और इससे अपने उपकारियों के अनुदान का बदला पूरे-अधूरे रूप में चुकाते रह सकते हैं । सद्भावना का भार ही क्या कम है, जो किसी की सहायता का भार और ओढ़ा जाए ? यह सुविधा भगवान से लड़-झगड़कर प्राप्त कर लेंगे, पर जिन्होंने समय-समय पर ममता भरा प्यार हमें दिया है, हमारी तुच्छता को भुलाकर जो आदर, सम्मान, श्रद्धा, सद्भाव, स्नेह एवं अपनत्व प्रदान किया है उनके लिए क्या कुछ किया जाए, समझ में नहीं आता । इच्छा प्रबल है कि अपना हृदय कोई बादल जैसा बना दे और उसमें प्यार का इतना जल भर दे कि जहाँ से एक बूँद स्नेह की मिली हो वहाँ एक पहर की वर्षा कर सकने का सुअवसर मिल जाए । मालूम नहीं, ऐसा सम्भव होगा कि नहीं, यदि सम्भव न हो सके तो हमारी अभिव्यंजना उन सभी तक पहुँचे, जिनकी सद्भावना किसी रूप में हमें प्राप्त हुई हो । वे उदार सज्जन अनुभव करें कि उनके प्यार को भुलाया नहीं गया, वरन् उसे पूरी तरह स्मरण रखा गया । बदला न चुकाया जा सका तो भी अपरिमित कृतज्ञता की भावना लेकर विदा हो रहे हैं । यह कृतज्ञता का ऋण-भार तब तक सिर पर उठाए रहेंगे, जब तक हमारी सत्ता कहीं बनी रहेगी । प्रत्युपकार, प्रतिदान न बन सका हो तो प्रेमी परिजन यह न समझें कि उनकी उदारता को कृतघ्नतापूर्वक भुलाया गया । हम उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे, जिन्होंने हमारे दोष-दुर्गुणों के प्रति घृणा न करके केवल हमारे सद्गुण देखे और सद्भावनापूर्ण स्नेह और सम्मान प्रदान किया ।

• मन की दूसरी व्यथा जो खोलकर रखनी है वह यह है कि यह शरीर साठ वर्ष की लम्बी अवधि तक अगणित मनुष्यों और जीव-जन्तुओं की सेवा-सहायता से लाभ उठाता रहा है । जीवन-धारण करने की क्रिया में असंख्यों की ज्ञात-अज्ञात सहायता का लाभ मिला है । अन्त में ऐसे शरीर का क्या किया जाए ? सोचते हैं यह मरते-मरते, नष्ट होते-होते किसी के कुछ काम आ सके तो इसकी कुछ सार्थकता बन जाए । मौत सबको आती है । जरा-जीर्ण शरीर के तो वह और भी अधिक निकट होती है । आज नहीं तो कल हमें भी मरना है । कहीं अज्ञात स्थिति में यह जल जाए तो बात दूसरी है अन्यथा मनुष्यों की पहुँच के भीतर की स्थिति में प्राण निकलें तो उस विकृत कलेवर का धूमधाम से संस्कार-प्रदर्शन बिलकुल न किया जाए, हमने वसीयत कर दी है और इस घोषणा को ही वसीयत मान लिया जाए कि मरने से, पूरी मौत से पहले ही जब तक जीवन विद्यमान रहे, सारा रक्त निकाल लिया जाए और उसे किसी आवश्यकता वाले रोगी को दे दिया जाए । अब आँखें, फेफड़े, गुर्दे, दिल आदि अंग दूसरों के काम आने लगे हैं, तब तक शायद चमड़ी, माँस, हड्डी आदि का भी कुछ उपयोग दूसरे रोगियों को अंग लगाने में

होने लगे । जो भी अंग किसी के काम आ सकता हो तो उसे सरकारी संरक्षण में प्रसन्नतापूर्वक निकाल लिया जाए और उनकी जहाँ भी आवश्यकता समझी जाए, प्रयोग कर लिया जाए । पूर्ण मौत के समय यह चीजें बेकार हो जाती हैं, इसलिए अधूरी मौत के समय जबकि डॉक्टर अपने विवेक के अनुसार शरीर के उपयोग का ठीक समय समझें तभी थोड़ी सजीव अवस्था में ही अंगों का उपयोग कर लिया जाए और इस उपयोग में कोई बाधक न बने ।

बचे हुए ढाँचे को डॉक्टरी स्कूल के छात्रों को शरीर-ज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए दे दिया जाए और इसके उपरान्त उस बचे कलेवर को किसी ऐसी जगह सुनसान में डाल दिया जाए जहाँ गिद्ध, स्यार तथा कीड़े-मकोड़े उससे कुछ तृप्ति प्राप्त कर लें । इतने पर भी शायद कुछ हड्डियाँ बच रहें, उनका खाद बना लिया जाए और उसे किन्हीं वृक्ष की जड़ में गाढ़ दिया जाए । इस प्रकार हमारे शरीर का प्रत्येक कण उस उपकार के प्रतिदान में लगा दिया जाए, जिसके आधार पर यह शरीर जन्मा, बढ़ा और सुविधापूर्वक जी सका । जलाने या गाढ़ने की इसलिए जरूरत नहीं है कि यह दोनों ही क्रियाएँ आज खर्चीली, कितने ही लोगों का श्रम व समय बरबाद करने वाली हैं । हमारे जैसे भावुक प्रकृति के व्यक्ति के लिए यही उचित है कि मरने के बाद हमारे शरीर पर उपकारों का और ऋण न लादा जाए । जो ऋण चढ़ा हुआ है, उसी के भार से हमारा मस्तक कृतज्ञतापूर्ण दबा, झुका और गढ़ा जा रहा है, और ऋण क्यों बढ़ाया जाए । तीर्थस्थानों में इस घृणित शरीर के अवशेषों को डालकर उनकी पवित्रता में कमी न की जाए । यों शरीर का अन्तिम क्रिया-कर्म करना दूसरों के हाथ होता है, पर हमारे शरीर के बारे में हमारी भावनाओं का ध्यान रखा जाए । जिन आदर्शों के लिए हम जीवित रहे हैं, इस शरीर का उपयोग करते रहे हैं, अच्छा है कि उसका उपयोग अन्ततः उन्हीं प्रयोजनों के लिए हो जाए ।

धन अपने पास कभी रहा नहीं, उसे रहने नहीं दिया गया । आता तो कई ओर से रहा, पर ब्रह्मवर्चस की उपलब्धि में उसे प्रधान बाधा समझकर सदा विदा ही किया जाता रहा । पैतृक जमींदारी बहुत बड़ी थी । समाप्त हुई तो उसके अनुदान से एक बड़ी रकम के सरकारी बॉण्ड मिले । उन्हें इस हाथ ले उस हाथ गायत्री तपोभूमि को दे दिया गया । पत्नी ने भी अपने सभी बहुमूल्य आभूषण हमारी ही तरह दे दिए । कुछ जमीन बच गई । उसे देकर जन्मभूमि में हाईस्कूल बनवा दिया । 'अखण्ड-ज्योति' प्रेस की सारी मशीनें गायत्री तपोभूमि को दे चुके । अब केवल साहित्य रहा है । सो अपने जाने से पूर्व उसे भी गायत्री तपोभूमि को दे देंगे । अब सम्पदा कुछ बचती नहीं है, जिसे किसी के नाम वसीयत किया जाए । मन गुरुदेव को और आत्मा परमेश्वर को पहले ही बिक चुके । शेष शरीर रहेगा सो उसका ऐसा उपयोग होना चाहिए, जो उसी जन-समाज के कुछ काम आये, जिसे हमने सदा असीम प्यार किया है ।

व्यक्तिगत उपयोग की दृष्टि से हम सदा अतिशय कंजूस रहे हैं । इस शरीर को जलाने में जो लकड़ी खर्च हो, उसे किसी शीत में ठिठुरते व्यक्ति की व्यथा हल्की करने में लगाया जा सकता है । गाढ़ने से भूमि का एक टुकड़ा रुक जाएगा । जलप्रवाह से उपयोगी जल गन्दा होगा । तीर्थों में हमारी भस्म और हड्डियाँ पहुँचाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि हमारी श्रद्धा के अनुरूप भारत भूमि का चप्पा-चप्पा तीर्थ है । हम अपने समय, श्रम, विवेक, तप, शरीर और मन का प्रत्येक अंश लोक-मंगल के लिए निरन्तर खर्च करते रहे हैं, अच्छा यही है कि निष्प्राण शरीर का उपयोग भी किन्हीं ऐसे ही प्रयोजन में हो जाए । किसी को हमारा स्मारक बनाना हो तो वह वृक्ष लगाकर बनाया जा सकता है । वृक्ष जैसा उदार, सहिष्णु और शान्त जीवन जीने की शिक्षा हमने पाई । ऐसा ही जीवन-क्रम लोग अपना सकें तो बहुत है । हमारी प्रवृत्ति, जीवनविद्या और मनोभूमि का परिचय वृक्षों से अधिक और कोई नहीं दे सकता । अतएव वे ही हमारे स्मारक हो सकते हैं ।

हमारे मन की व्यथा बहुत है । उसका समाधान क्या हो सकता है, कौन जाने ? पर अपनी इस आन्तरिक उद्वेग की घड़ियों में यह भी अच्छा ही है कि हम जी खोलकर अपनी बात कह लें और परिजनों को बता सकें कि हम क्या सोचते, चाहते और कहते हुए विदा हो सकें ।

## हमारी अपनी व्यथा-वेदना

विदाई के दिन जितने समीप आते जा रहे हैं, उतनी ही गति से हमारी भावनाओं में तूफान आता चला जा रहा है । लोगों को मौत का डर लगता है, सो अपने को न कभी था और न अब है । व्यक्तिगत स्वामित्व और अहंकार के कारण उत्पन्न होने वाला मोह भी कबका विदा हो गया । अवधूत की तरह मरघट में रहना पड़े तो भी अपने को कष्ट होने वाला नहीं है । सन् ६० का अज्ञातवास 'सुनसान के सहचरों' के साथ हँसते-खेलते काट लिया था । जिन्दगी के शेष दिनों को शरीर किन्हीं भी परिस्थितियों में पूरा कर लेगा । विदाई के बाद उत्पन्न होने वाली अन्य सभी विषम परिस्थितियों को सहन करने योग्य विवेक, धैर्य, साहस और अभ्यास अपने को है । बार-बार जो हूक और ऐंठन कलेजे में उठती है, उसका कारण यदि कोई दुर्बलता हो सकती है तो एक ही हो सकती है कि जिनको प्यार किया, उनको समीप पाने की भी अभिलाषा सदा बनी रही । एक कुटुम्ब बनाया, घरौंदा खड़ा किया, उसे बड़े प्यार से सजाया, बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधीं, बड़े अरमान सँजोए । अब जबकि वे सपने कुछ-कुछ सजीव होने लगे थे, तभी नींद खुलने का समय आ गया । ऐसा मीठा सपना अधूरा ही छोड़ना पड़ेगा, यह कभी सोचा भी न था । प्यार के धागों को इस तरह तोड़ना पड़ेगा, इसकी कभी कल्पना भी न की थी । जाने की बात बहुत दिन से कही-सुनी जा रही थी । उसकी जानकारी भी थी, पर यह पता न था कि

प्रियजनों के बिछुड़ने की व्यथा कितना अधिक कचोटने वाली, ऐंठने, मरोड़ने वाली होती है । अब विदाई के क्षण जितने समीप आते जाते हैं, वह व्यथा घटती नहीं बढ़ती ही जाती है ।

यों यह एक विडम्बना ही है कि जो माया-मोह का खण्डन करता रहा हो, ज्ञान-वैराग्य का उपदेश करता रहा हो, वह अवसर आने पर अपने ऊपर बीतने पर इतनी व्यथा-वेदना अनुभव करे ।

अपनों से छिपाया क्या जाए ? अब हम अपने अन्तर की हर घुटन, व्यथा और अनुभूति को अपनों के आगे उगलेंगे ताकि हमारे अन्दर का भार हल्का हो जाए और परिजनों को भी वास्तविकता का पता चल जाए । आत्म-कथा तो कैसे लिखी जा सकेगी, पर जो अन्तर्द्वन्द्व घुमड़ते हैं, उन्हें तो बाहर लाया ही जा सकता है । इस सुनने से सुनने वालों को मानव-तत्त्व के एक पहलू को समझने का अवसर ही मिलेगा ।

लोग अपनी आँख से हमें कुछ भी देखते रहे हों, अपनी समझ से कुछ भी समझते रहे हों । किसी ने विद्वान, किसी ने तपस्वी, किसी ने तत्त्वदर्शी, किसी ने मांत्रिक, किसी ने लोकसेवी, किसी ने प्रतिभा-पुञ्ज आदि कुछ भी समझा हो । हम अपनी आँखों और अपनी समझ में मात्र एक अतिसहृदय, अतिभावुक और अतिस्नेही प्रकृति के एक नगण्य मनुष्यमात्र रहे हैं । प्यार करना सीखने और सिखाने में सारी जिन्दगी चली गई । यदि कोई धन्धा किया है तो एक कि महँगी कीमत देकर प्यार खरीदना और सस्ते दाम पर उसे बेच देना । इस व्यापार में लाभ हुआ या घाटा, इसका हिसाब कौन लगाए ? खाली हाथ, नंग-धड़ंग आठ पौण्ड वजन लेकर आये थे, अब कपड़ों में लिपटा एक सौ सोलह पौण्ड वजन लेकर जा रहे हैं । खोया क्या, पाया ही तो है । तब एक माँ और एक कुटुम्ब हमें अपना समझता था, अब कितनों की ही अहैतुकी अनुकम्पा अपने ऊपर बरसती है । कितनों के ही अनुग्रह से अपने शरीर, मन और अन्तःकरण विकसित हुए, खोया क्या-पाया ही । प्रेम के व्यापार में घाटा किसी को भी नहीं रहता, फिर हमें ही नुकसान क्यों उठाना पड़ता ।

नुकसान एक ही रहा कि यह सोचने में न आया कि स्नेह का तन्तु जितना मधुर है, वियोग की घड़ियों में वह उतना ही तीखा बन जाता है । यदि यह मालूम होता कि आत्मीयता जितनी घनिष्ट होती है, उतना उसका वियोग असह्य होता है, तो कुछ दिन पहले से ही मन को समेटना, स्नेहतन्तुओं को शिथिल करना और उदासीन बनने का अभ्यास करते, पर प्रकृति को क्या किया जाए । मन तो ऐसा भोंड़ा मिला है, आदतें तो ऐसी विचित्र हैं जो ज्ञान-विज्ञान के सारे बन्धन तोड़कर आगे निकल जाती हैं ।

आत्मा एक है, हम सभी एक सूत्र में माला के दानों की तरह जुड़े हुए हैं । शरीर से दूर रहने पर भी आत्मा की एकता बनी रहती है । स्नेह में दूरी बाधक नहीं होती । आत्मीयता शरीर से नहीं, आत्मा से होती है, आदि-आदि तत्त्वदर्शन हमने पढ़े तो बहुत हैं, दूसरों को सुनाये भी हैं पर उनका प्रयोग सफलतापूर्वक कर सकना कितनी ऊँची स्थिति पर पहुँचे व्यक्ति के लिए सम्भव है, यह कभी सोचा न था । लगता है अभी अपनी आत्मिक प्रगति नगण्य ही है । यदि ऐसा न होता तो अपने स्वजन-स्नेही और उनकी असंख्य उप-कृतियाँ मस्तिष्क में सिनेमा के चित्रपट की तरह उभर-उभर कर क्यों आतीं ? असीम प्यार पाया, पर उसका प्रतिदान क्या दिया ? परिजनों के अनेक अहसान-पदार्थों के न सही, भावनाओं के सही, अपने ऊपर लदे पड़े हैं । उनको कुछ प्रतिदान दिए बिना ही चलना पड़ रहा है ।

स्नेहियों के स्नेह और अनुग्रहियों के अनुग्रहों का जितना ऋणभार लेकर विदा होना पड़ रहा है, यह सोचकर कभी-कभी बहुत कष्ट होता है । अच्छा होता जन्म से ही कहीं एकान्त में चले गये होते । लोमड़ी, खरगोशों की तरह किसी का अहसान, उपकार, स्नेह और सहकार लिए बिना जिन्दगी के दिन पूरे कर लेते, पर यदि लोगों के बीच रहना ही पड़ा और उनका सौजन्य लेना ही पड़ा तो सन्तोष तब रहता, जब प्रेम का प्रतिदान भी कुछ बन पड़ा होता । सोचते तो बहुत रहे, स्वप्न बड़े-बड़े देखते रहे, अमुक के लिए यह करेंगे, अमुक को यह देंगे, पर किया जा सका और दिया जा सका, वह इतना कम है कि आत्मग्लानि होती है और लज्जा से सिर नीचा हो जाता है ।

कदाचित कुछ दिन और ठहरने का अवसर बन जाता तो और कुछ आशा शेष न थी, केवल एक इच्छा अवश्य थी कि असीम स्नेह बरसाने वाले स्वजनों के लिए प्रतिदान में जो कुछ अपने भीतर-बाहर और कुछ शेष बच रहा है, उसे राई-रत्ती देकर जाते और सबके चरणों की धूलि सिर पर रखकर कहते-''इस नगण्य-से प्राणी से अभी इतना ही बन पड़ा । ८४ लाख योनियों में यदि विचरण करना पड़ा तो हर शरीर को लेकर आप लोगों की सेवा में उपलब्ध प्रेम और सहकार का कुछ न कुछ ऋणभार चुकाने के लिए श्रद्धा के साथ उपस्थित होते रहेंगे और जिस शरीर से जितनी सेवा-सहायता बन पड़ेगी, जितनी कृतज्ञता और श्रद्धा व्यक्त कर सकने की क्षमता रहेगी, उसका पूरा-पूरा उपयोग आपके समक्ष करते रहेंगे ।''

अब यह सब कहने से क्या लाभ ? समय आ पहुँचा । यों मरना अभी देर में है, पर जब परस्पर मिलने-जुलने और हँसने-खेलने, सुनने और समझने की सुविधा न रही, एक-दूसरे से दूर, समीप के आनन्द से वंचित रहकर जीवित भी रहें तो यह आनन्द-उल्लास, जिसे पाने का आदी यह मन बन चुका है, कहाँ मिल सकेगा ? जिस शक्ति के साथ हम बँधे और जुड़े हैं, उसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती । इनकार, उपेक्षा और बहाना करने की बात भी नहीं सोचते । हम अज्ञानग्रस्त, मोहबन्धन में बँधे प्राणी अपना दूरवर्ती हित नहीं समझते, वह शक्ति समझती है । जिसमें हमारा, हमारे परिवार और हमारे समाज, धर्म एवं विश्व का कल्याण है, उसी को करने जा रहे हैं ।

जिनके प्रति हमारी असीम श्रद्धा और अगाध भक्ति है, जिसके संकेतों पर पूरा जीवन निकल गया, अब इस जराजीर्ण शरीर को उससे अलग करने की, अपना रास्ता अलग बनाने की बात कैसे सोची जाए ? करना तो वही होगा जो नियति की आज्ञा है और इच्छा है, पर अपनी दुर्बलता का क्या करें ? जिनके असीम स्नेह जलाशय में स्वच्छन्द मछली की तरह क्रीड़ा-कल्लोल करते हुए लम्बा जीवन बिता चुके, अब उस जलाशय से बिलग होने की घड़ी भारी तड़पन उत्पन्न करती है । लगता है हम भी शायद ही इस स्थिति से कुछ ऊपर उठ पाये हैं ।

अपना मन कितना ही इधर-उधर क्यों न होता हो, यह निश्चित है कि हमें ढाई वर्ष बाद निर्धारित तपश्चर्या के लिए जाना होगा और शेष जीवन इस प्रकार बिताना होगा, जिसमें जन-सम्पर्क के लिए स्थान न रहे । यों यह एक प्रकार से मृत्यु जैसी स्थिति है, पर सन्तोष इतना ही है कि वस्तुत: ऐसी बात होगी नहीं । हमें अभी कितने ही दिन और जीना है । जन-सम्पर्क के स्थूल आवरण में शक्तियाँ बहुत व्यय होती रहती हैं । उन्हें बचा लेने पर हमारी सामर्थ्य अधिक बढ़ जाएगी । सूक्ष्म शरीर तप-साधना से परिपुष्ट होने पर और भी अधिक समर्थ बन सकेगा । तब आज की अपेक्षा अपने लिए और दूसरों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे । यदि ऐसा न होता तो हमारी मार्गदर्शक शक्ति हमें वर्तमान उपयोगी कार्यक्रम और सरल जीवन-प्रवाह से विरत न करती ।

वियोग की घड़ियों में भी संतोष केवल इस बात का है कि दूसरे लोग भले ही शरीर समेत हमसे मिल न सकें, पर जिन्हें अभीष्ट है, उनके साथ भावनात्मक सम्बन्ध यथावत बना रहेगा, वरन् सच पूछा जाए तो और भी अधिक बढ़ जाएगा । अतिव्यस्तता और अल्पसामर्थ्य के कारण परिजनों के लिए जो सोच और कर सकना अभी सम्भव नहीं हो पा रहा है, वह तब बहुत सरल हो जाएगा । शरीर की समीपता ही सान्निध्य का आधार नहीं होती । परदेश में रहने वाले भी अपने स्त्री-पुत्रों के लिए बहुत कुछ सोचते-करते हैं । वियोग कई बार तो प्रेम को और भी अधिक प्रखर एवं प्रगाढ़ बनाता देखा गया है । ईश्वर-भक्ति का आनन्द उसके अदृश्य रहने से सम्भव होता है, यदि वह अपने साथ भाई-भतीजे की तरह रहने लगे तो शायद उसकी भी उपेक्षा-अवज्ञा होने लगे ।

जो हो; हमारा अपना आन्तरिक ढाँचा एक विचित्र स्तर का बन चुका है और उसे आग्रहपूर्वक वैसा ही बनाये रहेंगे । सहृदयता, ममता, स्नेह, आत्मीयता की प्रवृत्ति हमारे रोम-रोम में कूट-कूट कर भरी है । यह इतनी सरस व सुखद है कि किसी भी मूल्य पर इसे छोड़ने की बात तो दूर, घटाना भी सम्भव न हो सकेगा । तृष्णा और वासना से छुटकारा पाने का नाम हम मुक्ति मानते हैं । सो उसे प्राप्त कर चुके । उच्च आदर्शों के अनुरूप जीवन-पद्धति बनाये रहने, दूसरों में केवल अच्छाई देखने और सबमें अपनी ही आत्मा देखकर असीम प्रेम करने की तीन धाराओं का संयुक्त स्वरूप हम स्वर्ग मानते रहे हैं । सो उसका रसास्वादन चिरकाल से हो रहा है । अब न स्वर्ग जाने की इच्छा है, न मुक्ति पाने की ।

ईश्वर-दर्शन, आत्म-साक्षात्कार, ऋद्धि सिद्धि के लिए उनके अभाव में जो आकर्षण रहता है, वह भी लगभग समाप्त हो चला । अपनी कुछ कामना नहीं । भावी तपश्चर्या का प्रयोजन उपर्युक्त कारणों में से एक भी नहीं है । ऐसा वैराग्य, जिसमें स्नेह-सौजन्य से, अनन्त आत्मीयता से वंचित होना पड़े, हमें तनिक भी अभीष्ट नहीं । हमारी ईश्वरभक्ति, पूजा-उपासना से आरम्भ होती है और प्राणी मात्र को अपनी ही आत्मा के समान अनुभव करने और अपने ही शरीर के अंग-अवयवों की तरह अपनेपन की भावना रखते हुए अनन्य श्रद्धा चरितार्थ करने तक व्यापक होती चली जाती है । ऐसी दशा में कहीं दूर चले जाने पर भी हमारे लिए यह सम्भव न हो सकेगा कि जिनके साथ इस जीवन में घनिष्टता रही है, जिनका स्नेह, सद्भाव, सहयोग, अनुग्रह अपने ऊपर रहा है, उनकी ओर से तनिक भी मुख मोड़ा जाए, उनके प्रति उदासीनता और उपेक्षा अपनाई जाए । कोई कृतघ्न ही ऐसा सोच सकता है ।

यों शरीर, साधन और श्रम के द्वारा हमारे विभिन्न कार्यों में सहायता करने वाले भी कम नहीं रहे हैं, पर उनकी संख्या और भी अधिक है, जो भावभरी आत्मीयता के साथ अपनी श्रद्धा, ममता और सद्भावना हमारे ऊपर उँड़ेलते रहे हैं । सच पूछा जाए तो यही वह शक्ति-स्रोत रहा है, जिसे पीकर हम इतना कठिन जीवन जी सके हैं । रोटी ने नहीं-भावभरी आत्मीयता के अनुदान जहाँ-तहाँ से हमें मिल सके हैं, उन्होंने ही हमारी नाड़ियों में जीवन भरा है और उसी के सहारे हम इस विशाल संघर्ष से भरे जीवन में जीवित रह सकने और कुछ कर सकने लायक कार्य कर सकने में समर्थ रहे हैं । इन उपकारों को कोई पाषाण हृदय, अतिनिष्ठुर और नर-पशु ही भुला सकता है । हमें ऐसी कृतघ्नता का अभिशाप मिला नहीं है । कृतज्ञता से अपनी नस-नस भरी पड़ी है । जिसका एक रत्ती भी उपकार रहा है, वह हमें एक मन लगा है और सोचा यही गया है कि उसके लिए अनेक गुनी सेवा-सहायता करके अपनी कृतज्ञता का परिचय दिया जाए । बन तो कुछ नहीं पड़ा, पर अरमान अभी भी बड़े-बड़े हैं । स्वप्न अभी यही है कि ढाई वर्ष कहीं अन्यत्र चले जाने पर यदि कुछ उपलब्धियाँ मिलीं और उन पर अपना अधिकार रहा तो उन्हें अपने ऋणदाताओं से उऋण होने में लगावेंगे ।

लोगों की आँखों से हम दूर हो सकते हैं, पर हमारी आँखों से कोई दूर न होगा । जिनकी आँखों में हमारे प्रति स्नेह और हृदय में भावनाएँ हैं, उन सबकी तस्वीरें हम अपने कलेजे में छिपाकर ले जाएँगे और उन देवप्रतिमाओं पर निरन्तर आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाया करेंगे । कह नहीं सकते उऋण होने के लिए प्रत्युपकार का कुछ अवसर मिलेगा या नहीं, पर यदि मिला तो अपनी इन देव-प्रतिमाओं को अलंकृत और सुसज्जित करने में कुछ उठा

न रखेंगे । लोग हमें भूल सकते हैं, पर हम अपने किसी स्नेही को नहीं भूलेंगे ।

पत्थर से बनी निष्ठुर देव-प्रतिमाओं के साथ आजीवन एकांगी प्रेम करने की कला भारतीय अध्यात्म सिखाता रहा है । सो हमने भली-भाँति सीख लिया है । पीठ फेरने पर लोग हमें भूल जाएँगे, सो ठीक है, इससे अपना क्या बनता-बिगड़ता है । जिसने कोई प्रत्यक्ष अनुदान नहीं दिया, उन पाषाण प्रतिमाओं के चरणों में आजीवन मस्तक झुकाते रहे हैं तो क्या उन देवियों और देवताओं की प्रतिमाएँ हमारी आराध्य नहीं रह सकतीं, जिनकी ममता हमारे ऊपर समय-समय पर बरसी और प्राणों में सजीवता उत्पन्न करती रही ।

दिन कम बचे हैं, पूरे एक हजार भी तो नहीं बचे । रोज एक घट जाता है । इन दिनों में क्या करें, क्या न करें, सोचते रहते हैं । इस सोच-विचार में एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि अपने छोटे परिवार को इस बीच भरपूर प्यार कर लें । कोई माता विवशता में कहीं अकेली जाती है तो चलते समय अपने बच्चों को बार-बार दुलार करती, बार-बार चूमती, लौट-लौट कर देखती और ममता से भरी गीली आँखें आँचल से पोंछती आगे बढ़ती है । ऐसा ही कुछ उपक्रम अपना भी बन रहा है । सोचते हैं जिन्हें अधूरा प्यार किया अब उन्हें भरपूर प्यार कर लें । जिन्हें छाती से नहीं लगाया, जिन्हें गोदी में नहीं खिलाया, जिन्हें पुचकारा-दुलारा नहीं, उस कमी को अब पूरी कर लें । किसी को कुछ अनुदान, आशीर्वाद देना अपने हाथ में न हो तो दुलार देना तो अपने हाथ में है । प्रत्युपकार के लिए आतुर और कातर अपनी आत्मा इस तरह कुछ तो हल्कापन अनुभव करेगी और शायद उससे स्नेहपात्र-स्वजनों को भी कुछ तो उत्साह, उल्लास मिल ही सके ।

एक सुखान्त कहानी का दुखान्त अन्त हमें अभीष्ट नहीं । हमारा समस्त जीवन-क्रम आरम्भ से ही सुखान्त बना है । आदर्शों की कल्पना, उनके प्रति अनन्य निष्ठा और तदनुकूल कार्य-पद्धति में निर्धारण और निर्धारित पथ पर कदम-कदम बढ़ते चलने का अविचल धैर्य एवं साहस, यही तो हमारी जीवन-पद्धति है । इस पथ पर चलते हुए दूसरों की दृष्टि में हमें बहुत कष्ट सहने और बहुत त्याग करने पड़े हैं और अब अन्त भी ऐसे ही रोते-रुलाते हो रहा है । इसलिए देखने वालों की समझ से यह गाथा दु:खान्त मानी जाने लगी है, पर अपनी दृष्टि अलग है । आदर्शों की कल्पनाएँ मन में एक सिहरन और पुलकन उत्पन्न करती हैं । आदर्शों के प्रति अनन्य निष्ठा रखकर दूसरों के विरोध-उपहास की चिन्ता न करते हुए, अभाव-कष्टों से भरी जिन्दगी काटने में एक शूरवीर योद्धा जैसी अनुभूति होती है । निरन्तर उत्कृष्टता की गतिविधियों से भरा पूरा जीवन बाह्य दृष्टि से दयनीय ही क्यों न लगे, पर अन्तर में अपार सन्तोष रहता है ।

अब तक इन्हीं अनुभूतियों के साथ सुखपूर्वक हँसते-खेलते, दिन काटते आये हैं और मानते रहे हैं कि हम संसार के गिने चुने लोगों की तरह सुखी हैं । अब अन्त की विषम घड़ियाँ यों एकबारगी कलेजे को कपड़ा निचोड़ने की तरह ऐंठती हैं और अनायास ही रुलाई से कण्ठ भर देती हैं, फिर भी इसके पीछे कोई विवशता नहीं है । महान उद्देश्य के लिए, लोक-मंगल के लिए, नव-निर्माण के लिए तिल-तिल करके अपने को गला देने में हमें असीम सन्तोष, अपार आनन्द और उच्चकोटि का गर्व है । इस प्रकार यह एक उल्लास भरी आकर्षक कथा-गाथा का सुखान्त अन्त ही है । इसे दु:खान्त न माना जाए ।

पुरुष की तरह हमारी आकृति ही बनाई है, कोई चमड़ी उघाड़कर देख सके तो भीतर माता का हृदय लगा मिलेगा, जो करुणा, ममता, स्नेह और आत्मीयता से हिमालय की तरह निरन्तर गलते रहकर गंगा-यमुना बहाता रहता है । इस दुर्बलता को मोह, ममता कहा तो जा सकता है, पर निश्चय ही यह भीरुता या विवशता नहीं है । सहेलियों से बिछुड़ते हुए और पति के घर जाते हुए, जिस तरह किसी नव-वधू की द्विधा मन:स्थिति होती है, लगभग वैसी ही अपनी है और रुँधा कण्ठ एवं भावनाओं के उफान से उफनता अन्त:करण लगभग उसी स्तर का है । रात को बिना कहे चुपचाप पत्थर की तरह चल खड़े होने का साहस अपने में नहीं, इस स्तर का वैराग्य अपने को मिला नहीं । इसे सौभाग्य, दुर्भाग्य जो भी कहा जाए कहें ।

अपनी सभी सहेलियों से एक बार गले मिलकर और अपने अब तक के साथ-साथ हँस-खेलकर बड़े होने की स्मृतियों को ताजा कर फफक-फफककर रो लेने में लोक-उपहास भले ही होता हो, पर अपना चित्त हल्का हो जाएगा, सो ही हम से बन पड़ रहा है । मनुष्य आखिर दुर्बलताओं से ही तो भरा है । अपने को हम एक नगण्य-सा अतिदुर्बल मानव प्राणी मात्र मानते रहे हैं । सो इन परिस्थितियों में हमारी दुर्बलताएँ और भी अधिक स्पष्टतापूर्वक प्रकट हो रही हैं, तो अच्छा ही है । सन्त, ज्ञानी, वैरागी, ब्रह्मवेत्ता के लिए इस प्रकार की विरह-वेदना अशोभनीय हो सकती है, पर हम उस स्तर के हैं कहाँ ? हमारी तुच्छता को समझा जाए और एक दुर्बल की विवशता को सहानुभूति भरी उदारता से देखा जाए तो हमारे लिए इतना ही बहुत है ।

हमारा इतना जीवन परिवार की वृद्धि और विकास में लग गया । छोटे-छोटे बच्चों को उँगली पकड़कर चलना सिखाने से लेकर उनकी शिक्षा-दीक्षा और सुव्यवस्थित जीवन-शृंखला में पहुँचाने तक का जितना परिश्रम एक सद्-गृहस्थ को करना पड़ता है, उसी परिश्रम और भावना के साथ बड़े यत्नपूर्वक हम इस परिवार के विकास में लगे रहे हैं । पाल-पोसकर बड़े किए हुए प्रियपरिजनों को यों छोड़कर चलना पड़ेगा, इसकी कभी कल्पना भी न की थी । यदि ऐसा पहले मालूम होता तो अपने बच्चों को समझाने-बुझाने में जो सख्ती बरतनी पड़ी, उसे पहले से ही कम करते और बदले में उन्हें अधिक स्नेह और प्यार देते चले आये होते, अब तो विदा के क्षण समीप देखकर

केवल रुलाई ही आती है कि अपने इस प्रिय-परिवार को छोड़कर कैसे जाएँ ?

मन है कि अपने छोटे परिवार को अब जितना अधिक स्नेह, सद्भाव दे सकना सम्भव हो सके, दे लें। हँसने-खेलने, अपनी कहने, दूसरे की सुनने, सहानुभूति और सेवा के अधिकाधिक अवसर खोज निकालने में शेष दो वर्षों को निकाल दें। इसी तरह यह थोड़ी-सी अनमोल घड़ियाँ बीत सकें तो अच्छा है। महान मानवता की सेवा करने के लिए तो दो वर्ष बाद का सारा बचा-खुचा ही जीवन पड़ा है। यह दिन तो अपने छोटे परिवार के लिए व्यय करने का मन है।

प्यार, प्यार और प्यार यही हमारा मन्त्र है। आत्मीयता, ममता, स्नेह और श्रद्धा यही हमारी उपासना है। सो बाकी दिनों अब अपनों से अपनी बातें ही नहीं कहेंगे, अपनी सारी ममता भी उन पर उँड़ेलते रहेंगे। शायद इससे परिजनों को भी यत्किंचित सुखद अनुभूति मिले। प्रतिफल और प्रतिदान की आशा किये बिना हमारा भावनाप्रवाह तो अविरल जारी ही रहेगा। परिजनों से परिपूर्ण-स्नेह, यही इन पिछले दिनों का हमारा उपहार है, जिसे कोई भुला सके तो भुला दे। हम तो जब तक मस्तिष्क में स्मृति और हृदय में भावना का स्पन्दन विद्यमान है, आजीवन उसे याद ही रखेंगे।

# हमारे पाँच पिछले और पाँच अगले कदम

अपनों से अपनी बात कहने का क्रम जारी रखते हुए आत्मकथा तो नहीं कहेंगे, पर अपनी अनुभूतियों की चर्चा इसलिए करेंगे कि वे जहाँ हमारा मन हल्का करती हैं, वहाँ सुनने वालों के लिए भी प्रेरणाप्रद हैं। आत्म-कथा कहने के लिए कई परिजन आग्रह करते रहते हैं, पर उसे पूर्णरूपेण बता सकना तब तक लोकहित की दृष्टि से उचित न होगा, जब तक हमारा शरीर जीवित है। छिपाना हमें किसी से कुछ नहीं, पर यह तो ध्यान रखना ही है कि हमारी कोई विशिष्ट परिस्थितियों की उपलब्ध हुई अनुभूति दूसरों के लिए उचित मार्गदर्शन करेगी या अनुचित।

छिपाव वाले हमारे जीवन-पक्ष की अगणित घटनाएँ इस स्तर की हैं, जिन्हें चमत्कारपूर्ण कहा जा सकता है। कुछ उच्च भूमिका में विकसित तपस्वी, सिद्धपुरुषों की अलौकिकताएँ हमने देखी हैं। उनका वर्णन करना तभी उचित है, जब उन घटनाओं की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके अन्यथा लोग उस वर्णन को असत्य कहेंगे और व्यर्थ का वितण्डावाद बढ़ेगा। समय आ रहा है, जब मनुष्य में छिपी अगणित शक्तियों का प्रकटीकरण सम्भव होगा, उस स्थिति के न आने तक उन वर्णनों का न करना ही ठीक है, ताकि तर्कबुद्धि वालों को असत्य किम्वदन्तियाँ फैलाने का आक्षेप न लगाना पड़े और कुछ धूर्त जो बाजीगरी की तरह चमत्कार सुना, दिखाकर उल्लू सीधा करते रहते हैं- अपने समर्थन में हमारे कथन को प्रस्तुत करने का अवसर न मिले।

छिपाव का दूसरा पक्ष है, जिसमें हमने किन्हीं के लिए अपनी तपश्चर्या के छोटे-बड़े अंश दिए और उनसे उन्हें आश्चर्यजनक भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ हुए। इनका वर्णन हमें अपने मुँह से नहीं करना है। विज्ञापन से दान का महत्त्व नष्ट हो जाता है। फिर जो लोग उन महानताओं को भुला बैठे हैं, उन पर अहसान थोपना और याद दिलाना भी उचित नहीं। दूसरे अपना अहंकार बढ़ सकता है। तीसरे वे लोग हमें और भी अधिक घूरने लग सकते हैं, जो आशीर्वाद को जुबानी जमा-खर्च मानते हैं और सोचते हैं कि उनकी जुबान हिलाने भर का बोझ पड़ेगा और हमारा काम बन जाएगा। वस्तुतः होता यह है कि जीभ हिलाकर कोई आशीर्वाद न तो दिया जा सकता है और न वह सफल होता है।

इस प्रकार के प्रत्येक अनुदान के पीछे बहुत अधिक शक्ति व्यय करनी पड़ती है और कई बार तो वह कितने ही वर्षों की अति कष्टपूर्वक उपलब्ध की हुई कमाई होती है। लोग तो लोग हैं, उन्हें न तो दूसरे के त्याग का मूल्य समझना है और न कम से कम कृतज्ञ मनोभूमि तक बनाये रखना है। मुफ्त की चीज का कोई आखिर कुछ मूल्य समझें भी क्यों ? जब मुफ्त में ही दर्शन करने, पैर छूने, माला पहना देने मात्र से बहुमूल्य अनुदान मिल सकते हैं तो उन्हें पाने का लोभ क्यों कोई संवरण करे ? भीड़ ऐसे ही लोगों की जमा अभी भी होती है। पीछे तो उसकी ऐसी बाढ़ आयेगी कि उससे पिण्ड छुड़ाना कठिन हो जाएगा व अपने जीवनोद्देश्य की बात कहने तक का अवसर न मिलेगा। यों सुनता तो कोई अभी भी नहीं है, पर यदि हमारे द्वारा सम्भव दिव्य सहायताओं का अनुदान अधिक निश्चित हो जाय तब तो हर सम्बन्धी उसी की रट लगायेगा। हमारी बात सुनने, समझने का तो उसका उतावला मन तैयार ही न होगा। इस झंझट से बचने के लिए जितना प्रकट हो चुका है, उतना ही पर्याप्त मान लिया है, उससे अधिक जो अधिक आश्चर्यजनक एवं अलौकिक है, छिपाये ही रखा है।

पूरी आत्म-कथा न बताने में कोई ऐसे कारण नहीं हैं, जिनकी चर्चा करते हमें लज्जा और ग्लानि का अनुभव हो। सफेद कपड़ा पहनकर आये और बिना दाग-धब्बे की चादर लेकर विदा हो रहे हैं। सज्जन और सहृदय व्यक्ति की जिन्दगी हमने जी ली। कर्त्तव्यों की अवहेलना और नैतिक मर्यादाओं के उल्लंघन का कोई ऐसा अवसर अब तक नहीं आया, जिसे छिपाने की आवश्यकता पड़े।

कुछ ऐसे कारण एवं अनुभव भी छिपाव के कारण हैं जो अभी परिपुष्ट नहीं हुए और जिन्हें चुनौती देकर सिद्ध करने की स्थिति परिपक्व नहीं हुई। जैसे यह एक तथ्य है कि हमने अपनी चेतना के पाँच स्तरों अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पाँच कोशों को गायत्री की उच्चस्तरीय उपासना के आधार पर एक सीमा तक

विकसित किया है और उनसे पाँच स्वतन्त्र व्यक्तियों की तरह काम लिया है । फिर भी यह स्थिति उतनी पक्की नहीं कि उसका सदा सार्वजनिक परीक्षण कराके एक अभिनव सिद्धान्त की पुष्टि का आधार प्रस्तुत किया जा सके । सम्भव है कुछ समय में, शायद इसी जीवन में वह स्थिति आ जाए कि हम अपने को संसार के सामने परीक्षण के लिए प्रस्तुत करें कि एक ही शरीर के भीतर पाँच सत्ताएँ किस प्रकार काम करती रह सकती हैं और एक व्यक्ति एक ही समय में पाँच व्यक्तियों का काम कैसे निपटा सकता है ?

परिजनों में से हर कोई जानता है कि १६ से ४० वर्ष तक की आयु हमने प्रतिदिन ६ घण्टे रोज गायत्री उपासना में बिताई । यह १८ वर्ष ही ऐसे रहे हैं, जिनमें सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश कर कुछ काम किया है । इस थोड़ी अवधि में हमारे पाँच प्रमुख कार्य हुए हैं (१) भारतीय धर्म के आर्षसाहित्य का आदि से अन्त तक सरलीकरण एवं संसार भर में प्रसार, (२) गायत्री महाविद्या का अन्वेषण एवं उसका विश्वव्यापी विस्तार, ५० लाख व्यक्तियों को नैष्ठिक उपासना को शिक्षा-दीक्षा, चार हजार शाखाओं वाले गायत्री परिवार संगठन का सृजन, गायत्री तपोभूमि जैसी अनुपम संस्था का निर्माण, (३) गायत्री यज्ञ के माध्यम से धर्म-भावनाओं का व्यापक उभार, देश भर में हजारों विशालकाय सम्मेलन, मथुरा का वह सहस्र कुण्डी गायत्री यज्ञ, जिसमें ४ लाख व्यक्ति एकत्रित हुए थे । उस शृंखला का अभी भी अति उत्साहपूर्वक प्रचलन, (४) युग-निर्माण योजना का जन मानस परिवर्तन एवं विचार-क्रान्ति का विश्वव्यापी अभियान, इस सन्दर्भ में लगभग ५०० पुस्तकों का लेखन, दो पत्रिकाओं का मथुरा से प्रकाशन, ७ हजार झोला-पुस्तकालयों का प्रचलन, नव-निर्माण के विशाल साहित्य का संसार की प्रमुख भाषाओं में अनुवाद, प्रकाशन । इस प्रयोजन में हजारों कार्यकर्त्ताओं का समावेश । (५) सतत तप-साधना द्वारा उपार्जित शक्ति का सत्पात्रों की भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति के लिए अनुदान की व्यवस्था ।

यह पाँचों ही कार्य इतने बड़े परिमाण में हुए हैं और उनकी शाखा प्रशाखाएँ इतनी अधिक फूटी हैं कि उनमें से प्रत्येक को एक एक शरीर द्वारा करने पर कम-से-कम साठ-साठ वर्ष का पूरा जीवन लगना चाहिए । पाँच अति परिष्कृत व्यक्ति सारे जीवन उस कार्य में पूरी तरह लगें और उनके पास विपुल साधन हों, तभी यह कार्य सम्भव हो सकते हैं । एक व्यक्ति मात्र १८ वर्षों में उन्हें किसी भी प्रकार नहीं कर सकता । इतने पर भी यह कार्य जिस सफलता से हुए उनका रहस्य यही है कि दीखने में एक शरीर द्वारा यह कार्य होते रहे हैं, वस्तुतः एक ही घोंसले में बैठे रहने वाले पाँच पक्षी पाँच दिशाओं में उड़कर पाँच प्रयोजन पूरे करते रहे थे । इस अचम्भे से भरी सच्चाई के अनेक प्रमाण ऐसे हैं जो अगले ही दिनों इस वस्तुस्थिति को प्रकट कर देंगे, पर अभी इस स्थिति में परिपक्वता नहीं आई और प्रकटीकरण की आज्ञा नहीं मिली । इसलिए उस तथ्य को सार्वजनिक रूप से उद्घोषित नहीं किया गया और न उसकी प्रामाणिकता के लिए चुनौती दी गई है ।

ऐसे ही कुछ कारण हैं जिनको समग्र आत्म-कथा कह सकना तो सम्भव न होगा, पर जो लोकहित में है, उस सभी को परिजनों से कहकर जाएँगे, उससे भले ही किसी का लाभ न भी होता हो, पर हमें अपना चित्त हल्का कर लेने और दूसरों की जानकारी में एक कड़ी जोड़ देने का अवसर तो मिल ही जाएगा । हमारे जीवन के रहस्यमय भाग बाद में प्रकट हों, यह दूसरी बात है । पर अभी हमारे सामने उन्हें ऐसे ही पड़े रहने देना ठीक होगा । अभी तो इतना ही पर्याप्त होगा कि हमारे अनुभवों, निष्कर्षों और अभिव्यंजना को जान लिया जाए ।

पिछले दिनों की भाँति ही अगले पाँच कार्य हमारे सामने हैं । ये पिछलों की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं । इनकी थोड़ी चर्चा इन पंक्तियों में कर देना कुछ अनुपयुक्त न होगा ।

(१) हमारी एक ही प्रमुख सम्पदा है-प्यार । इसी के बल पर तप, संतोष, विवेक, सेवा, स्वाध्याय, श्रम आदि अन्य सद्प्रवृत्तियों को स्थिर रूप से प्राप्त करने का अवसर मिला है । आत्म-विश्लेषण, चिन्तन, मनन और अंतःमन्थन के आधार पर यह सुनिश्चित रूप से कह सकते हैं कि हमें यदि अन्तरंग विभूतियाँ प्राप्त हुई हैं और उनके आधार पर बाह्य जगत में कुछ हलचलें उत्पन्न करने का अवसर मिला है, तो इसका एकमात्र कारण हमारे अन्तःकरण में आदि से अन्त तक लबालब भरा हुआ प्यार ही है । ईश्वर को माध्यम बनाकर उसकी कृषि की गई और जब वह उगा और फला तो उसका प्रकाश निकटवर्तियों से लेकर दूरवर्तियों तक व्यापक क्षेत्र में फैला । दूसरों ने उससे लाभ उठाया और हम स्वयं स्वर्गीय उल्लास की अनुभूति हर घड़ी करते रहे । उसी आवेश में लोक-सेवा और आत्मबल-संवर्द्धन के ये कार्य बन पड़े, जो वस्तुतः तुच्छ हैं, पर दूसरे उन्हें बहुत बढ़ा-चढ़ा देखते हैं ।

गायत्री-उपासना, जीवन-साधना, नव-निर्माण आदि की कई शिक्षाएँ परिजनों को देते चले आ रहे हैं, अब विचार है अगले दो-ढाई वर्षों में प्रेम को अन्तरंग में उगाने और उसे विकसित करने की अपनी अनुभूतियाँ भी लोगों को बतावें और इस अमृत को उपलब्ध करने की शिक्षा देते चलें । यह साहित्य का नहीं समीपता का विषय है, सो सोचते हैं कि जितने अधिक परिजनों से, जितने अधिक समय तक सान्निध्य और सामीप्य सम्भव हो प्राप्त करें और अपनी छूत दूसरों को भी लगाते चलें । लोग प्यार करना सीखें । हममें, अपने आपमें, अपनी आत्मा और जीवन में, परिवार में, समाज में, कर्त्तव्य में और ईश्वर में दसों-दिशाओं में प्रेम बिखेरना और उसकी लौटती हुई प्रतिध्वनि का भावभरा अमृत पीकर धन्य हो जाना, यही जीवन की सफलता है ।

इच्छा है जिस प्रकार भी सम्भव हो, अपने परिवार को अपनी इस मूल प्रवृत्ति से परिचित कराएँ और जहाँ जितनी मात्रा में सम्भव हो, इस अमृत उद्भव के क्रिया-कलाप को आगे बढ़ाने में पूरा-पूरा सहयोग करें। प्रेम की विभूति के यदि थोड़े-थोड़े कण भी लोग प्राप्त कर सकें, तो निश्चय ही देवत्व उनके चरणों में दौड़ता चला आएगा। उपाय सोचेंगे और ढूँढ़ेंगे कि किस प्रकार अपने परिवार में प्रेम की प्रवृत्ति का अधिकाधिक उद्भव और अभिवर्द्धन सम्भव है। जो सूझेगा उसे पूरी तत्परता से कार्यान्वित करेंगे, नये मानव का, नये विश्व का तत्त्वदर्शन यह प्रेम धर्म ही तो होगा।

(२) अगले ढाई वर्षों में युग-निर्माण योजना की मजबूत आधारशिला रख जाने का अपना मन है। यह निश्चित है कि निकट भविष्य में ही एक अभिनव संसार का सृजन होने जा रहा है। उसकी प्रसवपीड़ा में अगले दस वर्ष अत्यधिक अनाचार, उत्पीड़न, दैवकोप, विनाश और क्लेष, कलह से भरे बीतने हैं। दुष्प्रवृत्तियों का परिपाक क्या होता है, इसका दण्ड जब भरपूर मिल लेगा, तब आदमी बदलेगा, यह कार्य महाकाल करने जा रहा है। हमारे हिस्से में नवयुग की आस्थाओं और प्रक्रियाओं को अपना सकने योग्य जन-मानस तैयार करना है। लोगों को यह बताना है कि अगले दिनों संसार का एक राज्य, एक धर्म, एक अध्यात्म, एक समाज, एक संस्कृति, एक कानून, एक आचरण, एक भाषा और एक दृष्टिकोण बनने जा रहा है, इसलिए जाति, भाषा, देश, सम्प्रदाय आदि की संकीर्णताएँ छोड़ें और विश्व-मानव की एकता की, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना स्वीकार करने के लिए अपनी मनोभूमि बनाएँ।

लोगों को समझाना है कि पुराने में से सारतत्व लेकर विकृतियों को तिलाञ्जलि दे दें। लोक-मानस में विवेक जाग्रत करना है और समझाना है कि पूर्व मान्यताओं का मोह छोड़कर जो उचित-उपयुक्त है, केवल उसे ही स्वीकार-शिरोधार्य करने का साहस करें। सर्व-साधारण को यह विश्वास करना है कि धन की महत्ता का युग अब समाप्त हो चला, अगले दिनों व्यक्तिगत सम्पदाएँ न रहेंगी, धन पर समाज का स्वामित्व होगा। लोग अपने श्रम एवं अधिकार के अनुरूप सीमित साधन ले सकेंगे, दौलत और अमीरी दोनों ही संसार से विदा हो जाएँगी। इसलिए धन के लालची बेटे-पोतों के लिए जोड़ने-जाड़ने वाले कंजूस अपनी मूर्खता को समझें और समय रहते स्वल्प-संतोषी बनने एवं शक्तियों को संचय-उपभोग से बचाकर लोकमंगल की दिशाओं में लगाने की आदत डालें। ऐसी-ऐसी बहुत-सी बातें लोगों के गले उतारनी हैं, जो आज अनर्गल जैसी लगती हैं।

संसार बहुत बड़ा है, कार्य व्यापक है, हमारे साधन सीमित हैं। सोचते हैं एक मजबूत प्रक्रिया ऐसी चल पड़े जो अपने पहिये पर लुढ़कती हुई-उपर्युक्त महान लक्ष्य को सीमित समय में ठीक तरह पूरा कर सके। युग-निर्माण योजना का केन्द्र-बिन्दु अभी गायत्री तपोभूमि में बनाया है। इसे अगले दिनों समस्त विश्व में, अगणित योजनाओं और प्रक्रियाओं के रूप में विकसित होना है, सो विचार यह है कि अगले ढाई वर्षों में इतने व्यक्ति, इतने साधन और इतने सूत्र उपलब्ध हो जाएँ, जिससे हमारी सन् २००० तक चलने वाली योजना का क्रमविस्तार नियत निर्धारित गति से यथावत होता रहे। इन ढाई वर्षों में ऐसा साधनतन्त्र खड़ा कर देंगे, जो नव-निर्माण की, विचार-क्रान्ति की, असम्भव को सम्भव बनाने की, विश्व के काया-कल्प की भूमिका सफलतापूर्वक सम्पादित कर सके।

(३) उपर्युक्त दो कार्य ऐसे हैं, जो ढाई वर्षों में संतोषजनक स्थिति पकड़ लें। तीन काम ऐसे हैं, जो यहाँ से चले जाने के बाद आरम्भ करेंगे और तब तक उसी प्रकार चलाते रहेंगे, जब तक यह शरीर जीवित रहेगा। ऐसे कार्यों में पहला उग्र तपश्चर्या, दूसरा लुप्तप्राय अध्यात्म की शक्ति, विद्या की शोध-साधना, तीसरा है, परिजनों की अभीष्ट सहायता। हम जहाँ कहीं भी रहेंगे, वहीं से उपर्युक्त तीन कार्य अनवरत रूप से करते रहेंगे।

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि पिछले दिन रामकृष्ण परमहंस, योगी अरविन्द और महर्षि रमण की अनुपम साधनाएँ भारत के भाग्य-परिवर्तन के लिए हुईं। उन्होंने वातावरण को ऐसा गरम किया कि कितने ही आश्चर्यजनक चक्रवात अनायास ही प्रकट हो गये। पिछले थोड़े ही दिनों में भारत ने उच्चकोटि के नेता दिए, जिनकी तुलना अन्यत्र नहीं मिलती। इन महामानवों ने जनता को आश्चर्यजनक उत्साह दिया और असम्भव लगने वाली राजनैतिक स्वतन्त्रता सम्भव करके दिखा दी। अभी भाग्य-निर्माण का अधिकारमात्र मिला है। अभी करना तो सब कुछ बाकी पड़ा है।

भारत को अपना घर ही नहीं सँभालना है, हर क्षेत्र में विश्व का नेतृत्व भी करना है। इसके लिए उपयुक्त स्थिति उत्पन्न कर सकने वाले ऐसे महामानवों की आवश्यकता है, जो स्वतन्त्रता संग्राम वालों से भी अधिक भारी हों। लड़ने से निर्माण का कार्य अधिक कुशलता और क्षमता का है, सो हमें अगले दिनों ऐसे मूर्धन्य महामानवों की आवश्यकता पड़ेगी, जो अपने उज्ज्वल प्रकाश से सारा वातावरण प्रकाशवान कर दें।

इसके लिए उपर्युक्त तीन तपस्वियों की बुझी पड़ी परम्परा को फिर सजीव करना है और सूक्ष्मलोक को फिर इतना गरम करना है कि उसमें से उत्कृष्ट स्तर के महामानव पुनः अवतरित हो सकें। गंगावतरण के लिए भगीरथ का तप आवश्यक था, नये युग की सुधा-सरिता का अवतरण भी ऐसे ही तप की अपेक्षा करता है। देवत्व को निगल जाने वाले वृत्रासुर का वध दधीचि के अस्थिपिंजर से बने वज्र की अपेक्षा करता था। दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों का अनाचार पिछले रावण, कंस, हिरण्यकशिपु आदि से भी बढ़ा-चढ़ा है, उसका निराकरण भी पूर्वकाल जैसे अस्थिवज्र की अपेक्षा करता

है, हमें इसके लिए आगे बढ़ना होगा, सो बढ़ भी रहे हैं । अगले दिनों जिस महान प्रयोजन के लिए समर्पित होने जा रहे हैं, उसे देखते हुए वर्तमान विरह-वेदना के बावजूद हमें और हमारे परिवार को गर्व ही होगा कि हमारे कदम जिधर बढ़े, वे उचित और आवश्यक थे ।

(४) वर्तमान भौतिकवादी मनोवृत्तियों का विकास भौतिक विज्ञान के साथ-साथ हुआ है । विज्ञान सदा मनुष्य के भौतिक और आत्मिक जीवन को प्रभावित करता है । आधुनिक विज्ञान का आधार भौतिक है, फलत: उसका भावनात्मक प्रभाव भी वैसा ही होना चाहिए । आज लोग भौतिक दृष्टि से सोचते हैं और इन्हीं आकांक्षाओं से प्रभावित होकर अपनी गतिविधियाँ निर्धारित करते हैं । यही है आज की विपन्न परिस्थितियों का विश्लेषण । प्राचीनकाल में अध्यात्म-विज्ञान का प्रचलन था । आत्मा की अनन्त शक्ति का प्रयोग करके लोग अपनी आन्तरिक और भौतिक प्रगति का पथ प्रशस्त करते थे, तब लोकमानस भी वैसा ही था और रीति-नीति में आध्यात्मिक आदर्शों का समावेश रहने से सर्वत्र स्वर्गीय सुख-शान्ति विराजती थी ।

हमारे प्राचीन अध्यात्म की केवल ज्ञानशाखा जीवित है । विज्ञानशाखा लुप्त हो गई । धर्म, नीति, सदाचरण आदि की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ एवं प्रवक्ता तो मौजूद हैं, पर उस विज्ञान की उपलब्धियाँ हाथ से चली गईं, जो शरीर में विद्यमान अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय शक्ति-कोषों की क्षमता का उपयोग करके व्यक्ति और समाज की कठिनाइयों को हल कर सकें । पातंजलि योग दर्शन, मंत्र महार्णव, कुलार्णव तंत्र आदि शक्तिविज्ञान के ग्रन्थ तो कई हैं, पर उनमें वर्णित सिद्धियों को जो प्रत्यक्ष कर दिखा सके, ऐसे मिश्रित साधन नहीं के बराबर शेष रह गये हैं ।

आवश्यकता इस बात की है कि उन लुप्त विद्याओं को फिर खोज निकाला जाए और उन्हें सार्वजनिक ज्ञान के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि प्राचीनकाल की तरह उसका उपयोग सुलभ हो सके । ऐसा सम्भव हुआ तो भौतिक विज्ञान को परास्त कर पुन: अध्यात्म विज्ञान की महत्ता प्रतिष्ठापित की जा सकेगी और लोकमानस को उस सतयुगी प्रवाह की ओर मोड़ा जा सकेगा, जिसकी हम अपेक्षा करते हैं ।

हिमालय, गंगातट, एकान्त, जन-सम्पर्क पर प्रतिबन्ध जैसी कष्टसाध्य गतिविधियाँ अपनाने के पीछे एक रहस्य यह भी है कि वह प्रदेश एवं वह वातावरण ही उच्च आध्यात्मिक स्तर की शोधों के लिए उपयुक्त हो सकता है । स्थान की दृष्टि से वह स्थान अध्यात्म शक्तितत्त्वों का ध्रुवकेन्द्र या हृदय ही कहा जा सकता है, जहाँ हमें अगले दिनों जाना है । वहाँ ऐसी विभूतियाँ अभी जीवित हैं, जो इस महान कार्य में हमारा मार्गदर्शन कर सकें । इस प्रकार की शोध-साधना अपने व्यक्तिगत वर्चस्व के लिए नहीं, विशुद्ध रूप से लोक-मंगल के लिए करने जा रहे हैं और जो कुछ हमें मिलेगा, उसको राई-रत्ती सार्वजनिक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करते रहेंगे । जब तक जीवन शेष रहेगा, तब तक यही करना है । जीवन का अन्त होने से पूर्व शरीर को वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए इसलिए वसीयत किया है कि शरीरशास्त्री यह जान सकें कि अध्यात्म-साधना से देह के किन रहस्यमय शक्ति-संस्थानों को कितना विकसित किया जा सकता है और इस प्रकार के विकास से मनुष्य जाति क्या लाभ उठा सकती है ?

(५) हमारी अन्त:स्थिति कुछ ऐसी है कि जिनका रत्ती भर भी स्नेह हमें मिला है, उनके प्रति पर्वत जितनी ममता सहज ही उमड़ती है । गत १८ वर्षों में हमने एक विशाल भावपरिवार बना लिया है । गायत्री परिवार और युग-निर्माण परिवार के माध्यम से तथा व्यक्तिगत स्नेह-सम्पर्क से अनेक परिजन हमारे आस-पास इकट्ठे हो गये हैं और सहज रूप से ही इनमें इतना मोह जुड़ गया है कि उसमें तनिक भी शिथिलता आने की घड़ी में हमारी मनोभूमि चरमरा उठती है । 'अखण्ड-ज्योति' में अपना उफान व्यक्त करके थोड़ा चित्त हल्का कर लिया गया है, अन्यथा कुछ दिनों लगता रहा, विकलता से हमारे सिर की कोई नस फट जाएगी । पढ़ने वालों ने व्यर्थ भले ही समझा हो, पर हमारे लिए यह एक तत्काल उपचार था । अब चित्त थोड़ा हल्का हुआ है । फिर भी प्रकृति तो बदल नहीं गई । जो हमें श्रद्धा, सद्भावना, आत्मीयता एवं ममता की दृष्टि से देखते हैं, देखेंगे, प्यार करते हैं, प्यार करेंगे, उनसे विमुख नहीं हो सकते । उनके साथ भी सम्पर्क किसी न किसी रूप से बनाये रहना है ।

विशेषतया हमारा मोह उनके प्रति है, जो आयु की दृष्टि से बड़े हो जाने पर मन:स्थिति के अनुसार बालक मात्र हैं । जो जरा-जरा-सी कठिनाइयों को बढ़ा-चढ़ाकर देखते हैं, तनिक-सी आपत्ति आने पर कातर हो उठते हैं । प्रगति के लिए जिन्हें अपनी शक्ति अपवित्र दीखती है, जिन्हें भीति और निराशा घेरे रहती है । ऐसे बालक हमारे पास सहायता के लिए सदा दौड़ते रहे हैं, उन्हें धमकाते, समझाते तो रहे हैं, पर साथ ही यदि कुछ पास में रहा है तो देने में भी कंजूसी नहीं की है । यह सहारा तकने वाले कमजोर और छोटे बालक हमारी उपेक्षा के नहीं, वात्सल्य के ही अधिकारी रहे हैं । भले ही हम उनकी भीरुता और परावलम्बी वृत्ति को जीवन अभियान में झिड़कते भी रहे हों ।

हमारे जाने का सबसे अधिक आघात इन बालकों को ही लगा है । उनकी कठिनाई वास्तविक है, इसकी उपेक्षा हमसे भी नहीं बन पड़ेगी । सो एक मार्ग निकाल लिया गया है । माताजी-हमारी धर्मपत्नी भगवतीदेवी-उन्हें वही दुलार और सहायता देती रहेंगी, जो अब तक हम देते रहे हैं । पहले माताजी का मथुरा छोड़ने का विचार था, पर अब वे हिमालय और गंगातट पर एक ऐसे स्थान पर रहेंगी, जहाँ लोग उनसे सम्पर्क स्थापित कर सकें और हमारा सम्बन्ध भी उनसे बना रहे । हरिद्वार और ऋषिकेश के बीच

गंगातट पर जहाँ सात ऋषि तप करते थे और गंगा की जहाँ सात धाराएँ हैं, उस एकान्त भू-भाग में डेढ़ एकड़ एक छोटी-सी जमीन प्राप्त कर ली गई और उसमें फलों के पेड़ लगा दिये गये हैं।

इस प्रयोजन के लिए माताजी की शक्ति कम पड़ेगी तो हम उसकी पूर्ति करेंगे। शोध-साधन से जो ज्ञान मिलेगा, उसे भी सर्वसाधारण के लिए माताजी के माध्यम से ही प्रस्तुत करते रहेंगे। इस प्रकार प्रकारान्तर से हमारा सम्पर्क भी अपने विशाल परिवार से बना रहेगा और माताजी दोनों को जोड़ने वाली एक कड़ी के रूप में अपना कार्य पूरा करती रहेंगी। सारे जीवन भर हम देते ही रहे हैं, अच्छा नहीं लगता कि इस प्रवाह को अब बन्द कर दें। देने की अच्छी परम्परा हमें बहुत भाती-सुहाती है। आतिथ्य करना हमारे लिए सबसे बड़ा उल्लास रहा है। आगे भी उस परम्परा को जारी रखें, इसके लिए यह माध्यम ढूँढ़ लिया गया है। हमारे मार्ग-दर्शक ने माताजी को यह परामर्श दिया तो उन्होंने उसे हर्ष के आँसू भरकर शिरोधार्य ही किया। यद्यपि उन्हें अपने निज के बच्चे छोड़ते हुए हमारी तरह व्यथा होती है, पर वे उसे हमारी तरह दूसरों के आगे प्रकट करने की आवश्यकता नहीं समझतीं। शरीर की ही तरह वे मन से भी निस्सन्देह हमसे अधिक भारी हैं।

अगले दिनों के लिए हमारे पाँच कार्यक्रम हैं, जिनका उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में कर दिया गया। अब तक जिन पाँच कार्यों में हमें १८ वर्ष लगाने पड़े, वे अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण थे, पर आगे जो करने हैं, वे भी कम मूल्यवान नहीं हैं। उनकी अपनी उपयोगिता और महत्ता है। इस जीवन का ऐसा सदुपयोग होते देखकर हमें जो सन्तोष है, उससे स्वजनों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध छोड़ने की जो तीव्र तड़पन, विरह-वेदना उठती है, उसका एक हद तक समाधान किसी प्रकार हो ही जाता है। यद्यपि वह कसक बार-बार हमें बुरी तरह व्यथित और विचलित कर देती है।

पिछले दिनों जिन पाँच कार्यों को करते रहे हैं, उसके लिए एक यही शरीर काफी नहीं था, जो सबको दीखता है। इन प्रयोजनों के लिए हमें अपने पाँच कोशों में से पाँच ऐसे व्यक्तित्व उगाने पड़े हैं, जो दीखते तो इसी घोंसले में रहते हुए हैं, पर काम अलग-अलग मोर्चों पर लड़ने वाले पाँच योद्धाओं जैसा करते हैं। आगे के काम चूँकि अधिक बड़े, अधिक भारी और अधिक श्रमसाध्य हैं। अस्तु, उनके लिए समर्थता भी अधिक चाहिए। प्रयत्न यही करेंगे कि अन्नमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश इन पाँचों के अन्तरंग में छिपी सामर्थ्य को और अधिक विकसित किया जाए, ताकि अधिक तीव्र शक्ति का उद्भव हो सके और उसके आधार पर सामने पड़े उत्तरदायित्वों का पर्वत उठाया जा सकना सम्भव हो सके।

उस सौभाग्य को कितना सराहें, जिसने हमें पेट और प्रजनन के, तृष्णा और वासनाओं के उस आकर्षण से बचा लिया, जो नर-पशुओं को भव-बन्धनों में बाँधे रहने के लिए लोह-जंजीरों का काम करते हैं, जिनमें जकड़ा हुआ प्राणी असह्य प्रताड़नाएँ सहता हुआ मानव-जीवन जैसे अलभ्य अवसर को व्यर्थ विडम्बनाओं में गँवा देता है। धन्य है हमारा सौभाग्य, जिसने हमें जीवनोद्देश्य के लिए कदम बढ़ाने का शौर्य और अपने शुभ-चिन्तकों एवं सम्बन्धियों के मोह और अज्ञान भरे परामर्श, अनुरोधों को ठुकरा देने का साहस प्रदान किया। यदि भीतर से यह पात्रता न उगी होती तो गुरुदेव का अनुग्रह और भगवान का आशीर्वाद कहाँ मिल सका होता?

यह सौभाग्य जो हमारे ऊपर बरसा, हमारे भीतर से उगा, भगवान करे हमारे सारे परिवार के ऊपर बरसे और हम सभी के भीतर से उगे, उपजे।

# हमारी प्रेम-साधना और उसकी परिणति

शरीर में जब प्राण रहता है तो आँखों में देखने की, कानों में सुनने की, जीभ में चखने की, हाथों में करने की, पैरों में चलने की शक्ति बनी रहती है। भीतर के कल-पुर्जे, दिल-दिमाग, आँत, दाँत सभी अपना काम करते रहते हैं, किन्तु जब शरीर को छोड़कर प्राण चला जाता है, तब समस्त इन्द्रियाँ और कल-पुर्जों की शक्ति समाप्त हो जाती है और ये कुछ ही समय में सड़-गलकर विद्रूप बन जाते हैं। जिस प्रकार शरीर के क्रिया-कलाप में प्राण-तत्त्व की महत्ता है, उसी प्रकार आत्मिक क्षेत्र में प्रेम-तत्त्व का आधिपत्य है। अन्तरंग क्षेत्र में प्रेम-भावना का जितना प्रकाश और विकास हुआ होगा, उसी अनुपात से अन्य सद्गुण जिन्हें विभूतियाँ कहा जाता है, उगने और बढ़ने लगते हैं।

आत्मबल जो कि व्यक्ति की महानता और सुख-शान्ति का आधार है, आन्तरिक सद्गुणों पर अवलम्बित है और वे गुण किसी अभ्यास, प्रयोग से पाये, बढ़ाये नहीं जाते, वरन् प्रेम-तत्त्व की स्थिति के जुड़े होने के कारण उसी अनुपात से घटते-बढ़ते हैं, जैसे कि प्रेम-भावनाओं का उत्कर्ष, अपकर्ष होता है। तालाब में पानी जिस हिसाब से बढ़ता है, उसी अनुपात में कमल बेल का डंठल भी बढ़ जाता है और कमल के पत्र-पुष्प हर स्थिति में पानी से ऊपर ही बने रहते हैं। प्रेम-तत्त्व अन्तःकरण में जितना होगा, उसी अनुपात से सद्गुणों का विकास होगा और इसी विकास से आत्म-बल की मात्रा नापी जा सकती है। कहना न होगा कि आत्म-बल ही मनुष्य की गरिमा का सार है और उसी के बल पर बाह्य और आन्तरिक ऋद्धि-सिद्धियाँ उपलब्ध की जाती हैं।

अपनी आत्मिक प्रगति का रहस्य बताने जाना आवश्यक था, सो इस लेखमाला में उसके पर्त क्रमशः खोलते चले जाएँगे और इन दो-ढाई वर्षों में जो कुछ कहना आवश्यक था, उसका अधिकांश भाग कह लेंगे।

बहुत से अनुभव और निष्कर्ष हमने अपनी साठ वर्ष की जीवन-साधना में एकत्रित किये हैं, यह उचित ही था कि उन्हें साथ ले जाने की अपेक्षा परिजनों के सामने खोलकर रख दिया जाए । हमने अपना भरा हुआ मन खाली करना आरम्भ कर दिया है, ताकि संचय का यह अन्तरंग भार भी हल्का हो जाए । बाह्यजीवन के भार तो समय-समय पर हल्के करते रहे हैं । जो शेष हैं, वे अगले दिनों हल्के कर देंगे ।

हमारी बाह्यउपासना-पद्धति में गायत्री पुरश्चरणों की लम्बी शृंखला का प्राधान्य रहा है । कितने वर्षों तक, कितनी संख्या में, किस विधान में, किन नियम-संयमों के साथ उस उपासनाक्रम को चलाया जाता रहा, समयानुसार इसकी भी चर्चा करेंगे । इस समय तो तथ्य की उस आधारशिला पर ही प्रकाश डाल रहे हैं, जिसके बिना कोई पूजा-पद्धति सफल नहीं होती । अन्तःकरण की मूल स्थिति वह पृष्ठभूमि है, जिसको सही बनाकर ही कोई उपासना फलवती हो सकती है । उपासना बीज बोना और अन्तःभूमि की परिष्कृति, जमीन ठीक करना है । बीज बोने से फसल उगती है, यह बात सही है, पर यह और भी सही है कि अच्छी जमीन, जिसमें खाद, पानी, जुताई, गुड़ाई, निराई, रखवाली आदि की समुचित व्यवस्था की गई हो, किसी बीज को अंकुरित और फलित करने में समर्थ हो सकती है । इन दिनों लोग यही भूल करते हैं, वे उपासना-विधानों और कर्मकाण्डों को ही सब कुछ समझ लेते हैं और अपनी मनोभूमि परिष्कृत करने की ओर ध्यान नहीं देते ।

पथरीली, सूखी, खारी, ऊसर धरती में अच्छे बीज भी नहीं उगते । फिर विकृत मनोभूमि में कोई उपासना क्योंकर फलवती होगी ? यह सही नहीं कि केवल भजन मात्र से मनोभूमि शुद्ध हो जाती है । यदि यह मान्यता सही रही होती तो भारत के ५६ लाख सन्त-महन्त आज प्राचीनकाल के सात ऋषियों की तुलना में ८ लाख गुना प्रकाश उत्पन्न कर सकने में समर्थ हो गये होते । देखा यह जाता है कि बहुत भजन करने पर भी वे सामान्य किसान, मजदूर की तुलना में भी आत्मिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं । इन उदाहरणों को देखते हुए यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उपासना का प्रतिफल तभी मिल सकता है, जब मनोभूमि का विकास तदनुरूप हो । रामकृष्ण परमहंस को काली की प्रतिमा अपने अस्तित्व का पग-पग पर परिचय देती थी, पर उसी मन्दिर के अन्य पुजारी जो दिन-रात सेवा-पूजा में लगे रहते थे, कुछ भी अनुभव नहीं पाते । मीरा के 'गिरधर गोपाल' उनके साथ नाचते थे, पर यह प्रतिमा आज भी उसी तरह विद्यमान होने पर भी कोई अलौकिकता प्रकट नहीं करती । उसमें महत्त्व प्रतिमा या उपासना का नहीं, गरिमा साधक की मनोभूमि की है । सो लोग उसी की उपेक्षा कर बैठे, फिर शास्त्रोक्त परिणाम कैसे मिलें ?

हमारी गायत्री उपासना जिस सीमा तक सफल हो सकी, उसमें प्रधान कारण यही था कि अपने मार्गदर्शक ने गायत्री पुरश्चरणों का विधान बताने और आरम्भ कराने से पूर्व मनोभूमि के परिष्कार की बात बहुत जोर देकर समझाई और कहा-उपासना विधान में रही त्रुटियों से बहुत कुछ बिगड़ने वाला नहीं है, पर यदि भावनात्मक स्तर को ऊँचा न उठाया गया तो सारा श्रम निष्फल चला जाएगा । गन्दी और संकीर्ण मनोभूमि वाले साधक बहुत हाथ-पैर पीटते रहने पर भी खाली हाथ रहते हैं और असफलता ही पाते हैं, किन्तु जो अन्तःकरण को परिष्कृत करते चलते हैं, उनकी साधना लहलहाती फसल की तरह उगती, बढ़ती और फलवती होती है, इसलिए हमें इस ओर पूरी सतर्कता और अभिरुचि के साथ प्रयत्नशील रहना होगा । वैसा ही हमने किया भी ।

मनोभूमि के परिष्कार में जो सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है, वह है अन्तःकरण में धर्म-तत्त्व का अभिवर्द्धन । उपनिषदकार ने ईश्वर के भावनात्मक स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है-''रसो वै सः'' अर्थात्- प्रेम ही परमात्मा है । किसी व्यक्ति के कलेवर में परमात्मा ने कितने अंश में प्रवेश किया, उसकी परख करनी हो तो यह देखना होगा कि उसके अन्तःकरण में प्रेम-भावनाओं की उपस्थिति कितनी मात्रा में है । थर्मामीटर से बुखार नापा जाता है और आत्मा का विकास प्रेमतत्त्व की मात्रा के अनुरूप समझा जाता है । जिसमें प्रेम-भावना नहीं, वह न तो आस्तिक है और न ईश्वरभक्त, न भजन जानता है, न पूजन । निष्ठुर, नीरस, सूखे, तीखे, स्वार्थी, संकीर्ण, कड़ुए, कर्कश, निन्दक, निर्दय प्रकृति के मनुष्यों को आत्मिक दृष्टि से नास्तिक एवं अनात्मवादी ही कहा जाएगा, भले ही वे घण्टों पूजा-पाठ करते हों अथवा व्रत-उपासना, स्नान-ध्यान, तीर्थ-पूजन, कथा-कीर्तन करने में घण्टों लगाते रहे हों ।

अपने हाथ सही सिद्धान्त, सही मार्ग और सही प्रकाश आरम्भ से ही लग गया । मार्गदर्शक ने पहले ही दिन सब कुछ बता दिया । उन्होंने अहैतुकी कृपा करके सूक्ष्म शरीर में पधार कर अनुग्रह किया और १५ वर्ष की आयु में ही उस मार्ग पर लगा दिया, जिस पर चलने से ही आत्म-बल बढ़ता है और उस उपलब्धि के आधार पर ही जीवनलक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक प्रकाश मिलता है । बताया और सिखाया यह गया है कि प्रेम-भावना के जितने बीजांकुर अन्तःकरण में विद्यमान हैं, उन्हें यत्नपूर्वक सँभालना, सींचना चाहिए । सांसारिक दृष्टि से घाटा दीखता हो तो भी इस भाव-सम्पदा को बढ़ाते चलना चाहिए ।

किसान बीज बोते समय खोता ही तो है, पर अन्त में उसका यह विवेकपूर्ण त्याग और साहस उसे घाटे में नहीं रहने देता । बीज की तुलना में बहुत गुनी उपलब्धि उसे बढ़िया फसल के रूप में समयानुसार मिल जाती है । अध्यात्म के इस मूलतत्व को हमने समझा और अपनाया । अपनी जीवन-साधना की सफलता का जो भी आधार है, उनमें यही सर्वप्रथम और सर्वप्रधान है । प्रेम को हम परमेश्वर मानते हैं और उसकी उपासना-साधना में सतत

संलग्न रहने का प्रयत्न करते हैं । पूजा तो हमारी कुछ घण्टे की ही होती है, पर लगन सोते-जागते यही लगी रहती है कि प्रेम का अमृत चखाने और चखने का कोई अवसर हाथ से जाने न पाए । यही वह उपक्रम है जो क्रमशः हमें प्रगति-पथ पर एक सीमा तक बढ़ाते चलने में सफलता प्रदान कर सका ।

'विदाई की घड़ियाँ और हमारी विरह-वेदना' की जिस अभिव्यक्ति की चर्चा हुई है, उसका कारण और आधार समझ सकना उनके लिए कठिन है, जिनकी मनोभूमि सूखी और रूखी पड़ी है, उनके लिए यह एक मोहग्रस्त का प्रलाप-विलाप भी हो सकता है, पर वस्तुतः वैसी बात है नहीं । जब हम भौतिक दृष्टि से शरीर को भी अपना नहीं मानते, अपना बाह्य और अन्तरंग सर्वस्व उस समग्र सत्ता को सौंप चुके तो लोभ और मोह किसका ? जीवन का जब मृत्यु के साथ विवाह कर दिया तो विदाई और बिना विदाई में अन्तर क्या ? भौतिक और लौकिक पैमाने के ओछे गज से नापा जाए तो हमारी इन दिनों की व्यथा-वेदना अज्ञानी, मोह-ग्रस्तों जैसी लगेगी, पर उस उच्च भूमिका का अनुमान लगा सकना, किसी के लिए सम्भव हो तो वह यही अनुभव करेगा कि आराध्य का तनिक-सा विछोह प्रेम-तत्त्व के उपासक के लिए कितना तड़पन भरा होता है । इस रहस्य को समझने के लिए हमें मीरा का अध्ययन करना पड़ेगा ।

प्रेम के साथ अनन्य आत्मीयता की जो तड़पन जुड़ी होती है, वह देखने में घायल दर्द जैसी लगती है, पर उसमें भी उसे एक ऐसा रस आता है, जो और भी अधिक निखार लाता चला जाता है ।

**घायल की गति घायल जाने, जो कोई घायल होइ ।**
**दरद दिवानी मीरा डोले म्हारो दरद न जाने कोइ ।**

यह हर प्रेमी की मनोदशा होती है । लगती तो यह बेचैनी और अशान्ति है, पर वस्तुतः उसी प्रसवपीड़ा में उदात्त अन्तःकरण का प्रजनन होता है । सारा भक्ति साहित्य इसी रहस्य और मर्म से भरा पड़ा है ।

यदि हमारी गायत्री उपासना के बाह्य कलेवर को हटाकर उसके अन्तरंग को देखा-जाना जाए तो उसके गहन गह्वर में प्रेम-तत्त्व की साधना का विशाल विस्तार परिलक्षित होगा । मातृत्व की साकार प्रतिमूर्ति को हमने गायत्री माता के रूप में देखा और उसे वैसा ही प्यार किया जैसा एक छोटा बालक अपनी सगी माता को कर सकता है । लोग सिरफोड़ी करते रहते हैं कि गायत्री साकार नहीं निराकार है । हम इस बहस में नहीं पड़ते कि वह क्या है ? वस्तुतः वह सब कुछ है-जो सब कुछ है वह क्या नहीं है ? जो सब कुछ है उसे किसी आकृति में देखने से क्या हर्ज ? निराकार नहीं है, हम यह कब कहते हैं; पर उसे साकार मानना भी अनुपयुक्त नहीं है । बिजली निराकार है, पर वह बल्ब के भीतर साकार भी देखी जा सकती है । माता की साकार छवि को हमने अपनी प्रेमभावना के विकास में एक महत्त्वपूर्ण माध्यम माना और उसकी प्रतिक्रिया एवं प्रतिध्वनि के रूप में अविरल वात्सल्य का दैवी अनुदान निरन्तर पाया ।

परमात्मा का प्रेम अपने विकसित स्वरूप में एक कदम आगे बढ़ते हुए गुरु-भक्ति के रूप में फलित हो सका । भगवान की साकार-निराकार प्रतिमा तो हमें कल्पना-स्तर में अपनी बनानी पड़ती है, पर सतोगुण, आत्म-बल और दैवी तत्त्व से भरे-पूरे महामानव की प्रतिमा तो हमें गढ़ी-बनी, हँसती-बोलती, चलती-फिरती साक्षात मिल गई । प्रेम-साधना के लिए यह और भी सरल माध्यम दीखा । सो हमने अपने मार्गदर्शक पर उतनी ही निष्ठा आरोपित की, जितनी परमेश्वर पर की जा सकती है । एक बार जाँच-परखकर, सोच-समझ लेना भी आवश्यक था, सो यथामति कर लिया । पूरी परख तो हो भी नहीं सकती, पूर्णता प्राप्त तो कोई शरीरधारी है भी नहीं, फिर सतर्क, चतुर और अविनाशी भी तो आये दिन धोखा खाते रहते हैं ।

यदि एक महान प्रयोग में कहीं कुछ गड़बड़ी भी मिली तो अपना सहज विश्वास और निर्मल प्रेम अपने लिए तो उज्ज्वल परिणाम ही उत्पन्न करेगा । जिस पर प्रेम रोपा गया, यदि वह गड़बड़ होगा तो उसकी गड़बड़ी उसी के लिए वापस चली जाएगी । अपनी श्रद्धा अपने साथ सत्परिणाम लेकर लौटेगी, इसलिए यह मान लिया गया कि अपने को कोई जोखिम नहीं है । जीविका सांसारिक घाटे की रहती है, तो अध्यात्म मार्ग के पथिक को उसे आरम्भ में ही शिरोधार्य करना पड़ता है । निश्चय ही यह मुनाफा कमाने का व्यापार नहीं है । सांसारिक दृष्टि से हर अध्यात्मवादी को घाटे के बजट बनाने पड़ते हैं, तभी उसकी आत्मिक प्रगति के साधन-सरंजाम जुटते हैं । जो सांसारिक लाभ के लिए अध्यात्म मार्ग में प्रवेश करता है, उसे निराश ही होना पड़ता है । दोनों परस्पर विरोधी दिशाएँ हैं, एक को खोकर दूसरी पाई जा सकती है । यह ज्ञान पहले से रहने के कारण कभी मन में यह आशंका नहीं उठी कि गुरुदेव का बताया कोई मार्ग अपने लिए भौतिक हानि का तो नहीं होगा । जहाँ विश्वास वहाँ प्रेम, जहाँ प्रेम वहाँ विश्वास । बाजीगर के हाथ में अपने तार बँधाकर पुतली बहुत कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करने का आनन्द लेती रहती है । गुरुदेव को आत्म-समर्पण करके हमने खोया क्या ? खोने को था भी क्या ? केवल पाना ही था, सो पाया भी, पाते चले ही आ रहे हैं और आगे तो और भी अधिक पाना है ।

अपने मार्गदर्शक के प्रति हमारी प्रेम-साधना को यदि सांसारिक रिश्तों से तौला जाए, तो उसकी उपमा पतिव्रता स्त्री के अनन्य पतिप्रेम से दी जा सकती है । उनकी प्रसन्नता अपनी प्रसन्नता है, उनकी इच्छा अपनी इच्छा । अपने व्यक्तित्व के लिए कभी कुछ चाहने-माँगने की कल्पना तक नहीं उठी । केवल इतना ही सोचते रहे, अपने पास जो कुछ है, अपने से जो भी सम्पदाएँ, विभूतियाँ जुड़ी हुई हैं, वे सभी इस आराध्य के चरणों में समर्पित हो जाएँ, उनके व्यक्तित्व में घुल जाएँ, उनके प्रयोजनों में खप जाएँ, ऐसे अवसर जब भी, जितने भी आये, हमारे संतोष और उल्लास की मात्रा उतनी ही बढ़ी । यह गुरु-भक्ति हमारे लिए कितने बड़े वरदान और उपहार लेकर वापस लौटती

रही है, इसकी चर्चा इस समय अप्रासंगिक ही रहेगी। दूसरे क्षुद्र लोगों की तरह हमने भी गुरु-शिष्य का ढोंग बनाकर कामनापूर्ति की माँग पर माँग रखी होती और प्रेम को लाभदायक धन्धे के रूप में मछली पकड़ने का जाल बनाया होता तो निराशा और शिकायतों से भरा मस्तिष्क लेकर ही खाली हाथ लौटना पड़ता। दिव्य-तत्त्व में आखिर इतनी अक्ल तो होती है कि मनुष्य की स्वार्थपरता और प्रेम-भावना की वस्तुस्थिति का अन्तर समझ सकें। दण्डवत प्रणाम और आरती-स्तवन से नहीं वहाँ तो केवल वस्तुस्थिति ही प्रभावी सिद्ध होती है। गुरुदेव पर आरोपित हमारी प्रेम-साधना प्रकारान्तर से चमत्कारी वरदान बनकर ही वापस लौटी है, लौटती रहेगी।

हमारी प्रेमसाधना की तीसरा धारा-प्रवाह 'परिवार' की ओर है। यों कहने-सुनने में परिवार एक संकीर्णता ही लगता है। परिवार से, गायत्री परिवार या युग-निर्माण परिवार से ही मोह क्यों? सारे संसार से क्यों नहीं? इस सन्देह का समाधान जानने के लिए हमें व्यावहारिकता की भूमिका में उतरना होगा। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड को सिद्धान्तत: भगवान का विराट रूप माना जाता है। विश्व की, प्राणिमात्र की, जड़-चेतन की सेवा ही भगवान की सेवा है। इसे सिद्धान्त के रूप में ही सही माना जा सकता है, व्यवहार में उसकी कोई प्रतिक्रिया बनती नहीं। समस्त ब्रह्माण्ड में भगवान व्याप्त है, पर उनके साथ सम्पर्क नहीं बन सकता। सम्पर्क हम केवल पृथ्वी भर तक रख सकते हैं। हमारी पहुँच इससे आगे नहीं है।

समस्त जड़-चेतन में भगवान है, पर समुद्रतल या भू-गर्भ में हमारी पहुँच से बाहर पदार्थों के साथ हमारा व्यावहारिक सम्पर्क कैसे जुड़े? इसी प्रकार समस्त प्राणियों को भगवान का स्वरूप मानकर भी हम उन प्राणियों के समीप नहीं जा सकते, जो हमारी पहुँच से बहुत दूर जल-थल या आकाश में विचरण करते रहते हैं। मछलियों की, मच्छर-मक्खियों की, कीट-पतंगों की सेवा करना भी सिद्धान्तत: ठीक है, पर व्यवहार में मनुष्य ही उस क्षेत्र में आता है, क्योंकि उसकी स्थिति से अपनी स्थिति मिलती है। मनुष्यों में भी हम बहुत दूर के निवासी, अन्य भाषा बोलने वाले या अन्य मनोभूमि के लोगों के साथ सम्पर्क बनाने में असमर्थ हैं। समीपवर्ती, समान स्थिति के लोगों से सम्बन्ध साधकर ही हम विश्वमानव की, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को चरितार्थ कर सकते हैं। व्यवहार में इतना ही यह महान सिद्धान्त प्रयुक्त हो सकता है। इसलिए विश्व-भक्ति का ही व्यावहारिक स्वरूप देश-भक्ति मानी गई है। प्राणी-मात्र की सेवा का आदर्श मानव-सेवा में ही चरितार्थ होता है। जिस प्रकार भगवत प्रेम को इष्टदेव के एक सीमित विग्रह में सीमाबद्ध कर ध्यान करना पड़ता है, उसी प्रकार विराट ब्रह्म की सेवा-साधना भी मानव-समाज के उस वर्ग में करनी पड़ती है, जिस तक कि अपनी पहुँच हो।

हमारी पहुँच जितने व्यापक क्षेत्र में होती चली जा रही है, उसी अनुपात से हमारी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की वृत्ति को चरितार्थ करने का विस्तार बढ़ता जाता है। इस सम्पर्क क्षेत्र को हम अपना परिवार कहते हैं और उन्हीं की सेवा-सहायता, ममता-आत्मीयता का ध्यान रखते हैं। जो हमें नहीं जानते, जिन्हें हम नहीं जानते, जिनकी पहुँच हम तक नहीं, जिन तक हम नहीं पहुँच सकते, उनके साथ प्रबल इच्छा होते हुए भी हम सम्पर्क नहीं साध सकते और उनकी प्रत्यक्ष सेवा करने का मार्ग नहीं निकाल सकते, परोक्ष सेवा की बात अलग है, वह तो अपनी सेवा करने से भी विश्व की सेवा हो जाती है और भावना से भी सबके कल्याण का चिन्तन किया जा सकता है। सो हम भी करते हैं, पर व्यावहारिक सेवा के लिए हर किसी का एक सीमित क्षेत्र ही है, सो ही हमारा भी है।

अपने परिवार की बात जब हम कहते हैं तो उनका आदर्श वसुधैव कुटुम्बकम् होते हुए भी व्यवहार उन तक सीमित रह जाता है जिन तक हमारा सम्पर्क क्षेत्र है। प्रेम के लिए परिचय आवश्यक है। अपरिचित से प्रीति कैसे हो? हमारे विश्व-प्रेम एवं भगवत-प्रेम का विस्तार भी इसी क्रम से चल रहा है। गायत्री परिवार और युग-निर्माण परिवार के सदस्य चूँकि हमारे परिचय क्षेत्र की परिधि में आते हैं, अतएव हम अपनी सीमा के अनुरूप उन्हें माध्यम मानकर प्रेम-साधना का क्षेत्र क्रमश: बनाते और बढ़ाते चले जा रहे हैं। यह क्षेत्र जैसे-जैसे बढ़ेगा, हमारी प्रेम साधना का, विश्व-मानव की, विराट ब्रह्म की आराधना का व्यावहारिक अवसर ही अधिक व्यापकता के साथ उपलब्ध होने लगेगा।

अन्त:करण में से उद्भूत प्रेम-तत्त्व जिन तीन दिशाओं में, तीन धाराओं में प्रवाहित हुआ है, वह त्रिविधि धारा शोक-सन्तापों को भी ढलती है। परमात्मा से प्रेम करना अपनी आत्मा को प्यार करना है। अपने को प्यार करना अर्थात् जीवन-लक्ष्य को, आत्म-कल्याण को सर्वोपरि महत्त्व देना। इस स्तर की निष्ठा निरन्तर यही प्रेरणा करती है कि शरीर-सुख और मन की ललक के लिए कोई ऐसा काम न किया जाए, जो आत्म-लक्ष्य की प्रगति में अवरोध उत्पन्न करे। वासना और तृष्णा की तुच्छता समझ में आ जाने से आत्मा को प्रेम करने वाला संयम, सदाचरण का समुचित ध्यान रखे रहता है और उन कषाय-कल्मषों के भार से बच जाता है, जो प्राणी को पतन के गर्त में निरन्तर घसीटती रहती है।

मन उन तथ्यों को सोचने और उन कार्यों को करने में लगता है, जो उत्कर्ष की भूमिका बना सकें। शरीर एवं मन को गौण और आत्मा को प्रमुख स्थान जब मिलने लगा तो उत्कृष्टता और आदर्शवादिता की नीति ही कार्यान्वित होती है और भौतिक प्रलोभनों का आकर्षण अत्यन्त ही तुच्छ, हेय एवं छिछोरा प्रतीत होता है। आत्मा से प्रेम करना ही परमात्म-प्रेम का आधार है। इस श्रेय-पथ पर जब कदम बढ़ चलें तब वे लक्ष्यपूर्ति की मंजिल पर पहुँचकर ही रुकते हैं।

विश्व की समस्त शक्तियों का भाण्डागार परमात्मा है, उसके साथ आत्मा को जोड़ देने का अर्थ है-परमात्मा के

शक्तिप्रवाह को आत्मा में भरने लगने का आधार विनिर्मित कर देना । बिजलीघर में विनिर्मित शक्ति-पुञ्ज के साथ जब हमारे घर की बत्तियों का सम्बन्ध एक पतले तार के माध्यम से जुड़ जाता है, तो बटन दबाते ही सारी बत्तियाँ जगमगाने लगती हैं । एक खाली नीचे गड्ढे को ऊँचाई पर अवस्थित भरे-पूरे तालाब के साथ पतली नाली के द्वारा सम्बन्धित करते हैं, तो तालाब का पानी गड्ढे में चलने लगता है और कुछ ही समय में गड्ढा उतनी ही ऊँचाई तक पानी से भर जाता है, जितना कि तालाब था । यही उदाहरण तब चरितार्थ होता है, जब आत्मा का सम्बन्ध-समागम परमात्मा के साथ जुड़ जाता है । कहना न होगा कि इस सम्बन्ध-सूत्र को प्रेम-तत्त्व द्वारा ही जोड़ा जा सकता है ।

उपासना की सफलता तभी सम्भव है, जब इष्टदेव के साथ प्रेमभाव की भी चरम परिणति होती हो । केवल शारीरिक क्रिया की तरह मशीन जैसे कर्मकाण्ड कुछ बहुत फल नहीं दे सकते । परमात्मा प्रेममय है और वह प्रेम से ही प्रभावित होता है । कर्मकाण्ड तो उस प्रेम को बढ़ाने, उगाने के साधन भर का काम करते हैं । हमने उपासना के नियमोपनियम और विधि-विधानों पर समुचित ध्यान दिया है, साथ ही अन्तःचेतना को भावभरी बनाये रखा है और निरन्तर यही भावना बनाये रहे हैं कि प्राणप्रिय इष्टदेव के साथ भाव-भरी तन्मयता अनवरत रूप में बनी रहे । उनका प्रकाश अपने रोम-रोम में प्रवेश कर वह प्रेरणा दे, जिससे मानव-लक्ष्य की पूर्ति सम्भव हो सके ।

आत्मा और परमात्मा से सच्चे प्रेम की प्रथम धारा सदाचरण, संयम, उत्कृष्टता, आदर्शवादिता, उदारता, सहृदयता, सज्जनता जैसी सत्प्रवृत्तियों को उगाने और बढ़ाने में जादू जैसा कार्य करती है और कितनी आध्यात्मिक विशेषताओं का उदय एवं अभिवर्द्धन सहज ही दृष्टिगोचर होता चला जाता है । यह सत्प्रवृत्तियाँ ही हैं, जो आवश्यकता के समय ऋद्धि-सिद्धियों के रूप में प्रयुक्त की जा सकती हैं । दुष्ट-दुर्बुद्धि और दुष्प्रवृत्तियाँ न कभी रही हैं, न आगे रह सकती हैं ।

हमारे प्रेम की दूसरी धारा अपने मार्गदर्शक गुरुदेव के चरणों में निरन्तर प्रवाहित रही है । श्रद्धा और विश्वास का विकास करने के लिए आरम्भ में किसी सजीव देहधारी जैसे महामानव की सहायता अपेक्षित होती है, जिसमें देवत्व की समुचित मात्रा विद्यमान हो । मनोभूमि को परिपुष्ट करने वाले श्रद्धा, विश्वास के दोनों तत्त्वों को गुरु-भाव ही विकसित करता है । एकलव्य को द्रोणाचार्य की मिट्टी की प्रतिमा बनाकर अपनी श्रद्धा को परिपक्व करते हुए शक्ति उपलब्ध करने का साधन बनाना पड़ा था । हमें संयोगवश एक दिव्य तेजपुंज सत्ता का सहारा मिल गया, तो उससे लाभ उठाने का लोभ संवरण कैसे किया जाता ? उनकी अहैतुकी कृपा से हमारा रोम-रोम कृतज्ञता से भर गया और अपने को एक अधिकारी शिष्य सिद्ध करने की तीव्र उत्कण्ठा जग पड़ी । अपना मन उनके मन के साथ जोड़ दिया और अपना शरीर उनके आदेशों के अनुरूप गति-विधियाँ अपनाने के लिए प्रस्तुत कर दिया । सांसारिक सम्पदाएँ नगण्य थीं । जो थीं उनकी राई-रत्ती उसी प्रयोजन में होम दीं, जो उन्हें प्रिय था । सच्चे शिष्य अपनी पात्रता उसी प्रकार के समर्पण से सिद्ध करते रहे हैं । गुरुतत्त्व को द्रवीभूत और वशीभूत कर लेने की शक्ति किसी शिष्य को ऐसे ही समर्पण से मिलती है । अध्यात्म मार्ग के पथिकों की इस सनातन परम्परा को हमने अपनाया । फलतः वह सब कुछ मिलता रहा जो हमारे पात्रत्व के अनुरूप था । गुरुदेव की असीम और अलौकिक कृपा हमने पाई है, पर इसे कोई संयोग न माना जाए । उस अनुग्रह को हमने 'अपनापन' देकर ही खरीदा है । दूसरे धूर्तों की तरह अपने भौतिक सुखों की रट लगाकर दण्डवत करते रहते तो हमारी तुच्छता उन्हें कहाँ द्रवीभूत कर पाती और उनका समुद्र जैसा वात्सल्य और आकाश जैसा अनुदान कदापि उपलब्ध न हो सका होता ।

रामकृष्ण परमहंस ने जिस प्रकार विवेकानन्द का और समर्थगुरु रामदास ने जैसे अपनी शक्ति शिवाजी को हस्तान्तरित की थी, वैसी ही कृपा-किरण अपने को भी मिली । यह कृपा किसी वस्तु या सुविधा के रूप में नहीं धैर्य, पुरुषार्थ, श्रद्धा, विश्वास, ब्रह्मवर्चस, तप प्रवृत्ति उदारता, सहृदयता के रूप में ही उपलब्ध हुई । उन विभूतियों ने व्यक्तित्व को निखारा । निखरा व्यक्तित्व अनायास ही आवश्यक साधन-सुविधा एवं सहायता दबोच लेता है । वैसे ही अवसर हमें भी मिलते रहे । अपार जन-सहयोग और सम्मान का अधिकारी कोई व्यक्ति तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसमें उपर्युक्त सत्प्रवृत्तियाँ न हों । गुरु-अनुग्रह से अन्तरंग में जिन सद्भावनाओं का उदय हुआ, वे ही हमारे द्वारा सम्पन्न हो सकने वाले कार्यों की अदृश्य आधारशिलाएँ हैं । प्रेम की दूसरी धारा गुरुचरणों पर बहाई और उसकी प्रतिकृति ने हमें धन्य बना दिया ।

प्रेम की तीसरी धारा परिवार क्षेत्र में प्रवाहित होती रही । पत्नी को उसने अपने रंग में रँग दिया और वह अनन्य अनुचरी की तरह हमारी छाया बनी फिरती रहीं । घर-परिवार में जो सौजन्य-सौमनस्य का वातावरण है, उससे हमें परम सन्तोष है । इससे सुदृढ़ अपना गायत्री परिवार और युग-निर्माण परिवार है, जिसमें ५० लाख से ऊपर जन-समूह एक सूत्र-शृंखला में आबद्ध है । इस विशाल जन-समूह को जिस सूत्र से मजबूती से जकड़कर बाँध रखा गया है, वह है हमारी गहन आत्मीयता, अजस्र क्षमता, प्रगाढ़ सद्भावना और कौटुम्बिक घनिष्ठता । इसी आधार पर इतने लोगों की शुभेच्छाएँ सम्पादित की हैं । उनके जीवनक्रमों में ऐसे परिवर्तन किये हैं, जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था । परिवार के आधे से अधिक सदस्य अपना आन्तरिक काया-कल्प हुआ अनुभव करते हैं ।

उपासना एवं साधना के शुष्क एवं नव-निर्माण के कठिन -कष्टकर कार्यों में इतना विशाल जनसमूह लगा

हुआ है, उसके पीछे शिक्षा, उपदेश या लेख, प्रवचन ही काम नहीं कर रहे हैं, असली शक्ति प्रेम-सम्बन्धों की है, जिसके दबाव से अनिच्छा और असुविधा के होते हुए लोगों को उस दिशा में सोचना पड़ता है, जो हमें अभीष्ट है । इस प्रयोग में लोगों का जीवन सुधरा है, समाज का हित हुआ है और हमें सम्मान, सद्भाव मिला है । परिवार को प्रेम देकर, उनके दु:ख-दर्द में हिस्सा बँटाकर जितना दिया है, उससे असंख्य गुना पाया है । नये युग का नया निर्माण कर सकने जैसा साहस और विश्वास जिस आधार पर किया जा सका वह केवल लक्ष-लक्ष परिजनों की अनन्य आत्मीयता, श्रद्धा और सद्भावना ही है । इसे हम अपने जीवन की अनमोल उपलब्धि मानते हैं ।

प्रेम-साधना के त्रिविध परिच्छेदों में हमें पग-पग पर सद्गुणों और सद्भावनाओं की ये विभूतियाँ मिलती चली गई हैं, जिन्होंने जीवन की हर उपलब्धि और सफलता को सम्भव कर दिखाया । हमारी उपासना-पद्धति के अन्तराल में सन्निहित यह प्रेमसाधना ही थी, जो सामान्य को असामान्य में, तुच्छता को महानता में परिणत करने का चमत्कार दिखा सकी ।

विदा होते समय जो ऐंठन अन्तरंग में होती है, वह मोह-ममता, कायरता या विवशताजन्य नहीं, चिरसंचित उच्च प्रेम-साधना की सहज परिणति है, जिसे हमने अपने परिवार के लिए कलेजे की गहराई में उगाया और बढ़ाया है । प्रेम का उपहार कसक ही है, उससे हमें ही वंचित क्यों रहना पड़ता ?

## विरह-वेदना के पीछे झलकता दिव्य आनन्द

मनुष्य अपने आप में परिपूर्ण प्राणी है । उसके भीतर ईश्वर की सभी शक्तियाँ बीज रूप से विद्यमान हैं । साधना का तात्पर्य उन बीज तत्त्वों को प्रसुप्त स्थिति से जाग्रत कर सक्रिय एवं समर्थ बनाना है । श्रम और संयम से शरीर, स्वाध्याय और विवेक से मन तथा प्रेम और सेवा से अन्त:करण का विकास होता है । जीवन-साधना के यह छह आधार ही व्यक्तित्व के उत्कर्ष में सहायक होते हैं । जिस प्रकार काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर यह छह शत्रु माने गये हैं, उसी प्रकार अन्तरंग में अवस्थित यह छह मित्र भी ऐसे हैं कि यदि मनुष्य इनका समर्थन प्राप्त कर सके तो अपनी समस्त तुच्छताओं पर विजय प्राप्त कर जीवन लक्ष्य की प्राप्ति में निश्चित रूप से सफलता प्राप्त कर सकता है ।

उपासना की दृष्टि से शरीर-क्षेत्र में जप, पूजन, व्रत, यात्रा, संयम, सदाचरण, दान, पुण्य, तप-साधना आदि कर्मकाण्डों का और मन:क्षेत्र में ध्यान, चिन्तन, स्वाध्याय, सत्संग आदि का और अन्त:करण क्षेत्र में भावतन्मयता, दृष्टि-परिष्कार, समर्पण, समाधि, लय, वैराग्य आदि निष्ठाओं का अपना महत्त्व है । इन प्रकरणों को भी विधि-विधानपूर्वक अनुभवी मार्ग-दर्शन में अग्रसर किया जाना चाहिए । आत्मिक प्रगति के लिए इनकी भी आवश्यकता है और उनके लिए समुचित प्रयत्न-परिश्रम की भी, किन्तु यह नहीं मान बैठना चाहिए कि उपासना-पद्धतियों का अवलम्बन ही आत्म-कल्याण एवं देव-अनुग्रह प्राप्त कर लेने के लिए पर्याप्त है । तथ्य यह है कि उपासना के साथ साधना जुड़ी हुई होनी चाहिए । उपासना शरीर है और साधना प्राण । दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं । बिजली के दो तारों के मिलने पर क्रिया उत्पन्न होती है, दोनों पहिये ठीक होने पर ही गाड़ी चलती है । इसी प्रकार आत्मिक प्रगति के लिए जीवन के तीनों स्तर स्थूल, सूक्ष्म और कारण-देह, मन और आत्मा-तब विकसित होते हैं, जब उपासना और साधना की द्विविध तपश्चर्या पर समुचित ध्यान दिया जाए ।

उपर्युक्त पंक्तियों को हमारे आध्यात्मिक क्रिया-कलाप का आधार और इस क्षेत्र में उपलब्ध अनुभवों का सार कह सकते हैं । दूसरे लोग हैं, जिन्हें छिछोरे मार्गदर्शन में एकांगी, सस्ती और सरल उपासना-पद्धतियों के छुट-पुट प्रयोग बनाकर लम्बे-चौड़े आश्वासन दिए और उन उथले प्रयत्नों से ऋद्धि-सिद्धियाँ मिलने एवं मनोकामनाएँ पूरी होने के सब्जबाग दिखाये । लोग उस मार्ग पर चले, पर मिला कुछ नहीं, इसलिए उदास मन से उन सस्ते कर्म-काण्डों को भी छोड़ बैठे जो अतिशय सरल थे । अनास्था इसी प्रकार बढ़ी है । छिछोरे मार्ग-दर्शकों ने समझा होगा कि नकली वस्तुएँ सस्ती होने के कारण, महँगी असली वस्तुओं की अपेक्षा भोली भीड़ को अधिक आकर्षित करती हैं, इसलिए क्यों न आत्मिक क्षेत्र में भी उसी प्रयोग को अपनाया जाए ? शायद यही उन्हें ठीक जँचा होगा और इसीलिए छुट-पुट पद्धतियों के माहात्म्य, आकाश-पाताल जितने लिखने और कहने प्रारम्भ किये होंगे । भोले जिज्ञासु उधर ललचाये भी बहुत, इतने कि असली बेचने वालों की दुकानें सूनी पड़ी रहीं । फिर भी नतीजा कुछ नहीं निकला । शीघ्र और सस्ते मूल्य पर कीमती वस्तुएँ प्राप्त करने का सिद्धान्त गलत है । हर वस्तु अपना मूल्य माँगती है । एम. ए. की पढ़ाई पूरी करने के लिए कठोर परिश्रम के साथ १६ वर्ष ही लगेंगे । आम का बाग ४ वर्ष में ही फल देगा और पानी, खाद, गुड़ाई-निराई की रखवाली की अपेक्षा रखेगा । असली हीरा दस पैसे का नहीं मिल सकता, नोटों से भरी जेब खाली करने पर ही मन-पसन्द वस्तु प्राप्त की जा सकती है । फिर अध्यात्म क्षेत्र में ही शीघ्र व सस्ती का प्रयोजन पूरा कैसे होता ? छुट-पुट मन्त्र-तन्त्र करके आत्मिक-प्रगति की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकना असम्भव है, इसके लिए आत्म-विज्ञान की सांगोपांग प्रक्रिया को ही धैर्य और साहस के साथ अपनाना पड़ता है और समुद्र-मन्थन करके अभीष्ट सिद्धियों के रत्न-उपहार प्राप्त करने होते हैं ।

सौभाग्य से हमें आरम्भ में ही सही रास्ता मिल गया और इन जाल-जंजालों में नहीं भटकना पड़ा, जिसमें चलने वाले दूसरे उतावली कल्पनाओं में भ्रमाये हुए लोग

विवश होकर लौटते हैं । हमारा हर कदम, हर दिन सफलता का क्रमिक सन्देश लेकर सामने आता रहा है और यह विश्वास दिलाता रहा है कि मंजिल कितनी ही लम्बी क्यों न हो, प्रगति कितनी ही मन्द क्यों न हो, रास्ता यही सही है और इसी प्रकार आगे बढ़ते चलने पर देर-सबेर में अभीष्ट सफलता मिल जाएगी ।

हमारे मार्ग-दर्शक ने यह बात आरम्भ में ही कूट-कूट कर अन्तरंग में बिठा दी थी कि उपासना आवश्यक है, उसे पूरी तत्परता के साथ अपनाया जाए, किन्तु यह भली-भाँति समझ लिया जाए कि इस क्षेत्र की सफलताओं का स्रोत भावनात्मक विकास की जीवन-साधना पर ही अवलम्बित है । यदि साधना की उपेक्षा की गई और पूजा-पद्धति के सहारे ही लम्बे-चौड़े सपने देखे गये तो अन्य असंख्य जाल-जंजालों में भटकने वालों की तरह हमें भी खाली हाथ रहना पड़ेगा । हमने इस शिक्षा को गाँठ में बाँध लिया और जिस दिन से उस क्षेत्र में प्रवेश किया, दोनों ही प्रक्रियाओं पर समान रूप से ध्यान दिया । चिकित्सा और पथ्य रोगी के लिए, खाद और पानी पौधे के लिए, पढ़ना और लिखना छात्र के लिए, पूँजी और बुद्धि व्यापार के लिए आवश्यक हैं, उसी प्रकार आत्मिक-प्रगति के लिए उपासना और साधना का जोड़ा अविच्छिन्न रूप से आवश्यक है । इसमें न तो ढील की गुंजाइश है, न उपेक्षा की । शास्त्रकारों से लेकर तपोनिष्ठ ऋषियों तक सफल आराधकों ने सदा इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है । सस्ते बेचने वाले कुंजड़े केवल ग्राहकों को ही भ्रम में डाल सकते हैं, पर आवश्यकता किसी की पूरी नहीं करा सकते । धन्यवाद है भगवान का, जिसने हमें एक घण्टे में ईश्वर-दर्शन कराने वाले और चेला मूँड़ने वाले, जादुई मन्त्र बताने वाले करामाती जंजालियों के चंगुल में फँसने से बचा लिया । धन्यवाद है भगवान का, जिसने हमें अपने पुरुषार्थ से आत्म-निर्माण करने का राजमार्ग बताया और परावलम्बन की प्रचलित पाखण्ड प्रक्रिया से दूर रहने का आदर्श बताया ।

उपासना क्षेत्र में गायत्री महामन्त्र की साधना अनन्य श्रद्धा और विश्वास के साथ करने की शिक्षा हमें मिली थी, उसमें लम्बे-चौड़े विधि-विधान जुड़े हुए नहीं हैं । कितने ही व्यक्ति विधि-विधानों के अन्तर और कर्मकाण्डों के जोड़-तोड़ से साधना की सफलता-असफलता का कारण मानते हैं और इस ढूँढ़-खोज में रहते हैं कि कोई रहस्यमय ऐसी पद्धति हाथ लग जाए, जिससे देखते-देखते जादुई चमत्कार का प्रतिफल सामने आ जाए । हमारी मान्यता वैसी नहीं रही । मंत्रशास्त्र का विशाल अध्ययन और अन्वेषण हमने किया है । महामांत्रिकों से हमारे सम्पर्क हैं और साधना-पद्धतियों के सूक्ष्म अन्तर, प्रत्यन्तरों को हम इतना अधिक जानते हैं, जितना वर्तमान पीढ़ी के मंत्रज्ञाताओं में से शायद ही कोई जानता हो । लोगों ने एकांगी पढ़ा-सीखा होता है । हमने शोध और जिज्ञासा की दृष्टि से इस विद्या को अतिविस्तार और अतिगहराई के साथ ढूँढ़ा-समझा है । इस जानकारी का भी महत्त्व हम मानते हैं और जहाँ उपयोगिता और आवश्यकता होती है, उसका प्रयोग भी करते-कराते हैं, पर हमारी अपनी क्रिया-पद्धति अतिसरल और सीधी-सादी है, यही सीधा-सा एक ॐ, तीन व्याहृति और २४ अक्षरों वाला वेदोक्त गायत्री मंत्र हमें मिला है और इसमें बिना अधिक ॐ, अधिक बीज, सम्पुट आदि की लाग-लपेट जोड़े जप-साधना में लग जाते हैं ।

शरीर और वस्त्रों की शुद्धि, पूजा-उपकरणों की स्वच्छता, शान्त और सौम्य वातावरण, प्रफुल्ल मन का ध्यान रखकर पूजा के लिए बैठा जाए, निर्धारित समय और नियत स्थान का ध्यान रखा जाए तो उपासना सरस बन जाती है । प्रातः २ बजे हम उठते हैं और शौच-स्नान के नित्यकर्म से निवृत्त होकर उपासनाकक्ष में चले जाते हैं । जब तक मथुरा रहते हैं, वही नियत स्थान है, जो इस घर में, जब से आये हैं, तब से नियत है । उपासना का समय तथा जप की संख्या भी निर्धारित है । यह तीनों नियमितताएँ साधक के अचेतन मन को इस बात के लिए प्रशिक्षित कर देती हैं कि यथासमय यथावत अपने काम पर लग जाएँ । अन्तर्मन की यह विशेषता है कि वह किसी प्रक्रिया को देर में पकड़ता है, पर जब एक बार पकड़ लेता है तो नियत समय पर उसी की माँग करता है और सरलतापूर्वक उसी में प्रवृत्त रहता है । शौच, भूख, प्यास, नींद आदि की आदतें नियत समय पर प्रबल होती हैं । कोई स्थान विशेष भी किसी के लिए ऐसा बन जाता है, जहाँ अमुक मानसिक प्रक्रिया स्वयमेव गतिशील होने लगे । लेखकों, कवियों आदि को किसी नियत स्थान पर, नियत समय पर अपना काम करना सरल होता है । अचेतन मन की इस विशेषता को ध्यान में रखकर हर साधक को अपनी उपासना का स्थान, समय और क्रम निर्धारित करना पड़ता है । आरम्भ में मन कुछ गड़बड़ करता है, पर पीछे जब अभ्यस्त हो जाता है, तब सारी प्रक्रिया बड़ी शान्ति और सुविधा से होने लगती है । हमने पुरश्चरण काल में तथा सामान्य समय में इन तीनों ही बातों का समुचित ध्यान रखा है, अतएव उसमें स्थिरता बनी रही । मन उचटने जैसी अड़चन नहीं आई । समय, स्थान और संख्या की समस्वरता का महत्त्व हम सभी को बताते रहते और जो उसे अपना लेते हैं, उन्हें मन उचटने की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता ।

शीघ्र उठना उनके लिए सम्भव है, जो शीघ्र सोते हैं । देर में सोने वाले शीघ्र नहीं उठ सकते । उपासना का सर्वश्रेष्ठ समय ब्रह्ममुहूर्त सूर्योदय से पूर्व का है । हम आमतौर से ८-८।। बजे तक सो जाते हैं । प्रायः ६ घण्टे में नींद पूरी हो जाती है और प्रातःकाल उठने में कठिनाई नहीं होती, स्वतः ही नींद खुल जाती है और अगला क्रम निर्धारित ढर्रे पर चलने लगता है । अपने उपासना-स्थल की एक विशेषता है, वह है वहाँ होते रहने वाला अखण्ड यज्ञ । गत ४२ वर्ष से हमारा अखण्ड घृतदीप जलता है

साथ ही अगरबत्तियों एवं धूपबत्तियों के रूप में हवन-सामग्री भी वहाँ यथाक्रम जलती रहती है । दीपक का घी और बत्तियों की सामग्री निरन्तर जलने से दोनों का सम्मिश्रित धूम्र, वर्चस, तेज तथा प्रभाव उपासनाकक्ष में यज्ञीय वातावरण उत्पन्न करता है । अतएव वह केवल अखण्ड दीपक मात्र ही नहीं रहता वरन् अखण्ड यज्ञ बन जाता है । इसे सँजोने, सँभालने में सतर्कता बहुत रखनी पड़ती है और व्यय भी काफी आता है, फिर भी इसका प्रतिफल बहुत है । लम्बी अवधि से इस कक्ष में होते रहने वाले जप पुरश्चरण के साथ अखण्ड यज्ञ को इस प्रक्रिया से वहाँ का वातावरण अलौकिक बना रहता है । वहाँ अनायास ही हमें अपनी मनोभूमि उच्चस्तरीय रखने और उस स्थिति के महत्त्वपूर्ण लाभ लेने में सुविधा मिलती है ।

हर किसी के लिए न तो अखण्ड घृतदीप सम्भव है और न ऐसा यज्ञीय वातावरण भरा कक्ष विनिर्मित कर सकना सरल है । यह हमारा एकाकी प्रयोग है । इसकी नकल उसी को करनी चाहिए, जिसकी पीठ पर हमारी ही जैसी संरक्षक शक्ति का बल हो अन्यथा यह प्रयोग असफल रहेगा । गायत्री उपासना जितने समय चले उतने समय जिनके लिए सम्भव हो घृतदीप एवं अगरबत्ती जलाने की व्यवस्था बना लेना उत्तम है । यज्ञीय वातावरण में गायत्री उपासना अधिक फलवती होती है । अनुष्ठान काल में यथासम्भव जप समय तक दीपक और धूपबत्ती जलाने की व्यवस्था बनानी ही चाहिए ।

जिनके लिए सम्भव है पूजाकक्ष ऐसा रखें, जहाँ हर किसी का प्रवेश न हो, कोलाहल न हो और शान्ति बनी रहे । स्वच्छता और सुसज्जा का समुचित ध्यान रखा जाए । पूजा-प्रतीक थोड़े रहें, पर वे उपेक्षा से मैले-कुचले न पड़े रहने दिए जाएँ । उनकी सुरुचिपूर्ण सुसज्जा ऐसी आकर्षक रखी जाए जो मनोरम दीखे और चित्त वहाँ लगे ।

*जप आरम्भ करने से पूर्व पवित्रीकरण, आचमन, प्राणायाम, न्यास और शिखावन्दन, पृथ्वीपूजन के छह संध्या कर्म, महाशक्ति का आह्वान, उपलब्ध गन्ध-पुष्प, धूप-दीप, नैवेद्य आदि से पूजन की विधि सर्वविदित है । पालथी मारकर बैठना, मेरुदण्ड सीधा रखना, नेत्र अधखुले, उच्चारण ऐसा जिसमें कण्ठ, होंठ, जिह्वा की हलचल तो होती रहे, पर उसे सुन-समझ पास बैठने वाला भी न सके, दाहिने हाथ में माला, माला फेरने में तर्जनी उँगली का प्रयोग न करना, जप के अन्त में प्रार्थना-आरती, कलश रूप में रखे छोटे जलपात्र ( आचमन का पंचपात्र नहीं ) को जप के अन्त में सूर्य भगवान को चढ़ाना, विसर्जन, यही प्रख्यात उपासनाक्रम हमारा भी है, जिसे प्राय: सभी गायत्री उपासक प्रयुक्त करते हैं ।*

जप के समय ध्यान करते रहने की आवश्यकता इसलिए रहती है कि मन एक सीमित परिधि में ही भ्रमण करता रहे, उसे व्यर्थ की उछल-कूद, भाग-दौड़ का अवसर न मिले । माता का चित्र सामने रहने से उनके अंग-प्रत्यंगों और आवरणों का बारीकी से मनोयोगपूर्वक निरीक्षण करते रहने की ध्यान साधना मन को इधर-उधर न भागने की समस्या हल कर देती है । यह छवि-ध्यान थोड़े अभ्यास से तस्वीर को देखे बिना भी विशुद्ध ध्यान कल्पना के माध्यम से आँखें बन्द करके भी होने लगता है । *जिन्हें निराकार साधना-क्रम पसन्द है, उनके लिए प्रातःकाल उगते हुए अरुण वर्ण सूर्य का ध्यान करना उत्तम है ।*

मन को भागने से रोकने के लिए इष्टदेव की छवि को मनोयोगपूर्वक निरखते रहने से काम चल जाता है, पर इसमें रस-प्रेम, एकता और तादात्म्य उत्पन्न करना और भी शेष रह जाता है और यह प्रयोजन ध्यान में प्रेम-भावनाओं का समावेश करने से ही सम्भव होता है । *उपासना के आरम्भ में अपनी एक-दो वर्ष जितने निश्चिन्त, निर्मल, निष्काम, निर्भय बालक जैसी मनोभूमि बनाने की भावना करनी चाहिए और संसार में नीचे नील जल और ऊपर नील आकाश के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ एवं इष्टदेव के अतिरिक्त और किसी व्यक्ति के न होने की मान्यता* जमानी चाहिए, बालक और माता, प्रेमी और प्रेमिका, सखा और सखा जिस प्रकार पुलकित हृदय परस्पर मिलते, आलिंगन करते हैं, वैसी ही अनुभूति इष्टदेव की समीपता की होनी चाहिए । चकोर जैसे चन्द्रमा को प्रेमपूर्वक निहारता है और पतंगा जैसे दीपक पर अपना सर्वस्व समर्पण करते हुए तदनुरूप हो जाता है, ऐसे ही भावोद्रेक इष्टदेव की समीपता के उस ध्यान-साधना में जुड़े रहने चाहिए । इससे भाव विभोरता की स्थिति प्राप्त होती है और उपासना ऐसी सरस बन जाती है कि उसे छोड़ने को जी नहीं चाहता ।

गायत्री उपासना का न्यूनाधिक यही क्रम हमारा इसी प्रकार चलता रहा है । २४ अनुष्ठानों के उपरान्त प्राण-विद्या के उच्चस्तरीय प्रयोग एक विशिष्ट योग-साधना के रूप में चलते चले हैं, जिनका चक्रवेधन और कुण्डलिनी जागरण से सीधा सम्बन्ध है । वे साधनाएँ सर्वोपयोगी नहीं और हमारे सामान्य साधनाक्रम का अंग भी नहीं, वे अतिरिक्त प्रयोजन के लिए हैं, इसलिए उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक समझी गई और उतना ही उल्लेख किया गया जो सर्व-साधारण के लिए उपयुक्त था । यह लिखा ही इस उद्देश्य से जा रहा है कि हमारे अनुभवों के साथ अपने क्रिया-कलापों का ताल-मेल बिठाते हुए परिजन अपनी आत्मिक-प्रगति का पथ-प्रशस्त कर सकें और उसी स्तर की सफलता प्राप्त कर सकें, जैसी कि हम पा सके हैं । हमसे आगे वाली मंजिलों का मार्गदर्शन इन पंक्तियों में नहीं, अन्यत्र अन्य माध्यमों से मिलेगा ।

सामान्य उपासनाक्रम जिसे आमतौर से हमने अपनी उपासना-प्रक्रिया में सम्मिलित रखा है, अप्रैल, ६८ की अखण्ड-ज्योति के पूरे अंक में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं । वह हमारे लिए जैसा उपयोगी सिद्ध हुआ, वैसा ही हर साधक के लिए फलप्रद हो सकता है । सर्वसाधारण के लिए गायत्री उपासना की उससे अच्छी पद्धति और कुछ नहीं हो सकती । गायत्री की उच्चस्तरीय साधना प्राणतत्त्व

की उत्खनन एवं अभिवर्द्धन प्रक्रिया है । पंच-कोशों का जागरण उसी पर निर्भर है । कई वर्ष पूर्व हमने अन्नमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोश की पंचकोशी उच्चस्तरीय गायत्री साधना पाठकों को सिखानी आरम्भ की थी, अखण्ड-ज्योति के पृष्ठों में उसका क्रम तीन वर्ष तक चला भी था, पर अनुभव यह हुआ कि यह सर्व-साधारण का नहीं केवल सत्पात्रों का विषय है । कौतूहलवश, कुछ लोग यों ही क्रम छोड़कर मनमाने ढंग से जहाँ-तहाँ से जो कुछ पसन्द आता है, जैसे-तैसे करने लगते हैं । आस्था के अभाव में केवल कौतूहल अधिक समय तक ठहर नहीं सकता और क्रमबद्धता का तालमेल बिठाये बिना प्रगति उपयुक्त रीति से हो नहीं सकती । यह देखकर वह प्रशिक्षण सार्वजनिक रूप से बन्द कर दिया और जो अधिकारी सत्पात्र थे, उन्हें व्यक्तिगत रूप से उस प्रक्रिया का मार्ग-दर्शन करने लगे ।

फिर भी वह विषय अतिमहत्त्वपूर्ण है । गायत्री का पंचमुखी होना प्रसिद्ध है । यह पाँच मुख और कुछ नहीं हमारे पंचकोश ही हैं । कोश खजाने को कहते हैं । यह वस्तुतः पाँच रत्न-भाण्डागार हैं । उनमें इतना कुछ भरा हुआ है कि कोई उनकी चाबी प्राप्त कर सके तो वह विश्व-वसुधा की समस्त विभूतियों का अधिपति हो सकता है । २४ पुरश्चरण करने के उपरान्त हमारी उपासना का अगला कदम इसी मार्ग पर बढ़ा है और उन कोशों को एक सीमा तक जाग्रत कर सकने में सफलता मिली है । पिछले १८ वर्षों से जो पाँच मोर्चे सँभालते आ रहे हैं, उनमें पाँच स्वतन्त्र व्यक्तित्व एक ही कलेवर में रहते हुए क्या कुछ कर सकते हैं, इसकी चर्चा की गई है । पंचकोशों के आंशिक जागरण से ही इतनी क्षमता उपार्जित की जा सकी । कुण्डलिनी जागरण जिसकी चर्चा अखण्ड-ज्योति में आती है, पंच-कोशी साधना के अन्तर्गत ही आती है । षट्चक्रों का जागरण, समाधि और ब्रह्मकमल का उत्कीलन इसी साधना-पद्धति का एक अंग है । अब अगले दिनों उन्हीं पंचकोशों को एक सीमा तक और जाग्रत करने की साधना हिमालय और गंगा-तट पर रहकर की जाएगी ।

अगले दिनों हमें क्या करना है ? इसकी पंच-सूत्री योजना भी पूर्व में बताई जा चुकी है । ये आगामी कार्य पिछले वर्षों में सम्पन्न हुए कार्यों की तुलना में हजार गुने भारी हैं, इसलिए उनके लिए सामर्थ्य भी उसी अनुपात से अधिक चाहिए । इसका उपार्जन तो तप-साधना से ही सम्भव होगा । पिछले १८ वर्षों में जो काम हुआ, वह २४ वर्ष में हुए, २४ गायत्री महापुरश्चरणों का प्रतिफल था । वह उपार्जित पूँजी व्यय हो चली । अब जो व्यय सामने है, उसकी पूर्ति के लिए पुनः उपार्जन करना है । ऋषियों की आर्षप्रणाली यही है । तप, तप से शक्ति का उद्भव, उस उद्भव का लोक-मंगल के लिए समर्पण । ब्राह्मण और ऋषिजीवन की यही अनादि पद्धति है । **पूजा-पाठ की *नन्हीं-सी टंट-घंट करके भगवान की असीम कृपा अनायास ही प्राप्त हो जाने की, गुरु, देवता या मंत्र के तनिक से प्रयोग, उपयोग से अपार लाभ मिल जाने की कुकल्पना-वर्तमान काल के उतावले, अनास्थावान लोगों की है । इस मिथ्या कल्पना को लेकर आकाश-पाताल के सपने देखे जा सकते हैं, मिलना किसी को कुछ नहीं । हमें इस बाल-विनोद में कोई आकर्षण नहीं । हम जानते हैं कि उपासना एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है-लूटमार नहीं । आत्मिक-प्रगति का एक सर्वांगपूर्ण विज्ञान है । उचित साधन, उचित श्रम और उचित परिस्थितियाँ उपलब्ध होने पर ही वह प्रक्रिया फलवती होती है । सो ही करने में निष्ठा और धैर्यपूर्वक हम संलग्न हैं ।***

पंचकोशों के जागरण की, उच्चस्तरीय गायत्री उपासना की चर्चा, जानकारी और अनुभूति हम समय-समय पर प्रस्तुत करते रहेंगे । उपलब्ध ज्ञान एवं अनुभव की पूरी जानकारी हमें खोलकर रख जानी है । छिपाने का रत्ती भर भी मन नहीं है । क्यों छिपाएँ ? किससे छिपाएँ ? उपलब्ध ज्ञान का लाभ दूसरे जिज्ञासुओं को भी मिले, इसके लिए इस प्रकार की अनुभूतियों और उपलब्धियों को प्रकाश में आना ही चाहिए । यही हम करेंगे भी ।

इन पृष्ठों में तो हमें इस समय अध्यात्म के उस मूल-तत्त्व की चर्चा करनी थी, जिसके बिना अन्तःकरण में सत्प्रवृत्तियों का उद्भव ही नहीं होता और उस उद्भव के बिना वास्तविक आत्म-प्रगति रुकी ही पड़ी रहती है । अन्तरात्मा में प्रकाश उत्पन्न करने वाला तत्त्व-प्रेम है । समस्त सत्प्रवृत्तियाँ उसी की सहचरी हैं । कृष्ण-चरित्र में जिस रास और महारास का आलंकारिक रूप से सुविस्तृत और आकर्षक वर्णन हुआ है, उसमें प्रेम-तत्त्व को कृष्ण के रूप में और सत्प्रवृत्तियों को गोपियों के रूप में चित्रित किया गया है । एक प्रेमी और अनेक प्रेमिकाएँ । यह आश्चर्य अध्यात्म जगत में सम्भव है । प्रेम से भरी आत्मा को अगणित सत्प्रवृत्तियाँ असीम प्यार करती हैं और वे सभी दौड़ी-दौड़ी प्रियतम से मिलने और उसके साथ तादात्म्य होने चली आती हैं । महारास से वृन्दावन स्वर्गोपम बन जाता है । उत्कृष्ट प्रेम और उसके आधार पर एकत्रित हुई सत्प्रवृत्तियाँ जीवन को आनन्द-उल्लास से भरा-पूरा बना देती हैं । द्वैत की अद्वैत में परिणति, अहंता का समर्पण में विलय, इसी का नाम मुक्ति है । सच्चिदानन्द की उपलब्धि का यही मर्मस्थल है । प्रेम आध्यात्मिक प्रगति का प्रधान अवलम्बन है । हमारी अनुभूतियों और उपलब्धियों का भी यही निष्कर्ष है और यही निष्कर्ष अब तक इस मार्ग पर सफल यात्रा कर चुकने वालों का है ।

उपासना में प्रेमभावना का समावेश करते ही वह नीरस न रहकर अति सरस और मनोरम हो उठती है । चकोर जैसे चन्द्रमा को निहारते हुए सारी रात बिताता है, भ्रमर जैसे कमल की शोभा और सुगन्ध पर मुग्ध बना मँडराता रहता है, तितली जैसे पुष्प को नहीं छोड़ती, चींटी

शक्कर पर से हटाये नहीं हटती, पतंगा दीपक की समीपता जीवन-संकट के मूल्य पर भी खरीदता है, लोहा जैसे चुम्बक से चिपट जाने को खिसकता चलता है, नदी समुद्र-मिलन के लिए आतुरता प्रकट करती है, उसी प्रकार प्रेम-भावना से भरे अन्तःकरण की दशा भगवान की समीपता पाने के लिए आतुर जैसी होने लगती है । प्रेमिका को अपने प्रेमी की चर्चा और कल्पना में जैसे सुख मिलता है, भक्त को उसी प्रकार भगवान की सरस कल्पना और भावना में आनन्द आता है । मीरा, सूर, कबीर, तुलसी, चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ आदि की ऐसी ही मनोदशा थी । उन्हें पूजा के कुछ घण्टे भार नहीं लगते थे, न मन उचटता था, न फुरसत की कमी रहती थी । किसी के सामने वे यह कठिनाई लेकर नहीं गये कि हमारा मन नहीं लगता, ध्यान नहीं जमता । प्रेम का अभाव ही अन्यमनस्कता का एकमात्र कारण है । प्रेम के थोड़े-से भी बीजांकुर यदि मन में हों तो उपासना से अधिक सरसता शायद ही अन्यत्र कहीं दिखाई दे ।

ईश्वर-भक्ति का अभ्यास हमने गुरु-भक्ति की प्रयोगशाला में, व्यायामशाला में आरम्भ किया और क्रमिक विकास करते हुए प्रभुप्रेम के दंगल में जा पहुँचे । जिनकी महानता को हर कसौटी पर कसकर खरा पाया हो उनसे व्यक्तिगत घनिष्टता बढ़ाते चलना, प्रेमभावना के परिष्कार का सरल उपाय है । संसारी लोगों का प्रेम स्वार्थों पर आधारित होता है और उसमें बनावट भरी रहती है । उसे बदलते और बिगड़ते देर नहीं लगती । कृत्रिमता और स्वार्थपरता का जब भण्डाफोड़ होता है, तब प्रेमी का मन टूट जाता है और सन्देह, आशंका, घृणा तथा निराशा की प्रतिक्रिया, प्रेम को खतरे और जोखिम से भरा खेल मान लेती है । फिर उचित स्थान पर भी प्रेम करने को मन नहीं जमता और आत्मिक प्रगति का आधार सदा के लिए नष्ट हो जाता है । प्रेम का अभ्यास करने के लिए ऐसी नाव ढूँढ़नी पड़ती है, जो बीच में डूबने वाली न हो और किनारे पर पहुँचा दे । वासना और तृष्णाओं की पूर्ति के लिए चापलूसी जैसी हरकतें ही आजकल प्रेम-परिच्छेद में उछलती-कूदती दिखाई देती हैं । वे बबूले की तरह उछलती और झाग की तरह बैठ जाती हैं । ऐसे प्रसंग, प्रेम-साधना को परिपुष्ट नहीं, वरन् दुर्बल बनाते हैं । अभ्यास के लिए ऐसे व्यक्ति चुनने चाहिए, जो प्रेमतत्त्व का मर्म, रहस्य, मूल्य, उत्तरदायित्व जानते हों और अपने प्रियपात्र को निराश नहीं, अधिक उत्साह, उल्लास उत्पन्न करने की परिस्थिति बनाते चलें ।

सौभाग्य ही कहना चाहिए कि हमें गुरुदेव का अनुग्रह ऐसा ही मिला, जिन्होंने न केवल उपासना, साधना की दिशा से ही मार्गदर्शन किया, न केवल अपना तप और बल ही हमें दिया, वरन् उतना वात्सल्य, स्नेह और अपनापन दिया जितना इस संसार में किसी भी घनिष्ट से घनिष्ट रिश्ते के प्रियपात्र एक-दूसरे को दे सकते हैं । हमने भी प्रयत्न यही किया कि समर्पण की जितनी सर्वांगपूर्ण भावना और क्रिया चरितार्थ हो सकती हो, उसमें तनिक भी कंजूसी न की जाए । उनका हर आदर्श और हर संकेत ब्रह्मवचन की तरह शिरोधार्य रहा है । 'माँगना कुछ नहीं, देना सब कुछ' प्रेम के इस अविच्छिन्न सिद्धान्त को दोनों ने ही चरम सीमा तक निबाहा है । दूसरी ओर से क्या किया गया, इसकी चर्चा हमारी वर्णन-शक्ति से बाहर है । अपनी ओर से हम इतना ही कह सकते हैं कि भगवान से बढ़कर हमने उनके निर्देशों को शिरोधार्य किया है । उनके सन्देशों में ही अपना हित देखा है । आगा-पीछा सोचने और अनुनय-विनय करने की इच्छा ही नहीं उठी । अरुचिकर और कष्टकर कोई प्रसंग आया तो भी उसे सहज-भाव से ही स्वीकार किया । इन दिनों हमें प्रिय-परिजनों को छोड़ना बहुत कठिन लग रहा है, पर यह नहीं सोचते कि किसी बहाने उस आदेश का उल्लंघन करेंगे । प्रेम की ऐसी ही रीति-नीति है । उसे निबाहने के लिए एक पक्ष यदि पूरी तरह अड़ जाए, तो दूसरे को भी द्रवीभूत होना पड़ता है । हमने अपनी ओर से प्रियपात्र बनने में कुछ उठा नहीं रखा, फलतः गुरुदेव का अनुग्रह-अमृत भी अपने ऊपर अजस्र रूप से बरसा है । प्रेम-तत्त्व के संवर्द्धन की साधना गुरुभक्ति से आरम्भ होकर ईश्वर-भक्ति तक जा पहुँची । हमें इस प्रसंग में इतने अधिक आनन्द-उल्लास का अनुभव होता रहा है कि उसके आगे संसार का बड़े से बड़ा सुख भी तुच्छ लग सके । यह बढ़ती हुई प्रेम-भावना, आत्म-प्रेम, परिवार-प्रेम और विश्व-प्रेम में विकसित होती चली जा रही है और देखने वालों को उस अन्तःभूमिका की प्रतिध्वनि एक दिव्य जीवन के रूप में प्रतीत-परिलक्षित हो रही है ।

मनुष्य जिसे प्यार करता है, उसके उत्कर्ष एवं सुख के लिए बड़े-से बड़ा त्याग और बलिदान करने को तैयार रहता है । हम से भी अपने शरीर, मन, अन्तःकरण, भौतिक साधनों का अधिकाधिक भाग समाज और संस्कृति की सेवा में लगाने से रुका ही नहीं जाता । जितना भी कुछ पास दीखता है, उसे अपने प्रिय आदर्शों के लिए लुटा डालने की ऐसी हूक उठती है कि कोई भी सांसारिक प्रलोभन उसे रोक सकने में समर्थ नहीं होता । दूसरे लोग अपनी छोटी-छोटी सेवाओं और उदारताओं की बार-बार चर्चा करते रहते हैं और उन्हें इसका प्रतिफल नहीं मिला, ऐसी शिकायत करते रहते हैं । अपने लिए इस तरह सोच सकना सम्भव नहीं, क्योंकि लोकमंगल स्वान्तः सुखाय आत्म-तृप्ति के लिए ही बन पड़ता है, किसी पर अहसान जताने या अपनी विशेषता प्रदर्शित करने के लिए नहीं । लोक-सेवा का प्रतिफल जब आत्म-सन्तोष के रूप में तुरन्त मिल गया तो और कुछ चाहने की आवश्यकता ही कहाँ रही ?

हम अपने सम्पर्क-परिवार को विश्व-मानव की व्यावहारिक सीमा मानते हैं और उससे अपनी आत्मा के समान एवं परमात्मा की पुनीत प्रतिकृति के समान प्यार करते हैं । किसी से हमारा कोई स्वार्थ नहीं, न मोह, न

प्रतिफल की किसी से इच्छा । बादल की तरह यों ही अपना मन सब पर प्रेम बरसाता रहता है और उस सहज प्रवृत्ति से प्रेरित होकर दूसरों के दुःख बँटा लेने और अपनी विभूतियाँ लुटा देने की ललक निरन्तर उठती रहती है । उसी से प्रेरित होकर अपना तप देकर दूसरों के कष्ट हल्के करने का प्रेम-प्रकरण सहज स्वभाव चलता रहता है, न उसमें अपनी कुछ विशेषता दिखाई देती है और न बड़ाई ।

विदाई के समय विरह-वेदना की जो हूक उठती है, वह साथी-सहचरों के साथ देर से बने चले आ रहे सम्बन्धों की स्मृति उभरने के कारण ही है । जब अहंता नहीं तो ममता कैसी ? जब लोभ नहीं तो मोह कैसा ? विशुद्ध प्रेम ही है, जो साथियों की अधिक समीपता, अधिक सेवा और अधिक आत्मीयता के अवसर पाने के लिए मचलता है । इस व्यथा में जो कसक है, वह उसी स्तर की है, जो भगवान की समीपता के लिए तड़पती हुई भक्ति-भावना में होती है । परिजन हमारे लिए भगवान की ही प्रतिकृति हैं और उनसे अधिकाधिक गहरा प्रेम-प्रसंग बनाये रहने की उत्कण्ठा उमड़ती रहती है । इस वेदना के पीछे भी एक ऐसा दिव्य आनन्द झाँकता रहता है, जिसे भक्तियोग के मर्मज्ञ ही जान सकते हैं ।

# शेष जीवन का कार्यक्रम और प्रयोजन

हमारे गायत्री महापुरश्चरणों की शृंखला तपश्चर्या प्रारम्भ हुई और वह लगातार २४ वर्ष तक यथाक्रम चलती रही । इसका प्रयोजन व्यक्तित्व को ऐसा निर्मल, प्रखर एवं सशक्त बनाना था, जिसके आधार पर कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर सकना सम्भव हो सके । आन्तरिक मलीनता और दुर्बलता ही जीवन को निस्तेज, निष्क्रिय और निरर्थक बनाती है । उसका निराकरण तपश्चर्या से होता है । बलवान बनने के इच्छुक व्यायामशाला में, विद्वान बनने के इच्छुक पाठशाला में, उपार्जन के इच्छुक कृषि, उद्योग, व्यवसाय, कला-कौशल आदि में मनोयोगपूर्वक कठोर श्रम-साधना करते हैं ।

हर दिशा में सफलता और प्रगति की उपलब्धि कठोर साधना पर निर्भर रही है, आध्यात्मिक प्रगति के लिए भी वही सिद्धान्त लागू होता है । सृष्टि के आदि से लेकर अद्यावधि प्रत्येक आत्मबल सम्पन्न को तपश्चर्या का ही अवलम्बन लेना पड़ा है । देवशक्तियों के वरदान, अनुनय-विनय अथवा यत्किंचित कर्मकाण्ड मात्र से नहीं मिल जाते । साधक को अपनी पात्रता सिद्ध करनी होती है । उपासना के साथ साधना का समन्वय करना पड़ता है । तपश्चर्या हर प्रगतिशील और महत्त्वाकांक्षी के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है । इससे बचकर सरलतापूर्वक किसी के वरदान, आशीर्वाद मात्र से कुछ महत्त्वपूर्ण कही जा सकने वाली उपलब्धि मिल सकना असम्भव है । यह तथ्य हमें किशोरावस्था के आरम्भ में ही समझा दिया गया था और बिना भटके, बिना समय गँवाये अपने पथ-प्रदर्शक के संरक्षण में गायत्री महामंत्र के साथ अभीष्ट तपश्चर्या को सम्मिश्रित कर आत्मबल सम्पादित करने के पथ पर चल पड़ने का क्रम बन गया और वह यथावत २४ वर्ष तक चलता रहा ।

यों उपासना का सामान्यक्रम अभी भी जारी है, पर उस २४ वर्ष की विशिष्ट तपश्चर्या का ही प्रभाव था कि लोक-मंगल के, नव-निर्माण के महान प्रयोजन में अपना कुछ महत्त्वपूर्ण योगदान सम्भव हो सका । पिछले बीस वर्षों में जितना रचनात्मक कार्य आध्यात्मिकता के आधार पर जन-जागरण की दिशा में सम्भव हो सका, उसे अद्भुत और अनुपम ही कहा जा सकता है । आज उसका मूल्यांकन कठिन है । कुछ दिन बाद जब अपने मिशन के कार्य और परिणाम का लेखा-जोखा तैयार किया जाएगा, तो यह एक चमत्कार ही लगेगा कि एक साधन-हीन व्यक्ति के प्रयास इतने स्वल्पकाल में इतने व्यापक और इतने विशाल परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं । कार्यों की गणना और उनकी व्यापकता एवं सफलता का उल्लेख करना यहाँ निरर्थक है । एक शब्द में इतना ही कहा जा सकता है कि अपने ढंग की यह अनोखी एवं अद्भुत प्रक्रिया चिरकाल तक अविस्मरणीय बनी रहेगी, नव-निर्माण के बहुमुखी कार्यक्रम को एक ऐतिहासिक और सफल अभियान गिना जाता रहेगा ।

इस प्रगति में आदि से अन्त तक सारा श्रेय उस तप-साधना को है, जिसे हमने अति निष्ठापूर्वक सम्पन्न किया और अपने मार्गदर्शक की पूँजी का अनुदान मिलाकर उसे एक महत्तम सामर्थ्य के रूप में उपलब्ध एवं प्रयुक्त किया । तप की महत्ता बहुत है । इस संसार में जो कुछ महत्त्वपूर्ण हो रहा है, वस्तुतः उसके पीछे तपश्चर्या की शक्ति ही सन्निहित रहती है । हमारा, हमारे मिशन के साफल्य का किसी को मूल्यांकन करना हो तो इस तथ्य को स्मरण रखना चाहिए कि हमारे व्यक्तिगत प्रयास और जन-सहयोग के पीछे एकमात्र श्रेय उस तपश्चर्या को है, जो एक महती शक्ति के रूप में प्रस्फुटित एवं परिलक्षित होती रही ।

लोक-मंगल, भावनात्मक नव-निर्माण अभियान, नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान आन्दोलन के अतिरिक्त अपने विशाल परिवार की छुट-पुट समस्याओं की कठिनाई को सरल बनाने और उन्हें अभीष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति में जो सहायता कर सके, वे यदि सिद्धि या चमत्कार के नाम से पुकारी जाएँ तो भी यही कहना चाहिए कि वे उपलब्धियाँ प्रस्तुत तपश्चर्या का ही प्रतिफल थीं । कुछ दिन बाद जब अध्यात्म-बल के आधार पर दिए जा सकने वाले अनुदानों का विवरण प्रकाश में आएगा तो लोगों को यह विश्वास करने में सरलता हो जाएगी कि तपश्चर्या न केवल साधक का व्यक्तित्व ही

निर्मल, प्रखर एवं सशक्त बनाती है, वरन् उसके द्वारा दूसरों की भौतिक एवं आध्यात्मिक सहायताओं की एक महत्त्वपूर्ण श्रृंखला भी चल सकती है ।

हमारे जीवन-क्रम के दो अध्याय लगभग पूरे होने को आये और तीसरे अध्याय का आरम्भ १८ महीने बाद आरम्भ होने की तैयारी हो चली । बालकपन के चौदह वर्षों की अबोध स्थिति के सामान्य क्रिया-कलापों को छोड़कर २४ वर्ष की तपश्चर्या और २२ वर्ष की लोक-साधना को मिलाकर ६० वर्ष का वर्तमान कार्यकाल पूरा हो चला । यह अवधि ऐसी बीती, जिस पर गर्व नहीं तो संतोष अवश्य किया जा सकता है । आध्यात्मिकता निरर्थक नहीं है, इसे जो कसौटी पर कसना चाहते हों और प्रत्यक्ष प्रमाण देखना चाहते हों, वे हमारी उपलब्धियों को गम्भीरतापूर्वक खोजें, समझें और परखें । भौतिक साधनों से जो सम्भव न था, वह आत्मबल से सम्भव हो सका । इस तथ्य को समझकर यह विश्वास किया हो जाना चाहिए कि साधना को, तत्त्वज्ञान को विडम्बना मात्र नहीं कहा जा सकता । अविश्वासियों को विश्वास करने के लिए हमारा प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है । साहित्य सृजन, जन-जाग्रति, संगठन, परिवर्तन की प्रक्रिया, व्यक्तित्व की प्रखरता एवं दूसरों की अद्‌भुत सहायताएँ कर सकने की अद्‌भुत गतिविधियाँ हमारे द्वारा सम्भव हो सकीं, तो उसका एकमात्र कारण आध्यात्मिकता एवं तपश्चर्या की शक्ति ही है । इस शक्ति को उपलब्ध करने के लिए अविश्वासियों में भी विश्वास और उत्साह का संचार हो सकता है, यदि ध्यानपूर्वक, गम्भीरता के साथ हमारे छोटे-से जीवन की उपलब्धियों को आँका जा सके ।

हमारे जीवन का तीसरा अध्याय और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । यह प्रयोग का अन्तिम चरण है । इसके तीन प्रयोजन हैं और सभी एक से एक अधिक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कहे जा सकते हैं । इनकी चर्चा नीचे कर रहे हैं ।

## (१) जनमानस का जागरण और समर्थ नेतृत्व का उदय

भारतीय अध्यात्मवाद का ज्ञानपक्ष तो देखने, सुनने को मिलता है, पर विज्ञानपक्ष एक प्रकार से लुप्त ही हो गया । कथा-प्रवचनों, आयोजनों, सम्मेलनों अथवा धर्म-साहित्य के माध्यम से हमें ज्ञानपक्ष की यत्किंचित जानकारी मिलती रहती है । यह विचार-संशोधन की दृष्टि से उत्तम है । इससे दोष दुर्गुणों को छोड़ने और सज्जनोचित गतिविधियाँ अपनाने में सहायता मिलती है । इस पक्ष का भी अपना स्थान है, पर महत्त्वपूर्ण प्रयोजन केवल विचार मात्र से सम्भव नहीं हो सकते, उनके लिए आवश्यक शक्ति चाहिए । सांसारिक प्रयोजनों में धन-बल, तन-बल, बुद्धि-बल, जन-बल एवं अभीष्ट परिस्थितियाँ तथा उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है । केवल सोचने या जानने भर से कोई प्रगति या उपलब्धि सम्भव नहीं होती ।

सूक्ष्म-जगत को, जन-मानस को प्रभावित करने एवं आपत्तियों में प्रतिकूलताओं को सुविधाओं तथा अनुकूलता में बदलने के लिए प्रचण्ड आत्म-बल चाहिए और उसे तपश्चर्या के अखाड़े में पाया, बढ़ाया जा सकता है । अभी बहुत काम करना बाकी है । ज्ञान-यज्ञ व नव-निर्माण आन्दोलन की मशाल जलाकर दूसरे मजबूत हाथों में थमाते हुए हम पूरा और पक्का विश्वास करते हैं कि अगले ३० वर्षों में वर्तमान परिस्थितियों में आमूल-चूल नहीं तो आकाश-पाताल जैसा अन्तर हो जाएगा । अनैतिकता, असामाजिकता और अदूरदर्शिता से भरी वर्तमान परिस्थितियाँ देर तक न टिक सकेंगी । युग-निर्माण का महान आन्दोलन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संसार के हर व्यक्ति को प्रभावित करेगा, झकझोरेगा, उठाकर खड़ा करेगा और जो उचित, वांछनीय तथा विवेकपूर्ण है, उसे ही अपनाने को बाध्य करेगा ।

सन् २००० तक यह सब कुछ दीखने लगेगा, जिसके अनुसार युग-परिवर्तन का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके । इस बीच महती घटनाएँ घटेंगी, भारी संघर्ष होंगे, पाप बढ़ेगा और उसकी प्रतिक्रिया नये सिरे से सोचने और नई रीति-नीति अपनाने के लिए जन-साधारण को विवश करेगी । बदलाव के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहेगा । मनुष्य को अपने तौर-तरीके बदलने होंगे । युग-निर्माण की वर्तमान चिनगारियाँ विश्व-व्यापी दावानल की तरह प्रचण्ड होंगी और उसमें आज की अनीति एवं अवांछनीयताएँ जल-बलकर होलिका-दहन की तरह नष्ट हो जाएँगी । नया युग प्रातःकाल के उदीयमान सूर्य की तरह अपनी अरुणिमा अब कुछ ही समय में प्रकट करने जा रहा है । एक अभिनव आन्दोलन को जन्म देकर, उसमें गति भरकर, उस मोर्चे की कमान मजबूत योद्धाओं के हाथ सौंपकर हम जा रहे हैं । नये-नये शूर-वीर इस मुहीम पर आते चले जाएँगे और युग-निर्माण की प्रगति अपनी निर्धारित गति से, सुव्यवस्थित-क्रमबद्धता के साथ अग्रगामी होती रहेगी ।

जिन हाथों में नव-निर्माण की मशाल थमा दी गई है तथा इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए लोक-नायकों की जो एक विशाल सेना उमड़ती चली आ रही है, उसे आवश्यक बल, साहस तथा साधन उपलब्ध कराने का काम शेष है । अभीष्ट शक्ति के बिना वे भी क्या कर सकेंगे । उनके लिए अभीष्ट शक्ति जुटाना आवश्यक था, सो इसका साधन जुटाना अधिक महत्त्वपूर्ण समझकर हमें उसके लिए लगना पड़ेगा । आज का लोक-नेतृत्व बहुत दुर्बल है । राजनीति, समाज तथा धर्म के सभी क्षेत्रों में ऐसा नेतृत्व दीख नहीं पड़ता, जो जन-मानस को हिलाकर रखने और अपनी प्रखरता के बल पर लोगों को अपनी गतिविधियाँ बदलने के लिए प्रभावित तथा विवश कर सके । वाचालता, लोकैषणा और छल-छद्म का आधार लेकर चलने वाले स्वार्थी और संकीर्ण स्तर के लोग अवांछनीयता को बदल सकने में समर्थ नहीं हो सकते । वे

अपने लिए धन, यश तथा पद कमा सकते हैं, पर आन्तरिक प्रखरता के बिना युग-परिवर्तन की आवश्यकता पूर्ण नहीं की जा सकती। परिस्थितियों की माँग है कि हर क्षेत्र में प्रखर नेतृत्व का उदय हो। यह आत्मबल की प्रचुरता से ही सम्भव हो सकता है। इस अभाव की पूर्ति करना भी हमारी अगली तपश्चर्या का एक प्रयोजन है।

कुछ समय बाद हम एक अति प्रचण्ड तपश्चर्या के लिए अविज्ञात दिशा में प्रयाण करने वाले हैं। उसका एक उद्देश्य एक ऐसे लोक-सेवी वर्ग का उद्भव करना है, जो अपने चरित्र, व्यक्तित्व, आदर्श, प्रभाव से ऐसे लोकनेतृत्व की अभाव-पूर्ति कर सके, इन दिनों महापुरुषों की एक बड़ी श्रृंखला अवतरित होनी चाहिए, जो युग-परिवर्तन को महान सम्भावना को साकार कर सके। गंगा का अवतरण कठिन न था, कठिनाई भगीरथ के उत्पन्न होने में थी। मनुष्य महान है। यदि उसमें महानता को अभीष्ट मात्रा प्रकट हो सके तो वह सच्चे अर्थों में भगवान का पुत्र और प्रतिनिधि सिद्ध हो सकता है। अगले दिनों ऐसे भगीरथों की आवश्यकता पड़ेगी, जो संसार का काया-कल्प करने और शान्ति की सुरसरि का अवतरण सम्भव बना सकने में समर्थ तथा सफल हो सकें।

हमारी आगामी तपश्चर्या का प्रयोजन संसार के हर देश में, जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भगीरथों का सृजन करना है। उनके लिए अभीष्ट शक्ति-सामर्थ्य का साधन जुटाना है। रसद और हथियारों के बिना सेना नहीं लड़ सकती। नव-निर्माण के लिए उदीयमान नेतृत्व के लिए पर्दे के पीछे रहकर हम आवश्यक शक्ति तथा परिस्थितियाँ उत्पन्न करेंगे। अपनी भावी प्रचण्ड तपश्चर्या द्वारा यह सम्भव हो सकेगा और कुछ ही दिनों में हर क्षेत्र में, हर दिशा में सुयोग्य लोक-सेवक अपना कार्य आश्चर्यजनक कुशलता तथा सफलता के साथ करते दिखाई पड़ेंगे। श्रेय उन्हीं को मिलेगा और मिलना चाहिए। युग-निर्माण आन्दोलन संस्था नहीं, एक दिशा है। सो अनेक काम लेकर इस प्रयोजन के लिए अनेक संगठनों तथा प्रक्रियाओं का उदय होगा। भावी परिवर्तन का श्रेय युग निर्माण आन्दोलन को मिले, यह आवश्यक नहीं। अनेक नाम-रूप हो सकते हैं और होंगे। उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। मूल प्रयोजन विवेकशीलता की प्रतिष्ठापना और सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन से है। सो हर देश, हर समाज, हर धर्म, हर क्षेत्र में इन तत्त्वों का समावेश करने के लिए अभिनव नेतृत्व का उदय होना आवश्यक है। हम इस महती आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपने शेष जीवन में उग्र तपश्चर्या का सहारा लेंगे। उसका स्थान और स्वरूप क्या होगा, यह तो हमारे पथ-प्रदर्शक को बताना है, पर दो प्रयोजनों में से एक उपर्युक्त है, जिसके लिए हमें सघन जन-सम्पर्क छोड़कर नीरवता की ओर कदम बढ़ाने पड़ रहे हैं।

## (२) अध्यात्मवाद के विज्ञानपक्ष का प्रत्यक्षीकरण

हमारी भावी तपश्चर्या का दूसरा प्रयोजन आध्यात्मिकता के वैज्ञानिक पक्ष को मृत, लुप्त तथा विस्मृत दु:खद परिस्थितियों में से निकाल कर इस स्थिति में लाना है कि उसके प्रभाव और उपयोग का लाभ जन-साधारण को मिल सकना सम्भव हो सके। भौतिक विज्ञान का लाभ जन-साधारण को मिल सका और उससे यह अपनी महत्ता जन-मानस पर स्थापित कर सका, आज विज्ञानसम्मत बातों को ही सच माना जाता है, जो उस कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, उन्हें मिथ्या घोषित कर दिया जाता है। आस्तिकता, धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता की मान्यताओं को हमें विज्ञान के आधार पर सही सिद्ध करने का प्रयत्न करना पड़ रहा है। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की एक नई दिशा का निर्माण करना पड़ रहा है। इस विवशता का कारण यही है कि लोग विज्ञानसम्मत बातों को ही सच मानते हैं।

पिछले दिनों विज्ञान ने ईश्वर और आत्मा का अस्तित्व मानने से इनकार कर दिया, तो देखते-देखते नास्तिकता की लहर सारे विश्व में फैल गई और प्रबुद्ध मस्तिष्कों को उसने कसकर जकड़ लिया। यदि विज्ञान के आधार पर ही अध्यात्म तथ्यों का प्रतिपादन, परीक्षण और प्रत्यक्षीकरण सम्भव हो सके तो निश्चित रूप से आज के नास्तिक और अविश्वासी, कल ही आस्तिक और धर्म-विश्वासी हो सकते हैं। उस युग ने बुद्धिवाद और प्रत्यक्षवाद की कसौटियाँ स्वीकार की हैं, अतएव हमें धर्म और अध्यात्म को ईश्वर और आत्मा के अस्तित्त्व को उसी आधार पर सिद्ध करना होगा और यह किया जा सकना सर्वथा सम्भव है। सत्य को किसी भी कसौटी पर कसा जा सकता है। वास्तविकता हर जगह खरी उतर सकती है। आवश्यकता प्रयत्न करने भर की है। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की परिपुष्टि का जो क्रम 'अखण्ड ज्योति' से आरम्भ किया है, उसे आगे भी जारी रखा जाएगा और पूर्णता के उस स्तर तक पहुँचाया जाएगा, जहाँ हर परख और हर कसौटी पर सच्चाई को कसे जाने के लिए प्रस्तुत किया जा सके।

सिद्धान्तों के बौद्धिक स्तर पर प्रतिपादन की साहित्यिक प्रक्रिया 'अखण्ड-ज्योति' ने चलाई है और वह आगे भी चलती रहेगी। हम जहाँ भी रहेंगे, उसके लिए आवश्यक विचार-सामग्री प्रस्तुत करते रहेंगे। अध्ययन से ही नहीं, यह सामग्री चिन्तन, मनन और दिव्यदृष्टि से भी उपलब्ध की जा सकती है। तप-साधना इस प्रयोजन को भी बड़ी सुन्दरता के साथ पूरा कर सकती है और करेगी। हम इस प्रसंग को इस स्तर तक पहुँचा देंगे कि संसार भर के विचारशील लोगों को अध्यात्मवाद की 'गरिमा', सच्चाई और उपयोगिता को स्वीकार करके उसकी शरण में आने के लिए विवश होना पड़े।

गायत्री उपासना का सर्व-साधारण के लिए जितना प्रयोग सरल और उपयुक्त था, उसे हम गत कई वर्षों से सिखाते समझाते चले आ रहे हैं । इस विद्या की उच्चस्तरीय साधना के दो पक्ष हैं-(१) योग, (२) तन्त्र । योग-मार्ग में उच्चस्तरीय गायत्री साधना पंचकोशों के अनावरण की है, जिसकी 'थोड़ी' चर्चा गायत्री महाविज्ञान के तृतीय खण्ड में है और थोड़ा-सा शिक्षण अखण्ड-ज्योति के माध्यम से कर चुके हैं । अभी इस विद्या को सांगोपांग बताया जाना शेष है । उसी प्रकार तन्त्रमार्ग की गायत्री कुण्डलिनी कहलाती है । इसकी छुट-पुट चर्चा इन दिनों हम कर रहे हैं । अगले दिनों नैष्ठिक साधकों को योगमार्ग की पंचकोश अनावरण साधना और तन्त्रमार्ग की कुण्डलिनी जागरण की समग्र शिक्षा भी अखण्ड-ज्योति के पृष्ठों पर ही मिलेगी । अनुभव के आधार पर प्रस्तुत किया गया वह शिक्षण सर्वथा सार्थक होगा और उससे अनेक निष्ठावान भारी लाभ उठा सकेंगे ।

अध्यात्म विज्ञान की प्राचीनकाल में असंख्य धाराएँ थीं और वे लगभग सभी लुप्त हो गई । बढ़िया मशीनें ही बढ़िया काम करती हैं, उसी प्रकार बढ़िया व्यक्तित्वों पर ही आध्यात्मिक विद्या का प्रयोग, उद्भव एवं प्रकटीकरण हो सकता है । प्राचीनकाल में योग मार्ग के साधक अपने शरीर, मन एवं अन्तःकरण को 'जीवन-साधना' द्वारा उत्कृष्ट बनाते थे, तब उस भलीप्रकार जोती हुई भूमि में चमत्कारी अध्यात्म विद्याओं की कृषि उगाई जाती थी । लोग धीरे-धीरे आलसी, असंयमी, स्वार्थी और संकीर्ण होते गये । मात्र साधना सिद्धान्त के आधार पर कोई व्यक्ति आत्मबल से सम्पन्न नहीं हो सकता । जन्त्र-मन्त्र में घटिया स्तर के लोग कुछ सिद्धि, चमत्कार प्राप्त भी कर लें तो उनके द्वारा घटिया प्रयोजनों की ही पूर्ति हो सकती है और उनकी स्थिरता एवं सफलता भी स्वल्पकालीन एवं संदिग्ध बनी रहती है । यही कारण है कि प्रयोग करने पर भी लोगों को अध्यात्म विज्ञान के चमत्कारी लाभों से वंचित रहना पड़ता है । धूर्तता के आधार पर सिद्धि, दिखावे और चमत्कार बताने की प्रवंचना कितने ही लोग करते रहते हैं और भोले लोगों को बहकाते रहते हैं, पर वस्तुतः जो आत्मबल प्रकट करने और उसका उपयोग सिद्ध करने की चुनौती स्वीकार कर सके, ऐसे लोग नहीं के बराबर हैं । भारत में समाधि लगाने और गड्ढे में बैठने की बाजीगरी बहुत से लोग दिखाते हैं, पर सच्चाई परखने की चुनौती जब वैज्ञानिकों ने दी तो कोई भी परख की आग पर खड़ा होने को तैयार न हुआ । नकलीपन जादूगरी, मनोरंजन कर सकता है, पर वस्तुस्थिति सिद्ध करने के लिए उसको सच्चाई की हर परीक्षा से कसे जाने की तैयारी घोषित करनी पड़ेगी ।

योग की अनेक चमत्कारी शक्तियाँ और सिद्धियाँ हमारे पूर्वपुरुषों को प्राप्त थीं । वे उनके द्वारा जहाँ अपनी महानता का अभिवर्द्धन करते थे, वहाँ उस विद्या द्वारा विश्वमानव की महती सेवा भी करते थे । भौतिक विज्ञान के अन्वेषणों और यन्त्रों ने मनुष्यजाति की सेवा की है और अपना वर्चस्व समर्पित किया है । अध्यात्म विज्ञान की मान्यता तब तक सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक अपने अस्तित्व की वास्तविकता को प्रत्यक्ष एवं प्रमाणित न करें । भौतिक विज्ञान से अध्यात्म विज्ञान के चमत्कार हजारों-लाखों गुने अधिक हैं । उसकी शक्ति से मानवजाति की सुख-सुविधाओं में भौतिक विज्ञान की अपेक्षा लाखों गुनी वृद्धि हो सकती है, पर यह सम्भव तभी है, जब वे विद्याएँ जादूगरों की धूर्तता की तरह नहीं, एक सच्चाई और वास्तविकता की तरह प्रस्तुत हों । पाश्चात्य सभ्यता भौतिक विज्ञान के साथ बढ़ी है । आध्यात्मिक सभ्यता की प्रतिष्ठापना एवं अभिवृद्धि के लिए हमें योगविद्या के विज्ञान पक्ष को भी प्रस्तुत करना पड़ेगा । आध्यात्मिकता का ज्ञान-पक्ष प्रस्तुत करके ही हमें संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, वरन् उसका विज्ञानपक्ष भी प्रस्तुत करना चाहिए । आज की यह महती आवश्यकता है । यदि इसे पूरा किया जा सका तो निस्सन्देह हम फिर सतयुग की तरह आध्यात्मिकता की शरण में समस्त मानव-जाति को ला सकने में सफल हो सकते हैं । हमारी भावी तपश्चर्या का दूसरा प्रयोजन यही है । हमने लम्बी अवधि में अपने शरीर, मन और अन्तःकरण को इस योग्य बना लिया है कि उसमें दिव्य-शक्तियों का अवतरण और लुप्त विद्याओं का प्रयोग, परीक्षण एवं उद्भव सम्भव हो सके । अस्तु, हम समाज-सेवा के मनोरंजक कार्यों को छोड़कर ऐसी नीरवता और कष्टसाध्य प्रणाली का वरण करने जा रहे हैं, जो दुष्कर तो है, पर मानव-जाति के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में उसकी आवश्यकता एवं उपयोगिता असाधारण है । हम जीवन भर असाधारण और दुस्साहसपूर्ण कार्य ही करते रहे हैं । जीवन के अन्तिम अध्याय में यदि ऐसा उत्तरदायित्व नियति ने सौंपा है, तो उसे हँसी-खुशी से ही वहन करेंगे । अपने पथ-प्रदर्शक के हाथों हम अपने को बेच चुके हैं । उसकी इच्छा और प्रसन्नता ही हमारी इच्छा एवं प्रसन्नता है । सो अठारह महीने बाद अपने प्रिय परिजनों से बिछुड़ने के कठिन प्रसंग को सहन कर सकने लायक अपनी छाती मजबूत करने का एक विलक्षण प्रयोग हम इन दिनों कर रहे हैं ।

## ( ३ ) परिजनों से ऋणमुक्ति

सदा से हमारी प्रवृत्ति अतिकोमल रही है । प्यार ही जीवनभर हमने बाँटा और समेटा है । इसी बाँटने-समेटने के क्रिया-कलाप ने एक विशाल परिवार बनाकर खड़ा कर दिया । मोह-ममता ग्रसित दुर्बल मानव प्राणियों की तरह हमें भी अपने इन स्वजन-सम्बन्धियों से बहुत ममता है । उन्हें सदा के लिए छोड़ते समय अपना मन भारी होना स्वाभाविक है । पिछले दिनों यह व्यथा बहुत बेचैन करती रही, पर काम उससे भी चलने वाला न था, सो मन को कड़ा और कठोर बनने के लिए कितने ही दिन से समझाते चले आ रहे हैं । सफलता तो आंशिक ही मिल सकी है

और पूरी मिलने की आशा भी नहीं है । इस व्यथा को सहते-सुलझाते हमारा ध्यान पूरी तरह इस बात पर केन्द्रीभूत है कि जिनसे जितना स्नेह, सद्भाव पाया है, उनका पूरा नहीं तो अधूरा ऋण चुकाकर अपनी कृतज्ञ भावना को व्यक्त करने एवं किसी कदर उस ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करें ।

अपने स्वजनों को, बालकों को आते और जाते समय बड़े लोग कुछ देकर जाते हैं । हम भी कुछ वैसा ही करना चाहते हैं । स्वजनों की कठिनाई को सरल बनाने और सुख-सुविधाओं का अभिवर्द्धन करने के लिए हमारी बहुत आकांक्षा है । यों अब तक भी हर परिजन का भार हल्का करने में कुछ सहारा निरन्तर देते रहे हैं और जिनका बोझ कम था, उन्हें तो राहत मिली, पर अधिक बोझ वालों को कुछ पता भी न चला । अधिक देने को तप-साधना की पूँजी भी उतनी मात्रा में शेष नहीं बची थी । अस्तु, हर एक के हिस्से में थोड़ा-थोड़ा ही आया । इससे न उन्हें संतोष हो सका, न हमें ।

अगली तपश्चर्या का एक प्रयोजन यह भी है कि अपने प्राणप्रिय परिजनों को कुछ ऐसे अनुदान देकर जाएँ, जिन्हें वे चिरकाल तक स्मरण करते रहें । इससे उन्हें हमारी स्मृति बनी रहेगी और हम भी उपलब्ध श्रद्धा-सौजन्य पाकर जितने ऋणी हुए हैं, उससे एक सीमा तक उऋण हो जाएँगे । हमारे शेष साधनात्मक जीवन का एक तीसरा प्रयोजन यह भी है कि जिन्हें पिछले दिनों से सुख-शान्ति, प्रगति और उज्ज्वल भविष्य के आश्वासन देते रहे हैं, उन अभिवचनों को पूरा कर सकने योग्य सामर्थ्य इकट्ठी करते । निश्चित रूप से हमें अपने लिए किसी उपलब्धि की अपेक्षा नहीं है । यहाँ तक कि स्वर्ग-मुक्ति भी हमें नहीं चाहिए । जो अन्तःभूमि उपलब्ध है, वह अपने आप में अमृत जैसी मधुर और प्रकाश जैसी निर्मल है, उसे पाकर और कुछ पाने को इस पंच-तत्त्वों से बने संसार में शेष भी क्या रह जाता है ? कल्पना के नाम पर यदि कुछ शेष है तो उसमें देश, धर्म, समाज, संस्कृति के उत्कर्ष के अतिरिक्त व्यक्तिगत आकांक्षा एक ही है कि अपने प्रिय-परिजनों के लिए कुछ ऐसे उपहार दे सकने में समर्थ हों, जो उनके आँसू पोंछने और मुसकान बढ़ाने के लिए कारगर सिद्ध हों ।

भावी तपश्चर्या का एक अंश अपने परिवार को सुखी-समुन्नत बनाने के लिए निश्चित रूप से देंगे । हमें धरती, आकाश पर कहीं भी रहना पड़े, अपनी कोमलता और ममता को अक्षुण्ण बनाये रहेंगे । जिनकी आत्मीयता हमारे साथ जितने परिमाण में जुड़ी हुई है, वे उसी अनुपात से हमें अपने समीप रखते और सहकार करते और स्नेह बरसाते हुए अनुभव करते रहेंगे । हमारा सूक्ष्म शरीर अपने परिवार की शान्ति और सुरक्षा की चौकीदारी अपनी सामर्थ्य के अनुरूप निरन्तर करता रहेगा ।

हमारे शेष जीवन के अन्त तक चलने वाली साधना का प्रयोजन और स्वरूप संक्षेप में बता दिया गया । यों हम सदा ही अपने मार्ग-दर्शक की कठपुतली रहे हैं और उन्हीं के इशारे पर नाचते रहे हैं, सो शेष जीवन की रूपरेखा बनाने तथा निभाने में भी हमारा कोई वश नहीं है । जो उन्होंने अब तक कहा और कराया, सो हम करते रहे और बिना अपनी व्यक्तिगत इच्छा का समावेश किए आगे भी करते रहेंगे । अभी जो संकेत प्राप्त हुए हैं और जो निश्चय किया गया है, उसकी रूप-रेखा उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त कर दी गई ।

परिवार को इतना पूछना और जानना उचित था, सो उनकी जिज्ञासा का समाधान करने के लिए वर्तमान स्थिति को स्पष्ट कर दिया गया । आगे जो होगा, उसे हर कोई देखता रह सकेगा ।

## दो कदम आप भी बढ़ाएँ

इस विदाई की वेला में हम दो उत्तरदायित्व प्रिय-परिजनों को सौंपकर जा रहे हैं-(१) ज्ञान-यज्ञ में निरन्तर आहुति देते रहने से कोई जी न चुराए । (२) युग-परिवर्तन के लिए अनिवार्य संघर्ष में अपना भाग पूरा करने से मुख न छिपाए । जो हमें प्यार करते हों, हमारे प्रति ममता और आत्मीयता सचमुच ही रखते हों, वे यह दोनों ही बातें नोट कर लें । हम हर परिजन की वास्तविकता इसी कसौटी पर कसकर परखते रहेंगे ।

नव-निर्माण के लिए आवश्यक विचार-धारा हमने अपने अन्तरंग का निर्झर खोद कर प्रवाहित की है, उससे जन-जन के मन को सींचने का कार्य हमारे उत्तराधिकारी करेंगे । विचार-क्रान्ति की मशाल हम उन्हें दे रहे हैं, जो अपनों से अपनी बात ध्यानपूर्वक पढ़ते हैं । यह मशाल जलती रहनी चाहिए, यह प्रकाश दूर-दूर तक फैलता रहना चाहिए । ऐसा न हो कि सहयोग का स्नेह न पाकर हमारी यह अमानत अपना अस्तित्व खो बैठे । अपने साहित्य में हमने अपना दर्द भर दिया है, उसे हर हृदय और मस्तिष्क में बोया, उगाया जाना चाहिए । जिनकी जहाँ तक पहुँच हो, अपने घर-परिवार से लेकर मित्र-परिचितों तक उस विचारधारा को पहुँचाया, फैलाया जाना चाहिए । झोला पुस्तकालय हर कर्मठ व्यक्ति को पूरी लगन और तत्परता के साथ चलाना चाहिए । 'अखण्ड-ज्योति' हमारी वाणी है । हमारी आवाज अधिक लोगों तक पहुँच सके, इसके लिए अपने प्रभाव और दबाव का उपयोग किया जाना चाहिए । 'अखण्ड-ज्योति' अभी बहुत सीमित संख्या में छपती है । उसका क्षेत्र बढ़ाना चाहिए । यदि सचमुच हम उसे प्यार करते हों, तो फिर बढ़ाने और सींचने के लिए कुछ परिश्रम भी करें । यदि सचमुच हम लोग सच्चे मन से इस नव-निर्माण की विचारधारा और हमारी वाणी को व्यापक बनाना चाहें, तो इन्हीं दिनों कुछ नये सदस्य भी बना सकते हैं और 'अखण्ड-ज्योति' का कार्यक्षेत्र देखते-देखते दूना चौगुना हो सकता है । ज्ञान-यज्ञ में यदि हमारी निष्ठा हो, उससे जी न चुराएँ तो कोई कारण नहीं कि इसमें से प्रत्येक अपने प्रभाव और परिचय

क्षेत्र के कुछ नये व्यक्तियों को इस विचारधारा के सम्पर्क में ला सकने में सफल न हो सकें ।

संघर्ष के लिए आत्मशोधन तो प्रथम है ही । अपनी दुर्बलताओं को तो दूर किया ही जाना चाहिए, साथ ही सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध भी लड़ने को हमें कटिबद्ध हो जाना चाहिए । विवाहोन्माद विरोधी अभियान में हममें से हर एक अपने ढंग से योगदान करे । अपने बच्चों के विवाह बिना दहेज और बिना जेवर के अतिसादगी और मितव्ययता के साथ करने का निश्चय करें और दूसरों को भी उसकी प्रेरणा दें । जहाँ भी अपनी सलाह की पहुँच हो सके, वहाँ ऐसी ही प्रेरणा देनी चाहिए । विवाह योग्य लड़की-लड़के तथा उनके अभिभावकों को अपनी विचारधारा से परिचित और प्रभावित करने के लिए एकाकी और संगठित रूप से निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए । अपने समाज को दरिद्र और बेईमान बनाने में खर्चीले विवाह ही प्रधान कारण हैं । यदि विवाहोन्माद का असुर मर जाए तो अपना समाज देखते-देखते सुखी-समृद्ध और सद्भावना सम्पन्न हो सकता है । उस मोर्चे से हम युग-परिवर्तन की विचार-क्रान्ति आरम्भ करें और उसे क्रमश: इतना व्यापक बना दें कि एक भी नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक दुष्टता को जीवित रहना और साँस लेना असम्भव हो जाए ।

हम अपनी तपश्चर्या की तैयारी सजाने और भावी जीवन की रूप-रेखा बनाने में संलग्न हैं । प्रिय-परिजनों को अपने उपर्युक्त दो उत्तरदायित्व सँभालने के लिए तत्पर होना चाहिए । जब तक हम जीवित हैं, यह बताते रहेंगे कि क्या कर रहे हैं, साथ ही आप सबसे भी यह पूछते रहेंगे कि सौंपे हुए दो उत्तरदायित्वों का किस हद तक पालन किया गया ?

## आगामी २०० दिन, जिनमें २० वर्ष का काम निपटाना है

अगले वर्ष गायत्री जयन्ती ३ जून, १९७१ को पड़ती है । गायत्री तपोभूमि में २० गायत्री जयन्ती मना लेने की बात उस दिन पूरी हो जाएगी । इसके बाद हम जल्दी से जल्दी अपने जीवन का तीसरा अध्याय प्रारम्भ करने के लिए हिमालययात्रा पर चल पड़ेंगे । इस बीच लगभग २०० दिन शेष रह जाते हैं । प्रत्यक्ष जनसम्पर्क के लिए और प्रत्यक्ष प्रवृत्तियों को गतिशील करने के लिए अब केवल इतने ही दिन शेष हैं । इस अवधि में हम अपने जीवन-लक्ष्य नव निर्माण अभियान को इतनी गति देकर जाना चाहते हैं, जिससे उसकी प्रगति परिपूर्ण गतिशीलता के साथ अग्रगामी बनती जाए ।

किसी के मन में यह आशंका नहीं रहनी चाहिए कि आचार्यजी के चले जाने के बाद अपना आन्दोलन शिथिल या बन्द हो जाएगा । ऐसी आशंका करने वाले यह भूल जाते हैं कि यह किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा आरम्भ की हुई प्रवृत्ति नहीं है, इसके पीछे विशुद्ध रूप से ईश्वरीय इच्छा और प्रेरणा काम कर रही है । जिसके पीछे यह शक्ति काम कर रही हो उसके सम्बन्ध में किसी को आशंका नहीं करनी चाहिए । व्यक्ति असफल हो सकते हैं, भगवान के असफल होने का कोई कारण नहीं । व्यक्ति की इच्छाएँ अधूरी रह सकती हैं, भगवान की इच्छा पूरी क्यों न होगी ? अब तक के आन्दोलन की प्रगति को जिन लोगों ने बारीकी से देखा-समझा है, उन्हें यह विश्वास करना ही चाहिए कि उपलब्ध सफलताएँ हमारे जैसे नगण्य व्यक्ति के माध्यम से किसी भी प्रकार सम्भव न थीं, हमें निमित्त बनाकर कोई महाशक्ति अदृश्य रूप से काम कर रही है-केवल आँखों के सामने कठपुतली नाचने से लोग प्रशंसा उस लकड़ी के टुकड़े की करते हैं, जो नाचता दीखता है । वस्तुत: श्रेय उस बाजीगर को है, जिसकी उँगलियाँ अपनी अदृश्य संचालन-कला के द्वारा उस खेल का सारा सरंजाम जुटा रही हैं ।

जीवन के पिछले दो चरणों में जो सफलताएँ मिली हैं, उनके पीछे व्यक्ति का पुरुषार्थ राई भर और परमेश्वर का अनुदान पहाड़ भर है । १५ वर्ष तक की आयु ही खेलकूद, पढ़ने-लिखने की बाल-क्रीड़ा में गँवाई । बाकी ४५ वर्ष तो किसी महाशक्ति के इशारे पर कठपुतली की तरह ही चले हैं, इतना ही श्रेय हमें मिल सकता है कि निष्ठापूर्वक अपने आराध्य का हर सन्देश बिना ननुनच के शिरोधार्य करते रहे । उसमें अपनी अनिच्छा और असुविधा की बात कभी नहीं जोड़ी । फौजी सिपाही का गुण आदेश-अनुशासन को प्राण देकर भी निबाहना होता है । अधिक से अधिक हमें एक निष्ठावान सैनिक कहा जा सकता है, जिसने कि लम्बी जिन्दगी के असंख्य क्षणों में से प्रत्येक को अपने सूत्र-संचालक की इच्छानुसार बिताया ।

१६ से लेकर ४० वर्ष तक की आयु के २४ वर्ष गायत्री पुरश्चरणों की कठोर तपश्चर्या में लग गये । काम रूखा और मन में ऊब लाने वाला था, पर मन और शरीर को समझा लिया गया । बिके हुए सामान पर अपना अधिकार क्या ? जब शरीर और मन बेच दिया तो खरीदने वाले की आज्ञा पर चलने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं । राजा हरिश्चन्द्र भंगी के हाथों बिके । उन्होंने अपना शरीर और मन उसी तरह का बना लिया जैसा खरीदने वाले ने चाहा । आत्म-समर्पण का मतलब अपने शरीर और मन को दूसरे के हवाले कर देना है । बात समझ की थी, मन मान गया, शरीर ने भी अधिक अड़चन उत्पन्न नहीं की । ढर्रा शान्तिपूर्वक चल पड़ा और देखते-देखते वे कठिन, नीरस, रूखे लोगों की दृष्टि में सनक और मूर्खता से भरे हुए २४ वर्ष एक-एक करके सहज ही गुजर गये । इस तपश्चर्या ने हमें बहुत शक्ति दी । शरीर को नीरोगिता के रूप में, मन को सन्तुलन के रूप में और आत्मा को मनस्विता, तेजस्विता के रूप में बहुत कुछ मिला । इन उपलब्धियों के बिना जीवन का दूसरा अध्याय ठीक तरह पूरा नहीं हो सकता था ।

४१ से लेकर ६० वर्ष तक के बीस वर्ष हमारी सार्वजनिक सेवा के हैं । इसमें ज्ञानयज्ञ को जन्म देने और गतिशील बनाने का प्रमुख कार्य हमें सौंपा गया था । विभिन्न स्तर की दिखाई पड़ने वाली प्रवृत्तियाँ वस्तुतः उस एक ही क्रिया-कलाप के अन्तर्गत आती हैं । पत्रिकाओं का सम्पादन, जीवन-साहित्य का सृजन, आर्ष-ग्रन्थों का प्रस्तुतीकरण जैसी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ विशुद्ध रूप से ज्ञान-यज्ञ के लिए थीं । देश भर के सुसंस्कारी, भावनाशील लोगों को खोज, उन्हें एक परिवार के रूप में, एक सूत्र में पिरोना, ४ हजार शाखाओं और १० लाख व्यक्तियों का संगठन विशुद्ध रूप से जन-जागरण के लिए था । गायत्री यज्ञों और युग-निर्माण सम्मेलनों के विशालकाय आयोजनों द्वारा कोटि-कोटि जनता से सम्पर्क और उन्हें युग-परिवर्तन के ढाँचे में ढलने की प्रेरणा देते फिरना, यह प्रचारात्मक कार्य भी ज्ञानयज्ञ के अन्तर्गत आता है । गायत्री तपोभूमि, युग-निर्माण योजना का केन्द्रीय कार्यालय उसी प्रक्रिया को सुसंचालित रखने के लिए था । कष्टपीड़ितों और दुःखियों को अपनी तपश्चर्या का अंश देकर उनके कष्टों को घटाने की सेवा-साधना भी वस्तुतः इस सूक्ष्म आकांक्षा के लिए ही रही कि ये लाभान्वित दीन-दुःखी नव-निर्माण मिशन की ओर भी उन्मुख होंगे । वे न हुए यह बात दूसरी है । आज की दुनिया कुछ है ही इस ढंग की कि अपने मतलब से मतलब रखना बुद्धिमानी मानी जाती है । प्रणाम, दर्शन करने की कीमत पर आशीर्वाद-अनुदान प्राप्त करना लोगों को सस्ता लगता है । सेवा-साधना के झंझट में कोई क्यों पड़े ? उसमें तो समय, पैसा, मन सभी बिना स्वार्थ के काम में खर्च करने पड़ते हैं । इस झंझट को कौन मोल ले । लोगों का यही दृष्टिकोण रहा और उस वर्ग में से चन्द लोग ही अपने जीवन-लक्ष्य में सहायक हो सके । जो हो, हमारा प्रयोजन वही था । सफलता कम मिली, यह बात दूसरी है, किन्तु दूसरे विचारशील वर्गों में अपने प्रयत्नों को सराहा भी गया, अपनाया भी गया । सजीव भावना स्तर वाले विवेकशील लोगों के सहयोग-समर्थन का ही फल है कि युग-निर्माण आन्दोलन अब आकाश छूने जैसे दुस्साहस करने लगा है ।

हमारे बीस वर्ष इसी नव-निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार करने में लग गये । अब ६० वर्ष से आगे की आयु का तीसरा अध्याय आरम्भ होता है । उसमें काम वह पूरा ही होगा, केवल ढंग बदल जाएगा । हमारी स्थूल शक्तियाँ, स्थूल प्रवृत्तियाँ, स्थूल गतिविधियाँ रूपान्तरित होकर सूक्ष्म बन जाएँगी। प्रत्यक्ष-परोक्ष में बदल जाएगा । करना आगे भी वही है, जिसके लिए हमें यह जन्म धारण करना पड़ा है । स्थूल प्रयत्नों का परिणाम सीमित होता है । सूक्ष्म प्रयत्न बहुत व्यापक और शक्तिशाली होते हैं । जिस क्षेत्र में सूक्ष्म प्रयत्न सफल नहीं होते, उनमें सूक्ष्म तत्त्वों द्वारा हेर-फेर अधिक आसानी से हो सकता है । हम उग्र तपश्चर्या केवल इसलिए करने जा रहे हैं कि अपनी उन सूक्ष्म शक्तियों को विकसित करें, जो जन-मानस को प्रभावित करने और प्रखर बनाने में अधिक समर्थ हो सकती हैं ।

इस देश के निवासियों में महानता अभी भी कम नहीं है । ऋषियों के रक्त की पूँजी अभी भी पूर्णतया समाप्त नहीं हुई है । वह सब केवल सो भर गया है । मोह-निद्रा इतनी गाढ़ी हो गई है कि नर-पशुओं की तो बात ही क्या, जिनमें नर-नारायण की क्षमता भरी पड़ी है वे भी लोभ और मोह की जंजीरों से इस बुरी तरह कस गये हैं कि परमार्थ की, युग-निर्माण की, ईश्वरीय पुकार तक को समझ सकना उनके लिए सम्भव नहीं हो रहा । जैसे-तैसे धक्का-मुक्की करने भर से थोड़ा-बहुत कुसमुसाते हैं और जैसे ही दबाव कम हुआ कि पूर्व स्थिति में फिर मूर्छाग्रस्त हो जाते हैं । युग-परिवर्तन के लिए उत्कृष्ट प्रतिभाओं की प्रचण्ड जनशक्ति नियोजित होनी चाहिए । वह मिल नहीं रही है । गत बीस वर्षों के प्रयास से हम जो जुटा सके हैं वह बहुत कम है । विश्व का काया-कल्प करने के लिए हल्के स्तर के थोड़े से लोगों से काम नहीं चल सकता । हमें प्रखर प्रतिभाएँ चाहिए । वे मिलती नहीं, इस अभाव या असफलता ने हमें क्षुब्ध कर दिया है । अगले दिनों उग्र तपश्चर्या के द्वारा वैसी सूक्ष्मशक्ति हम उपलब्ध करेंगे, जिससे लोकमंगल में लग सकने की प्रखर-प्रेरणा हम अपने साथी, स्वजनों में भर सकें और उन्हें मोह की कीचड़ में से उबार कर ईश्वरीय प्रयोजनों में लग सकने का साहस उत्पन्न कर सकें ।

हमारे जीवन के तीसरे अध्याय का प्रयोजन यही है । भगीरथ की तरह हम लोक-मंगल के महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकने वाली ज्ञानगंगा को लाने के लिए उसी महानता के पदचिह्नों पर चलने जा रहे हैं और वहीं रहेंगे, जहाँ उस महामानव ने 'करने या मरने' का संकल्प लेकर डेरा जमाया था । कह नहीं सकते कब तक जीना पड़ेगा, पर जब तक साँस चलेगी, हर क्षण जन-जागरण के ज्ञानयज्ञ को पूरा करने में लगे रहेंगे, जिसके लिए हमें यह शरीर-कलेवर दिया गया है ।

अध्यात्म की विज्ञानपरक शक्तियों की शोध करना भी भावी कार्यक्रम के साथ जुड़ा हुआ है और उसका भी अपना महत्त्व है । आज अध्यात्म केवल चर्चा का, दर्शन का विषय रह गया है, उसके माध्यम से प्रचण्ड शक्ति कैसे उत्पन्न की जा सकती है और उससे कैसे समर्थन बढ़ाने का लाभ पाया जा सकता है, यह विद्या एक प्रकार से लुप्त हो गई । अब हम अध्यात्मवादियों को विचारक भर देखते थे । उनमें शक्ति-सामर्थ्य नहीं रही । शक्तिरहित विचारणा से कुछ काम चलने वाला नहीं । भारत की भावी समर्थता, अध्यात्म के आधार पर उत्पन्न होनी है । उसका ज्ञान और प्रयोग एक प्रकार से लुप्त हो गया । उसकी शोध करना और उस उपलब्धि को सर्व-सुलभ बनाना, अपना एक कार्य यह भी है, जिसे हम उस भावी तप-साधना की अवधि में पूरा करेंगे । जन-मानस में जाग्रति उत्पन्न करना और उसे शक्ति-सज्जा से सुसज्जित करना यह दोनों कार्य एक हैं, इन्हें एक भी कहा जा सकता है, दो भी । जो भी

कहा जाए हम अपने जीवन का तीसरा अध्याय इसी प्रयोजन के लिए पूरा करेंगे । हमारी कार्य-पद्धति अपने द्वारा निर्धारित नहीं होती, न अपनी व्यक्तिगत इच्छा और समझ का उपयोग उसमें होता है । तीसरे अध्याय का कार्यक्रम भी ऊपर से आया है, सो उसमें ननुनच कैसे करें ? अभी इधर ही रहने का परिजनों का आग्रह उचित हो सकता है, पर हम तो उचित-अनुचित की कसौटी भी नहीं खोजेंगे । समर्पित पुष्प की तरह हमने अपना शरीर, मन ही नहीं-भावकेन्द्र भी इष्टसत्ता को बहुत पहले सौंप दिया है । सो उसके आदर्श की अवहेलना कैसे बन पड़े । तीसरा अध्याय शुरू करने की कठिन प्रक्रिया सामने रख दी गई तो उस पर पुनर्विचार करने या संशोधन प्रस्तुत करने का कोई आधार नहीं रह गया । हम अब चलने की तैयारी में ही लगे हैं और बोरिया-बिस्तर बाँधकर मन को समेटकर उसी ऊहापोह की व्यवस्था बना रहे हैं ।

चलने के दिन अब एक-एक करके रेलगाड़ी की दौड़ दौड़ते चले आ रहे हैं । केवल २०० दिन के करीब बाकी रह गये हैं । एक-एक, दो-दो करके यह भी अब गये, तब गये ही समझने चाहिए । पटाक्षेप की घण्टी बज चुकी, अब पर्दा गिरने ही वाला है और यह मनोरंजक नाटक जो गत ४५ वर्ष से जन-साधारण द्वारा कौतूहलपूर्वक देखा जा रहा है, अब अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँचकर सदा के लिए बन्द हो जाएगा । केवल एक कथानक मात्र कहने-सुनने के लिए शायद बचा रहे । इस नाटक से चित्त चुराने वाले और रोमांच खड़े करने वाले दृश्य अब पाठकों की आँखों से ओझल हुए ही समझे जाने चाहिए । अब दिन तो उँगलियों पर गिनने लायक रह गये । इन्हें भी आँधी में उड़ते हुए पेड़ से टूटे पत्ते की तरह आँखों से ओझल होने में अब क्या देर लगने वाली है ।

हम चाहते थे कि इन थोड़े से दिनों का श्रेष्ठतम उपयोग इस संदर्भ में करते रहें कि हमारे जीवन का अवतरण और उत्सर्ग जिस प्रयोजन के लिए हुआ, उसकी जड़ मजबूत बनाने के लिए जो साधन सम्भव हों, उन्हें अधिक तत्परतापूर्वक पूरा कर लें । काम बहुत पड़े हैं, योजनाएँ सामने बहुत हैं । वे समय माँगती थीं और सहयोग तथा साधन की अपेक्षा करती थीं । सो अभीष्ट मात्रा में जुट न सका । उपलब्ध परिस्थितियों में जितना सम्भव था, उसे पूरा करने में राई भर भी उपेक्षा या आलस्य और प्रमाद हमने नहीं बरता । फिर भी जरूरी काम बहुत से निबटाने को रह गये हैं और उनमें से कई तो ऐसे हैं, जो समय रहते पूरे न किए जा सके तो पीछे वालों पर इतना अधिक बोझ बढ़ जाएगा जिसे वहन करने में वे अशक्त होने के कारण अड़चन अनुभव करेंगे । हम इस तरह के कामों को इन्हीं दिनों इस रूप में प्रस्तुत कर जाना चाहते हैं कि पीछे वाले उस गाड़ी के पहिये को ठीक तरह घुमाते रह सकें, तो जो काम हमें अत्यधिक अड़चनों के बीच करना पड़ा, उसे वे सफलतापूर्वक आगे बढ़ाते चले जाएँगे । हम ऐसी ही स्थिति पैदा करके जाना चाहते हैं । इसलिए इन २०० दिनों में उतना काम करना चाहते हैं जितना पिछले २० वर्षों में कर सके ।

बूढ़ा शरीर अधिक से अधिक श्रम इस बीच कर सके इसमें हम कुछ भी न उठा रखेंगे । मेहनत करने की आदत भी जीवन भर की है, पर अगले दिनों उसकी अति कर देने में भी हमें आपत्ति नहीं । २०० दिनों में २० वर्ष का काम निपटाना हो तो अति ही करनी पड़ेगी । हम करेंगे, पर अपने साथियों को यह चाहिए कि वे भी इन दिनों हमारा हाथ बँटाने, कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने का कुछ अधिक उत्साह दिखा सकें, तो यह उनके लिए और हमारे लिए एक चिरस्मरणीय घटना बनी रहेगी । घरेलू काम-काज जिन्दगी भर लगे रहे हैं, ममता जैसे-जैसे बढ़ेगी काम का दबाव भी बढ़ता जाएगा, उससे फुरसत भी मिल सकती है, जब व्यक्ति भावी प्रयोजनों को प्राथमिकता देने लगे और उनका महत्त्व समझे अन्यथा फुरसत न मिलने का चिर-परिचित बहाना कोई भी कर सकता है और किसी दूसरे को नहीं तो कम से कम अपना मन तो इसी आड़ में समझा सकता है । जरूरी जो काम समझे जाते हैं, उनके लिए पर्याप्त समय मिलता है, अन्य काम पीछे के लिए छोड़ दिये जाते हैं और जरूरी पहले किया जाता है । बीमार पड़ जाने पर सबको फुरसत मिल जाती है । ऐसी ही कुछ मनोभूमि बना ली जाए तो किसी को भी हमारा थोड़ा सहयोग करने की फुरसत मिल सकती है और अगले छह महीने में पूरे या आरम्भ किए जाने वाले कार्यों की एक सन्तोषजनक व्यवस्था बन सकती है ।

सक्रिय सदस्यों की संख्या वृद्धि, जो सदस्य बन चुके हैं उनका व्यवस्थित संगठन, कार्यवाहकों की नियुक्ति, झोला पुस्तकालयों की सक्रियता, चल पुस्तकालय (धकेल गाड़ियाँ) का प्रचलन, इतना क्रम चल पड़े तो समझना चाहिए कि सुदृढ़ संगठन बन गया और इसका ढर्रा ठीक तरह चलने लगा, समय देने वाले-अपने यहाँ अपने समीपवर्ती क्षेत्रों में भावनाशील परिजनों से मिलकर इस व्यवस्था को पूरा कराने में योगदान दे सकते हो दें, हमारी प्रबल इच्छा सक्रिय कार्यकर्त्ताओं का संगठन देखकर जाने की है, क्योंकि हमारे सपने की साकारता प्रधानतया इन संगठनों पर ही निर्भर रहेगी ।

हम आज से ठीक २०० दिन बाद चले जाएँगे । इस बीच मिशन को मजबूत करने वाले पाये काफी गहरे जम जाएँगे । हम जहाँ कहीं भी रहेंगे परिजन हमारा स्नेह, सद्भाव, प्रकाश व सहयोग बराबर अपने ऊपर बरसता अनुभव करेंगे । जो हमारी भावनाओं के समीप हैं, उन्हें सान्निध्य-सम्पर्क की कमी भी अखरेगी नहीं ।

## अन्तिम बार हम सब एक बार और मिल लें

हमारे जाने के दिन अब अतिनिकट आ गये । अगले अतिमहत्त्वपूर्ण कार्य पूरे करने के लिए हमें जाना पड़ रहा है । आत्म-विद्या के शक्ति-पक्ष की धाराएँ इन दिनों एक

प्रकार से सूख ही गई है । न तो ऐसे व्यक्तित्व दिखाई पड़ते हैं, जो अपने ब्रह्म-वर्चस द्वारा विपन्न परिस्थितियों से टक्कर ले सकें और न ऐसे आधार उपलब्ध हैं जो आत्मिक क्षमता को आशाजनक रीति से अग्रगामी कर सकें । आत्म-विद्या के नाम पर कथा-प्रवचनों तक सीमित हलके दर्जे का कथोपकथन ही जहाँ-तहाँ देखने-सुनने को मिलता है । ओछे व्यक्तित्वों का ऊँचा प्रवचन अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता, वह केवल मनोरंजन मात्र रह जाता है । आज आत्मिक चर्चा, मात्र कौतूहल की ही पूर्ति करती है । उस क्षेत्र में ब्रह्मवर्चस सम्पन्न व्यक्तित्व कहाँ उभर रहे हैं, यदि उभरे होते तो महामानवों को अपने प्रभाव से लोकमानस बदलने से लेकर परिस्थितियाँ पलटने तक का कार्य उतना कठिन न रहता, जितना आज दिखाई पड़ रहा है ।

आत्मविद्या का आरम्भिक पक्ष ज्ञानचर्चा है । उच्चस्तरीय पक्ष शक्ति-सम्पादन है । साधना से जो शक्ति उत्पन्न होनी चाहिए, आज उसका सर्वथा अभाव ही दीखता है । लगता है वे रहस्य लुप्त हो गये । यदि होते तो सामर्थ्य सम्पन्न ऐसे आत्मवेत्ता जरूर मिलते जो मानव समाज के अन्धकार में उलझे हुए भविष्य को उज्ज्वल बनाने में, विषम परिस्थितियों को सरल बनाने में कुछ आशाजनक योगदान दे सकें । राजनैतिक क्षेत्रों में कुछ तो उलटा-पुलटा हो रहा है, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में शून्यता छाई हुई है । दम्भ और प्रवंचना का ही बोलबाला है । आत्म-बल की सामर्थ्य जो संसार की समस्त सामर्थ्यों से बढ़-चढ़कर मानी जाती रही है, यदि हमारे पास होती तो व्यक्ति और समाज को वर्तमान दुर्दशा से निकालने में उसका प्रयोग अवश्य सम्भव हो सका होता । चमत्कारों के नाम पर आज जहाँ-तहाँ कुछ बाजीगरी दीखती है, उससे अपने को सिद्धपुरुष साबित करने और लोगों की मनोकामना पूर्ण करने का पाखण्ड मात्र ही खोजा जा सकता है । बेवकूफों को बदमाश कैसे ठगते और उलझाते हैं, इसका ज्वलन्त उदाहरण देखना है तो आज के तथाकथित करामाती और चमत्कारी कहे जाने वाले ढोंगियों की करतूतों को नंगा करके आसानी से देखा जा सकता है । वास्तविक सिद्धपुरुष न करामात, चमत्कार दिखाते हैं और न हर उचित-अनुचित मनोकामना को पूरा करने के आश्वासन देते हैं । असली आत्मवेत्ता अपने आदर्श प्रस्तुत करके अनुकरण का प्रकाश उत्पन्न करते हैं और अपनी प्रबल मनस्विता द्वारा जन-जीवन में उत्कृष्टता उत्पन्न करके व्यापक विकृतियों का उन्मूलन करने की देवदूतों वाली परम्परा को प्रखर बनाते हैं । इस स्तर के आत्मवेत्ता यदि संसार में रहे होते तो बुद्ध, दयानन्द, गाँधी जैसी युगान्तरकारी हस्तियाँ अवश्य सामने आतीं । अध्यात्म क्षेत्र के वर्तमान कलेवर को यदि उघाड़कर देखा जाए तो वहाँ दम्भ और शून्य के अतिरिक्त और कुछ मिलने वाला नहीं । जो है वह और भी ज्यादा दिग्भ्रान्त है । आत्म-विद्या की जितनी शून्यता और दुर्दशा आज है, वैसी पहले कभी भी नहीं रही ।

इस अभाव की पूर्ति करने के लिए विश्व की सर्वोच्च एवं सर्व-समर्थ आत्म-विद्या सिद्ध करने के लिए हमें कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त करनी होंगी । यह अन्वेषण, प्रयोग और लाभ अनायास ही नहीं मिलने वाला है, इसके लिए कठोरतम प्रयत्न करने पड़ेंगे । हम वही करने जा रहे हैं । इस दृष्टि से हमारी भावी गतिविधियाँ उत्साहवर्द्धक ही होंगी । जाने के वियोग का दु:ख स्वजनों को है, हमें भी है, पर बड़े के लिए छोटे का त्याग करना ही पड़ता है । वृक्ष रूप में परिणत होने के लिए बीज को गलना ही पड़ता है । हमें भी उस क्रम से छुटकारा नहीं मिल सकता था, सो मिला भी नहीं । आत्म-विद्या के तत्त्वज्ञान और शक्तिविज्ञान को आज के युग और आज के व्यक्ति के लिए किस प्रकार का, किस हद तक व्यावहारिक बनाया जा सकता है और आज की विकृत परिस्थितियाँ बदलने में उसे किस प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है यह सीखना, खोजना, प्रयोग करना और सर्व-साधारण के सामने बुद्धिसंगत एवं व्यावहारिक रूप से प्रस्तुत कर सकने की स्थिति प्राप्त कर लेना सचमुच एक बहुत बड़ा काम है । इस काम को हम सफलतापूर्वक कर लेते हैं, तो उसके ऊपर हमारे भावी जीवन की कष्टसाध्य प्रक्रिया, प्रताड़ना और स्वजनों की वियोग-वेदना को निछावर किया जा सकता है । हमें यही करने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है, सो हम निर्धारित व्यवस्था को पूरा करने जा भी रहे हैं । विश्वास किया जाना चाहिए कि हम दूसरे बाबा-वैरागियों की तरह अकर्मण्यता के दिन नहीं काटेंगे, विश्वमानव के प्रति अपनी श्रद्धा को उपेक्षा में नहीं बदलेंगे, स्वर्ग-मुक्ति और ऋद्धि-सिद्धि के व्यक्तिगत स्वार्थ में हमारा मन राई भर भी नहीं फिसलेगा-जब तक हमारी अन्तिम साँस चलेगी विश्वमानव की सेवा से मुँह नहीं मोड़ेंगे । यदि हमें लगता कि हमारी इस भावी उग्रतपश्चर्या का प्रतिफल लोकमंगल के लिए वर्तमान गतिविधियों की अपेक्षा हल्का पड़ेगा तो शायद अपने मार्गदर्शक से यह फैसला बदलने का अनुरोध भी करते, पर बात वैसी है नहीं । हम निष्क्रिय दीखेंगे, पर वस्तुत: आज की अपेक्षा लाख गुने अधिक सक्रिय होंगे । भगीरथ जैसा तप करके गंगावतरण की सामयिक पुनरावृत्ति करना ही हमारा मात्र प्रयोजन है, सो आँखों में वियोग के आँसू रहने पर भी हमारा अन्तरंग टूटा नहीं है वरन् आशा और उल्लास ही भरा हुआ है ।

हमारा प्रयोजन समझने में किसी को भूल नहीं करनी चाहिए । हम प्रचण्ड आत्मशक्ति की एक ऐसी गंगा को लाने जा रहे हैं, जिससे अभिशप्त सगरसुतों की तरह आग में जलते और नरक में बिलखते जन-समाज को आशा और उल्लास का लाभ दे सकें । हम लोकमानस को बदलना चाहते हैं । इन दिनों हर व्यक्ति का मन ऐषणाओं से भरपूर है । लोग अपने व्यक्तिगत वैभव और वर्चस्व से, तृष्णा और वासना से एक कदम आगे की बात नहीं सोचना चाहते, उनका पूरा मनोयोग इसी केन्द्र-बिन्दु पर

उलझा पड़ा है, हमारी चेष्टा है कि लोग जीने भर के लिए सुख-सुविधा पाकर सन्तुष्ट रहें । उपार्जन हजार हाथों से करें, पर उसका लाभ अपने और अपने बेटे तक सीमित न रखकर समस्त समाज को वितरण करें । व्यक्ति की विभूतियों का लाभ उसके शरीर और परिवार तक ही सीमित न रहे, वरन् उसका बड़ा अंश देश, धर्म, समाज और संस्कृति को, विश्व-मानव को, लोकमंगल को मिले । इसके लिए व्यक्ति के वर्तमान कलुषित अन्तरंग को बदलना अत्यन्त आवश्यक है । व्यक्तिवाद के असुर को समूहवाद के देवत्व में परिणत न किया गया तो सर्वनाश के गर्त में गिरकर मानवीय सभ्यता को आत्महत्या करने के लिए विवश होना पड़ेगा । इस विभीषिका को रोकने के लिए हम अग्रिम मोर्चे पर लड़ने जा रहे हैं । स्वार्थपरता और संकीर्णता की अन्धतमिस्रा और असुरता में पैर से लेकर नाक तक डूबे हुए जन-मानस को उबारने और सुधारने में हम अधिक तत्परता और सफलता के साथ कुछ कहने लायक कार्य कर सकें, हमारी भावी तपश्चर्या का प्रधान प्रयोजन यही है । आत्म-विद्या की महत्ता को भौतिक विज्ञान की तुलना में अधिक उपयोगी और समर्थ सिद्ध करने, उसकी प्रामाणिकता को हर कसौटी पर खरी सिद्ध कर सकने लायक उपलब्धियाँ प्राप्त करने हम जा रहे हैं । हमारा भावी जीवन इन्हीं क्रिया-कलापों में लगेगा । सो परिवार के किसी स्वजन को हमारे इस महाप्रयाण के पीछे आशंका या निराशाजनक बात नहीं सोचनी चाहिए ।

जिन परिजनों को हम अब आगे बढ़ाते और प्यार करते रहे हैं, उन्हें उस क्रम में रत्ती भर भी न्यूनता अनुभव न होने देंगे । शरीर के प्रत्यक्ष दर्शन न हो सकने और कानों से प्रत्यक्ष हमारी बात न सुन सकने के अतिरिक्त और किसी की कुछ हानि न होने देंगे । हमारे प्यार और अनुदान की गंगा यमुना के प्रवाह में राई भर भी कमी आने वाली नहीं । स्वजन हमें भले ही देख न सकें, पर हम उन्हें जरूर देखते रहेंगे । हम अपने पुण्य और तप का एक अंश लोगों की कठिनाइयाँ सरल बनाने में लगाते रहे हैं और उस सहृदयता को हम खोने नहीं जा रहे हैं, वरन् और भी समर्थ बनाते चले जाएँगे । माताजी हरिद्वार रहेंगी, वे हमारे प्रतिनिधि के रूप में यह कार्य भलीप्रकार करती रहेंगी । अब तक यदि हमारे दरवाजे पर से २० प्रतिशत व्यक्ति निराश और खाली हाथ लौटे हैं, तो अब ५ प्रतिशत ही लौटेंगे । दुःखी और कष्टपीड़ितों के प्रति सहानुभूति और सेवा का जो क्रम चलता आ रहा है, उसके प्रति हमारा असाधारण मोह है, उससे हमें सन्तोष भी बहुत मिला है, सो उन्हें बन्द या शिथिल करना हमसे बन भी नहीं पड़ेगा । इस प्रकार के जिन्हें लाभ मिलते रहे हैं या मिलने की आशा है, उन्हें निराश तनिक भी नहीं होना चाहिए, वरन् अपनी आँखों में अधिक चमक इसलिए पैदा कर लेनी चाहिए कि माता-पिता की कमाई और समर्थता बढ़ने पर जिस तरह बच्चों को अनायास ही लाभ मिलता है, उस तरह का लाभ अपने परिवार को मिलता ही रहेगा । शरीर देखने और कान से आवाज सुनने की बात न भी बन पड़े तो भी नई उपलब्धियाँ इतनी अधिक होंगी कि उनकी तुलना में इन दो लाभों का छिन जाना किसी को बहुत अधिक नहीं अखरना चाहिए । यह व्यक्तिगत लाभ-अनुदान की बात हुई । समस्त समाज को हमारी इस तप-साधना का जो लाभ मिलने वाला है, वह निश्चित रूप से ऐतिहासिक होगा और समय की एक भारी आवश्यकता उससे पूरी हो सकनी सम्भव होगी । समय ही बताएगा कि हमारा भावी जीवन विश्व-मंगल की दृष्टि से कितना उपयोगी सिद्ध हुआ और ढलती एवं निरर्थक समझी जाने वाली बुढ़ापे की आयु का भी कितना महत्त्वपूर्ण सदुपयोग सम्भव हो गया ।

विदाई की घड़ियों में हमारा जी बहुत प्यार-दुलार से भरा हुआ है, इन दिनों हमारी मन:स्थिति कुछ विचित्र और विलक्षण हो गई है, जैसी जीवन भर कभी नहीं रही । कर्त्तव्य को प्रधानता ही हम देते रहे हैं और उसी दृष्टि से सम्बन्धित व्यक्तियों को न्यूनाधिक महत्त्व देते रहे हैं । जो लोक-मंगल के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सके, उन पर हमारा ज्यादा ध्यान केन्द्रित रहा । जो अपनेपन में ही खोये रहे, उनको दया का पात्र भर समझा और जो बन पड़ा सहायता करके भुला दिया । यही ढर्रा जीवन भर चलता रहा । एक भूल निरन्तर होती रही कि जो विषम परिस्थितियों में जकड़े हुए थे, जिनकी योग्यता स्वल्प थी, वे अपना जीवनयापन और कुटुम्ब-पोषण भी ठीक तरह कर सकने में असमर्थ थे, वे लोकमंगल के लिए अपनी परिस्थिति, मनोभूमि और समर्थता के अभाव में कुछ कर नहीं सकते थे । अभावों से जर्जर स्थिति में उन्हें हर बार हमारी सहायता के लिए ही उन्मुख होना पड़ता था । कष्ट की निवृत्ति में जहाँ से भी सहारा मिले वहाँ पहुँचना और समर्थ का द्वार खटखटाना मनुष्य का स्वभाव है, सो वे प्रत्यक्षत: इसी प्रयोजन के लिए आये हैं ऐसा देखा, पर बहुत बार यह भूल होती रही कि उनके मन में जो असामान्य स्नेह, ममता और आत्मीयता के भाव हमारे प्रति थे, उसकी गहराई में न उतर सके । प्रत्यक्षत: सहायता की याचना करने के कारण उन्हें हल्का समझ लिया और परोक्षत: उनकी ममता और श्रद्धा की जो कली खिल रही थी, उसे देख न सके । अब अपने लम्बे सार्वजनिक और जन-सम्पर्क वाले जीवन पर नजर डालते हैं तो यह भूल शूल की तरह चुभती है । भावभरे स्नेही की उपेक्षा कानूनी अपराध भले ही न हो, पर आत्मिक दृष्टि से वह भी हल्का पाप नहीं है । बात तब सूझी जब समय निकल गया । व्यक्ति कितना ही समझदार क्यों न हो, भूलें उससे भी होती रहती हैं-यह तथ्य हमारे ऊपर कितना अधिक स्पष्ट होता है ? नया जीवन जीना पड़ता तो शायद यह भूल न करते, पर अब तो समय निकल गया । हाथ मलना ही शेष है, सो जिन किन्हीं के प्रति हम यह भूल करते रहे हैं, उनकी विवशता को स्वार्थ-परता समझकर उपेक्षा

करते रहे हों, जिनके स्नेह और सौजन्य को नगण्य मानते रहे हों, लोक-मंगल के लिए कुछ न कर सकने या कम करने के कारण जिन पर झल्लाते रहे हों, उन सबसे आँसू भरी आँखों और भावभरी अन्तरात्मा से हम क्षमा माँगते हैं। ऐसे लोगों में जो जीवित हों वे अभी यह अनुग्रह कर दें, जिनके शरीर दिवंगत हो गये, उनसे हम कुछ समय बाद भेंट करके स्वयं अनुनय-विनय करके क्षमा माँग लेंगे।

पिछले दो-तीन वर्ष से कार्य की अधिकता, जाने की उतावली और परिजनों की प्रगति में शिथिलता से हमारा एक मानसिक दोष उभरा-खीझ और झल्लाहट। जीवन भर हम केवल मिठास, मृदुलता और सौजन्य, ममता और स्नेह भरे वचन बोलने और व्यवहार करने में आगे रहे, पर इन दो-तीन वर्षों में खीझने, झल्लाने और डाँट-डपट करने की प्रवृत्ति बढ़ गई। यों लोगों ने उसे सहा और बूढ़े व्यक्ति का सम्मान रखने की दृष्टि से कुछ कहा नहीं, पर दुःख उन्हें भी जरूर पहुँचा होगा। कटुता अपने आप में एक विष है। सद्भाव और सदुद्देश्य से भी क्रोध नहीं किया जाना चाहिए और अपना सन्तुलन नहीं खोना चाहिए, यह एक मोटी बात है। इस मोटे आदर्श का भी इन दो-तीन वर्षों में कम से कम बीस-तीस बार जरूर उल्लंघन हुआ है। छोटों से माफी माँगना यों लगता तो अटपटा है, पर उस आन्तरिक अभिव्यक्ति को प्रकट किए बिना अपना जी हल्का न होता, सो यह पंक्तियाँ लिख दी गयीं। उपर्युक्त घटनाओं से जिनका भी सम्बन्ध हो वे सभी हमारी आज की मनःस्थिति को समझें और यदि उन्हें हमारे वचन या व्यवहार में जो अनुपयुक्तताएँ लगी हों उन पर धूल डाल दें। हमारे कहने और अनुरोध को जिन्होंने समय-समय पर माना है, वे इसे आगे भी मानते रहेंगे, ऐसी सहज आशा हम कर सकते हैं।

नव-निर्माण का उत्तरदायित्व कन्धों पर लादकर हमें भेजा गया था, सो ६० वर्ष तक उसे ढोते रहे। योजना का स्थूल स्वरूप सर्व-साधारण के सामने है। निस्सन्देह अभीष्ट लक्ष्य की ओर चलने से आशातीत प्रगति हुई है। युग-निर्माण योजना का अखबारी प्रोपेगण्डा नहीं है, तो भी वह इस युग की ऐसी सच्चाई है, जिसका मूल्यांकन किया ही जाएगा और उसे वर्तमान की अति सफल और ज्ञात महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों में से एक मानी जाएगी। इतना विशाल संगठन, इतना बड़ा परिवार और उसके द्वारा संचालित बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक क्रान्ति का महा-अभियान अपने-आप में अनोखा, अनुपम और अद्भुत माना जाएगा। ५० लाख व्यक्तियों का जन-समूह जिस प्रवृत्ति से सम्बद्ध हो और प्रकाश भरी प्रेरणा पाकर एक निर्धारित दिशा में चल रहा हो, उसे नगण्य नहीं माना जाना चाहिए। प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक त्रिविध कार्यक्रमों के द्वारा युग-निर्माण योजना का बाह्य कलेवर इतना आगे बढ़ चुका है कि उसकी उपेक्षा बरतनी शुरू की और अपना जोश ठण्डा करने के लिए कर्तृत्व से हाथ खींच लिया, तो यह एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना होगी। हम चाहते हैं कि ऐसा न हो, न होने पावे। इसलिए परिवार के लिए कुछ अनुरोध कहिए या निर्देश, हम इस लेख के अन्तर्गत छोड़ जाना चाहते हैं। इसे ध्यान से पढ़ा जाए और भुलाया न जाए। इसे हमारी अन्तिम कामना या वसीयत भी समझा जा सकता है। परिजन यदि इसे पूरी करते रह सके तो तपश्चर्या में, परलोक में या जहाँ कहीं भी जमीन-आसमान पर रहेंगे उस कर्मठता और श्रद्धा को सराहते रहेंगे, जिसके द्वारा निर्धारित प्रयोजनों को पूरा करने के लिए ध्यान रखा गया, कष्ट सहा गया और त्याग किया गया। हमारा अधिक गहरा स्नेह और आशीर्वाद, अनुदान और सहयोग-स्वजनों की इस श्रद्धा और सद्भावना पर अवलम्बित रहेगा, जो इन अनुरोधों को महत्त्व देंगे।

हमारे चले जाने के बाद युग-परिवर्तन का दृश्य और स्थूल क्रिया-कलाप जारी रखना, हमारे हर प्रेमी-स्वजन-आत्मीय और सहचर का कर्त्तव्य है। जिसके भी मन में हमारे प्रति श्रद्धा, सद्भावना हो वह उसे भीतर ही दबा कर न रखे। उसे रोने-कलपने तक सीमाबद्ध न करे, वरन् उस संवेदना को, मिशन को अधिक सहयोग देने में बदल दे। मरने के बाद पितरों का श्राद्ध, तर्पण उसके वंशज अधिक भावनापूर्वक करते हैं। वियोग की व्यथा और श्रद्धा की प्रखरता का उभार जिस रचनात्मक मार्ग से प्रकट हो सके, उसे श्राद्ध कहते हैं। आशा करनी चाहिए कि हमारे प्रति जहाँ भी श्रद्धा होगी, श्राद्ध के रूप में परिणत और विकसित होकर रहेगी। मिशन अभी 'ज्ञान-यज्ञ' की प्रथम कक्षा में चल रहा है। इसे अभी अधिक व्यापक बनाया जा सके। ज्ञानघट, झोला पुस्तकालय हमारे लिए पिण्डदान और तर्पण के श्रेष्ठतम आधार माने जा सकते हैं। हमारी आत्मा जहाँ कहीं भी स्वजनों को यह धर्मकृत्य करते देखेगी, सन्तोष और आनन्द अनुभव करेगी। इस क्रिया-कलाप में संलग्न भावनाशील परिजनों को हमारा स्नेह, आशीर्वाद, संरक्षण, सहयोग और सान्निध्य अपने चारों ओर बिखरा दिखाई देगा। सुविकसित पुष्पों पर उड़ने वाले भौंरे की तरह ऐसे दूरदर्शी और सेवाभावी परिजनों के इर्द-गिर्द हम मँडराते ही रहेंगे और उन्हें अपना भावभरा गुंजन अति उत्साहपूर्वक निरन्तर सुनाते रहेंगे। मिशन के अगले कदम रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्यक्रमों से भरे हुए हैं। अवांछनीयता के विरुद्ध एक अतिउग्र और अतिव्यापक संघर्ष छेड़ना पड़ेगा। विचारों को विचारों से काटने की एक घमासान लड़ाई अगले दिनों होकर रहेगी। अनुचित और अन्याय का उन्मूलन किया जाना है, इसके लिए घर-घर और गली-गली में जो भावी महाभारत लड़ा जाएगा, उसकी रूपरेखा विस्तारपूर्वक बता चुके हैं, यह विश्व का अन्तिम युद्ध होगा, इसके बाद युद्ध का वर्तमान वीभत्स स्वरूप सदा के लिए समाप्त हो जाएगा। अनुचित के उन्मूलन के साथ-साथ सृजन के लिए अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियाँ विकसित की जाती हैं। नींव खोदना ही काफी नहीं-महल की दीवार भी तो चुननी पड़ेगी। ध्वंस के साथ सृजन और ऑपरेशन के साथ

मरहम-पट्टी और सफाई, सिलाई का प्रबन्ध अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है । सो समयानुसार वे कथाएँ भी जल्दी ही सामने आने वाली हैं । ज्ञान-यज्ञ की आग में पका-पकाकर इन दिनों उस सृजन के लिए ईंट-चूने के भट्टे लगाये जा रहे हैं । इसमें जैसे ही प्रखरता आई कि दूसरे मोर्चे खड़े हुए । अज्ञान, अभाव और अशक्ति के तीनों मोर्चों पर अपनी सेना कमान सँभालेगी । बौद्धिक क्रान्ति अकेली नहीं है । उसके साथ-साथ नैतिक क्रान्ति और सामाजिक क्रान्ति भी अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है । राजनैतिक स्वाधीनता के लिए लड़ा गया संग्राम जितनी जन-शक्ति और साधनों से लड़ा गया, अपना मोर्चा बहुत बड़ा, कम से कम तिगुना होने के कारण उसके लिए जन-शक्ति, श्रम-शक्ति, भाव-शक्ति और धन-शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी । ज्ञान-यज्ञ के विस्तार से ही यह उपलब्धियाँ हाथ लगेंगी, इसलिए इन आरम्भिक चरणों पर इन दिनों अधिक जोर दिया जा रहा है । सीमित इतने तक नहीं रह सकते । हाथ-पाँवों में जरा-सी गर्मी आते ही मंजिल की ओर अधिक तत्परतापूर्वक कदम उठने स्वयं ही शुरू हो जाएँगे और वे तब तक बढ़ते ही रहेंगे, जब तक मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का लक्ष्य पूरा नहीं हो जाता । हम इस सारे चक्रव्यूह का संचालन पर्दे के पीछे बैठकर करेंगे । हमारा प्रयाण नव-निर्माण के पथ पर चलने वाले किसी सैनिक को अखरेगा नहीं, क्योंकि अदृश्य रहते हुए भी हम दृश्य व्यक्तियों से अधिक समर्थ बनकर, अधिक साहस और अधिक क्षमता के साथ अधिक योगदान, अधिक मार्गदर्शन कर सकने में समर्थ होंगे । सोचे हुए काम को अधूरा छोड़कर हम कन्धा डालने वाले नहीं हैं । हमारी सत्ता दृश्य रहे या अदृश्य, लोक में रहे या परलोक में, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । प्रश्न केवल मिशन की प्रगति में योगदान करने का है, सो हम किसी भी स्थिति में रहते हुए निरन्तर करते रहेंगे । चले जाने के बाद तीन स्थानों में तीन शक्तियाँ तीन गुना काम करेंगी और अपनी त्रिविध क्रिया-पद्धति दिन-दिन अधिक समर्थ और अधिक गतिशील होती चली जाएगी । किसी को भी निराशा की बात नहीं सोचनी चाहिए । निराशा, असफलता और अन्धकार की बात सोचना हमारे, हमारे मार्गदर्शक और उस भगवान के ऊपर अविश्वास करने के बराबर होगा, जिन्होंने इस महा-अभियान को सफल बनाने में अपनी प्रतिष्ठा को दाँव पर लगा दिया है ।

इतना सब होते हुए भी विदाई आखिर विदाई ही है । मनुष्य कितना ही विवेकी क्यों न हो, आखिर कच्चा दूध पीकर ही पला है और कच्ची मिट्टी से ही बना है । हम न सन्त हैं, न स्थितप्रज्ञ, न अवधूत, न परमहंस । मात्र भाव भरे-अन्त:करण को लाद ले चलने वाले तुच्छ से मानव प्राणी मात्र हैं । विद्या, तप, सेवा आदि से हमारा मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए । कोई हमें सही रूप से जानना चाहे तो हमें भावनाओं का निर्झर कहना पर्याप्त होगा । प्यार हमने बिखेरा और बटोरा है । स्नेह के सौदागर के रूप में हमें समझा जाए तो ठीक है । भले ही अपनी सहज प्रवृत्ति के अनुसार बिना किसी लोभ या लाभ को बीच में डाले विश्वमानव को प्यार किया हो, पर इससे क्या, हजार गुना होकर वह लौट तो अपने ही पास आया । जिन्हें हमने दुलारा उन्होंने भी अपनी ममता अर्पित करने में कंजूसी नहीं की । शरीर ने कुछ भी किया हो, अन्तरंग में प्यार बाँटने की उमंग उठती रही और जब उसका प्रतिदान हजार गुना होकर लौटा तो उत्साह और भी अधिक बढ़ गया । इस तरह जीवन के लगभग सारे ही क्षण एक प्रेम-प्रयोगी के रूप में व्यतीत हो गये । भले ही उसे भावुकता कहा जाए, पर यह प्रवृत्ति अब इतनी सघन हो चुकी है कि इसे छोड़ सकना कम से कम इस शरीर में, इस जन्म में तो सम्भव है ही नहीं । मजबूरी तो आखिर मजबूरी ही रहेगी । अपने आप में हमने बहुत सुधार-परिवर्तन किये हैं, पर इस भावुकता को यदि लोग दुर्बलता मानते हों-अवधूत परमहंस स्थिति का व्यवधान मानते हों तो भी वह इतनी सरस है कि हमसे छोड़ते न बनेगी । हम बिना ब्रह्मज्ञानी बने, एक नगण्य मनुष्य के रूप में सन्तोष-पूर्वक जी लेंगे, पर अन्तरंग की भावभरी यह प्रवृत्ति छूट न सकेगी ।

यह भावभरी अन्तरंग मन:स्थिति विदाई के क्षणों में इस बार फिर मचल पड़ी । यों शिविरों और यज्ञों में इसी वर्ष अपने अधिकांश स्वजनों को देख चुके हैं और उनसे भेंट-परामर्श कर चुके हैं, पर मन न जाने किस मिट्टी का बना है जो भरता ही नहीं । विदाई की घड़ी जैसे-जैसे समीप आती है वैसे-वैसे भीतर ही भीतर कोई फिर कोंचने, काटने और मचलने लगा है कि एक बार अपने परिवार को फिर आँख भरकर, जी भर कर देख लिया जाए । सो उसका ताना-बाना बुनना शुरू भी हो गया ।

अपने जीवन-समुद्र का मंथन करने पर जो रत्न हमने पाये हैं, उन्हें दिखाने या देने का प्रयत्न इन्हीं दिनों करेंगे । भविष्य में हम स्वजनों के लिए क्या करेंगे और परिजन हमारे लिए क्या करें, इसकी भी एक रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे । जिस स्नेह-सूत्र में अपने परिवार को हम कितने ही जन्मों से बाँधे हुए हैं, जिस माला में अनेक जाग्रत आत्माओं को पिरोये हुए हैं, उसकी शोभा-सार्थकता घटने की अपेक्षा बढ़ती ही चली जाए, इसका उपाय सोचेंगे और भी न जाने क्या करेंगे । इस समय कहना समय से पहले की बात होगी, पर कुछ करेंगे जरूर ऐसा, जो अद्भुत हो और असाधारण भी । सबसे बड़ी उपलब्धि होगी हमारी आत्म-तृप्ति । सामान्यत: मरते समय हर वयोवृद्ध को अपने कुटुम्ब-परिवार के लोगों को आँख भर देख लेने की इच्छा होती है । लोग तार देकर बुलाये जाते हैं और सिर पर पाँव रखकर दौड़ते आते हैं । प्रत्यक्ष उपयोगिता इसकी भले ही कुछ न हो, पर भावनात्मक दृष्टि से यह सभी सम्बद्ध लोगों के लिए बड़े सन्तोष का कारण रहता है कि महाप्रयाण के पूर्व हम सब हिल-मिल लिए । जो उस अवसर को खो देते हैं, वे पीछे पछताते रहते हैं । यात्री को भी एक अभाव ही अनुभव होता है और अमुक स्वजन का न मिल सकना कष्टकर लगता है । अपने ऊपर भी वह

बात लागू होती है । अपना भी जी कुछ ऐसा ही कर रहा है कि जाते समय अन्तिम बार फिर एक दफा स्वजनों को जी भरकर देख लें और आँखों में वह तस्वीरें खींच लें, जो एकाकी मन में सामने प्रस्तुत होकर भाव-भरी स्मृतियों को उभारती रहें । सूनेपन में अपने लिए मन बहलाने का यह एक अच्छा आधार रहेगा और भी कितने ही कारण हैं । देश भर के प्रभावशाली परिजनों का परस्पर परिचय प्राप्त कर लेना अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । इस सम्मेलन और परिचय के दूरगामी परिणाम होंगे । हम कितने अधिक और कितने समर्थ बन चुके, इसकी एक हलकी-सी झाँकी सम्मेलन में आने वाला हर कोई प्राप्त कर सकेगा ।

इस अवसर पर केवल उन्हें ही आमन्त्रित किया गया है, जो हमारे अन्तरंग से, दर्द से, मिशन से परिचित हैं और उससे सहानुभूति रखते हैं । 'अखण्ड-ज्योति' के प्राय: सभी सदस्य प्राय: इसी स्तर के होंगे, वे आ सकते हैं और उन्हें भी आग्रहपूर्वक साथ ला सकते हैं, जो नियमित सदस्य तो नहीं हैं, पर मिशन की क्रिया-पद्धति और विचारणा से परिचित हैं । उसे पढ़ते-सुनते रहे हैं और उपयोगिता से सहमत हैं । उन्हें आमन्त्रित करने और साथ में घसीट लाने के लिए परिजन हमारा प्रतिनिधित्व कर सकते हैं और आग्रह-अनुरोधपूर्वक साथ ला सकते हैं । स्वीकृति माँगने और सूचना देने का पुराना नियम इस अवसर पर भी जारी रहेगा । इससे ठहराने आदि का प्रबन्ध करने में सुविधा रहती है । सो यथासम्भव जल्दी ही सूचना देने और स्वीकृति पाने का कार्य निपटा लिया जाना चाहिए ।

यह सामीप्य, सान्निध्य और सम्मिलन हमारी ही तरह आगन्तुकों के लिए भी एक कभी न भुलाई जा सकने वाली स्मृति बनकर रहेगा । हमें सन्तोष होगा और परिजनों को प्रकाश मिलेगा । इसलिए विचारणा और भावना की दृष्टि से हमारे साथ एकता, घनिष्टता अनुभव करने वाले हर परिजन के लिए यह एक अन्तिम और अति महत्त्वपूर्ण अवसर है । अच्छा यही हो कि इसे उपेक्षा की दृष्टि से न देखा जाए और गँवाया न जाए । इस समय की चूक हमें भी कष्टकारक होगी और परिजन भी पछताते रहेंगे । सो उचित यही है कि तैयारी में आज से ही लग जाया जाए । जहाँ सच्ची चाह होगी, वहाँ समस्त अड़चनों को चीरते हुए राह भी निकल ही आएगी ।

## विदाई सम्मेलन के लिए जन-जन को आमन्त्रण

हमारा भावी हिमालय-प्रवास एक ऐसी विधि-व्यवस्था है, जिसे टाला नहीं जा सकता । यह कोई सनक, मनोरंजन, जिद या उद्धतपन नहीं है कि हम मिशन के इतने गतिशील कार्य को अधूरा छोड़कर ऐसे ही हिमपर्वतों में धर दौड़ें । हम सदा से कर्म को प्रधानता देते रहे हैं और अपना अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह बताते रहे हैं कि कर्म के माध्यम से ही व्यक्ति और समाज का, लोक और परलोक का हितसाधन हो सकता है । उपासना को कम और जीवन-साधना को अधिक महत्त्व देने की प्रेरणा ही हमने सर्व-साधारण को दी है । फिर अगले दिनों हमें जो कदम उठाने पड़ रहे हैं, हिमालय में अज्ञात एकान्त साधना के लिए जाना पड़ रहा है, उससे किसी को ऐसा लग सकता है कि अपनी पिछली मान्यताओं और शिक्षाओं के विपरीत हम आचरण करने जा रहे हैं । नव-निर्माण के महान अभियान की गतिशीलता से हमारा कर्तृत्व इतना घुल-मिल गया है कि लोगों को यह लग सकता है कि यह व्यक्तित्व एवं मार्ग-दर्शन हट जाने से मिशन को क्षति पहुँचेगी और शिथिलता आ जाएगी । ऐसी दशा में नव-निर्माण की अभिरुचि रखने वाले प्रत्येक भावनाशील व्यक्ति को हमारा यह महाप्रयाण दु:खद और दुर्भाग्यपूर्ण लग सकता है और अधिक जोर देकर कहा जा सकता है कि यह विचार हम छोड़ दें और जिस तरह अब तक काम करते रहे, उसी तरह आगे भी करते रहें ।

परिजनों की चिन्तन-प्रक्रिया का मूल और महत्त्व हम समझते हैं । यदि जीवन का शेष समय इसी अभ्यस्त क्रिया-कलाप में लग जाता तो हमें सुविधा ही रहती और सरलता भी पड़ती । अपनी कमजोरी को छिपाते नहीं, हमारा अन्त:करण अतिभावुक और मोह, ममता से भरा पड़ा है । जहाँ तनिक-सा स्नेह मिलता है, मिठास की तलाश करने वाली चींटी की तरह रेंगकर वहीं जा पहुँचता है । स्नेह-सद्भाव की, प्रेम और ममता की मधुरिमा हमें इतनी अधिक भाती है कि शहद में सनी मक्खी की तरह उस स्थिति को छोड़ने की रत्ती भर भी इच्छा नहीं होती । जिन लक्ष-लक्ष परिजनों का स्नेह, सद्भाव हमें मिला है, जी चाहता है कि उस मिठास का आनन्द हजार जन्म लेकर, हजार शरीर धारण कर, हजार कल्प तक लेते रहें । प्रेमी के लिए मिलन का आनन्द बड़ा सुखद होता है, पर बिछुड़ने का दर्द उसे मर्माहत करके ही रख देता है । जिसे प्रेम करने और पाने का अवसर मिला है, वह जान सकता है कि प्रियजनों से बिछुड़ने की घड़ी कितनी मर्मान्तक और हतप्रभ कर देने वाली होती है । लगता है कोई उसका कलेजा ही चीरकर निकाल लिए जाता है । भगवान ने हमें न जाने क्यों स्नेहसिक्त अन्त:करण देकर भेजा, जिसके कारण हमें जहाँ प्रिय-पात्रों के मिलन की थोड़ी-सी हर्षोल्लास भरी घड़ियाँ उपलब्ध होती हैं, वहाँ उससे अधिक वियोग-बिछुड़न के बारम्बार निकलने वाले आँसू बहाने पड़ते हैं । इन दिनों भी हमारी मनोभूमि इसी दयनीय स्थिति में पहुँच गई है । मिशन के भविष्य की बात एक ओर उठाकर भी रख दें, तो भी प्रियजनों से सदा के लिए बिछुड़ने वाली बात हमें बहुत ही कष्टकर बनकर शूल रही है । अच्छा होता बीमारी में पड़े रहते और मस्तिष्क रुग्ण-मूर्च्छित होकर पड़े रहने की स्थिति में जीव इस काया को छोड़कर चला जाता । तब उस अर्द्धमूर्च्छित स्थिति में प्राणप्रिय परिजनों से बिछुड़ने का यह कष्ट न सहना पड़ता, जो विदाई की घड़ी निकट आ जाने पर निरन्तर घट नहीं, बढ़ ही रहा है ।

हमारी मोह-ममता की इसे अति ही समझा जाना चाहिए कि चलते समय किसी से न मिलने और चुपचाप प्रयाण कर जाने के अपने पूर्व निश्चय को बदलना पड़ा। जी मानता ही नहीं। बेतरह मचलता है और कहता है कि एक बार आँख भरकर प्रियजनों को देख लेने का अवसर यदि मिलता है तो उस लाभ को क्यों छोड़ा जाए? यों हम यह भी जानते हैं कि चलते समय अधिक मोह-ममता बढ़ाने पर फोड़ा और अधिक दर्द करेगा और अगले दिनों हमें अपने को सँभालने में बहुत अधिक अड़चन पड़ेगी। फिर भी भीतरी मचलन को देखिए न कि हमें इसके लिए मजबूर कर दिया कि चलते समय विदाई सम्मेलन और बुला लें और जी भरकर उन स्वजनों को देख लें, जिनके साथ चिरअतीत से हमारे अतिमधुर सम्बन्ध जुड़े चले आ रहे हैं और निर्बाध गति से आगे भी चलते रहेंगे।

जिस स्तर की अपनी मनोभूमि है, उसमें भक्ति-साधना की बात जमती थी, कर्म का ढर्रा भी चलता रह सकता था, पर योग-साधना, तपश्चर्या सो भी निविड़ एकाकी वातावरण में हमारे उपयुक्त न थी। ६० वर्ष का जनसम्पर्क और लोक मंगल के क्रिया-कलाप चलाते रहने वाला ढर्रा अब इतना आस-पास में आ गया है और अनुकूल पड़ने लगा है कि उसे छोड़ते-बदलते अब काफी अड़चन मालूम पड़ती है। शरीर भी ढीला हो चला और वह तपश्चर्या की कठोर परिस्थितियों से अचकचाता है। इतना सब होते हुए भी हम रुक न सकेंगे, जाने की विवशता को टाला न जा सकेगा। २० जून, १९७१ को हम निश्चित रूप से चले जाएँगे।

कारण स्पष्ट है। हमने ४५ वर्ष पूर्व अपना शरीर, मन, मस्तिष्क, धन और अस्तित्व, अहंकार सब कुछ मार्गदर्शक के हाथों बेच दिया है। हमारा शरीर ही नहीं अन्तरंग भी उसका खरीदा है। अपनी कोई इच्छा शेष नहीं रही। भावनाओं का समस्त उभार उसी अज्ञात शक्ति के नियन्त्रण में सौंप दिया है। जिसके हाथों हमने अपने को, शरीर और मन को बेचा, बदले में उसने अपने को हमारे हाथ बेच या सौंप दिया। हमारी तुच्छता जिसके चरणों में समर्पित हुई है, उसने अपनी सारी महानता हमारे ऊपर उँड़ेल दी। बाँस के टुकड़े ने अपने को पूरी तरह खोखला करके वंशी के रूप में प्रियतम के अधरों का स्पर्श किया, तो उसमें से मनमोहक राग रागनियाँ निकलने लगीं। हमने यही किया, बेचा सो बेचा, सौंपा सो सौंपा, आगा-पीछा सोचने का फिर कोई प्रश्न ही नहीं रहा। अपनी इच्छा का तब अस्तित्व ही नहीं रहा। उसी की हर इच्छा जब अपनी इच्छा बन गई तो वह अद्वैत स्थिति ब्रह्म और जीव के मिलन में आने वाले ब्रह्मानन्द की तरह अति सुखद लगने लगी। जिसे सच्चे मन से, बिना किसी प्रतिदान की आशा के गहरा आत्म-समर्पण किया गया, उसने भी अपनी महानता में, उदारता में, प्रतिदान में कमी नहीं रहने दी। हमारे पास जो प्रत्यक्ष दीखता है, उससे हजार-लाख गुना अप्रत्यक्ष छिपा पड़ा है। यह हमारा उपार्जन नहीं है। विशुद्ध रूप से उस हमारी मार्गदर्शक सत्ता का ही अनुदान है, जिसके साथ हमारी आत्मा ने विवाह कर लिया और अपना आपा सौंपने के फलस्वरूप उसका सारा वैभव करतलगत कर लिया। इस प्रकार यह समर्पण हमारे लिए घाटे का सौदा नहीं है। यद्यपि आरम्भ से इसे विशुद्ध घाटा ही समझकर स्वीकार किया गया था।

हमारे घनिष्ट स्वजनों को यह जान ही लेना चाहिए कि गत ४५ वर्षों में हमारा प्रत्येक क्रिया-कलाप हमारे मार्गदर्शक के संकेतों पर ही चला है। समाज के सम्बन्ध में, दूसरों के सम्बन्ध में हम बहुत बातें बहुत ढंग से सोचते हैं, पर अपने बारे में सिर्फ उतना ही सोचते हैं कि हमारा मास्टर हमें जिधर ले चलेगा, उधर ही चलेंगे, भले ही वह मार्ग हमारी रुचि या सुविधा के सर्वथा विपरीत ही क्यों न हो। तो जबकि उसने भावी तपश्चर्या का कार्यक्रम हमारे सामने रख दिया है, तो उसके सम्बन्ध में आगा-पीछा सोचने का कोई प्रश्न ही नहीं रहा। समर्पण इससे कम में सम्पन्न ही कहाँ होता है? प्रेमिका ने प्रियतम पर अपनी इच्छा थोपी, तब तो वह व्यापार, व्यभिचार बन जाएगा। हमारी आत्मा इतनी उथली नहीं जो समर्पण करने के बाद अपने मास्टर पर अपनी अभिरुचि का प्रस्ताव लेकर पहुँचे।

हमारा मार्गदर्शक हमारे विवेक को सन्तुष्ट कर चुका है। नव-निर्माण की, युग-परिवर्तन की महान प्रक्रिया को सम्पन्न करने के लिए मात्र स्थूल क्रिया-कलाप पर्याप्त न होंगे। इसके लिए सूक्ष्मजगत को प्रभावित करना पड़ेगा। उग्र तपश्चर्या द्वारा नियति की भाव-तरंगों को इतना परिष्कृत बनाना पड़ेगा कि प्रसुप्त उच्च आत्माएँ, जग पड़ने और उठ चलने की आवश्यकता अनुभव करें। ऊषा की ध्वजा उड़ाता हुआ चन्द्रचूड़ जब अरुणोदय के रूप में धावमान होता है तो सोये हुए सभी प्राणी जाग पड़ते हैं और अपने नित्य-कर्मों में निरत हो जाते हैं। नव-जागरण की वेला में प्रातःकालीन ऊषा के अग्रगामी अरुण चन्द्रचूड़ की तरह हमें अग्रगामी बनने के लिए शक्ति का उपार्जन करना होगा। १५ से ४० वर्ष तक की २४ वर्ष की आयु को इसी प्रकार शक्तिसंचय में हमें लगाना पड़ा है। उस उपार्जित पूँजी के बलबूते पर ही वह सब कर सकना सम्भव हो सका जो ४० से ६० वर्ष तक के २० वर्षों में हुआ दिखाई पड़ता है। यदि गायत्री पुरश्चरणों की शृंखला में शक्तिसंचय का वह क्रिया-कलाप न चला होता तो जो कुछ अनुपम, अद्भुत और आश्चर्यजनक बन पड़ा है, वह कदापि सम्भव न रहा होता। शरीर, मन और धन की शक्ति नगण्य है। हजार-लाख व्यक्ति मिलकर भी स्थूल उपकरणों से भावनात्मक नव-निर्माण एवं युग-परिवर्तन जैसी महान प्रक्रिया सम्पन्न नहीं कर सकते। उसके लिए आत्मबल की अनिवार्य रूप से आवश्यकता रहती है। पीछे जो किया जा चुका, हमें उससे हजार-लाख गुना काम अभी और करना है। उच्च आत्माओं को मोहनिद्रा

में से जगाकर ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति के लिए लोक-मंगल के क्रिया-कलापों में नियोजित करना है । मामूली समझाने-बुझाने से उन्होंने करवट मात्र बदली, उठकर खड़े न हो सके । झकझोर कर जगाने, उठाकर खड़ा कर देने और उनको उपयुक्त कार्य में नियोजित करने के लिए वाणी में कड़क और कलाइयों में शक्ति चाहिए । इसके लिए शक्तिसंग्रह की तपश्चर्या फिर आवश्यक हो गई । अगले दिनों हमें यही करना होगा । तोप ढालने के लिए असली अष्टधातु चाहिए । मास्टर ने हमें अष्टधातु समझा और तोप ढालने के लिए भट्ठी में गलने के लिए बुलाया तो किस मुँह से इनकार करें । इनकारी हमारे समर्पण को ही कलंकित कर देगी । इतना जोखिम हम किसी भी मूल्य पर उठाने को तैयार नहीं । सो मास्टर की मर्जी पूरी करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई चारा शेष नहीं रहा ।

अध्यात्म विद्या के शक्ति-तन्त्र को धारण करने के लिए परशुराम, भगीरथ जैसी आत्माओं की जरूरत पड़ती है । घटिया लोग कुण्डलिनी जागरण से लेकर सिद्धि-सामर्थ्यों की उपलब्धि के स्वप्न भर देख सकते हैं, उन्हें धारण करने के लिए शंकर जैसी जटाएँ चाहिए, सो कोई अपनी सर्वतोमुखी पात्रता विकसित करता नहीं, मात्र मन्त्र-तन्त्र के छुटपुट कर्मकाण्डों से लम्बे-चौड़े स्वप्न देखते और विफल मनोरथ, निराश, असफल बने रहते हैं । युग-परिवर्तन के लिए आत्म-शक्ति का प्रयोग प्रधान रूप से होता है । इसके लिए विद्युत उत्पादन के केन्द्र खड़े करने होंगे । अब इसके बिना मात्र प्रचार या उछल-कूद से काम न चलेगा । परिवर्तन के लिए अभीष्ट आत्म-शक्ति का केन्द्र खड़ा कर उससे अगणित यन्त्रों का संचालन किया जाता है । यदि अपनी हड्डियाँ इस प्रकार की अणुभट्टी बनाने में नींव के पत्थर की तरह प्रयोग की जानी हैं तो हमें इसमें असहमति क्यों प्रकट करनी चाहिए ? कष्ट के पीछे सदा हानि ही नहीं होती, उसके पीछे सौभाग्य भी झाँकता रहता है । लुप्त आत्मा-विद्या का पुनरुत्थान करके अनेकों को मनस्वी, महामानव, सिद्ध और समर्थ बनाने का सौभाग्य हमें दिया जा रहा है, तो उसे शिरोधार्य करने से इनकार क्यों करें ?

विदाई का वियोग हमारी भावुक दुर्बलता हो सकती है या स्नेहसिक्त अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रक्रिया । जो भी हो हम उसे इन दिनों लुप्त करने का यथासम्भव प्रयत्न कर रहे हैं । मन की मचलन का समाधान कर रहे हैं । गत एक वर्ष से देशव्यापी दौरे करके परिजनों से भेंट करने की अपनी आन्तरिक इच्छा को एक हद तक पूरा किया है । अब विदाई सम्मेलन बुलाकर एक बार, अन्तिम बार जी भरकर अपने परिवार को फिर देखेंगे । अपने स्मृतिपटल पर आँखों के कैमरे से प्रियजनों की तस्वीरें फिर खींच ले जाना चाहते हैं, जिससे जब एकान्त में मन मचले तो उन मधुर चित्रों को देखकर अपनी छाती ठण्डी कर लिया करें । कहना न होगा कि प्रेम के साथ अनुदान की स्वाभाविक वृत्ति जुड़ी है । स्नेह, सेवा-सहायता के रूप में विकसित होता है । हमें अपनी आत्मीयता की गहराई और सच्चाई सिद्ध करने के लिए-स्वजनों द्वारा समय-समय पर दिए गये आत्मिक और भौतिक अनुदानों का ब्याज समेत ऋणभार चुकाने के लिए अगले दिनों बहुत कुछ करना है । इन दिनों स्वल्प-सामर्थ्य से हम इच्छित सेवा-सहायता कर सकने में सफल नहीं हो रहे हैं । इस कमी और लज्जा को अगले दिनों पूरा कर देंगे । हम ऐसे वैरागी, त्यागी लाख जन्मों में भी न हो सकेंगे, जो अपने प्रति सद्भावना, आत्मीयता रखने वालों के सौजन्य को भुला दें, उन्हें स्मरण न करें, संचित आत्मीयता खो दें और सेवा-सहायता करने की, स्नेह-वात्सल्य बरत सकने की मनोवृत्ति को बदल दें । देखेंगे यदि ऐसी सूखी योग-साधना ही करनी पड़ी तो कहेंगे यह अपने वर्तमान ढाँचे को बदलने, तोड़ने और नष्ट किए बिना सम्भव नहीं । सो हे गुरुदेव ! यदि हमें ऐसी ही नीरस तपश्चर्या करनी है और रूखी मनोभूमि बनानी है, तो वर्तमान अस्तित्व को पूरी तरह चूर-चूर करके फिर नई चीज उससे बनाइये । तब वह कलेवर शायद उस तरह की शुष्क साधना कर सके । इस अवतरण का तो रोम-रोम ममता से सराबोर हो रहा है, उसे सर्वथा उलटा किया गया तो फिर टूट या बिखर ही जाएगा । न अपने काम का रहेगा, न किसी दूसरे का । प्रेम-भावना हमें इतनी सरस लगती है कि उसे छोड़कर शायद लोक-मंगल और तपश्चर्या भी हम से न बन सके । हमारा समर्पण स्वीकार करने वाला इस हमारी दुर्बलता को जानता है और विश्वास है कि अपनी सहज सहृदयता से इस पर इतना वजन न लादेगा, जिससे कमर ही टूट जाए । स्नेहसिक्तता हमसे छिनी, तो रहेंगे तो अपने स्वामी के ही, पालन तो करेंगे निर्देश ही । चलेंगे तो उसी मार्ग पर लेकिन अपनी मौलिक विशेषता खोकर निर्जीव जैसे हो जाएँगे । फिर शायद अपना अस्तित्व ही स्थिर रखना हमें भारी पड़ जाएगा ।

विश्वास है कि हमें अपनी भावी तपश्चर्या की अति-उग्रता और कठोरता के बीच भी इतनी छूट रहेगी कि स्वजनों से स्नेह-सद्भावों का आदान-प्रदान करते रह सकें । हमारे लिए इतना बहुत है । इतनी सरसता बनी रही तो हम वन-पर्वत, हिम-कन्दराओं की नीरवता सहन कर लेंगे और शरीर तथा मन को जितना भी अधिक तपाना पड़े, उस उष्णता को धैर्यपूर्वक पचा लेंगे । हमारी विस्मृति किसी घनिष्ट को भुला न दे, इसलिए विदाई सम्मेलन में प्रायः सभी स्वजनों को आग्रहपूर्वक अन्तिम भेंट के लिए आमंत्रित किया है ।

यह सम्मेलन हमारी अनुभूतियों का विकेन्द्रीकरण है । हमें कहना बहुत है, बताना बहुत है और देना बहुत है । वाणी से शायद उतने उफान को उँड़ेलना सम्भव न हो सके, पर अन्तरंग की प्राण-शक्ति को उभारकर हर आगन्तुक के अन्तस्तल तक प्रवेश करेंगे और जहाँ जितना, जिस स्तर पर बीजारोपण कर सकना सम्भव होगा, पूरी सावधानी के साथ करेंगे । जहाँ हम अन्तिम बार अपनी आत्मा तृप्त करने और छाती ठण्डी करते हुए हलका

करेंगे, वहाँ आगन्तुक भी कुछ ऐसा अनुभव प्राप्त करके जाएँगे, जो उनके लिए एक अमिट और सुखद स्मृति बनकर चिरकाल तक विद्यमान बना रहेगा । हो सकता है किसी को उस प्रकाश से अपने उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकने की दिशा भी मिल जाए ।

# विदाई सन्देश

## २० जून, १९७१ की वेला में मथुरा में सम्बोधित

आज हम युगसंधि की वेला में अवस्थित हैं । अनीति, अविवेक, अहंता, दुर्बुद्धि और दुर्भावना भरा अन्धकार अब तिरोधान होने को है । इसके विपरीत समता, ममता, एकता एवं शुचिता के आधार पर खड़ा होने वाला, सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों का प्रभात अब उदय होने को ही है । इस अरुणोदय के ब्रह्ममुहूर्त में हम सब भावनाशील और जीवित-जाग्रत आत्माओं को उठ खड़ा होना चाहिए और ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति के लिए उस पुण्य-प्रक्रिया को अपनाना चाहिए, जिसे आत्मबल सम्पन्न आत्माएँ समय-समय पर अपनाती रही हैं । आज की विशिष्ट सन्धि-वेला ऐसी ही है, जिसमें कुछ विशिष्ट कर्तव्यपालन करने का उत्तरदायित्व हम सबके कन्धों पर आ पड़ा है । उचित यही है हम सब उसे पूरा करने के लिए पेट और प्रजनन, वासना-तृष्णा और अहंता की कीचड़ में से निकलकर युग-धर्म पालन करने और तत्सम्बन्धित उत्तरदायित्वों का वहन करने के लिए तत्परता और सजगता के साथ कटिबद्ध हों ।

हममें से हर किसी को यह विश्वास करना चाहिए कि दुष्प्रवृत्तियों और दुर्भावनाओं का अन्धकार युग अब बीत चला, पाप और अविवेक इन दिनों बुझते समय तीव्र लौ के साथ जलने वाले दीपक की तरह, मरते समय पर उगाने वाले कीड़े की तरह अब अधिक तीव्र और उग्र हो रहे हैं, इससे उनकी प्रबलता एवं समर्थता नहीं आँकी जानी चाहिए, वरन् यह समझा जाना चाहिए कि अब मरणासन्न रोगी जिस तरह श्वास लेता है, उसी तरह चारों ओर अनाचार की सघनता बढ़ रही है । सूर्योदय से कुछ समय पूर्व अन्धकार की कालिमा जिस तरह सघन हो जाती है, ठीक उसी तरह इन दिनों दुष्प्रवृत्तियों की बाढ़ तो आई हुई है, पर यह अधिक समय टिकने वाली नहीं है । सृष्टि का सन्तुलन स्थिर रखने वाली दिव्यसत्ता, अपनी घोषित प्रतिज्ञा के अनुसार प्रभातकालीन अरुणोदय के रूप में अब उदय होने जा रही है और मनुष्य में देवत्व के उदय तथा धरती पर स्वर्ग के अवतरण की घड़ी निकट आ रही है । यदा-यदा हि धर्मस्य.... की प्रतिज्ञा पूरी करने भगवान भास्कर जन जाग्रति एवं नव-निर्माण की प्रखर किरणों के साथ अब उदय होने ही वाले हैं । ऐसे समय जब भी आये हैं, तब उस तरह की विशिष्ट आत्माओं ने जैसी कि इस विदाई समारोह में एकत्रित की गई हैं- विशिष्ट कर्त्तव्यों का पालन किया है । अब उसकी पुनरावृत्ति होगी । हम सब ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति में रीछ-वानरों की तरह, लकुटिधारी गोप-बालकों की तरह पूरे उत्साह के साथ योगदान करेंगे । इसी उद्‌बोधन और प्रगति प्रयास को प्रखर बनाने के लिए यह सम्मेलन बुलाया गया है, जिसमें आप सब एकत्रित किये गये हैं ।

कहना न होगा कि इस महान परिवर्तन के अग्रदूत की तरह हमें आना पड़ा और ६० वर्ष का जीवन, पूर्व ही नियोजित करना पड़ा । अपनी २४ वर्षीय तपश्चर्या के प्रकाश में जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े मणि-मुक्तकों को ढूँढ़-ढूँढ़कर एक सुसम्बन्ध माला के रूप में पिरोया है । अब तक के हमारे जीवन की यही प्रमुख उपलब्धि है । आप लोग अपने को पहचानते नहीं, आत्म-विस्मृति की मूर्छना में झपकी लेते रहे हैं, पर हम जानते हैं कि 'युग-निर्माण' संगठन की माला में जिन परिजनों को प्रयत्नपूर्वक पिरोया गया है, उनमें से प्राय: सभी हनुमान, अंगद की, रीछ-वानरों की, भीम-अर्जुन की, गोप-गोपियों की स्थिति में रह चुके हैं । हीरा कीचड़ में सन गया हो तो भी उसका वास्तविक मूल्य अक्षुण्ण रहेगा । हम लोग अहंता और ममता के गर्त में गिरकर मायाग्रस्त निरीह प्राणी जैसे लगते भर भले ही हों, फिर भी वस्तुस्थिति ज्यों की त्यों है । जामवन्त ने समुद्र लाँघते समय हनुमान की हिचक को दूर करने के लिए उद्‌बोधन दिया था और उस आत्म-बोध को पाते ही सामान्य बन्दर के कलेवर से विस्तृत होकर हनुमान अति महान रामदूत बन गये थे । आप सबको वैसे ही रामदूत हनुमान बनने का उद्‌बोधन देने के लिए, समवेत करने के लिए हम पिछले दिनों अधिक प्रयत्न करते रहे हैं और इस विदाई के समय अपने स्वर को अधिक तीव्र करने और आपको झकझोरने के लिए यह शिविर बुलाया है, जिसमें आज आप सब एकत्रित हैं ।

अन्धकार मर रहा है और प्रकाश उग रहा है । इस तथ्य को हमें हजार बार स्वीकार करना चाहिए और अपने अन्तरंग की गहराई तक इस वास्तविकता को जान लेना चाहिए कि आप लोग जो युग-निर्माण परिवार के सदस्य हैं-वस्तुत: विशिष्ट आत्माएँ हैं और इस अति महत्त्वपूर्ण सन्धिवेला में, उनका विशिष्ट कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है । वह समय आ गया, जबकि पेट और प्रजनन की, वासना और तृष्णा की कभी न सुलझने वाली समस्याओं को एक कोने पर रखकर हमें सर्वतोभावेन ईश्वरीय प्रयोजन की, युगपुकार की पूर्ति करने के लिए जुट जाना चाहिए । आपत्तिकाल में सामान्य क्रिया-कलाप की उपेक्षा करके भी तत्कालीन विपन्नता का सामना करने के लिए जुटना पड़ता है । आज की वेला हम सबके सामने ठीक इसी तरह परीक्षा की घड़ी एवं कर्त्तव्य की चुनौती बनकर हमारे सामने उपस्थित है । विदाई के सन्देश के रूप में हमें प्रथम निवेदन आप सबसे यही करना है कि यह समय धन, सन्तान, मौज और अहंता की अभिवृद्धि का नहीं, वरन् उस युगधर्म को पालन करने का है, जो

चिरकाल के उपरान्त पुन: सामने आ उपस्थित हुआ है । ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते, उन्हें विरले ही भाग्यवान उपलब्ध करते हैं । उचित यही है कि इन घड़ियों को व्यर्थ न गँवाया जाए और हम में से हर जीवित आत्मा युग-परिवर्तन के ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति के लिए त्याग और बलिदान भरा ऐसा योगदान प्रस्तुत करे, जो अपने आत्म-गौरव, वर्चस्व को अक्षुण्ण रखे रह सके । वह समय उपेक्षा और अवसाद का नहीं । इसमें आप में से हर अर्जुन को पाञ्चजन्य का तुमुलघोष सुनाना चाहिए और अपने वीर बाहुओं में गांडीव को जानना चाहिए । भारत अब पिछड़ा भारत नहीं रहेगा, वह विश्व का नेतृत्व करने वाला महाभारत बनेगा । इस महान अभियान में आप लोगों की, जो इस समारोह में उपस्थित हुए हैं तथा जिनके लिए हमारा सन्देश लिए जा रहे हैं, उन सब परिजनों की बड़ी से बड़ी और शानदार से शानदार भूमिका होनी चाहिए ।

हमारा अब तक का समस्त जीवन संस्कारवान आत्माओं को खोजने, उन्हें एक माला में पिरोकर सुसंगठित करने और युग-परिवर्तन के पुण्य प्रयोजन में जुटा देने के लिए ही नियोजित होता रहा है । साधना हमने इसीलिए की कि प्रस्तुत प्रयोजन की पूर्ति में हम अधिक समर्थ सिद्ध हो सकें । साहित्य इसीलिए लिखा कि सत्य, प्रेम और न्याय के ढाँचे में मानवीय चेतना को ढाला जा सके और उदारता, सद्भावना और सहकार के आधार पर समाज का निर्माण कर सकने का प्रकाश उत्पन्न हो सके । ऋतम्भरा प्रज्ञा-सहृदयता की देवी गायत्री माता और पुण्य-परमार्थ के देवता यज्ञ पिता का आधार लेकर गायत्री यज्ञों की जो साधनात्मक एवं आन्दोलनात्मक प्रक्रिया चलाई उसका भी यही प्रयोजन था कि वातावरण में देव-चेतना का उदय और देवप्रवृत्तियों का प्रवाह गतिशील हो सके । वाणी, लेखनी, संगठन, चिन्तन, मनन एवं रचनात्मक और ध्वंसात्मक गतिविधियों से हम अब तक केवल एक ही काम करते रहे हैं कि निकट भविष्य में निश्चित रूप से प्रस्तुत होने वाले युग परिवर्तन के साथ जुड़े हुए आदर्शों एवं क्रिया-कलापों की एक झाँकी सर्व साधारण को हो सके । स्नेह-सम्पर्क बढ़ाने में यहाँ तक कि आशीर्वाद-वरदान में भी हमारा एक ही प्रयोजन रहा है कि सम्बन्धित व्यक्तियों को नवयुग के अरुणोदय की दिशा में उन्मुख होने की प्रेरणा दी जा सके । कोई हमें ठीक तरह जानना चाहता हो तो उसे इतना ही जानना चाहिए कि नवयुग की चेतना का उदय निकट है, इस तथ्य से सब लोगों को परिचित करने के लिए प्रभातकालीन कुक्कुट की तरह हम निरन्तर बाँग लगाते रहे हैं । युग परिवर्तन के उद्घोष अग्रदूत की भूमिका प्रस्तुत करते रहे हैं । हमारे आगमन और प्रयाण का प्रयोजन और भी ठीक तरह जाना जा सके, इसके लिए विशेष रूप से यह विदाई सम्मेलन नियोजित किया गया है । जो जाग्रत-आत्माएँ अपने साथ जुड़ी हुई हैं, परिवार के रूप में घनिष्ट हो गई हैं, उन्हें एक बार पूरी चेष्टा के साथ झकझोरा जाए और उन्हें अपने गौरव के अनुरूप भूमिका सम्पादित करने के लिए विशेष आग्रह किया जाए, यह भाव इन दिनों निरन्तर हमारे मन में उमड़ रहा है और विदाई सन्देश के रूप में अपने परिजनों के अन्त:करणों तक अपने अन्तरंग की आग की एक-एक चिनगारी के रूप में यह प्रेरणा पहुँचाना चाहते हैं कि वे अब तक का जीवन कैसा ही क्यों न जी चुके हों, भावी जीवन लम्पट और लोभी की तरह न जियें । हमें प्रभु समर्पित जीवन जीना चाहिए । इस युग-परिवर्तन की सन्धि वेला में तो हममें से प्रत्येक को अपने चिन्तन और कर्तृत्व को इसी दिशा में नियोजित कर देना चाहिए । जाग्रत आत्माओं के अपने परिवार के किसी सदस्य के मन में यह नास्तिक भाव नहीं आने देना चाहिए कि यदि आप लोकमंगल के लिए कुछ करने लगे तो आपकी निर्वाह-व्यवस्था टूट जाएगी । विश्वास रखा जाए जो ईश्वर स्वार्थियों, पापियों, निन्दकों और नास्तिकों का भी पेट भरता है, वह उसी के कार्यों में संलग्न आस्थावानों को भूखा नंगा क्यों रहने देगा ? आकाश-पाताल छूने वाली तृष्णा की पूर्ति तो कौन कर सका है, पर निर्वाह सुनिश्चित है । लोक-मंगल की दिशा में कदम बढ़ाने वालों को भगवान के **"योगक्षेमं वहाम्यहम्"** पर भरोसा और पक्का विश्वास करते हुए युग की पुकार को पूरा करने के लिए अब तक जो किया जाता रहा है, उससे बहुत अधिक करने का साहस समेटना चाहिए ।

हमारी भावी एकान्त-साधना एवं उग्र तपश्चर्या के लिए जाने के इस अवसर पर स्वजनों का दु:खी होना स्वाभाविक है । प्रेम में मिलन के समय जितना आनन्द मिलता है, उससे ज्यादा वियोग का दु:ख होता है । हमने प्रिय परिजनों को सच्चे मन से पूरा-पूरा प्यार किया है । उसकी प्रतिध्वनि परिजनों के द्वारा हमारे ऊपर अनेक गुना स्नेह सद्भाव बिखेरने के रूप में बरसी । हमारा सुन्दर-सुहावना जीवनक्रम एक लम्बी अवधि से चला आ रहा था अब उसमें व्यवधान होता है तो हम सभी का जी व्यथित और भारी होता है । प्रियजनों से बिछुड़ने का हमें दु:ख है, इन विदाई के क्षणों में परिजनों के साथ पिछले दिनों के स्नेह-सद्भाव की मधुर स्मृतियों को याद करते हैं और भविष्य के लिए वह द्वार बन्द होने की बात सोचते हैं तो हमारा पेट दुखने लगता है, आँखें बरस पड़ती हैं और गला रुँध जाता है, हमारी इन दिनों की इस स्थिति की प्रतिक्रिया, प्रतिध्वनि हमारे घनिष्ट प्रियजनों पर होती है । उनका भी हमारी ही तरह व्यथित होना स्वाभाविक है । इन दिनों वियोग और बिछोह की करुणा भरी, द्रवित करने वाली मन:स्थिति इस तथ्य को प्रकट करती है कि हम लोगों के बीच कितनी गहरी एकता जुड़ गई है । प्रेम की गहनता इस बिछोह की घड़ी में जो व्यथा उत्पन्न कर रही है उसे यों ही हवा के झोंके के साथ बिखर नहीं जाना चाहिए, वरन् उसे व्यवस्थित परिष्कृत रूप मिलना चाहिए । वियोग की वेदना को हमारी अन्तर्व्यथा तक

बढ़ना चाहिए । मनुष्य की दुर्बुद्धिग्रस्तता के दुष्परिणामों की बात सोचकर हम जीवन भर बहुत व्यथित रहे हैं और निरन्तर बिना पानी की मछली और रोम-रोम में तीर चुभे घायल की तरह तड़पे हैं । अपने लिए हमें विश्वमानव की दुर्दशा को दूर करने और धरती पर स्वर्ग अवतरित करने के ही सपने आते रहे हैं । इसी व्यथित मनःस्थिति के साथ हमने लम्बा जीवन जी लिया । जिन्हें हमारे भी वियोग की सचमुच व्यथा है, उनसे अनुरोध है कि वे हमारी अन्तर्व्यथा को समझें और अपने अन्तरंग में हमारी भाव-व्यथा को भी स्थान दे सकें, तो उनकी वियोग-व्यथा को और अधिक महत्त्व दिया जा सकेगा और हमारे प्रति उनके ममत्व को और भी अधिक गहरा एवं सच्चा माना जा सकेगा ।

हम कितनी ही बार कह चुके हैं कि संसार त्यागने, कर्त्तव्य त्यागने, एकान्त में शान्ति खोजने वाले दूसरे त्यागी, बाबाजी लोगों से हमारी भावी साधना में कोई संगति नहीं है । बाहर से क्रियाएँ तो आत्महत्या करने के उद्देश्य से कुएँ में कूदने वाले और उसको बचाने के लिए उतरने वाले की भी एक-सी दीखती हैं, पर उनके प्रयोजन और परिणाम में भारी अन्तर होता है । हमारा प्रयोजन भी गृहत्यागी, कर्त्तव्यविमुख तथा कथित ज्ञानी-ध्यानियों से सर्वथा पृथक है । हम मूलतया शक्तिसंग्रह करने जा रहे हैं और उस शक्ति का प्रयोग अपनी ऋद्धि-सिद्धियों के लिए, स्वर्गमुक्ति के लिए नहीं, वरन् मात्र लोकमंगल के लिए प्रयुक्त करेंगे । आरम्भिक जीवन के २४ वर्ष की गायत्री तपश्चर्या की संचित सामर्थ्य को विगत २० वर्ष के कार्यों में खर्च कर लिया । युग-निर्माण योजना का जितना बड़ा विस्तार और क्रिया-कलाप आज दीख रहा है, हमारे प्रत्यक्ष जीवन की जो भी उपलब्धियाँ हैं, वास्तव में वे आरम्भिक जीवन के २४ वर्षों की साधनात्मक उपार्जन की फुलझड़ी मात्र समझी जानी चाहिए । अब वह पूँजी चुकती जा रही है । हमें जो सौंपा गया है, उसमें करना बहुत बाकी है । मोटर की बैटरी की शक्ति जब चुक जाती है तो उसे फिर चार्ज करते और सक्रिय बनाते हैं । हमारी बैटरी भी अब फिर चार्ज होने जा रही है । भावी उग्र तपश्चर्या के फलस्वरूप उतनी शक्ति एकत्रित हो जाएगी, जिससे गाड़ी जहाँ आकर अड़ गई है उसे और आगे बढ़ाया जा सके ।

अब तक हम लगभग ५० लाख सुसंस्कारी एवं भाव-सम्पन्न जाग्रत आत्माएँ ढूँढ़ने, संगठित करने, स्नेहसूत्र में जकड़ने और दिशाबोध कराने में ही समर्थ हुए हैं । इतना बड़ा और इतने ऊँचे स्तर का जन-समूह यदि नव-निर्माण के लिए अपनी प्रतिभा, सम्पदा एवं अभिरुचि नियोजित कर ले तो नव-निर्माण का प्रयोजन चुटकी बजाते पूरा हो सकता है, पर खेद है कि उनमें त्याग और बलिदान के लिए वह दुस्साहस भरी उमंग पैदा नहीं हो सकी, जिसके आधार पर वे स्वयं भी महान मानव बनते और ईश्वरीय प्रसन्नता उपलब्ध करते हुए विश्वमानव की महती सेवा करने में समर्थ होते । साथी लोग सोचते तो बहुत कुछ हैं, पर आत्मबल और साहस के अभाव में कुछ कर नहीं पाते । इन साथियों के लिए साहस, शौर्य और आत्मबल की आवश्यकता है, जिसके आधार पर वे व्यक्तिगत लोभ, मोह, पारिवारिक प्रतिरोध तथा मित्र-परिचितों के उपहास की उपेक्षा करते हुए युग-परिवर्तन की आवश्यकता को पूरा कर सकें । अब हमें इसी आत्मबल के सम्पादन के लिए घनघोर प्रयत्न करना है । तपश्चर्या से जितनी भी क्षमता हमें उपलब्ध होगी, उसका भावनाशील परिजनों को ऐसे आत्मबल की अभिवृद्धि के लिए वितरण करेंगे, जिसके आधार पर अपने जीवनोद्देश्य की पूर्ति और विश्व-मानवता की महानतम आवश्यकता पूर्ण कर सकने में समर्थ हो सकें ।

"वासना-तृष्णा की कीचड़ से निकालकर हमें परिजनों को महानता के पथ पर अग्रसर और ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति के लिए नियोजित करना है । जिन्हें हम प्यार करते हैं, उन्हें सहज छोड़ने वाले नहीं हैं । वे अनुभव करेंगे कि कोई अदृश्य सत्ता उन्हें ऊपर उठने और आगे बढ़ने के लिए कहती-सुनती ही नहीं, नोचती-झकझोरती भी है । हमें चैन से जीवन भर बैठने नहीं दिया गया । चैन और आराम की बात, दौलत और अमीरी की बात को अपने आदर्शवादी परिवार को सोचना बन्द कर देना चाहिए और वह करना चाहिए जिसके लिए आज हमें हर दिशा से आमन्त्रित किया जा रहा है । जिन्हें खींचकर इस विदाई सम्मेलन में बुलाया है और जिन्हें उनके द्वारा अपना विदाई-सन्देश पहुँचा रहे हैं, उन सबको किसी न किसी प्रकार यह अनुभव होता रहेगा कि कोई अदृश्य व्यक्तित्व उनके आगे-पीछे फिरता है और युग-परिवर्तन की दिशा में कुछ कर गुजरने के लिए विवश करता है । इस रूप में परिजन हमारे व्यक्तित्व और अस्तित्व को निरन्तर अपने इर्द-गिर्द उपस्थित देखते रह सकते हैं । हमें यह जन्म अग्रदूत की भूमिका सम्पादित करने के लिए दिया गया था सो अब तक पुतले भर खड़े किये हैं, अब इनमें प्राण भरेंगे और आज के नगण्य समझे जाने वाले व्यक्तियों में से असंख्यों को महामानव बनाकर रहेंगे । युग-परिवर्तन की विश्वव्यापी प्रक्रिया को गतिशील बनाने के लिए इतना आवश्यक है, सो हम अपने इसी जीवन में उसका ताना-बाना खड़ा करके जाएँगे । अपनी भावी तपश्चर्या प्रधानतया इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए है ।

समर्थ गुरु रामदास ने अपनी तपश्चर्या का एक अंश देकर शिवाजी से कुछ काम कराया था, रामकृष्ण परमहंस से शक्ति लेकर विवेकानन्द कुछ कर सके, चाणक्य के प्रसाद को पाकर चन्द्रगुप्त कुछ चमत्कार दिखा सके । यह आवश्यक नहीं है, हर व्यक्ति स्वयं साधना करे तभी आत्म-बल सम्पन्न बने और महान कार्य करे । ऐसी भी परम्परा है कि बिजली एक केन्द्र पर बने और उससे सम्बन्धित अनेक यन्त्र अपना क्रिया-कलाप प्रारम्भ करने के लिए शक्ति प्राप्त करें । हर व्यक्ति को तपश्चर्या की

अति कठिन शारीरिक एवं मानसिक प्रक्रियाएँ साधना-सँभालना कठिन है । सही यह है कि शक्ति का उपार्जन एक जगह हो और उसका उपयोग असंख्य यन्त्रों द्वारा होता रहे । साधना के लम्बे-चौड़े विधि-विधानों के लिए चिंतित होने की आवश्यकता नहीं । जो लोकमंगल की भावनाओं से भरे होंगे, उन्हें आत्म-बल एवं निर्वाह-साधन उपलब्ध करने के लिए हम आवश्यक अनुदान निरन्तर देते रहेंगे । इस प्रकार अंधे-लँगड़े की जोड़ी मिलाकर एक महान प्रयोजन पूरा कर लेंगे । परिजन लोकमंगल में प्रवृत्त हों, उनके लिए आवश्यक समर्थता एवं क्षमता हम जुटा देंगे, जैसा कि हमारे मार्गदर्शक ने हमारे लिए जुटा दी ।

"आपत्तिकालीन इस युगसन्धि में हर साधक को अलग-अलग चौका बनाने, अलग-अलग भोजन पकाने के झंझट में नहीं पड़ना चाहिए । एक ही लंगर में सबको खाना चाहिए । जप, तप, ध्यान, अनुष्ठान, पुरश्चरण आदि के क्रिया-कलापों, विधि-विधानों का कार्यक्रम बनाने में सभी साधक उसमें उलझ जाएँगे । उच्च-स्तरीय साधनाओं की सफलता के लिए बहुत कुछ करना पड़ता है और कई-कई जन्म लग जाते हैं । अपनी नाव बनाने, अपने आप चलाना सीखने और अपने पुरुषार्थ से नदी पार करने की व्यवस्था बनाना है तो बहुत अच्छा, पर उसमें बहुत धैर्य, बहुत व्यय और बहुत समय चाहिए । सरल तरीका नाव वाले मल्लाह की सहायता से नदी पार कर लेना है । सो वह सुविधा अपने परिवार के लिए हम जुटाये जा रहे हैं । आन्तरिक शक्ति एवं प्रगति के लिए जितने आत्मबल की परिजनों को आवश्यकता पड़ेगी, उतना हम जुटाते रहेंगे, पर यह उपलब्धि बिना मूल्य न होगी । बिना मूल्य देना और पाना आपत्तिकाल में, परमार्थ प्रयोजन के लिए उचित है । स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों का उपार्जन स्वीकार करना अनैतिक है । भिक्षावृत्ति चाहे आशीर्वाद, वरदान की ही क्यों न हो ? आत्मिक प्रगति में सहायक नहीं हो सकती । जो लेना हो उसे मूल्य चुकाकर ही पाना चाहिए । हमारी भावी तपश्चर्या से संचित आत्मबल की पूँजी का लाभ उठाने के इच्छुक प्रत्येक परिजन को उस प्रयोजन में अधिकाधिक योगदान देने का मूल्य चुकाना चाहिए, जो हमें प्राणप्रिय है और जिसके लिए हमें यह जीवन धारण करने तथा कष्टसाध्य क्रिया-कलाप अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा ।

वर्तमानकालीन मानवीय दुर्बुद्धि और संकीर्णता से निपटने के लिए ज्ञानयज्ञ का शुभारम्भ हमें करना पड़ा । इस एक ही केन्द्रबिन्दु के इर्द-गिर्द हमारी सारी प्रवृत्तियाँ घूमती रही हैं । आज की अगणित उलझनों और विपत्तियों का एकमात्र कारण मानवीय दुर्बुद्धि है । उसका निराकरण किए बिना सुख-सुविधा के पहाड़ खड़े कर देने पर भी दुःख-दारिद्र्य से पिण्ड छूटने वाला नहीं है । व्यक्ति और समाज के सुखी-समुन्नत बनाने के लिए सद्‌बुद्धि, सद्‌भावना एवं सत्प्रवृत्ति को विस्तृत करना नितान्त आवश्यक है । समस्त समस्याओं का एकमात्र हल, भावनात्मक नव-निर्माण पर हमारा समस्त ध्यान केन्द्रीभूत रहा है और उसी प्रयोजन के लिए ज्ञान-यज्ञ एवं विचार-क्रान्ति के महान अभियान-सरंजाम जुटाते रहे हैं । हमारे मार्गदर्शक ने हमें इसी एक प्रयोजन के लिए भेजा और अनेक प्रकार के दिखाई देने वाले कार्य इसी एक उद्देश्य के लिए कराए । उस दिव्यसत्ता के आदेशों का पालन करने में हमने अपने अस्तित्व का एक-एक कण समर्पित किया है और इस समर्पण के मूल्य पर दिव्य अनुकम्पा का अजस्र वरदान पाया है । हम चाहते हैं कि यही वंशपरम्परा आगे चलती रहे । हमने मूल्य देकर गुरु-अनुग्रह और दैवी अनुदान पाया है । विदाई सन्देश के रूप में हमारा यही अनुरोध है कि जिस दिव्य-प्रेरणा का अनुगमन हम करते रहे हैं, हमारे सहचरों को भी उसी पथ पर चलना चाहिए । अभीष्ट प्रयोजनों के लिए हमारे मार्गदर्शक का प्रकाश, तप एवं सहयोग हमें अजस्र रूप से मिलता रहा है । परिजनों को भी वैसी ही उपलब्धियाँ मिलते रहने का हम आश्वासन देते हैं, पर यह भूल नहीं जाना चाहिए कि मूल्य हमारे भावी अनुदान का भी चुकाना होगा । जिस दिव्यपथ में हमारा रोम रोम आहुति रूप में जला-गला है, उसके लिए कुछ तो त्याग आप सबको भी करना चाहिए । ज्ञान यज्ञ के लिए एक घण्टा समय और दस पैसे की माँग न्यूनतम थी, लोभ और मोह की कीचड़ में से मुँह निकाल कर प्रकाश की किरणें देखने भर के लिए वह आरम्भिक प्रयोग था । हमें उतने तक ही सीमित होकर नहीं बैठ जाना चाहिए, वरन् प्रयत्न यह करना चाहिए कि उमंग, उत्साह एवं अनुदान की मात्रा निरन्तर बढ़ती चली जाए और उसका अन्त हमारे जैसे सर्वमेध, सर्व समर्पण में हो । पूर्णता का उपहार प्राप्त करने के लिए पूर्ण समर्पण की शर्त पूरी करनी पड़ती है, इस तथ्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाए उतना ही अच्छा है ।

तत्वदर्शी समय-समय पर युग-परिस्थितियों के अनुरूप साधनाक्रम का निर्माण और निर्देश करते रहे हैं । आज की परिस्थितियों में लोकमानस का भावनात्मक नव-निर्माण, जिसे हम अक्सर ज्ञान-यज्ञ अथवा विचार-क्रान्ति के नाम से प्रस्तुत करते रहते हैं, सर्वोत्तम युग-साधना है । परिजनों को अपना समस्त मनोयोग इसी प्रयोजन के लिए प्रयुक्त और नियुक्त करना चाहिए और विश्वास करना चाहिए कि आज की स्थिति में ईश्वर की प्रसन्नता, आत्मा की शान्ति और समय की चुनौती को स्वीकार करने के लिए इससे अच्छी साधना नहीं हो सकती । आधा घण्टा हम सब गायत्री मन्त्र का जप और अपने शरीर, मन तथा अन्तःकरण में ईश्वरीय दिव्यप्रकाश के अवतरण का ध्यान कर लिया करें, तो इतनी छोटी साधना पर्याप्त है । उपासना का नित्यक्रम अनवरत बना रहे, इस दृष्टि से इतना नियमित रूप से कर लिया करें । बड़े अनुष्ठान, पुरश्चरण जिस प्रयोजन के लिए पूरे किए जाते हैं, उन्हें हम अपनी तपश्चर्या का अंश देकर पूरा करेंगे । जितना समय जप-तप में लगाना हो, उतना लोक मंगल के केन्द्र-बिन्दु ज्ञान-यज्ञ

में नियोजित कर देना चाहिए । अपने समय, श्रम, मन-मस्तिष्क, प्रभाव एवं पैसे का जितना अधिक उपयोग ज्ञान-यज्ञ के लिए कर सकना सम्भव हो, उसे करना चाहिए और उस प्रयत्न को आत्मिक साधना का सर्वश्रेष्ठ माध्यम मान लेना चाहिए । जप-तप, पाठ-पूजन में जितना प्रतिफल मिल सकता है उसकी अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ की तप-साधना से कुछ अधिक ही लाभ मिलेगा, कम नहीं । स्वार्थ चाहे भौतिक हो, चाहे आत्मिक, मनुष्य की क्षुद्रता के प्रतीक हैं । धन, सन्तान से लेकर स्वर्ग-मुक्ति तक की कामनाएँ, पूजा-पाठ के मूल्य और महत्त्व को निम्नस्तरीय बना देती हैं । उपासना, आराधना के बीच प्रेम और परमार्थ प्रवृत्ति का विकास आवश्यक है, यह न बन सका तो सारा जप-तप मात्र-श्रम भार बनकर रह जाएगा और उसका प्रतिफल अतिस्वल्प होगा । परमार्थ-प्रयोजन को साथ लिए बिना आत्मिक-प्रगति का स्वप्न देखना निरर्थक है । यही कारण है कि संसार के महान साधकों ने अपने जीवन का अधिकांश भाग लोक-मंगल के लिए समर्पित किया है । यह तथ्य समझ ही लेना चाहिए कि ईश्वर को खुशामद या रिश्वत देकर बहकाया जा सकना असम्भव है । भक्तों की पंक्ति में खड़ा होना हो तो सेवा साधना और उदार-परमार्थ का अनुदान प्रस्तुत करना होगा । वह जितना ही बड़ा होगा आत्मबल बढ़ने से लेकर ईश्वर का अनुग्रह मिलने तक का प्रयोजन उसी अनुपात में पूरा होता चला जाएगा ।

"हमारे और हमारे गुरुदेव तथा हमारे जीवन के बीच अतिघनिष्ट और अतिमधुर सम्बन्धों का आधार एक ही रहा कि हम अपने आप को भूले रहे । यह पता ही नहीं चला कि हम अभी जीवित हैं या मृत, हमारी भी कोई इच्छा-आवश्यकता है या नहीं । ईश्वर की इच्छा को अपनी इच्छा बनाकर, ईश्वर की आवश्यकता को अपनी आवश्यकता मानकर कठिनाइयों, आपत्तियों को अपनी परीक्षा का सौभाग्य मानकर निरन्तर अपने इष्टदेव के इशारों पर कठपुतली की तरह नाचते रहे । यही समर्पण साधना का प्राण है । लोभ-मोह की पूर्ति के लिए भिक्षुकों की तरह दाँत निपोरना और नाक रगड़ना, ईश्वर-भक्ति के मूल स्वरूप को ही गर्हित बना देता है । ऐसी वेश्यावृत्ति जैसी व्यभिचारिणी भक्ति से भक्ति, भक्त और भगवान तीनों का माथा नीचा होता है । हमारी आत्मिक उपलब्धियों का मूल कारण यह समर्पण ही रहा है । पूजा-उपासना के कर्मकाण्ड इस समर्पण की पृष्ठभूमि पर ही उगे, पनपे और फले-फूले हैं । यह पृष्ठभूमि न हो तो जीवन भर घण्टा, घण्टी, माला सटकाते रहने का भी कुछ आशाजनक परिणाम प्रस्तुत नहीं हो सकता ।"

साधना मार्ग पर चलने की जिन्हें इच्छा-उत्सुकता है, जो विधि-विधान जानना चाहते हैं, उनसे हमारी एक ही सलाह है कि उस प्रयोजन को पूरी तरह हमारे ऊपर छोड़ दें । यह तरीका सरल है कि एक जगह भोजन पकाया जाए और सब लोग उससे भूख बुझाएँ, एक व्यक्ति नाव बनाये बाकी लोग उससे पार उतरें, एक जगह बिजलीघर बने सब यन्त्र उससे शक्ति प्राप्त करें-एक कुआँ खोदा जाए और अनेक लोग स्नान करें । हम इतनी शक्ति का संचय कर लेंगे, जिससे अपने विशाल परिवार को उतना आत्मबल हिस्से में आ जाए, जिसके आधार पर वह अपनी आत्मिक-प्रगति, जीवनोद्देश्य की पूर्ति और ईश्वरीय प्रसन्नता प्राप्त कर सकने में भलीप्रकार सफल हो सके । हमारे इस उपार्जन का लाभ उठाने वालों को 'युग-साधना' में लगना चाहिए । युग-साधना का अर्थ है-'ज्ञान-यज्ञ' । दूसरे शब्दों में 'विचार-क्रान्ति अभियान' । इस युग में, इस आपत्तिकालीन परिस्थिति में एक ही सेवा, एक ही साधना, एक ही पुण्य-परमार्थ सर्वोपरि है कि विचारणा और भावना के क्षेत्र में व्याप्त सर्वतोमुखी विकृतियों से जूझा जाए और जन-साधारण को ठीक ढंग से सोचने और ठीक गतिविधियाँ अपनाने के लिए मजबूर करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जाएँ । इसी प्रयास में व्यक्ति और समाज की सारी आवश्यकताएँ पूरी होंगी । अपने परिवार को सारा ध्यान इस एक ही केन्द्र-बिन्दु पर एकत्रित करना चाहिए ।

"परमार्थ के नाम कुआँ, तालाब, बावड़ी, धर्मशाला, मंदिर बनाने वालों से अस्पताल, स्कूल खुलवाने वालों से, प्याऊ-सदावर्त चलाने वालों से हमारी एक ही प्रार्थना है कि आज की परिस्थितियों में मनुष्य के लिए जीवन-मरण की समस्या की तरह उसके सोचने में भारी विकृति उत्पन्न हो जाने की विभीषिका सबसे बड़ी है । उसे आपातकालीन संकट माना जाए और इसका निवारण करने के लिए एकनिष्ठ होकर जुट जाया जाए । जिन्हें साधना-उपासना में रुचि है, वे कुछ समय के लिए जप, तप, ध्यान, कला, कीर्तन में कमी कर लें और जन-जन के मन-मानस को धोने के लिए, जन-जन के मन तक प्रकाश पहुँचाने में दत्त-चित्त होकर जुट जाएँ । ये पुण्य-प्रयास स्वर्ग-मुक्ति के लोभ से किए गये परमार्थ अथवा पूजा-पाठ से हजार गुना अधिक फलदायक होंगे । यदि कुछ कमी रहने की आशंका हो तो हम विश्वास दिलाते हैं कि यदि हम तप-शक्ति उपार्जित कर सके, तो अपनी भावी तपश्चर्या का एक-एक कण उन लोगों पर बिखेर देंगे जिन्होंने इस युग-साधना को अपनाकर अपने को उत्कृष्ट बनाने और समाज में आदर्शवादिता की प्रतिस्थापना के लिए अधिक दान उपस्थित किया । हमारे मार्गदर्शक ने हमसे यही कराया और इसी मूल्य पर अपना सहयोग, स्नेह, प्रकाश एवं अनुदान प्रदान किया । हम भी उन्हीं को दे सकेंगे जो विश्व-मानव की आज की सबसे बड़ी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुछ कर गुजरने की हिम्मत दिखा सकें । नवनिर्माण के ज्ञानयज्ञ में जिसका जितना योगदान होगा, उसके अनुपात में हमारा स्नेह, प्रकाश एवं अनुदान कुछ अधिक ही मिलेगा, कम नहीं । हमारे प्रति सच्चे प्रेम की कसौटी भी यही हो सकती है कि किसने किस हद तक पुण्य-प्रयोजन के लिए क्या किया ? जिसके लिए हमारा

प्राण और जीवन पूर्णतया समर्पित हुआ था । हमारे सम्बन्ध बनाये रखने का, सूक्ष्म रूप से दर्शन देते रहने का कितनों का ही आग्रह है, पर उन सबसे भी हमारा यही अनुरोध है कि व्यक्तिगत रूप से हमें सभी समान रूप से प्रिय हैं । विशेष प्रेम और विशेष सहयोग प्राप्त करने के लिए आग्रह-अनुरोध करने की भावुकता से काम नहीं चलेगा । इसके लिए अपने अन्तरंग को उस दृढ़ता और परिपक्वता का भी परिचय देना होगा जिसके आधार पर दिव्य-अनुदान उपलब्ध होते रहे हैं और हो सकते हैं । हमारा विशेष अनुदान भी इसी आधार पर मिल सकता है । हमें अपनी पात्रता विकसित करनी चाहिए और अन्तरिक्ष से निरन्तर बरसने वाले दिव्य-प्रकाश का भरपूर लाभ उठाना चाहिए ।

हमारी तपश्चर्या का प्रधान प्रयोजन उन सुसंस्कारित आत्माओं में प्राण और साहस भरना है, जिनकी मनोभूमि में आज के युगधर्म को समझ सकने और उसके लिए कुछ करने की हिम्मत विद्यमान है । हमारे तप से इस स्तर के व्यक्ति पूरी तरह लाभान्वित होंगे । पिछले दिनों रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमण, अरविन्द घोष जैसे महामानवों ने इसी स्तर की, इसी प्रयोजन की तप-साधना की थी और उसका फल भारतीय स्वतन्त्रता के लिए उत्पन्न अगणित शूर सैनिकों के रूप में प्रस्तुत हुआ । तपश्चर्याओं का वह सिलसिला बन्द हो गया तो अब सर्वत्र अवसाद छाया हुआ है । उन दिनों छोटे व्यक्ति, साधनों का अभाव रहते हुए भी बहुत कुछ कर गुजरते थे, पर इन दिनों विपुल साधन प्रतिबन्ध-रहित परिस्थितियाँ होते हुए भी कोई कुछ कर नहीं पा रहा है । देश उठने के बजाय गिर रहा है, हम मजबूत होने की जगह टूट रहे हैं । ऐसा क्यों ? राजनैतिक उत्तर जो भी हो, आध्यात्मिक उत्तर एक ही है कि सुसंस्कारी आत्माओं से सत्-प्रेरणा की प्रचण्ड उमंग उत्पन्न करने वाले बिजलीघर बन्द हो गये । उच्चस्तरीय तपश्चर्या का सिलसिला टूट गया । उस प्रयोजन को अब पुनः पूर्ण करना है, हमारी तपश्चर्या का प्रयोजन यदि सफल होना है, सार्थक होना है तो निश्चित रूप से उसका एक ही प्रतिफल सामने आयेगा कि संस्कारवान् आत्माओं पर चढ़ी हुई लोभ-मोह की, वासना-तृष्णा की कीचड़ धुल जाएगी । वे सम्पदा और अहंता-अभिवृद्धि की मृग-मरीचिका में से निकलकर युग-धर्म पालन करने के लिए अग्रगामी होंगे और अपने प्रकाश से सुदूर क्षेत्रों के अगणित अन्तःकरणों को प्रभावित करेंगे । जिन परिजनों में ऐसे परिवर्तन पाए जाएँ, समझना चाहिए कि उन्होंने हमारे सच्चे आत्मीयजनों की श्रेणी में प्रवेश कर लिया और हमारी गहन आत्मीयता और तप-सम्भावित उपलब्धियों का लाभ उठाने के लिए अपने कपाट खोल दिए । ऐसे ही लोगों से नव-निर्माण की महान भूमिका सम्पादित होगी जो लोभ, मोह के बन्धनों को तोड़कर गुजारे भर में सन्तोष करना स्वीकार करें और अपनी योग्यता, प्रतिभा, मनस्विता, साहसिकता एवं सम्पदा को युग की चुनौती स्वीकार करने में समर्पित कर दें । ऐसे ही गुलाब के पौधे और चन्दन के पेड़ उगाने की, विशाल परिमाण में कृषि एवं बागवानी करने के लिए हम विदा हो रहे हैं । हमारी तपश्चर्या का यह प्रयोजन भली-भाँति समझ लिया जाना चाहिए और जिन्हें हमारी ही तरह उसका लाभ उठाने का अनुकरण करना है, उन्हें अपनी भावी गतिविधियों को इसी ढाँचे में ढालने के लिए उन्मुख एवं कटिबद्ध होना चाहिए ।

माताजी हरिद्वार रहकर हमारी ही तरह २४ लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरण करेंगी । उसका प्रयोजन उस अनुदान की परम्परा को जारी रखना है, जो अब तक कष्टपीड़ितों की सहायता करने, विपन्न परिस्थितियों में घिरे हुओं को उबारने तथा प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के इच्छुकों को सहारा देने के लिए चिरकाल से अनवरत रूप से चला आ रहा है । हम नहीं चाहते थे कि जीवन भर से चली आ रही वह परम्परा बीच में टूट जाए । हम लोग जब तक जीवित हैं इस क्रम को जारी रखेंगे । इस सहायता-सदावर्त को देने के लिए जो पूँजी अपेक्षित है, उसे माताजी शान्तिकुंज सप्त-सरोवर रहकर अर्जित करेंगी । वाणी मात्र से आशीर्वाद देने का कुछ लाभ नहीं हो सकता । आशीर्वाद के साथ तप-पुण्य का जुड़ा होना उसी तरह आवश्यक है, जिस तरह कारतूस के खोल में बारूद का भरा जाना । बिना बारूद का कारतूस कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं करता है, न बिना तप का अंश दिए कोई आशीर्वाद सफल होता है । पिछले दिनों जिनकी सेवा हम कर सके, उसके पीछे हमारी तप-साधना के अंश ही जुड़े हुए थे । अब हमारी साधना अधिक ऊँचे प्रयोजन के लिए होगी, इसलिए उस परम्परागत भौतिक आशीर्वादों की सहायता के लिए माताजी का साधनाक्रम चलेगा । दूर रह कर भी हम एक-दूसरे के पूरक और सहायक बने रहेंगे ।

आत्मिक साधना में हर युग के वातावरण एवं मनुष्यों के शारीरिक, मानसिक ढाँचे को देखते हुए परिवर्तन करने पड़ते हैं । प्राचीनकाल की जो साधनाएँ ग्रन्थों में लिखी हैं, वे आज के देशकाल-पात्र में फिट नहीं बैठतीं, इसलिए कई प्रकार के साधनात्मक विधि-विधान अपनाने पर भी साधकों को कुछ लाभ नहीं मिलता । हमारी भावी तपश्चर्या का एक प्रयोजन यह भी है कि युग साधना का स्वरूप निर्धारित करने के लिए शोध, अन्वेषण और प्रयोग करके सर्व-साधारण के लिए ऐसी प्रणाली प्रस्तुत करें, जो साधक को तुरन्त शक्ति प्रदान कर सकने में समर्थ हो । इस शोध से उत्पन्न प्रतिक्रिया इतनी महान हो सकती है कि लोगों का ध्यान विज्ञान की गरिमा, उपयोगिता और चमत्कारिता से हटकर अध्यात्म की महत्ता, गरिमा और विशिष्टता को स्वीकार करने के लिए नतमस्तक हो जाए । आज तो अध्यात्म का कथा-प्रवचन भर का, वाचालता प्रधान स्वरूप ही शेष रह गया है । पूजा-पाठ का लँगड़ा-लूला कर्मकाण्ड भी ज्यों-त्यों, जहाँ-तहाँ चलता है । इतने से भी मन में थोड़ी-सी गुदगुदी भर उत्पन्न हो सकती है, जो सामर्थ्य-शक्ति को प्रत्यक्ष जीवन में महामानव बना सके

और अप्रत्यक्ष जीवन में उल्लास, सन्तोष एवं स्वर्ग-मुक्ति का साधन जुटा सके, वह अध्यात्म तो सुव्यवस्थित युग-अनुरूप एवं विज्ञान-सम्मत परिष्कृत साधना-पद्धति पर ही निर्भर है । आज ऐसी पद्धतियाँ दृष्टिगोचर नहीं होतीं, उनका दम्भ एवं विज्ञापन भर ही परिलक्षित होता है । आवश्यकता आज इस बात की है कि एक समग्र एवं सुव्यवस्थित साधना-पद्धति सर्व-साधारण को उपलब्ध हो सके, जो सुनिश्चित रूप से साधक के बहिरंग एवं अन्तरंग जीवन को प्रखर बना सके । यह शोध, यह उपलब्धि भौतिक विज्ञान की अर्वाचीन उपलब्धियों से भी लाख-करोड़ गुनी महत्त्वपूर्ण हो सकती है और धरती पर स्वर्ग के अवतरण एवं व्यक्ति में देवत्व के उदय की आवश्यकता पूर्ण हो सकती है । हमारी तपश्चर्या का एक प्रयोजन यह भी है, जिसे विदाई से जुड़े हुए स्वाभाविक बिछोह-दुःख की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर हमें सन्तोष करना पड़ रहा है और आज नहीं तो कल परिजनों को भी सन्तोष करना होगा ।

"हम जा रहे हैं । लम्बे जीवन में जिस-जिसका हमें, हमारे मिशन को जितना भी स्नेह-सहयोग मिला, उसे भारी कृतज्ञता के साथ स्मरण करते हुए । जिनका अनुग्रह और सौजन्य हमें मिला है, उन्हें जन्म-जन्मान्तरों तक याद रखेंगे और प्रयत्न यह करेंगे कि उसका कुछ प्रतिदान प्रस्तुत करके उस ऋण से किसी कदर उऋण हो सकें । जाने की मजबूरी आ गई सो अब जाना ही पड़ रहा है । उसमें रोकथाम की गुंजाइश नहीं । जिस समर्थ सत्ता को हम सर्वतोभावेन अपना आत्म-समर्पण कर चुके, उसके निर्देशों को हम इस मृत्यु के समीप पहुँच चुके शरीर से टाल कर क्या करेंगे ? सौंपा सो सौंपा, भरी जवानी उन्हीं के लिए उत्सर्ग हो गई तो अब बुढ़ापे के चन्द दिनों में सुविधा की बात सोचना क्या ? स्वजनों का प्रेम हमें अधिक भारी लगता है । अगले दिनों इस बिछोह को चिरमिलन के रूप में जोड़ लेंगे । प्रत्यक्ष तो सम्भव न होगा, पर अप्रत्यक्ष रूप से हम हर आत्मीय-परिजन के साथ जुड़ जाएँगे और उसे यह अनुभव करने को विवश करेंगे कि हम कुछ दिव्य-प्रेरणाएँ दिव्य अनुभूतियों और दिव्य उमंगों के रूप में उनके अन्तरंग और बहिरंग जीवन पर छा गये हैं । अवांछनीयता से छुड़ाने और महानता के साथ जुड़ने के लिए, कुछ कर गुजरने के लिए हमें उठती और बढ़ती हुई हिम्मत के रूप में आप में से हर कोई अपने साथ रहता देख सकेगा । प्रत्यक्ष परामर्श दे सकना और पत्र लिख सकना तो हमारे लिए सम्भव न होगा, पर इससे बढ़िया नया तरीका यह निकल आएगा कि आप में से हर कोई अपने भीतर ऐसे संकल्प, परामर्श और साहस उठते देखेगा, मानो कोई दूसरा वैसा सोचने और करने के लिए विवश कर रहा है । भूत की कथा अक्सर कही-सुनी जाती है । मालूम नहीं वे कितनी सच होती हैं । फिर हमें अभी देर तक जीना है सो किम्बदन्तियों वाले भूत की बात तो नहीं बनेगी, पर हम एक दिव्यभूत की तरह आपके आगे-पीछे रहेंगे । कुमार्ग पर चलेंगे तो डराएँगे और सन्मार्ग अपनाएँगे, तो तरह-तरह के उपहार लाकर सामने प्रस्तुत करेंगे । जब भी आप शान्तचित्त होंगे और हमें उमंग उठेगी, तब आपके अन्तर्मन में यही कुछ एक उठता दिखाई देगा-(१) बहुमूल्य मनुष्य जीवन पेट और प्रजनन के ही लिए खर्च कर डालने की वर्तमान रीति-नीति मूर्खतापूर्ण है । (२) निर्वाह भर के लिए कमाओ और परिवार को स्वावलम्बी, सुसंस्कारी बनाने तक ही जिम्मेदारी निभाओ । समर्थ बेटों-पोतों के लिए दौलत मत छोड़ो अन्यथा वे उस हराम की कमाई को खाकर अपना सर्वनाश करेंगे । (३) यह युगसंधि है, नवयुग द्रुतगति से दौड़ा चला आ रहा है, उसके सहयोगी बनो । अपनी विचारणा, आकांक्षा एवं गतिविधियों को एकता, समता, शुचिता और ममता के आधार पर बनने जा रहे वातावरण के अनुरूप ढालो । (४) परमार्थ के नाम पर विज्ञापन-बाजी मत करो, विचार-विकृति से उत्पन्न अगणित समस्याओं और सन्तापों का समाधान करने के लिए ज्ञान-यज्ञ की प्रक्रिया को युग-धर्म मानो और अपनी समस्त प्रतिभा उसी दिशा में नियोजित करो । (५) संयमी बनो, सादगी अपनाओ, सत्प्रवृत्तियों और सद्भावनाओं का सहारा लो, जिससे प्रभुसमर्पित जीवन जीना सम्भव हो सके । (६) नित्यकर्म की उपासना जारी रखो, पर अपना सारा समय जीवन-साधना में लगा दो, जिसमें शरीर, मन और धन की न्यूनतम मात्रा में अपने लिए और अधिकतम भाग विश्व-मानव के लिए समर्पित करना होता है । (७) परमार्थ पथ पर बढ़ते हुए आन्तरिक दुर्बलता से, तथाकथित मित्र-कुटुम्बियों के विरोध-उपहास से डरो मत, वरन् महानता के पथ पर साहसपूर्ण कदम उठाओ । साथ में आत्मा, आचार्य जी, उनके गुरुदेव और भगवान मौजूद हैं वे डूबने न देंगे, वरन् कर्त्तव्य की सरिता में कूदने वालो आपको यह चारों मल्लाह खेकर पार करेंगे । (८) युगसंधि की यह वेला, कर्त्तव्य की यह चुनौती हजारों-लाखों वर्षों बाद इस बार आई है, इस अनुपम अवसर को गँवाया जाना न चाहिए और कुछ करके दिखाना चाहिए । (९) एक सफल जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति को विदा करने आये तो उसके जीवन-साधनाक्रम की प्रतिक्रिया एवं उपलब्धियों को समझा जाना चाहिए और उसके अनुकरण की हिम्मत करनी चाहिए । (१०) आप चैन से बैठ नहीं सकेंगे, लोभ और मोह का वासनाग्रस्त जीवन जिएँगे तो आत्मा की ही, आचार्य जी की प्रताड़ना आप पर बरसेगी और उस बेचैनी में बड़प्पन की अभिलाषा आप के लिए दिन-रात जलाने वाली बनकर रहेगी । ऐसी दशा में कंटकाकीर्ण मार्ग को छोड़कर श्रेय-पथ को अपनाना ही उचित है ।"

आज की पाप और अनाचार की जलन और उत्पीड़न उत्पन्न करने वाली सर्वभक्षी और सर्वव्यापी विभीषिका देखने में बड़ी डरावनी लगती है और निराशा उत्पन्न करती है कि इतनी सशक्त असुर-नगरी का मायाजाल तोड़ा जा सकना कैसे सम्भव होगा ? पर यह ध्यान रखा जाना

चाहिए कि पाप कितना ही प्रबल क्यों न हो, उसका अन्तरंग अतिखोखला होता है । उसका अस्तित्व तभी तक है जब तक समर्थ प्रतिरोध उत्पन्न नहीं होता । अब समर्थ प्रतिरोध उत्पन्न करने वाला एक महान अभियान आरम्भ हो गया, जिसे अग्रसर करने के लिए आप सब देर से जुटे हुए हैं और आगे अधिक तत्परता के साथ गतिशील होने की शपथ लेने इस विदाई समारोह में आये हैं । आग की एक चिनगारी एक बड़े जंगल को जला देने में सफल हो सकती है । कंस, जरासंध, कौरव, हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर, रावण आदि असुरों की सामर्थ देखकर उनको परास्त करने की बात कठिन दिखाई देती थी, पर समर्थ प्रतिरोध जब खड़े हुए तो वह विभीषिकाएँ कागज की नाव की तरह जलकर नष्ट हो गईं । व्यक्ति के भीतर समाई हुई कायरता, अहंता, तृष्णा और दुर्बुद्धि आज कितनी ही गहरी क्यों न घुस गई हों, अगले दिनों उन्हें बुहार कर फेंका जाएगा और मानवीय अन्तःकरण में देवत्व की महानता को फिर प्रतिष्ठापित किया जाएगा । समाज में दुष्प्रवृत्तियों, दुर्भावनाओं और भ्रष्ट-परम्पराओं ने कितनी ही जड़ क्यों न जमा रखी हों, उन्हें अगले दिनों उखाड़कर फेंका ही जाएगा और देव-समाज की, स्वर्गीय वातावरण की सत्प्रवृत्तियों को फिर व्यापक बनाया जाएगा और राम-राज्य की परिस्थितियों को पैदा किया जाएगा । इस अवश्यम्भावी भवितव्यता का उद्घोष करने हम आये और ज्ञान-यज्ञ की लाल मशाल का प्रकाश दिग्-दिगन्त में फैला कर हम चले । छोड़कर नहीं, इस मशाल को अधिक प्रखर बनाने के लिए, अधिक गौ-घृत उपलब्ध करने, ताकि जो प्रकाश अभी मन्द गति से जल रहा है, वह अधिक व्यापक, विस्तृत और प्रखर हो सके । हम अपना काम करेंगे, आपको अपना काम करना चाहिए । इस मशाल को युग-निर्माण परिवार के हर सदस्य के हाथों में सौंपते हैं और इसे झुकने न देने, बुझने न देने की जिम्मेदारी प्रत्येक परिजन के कंधों पर डालते हैं ।

विदाई सन्देश के अन्तिम चरण के रूप में हम इतना ही कह जाना चाहते हैं कि हमारे प्रेमी परिजन लोभ-मोह के जाल से जिस हद तक निकल सकें, निकलने के लिए पूरा जोर लगाएँ । भौतिक और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की कीचड़ से निकलकर विश्व-मानव की आराधना के लिए त्याग-बलिदान भरा अनुदान अधिक से अधिक मात्रा में उत्पन्न करें । हमें प्रस्तुत जीवन-क्रम इसलिए अपनाना और जीना पड़ा कि वाणी के द्वारा नहीं, उदाहरण के द्वारा ईश्वर भक्ति से लेकर जीवन की सार्थकता तक का स्वरूप सजग और सुसंस्कारी आत्माओं के सामने रखकर एक सुनिश्चित पथ-प्रदर्शन कर सकें । आज की स्थिति में किसी भी सद्भावसम्पन्न आत्मा के लिए अनिवार्य रूप से अपनाये जाने योग्य युगधर्म क्या है और समय के अनुरूप युग-साधना क्या है ? हम अपने कार्य का पूर्वार्द्ध पूरा करके चले । उत्तरार्द्ध अगले दिनों करेंगे । प्रभु समर्पित जीवन की क्या दिशा हो सकती है, यह हमारी वाणी से नहीं, भावनाओं और गतिविधियों से सीखा जाना चाहिए । विश्व के नये निर्माण के लिए उससे भी अधिक पुरुषार्थ अगले दिनों होगा, जितना कि पिछले दिनों विनाश के लिए दूसरों ने किया है । इस संदर्भ में आप नल-नीलों की, जामवन्त और हनुमानों की जिम्मेदारी बहुत है । उसे आप समझें और जो युग की चुनौती स्वीकार कर सकने वाले समर्थ योद्धाओं को करना चाहिए उसे करने के लिए अर्जुन की तरह अविलम्ब तत्पर हो जाएँ ।

जो जीवन भर कहते रहे, उसे अति उग्र मनःस्थिति में इन चार दिनों में आप लोगों के अन्तःकरणों में प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है और विश्वास किया है कि हमारी दी हुई व्यथा, दिशा और रोशनी की चिनगारी साथ लेकर जाएँगे और अपने सम्पर्क-क्षेत्र में उसे दावानल की तरह फैलाने में जाते ही जुट जाएँगे । यदि हमारे प्रति किसी के मन में कुछ श्रद्धा और आत्मीयता हो, तो उसे दिशा मिलनी चाहिए और ज्ञान-यज्ञ के नव निर्माण के महान अभियान में अधिक तत्परतापूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए ।

□□□

वंदनीया माताजी की कलम से

# मातृसत्ता द्वारा शान्तिकुंज से दायित्वपूर्ण समर्थ मार्गदर्शन

## गुरुदेव का अवतरण और कार्यक्षेत्र

परमपूज्य गुरुदेव अपनी उग्र तपश्चर्या के लिए ३० जून, १९७१ की मध्यरात्रि को हिमालय चले गये । उनकी विदाई हम सबको शूल की तरह चुभ रही है । जब तक वे साथ थे, गहराई से देखने-समझने का अवसर ही नहीं मिला । निकटवर्ती वस्तु सदा कम महत्त्व की लगती है और उसका सही मूल्यांकन करना सम्भव नहीं होता । जिस पृथ्वी पर हम निवास करते हैं, वह कितनी द्रुतगति से चलती-घूमती है, इसका पता ही नहीं चलता । अन्तरिक्ष यात्रियों ने जब दूर से उदय होती हुई, अस्त होती हुई नीलाभ पृथ्वी के सौन्दर्य को देखा तो आश्चर्यचकित और भाव-विभोर हो गये, पर हम रोज उसी रूप-राशि पृथ्वी पर रहते हुए भी न उसकी गति समझ पाते हैं और न प्रकाशवान आभा देख पाते हैं । अपनी काया को ही देखें, उसके अंग-प्रत्यंगों में जो अद्‌भुत यन्त्र लगे हुए हैं, उनका न तो स्वरूप दीखता है और न कृत्य समझ में आता है, पर विश्लेषणकर्त्ता जब उसका प्रत्यक्ष विश्लेषण करते हैं, तब पता चलता है कि वह मोटी दृष्टि से देखने पर तुच्छ और हेय लगती है वस्तुतः कितने भारी आश्चर्य के भाण्डागार के रूप में विनिर्मित हुई है ।

धरती और काया की तरह ही परमपूज्य गुरुदेव का महान अस्तित्व हम लोगों के बीच लम्बे अर्से से विद्यमान था । वे कितने अद्‌भुत और कितने महान थे, इसकी जानकारी का एक अंश ही हम अति निकटवर्ती सहचरों को मिल सका, फिर जो थोड़ी दूर के फासले में रह रहे थे उनकी जानकारी और स्वल्प रही हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? चमड़े की आँख से वही देखा जा सकता है, जो स्थूल या प्रत्यक्ष है । जो समुद्र के किनारे खड़े रहते हैं, उनके हाथ सीप-घोंघे ही लगते हैं, मोती तो वे ही ढूँढ़ पाते हैं जो गहराई तक प्रवेश करने का पुरुषार्थ कर सकने की क्षमता रख सकें । गाँधीजी को जिन्होंने बाहर से देखा वे दर्शन करने मात्र का लाभ प्राप्त कर सके, पर जिन्होंने उनके अन्तरंग को परखा और प्रकाश ग्रहण किया वे नेहरू, पटेल, लालबहादुर, राजेन्द्र बाबू, राधाकृष्णन् जैसे इतिहास प्रसिद्ध महामानव बनने में सफल हो गये । हम में से बहुत कम ऐसे हैं जिन्होंने पूज्य आचार्यजी की हिमालय जैसी गहराई को बारीकी से समझने का प्रयत्न किया हो ।

आमतौर से उन्हें उतना ही समझा जाता रहा, जितना कि उनके स्थूल क्रिया-कलाप चमड़े की आँखों से दीख पड़ते थे । उनकी एक लोकप्रसिद्ध आदत यह थी कि वे जो कुछ निज की पूजा-उपासना, साधना-तपश्चर्या करते थे, उसका फल बालकों को मिठाई बाँटने की तरह खर्च करने में आनन्द लेते रहते थे । फलस्वरूप उनके इर्द-गिर्द बालकों की भारी भीड़ लगी रहती थी । बालकों से मतलब भौतिक प्रगति के लिए लालायित और उलझनों से उद्विग्न उन व्यक्तियों से है, जो अपने पुरुषार्थ से अपनी गुत्थी सुलझा सकने में समर्थ नहीं हो पा रहे थे और किसी दूसरे की समर्थ सहायता की अपेक्षा करते थे । आत्मिक दृष्टि से प्रौढ़ व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से अपनी मंजिल आप पूरी करते हैं और प्रारब्ध की जटिलता को साहस और धैर्यपूर्वक सहन करते हैं । बालकों की मनःस्थिति उससे भिन्न होती है । वे अभिलाषा बहुत करते हैं, पर उपलब्धि की क्षमता नहीं रखते । मिठाई देने का मतलब इस वर्ग की छोटी-छोटी आवश्यकताओं को उपहार-स्वरूप पूरी करके उन्हें प्रमुदित और उत्साहित देखना है । गुरुदेव को इसमें बड़ा आनन्द आता था । वे स्वभावतः खाने में बहुत उदासीन और खिलाने में बहुत रस लेने वाले ही थे । अपने भोजन को सस्ते से सस्ता और कम से कम रखने में उनकी जितनी अखरने वाली कंजूसी देखी जाती थी, उतनी ही सराहनीय उदारता दूसरों को खिलाने में मिलती थी । उनके चौके में सदा दर्जनों अतिथि उपस्थित रहते थे । अकेले तो शायद ही उन्होंने कभी खाया हो । जब कभी बिना अतिथि का दिन आ जाता तो दुःखी होकर उस श्रुतिवचन को याद करते, जिसमें कहा गया है कि-"जो अकेला खाता है सो पाप खाता है ।"

उपासना के क्षेत्र में प्रवेश किया तो यह आदत दूसरे रूप में परिणत हो गई । अभावग्रस्त, शोक-संतप्त उलझनों में जकड़ा हुआ किंकर्तव्यविमूढ़ जो भी सामने आया, उसकी मनोव्यथा समझने में देर न लगी । करुणा से भरा हुआ हृदय देखते-देखते पिघल गया । नवनीत और हिमखण्ड तब गलते और पिघलते हैं, जब धूप उन्हें सताती और तपाती है । सन्त पराई व्यथा को अपनी व्यथा मानकर अपनी सहज संवेदना से व्यथित होकर गलते-पिघलते रहते हैं । गुरुदेव का रहन-सहन और वेश-भूषा देखकर उन्हें एक अतिसामान्य व्यक्ति समझा जा सकता था, पर वे वस्तुतः बहुत ऊँचे थे । उस ऊँचाई के आधार उनकी बालकों जैसी निर्मलता और बादलों जैसी उदारता

मुख्य थीं । यों न जाने कितने देवगुण लेकर वे जन्मे और साधु स्वभाव बढ़ाते-सँजोते चले गये, पर उनकी माता जैसी ममता इतनी विस्तृत थी कि जो भी सम्पर्क में आया उनके सहज स्नेह में सराबोर होता चला गया । प्रथम बार अपरिचित के रूप में आने वाले ने भी यही समझा हम आचार्यजी के चिर-परिचित और सघन आत्मीयजनों में हैं ।

पवन को हर कोई यह समझता है कि वह हमारे ऊपर ही पंखा डुला रहा है, सूर्य को हर कोई यह माता है कि उसी के घर रोशनी, गर्मी बिखेरने आता है, पर वस्तुतः पवन और सूर्य इतने विशाल और महान हैं कि एक नहीं असंख्यों को उनकी सहायता का लाभ समान रूप से मिलता रहता है । बाधित और प्रतिबन्धित तो वे होते हैं जो स्वार्थी और संकीर्ण हैं, जिन्हें न मोह है, न लोभ, उनके लिए राग-द्वेष का, अपने-पराये का प्रश्न ही नहीं उठता । करुणा और ममता से भरा स्नेहसिक्त अन्तः-करण हिंस्र पशुओं पर आत्मीयता बरसाता रहता है, फिर नर-तनुधारियों की तो बात ही क्या ? उनमें भी वे जो उनकी सहायता प्राप्त करने की आशा से सामने आये, ऐसे लोगों को अपनी सामर्थ्य रहते, निराश लौटाना उनके जन्मजात स्वभाव के विपरीत ही पड़ता । वे ऐसा कभी कर भी न सके और अमिट प्रारब्धों से ग्रस्त कुछ चन्द लोगों को छोड़कर प्रायः उन सभी की उन्होंने भरपूर सहायता की, जो तनिक भी सहयोग पाने की इच्छा से उनके सम्पर्क में आये थे ।

अपनी उपासना-तपश्चर्या का जो पुण्यफल हो सकता था उसका एक कण भी उन्होंने अपने लिए किसी भौतिक या आध्यात्मिक प्रतिफल के लिए बचाकर नहीं रखा । जितना वे कमा सके उसका राई-रत्ती उन्हें मिलता रहा, जो आशा लेकर उनके सामने आये । कभी सम्भव हुआ तो उनके द्वारा की हुई सहायता के कारण लाभान्वित हुए व्यक्तियों की कहानी उन्हीं की जुबानी प्रकाश में लाई जाएगी । इससे विदित होगा कि कितनों के अन्धकारमय वर्तमान को प्रकाशपूर्ण भविष्य में उन्होंने बदल दिया और कितने उनकी सहायता और सहयोग पाकर धन्य हो गये । गुरुदेव ने अपनी इस उदारता और समर्थता को सर्वसाधारण के सामने प्रकट न होने देने में सदा कठोरता बरती । वे नहीं चाहते थे कि उनकी कोई प्रशंसा करे या अहसान माने अथवा उन्हें चमत्कारी, उदार, दानी, तपस्वी एवं सेवाभावी माने । वे इतने में ही सन्तुष्ट और प्रसन्न थे कि उन्हें सामान्य, सरल और सज्जन भर माना जाता रहे । सो उन्होंने कठोर प्रतिबन्ध लगाये थे कि कोई उनकी अलौकिक अनुभूतियों एवं सेवा-सहायताओं की चर्चा न करे । करना ही हो तो उन घटनाओं को भगवान की कृपा भर कहे, उनके व्यक्तित्व को कोई श्रेय न दे । सो उस प्रतिबन्ध के कारण असंख्यों प्रसंग अभी अविज्ञात ही बने हुए हैं, जिनको सुनने-जानने पर कोई भी व्यक्ति आश्चर्यचकित रह सकता है ।

अब जबकि गुरुदेव चले गये, तब उनकी प्रशंसा के लिए नहीं, वरन् इसलिए इन प्रसंगों की चर्चा आवश्यक अनुभव होती है कि सर्वसाधारण को यह विदित हो सके कि आध्यात्मिक जीवन कितना समर्थ और उपयोगी सिद्ध हो सकता है और उसका अवलम्बन लेकर कोई व्यक्ति अपना और दूसरों का कितना भला कर सकता है । उन प्रसंगों के प्रकाश में आने से एक बड़ा लाभ यह होगा कि आत्म-साधना का प्रतिफल समझा जा सकेगा और उस मार्ग को अपनाने के लिए सर्वसाधारण में उत्साह उत्पन्न किया जा सकेगा । कहना न होगा कि गुरुदेव की उपासनापद्धति में जप-तप का जितना स्थान था, उससे हजार गुना महत्त्व वे जीवन साधना को देते थे और अपनी आत्मिक उपलब्धियों का श्रेय वे आन्तरिक कषाय-कल्मषों के उन्मूलन और बाह्यजीवन की आदर्शवादिता को देते थे । उन्होंने जब भी कहा, यही कहा-मेरी उपासना को फलित करने का श्रेय उस जीवन साधना को ही दिया जाना चाहिए, जिसमें अन्तरंग की निर्मलता और बहिरंग की उत्कृष्टता को अविच्छिन्न रूप से जोड़ा और सँजोया जाता रहा ।' ऐसा अध्यात्म यदि सर्वसाधारण की रुचि का विषय बन जाए और लोग उसे अपनाने में गुरुदेव जैसी सर्वतोन्मुखी प्रगति अनुभव करने लगें तो निस्सन्देह उत्कृष्टता की जीवन-साधना अपनाने का आकर्षण असंख्यों को होगा और फलस्वरूप महान व्यक्तित्वों के उपवन चारों ओर लहलहाने लगेंगे । उस दृष्टि से अब, जबकि गुरुदेव चले गये यह अनुभव करा ही दूँ कि उनके सहयोगी जिन्होंने अपनी जीवनयात्रा में प्रकाश पाया, भौतिक एवं आन्तरिक कठिनाइयों से छूटे तथा प्रगतिपथ पर चल सकने योग्य अनुदान उपलब्ध किया, उनके अनुभवों का एक संकलन प्रकाशित करने की व्यवस्था जुटाने में हर्ज नहीं है । गुरुदेव होते तो वे अप्रसन्न होते और रोकते जैसा कि वे अब तक इस विचार को सदा निरुत्साहित करते रहे । पर अब जबकि उनकी प्रशंसा-निन्दा का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला है और इस परिधि से वे बहुत आगे निकल गये तो उसमें हर्ज नहीं दिखाई देता कि वे प्रसंग, इस उद्देश्य से प्रकाशित कर दिए जाएँ कि आत्म-साधना की समर्थता और सार्थकता क्या है और उसे प्राप्त करने के लिए साधक को किस प्रकार की गतिविधियाँ अपनानी होती हैं । इस प्रकाशवान से यदि गुरुदेव के चरण-चिह्नों पर चलते हुए महामानव बनने की प्रेरणा कुछ व्यक्तियों को भी मिल सके तो यह उपलब्धि निस्सन्देह एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक घटना होगी । इन दिनों इस संदर्भ में जितना अधिक विचार किया है उतना ही यह लगा है कि उसमें अनु... कुछ भी नहीं, उचित ही उचित है कि गुरुदेव के सम्पर्क में आने वालों की उत्साहवर्द्धक अनुभूतियों, भौतिक एवं आत्मिक उपलब्धियों का संग्रह करने एवं प्रकाशित करने के लिए कदम बढ़ाया जाए ।

गुरुदेव का जीवन आध्यात्मिकता और मानवता का एक समग्र एवं व्यावहारिक दर्शन है, जिसे उनकी गरिमा

व्यक्त करने के लिए नहीं बल्कि मानवतत्त्व की महानतम उपलब्धि 'दिव्यता' को लोकरुचि का विषय बनाने के लिए प्रकाश में लाया जाना चाहिए । आज तो उसकी उपयोगिता इस दृष्टि से भी अत्यधिक है कि धर्म और अध्यात्म का विकृत और अवांछनीय स्वरूप ही सर्वत्र फैला पड़ा है और उस विडम्बना के फलस्वरूप उस मार्ग पर चलने वाले दम्भ एवं छद्म के शिकार होते चले जाते हैं । कोल्हू के बैल की तरह चिरकाल तक चक्कर काटते रहने और कठोर श्रम करने एवं कष्ट सहने पर भी किसी के हाथ कुछ लगता नहीं । असफलता की लज्जा छिपाने के लिए लोग कपोल-कल्पित कुछ मिलने की चर्चा तो करते रहते हैं, पर वस्तुतः यदि उनका अन्तरंग पढ़ा जाए तो खाली हाथ ही पाये जाएँगे । वास्तविकता छिपी कहाँ रहती है, वह मनुष्य के रोम-रोम में फूटती है और अन्ततः पकड़ में आ ही जाती है । असफल अध्यात्मवादी दूसरों पर बुरा असर छोड़ते हैं । इस दिशा में निराशा और उपेक्षा की छाप छोड़ते हैं । शिक्षित और समझदार लोगों में जब इस प्रसंग की चर्चा होती है तो उपहास और व्यंग्य ही व्यक्त होता है । अशिक्षित और अविकसित लोगों तक यदि यह आत्मवाद सीमित रहे, केवल अन्धविश्वास ही यदि मात्र श्रद्धा का आधार रह जाए और परीक्षा की कसौटी पर खरा साबित न हो, तो ऐसे दुर्बल आधार को कब तक जीवित रखा जा सकेगा, ठहरती वही चीज है जिसमें वास्तविकता हो और उसे हर कसौटी पर खरा सिद्ध किया जा सकता हो । आज सर्वत्र आत्म-विद्या का उपहास उड़ाते देखा जा सकता है, इसका प्रधान कारण यह है कि उसकी उपयोगिता और यथार्थता सिद्ध नहीं की जा सकी । यों तर्क और प्रमाण को सदैव मान्यता मिलती रही है, पर यह तो विशेष रूप से बुद्धिवाद का युग है, इसमें उन्हीं तथ्यों को मान्यता मिल सकती है, जिन्हें प्रामाणिक सिद्ध किया जा सके । विज्ञान, शिल्प, शिक्षा, कृषि, व्यवसाय, कला, चिकित्सा आदि तथ्यों का कोई मजाक नहीं उड़ाता, क्योंकि उनकी यथार्थता प्रत्यक्ष है । यदि अध्यात्म भी अपनी प्रामाणिकता और उपयोगिता प्राचीनकाल की तरह आज भी सिद्ध कर सका होता तो कोई कारण नहीं कि इस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य को अपनाने के लिए लोग लालायित न होते, उसे प्राप्त करने के लिए समुचित पुरुषार्थ न करते ।

आज आत्म-विद्या एक प्रकार से अप्रामाणिक, उपेक्षित और उपहासास्पद बनी हुई है और इस अवसाद के कारण व्यक्ति तथा समाज को महती क्षति उठानी पड़ रही है । ऐसी परिस्थिति में यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि आत्म-विज्ञान को उसकी उपयोगिता और प्रामाणिकता के साथ सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए और साथ ही यह भी बताया जाए कि अध्यात्मवाद का जो ढाँचा इन दिनों खड़ा दीखता है वह अवास्तविक, भ्रान्त एवं विकृत है । इसमें प्राचीनकाल के आत्मवेत्ताओं के स्थूल क्रिया-कलाप की भोंड़ी नकल मात्र है, वास्तविकता उसमें नहीं के बराबर शेष रह गई है । अस्तु, उसका कोई प्रतिफल परिलक्षित न हो रहा हो तो उसमें अचरज की बात ही क्या है ?

गुरुदेव एक व्यक्ति के रूप में नहीं, एक दर्शन के रूप में जिए । उन्हें चर्मचक्षुओं से जिन्होंने देखा उन्होंने उन्हें देहधारी मानवप्राणी समझा, पर जिसने उन्हें बारीकी से परखा और गहराई तक प्रवेश करके जाँचा उसने उन्हें युगप्रवाह की मूर्तिमान प्रेरणा के रूप में पाया । आत्म-विद्या इस संसार की सबसे बड़ी विद्या और विश्व-मानव को सुख-शान्ति के साथ प्रगति-पथ पर अग्रसर होते रहने की सर्वश्रेष्ठ विधि-व्यवस्था है, किन्तु दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि इस संसार में प्राण-दर्शन की बड़ी दुर्गति हो रही है और इस विडम्बना के कारण समस्त मानव-जाति को भारी क्षति उठानी पड़ रही है, इस अवांछनीय परिस्थिति को वांछनीयता में परिणत करने के लिए, अवास्तविक के स्थान पर वास्तविकता को प्रतिपादित करने के लिए यदि गुरुदेव आये या भेजे हों तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वे एक आदर्श मानव का, एक सच्चे अध्यात्मवादी का क्या स्वरूप हो सकता है और क्या होना चाहिए, इसका उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए अवतरित हुए । वाणी और लेखनी से बहुत कुछ कहा और लिखा जाता रहा है । एक-दूसरे को उपदेश देने का ढर्रा मुद्दतों से चल रहा है, पर उसका तब तक कोई स्थिर प्रभाव नहीं पड़ सकता, जब तक कि उन आदर्शों, उपदेशों पर चलकर यह न बताया जाए कि इस आधार को अपनाने से किस प्रकार लाभान्वित हुआ जा सकता है । प्रत्यक्ष से ही प्रेरणा मिलती है । आदर्श सम्मुख होने पर ही उसके अनुकरण या अनुगमन की इच्छा उत्पन्न होती है । जीभ से कुछ भी कहा जा सकता है और कान से कुछ भी सुना जा सकता है, पर जब तक प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत न किया जाय तब तक उस मार्ग पर चलने का साहस सर्वसाधारण को नहीं हो सकता । इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए वे आये और उनकी समस्त गतिविधियाँ लोक-मंगल के लिए अध्यात्मवाद की उपयोगिता एवं आवश्यकता सिद्ध करने के इर्द-गिर्द घूमती रहीं ।

सौभाग्य से मुझे उनके समीपवर्ती साथी के रूप में रहने का अवसर लम्बे समय तक मिला है । यों सारा संसार उनका घर था और सभी प्राणी उनके आत्मीय थे । चूँकि वे सबके थे इसलिए कोई एक उन पर अपना अधिकार जमाने की धृष्टता नहीं कर सकता । सूरज पर, समुद्र पर, पवन पर, आकाश पर कोई अपना अधिकार नहीं जताता, पर लाभ सभी उठाते हैं । मैं उनकी धर्मपत्नी हूँ, इसलिए कुछ अधिकार तो नहीं जताती, पर अपने इस सौभाग्य को, पुण्य-प्रारब्ध को भरपूर सराहती हूँ कि मुझे दूसरों की अपेक्षा उनके साथ अधिक समय और अधिक निकट रहने का अवसर मिला । वे चले गये, इसका दुःख कितना है और उसे अपने दुर्बल नारी हृदय में कितनी

कठिनाई से छिपाने का असफल प्रयत्न कर रही हूँ, इसकी यहाँ चर्चा न करना ही उचित होगा । उनके लिए मेरी ही तरह न जाने कितनों की आँखें बरसी हैं और कितनों के कलेजे फटे हैं । उनके चले जाने से कितनों ने अपने को अनाथ-असहाय समझा है, इन्हीं में से एक मैं भी हूँ । अधिक समीप रहने का अधिक सौभाग्य मिलने से बिछोह की अपेक्षाकृत कुछ अधिक ही अन्तर्व्यथा मुझे सहनी पड़ रही है । उस कसक को छिपाना इसलिए पड़ रहा है कि ५० लाख अपनी धर्मसन्तानों की देखभाल रखने और स्नेह से सींचते रहने की जिम्मेदारी मेरे दुर्बल कन्धों पर छोड़कर गये हैं, उसमें त्रुटि न आने पाये । इन दिनों उनकी याद जब आती है तो पेट बुरी तरह इठता है और लगता है इतनी तड़पन सह सकना इस शरीर में रहते शक्य न होगा । फिर भी चूँकि कर्त्तव्य, कर्त्तव्य ही है । उस महामानव के आरोपित उद्यान के ५० लाख पेड़-पौधों को जिनमें अभी समर्थता नहीं आई है, उन्हें स्नेहसिंचित रखने को अभी जीना भी पड़ेगा और कुछ करते रहना भी पड़ेगा । इसलिए शरीर और मन को सँभाले भी रहना है । आत्म-नियन्त्रण की यह परीक्षा मुझे सीता की अग्नि परीक्षा-सी इन दिनों भारी पड़ रही है । शरीर को आग में झोंकना उतना कठिन नहीं, जितना हर घड़ी अन्तर की जलन में गलना । समीपता का जितना अमृत पिया उसका बदला इस बिछोह विष के रूप में पीना पड़ रहा है, अति के इन दोनों सिरों का ताल-मेल बिठा सकना और संतुलन कायम रख सकना इन दिनों बहुत भारी पड़ रहा है, फिर भी इतना धैर्य और विवेक तो मिल ही रहा है, जिसके आधार पर, कन्धों पर लदे हुए उत्तरदायित्वों का वहन करने के लिए गिर पड़ने की स्थिति से अपने को बचाये रख सकूँ ।

गुरुदेव की यों मैं धर्म-पत्नी समझी जाती हूँ, पर वस्तुतः उनकी सौभाग्यशालिनी शिष्या ही हूँ । उन्हें पति के रूप में नहीं, देवता के रूप में ही देखा । वस्तुतः वे हैं भी इसी योग्य । उन्हें इसके अतिरिक्त और कुछ समझा भी नहीं जा सकता । कोई अपनी गन्दी आँखों से उन पर भी गंदगी थोपे, यह बात दूसरी है, पर जब भी कोई निष्पक्ष समीक्षा की दृष्टि से उनका अन्वेषण, विश्लेषण करेगा, तब उन्हें मनुष्य शरीर में विचरण करने वाला एक देवता ही पायेगा । मनुष्य में देवत्व का उदय करना यही तो अध्यात्म है । इस तत्त्वज्ञान का व्यावहारिक दर्शन क्या हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष स्वरूप सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए ही वे आये और जिए । इसी के लिए उनकी हर साँस, हर विचारणा, हर क्रिया और हर उपलब्धि नियोजित रही । उन्हें समझना वस्तुतः आत्म-दर्शन को समझने के बराबर ही है । उनका जीवन एक खुली पुस्तक है, जिसे यदि युगगीता का नाम दिया जाए तो उचित ही होगा । आज के तमसाच्छन्न वातावरण को हटाने के लिए क्या किया जाना चाहिए, उसका उद्घोष-उद्बोधन करना ही उनके क्रिया-कलाप का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था । उन्हीं पृष्ठों का अनावरण उनकी अनुपस्थिति में-अपनों से अपनी बात स्तम्भ के अन्तर्गत करते रहने का मैंने निश्चय किया है ।

इन पंक्तियों में उनके उस प्रत्यक्ष स्वरूप की थोड़ी-सी चर्चा की गई है, जिससे सर्वसाधारण का मोटेतौर पर परिचय रहा है । उन्हें एक सहृदय, सज्जन और तप साधना संलग्न ब्रह्मवेत्ता समझा जाता रहा और लोग यह समझते रहे कि उनकी तप-साधना का लाभ कोई भी बिना हिचक उठा सकता है, सो उठाया भी गया । अभावों, संकटों, उलझनों, अवरोधों से निबटने में सहायता प्राप्त करने के लिए अनेक लोग उनके पास आये । सो न कोई खाली हाथ गया, न निराश । जटिल प्रारब्धों को पूर्णतया समाप्त कर देना तो एकमात्र ईश्वर के हाथ में ही हो सकता है, मनुष्य तो अपनी सामर्थ्यभर दूसरों की सहायता ही कर सकता है । सो उन्होंने इस सन्दर्भ में सदा असीम सहृदयता और उदारता का ही परिचय दिया । हर किसी ने पूरा-अधूरा कुछ न कुछ सहयोग अवश्य पाया । जिनकी आवश्यकता पहाड़ जितनी थी, पर टीले जैसी सहायता मिलने से सन्तुष्ट हुए, पर जिसने यह देखा कि उपलब्ध अनुदान भी कितना बड़ा था और उतना भी न मिलने पर कितनी विपत्ति का सामना करना पड़ता, वे उतने से सन्तुष्ट रहे । चर्चा न करने का प्रतिबन्ध था, पर मन की बात सदा छिपाये रहना मानसिक दुर्बलता को देखते हुए सब अंशों में सम्भव नहीं, सो उपलब्ध अनुदानों की चर्चा एक से दूसरे के कानों में पहुँचती रही और उस आकर्षण में उनसे अधिक व्यक्ति उनके पास आते रहे, जिनकी संख्या का लेखा-जोखा रखा जाए तो उसे अनुपम एवं अद्भुत ही कहा जा सकता है। ५० लाख तो उनके दीक्षित शिष्य हैं । सम्पर्क साधने वालों और लाभान्वित होने वालों की संख्या करोड़ों में गिनी जा सकती है । उदार अनुदानी और सन्त-तपस्वी के रूप में उन्हें मोटेतौर पर समझा जाता रहा है ।

कई बार कुपात्रों को सहायता न करने के लिए मैंने कहा तो उन्होंने इतना ही कहा, बार-बार काटने वाले बिच्छू को भी पानी में बहने-डूबने से बचाना सन्त का धर्म है । अनुचित लाभ उठाने के इच्छुक अपनी आदत से पीछे नहीं हटते तो हमीं क्यों अपनी सहायता को सीमाबद्ध करें । तर्क की दृष्टि से उनसे बहस की जा सकती थी, पर जिसके मन में करुणा, ममता और आत्मीयता के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं, जो सबमें अपनी ही आत्मा समायी देखता हो, ऐसे अवधूत की भाव-गरिमा को चुनौती देने में न तर्क समर्थ हो सकता था, न गुण-अवगुण का विश्लेषण । वस्तुतः वे इन परिधियों से बहुत आगे निकल चुके थे, सो किसी ने पात्र-कुपात्र की चर्चा की भी और समझाने-रोकने का प्रयत्न भी किया तो कुछ परिणाम न निकला ।

परिणाम स्पष्ट है-उनकी महानता में तपश्चर्या जितनी सहायक हुई उससे हजार गुनी प्रभावी थी-आन्तरिक निर्मलता और निर्बाध उदारता । जीवन-साधना के इस दो पक्षों के आधार पर ही वे गरुड़ की तरह ऊँचे आकाश में

उड़ सकने में सफल हो सके । विश्लेषण करने वाले देखते हैं उनकी अधिकतम उपासना ६ घण्टे नित्य थी । इतने जप-तप का इतना अधिक प्रभाव नहीं हो सकता, जिससे इतना प्रखर ब्रह्मवर्चस संग्रह हो सके और इतने असंख्य अभावग्रस्तों की सहायता सम्भव हो सके । दूसरे उनसे भी अधिक कर्म-काण्डी एवं जप-तप करने वाले मौजूद हैं, पर उनकी उपलब्धियाँ नगण्य ही रहती हैं, फिर गुरुदेव के लिए इतना उपार्जन कैसे सम्भव हुआ ? इस पर उनकी अति निकटवर्ती एवं विनम्र अनुगामिनी होने के नाते इतना ही कह सकती हूँ कि उन्होंने निर्मलता और उदारता की प्रवृत्तियों को विकसित करने में अत्यधिक ध्यान दिया और पुरुषार्थ किया । अपने व्यक्तित्व को उर्वर क्षेत्र की तरह विकसित करने में यदि इतनी सतर्कता न बरती होती तो संभवतः उनके २४ वर्षों के २४ गायत्री महापुरश्चरण तथा सामान्य समय के जप-तप उतने प्रभावी न हो सके होते, जितने कि देखे और पाये गये ।

गुरुदेव चले गये । दूर जाने पर उनका अधिक अन्वेषण हम सबके लिए अधिक सम्भव हो सकेगा । उन्हें गहराई तक समझने का जितना प्रयत्न किया जाएगा उतना ही अधिक हम अध्यात्म तत्वज्ञान का वास्तविक स्वरूप समझ सकने और उसके महान परिणामों को उपलब्ध कर सकने का पथ प्रशस्त कर सकेंगे ।

## इन दिनों हमारी सक्रियता में प्रखरता आनी चाहिए

हम सब परीक्षा की घड़ी से गुजर रहे हैं । पूज्य गुरुदेव की महिमा और महत्ता के साथ जुड़े रहकर हम लोग चिरकाल से गौरवान्वित होते रहे हैं । इस गौरव की पात्रता हममें है भी या नहीं, समय ने इस तथ्य को प्रकट करने के लिए एक ऐसी कसौटी प्रस्तुत कर दी है, जिस पर खोटे सिद्ध होने पर हमें उतना ही लज्जित होना पड़ेगा, जितने कि पहले गौरवान्वित हुए थे ।

गुरुदेव के व्यक्तित्व और कर्तृत्व की गरिमा हम, उनके मित्र और शिष्य ही बखानें तो यह एक मोह-ममता ग्रस्त परिवार की श्रद्धाभिव्यंजना मात्र कही जा सकती है, किन्तु जो अनुपम आदर्श उन्होंने प्रस्तुत किये हैं, उनकी न केवल देश के कोने-कोने में चर्चा हुई है, वरन् विश्व के महान विचारकों ने उनकी गतिविधियों की मुक्तकण्ठ से सराहा है । उनके व्यक्तित्व को मानवता की सजीव प्रतिमा कहा जाता है । अध्यात्म तत्त्वों का अवलम्बन करके इस मार्ग का पथिक अपने लिए तथा दूसरों के लिए क्या कुछ कर सकता है, इसके प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करके उन्होंने इन दिनों उपहासास्पद और उपेक्षित कही जाने वाली आत्म-विद्या की यथार्थ महत्ता एवं सामर्थ्य की ओर सर्वसाधारण का ध्यान आकर्षित किया है ।

अनाचार और अपराध की बाढ़ में बहकर सर्वनाशी संकट में फँसे हुए मानव-समाज को विनाश के गर्त से बचाने एवं 'जियो और जीने दो' की नीति पर पुनः लौट चलने के लिए वे अपनी प्रचण्ड सामर्थ्य के अनुसार इतने कार्य कर रहे हैं कि लगता है प्रवाह को लौटा देने की परिस्थितियाँ बनने की आशामय किरणें इस सघन अन्धकार को चीरकर आज नहीं तो कल निकलने ही वाली हैं । बंगला-देश के नरसंहार से लेकर भारत की आन्तरिक दुर्बलता और दुर्दशा तक हृदयद्रावी सन्दर्भों से, धर्म-राजनीति और वैयक्तिक मूल्यांकनों के गिरते हुए स्तरों से, वे कितने व्यथित और दुःखित थे, इसे उनके निकटवर्ती ही जान सकते हैं । विश्व-पीड़ा के साथ आत्म-पीड़ा को जोड़कर वे कभी चैन से न बैठे, प्रतिरोध के लिए जो बन पड़ा, करते रहे । दैवी तत्त्वों के हाथों जो साधन उपलब्ध हैं, उनसे व्याप्त असुरता का समाधान न होते देखा तो गंगा का अवतरण करने वाले भगीरथ की तरह उस दिव्य-शक्ति का उद्भव करने चल दिए, जिससे व्यक्ति और समाज के, राष्ट्र और विश्व के सम्मुख उपस्थित विपन्नता का समाधान सम्भव हो सके ।

तप-साधना यों अनेक सन्त-महात्मा करते रहते हैं, पर उनमें से अधिकांश का प्रयोजन व्यक्तिगत स्वर्ग, मुक्ति, शान्ति, सिद्धि जैसी विभूतियों तक सीमित रहता है, व्यक्तिगत लाभ चाहे आत्मिक हों, चाहे भौतिक, उनसे उपार्जनकर्त्ता के ही वैभव की वृद्धि होती है । ऐसे तपस्वी जिन्होंने अपने आपे को, अपने लाभ-वैभव को एक प्रकार से विस्मृत-विसर्जित ही कर दिया हो, केवल जिनका पर-दुःखकातर अन्तःकरण के साथ लोक-मंगल और विश्वमंगल ही लक्ष्य रहा हो, आज कहीं ढूँढ़े भी नहीं मिलते । ऋषिपरम्परा के प्रतीक हमारे गुरुदेव यों जीवन भर जनमानस में प्रकाश उत्पन्न करने के लिए तिल-तिल करके अपने को ज्योतिर्मय दीपक की तरह जलाते रहे, पर अब तो लगता है उनका जीवन-यज्ञ पूर्णाहुति के समीप जा पहुँचा । जिस उग्र तपश्चर्या का अवलम्बन उन्होंने इन दिनों किया है, उसकी तुलना के उदाहरण अन्यत्र ढूँढ़े नहीं मिलेंगे । तत्त्ववेत्ता सूक्ष्मदर्शियों द्वारा विश्वास के साथ यह आशा की जाती है कि उनका प्रयोजन असफल न होगा और आज के निराशाजनक वातावरण में प्रकाश की कुछ ऐसी किरणें उत्पन्न होंगी, जिन्हें आज की स्थिति में तुलना करने पर अनहोनी ही कहा जा सकता है ।

चूँकि हम उनके साथी, सहचर, अनुयायी और परिजन के रूप में अतिनिकटवर्ती रहे हैं और "अति परिचयात् अवज्ञा" सूत्र के अनुसार हम उन्हें पहचानने से वंचित रहे और सही मूल्यांकन न कर सके, पर देख सकने और समझ सकने वालों ने तो न जाने उनके बारे में क्या-क्या कहा और आगे क्या-क्या कहने वाले हैं । 'देवदूत आया हम पहचान न सके' पुस्तक में विश्वभर के जिन सूक्ष्मदर्शियों के संकेतों का उल्लेख किया गया है, उससे यह आभास लग सकना कठिन नहीं कि एक सुनिश्चित ईश्वरीय व्यवस्था के अनुरूप गुरुदेव कुछ ऐसा करके रहेंगे जिसे विश्व के इतिहास में सदा अविस्मरणीय ही माना

जाता रहेगा । नव-निर्माण एवं युग-परिवर्तन की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में आज की स्थिति को देखते हुए कोई आशंकित और अनिश्चित भी हो सकता है, पर समय बतायेगा कि गुरुदेव की महानता विश्वव्यापी महानता के रूप में किस तरह विकसित होगी और उसका लाभ समस्त विश्व के लिए कैसा मंगलमय होगा ।

ऐसे महामानव के साथी और सहचर होने का गौरव प्राप्त होना, हम सबके लिए कुछ कम सौभाग्य की बात नहीं है । यदि प्रत्यक्ष रूप में कुछ नहीं भी पाया हो, तो भी यह कुछ कम नहीं कि हम लोग उनके कुटुम्बी और सम्बन्धी, मित्र और शिष्य कहलाने का गर्व-गौरव प्राप्त कर सके । रीछ-वानरों ने राम के साथी बनकर गोप-गोपियों ने कृष्ण के साथ सम्बन्धित रहकर चाहे प्रत्यक्ष और भौतिक लाभ कुछ न पाया हो, पर उनकी प्रातः-स्मरणीय चर्चा जो अनन्त काल तक होती रहेगी, वह भी कुछ कम महत्व की उपलब्धि नहीं है ।

इस गौरवास्पद स्थिति को प्राप्त कर सकने के उपयुक्त हम हैं भी या नहीं, यह परीक्षा भी समय ने लाकर सामने प्रस्तुत कर दी है और उस स्थिति में डाल दिया है कि खरे और खोटे में से एक पक्ष में अपने को खड़े करने की स्थिति में अनुभव करें । हनुमान अंगद की महत्ता को आकाश तक पहुँचाने में श्रीराम के साथ उनका सम्बन्ध-सहचरत्व ही पर्याप्त नहीं, वरन् उन्हें वे कार्य भी करने पड़े जो महामानव के साथ जुड़े रहने वाले उनके सच्चे-साथी होने के प्रमाणस्वरूप करने पड़ते हैं । निष्ठा की परख कर्म से होती है । यों परख के बिना छोटे सिक्के तक आगे नहीं चलते, फिर श्रेय-साधना की गौरव गरिमा के पथ पर चलने वाले के लिए तो बिना परीक्षा की कसौटी पर सही सिद्ध हुए आगे बढ़ने की बात ही नहीं बनती ।

गुरुदेव ने अगणित अग्निपरीक्षाओं में अपने को हँसते-मुसकराते झोंका और हर बार वे सही सिद्ध होते गये । अब वे आगे तपश्चर्या के लिए चले गये, किन्तु हमें अपने पीछे आने के लिए, लोक-मंगल के लिए त्याग-अनुदान करने का इशारा करके गये हैं । वे न गये होते तो बात दूसरी थी । जो कुछ हो रहा था उसका श्रेय, दोष उन्हीं के मत्थे था, पर अब जबकि उन्होंने अपने अति आत्मीयजनों को कुछ आगे बढ़ने के लिए स्पष्ट संकेत किए हैं और विदाई के अवसर पर भावनाओं से अनुरोध करके गये हैं कि 'ज्ञान-यज्ञ की लाल मशाल' में मेरे हर प्रियजन को कुछ श्रद्धा-स्नेह डालते ही रहना है और इसे किसी भी कीमत पर बुझने न देना है, क्या इस अनुरोध की ओर से मुँह मोड़कर हम उस कृपणता का ही परिचय देंगे, जिसमें आत्म-धिक्कार और लोकोपवाद की भर्त्सना की जलन ही पल्ले बँधेगी ?

हमें पिता और माता से अधिक प्यार करने वाले और हमारे भविष्य की उज्ज्वल रेखा में रंग भरने का स्वप्न देखने में संलग्न गुरुदेव की छोटी-सी इच्छा और आज्ञा का पालन करने से हम भी जी चुराएँ, तो यह अपने लिए लज्जा और कलंक की ही बात होगी । सिंह के बच्चे सिंह और हाथी के बच्चे हाथी होते हैं । ऐसा न हो कि हम अपने महान गुरु के महान शिष्य सिद्ध न होने की अपेक्षा अकर्मण्य, चापलूस और तोताचश्म कहलाएँ और इस उपहास के पात्र बनें कि जब लाभ के अवसर नहीं रहे तो दूध पीने के लिए बने हुए मजनूँ किस उस्तादी के साथ खिसक गये ।

गुरुदेव एवं अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों के सन्दर्भ में कहा जाए अथवा देश-धर्म, समाज-संस्कृति के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि से यह अनिवार्य माना जाए, हर दृष्टि से यह आवश्यक हो गया है कि हमें अब हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना शोभास्पद न होगा । नव-निर्माण के लिए जिस पथ पर हमें चलाया गया था और कुछ आशा की दृष्टि से देखा गया था उससे सर्वथा विमुख न हो जाएँ । पेट व प्रजनन के पशुजीवन का ढर्रा सभी के पीछे लगा हुआ है । हमें उससे आगे बढ़ना होगा और समय एवं सामर्थ्य का एक अंश परमार्थ के लिए भी नियोजित करना होगा, जिस पर कि व्यक्ति और समाज का भविष्य उज्ज्वल अथवा अन्धकारमय बनना पूर्णतया निर्भर है ।

चलते-चलते गुरुदेव हम सबके लिए एक अनुग्रह करते गये हैं और मुड़-मुड़कर उसकी पूर्ति के लिए अनुरोध करते गये हैं कि परिवार का एक भी व्यक्ति ऐसा न बने, जो मिशन के लिए कुछ न कुछ प्रयास एवं त्याग हर दिन प्रस्तुत न करता रहे । अनुपात चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, पर कुछ तो इस दिशा में करते ही रहना चाहिए । व्यक्तिगत कार्यों में चाहे कितनी ही व्यस्तता ही क्यों न हो, पर नव-निर्माण के पुण्य-प्रयोजन से भी उन्हें अति आवश्यक कार्यों में से एक गिन लेना चाहिए और जिस प्रकार शरीर, परिवार, उपार्जन आदि के लिए नित्य कुछ करते ही रहना पड़ता है, उसी प्रकार गुरुदेव के, भगवान के, विश्व-कल्याण के महान प्रयोजनों को भी अपने अनिवार्य कर्त्तव्यों में ही जोड़ लेना चाहिए । यदि हमारे द्वारा कुछ भी न किया जा सका तो दिव्यदर्शी गुरुदेव हम लोगों की इस उपेक्षा-अवज्ञा पर दुःखी और निराश ही होते रहेंगे ।

परमपूज्य गुरुदेव युग की पुकार एवं परमेश्वर की प्रकाश-प्रेरणा को मूर्तमान करने के लिए आये । उन्होंने स्वल्पकाल में जैसा शानदार शुभारम्भ-श्रीगणेश किया उस प्रगति का लेखा-जोखा लेने वाले सभी लोग आश्चर्यचकित हैं, पर कार्य-क्षेत्र तो अतिविशाल एवं अतिव्यापक है । योजना छोटे क्षेत्रों में आरम्भ ही हुई है, बनेगी तो वह विश्व-व्यापी ही । सजग और सजीव आत्माओं को युग-निर्माताओं की भूमिका सम्पन्न कर सकने योग्य आत्मबल का साधन जुटाने के लिए जिस प्रचण्ड-शक्ति की आवश्यकता है, उसे ही संग्रह करने वे हिमालय पर तप करने गए हैं । विश्वास किया जाना चाहिए कि वे भगीरथ की तरह जनमन को निर्मल कर सकने वाली ज्ञानगंगा का अवतरण कर सकेंगे । हमें आशा करनी चाहिए कि वे

परशुराम जैसी उस प्रचण्ड परमाणु शक्ति का उद्भव करेंगे, जो अविवेक एवं अनीति भरे मस्तिष्कों को निरस्त करके दिव्य-दर्शी, दिव्य-शीर्ष उगा सके । दधीचि के अस्थिवज्र से वृत्रासुर की विश्व-व्यापी असुरता का निराकरण किया गया था, हम देखेंगे कि अगले दिनों अनाचार का सघन अन्धकार निराकरण करने में गुरुदेव की दीपशिखा जैसी दिव्यसाधना कितनी सफल सिद्ध होती है ।

समय की दुरूहता को सुधारने के लिए ईश्वरीय त्रिविध शक्तियाँ निर्माण, अभिवर्द्धन एवं परिष्कार का प्रयोजन लेकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश की तरह युग-निर्माण योजना की ज्ञान, कर्म और भक्तिपरक पुण्य-प्रक्रिया में तत्पर हो रही हैं । अब हमारी बारी है कि इस युग के, इस विश्व कल्याण के महान अभियान में अपनी ऐतिहासिक भूमिका सम्पन्न करने के लिए आगे आयें और वह कर दिखाएँ जो भावी पीढ़ियों को गर्व और हर्ष के साथ हमें स्मरण करने का अवसर प्रदान कर सके ।

# आत्मबल-सम्पन्न जीवन-दर्शन और उसकी दिव्य अनुभूतियाँ

शरीर और बुद्धि की दृष्टि से इन दिनों जन-साधारण में दिन-दिन दुर्बलता ही आती चली जा रही है । प्राचीनकाल की बात कौन कहे, पचास साल पहले-सार्वजनिक स्वास्थ्य की जो स्थिति थी, उससे आधी भी इन दिनों नहीं रही । भड़कीले वस्त्र और भोंडी प्रसाधन सामग्री के बल पर बाहरी चमक दमक बनाये फिरने में लोगों को भ्रम में रखा जा सकता है, पर सुदृढ़ स्वास्थ्य का लाभ कहाँ मिल सकता है । तनिक सा श्रम करने में थकान, काम करने में अनुत्साह, छुट-पुट बीमारियों में आये दिन घिरे रहना सामान्य बात है । दवाओं और डॉक्टरों के खर्च बढ़ते ही जाते हैं । दुर्बलता और अशक्तता से शरीर हर समय गिरा-मरा सा रहता है, चैन घड़ी भर को भी नहीं ।

यही बात बुद्धि के सम्बन्ध में है । कॉलेज की परीक्षा पास करके नौकरी प्राप्त कर लेना अलग बात है । बुद्धि बात दूसरी है । अर्थकरी शिक्षा में कुशलता पढ़े बिना समान रूप से प्राप्त कर लेते हैं और धन-उपार्जन चोर, डाकू भी कर लेते हैं । ऐश-आराम जुटा लेने में किसी भी प्रकार सफल हो जाना बुद्धिमत्ता की नहीं, धूर्तता की निशानी है । धूर्तता अथवा चतुरता एवं कुशलता भले ही बढ़ चली हो, दूरगामी प्रगति की बात सोच सकना और अपना-पराया वास्तविक हित-साधन करना, मानव-जीवन जैसे बहुमूल्य अवसर का श्रेष्ठतम सदुपयोग करना, अपनी और समाज की वर्तमान समस्याओं का समाधान करने का मार्ग निकाल लेना अलग बात है । ऐसी बुद्धिमत्ता का दिन-दिन अभाव ही होता चला जाता है । जो जितना ज्यादा शिक्षित है, वह उतना ही अधिक उलझा दिखाई देता है । सिर-दर्द से लेकर नींद न आने तक, विक्षिप्त रहने से लेकर आत्महत्या करने तक के दुर्भाग्य इन तथाकथित शिक्षितों को ही घेरते हैं । जो शान्ति से रहने और रहने देने का, हँसने और हँसाने का वातावरण उत्पन्न कर सके, ऐसी बुद्धिमत्ता के दर्शन दुर्लभ होते चले जा रहे हैं ।

शरीर और मन की दुर्बलता का दोष खुराक की कमी या परिस्थितियों को उतना नहीं दिया जा सकता, जितना मनोबल की, आत्मबल की न्यूनता को । वस्तुतः मनुष्य भीतर से खोखला होता चला जा रहा है । आत्म-नियन्त्रण कर सकने का साहस, प्रतिकूल परिस्थितियों से निबटने का साहस और प्रगति के लिए अथक परिश्रम करने का धैर्य, असफलताओं में उद्विग्न न होने का सन्तुलन, इन सद्वृत्तियों के समन्वय को मनोबल या आत्मबल कहते हैं । महत्त्वपूर्ण संकल्प करने और निष्ठापूर्वक उन्हें पूरा करने तक जमे रहने का शौर्य इस आत्मबल की ही देन है । भौतिक एवं आत्मिक सफलता उपलब्ध करने में यह आन्तरिक वैभव ही सच्चा सहायक सिद्ध होता है । बाहरी साधन और सहयोग तो इसी चुम्बक के आकर्षण में खिंचकर अनायास ही चले आते हैं ।

आज की दयनीय दुर्दशा में ग्रस्त शरीरबल और बुद्धिबल से हीन मानव को इस विपन्नता से छूटने का पथ-प्रदर्शन करने के लिए गुरुदेव एक व्यवहार-दर्शन की तरह अवतरित हुए । वाणी और लेखनी से सम्भवतः यह कार्य सम्भव न हो पाता, जो उन्होंने अपना उदाहरण प्रस्तुत करके दिखा दिया । उनका जीवन-दर्शन पग-पग पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि मनस्वी व्यक्ति हर परिस्थिति से जूझ सकता है और हर विपन्नता को पार करते हुए प्रगति के पथ पर निर्बाध रूप से गतिशील रह सकता है ।

पैतृक दृष्टि से वे सम्पन्न परिवार में उत्पन्न हुए । दो हजार बीघे जमीन और अच्छी पूँजी उनके पिताजी छोड़ गये थे । यह सब सम्पदा मिलकर लाखों के बराबर होती थी, पर उस सबको लोक मंगल के लिए दान करके उन्होंने स्वेच्छापूर्वक निर्धनता वरण की । पाँच-छह व्यक्तियों के परिवार के लिए २००/ मासिक खर्च की व्यवस्था बनाई और निबाही । इस व्यय में लगभग आधा तो आगन्तुक अतिथियों में ही खर्च हो जाता था, परिवार खर्च के लिए जो राशि बचती थी, उसमें बिना दूध-घी का, सस्ते अन्न वाला भोजन तथा हाथ से धोकर, सींकर काम चलाने जितना वस्त्रों का जुगाड़ ही जम सकता था । इस सादगी को स्वेच्छापूर्वक अपनाये रहे । सम्पन्नता को जान-बूझकर दुत्कार दिया । यह सब इसलिए करना पड़ा ताकि लोगों को यह दिखाया जा सके कि निर्धनता किसी की प्रगति में बाधक नहीं हो सकती और यदि मनोबल ऊँचा रहे तो इतने स्वल्प साधनों से भी शारीरिक स्वास्थ्य और बौद्धिक उत्कर्ष का क्रम निर्बाध रूप से चल सकता है । सम्पन्नता उपयोगी भले ही हो, साधनों से सुविधा भले ही रहती हो, पर उनके अभाव में भी कुछ अवरोध उत्पन्न

होने वाला नहीं है । शर्त एक ही है कि व्यक्ति का मनोबल ऊँचा रहे, यदि उसके लिए आत्मबल अभिवर्द्धन की तैयारी कर ली गई हो ।

साठ वर्ष की आयु हो जाने पर उनके शरीर में न कोई विकार था न शैथिल्य, अच्छे-खासे नव-युवक की तरह उनका शारीरिक, मानसिक श्रम पूरे उत्साह के साथ चलता रहता था । थकान का नाम नहीं । दवा के नाम पर एक पाई का खर्च नहीं । लोग अक्सर मुझसे यह कहा करते-गुरुदेव इतना कठोर श्रम करते हैं, उनका स्वास्थ्य राष्ट्र की सम्पत्ति है । उन्हें कुछ अच्छी खुराक मिलनी चाहिए अन्यथा वे इतना काम कैसे कर सकेंगे ? बात मुझे भी जँच गई, सो एक दिन एक गिलास मौसम्बी का रस लेकर उनके पास पहुँची । पूछा गया-यह क्या है ? मैंने लोगों के तर्क दोहराते हुए मौसम्बी का रस उनकी ओर बढ़ाया । वे उसे बिना छुए ही गम्भीर हो गये । थोड़ी देर में देखा उनका गला रुँध गया और आँसुओं की धारा बहने लगी । मैं डर गई । सोचने लगी कोई बड़ी गलती हो गई । सकुचाते हुए कारण पूछा, तो इतना ही कहा-जिस निर्धन देश में हम रहते हैं और जिसके करोड़ों निवासियों को एक जून भोजन नहीं मिलता, उनके साथ जब हमारी ममता-आत्मीयता जुड़ी हुई है तो किस प्रकार सम्भव है कि हम यह बहुमूल्य भोजन करें, जो अपने इन पिछड़े कुटुम्बियों को उपलब्ध नहीं है । फिर उन्होंने यह भी कहा हमारा अहम् अपनी काया तक ही सीमित नहीं है, तुम सब 'अखण्ड-ज्योति' और गायत्री तपोभूमि के कार्यकर्त्ता यह सब मिलकर भी एक सौ से ऊपर हो जाते हैं । उनमें कई अस्वस्थ भी हैं, कई बालक भी हैं । जिन्हें हमारी अपेक्षा अधिक पौष्टिक आहार की आवश्यकता है । यदि उन्हें वह उपलब्ध नहीं कराया जा सकता तो हमारे लिए बहुमूल्य आहार कैसे ग्राह्य हो सकता है ? हमें पौष्टिक आहार मिले यह उचित है, पर यह औचित्य तभी है जब उतना उपभोग हम सब कर सकें । एकाकी खाना तो चोर का काम है । मैं चोर बनकर मौसम्बी का रस पीऊँ, तो शरीर को कुछ लाभ मिल सकेगा या नहीं, मेरी आत्मा अवश्य दुर्बल हो जाएगी और वह हानि शरीर के दुर्बल, रुग्ण अथवा मृत हो जाने से भी अधिक गम्भीर होगी ।

उनके कितने ही मित्र, शिष्य हम लोगों की स्वेच्छा से वरण की हुई गरीबी को जानते थे, सो अक्सर फलों तथा वस्त्रों के उपहार लाते भेजते रहते थे । भेजने वालों के सम्मान के लिए उन्हें रख जरूर लिया, पर उपभोग उसमें से एक कण का भी नहीं किया गया । फल कार्यकर्त्ताओं तथा बच्चों में बँट गये तथा कपड़े नव-निर्माण में संलग्न साथियों के काम आये । अपने लिए निर्धनों जैसी गरीबी ही सुरक्षित । दो सौ रुपयों में पाँच छह व्यक्तियों का परिवार तथा अतिथियों का खर्च किस तरह चल सकता है, इसकी चतुरता मुझे जितनी आती है बहुत कम महिलाओं को उतनी आती होगी । सभ्य लोगों जैसा आवरण और किफायत का अन्त, इन दोनों का ताल-मेल कैसे मिलाया जा सकता है, इस कला को सीखा जा सके तो कोई भी गृहिणी अपने परिवार को दरिद्र जैसा दीखने न देगी ।

इन अभावग्रस्त परिस्थितियों में भी पौष्टिक भोजन का लगभग सर्वथा अभाव रहने पर भी गुरुदेव तथा हम सब उनके अनुचर किस प्रकार स्वस्थ नीरोग बने रहे, इसके पीछे वही सिद्धान्त काम करता है, जो वे सर्वसाधारण को सिखाना चाहते थे । ईमानदारी की कमाई यदि सन्तोषपूर्वक खाई जा सके तो वह बहुमूल्य आहार से अधिक शक्ति दे सकती है । यह सिद्धान्त उन्होंने कहकर नहीं, लिखकर नहीं, वरन् अपनी, अपने परिवार की प्रयोगशाला में प्रमाणित करके दिखाया । अपने रक्त की तथा आँखें, गुर्दे, हृदय आदि की मरने से पूर्व दूसरे जरूरतमन्दों को दान दे देने की जो वसीयत की है, उसमें यह सन्देह किया गया था कि वृद्ध हो जाने पर यह सब वस्तुएँ बेकार हो जाएँगी और देने लायक नहीं रहेंगी तो उन्होंने यही कहा-चूँकि इनके पीछे सात्विकता और आत्मबल का गहरा पुट विद्यमान है, इसलिए इनमें से कुछ भी बेकार या खराब होने वाला नहीं है । अपनी भावी रुग्णता के सम्बन्ध में इतना ही एक बार कह सके कि उन्होंने अपने तप से बहुत अधिक अनुदान लोगों के कष्ट दूर करने के लिए दिए हैं । सो रामकृष्ण परमहंस को होने वाले गले के कैंसर की तरह हमें भी भविष्य में कुछ कष्ट सहने पड़ेंगे । मैंने भी उसमें कुछ हिस्सा बँटाने का अनुरोध किया तो परहित के लिए थोड़ा कष्ट सहने की, हिस्सा बँटाने की मुझे भी स्वीकृति मिल गई । इस संदर्भ को छोड़कर उनका स्वास्थ्य आज भी ठीक है और अवयवों का अनुदान देते समय भी ठीक रह सकता है ।

गुरुदेव द्वारा इस सिद्ध किए हुए सिद्धान्त में बहुत तथ्य दिखाई देता है कि स्वास्थ्य की स्थिरता और अभिवृद्धि के लिए खर्चीले पौष्टिक आहारों के पीछे अन्धी दौड़ लगाने की जरूरत नहीं है । अच्छा आहार मिल जाए तो ठीक, न मिले तो न सही, शक्ति का स्रोत मनोबल में है । रक्त, कोष और स्नायु तन्तु अपने आप में अजस्र शक्ति दबाये बैठे हैं । भौतिक जगत का एक अणु विस्फोट के समय अपनी प्रचण्ड शक्ति का परिचय देता है, यह शक्ति मानवीय चेतना से जुड़े हुए शरीर के अणु-परमाणुओं में भी विद्यमान है । इसे विकृत करने की धृष्टता हम न करें, अपने आप पर इतनी कृपा करते रहें तो सामान्य आहार से भी समर्थ आरोग्य और उल्लास भरा दीर्घजीवन उपलब्ध कर सकना हर किसी के लिए सम्भव हो सकता है । ईमानदारी का उपार्जन यदि पूर्ण आनन्द के साथ खाया जा सके, तो उतने से आरोग्य की आधी समस्या हल हो सकती है । आधी समस्या वे इन्द्रियलिप्सा और मनोविकारों पर निर्भर बताते थे । कहा करते थे यदि जीभ को व्यभिचारिणी न बनने दिया जाए, स्वाद के लिए सात्विकता को नष्ट होने न दिया जाए, कड़ी भूख लगने पर पेट में कुछ कम खाया जाए तो अपच की समस्या ही उत्पन्न न होगी और रुग्णता की जड़ ही कट जाएगी ।

ब्रह्मचर्य पर वे बहुत जोर देते थे और कहते थे लोग कितने मूर्ख हैं कि शरीर और मन का शक्ति स्रोत-ओजस और ब्रह्मवर्चस घृणित जैसी क्षणिक उत्तेजना में नष्ट करते रहते हैं और पीछे खोखले होकर दुर्बलता एवं रुग्णता का अभिशाप भोगते हैं । दस इन्द्रियों में जीभ और जननेन्द्रिय यह दो ही प्रधान हैं, जिसने इन दोनों पर नियन्त्रण करने योग्य संयम, मनोबल जुटा लिया समझना चाहिए कि उसने अपने आपको अस्वस्थता के अभिशाप से सदा के लिए मुक्त कर लिया । उनके इस प्रतिपादन को चुनौती इसलिए नहीं दी जा सकती कि उन्होंने कहा ही नहीं, करके भी दिखाया । आज की व्यापक दुर्बलता और अस्वस्थता के निवारण में अध्यात्मवाद का यह सरल-सा प्रयोग कितना सफल सिद्ध हो सकता है, इसे यदि समझा जा सके तो तरसा-तरसाकर मारने वाली इस शारीरिक दुर्गति-दुर्दशा से हम सहज ही छुटकारा पा सकते हैं । न जाने गुरुदेव का यह सन्देश, मार्गदर्शन समझने और अपनाने में लोग समर्थ होंगे भी या नहीं । जो हो, उन्होंने एक प्रत्यक्ष प्रयोग करके दिखाया कि सात्विक, सरल और संयमी जीवन से निर्धनता के वातावरण में भी कुछ जटिल प्रारब्ध भोग-अपवादों को छोड़कर सुदृढ़ आरोग्य का लाभ प्राप्त करना सम्भव हो सकता है ।

मस्तिष्क में मूढ़ता, उत्तेजना, चिन्ता, आशंका, अविश्वास, निराशा, भीरुता, अस्थिरता, अस्त-व्यस्तता, दीर्घसूत्रता, अदूरदर्शिता, अधीरता जैसी विकृतियाँ उत्पन्न करके ही हम बुद्धि संस्थान को स्वयं अशान्त और उद्विग्न स्थिति में ले जाकर पटक देते हैं । कुछेक अपवादों को छोड़कर साधारणतया सबकी मनःस्थिति इस योग्य होती है कि यदि उचित दिग्दर्शन प्राप्त होता रहे तो हर व्यक्ति बुद्धिमान बन सकता है और उस आन्तरिक अशान्ति से बच सकता है, जो न केवल अपने लिए ही, वरन् सम्बन्धित अन्य कुटुम्बी-सहयोगियों के लिए भी खिन्नता एवं असन्तोष का कारण बनती है । मानसिक रोगों की तरह कितनी ही सनकें, कितनी ही बुरी आदतें सिर पर सवार हो जाती हैं और उनके चंगुल में फँसा हुआ व्यक्ति एक प्रकार का अभिशप्त, असफल और नीरस जीवन ही जीता रहता है । समझा यह जाता है कि यह सब परिस्थितियों के कारण हो गया या दूसरे लोग इस दशा में धकेल देने के दोषी हैं । इस भ्रम में पड़े हुए लोग अपनी अशान्त मनोदशा का कारण बाहर तलाश करते हुए मृगतृष्णा में भटकते रहते हैं । न उन्हें समाधान मिलता है न छुटकारा । शारीरिक रुग्णता से भी अधिक कष्ट देती है, मानसिक अस्त व्यस्तता । प्रगति का पथ अवरुद्ध करने और असहनीय आन्तरिक उद्वेगों का जन्म दुर्बुद्धि से ही होता है । यदि आत्म-निरीक्षण और आत्म-परिष्कार की विद्या हाथ लग जाए तो प्रसन्नता और प्रफुल्लता का हँसता-हँसता जीवन जिया जा सकना किसी के लिए भी सम्भव हो सकता है ।

विपन्न परिस्थितियों में भी मानसिक सन्तुलन को स्थिर रखने की बुद्धिमत्ता कैसे स्थिर-सुदृढ़ रखी जा सकती है, इसका प्रयोग अपने जीवनक्रम में प्रयुक्त करके गुरुदेव आज के दुर्बुद्धि संत्रस्त युग का मार्गदर्शन करने आये । गहराई से तलाश किया जाए तो उनके सामने अधिक-से-अधिक उद्विग्न दीखने वाले व्यक्ति की तुलना में भी हजार गुनी ज्यादा उलझनें, समस्याएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित रहती थीं । दुनिया की विचित्रता में कुछ सन्देह नहीं । वे लाखों-करोड़ों व्यक्तियों से सम्बद्ध थे । इनमें से अधिकांश व्यक्ति उसी ढाँचे में ढले थे, जैसा कि सर्वत्र दीखता है । अपने लाभ के लिए दूसरों का शोषण करने में किसी को संकोच नहीं । जो आता सो लेने की बात ही करता । प्रतिदान के रूप में लोक-मंगल के लिए कुछ करने की बात कही जाती तो भी लोग अनसुनी कर देते । आशीर्वाद-वरदान के रूप में तप-पुण्य प्राप्त करके ही लोग सन्तुष्ट न रहते, मुफ्त भोजन, निवास और दाँव लग जाए तो कभी न लौटने वाले उधार के नाम पर भी कुछ किसी बहाने प्राप्त कर ले जाते थे । सम्पर्क में आने वाले लोगों का वर्गीकरण किया जाए तो दो-तिहाई ऐसे ही मिलेंगे । आत्म-कल्याण और लोक-मंगल के लिए कुछ मार्गदर्शन प्राप्त करने और देश, धर्म, समाज, संस्कृति के पुनरुत्थान में योगदान करने की बात तो कोई बिरले ही करते थे । उनकी संख्या एक तिहाई से अधिक तो होती ही न थी । गुरुदेव के एक राजनीतिक मित्र उन्हें सदा ताना दिया करते थे कि आप शिष्यों से नहीं जेबकतरों से घिरे रहते हैं । वे मुसकरा भर देते और कहते इन जेबकतरों में से ही शिष्य पैदा करना मेरा काम है । वस्तुतः उनकी बात सच निकली । मनोकामना पूर्ण कराने की इच्छा से गुरुदेव का अनुदान मात्र प्राप्त करने के लिए जो लोग आये थे वे उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व से ऐसे प्रभावित हुए कि क्रमशः सच्चे अर्थों में उनके अनुयायी ही बनते चले गये । स्वार्थपूर्ति का प्रलोभन देकर पास बुलाना और परमार्थपरायण बनाकर वापस भेजना, यह जादू अन्यत्र शायद ही कहीं देखा गया हो । उनके अन्तरंग मित्र उनका मूल्यांकन करते हुए अक्सर 'जादूगर' की उपाधि दिया करते थे । सचमुच वे इस युग के अनुपम जादूगर ही थे । कितनों को किस रूप में पकड़ा और उन्हें क्या से क्या बना दिया, इसका लेखा-जोखा यदि इकट्ठा किया जाए तो निस्सन्देह उन्हें बाजीगरों का मुकुटमणि ही कहा जाएगा । मिट्टी दिखाकर झूठ-मूठ रुपया बनाने का तमाशा करने वाले बाजीगर उनके इस चमत्कार की क्या तुलना करेंगे, जिसके द्वारा पारस की तरह लोहे के सड़े-गले टुकड़ों को चिरस्थायी बहुमूल्य स्वर्ण राशि में बदलकर विश्वमानव की झोली को अपार सम्पदा से भर दिया गया ।

यदि गुरुदेव की इस सफलता को बुद्धिमत्ता कहा जाए तो उसका मूल कारण, उनकी गुण-ग्राहक दृष्टि में, निश्छल और निर्मल सघन आत्मीयता में पूरी तरह समाविष्ट पाया जा सकता है । उन्होंने अविश्वासियों पर भी विश्वास किया और दुर्जनों को भी सज्जन माना ।

ईर्ष्यालु, विरोधियों और निन्दकों की बड़ी संख्या उनके वैभव को देखकर उत्पन्न हो गई थी। दुनिया का रिवाज उन्हें अछूता क्यों छोड़ता। सामने मित्र बनने वाले कितने लोग शत्रु की तरह उन्हें नीचा दिखाने और नष्ट करने के षड्यन्त्र करते रहे। इसकी विश्वस्त जानकारी मिलती ही रहती थी, फिर भी वे यही कहते-भूल या भ्रम में ही वे ऐसा कर रहे होंगे अथवा अपने में जो दोष अब शेष हों, उन्हें हटाने की सद्भावना से वे ऐसा कर रहे होंगे। कटुता, दुर्भावना या प्रतिशोध तो मानो उन्हें छू भी नहीं गया था। मित्र और शत्रु के बीच क्या अन्तर रहना चाहिए, इसकी दीवार खड़ी करना उन्हें आया ही नहीं। मित्र और आत्मीय के अतिरिक्त और कुछ किसी को समझा ही नहीं। इसे लोगों ने अदूरदर्शिता और अबुद्धिमत्ता कहा और बताया कि इस भूल के कारण वे आये दिन किस बुरी तरह ठगे जाते हैं तथा हानि उठाते हैं। फिर भी उनका क्रम बदला नहीं। दुर्भाव सम्पन्नों के साथ अपनी सद्भावना और सहकारिता में उन्होंने रत्ती भर भी कमी नहीं आने दी। फल प्रत्यक्ष है, विरोधियों का विरोध गल गया। दुष्टों की दुष्टता जल गई और अनुचित लाभ उठाने वाले आत्म-ग्लानि से प्रताड़ित होकर सामने नतमस्तक होकर आ खड़े हुए। विरोध और विरोधियों को परास्त करने का इससे अच्छा तरीका क्या हो सकता था। सज्जनता से दुर्जनता को जीता जा सकता है, इसकी मिसाल गुरुदेव ने प्रस्तुत कर दी और शठ के साथ शठता का व्यवहार आवश्यक मानने वालों को अपनी मान्यता पर पुनर्विचार करने के लिए विवश कर दिया। आरम्भ की मूर्खता लगने वाली उनकी विचारपद्धति वस्तुतः बुद्धिमत्ता ही सिद्ध होकर रही।

मानसिक उद्वेगों से संत्रस्त जनमानस को वे यही कहा करते थे-न घृणा की आवश्यकता है, न द्वेष की उपयोगिता। दूसरों से लड़ने की अपेक्षा अपने से लड़ना चाहिए और दूसरों को सुधारने की अपेक्षा अपने को सुधारना चाहिए। गलतियाँ सब कुछ दूसरों की ही नहीं होतीं, कुछ अपनी भी होती हैं। सद्गुणों का अभाव और अनीति के आगे झुक जाना, यह दो दोष ऐसे हैं जिनकी प्रतिक्रिया दूसरों पर होती है और वे अनीतियुक्त व्यवहार करने को तैयार हो जाते हैं। अपने में सज्जनता की न्यूनता न हो और अनाचार से समझौता करने के लिए कायरता न हो तो दुष्टता की तीन-चौथाई पराजय तो उसके उत्पन्न होने से पहले ही हो जाती है, फिर सज्जनता में हजार हाथियों का बल होता है, वह बहुत बलवान दीखने वाले अनाचार से भी सहज ही जूझ सकती है और देखते देखते उसे चारों खाने चित कर सकती है।

खिलाड़ी की भावना से जीवन जीना, हानि-लाभ पर, विजय-पराजय पर बहुत ध्यान न देना, अपने कर्त्तव्यपालन का रसभरा आनन्द लेते रहना यह क्रम जिसने भी अपनाया, उसकी सारी उद्विग्नता बात की बात में दूर हो सकती है, इस भावनात्मक तथ्य को अंगीकार करने पर जीवन कितना सरल और सरस हो जाता है, इसे ठीक तरह देखना हो तो गुरुदेव के मनःस्तर को गहराई तक पढ़ना चाहिए। वे छोटे-से-छोटे काम को बड़े से-मनोयोग के साथ करते थे, पर बड़ी-से-बड़ी असफलता मिलने पर भी चेहरे पर खिन्नता की एक शिकन न आने देते थे। हर असफलता को देखकर उन्होंने यही कहा-इस सम्बन्ध में जितना प्रयत्न किया जाना था उसमें न्यूनता रह गई, अब की बार दूनी सतर्कता और तत्परता से इसे करेंगे, ताश, शतरंज, नाटक, फुटबाल के खेलों की तरह ही उन्होंने अपने हर क्रिया-कलाप को मनोयोग और जिम्मेदारी से खेला तो सही, पर हार में दुःखी होते और जीत में उछलते कभी किसी ने उन्हें नहीं देखा। समुद्र में ज्वार-भाटे आते रहते हैं, पर वे समुद्र से भी महान थे। उनमें न कभी उबाल आया, न अवसाद। कर्मवीर योद्धा की तरह मानव आदर्शों की प्रतिष्ठापना करते हुए भी जीवन-पथ की लम्बी राह को अपनी गजगामी चाल से धैर्य और साहसपूर्वक पार करते चले गये।

बौद्धिक दुर्बलता से संत्रस्त, उद्वेग और आवेश की आग में जलते-भुनते रहने वालों के सामने गुरुदेव एक आदर्श बनकर जिए। प्रतिकूलताएँ उनके धैर्य, साहस और पुरुषार्थ को देखकर अनुकूलता में बदलती चली गईं। दूसरों द्वारा उत्तेजना दिखाये जाने पर भी अपनी गम्भीरता को उथली न बनने देने वाले इस मनस्वी के सामने विरोधियों की सब चालें निष्फल हो गईं और उन्हें अन्ततः सहयोगी के रूप में परिणत होना पड़ा। पहाड़ों से टकराने, तूफानों से जूझने और प्रचण्ड प्रवाह को उलटने की उनकी हिम्मत इतनी समर्थ सिद्ध हुई कि जो असम्भव दीखता था सो सम्भव बनकर सामने आया। अगस्त्य ऋषि के समुद्र सोखने की, दधीचि के अस्थिदान की, प्रह्लाद के सत्याग्रह की, हरिश्चन्द्र के त्याग-बलिदान की, हनुमान के आत्म-दान की कथाएँ पुरानी हो गईं, पर उन आदर्शों को आज भी सम्भव कर दिखाने में जिस अटूट और अकूत आत्म-बल का परिचय गुरुदेव आजीवन देते रहे, वह मानवीय इतिहास में एक अमरगाथा बनकर रहेगा।

देवपुरुष, अपने ५० लाख शिष्य और करोड़ों अनुयायी छोड़कर गये हैं। इतना प्रभाव कैसे उत्पन्न किया जा सका, इसको समझना हो तो उसे एक शब्द से ही उद्घाटित किया जा सकता है, अपने को अपने आदर्शों से प्रभावित, सहमत, संलग्न और तत्पर बनाकर उन्होंने वह प्रभावशीलता पाई जिसके आगे जो सामने आया वह झुकता चला गया। उनकी वाणी, लेखनी और प्रतिभा की अक्सर बहुत सराहना होती है और कहा जाता है इन त्रिविध अद्भुत सिद्धियों के आधार पर वे विशाल जन-समूह को प्रभावित करने और उसे आदर्शों की कष्टसाध्य दिशा में प्रेरित करने की सफलता प्राप्त कर सके। पर वस्तुतः यही मूल्यांकन सही नहीं है। वक्ता, लेखक और प्रतिभाशाली व्यक्ति एक से एक बढ़कर संसार में पड़े हैं। उनके कर्तृत्वों को लोगों ने कौतूहल की दृष्टि से देखा-सराहा तो है, पर प्रभावित कितने हुए, इसका लेखा-जोखा

लिया जाए तो सब कुछ खोखला ही दिखाई देगा। प्रतिभाशाली वक्ता, लेखक, नायक, नेता, अभिनेता, चित्रकार, कलाकार, गुणी, कुशल, रूपवान अपनी विभूतियों से लोगों का ध्यान तो आकर्षित कर लेते हैं व अपने काम का परिचय भी करा देते हैं, पर देखा जाता है कि वे कुछ कर नहीं पाते। दूसरों से कुछ कराने वाले को स्वयं कुछ करने वाला होना चाहिए। आदर्श की शिक्षा देने वाले को स्वयं आदर्शवादी होना चाहिए। श्रेष्ठता का मार्ग वह है जिस पर खुद चलकर ही किसी को चलने की प्रेरणा दी जा सकती है। उपदेश सरल है, पर उसे स्वयं हृदयंगम न करके दूसरों के सामने जीवंत उपदेशों की तरह उपस्थित होना कठिन है। इस कठिनाई को जो पार कर सके वे ही सिद्धपुरुष हैं। आत्म-विजय की सिद्धि जिसने प्राप्त कर ली, उसके लिए लोकविजय का मार्ग कुछ कठिन नहीं रह जाता।

आत्म-चिन्तन, आत्म शोधन, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की प्रक्रिया को सम्पन्न करते हुए गुरुदेव आत्मा-साधना में निरन्तर तत्पर रहे और इस तपश्चर्या का एक ही वरदान पाया-आत्मबल। इसी आत्मबल की सहायता से इन्द्रियजयी, मनोजयी, मृत्युंजय बन सके और अब अनाचार और अनाचार के साम्राज्य को चुनौती देते हुए, धरती पर स्वर्ग अवतरण करने वाले लोकजयी लोकनायकों की राह पर उसी सम्बल को लेकर चल रहे हैं। इस आत्मबल के धनी नरदेव की साधना-भविष्य को दिशा देने में कैसे चमत्कार प्रस्तुत करती है, यह सब हमें धैर्यपूर्वक देखना चाहिए और प्रयत्न यह करना चाहिए कि इस महामानव की जीवनचर्या के साथ अपनी गतिविधियों का तालमेल बिठाते हुए हेय परिस्थितियों से ऊँचे उठकर, महानता का कुछ प्रसाद प्राप्त कर सकने के लिए उनके द्वारा प्रदर्शित पथ के पथिक बनकर उस पर कुछ कदम तो आगे बढ़ा ही सकें।

## घर को तपोवन बनाने की जीवन-साधना

सिद्धान्ततः गुरुदेव तपोवन में घर बनाने के पक्ष में नहीं थे। वे घर को तपोवन बनाने की प्रक्रिया पर सदा जोर देते रहे और ६० वर्ष तक उन्होंने किया भी यही। अक्सर वे कहा करते थे-तपोवन में जाओ मत, उसे घसीट कर भीतर लाओ। उनका यह प्रतिपादन पिछले कुछ दिनों चल पड़ी इस मान्यता का निराकरण करने के लिए था कि यह संसार माया और मिथ्या है, इसे छोड़कर कहीं एकान्त, सुनसान में चला जाना चाहिए। स्त्री, पुत्र, घर-परिवार भव-बन्धन हैं, इन्हें छोड़ देना चाहिए। स्त्री नरक की खान है, उससे बचना चाहिए, आदि मान्यताएँ आज की परिस्थिति में सर्वथा निरर्थक ही नहीं हानिकारक थीं, सो उन्होंने अपना आदर्श इस रूप में प्रस्तुत किया जिससे सिद्ध कर सकें कि घर-गृहस्थ में रहकर सन्त का सारा प्रयोजन पूरा किया जा सकता है और आत्मिक प्रगति के चरम लक्ष्य तक बिना किसी अड़चन के पहुँचा जा सकता है।

कोई समय था जब आबादी बहुत कम थी और सघन वन सर्वत्र फैले पड़े थे। इतनी सुविधा थी कि उन प्रदेशों में लगे हुए कन्द-मूल-फलों पर वहाँ के निवासी का सुविधापूर्वक निर्वाह होता रहे। गौ पालन के लिए विस्तृत वन्यप्रदेश मौजूद था। कृषि करने और शाक-फल उगाने की भी सुविधा थी। जीवन-निर्वाह के सभी सुविधाजनक साधन उन दिनों मौजूद थे। वहाँ रहकर स्वाध्याय, लेखन, अन्वेषण, गुरुकुल, चिकित्सालय आदि कितने ही उपयोगी कार्य निश्चित रूप से किए जा सकते थे। प्रकृति की समीपता शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयोगी रहती है। समर्थ बच्चों को घर-परिवार, कृषि-व्यवस्था का उत्तरदायित्व उठाने देकर ढलती आयु में लोक-मंगल के लिए उस समय की सुविधा तथा अभिरुचि के अनुरूप घनी आबादी से हटकर प्रकृति के सान्निध्य को अपने क्रिया-केन्द्र बनाते थे और वानप्रस्थ अथवा संन्यासी जीवन बिताते हुए आश्रम में संघबद्ध जीवनयापन करते हुए परमार्थ प्रयोजनों में संलग्न बने रहते थे। उन दिनों यह प्रक्रिया सबके लिए सब प्रकार उपयोगी भी थी। वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरूप इस पद्धति से चार आश्रमों का क्रम भी ठीक बैठ जाता था। अस्तु, उस परिपाटी से व्यक्ति, समाज एवं संस्कृति का हितसाधन ही होता था।

आज की घर त्याग कर निकल भागने और संसार को माया-मिथ्या बताकर कर्तव्य-उत्तरदायित्वों को तिलांजलि देने की, साधु-बाबा बनने की प्रवृत्ति में और प्राचीनकाल की ढलती आयु में परमार्थ प्रयोजनों के लिए शान्तिप्रिय जीवनपद्धति को अपना लेने के उद्देश्यों में जमीन-आसमान जितना अन्तर है। ईश्वर का बनाया हुआ यह संसार भव-बन्धन कैसे हो सकता है? नारी में आदिशक्ति की आभा चमकती है और बालकों की निर्मलता में भगवान की झाँकी होती है, उन्हें पापमूल कैसे कहा जाए? असफल, उद्विग्न और मनोविकारों से अशान्त व्यक्ति को जंगल में शान्ति कैसे मिलेगी? एकान्त तो जन-कोलाहल से भी कठिन पड़ता है। स्वार्थ को सीमित करके केवल अपने ही निर्वाह तथा स्वर्ग-मुक्ति की चिन्ता में डूबा हुआ व्यक्ति आत्म-विकास और साक्षात्कार का अवसर कहाँ पा सकता है? आज लोग जिस आधार को लेकर घर त्यागते और साधु बनते हैं, उसका मूल ही गलत है, फिर सफलता कैसे मिले?

अपने देश में ५६ लाख व्यक्तियों का जन-समूह साधु-बाबाजी बना शान्ति पाने, अलग भगवान को ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर भागता-फिरता है। इसका निर्वाह-व्यय गरीब जनता को वहन करना पड़ता है। ये अनुत्पादक जीवन जीकर राष्ट्रीय सम्पदा अभिवर्द्धन में बाधक बनते हैं। हराम की रोटी खाने में आत्महीनता, अकर्मण्यता बढ़ती है। समर्थ होते हुए भी व्यक्तिगत लाभ के लिए भिक्षा माँगने की लज्जाजनक दुष्टप्रवृत्ति को पोषण भी

मिलता है । खाली दिमाग शैतान की दुकान वाली उक्ति इस प्रकार के लोगों पर लागू होती है । जो निरर्थक बैठा रहेगा और मुफ्त का माल भरेगा, उसके मस्तिष्क में खुराफातें ही उठेंगी । सो यह प्रत्यक्ष दीखता भी है । यह वर्ग चुपचाप रोटी तोड़ता रहे सो भी नहीं, ये तो व्यसन, भ्रान्तियाँ, मूढ़ताएँ फैलाते, चेला मूँड़ने के जाल रचते और न जाने क्या-क्या कहते करते देखे जाते हैं ।

यह स्थिति गुरुदेव को सदा अखरी और उन्होंने अध्यात्मप्रेमियों को यही समझाया कि आज घर को ही तपोवन बनाने की आवश्यकता है और यदि वह ठीक ढंग से किया जा सके तो आत्मकल्याण के सारे प्रयोजन घर में ही पूरे हो सकते हैं । अपने इस कथन को उन्होंने चरितार्थ करके भी दिखाया और एक ऐसे सद्गृहस्थ का स्वरूप प्रस्तुत किया, जिस पर हजार गृह-त्यागियों को निछावर किया जा सकता है, किसी धर्म-परायण, ईश्वरभक्त या लोकसेवी को वेश बदलने की, अपनी विशेषता का विज्ञापन करने की जरूरत नहीं है । वेश को मान्यता मिल जाए तो कितने ही रँगे सियार इस तरह का आवरण ओढ़कर उल्लू सीधा करते रह सकते हैं । वेश नहीं गुणों को धारण करने के पक्ष में थे वे । इसलिए उन्होंने आदि से अन्त तक सामान्य नागरिकों जैसी सामान्य वेष-भूषा ही प्रयोग की । वे इस युग के सर्वमान्य धार्मिक नेता थे, कई मित्र उन्हें सुझाया करते थे कि आप कुछ तो सन्त-ब्राह्मणों जैसी, रंगीन दुपट्टा जैसी पोशाक बदलते, दाढ़ी-केश रखाते जिससे आपकी धार्मिकता का परिचय लोग प्राप्त कर सकते । उन्होंने इससे सदा असहमति प्रकट की और कहा-जनता में यह विवेक-बुद्धि जगनी चाहिए कि व्यक्ति को उसके आवरण से नहीं, गुण-कर्म से परखें । इस विवेकशीलता को विकसित करने में कलेवरों का बदलना सहायक ही नहीं बाधक ही होगा । वास्तविकता में इतनी प्रखरता होनी ही चाहिए कि वह बिना वेश के भी अपनी विशेषता प्रकट कर सके । सो उन्होंने वेश नहीं बदला । सामान्य नागरिक जैसी पोशाक ही पहनते रहे और दाढ़ी बढ़ाना तो दूर तिलक लगाने तक के लिए तैयार न हुए । वे दृढ़तापूर्वक कहते रहे, महानता यदि वास्तविक हो तो उसका सही आवरण सज्जनों जैसी सादगी ही हो सकती है । आज की स्थिति में संन्यासी जैसी भावना वाले को भी सामान्य वेश-भूषा से ही रहना चाहिए, क्योंकि उस आवरण की आड़ में इतने निरर्थक लोग छिप गये हैं कि अब सज्जन भी उसी में छिपें तो उससे न केवल बदनाम होंगे, वरन् आडम्बरियों को भी जनता की आँखों में खटकने से बचने की आड़ मिलती रहेगी । सन्त का वेश बनाने से सन्त की वास्तविकता बढ़ाना कठिन है, सो उनका यह शिक्षण और प्रयोग रहा कि सामान्य नागरिक का सरल जीवनयापन करते हुए सन्त की महत्ता को घर-गृहस्थी के बीच ही विकसित किया जाए ।

गुरुदेव ने अपनी महान जीवन की सुगन्ध से अपने छोटे-से परिवार को इस प्रकार सुगन्धित किया कि देखने वालों के मुख से यही निकलता रहा **"धन्यो गृहस्थाश्रमः"** ऐसा गृहस्थ सचमुच ही धन्य है, जिसमें महानता के समस्त आधार ओत-प्रोत हो रहे हैं । अपने बालकों से उन्हें सन्तोष न होता था, जितने अपने उतने ही उन दूसरों के, जिनके पास बालकों के विकास की समुचित व्यवस्था नहीं थी । अपने और पराये के अन्तर मिटाने के लिए उन्होंने सदा बाहर के बच्चों को अपने परिवार में सम्मिलित किए रहने की आवश्यकता समझी और इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा कि अपने और पराये के बीच स्नेह से लेकर लालन-पालन तक में किसी प्रकार का भेदभाव तो उत्पन्न नहीं हो रहा है । व्यस्त कार्यक्रम से छूटकर जब भी वे अवसर पाते बालकों के साथ खेलने-खिलाने में, हँसने-हँसाने में ऐसे तन्मय हो जाते थे, मानो वे मात्र बालक ही हों । बड़ी आयु में बचपन का आनन्द लेने के इन क्षणों को वे सर्वोत्तम मनोरंजन मानते थे और कहते थे अभागे लोग घर में इतने उत्कृष्ट स्तर का मनोरंजक साधन होते हुए भी बालकों को छोड़ न जाने कहाँ सिनेमा की गन्दी दुर्गन्ध सूँघने चले जाते हैं ।

गृह-व्यवस्था के छोटे-मोटे कार्यों को अक्सर वे स्वयं करने लगते और बालकों समेत हम सबको साथ लगा लेते और बताते कि छोटे दीखने वाले कार्यों को भी यदि मनोयोग-कुशलता से किया जाए तो वे कितने सुन्दर बन पड़ते हैं तथा कर्त्ता की योग्यता का कैसा विकास होता है । झाड़ू लगाने में कपड़े धोने तक और भोजन बनाने से लेकर टूटी चीजों की मरम्मत करने तक के कामों को सुन्दरतापूर्वक कैसे किया जा सकता है, बताने समझाने के लिए वे हम सबको साथ लेकर जब भी सुविधा होती जुट जाते । मैं अक्सर झगड़ती और कहती आप इन छोटी बातों के लिए अपना मूल्यवान समय क्यों बिगाड़ते हैं । मुझे शर्म लगती है, कोई बाहर का देखेगा तो यही कहेगा कि इनकी गृहिणी आलसी या बेशऊर है अन्यथा घर-गृहस्थी के काम स्वयं क्यों करते ?

वे हँस पड़ते इसमें हर्ज ही क्या है, जो देखेगा सो सीखेगा कि मर्दों को भी गृहस्थी चलाना आना चाहिए । इससे मर्दों की पराधीनता दूर होगी और स्त्रियों को लगेगा कि वे छोटे काम करने के लिए बाधित नहीं हैं । इसी प्रकार हँसी-मजाक चलती रहती और हम सब मिलकर गृहस्थी का काम निपटाते तो, न केवल व्यवस्था सम्बन्धी अनेक जानकारियों भरा प्रशिक्षण मिलता, वरन् आनन्द भी खूब आता । घर-परिवार की हर चीज सुन्दर, सुसज्जित और सुव्यवस्थित रहे तो छोटे से किराये के घर में बढ़िया होटलों से भी अधिक सुविधाजनक रह सकते हैं । इस शिक्षा को अपने परिवार के प्रत्येक व्यक्ति ने पाया है । घर की पाठशाला में जीवन-व्यवस्था के अनेक गुण जिन बालकों ने सीखे हैं, आशा की जानी चाहिए कि वे भी अपनी गृहस्थी ऐसी ही आनन्दमय बनाकर शान्ति से जियेंगे और साथियों को सन्तोषपूर्वक जीने देंगे ।

परिवार का खर्च, व्यवस्था-सुझाव के बारे में घर के हर सदस्य का परामर्श लिया जाता और आवश्यकता तथा

कठिनाइयों को हर एक से पूछा जाता । जितना निराकरण सम्भव था किया जाता । जो बात आर्थिक सीमा-मर्यादा के कारण सम्भव न थी उसे वस्तुस्थिति समझा दी जाती । यही कारण था कि स्वल्प साधनों में निर्वाह करने पर भी हममें से कभी किसी को असन्तोष नहीं हुआ, वरन् गरीबी को एक वरदान समझते रहे, जिसने गरीब देशवासियों के स्तर पर रहने तथा उस बचत का लाभ समाज को लेने - देने की प्रेरणा दी और अनेक दोष-दुर्व्यसनों से बचा लिया । कठोर परिश्रम, सादगी, प्रफुल्लता और व्यवस्था का सरल जीवन भी कितना सन्तोषजनक होता है, उसका मर्म यदि लोग समझ पाये तो अधिक उपार्जन और उपभोग के कुचक्र में फँसे हुए लोग सादगी का मितव्ययी जीवन जीते हुए आत्मविकास और लोकमंगल के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं । फिजूलखर्ची और आरामतलबी की बुरी आदत वालों के लिए यह आनन्द और अवसर कभी मिल ही नहीं सकता, जो हम लोगों ने स्वल्प साधनों में उत्कृष्ट दृष्टिकोण का समावेश करके निरन्तर उपलब्ध किया ।

दुराव और संकोच का नाम नहीं । आयु और योग्यता के अन्तर की बात भूलकर हम लोग जब साथ-साथ हँसते, बातें करते, खेलते और खाते तो लगता कि स्वर्ग सिमटकर हम लोगों की इस कुटिया में एकत्रित हो गया । परस्पर स्नेह और विश्वास की इतनी सघनता कि एक-दूसरे को देखकर जिये । वातावरण में इतनी पवित्रता कि दुर्भाव एवं अचिन्त्य चिन्तन के लिए कोई गुंजाइश ही न रहे । परस्पर सहानुभूति और सहिष्णुता की इतनी सघनता कि एक के कष्ट को दूसरा अपने कष्ट से बढ़कर समझे । किसी से किसी के प्रति जान-अनजान में अनुचित बन पड़े तो तब तक चैन से न बैठे, जब तक कि दुःख पहुँचाने वाले के मन से पूरी तरह वह बात निकल न जाए और क्षमा के स्पष्ट लक्षण न दीखने लगें । ऐसे प्रसंग कभी-कभी ही आते थे, पर जब आते तो कष्ट उठाने वाले से उसे अधिक दुःखी होना पड़ता, जिसने कुछ अनुचित करके कष्ट पहुँचाया । पैसे की चोरी, बाजार से चटोरेपन अथवा फैशन की चीजें खरीदने का तो कभी किसी का मन चला ही नहीं । सादगी और सात्त्विकता में जब गर्व-गौरव अनुभव किया जाने लगा तो फिर बाजारू आकर्षणों से लुभाकर छिछोरापन का परिचय कौन दे ?

गुरुदेव की निष्ठापूर्ण उपासना-पद्धति का गहरा आस्तिकतावादी प्रभाव हम सब पर पड़ा । सामूहिक प्रार्थना, दैनिक तप-स्वाध्याय तो घर के सब लोग करते ही थे । संस्कारगत छाप यह पड़ी कि ईश्वर को प्रसन्न करने वाले कार्यों में रुचि और प्रभु की अप्रसन्नता वाले कदमों से बचाव का ध्यान निरन्तर बना रहा । प्रलोभन या भय का अवसर आने पर भी कोई कुमार्गगामी न बने और शिक्षा वाणी से नहीं, चरित्र के माध्यम से दी गई और वह उतनी प्रभावशाली थी कि घर के हर सदस्य के व्यक्तित्व का अविच्छिन्न अंग ही बन गई । सोचती हूँ यदि व्यक्ति अपना चरित्र ऊँचा उठाकर अपने घर-परिवार को सँभालने, सुधारने में समर्थ हो जाए तो भी कितना बड़ा कार्य विश्व-निर्माण की दिशा में हो सकता है । सब अपना-अपना घर-परिवार सँभाल लें तो दुनिया को सँभलते, सुधरते क्या देर लगे ?

यों कहने को हम छह प्राणी उस घर में रहते थे, पर किसी ने कभी यह नहीं समझा कि यहाँ की वस्तुएँ हमीं लोगों के अधिकार स्वामित्व की हैं । गुरुदेव का परिवार अति विशाल है । लाखों नर-नारी उन्हें अपना पिता, स्वजन और आत्मीय मानते हैं । किसी प्रयोजन से मथुरा आने वाले के लिए इस घर का द्वार सदा ही खुला रहा । भोजन के समय जो आया प्रस्तुत सामग्री में सम्मिलित होता चला गया । चीजें कम थीं तो मिल-बाँटकर खालीं, अक्सर हम लोगों के साथ अतिथियों को आधा-चौथाई भोजन जो बाँट में आता, खाकर काम चलाना पड़ता । नई बनाने में बहुत देर लगती, उतनी प्रतीक्षा कौन करे ? मिल-बाँटकर खाने में किसी को कम मिला तो किसी ने कुछ बुरा न माना, वरन् इस कमी को आत्मीयता की गहनता के रूप में ही देखा । रात में कभी कुछ लोग आये और भूखे दीखे तो बात की बात में खिचड़ी पकी और किसी प्रकार पेट भर लिया गया । कपड़े कम थे तो इकट्ठे सो गये । आगन्तुकों ने कभी यह नहीं पाया कि जाति-बिरादरी, गरीब-अमीर, अपने-पराये या उपयोगी-अनुपयोगी के कारण किसी से कुछ भेद-भाव बरता जाता है । गायत्री तपोभूमि तो अभी थोड़े दिन पहले ही बनी है वहाँ ठहरने भर का प्रबन्ध हो सका । भोजन करने तो अतिथि अभी भी घीयामण्डी ही आते थे । पहले ठहरते भी इसी में । स्थान कम था, साधन कम थे तो भी उतने में ही मिल-जुलकर दर्जनों आगन्तुक इसी में खप जाते थे ।

इस आत्मीयता में दिखावट या किसी स्वार्थपरता की गन्ध भी न थी, विशुद्ध ममत्व, सरल और निश्छल व्यवहार था । खुली वास्तविकता का सम्पर्क में आने वालों पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे इस सरलता और महानता के अद्‌भुत समन्वय को देखकर दंग रह गये । जो एक बार सम्पर्क में आया, सदा के लिए अपना होकर रहा, गुरुदेव की वाणी विद्या, तपस्या का जो भी प्रभाव रहा हो, उसका मतलब लगाना दूसरों का काम है, पर मैं अपने अनुभव से कह सकती हूँ कि खुली पुस्तक जैसे हम लोगों के सरल और स्नेह-सिक्त जीवनक्रम की जो छाप सम्पर्क में आने वालों पर पड़ी है, उसकी पकड़ ने इस विशाल परिवार को स्नेह-सूत्र में बाँधने और इतना बड़ा संगठन खड़ा कर देने में कम योगदान नहीं दिया । आदमी प्रतिभा से ही प्रभावित नहीं होता, सज्जनता और सच्चाई अपने आप में इतनी प्रभावशाली है कि पराये को अपना बनाने में उसे लासानी कहा जा सके । गुरुदेव के मार्गदर्शन और प्रतिपादन से जितना प्रकाश लोगों ने ग्रहण किया है, इससे लाख गुना अधिक उनके देवोपम व्यक्तित्व और रहन-सहन से प्रभावित हुए हैं । कई लोग विचारों से मतभेद रखते हैं । अन्य धर्मावलम्बी उनकी उपासना-पद्धति से सहमत नहीं

होते, फिर भी वे इतने प्रभावित रहते हैं कि मतभेद की बात ही प्रगाढ़ आत्मीयता के आदान-प्रदान के बीच एक प्रकार से विस्मरण ही हो जाती है और बहस करने का प्रयोजन सामने लेकर आने वाले भी उनकी आत्मीयता की सघनता में इतने विभोर हो जाते थे कि बहस के लिए किसी का मुँह ही नहीं खुलता था । इस प्रकार अपने उन महान गुणों के कारण अजातशत्रु और लोकजयी बन सके, जो गुण उन्होंने परिवार की प्रयोगशाला में विकसित किए थे । दूसरे शब्दों में, इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि इस प्रयोग-साधना ने विशाल युग-निर्माण परिवार के निर्माण का पथ-प्रशस्त कर दिया ।

घर को तपोवन बनाने के लिए गृहपति को स्वयं तपस्वी बनना पड़ता है । भीतर से और बाहर से जैसा सोचा होगा, वैसे ही सिक्के ढलते चले जाएँगे । दर्पण में वैसी ही आकृति दिखाई देगी जैसी कि स्वयं की होगी । परिवार का स्वरूप और वातावरण उत्कृष्ट स्तर का बनाने के लिए अपने को ऐसा बनाया जाना चाहिए, जिसका अनुकरण परिवार के सदस्यगण स्वयं ही करने लगें । आत्म-निर्माण के बिना परिवार का निर्माण नहीं हो सकता । परिवार मिलकर समाज बनता है, जैसे परिवार होंगे, वैसा ही समाज बन जाएगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि परिवार का संचालक अपने गुण, कर्म, स्वभाव में, दृष्टिकोण और आचरण में उत्कृष्टता का समावेश करके ही इस योग्य बन सकता है कि सुसंस्कृत एवं समुन्नत परिवार का सृजन कर सके । गुरुदेव ने परिवार को तपोवन में विकसित करने के लिए जो आत्मसंयम और आत्मनिर्माण की साधना की, उसे हर आत्मवेत्ता के लिए अनुकरणीय ही कहा जा सकता है ।

इन दिनों न कहीं ऐसे वन-उपवन हैं, जहाँ गुजारे के लिए कन्द-मूल-फल पर्याप्त मात्रा में मिल सकें और न कृषि-गोपालन आदि के लिए जगह बची है, जहाँ रहकर स्वावलम्बी निर्वाह की व्यवस्था बनाई जा सके । अब साधु बनकर भिक्षा पर ही निर्भर रहना होता है । इस भिक्षा में कितना पैसा न्यायोपार्जित है, श्रद्धापूर्वक दिया हुआ है, यह जानना कठिन है । अनीति से कमाया हुआ, अश्रद्धा अथवा स्वार्थ-कामना से दिया हुआ, प्रत्युपकार किए बिना ग्रहण किया गया-भिक्षा धन किसी को हजम नहीं हो सकता । उससे केवल बुद्धि भ्रष्ट ही होगी और आत्मिक प्रगति के स्थान पर अधःपतन का मार्ग ही खुलेगा । भिक्षा तो एक ऋण है, जिसे चुकाये बिना गुजारा नहीं । जो थोड़ा-बहुत भजन किया जाता है, इसका पुण्य उसके लिए चला जाता है, जिसका अन्न खाकर जीवित रहा गया, फिर आपके हाथ क्या बचा ? भजन का पुण्य यदि अन्नदाता ले गया तो गृह-त्यागी तो दोनों ओर से मारा गया, माया मिली न राम, परिवार भी छूटा, तिरस्कार भी सहा, अभावग्रस्त जीवन जिया इस पर भी भजन का पुण्य न मिला । इस विडम्बना से चेले-चेली मूँड़ने के अतिरिक्त और क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ । इन तथ्यों पर ध्यान देते हुए गुरुदेव स्वयं गृहस्थ में वैरागी की तरह और घर में तपस्वी, आत्मोद्धारक की तरह जीए । उन्होंने कमलपत्र की तरह रहकर अपनी जड़ और बेल को कीचड़ में ही नहीं पड़ा रहने दिया, वरन् चन्दन की तरह इस सारे उपवन को सुगन्धित कर दिया, जिसमें वे उगे । मुझ अकिंचन बल्लरी को अपनी ऊँचाई तक अपने से लपेटकर ऊँचा उठा ले जाने का श्रेय मेरे प्रयत्न को नहीं, वरन् उन्हीं की महिमामयी गरिमा को है । वे आरम्भ से ही विरक्त हो सकते थे । उनके लिए घर और वन में क्या अन्तर हो सकता था ? तब जन-मानस में जमे हुए भ्रम को कैसे निर्मूल किया जा सकता था, जिसके अनुसार आत्म-कल्याण और ईश्वर-प्राप्ति के लिए गृह-त्याग आवश्यक माना जाता है ।

इसे एक विधि विचित्रता ही कहना चाहिए कि जिस तथ्य को प्रतिपादित करने में उनका जीवन-क्रम अविच्छिन्न रूप से जुड़ा रहा, उसी के प्रतिकूल उन्हें इन दिनों वनगमन करना पड़ा, फिर भी उनके प्रयोजन और साधारण वैरागियों के क्रिया-कलाप में जमीन-आसमान का अन्तर है । वे युग के अनुरूप आत्म-साधना की विधि-व्यवस्था खोजने गये हैं और उस अन्वेषण में प्रवृत्त हुए हैं जिसके परिणामस्वरूप इस मार्ग पर चलने वालों में प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न कर सकेंगे । आज तो अध्यात्म मात्र कथा-कीर्तन, दर्शन, स्नान तक ही सीमित रह गया है । उन रहस्यों का तो एक प्रकार से लोप ही हो गया है, जिनके आधार पर व्यक्ति ज्ञानवान ही नहीं, सामर्थ्यवान भी बनता था । जिस शक्ति के बल पर आत्म-नियन्त्रण और भौतिक परिवर्तन प्रस्तुत किए जा सकते हैं, उस सामर्थ्य को प्राप्त करा सकने वाली साधनापद्धति को सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत किया जा सका तो ब्रह्मविद्या के पुनरुत्थान का एक महान कार्य सम्पन्न करने में गुरुदेव की तपश्चर्या को श्रेय मिलेगा । ऐसे महान प्रयोजन के लिए कोई दूसरा साहसी भी अनुकरण कर सकता है । यह एक प्रकार का अपवाद हुआ । ऐसे अपवादों को छोड़कर साधारणतया यही उचित होगा कि घर को तपोवन बनाया जाए, न कि तपोवन में घर खड़े करने के उलटे प्रयत्न में लगा जाए । गुरुदेव का उदाहरण इस दृष्टि से सर्वसाधारण के लिए बहुत ही प्रेरणाप्रद सिद्ध हो सकता है ।

## आत्मदेव की उपासना और उसके चमत्कार

गुरुदेव के जीवन-दर्शन की चर्चा, उनकी स्तुति प्रशस्ति के लिए नहीं, वरन् इसलिए करनी पड़ रही है कि उसे आधुनिक परिस्थितियों में आत्म-विकास का सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित और प्रत्यक्ष साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सके । वे भेजे ही इसलिए गए कि विडम्बना और भ्रम से भरे हुए आज के तथाकथित अध्यात्म की निरर्थकता ने जनमानस में जो अश्रद्धा और अविश्वास का वातावरण प्रस्तुत कर दिया है, उसका निराकरण किया जा सके ।

आत्म-शोधन की तपश्चर्या से अपना उद्धार आप करने के राजमार्ग को छोड़कर जो स्वल्प श्रम से अपरिमित लाभ पाने के लिए अधीर हो उठे हैं और ऐसे जादू भरे जंत्र-मंत्र ढूँढ़ते हैं, जिनके आधार पर वे मनचाहे भौतिक लाभ प्राप्त कर सकें, उन्हें यह नोट कर लेना चाहिए कि बहुमूल्य वस्तुएँ उचित मूल्य चुकाने पर ही मिलती हैं। असली हीरे की अँगूठी दस पैसे की नहीं मिलती। यदि मिलती हो तो समझना चाहिए कि नकली है और बेचे जाने पर उसकी एक पाई भी वसूल न होगी। जादू की तरह तुर्त-फुर्त चमत्कार दिखा सकें, ऐसे कर्म-काण्डों की तलाश में भटकने वाले लोगों को गुरुदेव यह बताना चाहते थे कि सिद्धियों और विभूतियों की गरिमा और महिमा का राजमार्ग आत्म-शोधन और आत्म-निर्माण की चाल से चले बिना पूरा नहीं हो सकता। कोई सीधी पगडण्डी ऐसी नहीं है जो देवता, मंत्र, गुरु या सम्प्रदाय का पल्ला पकड़ने से सहज ही परमलक्ष्य तक पहुँचा सके। अध्यात्म एक क्रमबद्ध विज्ञान है, जिसका सहारा लेकर कोई भी व्यक्ति उसी तरह लाभान्वित हो सकता है, जिस तरह कि बिजली, भाप, आग आदि की शक्तियों का विधिवत प्रयोग करके अभीष्ट प्रयोजन पूरा किया जाता है।

समझा जाता है कि किसी समर्थ मार्गदर्शक, देवता या मंत्र की कृपा से अद्भुत शक्तियाँ मिलती हैं और साधना से चमत्कारी आत्मिक-प्रगति का अवसर मिल जाता है। यदि यह तथ्य सच हो, तो भी उसके मूल में व्यक्ति की पात्रता वाली शर्त अनिवार्य रूप से जुड़ी रहती है। गुरुदेव ने उसी गायत्री मंत्र की उपासना की, जिसे संध्यावन्दन के समय आमतौर से सभी धर्मप्रेमी हिन्दू जप करते हैं। उनका भी इष्ट वही सविता देवता था, जिसे उपासना करने वाले सामान्यतया नित्य ही जल चढ़ाते और प्रणाम करते हैं। समर्थ गुरु उन्हें मिले, पर ऐसे सिद्धपुरुषों से यह पृथ्वी रहित नहीं है और यह निश्चित है कि उनका द्वार सभी के लिए खुला पड़ा है। बादल सर्वत्र बरसते रहते हैं। तालाब लाखों मन पानी जमा कर लेते हैं, पर पत्थर की चट्टान पर एक बूँद भी नहीं ठहरती। सूर्य सबके लिए गर्मी-रोशनी लेकर उदय होता है, पर जिसने अपने खिड़की-दरवाजे बन्द कर रखे हैं, उसे कुछ लाभ सूर्य देवता भी नहीं पहुँचा पाते। मंत्र और देवताओं में कोई शक्ति न हो, साधना-उपासना का कोई परिणाम न निकलता हो सो बात नहीं है। प्रश्न पात्रता का है। अधिकारी के पास उपयुक्त साधन अनायास ही खिंचते चले आते हैं। फूल के पास कितनी मधुमक्खी और भौंरे बिना बुलाये ही मँड़राने लगते हैं। चुम्बक अपने समीपवर्ती लौहकणों को सहज ही खींच लेता है। साधक की पात्रता में ही वह चमत्कार भरा रहता है, जिसके आधार पर मंत्रदेवता और सहायक को सहज ही द्रवित होकर अभीष्ट सामर्थ्य प्रदान करने का वरदान देना पड़ता है।

गुरुदेव गायत्री महामंत्र के माध्यम से ऋतम्भरा-प्रज्ञा और ब्रह्मवर्चस की साधना करते थे। इन तत्वों को वे अपने आत्म-देवता में ही समाविष्ट मानते थे। कहते थे सबसे निकट तपोवन अपना अन्तःकरण ही है, यहाँ एकनिष्ठ होकर ब्रह्मचेतना में तादात्म्य स्थापित करने का जो प्रयत्न किया जाता है, वही सच्ची साधना है। विश्वव्यापी देवसत्ता का प्रतिनिधित्व अपनी अन्तःचेतना करती है, सो यदि उसे ही मना लिया जाए, उठा लिया जाए तो फिर इस संसार की ऐसी कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती जो प्राप्त न की जा सके। ईश्वर के राजकुमार मनुष्य के लिए अपने पिता की हर सम्पदा का सहज अधिकार प्राप्त है। पात्रता और उपयोग के प्रयोजन की उत्कृष्टता सिद्ध करके कोई भी विभूतियों के भण्डार में से कुछ भी प्राप्त कर सकता है। ऐसा ही उनका विश्वास था, ऐसा ही कहते-मानते रहते थे।

गुरुदेव की साधना-पद्धति को जितना मैंने देखा, समझा, उतना अवसर शायद ही और किसी को मिला हो। २४ वर्षों तक हर वर्ष एक २४ लक्ष का गायत्री महापुरश्चरण वे करते रहे। सर्वसाधारण को इस संदर्भ में इतनी भर जानकारी है कि प्रतिदिन छह घण्टा बैठकर वे ११ माला प्रति घण्टे के हिसाब से ६६ माला का गायत्री जप करते थे। परम सात्विक पाँच मुट्ठी आहार पर निर्भर रहते तथा अनुष्ठानकाल में प्रयुक्त होने वाले बन्धन-प्रतिबन्धों का कठोरता से पालन करते थे। वस्तुतः यह तो उनकी स्थूल और दृश्य साधना थी। जितना देखा जा सके मोटेतौर से उतना ही समझा जा सकता है। उनका बाह्य उपासनाक्रम इतना ही दिखता था, सो समझने वाले उतना ही समझ सकते थे। पर वस्तुतः उनकी साधना इस सूक्ष्म क्रिया-कलाप तक ही सीमित नहीं थी, वरन् काया के कर्मकाण्डात्मक क्रिया-कलापों से बहुत आगे बढ़कर मन और प्राण को, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर की परिधि में प्रवेश कर गई थी।

गायत्री की उच्चस्तरीय साधना में अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश के जागरण-अनावरण की विधि-व्यवस्था है। इसका कर्मकाण्ड और विधिविधान तो समयानुसार गुरुदेव स्वयं ही बताएँगे, पर उनकी अतिनिकटवर्ती सहचरी होने के कारण मैं इतना ही कह सकती हूँ कि अपनी पाँचों इन्द्रियों और पाँचों मनःसंस्थानों का परिष्कार करने में उन्होंने अथक परिश्रम किया था और निरन्तर यह प्रयत्न किया था कि दसों देवताओं को विनाश के मार्ग पर एक इन्च भी न गिरने दिया जाए, वरन् उन्हें पवित्रता और प्रखरता के पथ पर ही अग्रसर रखा जाए। इस प्रकार अन्तरंग की देवशक्तियों को परमार्जित कर उन्होंने देवता, मन्त्र और गुरु का अनुग्रह प्राप्त किया और उन पाँच शक्तिकोशों को जाग्रत करने में सफल हो गये, जिन्हें अनेक अद्भुत ऋद्धि-सिद्धियों का केन्द्र माना जाता है।

आत्म-शोधन, आत्म-निर्माण, इन्द्रिय-निग्रह और मनोजय के साथ जुड़ी हुई अपनी उच्चस्तरीय गायत्री साधना के माध्यम से आत्मदेव को सजग बनाकर गुरुदेव ने क्या पाया, इसकी अविज्ञात उपलब्धियाँ इतनी अधिक

और इतनी अद्भुत हैं कि उन पर सहसा किसी को विश्वास ही न हो । अस्तु, जिन्हें आज प्रमाणित न किया जा सके उन पर अभी पर्दा पड़ा रहना ही उचित है । समय आने पर वे आज के अविज्ञात तथ्य कल विज्ञात और प्रमाणित होंगे, तब यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी कि इस संसार का, इस मानव का सर्वोपरि पुरुषार्थ एवं साफल्य आत्म-साधना से अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता । अभी तो उन सर्वविदित विशेषताओं को दुहरा देना ही पर्याप्त होगा, जो सिद्धियों की दृष्टि से आकर्षक ही नहीं, अद्भुत भी हैं ।

गुरुदेव के निकट सम्पर्क में आने वाले इस तथ्य को भली-भाँति जानते थे कि वे एक शरीर में रहते हुए भी पाँच शरीरों जितना, भिन्न-भिन्न प्रकार के पाँच कार्यों का सम्पादन एक साथ ही करते रहते थे । यह सब कैसे हो पाता था, इस रहस्य का पता लगाने वाले एक व्यक्ति को दस घण्टे कठोर श्रम का अधिक से अधिक हिसाब लगाने पर यही कहकर चुप होना पड़ा कि इतना काम पाँच शरीरों, पाँच व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकना सम्भव है । एक व्यक्ति एक शरीर से तो इतना काम कभी भी नहीं कर सकता ।

(१) जब बाहर रहना पड़े तब की बात अलग, साधारणतया घर जब भी वे रहते थे, छह घण्टा प्रतिदिन उपासना करते थे । यह आत्मिक श्रम एक व्यक्ति को पूरी तरह थका देने के लिए पर्याप्त है । शारीरिक श्रम आठ घण्टे, मानसिक श्रम सात घण्टे और आत्मिक श्रम छह घण्टे ही हो सकता है । छह घण्टे की उपासना एक व्यक्ति को पूरे दिन थका सकने वाली-मेहनत गिनी जानी चाहिए ।

(२) औसतन उनकें पास देश-विदेश के प्राय: ५०० पत्र आते थे, जिनमें से कितने ही काफी लम्बे और जटिल समस्याओं से भरे रहते थे । इन सबको वे स्वयं खोलते थे । लगभग ४०० के उत्तर कार्यकर्त्ताओं को नोट कराते हुए लिखाते । १०० के लगभग ऐसे होते थे जो उन्हें स्वयं ही लिखने पड़ते थे । दूसरों को बताकर इतनी जटिल समस्याओं के समाधान लिखाये भी नहीं जा सकते थे । फिर उनमें से कितने ही नितान्त गोपनीय भी होते थे । बड़े दफ्तरों में जहाँ पत्र खोले और उत्तर दिए जाने का काम होता है, हिसाब लगाया जाए तो यह काम १० क्लर्कों का है । अत्यन्त मुस्तैदी से करने पर भी कोई एक व्यक्ति १० घण्टे से कम में नहीं निपटा सकता । गुरुदेव की आदत थी कि वे किसी भी पत्र को २४ घण्टे से अधिक बिना उत्तर का रोकते न थे । देश-विदेश में अगणित लोगों को अति महत्त्वपूर्ण मार्ग-दर्शन, प्रकाश एवं समाधान देने के लिए यह आवश्यक भी था । देखने वाले और लेखा-जोखा लेने वाले यह जानकर चकित रह जाते थे कि किस प्रकार एकाकी इतना काम वे इस वृद्धावस्था में भी निपटा लेते थे ।

(३) इतने ग्रन्थों का लेखन उनका अद्भुत कार्य है । २० वर्षों में जो उन्होंने लिखा है उसका वजन लगभग उनके शरीर की तौल के बराबर है । आर्षग्रन्थों का आदि से अन्त तक अनुवाद, नव-निर्माण के संदर्भ में लिखी गई इतनी असंख्य पुस्तकें एवं विज्ञप्तियाँ और न जाने कितना क्या-क्या लिखा है। जो लिखा है, वह उतना गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है कि उसके लिए जो लिखा गया है उससे सौ गुना अधिक पढ़ने की आवश्यकता पड़ी है । यह पढ़ने-लिखने का काम इतना बड़ा है कि एक व्यक्ति पूरे २४ घण्टे सारे जीवन भर यही करता रहे तो भी तुलना नहीं हो सकती । इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यह कार्य एक व्यक्ति के पूरे समय और श्रम से कम नहीं है ।

(४) व्यक्तिगत सम्पर्क, शिक्षण और सहायता प्राप्त करने, मार्गदर्शन-परामर्श के लिए नित्य सैकड़ों व्यक्ति उन्हें निरन्तर घेरे रहते थे । प्रातः छह बजे से लेकर रात को ८ बजे तक १० घण्टे में से केवल एक घण्टा ही मध्याह्न भोजन-विश्राम का बचता था, बाकी ९ घण्टे उनके आस-पास जमात जुड़ी ही रहती थी । सम्पूर्ण भारत ही नहीं विदेशों तक से, कष्टपीड़ितों से लेकर नवनिर्माण योजना में संलग्न कर्मठ कार्यकर्ताओं को, साहित्यकारों, दार्शनिकों, विद्वानों और साधकों की भारी भीड़ से वे सदा ही घिरे रहते थे । इतना किए बिना इस विश्व-व्यापी महा-अभियान को गति प्रदान कर सकना सम्भव भी नहीं था, जिसके लिए वे जन्मे और जिए थे ।

(५) पाँचवाँ कार्य, उनका प्रचारकार्य और जनसम्पर्क था । उपलब्ध सूचनाओं से यही प्रमाणित होता है कि प्राय: पूरे वर्ष उन्हें बाहर रहना पड़ता होगा, अन्यथा इतने सम्मेलनों, आयोजनों, गोष्ठियों, व्यक्तिगत परामर्शों तथा शोध, सम्पर्क के लिए महत्त्वपूर्ण प्रवासों की बात बन ही कैसे पाती ? विगत २० वर्षों में से एक भी दिन ऐसा नहीं मिलेगा, जबकि उनके रहने की सूचना उपलब्ध न की जा सके ।

यह पाँचों ही कार्य उनके अनवरत रूप से चलते रहे । इनमें से प्रत्येक कार्य का विवरण इतना विस्तृत है कि उसे वर्ष के पूरे ३६५ दिन लगाये बिना निपटाया ही नहीं जा सकता। किसी भी दृष्टि से हिसाब लगा लिया जाए, किसी भी कसौटी पर परख लिया जाए, पाँचों प्रकार का प्रत्येक कार्य उनके निज के द्वारा ही सम्पन्न किया हुआ मिलेगा और उनमें से प्रत्येक इतना है जो पूरे शरीर से समग्र तत्परता के साथ पूरे वर्ष में ही निपटाया जा सकता है । इस बात को यों भी कह सकते हैं कि वे एक दीखते हुए भी पाँच थे । गायत्री माता के पाँच मुख और दस भुजाएँ कहे-बताये भर जाते हैं, पर उसके उपासक ने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया कि एक शरीर से पाँच गुनी स्तर की क्रिया-शक्ति कैसे सम्भव हो सकती है । इसके अतिरिक्त अभी उन रहस्यों पर पर्दा ही पड़ा रहना चाहिए. जो इतनी अद्भुत हैं कि उन पर सहसा विश्वास करना किसी के लिए भी कठिन होगा, पर हैं वे अक्षरश: सत्य । समय आने पर उनका भी सप्रमाण उद्घाटन सर्वसाधारण के समक्ष होकर रहेगा ।

यह चर्चा इसलिए करनी पड़ी कि गुरुदेव, मात्र व्यक्ति ही न थे, एक सजीव प्रयोगशाला के रूप में अध्यात्म विद्या की समर्थता और सार्थकता प्रमाणित करने आये थे और उनके प्रयोगों से सर्वसाधारण को परिचित होना ही चाहिए। निन्दा-स्तुति से वे बहुत ऊँचे उठे हुए थे। इन दोनों को उन्होंने समान समझा और लोग क्या कहते हैं, इस पर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। वे अपने अन्तःकरण के अतिरिक्त और किसी को अपनी गतिविधियों की समीक्षा कर सकने लायक मानते ही न थे। ऐसे वीतराग की कोई क्यों प्रशंसा-स्तुति करे और उससे क्या प्रयोजन सोचे ? फिर जबकि वे आँख से ओझल हैं तो उन पर इसका क्या प्रभाव पड़ने वाला है। चर्चा तथ्यों पर प्रकाश डालने की दृष्टि से की गई और यह प्रकट करने का प्रयत्न किया गया कि व्यक्ति सचमुच ही ईश्वर का राजकुमार युवराज है, सचमुच ही पिण्ड में ब्रह्माण्ड की समस्त शक्तियाँ बीज रूप में विद्यमान हैं और साधनात्मक प्रयत्नों द्वारा उन्हें उठाया-पाया जा सकता है। पाने लायक जो कुछ इस संसार में है, उसे आत्मदेव को जगाकर सहज ही पाया जा सकता है। गुरुदेव कहते थे पाँच ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति को समझना और उनका सदुपयोग कर सकना ऐसा प्रयोग है जिसके द्वारा अन्नमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश को जगाया जा सकता है और उनके सहारे समर्थ सिद्धपुरुष जैसा लाभ उठाया जा सकता है। वे यह भी कहते थे कि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और प्राण की पंचधा सूक्ष्म काया स्थूल शरीर से भी असंख्य गुनी सामर्थ्यवान है।

वृहदारण्यक में एक उपाख्यान आता है-देवताओं ने वाणी से कहा आप हमारे उत्कर्ष का माध्यम बनिए। सत्यव्रती वाणी ने वरदान दिया और देवता शक्तिशाली हो गये। असुरों ने सोचा इस तरह तो देवता हमें जीत लेंगे। उन्होंने देववाणी को पापविद्ध कर दिया। वह उचित-अनुचित कुछ भी बोलने लगी, फलतः देवताओं का वह अस्त्र निष्फल हो गया। तब देवताओं ने घ्राण इन्द्रिय से कहा-तुम हमारी सहायता करो। श्रेष्ठग्राही घ्राणों ने देवों की सहायता की और वे बढ़ चले। तब असुरों ने गिराने के लिए घ्राण को पापविद्ध कर दिया और वह शुभ-अशुभ किसी भी गन्ध को ग्रहण करने लगी, फलतः वह अस्त्र भी निष्फल हो गया और देव गिरने लगे। तब देवता चक्षु के पास गये और उनसे सफलता की प्रार्थना की। श्रेयदर्शन का व्रत धारण किए चक्षु देवताओं को समुन्नत करने लगे। तब कुटिल असुरों ने उन्हें भी पापविद्ध कर दिया और वे उचित-अनुचित कुछ भी देखने लगे, फलतः उनकी शक्ति नष्ट हो गई और देव हतप्रभ हो गये। इसी प्रकार कानों को असुरों ने पापविद्ध किया और वे भी असहाय हो गये। उसी प्रकार मन ने देवताओं की सहायता की, पर पापविद्ध होने पर भी वह असहाय हो गया।

अन्ततः दुःखी देवताओं ने प्राण का आश्रय लिया और असुर उसे पापविद्ध न कर सके, अस्तु देव विजयी हुए और असुर हार गये। उपनिषदकार ने प्रतिपादन किया है जो इस प्राण की रक्षा करता है, वह कभी नहीं हारता और मृत्युंजय बन जाता है।

कथानक में इसका उद्घाटन किया गया है कि इन्द्रियाँ देव-शक्तियों से ओत-प्रोत हैं, यदि उन्हें पापकर्मों में निरत न होने दिया जाए, तो ये केवल कल्याण को ही ग्रहण करें और श्रेयपथ पर ही चलें तो उनमें सन्निहित शक्तिभण्डार के सदुपयोग से मनुष्य जीवन-संग्राम के हर मोर्चे पर विजयी हो सकता है, यदि इन्द्रियाँ असंयमी, उच्छृंखल और कुमार्गगामी हो जाएँ तो फिर देव जैसे वैभववानों को भी पराजय का मुँह देखना पड़ेगा, जिसका प्राण प्रबल है-संकल्प अडिग है, वही पापविद्ध किए जाने के असुर षड्यन्त्र को विफल कर सकता है और पराभव की हर आशंका को निरस्त करते हुए अजर-अमर, मृत्युंजय बन सकता है।

लगता है कि गुरुदेव ने इस कथानक का मर्म अपने जीवनक्रम में उतार लिया। इन्द्रियों से परिचारिका जैसा काम लेते रहे। दूसरों की तरह उच्छृंखल न होने देने के लिए सदा सजग रहे। अभक्ष उन्होंने खाया नहीं, अनीति का अन्न कभी गले से नीचे नहीं उतरने दिया। साधनाकाल में ५ मुट्ठी जौ का आटा और ५ पाव छाछ दैनिक आहार पर निर्वाह करते रहे, इसके पश्चात भी न उन्होंने स्वाद को आगे आने दिया और न अनीति से उपार्जित अभक्ष के लिए मुँह खोला। क्षुधा बुझाने के लिए औषधि रूपी अन्न के अतिरिक्त स्वाद के सम्बन्ध में कभी सोचा तक नहीं। वाणी से असत्य बोलने और छल करने की आवश्यकता ही कभी नहीं पड़ी। न किसी को कुमार्ग पर चलाया, न किसी का जी दुखाया। ऐसी निष्पाप और निर्मल जिह्वा पर ही सरस्वती विराजमान रह सकती थी, सो रही भी, उनके आशीर्वाद निष्फल नहीं गये, न कभी परामर्श टाले गये। इस वाक्‌पवित्रता ने उनका अन्नमय कोश जाग्रत करने में भारी सहायता की। तद्विषयक उपासना का कर्मकाण्ड तो उपकरण एवं निमित्त मात्र था।

वे सदा सर्वत्र सद्भावना और श्रेष्ठता की गन्ध सूँघते रहे। किसी की दुर्भाव-दुर्गन्ध उन्होंने कभी ग्रहण की ही नहीं। निन्दकों से कभी बुरा न माना, वरन् उन्हें साबुन का प्रयोजन पूरा करने वाला हितैषी मानकर दुलारा। दुर्जनों में भी सज्जनता ढूँढ़ी और हर भले-बुरे में ईश्वर का अंश विद्यमान देखते हुए उसे स्वच्छ और सुन्दर बनाने के लिए सामर्थ्य भर प्रयत्न करते रहे। घ्राणदेवता को उन्होंने पापविद्ध नहीं होने दिया, फलतः वह उन्हें साधना-समर में विजयी ही बनाता रहा और उसने मनोमय कोश की जागरण प्रक्रिया को सरल बनाने में भारी सहायता पहुँचाई।

आँखों से उन्होंने श्रेय ही देखा। नारी के प्रति माता पुत्री और भगिनी की ही दृष्टि रही। जो पढ़ा वह मंगलमय के अतिरिक्त और कुछ न था। श्रेय को ढूँढ़ने और प्राप्त करने में ही चर्मचक्षुओं को तथा विवेक के दिव्यचक्षुओं

को समान रूप से नियोजित किए रहे । गान्धारी की पवित्र दृष्टि ने दुर्योधन का शरीर वज्र जैसा बना दिया था । दमयन्ती के रोषपूर्ण दृष्टिपात से व्याध जलकर भस्म हो गया था । संजय ने दिव्यदृष्टि से देखकर महाभारत का सारा वृत्तान्त धृतराष्ट्र को सुनाया था । आचार्यजी ने दृष्टि को पवित्र रखकर वे समस्त विशेषताएँ उत्पन्न कर ली थीं । जिसकी ओर उन्होंने भावभरी दृष्टि से देखा, वह निहाल होता चला गया, ऐसे दिव्यचक्षुओं से ही अर्जुन ने भगवान का विराट रूप देखा था । चक्षुदेवता को जिसने सिद्ध कर लिया उसके लिए प्राणमय कोश में सन्निहित सिद्धियाँ करतलगत ही समझी जानी चाहिए । गुरुदेव ने आज्ञाचक्र को जाग्रत करने की, प्राण में प्रखरता लाने की, क्रिया-प्रक्रिया की जरूरत है, पर उनमें जो खाद-पानी लगा वह नेत्रों को पवित्र, व्रती बनाये रखने और असुरता द्वारा उन्हें पापविद्ध न होने देना ही सफलता का प्रधान कारण रहा है ।

कानों से केवल दिव्य प्रयोजन ही सुनना, निन्दा, चुगली, असूया की उपेक्षा करना, सज्जनों के सद्वचनों में ही रुचि रखना । स्नेह-सम्भाषणों को याद रखना और कटु-कर्कशता को भूल जाना, कर्णेन्द्रिय की पुण्य साधना है । निरर्थक सुनने और सुनाने में जिसे अरुचि रहती है, जो दूसरों की व्यथा-वेदना खोजने और सत्परामर्श सुनने को आतुर रहते हैं, वे कान धन्य हैं । उन्हें अमृत कलश कहना चाहिए । इन्हीं से छन-छनकर मस्तिष्क में देवत्व का संचय होता है और आनन्द, उल्लास से अन्तःकरण भरने लगता है । आनन्दमय कोश को जाग्रत करने के लिए नादयोग प्रभृत साधनाएँ करनी पड़ती हैं, पर उनकी परिपुष्टि जिस भूमिका पर होती है, वह कर्णेन्द्रिय का सदुपयोग ही है ।

विज्ञानमय कोश का परिष्कार त्वक इन्द्रिय पर निर्भर है । यहाँ त्वक का तात्पर्य कामेन्द्रिय से है । कुण्डलिनी शक्ति की प्रचण्ड क्षमता इसी केन्द्र पर केन्द्रीभूत होती है । ब्रह्मरंध्र, क्षीरसागर, सहस्रार कमल में ज्ञानबीज सन्निहित है और मूलाधार चक्र-जननेन्द्रिय स्थल में विज्ञान की भौतिक शक्तियों का भण्डार भरा पड़ा है । नई सृष्टि उत्पन्न कर सकने की, नया संसार बसाने की स्फुरणा इसी स्थल पर विराजमान है । गुरुदेव ने इस शिवकेन्द्र को पवित्रतम देवप्रतिमा की तरह ही समझा और उस शक्ति-स्रोत का एक भी कण अपव्यय न करके ऊर्ध्वरेता की तरह ब्रह्मस्फुरणा में ही प्रयुक्त किया । विज्ञानमय कोश के जागरण में मिली सफलता का श्रेय वे तद्विषयक साधना-पद्धति को कम, ब्रह्मरेतस निष्ठा को अधिक दिया करते थे । पाँच तत्त्वों के प्रकाश को प्रस्फुटित करने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ वस्तुतः पाँच दिव्य-देवियाँ हैं, जो उन्हें व्यभिचारिणी वेश्या के कुपथ पर नहीं धकेलते, तो उन्हें मातृवत श्रद्धा के साथ संपूजित करता है, उसके पास सिद्धियों की कमी नहीं रहती ।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और प्राण यह पाँच देवता पाँच शक्तिकोशों के अधिपति हैं । इनको भी इन्द्रियों की तरह ही सँभालना पड़ता है । मन की चंचलता अयोग्य भोग-विलास के लिए भटकने न पाये, वासनाओं में रमण न करने लगे, तृष्णाएँ अयोग्य मार्ग में सम्पदा और सुख-सामग्री एकत्रित करने के लिए मचलने न लगें । इस नियंत्रण से मन को निग्रहीत किया जाता है । बुद्धि अपने साथ पक्षपात, दूसरों के साथ अन्याय, रुचिकर का समर्थन और अरुचिकर का विरोध करने लगती है और तुरन्त का लाभ देखने वाली और दूरवर्ती परिणामों की ओर से आँख बन्द कर लेने का दोष आ जाने से बुद्धि की पवित्रता पापविद्ध हो जाती है । चित्त की प्रवृत्ति उत्कृष्टता की अभिरुचि छोड़कर निकृष्ट अभिव्यंजनाओं में भटकने लगे तो समझना चाहिए उसकी दिव्य शक्ति का नाश हो चला । अहंता अपने को ईश्वर का दिव्य अंश, सृष्टि की सुव्यवस्था का उत्तरदायी, आदर्शों का प्रतिष्ठापक मानने के स्थान पर शरीर और सम्पदा का अहंकार करने वाली, उद्धत और उच्छृंखल आचरण करने वाली बन जाए तो समझना चाहिए उसका देवत्व भी नष्ट हुआ । प्राण का स्वरूप है-सन्मार्ग पर चल सकने का साहस और कुमार्ग पर किसी भी भय या लोभ के कारण होने वाले आकर्षण को ठुकरा देने की दृढ़ता । जो जीवनोद्देश्य की पूर्ति और ईश्वर की आज्ञापालन करने में बड़े से बड़ा त्याग-बलिदान प्रस्तुत कर सके, वह सच्चे अर्थों में प्राणवान है । प्राण-देवता की आराधना सन्मार्गगामी शूरवीर बनकर की जाती है । गुरुदेव इन पाँचों आत्मदेवताओं को भी उसी तरह साधते रहे, जिस तरह कि इन्द्रिय देवियों की पवित्रता अक्षुण्ण बनाये रहने में तत्पर रहे ।

गायत्री माता के पाँच मुख और दस हाथ आलंकारिक दृष्टि से चित्रित किए जाते हैं । कितनी ही मूर्तियों तथा तस्वीरें इस प्रकार के चित्रण समेत मिलती हैं । यह पाँच मुख अन्नमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश हैं । दस भुजाएँ उपर्युक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच देवियों और पाँच मनसतत्व से सम्बन्धित पाँच देवता हैं, इन दोनों को मिलाकर गायत्री महाशक्ति की दस भुजाएँ बनती हैं ।

सामान्य जप, अनुष्ठानों के कर्मकाण्ड पूरे करने के साथ जो पंचमुखी, दशभुजी दिव्य गायत्री को अपने प्राण, हृदय, मस्तिष्क और आचरण में घुला लेता है, वह वैसा लाभ प्राप्त कर सकता है, जैसा कि गुरुदेव ने उपलब्ध किया ।

## यति और योद्धा की विशेषताओं से सम्पन्न एक विभूति

यति और योद्धा का सम्मिश्रण कदाचित ही कहीं देखा जाता होगा । कारण कि यति की कोमलता, करुणा उसे दयालु, क्षमाशील, उदार प्रकृति का बनाये रहती है । ईश्वर का विश्वासी अक्सर ईश्वर पर इतना निर्भर हो जाता है कि अपने कर्त्तव्य-कर्मों का होना, न होना भी ईश्वर इच्छा पर छोड़ देता है और जो कुछ हो रहा है, सो ठीक मान

लेता है, काम बड़े न बन पड़ें तो क्या करें ? इस प्रकार अपने मन को समझा लेता है । वे न तो किसी से लड़ पाते हैं और न कोई बड़ा दुस्साहस करने लायक संकल्प ही कर पाते हैं, जबकि यह दोनों ही आधार आत्मिक-विकास और लोकमंगल का व्यवस्थाक्रम बनाए रहने के लिए नितान्त आवश्यक हैं ।

आमतौर से यह माना जाता है कि जो आध्यात्मिकता के क्षेत्र में चला गया वह बाह्य क्षेत्र के लिए निरर्थक हो गया । क्योंकि संसार तो संघर्ष से चलता है, यहाँ हर किसी को हर कदम पर जीवन-धारण किए रहने के लिए संघर्ष करना पड़ता है । प्रगति के लिए तो यह अनिवार्य है । चाहे आत्मिक हो चाहे भौतिक, दोनों ही दिशाएँ ऐसी हैं जो अपने-अपने ढंग से संघर्ष चाहती हैं । आत्मिक-जीवन में अपने-अपने दोष-दुर्गुणों, कुसंस्कारों और प्रलोभनों-अवरोधों से लड़ना पड़ता है । गीता का प्रशिक्षण ही अन्तरंग जीवन में पाँच प्राणों को-सौ दोष-दुरितों के कौरव-पाण्डवों के रूप में लड़ा देने के लिए प्रादुर्भूत हुआ । आत्मिक-साधना को भी समर कहा गया है । दुर्गा सप्तशती में महिषासुर, मधुकैटभ और शुम्भ-निशुम्भ के रूप में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में घुसे बैठे असुरों को आत्म-शक्ति द्वारा निरस्त करने की शिक्षा है । इस प्रकार संघर्ष-आत्मिक प्रगति का भी प्रमुख आधार है । भौतिक जीवन का तो कहना ही क्या ? यहाँ प्रगति तो दूर अपने अस्तित्व को बनाये रह सकना भी बिना संघर्ष के सम्भव नहीं । इस दुनिया में देवताओं से असुर अधिक हैं, वे हर घड़ी घात लगाये रहते हैं और जो दुर्बल, गाफिल पाया जाता है उसे ही धर दबोचते हैं । आँख से न दीखने वाले रोग कीटाणुओं से लेकर मक्खी, मच्छर, खटमल, पिस्सुओं तक और साँप-बिच्छुओं से लेकर सिंह-व्याघ्रों तथा अन्य जीव-जन्तु जब आक्रामक बने बैठे हैं, तो मनुष्य वेशधारी असुरों का तो कहना ही क्या ? वे कमजोर और गाफिल की तलाश करते फिरते हैं और जो संघर्ष करने से कतराता है, उसे ही धर दबोचते हैं । प्रगति के लिए तो इंच-इंच रास्ता बनाना पड़ता है। सफलताएँ उपहार में किसी को नहीं मिलीं । प्रचण्ड मनोबल और प्रखर पुरुषार्थ के मूल्य पर उन्हें खरीदा जाता है । इस संसार में आगे बढ़ने और जीवित रहने की राह यही है, पर यति लोग अपने दार्शनिक रुझान के कारण इन दोनों ही विशेषताओं से खाली हो जाते हैं । फलतः उनकी प्रगति रुकी पड़ी रहती है । न वे आत्मिक-दिशा में आगे बढ़ पाते हैं और न भौतिक क्षेत्र में । प्रगति के आधार ही जब गँवा दिए गए तो फिर उपलब्धि कैसी ?

विचारशील लोग वर्तमान अध्यात्म की चिन्तनशैली को इसलिए प्रतिगामी मानते हैं कि वह प्रगति का पथ अवरुद्ध करती है, मिथ्या सन्तोष पैदा करके आशा की ज्योति ही बुझा देती है । 'स्व' को खोकर एक प्रकार से ऐसे व्यक्ति परावलम्बी हो जाते हैं जबकि होना ठीक उलटा चाहिए था । अध्यात्म का अर्थ ही आत्म-निर्भरता और आत्मिक-पूर्णता है । जहाँ अपूर्णताओं से समझौता कर लिया जाए, प्रगति को अनावश्यक माना जाए और आत्मोत्कर्ष के लिए अभीष्ट पुरुषार्थ को किसी दूसरे की, भगवान की कृपा के साथ बाँध दिया जाए, तो निस्सन्देह लक्ष्य की दिशा में बढ़ चलना अवरुद्ध ही हो जाएगा । स्थिति यही है, जिसे तथाकथित अध्यात्मवादियों के जीवनक्रम का विश्लेषण करके सहज ही जाना जा सकता है । यही कारण है कि वर्तमान आध्यात्मिकता को विचारशील वर्ग नापसन्द करते हैं, उसे अनुपयोगी मानते हैं और व्यक्ति तथा समाज के विकासक्रम में बाधा समझते हैं, वास्तविकता वैसी है नहीं । अध्यात्म के मूल सिद्धान्त जिन्हें आज एक तरह से भुला दिया गया है, वस्तुतः ऐसे प्रखर हैं कि उनका अवलम्बन करने से प्रगति का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता, वरन् खुलता है । यदि ऐसा होता तो प्राचीनकाल में घर-घर महामानव उत्पन्न होने, अपने समाज को परिष्कृत करते हुए समस्त संसार का हर क्षेत्र में नेतृत्व कर सकने के आधार कैसे बनते? भारतीयता समस्त विश्व में गौरवान्वित कैसे होती ? और आध्यात्मिकता को देवविद्या-संजीवनी विद्या, ब्रह्म-विद्या के नाम से क्यों पुकारा जाता और क्यों उसे प्राप्त करने के लिए सर्वत्र लालसा, आकांक्षा उफनती फिरती ?

गुरुदेव भारत के प्राचीन अध्यात्म-तत्त्वदर्शन एवं अध्यात्म का मूर्तिमान प्रतिनिधित्व करने हेतु अवतरित हुए । वे जानते थे कि वाणी और लेखनी के माध्यम से प्रचार और शिक्षण का कुछ असर तो होता है और उसकी आवश्यकता भी रहती है, पर उतने भर से काम नहीं चल सकता, प्रभावशाली शिक्षण वह होता है जो मूर्तिमान हो । प्रत्यक्ष को देखे बिना प्रेरणा नहीं मिलती । विचार केवल हलचल उत्पन्न करते हैं, उन्हें कार्यान्वित कैसे किया जा सकता है ? उसका उदाहरण जब तक सामने न आवे, तब तक श्रेष्ठता के सन्मार्ग पर चलने की किसी को स्फुरणा ही नहीं मिलती, नमूना सामने है । किसी समय में केवल सात ऋषि थे और वे समस्त संसार के सातों द्वीपों का एक-एक करके समग्र नेतृत्व सँभालते थे, कारण वे जो कहते थे सो करते भी थे । वाणी से ही नहीं, क्रिया से भी वे जनता को दिखाते थे । जो बताना चाहते थे, कराना चाहते थे, उसे उन्होंने अपने मन, वचन और कर्म में अति गहराई तक समाविष्ट कर लिया था । यह समन्वय ही उनकी प्रभावशीलता का मात्र आधार था । विद्या और प्रतिभा का भी मूल्य है, पर जहाँ तक जीवनक्रम बदल देने जैसे घोर कर्म को कराने की, व्यक्ति को पतन के गर्त से निकाल कर उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचाने की आवश्यकता होती है, वहाँ बाँस के डण्डे काम नहीं करते, वहाँ मजबूत क्रेनें ही काम करती हैं । प्राचीनकाल के आत्मवेत्ता अपने को इतना समर्थ और प्रभावशाली बनाते थे कि लोकनेतृत्व कर सकें । इसके लिए वे बुद्धि या प्रतिभा को प्रखर करने में ही नहीं लगे रहते थे, वरन् समग्र व्यक्तित्व को विचार एवं कर्म के समन्वय से प्रचण्ड बनाते थे । भारतीय तत्त्वज्ञान

की विश्वव्यापी गौरव-गरिमा, प्रभावशीलता एवं सफलता का मूल कारण उसके व्याख्याताओं द्वारा अपने जीवन-प्रयोगशाला में अपने कथन की सार्थकता सिद्ध करना ही था । आज वह क्रम टूटा तो वह दर्शन भी बैठ गया, जिसकी अब केवल चर्चा ही शेष रह गई है ।

सामान्य स्तर की जनता के मन में तथाकथित अध्यात्मवादियों के और धुरन्धरों के आचरणों को देखकर अरुचि उत्पन्न हुई है । दम्भ, छल, प्रपंच, भ्रांति और बहकावे के आधार पर कोई चीज देर तक खड़ी नहीं रहती, ढोल की पोल आखिर तो विदित हो ही जाती है । दूसरों को धर्म की शिक्षा और स्वयं के जीवन में शून्यता । दूसरों को त्याग का उपदेश, स्वयं वैभव का संचय, इस विडम्बना को जो भी देखता है मन खट्टा करता है । ईश्वर की दुहाई दिन-रात देते रहने पर भी जिनके जीवन में कोई विशेषता न हुई, उनका अनुगमन करके हमें क्या मिलने वाला है ? उसमें भी सन्देह उत्पन्न होता है । मध्यमवर्गीय जनता का मन इन तथ्यों को जब देखता है तब उसकी रुचि इस ओर से घटती है । उच्चस्तर के विचारशील लोग थोड़ी और गहराई से देखते हैं, उन्हें इस दर्शन में या उसकी व्याख्या में कहीं कोई भारी त्रुटि दिखाई देती है । ऊँचे स्तर की विचार-सम्पदा के सम्पर्क में आने से व्यक्तित्व में निखार आना चाहिए और प्रखरता उत्पन्न होनी चाहिए । यह कैसा दर्शन, जो अपूर्णता को दूर करने के लिए तत्परता उत्पन्न करने की अपेक्षा उससे समझौता कर ले । यथास्थिति से सन्तुष्ट रहने और परावलम्बन को उचित मानने को जो तैयार हो जाए वह कैसी उत्कृष्टता ? ऐसी आध्यात्मिकता को अपनाकर तो व्यक्ति पुनः कमजोर और गाफिल लोगों की पंक्ति में ही जा खड़ा होगा, जिन्हें आक्रामक तत्त्व जीवित नहीं रहने देते । भारत का पिछला इतिहास भी कुछ ऐसा ही है । पिछले एक हजार वर्ष में यहाँ धर्म की ध्वजाएँ खूब उड़ाई गईं । जितने भी पन्थ-सम्प्रदाय इस देश में उभरे हैं, वे सभी प्रायः इसी एक हजार वर्ष का उत्पादन हैं । सिद्ध-महात्माओं की बाढ़ इन्हीं दिनों आई है और देश पददलित भी इन्हीं दिनों हुआ । सोचा जाता है कि इन भक्ति उत्पादनों की अपेक्षा यदि समर्थ गुरु रामदास, बन्दा वैरागी, गुरु गोविन्द सिंह जैसी प्रखरता को आन्दोलित किया गया होता, तो देश का अधिक हितसाधन होता । इस स्तर का चिन्तन जब विचारशील वर्ग के मन में चलता है तो वे इस प्रचलित धर्म-अध्यात्म की मान्यताओं को अवांछनीय और अनावश्यक मान लेते हैं और उसे कल्पनाओं का जंजाल मात्र समझकर उदासीनता धारण कर लेते हैं । इस प्रकार सामान्य और उच्च दोनों ही स्तर के लोग जब महान तत्त्वज्ञान के प्रति उपेक्षा, उपरति बरतने लगेंगे, अपने मन में उसका मूल्य गिरा लेंगे तो उससे भारी हानि होगी । उच्चदर्शन की उपेक्षा करके कोई समाज अपनी उत्कृष्टता स्थिर नहीं रख सकता और उसके अभाव में उसे दुर्बल एवं पतित ही होना पड़ेगा । वर्तमान दार्शनिक अवसाद ने कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि जिसका सुधार बिना एक क्षण गँवाये अविलम्ब आरम्भ किया जाना चाहिए ।

भारतीय तत्त्वदर्शन एवं अध्यात्म के सम्मुख प्रस्तुत इस जीवन-मरण जैसे अवरोध का विश्लेषण और निराकरण सही रूप से प्रस्तुत करने के लिए गुरुदेव ने न केवल कहा और लिखा, वरन् उसे कर्त्तव्य का अविच्छिन्न अंग भी बनाया । उन्होंने यह प्रतिपादन किया कि यति और योद्धा दोनों का एक साथ रह सकना सम्भव है । सम्भव ही नहीं, स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी । दयालुता का अर्थ अनाचार का संरक्षण नहीं और क्षमा का अर्थ पाप और अनीति को स्वच्छन्द रूप से कुहराम मचाते रहने की छूट देना नहीं है । रोगी पर दया की जानी चाहिए, रोग पर नहीं । पापी को भी प्यार किया जा सकता है, पर पाप के प्रति तो निष्ठुरता बरतनी ही पड़ेगी । सन्त की भी पूजा, कसाई की भी पूजा । पुण्य की भी जय और पाप की भी जय । ऐसा समदर्शन तो व्यक्ति को दार्शनिक भूल-भुलैयों में उलझाकर संसार का सर्वनाश ही कर देगा । गुरुदेव ने अपने जीवनक्रम में उन तथ्यों को स्थान दिया, जिनमें उसके यति तत्त्व के साथ योद्धा तत्त्व भी पूरी तरह जुड़ा हुआ है ।

योद्धा के रूप में उन्हें देखा और परखा जाए, तो लगेगा वे योद्धा पहले और यति पीछे थे । इसी प्रकार जब उनके यति गुणों को देखते हैं, तो वे ही मुख्य मालूम पड़ते हैं । वस्तुतः दोनों तत्वों का विलक्षण समन्वय उनमें है, इसे संयोग नहीं मान लेना चाहिए वरन् यों समझना चाहिए कि उनकी हर क्रिया लोकशिक्षण के लिए थी और वे यह बताते थे कि यति और योद्धा के समन्वय से ही अध्यात्म की सर्वांगपूर्णता बनती है ।

गायत्री यज्ञ आन्दोलन उनके द्वारा भारत के ऐतिहासिक आन्दोलनों में से एक है । उसकी विशालता का मूल्यांकन किया जाए तो दाँतों तले उँगली दबानी पड़ेगी कि किस प्रकार उसमें करोड़ों व्यक्तियों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया और इन व्यवस्थाओं में किस प्रकार करोड़ों रुपयों की व्यवस्था सम्भव हुई । उस अभियान के अनेक आध्यात्मिक पहलू भी हैं, जो सूक्ष्मजगत को अनुप्राणित करने से सम्बन्ध रखते हैं, पर एक प्रत्यक्ष पहलू सामाजिक क्रांति भी थी । भारत की मूल समस्या सामाजिक है । राजनैतिक और आर्थिक समस्याएँ तो उसके साथ जुड़ी हुई हैं । यदि देश में से ऊँच-नीच, स्त्रियों को प्रतिबन्धित करना, विवाह-शादियों में होने वाले अपव्यय जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर न किया जा सका तो देश का पिछड़ापन कभी दूर न होगा और राजनैतिक एवं आर्थिक प्रगति के बावजूद विकास की कोई सम्भावना साकार न होगी । कारण कि इस प्रकार की बुराइयों से जो क्षति निरन्तर होती रहती है, उसे कितनी भी बड़ी विकास योजनाएँ पूरा नहीं कर सकतीं । जब क्षतिपूर्ति तक हमारे समस्त प्रयासों से सम्भव नहीं तो प्रगति की बात कहाँ से बनेगी ? इस लक्ष्य को भली-भाँति समझते हुए गायत्री यज्ञ आन्दोलन के साथ उन्होंने सामाजिक क्रांति की व्यवस्था को गहराई तक जोड़ कर रखा ।

गायत्री मंत्र का मनुष्य मात्र को अधिकार दिए जाने की घोषणा करने से जब अछूत भी उसका उपयोग करने लगे, तो पुरातनपन्थियों में खलबली मच गई । जो मंत्र ब्राह्मणों

का था, कान में कहा-सुना जाने वाला था, उसे सब लोग प्रकट रूप से कहें, सुनें यह कैसा अनर्थ ? यज्ञों में केवल ब्राह्मण लोग दक्षिणा लेकर आहुतियाँ देते थे । स्त्रियों को, उसमें प्रवेश मिलता ही नहीं था । उसमें सम्मिलित होने के लिए सबका खुला प्रवेश ? यज्ञ आयोजनों में आने वाले आगन्तुकों को कच्ची रोटी (दाल, भात, रोटी) का प्रबन्ध कर बिना जाति-पाँति के, भेद-भाव के उनका बनाया और परोसा जाना, यह उन दिनों घोर आश्चर्य का विषय था । इस व्यवस्था को अनाध्यात्मिकता, नास्तिकता आदि न जाने किन-किन नामों से पुकारा जाता रहा । पुरातनपन्थियों ने उनका घोर विरोध किया । सभाएँ हुईं, लेख छपे, धर्मध्वजियों ने भाषण-वक्तव्य दिए, काले झण्डे निकाले, नाश के नारे लगाये और सही-गलत जो कुछ भी हो सकता था, सब कुछ कहा गया । चर्चा फैलाई आचार्यजी ब्राह्मण नहीं, लकड़ी का काम करने वाले बढ़ई हैं और भी न जाने क्या-क्या कहा गया । कई बार तो उन्हें शारीरिक आघात पहुँचाने और अपशब्द कहने तक के अवसर आये, पर क्या मजाल कि चेहरे पर जरा भी उदासी आई हो । सामाजिक क्रांति का इतना बड़ा तूफानी अभियान खड़ा करने वाले में कितना दुस्साहस होना चाहिए, उसे देखना-नापना हो तो इस ११० पौंड भारी हाड़-माँस के पिंड में कितनी प्रचण्ड, दृढ़ता विद्यमान है, उसे उनके समीप ही जाकर जाना जा सकता है । यदि साहसी सैनिक की तरह उनकी संघर्ष प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा लिया जाए तो पता चलेगा कि अन्याय और अनाचारों के विरुद्ध उनका प्रत्येक दिन ही लड़ने में बीता है, यदि वे संघर्षात्मक घटनाक्रम इकट्ठे किए जाएँ और उनमें मिली सफलता और असफलताओं, घावों और चोटों को गिना जाए तो लगेगा कि वे अनाचार से आजीवन कट-कट कर लड़ने वाले योद्धा के रूप में ही जन्मे और शायद अन्तिम साँस तक वे इस युद्ध में संलग्न रहते हुए प्राण त्यागेंगे ।

संकल्प की पूर्ति के लिए किसी भी हद तक खतरों को सिर पर उठा लेने का उनका सहज स्वभाव है । सन् ६० में जब ये एक वर्ष के लिए अज्ञातवास गये थे, तब गंगोत्री की भगीरथ शिला और उत्तरकाशी के परशुराम आश्रम के समीप रहना पड़ा । उन क्षेत्रों में शीत की प्रचण्डता कई बार तो असह्य हो जाती है । सर्प, रीछ, व्याघ्र और दूसरे हिंसक जन्तुओं से जीवन का संकट भी । एकाकी जीवन में भोजन तक की अव्यवस्था तथा अनेक प्रकार की संभावित आशंका, सूनेपन की नीरसता तथा ऊब । इन सब बाधाओं के रहते अपने मार्ग-दर्शक का बताया साधनक्रम करना ठहरा, सो किया ही । डर तो उन्हें छू भी नहीं गया है । कठिनाइयों से अठखेलियाँ करने में न जाने कैसा मजा उन्हें आता है । आत्मवेत्ता सिद्धपुरुषों के सम्पर्क में आने के लिए उन्होंने अति भयानक अगम्य वन-पर्वतों में कितनी दुस्साहस भरी यात्राएँ की हैं और किन संकटों का सामना करते हुए क्या पाया है, इसकी चर्चा जब-जब उनके मुख से सुनने को मिलती, तो यह लगता-दुर्बल अस्थिपिंजर वाले नगण्य से दीखने वाले कलेवर में न जाने इतना अदम्य साहस किसने कहाँ से, कितना कूट-कूट कर भर दिया है । इन दिनों चल रही उनकी तपश्चर्या भी कम उग्र और कम रोमांचकारी नहीं है ।

जब से उन्होंने विज्ञान के आधार पर अध्यात्म के प्रतिपादन का विषय हाथ में लिया है और अखण्ड-ज्योति में उसकी लेख-माला प्रस्तुत करनी आरम्भ की है, तब से वैज्ञानिक क्षेत्र में घोर हलचल मची हुई है । विज्ञान सदा से अध्यात्म की काट करता रहा है और अध्यात्म ने विज्ञान पर सदा से व्यंग्य-कटाक्ष किए हैं । अब तक दोनों में कुत्ता-बिल्ली का सा बैर रहा है । किसी ने कल्पना तक नहीं की थी कि विज्ञान के आधार पर अध्यात्म का प्रतिपादन सम्भव हो सकेगा और दोनों को एक-दूसरे का पूरक सिद्ध किया जा सकेगा । ऐसी सम्भावना तो व्यक्त की जाती थी और आशा रखी जाती थी कि शायद कभी ऐसा प्रतिपादन हो जाए, पर अभी तक सम्भव नहीं दीखता था, पर जब गुरुदेव ने उनके प्रतिपादन को अपने हाथ में लिया तो चूहे-बिल्ली के विवाह जैसी विसंगति सामने आई । जहाँ इस प्रतिपादन पर प्रसन्नता व्यक्त की गई वहाँ कट्टरपन्थियों ने इसका विरोध भी खूब किया, जो हो, बात इन्हीं तीन वर्षों में इतनी आगे बढ़ गई कि यह प्रतिपादन समस्त विश्व के विचारकों, वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के लिए एक अतिरोचक चर्चा का विषय बन गया । यह इसी से प्रकट होता है कि केवल इसी विषय को लेकर औसतन १०० से अधिक पत्र प्रतिदिन मथुरा आते थे और तत्सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाएँ व्यक्त की जाती थीं । बात और बढ़ी और वह प्रतिपादन चुनौती के स्तर पर जा पहुँचा । कहा जाने लगा कि तर्क और प्रमाणों की दृष्टि से आपकी बात समझ में आती है, पर उसकी प्रामाणिकता प्रत्यक्ष पर निर्भर रहेगी, सो अपने प्रतिपादनों को प्रत्यक्ष कीजिए । प्राय: एक वर्ष से संसार में अनेक विज्ञान-संस्थाओं द्वारा यह चुनौती दी जा रही थी कि विचार और भावनाओं का स्थूल पदार्थों पर क्या प्रभाव पड़ सकता है, तो उसे प्रत्यक्ष करके दिखाया जाए । लोग इतना भर मानते थे कि विचारों का विचारों पर प्रभाव पड़ सकता है, पर उनका पदार्थों पर कैसे प्रभाव पड़ेगा ?

यह सिद्ध किए बिना अध्यात्म में प्रचण्ड शक्ति होने की मान्यता लोगों के मन में नहीं बिठाई जा सकती और जब तक उतना आकर्षण न हो, लोग उसकी अधिक उपयोगिता स्वीकार न करेंगे । चूँकि अगला समय भौतिक विज्ञान के स्थान पर अध्यात्म विज्ञान को प्रतिष्ठित करने वाला आयेगा । इसके लिए आधार बनना चाहिए और उस तरह की प्रत्यक्ष प्रामाणिकता प्रस्तुत की जानी चाहिए । जैसी कि प्रत्यक्षवादियों द्वारा माँगी जा रही है । अपना चमत्कार दिखाने के लिए नहीं, वरन् सर्वसाधारण को आत्मविद्या की उत्कृष्टता समझाने और उस ओर रुझान उत्पन्न करने के लिए ऐसा प्रतिपादन एवं प्रत्यक्षीकरण आवश्यक हो गया है और चुनौती को स्वीकार कर लिया

गया है । चूँकि गुरुदेव को पिछले दिनों युग-निर्माण योजना के सन्दर्भ में संगठनात्मक, प्रचारात्मक और आंदोलनात्मक कार्य अधिक करने पड़े और उनका अधिकांश समय तथा मनोयोग उधर ही लगा रहा । अस्तु, उस प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाणित कर सकने योग्य क्षमता में कमी मालूम पड़ी । इस कमी को पूरा करने के लिए ही इन दिनों उनके तप-साधन आध्यात्मिक व्यायामों के रूप में चल रहे हैं । वे कितने जटिल और कठिन हैं, इसकी चर्चा सर्वसाधारण का विषय नहीं है, पर यहाँ इसलिए यह बताना पड़ा कि उनकी साहसिकता और योद्धा प्रवृत्ति कितनी बढ़ी-चढ़ी है और वे इस आयु में भी कितने दुस्साहसपूर्ण कार्य कितनी उमंग और कितने उत्साह के साथ कर सकने में संलग्न तथा समर्थ हैं ।

अध्यात्म पर लगाया जाने वाला यह लांछन सही नहीं है कि जो यति है, वह योद्धा नहीं हो सकता । दोनों का समन्वय सम्भव ही नहीं स्वाभाविक भी है । विश्वामित्र, अगस्त्य, शृंगी, परशुराम, वशिष्ठ, द्रोणाचार्य, दधीचि आदि ऋषियों के कठोर कर्त्तव्यों को देखकर इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि अध्यात्म व्यक्ति को अकर्मण्य नहीं बनाता, वरन् अधिक महत्त्वपूर्ण और अधिक भारी कार्य कर सकने की क्षमता प्रदान करता है । उसी प्रकार यह मान्यता भी सही नहीं है कि मानसिक दृष्टि से व्यक्ति को दीन-दुर्बल, कायर, समझौतावादी एवं परावलम्बी बनाना अध्यात्म की प्रवृत्ति है । सही बात यह है कि उससे संकल्प-शक्ति और अधिक तीव्र होती है तथा मानसिक एवं आत्मबल की आश्चर्यजनक बढ़ोत्तरी होती है । ब्रह्मचारी नपुंसक जैसा दीखता भर है, उसका पौरुष कामुकों की अपेक्षा बढ़ा-चढ़ा होता है । यति यदि सच्चा हो, तो न उसका साहस कम होता है और न शौर्य-पराक्रम ।

व्यक्तिगत सुखोपभोग का जहाँ तक सम्बन्ध है गुरुदेव ने अभावग्रस्त, दरिद्री जैसा जीवन जिया । जहाँ तक व्यक्तिगत भौतिक उन्नति का सम्बन्ध है, वे उसकी ओर सदा उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे । धन, यश और विलास इर्द-गिर्द इकट्ठा होने लगा तो ऐसी डुबकी लगाई कि ये मगर उन्हें ताकते ही रह गये और वे देखते-देखते उनकी पकड़ से बाहर । यदि उन्होंने वैभव चाहा होता तो शासन में ऊँचे पद पर पहुँचे होते । राजनीति में उनका लोहा माना जाता, विद्वानों में मूर्धन्य गिने जाते और पैसा उनके पैरों में लोटा फिरता, फोटो छपते, अभिनन्दन ग्रन्थ मिलते और राजसम्मान की उपाधियों से विभूषित होते और भी न जाने क्या-क्या होते । उनकी हिमालय जितनी क्षमताओं की प्रतिक्रिया बड़े से बड़े वैभव के रूप में सामने खड़ी होती । पर इस सम्बन्ध में वे निस्पृह अवधूत की तरह ही बने रहे और अपनी बालसुलभ सरलता को ही अपनी सर्वोत्तम संग्रहीत सम्पत्ति मानते रहे । लोगों ने उन्हें कितना ठगा है, कुछ प्राप्त करने के लिए कितने-कितने प्रपंच रचे हैं और काम निकल जाने पर किस तरह तोताचश्मी दिखाते रहे हैं, इसका कभी कोई-कोई चुटकुला उनके मुँह से सुनने को मिल जाता है । उन्हें उस पर तनिक भी क्षोभ नहीं, केवल लोगों का छोटापन समझकर विनोद मात्र करते हैं और कहते हैं, यह भोले लोग कुछ ऊँची चीज माँगने या पाने के इच्छुक होते तो हम जिस तरह एक समर्थ के दरवाजे पर जाकर अपनी झोली भर लाये थे, उसी तरह ये लोग भी कुछ काम की और वजनदार चीज लेकर जा सकते थे, पर ओछापन बेचारों को कृतज्ञता की सुखद अनुभूति तक का लाभ नहीं लेने देता है । जो बहुत पुराने परिचित हैं, पर इस लम्बी अवधि में वे जहाँ के तहाँ रहे और गुरुदेव कहाँ से कहाँ पहुँचे हुए देख कुढ़ते हैं और ईर्ष्यावश अनेक तरह की क्षति पहुँचाने की कोशिश करते हैं । ऐसे ईर्ष्यालु लोगों के कुकृत्यों में बेसिर-पैर के लांछन लगाने से लेकर विष देने तक की जघन्य घटनाएँ शामिल हैं । उनसे प्रतिशोध लेने की बात मन में कभी नहीं आई । केवल बेचारे ही कहकर सम्बोधित करते रहे और कहते रहे -''वे जानते नहीं कि क्या कर रहे हैं और उलट कर इसका परिणाम उनके लिए क्या हो सकता है ।'' इस प्रकार व्यक्तिगत लाभ और व्यक्तिगत प्रतिशोध की बात उन्हें सूझी ही नहीं । अपने आपको एक प्रकार से भूले ही रहे । अनुभव करते हैं कि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत सत्ता को किसी महान सत्ता में घुला ही दिया है और अपना कहने लायक उनके पास कुछ रह ही नहीं गया है । प्रत्यक्ष इसे हानि या अपकर्ष कहा जा सकता है । लोग व्यंग्य करते हैं कि जबकि उनसे पिछड़े हुए लोग मोटरों और हवाई-जहाजों में उड़े फिरते हैं, तब उनके पास साइकिल-रिक्शा भी नहीं । उस नजर से देखने वाले अध्यात्म को घाटे का सौदा कह सकते हैं, पर फिर गुरुदेव को ही नहीं, विश्वामित्र, भर्तृहरि, बुद्ध, महावीर, गाँधी आदि कितनों को घाटा उठाने वाले सौदागर कहा जाएगा । जब इतने दिवालिए मौजूद हैं तो हमें ही क्यों शर्म आये, यह कहते हुए अपनी गरीबी पर हमने उन्हें विनोद भरा रस लेते ही देखा है ।

पर यह निस्पृहता केवल व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित है । समाज की सम्पन्नता और सुविधा बढ़ाने को उन्हें उससे लाख-करोड़ गुनी चिन्ता है, जितना किसी लोभी को अपनी व्यक्तिगत तृष्णाओं की पूर्ति के लिए हो सकती है । समाज में फैले हुए अनाचार के प्रति उन्हें उससे लाख गुना रोष है, जितना अपना सर्वस्व लूट ले जाने के और हाथ-पैर जला जाने वाले डाकू के प्रति हो सकता है । विश्व-वेदना से व्यथित उनकी अन्तरात्मा का रुदन कदाचित ही कोई देख पाया हो, पर जो देख सकता है देख ले कि इस अनुपम व्यक्तित्व में व्यथा और आक्रोश का हिमाच्छादित ज्वालामुखी जैसा कैसा विचित्र संयोग सन्निहित है ।

वे अपनी आग में हिमालय को पिघलाने गये हैं । वाणी-लेखनी से विचार-क्रांति, नैतिक क्रान्ति की उनकी नव-निर्माण योजना चल रही है । रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्यक्रमों को लेकर उनका विशाल परिवार व्यक्ति और समाज को बदलने के लिए लगा हुआ है । यह आन्दोलनात्मक अभियान है, जो उपयोगी भी है और

आवश्यक भी । लोगों को अपने कर्त्तव्य का बोध कराने और युग की चुनौती स्वीकार करने के लिए तत्पर किए बिना यह काम नहीं चल सकता था, सो किया भी है, हो भी रहा है, पर जो हो रहा है वह कम है । उसके लिए अभी बहुत बड़ी शक्ति की आवश्यकता है और शक्ति को उत्पन्न करने वाली अणु-भट्टी से उत्पन्न होने वाली ऊष्मा से भी अधिक प्रचण्ड तापमान की । सो उनकी वर्तमान तपश्चर्या का प्रयोजन यही है । दीपक अपने को जलाकर प्रकाश पैदा करता है और वे अपने को जलाकर ऊष्मा पैदा करने चले हैं, जो दावानल की तरह भड़के और पाप तथा पतन के इस अरण्य में छिपे हुए असुरों को जलाकर भस्म कर दें ।

बाहर से अतिसरल, अतिसौम्य और अतिशान्त दीखने वाले इस महामानव में इतना रोष और इतना दर्द हो सकता है इसका पता उनके निकटवर्तियों को छोड़कर और किसे होगा । वे किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं लेते और न किसी को इंगित करते हैं, पर अपने समाज के (१) राजनेता, (२) धर्मगुरु, (३) बुद्धिजीवी, (४) कलाकार और सम्पत्तिवानों के प्रति यह कहते जरूर हैं कि इनके हाथ में जो शक्ति है, उसका यदि उन्होंने सदुपयोग किया होता तो आज यह दुर्दिन देखने को न मिलते, जो देखने पड़ रहे हैं । हो सकता है वे इन्हें ही पिघलाने के लिए तप कर रहे हों । हो सकता है उस तपश्चर्या की आग में पिघलकर इन पाँच पाषाणों में से शिलाजीत की धार बह निकले । हो सकता है वे सर्वसाधारण में अपने आलस्य और अवसाद से मुक्ति पाने के लिए विद्रोह उत्पन्न करने गये हों । सम्भव है वे विभूतियों का दुरुपयोग करने वाले विभूतिवानों को पदच्युत करने वाली परिस्थितियाँ उत्पन्न करने गये हों ।

यति और योद्धा की उभयपक्षी विशेषताओं से परिपूर्ण अध्यात्म सार्थक है या निरर्थक, उसका प्रत्यक्ष परिणाम प्रस्तुत करने के लिए सम्भव है उनका वर्तमान साधना-क्रम चल रहा हो । कारण कुछ भी हो सकते हैं, संयुक्त रूप से सब भी । पर वे करने कुछ विशेष ही गये हैं, उनकी यह विशेष तपश्चर्या स्वर्ग-मुक्ति-सिद्धि और शक्ति के लिए नहीं, क्योंकि उन्हें तो वे बहुत पहले ही प्राप्त कर चुके हैं । अब तो अपनी पीड़ा से विश्व-मानव की पीड़ा को भुलाकर वे एक तड़पते हुए घायल की तरह कहीं गये हैं । उनकी तड़पन परशुराम के कुल्हाड़े के रूप में, शिव के तीसरे नेत्र के रूप में, इन्द्र के वज्र के रूप में प्रकट होकर नये परिवर्तन का न जाने क्या आधार प्रस्तुत करे, आज कौन कहे और कैसे कहे ?

# गुरुदेव और उनसे जुड़ी दिव्य अनुभूतियाँ

माता, पिता और गुरु को तीन देवताओं की संज्ञा दी गई है, माता को ब्रह्मा, पिता को विष्णु और गुरु को शिव कहते हैं । इन तीनों का लाभ जिसे मिल गया, समझना चाहिए उसने तीनों लोकों की सम्पदा प्राप्त कर ली । भौतिक देहधारी प्रतीक-प्रतिमा वाले माता-पिता और गुरु का भी महत्त्व है, फिर दिव्यसत्ता सम्पन्न इन त्रिदेवों का तो कहना ही क्या ?

गुरुदेव के शरीरधारी पिता बारह वर्ष का छोड़कर स्वर्ग सिधार गये थे । माताजी सन् ७१ तक जीवित रहीं । सांसारिक गुरु उनके महामना मालवीय जी थे, यज्ञोपवीत और गायत्री मंत्र इन्हीं ने दिया था । यों उनके शरीर पर यह तीनों ही यथासम्भव अनुग्रह बनाये रहे, स्नेह देते रहे, पर जिनका अहर्निश अजस्र अनुदान निरन्तर मिलता रहा, वे तीनों ही दिव्यसत्ता सम्पन्न ही थे । इसे एक स्पृहणीय सौभाग्य ही कहना चाहिए, जो उन्हें इस जीवन को धन्य बनाने वाली उपलब्धियाँ मिल सकीं अन्यथा आमतौर से आम लोग वासना, तृष्णा, अहंता की त्रिविध आग में जलते-झुलसते, नारकीय यातना यन्त्रणा सहते रहते हैं । इस सुर-दुर्लभ मानव जीवन को यों ही निरर्थक गँवा देते हैं ।

गुरुदेव के माता-पिता ने स्वयंभू मनु और शतरूपा की तरह तप-साधना की थी, ब्राह्मणोचित जीवन जिया था और भगवान से एक ही प्रार्थना की थी-वे एक ऐसा पौधा लगाना चाहते हैं, जो अपनी छाया और सुषमा से इस विश्व-उपवन की शोभा बढ़ाने में समर्थ हो सके । अपने लोभ-मोह के लिए नहीं, उन्हें विश्वमानव के चरणों में एक श्रद्धा-श्रद्धांजलि के रूप में किसी प्रकार प्रतीक की कामना थी । सो भगवान ने पूरी कर दी । एक संस्कारवान आत्मा जो जन्म-जन्मान्तरों से अपने कषाय-कल्मषों को धोने में संलग्न थी, लाकर उनकी गोदी में रख दी । कुलीन ब्राह्मण परिवार की उच्च परम्पराओं में लालन-पालन हुआ । खेल-कूद के दिन ही चल रहे थे कि एक दिन अनायास घर से निकल पड़े, भारी ढूँढ़-खोज हुई । गाँव से ५-६ मील दूर स्टेशन पर पकड़े गये । पूछा गया तो इतना ही कहा-"हमारा घर तो हिमालय है, वहीं जाना है, यहाँ रहकर क्या करेंगे ।" आठ वर्ष के बालक के मुँह से निकली हुई यह बात उन दिनों महत्त्वहीन समझी गयी थी, उसे धमकाया भी गया था । तब किसी को पता न था कि यह कोई हिमालय का बिछुड़ा प्राणी है, जो वहीं जाने की लौ लगाये हुए है और वहीं जाकर रहेगा ।

तीन देवता, तीन संरक्षक उन पर छाया करने लगे और सहायता देने लगे । माता के रूप में उन्हें-गायत्री माता का, कामधेनु का पयपान करते रहने का अवसर मिला, पिता के रूप में हिमालय, गुरु के रूप में एक ऐसे सिद्धपुरुष जिन्हें वे अतिमानव, देवसत्त्व और ब्रह्मप्रतीक मानते हैं । शब्दों में वे उन्हें 'मार्गदर्शक' कहते हैं, कभी मौज में आते हैं तो 'मास्टर' भी । यही है उनके तीन सहायक, संरक्षक, प्रेरक, अभिभावक । उन्हें वे अमृत, पारस और कल्पवृक्ष भी कहते हैं । गायत्री मन्त्र अमृत है, जिसे पाकर उनकी सत्ता अजर-अमर और देवतुल्य हो गई । हिमालय का पारस स्पर्श करके वे उतने ही ऊँचे उठ सके । हिमाच्छादित धवल शीतलता से भरा-पूरा उनका व्यक्तित्व

जिसने भी छुआ, अपनी जलन को शान्ति में परिणत करता चला गया । कल्पवृक्ष हैं-उनके मार्गदर्शक, जिन्होंने अपनी शताब्दियों की साधना-शक्ति का उपयोग करने की पूरी छूट दी हुई है । उस कल्पवृक्ष की छाया में बैठ सकने के कारण ही वे ऐसा और इतना अद्‌भुत कुछ प्राप्त करते हैं जिसे देख-सुनकर अवाक रह जाना पड़ता है । मोटे-तौर से जो व्यक्तित्व और कर्तव्य गुरुदेव का दीखता है वह उनका अपना नहीं है । वस्तुत: कर्तृत्व तीन दिव्य-सत्ताएँ इस कलेवर में आकर मिलती हैं और वह स्थल तीर्थराज जैसा पवित्र बन जाता है ।

इस जन्म में यह सौभाग्य सूर्योदय उस घड़ी हुआ, जब वे पन्द्रह वर्ष पूरे करके सोलहवें वर्ष में पदार्पण कर रहे थे । अपने उपासनागृह में एक दिव्य-प्रकाश उन्होंने प्रकाशवान देखा, जो बाहर से घनीभूत होता हुआ उनके शरीर, मन और अन्त:करण में समा गया । उसे आत्मबोध, अन्त:स्फुरणा, दिव्य-अनुग्रह, गुरु-दर्शन आन्तरिक या जो कुछ भी समझा जाए प्राप्त हुआ । यह प्रकाश ही उनका मार्गदर्शक है । भौतिक रूप से वह चिनगारी उस प्रदेश से सम्बन्धित है, जिसे गुरुदेव 'चेतना का ध्रुव प्रदेश' या हिमालय का हृदय कहते हैं । वह स्थूल भी है, सूक्ष्म भी । इस प्रकाश का स्थूल प्रतीक एक ऐसे सिद्धपुरुष का शरीर है, जो चिरकाल से नग्न, मौन, एकाकी, निराहार रहकर अपने अग्नि अस्तित्व को अधिकाधिक प्रखर, प्रचण्ड बनाते चले जा रहे हैं ।

उस महान मार्गदर्शक का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ अनुग्रह पहले ही दिन जो मिला, वह एक आदेश के रूप में था, जिसके अनुसार उन्हें गायत्री मन्त्र के माध्यम से चौबीस वर्ष तक तपश्चर्या करने को कहा गया था । भौतिक दृष्टि से इसे हानि माना जाना चाहिए, क्योंकि उसमें प्राय: सभी सुविधाओं और हँसी-खुशी की परिस्थितियों का अपहरण कर लिया गया था । सांसारिक दृष्टि से गुरु-कृपा, देव-कृपा वह है, जिससे धन, पद, वैभव, यश, स्वास्थ्य, परिवार आदि की वृद्धि हो । आमतौर से वरदान, आशीर्वाद यही माँगे भी जाते हैं । बड़प्पन ही लक्ष्य होता है, महानता की बात सोचता कौन है ? पर जिन्हें बारीकी से सोचना आता है, वे जीवन का लक्ष्य, स्वरूप, महत्त्व और उपयोग समझते हैं । इस सार्थकता के लिए जिस साधन की आवश्यकता पड़ती है वह है-'आत्मबल'। इसी के साथ गुण, कर्म, स्वभाव की अनेक उत्कृष्टताएँ जुड़ी रहती हैं और जब यह तत्त्व विकसित होता है तो अनायास ही ऐसी अलौकिकताएँ फूट पड़ती हैं, जिन्हें ऋद्धियों-सिद्धियों के नाम से पहचाना जाता है ।

मार्गदर्शक ने यही उचित समझा । जीव का कल्याण और विश्वहित इसी में देखा । वे तप-साधना का आदर्श ही नहीं, अटूट विश्वास और प्रचण्ड साहस भी देकर चले गये । परिवार, सम्बन्धी, शुभचिन्तक सभी ने उस नई प्रक्रिया को अभिशाप समझा, कोसा भी और रोका भी । जिसने सुना सनक, मूर्खता, बर्बादी आदि न जाने क्या-क्या कहा । ऐसा एक भी स्वजन-सम्बन्धी नहीं निकला, जो उस आरम्भिक कष्ट को सहनकर किसान के कृषि कार्य और विद्यार्थी के पठन-श्रम से तुलना करता और भावी परिणामों को सोचता । लोगों की दृष्टि बड़ी सीमित होती है वे सिर्फ आज की समझ, सोच तथा देख सकते हैं । उनमें इतनी समझ कहाँ जो कल की, पीछे की सम्भावना का आभास प्राप्त कर सकें ।

नारदजी ने ध्रुव, प्रह्लाद, वाल्मीकि पार्वती, सावित्री और सुकन्या को ऐसा ही उपदेश दिया था जो तत्काल उनके परिवार को, शुभचिन्तकों को बहुत बुरा लगा था । विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र को भी ऐसी ही विचित्र परिस्थितियों में धकेल दिया था । समर्थगुरु रामदास ने शिवाजी को जिस राह पर चलाया था, वह उनके घर वालों को तनिक पसन्द नहीं था । रामकृष्ण परमहंस द्वारा विवेकानन्द को जो सलाह दी गई, सो उनके घर वालों को बुरी लगी । गुरु गोविन्द सिंह ने अपने शिष्यों को कौन-सी जागीरें दी थीं, उन्हें लड़ने-मरने के त्रास ही दिये थे । भर्तृहरि ने अपने भानजे गोपीचन्द को वैरागी बना दिया और मदालसा ने अपने पुत्रों को तत्त्वज्ञानी बनने की शिक्षा दी । बुद्ध का अनुग्रह अम्बपाली, अशोक, राहुल, और आनन्द पर बरसा तो वे ऐश्वर्य की ओर अभिवृद्धि तो दूर उलटे भिक्षुक ही बन गये । गाँधी ने नेहरू, पटेल, राजेन्द्रबाबू आदि को बन्दीगृह में डलवा दिया । दिव्य सत्ताओं का प्यार, अनुदान भी विचित्र होता है । साधारण लोग उसे लेने का साहस तब करें, जब उसका मूल्य महत्त्व समझने में समर्थ हों ।

बड़प्पन और महानता एक-दूसरे से लगभग सर्वथा प्रतिकूल हैं । एक को खोकर ही दूसरे को पाया जा सकता है । सो सद्‌गुरु के मार्गदर्शन ने उन्हें विवेक दिया, विश्वास दिया और साहस दिया । इन तीन अवलम्बनों को पाकर वे अपनी राह पर चल पड़े । कौन क्या कहता है ? यह उन्होंने सुना ही नहीं । महानता की राह पर पैंतालीस वर्ष तक उँगली पकड़ कर छोटे बच्चे को चलाते आ रहे उनके मार्गदर्शक की कृपा को सराहा जाए या शिष्य की समर्पण भरी निष्ठा को ।

गुरुदेव ने अपना तप, आत्मबल शिष्य पर उँड़ेल दिया और शिष्य ने अपना आपा, अस्तित्व ही उन्हें समर्पित कर दिया । तन तो तुच्छ है । अपनी कोई इच्छा तक शेष नहीं रहने दी । जो मार्गदर्शक की इच्छा वही अपनी । तर्क-वितर्क की कोई गुंजाइश ही नहीं । कप्तान का अनुशासन मानने में सैनिक हिचक सकता है, पर वे तो कठपुतली मात्र रह गए, इशारे पर नाचे । पोली बंशी वही अलापती है, जो बजाने वाला तान-स्वर छेड़ता है । इस समर्पण ने उन्हें अपने मास्टर का सब कुछ प्राप्त कर सकने का अधिकार दे दिया, इसे आध्यात्मिक विवाह कह सकते हैं । सुना है जल में कृष्ण ने स्नान करती हुई गोपियों के चीर हरण किए । गुरुदेव के साथ भी यही बीती है । उनके मास्टर ने उन्हें सच्चे अर्थों में नग्न-निर्वस्त्र कर दिया ।

अपना कहलाने जैसा उनके पास कोई पदार्थ तो क्या शरीर भी नहीं, मन भी नहीं, भावना भी नहीं, कामना भी नहीं । कुछ भी नहीं । इस अवधूत स्थिति में उन्हें वह मिला है जिसे अहंता से सँजोये रहने वाला हजार जन्म में भी प्राप्त न कर सकेगा ।

दूसरा देवता है उनका हिमालय । यह ही है उनका पिता । देखने भर से वह निर्जीव, जड़ मालूम पड़ता है । वस्तुतः उसकी चेतना और प्रेरणा अद्भुत है । सन् ५२ के अज्ञातवास से लौटने पर गुरुदेव ने अखण्ड-ज्योति में विस्तारपूर्वक इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया था कि पृथ्वी की भौतिक शक्तियों का शक्तिकेन्द्र ध्रुवप्रदेश में सन्निहित है । ब्रह्माण्ड से सूर्य की शक्तियाँ पृथ्वी में ध्रुवप्रदेश के माध्यम से आती हैं । ठीक उसी प्रकार दिव्य-लोकों की चेतना-शक्तियाँ पृथ्वी पर यहीं अवतरित होती हैं, जहाँ हिमालय का हृदय अवस्थित है यहीं से सर्वत्र बिखर जाती है । वे उसे चेतना का ध्रुव केन्द्र कहते हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से धरती का स्वर्ग उसी प्रदेश में सिद्ध होता है, जिसे बद्रीनाथ और गंगाजी का मध्यवर्ती अधिक ऊँचाई का तिब्बत का समीपवर्ती भाग कहना चाहिए । देवताओं का निवास स्थान सुमेरु पर्वत यही है । पाण्डव स्वर्गारोहण के लिए यहीं गये थे । असली कैलाश, मानसरोवर वे नहीं जो तिब्बत (चीन) में चले गये, वरन् वे हैं जो गंगा के उद्‌गम गोमुख से आगे शिवलिंग पर्वत और दुग्ध-सरोवर के नाम से जाने जाते हैं । फूलों से लदा हुआ नन्दन वन यहीं है । देवता यहीं रहते हों तो आश्चर्य नहीं । ध्रुवप्रदेश में अगणित आश्चर्य दीख पड़ते हैं । इस हिमालय के हृदय में न केवल परिस्थितियाँ, वरन् ऐसी शक्तियाँ और आत्माएँ भी विद्यमान हैं, जो सम्पर्क में आने वाले को आत्मिक अलौकिकता का भरपूर आभास करा सकें । गुरुदेव के मार्गदर्शक का उन जैसे अन्य सूक्ष्म सत्ता सम्पन्न देवदूतों का भी क्रीड़ाकेन्द्र यही है ।

इस शक्तिकेन्द्र तक पहुँच जाना और वहाँ ठहर सकना ध्रुवप्रदेशों से भी अधिक कठिन है । कभी न गलने वाली बर्फ और ऊँचाई में ऑक्सीजन की कमी, रास्ते का न होना, निर्वाह की सभी आवश्यकताओं का पूर्णतः अभाव यह सब अवरोध तो वहाँ जाने से रोकते ही हैं । चेतन दिव्य शक्तियों की तीखी ब्रह्माण्ड किरणें जो धरती पर फैलने के लिए बरसती हैं, वे भी सामान्य शरीर के लिए सहन नहीं । इसलिए वह प्रदेश न केवल प्रकृति ने आवागमन के लिए निषिद्ध ठहराया है वरन् दिव्य सत्ताओं ने क्रीड़ास्थली के रूप में सुरक्षित रखा है । सामान्य शरीर लेकर न वहाँ जाया जा सकता है और न ठहरा जा सकता है ।

इससे नीचे का उत्तराखण्ड के नाम से प्रसिद्ध यातायात सम्भावनाओं वाला सुलभ हिमालय प्रदेश भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । अपनी तप-साधना का केन्द्रबिन्दु गुरुदेव ने हिमालय को ही बनाया हुआ है । वह उनका आध्यात्मिक पिता है । चौबीस पुरश्चरणों के बीच भी वे समय-समय पर वहाँ जाते रहे हैं । जो भी, जरा भी दुर्बलता, उद्विग्नता अनुभव हुई कि वे सीधे हिमालय भागे । यह क्रम उनका अब का नहीं, पुराना है । सन् ५८ का अज्ञातवास तो प्रसिद्ध है । उसे वे तपोभूमि के कार्यकर्त्ताओं की तथा संगठन-परिवार की परीक्षा का अवसर बताकर चले गये थे वैसे वे कितनी ही बार कई-कई महीनों के लिए उधर जाते रहे हैं और नई सामर्थ्य, स्फूर्ति लेकर लौटते रहे हैं । वे उत्तराखण्ड के उस क्षेत्र में अभी भी आत्म-साधना के लिए उपयुक्त वातावरण मानते हैं । मोटरों की भरमार और सैलानी तीर्थयात्रियों की भीड़भाड़ के वातावरण में दूषित तत्त्व घुसे हैं । भीड़ के साथ चलने वाली धूर्तमण्डली ने भी धर्म की आड़ में तथा चोर-उचक्कों के रूप में स्थिति को काफी बिगाड़ा है । इतने पर भी वह प्रदेश इतनी विशेषताएँ बनाये हुए है जितनी अन्यत्र देखने, सुनने को भी नहीं मिल सकती । चोरी, उठाईगीरी अभी भी उधर नहीं के बराबर है । आमतौर से लोग सूना घर, बिना ताला लगाये छोड़ जाते हैं । कुली गरीब होते हुए भी किसी का माल नहीं हड़पते । सुन्दरता और गरीबी बहुत बढ़ी-चढ़ी होने पर भी व्यभिचार नहीं है । कठोर परिश्रम, सन्तोष और सज्जनता का ऐसा समन्वय अन्यत्र मिलना कठिन है । यह इस भूमि की, इस वातावरण की विशेषता है, जो यहाँ के निवासियों में इस गये-गुजरे जमाने में भी विद्यमान है ।

सप्तऋषियों की, अगणित तपस्वियों की तपोभूमि यह हिमालय ही है । व्यास जी ने अठारह पुराण, शंकाराचार्य जी ने उपनिषद् यहीं लिखे । समस्त आर्ष साहित्य यहीं सृजा गया है । महान गुरुकुल-चिकित्सा केन्द्र और शोध-संस्थान यहीं थे । भारत की आध्यात्मिक परम्पराओं का सूत्र संचालन यहीं से हुआ है । शिव-पार्वती का, देव-सेना का निवास यहीं है, यह प्राचीन मान्यता है । पुराणों के अनुसार राम, लक्ष्मण, भरत-शत्रुघ्न जीवन के उत्तरार्द्ध में यहीं आकर तपनिमग्न हो गये । श्रीकृष्ण जी रुक्मिणी सहित बारह वर्ष के लिए बद्रीनाथ स्थान पर तप करने आये थे । आध्यात्मिक और ऐतिहासिक स्तर पर उस भूमि की अपनी महत्ता है । अन्यत्र जो साधन देर में सफल होते हैं, इस उर्वर भूमि में जल्दी उगते और फलते-फूलते हैं ।

हिमालय के हृदय से सूक्ष्म सम्बन्ध गुरुदेव का बना हुआ और स्थूलशरीर से उन्होंने उत्तराखण्ड में अपने साधनाकाल का बहुत-सा भाग लगाया है । अपने पूर्व जन्मों में अनेक स्थानों के साथ इस क्षेत्र में उनकी मधुर स्मृतियाँ सँजोई हुई बताते हैं । सो यहाँ उन्हें अपना चिर-परिचित घर ही लगता है । जो रास्ते, घाटियाँ, परिस्थितियाँ स्थानीय लोगों तक को मालूम नहीं, उन्हें वे बता देते हैं । आठ वर्ष की आयु में घर से भागकर हिमालय जाने की हूक सम्भवतः इसीलिए उठी हो ।

जीवन के इस अन्तिम भाग में उनकी योजना इसी क्षेत्र में शक्ति-सम्पादन की है । इसी से उन्होंने हरिद्वार को मध्यवर्ती केन्द्र बनाया है । तप में उनकी असाधारण रुचि है । गंगा और हिमालय के अंचल में वैसा ही सुख पाते

हैं-जैसे कोई छोटा बालक माता-पिता की गोद में दुलार, संतोष पाता है; गुरुदेव का निर्धारित कार्य भी उन्हें जीवन भर करना ही है । मात्र धूमधाम में लगे रहकर तप से विमुख होकर, शक्तिरिक्त भी नहीं होना चाहिए । इसलिए जिस स्थान से दोनों प्रयोजन पूरे करते रह सकें, वह केन्द्र शान्तिकुंज, सप्तसरोवर है । सप्तऋषियों की तपस्थली गंगा की सात धाराओं का क्रीड़ास्थल मध्यकेन्द्र के रूप में बनाने का उनका चुनाव दूरदर्शितापूर्ण है । यहाँ से वे दोनों ही दिशाएँ सँभालते रहेंगे ।

अभी उनके प्राय: सभी काम अधूरे पड़े हैं । नव-निर्माण के लिए जो वातावरण बनाया जाना चाहिए, उसमें गर्मी लाने के लिए निस्सन्देह प्रचण्ड आत्मबल और ज्वलन्त तप:-शक्ति की आवश्यकता है, सो वे अपनी साधनाओं से मार्गदर्शक के सहयोग से पूरी करते रहेंगे । अदृश्य रूप से तो अनेक सिद्धपुरुष और देवदूत ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति में संलग्न हैं । गुरुदेव को तो स्थूल एवं प्रत्यक्ष क्रिया-कलाप के लिए ही वरण किया गया था । सो उन्हें उससे छुटकारा नहीं मिल सकता । वे कब लौटेंगे यह दूसरी बात है, पर उनका क्रिया-कलाप उभयपक्षी ही रहेगा । अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए अधिक समय, अधिक कहीं जाया करें यह हो सकता है, पर जब जनसम्पर्क को सर्वथा तोड़ देना न उनके मार्गदर्शक को अभीष्ट है और न परिस्थितियाँ ही वैसा करने देंगी, अस्तु उन्हें हरिद्वार का मध्यकेन्द्र विनिर्मित करना पड़ा, जिससे दोनों दिशाओं में अपनी गतिविधियाँ सक्रिय रख सकें ।

साधारणतया उनका हिमालय प्रवास कष्ट और कठिनाइयों से ही भरा होता है । आहार की अव्यवस्था, असह्य शीत, एकाकी निर्वाह, हिंसक जीवों की भरमार, मनोरंजन की शून्यता जैसी कितनी ही कठिनाइयाँ हैं । कपड़े धोना, हजामत जैसे छोटे साधन भी दुर्लभ होते हैं । हिमालय पिता उन्हें कठिनाई ही देता है । इस सुनसान नीरवता में भौतिक दृष्टि से आकर्षण ही क्या है ? मार्गदर्शक गुरु की तरह लगता है यह पिता भी कम निष्ठुर नहीं । दुनिया की आँखें यही कह सकती हैं और गुरुदेव को दयनीय स्थिति में पड़ा हुआ, फँसा हुआ मान सकती हैं, पर जिन्हें दिव्य नेत्र वाली दिव्य दृष्टि प्राप्त है वे देखें कि इस दिव्य-भण्डार में से वे कितनी सम्पदा लादकर लाते हैं । जब भी वापस आये हैं, उनकी जेबें बहुमूल्य उपलब्धियों से भरपूर ही निकली हैं ।

तीसरा उनका अभिभावक है गायत्री मंत्र । इसे वे अपनी माँ कहते हैं । श्रुतियों ने उसे वेदमाता कहा है । पुराण उसे कामधेनु कहते हैं । तंत्र में उसे महाकाली, कुण्डलिनी, शक्ति, ज्वाला आदि नामों से विवेचन किया है और अग्नि विद्या के नाम से उसके अवतरण की प्रक्रिया समझी है । ब्रह्मवेत्ता उसे ब्रह्मविद्या, भूमा, ऋतम्भरा आदि कहते हैं । जो भी कहा जाए कम है । वस्तुत: उसकी गरिमा और महत्ता इतनी अधिक है कि मनुष्य की वाणी तो क्या कल्पना भी उसके समान स्वरूप तक नहीं पहुँच सकती । इस महाशक्ति की प्रचण्ड गरिमा को मनुष्य अपने भाव चुम्बक से आकर्षित कर सकता है और अपनी पात्रता के अनुरूप उसी दिव्यसत्ता का अभीष्ट अंश अपने में धारण कर सकता है । गायत्री वह अग्नि है, जिससे मनुष्य के समस्त कषाय-कल्मष जल सकते हैं और वह शुद्ध स्वर्ण की तरह अपना गौरव एवं वर्चस प्रतिपादन करने में भी समर्थ हो सकता है ।

लोग उपासना का एक अंश ही सीखे हैं-कर्मकाण्ड । जप, हवन, स्तवन, पूजन आदि शरीर एवं पदार्थों से सम्पन्न हो सकने वाली विधि-व्यवस्था तो कर लेते हैं, पर उस साधना को प्राणवान, सजीव बनाने वाली भावना के समन्वय की बात सोचते तक नहीं । सोचें तो तब, जब भावना नाम की कोई चीज उनके पास हो । बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है और कामना-भावना को, कामनाओं की नदी में आमतौर से लोगों की भाव-कोमलता जल-भुनकर खाक होती रहती है । तथ्य यह है कि भावना पर, श्रद्धा विश्वास पर, आन्तरिक उत्कृष्टता, पर ही अध्यात्म की, साधना की और सिद्धियों की आधारशिला रखी हुई है । यह मूलतत्त्व ही न रहे तो साधनात्मक कर्मकाण्ड, मात्र धार्मिक क्रिया-कलाप बनकर रह जाते हैं, उनका थोड़ा-सा मनोवैज्ञानिक प्रभाव ही उत्पन्न होता है । साधना के चमत्कार श्रद्धा पर अवलम्बित हैं । मीरा, सूर, कबीर, तुलसी, नरसी आदि भक्त, सन्तों की, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, बुद्ध, अरविन्द, रमण, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि सन्तों की ऋषियों और तत्त्व-ज्ञानियों की जो साधन, सफलता देखी सुनी जाती है, उसमें उनकी भाव-गम्भीरता ही प्रधान कारण थी ।

गुरुदेव की गायत्री उपासना असामान्य है । वे मात्र जप, ध्यान ही नहीं करते, पूजा-पाठ का कर्मकाण्ड सम्पन्न करके ही सन्तुष्ट नहीं होते, वरन् उसके साथ अपने अन्त:करण की समस्त कोमलता को माता के चरणों पर उँडेलकर रख देते हैं । कोई समीप से उनके उपासनाक्रम को देखे तो पाये कि मीरा की, रामकृष्ण परमहंस की विह्वलता भरी श्रद्धा उनके रोम-रोम से फूटी पड़ी रही है, आँखें प्राय: डबडबाई रहती हैं । अखण्ड दीपक के प्रकाश में उनका चेहरा तपे हुए सोने की तरह रक्तवर्ण दीखता है । लगता है सविता देवता का भर्ग स्वर्ग से धरती पर उतरता चला आ रहा है ।

भौतिक नेत्रों से देखा जाए तो गायत्री माता ने भी उन्हें क्या दिया ? बालकपन और युवावस्था हँसने, खेलने में बिताने वाले भाग्यवान माने जाते हैं, वह समय उन्होंने कैदियों से भी बुरी तरह बिताया । स्वाद क्या होता है जाना ही नहीं । पाँच छटाँक जौ का आटा, सवासेर छाछ बस न नमक, न मसाला, न शक्कर, न शाक, न पकवान, न मिठाई भला यह भी कोई जिन्दगी है । शरीर को, मन को भौतिक इच्छाओं, आवश्यकताओं को कसने, मारने में कितना कष्ट और क्षोभ होता है-इसे वही जान सकता है जिसने तितिक्षा की, शम-दम की कठोर साधना की हो, वह व्रत, उपवास, शीत, धूप सहने की साधना से हजार

गुनी कठिन है । यदि यही गायत्री देती है, तो फिर उससे लेने से क्या लाभ ?

पैतृक सम्पत्ति लाखों की थी । मेरे पास भी जेवर, स्त्री धन भी हजारों का था, उसका बढ़ना तो दूर उलटे जो कुछ था सब छिन गया और खाली हाथ असहाय, दरिद्रों जैसी स्थिति में रहना पड़ा, भला यह भी कोई सिद्धि हुई ?

दुनिया वाले आरम्भ में भी हँसते थे और उनकी कसौटी पर हम लोग अभी भी हँसी-उपहास के पात्र हैं । जहाँ तृष्णा, वासना और अहंता की पूर्ति ही लाभ-सौभाग्य- वरदान माना जाता हो, वहाँ गुरुदेव की ही तरह सच्चे अध्यात्मवादी को उपहासास्पद ही बनना पड़ेगा । यहाँ हर चीज मूल्य देकर खरीदी जाती है । बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए शार्टकट, सीधी पगडण्डी नहीं है । राजमार्ग पर चलकर ही जीवन-लक्ष्य की मंजिल पूरी करनी पड़ती है । भौतिक सम्पदाओं की कीमत पर ही आत्मिक विभूतियाँ खरीदी जाती हैं । एक को छोड़ने से ही दूसरे को पाया जाना सम्भव है । दोनों प्राप्त करने के लिए लालायित लोग तथ्य को समझते नहीं, मन्त्रों को जादू की तरह इस्तेमाल करना चाहते हैं और देवताओं को भी फूल-फलों के, रोली-चावल के प्रलोभन में फँसा-फुसलाकर उनकी जेब काटना चाहते हैं । इसे बाल-क्रीड़ा ही कहना चाहिए । बच्चों के बनाये हुए बालू के महल कहीं निवास-आवास का प्रयोजन पूरा करते हैं ? उथली मनोभूमि पर पूजा-पाठ की विडम्बनाओं में उलझे रहने वाले कहाँ सफल मनोरथ होते हैं ?

गुरुदेव के तीन समर्थ अभिभावक थे और उन्होंने तीनों की भरपूर सेवा करके उचित मूल्य पर तीनों से उपयुक्त वरदान पाये ।

हिमालय पिता ने उनका व्यक्तित्व विनिर्मित किया । गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता उसी की देन है । शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक सन्तुलन उन्हें पिता का दिया हुआ है । दृष्टिकोण में उत्कृष्टता, लक्ष्य की ऊँचाई, सर्वतोमुखी प्रतिभा, अविचल साहस और अटूट धैर्य जैसी दिव्य सम्पदाओं को लेकर ही वे ऊँचे उठे हैं और महा-मानव के स्तर तक पहुँचे हैं । यह उपलब्धियाँ उनके पिता हिमालय की दी हुई हैं । यदि ऊपर से यह अनुग्रह न मिला होता तो अपने बलबूते इतना उपार्जन करना तो दूर, इतनी सफलता मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था ।

दूसरा अनुदान उनके मार्गदर्शक का, मास्टर का है । सार्वजनिक जीवन में लोक-मंगल की दिशा में जो कुछ भी वे कर सके हैं, उसके पीछे काम करने वाली शक्ति एक प्रकार से उन्हें उधार अनुदान में मिलती है । साधनों की दृष्टि से उन्हें असमर्थ और असहाय ही कहना चाहिए, पैसे की दृष्टि से अपने हाथ खाली, माँगने में इतना संकोच जिससे किसी को आवश्यकता का पता भी न चले । भरपूर विज्ञापन न करने के कारण धनी लोगों की उपेक्षा आदि अनेक बाधक कार्यों के रहते हुए भी योजनाएँ धन के अभाव से रुकी नहीं । इसे उनके मार्गदर्शक की प्रत्यक्ष अनुकम्पा ही कहना चाहिए । बोलने में उन्हें रुकावट होती है, पर जब भाषण देने खड़े होते हैं, तो जिह्वा पर सरस्वती नाचती है और एक-एक शब्द सुनने वालों के मस्तिष्क और हृदय में जगह बनाता चला जाता है । नासमझ बच्चे भी शोरगुल बन्द करके इतनी तन्मयता से उनका भाषण सुनते हैं, मानो उनकी समझ का ही कोई आकर्षक, मनोरंजक प्रसंग चल रहा हो । लेखनी का जादू भरा सम्पादन रहता । वह मस्ती पैदा करती और उसमें स्फुरणा, जान होती है और उनका लिखा जिसने पढ़ा सो प्रभावित हुए बिना न रहा । छोटी विज्ञप्तियों से लेकर विशालकाय ग्रन्थों तक उन्होंने बहुत कुछ लिखा है । पत्रिकाओं में कलम दूसरों की भी चलती है, पर बिजली वे ही भरते हैं । इस लेखनी का ही चमत्कार, जिसने करोड़ों को उनके प्रवाह में बहने और साथ उड़ने के लिए विवश कर दिया । वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के नये प्रतिपादन ने वैसे तो संसार भर में हलचल पैदा कर दी है और नास्तिकता का मजबूत किला कपड़े के खेमे की तरह उखड़ने-खड़खड़ाने लगा है । संगठन की क्षमता, रचनात्मक कार्यक्रमों की योजना, भावी महाभारत की व्यूह-रचना जिस दूरदर्शिता के साथ की जाती है और सफलता की प्रतिक्रिया तत्काल परिलक्षित होती है, उसके पीछे गुरुदेव की अपनी प्रतिभा नहीं, वरन् निश्चित रूप से उनके महान मार्गदर्शक का अनुदान मूल कारण है । इस तथ्य को दूसरे न जानते हों, न जानें श्रेय उन्हें ही देते हैं, दें-पर जो तथ्य उनके सम्पर्क में रहने के कारण विदित हैं, उन्हें देखते हुए यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं लगता कि उनके सार्वजनिक जीवन की, लोक-मंगल की, युग-निर्माण अभियान की जो कुछ भी सफलता दृष्टिगोचर होती है, उन्हें उनके मार्गदर्शक का अनुदान माना जाए । यह अनुदान उन्होंने कीमत चुका कर पाया है । पात्रता सिद्ध करने पर मिला है, इतनी प्रशंसा तो की भी जा सकती है, की भी जानी चाहिए ।

तीसरी संरक्षक है-उनकी माँ, जिसे वे छोटे बालक द्वारा शरीरधारी माँ से भी अधिक प्यार करते हैं । उसका पयपान करके ही उनका भावनात्मक शरीर परिपुष्ट होता है । ब्रह्मवर्चस, आत्मबल, ऋषितत्त्व जो कुछ भी दीख पड़ता है, वह उन्हें इस गायत्री माता से ही प्यार-उपहार में मिलता है । गाय जिस तरह अपने छोटे बछड़े को चाहती है, उसे अपना दूध पिलाते हुए सन्तोष अनुभव करती है, वही स्थिति उनके और उनकी दिव्य सत्ता के बीच बन गई है ।

धनी वे नहीं हैं, पर उनकी दिव्य सम्पदा का पारावार नहीं । वृक्ष अपने समीप आने वाले का छाया, सुगन्ध, फूल-फल से स्वागत करते हैं । सरोवर के समीप हर किसी को प्यास बुझाने का अवसर मिलता है, पुष्प-उद्यान में हर कोई सुगन्ध का लाभ लेता है । सूर्य से हर किसी को गर्मी व रोशनी मिलती है । चन्द्रमा की चाँदनी हर सम्पर्क में आने वाले पर बरसती है । समर्थ संत भी अपने निकट आने वाले किसी को खाली नहीं जाने देते ।

सार्वजनिक जीवन के साथ-साथ उनका जनसम्पर्क बढ़ा । यों यह लोक-मंगल और नवनिर्माण का ढाँचा

मार्गदर्शक के आदेशानुसार खड़ा किया गया था और सम्पर्क साधकर उसी प्रयोजन की पूर्ति करना लक्ष्य था, पर जो भी समीप आया, माता जैसी उदार अन्तरात्मा में पहले उसकी व्यक्तिगत व्यथा, चिन्ता और कठिनाई को समझने की कोशिश की और जितना अपनी सामर्थ्य में था, उतनी सहायता करने में कोई कंजूसी कभी भी नहीं की । किसी पर एहसान करने के लिए नहीं । चमत्कार दिखाकर आकर्षित करना और फिर उससे कुछ काम निकालने की बात कभी स्वप्न में भी नहीं सूझी । सहज करुणा और स्वाभाविक ममता ने दूसरों में अपनी ही आत्मा देखी और जिस प्रकार मनुष्य स्वयं दु:खी होता है, उसी प्रकार उनकी परदु:खकातरता ने, हर व्यक्ति की वेदना ने उन्हें रुलाया । आत्मीयता जितनी बढ़ी, उतनी परदु:खकातरता भी । सुखी तो इस दुनिया में केवल सन्त और सज्जन होते हैं । घिरी हुई भीड़ में तो भव-बन्धनों के जाल-जंजाल में फँसे हुए, छटपटाते और तड़पड़ाते रुदन-क्रन्दन करते हुए प्राणी ही हो सकते थे । सो उन्हें उपदेश देकर टाल देने से कैसे काम चलता । तात्कालिक सहायता की माँग तो न अनदेखी की जा सकती थी, न अनसुनी । सो उन्होंने कोटि-कोटि मनुष्यों को प्रकाश ही नहीं अनुदान भी दिए हैं । भले ही वे उस उपलब्धि से अपरिचित ही रहे हों ।

सम्बन्धित भौतिक कष्टपीड़ितों को उनकी सहायता निरन्तर मिली है । रोते हुए आने वाले हँसते हुए लौटे हैं । शारीरिक अस्वस्थता, आर्थिक कठिनाई, गृह-कलह, शत्रुओं का आक्रमण, मानसिक असन्तुलन, प्रगति में अवरोध, सन्तान-संकट जैसी कठिनाइयों में ही भौतिक जीवन उलझा रहता है । इन भारों को हल्का करने के लिए उन्होंने अपना सहयोग निरन्तर दिया है । कर्म-भोग अमिट है । भगवान राम के पिता दशरथ भी श्रवणकुमार को तीर मारने के कर्मफल से बिलख-बिलख कर मरे थे । भगवान कृष्ण को बहेलिए का तीर का निशाना बनकर अपने प्राण गँवाने पड़े थे, कर्मफल पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट नहीं हो सकता पर एक-दूसरे को सहायता देकर परस्पर बोझ और संकट को बाँटा जा सकता है । अपना कोट देकर दूसरों की शीत-व्यथा में सहायता हो सकती है । अपना पुण्य और तप भी दूसरों को दिया जा सकता है ।

यही पूँजी उनकी कमाई की थी, सो दोनों हाथों से लुटाने में ही उसकी सार्थकता समझते रहे । उनका तप और पुण्य उनके अपने लाभ के लिए, स्वर्ग-मुक्ति या सिद्धि के लिए एक रत्ती भर भी नहीं लगा । इस उपार्जन का शत-प्रतिशत भौतिक एवं आत्मिक सहायता करके दूसरों को सुखी और समुन्नत बनाने के लिए नियोजित होता रहा । सच तो यह है कि यह खर्च आमदनी से बहुत अधिक हो चुका है, रामकृष्ण परमहंस को गले का कैंसर इसलिए हुआ था कि उन्होंने तप से अधिक वरदान दिए । कर्मफल तो भोगना ही ठहरा । सो परमहंस जी को भी भुगतना पड़ा । हम लोगों की स्थिति भी ऐसी ही है । जीवन के अन्तिम दिनों में गुरुदेव को या मुझे ऐसी ही कष्ट-ग्रस्त स्थिति में मरना पड़े, तो किसी को कुछ भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए, वरन् नियतिक्रम की व्यवस्था ही समझना चाहिए ।

भौतिक अनुदान, कर्मफल से व्यथित, उन कष्ट-पीड़ितों को जिनकी आत्मा में प्रकाश और संस्कार के बीज मौजूद थे उन्हें खाद-पानी के रूप में दिए गए । इस प्रकार वे श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम बनते चले गये । जो और भी ऊँचे थे-पुष्प की तरह खिल रहे थे, उन्हें तोड़कर देवता के चरणों में चढ़ा देने का उपक्रम किया गया । पुण्य धन्य हो गये । सज्जन और संस्कारी आत्माओं को महामानव के रूप में विकसित करने के लिए इतने कम परिश्रम नहीं किए हैं, जिनमें आत्म-चेतना जाग गयी थी उन्हें त्याग और बलिदान के मार्ग पर चलने के लिए अपने साथ ही ले लिया । गायत्री तपोभूमि में वे ऐसे ही त्याग और बलिदान की हिम्मत करने वालों को अपना उत्तराधिकारी छोड़कर आये हैं । पारस लोहे को ही सोना बना पाता है । एक गुरुदेव हैं जो दूध और पानी के मिलन का उदाहरण प्रस्तुत करते चले जाते हैं, वे अपनी प्रतिकृतियाँ अपने पीछे छोड़ जाने के लिए क्या आतुर नहीं हैं ? ढूँढ़ते रहते हैं-जिसमें तनिक भी उपयुक्तता दिखाई देती है, उसी पर वैसे ही लद पड़ते हैं, जैसे-अनिच्छुक विवेकानन्द पर रामकृष्ण परमहंस लद पड़े थे और अन्ततः उसे महामानव बनाकर ही चैन लिया । अनुदानों की मात्रा भी कम नहीं है ।

यह भौतिक, मानसिक, आत्मिक अनुदान जो बादलों की तरह वे निरन्तर बरसाते रहते हैं, आखिर कहाँ से आते हैं ? यह अनुदान उनकी माता का, वेदमाता का है । ब्रह्मवर्चस, ऋषि तत्त्व की सारी सम्पदा उन्हें गायत्री के कोष से मिलती है ।

हिमालय पिता ने व्यक्तित्व, मार्ग दर्शक ने कर्तृत्व और गायत्री माता ने उन्हें ब्रह्मवर्चस दिया है । यह तीनों ही चीजें उन्होंने कष्ट सहकर ही नहीं खरीदी हैं, वरन् उस उपलब्धि का प्रयोग मात्र लोकमंगल के लिए करने की शर्त के साथ ही स्वीकार किया है । दूसरों की तरह यदि उन्होंने छुट-पुट कर्मकाण्डों की पूजा-पत्री करके लम्बी-चौड़ी सिद्धियों की आशा की होती तो उन्हें भी निराश ही रहना पड़ता और यदि प्राप्त वरदानों से अपना व्यक्तिगत लाभ साधा होता, सुख-सुविधा या स्वर्ग-मुक्ति की लालसा की होती तो भी वे वरदान अधिक ठहरे न होते, बाहर की तरह क्षणिक चमक दिखाकर ही ऐसे वरदान समाप्त ही होते देखे गये हैं ।

मातृवान, पितृवान, आचार्यवान बन कर गुरुदेव 'देवो भव' का श्रेय प्राप्त कर सके, इसे उनका साहस या सौभाग्य कुछ भी कहा जा सकता है ।

## अमानत, जो केवल दिव्य-प्रयोजनों के लिए मिली है

सन् ५९ के एक वर्ष वाले अज्ञातवास से जब गुरुदेव लौटे तो हम सब आश्चर्यचकित रह गये । उन दिनों हम लोगों का उनसे सीधा सम्पर्क भी था । आरम्भ के एक

महीने ही वे हिमालय के हृदय 'चेतना के ध्रुव प्रदेश' में रहे थे । इसके बाद गंगोत्री, उत्तरकाशी ही उनके साधना-केन्द्र रहे । गंगोत्री में वे केवल पत्तियों पर रहे । खाद्य प्रबन्ध न हो सकने अथवा जो भी कारण हों उन्हें पालक, बथुआ जैसी जंगली शाक-वनस्पतियों को उबालकर उसी पर निर्वाह करना पड़ा, आरम्भ में पतले दस्त होने लगे थे । पीछे वे पत्तियाँ जैसे-तैसे हजम होने लगी थीं ।

उत्तरकाशी में वे शकरकन्द, गाजर जैसे शाक लेते थे । सप्ताह में एक दिन खिचड़ी आदि । दूध गंगोत्री में तो था ही नहीं, पर उत्तरकाशी में एक पाव प्रतिदिन का प्रबन्ध हो सका । सो कई बार में वनस्पतियों की चाय के रूप में काम आ जाता । घी, मेवे, फल आदि वे यहाँ भी कहाँ लेते हैं, वहाँ तो इन चीजों को छुआ तक नहीं । ऐसी दशा में यही आशंका की जा रही थी कि वे लौटेंगे तो बहुत दुबले होंगे ।

आशंका के विपरीत उनका वजन १८ पौण्ड बढ़ा हुआ था । चेहरे पर लालिमा झलकने लगी थी और झुर्रियाँ आधी से ज्यादा मिट गयी थीं । लोकाचार किसी के अच्छे स्वास्थ्य पर आश्चर्य प्रकट करने का नहीं है, सो आरम्भ में कुछ भी नहीं कहा गया, पर अवसर पाकर मैंने एक दिन इस सुधार का कारण पूछ ही लिया ।

उन्होंने उत्तर दिया ''मात्र आहार पर ही शारीरिक स्वास्थ्य निर्भर नहीं रहता । जलवायु, मन:स्थिति और संयम-नियम पर भी बहुत हद तक अवलम्बित है । हिमालय का शीतप्रधान वातावरण निरन्तर गंगाजल का उपयोग, हर काम में समय की नियमित व्यवस्था, भूख से कम खाने से पाचन सही होना, चित्त का दिव्यचिन्तन में निरत रहना, मानसिक विक्षोभ और उद्वेग का अवसर न आना यह ऐसे आधार हैं, जिनका मूल्य पौष्टिक आहार से हजार गुना ज्यादा है । तपस्वी लोग सुविधा-साधनों का, आहार का अभाव रहने पर भी दीर्घजीवी, पुष्ट और सशक्त रहते हैं, उसका कारण उपर्युक्त है जिसका महत्त्व आमतौर से नहीं समझा जाता ।''

हिमालय पिता की गोदी में जब भी वे गये, अपने शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य में अद्भुत अभिवृद्धि करके ही वापस आये । सूनेपन की हानिकारक प्रक्रिया बताते हुए वे अक्सर अपने स्वतंत्रता संग्राम के जेल-जीवन की वह बात सुनाया करते, जिसमें उन्हें एक मास की काल-कोठरी भुगतनी पड़ी थी, एक मास के सूनेपन ने उनके शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक सन्तुलन को बुरी तरह बिगाड़ दिया था ।

इसके विपरीत एक बार सन् ६२ में तीन महीने के लिए वे हिमालय गये और सर्वथा एकाकी सघन वनप्रदेश में रहे तो आश्चर्यजनक मनोदशा लेकर आये । वे अत्यधिक प्रसन्न, प्रफुल्लित और सन्तुष्ट दिखाई देने लगे । आशंका उन दिनों भी यही थी कि कहीं जेल-जीवन की तरह यह तीन महीने भी उन्हें कष्टकारक सिद्ध न हों, पर उलटे जब आँखों में नई चमक देखी तो इस बार भी विचित्रता का कारण पूछना पड़ा ।

उन्होंने बताया हिमालय के दिव्य वातावरण में उनके शरीर को ही नहीं मन को भी एक दिव्य-स्फुरण मिलता है । इस बार एक नया प्रकाश मिला । पशु-पक्षी, छोटे जीव-जन्तु यहाँ तक कि वृक्ष और पौधों में भी आत्मा की चेतना की उपस्थिति प्रत्यक्ष परिलक्षित हुई । पुस्तकों में तो आत्मा के सर्वव्यापी होने की बात पढ़ते रहे थे, पर उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति इसी बार हुई । लगता रहा, मानो इस सघन वनप्रदेश में रहने वाले सभी जीवधारी मनुष्यों के समान ही हैं । बोलना और सोचना कम जानते हैं, उससे क्या ? अनेक तपस्वी भी तो मौन धारण किए रहते हैं और ध्यानावस्थित स्थिति में भी तो सोचना बन्द हो जाता है । इस क्षेत्र के निवासियों को मौनसाधक और ध्यानावस्थित समझा जाए तो क्या हर्ज है ? यह विचार मान्यता में बदला, निष्ठा बना, फिर प्राय: वैसी ही अनुभूति होने लगी ।

कितने ही शाकाहारी और मांसाहारी पशु वहाँ फिरा करते थे । पहले उनसे डर लगता था । अब नई दृष्टि से वे एक ही गाँव-मुहल्ले में रहने वाले साथी-सहचर से दीखने लगे । डरने की बात छूटी, विश्वास बढ़ा, परिचय के साथ ममत्व भी विकसित हुआ । जिनके निवास समीप थे, उनसे घनिष्टता बढ़ी । नाम रख लिए । यह देखा कि जिस आकृति वाले पशु को जो नाम दिया था वह उसने बिना सिखाए-पढ़ाए जान लिया । अवसर आवाज देकर बुलाने पर वही पशु समीप आ जाता, जिसका नाम लिया गया था । इस तरह छह सप्ताह व्यतीत होते-होते सारा पशु-परिवार मनुष्य जैसा घनिष्ट हो गया । वे आते घण्टों पास बैठे रहते, धूप सेंकते रहते, उन्हें खुजलाने, सहलाने, नहाने में सहयोग दिया तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया । हिंस्र पशु भी आने लगे । एक मादा रीछ तो बहुत ही हिल गई । वह अपने छोटे बच्चों को झोंपड़ी के पास छोड़कर आहार की तलाश में चली जाती । बच्चे अपने पास खेलते-उछलते रहते । पहले उस क्षेत्र में मांसाहारी पशु, शाकाहारियों को आये दिन मारते-खाते रहते थे, पर जितने दिन अपना रहना उधर हुआ एक भी ऐसी घटना नहीं हुई । लगा कि इन सबने हमारे साथ ही नहीं परस्पर भी कौटुम्बिकता और सद्भावनाओं को अपना लिया है ।

पक्षियों के प्रति भी यही दृष्टि विकसित हुई तो वे भी छोटे बच्चों की तरह वहाँ आस-पास फुदकने लगे । दूर रहने वालों ने अपने घोंसले पास की झाड़ियों में बना लिए । झोंपड़ी घोंसलों से भर गई । रात को उसमें दर्जनों पक्षी विश्राम करते । खरगोश, लोमड़ी जैसे छोटे जानवरों ने तो मानो इसे अपना घर ही मान लिया हो । रात को वे उसी में घुस पड़ते और शीत से बचने के लिए परस्पर ही सटकर बैठते ।

पशु-पक्षियों तक ही यह दृष्टि सीमित न रही, वरन् मेंढक, गिरगिट, गिलहरी, चींटी, झींगुर, तितली जैसे छोटे जीवों ने भी इस आत्मीयता के दृष्टिकोण को पहचाना और स्वीकार किया । वे पास बैठते और इर्द-गिर्द चक्कर लगाने में प्रसन्नता अनुभव करते ।

पीछे तो वृक्ष और झाड़ियाँ भी भाई-भतीजे जैसे लगने लगे । वे अपने स्थान पर से हट तो नहीं सकते थे, पर दीखते ऐसे थे, मानो हमारी सुरक्षा के प्रहरी तथा शुभचिन्तक के रूप में खड़े ड्यूटी दे रहे हैं । सद्भावना उनमें भी प्रतिध्वनित होती देखी । झरने के पास जब बैठते तो तरह-तरह की भावुकता भरी दिव्य संवेदनाएँ अनायास ही मन में से उठतीं और लगता मानो वे सन्त, तपस्वी, ब्रह्मज्ञानी की तरह अपनी मूकवाणी से हमें, अन्तःकरण को पुलकित करने की कवित्व जैसी संवेदनाएँ प्रदान कर रहे हैं । उन स्थानों से उठने को जी न करता ।

दृष्टिकोण के इस नये परिवर्तन से सारा वन्यप्रदेश सुनसान न रहकर कोलाहल भरा प्राणीसंकुल दीखने लगा । यह एक नया ही लोक था । मनुष्यों में पाई जाने वाली धूर्तता और दुष्टता का यहाँ नामो-निशान नहीं । सभी प्राणधारी वाणी और विचारों को मात्र निर्धारित कर्तव्य के लिए प्रयोग करते प्रतीत हुए । सूनेपन के कारण जो भय पहले लगा करता था, इस बार तनिक भी नहीं लगा, वरन् यह प्रतीत होता है-दुष्ट मनुष्य की तुलना में यह वन्यलोक कहीं अधिक शान्त, सात्त्विक एवं उत्कृष्ट है ।

यह गाथा पुरानी है कि बालक भरत सिंहनी के बच्चों को खिलाने के लिए पकड़ ले जाता था । शिवाजी ने सिंहनी का दूध दुहा था । सन्त ज्ञानेश्वर ने भैंसे से वेदमंत्र उच्चारण कराये थे । ऋषियों के आश्रमों में गाय और सिंह एक ही घाट पर पानी पीते थे । नई अनुभूति गुरुदेव की है कि यदि अपनी आत्मा में भय, शंका, अविश्वास, द्वेष, परायापन न हो, आत्मीयता की निष्ठा अतिप्रगाढ़ हो तो मनुष्य जैसे संवेदनशील प्राणी द्वारा अविकसित पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं में भी कौटुम्बिकता विकसित की जा सकती है ।

उन दिनों जब वे लौटे, मथुरा में भी यही कौतुक हजारों ने देखा । उनकी थाली में चिड़ियाँ, चुहियाँ, गिलहरियाँ भोजन साथ-साथ करतीं । जहाँ उन्होंने आवाज लगाई कि यह सारा जन्तुपरिवार एकत्रित हुआ, एक सज्जन साथ बैठे थे । छोटी चुहिया उन्हीं की थाली में घुस पड़ी । उन्होंने चुहिया को तो नहीं भगाया, पर रोटी हाथ में लेने के लिए ऊपर उठाई । चुहिया रोटी से लटक गई, पर रोटी नहीं छोड़ी । इतनी निर्भयता और आत्मीयता तो उन्होंने घरेलू प्राणियों में पैदा कर ली थी । वन में भी उन्हें वैसा ही कौटुम्बिक वातावरण जीव-जन्तुओं के साथ मिला, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है । आत्मीयता का उत्कृष्ट प्रवाह अपने साथ किसी को बहा ले चलने में समर्थ हो सकता, फिर भले ही वे पशु-पक्षी या कीट-पतंग ही क्यों न हों ।

यह हिमालय पिता का ही अनुदान था, जिसने ज्ञानचक्षु खोले और आत्मा के सर्वव्यापी होने का आभास कराया । इस आभास के कारण सर्वत्र आत्मीयता बिखरी और उसकी प्रतिक्रिया समस्त चेतन जगत की सद्भावना अपने प्रति बरसने लगी । इससे आन्तरिक आनन्द एवं सन्तोष असंख्य गुना बढ़ गया और साथ ही आत्मबल भी विकसित होता चला गया ।

यह आत्मीयता का विकास ही है, जिसने लाखों व्यक्तियों को मजबूत रस्सी के साथ जकड़कर उनके साथ बाँध दिया है । विद्वत्ता, प्रतिभा, भाषण, लेखन, संगठन, आन्दोलन, प्रतिपादन आदि बहुत छोटे आधार हैं । यह कला दूसरों को भी अच्छी तरह आती है, पर वे उतना सघन कुटुम्ब कहाँ बना पाते हैं ? उनकी कला भर आकर्षण का केन्द्र बनी रहती है । ऐसे व्यक्तित्व किसी को घनिष्ट आत्मीयता में बाँध लेने और किसी से कोई साहसपूर्ण कार्य करा सकने में समर्थ नहीं होते । गुरुदेव ने हिमालय के वातावरण में अन्तर्मुखी होकर प्रकृति के कण-कण में सन्निहित दिव्यता को पढ़ा, समझा और उसकी असली शिक्षा जिसने उन्हें मात्र विद्वान ही नहीं बना रहने दिया, वरन् तत्त्वदर्शी के स्तर तक पहुँचा दिया ।

हिमालय को वे जड़ नहीं चेतन मानते हैं । उमा-महेश से लेकर अन्य देवताओं की सघनता उस क्षेत्र में विद्यमान है, ऐसा वे अनुभव करते हैं । जब जब वे वहाँ जाते हैं कुछ ऐसे विचित्र अनुभव सुनाते हैं जिससे वहाँ देवसत्ता की प्रत्यक्ष उपस्थिति पर विश्वास करना पड़ता है ।

एक बार कुछ जड़ी-बूटियों की खोज में रास्ता भटक गये और अपने स्थान से बहुत दूर सम्भवतः २० मील आगे निकल गये । रात हो गई । हिंस्र पशुओं की आवाज गूँजने लगी । ऐसे समय में एक मनुष्य जैसा शरीर उन्हें हाथ पकड़कर आधे घण्टे में ही यथास्थान पहुँचा गया । एक बार वर्षा के पानी से उनका निवास सब ओर से घिर गया । खाद्य पदार्थ समाप्त । इसी समय एक मनुष्य का दीखना और हाथ के इशारे से जमीन खोदने का इशारा करना । खोदा जाना और वहाँ से बीस सेर भारी एक ऐसे मीठे और स्वादिष्ट कन्द का निकलना जिस पर कई सप्ताह भली-प्रकार निर्वाह किया जा सके । हिंस्र जन्तुओं से आये दिन मुकाबला होते रहना, पर कुछ दुर्घटना न घटना । एक बार किसी विपत्तिग्रस्त को सारे पैसे दे दिए । पास में कुछ भी न रहा । दूसरे दिन सिरहाने कामचलाऊ धन मिल जाना, उस क्षेत्र में निवास करने वाली दिव्य आत्माओं का आभास और उनसे भेंट करने का सुयोग आदि एक से एक बढ़कर ऐसे अद्भुत अनुभवों की शृंखला उस हिमप्रदेश की है, जिसे सुनते जादू-तिलिस्म जैसी कथा-प्रसंग का रस आता है, पर उसमें अत्युक्ति की बात तनिक भी नहीं, उनका उच्च व्यक्तित्व कौतूहलवर्धक गाथाएँ गढ़कर किसी को भ्रमित करने की चेष्टा करेगा, यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती । फिर भी वे प्रसंग उन्होंने किसी को बताए भी तो नहीं । वे सिर्फ उन्हें ही विदित थे, जिनमें से कुछ की एक हल्की-सी झाँकी इसलिए प्रस्तुत करनी पड़ी कि हिमालय की दिव्यता को समझा जा सके और उस खदान से बहुमूल्य रत्नों को उत्खनन करने का अन्य आत्म-विद्या प्रेमियों को भी लाभ मिल सके ।

इन दिनों वे फिर इसी क्षेत्र में हैं । लगता है वे भविष्य में भी वहीं से निरन्तर दिव्य उपलब्धियाँ प्राप्त करने और सर्वसाधारण तक पहुँचाने का कार्य करेंगे । प्रतिबन्धित अवधि तो वसंतपर्व तक की थी । इसके बाद उनका उभयपक्षीय कार्यक्रम कब से चलेगा यह तो कहा नहीं जा सकता, पर भावी क्रम यही है-बादलों की तरह समुद्र से पानी लाना और खेतों पर बरसाना । हरिद्वार का मध्य केन्द्र उनके इस ध्येय को पूरा करते रहने के लिए ही तो बना है । वे हर वसन्त पर बहुत कुछ प्राप्त करते रहे हैं और आगे के लिए अधिक दुस्साहसपूर्ण कदम बढ़ाते रहे हैं । उनका यह वसन्त पिछले ४२ वसन्तों से अधिक महत्त्वपूर्ण होगा । ऐसी आशा हम लोग सहज ही कर सकते हैं । उन्हें अपने पिता पर, हिमालय पर कितना गर्व, कितना विश्वास और कितना अवलम्बन है, इसे समझने पर ही उनकी पितृ-भक्ति का, हिमालय-प्रीति का अनुमान लगा सकना सम्भव हो सकता है ।

गुरुदेव के व्यक्तित्व में जो कुछ शालीनता, उत्कृष्टता, गम्भीरता, शीतलता, पवित्रता, दृढ़ता दीख पड़ती है; उसे हिमालय पिता का अनुदान ही माना जाना चाहिए । उनकी सार्वभौमिक क्षमता उनके गुरुदेव का वरदान है । वे जन्मजात विद्वान नहीं हैं । आर्षग्रन्थों में सुलभता का उनका कार्य अद्भुत है । इसीलिए उसका लेखा-जोखा लेने वाले उन्हें दूसरा व्यास कहते हैं । अन्य उनके छोटे-बड़े कितने ही ग्रन्थ हैं । वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के प्रतिपादन को देखते हुए लोग उन्हें ज्ञान-विज्ञान का मूर्तिमान कोश कह उठते हैं और कार्लमार्क्स के अध्यवसाय से उनके श्रम की तुलना करते हैं, पर उनकी निकटवर्तिनी होने के नाते मैं जानती हूँ कि यह सब विशुद्ध उधार का अनुदान है, जो इनके मार्गदर्शक द्वारा ऐसे ही लिखाया जाता है जैसे पौराणिक कथा के अनुसार व्यास बोलते गये थे और महाभारत को गणेशजी लिखते गये थे । जब हम लोग अकेले में होते हैं और साहित्य सृजन की चर्चा चल पड़ती है तो वे मजाक में यही कहते हैं, पुरानी शैली में हम बिना सूँड़ के गणेश और नई शैली में स्टेनोटाइपिस्ट भर हैं ।

सार्वजनिक जीवन में उनको जितनी भी अद्भुत सफलताएँ हैं वे लगती ऐसी हैं, मानो घोर परिश्रम से उन्होंने की हों, पर सच तो यह है कि उन्हें वे चुपचाप धरोहर की तरह मिली हैं । नव-निर्माण आन्दोलन का विस्तार आँधी-तूफान की तरह होता चला जा रहा है । पर्दे के पीछे उसे कौन चला रहा है, उसका पता सर्वसाधारण को कहाँ है ? यदि मार्गदर्शक के दिव्य अनुदान बन्द हो जाएँ, तो उनकी स्वतन्त्र प्रतिभा नगण्य-सी ही सिद्ध होगी ।

मनुष्य के त्रिविध कलेवर और पंचविधि आवरण सब कुछ बीज रूप में विद्यमान है । स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर के त्रिविध कलेवर तीनों लोक कहलाते हैं और इनमें आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक सम्पदाओं के रत्न-भण्डार छिपे बताए जाते हैं । इनमें अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश पाँचों प्रधान देवताओं का निवास देखा गया है । षट्चक्रों में विश्वव्यापी महान शक्तियों का सम्बन्ध-सूत्र जुड़ा बताया जाता है । कुण्डलिनी को अग्नि और सहस्रार को सोम कहा गया है । अग्नि में परा, अपरा प्रकृति की द्विविध जड़-चेतन शक्तियाँ ओत-प्रोत हैं । कुण्डलिनी उसी महाअग्नि का प्रतीक है । ब्रह्मरन्ध्र से सहस्रार कमल को विष्णु का क्षीरसागर, शिव का कैलाश और ब्रह्मा का ब्रह्मलोक बताया जाता है । सोम का निर्झर अमृत का कलश यही है । तीसरा लोक आज्ञाचक्र, दिव्यदृष्टि सम्पन्न है । आदि रहस्यों का वर्णन योगसाधना के अन्तर्गत आता है और कहा गया है कि मानवीसत्ता अद्भुत एवं अलौकिक है । साधना-तपश्चर्या से उस बीज रूप में विद्यमान दिव्यसत्ता का उत्थान होता है । गुरुदेव की गायत्री साधना से उनका समग्र अंतःक्षेत्र इस प्रकार जाग्रत हो चुका है कि जो कुछ भी मानवी पिण्ड में विद्यमान होगा वह उन्हें उपलब्ध होकर रहेगा ।

कष्टपीड़ितों और अभावग्रस्तों को उनका अनुदान सदा मिलता रहा है । यह सहायताएँ करते रह सकना उपासना की उपलब्धियों द्वारा ही सम्भव हो सका है । परिवार के अगणित सदस्य उनका हर सम्भव लाभ सदा उठाते रहेंगे । रोतों को हँसाने में उन्हें मजा आता है, उसे उनका सबसे बड़ा चाव, विनोद या व्यसन कहा जा सकता है । जिन्हें वे कुछ ऊँचा उठा देखते हैं, उनकी कामनाओं और तृष्णाओं को तृप्त नहीं, समाप्त करते हैं और उन्हें बड़प्पन से छुड़ाकर महानता में संलग्न करते हैं । उनके साथ भी तो यही बीता है । जिन्हें और भी ऊँचा समझते हैं, इन्हें और भी ऊँचा उपहार देते हैं-अहंता और तृष्णा छोड़े बिना ब्रह्मवर्चस मिलता नहीं, सो जिसे सबसे अधिक प्यार करते हैं उसकी तृष्णा-अहंता छीनकर अपने सदृश बनाने का जाल फैलाते हैं । पखेरू फँसते तो बिरले ही हैं पर आंतरिक निष्ठा और अभिलाषा रहती उनकी यही है । त्रिविध अनुदान देने से राजा कर्ण जैसी, वाजिश्रवा जैसी उनकी ललक जो निरन्तर बढ़ती दीखती है और जिससे असंख्य लोग आशाजनक लाभ उठाते हैं, वह गायत्री माता का ही अनुदान है । उनकी उछल-कूद उसी उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पदा के बलबूते पर चलती रहती है । मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का स्वप्न उन्होंने उसी आधार पर देखा है कि स्वर्ग की ज्ञानगंगा को धरती पर लाने के प्रयास में वे भगीरथ की तरह जूझते रहेंगे और गायत्री माता की दिव्यसत्ता उन्हें मुक्तहस्त से सहायता प्रदान करेगी ।

गुरुदेव को तीन अभिभावकों के तीन अनुदान उपलब्ध होते रहे हैं । हिमालय पिता से प्रखर, पवित्र व्यक्तित्व । मार्गदर्शक गुरु से लोकमंगल के लिए अभीष्ट सामर्थ्य । गायत्री माता से तत्त्वयुक्त ब्रह्मवर्चस । यह तीनों ही उनकी उधार ली हुई अनुदान में प्राप्त विभूतियाँ हैं । वे इस शर्त

पर मिली हैं कि उनका एक कण भी अपने लोभ-मोह के लिए स्वल्प साधन के लिए खर्च न किया जाए, सो उन्होंने इस प्रबन्ध का सदा पूरा ध्यान रखा है । हम दोनों में से कोई अस्वस्थ हो जाता है तो दवादारू का ही सहारा लेते हैं । दूसरों को दी जाने वाली दिव्य सहायता में से एक का भी अपने लिए प्रयोग नहीं करते, जिन्हें वे अपना अतिघनिष्ट मानते हैं, उनके प्रति भी ऐसी ही कठोरता बरतते हैं । घनिष्ट आत्मीयता के साथ उनके दिव्य अनुदान ही जुड़े होते हैं, भौतिक आशीर्वाद नहीं । भौतिक आवश्यकताएँ प्राप्त कर ही ली हैं-इच्छा, आकांक्षाओं का उन्माद कबका हवा में उड़ गया । यदि कहीं कुछ रह भी गया हो तो भी अपने निजी पुरुषार्थ से पूरा करते हैं या फिर सहते हैं । उसमें इस अमानत का एक कण भी खर्च नहीं किया जाता, जो लोकमंगल के लिए धरोहर के रूप में ली गयी अथवा दी गयी है । स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि, विभूति, कामनाएँ सभी कुछ उनके लिए निरर्थक हैं । बार-बार लेना, बार-बार मरना और निरन्तर सर्वतोभावेन इस परमसत्ता के इशारों पर चलते रहना ही उनका लक्ष्य है, जिसने उन्हें दिव्य माता, दिव्य पिता और दिव्य गुरु की महान उपलब्धियाँ देकर अनाथ से सनाथ बनाया है । वे दूसरों से भी यही कहते रहते हैं-दिव्य अनुदान, दिव्य प्रयोजनों के लिए माँगे जाएँ तो उत्कृष्टता दिव्य सत्ता को द्रवित कर सकती है और सहायता के लिए वांछित भी ।

## गुरुदेव क्यों आये ? क्यों चले गये ?

फरवरी, १९७२ में गुरुदेव का आकस्मिक आगमन हुआ । वे शान्तिकुंज आये और थोड़े समय यहाँ रहकर चले गये । यों उन्होंने हरिद्वार का आश्रम विश्व की दीप्तिमान आत्माओं से सम्पर्क बनाये रहने, उन्हें बल और परामर्श देते रहने, विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए ही बनाया है । वे आरम्भ से ही घोषित करते रहे हैं कि जब उन्हें आवश्यकता अनुभव हुआ करेगी, तब जितने दिन आवश्यक होगा उतने दिन वे यहाँ ठहरा करेंगे और अन्य समय अपने भावीजीवन के साधन क्षेत्र में तत्पर रहा करेंगे, पर इस बार उनका आना आकस्मिक ही हुआ ।

वसन्त पर्व तक यहाँ न आने का उनका प्रतिबन्ध था, सो पूर्ण हो चुका था । इस बीच उन्होंने अपना अति महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर लिया था । बंगला देश के मुक्ति-संघर्ष के दाँव पर लगे हुए भारत के भविष्य के प्रति वे अतिसतर्क रहे और राष्ट्र के जीवन-मरण जैसे उस प्रश्न को हल करने के लिए दिव्य शक्तियाँ जो काम कर रही थीं, उसके प्रमुख पात्र के रूप में संलग्न रहे । वस्तुस्थिति ऐसी ही थी । जिसमें वसन्त पर्व से पूर्व उनका आना हो भी नहीं सकता था । फिर वह दिन उनके जीवन-लक्ष्य की मंजिल पर एक-एक कदम बढ़ते चलने का दिन भी रहा है । अपने सम्बन्ध में भावी कार्यक्रम निर्धारित करने से लेकर नव-निर्माण के अपने क्रिया-कलाप की दिशा निश्चित करने तक का शुभमुहूर्त था । ऐसी दशा में इससे पूर्व उनका आना कैसे हो सकता था ? उस पर्व पर वे परिजनों को झकझोरने के लिए कुछ विशेष प्रयास करने और सजग आत्माओं के साथ सम्पर्क बनाने में संलग्न रहे । यह सभी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण कार्य थे, जो उन्होंने यथासमय सम्पन्न कर लिए । इस समय उनके आने का प्रत्यक्ष कारण मेरी स्वास्थ्य था ! वह अकस्मात बिगड़ा । हृदय के कई अत्यन्त घातक दौरे आये । वे असामान्य थे । जहाँ तक कष्ट सहने का प्रश्न है, वहाँ तक सारा जीवन तितिक्षा के अभ्यास में लगा है । गुरुदेव की छाया में रहकर अधिक नहीं तो इतना तो सीखा ही है कि आगत आपत्तियों के समय धैर्य, साहस और विवेक को दृढ़तापूर्वक अपनाए रहना चाहिए । व्यथा को इस तरह दबाये रहना चाहिए कि समीपवर्ती किसी अन्य को उसका आभास न होने पाये । मल-मूत्र त्याग की क्रिया दूसरों को जुगुप्सा उत्पन्न करती है, इसलिए उसे छिपाकर किया जाता है । प्रजनन-प्रकरण भी गुप्त रखा जाता है । कारण यही है कि उसे देखकर दूसरों के मन में कुरुचि उत्पन्न होती है । कष्टों की प्रक्रिया भी ऐसी है । मानव-जीवन में सुखों के साथ दुःखों का भी युग्म है । सम्पत्ति ही नहीं विपत्ति भी भगवान मानव कल्याण के लिए ही भेजते हैं । माता दुलार भी करती है और चपत भी लगाती है । उसकी दोनों ही क्रियाएँ बालक के, मनुष्य के हित में होती हैं, यह तथ्य असंख्य बार समझा और हृदयंगम किया गया है । गुरुदेव के सम्पर्क में ऐसे ही पाठ पढ़ती रही हूँ कि रुदन को मुसकान में कैसे बदला जाना चाहिए । इस बार हृदय रोग के जो दौरे हुए, उन्हें चिकित्सकों ने एक स्वर से प्राणघातक ठहराया और उनसे बच निकलने पर आश्चर्य प्रकट किया ।

उस विपत्तिकाल में धैर्य, विवेक और साहस को दृढ़तापूर्वक अपनाये रहने का शक्ति भर प्रयत्न करने पर भी यही विदित हो रहा था कि अब शरीर और प्राण अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने जा रहे हैं । यों गुरुदेव की प्रत्यक्ष निकटता का अभाव भी कम कष्टकारक नहीं रहा है । वे जिस स्थिति में रहते हैं और मुझे जिस स्थिति में रहना पड़ता है, उसे राम-वनगमन के पश्चात् भरत की मनोवेदना से तौला जा सकता है । उनकी अप्रत्यक्ष समीपता को छीन सकना तो किसी भी, स्वयं उनकी सामर्थ्य में नहीं है, पर प्रत्यक्ष समीपता निरर्थक हो, सो बात भी नहीं । उसकी भी अपनी आवश्यकता और उपयोगिता है । वह छिन जाने से भीतर ही भीतर सूनेपन की धुन्ध छा गई है । वे किस कष्ट में रहते हैं और मैं किस सुविधा-साधनों के बीच रहती हूँ, यह असमानता की बात रुला देती है, लगता है कि अपना बहुत बड़ा वैभव कहीं चला गया है और उसका स्थान शून्य की स्तब्धता ने ले लिया है, पर हृदय रोग के दौरे के

समय यह बात भाव-चिन्तन तक सीमित न रहकर और आगे बढ़ गयी । लगा कि शरीर और प्राण ही अब विलग होने जा रहे हैं ।

ऐसे समय में एक ही इच्छा थी कि उनके प्रत्यक्ष दर्शन करते हुए ही नेत्र बन्द हों । समर्पित काया और आत्मा का उन्हीं के हाथों समापन हो और उसके बाद जो कुछ बच जाए सो उन्हीं में लीन हो जाए । उस विपत्ति की घड़ी में यह अनुरोध उन तक पहुँचाना पड़ा । यों अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं के लिए जीवन भर कभी उन पर रत्ती भर भी दबाव नहीं पड़ने दिया है । उनकी इच्छा और व्यवस्था में सहायक न सही, कम से कम बाधक कभी भी नहीं बनी हूँ । ऐसी दशा में उनकी तप-साधना में व्यतिरेक उत्पन्न करने जैसा रुचा जरा भी नहीं, पर विवशता ने यह करा लिया । लाचार होकर ही मैंने उन्हें पुकारा कि यदि सम्भव हो तो इस घड़ी में वे किसी प्रकार उपस्थित होने की कृपा करें । पत्नी के नाते नहीं, उनकी साधिका के नाते, अनन्य साधनारत-अकिंचन आराधिका की तरह ही यह इच्छा व्यक्त करने का साहस कर सकी ।

जैसे ही पुकार उन तक पहुँची, वे अविलम्ब शान्तिकुंज उपस्थित हो गये । शारीरिक कष्ट तो उनके आगमन के समय भी बहुत था, पर मानसिक कष्ट उनके सामने आते ही भावभरे आँसुओं के साथ बह गया । कुछ समय वे यहाँ ठहरे । उनकी करुणा और ममता के साथ बरसते हुए अमृतकण कितनों की आत्माओं को जीवन-दान देते हैं । मुझे तो उस काय-कष्ट से भी त्राण मिल गया । उनके आगमन के उपरान्त भी कुछ समय कष्ट रहा, पर यह क्रमशः हल्का होता चला गया और वह दिन आ गया कि वे अपना प्रयोजन पूरा करने के लिए पुनः वापस लौट गये ।

आहार-विहार का सन्तुलन रखने से आमतौर पर रोग नहीं होते, हम लोगों को भी उस तरह के काय-कष्टों में फँसने का अवसर नहीं आता । इस बार तो कुछ कारण ही दूसरा था । स्वामी रामकृष्ण परमहंस का अन्त गले के कैन्सर से हुआ । वह न तो उनके आहार-विहार का व्यतिक्रम था और न प्रारब्ध-भोग अथवा दैवीय प्रकोप । वे अपनी उपलब्ध तप-पूँजी को सीमा से अधिक खर्च भावावेश में करते रहे । भले ही वह जनकल्याण के लिए किया गया हो, पर प्रकृति की मर्यादा का व्यतिक्रम तो हुआ ही । आमदनी से अधिक खर्च करने वाले की जो दुर्दशा होती है, वह उनकी भी हुई ।

अपने सामने भी एकमात्र कारण वही था । पिछले दिनों परिवार के लिए जितना अनुदान आवश्यक था, वह दिया तो पूरा गया, पर उसका उपार्जन उतना न हो सका । अखण्ड दीपक पर कुमारी कन्याओं के माध्यम से शान्तिकुंज में जो अखण्ड गायत्री जप-२४ लक्ष के २४ महापुरश्चरणों के निमित्त चल रहा है, उसके अतिरिक्त अपनी उपासना थोड़ी-सी ही हो पाती है । अधिकांश समय तो पत्रिकाओं के सम्पादन, पत्रों के उत्तर तथा आगन्तुकों के स्वागत-सत्कार में ही निकल जाता है । गुरुदेव ने अपनी सारी शक्ति विश्व महत्त्व के कार्यों में पूरी तरह लगा रखी थी । विशाल परिवार की विविध आवश्यकताएँ पूरी करने का भार मेरे ऊपर आ पड़ा । शक्ति कम और बोझ अधिक पड़ने से अपना ढाँचा चरमराने लगा, तो उसमें कुछ आश्चर्य भी नहीं था । यही है अपने इन दिनों के रोग-प्रकोप का कारण ।

अब स्थिति बहुत कुछ काबू में आ गयी है । गुरुदेव के अनुदान की मात्रा बढ़ जाने से परिजनों की आत्मिक और भौतिक सहायता के लिए जो किया जाना चाहिए उसे अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह निभाया जा सकेगा ।

गुरुदेव केवल मेरे लिए ही आये हों और परिवार के लिए कुछ सन्देश-निर्देश न दिये हों सो बात नहीं । संयोगवश जिन लोगों से भेंट हो गयी, उन्हें वे व्यक्तिगत रूप से ही कुछ बता गये हैं, शेष सभी लोगों के लिए कुछ सन्देश दे गये हैं । उनका उल्लेख इन पंक्तियों में किया जा रहा है । यों 'अखण्ड-ज्योति' का, मेरा अस्तित्व अब केवल उनकी सन्देशवाहिका के रूप में ही है । प्रेरणा स्रोत वे ही हैं । जो कुछ किया जा रहा है, पत्रिकाओं में जो छपता है, उसे प्रकारान्तर से गुरुदेव का ही प्राण-प्रवाह मानना चाहिए । अपना कार्य तो उनके संकेत-सन्देशों को कार्यान्वित करना ही है ।

परिवार को लोक-मंगल के लिए अधिक सक्रिय होना चाहिए, यह इच्छा उन्होंने बार-बार व्यक्त की । यों जो कुछ किया जा रहा है, उसे भी नगण्य नहीं कहा जा सकता, पर जीवन-निर्वाह के अतिरिक्त बची हुई शक्तियों की जमाखोरी और फिजूलखर्ची बन्द करके उसे युगप्रयोजन के लिए नियोजित कर दिया जाए तो बाहर के लोगों की बात छोड़िए, अपना छोटा-सा परिवार ही राष्ट्रनिर्माण ही नहीं, विश्वनिर्माण भी असंदिग्ध रूप से कर सकने में भलीप्रकार समर्थ हो सकता है ।

हम में से अधिकांश भगवान पर, संसार पर अहसान करने के लिए, यश और महत्त्व प्राप्त करने के लिए, यत्किंचित सेवाकार्य बड़ी कठिनाई अनुभव करते हुए, अन्यमनस्क भाव से करते हैं । कारण यह कि सारा ध्यान व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में लगा रहता है । भौतिक साधनों की अधिकाधिक मात्रा, विलासिता और अहंता की तृप्ति ही जीवन-लक्ष्य बनकर रह जाती है, उसी में सारा मनोयोग नियोजित रहता है । स्त्री-पुत्र तक ही समस्त संसार सीमित दिखाई पड़ता है । सुखी और समृद्ध बनने के लिए इस संसार में दो ही साधन दिखाई पड़ते हैं-एक स्त्री, दूसरे बच्चे । कर्त्तव्य-पालन तो उनके लिए भी किया जाना चाहिए, पर जीवन की समस्त विभूतियाँ इन्हीं दो पर न्योछावर कर दी जाएँ, यह सर्वथा अवांछनीय है । मनुष्य के कर्त्तव्य इससे बाहर भी हैं और उन्हें पूरा भी किया जाना चाहिए ।

गुरुदेव परिजनों से अपेक्षा करते रहे हैं और इस बार मेरे माध्यम से विशेष अनुरोध किया है कि लोकमंगल के कर्त्तव्यों को भी अपने नित्यकर्म में ही जोड़ लें और उसकी

पूर्ति भी उसी तरह करें जैसे अपनी शारीरिक, आर्थिक और पारिवारिक समस्याएँ हल करने के लिए की जाती है । स्वार्थपरता की संकीर्णता में ही डूबे रहना, आपा-धापी की कीचड़ में ही कुलबुलाते रहना मानवीय गरिमा को देखते हुए किसी भी प्रकार शोभनीय नहीं । हमें परमार्थ प्रयोजन को जीवन-लक्ष्य के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ रखना चाहिए । मनुष्य की सुख-शान्ति सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर है, अतएव हर व्यक्ति को सामाजिक उत्कर्ष के लिए व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं से भी अधिक प्रयत्नशील रहना चाहिए । कहना न होगा कि युग-निर्माण योजना की विचारणा और प्रक्रिया व्यक्ति एवं समाज को समग्र रूप से समुन्नत करने में असंदिग्ध रूप से सर्वांगपूर्ण है । इसमें भाग लेना इस युग की सबसे बड़ी, सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे आवश्यक साधना है । परिवार के प्रत्येक परिजन को पूरे उत्साह के साथ भाग लेना चाहिए ।

आत्म-साधना में ईश्वर-उपासना, आत्म-चिन्तन, आत्मा और परमात्मा का मिलन प्रधान रूप से सम्मिलित रहना चाहिए। जप, ध्यान, पूजन-वन्दन की क्रिया नियमित रूप से चलनी चाहिए, पर उसमें भावनाओं का गहरा पुट रहना चाहिए। लकीर पीटने की चिह्न-पूजा अभीष्ट प्रतिफल उत्पन्न नहीं कर सकती। भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं से जितनी विरक्ति होगी उतनी ही आत्मिक विभूतियों के सम्पादन में अभिरुचि एवं तत्परता बढ़ेगी। इस तथ्य को भली-भाँति समझ लिया जाना चाहिए। अस्तु, उपासना का कर्मकाण्ड ही सब कुछ नहीं मान लिया जाना चाहिए, वरन् उसके प्रयोजन की उत्कृष्टता बनाये रहनी चाहिए। यदि ईश्वर को रिश्वत और खुशामद के बल पर फुसलाकर अपने भौतिक स्वार्थ-साधनों का जाल बिछाया जा रहा है, तो समझना चाहिए कि वह भक्ति, साधना-उपासना से हजारों कोसों दूर, भौतिक मायाजाल है, जिससे आत्म-प्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण, आत्म-विकास के लिए अन्तरंग जीवन को समर्थ, सशक्त बनाने के लिए अन्तर्मुखी होना अत्यन्त आवश्यक है। अपने स्वरूप, लक्ष्य, कर्त्तव्य और उपलब्ध जीवन-विभूतियों के श्रेष्ठतम सदुपयोग की बात निरन्तर सोचते रहना चाहिए। अधिक मिलने के प्रयास के साथ-साथ जो मिला है, उसके उत्कृष्ट उपयोग की बात पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यही हैं वे उपदेश जो परिजनों के प्रति सन्देश रूप में देकर गुरुदेव चले गये हैं। इन्हें श्रद्धा और तत्परता के साथ पालन करना अब हमारा कार्य और कर्त्तव्य है। यों वे प्रकारान्तर से इन्हीं बातों को सदा ही लिखते रहे हैं, पर इस बार उन्होंने विशेष रूप से जोर दिया है कि कहने और सुनने-लिखने, और पढ़ने तक ही अध्यात्म सीमित नहीं कर लिया जाना चाहिए, वरन् उसे व्यावहारिक जीवनक्रम में समाविष्ट और ओत-प्रोत करने का प्रयत्न करना चाहिए । उनके व्यक्तित्व के प्रति जितनी श्रद्धा रखी जाती है, उतनी ही यदि उनके परामर्श और निर्देश को हृदयंगम किया जाए तो निस्सन्देह हम उनके पथ पर, उनके साथ-साथ कदम मिलाते हुए उस लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं, जो मानवीय जीवन की महान उपलब्धि का वास्तविक प्रयोजन और लाभ है।

भविष्य में वे कब वापस लौटेंगे, इसका कुछ ठीक निश्चय नहीं। यह उन्होंने पूर्णतया अपने या अपने मार्गदर्शक के हाथ में रखा है कि जब कभी आवश्यकता समझें तब आएँ और जब प्रयोजन पूरा हो जाए तब चले जाएँ। प्रतिबन्ध का काल समाप्त हो गया। आवागमन पर रोक की अवधि वसन्त पर्व पर समाप्त हो गयी। तो भी वे बिना प्रयोजन और अभीष्ट शक्तिसंचय किए बिना, जल्दी ही आने वाले नहीं हैं, फिर भविष्य में गायत्री तपोभूमि में या अन्यत्र पिछले दिनों जिस प्रकार उनके दर्शनों के लिए भीड़ लगा करती थी, उसकी पुनरावृत्ति अब कभी भी नहीं होने वाली है। जब वे शान्तिकुंज कुछ समय के लिए आएँ तभी दर्शनों के लिए भीड़ उमड़ पड़े, ऐसा भविष्य में कभी भी सम्भव न होगा।

जो थोड़ा-बहुत समय वे शान्तिकुंज आने के लिए निकाल पाया करेंगे, उसके एक-एक क्षण का सदुपयोग होगा। उनके निवास के लिए एक नितान्त एकांत कक्ष बना दिया गया, जिसमें वे एकाकी रहेंगे। लगभग २० घण्टे उनकी व्यक्तिगत उपासना-साधना के लिए निश्चित रहा करेंगे, केवल कुछ घण्टे ही नितान्त आवश्यक परामर्श के लिए निकल सका करेंगे। यह बहुमूल्य समय दर्शन, शंका-समाधान, भौतिक प्रयोजनों के लिए आशीर्वाद जैसे तुच्छ कार्यों में बर्बाद नहीं किया जाएगा। प्रेरणा-प्राप्ति के आत्मिक प्रयोजनों के सन्दर्भ में ही वह घड़ियाँ नियोजित रहेंगी। उसके लिए पहले से ही पत्र-व्यवहार कर लेना चाहिए कि किसी की उत्कण्ठा यदि मिलने की है तो उसका प्रयोजन क्या है और उसे न्यूनतम कितने समय में पूरा किया जा सकता है। घण्टों स्वच्छन्द दर्शन, सत्संग, हास-परिहास, सम्पर्क-सान्निध्य के लिए बैठे रहने की बात अब बहुत पीछे रह गई है। यों पहले ही उनका समय मूल्यवान था, पर अब तो इतना अधिक बहुमूल्य है और उसके साथ समस्त विश्व के इतने महत्त्वपूर्ण पहलू जुड़े हुए हैं कि उनमें तनिक भी व्यतिरेक उत्पन्न करना अनुचित ही कहा जाएगा। अगली बार जब कभी वे आएँ तब किसे, क्यों, कितने समय तक मिलना आवश्यक है, यह पहले से ही हम लोगों से पत्र-व्यवहार कर लेना चाहिए। यदि मिलना नितान्त आवश्यक समझा जाएगा तो ही उसके लिए व्यवस्था बनायी जाएगी।

इस प्रतिबन्ध में न तो अहंता है और न स्वार्थपरता। जैसे बड़े आदमी छोटों से नहीं मिलते और घर बैठे गपशप करते रहते हैं या अपने स्वार्थ साधन में तत्पर रहकर दूसरों

की आवश्यकता की उपेक्षा किया करते हैं, वैसी बात स्वप्न में भी नहीं है। जो गुरुदेव को जानते हैं उन्हें यह समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि वे तप-साधना द्वारा ऊँचे उठ रहे हैं, नीचे नहीं गिर रहे हैं उनका प्रेम और ममत्व परिजनों के लिए ही नहीं, मानव मात्र के लिए, प्राणि-मात्र के लिए जिस वेग-आवेग के साथ उमड़ता रहता है उसमें कमी नहीं आई, वरन् इन दिनों वृद्धि ही हुई है, पर उस प्रेम का उपहार-अनुदान प्रस्तुत करने के लिए उन्हें कुछ उपार्जन और संचय भी करना चाहिए। तपश्चर्या में निरत समय इसी प्रयोजन के लिए है। यदि वह अनिवार्य जन-सम्पर्क को छोड़कर ऐसे ही दर्शन-सत्संग के लिए लग जाएँ तो वे उसी स्थिति में बने रहेंगे, जिसमें अपने को असहाय, अभावग्रस्त अनुभव करते हुए भी वे उग्र साधना के लिए दौड़ पड़े थे, वे हमें प्यार करते हैं, हमें उनसे प्यार करना चाहिए। हमारे प्यार का एक सच्चा स्वरूप यह हो सकता है कि उच्चस्तरीय प्रयोजनों में इन दिनों लगे हुए उनके समय में अपने मोहवश अनावश्यक व्यवधान उत्पन्न न करें। वे इन दिनों जिस कार्य में लगे हुए हैं उस पर विश्वमानव के भविष्य की अति महत्वपूर्ण सम्भावनाएँ टिकी हुई हैं। यदि हम उसे अपने मोह के लिए प्रयुक्त करते हैं, तो उसकी हानि विश्वमानव को ही भुगतनी पड़ेगी। इतनी बड़ी क्षति पहुँचाकर हम अपनी भावुकता तृप्त करें, यह किसी प्रकार भी उचित न होगा।

शाखाओं का संगठन, युगनिर्माण प्रक्रिया का संचालन, परिजनों की व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान और परामर्श जैसे कार्य उन्होंने मेरे जिम्मे छोड़े हैं। उन्हें यथाशक्ति कर भी रही हूँ। उन्हीं कार्यों के लिए उन्हें भी खटखटाया जाए तो यह पुनरावृत्ति मात्र ही हुई। टिकिट बाबू जब टिकिट बाँट ही रहा है, तो उसी को खरीदने के लिए स्टेशन मास्टर को क्यों तंग किया जाए। उनका-सा व्यक्तित्व तो कहाँ से लाएँ पर उपर्युक्त काम मैं उसी तरह निभा रही हूँ जितना कि उनके द्वारा सम्भव था। ऐसी दशा में वे ही बातें उनके सामने रखने की कुछ आवश्यकता नहीं रह जाती। जो इतना समझ सकेंगे वे सहज ही अपनी भावुकता पर नियन्त्रण कर लेंगे।

उपयुक्त परिजनों की आत्मिक-प्रगति में अतिरिक्त सहायता करने की उनकी आकांक्षा अभी भी यथावत है। वह घटी नहीं, वरन् बढ़ी ही है। प्रशिक्षण का समय चला गया। अब वे किसी को विस्तारपूर्वक सिखा, समझा न सकेंगे। इसके लिए जितना लम्बा समय चाहिए वह रह नहीं गया है। अब वे केवल प्रत्यावर्तन करेंगे। अपनी उपार्जित शक्ति का वितरण भर करेंगे। इसके लिए पूरे तीन दिन शान्तिकुंज में रहना पर्याप्त होगा। आचार्य यम के द्वार पर बालक नचिकेता तीन दिन पड़ा रहा था और आग्रहपूर्वक पंचाग्नि विद्या का अतिमहत्वपूर्ण अनुदान लेकर वापस लौटा था। वैसा ही कुछ यहाँ भी होगा। जब वे सुविधा की स्थिति में होंगे, तब यही किया करेंगे।

साधक तीन दिन तक पूर्ण एकान्त सेवन करेंगे, मौन रहेंगे और मस्तिष्क को सब प्रकार के विचारों से खाली रखेंगे। शौच, स्नान जैसे नित्यकर्मों के अतिरिक्त यथासम्भव अधिक से अधिक निश्चेष्ट रहेंगे, शरीर से ही नहीं मन से भी। गंगाजल पियेंगे, मेरे द्वारा बना और परोसा भोजन ही करेंगे।

इस अवधि में गुरुदेव अपनी अन्तःस्थिति को उनके अन्तरंग में उतारते रहेंगे। बछड़ा जिस तरह दूध पीता, भूमि जैसे वर्षा का जल सोखती, लकड़ी जैसे आग पकड़ती, बैटरी जैसे चार्ज होती है, ठीक उसी मनःस्थिति में साधक अपनी मनोभूमि बनाये रहेंगे और जहाँ तक सम्भव होगा मनःक्षेत्र को पूर्णतया खाली रखेंगे। साधक को इतना भर करना है। निवास, भोजन आदि की व्यवस्था शान्तिकुंज में ही रहेगी। इस अवधि में हर साधक अपने ऊपर एक दिव्य शक्ति अवतरित होते हुए अनुभव करेगा और इससे लाभान्वित होकर इतनी शक्ति प्राप्त कर लेगा, जिसके आधार पर प्रगति का पथ प्रशस्त हुआ स्पष्ट दिखाई देने लगे।

ऐसा क्रम कब चलेगा, कितने दिन चलेगा यह सर्वथा अनिश्चित है। इसकी कोई सार्वजनिक घोषणा भी नहीं होगी। केवल इच्छुक व्यक्तियों के नाम नोट रहेंगे और क्रमानुसार उन्हें बुलाया जाता रहेगा। एक बार में उतने ही साधकों को बुलाया जाएगा, जितनों को देने के लिए उपयुक्त क्षमता उपलब्ध होगी। साधारणतौर पर दस से लेकर बीस तक साधकों को बुलाया जा सकता है। कुण्डलिनी जागरण से लेकर शक्तिपात तक की समस्त क्रिया-प्रक्रिया को इस थोड़े-से ही समय में प्रशस्त करने का उपक्रम बन जाएगा। इस भावी साधना-प्रक्रिया का भावी स्वरूप और आधार वर्तमान अस्वस्थता दूर होने पर ही प्रस्तुत करूँगी। इस समय तो उस प्रकरण पर थोड़ा प्रकाश डाला गया है, जिसके अनुसार गुरुदेव कुछ समय के लिए यहाँ आने और चले गये।

## महानता प्राप्त करने की दिशा में एक चरण आगे बढ़ाएँ

बड़प्पन का मौसम चला गया। बरसाती फसल बोये और उगाये जाने की फसल चली गई। अब बैसाखी, रबी की फसल बोई जानी है। अब गेहूँ, जौ, चना ही बोया और उगाया जाएगा। बरसाती अनाज, मक्का आदि जिस मौसम में बोये, उगाये और काटे जाते हैं, वह अब रहा नहीं। किसी को वे फसलें अब नहीं बोनी चाहिए, जो झर बादल के दिनों में ही आनन-फानन में तैयार होती थीं। अब लम्बी सर्दियाँ सामने आ रही हैं, पानी बरसने की आशा भी कम है, ऐसी परिस्थितियों को सहन कर सके अब उन्हीं फसलों को बोया-उगाया जाना चाहिए।

एक समय था जब थोड़ी-सी चतुराई के बल पर आसानी से बड़ा आदमी बना जा सकता था। भोले लोगों को उलझाकर किसी भी स्तर पर पैसा बनाया जा सकता

था और अपने को भाग्यवान, पुण्यवान, दैवी कृपापात्र सिद्ध किया जा सकता था। भगवान का एकाध बड़ा मन्दिर बना देना और रामनामी ओढ़ लेने से लोग डर जाते थे कि देवता इनके वश में हैं, जो चाहे सो कर या करा सकते हैं। उन दिनों एक ओर आतंक, एक ओर निराशा थी सो आतंकवादी और भोलेपन की संगति में चतुराई, बड़प्पन का आधार खड़ा कर देती थी, उस अमीरी को देखकर अनेक अभावग्रस्त चापलूस पीछे-पीछे फिरते थे, उनकी सहायता से मनमानी करना और भी सरल हो जाता था और इस सरंजाम को खड़ा कर लेने वाला सहज ही ठाट-बाट का बड़ा आदमी बन जाता था।

अब वह समय बिलकुल चला गया। जहाँ ध्वंसावशेष खड़े हैं और बालू के किले रच दिये गये हैं, वे आजकल में ढहने ही वाले हैं। जनता काफी सजग और चतुर हो गई है। जिन्हें कुछ मतलब निकालना हो उनकी बात अलग है। साधारणतया बड़ा आदमी हर किसी की आँख में खटकता है और ईर्ष्या-द्वेष का शिकार बनता है। जनसाधारण की तुलना में बहुत ऊँचा स्तर बना लेना अब निष्ठुर, चोर, डाकू की तुलना में गिना जाता है, भले ही वह न्यायानुमोदित ही क्यों न कमाया गया हो। इस कटु आलोचना में इतना तो तथ्य भी है कि जिस आपत्तिकाल में युग की पुकार एक-एक पैसे, एक-एक श्रम-बिन्दु के लिए पुकार रही थी, उन दिनों ये तथाकथित बड़े आदमी अपना वैभव बटोरने में लगे रहे और विश्व-मानव की आवश्यकता को समझने में उपेक्षा, निष्ठुरता एवं कृपणता दिखाई।

जो हो अब हर अदूरदर्शी का दृष्टिकोण बदलना चाहिए। उसे बड़ा आदमी बनने की महत्त्वाकांक्षाएँ छोड़नी चाहिए और महान बनने की राह पकड़नी चाहिए। आज समझदारी का तकाजा इसी परिवर्तन की अपेक्षा करता है। महानता का मार्ग घाटे का नहीं, वरन् दुहरे लाभ का है। उसमें आत्म-सन्तोष के साथ लोक-मंगल की वे सम्भावनाएँ भी जुड़ी हुई हैं, जिनके कारण इतिहास बदलता है और व्यक्ति को 'हीरो' बनने का अवसर मिलता है, आमतौर से इसे घाटे का रास्ता समझा जाता है। यह भ्रान्ति है। महानता के पीछे-पीछे बड़प्पन भी छाया की तरह जुड़ा रहता है। गाँधी, बुद्ध, नेहरू, पटेल, तिलक, मालवीय, राजेन्द्र आदि ने विशुद्ध रूप से महानता के पथ पर ही चरण बढ़ाये थे, पर उन्हें बड़प्पन की उपलब्धियाँ भी कहाँ कम मिलीं। बड़े आदमी एक कोठी-बँगला भर बना पाते हैं, पर महामानव जनता के हृदय में चिरकाल तक अपना भाव-भरा घर बनाये रहते हैं।

गुरुदेव अपने प्रियजनों के लिए महानता की उपलब्धियाँ प्रस्तुत करने के लिए आकुल और आतुर रहे हैं। जौहरी का धन्धा उन्होंने किया है और उसी को अपने अनुयायियों को सिखाना चाहते हैं। यह दुर्भाग्य ही है कि लोग तुच्छ भौतिक लाभों के बड़प्पन की कीचड़ से बाहर निकलने को तैयार नहीं होते। छोटे लोगों की छोटी कामनाओं में जो छोटापन भरा रहता है, उसे भी वे जुटाते तो हैं, पर इससे उन्हें न सन्तोष होता है और न उत्साह मिलता है। सारी दुनिया भी यदि बड़े आदमियों से भर जाए तो उनसे न उन व्यक्तियों का कुछ लाभ होने वाला है और न लोकहित सधने वाला है। अधिक खा-पहन लें और सुख-सुविधाओं की परिस्थिति प्राप्त कर लें, तो इतने भर से किसी का क्या बना? शरीर से सम्बन्धित भौतिक सुख क्षणिक गुदगुदी पैदा करते हैं और साथ ही अपने साथ उतनी उलझनें लाते हैं, जिन्हें समेटना, सुलझाना उस क्षणिक गुदगुदी की तुलना में कहीं अधिक भारी पड़ता है। दूरदर्शिता केवल महानता का वरण करने में है। यह शिक्षा और दिशा गुरुदेव को उनके मार्गदर्शक से मिली और वे उस मार्ग पर चलते हुए उस स्थिति में पहुँचे, जहाँ उनके चुनाव को अबुद्धिमत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस मार्ग पर न चलकर दूसरों की तरह बड़प्पन के 'थूक बिलोना' में वे लगे रहते तो कितना पाते और अब शौर्य, साहस, विवेक और आदर्श की राह अपनाकर वे कहाँ जा पहुँचे। इसका तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि बड़प्पन का नहीं महानता का चयन दूरदर्शितापूर्ण है, विशेषतया इन परिस्थितियों में, जबकि बड़प्पन उगाने, बोने का मौसम बिलकुल चला गया। बदलती हुई परिस्थिति में कोई घृणा, निन्दा ईर्ष्या, द्वेष की आग में जलने का जोखिम उठाकर ही बड़प्पन की राह पर चलने का दुस्साहस कर सकता है।

गत दिनों में कुछ समय के लिए मेरी बीमारी के सिलसिले में वे आये और समय-समय पर उनके विचार सुनने-समझने को मिले, उनका उल्लेख पिछले पृष्ठों पर कर दिया गया है। उस कथोपकथन में उनकी एक ही लालसा उभरी पड़ रही है कि उनके प्रियजन महानता का वरण करें। उनके कन्धे से कन्धा मिलाकर चलें और उस लक्ष्य तक पहुँचें, जहाँ मानव जीवन सार्थक एवं कृतकृत्य होता है। वार्त्ता के बीच निराशा, क्षोभ, दुःख के भाव भी उनके चेहरे पर झलकते दिखाई पड़े, इसके पीछे एक ही व्यथा थी कि हर आधार पर समझाने पर भी, अपना निज का उदाहरण प्रस्तुत करने पर भी उनके प्रियजन उस मार्ग पर चलने के लिए क्यों तैयार नहीं होते? अपनी पात्रता में वृद्धि क्यों नहीं करते? उनकी सहायता के लिए लालायित देव-शक्तियाँ जो उनका दरवाजा कब से खटखटा रही हैं, उनके लिए रास्ता क्यों नहीं खोलते?

वे चाहते थे कि उनके प्रियजन महानता का मार्ग अपनाएँ, उसके लिए पात्रता का चयन करें और ऐसा चिन्तन अपनाएँ जिसे धारणा, ध्यान, प्रत्याहार और समाधि की संज्ञा दी जा सके। यह चिन्तन वही हो सकता है, जो व्यक्ति-निर्माण की प्रक्रिया के अन्तर्गत गुरुदेव आये दिन समझाते रहे हैं। वे चाहते हैं कि उनके हर साथी को इसी जीवन में स्वर्ग और मुक्ति का पग-पग पर भरपूर आनन्द मिले, इसके लिए कोई मंत्रानुष्ठान पर्याप्त नहीं हो सकता। इसके लिए लोक-मंगल की वह साधना अपने कर्तृत्व में

सम्मिलित करनी पड़ती है, जिसे उन्होंने शतसूत्री युग-निर्माण योजना के नाम पर अनेक बार, अनेक ढंग से कहा है। उस पुराने कथनोपकथन को सार रूप में दुहरा देने और उसे चिरन्तन अथवा नवीनतम सन्देश के रूप में परिजनों तक पहुँचा देने के लिए उन्होंने आदेश दिया था ।

मेरा लिख देना और पाठकों का पढ़ लेना ही पर्याप्त न होगा, आवश्यकता उसे समझने, हृदयंगम करने और कार्यान्वित करने की है। उन सन्देश, निर्देशों को यदि कार्यरूप में परिणत किया जा सके तो वह क्रिया-कलाप एक उच्चतम युग-साधना की आवश्यकता पूरी करेगा। देश-काल-पात्र के अनुरूप सदा ही साधना-विधानों में हेर-फेर होता रहा है और उसका सन्देश लेकर तत्कालीन अग्रदूत इस पृथ्वी पर आते रहे। आज की स्थिति में व्यक्तिगत महानता के अभिवर्द्धन और लोक-मंगल के अनुष्ठान की दृष्टि से वही प्रक्रिया सर्वोत्तम रहेगी, जिसे संक्षिप्त रूप में बताया गया है ।

यह सर्वविदित है कि गुरुदेव की भावी साधना-तपश्चर्या का आधार युग-परिवर्तन की सम्भावनाओं को प्रबल करने के लिए सूक्ष्मजगत में असाधारण हलचल उत्पन्न करना है। नवयुग का आगमन एक सुनिश्चित तथ्य है। इस मेहमान की आगमन-व्यवस्था करने के लिए वे स्वागत अधिकारी की तरह अपनी भूमिका निभा रहे हैं। उनका इन दिनों महत्त्वपूर्ण उपार्जन चल रहा है। जमा करना तो उनकी प्रवृत्ति में है ही नहीं। आने से पहले बाँटने की धुन ही उन पर सदा सवार रही है। इस एक वर्ष में जो कमाया गया है, उसे कितना किस प्रकार बाँट दें, इसी उधेड़-बुन में वे लगे हैं। अधिक कमाई की बात भी चल रही है, पर उपार्जन से अधिक ध्यान वे सदा वितरण को देते रहे हैं। सो अब भी उसी स्तर पर सोच रहे हैं। जितने दिनों वे हरिद्वार रहे इसी को योजना बनाते रहे। यह प्रसंग उन्होंने कितनी ही बार दुहराया कि अब बड़प्पन का मौसम चला गया। जो ऋतु के प्रतिकूल प्रयास करेगा वह न केवल असफल ही रहेगा, वरन् जितना कमाएगा उससे ज्यादा विपत्ति मोल लेगा। वह सम्पदा रह भी न सकेगी। अपनी कुपात्र सन्तानें, समाज के विद्रोही तत्त्व तथा सरकारी कानून उसे संग्रहीत न रहने देंगे। उपार्जन में इन दिनों की असाधारण प्रतिद्वन्द्विता, अत्यधिक लोभ की पूर्ति के लिए अपनाई गई अवांछनीयता को तप-साधना जैसा कष्ट उठाकर सहन भी किया जाए तो उसके बेतरह नष्ट होने का दु:ख और भी विकट होगा। अगले दिनों हर किसी को निर्वाहमात्र मिलेगा और शक्ति भर अनिवार्य रूप से काम करना पड़ेगा।

इस अवश्यंभावी भवितव्यता की आगाही यदि लोगों को मिल जाए तो सम्भव है कि जो लिप्सा बेतरह व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में लगी हुई है, वह कुछ शिथिल हो और उससे बचे हुए समय, मनोयोग एवं धन की मात्रा सम्भव है, लोक-मंगल की आज की आपत्तिकालीन आवश्यकता की पूर्ति में लग सके। ऐसा मानसिक परिवर्तन आने पर ही महानता के पथ पर चलने के लिए किसी को साहस जुटा सकना सम्भव होगा। आज की लिप्सा और ललक शिथिल पड़े तो कुछ नव-निर्माण के करते-धरते बने, इस तथ्य को वे बहुत बार बहुत गम्भीरता से कहते-बताते रहे और कहते रहे, जिन पर अपना थोड़ा-सा भी प्रभाव हो, जिनमें महानता की दिशा में चलने की तनिक भी वास्तविक आकांक्षा हो, उन्हें सबसे पहला मंत्र यही दिया जाना चाहिए कि बड़प्पन का मौसम चला गया। अब उस दिशा में पैर पीटने से लाभ कम और हानि अधिक है। जीवन कृतकृत्य बनाने और ईश्वरीय-प्रवाह में बहते हुए रीछ-वानरों की भूमिका प्रस्तुत करने का ठीक यही अवसर है। हर परिजन में महानता प्राप्त करने की व्याकुल तड़पन उठनी चाहिए। इस प्रथम चरण के बाद ही आगे की कुछ बात बनेगी।

उन्होंने जो कहा था-उसी को इन पंक्तियों में फिर अधिक जोर देकर कह दिया गया है। जिन्हें यह तथ्य उचित लगा हो वे इतना साहस और करें कि इस दृष्टिकोण को व्यावहारिक गतिविधियों में परिणत करने के लिए कदम बढ़ाएँ, केवल पठन-पाठन और सोच-विचार करते रहने से बहुमूल्य समय ऐसे ही बीतता चला जाएगा, जैसा कि अब तक का जीवन बाल-क्रीड़ाओं में बीत गया।

गुरुदेव का कहना था कि आज की परिस्थितियों में सर्वोत्तम तप-साधना वही हो सकती है, जो स्वयं उन्हें करनी पड़ी। उनकी साधना का बाह्यस्वरूप भर देखना पर्याप्त न होगा। चौबीस लाख के चौबीस पुरश्चरणों की जप-संख्या को नहीं, महत्त्वपूर्ण उस तथ्य को मानना चाहिए, जिसके अनुसार हर मंत्र-जप के साथ-साथ ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्रकाश अपने रोम-रोम में भरने और उसी प्रकाश का अनुगमन करते हुए अपनी मानसिक और शारीरिक गतिविधियों को एक विशेष दिशा में लगाये रहने का साहस कर दिखाया। उन दिनों की उनकी एकांत साधना को जन-कोलाहलरहित सूनेपन की विशेषता नहीं माननी चाहिए, वरन् आकर्षणों, साधनों से सर्वथा मुक्त एकाकी ब्रह्मवर्चस के महासमुद्र में विचरण करने वाले आत्मबोध के अभ्यास रूप में ही उसे देखना चाहिए। आत्म-चेतना को मनुष्यों तक सीमित न रखकर प्रत्येक जड़-चेतन में अपनी आत्मा का प्रकाश जगमगाता देखने की दिव्य-अनुभूति का इसे एक प्रयोग माना जाना चाहिए।

उनके समस्त जीवन की साधना-तपश्चर्या का निष्कर्ष दो शब्दों में निकाला जा सकता है-(१) आत्म-परिष्कार, (२) लोकमंगल का निरन्तर प्रयास। यह साधना-पद्धति आज की युग-साधना है, जो उसे कर सके, समझना चाहिए परिपूर्ण साधना और समग्र तपश्चर्या का सही रास्ता उन्हें मिल गया। गुरुदेव का साधना-रथ इन्हीं दो पहियों पर गतिशील रहा है, वे हृदय से यही चाहते हैं कि उनका हर आत्मीय इसी मार्ग पर चलकर उन्हीं की जैसी महानता का लाभ प्राप्त करे। छुट-पुट मंत्र-तंत्र की उलट-पुलट में लम्बे-चौड़े सपने देखना छोड़कर युग-साधना के

आधार पर अपनी अन्तःचेतना में पात्रता का प्रकाश उत्पन्न करे। इतना कर लेने पर वे दिव्य शक्तियाँ उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़ेंगी, जो आज भी बार-बार द्वार खटखटाती हैं, किन्तु पात्रता का अभाव देखकर वापस लौट जाती हैं।

गुरुदेव की पिछली तप-सम्पदा भी कम नहीं थी। कम होती तो वे लाखों व्यक्तियों को नव-निर्माण के रूखे प्रयोजन में लगाने का उत्साहपूर्ण वातावरण कैसे उत्पन्न कर सके होते? कैसे विविध क्षेत्रों में आश्चर्यजनक सफलताएँ उपस्थित होतीं? कैसे परिजनों की व्यक्तिगत कठिनाइयों के अद्भुत समाधान वे दे सके होते? किस आधार पर उनका व्यक्तित्व जादू जैसे प्रभाव से ओत-प्रोत रहा होता? यह पिछले दिनों की बात है, इन दिनों तो उनकी सारी एकाग्रता-आतिशी शीशे में सूर्य की किरणें इकट्ठी होने की तरह एक बिन्दु पर केन्द्रीभूत हो गई हैं। स्वभावतः उनकी पूँजी इस अवधि में बढ़ी ही है। इस अतिरिक्त लाभ को वे अतिरिक्त बोनस के रूप में अपने सहचरों-अनुचरों को बाँटने के लिए आतुर थे।

'प्रत्यावर्तन' अनुदान की चर्चा पिछली पंक्तियों में की गई है। वे जब हरिद्वार आया करेंगे, तब इस उपक्रम से पात्रतासम्पन्न परिजनों को लाभान्वित किया करेंगे। यह कोई साधना-अनुष्ठान नहीं है। केवल उन दिनों ग्रहण करने के अनुकूल मनःस्थिति बनाये रखना भर पर्याप्त होगा। अपने को विचारों से, हर दृष्टि से रिक्त रखने, कुछ भी न सोचने, न चाहने की मनःस्थिति बनाए रखकर उसमें शक्तिपात के लिए द्वार खुला रहने भर के लिए आगन्तुकों को कहा जाएगा। शरीर और मन को अनिवार्य नित्यक्रिया करने के अतिरिक्त पूर्ण विश्राम करने के लिए कहा जाएगा। इस मनःस्थिति में आदान-प्रदान सफल और सम्भव हो जाता है। यही वे आगन्तुकों से कराएँगे और जो बीजारोपण करना है, कर देंगे। इस बीज को वृक्ष बनाने के लिए बहुत प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी, यही परम्परा उन्हें स्वयं मिली भी है। १५ वर्ष की आयु में उन्हें अपने मार्गदर्शक का सान्निध्य चार घण्टे का मिला। २४ वर्ष की तपश्चर्या के उपरान्त सन् ५९ में एक वर्ष के अज्ञातवास के लिए गये, तब भी चार दिन का अवसर उन्हें अपने मार्गदर्शक के समीप रहने का मिला। इस बार भी उन्हें ४ दिन की ही समीपता मिली है और शेष समय अन्यत्र बिताने का निर्देश पालन करना पड़ा है।

बीज एक दिन में ही बो दिया जाता है उसे सींचने-सँभालने में ही समय लगता है। गुरुदेव अपने मार्गदर्शक के अनुदान और अपने कर्तव्य को इसी मिसाल के साथ अक्सर समझाया करते हैं। उन्हें स्वयं भी आगे इसी परम्परा को अग्रसर करना पड़ेगा। परिजनों को वे लम्बी कष्टसाध्य तपश्चर्या में नहीं उलझाना चाहते, उस प्रयोजन की पूर्ति वे अपने अनुदान से स्वयं ही पूरी कर देंगे, जैसी कि उनकी खुद की पूर्ति की गई। उनकी निज की साधना तो सिंचन-पोषण भर है। वस्तुतः जितना उन्होंने पाया है उसका ९० प्रतिशत भाग प्रदत्त अनुदान ही कहना चाहिए। यदि ऐसा न होता तो लोक-मंगल की दिशा में इतना जो कार्य बन पड़ा वह कैसे बन पड़ा होता। सारा समय जप-तप में ही लग जाता तो फिर ईश्वरीय निर्देश और मार्ग-दर्शक के आदेश का पालन करते हुए नव-युग की सम्भावनाओं को साकार करने में इतनी तत्परता के साथ लगा रहना कैसे सम्भव होता?

नचिकेता थोड़े ही समय में आचार्य यम से पंचाग्नि विद्या सीखकर आ गये थे। विवेकानन्द को, छत्रपति शिवाजी को ऐसे ही कुछ ही समय में बहुत कुछ मिल गया था। स्वयं रामकृष्ण परमहंस ने इसी प्रकार का अनुदान स्वल्पकाल में उपलब्ध किया था। यही प्रत्यावर्तन क्रम है। जिसे यदा-कदा, जिस-तिस के लिए गुरुदेव प्रयुक्त किया करेंगे।

इसके लिए भी भेड़िया-धसान का क्रम नहीं है। जो चाहे वही धर दौड़े। ऐसा संभव न होगा। इच्छा मात्र से क्या कुछ होता है। चाहने भर से कलक्टर कौन बन सका है? इसके लिए पात्रता की दीर्घकालीन साधना अनिवार्य रहती है व पुष्पहार, दंडवत प्रणाम, फल-उपहार जितनी सस्ती नहीं है और न किसी मंत्र की कुछ मालाएँ घुमा-फिरा देने जितनी सरल हैं। महँगी उपलब्धियाँ सदा महँगे मूल्य पर मिलती हैं। गुरुदेव ने स्वयं समुचित मूल्य चुका कर ही अपने मार्गदर्शक का, अपने परमेश्वर का, अनुग्रह खरीदा है। दूसरों के लिए भी यही हाट खुली है। खाली हाथ ऐसे ही बहुत कुछ पा लेने की लालसा लेकर हाट से जाने वालों को खाली हाथ ही लौटना पड़ता है। उनके पल्ले निराशा ही बँधती है।

अपने निज के प्रबल पुरुषार्थ से लेकर किसी दिव्यसत्ता के अनुग्रह-अनुदान तक में एक तथ्य अनिवार्य रूप से प्रस्तुत रहता है कि व्यक्ति अपनी पात्रता और प्रामाणिकता सिद्ध करे। यह कल्पना की उड़ानें भरने से नहीं, व्यावहारिक जीवन को साधनामय बनाने से ही वह उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसी एक अड़चन से इस प्रक्रिया को आबद्ध कर दिया है। जिसके आधार पर आत्मवादी परिजन भी उसी प्रकार लाभान्वित हो सकते थे, जिस प्रकार गुरुदेव स्वयं हुए। इस अड़चन को दूर करना ही होगा। इस श्रम-साध्य राजमार्ग को छोड़कर कोई सीधी-सरल पगडण्डी नहीं है। परिजनों को युग-साधना को अपनाना ही चाहिए, उस दिशा में कदम बढ़ाना ही चाहिए। कहना न होगा कि व्यक्ति-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज-निर्माण की त्रिविध साधना-पद्धति को नव-निर्माण की युग-साधना त्रिवेणी कहना चाहिए। निश्चित रूप से यह एक योग-साधना और तपश्चर्या है। एकान्त में प्राणायाम करना ही एकमात्र योगाभ्यास नहीं है। गीता में कहे गये कर्मयोग का यह श्रेष्ठतम और सामयिक स्वरूप है। इस युग-साधना में जहाँ व्यक्ति का निजका अन्तःकरण योगियों जैसा निर्मल होता है, वहाँ उनकी तप-साधना के प्रकाश से असंख्यों को अपना उद्धार करने का

लाभ मिलता है। इस प्रकार यह दुहरा लाभ प्रस्तुत करने वाली आध्यात्मिक साधना का ही प्रयोजन पूरा करती है।

प्रत्यावर्तन वर्ग के अग्रगामी आत्मीयजनों को युग-साधना में नियमित साधनारत होना ही चाहिए। अन्य परिजनों को भी आत्म-विकास की दृष्टि से, युग-धर्म की पूर्ति की दृष्टि से और दिव्यतत्त्वों का अनुग्रह उन पर बरसने में जो अड़चन उपस्थित है, उसे दूर करने की दृष्टि से यह आवश्यक है वे युग-साधना के साधक बनें। उसे पढ़ते-सुनते ही न रहें। चर्चा और कल्पना का ही विषय न बनाये रहें, वरन् उसे व्यावहारिक जीवन में उतारने और कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न करें। यही है प्रथम चरण वास्तविक प्रगति का, विभूतिवान बनने का, आत्म-सम्पदाओं से परिपूर्ण होने का और महानता के वरण करने का-इसके लिए बड़प्पन की आकुल अभिलाषाओं से थोड़ा मुँह मोड़ना ही चाहिए और उस विमुखता को नव-निर्माण में नियोजित करना ही चाहिए। इसी के लिए गुरुदेव यह चिन्ता व्यक्त करते रहे कि यदि परिजन प्रथम चरण की उपेक्षा, अवज्ञा किए बैठे रहे, तो वे कुछ-महत्त्वपूर्ण पा नहीं सकेंगे। उन्हें कुछ दिया जा सकना सम्भव न हो सकेगा। बड़प्पन की निरर्थकता और महानता की गरिमा को समझाने के लिए व्याकुल थे। कहते थे किसी प्रकार मैं अपना कलेजा, हृदय और मस्तिष्क चीरकर उखाड़ सकूँ और उसे परिजनों के भीतर 'फिट' कर सकूँ तो उन्हें बुद्धिमत्ता का लाभदायक मार्ग एक ही दिखाई पड़ेगा कि निर्वाह भर के भौतिक साधनों से सन्तुष्ट रहकर अपने भीतर जो कुछ असाधारण है, उस समस्त को समान रूप से महानता प्राप्त करने के लिए नियोजित कर दिया जाए। उनका कलेजा, हृदय और मस्तिष्क तो दूसरों में फिट किया जा सकना कठिन है, पर कम से कम इतना तो आवश्यक है, कि उस प्रक्रिया को उपेक्षा के गर्त में पड़ा न रहने दिया जाए, किसी न किसी रूप में, अनेक आवश्यक कार्यों की तरह उसे भी आवश्यक कार्यों में सम्मिलित रखा जाए और जितना कुछ न्यूनाधिक बन पड़े उतना उस प्रयास को निरन्तर करते रहा जाए। ऐसा करने से आत्म-निर्माण और लोक-मंगल की, स्वार्थ और परमार्थ की पूर्ति जहाँ होगी, वहाँ वह भी अड़चन दूर होगी, जिसके कारण गुरुदेव अपने प्रियजनों को कुछ दे सकने की व्यथा से उदास, चिन्तित और दुखी रहते हैं। पात्रता के अभाव में भी, किसी को भी, कुछ दे सकना उनके हाथ की बात भी तो नहीं है, आखिर उनके हाथ भी तो किसी उच्च सत्ता ने बाँध ही रखे हैं। यह अड़चन दूर हो सके तो परिजन जितने लाभान्वित होंगे, गुरुदेव उससे हजार गुने सन्तुष्ट और प्रसन्न होंगे। मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा-कठिनाई दूर हुई अनुभव करेंगे।

□□□

# गुरुवर की सूक्ष्मीकरण साधना

## गुरुदेव की अन्तर्व्यथा एवं सूक्ष्मीकरण में प्रवेश

"चलते समय काफिला इतना लम्बा, किन्तु मन्जिल तक पहुँचने का समय आने तक साथ में उँगलियों पर गिनने जितने । इसे असफलता कहा जाए ? दुर्भाग्य ? विधि की विडम्बना ? अथवा उस मिट्टी को दोष दिया जाए जिससे यात्रियों की कतार तो गढ़ी थी, पर इतनी अनगढ़ कि उसकी संरचना दो कदम चलते-चलते यायावरों की तरह भटकी और मृगतृष्णा की आकुलता में दिग्भ्रान्त होकर कहीं से कहीं चली गयी ।"

"यह क्षुद्रता कैसी जो अग्रदूतों की भूमिका निभाने में अवरोध बनकर अड़ गई है । समर्थ को असहाय बनाने वाला यह व्यामोह आखिर भवबन्धन है ? कुसंस्कार है ? दुर्विपाक है या मकड़ी का जाला ? कुछ ठीक से समझ नहीं आता । यह समय पराक्रम और पौरुष का है, शौर्य और साहस का है । इस विषम वेला में युग के अर्जुनों के हाथों से गाण्डीव क्यों छूटे जा रहे हैं ? सिद्धान्तवाद क्या कथा-गाथा जैसा कोई विनोद-मनोरंजन है, जिसकी यथार्थता परखी जाने का कभी कोई अवसर ही न आये ?"...."प्रज्ञा परिवार को अन्य संगठनों, आन्दोलनों, सभा-संस्थानों के समतुल्य नहीं मानना चाहिए । वह युग सृजन के निमित्त अग्रगामी मूर्धन्य लोगों का एक सुसंस्कारी परिकर-परिसर है"...."उन्हें केवल एक ही बात सोचनी चाहिए कि समय की जिस चुनौती ने जाग्रत आत्माओं को कान पकड़कर झकझोरा है, उसके उत्तर में उन्हें दाँत निपोरने हैं या सीना तानना है ?"

"काफिला लम्बा है । चलना दूर है । पर रास्ते में साथियों को भटकते देखकर दर्द होता है । मंजिल तक पहुँचते-पहुँचते क्या उँगलियों पर गिनने लायक ही कुछ साथी रह जाएँगे, इस आशंका से इन दिनों सीना धड़कता और सिर चकराता रहता है ।"

पीड़ित मानवता को समर्पित एक साधक की यह अन्तर्वेदना है, जो अप्रैल, १९८२ की अखण्ड ज्योति में 'अपनों से अपनी बात' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित हुई। यह प्रत्येक परिजन के लिए उनका उलाहना है कि जिन्हें आदर्शवाद को जीवन में उतार कर अग्रगामी भूमिका निभानी है, वे प्रमादग्रस्त क्यों होते जा रहे हैं ? जो स्वयं समाज को ऊँचा उठाने के लिए तिल-तिल कर जला हो उसकी यह व्यथा स्वाभाविक है, यह अभिव्यक्ति भी कि "क्या काफिला बिछुड़ ही जाएगा ?"

उनके इन मर्मस्पर्शी शब्दों ने प्रत्येक परिजन को अंदर तक झकझोरा व चिन्तन के लिए विवश किया कि वे किस निमित्त इस महासत्ता से जुड़े थे ? मात्र स्वार्थलिप्सा की पूर्ति हेतु ? अपनी क्षुद्र महत्त्वाकांक्षाओं के लिए अथवा कोई विवशता उन्हें दीन-दरिद्र बनाकर खींच लाई थी ? यदि नहीं तो जो कर्तृत्व कुलपति का है, युग-चिन्तक का है-वह उनके जीवन में क्यों नहीं उतरता ? इस उद्बोधन के साथ ही पूज्य गुरुदेव ने 'मलाई को तैरकर ऊपर आने का आमंत्रण' भी दिया । यह वह समय था जब वे अपनी शक्तिपीठों की प्राण-प्रतिष्ठा का दौरा सम्पूर्ण कर एक क्षुब्ध मनःस्थिति से लौटे थे । एक विशाल परिवार में से प्रचलनों से विपरीत चलने वाले, धारा के विपरीत चल पड़ने वाले महामत्स्यों की उन्हें तलाश थी। कैसे उन्हें उनींदी मनःस्थिति से उबारा जाए, यही चिन्तन उनके मन में सतत चल रहा था । वंदनीया माताजी को उन्होंने कार्यक्षेत्र से भी जो पत्र लिखे, उनमें यही बातें थीं कि संगठन में से मणि-मुक्तक तलाशने हेतु अभी एक पुरुषार्थ और बाकी है-ताकि "जीवट का अंश कहीं भी अधिक परिमाण में विद्यमान हो तो वह गरम होने पर मलाई की तरह उछलकर ऊपर आ जाए व दूध पर तैरने लगे ।"

प्रस्तुत प्रसंग यहाँ जानबूझकर परिजनों को आत्म-चिन्तन पर विवश होने के लिए उद्धृत किया गया है व यह समीक्षा करने के लिए भी कि इस सम्पादकीय का मूल्य मन्तव्य क्या था? क्या वे अपनी अभी तक की उपलब्धियों से निराश थे अथवा परिजनों को कसौटी पर कसने के लिए अन्तिम तैयारी के लिए चेतावनी दे रहे थे। यदि मई, १९८२ के अंक पर दृष्टि डालें जो इसके एक माह बाद प्रकाशित हुआ तो तथ्य समझ में आने लगता है। प्रस्तुत अंक से स्पष्ट होता है कि लाखों जन-समूहों के बीच प्राण फूँकने वाले गुरुदेव एकाएक स्तब्ध कैसे हो गए? शान्तिकुंज की सत्र-शृंखलाओं में मुखर अपनी वाणी को मौन क्यों कर लिया? इस पर किसी को असमंजस हो तो उसे उनकी नयी जिम्मेदारियाँ समझनी चाहिए, जिसमें "उन्हें आपत्ति धर्म को पालने के लिए तवे पर रोटी जलती छोड़कर बच्चे को बिच्छू पकड़ने से रोकने के लिए दौड़ पड़ने वाली माता की तरह नई रीति-नीति अपनानी पड़ रही है ।"

वस्तुतः वातावरण की बढ़ती विक्षुब्धता व नवसृजन के लिए एक हजार प्राणवानों की खोज उन्हें आकुल-व्याकुल कर रही थी । लाखों व्यक्ति, जो उनसे जुड़े थे व परिजन जो उनके आस-पास विद्यमान थे, उन को मथकर वे मलाई टटोल रहे थे । इसके लिए तपने की आवश्यकता थी और पूज्य गुरुदेव के प्रवास कार्यक्रम पर जाते रहने व शान्तिकुंज में यथास्थिति प्रवचनों में सम्बोधित करते रहने से तो बात नहीं बनने वाली थी । देवपरिवार तो बस

लिया, सत्रों में भी परिजनों को बुला लिया, पर अब एकाकी तप-साधना की आवश्यकता उन्हें अनुभव हो रही थी, जो वातावरण में प्रचण्ड चक्रवात उत्पन्न कर सके, सोयों को जगा व जाग्रतों को क्रियाशील बना आदर्शोन्मुख कर सके। यहीं से आरम्भ होती है पूज्य गुरुदेव की एकाकी तप-साधना, जिसने एक वर्ष बाद ही सूक्ष्मीकरण साधना का रूप ले लिया । प्रारम्भ में जो उलाहना दिया गया वह भी ऋषिचिन्तन से उद्भूत हुआ व परिजनों को भाव-भरा उद्बोधन देते हुए उनसे अपनी रीति-नीति को बदलने को कहा गया, वह भी उसी मनीषी का चिन्तन नवनीत था । यह उलटी नीति कैसी ? जब युग बदलने जैसा भारी दायित्व सिर पर हो तो महाकाल पुचकार एवं दण्ड, दुलार एवं उलाहना देने की, दोनों ही नीति अपनाता है । देवअंशधारी जाग्रतात्माएँ भौतिकवादी प्रवाह में बह कर कहीं अपने लक्ष्य से भटक न जाएँ, लोकेषणा-वित्तेषणा की चपेट में आकर लोकसेवा के पथ से विरत न हो जाएँ, इसके लिए इसी स्तर की फटकार की जरूरत भी सदा से रही है व कृष्ण द्वारा अर्जुन को, राम द्वारा हनुमान को व सुग्रीव को तथा बुद्ध द्वारा आनन्द को लगाई गई लताड़ के रूप में सामने आती रही है । इस अवतारीसत्ता ने भी वांछित प्रतिक्रिया उत्पन्न होती देखी स्वयं को जनसम्पर्क से विरतकर पाँच वीरभद्रों के उत्पादन की, पंचकोषों के जागरण, राष्ट्र की कुण्डलिनी को जगाने की अपने जीवन की अन्तिम साधना में प्रवेश करने का निर्णय ले ही लिया।

उनके इस उलाहने व प्रत्यक्ष रूप से न मिलने का निर्णय लेकर पुनः मात्र दर्शन हेतु अपने दरवाजे खोलने तक की अवधि के बीच न केवल स्थानीय स्तर पर सक्रियता का उफान आया, क्रिया-कलापों में तेजी आई, अगणित नये प्रबुद्ध, प्रतिभाशाली व भावनाशील इस मिशन से इसी अवधि में जुड़े । इस लेख के प्रारम्भ में दिए गए उलाहनों के बाद पूज्य गुरुदेव ने उसी वर्ष जून, ८२ में परिवार में सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन हेतु परिवार-निर्माण विशेषांक, युगमनीषा के आह्वान हेतु अक्टूबर व नवम्बर, १९८२ का विशेषांक लिखा, प्रज्ञाअभियान में कंधे से कंधा मिलाकर चल सकने वाले मूर्धन्यों को, प्रतिभाओं को आमंत्रित किया तथा कल्पसाधना, प्रज्ञायोग तथा दिव्य-अनुदान की धारणा के महत्त्वपूर्ण निर्धारण किए । इस वर्ष जो साधना-सत्र चले वे विशिष्ट थे । इनमें काया-कल्प, आध्यात्मिक भाव-कल्प स्तर की साधना करायी गयी थी व आत्म-शोधन की महत्ता प्रतिपादित की गयी थी । मिशन को सात संसदों में (शोध, अध्यापक, सम्पर्क, कला, महिला, युवा तथा धर्म-संसद) इसी वर्ष बाँटकर भिन्न-भिन्न विधाओं से जुड़े सक्रिय व्यक्तियों को प्रज्ञाअभियान से सम्बद्ध होने का आह्वान किया ।

१९८३ में स्वाध्याय-मण्डलों के गठन का महत्त्वपूर्ण निर्देश उनकी लेखनी से वसन्त पर्व के दिन उद्भूत हुआ। प्रकारान्तर से यह शक्तिपीठों-प्रज्ञासंस्थानों के समानान्तर चलदेवालयों व चलप्रज्ञापीठों की स्थापना थी, जिसके माध्यम से युगसाहित्य का जन-जन तक विस्तार होना था। देखते-देखते चौबीस हजार स्वाध्याय मण्डल विनिर्मित हो अपने-अपने क्षेत्र में सक्रिय क्रिया-कलापों में नियोजित हो गए । अप्रैल, १९८३ में अपने एक महत्त्वपूर्ण सम्पादकीय में उन्होंने लिखा था कि-"प्रज्ञापरिवार की खानातलाशी इस दृष्टि से ली जा रही है कि इस गुदड़ी में भी कहीं लाल छिपे हो सकते हैं । ये हाथ लगें तो काम चले ।" पूरे वर्ष वे स्वयं जन-सम्पर्क से विरत रह समयदान के लिए प्रज्ञा-परिजनों को झकझोरते रहे । प्रज्ञापुरश्चरण को भी तीव्रगति इसी वर्ष दी गयी ।

१९८४ की वसन्त पर्व से उन्होंने "गोदी में चढ़कर खेलने हेतु मचलने वाले खिलौनों की माँग करने वाले बच्चों को अपनी स्थूलकाया का दर्शन देने की बजाय सुपात्रों को सूक्ष्मरूप में आत्मबल का दैवी अनुदान देने" का निश्चय किया । यह उनके क्रमशः दृश्यपटल से हाथ खींचकर सूक्ष्म, और सूक्ष्म भूमिका में जाने का पूर्व निर्धारित उपक्रम था, जिसे विधिवत रूप से चैत्र नवरात्रि १९८४ से आरम्भ कर दिया गया । उन्होंने मई, १९८४ के अंक में लिखा कि-"दूरदर्शी योजना बनाने के लिए एकान्तवास व एकाग्रचिन्तन की आवश्यकता पड़ती है । इसे न तो विरक्ति कहना चाहिए, न अशक्ति वरन् तूफानों से आगे चलने वाला सन्नाटा कहना चाहिए इस अवधि की साधना को उन्होंने छायापुरुष की साधना कहा, जिसमें वे पाँच शरीरों से भिन्न-भिन्न कार्य सूक्ष्मजगत में करना चाहते थे । वंदनीया माताजी ने इस सम्पादकीय में लिखा कि-"हम सभी अनुभव करें कि गुरुदेव न थक गये हैं और न पलायन ही कर रहे हैं, वरन् वे सूक्ष्मीकरण की जीवनचर्या अपनाकर अपनी वर्तमान क्षमता में अनेक गुनी बढ़ोत्तरी कर रहे हैं ।" यह आश्वासन उन के लिए था जिन्हें अचानक परामर्श-वार्तालाप विचार-विनिमय का क्रम समाप्त होने पर खिन्नता अनुभव हो रही थी ।

जून, १९८४ का अंक एक विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने अपनी अब तक की जीवन-यात्रा का दार्शनिक आधार सूक्ष्मीकरण-साधना का स्वरूप व उसका माहात्म्य बताया था । गायत्री जयन्ती (८ जून) तक यह अंक उन सभी के पास पहुँच गया, जो सूत्र-संचालक के एकाएक दृश्यपटल से चले जाने से क्षुब्ध व व्यथित थे । जुलाई का अंक भी इसी सामग्री का उत्तरार्द्ध था । इसमें स्पष्टीकरण था कि प्रस्तुत सूक्ष्मीकरण-साधना किस निमित्त की जा रही है । उन्होंने लिखा कि-"साधक स्तर का एक स्थूल शरीरधारी विशेष स्थिति में पाँच सूक्ष्मशरीरों द्वारा पाँच गुने काम हाथ में ले सकता है। इनमें से एक शरीर को विशेष रूप से इसीलिए सुरक्षित रखा व नियुक्त किया गया है कि वह हमारे पास आने वाले असमर्थों, दुःखीजनों, पीड़ितों के आँसू पोंछता, सिर दबाता व मलहम लगाकर दुलार-पुचकार सहित गोदी में बिठाता रहे ।" शेष शरीर नव-निर्माण का जाग्रतात्माओं

को जगाने का, विभीषिकाओं को निरस्त करने का कार्य पूरा करते रहेंगे।

उपर्युक्त चिन्तन बताता है कि सूक्ष्मीकरण साधना के दौरान वे आने वाले भविष्य का ताना-बाना बुन रहे थे। अपने स्थूलशरीर के क्रिया-कलापों को सीमित कर सूक्ष्म से और अधिक व व्यापक क्षेत्र में सक्रिय होने के लिए स्वयं पीछे हट रहे थे व वंदनीया माताजी को इस भूमिका के लिए तैयार कर रहे थे, जो उन्हें उनके महाप्रयाण के बाद निभानी थी। यह सारा सुनियोजित निर्धारण एक ऐसी सत्ता द्वारा ही सम्भव है, जो विशिष्ट उद्देश्यों के लिए धरती पर आयी हो, समर्पित जीवन जी चुकी हो, काया की क्षमता से सौ गुना अधिक काम कर चुकी हो एवं निरन्तर उनके बताए सूत्रों पर चलने वालों का मार्गदर्शन देते रहने का आश्वासन देकर नव-सृजन की आधारशिला रख रही हो। पूज्य गुरुदेव का अवतार रूप विभिन्न कर्तृत्वों में तो प्रकट होता ही है, विविध रूपों में समय-समय पर व्यक्त उनके उद्गारों में भी झलकता है।

वे लिखते हैं कि- हमें अपनी प्रवृत्तियाँ बहुमुखी बढ़ा लेने के लिए कहा गया है। इसके लिए एक तरीका यह है कि स्थूलशरीर को बिलकुल छोड़ दिया जाए और जो करना है उसे पूरी तरह एक या अनेक सूक्ष्मशरीरों से सम्पन्न करते रहा जाए। निर्देशक को जब उचित लगेगा तो इस काया को उसे निपटाने में देर भी न लगेगी। फिर हम सूक्ष्म व कारणशरीर में अधिक कार्य कर सकेंगे, इसके पश्चात् वे सूक्ष्मीकरण साधना में चले गये। उसी संदर्भ में **परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी में ही पढ़ें उनकी सूक्ष्मीकरण साधना का पूर्ण विवरण--**

# शरीर रहते निष्क्रियता अपनाने का क्या प्रयोजन

शरीर और आत्मा का चोली-दामन जैसा साथ है। आत्मा को इसमें रहने का स्वेच्छा से आकर्षण होता है। इस लिए गर्भनिवास, मृत्युकष्ट जैसी अनेक यातनाएँ सहते और आये दिन संघर्ष करने का कष्ट रहते हुए भी वह उसी में बार-बार निवास करने के लिए मचलती है। कहने को जन्म-मरण की व्यथा पर क्षोभ प्रकट करते हुए भी विज्ञजन इसी को धारण करने के लिए लौट पड़ते हैं। कितने ही जीवनमुक्त इसके लिए बाधित किये जाते हैं। भगवान के पार्षद सदा रिजर्व फोर्स में उनके समीप ही नहीं बैठे रहते, वरन् समय की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए समय-समय पर मार्गदर्शकों की भूमिका निभाने के लिए लौटते हैं। आत्मा अमर है, अदृश्य है, तो भी उसका परिचय इस शरीर से ही मिलता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण वह आत्मा को परमप्रिय है। उसे सजाने, सुविधाओं के अम्बार लगाने में वह चूकता भी नहीं। यहाँ तक कि कुकर्मरत होकर भावी दुष्परिणामों को जानते हुए भी उसे सन्तोष देने, प्रसन्न करने के लिए वैसा ही कुछ करता है जैसा कि स्नेह-दुलार भरे अभिभावक अपने इकलौते बेटे की मनमर्जी-हठधर्मी पूरी करने के लिए करते रहते हैं। संक्षेप में यही है शरीर और आत्मा का मध्यवर्ती सम्पर्क-सूत्र और सघन-सहयोग का सार-संक्षेप।

अपने को भी यह शरीर लेकर जन्मना पड़ा और जो कुछ भी भला-बुरा बन पड़ा है, सो इसी के माध्यम से सम्पन्न किया है। इसे नीरोग और दीर्घजीवी रखने के लिए ईमानदारी और सतर्कता के साथ प्रयत्न किया है। सदा इसे स्रष्टा की अमानत माना और उसमें सन्निहित क्षमताओं को उभारते हुए श्रेष्ठतम सदुपयोग का ध्यान रखा है। आत्म-उत्कर्ष और लोकमंगल के निमित्त जो प्रयास बन पड़े हैं उनके पीछे प्रेरणा तो चेतना में से ही उभरी है, पर श्रम तो शरीर को ही करना पड़ा है। इसलिए इस अनन्य सेवक और परम सहयोगी शरीर के प्रति हमारा घनिष्ट मैत्रीभाव है। इसके प्रति असीम स्नेह और सम्मान भी। इसे सार्थक और श्रेयाधिकारी बनाने के लिए कुछ उठा नहीं रखा है। जीवन को निरर्थक मानने, उसे भारभूत समझने की भूल कभी भी नहीं की। मल-मूत्र की गठरी इसे कोई भी क्यों न कहता रहे, झंझटों से निपटने के लिए मरने की प्रतीक्षा अन्य कोई भले ही करता रहे, पर अपने मन में ऐसे विचार कभी भी नहीं उठे। न मरने की जल्दी पड़ी और न इसे भार-भूत समझकर ऐसे ही खीजते-खिजाते दिन गुजारे। समय के एक-एक क्षण का सदुपयोग करने की बात हर समय ध्यान में रही। सोचा जाता रहा कि स्रष्टा की सर्वोत्तम कलाकृति का अनुदान मिला है, तो इस जीवन का श्रेष्ठतम सदुपयोग क्यों न कर लिया जाए। गिनी गाँठी साँसें मिलती हैं। इनका सदुपयोग करने में ही बुद्धिमानी है। जब बुद्धि मिल गई तो जीवन की हर इकाई का, हर साँस का सर्वश्रेष्ठ प्रयोग करने में क्यों चूका जाए? यही चिन्तन सिर पर सदा छाया रहा, फलतः समय कदाचित ही कभी निरर्थक गया हो। शरीर को नित्य-कर्म और आवश्यक क्षणिक विश्राम के उपरान्त कदाचित् ही कभी खाली रहने दिया गया हो। इसका सन्तोष है।

यों जन्म कितने ही लिए हैं और अभी कितने ही और लेने पड़ेंगे, पर जहाँ तक स्मरण आता है, इतने लम्बे समय तक, इतनी समझदारी के साथ अन्य शरीरों का इतना महत्त्वपूर्ण सदुपयोग नहीं बन पड़ा। ऐसी दशा में कृतज्ञता का तकाजा है कि मात्र रूखी रोटी खाकर उतना कठिन सेवा-धर्म निबाहने वाले शरीर का भरा-पूरा अहसान माना जाए और उसे सदा-सर्वदा साथ रखने और काम देने, काम लेने के बहाने मैत्रीधर्म का लम्बे समय तक निर्वाह किया जाए।

इस स्थिर विचारधारा के रहते हुए हमें इन दिनों कुछ ऐसे कदम उठाने पड़ रहे हैं, जो उपर्युक्त प्रतिपादन से लगभग ठीक उलटे पड़ते हैं। नये निर्धारणों के अनुसार अब इस शरीर का लोकोपयोगी प्रयोग घटते-घटते समाप्त

हो जाएगा और वह नित्यकर्म जैसे कुछ सीमित कार्यों में ही प्रयुक्त होता दीख पड़ेगा । लोकोपयोगी सेवा-कार्यों में निरन्तर संलग्न रहने का अभ्यस्त यह शरीर-भविष्य में निष्क्रिय जैसी स्थिति में समय गुजारे इसमें औरों को आश्चर्य और अपनों को असमंजस हो सकता है । इसमें समाज के लिए किए जाने वाले उपयोगी सेवा कार्यों से वंचित होना पड़ेगा, जो जन-कल्याण की दृष्टि से अभी बहुत कुछ करने की स्थिति थी उसमें कमी पड़ सकती है। कम से कम प्रत्यक्षतः तो स्पष्ट ही ऐसा दीखता है । अब तक जो बन पड़ा है शरीर से ही बना है । अस्तु, सहज ही यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में भी जब तक यह काम देगा, पिछले दिनों जितने ही महत्त्वपूर्ण काम करेगा। परिपक्वता बढ़ जाने के कारण यों आशा तो और भी अधिक की जा सकती है । इतने उपयोगी शरीरतन्त्र को इतने आड़े समय में इस प्रकार स्वेच्छापूर्वक जाम कर दिया जाए, यह सामान्य रीति से समझ में आने वाली बात नहीं है ।

ईश्वरेच्छा से तो कुछ भी हो सकता है । मरण सभी का निश्चित है । कभी पक्षाघात आदि से भी असमर्थ हो सकते हैं । ऐसी स्थिति में सन्तोष कर लिया जाता और विधि का विधान समझकर किसी प्रकार मन समझा लिया जाता है । संसार चक्र ऐसा ही है, जिसमें कभी किसी के बिना काम नहीं रुका । अवतार, ऋषि, देवमानव इस धरती पर आये और बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य करते रहे, पर जब चले गये तो कुछ समय ही उनका अभाव खटका । बाद में ढर्रा अपने ढंग से चलने लगा । किसी के रहने, न रहने से इतनी बड़ी दुनिया का गतिचक्र रुकता नहीं है, पर वह होता विवशतापूर्वक । जाने वाले बुलाये गये हैं । अपने आप मैदान छोड़ भागने वालों को पलायनवादी कहा और धिक्कारा जाता है । मिलिटरी में तो ऐसे समर्थ सेवारतों के भाग खड़े होने पर कोर्ट-मार्शल तक होता है। यह बातें अपने ध्यान में न रही हों सो बात नहीं । फिर क्या कारण हुआ कि गतिविधियाँ जाम करने का निश्चय बन पड़ा ?

इस नये निश्चय में कई पक्षों की कई प्रकार की हानियाँ दृष्टिगोचर हो सकती हैं । सर्वप्रथम अपने को, जिसने आजीवन एक से एक बढ़कर कठिन और महत्त्वपूर्ण काम करने की आदत डाली और प्रसन्नता अनुभव की हो, उसको समर्थ रहते निष्क्रिय हो बैठना कितना कठिन पड़ेगा । कितना मन मारना पड़ेगा? इसे कोई भुक्तभोगी ही समझ सकता है । निष्क्रिय पड़े लोहे को जंग खा जाती है । प्रकृति के नियम सब पर एक समान लागू होते हैं । निठल्लापन चढ़ते ही हाथ-पैर जकड़ सकते हैं, ऊब चढ़ सकती है और भारभूत जिन्दगी जल्दी समाप्त हो सकती है ।

द्वितीय वह वर्ग आता है, जो हमें लोकसेवक की दृष्टि से देखता है । उसे आघात लगेगा-स्थूल दृष्टि से करनी और कथनी में अन्तर देखकर । अपने द्वारा हर किसी को युगधर्म निभाने के समय निकालने के उपदेश दिये जाते रहे हैं । लाखों ने उन्हें अपनाया भी है । तथाकथित भजनानन्दी लोगों को कुटिया छोड़कर प्रव्रज्या पर निकल पड़ने की प्रेरणा मिली है । जिनके पास जो समय बचता है, उसे उन्होंने जन-कल्याण में लगाने का नया व्रत लिया है। औरों को ऐसा उपदेश देने के उपरान्त स्वयं एकान्तसेवी बन जाना, हर किसी को अटपटा लगेगा । सामने न सही पीठ पीछे तो लोग इसमें करनी और कथनी का अन्तर देखेंगे ही और जो मन में है, उसे प्रकट भी करेंगे । इस प्रकार प्रशंसा निन्दा में बदलेगी । कहने वाले इसे समाज के साथ विश्वासघात भी कहेंगे । जिनके पास है और वह दें नहीं तो कृपण या निष्ठुर कहे जाते हैं, ऐसा लांछन अपने ऊपर भी तो लग सकता है । संचित प्रशंसा और प्रतिष्ठा पर इस कारण हरताल फिर और कालिख पोत सकती है ।

तीसरा वर्ग वह है, जो कन्धे से कन्धा और कदम से कदम मिलाकर साथ देता और साथ चलता रहा है। इस वर्ग में से जो अधिक साहसी हैं, वे प्रथम पंक्ति में आकर जीवनदानी बने हैं । शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस एवं गायत्री तपोभूमि में रह रहे हैं । सन्त और ब्राह्मण की जीवनचर्या जिन्होंने अपनाई है, औसत भारतीय स्तर का निर्वाह और बारह घण्टे जमकर काम करने का जिन्होंने ऋषि-मुनियों जैसा जीवनक्रम अपनाया है, ऐसे परिवार २०० से भी अधिक हैं । फिर ऐसे परिवार भी दो हजार हैं जो मनुष्य हरिद्वार तो नहीं बुलाये गये, पर अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में रहकर काम करने के लिए नियुक्त कर दिये गये हैं । प्रज्ञा-पीठों का संचालन प्रायः ऐसे ही लोग कर रहे हैं । वरिष्ठ प्रज्ञापुत्रों की परिव्राजक भूमिका निरन्तर निभा रहे हैं ।

समाज-सेवा से जिनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, जो व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित हैं, जो पत्रिकाओं के, साहित्य के माध्यम से प्रकाश प्राप्त करते रहते हैं, जो पत्र-व्यवहार द्वारा गुत्थियों को सुलझाने और सुखी-समुन्नत बनने के लिए प्रकाश प्राप्त करते रहते हैं, उनकी संख्या भी कम नहीं है । जिनका सहज स्नेह है, वे ऐसे ही जब मन में उमंग उठती है तब हरिद्वार अकारण भी दौड़ पड़ते हैं । तीर्थयात्रा पर्यटन के बहाने परिवार को लेकर हजारों-लाखों हर वर्ष आते हैं । ठहरने की सुविधा शहर में होते हुए भी ढेरों मार्ग-व्यय और आने-जाने का झंझट उठाते हुए भी शान्तिकुंज पहुँचते हैं, ठहरते हैं । इस समुदाय में हैरानियों से राहत पाने के इच्छुक ही नहीं, उत्साहवर्द्धक प्रगति-पथ प्राप्त करने के उत्सुक ही नहीं, ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जिनका सहज स्नेह है । वह स्नेह ही उन्हें ढेरों पैसा और समय खर्च करके दर्शन करने का नाम लेकर एक बार नहीं बार-बार आने को विवश करता रहता है । इनकी सहज और सघन आत्मीयता सहज ही जानी और छलकती-झलकती देखी जा सकती है ।

इस समुदाय को जब विदित होगा कि निष्क्रियता ही नहीं अपनाई गई, मिल-जुलकर और बोलना, बात करना तक बन्द कर दिया गया तो निश्चय ही उन्हें चोट लगेगी।

जो लोग हमें प्रेम बटोरने और लुटाने वाला मानते रहे हैं, उन्हें नीरस, निष्ठुर कहते भी देर न लगेगी । इसमें उनका कसूर भी नहीं है । जो आँखों के सामने प्रत्यक्ष देखा जा रहा है उसे झुठलाया भी कैसे जाए ?

अनेकों ने अध्यात्म की सजीव प्रतिमा के रूप में हमें समझा है और उस तत्त्वज्ञान को अपनाये जाने का वास्तविक स्वरूप क्या हो सकता है, उसे समझने-समझाने के लिए एक जीवन्त उदाहरण सामने पाया है। 'साधना से सिद्धि' के सिद्धान्त पर जिन्हें अनेकों सन्देह थे, जो फलश्रुतियों को प्रत्यक्ष की कसौटी पर खरा उतरते नहीं देखते थे, उन्हें ऋद्धि-सिद्धियों की बात कपोल-कल्पना भर लगती थी, ऐसे निराश, उदास, दु:खी, असन्तुष्ट, अन्यमनस्क और अविश्वासी लोगों में से अनेकों ने अपने विचार बदले हैं । प्रत्यक्ष परिणति देखकर उनके डगमगाते हुए पैर रुके हैं। अब जब कि वह प्रत्यक्ष प्रकाश भी बुझने जा रहा है तो अपना और किसी दूसरे का कब किस प्रकार वह विश्वास और साहस प्राप्त कर सकेगा, जो पिछले दिनों करता रहा है ।

ऐसे-ऐसे अनेकों आक्षेप, असमंजस इस नये निर्णय से उठते हैं । विगत वसन्त पर्व से यह निर्णय घोषित होने के उपरान्त फरवरी, मार्च, अप्रैल महीनों में जितने भी प्रज्ञा-परिजन वसन्त सत्रों में अथवा सहानुभूतिवश शान्तिकुंज आये हैं, उन सबके चेहरों पर इस असमंजस को उभरता देखा गया है । उचित समझा गया कि उसका निराकरण समय रहते कर दिया जाए । विपन्न मनोदशा में न स्वयं ही रहना चाहिए और न दूसरों को रहने देना चाहिए, यही उचित है ।

# हमने आनन्द भरा जीवन जिया

भगवान जिसे अपनी शरण में लेते हैं अथवा जो भगवान की शरण में अपना समर्पणभाव लेकर पहुँचता है, उसके ऊपर देवलोक से अजस्र अनुकम्पा बरसने लगती है। उसे तृप्ति, तुष्टि और शान्ति की कहीं कमी नहीं रहती । इसे कोई भी कहीं भी प्रत्यक्ष देख सकता है । हमें यह अनुभूति आजीवन पग-पग पर होती रही है, इसलिए उस आनन्द का सदासर्वदा रसास्वादन करते रहने का अवसर मिला है, जिसे ब्रह्मानन्द, परमानन्द कहते हैं । इसे आत्मानन्द कहा जाए तो और भी अधिक उचित होगा, क्योंकि इसकी उत्पत्ति भीतर से होती है । समझा भर यह जाता है कि जो मिला, वह बाहर का अनुदान-वरदान है। पर वास्तविकता निहारने का पता चलता है कि यह भीतर का उत्पादन ही बाहर का अनुदान प्रतीत होता है । भीतर वाला खोखला है, तो फिर बाहर से कुछ हाथ लगने की आशा चली ही जाएगी ।

सूर्य में कितना ही प्रकाश क्यों न हो, समीपवर्ती दृश्य कितने ही सुन्दर क्यों न हों, पर यदि आँख की पुतली काम न करे तो समझना चाहिए कि सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है और दिन या रात्रि में कभी भी उसका अन्त न होगा। अपने कान की झिल्ली खराब हो तो फिर गायन-वादन या प्रवचन-परामर्श का लाभ ले सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं । अपना मस्तिष्क बिगड़ जाए तो यह समूची दुनिया पागलों से भरी हुई प्रतीत होगी । अपने प्राण निकल जाएँ तो फिर इस शरीर को कोई भी साथ या सुरक्षित रखने के लिए तैयार न होगा । अपनत्व का सही होना इस बात का प्रतीक है कि बाहर से भी जो सही है, खिंचकर पास आने लगेगा अन्यथा बाहर की उपयोगी वस्तुएँ भी अनुपयुक्त स्थान पर जाकर अनुपयुक्त उत्पादन ही करती हैं। साँप को दूध पिलाने पर उससे विष ही उत्पन्न होता है। यद्यपि दूध का गुण विष उत्पन्न करने का है नहीं।

अन्तर ने जब "सियाराम मय सब जग जानी" की मान्यता अपना ली और छिद्रान्वेषण की दुष्प्रवृत्ति का परित्याग करके गुण-ग्राहकता अपना ली तो फिर संसार का स्वरूप ही बदल गया । वह दीखने लगा जो दर्शनीय था। वह लुप्त हो गया जो अदर्शनीय, कुरूप, अवांछनीय था। जो सुन्दर है, उसे सरस होना ही चाहिए । अपने भीतर से रस बहा तो बाहर से भी उमंगें सम्मिलित होती चली गईं । नदी बहती है तो उसमें समीपवर्ती नाले भी जुड़ते जाते हैं । आगे चलकर वह सरिता समुद्र में जा मिलती है, जहाँ अथाह जलराशि के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं । यह लाभ बालू के टीलों को नहीं मिलता । वे अन्धड़ के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक उड़ते फिरते हैं । धूप निकलते ही आग की तरह तपने लगते हैं । वर्षा होती है तो भी उन्हें शान्ति नहीं । उथली कीचड़ मात्र बनते हैं और किसी जलाशय में पहुँचा देने पर भी तली या किनारे पर फिर बालू के रूप में पूर्ववत अपने अस्तित्व का परिचय देते हैं।

सदाशयता का दिव्य-दर्शन यही है, भगवान की झाँकी जो बिना किसी कठिनाई के कहीं भी, कभी भी कर सकता है । अध्यात्म का निर्झर फूटते ही एक नई दृष्टि उत्पन्न हुई, संसार कितना सुन्दर और कितना भला है। इसमें कितनी सद्भावना और सेवा-अनुकम्पा भरी पड़ी है। यहाँ जो कुछ है जिसके आधार पर कृतज्ञता ही अनुभव की जाती रहेगी। जो कडुवा लगता है, अप्रिय प्रतीत होता है, उसमें भी बहुत कुछ ऐसा होता है जो आज न सही, अपने लिए कल शिक्षाप्रद अनुभव हो सके, सुधारात्मक सेवा-साधना करने का अवसर प्रदान कर सके । फिर जो प्रिय है, उपयोगी है, सहयोगी है उसके गुणानुवादों को यदि थोड़ा बढ़ाकर देखा जा सके तो प्रतीत होगा कि आत्मीयता और सेवा सद्भावना ही चारों ओर से बरस रही है। यदा-कदा जो कटुता प्रतीत होती है उसमें भी अपने उस सुधार का तारतम्य छिपा पड़ा है, जो अधिक पवित्र, अधिक जागरूक, अधिक प्रखर बनने का अवसर प्रदान करता है। यदि प्रतिकूलता न हो तो लोग अपनी जागरूकता ही खो बैठें । सुधार के लिए भी और प्रगति के लिए भी

जागरूकता आवश्यक है। वह बिना प्रतिकूलता से पाला पड़े और किसी प्रकार उत्पन्न ही नहीं होती । सुविधा-सम्पन्न तो विलासी और आलसी बनकर रह जाते हैं । उन्हें सँभलने, सीखने, सुधरने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । फलतः वे अभागों की तरह जहाँ के तहाँ जड़वत बने रह जाते हैं । सुविधा और प्रगति में से एक को चुनना हो तो समझदारी सदा असुविधाएँ अपनाकर ऊँचे उठना, आगे बढ़ना स्वीकार करेगी । अपनी मनःस्थिति अध्यात्मवादी दृष्टिकोण ने कुछ ऐसी ही बदल दी, जिसमें जहाँ भी नजर उठाकर देखा गया, आनन्द से भरा-पूरा वातावरण ही दीख पड़ा ।

यह सब स्व-उपार्जित था, ऐसी मान्यता उदय होते ही कृतघ्नता पनपती और अहमन्यता सिर पर चुड़ैल, डाकिन की तरह चढ़ती है । अहंकारी एक प्रकार का उन्मादी होता है । उसे दूसरों के उपकार दीखते ही नहीं । जो अपना नहीं है, उस कर्तृत्व पर भी दावा करता है । फलतः धृष्टता बढ़ती है । साथ ही वे लोग, जो उस सफलता में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहयोगी थे, खिन्न होते हैं । सहयोगियों की नाराजगी, किसी के लिए भी भारी पड़ेगी । कम से कम इन परिस्थितियों में जबकि व्यक्ति एकाकी नहीं रहा । अपने को सबके साथ और सबको अपने साथ वह जोड़ता है । इसमें अनुकूलता तभी रहती है, जब सभी सहयोगी या सम्बन्ध व्यक्ति अपने साथ प्रत्युत्तर में सफलता अनुभव करें । इस व्यावहारिक दृष्टि से भी सघन आत्मीयता की अभिव्यक्ति अपनी ओर से होना आवश्यक है । यह तभी हो सकती है जब वस्तुतः वैसी अनुभूति भी हो । दिखावटी अभिव्यक्तियों को अन्तराल कुछ ही समय में नंगी करके रख देता है । वे आवरण उठाने पर भी टिकती, ठहरती नहीं ।

इस विराट विश्व के कण-कण से अपने को अजस्र अनुकम्पा बरसती दीखी और उसकी सघन अनुभूति निरन्तर होती रही । लम्बा जीवन इसी उल्लास का रसास्वादन करते हुए बीता है । प्रतिकूलता, शत्रुता, अभाव, भय, आशंका, उपेक्षा आदि का अनुभव होते ही सब कुछ नीरस हो जाता है । इतना ही नहीं, भयानक भी दीखने लगता है । यही है-अपने मन का चोर, जो चारों ओर प्रेत-पिशाच बनकर नाचता है और जीवन की सुख-शान्ति को निगल जाता है । भीतर विक्षोभ पड़े हों तो बाहर विद्रूपता रहेगी ही । भीतर शान्ति और सन्तोष हो तो बाहर स्नेह, सौजन्य भरा वातावरण दीखेगा ही ।

चारों ओर दृष्टि पसार कर जब भी देखा, भगवान अनुग्रह बरसाते दीखे । काया पर दृष्टि डाली तो वह बिना कोई अड़ंगा अटकाये, इच्छित क्रिया-कलाप में संलग्न दीखी। बात यह भी थी कि उसे हैरान भी नहीं किया गया । असंयम से, चटोरेपन से न पेट खराब किया गया और न जीवनी-शक्ति के भण्डार को खोखला । नियमित दिनचर्या अपनाकर ऐसा कुछ नहीं किया गया, जिससे काया कोसती और काम करते समय रोग-शोक, दुर्बलता आदि का बहाना बनाती । अभी भी जब छुरे की चोट लगने के दिनों काया की जाँच-पड़ताल हुई तो एक्सरे में हड्डियाँ ऐसी पाई गईं, मानो वे अठारह वर्ष के लड़के की हों। रक्त जाँचा गया तो उसमें हीमोग्लोबिन-लौह आदि की वैसी कमी न थी जैसी कि पचहत्तर वर्ष के बुड्ढों के शरीर में रक्तस्राव के बाद आमतौर से होनी चाहिए । रक्तचाप, हृदयगति, पाचन-तन्त्र, निद्रा आदि से सम्बन्धित सभी अवयव अपना-अपना काम ठीक प्रकार करते पाये गये। इस आधार पर काया के प्रति आपसी कृतज्ञता कम नहीं जो आजीवन साथ रही और काम से बिना जी चुराये, ईमानदारी के साथ पूरा-पूरा परिश्रम करती रही ।

इसके बाद दूसरा नम्बर है-सहधर्मिणी का । उन्होंने भी प्रायः आधी शताब्दी ऐसे ही सहायता की जिसे काया-छाया का अभिन्न सम्बन्ध कहा जाता है । हम लोगों की जन्मजात मनःस्थिति ऐसी है, जिसमें बिना गृहस्थ बनाये भी जीवनक्रम भलीप्रकार चल सकता था, पर सर्व-साधारण के लिए उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यही उपयुक्त समझा गया कि गृहस्थ बनाकर रहा जाए । इससे आत्मिक-प्रगति में कोई व्यवधान नहीं पड़ता, वरन् सुविधा ही रहती है। दोनों एक-दूसरे के चौकीदार, संरक्षक, सहयोगी, पूरक बनकर रहते हैं तो काम हल्का हो जाता है और मंजिल आसान पड़ती है ।

माताजी की सेवा-सहायताओं का वर्णन करना तो यहाँ आत्मश्लाघा जैसा होगा, ऐसा करने पर तो अपनी काया की भी उतनी ही सराहना करनी पड़ेगी । फिर अनेकों मित्र, कुटुम्बी, स्नेही, सहयोगी, निकटवर्ती, दूरवर्ती ऐसे गिने जा सकते हैं जिन्होंने यदा-कदा नहीं, अनवरत सेवा-सहायताएँ की हैं । माताजी का दर्जा उनमें कुछ ऊँचा बैठता है, क्योंकि उनका स्नेह-सहयोग ही नहीं, वात्सल्य भी हमने भरपूर पाया है । सन्तानें भी उनकी हैं । उनके प्रति भी उनकी ममता न रही हो तो ऐसी बात नहीं है, पर हमें वे उनसे अधिक उदारतापूर्वक परिपोषण देती रही हैं, उनका मूल्यांकन, तुलनात्मक दृष्टि से कम नहीं किया जा सकता। वे अनवरत रूप से सहधर्मिणी रही हैं। उनके कारण हमें निजी जीवन में भी धर्म-धारणा पर अडिग रहने और दूसरों को उस दिशा में चला सकने में असाधारण सहायता मिली है। एक शब्द में उन्हें 'सजल श्रद्धा' कहा जा सकता है। हम सब माताजी के जीवन का श्रद्धा की जीवन्त प्रतिमा के रूप में साक्षात्कार करते हैं।

काया माता के अनुग्रह से और माताजी भगवान के वरदान की तरह हमें मिलीं । उनका समुचित सम्मान करने में कदाचित् ही कभी चूक की हो । स्नेह तो वे ही देती रही हैं । हम कहाँ से दे पाते । एक शब्द में इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने बायें हाथ जैसी नहीं दाहिने हाथ जैसी भूमिका निभाई है । कभी सोचते हैं कि यदि वे साथ न रही होतीं, तो हम इतना कर पाते क्या, जो कर सके ? उनके वात्सल्य ने हमारी ही तरह समूचे गायत्री परिवार को, दूरवर्ती वातावरण को कृत-कृत्य किया है ।

हमें अगणित विज्ञात और अविज्ञात व्यक्तियों की प्रत्यक्ष और परोक्ष सेवा-सहायता स्मरण आती और पुलकित करती रही है। यदि उस अमृतवर्षा का लाभ न मिलता तो हम अकेले क्या कर पाते ? अकेले तो अन्न, वस्त्र, निवास, पुस्तक, कलम जैसी आवश्यक वस्तुएँ तक अपने बलबूते उपार्जित न कर पाते। वाणी का उच्चारण कठिन पड़ता और जो जानकारियाँ उपलब्ध हैं, उनमें से एक को प्राप्त कर सकना भी सम्भव न रहा होता। अगणितों के सहयोग का ही प्रतिफल है कि हम जीवित, स्वस्थ और प्रबुद्ध हैं। जिन कामों से श्रेय हमें मिलता है, उनमें से प्रत्येक के पीछे असंख्यों-असंख्यों का छोटा-बड़ा, ज्ञात-अज्ञात सहयोग जुड़ा हुआ है। लोगों को उनका विवरण नहीं मालूम है इससे क्या ? हमारी अन्तरात्मा तो अनुभव करती है कि वह सहयोगवर्षा अनवरत रूप से न बरसती होती तो फिर कदाचित् ही उनमें से कोई काम बन पड़ता, जिनका श्रेय अनायास ही हमारे पल्ले बँध गया है।

कृतज्ञता हमारे रोम-रोम में बसी है। भूतकाल की जितनी घटनाओं का हम स्मरण करते हैं, उन सबमें असंख्यों के अहसान ही अहसान बरसते दीखते हैं। स्नेह, सौजन्य, मार्गदर्शन, प्रोत्साहन यह भी तो सहयोग के ही परोक्ष स्वरूप हैं। यदि ये न मिल पाते तो वन-मानुषों और नर-पामरों से अधिक अच्छी स्थिति अपनी भी नहीं होती। यह लाभ अन्यान्यों को भी मिला होगा, किन्तु अन्तर इतना ही है कि लोग अपनी ओर से जो लोगों के साथ किया गया है, उसे बढ़ा-चढ़ाकर याद रखते हैं और बदले में लम्बी-चौड़ी आशाएँ पूरी होने में जहाँ कमी देखते हैं, वहीं भड़क उठते हैं। इस अर्थ में दुनिया तोताचश्म भी है और अहसानफरामोश भी। पर जब हम दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर कर लें और मात्र दूसरों की भलाइयाँ सोचें, अपने करे-धरे पर धूल डालें तो फिर प्रसन्नता का पारावार न रहे। हमारी कृतज्ञता सम्पन्न अन्तरात्मा चारों ओर बिखरे व्यक्तियों, प्राणियों, प्रकृति पदार्थों पर दृष्टिपात करती है तो उसे सर्वत्र सदाशयता ही सदाशयता दृष्टिगोचर होती है। जिन्होंने कुछ हानिकारक प्रतीत होने वाले काम किये हैं, उनके सत्परिणाम ढूँढ़ लेने के कारण क्षोभ नहीं उभरा, वरन् उस घटना के साथ सुयोग जुड़ा हुआ ही परिलक्षित हुआ है।

उदाहरण के लिए, आठ जनवरी, ८४ को एक अपरिचित सज्जन ने छुरों से आक्रमण बोल दिया। कितने ही गहरे घाव लगे। वे अपना रिवाल्वर छोड़कर भी भाग खड़े हुए। कदाचित् चलाने पर भी वह चला नहीं था। भाग जाने पर भी क्रुद्ध लोगों ने उनके असली नाम-गाँव का पता लगा लिया और बदला चुका लेने का निश्चय किया। यह उनकी बात रही। तीन महीने बिस्तर में पड़े रहने और ठीक होने में लगे। इस बीच हमें एक योगाभ्यास करने का अवसर मिला। घावों की पीड़ा में भी हँसते-मुसकराते रहा जा सकता है क्या ? दुःख के समय भी भगवान का विश्वास यथावत बना रह सकता है क्या ? यह दोनों ही साधनाएँ घायल परिस्थितियों में चलती रहीं और सफल हुईं। सोचता हूँ, जिन सज्जनों के कारण यह नई भावनात्मक परिपक्वता प्राप्त हुई उनका अहसान क्यों न माना जाए ?

अपने हाथ अपने ही घातक हथगोले से अपना पैर तोड़ लेने और जेल जा पहुँचने के समाचार से जब हमें अवगत कराया गया तो हमें तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। प्रतिशोध आदि से अन्त तक तिरोहित हो चला था। केवल एक अपरिचित सज्जन अनगढ़ कृत्य करते स्मृति के किसी कोने में रह गये थे। लोगों ने जब सारी परिस्थितियाँ उसके अनुकूल होते हुए भी हमारी सुरक्षाढाल का बखान शुरू किया और कहा उन पर न रिवाल्वर चला, न छुरा। इन शब्दों ने एक और नया उत्साह बढ़ाया कि अनायास ही इतने शूरवीर और किसी अज्ञात संरक्षण से आच्छादित होने का श्रेय मिल गया। इसके लिए उन प्रहारकर्ता महोदय का कृतज्ञ क्यों न रहा जाए ?

अमृतवर्षा का प्रत्यक्ष रसास्वादन किसी को भी नहीं मिला, क्योंकि इस धरती की बनावट में हर प्राणी और हर पदार्थ परिवर्तनशील हैं। अमृत पाकर अमर बनने की कल्पना एक अलंकार मात्र है ? फिर क्या अमृत का रसास्वादन नहीं हो सकता है, जिसे आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, परमानन्द आदि कहा गया है, उसे नहीं चखा जा सकता है? हमारा अनुभव है कि यह सर्वथा सम्भव है। इसके लिए विधायक पक्ष का चिन्तन करने का अभ्यास डालने की आवश्यकता है। इस संसार भर में सदाशयता कहाँ है ? कितनी है? अपने साथ उसका कितना, कब, किनके द्वारा पाला पड़ा है? इसका स्मरण करते रहा जाए तो भूतकाल अतीव आनन्द से भरा-पूरा प्रतीत होगा। इस स्तर की घटनाएँ अपने अन्तराल में ऐसी गुदगुदी उत्पन्न करेंगी, जिनकी स्मृति से भी पुलकन उत्पन्न होती रहे। जीवन कृत-कृत्य हुआ अनुभव होता रहे।

यह जीवन मात्र भूतकाल से ही बँधा हुआ नहीं है। उसके साथ वर्तमान और भविष्य भी जुड़ा हुआ है। वर्तमान के प्रयासों में आदर्शों का समावेश और कर्त्तव्यों का परिपालन जुड़ा रखने से जो कुछ बन पड़ा है, वह अपने लिए गर्व नहीं तो सन्तोष तो दे ही सकता है। भविष्य में क्या परिणाम होंगे, इस सम्बन्ध में निराशा, असफलता की बात क्यों सोची जाए ? जब भविष्य अनिश्चित ही है तो अशुभ की आशंका करने से क्या लाभ? क्यों न शुभ का चिन्तन किया जाए ? क्यों न सफलता का स्वप्न देखा जाए ? उससे भी अच्छा यह है कि हर भली-बुरी परिस्थिति के लिए तैयार रहा जाए। अच्छे से अच्छे सपने देखे और बुरे से बुरे के लिए साहसपूर्वक तैयार रहे तो यह सन्तुलित मनोभूमि बनाये रहने से अपने कर्त्तव्य-धर्म का पालन करते हुए हर परिस्थिति में प्रसन्न रहा जा सकता है।

हमने इसी मनःस्थिति में प्रसन्नता भरा जीवन जिया है। इसके लिए उपयुक्त मनोभूमि प्राप्त की है और विश्वास परिपक्व किया है कि जो भी इस प्रकार सोचकर सीखेंगे, सच्चे अर्थों में अध्यात्मवादी होने का हाथों-हाथ पुलकन भरा लाभ प्राप्त करेंगे ।

# अध्यात्म की यथार्थता और परिणति

मोटेतौर से शरीर को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है- (१) हाथ, (२) पैर, (३) धड़, (४) सिर। बारीकियों में उतरना हो तो उनमें से प्रत्येक के अनेकानेक भाग-विभाजन हो सकते हैं । हृदय, फेफड़े, जिगर, आमाशय, आँतें आदि अकेले धड़ के ही विभाग हैं। फिर उनमें से भी प्रत्येक की अनेकानेक बारीकियाँ हैं । इसी प्रकार हमारे जीवन को मोटेतौर से- (१) पारिवारिक-निर्वाह, (२) उपासना, (३) स्वतन्त्रता संग्राम, (४) धर्मतन्त्र से लोक-शिक्षण । इन चार भागों में बाँटा जा सकता है।

शरीर पर आत्मा का ही आधिपत्य होता है। उसी की गरिमा से जीवन का तारतम्य चलता है । संचालक के सही स्थिति में, सही मार्ग पर होने से ही सुखी और प्रगतिशील जीवन जिया जा सकता है । पदार्थ जगत को भौतिक विज्ञान और चेतना क्षेत्र को अध्यात्म विज्ञान के आधार पर सुनियोजित किया जाता है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि भौतिक विज्ञान का उपार्जन वाला पक्ष हाथ में है और उपयोग वाले पक्ष की बुरी तरह अवमानना हो रही है । अध्यात्म-विज्ञान का तो एक तरफ से सफाया ही समझा जाना चाहिए । न किसी को उपार्जन के सम्बन्ध में जानकारी है, न उपयोग की सूझ-बूझ । बाजीगरों और पाकिटमारों जैसी एक कल्पना लोगों के दिमाग में रहती है। जिनका मन आ जाता है, वे उसी के अनुरूप सस्ते एवं औंधे-सीधे प्रयोग करते रहते हैं । ऐसी दशा में परिणाम तो होना ही क्या है ? निराशा और खीज से ग्रस्त ही इस क्षेत्र में पाये जाते हैं । भीड़ बढ़ती जाती है, पर साथ ही खोखलापन भी स्पष्ट होता जाता है ।

इन परिस्थितियों में आवश्यक प्रतीत हुआ कि अध्यात्म-विज्ञान के महत्त्व, सही स्वरूप एवं प्रतिफल से सर्व-साधारण को अवगत कराया जाए, ताकि लोग उस विधा और विद्या से अवगत हों जो उनके लिए सर्वोत्तम सत्परिणाम उत्पन्न कर सकती है । इसके लिए शास्त्रकारों, आप्तवचनों, कथा-पुराणों की साक्षियाँ देने की अपेक्षा यही अधिक उत्तम समझा गया कि एक प्रामाणिक अनुभव-अनुसन्धान का सार्वजनिक प्रकटीकरण किया जाए। इससे वस्तुस्थिति जानने में सुविधा होगी और जो इस विज्ञान की उपयोगिता-आवश्यकता अनुभव करेंगे वे उसे उपलब्ध करने के लिए उपयुक्त साहस एवं पुरुषार्थ सँजोने का प्रयत्न करेंगे ।

हमारी जीवनचर्या में दृष्टव्य वे पक्ष हैं, जो महत्त्वपूर्ण सफलताओं को प्रस्तुत-प्रदर्शित करते हैं । इनमें से एक विवरण उन घटनाओं का है, जिन्हें असाधारण सफलताएँ कहा जा सकता है । प्रचुर और उपयुक्त साधन होने पर तो इस संसार में बड़े से बड़े काम सम्पन्न हुए हैं, होते रहते हैं। आश्चर्य वहाँ होता है, जहाँ साधनरहित, एकाकी व्यक्ति किन्हीं दुस्साहस स्तर के कार्यों को हाथ में लेता है और उन्हें पूरा कर दिखाता है । यह किस प्रकार सम्भव हुआ ? इसकी व्याख्या लोग 'साधना से सिद्धि' के रूप में करते हैं । इनके मूल में मनोबल की प्रखरता एवं व्यक्तित्व की प्रामाणिकता के अतिरिक्त और कोई प्रत्यक्ष कारण दीख नहीं पड़ता । इन्हें कोई चाहे तो ईश्वर का, देवता का वरदान कह सकता है । यह मात्र अपने लिए ही घटित नहीं हुआ। संसार में प्रायः सभी महामानवों की जीवनचर्या में इसी स्तर के चमत्कारों की भरमार है । आरम्भिक स्थिति में वे सामान्यजनों जैसे थे । अन्ततः ऐसे काम कर सकने में समर्थ हुए, जिन्हें असामान्यों जैसे कहा जा सकता है । इसका मध्यवर्ती तारतम्य कैसे बैठा ? सुयोग कैसे जमा? परिस्थितियाँ किस प्रकार अनुकूल होती चली गईं ? इन प्रश्नों के उत्तर घटनाक्रम की दृष्टि से तो पृथक्-पृथक् ही हैं, पर तारतम्य की दृष्टि से उनका प्रवाह एक ही प्रकार रहा है । वे आदर्शों के प्रति आस्थावान रहे हैं । जीवनक्रम में पवित्रता, प्रखरता और प्रामाणिकता का अधिकाधिक समावेश करते रहे हैं ।

कार्य-पद्धति ऐसी बनाते रहे हैं, जिसमें निजी निर्वाह न्यूनतम में करने के उपरान्त जितनी भी सामर्थ्य बची उसे सामयिक आवश्यकता के, लोकमंगल के कार्यों में नियोजित करते रहे हैं । इससे उन्हें तिहरा लाभ मिला है । निरन्तर आत्म-सन्तोष प्राप्त करते रहे हैं, फलतः शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक जीवन में हँसती-हँसाती परिस्थितियों से भरे-पूरे रहे हैं । इसके अतिरिक्त प्रामाणिकता और प्रखरता के आधार पर लोकसम्मान और जन-सहयोग अर्जित करते रहे हैं । यह दोनों साधन जिसे उपलब्ध होंगे, उसकी कार्यक्षमता सामान्य-जनों की अपेक्षा अनेक गुनी बढ़ जाएगी । लोग टूटते और हारते तो तब हैं, जब निजी जीवन में अन्तर्द्वन्द्वों की भरमार रहती है और बहिरंग जीवन में विरोध, विद्वेषों का सामना करना पड़ता है । सफलताओं के लिए योग्य और उपयुक्त पराक्रम भी इन अन्तरंग और बहिरंग विपन्नताओं की चट्टानों से टकराकर चूर-चूर होता रहता है । हाथ में काम भी ऐसे लिये जाते हैं, जिनमें स्वार्थ, विलास, संग्रह और वैभव की ललक भरी रहने से परिस्थितियाँ भी प्रतिद्वन्द्विता के मैदान में घसीट ले जाती हैं । दाँव-पेचों और प्रतियोगिताओं में उलझा मनुष्य कठिनाई से ही कुछ सफलताएँ हस्तगत कर पाता है ।

इसके अतिरिक्त तीसरा पक्ष है-दैवी-सहायता का। वह सत्प्रयोजनों के लिए सदा से सुरक्षित रहा है, अन्यथा असहयोग एवं अभाव के मध्य काम करने वाला कोई

व्यक्ति अब तक आदर्शवादी अवलम्बन में सफलता प्राप्त कर ही नहीं पाता । इस विश्व-व्यवस्था के सूक्ष्म अन्तराल में नियति का कुछ ऐसा दिव्य विधान क्रियारत है। सदुद्देश्यों की पूर्ति के लिए कहीं से अदृश्य सहायताएँ प्रेषित करता रहता है । दुष्ट-दुर्मति वालों के मार्ग में ऐसे अवरोध खड़े करता रहा है, जिनसे सर्व-समर्थ होते हुए भी वे सफलता के उस स्तर तक न पहुँच पाए जहाँ तक कि वे चाहते हैं। सर्व-समर्थ असुरों के पराभव के पीछे यही विधि-विधान काम करता रहा है । सज्जनों की आश्चर्यजनक सफलता के पीछे भी यही अदृश्य शक्ति काम करती रही है। उसे भगवान नाम दिया जाता है । उसी को भक्त की सहायता करने वाली और असुर-निकन्दिनी शक्ति कहा जाता है।

'साधना से सिद्धि' प्रकरण में उन छोटी-छोटी घटनाओं का उल्लेख किया है, जो हमारे जीवन-क्रम में घटित हुईं । कौशल और साधन के अभाव में, आवश्यकता से कम समय में उनका पूरा हो जाना बताता है कि यहाँ अध्यात्म विज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों को अपनाया और उनका पालन किया गया । इसमें किसी व्यक्ति-विशेष की प्रशंसा नहीं है, वरन् अध्यात्म के उन मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, जिन्हें अपनाने वाला कोई भी व्यक्ति आदर्शवादिता के क्षेत्र में द्रुतगति से आगे बढ़ सकता है और आश्चर्यजनक सफलता अर्जित कर सकता है ।

पिछले पृष्ठों पर एक दूसरा अध्याय और द्रष्टव्य है । वह है-आकांक्षा और अभिरुचि की दिशाधारा के मिलने का। हर व्यक्ति अपने मन का स्वामी है । कुछ भी सोचने और कुछ भी करने के लिए वह स्वतन्त्र है, पर आमतौर से वैसा होता नहीं । लोग प्रचलनों का अनुकरण करते हैं, हवा के साथ बहते हैं, लहरों में तैरते हैं । जो कुछ बहुत लोगों द्वारा किया जा रहा है, उसी को अपनाने में सुविधा अनुभव करते हैं । इन दिनों बुरी हवा बह रही है । हर कोई सम्पन्नता और विलासिता के क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहता है । संग्रह की ललक लगी है और अहंता के प्रदर्शन में जो भी सरंजाम जुट सकता है, जुटाने में निरत रहता है । संक्षेप में यही है आज की प्रथा-परम्परा । प्रश्न आवश्यकता का नहीं कि किसे निर्वाह के लिए क्या चाहिए ? प्रश्न सर्वथा भिन्न है । बड़प्पन अर्जित करने के लिए कौन-दूसरों की तुलना में कितना विलासी और कितना संग्रही बन सकता है ? दूसरों पर रौब गाँठने के लिए कौन कितना अपव्ययी ठाट-बाट जुटा सकता है । आदर्शों की लोग कथा-वार्त्ता में चर्चा तो करते हैं, पर उनका जीवन में समावेश अव्यावहारिक मानते हैं । अवसर मिलने पर दुर्व्यसनों और कुकर्मों से भी नहीं चूकते। उनकी दुष्परिणामों से बचते रहने का चातुर्य कहते हैं । जो जितना चातुर्य दिखा सकते हैं, वे उतना ही अधिक मूँछों पर ताव देते हैं । कुरीतियाँ भी इसी प्रचलन में सम्मिलित हो गई हैं । नशेबाजी, खर्चीली शादियाँ, पर्दा-प्रथा, छूत-छात, भिक्षा-व्यवसाय जैसे सामाजिक दुर्गुण अब किसी को अखरते तक नहीं । बातूनी असहमति भर प्रकट करके लोग इन्हें मान्यता देते और व्यवहार में अपनाये रहते हैं।

संक्षेप में यही है आज का प्रचलन-प्रवाह, जिसे औसत आदमी अनायास ही अपनाये रहते हैं । अध्यात्म तत्त्वज्ञान अपनाने का दूसरा प्रभाव अपने ऊपर यह हुआ कि प्रचलित मान्यताओं में से एकोएक के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर दिया और इसके लिए बाधित किया कि जो कुछ सोचा जाए, नये सिरे से सोचा जाए । तर्क, तथ्य, प्रमाण और औचित्य की कसौटी पर हर प्रचलन को कसा जाय और उसमें से उन्हीं को अंगीकार किया जाए जो मानवी गरिमा की कसौटी पर खरे सिद्ध हों ।

दूरदर्शी विवेकशीलता, अध्यात्म विज्ञान को सच्चे मन से अपनाने की देन है । शास्त्रकारों ने इसी को 'प्रज्ञा' कहा है। वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता आदि नामों से इसी की अभ्यर्थना की गई है ।

चारों ओर संव्याप्त अन्धकार में हमें अपना दीपक जलाना पड़ा । अपनी कुल्हाड़ी से झाड़ियाँ काटकर राह बनानी पड़ी । एकाकी चलना पड़ा । साथियों में से कोई भी इस दुस्साहस में सहयोगी बनने के लिए तैयार न हुआ। जिससे भी पूछा-"औंधे प्रचलन को अस्वीकार करना चाहिए और जो सच है उसे अपनाने के लिए एकाकी साहस करना चाहिए।" इसे किसी ने भी न स्वीकारा । प्रवाह के विरोध में चलने के दुष्परिणाम सभी ने समझाये । कहा-बहती नदी में हाथी तक लहरों की दिशा में बहने में खैर मानते हैं, तो तुम किस खेत की मूली हो । उत्तर में अपने पास एक ही उदाहरण था, मछली का। जो धार को चीरती हुई उलटी दिशा में बहती है । जब मछली उलटी तैर सकती है तो हम क्यों नहीं तैर सकते ? इसके उत्तर में प्रायः सभी का मिलता-जुलता जवाब था-"पहले मछली बनो, तब बात करना ।"

सूर्य एक है-अन्धेरा व्यापक । सूर्य सत्य है, अन्धेरा प्रकाश के अभाव का विस्तार । इसलिए वह झूठ है । अध्यात्म, जिसे क्रिया-काण्ड से पहले आदर्श रूप में अपनाया था, उसने कहा-एकाकी रहने से-एकाकी चलने में हर्ज नहीं । अनीति को समर्पण करके उसके स्वर्णरथ पर बैठने से इनकार करना चाहिए, सत्य की दिशा पकड़नी चाहिए, भले ही घिसटते हुए चलना पड़े । वही अवलम्बन है जो ऋषि-परम्परा अपनायी और उन्होंने जो काम किए थे उनमें से जितने बन पड़े, उनका यथासम्भव अनुकरण करने का प्रयास किया । देवता पूजा के लिए हैं, ऋषि नमन-वन्दन के लिए । आज इनमें से एक भी ऐसा नहीं माना जाता जिन्हें भावना, आकांक्षा, विचारणा और जीवनचर्या में कोई स्थान देने के लिए साहस कर सकें ।

पुरातनकाल में अनेक ऋषि हुए हैं । उन्होंने अपने-अपने समय में परिस्थितियों के अनुरूप रीति-नीति अपनाई है । स्वयं साधनारत रहे और दूसरों को युगधर्म अपनाने की प्रेरणा देने का प्रयास किया । कहा जाता है कि आत्मा और परमात्मा के मिलन का मध्यवर्ती स्वरूप ऋषि हैं ।

सन्त अब इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उसके साथ अपनी मर्जी पूरी कराने लगे हैं । अपने को सर्वतोभावेन भगवान को समर्पण नहीं करते । इसलिए वह वर्ग इन दिनों विलुप्त हो चला, किन्तु प्राचीनकाल का प्रतीक शब्द 'ऋषि' विद्यमान है । उस ऊँचाई तक पहुँचने का किसी को साहस नहीं हुआ । इसलिए कम से कम शब्दार्थ की दृष्टि से तो अपनी पवित्रता बनाये हुए हैं ।

ऋषि कौन है, कौन नहीं ? इस प्रश्न का विवेचन यहाँ व्यर्थ है । सार्थक इतना ही है कि ऋषि-परम्परा जीवित रहे। उसी स्तर की भावनाएँ उठें और उनकी प्रेरणा से मनुष्य योजनाएँ बनाएँ। गतिविधियाँ निर्धारित करें और संकल्पपूर्वक जो व्रत लिया हैं, उस पर बिना पैर डगमगाये आदि से अन्त तक चलते रहें ।

हमारे जीवन में ऋषिपरम्परा का जितना समावेश दृष्टिगोचर हो, समझना चाहिए उतनी ही मात्रा में सच्चे अध्यात्मवाद का प्रवेश हुआ है । सप्तऋषियों ने कभी इस देश का, विश्व का सच्चे अर्थों में उत्थान किया था । सतयुग का वातावरण धरती पर उतारा था । इसी हाड़-माँस के मनुष्य में देवत्व का अवतरण किया था । यह ऋषिपरम्परा है, जिसे पुनरुज्जीवित होना चाहिए । अध्यात्म की यथार्थता और ऋषिपरम्परा को आपस में सघनतापूर्वक गुँथना चाहिए ।

भूमि की उर्वरता और उपयुक्त बीज का आरोपण उचित परिस्थितियों में भलीप्रकार फूलता है । उस फसल को यदि खर्चा न जाए बार-बार बोया जाता रहे तो कुछ ही बार की फेरा-बदली में उसमें व्यापक क्षेत्र में वही फसल लहलहाती हुई दीख पड़ेगी ।

अध्यात्म यदि यथार्थवादी सिद्धान्तों पर आधारित हो और उसे सघनश्रद्धा के साथ अपनाया जाए तो उसकी परिणति भी ऐसी ही होती है । कुछ व्यक्तियों द्वारा किया गया यह प्रयत्न सारा वातावरण बदल सकता है । कभी सतयुगी परिस्थितियाँ इसी आधार पर बनी थीं । उसी का प्रत्यावर्तन अब फिर आवश्यक है । सत्पात्र इस दिशा में बढ़ें तो अपना और असंख्यों का कल्याण कर सकते हैं । प्रतिभा और प्रेरणा का उभयपक्षीय लाभ इस आधार पर समस्त संसार उठा सकता है ।

हमारी जीवनचर्या को घटनाक्रम की दृष्टि से नहीं, वरन् इस पर्यवेक्षण की दृष्टि से पढ़ना चाहिए कि उसमें दैवी अनुग्रह के अवतरण होने से साधना से सिद्धि वाला प्रसंग जुड़ा या नहीं। इसी प्रकार यह भी दृष्टव्य है कि दूसरों के अवलम्बन योग्य आध्यात्मिकता का प्रस्तुतीकरण करते हुए हमारे कदम ऋषि परम्परा अपनाने के लिए बढ़े या नहीं ? जिसे जितनी यथार्थता मिले वह उतनी ही मात्रा में यह अनुमान लगाये कि अध्यात्म विज्ञान का वास्तविक स्वरूप यही है। आन्तरिक पवित्रता और बहिरंग की प्रखरता में जो जितना आदर्शवादी समन्वय कर सकेगा, वह उन विभूतियों से लाभान्वित होगा जो अध्यात्म तत्त्वज्ञान एवं क्रिया-विधान के साथ जोड़ी और बताई गई हैं ।

# मूर्धन्यों को झकझोरने वाला हमारा भागीरथी पुरुषार्थ

धरती पर रहने वाले मनुष्यों में से तीन-चौथाई संख्या बालकों, असमर्थों, न कमाने वालों की है । इनके अतिरिक्त जो भी बचते हैं उनमें बड़ा भाग उनका है जिसकी दुनिया पेट-प्रजनन तक सीमित है । दिन गुजारने के अतिरिक्त न उनकी कोई महत्त्वाकांक्षा है, न क्षमता । धरती अधिकांश इन्हीं के भार से लदी है । जिनमें दूरदर्शी विवेकशीलता की मात्रा विद्यमान है, वस्तुतः उन्हीं को मनुष्य कहना सार्थक है । वे अपनी, समाज की, समय की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने और उनके समाधान खोजने में सक्षम भी हैं ।

हमारी भावी क्षमता इसी समुदाय के लिए कार्यरत रहेगी । सूक्ष्मीकरण के उपरान्त जो भी कुछ कार्यक्षमता हस्तगत होगी, उसका उपयोग इस जाग्रत समुदाय के निमित्त ही होगा । इन जाग्रतों में वे बालक भी सम्मिलित हैं जो आयु या शरीर की दृष्टि से छोटे होते हुए भी भविष्य में कुछ करने की क्षमता पूर्वजन्मों से ही सँजोये हुए हैं । एक शब्द में हमारे कार्यक्षेत्र को जाग्रत आत्माओं का समुदाय कह सकते हैं । हम इस वर्ग के पीछे लगेंगे और प्रयत्न करेंगे कि उनकी सहायता से स्रष्टा का वह प्रयोजन पूरा हो, जिसमें मनुष्य को अशुभ से बचाकर उज्ज्वल भविष्य तक घसीट ले जाया जाना है ।

अपने कार्यक्षेत्र के हम तीन विभाग करते हैं । एक मूर्धन्य । द्वितीय मध्यम । तीसरे कनिष्ठ । मूर्धन्यों में संसार के भाग्य-विधाताओं की गणना होती है, जो संसार को अपनी उँगलियों पर नचाते हैं । इनमें चार स्तर के लोग हैं। एक वे जिन्हें राजनेता कहते हैं । दूसरे वैज्ञानिक, तीसरे धनाध्यक्ष, चौथे मनीषी-जिनमें साहित्यकार, कलाकार से लेकर सेनापति तक के वे सभी लोग आते हैं, जो अपनी प्रतिभा से परिस्थितियों को असाधारण रूप से प्रभावित करते हैं । सारी समस्याएँ इन्हीं चारों का समुदाय उपजाता है और चाहे तो समेट भी सकता है, पर ऐसा होता नहीं दीखता ।

युद्ध की दृष्टि से दो भागों में बँटी हुई दुनिया अब झगड़ते-झगड़ते इतनी समीप आ गई है कि किसी को भी पीछे हटना कठिन पड़ रहा है । विपक्षी दबोच ले तो हम कहीं के भी न रहेंगे-यह डर खाये जा रहा है । साथ ही अर्थचक्र जिस ढर्रे पर घुमा दिया है, उसमें यही एक राह है कि जो चल रहा है वह चलते रहने दिया जाए अन्यथा पूँजी व्यय हो जाएगी, कारख़ाने बन्द होंगे, बेकारी फैलेगी और उपद्रव होंगे ।

इन असमंजसों का हल किसी को सूझ नहीं रहा है । न आगे बढ़ने में ठिकाना न पीछे हटने में । ऐसी दशा में

सर्वनाश के अतिरिक्त और क्या हल हो सकता है यह ढूँढ़ना समझदारी का काम है । समय रहते यह प्रकट होगी। नये विकल्प सूझेंगे । पीछे हटने में भलाई लगेगी । विनाश-साधन बनाने के स्थान पर सृजन के लिए अभी नये-निर्माण का क्षेत्र बहुत बड़ा खाली पड़ा है । उसकी ओर मुड़ने में, दिशा बदलने में, वर्तमान ढर्रे में उलट-पुलट तो बहुत करनी पड़ेगी, पर ऐसी नहीं है जो न हो सके । यह कार्य चारों मूर्धन्यों के मनःक्षेत्र में यदि नयी सूझ-बूझ उदय हो तो हो सकता है, वह होगी भी । शासनाध्यक्ष अपने ढंग से सोचेंगे और धनाध्यक्षों को पूँजी सुरक्षित रखने और बढ़ाने के नये विकल्प ध्यान में आयेंगे । वैज्ञानिकों को नये मार्ग मिलेंगे । सूर्य-ऊर्जा का दोहन, समुद्र के खारे पानी को मीठा बनाना, खाद्य-उत्पादन जैसे कितने ही काम ऐसे हैं जो वैज्ञानिकों द्वारा इन्हीं दिनों किए जाने चाहिए । अन्तरिक्ष यात्रा और सर्वनाश आयुध बनाना उतना जरूरी नहीं है । इस प्रकार साहित्यकारों, कलाकारों के लिए मानवी गरिमा को मान्यता देने वाली विचारणा एवं भावसंवेदना देने का बहुत बड़ा क्षेत्र काम करने के लिए सूना पड़ा है । क्या आवश्यकता है कि वे धनाध्यक्षों के लिए 'कसाई के कूकर' की भूमिका निबाहें और वह करें जो न तो आवश्यक है और न शोभनीय ।

इन चारों में अगले ही दिनों फूट पड़ेगी । अभी तो मिल-जुलकर काम कर रहे हैं और संयुक्त प्रयास से गाड़ी प्रलय युद्ध की ओर सरपट चाल से दौड़ रही है, पर अगले दिनों चारों घोड़े अपनी-अपनी मर्जी प्रकट करेंगे और अलग-अलग दिशा में चलने की सोचने लगेंगे और अपनी मर्जी के अनुरूप दिशा निर्धारित करेंगे तो फिर यह विनाश तन्त्र इस रूप में न रहेगा, जिसमें कि आज है ।

युद्ध के उपरान्त दूसरी समस्या है औद्योगीकरण की । विशालकाय यन्त्रों ने जनता का शहरीकरण किया है और उसके कारण अनेक संकट भरी समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। उपनिवेशवाद को उसी के कारण प्रोत्साहन मिला है । पूँजीवाद पनपा है । प्रदूषण के कारण सर्वत्र विष व्यापा है। यह भी एक धीमा महायुद्ध है, जो चलता रहा तो सर्वनाश किए बिना रुकेगा नहीं । भले ही अणुयुद्ध की तुलना में देर लगे ।

हमारा प्रयत्न होगा कि सादगी आन्दोलन चले । विकेन्द्रीकरण की बात सूझे । लोग हाथ की बनी वस्तुओं से काम चलाने की आदत डालें । फैशन छोड़ें । अपव्यय, ठाट-बाट के विरुद्ध जनता में घृणा-भाव उत्पन्न हो । लोग शहरों से विमुख हों । कस्बे पनपें । गाँधीजी ने स्वराज्य आन्दोलन के साथ-साथ खादी को जोड़ा था । तब यह विचित्र लगता था, पर अब अर्थशास्त्र का दूरदर्शी विद्यार्थी यह स्वीकार करता है कि यदि शान्ति से रहना है, तो सादगी को जीवनचर्या में अविच्छिन्न स्थान देना पड़ेगा। बड़े कारखाने मात्र मशीन बनाने जैसे अनिवार्य प्रयोजनों के लिए रखें, पर उन्हें जन-जीवन की आवश्यकताओं के क्षेत्र में प्रवेश न करने दिया जाए । वस्त्र-उद्योग विशेषतया हाथकरघों के लिए सुरक्षित रहे । दैनिक आवश्यकता की अन्यान्य वस्तुएँ गाँव में बनें । इस कार्य में शायद पूँजीपति और सरकारें सहमत न हों । तो भी यह सादगी की, हाथ उद्योग की, देहातों में लौटने की हवा जन-सामान्य में प्रारम्भ करनी होगी । इसके बिना बेकारी का कोई विकल्प नहीं । प्रदूषण से निपटने के लिए छोटे उद्योग, छोटे कारखाने देहातों में चलाने से काम बन सकता है । खाली स्थानों पर पेड़ लगाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किए जाएँ, क्योंकि बढ़ते प्रदूषण से बचने के लिए वही एक कारगर उपचार है। वाहनों की द्रुतगामिता कम की जा सकती है। बैलगाड़ियाँ काम में लाई जा सकती हैं । बिजली से न चलने वाले वाहन भी विनिर्मित हो सकते हैं । साइकिल युग तो लौटने ही वाला है ।

शिक्षाक्रान्ति इन्हीं सिद्धान्तों पर अवलम्बित है । नौकरी के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करने की वर्तमान भेड़चाल ने युवा वर्ग को दिग्भ्रान्त, निराश एवं क्षुब्ध किया है। शिक्षा ऐसी हो जो दैनिक जीवन की सभी आवश्यकताओं की जानकारी दे। जो विशेषज्ञ बनने के इच्छुक हैं, वे ही उन विषयों को पढ़ें । सर्व-साधारण पर निरर्थक भार न लदे ।

अभी तो समूची मानव-जाति अनेक टुकड़ों में बँटी है और विश्व-परिवार का कोई सुयोग नहीं बन पड़ रहा है, पर वह दिन दूर नहीं जब एक राष्ट्र, एक भाषा एवं संस्कृति और एक व्यवस्था इस संसार में चलेगी और विग्रह न्यायालयों द्वारा निपटाये जाया करेंगे । बड़े युद्धों की कहीं आवश्यकता न पड़ेगी । स्थानीय झंझट पुलिस निपटा लिया करेगी। सामर्थ्य भर काम, आवश्यकतानुरूप दाम की जब अर्थनीति चलेगी और विलास तथा संग्रह पर अंकुश रहेगा तो अपराधों का आधारभूत कारण ही समाप्त हो जाएगा । चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में जब शिक्षा- व्यवस्था तथा प्रचलन-परम्परा द्वारा आदर्शों के समावेश का भरपूर प्रयत्न रहेगा तो कोई कारण नहीं कि उन जघन्य अपराधों का अस्तित्व बना रहे जो आज सर्वत्र बेतरह छाए हुए हैं । जन-जन को आशंकित, आतंकित बनाए रहते हैं ।

राजनेता, धनाध्यक्ष, वैज्ञानिक, मनीषी- यह चार वर्ग जन-साधारण की वर्तमान दुर्दशा के लिए उत्तरदायी हैं । इन चारों को ही व्यापक स्तर पर ढूँढ़ा, झकझोरा और कचोटा जाएगा । यह कार्य एक स्थूलशरीर से सम्भव नहीं हो पा रहा था । इसके लिए असंख्यों तक पहुँचने की आवश्यकता समझी गई । उसे अगले दिनों सूक्ष्मशरीर से सम्पन्न करके रहा जाएगा । उत्पादित सामर्थ्य और ईश्वरेच्छा का समन्वय इस कठिन कार्य को सरल बना दे, तो किसी को भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए ।

## जाग्रत आत्माओं से भाव भरा आग्रह

चार मूर्धन्य वर्गों को विशेष रूप से प्रभावित-परिवर्तित करने के प्रयास में संलग्न होने के अतिरिक्त हमारा दूसरा कार्यक्षेत्र होगा जाग्रत आत्माओं को कचोटना । यह वर्ग दूध

में घी की तरह छिपा रहता है, पर गरम करने पर उछलकर ऊपर भी तैरता हुआ देखा जाता है । ब्राह्मण और साधु इसी की देन हैं । महामानव, मनीषी इन्हीं को कहते हैं । सन्त, सुधारक और शहीद लोगों में इन्हीं का स्मरण किया जाता है । एक शब्द में देवमानव इन्हीं को कहते हैं। यह वर्ग जब जिस अनुपात से सक्षम, सक्रिय रहा है, तब तक सर्वतोमुखी सुख-शान्ति के दृश्य दृष्टिगोचर होते रहे हैं। इन्हीं का बाहुल्य किसी समय सतयुगी वातावरण बनाये हुए था । आवश्यकता इस बात की है कि वह समुदाय फिर से नव-जागरण के क्षेत्र में प्रवेश करे और समय की जिम्मेदारियाँ सँभाले ।

मनुष्य की क्षमता असीम है साथ ही आवश्यकताएँ बहुत कम । यदि कोई औचित्य की मर्यादा में रहे तो औसत भारतीय स्तर का निर्वाह कुछ घण्टे के परिश्रम से ही पूरा हो सकता है । परिवार छोटा रखा जाए । जो है उसे सुसंस्कारी और स्वावलम्बी बनाया जाय तो परिवार भी किसी पर भार न रहे। थोड़े में गुजर करने वाला, स्वल्प-सन्तोषी ब्राह्मण कहलाता है और जब वह चरम पुरुषार्थ में संलग्न रहकर शेष सामर्थ्य को युगधर्म के निमित्त समर्पित करता है, तो उसे साधु कहते हैं । इस देश की महती गरिमा और विश्व की सुख-शान्ति स्थिर रखने का उत्तरदायित्व यहाँ के साधु-ब्राह्मण ही पूरा करते रहे हैं। भविष्य में भी संव्यास विकृतियों का निराकरण और उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण उन्हीं के द्वारा सम्भव होगा। अस्तु, समय की सबसे बड़ी माँग इसी वर्ग के अधिकाधिक उत्पादन की है। हम प्रयत्न करेंगे कि जहाँ भी इस स्तर के बीजांकुर हों वहाँ उन्हें विकसित, पल्लवित करने में कुछ उठा न रखेंगे ।

अनुदानों में यही सबसे बढ़कर है । हमारे गुरुदेव ने हमें यही दिया और निहाल कर दिया । उस उपहार के स्थान पर यदि उन्होंने धन, वैभव, पद आदि दिया होता तो उससे गर्व और विलास की अनुभूति तो अवश्य होती, पर साथ ही यह भी निश्चित था कि लोभ, मोह और अहंकार के तीनों ही पिशाच अपना आधिपत्य अधिक अच्छी तरह जमाते । वासना, तृष्णा और अहंता की कभी न पटने वाली खाई और अधिक चौड़ी होती । अनेक दुर्व्यसन और दुर्गुण पनपते । आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उपलब्ध साधन कम पड़ते, फलतः कुकर्म करने पड़ते । इस ईश्वर प्रदत्त अनुपम सुयोग की सार्थकता न बन पड़ती और पापों का पोटला अगले जन्मों तक परिपक्व करने के लिए साथ ले जाना पड़ता। तब वे उपहार बहुत महँगे पड़ते, जिनके लिए लोग लालायित फिरते हैं और सन्त-महात्माओं से वैसा कुछ झटक लेने की फिराक में रहते हैं।

गुरुदेव ने हमें जो दिया है अद्भुत है, अनुपम है । वही हम अपने प्राणप्रिय परिजनों में से सत्पात्रों को देना चाहते हैं और उसी प्रकार निहाल करना चाहते हैं, जैसे कि हम स्वयं हुए । सांसारिक दृष्टि से हम किसी प्रकार के घाटे में नहीं रहे, वरन् औरों की तुलना में कहीं अधिक अच्छे रहे । संयम की शिक्षा मिली तो चटोरेपन पर तनिक-सा अंकुश लगा, पर बदले में पेट ठीक रहा और स्वास्थ्य फौलाद जैसा बना रहा । कामुकता में कटौती हुई, पर बदले में मस्तिष्कीय क्षमता ऐसी रही जिसे देखकर लोग दाँतों तले उँगली दबाते हैं । आलसी, अस्त-व्यस्त जीवनक्रम को लोग शौक-मौज कहते हैं । वह तो छिना पर बदले में समय को नियमित अनुबन्धित करके इतना काम कर लिया जितना ७५ वर्षों में नहीं ७५० वर्षों में ही किया जा सकता था । विवेकानन्द, शंकराचार्य, रामतीर्थ, ज्ञानेश्वर आदि तीस वर्ष के लगभग जिए पर इतने दिनों में ही ३०० वर्षों के बराबर काम कर गये । यह समय की सुव्यवस्था का प्रतिफल है । गुरुदेव ने आरम्भिक जीवन में उपासना, साधना, आराधना का जो क्रम बताया था वे तीनों ही एक से एक बढ़कर थे । लोग उन अनुशासनों में से मात्र एक अत्यन्त प्रत्यक्ष को ही स्मरण रखे हुए हैं-२४ लक्ष पुरश्चरण को । वस्तुतः हमें जो मिला वह मात्र जपसंख्या की परिणति नहीं है, वरन् समग्र जीवन में आध्यात्मिक आदर्शों का पूरी तरह समन्वय किये रहने का ही प्रतिफल है । इसके लिए आवश्यक परामर्श और दबाव लेकर गुरुदेव ने हमारा कितना बड़ा उपकार किया, इसका अनुमान वे लोग नहीं लगा सकते, जिन्हें धन और पद के अतिरिक्त और कुछ चाहिए ही नहीं । जो इतनी ही मर्यादा में वरदान को सीमित रखते हैं जिन्हें निरर्थक मनोकामनाओं की पूर्ति ही आशीर्वाद प्रतीत होती है। जो लिप्साओं की हविश बुझाने के लिए सन्तों के कष्टसाध्य तप की जेब काटने को फिरा करते हैं-उन्हें न भक्त कहा जा सकता है और न शिष्य । मात्र जीभ हिला देने भर से तो कोई आशीर्वाद फलित होता नहीं, उसके साथ तप का भी एक बड़ा अंश देना पड़ता है। किसी सन्त का तप लेकर अपना विलास-वैभव बढ़ाना, अध्यात्म-तत्वज्ञान से कोसों दूर की बात है । उसमें तो तपना पड़ता है । तप से ही प्रसुप्त शक्तियों को जगाते हुए मनुष्य महान बनता है ।

मनुष्य की अपनी इच्छाएँ, योजनाएँ बड़ी अनगढ़ होती हैं । उनमें प्रकारान्तर से यश, लाभ जैसे हेय उद्देश्य छिपे रहते हैं । अपने लिए हितकर क्या है ? यह रोगी स्वयं कहाँ जानता है ? उसे चिकित्सक के अनुशासन में चलना पड़ता है । बच्चे अपनी दिनचर्या तभी ठीक रख पाते हैं जब अध्यापक का निर्देशन मानें । हमने भी यही नीति अपनाई । गुरुदेव ने इतना ही कहा-हमारे परामर्शों को आदर्शों की कसौटी पर कसते रहना । यदि वे खरे हों तो अपनी अनगढ़ अक्ल को उसमें विक्षेप-व्यतिरेक उत्पन्न न करने देना । इसी समर्पण को उन्होंने भक्ति का सार-संक्षेप बताया और उसे अपनाये रहने के लिए सहमत किया ।

अब हम देखते हैं कि एक सुनिश्चित मार्गदर्शन में चलते हुए हमने सही रास्ता अपनाया और सही कदम उठाया । इस बीच अपने मन में भी अनेक योजनाएँ आती रहीं, मित्रगण भी चित्र-विचित्र परामर्श देते रहे, पर उन सभी की अनसुनी करके जिस मार्ग पर चला गया वह ठीक सिद्ध हुआ ।

इन दिनों हमारे अन्तराल में ऐसे ही अनुयायी ढूँढ़ने की बेचैनी है, जो अपना जीवनक्रम साधु-ब्राह्मण की परम्परा अपनाकर संयम और तप से श्रीगणेश करें। समग्र अध्यात्म का अवलम्बन करें। मात्र पूजा-पत्री से ही सब कुछ मिल जाने के भ्रम-जंजाल में न भटकें। उपासना, साधना और आराधना की वे तीनों ही शर्तें पूरी करें जो आध्यात्मिक विभूतियाँ उपार्जित करने के लिए आवश्यक हैं। ऐसे लोगों को औसत भारतीय स्तर के निर्वाह से अपनी जीवनचर्या का नया अध्याय आरम्भ करना चाहिए और कटिबद्ध होना चाहिए कि जो क्षमता बचती है, उसे भगवान के खेत में बोने का साहस जुटाएँगे। निश्चय ही यह साहस सौ गुना- हजार गुना होकर फलित होता है।

हमने अपना श्रम, समय, मनोयोग, प्रभाव तथा धन समग्र रूप से भगवान के, समाज के, सत्प्रयोजनों के निमित्त बोया है। उसी का प्रतिफल है, जो लोगों को हमारे वैभव और चमत्कारों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। कृपणता बरती होती और जादूगरी तथा चिड़ीमारी के धन्धे को अध्यात्म माना होता तो औरों की तरह झक मारते और पूरी तरह खाली हाथ फिरते। विभूतियाँ और उपलब्धियाँ जिन्हें भी अभीष्ट हैं, उन्हें बीज बोने की रीति-नीति पर विश्वास करना चाहिए।

परामर्श तो हर तथाकथित मित्र-सम्बन्धी देता है, पर सत्परामर्श देने की क्षमता किन्हीं परिष्कृतों में ही होती है और धारण कर सकना तो कुछ ही वरिष्ठों का काम होता है। नारद ने उपदेश तो अनेक को दिया, पर उसे धारण कोई-कोई ही कर पाए। जो कर सके वे धन्य हो गए। गाँधी के प्रवचन और लेख अनेकों ने पढ़े-सुने होंगे पर उनमें से हृदयंगम कुछ ही कर सके। जिन्होंने वैसा साहस जुटाया वे विनोबा, नेहरू, पटेल, राजेन्द्रबाबू, राजगोपालाचार्य आदि कहलाये। बात कहते-सुनते रहने भर से नहीं बनती। कदम उठाना और साहस करना पड़ता है। जो कर गुजरते हैं वे नफे में रहते हैं। आदर्शों पर चलने का मार्ग ऐसा है जिनमें आरम्भ के दिनों थोड़ी कसमकस सहनी पड़ती है। बाद में तो सन्तोष और श्रेय दोनों ही मिलते हैं। हमारा जीवन इस मार्ग पर चला है। इतिहास के पृष्ठ उलटते हैं तो प्रत्येक महामानव को इसी राजमार्ग पर चलना पड़ा है। किसी पर भी आसमान से सोने-चाँदी के सितारे नहीं बरसे।

सूक्ष्मशरीर की जाग्रति का लाभ मिलते ही हम यह प्रयत्न करेंगे कि जहाँ कहीं भी आत्माएँ जाग्रत स्तर की हों, वे हमारा उद्बोधन, परामर्श, अनुरोध और आग्रह सुनें समझें कि यह समय ऐतिहासिक है। ऐसे ही अवसरों पर हनुमान, अंगद, नल, नील, केवट, शबरी, गीध, गिलहरी, सहयोग के हाथ बढ़ाकर धन्य हुए थे। समय चूक जाने के बाद तो भारी वर्षा का लाभ भी नगण्य होता है। रेल निकल जाने पर अगली के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जिनका अन्तराल युगचेतना से अनुप्राणित हो, उनका एक ही कर्त्तव्य है कि न्यूनतम में निर्वाह करने और अधिकतम युगधर्म में विसर्जित करने की बात सोचें। यदि साहस साथ दे तो उसे कर भी गुजरें। इसमें सम्बन्धियों, कुटुम्बियों, मित्रों की सहमति मिलने की प्रतीक्षा न करें।

क्या करें ? इस प्रश्न का इन दिनों एक ही उत्तर है-विचार-क्रान्ति के युगधर्म का परिपालन करने के लिए एकनिष्ठ भाव से जुट पड़ें। आज की समस्याएँ अगणित हैं। उनके स्वरूप और प्रतिफल भी भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु यह मानकर चलना होगा कि सभी का निमित्त कारण एक है-चिन्तन में विकृतियों का भर जाना। आस्थासंकट ही अपने युग का सबसे बड़ा विनाश-कारण है। इससे बड़ा दुर्भिक्ष और कोई हो नहीं सकता। निराकरण का उपाय भी एक ही है। उलटे को उलट कर सीधा करना। यदि लोकमानस को परिवर्तित-परिष्कृत किया जा सके तो हर समस्या सरलतापूर्वक सुलझने लगेगी। नाली की कीचड़ साफ किए बिना मक्खी-मच्छरों से पीछा छूटना कठिन है। हमें युग-धर्म के रूप में विचार-क्रान्ति को ही मान्यता देनी चाहिए और छुटपुट कार्यों में ध्यान बँटाने, शक्ति खपाने की अपेक्षा इसी काम में जुट जाना चाहिए। इस मन्त्र को गुनगुनाते रहना चाहिए कि "एकहि साधे सब सधे-सब साधे सब जाए।" नाम और यश को प्रधानता देने वाले, अपनी ढाई ईंट की मस्जिद अलग खड़ी करने को आतुर दृष्टिगोचर होते हैं। डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग से पकाते तो हैं, पर उसमें पेट किसी का नहीं भरता। ढिंढोरा भर पिट जाता है। जिन्हें अपना ढिंढोरा पिटवाना ही अभीष्ट हो वे चित्र-विचित्र योजनाएँ बनाते और सेवा के नाम पर कौतुक-कौतूहल खड़े करते रहें, पर जिन्हें एक ही चाबी से सब ताले खोलने का मन हो वे विचार-परिवर्तन के कार्य को सर्वोपरि मानकर उसी को लक्ष्य रखें और उसी से सम्बन्धित कार्यों में हाथ डालें।

समय के कुप्रभाव से इन दिनों कोई व्यक्ति लोभ और मोह की परिधि से बाहर एक कदम नहीं रखता और पूजा-पाठ से लेकर व्यवसाय और अपराध तक इसी निमित्त करता है। समय के परिवर्तन का प्रत्यक्ष चिह्न यहाँ से प्रकट होना चाहिए कि सब न सही जाग्रत आत्माओं में से जो जीवन्त हों, वे समय को समझें और व्यामोह के दायरे से निकलकर बाहर आयें। उन्हीं के बिना प्रगति का रथ रुका पड़ा है।

अपने सम्पर्कक्षेत्र में, बिना सम्पर्क-क्षेत्र में जहाँ कहीं भी हमें जाग्रत आत्माएँ दृष्टिगोचर होंगी, पकड़ में आएँगी उन्हें वाणी से न सही बिना वाणी के एक ही अनुरोध करेंगे कि वे इन दिनों व्यामोह में कटौती कर लें। उस

दिशा में कदम बढ़ाने के लिए हमारे गुरुदेव ने हमें सहमत किया और धन्य बनाया ।

# वर्चस की सिद्धि एवं युग-समस्याओं का समाधान

मनुष्य समाज में विविध प्रकार के मनुष्यों के बीच रहता है और पारस्परिक सम्पर्क से उसकी जीवनयात्रा सहज रूप में चलती रहती है । सान्निध्य-सम्पर्क में कभी-कभी ऐसे व्यक्ति आ जाते हैं, जिनके प्रति अत्यधिक आकर्षण की अनुभूति होती है । कभी-कभी कुछ व्यक्तियों के समीप जाकर लगता है, इनसे जितना दूर रहा जा सके, उतना ही हितसाधन होगा। एक ही प्रजाति के, पर भिन्न रंग-रूपों बनावट वाले व्यक्तियों के प्रति ये द्विधर्मी प्रतिक्रियाएँ क्यों होती हैं, इस सन्दर्भ में वैज्ञानिकों का कहना है कि पदार्थों की तरह चेतना का भी अपना प्रभावक्षेत्र होता है । यह आभामण्डल के रूप में सूक्ष्मीकृत कणों से विनिर्मित कवच की तरह काया के चारों ओर संव्याप्त रहता है। विचारणा एवं भावना के स्तर के अनुरूप इस आभामण्डल में आकर्षण-विकर्षण के गुण धर्म आ जाते हैं। मन:स्थिति का, अन्तरंग का जो छायाचित्र मानवीकाया के आस-पास बनता है, उसे सूक्ष्मदर्शी ब्रह्मवेत्ता समझ पाने में भली-भाँति सक्षम होते हैं ।

अध्यात्मविदों का मत है कि चेतना का सूक्ष्मीकरण प्रत्यक्षत: यदि देखना हो तो उसे मानवी जैव चुम्बकत्व के कारण बनने वाले आभामण्डल में देखा जा सकता है। जिस स्तर की जीवचेतना होगी, जितना ही उसमें श्रेष्ठता-उच्चस्तरीय भावसंवेदनाओं का समावेश होगा, उतना ही प्रकाशवान विस्तृत किरण मण्डल, ऑरा या तेजोवलय के रूप में मनुष्य के चारों ओर संव्याप्त देखा जा सकेगा ।

देवताओं के चित्रों के चारों ओर प्रकाशमण्डल चित्रित किया जाता है । विशेषत: चेहरे के आस-पास एक गोला प्रतीक रूप में बनाया जाता है जो बताता है कि देव-स्तर जो भी प्राप्त कर लेता है, इसका जैव-चुम्बकत्व उतना ही प्रबल सघन होता है । ज्ञानेन्द्रियों का जमघट तथा मस्तिष्क का विद्युत भण्डार एक ही जगह है, इसीलिए प्रतीक रूप में चेहरे को ही तेजोवलय के प्रत्यक्षीकरण हेतु प्रधानता दी जाती रही है। जो बात देवताओं पर लागू होती है, वही मनुष्यों पर भी लागू होती है, जो नरपशु स्तर त्यागकर देवमानवों जैसे गुणों से अभिपूरित होता है, उसकी प्रभावसामर्थ्य भी वैसी ही हो जाती है ।

मानव का यह जैवचुम्बकत्व जो सूक्ष्म प्रकाश मण्डल के रूप में अवस्थित होता है, साधना क्षेत्र में तेजोवलय-ओजस के रूप में गिना जाता है । थियॉसाफी वाले इसे 'ईथरीक डबल' कहते हैं एवं प्लाज्मा से विनिर्मित मानते हैं । शरीर की विद्युतसम्पदा यों तो पूरे शरीर से निस्सृत होती रहती है, परन्तु चेहरे, आँखों, उँगलियों एवं जननेन्द्रियों के आस-पास इसकी मात्रा सर्वाधिक होती है । मानव की सूक्ष्मीकृत ऊर्जा की यह एक महत्त्वपूर्ण झाँकी है, जिसके माध्यम से साधक की मन:स्थिति रोगी होने की भावी-संभावनाओं एवं भाव-सम्वेदनाओं की गहराई को पढ़ा जा सकता है । समीपवर्ती वातावरण एवं साथी-सहचर तेजोवलय के स्तर के अनुरूप ही प्रभावित होते देखे जाते हैं । कई बार यह वलय इतना प्रखर-तेजस्वी होता है कि समीपवर्ती क्षेत्र को अपने प्रभाव से अनुप्राणित कर देता है। उस परिधि में प्रवेश करने वाले व्यक्ति भी उस प्रवाह में बहते देखे जाते हैं । ऋषि-तपस्वियों के आश्रम में सिंह-गाय का एक साथ पानी पीने का सतयुगी उदाहरण इसी तथ्य की पुष्टि करता है ।

विज्ञान क्षेत्र में पिछले दिनों 'ह्यूमन ऑरा' के मापन हेतु किर्लियन एवं शेर्लियन फोटोग्राफी के प्रयोगों के उपरान्त सूक्ष्म आभामण्डल सम्बन्धी एक नयी विधा विकसित हो गयी है, जिसे ऐरोबायोलॉजी नाम दिया गया है । वैज्ञानिकों के अनुसार सामान्य अवस्था में मनुष्य के कन्धे से ६ फुट ऊपर तक चारों ओर घेरे एक अण्डाकार गोला होता है जिसे 'प्लम' कहते हैं । विशेष फिल्टर्स युक्त कैमरों के माध्यम से, इन आँखों से न देखे जा सकने वाले इस प्रकाशमण्डल का अंकन किया जा सकता है एवं इसका विश्लेषण कर यह जाना जा सकता है कि उस समय-विशेष में व्यक्ति की मन:स्थिति कैसी है एवं भावनाओं का स्तर क्या है ? शरीर की ऊष्मा के इस विकिरण का मापन वैज्ञानिक तो रोग निदान, शल्य क्रिया में सफलता की सम्भावनाएँ एवं मनोशारीरिक विश्लेषण हेतु करते हैं, किन्तु अध्यात्मवेत्ता इसका विश्लेषण कर अन्त: की भाषा पढ़ लेते हैं एवं व्यक्ति के विधेयात्मक-निषेधात्मक प्रवाहों के अनुरूप परामर्श-साधना, मार्गदर्शन दे पाने में समर्थ होते हैं ।

एकोबायोलॉजी की इस विधा को सबसे पहले ब्रिटिश दार्शनिक डॉ० हैरोल्ड लेविस ने खोजा । एक एकोनॉटिक रिसर्च सेण्टर में हवाई जहाज के आर-पार बहने वाली हवा का शेर्लियन फोटोग्राफी के माध्यम से विश्लेषण चल रहा था । संयोग से वे भी वहाँ उपस्थित थे । प्रदर्शन के दौरान एक कर्मचारी का हाथ कैमरे के सामने आने से फिल्म में हाथ की काली छाया के चारों ओर धुएँ के समान भूरे रंग के छल्ले दिखाई दिए । चूँकि इस फोटोग्राफी में उच्च वोल्टेज के ऊर्जा स्रोत का प्रयोग नहीं किया जाता, अत: हानि की प्रत्यक्ष सम्भावना न देख उन्होंने चेहरे व शरीर का भी इस माध्यम से फोटोग्राफ लिया । तभी से उनके शोधप्रयास इस दिशा में आगे बढ़ते चले गए एवं अन्तत: वे आभामण्डल का छायांकन कर उसका विश्लेषण करने में सफल हो गए ।

वैसे आज से साठ वर्ष पूर्व एशिया के, ऊतक मनोनिक एलेक्जेण्डर गुरविच ने यह मत व्यक्त किया था कि सभी जीवित कोशिकाएँ एक अदृश्य विकिरण ऊर्जा अपने चारों ओर छोड़ती हैं । इसे उन्होंने माइटोजेनिक रेडिएशन नाम दिया था । रूस में ही नोवोसी वर्स्क की साइबेरियन साइन्स

सिटी के तीन वैज्ञानिकों ने १९६८-६९ में गुरविच के प्रयोगों को दुहराकर इस सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया एवं कुछ तथ्य प्रतिपादित किए । व्लायल काज्नाचेयेव, साइमन शूरीन एवं लुडमिला मिखाइलोवा नामक इन तीन वैज्ञानिकों ने कहा कि हर जीवकोश विद्युत चुम्बकीय धाराओं के रूप में सिंगनल्स बाहर भेजने में समर्थ होता है, जो अल्ट्रा वायलेट तरंगदैर्ध्य स्तर की होती हैं । कुछ वर्षों बाद मास्को यूनिवर्सिटी के बायोफिजिक्स विभाग के प्रमुख डा. बोरिस तार्सोव ने अपने प्रयोगों में पाया कि शरीर की चयापचयिक गतिविधियों के अतिरिक्त जैवरासायनिक परिवर्तनों को भी इस विधि से मापा जा सकता है ।

जीवन के इलेक्ट्रोडायनेमिक सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाने वाले येल यूनिवर्सिटी के डॉ० हेरॉल्ड बर एवं लियोनार्ड रैबिट्ज ने १९७० के दशक में एक महत्त्वपूर्ण खोज इस दिशा में की । उन्होंने शरीर के चारों ओर के विकिरण को एल. फील्ड (लाइफ फील्ड) नाम दिया है और कहा है कि यह न केवल अन्तःस्थिति के मीटर के रूप में काम करती है अपितु जीवित प्रोटोप्लाज्म की वृद्धि एवं रोगी कोशिकाओं की मरम्मत आदि में भी अपनी भूमिका निभाती है । उन्होंने कहा कि मनुष्य के चारों ओर की यह एल. फील्ड पृथ्वी के जैवचुम्बकत्व, ग्रह-नक्षत्रों के आकर्षण-विकर्षण बल एवं सौरस्फोट गतिविधियों से भी प्रभावित होती है । मनोरोगियों में अपराधी वृत्ति वालों में एक श्रेष्ठ कार्य करने वाले सदा व्यस्त व्यक्तियों में यह एल. फील्ड भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है । इसके माध्यम से व्यक्ति के अन्तःक्षेत्र को बहिरंग जीवन में खोलकर देखा जा सकता है एवं वास्तविकता की जानकारी ली जा सकती है । इसके अलावा हाई वोल्टेज फोटोग्राफी का प्रयोग कर विकिरण का खतरा उठाते हुए प्रभामण्डल का मापन सम्भव है । इसमें किर्लीयन फोटोग्राफी, इलेक्ट्रोग्राफी रेडिएशन फील्ड फोटोग्राफी एवं कोरोना डिस्चार्ज फोटोग्राफी आते हैं । इनके प्रवक्ताओं का मत है कि बीमारी होने से काफी पूर्व इस फोटोग्राफी द्वारा यह जाना जा सकता है कि इसकी सम्भावनाएँ कितनी प्रतिशत हैं । मद्धिम, धुँधले, प्रकाशवान ऑरा के मापन द्वारा उनका वर्गीकरण भी भली-भाँति सम्भव है । कौन निषेधात्मक प्रवृत्ति का है एवं नैराश्य का शिकार होकर आत्महन्ता स्थिति का रोगी बनेगा एवं कौन विधेयात्मक चिन्तन के सहारे अपनी जीवनीशक्ति का आश्रय लेते हुए मनोबल के सहारे अपनी नाव खे ले जाएगा, यह पूर्वानुमान भी ऑरा के इस विश्लेषण द्वारा सम्भव है ।

वैज्ञानिकों द्वारा कायिक ऊर्जा-'आर्गेन एनर्जी' सम्बन्धी किया गया यह सारा शोध एक बिन्दु विशेष पर तथ्यान्वेषियों को ले जाता है । वह यह कि हर व्यक्ति ऊर्जा का अक्षय भाण्डागार है । वह निरर्थक चिन्तन अथवा कामोपभोग में नष्ट होती रहती है, किन्तु जब इसका रूपान्तरण किया जाता है तो कायिक, आणविक संरचना विघटन के स्थान पर नियोजन में परिवर्तित हो व्यक्ति को ओजस-वर्चस सम्पन्न बना देती है । विद्युत शरीर सक्रिय हो जाता है एवं जैवचुम्बकत्व का विकिरण शरीर के चारों ओर प्रखर तेजयुक्त घेरा बनाकर एक आभा मण्डल बना देता है, जिसकी चेतना जितनी सूक्ष्म होती है, वलयाकार में बना घेरा उतना ही प्रकाशवान होता है । अन्तः का भाव-मण्डल ही आभा-मण्डल का निर्माण करता है । साधना-पराक्रम द्वारा इस भाव-मण्डल को ही प्रखर शक्तिशाली बनाया जाता है । इस माध्यम से वे सभी मानवेतर पुरुषार्थ सम्पन्न किए जा सकते हैं जो सामान्य व्यक्ति के लिए असम्भव माने जाते हैं । जैन मत के प्रतिपादक, तीर्थंकर महावीर ने इसी आधार पर लेश्या के सिद्धान्त को जन्म दिया था जिसका पूरा ढाँचा ही पुद्गल (सूक्ष्माणु) प्राणऊर्जा एवं भाव-मण्डल पर आधारित है।

वैज्ञानिकों के प्रयास कायिक ऊर्जा के स्रोतों का पता लगाने एवं उसे मापने की दिशा में रुके नहीं हैं । नार्वे के डॉ. लेड रीच ने पहली बार अपने 'आयन एकुमुलेटर' यन्त्र में मात्र दो-तीन छोटे उपकरण जुटाकर जब मानवी काया से निस्सृत पीले रंग की तेज रोशनी को पकड़ा, अंकित किया, तभी से उनके प्रयास इस दिशा में सतत चल रहे हैं। रूस के युवा वैज्ञानिक, विक्टर इन्युशिन ने इस 'आर्गेन एनर्जी' को टोबी स्कोप यन्त्र के द्वारा पहली बार मापा था एवं त्वचा प्रतिरोध तथा शेर्लियन फोटोग्राफी के माध्यम से बायोप्लाज्मा के विकिरण को ही अंकित कर यह प्रतिपादन किया था कि जीवकोशों की विद्युत का समुच्चय ही बाहर प्रतिबिम्बित होता है। जापान के इन्स्टीट्यूट ऑफ रिलीजीयस फिलॉसफी एवं साइकोलॉजी के निर्देशक डॉ. हिरोशी मोटीयामा ने एक्युपंक्चर सिद्धान्त पर ही 'साय' एवं 'की' एनर्जी का प्रतिपादन किया तथा एक विशेष यन्त्र इलेक्ट्रोमीटर के माध्यम से उँगलियों के पोरों, चेहरे तथा होंठों पर विशिष्ट विद्युत प्रवाह को मापा है। इसी की अल्पाधिक मात्रा के आधार पर वे ओजस का शरीर में संचय एवं काया से उसका निस्सृत होना मानते हैं। उन्होंने पाया कि शरीर में विभिन्न मेरीडियन से प्रवाहित धाराप्रवाह भिन्न-भिन्न होता है । जब भी इसमें व्यतिरेक आता है, रुग्णता की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं । वे कहते हैं कि बायोप्लाज्मा के रूप में आर्गेन एनर्जी ही प्रवाहित होती है एवं यही विशेष फोटोग्राफी द्वारा 'ऑरा' के रूप में तथा अन्य विशेष यन्त्रों से विद्युत उद्भव के रूप में मापी जाती है।

विद्युत-प्रवाह के अतिरिक्त एरोबायोलॉजी में वैज्ञानिकों ने थर्मोविजन कैमरे के माध्यम से शरीर से निस्सृत ऊष्मा को भी मापा है एवं पाया है कि ताप ऊर्जा भी चमकदार रंगमिश्रित प्रवाह के रूप में काया के ऊर्ध्व केन्द्र मस्तिष्क से निस्सृत होती है । 'मेडीकल फिजिक्स' पुस्तक में बायोफिजीसिस्ट डॉ. क्लार्क ने थर्मोग्राफी के माध्यम से ऊष्मा विकिरण को मापने का एक सफल

प्रयास किया है । इस पद्धति के आधार पर शरीर में विद्यमान ऊर्जा, किसी प्रकार की न्यूनता एवं बायोफीड बैक द्वारा उसकी पूर्ति की व्यवस्था का एक समग्र तन्त्र स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी में बनाया गया है ।

व्यवहार विज्ञान के विशारद ऊष्मामापन एवं जैव-चुम्बकत्व मापन का विश्लेषण कुछ अलग ढंग से करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे लोहे का चुम्बक या विद्युत द्वारा उत्पन्न किया गया चुम्बकीय बल आकर्षण-विकर्षण करता है, वैसे ही ये आकर्षण-विकर्षण की प्रतिक्रियाएँ होती हों, ऐसी बात नहीं है । यह तो मात्र एकांगी स्थूल पक्ष है, जो भौतिकी का प्राथमिक ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी जानता है । उनके अनुसार मानवी तेजोवलय का विद्युत-मण्डल अतिसूक्ष्म स्तर का होता है एवं इसका प्रभावक्षेत्र समीपस्थ एवं सम्बन्धित व्यक्तियों पर ही नहीं, एक व्यापक क्षेत्र पर पड़ता है । जितना भी कुछ मापा जा सका है, वह तो उसकी एक झलक-झाँकी भर है । जो शेष है, वह असीम सामर्थ्य सम्पन्न है, प्रसुप्त स्थिति में पड़ा रहता है ।

अध्यात्मवेत्ता इस मत से सम्मति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि साधना की, सूक्ष्मीकरण की, तप-साधना की प्रतिक्रिया ओजस, तेजस, वर्चस, की वृद्धि के रूप में होती है । ऐसे ऋषिकल्प महामानव गिने-चुने होते हैं, लेकिन उनके मौन होते हुए भी दृष्टिपात का, वाणी के द्वारा सत्परामर्श-सत्संग का लाभ एक विशाल समुदाय को मिलता है । ओजस के क्षेत्र को रोकने के लिए वे तप-पुरुषार्थ हेतु एकाकी मौन-साधना का अवलम्बन लेते हैं । जो भी इस सम्पर्क-सान्निध्य की लपेट में आता है, उसे यह तेजोवलय बदलने, प्रभावित करने में सफल होता है । महामानवों के आश्रमों में, सिद्धपीठों में जो प्रभाव-सामर्थ्य रहती है, उसके मूल में यह प्रकाशपुंज-तेजोवलय ही काम करती है, जो उनके वहाँ प्रत्यक्ष रूप में न रहने पर भी बनी रहती है । प्रत्यक्षतः आशीर्वचन-दर्शन, चरण स्पर्श में छिपे सत्परिणामों के पीछे भी इस आभामण्डल की ही भूमिका होती है । ऐसे तेजस सम्पन्न व्यक्ति चिरायु होते हैं, क्योंकि उनका छोड़ा हुआ प्रभाव चिरस्थायी होता है । विद्वत्जन कहते हैं-"**तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते।**" अर्थात्-"तेजस्वियों की आयु नहीं देखी जाती, वे अमर होते हैं।"

प्रसंग सूक्ष्मीकरण साधना के सन्दर्भ में यह चल रहा है कि युगसमस्याओं के समाधान हेतु जिस तप-सामर्थ्य की आवश्यकता है, वह कैसे उपलब्ध हो ? निरन्तर बढ़ते विग्रहों, पारस्परिक बिलगाव, ईर्ष्या-द्वेष के दावानल से जूझती मानव-जाति को उबारने हेतु जिस स्तर का पुरुषार्थ अभीष्ट है, वह कैसे सम्पन्न हो ? उत्तर एक ही है-बहिर्मुखी पक्ष को तिलांजलि देकर युगऋषि द्वारा यह भूमिका निभाने हेतु स्वयं को अन्तर्मुखी साधना में नियोजित किया जाना एवं सीमित समुदाय से ऊँचा उठा कर सारी वसुधा के हितसाधन हेतु खपा देना । आज की परिस्थितियों में जो अनिवार्य था वही गुरुदेव ने किया है । उनकी एकाकी सूक्ष्मीकरण साधना का स्तर बहुत ऊँचा है। प्रत्यक्ष दर्शन न हो पाने का अभाव खलता तो है पर जो फलदायी परिणतियाँ उस तप-साधना की होंगी, उसकी तुलना में वह तुच्छ है । आभामण्डल के बहुलीकरण की समष्टि में संव्याप्त होने की यह युग-साधना ऋषितन्त्र की विधि-व्यवस्था का ही अंग है । जो उनके जीवनक्रम से भली-भाँति अवगत हैं, वे जानते हैं कि पूर्व में भी वे ऐसा एकाकी साधनाक्रम वे एक-एक वर्ष के लिए चार बार सम्पन्न कर चुके हैं । प्रस्तुत संकल्प बड़ी विकट घड़ियों में युगसन्धि की विषम वेला में लिया गया है । सभी परिजन इस युगसाधना में सहभागी हैं । हमें यह विश्वास रखना चाहिए कि भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल होगा । उनकी भविष्यवाणियाँ समय की कसौटी पर खरी उतरेंगी ।

## पाँच क्षमताएँ-पाँच प्रयोगों के लिए

पतन को उत्थान में, विनाश को विकास में बदलने का नाम युगपरिवर्तन है । यह लड़ाई पाँच मोर्चों पर लड़ी जाती है । महाभारत पाँच पाण्डवों द्वारा लड़ा गया था । लंका दमन हनुमान, अंगद, नल, नील, जामवन्त नाम के पाँच सेनापतियों द्वारा लड़ा गया है । जीवनरथ को खींचकर किनारे पर लगाने अथवा उसे गहरे गर्त में डुबो देने के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियों को ही उत्तरदायी बताया जाता है । वे सन्मार्ग पर चलें तो मनुष्य ऋषि और देवता बन सकता है । कुमार्ग अपनाएँ तो पशु-पिशाच बनते देर नहीं लगती । अध्यात्म का युद्ध पाँच मोर्चों पर लड़ा जाता है । इनमें विजय प्राप्त करने वाले अपने भीतर प्रसुप्त स्थिति में पड़े हुए पाँच देवताओं को जाग्रत कर लेते हैं । पाँच रत्न, पंचामृत के नाम से जिन दैवी शक्तियों का स्मरण किया जाता है, पंचोपचार के विधि-विधान में जिन्हें जगाया जाता है, वे ही परम कल्याण-कारक, परमानन्ददायक हैं । देवता यों तो तैंतीस कोटि या तैंतीस भी हैं, पर उनमें प्रमुख पाँच ही हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश और भवानी। इनका अनुग्रह प्राप्त कर लेने के बाद और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता । इन पाँचों के प्रतीक सूक्ष्मशरीर में सन्निहित पाँच कोश हैं । कोश अर्थात् भण्डार । भण्डार किसके ? ऋद्धि-सिद्धियों के। यह जिनके पास हैं समझना चाहिए कि विश्ववैभव उसके करतलगत है ।

पाँच वैभवों की गणना इस प्रकार होती है -(१) धन, (२) बल, (३) ज्ञान, (४) कौशल, (५) विज्ञान । यह जिनके हाथ में हैं समझना चाहिए कि वही सामर्थ्यवान है। सामर्थ्यों का उपयोग जिस भी प्रयोजन के लिए होता है उसी में सफलता मिलती चली जाती है । आज जो कुछ भी सामने है, वह इन्हीं पाँचों की परिणति है । जिनके पास यह है-वे ही दुनिया को भली या बुरी बनाने के लिए

जिम्मेदार हैं। यदि परिस्थितियाँ बुरी हैं तो दोष इन पाँचों को ही दिया जाना चाहिए । यदि सुधार-परिवर्तन होना है तो इन पाँचों का आश्रय लिए बिना और कोई चारा नहीं।

मनुष्य गया-गुजरा है तो उन्हीं के अभाव से और यदि वह समर्थ है तो उन्हीं की उपलब्धि एवं मात्रा को उसका श्रेय दिया जाएगा । जो जितना ज्ञानवान है, बलवान है, प्रतिभावान है, वह उतना ही सामर्थ्यवान है । इन सामर्थ्यों के सहारे मनुष्य बड़े-बड़े काम कर सकता है । वे काम अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी । अच्छे काम अपना और दूसरों का हितसाधन कर सकते हैं । बुरे काम अपना और दूसरों का अहित कर सकते हैं । दोनों ही स्थितियों में जहाँ सामर्थ्यों की आवश्यकता है, वहाँ उनके सदुपयोग का विवेक भी अभीष्ट है । यह विवेक न होने पर अथवा उसका प्रवाह कुमार्गगामी होने पर जो जितना समर्थ है वह उतने ही अधिक दुराचरण कर सकेगा और उतना ही अधिक विनाशकारी-विघातक सिद्ध होगा ।

आज अधिकांश व्यक्ति असमर्थ हैं । वे पेट-प्रजनन के कोल्हू में पिसते रहते हैं । कई बार तो वे दूसरों पर आश्रित रहते हैं । थोड़े से व्यक्ति प्रतिभाशाली, सामर्थ्यवान हैं। उनमें से जिनके पास प्रतिभा है, वे उसका उपयोग बुरे कामों में करते हैं । फलस्वरूप सामर्थ्य विनाश हेतु प्रयुक्त होती है । इसका प्रतिफल अपने और दूसरों के अहित में होता है । आज यही हो भी रहा है । जो भी क्षमतासम्पन्न हैं, वे अपनी सम्पदाओं का इस प्रकार प्रयोग करते दृष्टिगोचर होते हैं, जिनसे सर्व-साधारण को नीचे गिराने वाले, पतन के गर्त में धकेलने वाले परिणाम प्रस्तुत हों। सामर्थ्यवानों की स्वभावतया अधिक जिम्मेदारी है । उन्हें भगवान ने जो अतिरिक्त साधन दिये हैं, वे इसलिए दिए हैं कि सर्व-साधारण को ऊँचा उठाने वाले आयोजन करें । स्वयं भी श्रेय प्राप्त करें और दूसरों को भी श्रेय पथ पर अग्रसर करें, लेकिन देखा ठीक उलटा जाता है । दुर्बलों के लिए तो अपनी गाड़ी खींचना ही कठिन है । दूसरों की वे क्या सहायता कर सकते हैं । वे दुर्भाग्यवश ऐसे कामों में हाथ डालते हैं, जिनसे विग्रह उत्पन्न हों और पतन की, विनाश की परिस्थितियाँ उत्पन्न हों। इनमें बुद्धि न हो ऐसी बात नहीं, पर वह उलटे मार्ग पर चल पड़े तो कोई क्या करे ? चाकू का उपयोग क़लम बनाने, कागज काटने, फल काटने आदि में होता है, पर कोई दुर्बुद्धिवश किसी में उसे भोंक दे और प्राणहरण कर ले, यह भी तो हो सकता है । यही बात प्रत्येक सामर्थ्य के सम्बन्ध में है।

किसी के पास धन हो और उसे दुर्व्यसनों में खर्च करने लगे अथवा ऐसे व्यापार करे जिससे लोकहित की हानि हो तो यह सहज सम्भव है । कितने ही धनवान व्यक्ति नशे का व्यवसाय करते हैं । पशुवध में अपनी पूँजी लगाते हैं । दुर्व्यसनों को भड़काने वाली दुष्प्रवृत्तियों में अपना पैसा लगाकर अपना अधिक लाभ सरलतापूर्वक कमाने के लिए कितने ही अनुपयुक्त कार्य करते हैं । अश्लील साहित्य, गन्दे चित्र, पशु प्रवृत्तियों को भड़काने वाली फिल्में बनाने में कितने ही धनवानों ने अपनी प्रचुर पूँजी लगाई हुई है । ऐसा वे गरीबी या किसी मजबूरी के कारण नहीं करते वरन् लोभ-लिप्सा वश लाख को करोड़ बनाने की ललक में ऐसे कामों में हाथ डालते हैं । मजदूरों या खरीददारों का गला काटते हैं । वे चाहते तो उचित मजदूरी देकर, उचित मुनाफा लेकर सर्व-साधारण का हित करने वाली वस्तुओं का उत्पादन कर सकते थे। इसमें उस पूँजी का भी सदुपयोग होता और जिस चक्र में पैसा घूम रहा है, उससे जन-साधारण की आवश्यकता भी पूरी होती, किन्तु दुर्बुद्धि को क्या कहा जाए, जो कुमार्ग अपनाती और अहित ही अहित करती है ।

यही बात अन्य क्षमताओं के सम्बन्ध में भी है । साहित्य को ही लें । चरित्र-निर्माण का, समाज-कल्याण के साहित्य का एक प्रकार से आज अभाव ही है । प्रेरणाप्रद चित्रों की अत्यधिक आवश्यकता है । ऐसी फिल्में बननी चाहिए जो सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दे सकें । इन कार्यों में हाथ डालने पर इतना ही जोखिम है कि थोड़ा अधिक परिश्रम करना पड़ेगा और सीमित लाभ मिलेगा । जिनके पास पर्याप्त पूँजी है, उनके लिए इसमें क्या कठिनाई हो सकती है । लाख के करोड़ न होंगे तो दस लाख सही । मुनाफा तो हर हालत में है ही । थोड़ा कम मिला तो उनका क्या काम हर्ज हो रहा है । पूँजी तो बढ़ ही रही है। उतने पर भी सन्तोष किया जा सकता है । लोकहित सधता है । जन-मंगल का प्रयत्न करने का यश मिलता है। यह क्या बुरा है ? किन्तु दुर्बुद्धि को क्या कहा जाए, जो पतन की दिशा में ही चलती है । बहुत जल्दी अत्यधिक लाभ कमाने से कम में चैन ही नहीं लेती ।

शासन भी एक बड़ी शक्ति है । उसमें सुधार की अत्यधिक गुंजाइश है । जो पैसा टैक्स के रूप में मिलता है उसे अपनी पार्टी को मजबूत बनाने के स्थान पर, नौकरशाही का पोषण करने के स्थान पर शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन, समाज-कल्याण जैसे कार्यों में लगाया जा सकता है। युद्ध की तैयारियाँ सरकारें ही करती हैं । जितना धन समाज-कल्याण के कार्यों में लगता है, उससे अधिक युद्ध की तैयारी में लगता है । इसके स्थान पर पंचायत द्वारा झगड़े सुलझाने की नीति अपनाई जाए और उस पर सच्चे मन से अमल किया जाय तो युद्धोन्माद का जो वातावरण उत्पन्न किया जा रहा है, उस पर जो प्रचुर धन व्यय किया जा रहा है, उसकी आवश्यकता ही न पड़े ।

विज्ञान क्षेत्र में लगे हुए बहुमूल्य मस्तिष्क यदि अणु-आयुध जैसे भयंकर अस्त्र बनाने के स्थान पर जन-कल्याण के उत्पादनों में लगें तो परिस्थितियाँ बदलकर कहीं से कहीं पहुँच सकती हैं । जमीन के नीचे पानी की प्रचण्ड धाराएँ बहती हैं । उन्हें ऊपर लाया जा सके तो सारे रेगिस्तान हरे-भरे हो सकते हैं और खाद्य समस्या का चुटकी बजाते हल निकल सकता है । विशालकाय उद्योगों की मशीनें बनाने के

स्थान पर जापान की तरह कुटीर उद्योगों की छोटी-छोटी मशीनें बनाई जाएँ तो छोटे गाँव कस्बों में बदल सकते हैं और बेकारी की समस्या देखते-देखते हल हो सकती है । वैज्ञानिक आविष्कारों की शोध में लगे लाखों बहुमूल्य दिमाग यदि उस गोरखधन्धे से हटकर मनुष्य की भूख और बेकारी दूर करने में लग सकें तो चमत्कारी परिणाम हो सकते हैं । युद्धप्रयोजन में लगी हुई प्रतिभाएँ यदि अध्यापक और माली का काम सँभाल लें तो संसार में फैला हुआ पिछड़ापन देखते-देखते समाप्त हो सकता है ।

जिन्हें भगवान ने इतनी बुद्धि दी है, इतने साधन दिए हैं, वे एक से एक श्रेष्ठ, कारगर योजनाएँ बना सकते हैं । जिनके पास प्रचुर पूँजी और विशाल साधन हैं वे यदि अपनी सामर्थ्य को संव्याप्त पिछड़ेपन को दूर करने के लिए नियोजित भर कर सकें तो सब ओर परिवर्तन ही परिवर्तन दिखाई पड़े ।

क्या कारण है कि वे ऐसा कर नहीं पा रहे हैं या कर नहीं रहे हों, इसका उत्तर एक ही हो सकता है-सद्भावना का अभाव । जिनके पास सद्भावना रही है, उन्होंने स्वल्प साधनों में भी ऐसे लोकोपयोगी कार्य कर दिखाये हैं कि दुनिया दाँतों तले उँगली दबाये रह गई । भामाशाह की कुल पूँजी ३० लाख के लगभग थी । उसे देकर उन्होंने इतिहास बदल दिया । आज इतना आये दिन सट्टे में कमाने गँवाने वालों की कमी नहीं, पर उन्हें कोई ऐसी योजना नहीं नहीं सूझती कि सद्भावना सम्पन्न कोई रचनात्मक काम सम्पन्न हो सके । स्वामी श्रद्धानन्द ने घर का मकान पाँच हजार में बेचकर उससे गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की और उस संस्था ने सैकड़ों देशभक्त निकाले । आज भी अपने काम का ढिंढोरा पिटवाने के लिए सैकड़ों व्यक्ति मन्दिर, सदावर्त आदि में खर्च करते हैं, पर ऐसी सूझ नहीं सूझती कि नाम का ढोल पिटवाने के स्थान पर कोई ऐसे रचनात्मक उदाहरण खड़े करें, जो नया वातावरण बनाने वाले उपयोगी काम कर सकें ।

वैभव की कहीं कमी नहीं है । बुद्धिमानों की श्रेणी में एक से एक बढ़कर मौजूद हैं, पर सद्भावना के अभाव में उस बुद्धि और सम्पदा का कोई ऐसा नियोजन नहीं हो पाता जो समय की उलट बहती हुई धारा को मोड़ सके । कभी ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं, तो उन्होंने चमत्कार करके दिखाये हैं । गाँधी अकेले ही खड़े हुए थे । उन्होंने आजादी की लहर चलाई और उसमें लाखों व्यक्ति अपना तन, मन, धन झोंकने के लिए तैयार हो गये ।

जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में लिखा जा रहा है, उसे समझने, सोचने, जानने, मानने की बुद्धि किसी में न हो, ऐसी बात नहीं है । इस सन्दर्भ में लेख कोई न लिखता हो, प्रवचन कोई न करता हो, किसी ने यह प्रसंग सुना-समझा न हो सो बात भी नहीं है, पर सद्भावनाओं को अन्तःकरणों की गहराई तक उतार सके और उसे अपनाने के लिए विवश कर सके, ऐसा सुयोग बन नहीं पा रहा है ।

गुरुदेव की सूक्ष्मीकरण प्रक्रिया की पाँच धाराएँ इसी निमित्त उद्भूत होने जा रही हैं, ताकि सामर्थ्यवानों, बुद्धिमानों को समय की पुकार सुनने-समझने के लिए बाधित कर सकें । जो सद्भावनाओं का स्रोत है, उसे झकझोर कर प्रज्ञावानों को इसके लिए विवश कर सकें कि बहते हुए प्रवाह के साथ ही न बहते रहें, वरन् नदी की धारा को चीरकर उलटी बह सकने वाली मछली का उदाहरण प्रस्तुत करें ।

बुद्धिवान, धनवान, सत्तावान स्तर की कितनी ही प्रतिभाएँ अपने समय में विद्यमान हैं, पर उन सबका वही हाल हो रहा है जो कभी अर्जुन का था और कहता था कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः कृपणता द्वारा स्वभाव को अपहृत कर लिया गया है और 'सम्मूढ चेताः' स्थिति उन सबके ऊपर बुरी तरह हावी हो रही है ।

गुरुदेव की सूक्ष्मीकरण प्रक्रिया में पाँच देवशक्तियों को नये सिरे से जाग्रत किया जा रहा है और सामर्थ्यवानों के गहन अन्तराल तक उनका उद्बोधन पहुँचाने का उपक्रम चल रहा है । मनीषा-सम्पदा-शासनसत्ता, प्रतिभा-विज्ञान गरिमा के पाँचों यंत्र ऐसे हैं, जिनमें बुद्धिमत्ता की कमी नहीं। वे दूसरों को बहुत कुछ सिखा सकते हैं और उन्हें कौन सिखाए ? कौन समझाए ? आवश्यकता मात्र इस बात की है कि सद्भावना का नश्तर अन्तराल की गहराई तक चुभोया जा सके और ऐसा परिवर्तन प्रस्तुत किया जा सके जिससे अस्थायी प्लास्टिक सर्जरी नहीं अपितु काया-कल्प स्तर की परिणति सम्भव की जा सके। आज की स्थिति में यह असम्भव इसलिए दीख पड़ता है कि बुद्धि से बुद्धि को समझाने का प्रयत्न किया जाता रहा है । इसके लिए दबाव डालने वाले औजार अधिक कारगर स्तर के होने चाहिए ।

काँच सीधी लकीर में कटता नहीं, टूट जाता है । उसे काटने के लिए हीरे की नोंक वाली कलम की जरूरत पड़ती है । पत्थर की कड़ी चट्टान में छेद करने के लिए भी यही प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । बारूद के कारतूस चट्टान को टुकड़े-टुकड़े करके उड़ा तो देते हैं, पर पानी निकालने के लिए, गोल छेद का बोरिंग करने के लिए भी हीरे की नोंक वाला गरम बरमा चाहिए । जो वस्तुएँ अति कठोर होती हैं, जो टूट जाती हैं, जो बदलती नहीं, ऐसी वस्तुओं के लिए उन्हीं के अनुरूप साधनों की आवश्यकता पड़ती है ।

वाल्मीकि को किसी ने बदलने के लिए उपदेश न दिये हों सो बात नहीं, पर देवर्षि नारद के उपदेश ही कारगर सिद्ध हुए । पार्वती को समझाने वाला परिवार एक ओर और नारद का दस अक्षरों का उपदेश एक ओर रहा। पार्वती ने नारद जी का उपदेश माना, सारे घर की शिक्षा उन्होंने अस्वीकृत कर दी। प्रह्लाद के बारे में भी यही बात है । एक ओर प्रताड़नाओं की चरमसीमा और एक ओर नारद का उपदेश। नारद का कथन ही हृदयंगम हुआ। ऐसे उपदेश वाणी से नहीं दिये जाते, वरन् उनके लिए शब्दशक्ति की ऐसी प्रचण्ड धारा चाहिए, जो मनुष्य की बुद्धि तक ही नहीं, वरन् अन्तःकरण तक प्रवेश कर सके और दिए हुए उपदेश को गहराई तक हृदयंगम करा सके।

सूक्ष्मीकरण में गुरुदेव अपने को पाँच हिस्सों में विभक्त कर रहे हैं । उसी प्रकार जिस तरह कि हाथ की उँगलियाँ पाँच होती हैं । कई बार तो पाँचों का सम्मिलित प्रयोग घूँसे या चाँटे के रूप में होता है । कई बार उनका अलग-अलग प्रयोग भी होता है । लिखने में अँगूठा और तर्जनी काम में लाई जाती है। संकेतों में एक, दो, तीन, चार का भी प्रयोग होता है । उन्होंने अपना एक सूक्ष्म शरीर गायत्री परिवार के परिजनों के व्यक्तिगत मार्गदर्शन एवं सहयोग के लिए सुरक्षित रखा है । एक पिछड़े वर्ग को उठाने के लिए है । एक से वे बुद्धिजीवियों को, एक से व्यवसायी वर्ग को और एक से विभिन्न देशों की राजसत्ताओं, शासकों को प्रभावित करने के काम में लगाते रहेंगे । इस सब का सम्मिलित परिणाम यह होना चाहिए कि परमाणुयुद्ध जैसी महाविनाशकारी विभीषिकाओं को टाला जा सकेगा । सर्वत्र जो छोटे-बड़े विग्रह चल रहे हैं, वे देर-सबेर में शान्त होते जाएँगे । रचनात्मक प्रयास इन दिनों नहीं के बराबर चल रहे हैं, इन सभी में तेजी आएगी। पाँचों शरीर उनके इर्द-गिर्द नहीं, वरन् समस्त संसार में अपना व्यापक प्रभाव छोड़ेंगे । नव-निर्माण का वातावरण बनेगा और विनाश की विभीषिकाएँ शिथिल और शान्त होती जाएँगी ।

अकेला एक व्यक्ति सीमित कार्य कर सकता है, पर व्यक्ति के पाँच सूक्ष्म शरीर मिल-जुलकर योजनाबद्ध रूप से कार्य करें, तो उसका प्रभाव दूसरा ही होगा । एक उँगली से किसी को धमका दिया जाए तो उसका प्रभाव थोड़ा-सा होगा, किन्तु पाँचों उँगलियों की सम्मिलित चोट पकड़ के रूप में लगेगी तो उसका प्रभाव दूसरा ही होगा। गुरुदेव का सूक्ष्मीकरण उनकी शक्ति को पाँच गुनी बढ़ाने जा रहा है। निस्सन्देह उसका प्रभाव सब प्रकार से श्रेयस्कर ही होगा।

## शानदार प्रजनन, जो इन्हीं दिनों हो रहा है

कुन्ती ने पाँच पुत्रों को जन्म दिया था और वे पाँच प्रमुख देवताओं की शक्तियों को आकर्षित करके जन्मे थे। यह प्रक्रिया साधारण स्त्रियों की तरह पूरी नहीं हो गई थी। इसके लिए कुन्ती को विशेष तप-अनुष्ठान करने पड़े थे। यह महत्त्वपूर्ण प्रजनन सामान्य कामों के लिए नहीं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कामों के लिए किया गया था । साधारण स्तर के व्यक्ति उसे पूरा नहीं कर सकते थे । महाभारत की कठिन योजना इन्हीं पाँच पाण्डवों ने पूरी की थी । सामान्य स्तर के होने पर यदि वे सौ कौरवों की तरह होते तो भी हार जाते।

मनुष्य तो एक साथ एक ही बच्चा जनते हैं, पर पशु-पक्षियों में कितने ही ऐसे होते हैं, जो एक साथ कई जनते हैं और प्रजनन काल में विशेष सतर्कता रखनी पड़ती है, जब तक वे समर्थ नहीं हो जाते तब तक उनकी माताएँ उनके पालन-पोषण की सुरक्षा भी विशेष रूप से बरतती हैं। यदि न बरतें तो वे समर्थ होने से पूर्व ही दम तोड़ दें। जननी की कितनी जिम्मेदारी होती है, यह वही जानती है। प्रजनन मात्र से प्रसव कृत्य पूरा नहीं हो जाता । असमर्थों को समर्थ बनाने के मध्यान्तर में माता को क्या-क्या सोचना और क्या-क्या करना पड़ता है, यह बहुसंख्यक प्रसव करने वाली किसी भी माता के निकट रहकर उसकी विशेष गतिविधियों को देखकर जाना जा सकता है ।

गुरुदेव इस एक वर्ष में पाँच अदृश्य शक्तियों को जन्म दे रहे हैं । उनके लिए उन्हें कुन्ती जैसी भूमिका निभानी पड़ रही है । इस कृत्य पर वे अपना ध्यान पूरी तरह एकाग्र किये हुए हैं । अन्य सामान्य कार्यों से उन्होंने अपना चित्त पूरी तरह समेट लिया है । यहाँ तक कि एक-दो व्यक्तियों को छोड़कर अन्यान्यों से मिलना-जुलना, वार्तालाप करना तक बिलकुल बन्द कर दिया है । जो अतिमहत्त्वपूर्ण कार्य उनके हाथ में है, वह ऐसा है कि समग्र एकाग्रता चाहता है । ध्यान को कई अन्य कार्यों में बिखेरने पर वह कार्य उतनी अच्छी तरह नहीं हो सकता, जैसा कि होना चाहिए था ।

सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत गुरुदेव अपने आपको पाँच भागों में विभक्त एवं विकसित कर रहे हैं । सच तो यह है कि वर्तमान शरीर की तुलना में नव-निर्मित पाँच शरीर कहीं अधिक समर्थ होंगे । पाँचों शरीरों को इस पूरे समय में जमकर दिन-रात मशक्कत करनी है। इतने समय तक उनकी वर्तमान काया जीवित रहे और अत्यन्त बलिष्ठों जैसी भूमिका निभा सके, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। फिर वह जीवित रहकर भी एकांगी रहेगी । चर्म कलेवर एक सीमा में ही कार्य करने के लिए बाधित होता है । उसके अनेक सीमा-बन्धन हैं । इनके रहते वे कार्य सध नहीं सकते जो उनके कन्धों पर आये हैं । कुन्ती स्वयं महाभारत लड़ नहीं सकती थी । इसके लिए उसे नवीन सृष्टि करनी पड़ी । अंजनी पुत्र हनुमान ने जो उत्तरदायित्व निभाये, वे उनकी माता अंजनी निभा नहीं सकती थीं । स्वयंभू मनु और शतरूपा रानी ने तप करके भगवान को जन्म दिया था। वे दोनों स्वयं ही अवतार रूप धारण करना चाहते तो कर नहीं सकते थे । बीज कितना ही सामर्थ्यवान क्यों न हो, अपने उसी रूप में वृक्ष नहीं बन सकता। उसे गलना होता है और अनेक शाखा-पल्लवों वाले वृक्ष के रूप में विकसित होना होता है । छाया, पल्लव, फूल, फलों से लदने के रूप में बीज अपने मूल रूप में विकसित नहीं हो सकता । बीज की कितनी ही महिमा क्यों न हो वह अपने मूल रूप में वृक्ष नहीं बन सकता और वृक्ष की जो उपलब्धियाँ हैं, वह बीज के कलेवर में रहते पूरी नहीं कर सकता ।

गुरुदेव का वर्तमान शरीर सीमित परिधि में ही मनुष्यों से सम्पर्क साधता रहा है । आगे भी उसकी यही परिधि रहेगी, जबकि असंख्य लोगों के साथ न केवल सम्पर्क साधने की, वरन् अनुदान बाँटने की भी आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिए उनका विकास सूक्ष्मशरीरों के रूप में होना नियति की विधि व्यवस्थानुसार आवश्यक है ।

अस्पतालों में ऑक्सीजन गैस के सिलेण्डर रहते हैं। उससे एक समय में एक या दो रोगी की आवश्यकता ही पूरी हो पाती है । लाखों मनुष्यों को प्राणदान देना हो तो सूक्ष्म अदृश्य वायु का प्रवाह ही उस कार्य को कर सकता है। अँगीठी सीमित गर्मी दे सकती है । लैम्प का प्रकाश भी सीमित क्षेत्र में ही अपना प्रभाव दिखाता है, किन्तु सूर्य की किरणें आधी पृथ्वी को गरम और प्रकाशवान बनाती हैं, उससे करोड़ों मनुष्य और प्राणी लाभ उठाते हैं । इस लाभ की आशा अँगीठियों और लैम्पों से नहीं की जा सकती । एक काया में अवरुद्ध होने के कारण गुरुदेव की वर्तमान सामर्थ्य सीमित है । यों इस सीमा में सीमित रहते हुए भी उन्होंने अनेक ऋषियों की विविध प्रकार की गतिविधियों को संचालित किया है । अब तक की आवश्यकता सीमित थी, इसलिए उतने से भी काम किसी प्रकार चलता रहा है, पर अब आवश्यकता हजारों लाखों गुनी बढ़ गई है । युग-परिवर्तन के अनेकों पक्ष हैं और हर पक्ष की ढेरों ऐसी आवश्यकताएँ हैं । इसलिए अनिवार्य हो गया कि उनका सूक्ष्मीकरण हो। एक स्थान की पूर्ति के लिए उस स्थान को ग्रहण करने के लिए पाँच सूक्ष्म शक्तियाँ स्थानापन्न हों । अभी पाँच कलेवरों में वे इसी दृष्टि से अपने को विकसित विकेन्द्रित कर रहे हैं ।

अब तक के जीवन में गुरुदेव ने प्रायः २४ लाख व्यक्तियों को अपने से सम्बद्ध किया है । इनकी ढेरों आवश्यकताओं की पूर्ति अभी भी बाकी है । अभी ऐसी स्थिति नहीं आई है कि इन्हें मार्गदर्शन या सहयोग की आवश्यकता न रही हो । इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उन्होंने अपना नवविकसित शरीर सुरक्षित रखा है। प्रज्ञापरिवार के परिजनों में से एक को भी यह न कहना पड़ेगा कि वयस्क होने से पहले ही हमारी उँगली छोड़ दी गई । हमारी नाव मझधार में ही रह गई।

मनुष्यों की संख्या ५०० करोड़ के लगभग जा पहुँची है । इनके साथ गुरुदेव का सीधा सम्पर्क नहीं बन सका है। देश का सीमा-बन्धन और साथ ही भाषा सम्बन्धी कठिनाई अब तक सीमित व्यक्तियों से ही प्रत्यक्ष सम्पर्क साध सकी है, जबकि आवश्यकता इससे हजार गुने अधिक लोगों के साथ सम्पर्क साधने और प्राण भरने की है। नेतृत्व कर सकने वाले थोड़े ही होते हैं, उन्हीं पर सारा बोझ नहीं लादा जा सकता । जन-साधारण को अपने पैरों पर भी खड़ा होना होगा । इसके उपरान्त ही नेतृत्व का सहयोग कुछ काम दे सकता है । पाँच सूक्ष्मीकृत शरीर में से एक प्रज्ञापरिजनों के लिए और दूसरा सर्व-साधारणों के लिए सुरक्षित है । इतनी व्यवस्था जुटाये बिना अब तक के सम्पर्क-सूत्र में बँधे हुए लोग गड़बड़ा जायेंगे और नये लोगों में प्राण फूँकने का काम समाप्त हो जायगा । युग परिवर्तन की बहुमुखी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अब तक सम्पर्क-सूत्र में बँधे हुए लोग तो यथावत यथास्थान रहने ही चाहिए । यह संख्याबल और भी बढ़ना चाहिए। फसल लगातार बोई और काटी जाती रहनी चाहिए, तभी खेत हरे-भरे रहेंगे ।

मूर्धन्य लोग तीन स्तर के हैं । मनीषी-सम्पत्तिवान-क्रियाकुशल, प्रतिभावान । इन तीनों वर्गों के ऊपर जन-साधारण के नेतृत्व का भार है । तीनों ही अपनी विभूतियों द्वारा ऐसे कार्य करते हैं, जिनका प्रभाव जन-साधारण पर पड़ता है । इनके द्वारा संचालित प्रवृत्तियाँ सर्व-साधारण को प्रभावित करती हैं । बड़ों का अनुकरण छोटे करते हैं । प्रतिभावान अपने क्रिया-कृत्यों द्वारा अन्यों को अनुकरण की प्रेरणा देते हैं । तीन सूक्ष्मीकृत शरीर इन तीन मूर्धन्यों को सही मार्ग पर चलने-सत्प्रवृत्तियाँ उभारने के लिए हैं। संसार में सदा यही होता आया है । मूर्धन्य लोगों ने सर्व-साधारण को अपने पीछे चलाया । उन्हें सुधारा, सँभाला, बदला और सत्प्रवृत्तियों के नियोजन में लगाया जा सके तो एक हवा चलती है । वातावरण बनता है और वह बन पड़ता है जिस पर नव-निर्माण की आधारशिला निर्भर है ।

## सद्विचारों का प्रेरणातंत्र

अज्ञातवास में लम्बे समय तक रहते और विपन्न परिस्थितियों का सामना करते-करते अर्जुन का पुरुषार्थ शिथिल हो गया था । भगवान कृष्ण उससे महाभारत का नेतृत्व कराना चाहते थे, किन्तु उसका मन बैठ गया था । उसकी आँखों से देश, जाति, समाज की विषम समस्याएँ ओझल हो गई थीं, गुजारे का प्रश्न भर सामने था । कृष्ण ने कई बार उकसाया किन्तु उसके उत्तर इतने भर थे कि पेट पालने के लिए और कुछ न बन पड़ेगा तो भीख माँगकर ही गुजारा कर लेंगे । अज्ञातवास की अवधि में वह भाइयों समेत ऐसे ही छोटे काम करता रहा था । सो प्रश्न पेट भरने का सामने रह गया था । उसके लिए छोटे दर्जे की मजदूरी से भी काम चल जाता था । अर्जुन इतना ही छोटा रह गया था । अस्त-व्यस्त भारत को सर्वसमर्थ महाभारत बनाने की कृष्ण ने जो योजना बनाई थी, सो उसके गले ही न उतर रही थी । दोनों पक्ष की सेनाएँ तो आमने-सामने आ खड़ी हुई थीं, पर अर्जुन का छोटा मन छोटी बातें ही सोच रहा था । कृष्ण की योजना ही अस्त-व्यस्त हुई जा रही थी, तब भगवान ने न केवल उद्बोधन भरे परामर्श दिये, वरन् खीजकर गाली-गलौज पर उतर आये । बोले-"कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् । अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। अन्त में उसे डरा-धमकाकर उस स्थिति पर ले आये जिसमें वह कहने

लगा-'**करिष्ये वचनं तव**' यदि कृष्ण ने धमकाया न होता तो कदाचित वह मोर्चा छोड़कर भाग ही खड़ा हुआ होता। उन्हीं कृष्ण ने यह भी कहा था-''**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।**'' सच तो यह है कि उन्होंने मुर्दे में प्राण फूँके थे और जो वह नहीं चाहता था वह भी उससे करा लिया था ।

ठीक इससे ही मिलती-जुलती दूसरी घटना है । लंका-दहन के समय समुद्र लाँघकर सीता का पता लगाकर लाने की। जामवन्त सभी सेनापतियों से कह रहे थे कि इस कठिन काम को करने के लिए कौन जाएगा? हनुमान समेत सभी ने चुप्पी साध रखी थी । इतने कठिन काम में हाथ डालना और जान गँवाना एक ही बात है । इसे आगे बढ़कर कौन अपनाए ? जामवंत ने हनुमान के सोते हुए साहस को जगाया और कहा-''तुम आसानी से इस काम को कर सकते हो, फिर क्यों चुप बैठे हो ?'' आत्मबोध जागा तो '**तब कपि भयेऊ पर्वताकारा**' शरीर तो शायद ही उतना लम्बा-चौड़ा रहा होगा, पर मनोबल जाग पड़ने से वह पहले की तुलना में इतना अधिक विशाल हो गया जितना कि सामान्य मनुष्यशरीर की तुलना में पहाड़ होता है। सामर्थ्य का इतना अधिक स्फुरण होने पर बल की कुछ कमी नहीं रही । समुद्र छलाँगना, सीता का पता लगाना, अशोक-वाटिका उजाड़ना, लंका जलाना जैसे कई एक से एक कठिन काम उन्होंने लगे हाथों कर डाले । सुरसा ने परीक्षा ली तो वे उसमें हर दृष्टि से उत्तीर्ण हुए-

**जस-जस सुरसा बदन बढ़ावा ।**
**तासु दुगुन कपि रूप दिखावा ।।**

सामान्य वानर जो सुग्रीव का सेवक मात्र था, अपने स्वामी के साथ-साथ अपनी भी जान बचाये ऋष्यमूक पर्वत पर दिन काट रहा था। राम-लक्ष्मण का पता लगाने भेजा गया तो वेश बदलकर गिड़गिड़ाते हुए किसी प्रकार नाम-पता भर पूछकर लाया था, किन्तु जब मनःस्थिति बदली तो परिस्थिति भी बदली । सामान्य वानर हनुमान हो गया और पर्वत उखाड़ लाने का अद्भुत पराक्रम दिखाने लगा।

मनुष्य सामान्य ही होते हैं । हाड़-माँस की दृष्टि से सब एक जैसे ही होते हैं, पर भीतर वाले में जब अन्तर पड़ जाता है तो मनुष्य सामान्य न रहकर असामान्य हो जाता है। हजार वर्ष तक गुलामी का दमन उत्पीड़न सहते-सहते सारा देश लुंज-पुंज हो गया था । मुट्ठी भर अँग्रेज इतने विशालकाय देश पर दो सौ वर्ष शासन करते रहे । उनके सामने किसी की हिम्मत चूँ तक करने की नहीं थी, पर जब गाँधी ने हुँकार भरी और मनोबल उभारा तो हजारों-लाखों सत्याग्रही जेल जाने, घर लुटाने, गोली खाने और फाँसी का तख्ता चूमने के लिए कटिबद्ध हो गये। ९६ पौण्ड के दुर्बलकाय इस व्यक्ति का आत्मबल जब उभरा तो उनके साथियों, अनुगामियों की कमी न रही। जिसके राज्य में कभी सूर्य अस्त न होता था, उस ब्रिटेन के सिंह को गाँधी के सामने पराजय माननी पड़ी और बिस्तर बाँधकर अपने देश को वापस लौट गया । यह चर्चा आत्मबल की हो रही है । यह चेतना होती हर किसी में है। पर जागती तब है जब कोई जगाने वाला हो । अर्जुन की, हनुमान की, गाँधी की चर्चा इसी प्रसंग में हुई है कि जब उनका आत्मबल जगाया गया तो वे सामान्य से असामान्य हो गये और वह काम कर गुजरे जो अद्भुत असम्भव जैसे दीखते थे । इतिहास इसी घटनाक्रम से भरा हुआ है । उद्‌बोधन की शक्ति महान है, यदि वह छिन जाए तो फिर बलिष्ठ भी दुर्बल हो जाता है ।

महाभारत युद्ध में प्रधान सेनापति कर्ण था । उसे हराना असम्भव ठहराया गया था । चतुरता से उसके बल का अपहरण किया गया । कर्ण का सारथी शल्य था । श्रीकृष्ण के साथ तालमेल बिठाकर उसने एक योजना स्वीकार कर ली । जब कर्ण जीतने को होता तब शल्य चुपके से दो बातें कह देता, यह कि-तुम सूत पुत्र हो । द्रोणाचार्य ने विजयदायिनी विद्या राजकुमारों को सिखाई है। तुम राजकुमार कहाँ हो जो विजय प्राप्त कर सको । जीत के समय पर भी शल्य हार की आशंका बताता । इस प्रकार उसका मनोबल तोड़ता रहता । मनोबल टूटने पर वह जीती बाजी हार जाता । अन्ततः विजय के सारे सुयोग उसके हाथ से निकलते गये और पराजय का मुँह देखने का परिणाम भी सामने आ खड़ा हुआ ।

सामान्य लोगों में असामान्य मनोबल भर देना किसी-किसी प्राणवान का ही काम होता है । भामाशाह पूरे वणिक थे । जीवन में पहले कभी बड़े दान दिए होते तो उनकी जेब कब की खाली हो गई होती । राणा प्रताप के मन्त्री एक दिन उनके पास गये और संग्रहीत पूँजी राणा को देने में लाभ और न देने की हानि समझाते रहे । उत्तेजना भरे शब्द लालाजी के कलेजे से पार हो गये और आवेश में आकर ३० लाख के लगभग जो पूँजी थी, सो सब की सब राणा के चरणों पर अर्पित कर दी । जौहर राणा ने दिखाये। दानवीर भामाशाह बने । परिस्थितियाँ बदल जाने का वर्णन इतिहासकारों ने किया । पर राणा के उस मन्त्री की कहीं चर्चा भी नहीं होती, जिसने भामाशाह को नीच-ऊँच समझाकर उस काम के लिए सहमत किया, जिसे स्वेच्छापूर्वक वे कदाचित ही करते ।

यह उल्लेख सूक्ष्मीकरण के सन्दर्भ में किया जा रहा है। हमारा सामान्य शरीर भी उतना ही है- जितना कि वह विदित पराक्रम दिखा चुका है। मनुष्य जो कर सकता है वह चरमसीमा तक उसने कर दिखाया है । अब उन हजारों- लाखों का प्रसंग है जो प्रत्यक्ष सामर्थ्य की दृष्टि से समान ही नहीं, वरन् अधिक बढ़े-चढ़े भी हैं, किन्तु उनका प्रसुप्त मनोबल-पराक्रम एक प्रकार से मूर्च्छा-ग्रस्त स्थिति में पड़ा हुआ है । यदि कोई उसे जगा दे तो वे महामानवों की पंक्ति में गिने जा सकते हैं और ऐसे कदम

उठा सकते हैं, जिन्होंने भारत के इतिहास को स्वर्णाक्षरों से लिखने योग्य बनाया है । तिलक, गोखले, पटेल, मालवीय, सुभाष जैसों का बचपन या आरम्भिक जीवन देखा जाए तो वे सामान्य से बढ़कर और कुछ प्रतीत नहीं होते । किन्तु प्रसुप्त को यदि कोई जगा दे तो वर्तमान परिस्थितियों में भी ऐसे कितने ही दीख पड़ेंगे जिन्हें गेंद की तरह थोड़ा-सा सहारा मिले तो उछलकर कहीं से कहीं पहुँच सकते हैं। आज जो पैसा, पदवी, बड़प्पन के क्षेत्र में बड़े आदमी भर कहला पाते हैं, यदि इनकी दिशा में कोई बड़ा-सा मोड़-मरोड़ दे तो वे उनकी जीवनगाथा सामान्य न रहे; कुछ से कुछ हो जाए । प्रतिभावानों की कहीं कोई कमी नहीं है। हर क्षेत्र में ऐसे असंख्य लोग मौजूद हैं जिन्होंने जो काम हाथ में लिये हैं उनमें आश्चर्यजनक सफलताएँ पाई हैं। भूखे-नंगे लोग अरबपति बने हैं । निरक्षर आदमी कालिदास, रणजीत सिंह, अकबर बने हैं । सफलता की हजार धाराएँ हैं । प्रतिभावानों ने इनमें से जिस भी धारा को पकड़ा है, एक के बाद दूसरी सीढ़ी पार करते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँचे हैं । किन्तु यह सफलताएँ हैं विशुद्ध व्यक्तिगत । यदि इनकी दिशा मुड़ी होती तो लोकमंगल के ऐसे काम कर दिखाते, जिसमें उनकी गणना महा-मानवों में हुई होती और उनके पुरुषार्थ ने देश, धर्म, समाज, संस्कृति का ढाँचा ही बदल दिया होता । कठिनाई एक ही है कि ऐसी दिशा में धकेलने वाली प्रेरणा देने वाले शक्तिपुंज निगाह दौड़ाने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होते। योरोप के इतिहास में लेनिन से लेकर मार्टिन लूथर तक कितने ही नक्षत्र चमके हैं । लेखकों की कमी नहीं रही, पर साम्यवाद के प्रणेता कार्लमार्क्स और प्रजातन्त्र के जन्मदाता रूसो की तुलना करने वाले बहुत खोजने पर ही थोड़े से मिल सकेंगे । अमेरिका के लिंकन और वाशिंगटन गरीब घरों में पैदा हुए थे, पर इस देश का काया कल्प करने में उनकी महती भूमिका थी । भारत में सुभाष, विनोबा मुश्किल से ढूँढ़े मिलेंगे । वे पूर्व जन्मों के संचित संस्कारों के बलबूते ही महान प्रतीत होते हैं । उन लोगों के नाम दृष्टि में नहीं हैं । जिन्हें दूसरों के द्वारा बनाया कहा जा सके । समर्थ के शिवाजी, राम-कृष्ण के विवेकानन्द जैसे उदाहरण कठिनाई से ही मिल पावेंगे ।

अपने बलबूते अथवा दूसरों की सहायता से कितने ही लोग विद्वान बने हैं । व्यवसाय में प्रचुर मात्रा में धन कमाने में सफल हुए हैं । सरकारी उच्च पदों पर आसीन होने का उन्हें अवसर मिला है । सेनानायक बनकर वे अँग्रेजों के छक्के छुड़ा चुके हैं । विज्ञान के कई आश्चर्यजनक आविष्कार वे कर चुके हैं । कइयों ने शासन चलाये और कई तरह के सुधार किये हैं । कइयों की प्रशंसाएँ छपी हैं और नोबेल पुरस्कार जैसे उपहार मिले हैं । इन सफलताओं के लिए उनकी चर्चा भी होती है, पर इन उपलब्धियों का विश्लेषण करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि यह व्यक्तिगत स्तर की सफलताएँ थीं । धन वालों के सम्बन्ध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उनके कारखाने में कितनों को नौकरी मिली और पेट भरने का इन्तजाम हुआ । कवियों, गायकों, कलाकारों को यश मिला। दर्शकों की भारी भीड़ उन्हें देखने के लिए एकत्रित होती रही । फिर इस कारण समूचे समाज को आदर्शवाद की ओर चलने की कितनी प्रेरणा मिली, इसका लेखा-जोखा लेने पर इतना ही सार निकलता है कि लम्बी पूँछ वाली घोड़ी अपनी मक्खी भर उड़ाती रही। जिनको उनके द्वारा लाभ मिलता रहा वे उनकी चमचागीरी करते रहे । इस बड़प्पन के लिए उस महानता की पदवी उन्हें कैसे दी जाए जिससे समाज में आदर्शवादिता का माहौल बना, वातावरण बदला और उत्कृष्टता की दिशा से जन-साधारण को प्रोत्साहन मिला।

सम्पदा की कहीं कमी नहीं । मनुष्य का श्रम निरन्तर धन कमाता है । मनुष्य जो कमाता है, उसे यदि खर्च न किया जाय तो सोने-चाँदी के पर्वत जमा हो सकते हैं, पर वे सब खर्च हो जाते हैं । खर्च किसमें होते हैं, इसकी देखभाल की जाए तो प्रतीत होगा कि आवश्यक की तुलना में अनावश्यक कहीं अधिक होता है । इस अनावश्यक में कटौती की जा सके तो ईमानदारी से कमाने वाला और नितान्त आवश्यक है वहीं खर्च करने वाला कोई भी व्यक्ति निर्धन नहीं रह सकता । देखा यह गया है कि सही की अपेक्षा गलत खर्च कहीं अधिक होता है । मात्र इस गलती की रोकथाम की जा सके तो मनुष्य के पास इतना पैसा हो सकता है कि जिसे सदुपयोग में लगाया जा सके तो उसके परिणाम आश्चर्यजनक हो सकते हैं । आवश्यक नहीं कि लोकमंगल के रुके हुए कामों के लिए कहीं चोरी, डाका डाला जाय या गढ़ा खजाना ढूँढ़ा जाए । इसके लिए, पूरा श्रम और उचित खर्च करने की नीति बना लेने के उपरान्त हर व्यक्ति के पास उतना पैसा हो सकता है कि उसे योजनाबद्ध उपयोग करके उन कामों को सँभाला जा सके जो आज के अभाव में रुके हुए हैं । प्रश्न उस समझदारी का है जो ''कमाई को किस काम में लगाया जा सके'' इस समस्या को सही ढंग से हल कर सके । उदाहरण के लिए विवाह-शादियों में होने वाले अपव्यय में कटौती की जा सके तो हर हिन्दू परिवार के पीछे इतनी राशि जमा हो सकती है जिसे लोकमंगल के आवश्यक कामों में दान की तरह न सही पूँजी की तरह लगाया जा सके, तो उसका परिणाम बहुत ही सुखद हो सकता है ।

फिर ऐसे आदमी कम नहीं हैं जिनके पास आवश्यकता से अधिक सम्पदा है । कीमती कपड़े न खरीदे जाएँ तो ढेरों बचत हो सकती है । जेवरों में लगी हुई रकम निरर्थक न लगे और उसे चालू रखा जाए तो भी उतना पैसा निकल सकता है, जिससे रचनात्मक कामों के लिए पैसे का अभाव प्रतीत न हो । सरकारी शिक्षा के अतिरिक्त जन-समाज की ओर से व्यावहारिक ढंग से एक अलग शिक्षातन्त्र खड़ा किया जा सकता है । बहुत अधिक लाभ कमाने का लालच न हो तो वे कुटीर उद्योग चालू किये जा सकते हैं, जिनके द्वारा हजारों व्यक्तियों को नये

उद्योग मिल सकें । प्रौढ़ महिला शिक्षा, लड़कों को स्कूलों के अतिरिक्त शिक्षा देने की व्यवस्था आरम्भ करने के लिए पूँजी का जो अभाव इन दिनों प्रतीत होता है उसे कुछ ही समझदार आदमी सहकारीतन्त्र के आधार पर परस्पर मिल-जुलकर जुटा सकते हैं ।

यह तो गरीब और मध्यम श्रेणी के लोगों द्वारा जुटाई जाने वाली पूँजी की चर्चा हुई । इसके अतिरिक्त जमींदार, साहूकार, मिल-मालिक, लम्बी-चौड़ी जमीन-जायदादों के मालिक भी तो हैं, जिनके परिवार विलासिता में ढेरों पैसा खर्च करते हैं । उत्तराधिकार के बँटवारे पर मुकदमेबाजी चलने में ही ढेरों पैसा अदालत कचहरियों में खर्च हो जाता है । इन लोगों की समझ उलटी से सीधी दिशा में मुड़ सके तो वह बरबाद होने वाला धन उस पूँजी का काम दे सकता है, जिसके बिना प्रगति का काफी काम रुका हुआ है । उपयोगी साहित्य प्रकाशन, उपयोगी फिल्मों का निर्माण यह दो काम ही ऐसे हैं, जो लोगों के मस्तिष्क को उलटकर सीधा कर सकते हैं । बड़े गाँवों में सोलह मिलीमीटर के सिनेमा घर खड़े किये जा सकते हैं । विचार क्रान्ति की आवश्यकता पूरी करने वाली एक-एक घण्टे दिखाई जाने वाली फिल्में बनाने में कहीं कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए । अभी तो भाषा की दृष्टि से हिन्दी की गणना ही उनमें होती है, जिनमें विचारोत्तेजक साहित्य उपलब्ध होता है । अन्य भाषाएँ इस दृष्टि से दरिद्र मानी जाती हैं । फिर इस प्रकार का साहित्य महँगा भी बहुत है। इन समस्याओं को हल करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होनी चाहिए । मात्र समझदार लोगों का दिमाग इस ओर मुड़ने की आवश्यकता है कि समय की आवश्यकता पूरी करने वाली सामग्री तैयार की जानी चाहिए और उसके प्रकाशन, विक्रय का उपयुक्त प्रबन्ध होना चाहिए । ऐसे कामों में सम्पन्न लोग, लिमिटेड कम्पनियाँ खड़ी कर सकते हैं । इससे जहाँ लाखों व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा वहाँ उलटे विचारों को सीधे करने का एक अति-महत्त्वपूर्ण तन्त्र खड़ा हो जायगा ।

धर्म के नाम पर अनेकों पाखण्ड चलते हैं। ढेरों पैसा खर्च होता है । इसे रोककर सच्चे धर्मप्रचारक पैदा किये जाएँ तो प्राचीनकाल की तरह साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थों, परिव्राजकों की आवश्यकता सहज ही पूरी होने लगे । ईसाई मिशन का धन योजनाबद्ध रीति से खर्च होता है । कितने पादरी, कितने चर्च, कितने विद्यालय, कितने प्रकाशन उस पैसे से चलते हैं । फलत: दो हजार से भी कम वर्षों में संसार की आबादी आधी से अधिक ईसाई हो गई और उस संस्था को, उन्हें दान देने वालों को श्रेय मिलता है सो अलग । हम सब भी यही कर सकते हैं।

सूक्ष्मीकरण प्रक्रिया का एक वीरभद्र ऐसे ही विचारशील लोग पैदा करने में जुटेगा, जो अपना समय और धन लोक-मानस के परिव्राजक में लगा सकें । सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन की बहुमुखी योजना में विचारशील लोग अपना चिन्तन, श्रम और धन लगाने लगें तो समझना चाहिए कि कल्याण ही कल्याण है ।

## वृत्रासुर हनन का इन्द्र वज्र

सूक्ष्मीकरण द्वारा जो पाँच वीरभद्र उत्पन्न किये जा रहे हैं, उनमें से एक के जिम्मे लोकसेवी उत्पन्न करने का काम सौंपा गया है और दूसरों के जिम्मे सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन के लिए साधन एकत्रित करने का । तीसरे के जिम्मे उलटी चल रही गाड़ी को उलटकर सीधा करने का है । जन-सामान्य की मनोदशा, वासना, तृष्णा, अहंता के दलदल में सिर से पैर तक डूबे रहने की है । इसे स्वार्थ और अनर्थ का संयोग कहा जा सकता है ।

न्यूनाधिक मात्रा में शान्ति और सामर्थ्य हर किसी के पास होती है । प्रतिभा से सर्वथा शून्य कोई भी नहीं है । प्रश्न एक ही है कि उसका उपयोग किस निमित्त किया जाए । इन दिनों मनुष्यों का ढलान और झुकाव जिस ओर है उसे पापपरक अनर्थमूलक कहा जा सकता है । सोचने के लिए जब मस्तिष्क चलता है, तो उसकी दिशा एक ही होती है कि दूसरों को हानि कैसे पहुँचाई जाय । सीधे रास्ते चलते आदमी को पतन के गर्त में कैसे गिराया जाए । सलाह देने का अवसर आता है, तो पूछने पर अथवा बिना पूछे भी बिना कुछ बताया जाता है, जिससे स्वयं गिरे और दूसरों को गिराये । गिरते को उठाने की शिक्षा देने वाले कदाचित ही कोई होते हैं । परमार्थ की दिशा में कदम न बढ़ा सकें तो कम से कम इतना तो करें कि चलने वाले को सही बात बतावें, सही रास्ता दिखावें ।

जिस प्रकार अधिकांश लोगों के शारीरिक-स्वास्थ्य खराब हैं, उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य, नैतिक स्वास्थ्य भी बिगड़े हुए हैं । सोचने की मशीन उलटी चलती है । अपनी बुद्धिमत्ता इसमें मानी जाती है कि चालाकी, बेईमानी से किसी प्रकार धन प्राप्त किया जाए । कोई कठिनाई सामने होने पर गरीबी, तंगी, मुसीबत होने की दशा में कोई ऐसा कुछ सोचें तो बात समझ में भी आती है, पर जो अच्छे-खासे सम्पन्न हैं, पैसे की जिन्हें कोई कमी नहीं है, उनकी नीयत यही चलती रहती है कि कुछ न कुछ बेईमानी, बदमाशी जैसा किया जाए । शौकों में नशेबाजी ही एक ऐसी दिखाई पड़ती है, जिसे अपनाने में बुद्धिमत्ता दीखती है । बीड़ी-सिगरेट की बात बहुत पीछे रह गयी अब शराब के बिना काम नहीं चलता । इसमें ही शान, शेखी और प्रगतिशीलता दिखाई पड़ती है । नशेखोरी से मदिरापान और फिर व्यभिचार यह एक विष बेल है, जो एक-दूसरे को, दूसरे से तीसरे को, तीसरे से अनेकों की आदत खराब करती है, फिर यह एक फैशन चल पड़ता है और दुष्टता करते लज्जा आने के स्थान पर मूँछों पर ताव देते देखा गया है कि उसे मारा, उसे बिगाड़ा, इसे गिराया-इसे सताया । स्त्रियों के प्रति दुर्बुद्धि उत्पन्न करने के फलस्वरूप अपने और दूसरों के परिवार बुरी तरह बरबाद होते हैं ।

स्त्री को जूती समझने में अपना बड़प्पन देखने के फलस्वरूप ही दहेज की प्रथा चली है । दूसरे का घर बरबाद करने में कैसा मजा आया, यह भी दुष्टता का एक व्यसन है । दहेज के न मिलने पर नव-वधुओं के सताये जाने, उन्हें जलील करने की बातें अब आये दिन सुनी जाती हैं । तेल छिड़ककर जला देने की घटनाओं से इन दिनों अखबार भरे रहते हैं । फाँसी लगा देने, जहर खिला देने, गला घोंट देने, कुएँ तालाब में पटक देने के पैशाचिकता भरे कुकृत्य रोज ही होते रहते हैं । इनमें सास-ससुर तक हाथ बँटाते देखे गये हैं ।

बलात्कारों और सामूहिक बलात्कारों की घटनाओं की इन दिनों धूम है । किसी की बहू-बेटी को फुसलाकर अपहरण कर लेना, वेश्यालयों में बेच आना, इस प्रकार की घटनाएँ अब नये किस्म के अपराधों में सम्मिलित हुई हैं । कुछ दिन पहले तक दूसरों की बहू-बेटी अपनी बहू-बेटी मानी जाती थी, पर लगता है कि वे रिश्ते ही समाप्त हो गये । जानवरों में जिस तरह माता, बहिन, बेटी का रिश्ता नहीं होता ठीक वैसा ही मनुष्यों में चल पड़ा है । एक के यहाँ से दहेज लेकर उस लड़की को मार देना और दूसरी-तीसरी लड़की वालों से उसी प्रकार की रकम ऐंठते रहना अब एक नया धन्धा चला है ।

अपहरण की घटनाओं में, खेलते बच्चों को पकड़ ले जाना और मनमानी फिरौती न मिलने पर उन्हें मार डालना यह भी एक नया धन्धा चला है । लोगों ने जान से मारने का एक पेशा नया बनाया है । किसी को भी पैसा देकर किसी को भी जान से मारा जा सकता है । ऐसे लोगों के लिए देशी पिस्तौलें गाँव-गाँव के लुहार बनाने लगे हैं । लगता है अब आदमी की शक्ल में भेड़िये, साँप हर जगह खून की प्यास बुझाते फिरते हैं । इस व्यवसाय में पढ़े और बिना पढ़े सब समान हैं । जुबान से मीठी बातें करने वाले भी ऐसे कुकृत्य करते देखे जाते हैं, जिनकी करतूतें देखकर प्रेत-पिशाच, जिन्न-मसान, दैत्य-दानव आदि का सहज स्मरण हो आता है ।

इनका निराकरण कैसे हो? यह अब पुलिस के वश से बाहर की बात है । उनमें से भी अनेकों ऐसे हैं जो इनसे मिले रहते हैं और बँटाई लेते हैं । फिर इनसे निपटा कैसे जाए? प्रत्यक्ष लड़ाई में इनसे जीतना कठिन है । परोक्ष लड़ाई ही कारगर हो सकती है । इनको सुधारने से लेकर दण्ड दिलाने के कोई अन्य तरीके ही कारगर हो सकते हैं। ऐसा ही कोई प्रबन्ध किया जा रहा है ।

अपने लाभ की दृष्टि हर व्यापारी की होती है । अपना लाभ हो, किन्तु दूसरे का अनर्थ न हो-यह व्यापार बुद्धि है । किन्तु अनर्थ बुद्धि के व्यवसाय हैं-बूचरखाने में साझेदारी, शराबखाना, व्यभिचार के अड्डे चलाना, ब्लू फिल्में दिखाना, चोरी-डकैती का माल लाना, बच्चों का फिरौती के लिए अपहरण, लड़कियाँ भगाना और वेश्यालयों को बेचना, नशे की वस्तुएँ यहाँ से वहाँ पहुँचाना, खाद्य-पदार्थों में मिलावट जैसे कार्य ऐसे हैं, इसमें लाभ तो सीमित ही होता है, पर अनर्थ बहुत होता है, यह बात इसलिए कही जा रही है कि चोरी-बदमाशी के कार्य में बीसियों साझीदार होते हैं । उन सबको खुश रखना पड़ता है । एक को भी नाखुश किया जाए तो जो कमाया है, उससे कहीं अधिक जेब से देना पड़ता है । ऐसे लोग चाहें तो सामान्य व्यवसाय में भी कामचलाऊ कमा सकते हैं। टैक्सचोरी, कम नाप-तोल आदि से भी उतना ही मिल जाता है, पर उन्हें ऊँचे दर्जे की बदमाशी करने में मजा आता है । उसमें अपनी बहादुरी प्रतीत होती है । लोगों पर आतंक जमाने में, कानून के धुर्रे उड़ाने में विशेष मजा आता है । हत्यारे किस्म की एक खास मनोवृत्ति होती है । यही लोग राजसत्ता में ही युद्ध छेड़ते हैं या युद्ध छेड़ने वालों में से किसी पक्ष के भागीदार बनते हैं । लड़ाई का सामान बनाने और बेचने का व्यवसाय करके धन कमाते और रौब गाँठते हैं ।

परमाणुयुद्ध से लेकर सामान्ययुद्धों के पीछे मूलबात ऐसी नहीं होती, जो पंचफैसले से तय न हो सके । फिर भी युद्ध में जो मजा है सो दूसरा ही है । हजारों व्यक्तियों का मरना-मारना, कराहना, बिलखना भी उनके लिए मजेदार दृश्य है । इसमें संलग्न रहकर अपने को तीस- मारखाँ बनना-बनाना भी कितनों को ही एक शानदार काम लगता है ।

यह अनर्थ व्यवसाय जब मनोवृत्ति में सम्मिलित हो जाता है तो वैसा कुछ किए बिना चैन ही नहीं पड़ता । सौम्य स्वभाव के उनसे मुकाबला नहीं कर पाते फलतः वे दुष्कर्म बढ़ते ही जाते हैं ।

इस प्रवृत्ति के साथ जूझना अपने आप में एक बड़ा काम है । हमारा तीसरा सूक्ष्मशरीर इन आततइयों से जूझेगा और समझाने-बुझाने से लेकर जैसे को तैसे वाली नीति अपनाकर प्रस्तुत आतंकवादी वातावरण को निरस्त करने में एक सूक्ष्मशरीर संलग्न रहेगा । महायुद्ध की विभीषिका, विश्वविनाश का आतंक प्रत्यक्ष सामने है । यह यदि कार्यान्वित होता है तो संचित मानव-सभ्यता और प्रगति का सर्वनाश होकर रहेगा । ऐसा न हो तो इस प्रति युद्ध को असामान्य ही समझना चाहिए । दो विश्वयुद्ध हो ही चुके हैं । वर्तमान पीढ़ी ने उन्हें प्रत्यक्ष आँखों से देखा है। इसके अलावा छोटे-छोटे लम्बे और कम समय चलने वाले स्थानीय क्षेत्रीय युद्ध भी इसके अन्तर्गत आते हैं। वे भी इन्हीं आँखों से देखे गये हैं । ऐसा समय संसार में शायद ही कभी बीता हो, जब युद्ध की मार-काट या तैयारी न चल रही हो । अब युद्ध भी संसार की एक आवश्यकता बन गया है । स्थिति इसी प्रकार बनी रही तो लोग न चैन से बैठेंगे और न बैठने देंगे । जब दिमागों में यह आतंक छाया हुआ हो, उसका सामना करने को लोगों के दिमाग उलझे हुए हों तो शान्ति की बात कौन सोचे, प्रगति का ताना-बाना कौन बुने ? नव-निर्माण को कार्यान्वित करने का सुयोग कैसे बने ?

आमने-सामने की लड़ाई देवासुर-संग्राम के रूप में प्राचीनकाल में होती रही है । यह तरीका काम देगा, तो उसे काम में लाया जाएगा । मन बदलने के तरीके और भी हैं । तुलसी, सूरदास, वाल्मीकि, अंगुलिमाल, आम्बपालि, अजामिल आदि के अन्तःकरणों में ऐसी प्रेरणा उत्पन्न हुई कि उन्होंने वह पुराना व्यवसाय ही नहीं छोड़ा, वरन् परिवर्तन करके नया जीवन ऐसा बदल डाला, जिससे पुरानी धूर्तता के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रही। यह भी एक तरीका है ।

प्रेत-पिशाचों ने अपनी योनियाँ छोड़ीं और सन्त ऋषियों ने अपनी काया पलटी है । साँप केंचुली बदलता है तो घोर आलसी से बदलकर स्फूर्तिवान हो जाता है । बदलाव के अनेक तरीके हैं । साम, दाम, दण्ड, भेद इन चारों ही तरीकों को दुष्टजनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। तीसरे वीरभद्र को इनमें से जो तरीका जब जैसा प्रतीत होगा, उसे काम में लाएगा और परिवर्तन का ऐसा माहौल उत्पन्न करेगा, जिसे देखकर लोग चकित हो जाएँगे ।

सूक्ष्मीकरण प्रक्रिया में से उत्पन्न होने वाला तीसरा वीरभद्र अपने युग के दस महादैत्य से लड़ेगा, जो अब तक के सभी असुरों से अधिक व्यापक, विस्तृत और भयंकर है। देवासुर संग्राम के अनेकानेक विवरणों में एक से एक भयंकर असुरों का वर्णन है । उन्हें मनुष्यों ने भी नहीं मारा था, देवताओं से भी वे नहीं मरे थे । उन्हें निरस्त करने के लिए भगवान को अवतार लेने पड़े थे । इस सन्दर्भ में वृत्रासुर का प्रसंग याद आता है, जिसका देवताओं के अधिपति इन्द्र भी सामना न कर सके थे । भगवान के अवतार का सुयोग बन नहीं रहा था, तब मनुष्यों में से एक ने यह उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर ओढ़ा था । ऋषि दधीचि की अस्थियों से वज्र बनने की योजना बनी और उसी से उस महाअसुर का निरस्त हो पाना निश्चित समझा गया ।

दधीचि ने इस पुण्य-प्रयोजन के लिए अपनी अस्थियाँ दे दीं । उससे वज्र बना । इसी महान अस्त्र के सहारे वृत्रासुर का वध सम्भव हुआ । आज भी यही होने जा रहा है। वृत्रासुर ने एक वृत्त बना रखा है । उसकी नृशंसता के अनेकानेक स्वरूप हैं । इनसे जूझने के लिए दधीचि की अस्थियाँ ही कारगर होंगी । हमारा तीसरा वीरभद्र इस मोर्चे पर लड़ेगा और भूतकाल की विनाशलीला को समाप्त करने वाला पुनरावृत्ति आधार बनेगा ।

तीसरा वीरभद्र दुरात्माओं के लिए भय का वातावरण उत्पन्न करेगा । वे जो करना चाहते हैं, वह बन न पड़ेगा। कोई विघ्न खड़ा होगा, लाभ के स्थान पर हानि होगी। कोई ऐसा संकट आवेगा, जो इच्छित दुर्भावना को उलटकर निराशा में बदल देगा । ऐसा सोचने का प्रवाह बहाएगा और जो करना चाहते हैं, उससे हाथ रोक लेंगे। इस प्रकार कोई न कोई कारण ऐसा उत्पन्न करेगा, जिससे दुरात्मा जो करना चाहते हैं ऐसा न कर सकें ।

# सामर्थ्य एवं सुरक्षा देने वाली शक्ति

सूक्ष्मीकरण के चौथे और पाँचवें उत्पादन के लिए दो कार्य पहले से ही निजी प्रयोजन के लिए सुरक्षित रखे गये हैं । इन क्रियाशीलता के साठ वर्षों में जिनके साथ सम्पर्क साधे गये हैं, उन प्रज्ञापरिजनों की संख्या प्रायः २४ लाख है। उनका स्तर सामान्य लोगों से कहीं ऊँचा है । मात्र गायत्री उपासना ही इन्हें सिखायी नहीं गयी है, वरन् उनके चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में उन उत्कृष्टताओं का समावेश किया गया है, जो व्यक्तित्व की वरिष्ठता की दिशा में उभारती-उछालती हैं । इनकी गतिविधियों में कुछ नवीनताएँ आयी हैं । ऐसी नवीनता जो देश, धर्म, समाज और संस्कृति के बारे में लगनशील विचार कर सकें । न केवल विचार वरन् उसके लिए कुछ कहने लायक पराक्रम भी दिखा सकें । ऐसा पराक्रम जो दूसरों को भी अपनी ओर आकर्षित कर सके, जो अन्यान्यों को भी कुछ वैसा ही करने की प्रेरणा दे सके ।

इन प्रज्ञापुत्रों को जो भूमिका निभानी चाहिए, वह तो अभी नहीं निभ रही है, पर यह भी नहीं कहा जा सकता, कि यह सर्वथा छूँछ है । केवल कथनी ही जिनके हाथ हो, करनी का प्रसंग आये, तो बगलें झाँकने लगें । प्रज्ञा-परिजनों ने अब तक क्या किया है, यह एक आश्चर्यजनक कहानी है । बूँद-बूँदकर घड़ा भरता है । कण-कण से मन तौला जाता है । प्रज्ञापरिवार के इन २४ लाख परिजनों द्वारा लोकमानस के परिष्कार और सत्प्रवृत्ति संवर्धन की दिशा में अब तक जो कुछ हुआ है, इन्हीं सब की सहायता से हुआ है । अपने आप में हम संतुष्ट नहीं हैं, उसे कम मानते हैं, पर अन्यान्य लोगों की दृष्टि से देखा जाए तो लोक-मंगल में संलग्न अन्य और संगठनों को हमने बहुत पीछे छोड़ दिया है। एक व्यक्ति का काम कम हो सकता है, एक प्रज्ञापुत्र का उत्पादन कम समझा जा सकता है पर प्रस्तुत प्रज्ञापुत्रों का सम्मिलित कार्य रचनात्मक क्षेत्र में और सुधारात्मक क्षेत्र में मिलकर इतना अधिक हो जाता है कि उस पर दृष्टिपात करते हुए संतोष की साँस ली जा सके ।

इस समुदाय को बैटरी बराबर मिलती रहनी चाहिए। मार्गदर्शन मिलते रहना चाहिए । प्रोत्साहन देने में कमी नहीं पड़नी चाहिए । यह काम थोड़ा या छोटा नहीं है । इसे अब तक जिस लगन एवं तत्परता से किया गया है, उसमें कमी नहीं आनी चाहिए । कमी आने पर ६० वर्ष का प्राण-पण से किया गया परिश्रम बेकार हो जाएगा ।

अब तक जो किया गया है वह एक स्थूलशरीर का प्रतिफल है । वह शरीर अब जवाब दे रहा है । आयु ७५ वर्ष हो जाने पर जराजीर्ण स्थिति का प्रभाव प्रत्यक्ष दीखने लगा है । एक आसुरी आक्रमण छुरा लेकर हो चुका है । बारह भयंकर घाव उसने हँसते-हँसते झेल लिए । पर इससे

आगे कोई और आक्रमण न होंगे इसकी क्या गारण्टी ? असुरता को जहाँ से भी अपने लिए खतरा दीखता है वहाँ वह चढ़ दौड़ती है । उसके आक्रमण स्थूलशरीर पर तो होते हैं । जराजीर्ण ७५ वर्ष का शरीर इस या उस प्रकार के आक्रमणों को सहन करता ही रहेगा, इसका कोई भरोसा नहीं । एक ओर यह गिरती दशा दूसरी ओर बढ़ता हुआ काम और उसकी बढ़ती हुई जिम्मेदारियों को देखते हुए निराशा होती है और आशंका होती है कि कहीं ऐसा न हो कि छकड़ा बीच में ही चरमरा जाए, गाड़ी पटरी से उतर जाए । यदि ऐसा हुआ तो ६० वर्ष की उपलब्धियाँ हाथ से निकल जाएँगी । यह इतनी बड़ी हानि है, जिसकी क्षतिपूर्ति सहज ही न हो सकेगी ।

सूक्ष्मीकरण का एक वीरभद्र इसलिए सुरक्षित रखा गया है और प्रशिक्षित किया जा रहा है कि जराजीर्ण शरीर का स्थान ग्रहण कर सके । हमारा वर्तमान शरीर न रहे अथवा और भी अधिक दुर्बल हो जाए तो २४ लाख व्यक्तियों को जो प्रेरणापूर्ण मार्गदर्शन चाहिए उसमें किसी बात की कमी न पड़ने पावे । प्रस्तुत प्रज्ञापरिवार अपने आपको अनाथ अनुभव न करे । इन सभी नाड़ियों में एक रक्त-संचार होता रहना चाहिए । समय से पहले यह प्रबन्ध होना चाहिए कि धड़कने वाला वर्तमानतन्त्र यदि अपनी हरकत बन्द कर दे, तो उसका स्थानापन्न तत्क्षण उस स्थान पर फिट किया जा सके । सच तो यह है कि उस नए प्रतीक से काम लेना अभी से आरम्भ कर दिया गया है। विगत वसन्तपर्व से उसे एक प्रकार से पूर्ण अवकाश दे दिया गया है । एकान्तसेवन, मौनसाधना, किसी से न मिलना, जो शारीरिक गतिविधियाँ अभी भी हो सकती थीं उन सबसे निवृत्ति लेने का तात्पर्य यही है कि जराजीर्ण शरीर को पूर्ण अवकाश देकर उसके स्थान पर नव-निर्मित वीरभद्र को प्रशिक्षित किया जाए और देखा जाए कि यह अपना नवीन उत्तरदायित्व ठीक तरह निभा सक रहा है या नहीं । प्रसन्नता की बात है कि इस नवीन शरीर ने इतनी जल्दी अपनी जिम्मेदारियाँ उठाना आरम्भ कर दिया है, जिसकी कि आशा नहीं थी । चौबीस लाख परिजनों की देखभाल, उनकी उलझी समस्याओं का समाधान, आवश्यक क्षमता की नई माँग को पूरा करना, मार्गदर्शन, विश्वास में कमी न पड़ने देना, हिम्मत हारने न देना, यह कार्य नवीन शरीर को सौंपे गये थे और ६ महीना होते-होते उसने वे सभी कमियाँ पूरी कर ठीक तरह अंजाम देना शुरू कर दिया है। मनुष्य का बच्चा ६ महीने की अवधि में कुछ भी नहीं सीख पाता । पशुओं के बछड़े भी इतने कम समय में कुछ सीख नहीं पाते । कुछ पक्षियों में यह बात जरूर देखी गई है कि वे छह महीने में स्वावलम्बी हो जाते हैं, पर अपने नये बच्चे उत्पन्न करने और पालने में वे भी समर्थ नहीं होते, किन्तु सूक्ष्मीकरण प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न एक वीरभद्र चौबीस लाख पेड़-पौधों वाले उद्यान की ठीक तरह रखवाली ही नहीं, सिंचाई भी करने लगा। यह आश्चर्य की बात भी है और प्रसन्नता की बात भी । आशा की गई है कि अगला वसन्त आने तक यह वीरभद्र पूर्ण प्रौढ़ हो जाएगा और पुराने स्थूलशरीर को पूर्णतया छुट्टी मिल जाएगी । उसे किसी से वार्ता तक न करनी पड़ेगी । कोई किसी प्रकार की आशा उससे न रखेगा। मोहवश कोई कभी उसके दर्शन-झाँकी करना चाहे तो उतने भर की छूट भले ही मिल सके । जिम्मेदारियाँ सँभालने और पराक्रम करने का काल इस नये उत्पादन द्वारा ही होने लगेगा । कोई भाग्यवान बुड्ढे ही यह आनन्द भोग पाते हैं कि निवृत्ति की चारपाई पर पड़े रहें और उनके प्रौढ़ बच्चे सारा काम-धन्धा सँभालने लगें। हमारा स्थूलशरीर आगामी वसन्त तक पूरी तरह इस स्थिति में पहुँच जाएगा कि पिछले ६० वर्षों से किये जाते रहे घनघोर परिश्रम में से एक भी न करना पड़े । साथ ही काम में राई-रत्ती भी फर्क न पड़े । इतना ही नहीं बढ़ी हुई जिम्मेदारियों का निर्वाह और भी अच्छी तरह होने लगे।

जितने प्रज्ञापरिजन अब हैं, उतने ही सीमित रहें यह नहीं हो सकता। अब उनकी संख्या बढ़ेगी । साथ ही उनकी आवश्यकताओं में भी अभिवृद्धि होगी । उनके कन्धों पर नई जिम्मेदारियाँ महाकाल के द्वारा सौंपी जाएँगी। फिर उनकी प्रौढ़ता भीतर से उमंगें मारेंगी । ऐसी दशा में नये काम करने होंगे और उनकी मात्रा भी बढ़ी-चढ़ी होगी। साथ ही नई समस्याएँ भी सामने होंगी और वे अपना समाधान खोजने के लिए किसी का सहारा तकेंगी । प्रज्ञापरिजनों की व्यक्तिगत समस्याओं में गुरुदेव का योगदान अभी तक चलता रहा है । जिनसे नवसृजन का नया काम लेना है वे बैल घास भी माँगते हैं । उन्हें लोकमंगल के लिए सार्वजनिक सेवा करने की क्षमता तो चाहिए ही, साथ ही उन्हें व्यक्तिगत सहायता देने का क्रम भी चलता रहता है। २४ लाख प्रज्ञापरिजन अगले वर्षों में ४८ लाख या ५० लाख भी हो सकते हैं । इनमें से कुछ तो बिलकुल नौसिखिये होंगे । उनसे सार्वजनिक काम कम बन पड़ेगा, किन्तु निजी उलझनों के समाधान, निजी कठिनाइयों में सहायता अधिक माँगेंगे । इन्हें प्रोत्साहन-मार्गदर्शन ही नहीं, प्यार-दुलार का सहयोग देने और हाथ बँटाने की आवश्यकता अबकी अपेक्षा अगले दिनों और भी ज्यादा होगी । सूक्ष्मीकरण से उत्पन्न चौथे वीरभद्र को प्रस्तुत एवं भावी प्रज्ञापरिजनों की दृष्टि से अधिक समर्थ बनाने के लिए सुरक्षित छोड़ दिया है ।

## स्थूलशरीर की वर्तमान एकान्त साधना

अध्यात्म स्तर की सामर्थ्य अर्जित करने के लिए तपश्चर्या ही प्रमुख उपाय है । सिद्धपुरुषों की जेब खाली नहीं होती । वे बहुत कुछ संग्रह कर चुके होते हैं । उसी

भण्डार में से खर्च भी करते रहते हैं । इतने पर भी यह नहीं समझा जाना चाहिए कि पिछले संग्रह से ही काम चलता रहेगा उन्हें नई तपश्चर्या करनी होती है । आरम्भिक साधक साधना करते हैं । इसके लिए उन्हें अनुभवी पारंगतों से मार्ग-दर्शन एवं सहयोग प्राप्त करना होता है । ऋषिकल्प सिद्धपुरुष इस स्थिति से आगे बढ़ चुके होते हैं । वे बिना सहारे के अपने पैरों खड़े हो सकते और चल सकते हैं । जो रास्ता कई बार चलकर देखा है उसके लिए मार्ग पूछने की तो आवश्यकता नहीं पड़ती । पर पूँजी संचित रखने और भण्डार बढ़ाने के लिए करना तो कुछ उन्हें भी पड़ता है । ऋषि निश्चिन्त नहीं हो जाते तपश्चर्या में संलग्न उन्हें भी रहना पड़ता है । वे आगे के महत्त्वपूर्ण कार्य इसी संग्रह के आधार पर सम्पन्न करते रहते हैं ।

हमारी प्रथम साधना २४ वर्षों में २४ गायत्री महापुरश्चरण पूरे करने पर सम्पन्न हो गई थी, पर इसके बाद भी प्रातः १ बजे से ५ बजे तक ४ घण्टे का साधना-क्रम उस समय से लेकर अब तक अनवरत रूप से चलता रहा । यदि निर्धारित पुरश्चरणों को करने के उपरान्त वे शान्त बैठ गए होते तो प्रज्ञापरिवार के लाखों व्यक्तियों को नवसृजन के लिए नई सामर्थ्य दे सकना सम्भव ही न हुआ होता । फिर परिवार बनाया, बसाया है, उसे काम सौंपना ही एक काम नहीं है । उनकी निजी आवश्यकताएँ भी हैं। उनकी पूर्ति के लिए तपश्चर्या का नया सिलसिला भी जारी रखना होता है । इसके बिना आये दिन की चित्र-विचित्र आवश्यकताओं की पूर्ति कहाँ से हो ? कैसे हो ?

अब तक विनिर्मित प्रज्ञापरिवार द्वारा जो महत्त्वपूर्ण कार्य कराये गए हैं या कराये जाने हैं, उनका ही उत्तरदायित्व प्रधान था । अब प्रज्ञापरिवार के अतिरिक्त करोड़ों को नई प्रेरणा एवं नई चेतना देना है । अब तक जो हुआ है, वह सीमित था । इसके आगे जो किया जाना है वह असीम होगा । स्पष्ट है कि इस निमित्त तपश्चर्या की पूँजी का भी अधिक नियोजन करना होगा ।

सूक्ष्मीकरण से उत्पन्न चार वीरभद्रों को असाधारण काम सौंपे गए हैं । उनके लिए खुराक कहाँ से आए ? इसके निमित्त एक पाँचवाँ वीरभद्र विशुद्ध तपश्चर्या में ही निरत रहेगा । चारों में से कोई दुर्बल तो नहीं पड़ रहा है? किसी के कंधे पर इतना वजन तो नहीं हो गया जो उससे उठ नहीं रहा हो । इनकी देखभाल करना भी एक बड़ा काम है । इसके लिए एक इकाई को विशुद्ध रूप से तप-साधना में ही निरत रहने की आवश्यकता पड़ेगी ।

इस प्रकार की उपयुक्त तप-साधना के लिए हिमालय ही उपयुक्त स्थान है । मात्र गंगातट एवं देवभूमि होने के कारण ही नहीं उस क्षेत्र में सिद्धपुरुषों का जमघट भी है । सूक्ष्मशरीर की विशिष्ट तपश्चर्या उसी क्षेत्र में सम्भव है। विशिष्ट सिद्धियाँ, विभूतियाँ वहीं उपार्जित की जाती हैं ।

अब तक तीन बार थोड़े-थोड़े दिनों के लिए हमें हिमालय जाना-आना पड़ता रहा है । हम स्थूलशरीर समेत जाते रहे हैं । इसलिए उन सब साधनों का प्रबन्ध करते रहे हैं जिनकी शरीर को आवश्यकता पड़ती है। साधक स्थूलशरीर से साधना करते हैं । उसे जीवित रखने के लिए अन्न, जल, निद्रा, सुरक्षा आदि सभी की जरूरत पड़ती है । उन्हें भी उस सामग्री का प्रबन्ध करना पड़ता रहा है । गंगोत्री, गोमुख, तपोवन, शिवलिंग क्षेत्र में कई योगी-तपस्वी पाए जाते हैं । वे कठिन साधना तो करते हैं पर शरीररक्षा के लिए आवश्यक निर्वाहसामग्री का प्रबन्ध करते हैं, किन्तु सिद्धपुरुषों की स्थिति दूसरी होती है । उनका स्थूलशरीर नहीं सूक्ष्मशरीर साधना करता है। सूक्ष्मशरीर को अन्न-जल की, सर्दी गर्मी से बचाव की आवश्यकता नहीं पड़ती । दादागुरु की स्थिति ऐसी ही है। अन्य कितने ही सिद्धपुरुष हिमालय के हृदयकेन्द्र में रहते हैं । उनके लिए निर्वाह का कोई उपकरण नहीं चाहिए । बचपन, यौवन, वृद्धावस्था, मरण यह सभी स्थूलशरीर से सम्बन्धित हैं । जिनकी स्थिति सूक्ष्मशरीर में रहने की है, वे वायुभूत होते हैं । आवश्यकतानुसार अपने पुरातन अभ्यस्त शरीर में कभी-कभी किसी को दर्शन दे सकते हैं, पर उसमें भी वे बँधे नहीं रहते । थियोसोफिकल सोसायटी की मान्यता के अनुसार ऐसे कितने ही सिद्धपुरुष हिमालय में रहते हैं । उनकी तप-साधना, अपने निज के लिए नहीं होती, वरन् ईश्वरीय प्रयोजनों में से जो जब उन्हें पूरे करने होते हैं, उनके लिए आवश्यक शक्ति संग्रहीत करने के लिए वे ऋषिकल्प साधक सतत साधना करते रहते हैं । उसके लिए भी वे बाधित नहीं होते । स्थूलशरीरधारियों को जिस प्रकार शरीर धारण की दिनचर्या करती रहनी पड़ती है, उसी प्रकार सूक्ष्मशरीरधारियों को अपना समयक्षेप करने के लिए इच्छानुसार साधनाएँ करती रहनी होती हैं । ऐसा वे अभाव की पूर्ति या कामना के लिए नहीं करते । वह उनका सात्त्विक स्वभाव या विनोद होता है । जहाँ भी रुचिकर स्थान अनुकूल पड़ता है वहाँ रम जाते हैं। कोई कुटी, गुफा आदि निश्चित नहीं करनी पड़ती ।

अब तक हमारा हिमालय आवागमन का सिलसिला चलता रहा है और हम दादा गुरु की सिद्धियों का प्रसाद प्राप्त करते और अपना काम चलाते रहे हैं । अब उस प्रयोजन को हमारा अपना पाँचवाँ सूक्ष्मशरीर ही पूरा कर दिया करेगा। एक गृहस्वामी कमाता है और उसी से पूरे परिवार का निर्वाह होता रहता है । भविष्य में पाँच शरीरों का समुच्चय ही गुरुदेव का पूरा परिवार होगा। इसमें नाती-पोते, बाल-बच्चे भी बहुत होंगे । इसके लिए कमाने वाला वीरभद्र एक होगा, जो हिमालय के गुह्यकेन्द्र में एकाकी होगा ।

यह क्रम अभी से आरम्भ कर दिया गया है । स्थूलशरीर की कम से कम खींचतान हो, उनकी गतिविधियाँ पाँचों सूक्ष्मशरीर के प्रयासों में बाधक न बनें,

इसलिए एकान्तसेवन, एकान्तनिर्वाह का अभ्यास किया गया है। इन दिनों यही क्रम चला है । स्थूलशरीर रहेगा तो सही, पर वह एक तरह से निरर्थक ही समझा जाना चाहिए। आवश्यकता उसकी इतनी भर है कि पाँचों सूक्ष्मशरीरों का संचालन क्रमबद्ध रूप से चलता रहे । किसी में कोई गड़बड़ी पड़ती हो तो उसे सँभाला-सुधारा जा सके । पाँचों शरीरों को एक सूत्र में बाँधे रहने भर के लिए वर्तमान स्थूलशरीर की आवश्यकता समझी गई है । जब प्रतीत होगा कि ऐसी कोई आवश्यकता शेष नहीं रही तो प्रस्तुत शरीर को छोड़ा भी जा सकता है अथवा इच्छानुसार रखा भी जा सकता है ।

सूक्ष्मीकरण प्रक्रिया अतिकठोर है । एक को पाँच में विभाजित करना सरल नहीं है । इस कठिन प्रयोजन की पूर्ति में ही हम इन दिनों लगे हुए हैं, इसलिए हर किसी को विक्षेप डालने के लिए मना किया गया है । जिन्हें कौतुक-कौतूहलवश दर्शन-झाँकी की बहुत ललक है, उन बाल-बुद्धि वालों को यही समझा दिया जाता है कि महान प्रयोजन पूरे होने हैं, इसमें विक्षेप डालने की बालहठ न करें ।

अब मिलना-जुलना कबसे आरम्भ होगा । इस सन्दर्भ में पिछले वर्षों जैसी स्थिति आने की आशा अब इस जीवन में कभी भी नहीं करनी चाहिए । अधिक से अधिक इतनी आशा की जा सकती है कि पाण्डिचेरी के अरविन्द घोष या अरुणाचलम् वाले रमण महर्षि जिस प्रकार कभी-कभी दर्शन दिया करते थे, पर रहते मौन ही थे, वैसी स्थिति का सुयोग बन जाए, पर अभी निश्चित कुछ भी नहीं है । न कुछ घोषित किया जा रहा है ।

## वीरभद्रों का स्वरूप और उपक्रम

पंचज्ञानेन्द्रियों, पंचकर्मेन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के अन्तःकरण-चतुष्टय वाला स्थूलशरीर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता और व्यवहार में आता है । इसके अधिष्ठाता को प्राणी कहते हैं । प्राणी तभी तक जीवित रहता है, जब तक स्थूलशरीर सक्रिय है । लोकव्यवहार इसी के सहारे चलते हैं । दैनन्दिन जीवन-व्यापार से आगे चलकर अन्य चार शरीर और रह जाते हैं । वे अध्यात्म प्रयोजनों में काम आते हैं । कहीं इन्हें तीन, कहीं पाँच माना गया है । तीन ग्रन्थियाँ- ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि हैं । इसके आधार पर भी ऋषियों ने स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर माने हैं । किन्तु दूसरे मत द्वारा पंचकोशों को प्रधानता दी गयी है और साथ ही हर कोश को एक स्वतन्त्र शरीर भी माना है । ये हैं अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश-विज्ञानमय कोश एवं आनन्दमय कोश । इस मान्यता के अनुसार पाँच शरीर बन जाते हैं । यह पाँच तत्त्वों से भिन्न हैं, पाँच प्राण भी इनसे पृथक् हैं । यहाँ पाँच कोश, पाँच देवशक्तियों से अनुप्राणित होते हैं । सूर्य, इन्द्र, अग्नि, पवन और वरुण इन पंचकोशों के अधिष्ठाता हैं ।

सूक्ष्मीकरण प्रयोजन में इन कोशों को ऐसी विशिष्ट विधि से जाग्रत किया जाता है कि छह चक्रों में से पाँच इन कोशों के साथ लिपट जाते हैं । इन गुंथित शरीरों को वीरभद्र कहा गया है । इनमें से पाँचों का एक स्वतन्त्र शरीर भी है, जिन्हें क्रमशः फिजीकल बॉडी, ईथरीक बॉडी (डबल), एस्ट्रल बॉडी, मेण्टल बॉडी एवं कॉजल बॉडी थियोसॉफी मान्यतानुसार कहा जाता रहा है । इन्हें पाँच लोक भी कहते हैं । जिनकी आत्मा सूक्ष्मशरीर की जिस स्थिति में स्वयं को सक्षम एवं मजबूत बना लेती है, तब उस लोक में वास करने लगती है, ऐसा माना जाता है। हर लोक की शक्तियाँ, सिद्धियाँ और उनकी चमत्कारी फलश्रुतियाँ पृथक्-पृथक् हैं । भिन्न-भिन्न प्रसंगों में ये शक्तियाँ परस्पर मिलकर तीसरी अभिनव क्षमता को जन्म देती हैं । कब किस कोश को क्या पुरुषार्थ करना पड़ सकता है, इस क्रम से उनके सम्मिश्रण गुँथते और टूटते रहते हैं । यह प्रकृति की उसी विधि-व्यवस्था के समान होता है, जिसमें ऊर्जा एक स्थिर अविनाशी होते हुए भी भिन्न रूपों में होती है एवं परिस्थितियों के अनुसार अपना रूप बदलती रहती व कभी एक समुच्चय के रूप में विद्यमान होती है ।

इन पाँच वीरभद्रों का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं सार्वजनिक है । अतीन्द्रिय क्षमताएँ व्यक्तिगत चमत्कार भर दिखाती हैं, किन्तु कोशों की क्षमता एक ही समय में प्रकृति के हजारों व्यक्तियों को उनकी पात्रता के अनुरूप प्रभावित करती हैं, उन्हें एक जैसी प्रेरणा देती हैं और एक दिशा में, एक मार्ग पर चलाती हैं । जो वीरभद्र के साथ सम्पर्क साधने में समर्थ हो जाते हैं वे अनुभव करते हैं कि उन्हें किसी विशेष प्रयोजन के लिए किसी दिशाविशेष में बलपूर्वक धकेला जा रहा है । सामान्यतया लोक-शिक्षण, प्रवचन, परामर्श, दबाव, प्रलोभन एवं आतंक बल से ही किसी के विचार परिवर्तित किए जाते हैं और पुराना अभ्यास निज का स्वभाव न होते हुए भी वह करा लिया जाता है, जो सशक्त कराने वाला कराना चाहता है।

इसके लिए स्थूलशरीर वाली पाँच शक्तियाँ स्थूलशरीर में तो सामान्य रहती हैं परन्तु सूक्ष्म स्थिति में जाकर अपनी विशिष्टता दिखाने लगती हैं । इनके प्रभाव थोड़ी मात्रा में स्थूलशरीर में भी परिलक्षित होते हैं किन्तु सूक्ष्म-शरीर में जब उनकी आवश्यकता अधिक पड़ती है तब वे प्रचण्ड हो जाती हैं । पाँच वीरभद्रों की ये पाँच स्वतन्त्र शक्तियाँ इस प्रकार हैं-बायोइलेक्ट्रिसिटी (जैवविद्युत) बायोमैग्नेटिज्म (जैवचुम्बकत्व) रेडिएशन (विकिरण) क्रिएशन-रिप्रोडक्शन (प्रजनन नव-निर्माण) इम्युनिटी(प्रतिरोधी क्षमता) सक्रिय होने पर सूक्ष्मशरीर द्वारा पाँचों का प्रयोग-प्रभाव डालने में नियोजित होता है। युगपरिवर्तन की इस प्रक्रिया में प्राणवान व्यक्तियों की जिन्हें महती भूमिका निभानी है, आन्तरिक परिवर्तन किया जाना है । उनके गुण, कर्म, स्वभाव में ऐसे तत्त्वों का प्रवेश कराया जाना है, जो प्रचलन के हिसाब से तो अभ्यास में नहीं थे परन्तु महान

प्रयोजन के निमित्त उनकी अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार परिवर्तन टिकाऊ होता है।

स्वभाव बदलने में तो हल्के दबावों से भी काम चल जाता है, किन्तु जब उन्हें किसी उच्चस्तरीय मोर्चे पर अड़ाया जाता है और कुछ कर गुजरने की स्थिति तक पहुँचाया जाता है, तो उन प्राणवानों की नसों में नये सूक्ष्म इन्जेक्शन दिये जाते हैं। यह प्रक्रिया कहाँ सम्पन्न हो? इसके लिए उपयुक्त स्थान है-सूक्ष्मशरीर में अवस्थित नाड़ीगुच्छक। यों गुच्छकों (प्लेक्सस) को चक्र भी कहते हैं, पर ये वस्तुतः दो अलग-अलग सत्ताएँ हैं। गुच्छक नजर आ जाते हैं, परन्तु सूक्ष्म विद्युतप्रवाह दृष्टिगोचर नहीं होता। लड़ने के लिए शराब पिलाकर मोर्चे पर भेजा जाता है तो यह सूक्ष्मसत्ता इतना पराक्रम दिखाती है कि आदमी अपने मरने-जीने की बात भूल जाता है। ठीक इसी प्रकार वीरभद्र क्षमता द्वारा किन्हीं से जटायु, हनुमान, जामवंत जैसे आवेश भरे कार्य कराने होते हैं, तो उनके प्लेक्सस उत्तेजित किए जाते हैं। हर प्लेक्सस की प्रकृति अलग-अलग है। इसलिए किससे क्या कराना है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उनमें से अमुक की छेड़छाड़ की जाती है। ये प्लेक्सस हैं-सेक्रल, सोलर, कार्डियक, फेरिन्जियल एवं कैवर्नस। यदि इनकी संगति सूक्ष्मचक्र-उपत्यिकाओं से बिठाई जाए तो इड़ा-सुषम्ना-पिंगला के दोनों ओर होती हैं, तो इन्हें मूलाधार, मणिपूरित, अनाहत, विशुद्धि एवं आज्ञाचक्र से सम्बन्धित माना जा सकता है। ये पाँचों सूक्ष्मशरीर में प्रभावी होते हैं। स्थूलतः तो इनके चिन्ह मात्र नजर आते हैं, पर वे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करते दिखाई नहीं पड़ते। किन्तु जब भी किन्हीं के द्वारा महामानव स्तर के पराक्रम किए जाते हैं तो प्रतीत होता है कि वे उत्तेजित हो रहे हैं। महापुरुषों के किस मार्ग पर कौन चल रहा है या चलाया जा रहा है इस सन्दर्भ में किस प्लेक्सस की तैयारी किस प्रकार की जाए, किस मात्रा में उन्हें उत्तेजन की आवश्यकता होगी, इसका नियन्त्रण वीरभद्र प्रणाली के विशेषज्ञों द्वारा बड़ी बारीकी से किया जाता है।

सामान्य प्रतिभा या व्यक्तित्त्व हर काम में विशिष्टता प्रमाणित करता है। शरीर से दुर्बल और आकार में छोटा, वजन में हल्का होते हुए भी कोई व्यक्ति प्रतिभावान हो सकता है। इसके विपरीत शरीर से हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ, भारी होते हुए भी कोई प्रतिभाहीन हो सकता है। कोई कठिन काम सामने आते ही घबरा जाता है और बुद्धि किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है। प्रतिभावान होने के लिए स्थूलशरीर की बनावट या अच्छी तन्दुरुस्ती ही सब कुछ नहीं है। इसके लिए सूक्ष्मशरीर में पाए जाने वाले एन्जाइमों की बड़ी भूमिका होती है। एन्जाइम अनेकों हैं, पर इस प्रसंग में जो कहने लायक भूमिका निभाते हैं, वे मस्तिष्क से स्रवित न्यूरोह्यूमोरल रसस्राव हैं। इनमें डोपामिन, एण्डार्फिन, गावा एवं हिस्टामिन विशेष हैं। ये सीधा सम्बन्ध मन से रखते हैं एवं चिन्तन क्रिया को उत्तेजित करके मनुष्य को तेजस्वी, मनस्वी बनाते हैं। इस प्रक्रिया से सम्बन्धित मनःक्षेत्र को बलिष्ठ बनाने वाले पाँच न्यूरोलॉजिकल सिस्टम हैं-(१) रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम (२) कार्टीकल न्यूकलाई (३) थैलेमस (४) हाइपोथेलेमस (५) मेड्युला-स्पाइनल कार्ड। यों ये शरीर में ही पाये जाते हैं, पर इनका संचालन दूरें में ही होता है। स्थूल प्रयासों से इन्हें प्रभावित नहीं किया जा सकता, जबकि सूक्ष्म-सामर्थ्य के स्पर्श मात्र से इनमें हलचल मच जाती है और प्रसुप्त की जाग्रति होते ही मनुष्य आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अपनी विशेष बलिष्ठता का परिचय देने लगता है।

ये प्रयोग वे हैं, जिनके सहारे सार्वजनिक हित-प्रयोजन के लिए आदर्शों पर सुदृढ़ और महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए मनुष्य अपना पराक्रम दिखाने लगता है। इन गुह्यशक्तियों को थपथपाने और विशिष्ट बनाने के लिए महाबलशाली वीरभद्रों की आवश्यकता पड़ती है। इन प्रसंगों के सहारे कमजोर स्तर के परन्तु निष्ठावान-सुपात्र भी बलवानों जैसी भूमिका निभा सकते हैं। इनका प्रयोग संक्षेप में एक छोटे स्तर पर पिछले दिनों सीमित मात्रा में किया जाता रहा है, पर समय की आवश्यकता अब वरिष्ठ लोगों का दरवाजा खटखटाने को विवश कर रही है।

इतिहास में ऐसे अनेकों घटनाक्रम देखने को मिलते हैं, जिनमें शक्ति, साधन और अवसर होते हुए भी व्यक्ति आदर्शवाद की, पराक्रम की परीक्षा होने पर सिटपिटा गए। दूसरी ओर ऐसी ही घटनाएँ हुई हैं कि शरीर सामान्य और अवसर समान होते हुए भी शारीरिक, मानसिक स्फूर्ति एवं सूझ-बूझ के बलबूते वे इतना कुछ कर सके जिसे देखकर दर्शकों को दंग रह जाना पड़ा। बुद्ध और गाँधी के दो उदाहरण ऐसे ही हैं, जिनमें उनके अनुयायी-पक्षधर सामान्य होते हुए भी असामान्य कर दिखा पाने में सफल हुए। इस भिन्नता का कारण बहिरंग में नहीं, अन्तरंग में है। ऐसे अन्तरंग हेतु दूसरों के द्वारा भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। युगपरिवर्तन जैसे अवसरों पर ऐसी विशिष्टता की तो विशेष रूप से आवश्यकता पड़ती है।

सामयिक परिवर्तन एक बात है और स्वभाव में स्थायी परिवर्तन ला देना नितान्त भिन्न प्रकरण है। वाल्मीकि, अंगुलिमाल, अजामिल आदि जन्मजात दुष्ट प्रकृति के थे, पर उनमें असाधारण, आश्चर्यजनक और स्थायी परिवर्तन आया। ऐसे परिवर्तन ब्राह्मीचेतना की प्रेरणा से होते हैं एवं सीधे मनुष्य की सूक्ष्म विद्युतधाराओं पर प्रभाव डालकर उन्हें कुछ का कुछ बना देते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से बायोइलेक्ट्रिसिटी से सम्बन्धित इन परिवर्तनों को पाँच विद्युत क्षेत्रों में क्रियाशील देखा जा सकता है। ये हैं-प्लेक्सस इलेक्ट्रिसिटी, न्यूरेनल इलेक्ट्रिसिटी, सेल्युलर इलेक्ट्रिसिटी, कण्डक्शन इलेक्ट्रिसिटी एवं फेशियल आक्युलर इलेक्ट्रिसिटी। सीधी-सादी भाषा में समझना हो तो इन्हें क्रमशः चक्र-उपत्यिकाओं से सम्बन्धित विद्युत, स्नायु संस्थान में सतत प्रवाहित जीवकोशों में सक्रिय विद्युत हृदय के विशिष्ट कोशों व पेसमेकर में क्रियाशील विद्युत एवं

चेहरे-आँखों से निस्सृत विद्युतप्रवाह माना जा सकता है। विशिष्ट उपकरणों द्वारा इन्हें बनाया भी जा सकता है। अध्यात्म क्षेत्र में यही ओजस, तेजस, मनस, वर्चस जैसे नामों से जानी जाती है। इनकी मात्रा का शरीर में होना-रक्त, माँस आदि की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इनकी क्षीणता ही व्यक्ति को प्रभावहीन, दुर्बल, निस्तेज बना देती है।

सद्‌गुणों, सत्प्रवृत्तियों, सन्मार्गगमन के लिए आवश्यक पराक्रमों को जहाँ बढ़ाया जा सकता है वहाँ दुर्गुणों, दुष्कर्मों के प्रति बढ़े हुए उत्साह को घटाया और शान्त, समाप्त भी किया जा सकता है । इसके लिए हारमोन चाबी का काम करते हैं । ये वे रक्तस्राव हैं, जो ग्रन्थियों से सीधे रक्त में स्रवित होकर अपना प्रभाव परिचय देते हैं । वे बढ़ाने और घटाने के दोनों ही प्रयोजनों में काम आते हैं। शरीरगत हारमोन्स को प्रभावित करने वाली प्रधान ग्रन्थियाँ व उनसे स्रवित रस-द्रव्य इस प्रकार हैं-पीनियल (मेलेटोनिन) पीटुटरी (सोमेटोट्रापिक हारमोन) थायराइड (थायरॉक्सिन) एड्रीनल (ए. सी. टी. एच.) गोनेड्स (टेस्टोस्टेरॉन इस्ट्रोजन) इनमें पाँचवीं अन्तिम का एक भाग पुरुषों से सम्बन्धित एवं दूसरा नारी सम्बन्धी है । इन हारमोन्स को ठण्डा कर देने से मनुष्य शारीरिक, मानसिक और प्रजनन की दृष्टि से निःसत्त्व हो जाता है । उसका उत्साह हर कार्य में ठण्डा हो जाता है । अन्यान्य हारमोन्स के सम्बन्ध में भी यही बात है । वे मूलतः मनुष्य को कर्मठ, ओजस्वी, स्फूर्तिवान, परिपक्व बनाने के निमित्त अपने क्रिया-कलाप चलाते हैं । मानव की किस दुष्प्रवृत्ति को शान्त करने के लिए कब किस हारमोन को, किस प्रकार छोड़ा जाए, यह कार्य अनुभवी प्रयोक्ता का है । आत्मिक चेतना की स्थिति के अनुरूप, पात्रता को देखते हुए वांछित परिवर्तन किये जाते हैं ।

जैसा कि पहले बताया गया, मनुष्य में जो कुछ शक्ति दिखाई पड़ती है, वह उसके रक्त-माँस एवं स्नायु-संस्थान पर निर्भर नहीं है वरन् पाँच विद्युत-प्रवाहों पर मानवी प्रतिभा एवं व्यक्तित्व का निर्माण निर्भर करता है । शत्रुपक्ष का तेज हरण करने हेतु इन्हीं आकर्षण शक्तियों को खींच लिया जाता है । तांत्रिक प्रयोगों में शत्रु की इन्हीं शक्ति-धाराओं को दुर्बल कर दिया जाता है ।

किसी की वंशपरम्परा को समर्थ या दुर्बल बनाने के लिए उनके जीन्स को प्रभावित किया जाता है । जीन्स में दो प्रमुख हैं । डी० एन० ए० एवं आर० एन० ए० । इन्हीं से मिलकर जीन्स बनते हैं । जीन्स क्रोमोसोम बनाते हैं । क्रोमोसोम ही वंशपरम्परा का निर्धारण व पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचालन करते हैं । लंका में इसी आधार पर एक ही प्रकार के अनेकों दानव बनाने का कार्य सम्पन्न हुआ था । कौरवों का जन्म गान्धारी के कोख से महर्षि व्यास द्वारा जीन-यांत्रिकी के प्रयोग से ही किया गया था । शृंगी ऋषि द्वारा चरु के माध्यम से ही जीन्स के सूक्ष्म घटकों को प्रभावित कर राम, भरत एवं लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न के जन्म होने की क्रिया सम्पादित हुई थी ।

वंशानुक्रम के आधार पर ही देश-देशान्तरों के व्यक्तियों की विशेषताएँ निर्भर करती हैं । उजबेकिस्तान के दीर्घायु, बलूचिस्तान के पठान एवं नीग्रो, मंगोल आदि नस्लें जीन्स जैसे सूक्ष्म घटकों पर ही निर्भर हैं । अगले दिनों युगपरिवर्तन के निमित्त महामानवों की जब आवश्यकता पड़ेगी तो इस प्रक्रिया को जीन्स के स्तर तक ही ले जाना पड़ेगा ।

मन और स्वभाव में परिवर्तन के लिए शिक्षण-प्रक्रिया भर से ही काम नहीं चलेगा । इसके लिए चेतना की पाँच परतों में आवश्यक उथल-पुथल करनी होगी । चेतना के ये पाँच आवरण हैं-चेतन, अचेतन, सुपर चेतन, अवचेतन एवं प्रसुप्त । किसी के चिन्तन की श्रेष्ठता-निकृष्टता, बुद्धिमत्ता, मूढ़ता का आधार बहुत कुछ इन पर निर्भर है ।

स्थूल वस्तुएँ-दृश्यमान पदार्थ किस अनुपात में घटे-बढ़े, इसका आधार है- निखिल ब्रह्माण्ड के धरातल में संव्याप्त सूक्ष्म किरणों का संसार । ये भी पाँच प्रकार की हैं-अल्ट्रावायोलेट, इन्फ्रारेड, कॉस्मिक, रेडियो किरणें तथा इण्टर स्टेलर किरणें । इन्हीं के आधार पर वातावरण विनिर्मित होता, बनता-बिगड़ता है । युद्धोन्माद, शान्ति-सौजन्य, शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य, विभीषिकाएँ पदार्थों का आविर्भाव जैसी अनेकों वातावरण से सम्बन्धित पक्ष इन किरणों के अनुपात एवं प्रवाह पर निर्भर करता है । इन्हीं से सम्बन्धित ब्रह्माण्डीय पाँच कण भी हैं-(१) न्यूट्रीनो (२) क्वार्क्स (३) पल्सार्ज (४) फोटॉन्स (५) लेप्टॉन्स । इनकी उथल-पुथल से पदार्थ जगत एवं वातावरण प्रभावित होता है, वस्तुओं के उत्पादन-अभिवर्द्धन में घट-बढ़ चलती है । जीव-जगत भी इससे अप्रभावित नहीं रहता ।

समझाने-बुझाने में प्रचारतन्त्र बहुत थोड़ा ही काम आता है । वाणी, कान और दृश्य दिखाकर मनुष्य की मनःस्थिति बहुत थोड़े अंशों में प्रभावित की जा सकती है। सूक्ष्म ध्वनि तरंगें न केवल मस्तिष्कों को बदलने में वरन् और भी अनेकानेक प्रयोजनों में अपनी चमत्कारी भूमिका निभाती हैं । ध्वनि तरंगें पाँच प्रमुख हैं- (१) सोनिक (२) अल्ट्रासोनिक (३) इन्फ्रासोनिक (४) हाइपरसोनिक (५) सुपरसोनिक। भौतिकविज्ञानी इनसे शक्तिपरक काम लेते हैं पर अध्यात्मवेत्ता इनसे समूचे वातावरण को प्रशिक्षित, परिवर्तित करने का काम ले सकते हैं । वे किस वेवलेंग्थ या फ्रिक्वेन्सी पर काम करते हैं, यह वैज्ञानिकों के लिए जान-पाना तो कठिन है परन्तु सूक्ष्मीकरण साधना से आन्दोलित एक व्यापक जनसमुदाय में परिवर्तन अवश्य देखा जा सकता है । परिणति को देखकर ही शक्ति का अनुमान लगाया जा सकना सम्भव है ।

ध्वनि तरंगों के साथ-साथ ब्रह्माण्डीय कण न्यूट्रीनो, क्वार्क्स, पल्सार्ज, फोटॉन्स, लेप्टान भी ब्रह्माण्डीय शक्तियों के आकर्षण-अपकर्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

पृथ्वी और ब्रह्माण्ड के बीच सौरमण्डल तथा अन्यान्य तारकों, नीहारिकाओं का प्रत्यावर्तन चलता रहता है । उसे सन्तुलित बनाने के लिए इन्हीं को माध्यम बनाया जाता है।

दृश्य और अदृश्य वातावरण- प्रत्यक्ष लोक और सूक्ष्म लोक का स्थान पृथ्वी पर एवं पृथ्वी से ऊपर उन परतों से मिला-जुला अवस्थित है, जिन्हें स्फीयर नाम से जाना जाता है। पृथ्वी से सम्बन्धित वातावरण के ५ अंग हैं लीथोस्फियर, हाइड्रोस्फीयर, बायोस्फीयर, पीडोस्फीयर एवं एटमॉस्फीयर । इनसे ऊपर आयन मण्डल है, जो पृथ्वी सतह से ५०० किलोमीटर ऊपर तक चला जाता है । कोई भी बड़े और व्यापक परिवर्तन जब धरित्री पर करने होते हैं तो इन परतों में जमी गन्दगी को पूरी तरह साफ करना पड़ता है । आयनमण्डल की पाँच परतें इस प्रकार हैं-एण्डोस्फीयर, ट्रोपोस्फीयर, स्ट्रेटोस्फीयर, आयनोस्फीयर एवं एक्जोस्फीयर । बादल, धूलिकिरणें, जेट स्ट्रीम आदि स्ट्रेटोस्फीयर व पृथ्वी के बीच होते हैं, जबकि ओजोन परत रेडियो किरणें, कास्मिक किरणें, सूक्ष्म किरणें, कण व तरंगें इसके व एक्जोस्फीयर के मध्य फैले होते हैं । खगोल भौतिकविदों द्वारा छोटे-मोटे परिवर्तन ही इन परतों में सम्भव हो पाते हैं, पर जब विकृतियाँ प्रलय या खण्डप्रलय जैसी बन पड़ें, अणु-आयुधों की व्यापक विषाक्तता जैसे संकट आ खड़े हों, जो इन परतों में उथल-पुथल मचाकर विभीषिका का दृश्य खड़ा कर दें तो उसका संशोधन सशक्त अध्यात्म विज्ञान के सहारे ही बन पड़ता है। उस स्तर के वैज्ञानिक वीरभद्र कहलाते हैं । इन्हें चेतनजगत की सशक्त क्षमता के रूप में ही जाना एवं माना जाना चाहिए।

मानवशरीर एक छोटा पिण्ड है, किन्तु इसमें ब्रह्माण्ड का सारसंक्षेप पूरी तरह समाहित है । शरीर की पाँचों सामर्थ्यों को जिनको पूर्व में वर्णित किया गया, ब्रह्माण्ड व्यापी समष्टिगत शक्तियों का संक्षिप्त संस्करण माना जा सकता है । ये हैं- जैवविद्युत, जैवचुम्बकत्व, सृजनात्मक-शक्ति विकिरण एवं प्रतिरोधी शक्ति । इन्हीं को पचाने योग्य विधेयात्मक सामर्थ्य को व्यक्ति-व्यक्ति में, समग्र समुदाय में सूक्ष्मीकरण साधना द्वारा पात्रता परखते हुए गुरुदेव विकसित कर रहे हैं । इन्हीं पाँचों को उन्होंने इस एक वर्ष की अवधि में विकसित पंच वीरभद्रों का नाम दिया है । यह जितने परिमाण में जाग्रत सशक्त हो सकेंगे, जिस अनुपात में उपयोगी पात्र उन्हें मिलते जाएँगे, उसी अनुपात में विश्वपरिवर्तन के- युगपरिवर्तन के अनेकानेक प्रयोजनों में इसका सुनियोजन हो सकेगा ।

देवमानवों का सृजन, वातावरण का संशोधन, कषाय-कल्मषों का उन्मूलन, नवसृजन के उपयोगी साधनों का उत्पादन, छाए हुए संकट-घटाटोपों से परित्राण जैसे कितने ही काम हैं, जो जाग्रत वीरभद्रों के द्वारा समयानुसार आवश्यकतानुसार सम्पन्न होंगे। कब, किस प्रयोजन को, कितनी मात्रा में कर सकना सम्भव हो सकेगा, यह समय ही बताएगा ।

अभी इस जागरण की साधना चल रही है। एक को पाँच में विभाजित किया जा रहा है। कार्य इतना कठिन है कि सब ओर से ध्यान समेटकर एकान्त एवं मौन का उपक्रम अपनाया गया है। आशा की गयी है कि आगामी वसन्त तक इतनी प्रगति सम्भव हो सकेगी कि उसके सहारे अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ कहने लायक कदम बढ़ सकें।

# विभीषिकाओं की काली घटाएँ बरसने न पाएँगी

प्रकृति में विकृतियों की भरमार होती है, तो मानवी मस्तिष्क गड़बड़ाने लगता है और ऐसे कर्म करने पर उतारू होता है, जो प्रस्तुत विपत्तियों को और भी बढ़ा दे।

यह कथन भी गलत नहीं है कि जब मनुष्य का चिन्तन गड़बड़ाता है तो प्रकृति का सन्तुलन बिगड़ जाता है और वायुमण्डल, वनस्पतिजगत, छोटे-बड़े जीवधारी, उलटी दिशा में चलने लगते हैं और उस प्रवाह का असर मनुष्य की प्रकृति पर पड़ता है ।

दोनों ही प्रतिपादन अपनी-अपनी जगह पर सही हैं । पर यह कहना कठिन है कि बीज किसे कहा जाए और परिणति किसे ?

प्रायः आधी शताब्दी से विकृतियों का ऐसा ही दौर चल रहा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व के महान नेताओं ने मिल-जुलकर स्थायी शान्ति स्थापना के लिए बड़ी योजनाएँ बनाई थीं और बड़े निश्चय किए थे, किन्तु उस दस्तावेज की स्याही भी सूखने न पाई थी कि परस्पर स्नेह, अविश्वास और विद्वेष के विषबीज अंकुरित होने शुरू हो गये। इस अवधि में राजनैतिक कुटिलताएँ सभी पक्षों से अपने दाँव-पेच चलाने में चूकी नहीं हैं । विज्ञान के आविष्कार आश्चर्यजनक हुए हैं, पर वे ऐसे हुए हैं जो विनाश के काम आयें । पूँजी का विनियोग ऐसे कामों में हुआ है, जिससे पतन और पराभव का ही उत्पादन हो सके। बुद्धिमानों-कलाकारों ने जो कुछ उगाया है, उसे मानव भविष्य के लिए संकट उत्पन्न करने वाला ही कह सकते हैं ।

विगत पचास वर्षों में अन्तरिक्षीय वातावरण भी ऐसा बना है जो पृथ्वी के लिए, पृथ्वी-निवासियों के लिए संकट ही उत्पन्न कर सकता था । इन्हीं दुर्दिनों के बीच पिछले पचास वर्ष गुजरे हैं, उनमें हैरानियाँ किस कदर बढ़ी हैं । इसका लेखा-जोखा लेने पर प्रतीत होता है कि सर्वनाश जैसा कुछ हुआ तो नहीं, पर उसकी पृष्ठभूमि निश्चित रूप से बनी है और इस सम्भावना का पथ-प्रशस्त हुआ कि निकट भविष्य में मनुष्य की गतिविधियाँ और प्रकृतिगत हलचलें दोनों ही अशुभ की दिशा में चल रही हैं और उसके प्रमाण-परिचय अनेकानेक दुर्घटनाओं के रूप में जहाँ-तहाँ से फूटते रहे हैं । मनुष्य के उद्वेग अपने ढंग से भड़के हैं और प्रकृतिगत उत्पातों ने छोटे-बड़े कितनी ही विभीषिकाओं के रूप में अपना परिचय दिया है । कोई वर्ष चैन से नहीं बीता ।

हमारे हिमालय जाने के वर्षों में स्थिति स्पष्ट होती गई कि दोनों ही ओर से आमने-सामने से घटाएँ आकर आपस में टकरा रही हैं और भयंकर बिजली कड़कने जैसे दृश्य उपस्थित कर रही हैं । दोनों ही पक्ष समान रूप से दोषी हैं। प्रकृति मनुष्यों को उत्तेजित कर रही है और मनुष्य प्रकृतिक्रम को उद्धत बना रहे हैं ।

अभी क्रम धीमा चला है और घटनाएँ बीच-बीच में अवकाश एवं दूरी देकर घटित होती रही हैं । इसलिए दूरवर्ती मनुष्य के लिए सभी को एक साथ मिलाकर देख सकना सम्भव नहीं हो रहा है, पर यदि कोई इन सबको शृंखलाबद्ध देखे तो मालूम पड़ेगा कि प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध में मिलकर जितनी धन, जन की हानि हुई थी, उससे कम नहीं कहीं अधिक क्षति शीतयुद्ध की इस अवधि में उठाई जा सकी । वृक्ष-वनस्पति कटने से लेकर, अन्तर्ग्रही यात्राओं और रोमांचकारी आविष्कारों ने ऐसी भूमिका बनाई है, जिससे अणुयुद्ध न होने पर भी मनुष्य अपनी वरिष्ठता गँवा बैठेगा और इस धरती का वातावरण प्राणियों के रहने योग्य न रह जाएगा ।

इन विभीषिकाओं को अधिक अच्छी तरह हिमालय की ऊँचाई पर चढ़कर देख सकना हमारे लिए सम्भव हो सका । मार्गदर्शक ने अपने दिव्यचक्षु देकर उस धुँधले को और भी स्पष्ट कर दिया ।

प्रकृति की विशालता और मनुष्य की सशक्तता मिलकर जब मल्लयुद्ध करेंगी और दो साँड़ों की तरह समूचे क्षेत्र को विस्मार कर देने की ठानेंगी तो भवितव्यता कितनी जटिल होगी यह समझने में हस्तामलकवत् देखने में देर न लगी ।

हमारी नगण्य-सी साधना और सूक्ष्मशरीरधारी ऋषियों की उस क्षेत्र में उपस्थिति क्या मिल-जुलकर दोनों पक्षों को अपनी हठवादिता छोड़ने के लिए विवश नहीं कर सकते ? उत्तर अन्तरिक्ष में से उभरा कि कर सकते हैं- और उन्हें करना चाहिए ।

हिमालय हमें मार्गदर्शक सत्ता के पास चार बार जाना पड़ा । एक ही प्रश्न मनःक्षेत्र पर छाया रहा कि प्रस्तुत विभीषिकाओं को हर कीमत पर निरस्त किया जाना चाहिए । एक घटना स्मरण आई । दो दुर्दान्त साँड़ एक बार आपस में पूरे आवेश में लड़ रहे थे । लगता था कि वे एक-दूसरे का पेट फाड़ कर रहेंगे । जिस खेत में लड़ रहे थे उसका सर्वनाश करके रहेंगे । इतने में स्वामी दयानन्द उधर से निकले । उन्होंने दोनों को ललकारा । न हटे तो दोनों के सींग पकड़ कर मरोड़े और पूरा बल लगाकर दोनों को अलग-अलग दिशाओं में फेंक दिया । वे उल्टे गिरे और भयभीत होकर जान बचाने के लिए भाग खड़े हुए । इस घटना की पुनरावृत्ति आज के जमाने में भी सम्भव है । मनुष्य की दुर्बुद्धि और प्रकृति की विकृति यह दोनों ही ऐसे साँड़ हैं, जिन्हें सींग पकड़ कर उमेठा और विपरीत दिशाओं में धकेल दिया जाना चाहिए ।

इन दिनों वही प्रयास चल रहा है । सन् २००० तक दोनों ही काबू में आ जायेंगे इस बीच वे घायल तो जहाँ-तहाँ हो चुके होंगे, पर सर्वनाश की जो सम्भावना दृष्टिगोचर हो रही है वह रुक जाएगी ।

विश्व राजनीति में रूस और अमेरिका का विग्रह अणुयुद्ध की प्रलय उपस्थित करते दीख रहा है । पर दैवी प्रयास दोनों को ही समझा देंगे और बढ़े हुए कदम पीछे हट जाएँगे। भारत में साम्प्रदायिक और प्रान्तीयतावाद अपना विकराल रूप प्रस्तुत कर रहे हैं । इनकी जलती आग भी ठण्डी हो जाएगी । प्रकृति के साथ खिलवाड़ करने के जो उद्धत प्रयत्न चल रहे हैं । वे समझदारी अपनाकर वह करेंगे जिससे संकट टल सके । लंकादमन के साथ-साथ रामराज्य स्थापना के सतयुगी प्रयास भी चल पड़े थे । विनाश के प्रस्तुत अनेकानेक उपक्रमों पर पानी बरसाने वाले फायरबिग्रेड चालू कर दिये गये हैं और दुर्भिक्ष की सम्भावना वाली वे घटाएँ बरसाई जा रही हैं, जो कुछ ही दिन में मनुष्यों, पशुओं का पेट भरने वाली हरीतिमा उगाकर ग्रीष्म की दुर्भिक्ष विभीषिका का पूरी तरह समापन कर दें ।

हमें पूरा विश्वास है कि मनुष्य की समझ लौटेगी । परमसत्ता का सहयोग मिलेगा, प्रकृति अनुग्रह करेगी । बुरे समय की सम्भावना अब समाप्त ही होने जा रही है, यह हमारी आने वाली कल के सम्बन्ध में भविष्यवाणी है ।

इस परमपुरुषार्थ के निमित्त ही इन दिनों हम अपने पाँच प्रतिनिधि विनिर्मित करने में लगे हुए हैं । मौन और एकान्त-साधना के उपक्रम के साथ-साथ प्रजनन जैसी अतीव कठोर तपश्चर्या चल रही है । यह प्रतिनिधि अथवा वंशज हमसे किसी प्रकार दुर्बल न होंगे, वरन् सूक्ष्मशरीरधारी होने के कारण संसार में फैले हुए प्रतिभावानों को झकझोर कर नवसृजन योजना में उसी प्रकार बलपूर्वक संलग्न करेंगे, जैसा कि हमारे मार्गदर्शक ने हमें किया है ।

(१) बुद्धिजीवी, (२) शासक, (३) कलाकार, (४) सम्पन्न तथा (५) भावनाशील वर्ग के लोग कम नहीं हैं । इनमें से कितने ही निकट भविष्य में अपनी क्षमताओं को स्वार्थ से हटाकर परमार्थ में नियोजित करेंगे और वातावरण आश्चर्यजनक रूप से बदला हुआ प्रतीत होगा।

सन् २००० तक हमारा अस्तित्व बना रहेगा और हम अपनी भूमिका अबसे भी अधिक अच्छी तरह निभाते रहेंगे। इस बीच हम वर्तमान शरीर को त्याग देंगे । हिमालय के ऋषिक्षेत्र में रहकर उनके साथ मिल-जुलकर सूक्ष्मशरीर से काम करें । जो भी करना होगा, उसमें हमारा मार्गदर्शक साथ रहेगा । उसके मार्गदर्शन में हमने और हमारे सम्पर्क क्षेत्र में कल्याण- मार्ग का ही नियोजन हुआ है । आगे जो होने वाला है उस भविष्य को विगत भूतकाल की तुलना में अधिक श्रेष्ठ और शानदार ही माना जाना चाहिए । इस सम्बन्ध में किसी को किसी प्रकार का कोई सन्देह न रहेगा, जब पाठकगण हमारी जीवनचर्या एवं भावी भूमिका समझेंगे, पढ़ेंगे ।

## हमारी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष गतिविधियाँ

आत्मा अमर है, उसे पुराने कपड़े की तरह बार-बार नये शरीर बदलने पड़ते हैं । इस परिवर्तन काल में भी एक मध्यावधि होती है, जिसमें सामान्यजनों की और असामान्यजनों की विधि व्यवस्था भिन्न-भिन्न होती है ।

सूक्ष्मशरीर जीवित और मृतक स्थिति में यथावत बना रहता है । सामान्यजनों का सूक्ष्मशरीर भी प्रेरणाएँ ग्रहण करता और प्रभाव छोड़ता है । असामान्य लोगों के सूक्ष्मशरीर में यह ग्रहण और विसर्जन की क्षमता विशेष रूप से बढ़ी-चढ़ी होती है ।

मरणोपरान्त नया जन्म मिलने से पूर्व वाले मध्यान्तर में अपने कर्मानुसार स्वर्ग-नरक भोगते हैं और प्रेत-पितर के रूप में अपने पूर्व सम्पर्क वालों को हानि-लाभ पहुँचाते रहते हैं । असामान्य आत्माओं का सूक्ष्मशरीर अपेक्षाकृत अधिक सशक्त होता है । वह जीवित रहते ऐसे पुण्य-परमार्थ में लगे हैं, जो सर्व-साधारण को विदित भी नहीं हो पाता । मरने के उपरान्त वे अन्यान्य संस्कारवान प्रतिभाओं के साथ हो लेते हैं और उनके माध्यम से अति महत्त्वपूर्ण काम कराते रहते हैं । एक ही शरीर में दो आत्माओं की भूमिका चल पड़े तो एक और एक ग्यारह होने की उक्ति चरितार्थ होती है और इतना काम बन पड़ता है, जिसे चमत्कार ही कह सकते हैं ।

स्थूलजगत में-स्थूलशरीर से जो कार्य बन पड़ते हैं वे दृश्यमान होते हैं और घटनाक्रम कहलाते हैं । इन्हें सभी देखते और समझते हैं, किन्तु सूक्ष्मशरीर द्वारा दूसरों के अन्तराल में प्रेरणाएँ भरी जाती हैं । आकांक्षा जगाई जाती हैं । उमंगें उठाई जाती हैं । दिशा बताई जाती है और आदर्शों को क्रियान्वित करके छोड़ा जाता है ।

उच्च आत्माएँ ऐसे अदृश्य कार्य अपने जीवनकाल में भी सूक्ष्मशरीर द्वारा करती रहती हैं और मरणोत्तर जीवन में, नये जन्म से पूर्व तो उन्हें इसके लिए और भी अधिक अवसर मिला है। कारण कि उन्हें कर्मबन्धन न रहने से न तो स्वर्ग-नरक में जाना पड़ता है और न प्रेत-पितर बनकर किसी को नैतिक हानि-लाभ पहुँचाने में रुचि लेते हैं। उनके अन्तराल में आदर्शवादी उत्कृष्टता ही जमी रहती है और सामयिक आवश्यकता को देखते हुए अपने कार्यक्रम बदलते रहते हैं। अदृश्य और दृश्यजीवन के क्रिया-कलाप की यही रीति-नीति होती है परिष्कृत आत्माओं की।

जीवात्माओं को कर्मबन्धन से अथवा ईश्वरीय प्रेरणा से कार्यरत रहना पड़ता है । भव-बन्धनों से मुक्त आत्माएँ भी दैवी प्रयोजन की पूर्ति के लिए सृष्टि का सुसन्तुलन बनाये रखने के लिए काम करती रहती हैं । गन्दगी फैलाने वाले अनेकों होते हैं, पर उसे समेटने, स्वच्छ करने का काम बिरले ही सँभालते हैं । भगवान उच्च आत्माओं के माध्यम से अपना यही प्रयोजन पूरा कराते रहते हैं । निराकार भगवान सर्वव्यापी होने के कारण शरीर धरने की स्थिति में नहीं होते । अपना कार्य देवात्माओं के माध्यम से कराते हैं और उनके लिए अदृश्य सहयोग एवं दृश्य-साधन जुटाते रहते हैं ।

पिछले जन्मों को मनुष्य भूल जाता है । न भूले तो उसका झुकाव वर्तमान जीवन से न जुड़ पाये और भूतकालीन स्मृतियों के सहारे अन्य ऊहापोहों में मुड़ पड़े। पुरातन जन्मों को आमतौर से सभी भूल जाते हैं, किन्तु परिष्कृत आत्माओं को पिछले महान कार्यों की स्मृति उठ सके तो वे अपनी स्थिति का, स्तर का मूल्यांकन कर लेते हैं और फिर उसी मार्ग पर चलते हैं जिस पर पहले चल चुके हैं ।

हमारे जीवन की महान घटना यह है कि मार्गदर्शक देवात्मा ने पिछले ६०० वर्षों में हुए तीन जन्म दिखाये और उसी मार्ग पर सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप कार्य में जुटा दिया । भूतकाल में भी हमें कार्यक्रम बदलते रहने पड़े हैं, पर लक्ष्य एक ही रहा है-स्वयं पार होना और अनेकों को कन्धे पर बिठा कर पार करना ।

## सब कुछ कहने के लिए विवश न करें

युगपरिवर्तन के महान प्रयोजन में एक वर्ष के समयदान की याचना महाकाल ने की है । काम बड़ा और लम्बा भी है, किन्तु एक वर्ष की ही माँग क्यों की गयी, जबकि इक्कीसवीं शताब्दी को आने में अभी १५ वर्ष और बाकी हैं और इस अवधि में महान घटनाएँ होने वाली हैं। अशुभ से लड़ने और सृजन में जुटने के लिए असंख्यों एक से एक महत्त्व के काम सामने आने वाले हैं । पूरा जीवनदान कर भी दिया जाए तो भी आवश्यकता और उपयोगिता को देखते हुए भी वह कम है । फिर विचारणीय है कि बारम्बार एक वर्ष के समयदान की याचना ही क्यों दुहराई जा रही है ?

फिर एक वर्ष की शर्त ही क्यों ? किसलिए ? पिछले वर्षों में भी कितने ही व्यक्तियों ने अपने जीवनदान मिशन के लिए दिए हैं और वे अपनी प्रतिभा का भलीप्रकार निर्वाह कर रहे हैं । पूछने पर बताते हैं कि "जिस प्रकार कन्यादान आदि को वापस नहीं लिया जाता उसी प्रकार जीवनदान को भी वापस लेकर प्रतिज्ञा तोड़ने की अपेक्षा और कुछ कर बैठना अच्छा। इसलिए जीवन यदि लोकमंगल के लिए समर्पित किया है तो इसी भूमि में प्राण त्यागेंगे । इसमें हेरा-फेरी करना न हमें शोभा देता है और न इसमें मिशन का, गुरुदेव का गौरव है । हमारी तो प्रत्यक्ष बदनामी है ही, जो सुनेगा वह धिक्कारेगा । इसलिए निश्चय तो निश्चय ही है । इस छोटी-सी आयु में ऐसा कलंक सिर पर लादकर क्यों चलें, जिसकी कालिख-कालिमा फिर कभी छूटे ही नहीं ।"

"अब तक एक से अधिक जीवनदानियों का समुदाय प्राण-पण से अपनी प्रतिज्ञा पर आरूढ़ है, तो हमारे ही ऊपर क्यों ऐसी शर्त लगायी जा रही है कि एक ही वर्ष के लिए समय दिया जाए ?" इसका मोटा उत्तर तो प्रश्नकर्त्ताओं को यही लिखाया जा रहा है कि यह दोनों पक्षों के लिए परीक्षा का समय है । आप लोग मिशन को देख लें, भली-भाँति परख लें, साथ ही हमें भी । साथ ही एक अवसर परखने का हमें भी दें कि आप इस 'क्षुरस्य-धारा' तलवार की धार पर चल सकेंगे या नहीं ? अपना चिन्तनचरित्र और व्यवहार उत्कृष्टता की कसौटी पर खरा सिद्ध कर सकेंगे या नहीं ? बीच में कोई पक्ष अनुत्तीर्ण होता है तो उसके लिए यह छूट रहनी चाहिए कि वापस जाने या भेजने का उपाय अपना लिया जाए । जीवनदान बहुत बड़ी बात है । यदि वह दूसरों के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत कर सकने की स्थिति में बना रह सकता हो तो उस अनुदान का गौरव है, अन्यथा मिथ्या वचन देने और उसे वापस लौटाने में किसी का भी गौरव नहीं है ।

घटिया कदम ओछे लोग ही उठाते हैं । हममें से किसी पक्ष को भी अपनी गणना ओछे लोगों में नहीं करनी चाहिए । इसलिए परीक्षा-काल एक वर्ष की जाँच-पड़ताल रखने में ही उत्तम है । बाद में फिर नये सिरे से विचार किया जा सकता है और नया कदम उठाया जा सकता है।

आमतौर से एक वर्ष की बात के सम्बन्ध में सन्देह उठाने वालों को यही उत्तर लिखाये जा रहे हैं । किन्तु इतने भर से किसी को सन्तोष नहीं होता । वे इसके अतिरिक्त और भी कई तरह की कल्पनाएँ करते हैं । दिए हुए उत्तरों को पर्याप्त नहीं मानते । उसके पीछे कोई रहस्य खोजते हैं। मनुष्य का स्वभाव भी है कि हर गम्भीर प्रश्न पर कई प्रकार से सोचे । इसे अनुचित भी नहीं कहा जा सकता।

कितने ही पत्रों में इस सन्दर्भ में कितनी ही बातें पूछी गई हैं । उनमें से कुछ का उल्लेख भी यहाँ किया जा रहा है । कितनों ने ही पूछा है कि (१) आपकी आयु एक वर्ष ही शेष रह गई है क्या, जिसमें उतने ही समय में अपने घोषित संकल्पों को पूरा करना चाहते हैं ? (२) एक वर्ष बाद हिमालय चले जाने और तपस्वियों की ऊँची बिरादरी में सम्मिलित होने का मन है क्या ? (३) अगले वर्ष कोई भयावह दुर्घटनाएँ तो घटित होने वाली नहीं हैं ? (४) एक वर्ष बाद आपको प्रज्ञा अभियान दूसरों के जिम्मे छोड़कर कोई असाधारण उत्तरदायित्व वहन करने की भूमिका तो नहीं निभानी है ? (५) कहीं माताजी का स्वास्थ्य तो नहीं गड़बड़ा रहा है? (६) जिनके मन में इतने दिनों से उद्‌भट उत्कण्ठाएँ उठाई जाती रही हैं, उन्हें ऐसा तो नहीं समझा गया है कि यह समय चुका देने पर फिर उन्हें कभी ऐसा अवसर नहीं मिलेगा ? (७) युग-परिवर्तन के सम्बन्ध में कोई ऐसा घटनाक्रम तो घटित नहीं होने जा रहा, जिसकी सुरक्षा के रिाए उन्हें अपने पास बुला रहे हों? (८) किन्हीं को कोई ऐसा सौभाग्य तो प्रदान करने वाले नहीं हैं, जिन्हें निकटवर्ती लोगों को ही दिया जा सकता हो ? भविष्य में ऊँचे उत्तरदायित्वों के साथ जुड़ा हुआ महामानवों जैसा श्रेय तो नहीं मिलने जा रहा है, जिसका रहस्य कुछ विशेष लोगों के कान में ही कहा जाना हो ? (९) पात्रता जाँचकर अपनी विशिष्ट क्षमताओं का विवरण-विभाजन तो नहीं कर रहे हैं ?

ऐसे-ऐसे अनेकों प्रश्न हैं, जिनमें से कितनों का ही उल्लेख अप्रकाशित रहना ही उपयुक्त है । इस प्रकार के रहस्यमय प्रश्नों में से किसी का भी उत्तर 'न' या 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। कुछ बातें ऐसी होती हैं जिन्हें स्वीकार कर लिया जाता है। कुछ को अस्वीकार करने में भी हर्ज नहीं होता, पर कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनके सम्बन्ध में मौन धारण करना, कुछ न कहना ही उचित है। कई बातें ऐसी होती हैं, जिनके सम्बन्ध में गोपनीयता को रखना ही लगभग सत्य के समतुल्य नीतिकारों ने बतलाया है।

जिन प्रश्नों की झड़ी इन दिनों लगी हुई है उनसे किसी महत्त्वपूर्ण रहस्योद्‌घाटन की आशा नहीं करनी चाहिए। उन्हें इतना ही पर्याप्त समझना चाहिए, जितना कि एक-दूसरे की जाँच-पड़ताल का हवाला देते हुए कहा गया है।

हमने अपने भूतकाल की घटनाओं का भी सीमित ही उल्लेख किया है । पूछने पर भी नपा-तुला ही वर्णन किया है । जो नहीं प्रकट किया गया वह इसलिए सुरक्षित है कि उसे हमारा शरीर न रहने से पहले न जाना जाए । उपरान्त जो लोग चाहें अपने अनुभव प्रकट कर सकते हैं । यदि इन घटनाओं की चर्चा होती है तो इन्हें प्रत्यक्ष कहने पर सिद्धपुरुषों की श्रेणी में अपने को प्रख्यात करने की महत्त्वाकांक्षा आँकी जा सकती है ।

शासन-संचालकों को शपथ दिलाई जाती है, उनमें एक गोपनीयता की भी होती है । हमें भी ऐसा ही वचन अपने मार्गदर्शक को देना पड़ा है कि लोकसेवी- ब्राह्मण के रूप में ही अपनी जानकारी सर्व-साधारण को दी जाए। जो अध्यात्म की गरिमा सिद्ध करने के लिए आवश्यक समझा जाए उतना ही प्रकट किया जाए । जो हमारी व्यक्तिगत साधना, तपश्चर्या, सिद्धि, जिम्मेदारी एवं भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं से सम्बन्धित हैं, उन्हें समय से पूर्व वर्णन न किया जाए ।

युगपरिवर्तन की अवधि में अनेकों घटनाएँ घटित होंगी। अनेकों महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के वर्तमान रुख एवं कार्यक्रम में जमीन-आसमान जैसा अन्तर दिखाई देगा। ये बातें अभी से नहीं कहीं जा सकतीं । रहस्यमयी भविष्यवाणियाँ करने के लिए अपनी सिद्धियाँ प्रकट करने के लिए हमें मनाही की गई है । उस प्रतिज्ञा का निश्चय ही पालन किया जाएगा । इसलिए कोई सज्जन वे प्रश्न इस एक वर्ष के सन्दर्भ में न पूछें । जो भविष्य के सम्बन्ध में न कहने के लिए हम वचनबद्ध हैं, उन्हें नहीं ही कहेंगे।

❑❑❑

# हमारी वसीयत और विरासत

## ( परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी से )

### इस जीवन-यात्रा के गम्भीरता-पूर्वक पर्यवेक्षण की आवश्यकता

जिन्हें भले या बुरे क्षेत्रों में विशिष्ट व्यक्ति समझा जाता है, उनकी जीवनचर्या के साथ जुड़े हुए घटनाक्रमों को भी जानने की इच्छा होती है। कौतूहल के अतिरिक्त इसमें एक भाव ऐसा भी होता है, जिसके सहारे कोई अपने काम आने वाली बात मिल सके। जो हो कथा-साहित्य से जीवनचर्याओं का सघन सम्बन्ध है। वे रोचक भी लगती हैं और अनुभव प्रदान करने की दृष्टि से उपयोगी भी होती हैं।

हमारे सम्बन्ध में प्रायः आये दिन लोग ऐसी पूछताछ करते रहे हैं, पर उसे आमतौर से टालते ही रहा गया है। जो प्रत्यक्ष क्रिया-कलाप हैं, वे सबके सामने हैं। लोग तो जादू-चमत्कार जानना चाहते हैं। हमारे सिद्धपुरुष होने और अनेकानेक व्यक्तियों को सहज ही हमारे अनुदानों से लाभान्वित होने से उन रहस्यों को जानने की उनकी उत्सुकता है। वस्तुतः जीवित रहते तो वे सभी किम्वदन्तियाँ ही बनी रहेंगी, क्योंकि हमने प्रतिबन्ध लगा रखा है कि ऐसी बातें रहस्य के पर्दे में ही रहें। यदि उस दृष्टि से कोई हमारी जीवनचर्या पढ़ना चाहता हो, तो उसे पहले हमारी जीवनचर्या के तत्त्वदर्शन को समझना चाहिए। कुछ अलौकिक विलक्षण खोजने वालों को भी हमारे जीवनक्रम को पढ़ने से सम्भवतः नई दिशा मिलेगी।

प्रस्तुत जीवन-वृत्तान्त में कौतूहल व अतिवाद न होते हुए भी वैसा सारगर्भित बहुत कुछ है, जिससे अध्यात्म विज्ञान के वास्तविक स्वरूप और उसके सुनिश्चित प्रतिफल को समझने में सहायता मिलती है। उसका सही रूप विदित न होने के कारण लोग इतनी भ्रान्तियों में फँसते हैं कि भटकावजन्य निराशा से वे श्रद्धा ही खो बैठते हैं और इसे पाखण्ड मानने लगते हैं। इन दिनों ऐसे प्रच्छन्न नास्तिकों की संख्या अत्यधिक है, जिन्होंने कभी उत्साहपूर्वक पूजा-पत्री की थी, अब ज्यों-त्यों करके चिह्न-पूजा करते हैं। वह भी लकीर पीटने की तरह, केवल अभ्यास के वशीभूत होकर, आनन्द और उत्साह सब कुछ गुम गया। उपासना की परिणतियाँ-फलश्रुतियाँ ही पढ़ी-सुनी गई थीं। उनमें से कोई कसौटी पर खरी नहीं उतरी तो विश्वास टिकता भी कैसे?

हमारी जीवनगाथा सब जिज्ञासुओं के लिए एक प्रकाशस्तम्भ का काम कर सकती है। वह एक बुद्धिजीवी और यथार्थवादी द्वारा अपनाई गई कार्य-पद्धति है। छद्म जैसा कुछ उसमें है नहीं, असफलता का लांछन भी उन पर नहीं लगता। ऐसी दशा में जो गम्भीरता से समझने का प्रयत्न करता कि सही लक्ष्य तक पहुँचने का सही मार्ग क्या हो सकता था, यदि वह शार्टकट के फेर में भ्रम-जंजाल न अपनाता, तो निराशा, खीझ और थकान हाथ न लगती। तब या तो महँगी समझकर हाथ ही न डालता या सफलता पाने के लिए उसका मूल्य चुकाने का साहस पहले से ही सँजोता। ऐसा अवसर उन्हें मिला नहीं, इसी को दुर्भाग्य कह सकते हैं। यदि हमारा जीवन पढ़ा गया होता, उसके साथ आदि से अन्त तक गुँथे हुए अध्यात्म तत्त्वदर्शन और क्रिया-विधान को समझने का अवसर मिला होता, तो निश्चय ही प्रच्छन्न भ्रमग्रस्त लोगों की संख्या इतनी न रही होती, जितनी अब है।

एक और वर्ग है, विवेक-दृष्टि वाले यथार्थवादियों का। वे ऋषिपरम्परा पर विश्वास करते हैं और सच्चे मन से विश्वास करते हैं कि वे आत्मबल के धनी थे। उन विभूतियों से उन्होंने अपना, दूसरों का और समस्त विश्व का भला किया था। भौतिक विज्ञान की तुलना में जो अध्यात्म विज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, उनकी एक जिज्ञासा यह भी रहती है कि वास्तविक स्वरूप और विधान क्या है? कहने को तो हर कुँजड़ी अपने बेरों को मीठा बताती है, पर कथनों पर विश्वास न करने वालों द्वारा उपलब्धियों का जब लेखा-जोखा लिया जाता है, तब प्रतीत होता है कि कौन कितने पानी में है?

सही क्रिया, सही लोगों द्वारा, सही प्रयोजनों के लिए अपनाए जाने पर उसका सत्परिणाम भी होना ही चाहिए। इस आधार पर जिन्हें ऋषिपरम्परा के अध्यात्म का स्वरूप समझना हो, उन्हें निजी अनुसंधान करने की आवश्यकता नहीं है। वे हमारी जीवनचर्या को आदि से अन्त तक पढ़ और परख सकते हैं। विगत साठ वर्षों में से प्रत्येक वर्ष इसी प्रयोजन के लिए व्यतीत हुआ है। उसके परिणाम भी खुली पुस्तक की तरह सामने हैं। इन पर गम्भीर दृष्टिपात करने पर यह अनुमान निकल सकता है कि सही परिणाम प्राप्त करने वालों ने सही मार्ग भी अवश्य अपनाया होगा। ऐसा अद्भुत मार्ग दूसरों के लिए भी अनुकरणीय हो सकता है। आत्मविद्या और अध्यात्म विज्ञान की गरिमा से जो प्रभावित हैं, उनका पुनरुज्जीवन देखना चाहते हैं, प्रतिपादनों को परिणतियों की कसौटी पर कसना चाहते हैं, उन्हें निश्चय ही हमारी जीवनचर्या के पृष्ठों का पर्यवेक्षण सन्तोषप्रद और समाधानकारक लगता है।

प्रत्यक्ष घटनाओं की दृष्टि से कुछ प्रकाशित किए जा रहे प्रसंगों को छोड़कर हमारे जीवनक्रम में बहुत विचित्रताएँ एवं विविधताएँ नहीं हैं। कौतुक-कौतूहल व्यक्त करने वाली उछल-कूद एवं जादू-चमत्कारों की भी उसमें गुंजाइश नहीं है। एक सुव्यवस्थित और सुनियोजित

ढर्रे पर निष्ठापूर्वक समय कटता रहा है, इसलिए विचित्रताएँ ढूँढ़ने वालों को उसमें निराशा भी लग सकती है, पर जो घटनाओं के पीछे काम करने वाले तथ्यों और रहस्यों में रुचि लेंगे, उन्हें इतने से भी अध्यात्म, सनातन के परम्परागत प्रवाह का परिचय मिल जाएगा और वे समझ सकेंगे कि सफलता, असफलता का कारण क्या है? क्रियाकाण्ड को सब कुछ मान बैठना और व्यक्तित्व के परिष्कार की, पात्रता की प्राप्ति पर ध्यान न देना यही एक कारण है, जिसके चलते उपासना-क्षेत्र में निराशा छाई और अध्यात्म को उपहासास्पद बनने-बदनाम होने का लांछन लगा। हमारे क्रिया-कृत्य सामान्य हैं, पर उसके पीछे उस पृष्ठभूमि का समावेश है, जो ब्रह्मतेजस को उभारती और उसे कुछ महत्त्वपूर्ण कर सकने की समर्थता तक ले जाती है।

जीवनचर्या के घटनापरक विस्तार से कौतूहल बढ़ने के अतिरिक्त कुछ लाभ है नहीं। काम की बात है इन क्रियाओं के साथ जुड़ी हुई अन्तर्दृष्टि और उस आन्तरिक तत्परता का समावेश, जो छोटे-से बीज की खाद-पानी की आवश्यकता पूरी करते हुए विशाल वृक्ष बनाने में समर्थ होती रही। वस्तुतः साधक का व्यक्तित्व ही साधनाक्रम में प्राण फूँकता है अन्यथा मात्र क्रिया-कृत्य खिलवाड़ बनकर रह जाते हैं।

तुलसी का राम, सूर का हरे कृष्ण, चैतन्य का संकीर्तन, मीरा का गायन, रामकृष्ण का पूजन मात्र क्रिया-कृत्यों के कारण सफल नहीं हुआ था। ऐसा औड़म-बौड़म तो दूसरे असंख्य करते रहते हैं, पर उनके पल्ले विडम्बना के अतिरिक्त और कुछ नहीं पड़ता । वाल्मीकि ने जीवन बदला, तो उल्टा नाम जपते ही मूर्धन्य हो गए। अजामिल, अंगुलिमाल, गणिका, आम्रपाली मात्र कुछ अक्षर दुहराना ही नहीं सीखे थे, उन्होंने अपनी जीवनचर्या को भी अध्यात्म आदर्शों के अनुरूप ढाला था।

आज कुछ ऐसी विडम्बना चल पड़ी है कि लोग कुछ अक्षर दुहराने और कुछ क्रिया-कृत्य करने, स्तवन-उपहार प्रस्तुत करने भर से अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर लेते हैं। चिन्तन, चरित्र और व्यवहार को उस आदर्शवादिता के ढाँचे में ढालने का प्रयत्न नहीं करते, जो आत्मिक प्रगति के लिए अनिवार्य रूप में आवश्यक है। अपनी साधना-पद्धति में इस भूल का समावेश न होने देने का आरम्भ से ही ध्यान रखा गया। अस्तु वह यथार्थवादी भी है और सर्वसाधारण के लिए उपयोगी भी। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही जीवनचर्या को पढ़ा जाए।

# जीवन के सौभाग्य का सूर्योदय

हमारे जीवन का पचहत्तरवाँ वर्ष पूरा हो चुका। इस लम्बी अवधि में मात्र एक काम करने का मन हुआ और उसी को करने में जुट गए। वह प्रयोजन था 'साधना से सिद्धि' का अन्वेषण-पर्यवेक्षण। इसके लिए यही उपयुक्त लगा कि जिस प्रकार अनेक वैज्ञानिकों ने पूरी-पूरी जिन्दगियाँ लगाकर अन्वेषण कार्य किया और उसके द्वारा समूची मानव-जाति की महती सेवा सम्भव हो सकी, ठीक उसी प्रकार यह देखा जाना चाहिए कि पुरातनकाल से चली आ रही 'साधना से सिद्धि' की प्रक्रिया का सिद्धान्त सही है या गलत । इसका परीक्षण दूसरों के ऊपर न करके अपने ऊपर किया जाए। यह विचारणा दस वर्ष की उम्र से उठी एवं पन्द्रह वर्ष की आयु तक निरन्तर विचारक्षेत्र में चलती रही। इसी बीच अन्यान्य घटनाक्रमों का परिचय देना हो तो इतना भर ही बताया जा सकता है कि हमारे पिताजी अपने सहपाठी महामना मालवीय जी के पास उपनयन संस्कार करा लाए । उसी को 'गायत्री दीक्षा' कहा गया । ग्राम के स्कूल में प्राइमरी पाठशाला तक की पढ़ाई की। पिताजी ने ही 'लघु सिद्धान्त कौमुदी' के आधार पर संस्कृत व्याकरण पढ़ा दिया। वे श्रीमद्‌भागवत की कथाएँ कहने राजा-महाराजाओं के यहाँ जाया करते थे। मुझे भी साथ ले जाते। इस प्रकार भागवत का आद्योपान्त वृत्तान्त याद हो गया।

इसी बीच विवाह भी हो गया । पत्नी अनुशासनप्रिय, परिश्रमी, सेवाभावी और हमारे निर्धारणों में सहयोगिनी थी। बस समझना चाहिए कि पन्द्रह वर्ष समाप्त हुए।

सन्ध्यावन्दन हमारा नियमित क्रम था। दस वर्ष की आयु में मालवीय जी ने गायत्री मंत्र की विधिवत दीक्षा दी थी और कहा था कि यह ब्राह्मण की कामधेनु है। इसे बिना नागा किए जपते रहना। पाँच माला अनिवार्य, अधिक जितनी हो जाएँ उतनी उत्तम। उसी आदेश को मैंने गाँठ बाँध लिया और उसी क्रम को अनवरत चलाता रहा।

भगवान की अनुकम्पा ही कह सकते हैं, जो अनायास ही हमारे ऊपर पन्द्रह वर्ष की उम्र में बरसी और वैसा ही सुयोग बनता चला गया, जो हमारे लिए विधि द्वारा पूर्व से ही नियोजित था। हमारे बचपन में सोचे गए संकल्प को प्रयास के रूप में परिणत होने का सुयोग मिल गया।

पन्द्रह वर्ष की आयु थी, प्रातः की उपासना चल रही थी। वसन्त पर्व का दिन था। उस दिन ब्रह्ममुहूर्त में कोठरी में ही सामने प्रकाश-पुंज के दर्शन हुए। आँखें मलकर देखा कि कहीं कोई भ्रम तो नहीं है। प्रकाश प्रत्यक्ष था। सोचा, कोई भूत-प्रेत या देव-दानव का विग्रह तो नहीं है। ध्यान से देखने पर भी वैसा कुछ लगा नहीं । विस्मय भी हो रहा था और डर भी लग रहा था, स्तब्ध था।

प्रकाश के मध्य में से एक योगी का सूक्ष्म-शरीर उभरा, सूक्ष्म इसलिए कि छवि तो दीख पड़ी, पर वह प्रकाश-पुञ्ज के मध्य अधर लटकी हुई थी। यह कौन है? आश्चर्य।

उस छवि ने बोलना आरम्भ किया व कहा- "हम तुम्हारे साथ तीन जन्मों से जुड़े हैं। मार्गदर्शन करते आ रहे हैं। अब तुम्हारा बचपन छूटते ही आवश्यक मार्गदर्शन करने आए हैं। सम्भवतः तुम्हें पूर्व जन्मों की स्मृति नहीं है, इसी से भय और आश्चर्य हो रहा है। पिछले जन्मों का

विवरण देखो और अपना सन्देह निवारण करो।" उनकी अनुकम्पा हुई और योगनिद्रा जैसी झपकी आने लगी। बैठा रहा, पर स्थिति ऐसी हो गई मानो मैं निद्राग्रस्त हूँ। तन्द्रा-सी आने लगी। योगनिद्रा कैसी होती है, इसका अनुभव मैंने जीवन में पहली बार किया। ऐसी स्थिति को ही जाग्रत समाधि भी कहते हैं। इस स्थिति में डुबकी लगाते ही एक-एक करके मुझे अपने पिछले तीन जन्मों का दृश्य क्रमशः ऐसा दृष्टिगोचर होने लगा, मानो वह कोई स्वप्न न होकर प्रत्यक्ष घटनाक्रम ही हो। तीन जन्मों की तीन फिल्में आँखों के सामने से गुजर गयीं।

पहला जीवन-सन्त कबीर का, सपत्नीक काशी निवास। धर्मों के नाम पर चल रही विडम्बना का आजीवन उच्छेदन। सरल अध्यात्म का प्रतिपादन।

दूसरा जन्म-समर्थ रामदास के रूप में, दक्षिण भारत में विश्रृंखलित राष्ट्र को शिवाजी के माध्यम से संगठित करना। स्वतन्त्रता हेतु वातावरण बनाना एवं स्थान-स्थान पर व्यायामशालाओं एवं सत्संग भवनों का निर्माण।

तीसरा जन्म-रामकृष्ण परमहंस, सपत्नीक कलकत्ता निवास। इस बार पुनः गृहस्थ में रहकर विवेकानन्द जैसे अनेक महापुरुष गढ़ना व उनके माध्यम से संस्कृति के नव-जागरण का कार्य सम्पन्न कराना।

आज याद आता है कि जिस सिद्धपुरुष-अंशधर ने पन्द्रह वर्ष की आयु में घर पधारकर पूजा की कोठरी में प्रकाश रूप में दर्शन दिया था, उनका दर्शन करते ही मन ही मन तत्काल अनेकों प्रश्न सहसा उठ खड़े हुए थे । सद्गुरुओं की तलाश में आमतौर से जिज्ञासुगण मारे-मारे फिरते हैं। जिस-तिस से पूछते हैं। ऐसा लाभ मिलने को अपना भारी सौभाग्य मानते हैं। कोई कामना होती है तो उसकी पूर्ति के वरदान माँगते हैं, पर अपने साथ जो घटित हो रहा था, वह उसके सर्वथा विपरीत था। महामना मालवीय जी से गायत्री मन्त्र की दीक्षा पिताजी ने आठ वर्ष की आयु में ही दिलवा दी थी। उसी को प्राणदीक्षा बताया गया था। गुरुवरण होने की बात भी वहीं समाप्त हो गई थी और किसी गुरु के प्रास होने की कभी कल्पना भी नहीं उठी। फिर अनायास ही यह लाभ कैसे मिला, जिसके सम्बन्ध में अनेक किम्वदन्तियाँ सुनकर हमें भी आश्चर्यचकित होना पड़ा है।

शिष्य गुरुओं की खोज में रहते हैं। मनुहार करते हैं। कभी उनकी अनुकम्पा, भेंट, दर्शन हो जाए तो अपने को धन्य मानते हैं। उनसे कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं। फिर क्या कारण है कि मुझे अनायास ही ऐसे सिद्ध-पुरुष का अनुग्रह प्राप्त हुआ। यह कोई छद्म तो नहीं है? अदृश्य में प्रकटीकरण की बात भूत-प्रेत से सम्बन्धित सुनी जाती है और उनसे भेंट होना किसी अशुभ अनिष्ट का निमित्त कारण माना जाता है। दर्शन होने के उपरान्त मन में यही संकल्प उठने लगे। सन्देह हुआ कि किसी विपत्ति में फँसने जैसा कोई अशुभ तो पीछे नहीं पड़ा?

मेरे इस असमंजस को उन्होंने जाना। रुष्ट नहीं हुए, वरन् वस्तुस्थिति को जानने के उपरान्त किसी निष्कर्ष पर पहुँचने और बाद में कदम उठाने की बात उन्हें पसन्द आई। यह बात उनकी प्रसन्न मुख-मुद्रा को देखने से स्पष्ट झलकती थी। कारण पूछने में समय नष्ट करने के स्थान पर उन्हें यह अच्छा लगा कि अपना परिचय, आने का कारण और मुझे पूर्व जन्म की स्मृति दिलाकर विशेष प्रयोजन के निमित्त चुनने का हेतु स्वतः ही समझा दें। कोई घर आता है तो उसका परिचय और आगमन का निमित्त कारण पूछने का लोक-व्यवहार भी है। फिर कोई वजनदार आगन्तुक जिसके घर आते हैं, उसका भी कोई वजन तौलते हैं। अकारण हल्के और ओछे आदमी के यहाँ जा पहुँचना उनका महत्त्व भी घटाता है और किसी तर्क-बुद्धि वाले के मन में ऐसा कुछ घटित होने के पीछे कोई कारण न होने की बात पर सन्देह होता है और आश्चर्य भी।

पूजा की कोठरी में प्रकाश-पुञ्ज उस मानव ने कहा- "तुम्हारा सोचना सही है। देवात्माएँ जिनके साथ सम्बन्ध जोड़ती हैं उन्हें कुछ जाँच-परखती हैं। अपनी शक्ति और समय खर्च करने से पूर्व कुछ जाँच-पड़ताल भी करती हैं। जो भी चाहे उसके आगे प्रकट होने लगें और उसका इच्छित प्रयोजन पूरा करने लगें, ऐसा नहीं होता। पात्र-कुपात्र का अन्तर किए बिना चाहे जिसके साथ सम्बन्ध जोड़ना किसी बुद्धिमान और सामर्थ्यवान के लिए कभी कहीं सम्भव नहीं होता। कई लोग ऐसा सोचते तो हैं कि किसी सम्पन्न महामानव के साथ सम्बन्ध जोड़ने में लाभ है, पर यह भूल जाते हैं कि दूसरा पक्ष अपनी सामर्थ्य किसी निरर्थक व्यक्ति के निमित्त क्यों गँवाएगा।

हम सूक्ष्म दृष्टि से ऐसे सत्पात्र की तलाश करते रहे, जिसे सामयिक लोक-कल्याण का निमित्त कारण बनाने के लिए प्रत्यक्ष कारण बताएँ। हमारा यह सूक्ष्म-शरीर है। सूक्ष्म-शरीर से स्थूल कार्य नहीं बन पड़ते। इसके लिए किसी स्थूल शरीरधारी को ही माध्यम बनाना और शस्त्र की तरह प्रयुक्त करना पड़ता है। यह विषम समय है। इसमें मनुष्य का अहित होने की अधिक सम्भावनाएँ हैं। उन्हीं का समाधान करने के निमित्त तुम्हें माध्यम बनाना है। जो कमी है, उसे दूर करना है। अपना मार्गदर्शन और सहयोग देना है। इसी निमित्त तुम्हारे पास आना हुआ है। अब तक तुम अपने सामान्य जीवन से ही परिचित थे। अपने को साधारण व्यक्ति ही देखते थे। असमंजस का एक कारण यह भी है। तुम्हारी पात्रता का वर्णन करें तो भी कदाचित तुम्हारा सन्देह निवारण न हो। कोई किसी की बात पर अनायास ही विश्वास करे, ऐसा समय भी कहाँ है। इसीलिए तुम्हें पिछले तीन जन्मों की जानकारी दी गयी।"

तीनों ही जन्मों का विस्तृत विवरण जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक का दर्शाने के बाद उन्होंने बताया कि किस प्रकार वे इन तीनों जीवनों में हमारे साथ रहे और सहायक बने।

वे बोले- "यह तुम्हारा दिव्य जन्म है। तुम्हारे इस जन्म में भी हम तुम्हारे सहायक रहेंगे और इस शरीर से

वह करावेंगे जो समय की दृष्टि से आवश्यक है। सूक्ष्म शरीरधारी प्रत्यक्ष जन-सम्पर्क नहीं कर सकते और न घटनाक्रम सूक्ष्म शरीरधारियों द्वारा सम्पन्न होते हैं, इसलिए योगियों को उन्हीं का सहारा लेना पड़ता है।"

"तुम्हारा विवाह हो गया सो ठीक हुआ। यह समय ऐसा है जिसमें एकाकी रहने से लाभ कम और जोखिम अधिक है। प्राचीनकाल में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सूर्य, गणेश, इन्द्र आदि सभी सपत्नीक थे। सातों ऋषियों की पत्नियाँ थीं। कारण कि गुरुकुल-आरण्यक स्तर के आश्रम चलाने में माता की भी आवश्यकता पड़ती है और पिता की भी। भोजन, निवास, वस्त्र, दुलार आदि के लिए भी माता चाहिए और अनुशासन, अध्यापन, अनुदान यह पिता की ओर से मिलता है। गुरु ही पिता है और गुरुपत्नी ही माता। ऋषिपरम्परा के निर्वाह के लिए यह उचित भी है, आवश्यक भी। आजकल भजन के नाम पर जिस प्रकार आलसी लोग सन्त का बाना पहनते और भ्रम-जंजाल फैलाते हैं, तुम्हारे विवाहित होने से मैं प्रसन्न हूँ। इसमें बीच में व्यवधान तो आ सकता है, पर पुनः तुम्हें पूर्व जन्म में तुम्हारे साथ रहीं सहयोगिनी पत्नी के रूप में मिलेगी, जो आजीवन तुम्हारे साथ रहकर महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाहेगी। पिछले दो जन्मों में तुम्हें सपत्नीक रहना पड़ा है। यह न सोचना कि इससे कार्य में बाधा पड़ेगी। वस्तुतः इससे आज की परिस्थितियों में सुविधा ही रहेगी एवं युगपरिवर्तन के प्रयोजन में भी सहायता मिलेगी।"

वह पावन दिन-वसन्त पर्व का दिन था। प्रातः ब्रह्ममुहूर्त था। नित्य की तरह सन्ध्यावन्दन का नियम-निर्वाह चल रहा था। प्रकाशपुंज के रूप में देवात्मा का दिव्य-दर्शन, उसी कौतूहल से मन में उठी जिज्ञासा और उसके समाधान का यह उपक्रम चल रहा था। मैंने अपना पिछला जन्म आदि से अन्त तक देखा। इसके बाद दूसरा भी। तदुपरान्त तीसरा भी। तीनों ही जन्म दिव्य थे। साधना में निरत रहे थे। इन तीनों ही में समाज के नव-निर्माण की महत्ती भूमिका निभानी पड़ी थी। सामने उपस्थित देवात्मा के मार्गदर्शन तीनों ही जन्मों में मिलते रहे थे। इसलिए उस समय तक जो अपरिचित जैसा कुछ लगता था, वह दूर हो गया। एक नया भाव जगा-घनिष्ट आत्मीयता का। उनकी महानता, अनुकम्पा और साथ ही अपनी कृतज्ञता का। इस स्थिति ने मन का कायाकल्प कर दिया। कल तक जो परिवार अपना लगता था, वह पराया लगने लगा और जो प्रकाश-पुंज अभी-अभी सामने आया था, वह प्रतीत होने लगा कि मानो यही हमारी आत्मा है। इसी के साथ हमारा भूतकाल बँधा हुआ था और अब जितने दिन जीना है, वह अवधि भी इसी के साथ जुड़ी रहेगी। अपनी ओर से कुछ कहना नहीं, कुछ चाहना नहीं, किन्तु दूसरे का जो आदेश हो, उसे प्राण-पण से पालन करना। इसी का नाम समर्पण है। समर्पण मैंने उसी दिन प्रकाशपुंज देवात्मा को किया और उन्हीं को न केवल मार्गदर्शक, वरन् भगवान के समतुल्य माना। उस सम्बन्ध-निर्वाह को प्रायः साठ वर्ष होने को आते हैं। बिना कोई तर्क-बुद्धि लड़ाए, बिना कुछ ननुनच किए, एक ही इशारे पर, एक ही मार्ग पर गतिशीलता होती रही है। सम्भव है, नहीं? अपने बूते यह हो सकेगा या नहीं? इसके परिणाम क्या होंगे? इन प्रश्नों में से एक भी आज तक मन में उठा नहीं।

उस दिन मैंने एक और नई बात समझी कि सिद्ध-पुरुषों की अनुकम्पा मात्र लोकहित के लिए, सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन के निमित्त होती है। न उनका कोई सगा-सम्बन्धी होता है, न उदासीन-विरोधी। किसी को ख्याति, सम्पदा या कीर्ति दिलाने के लिए उनकी कृपा नहीं बरसती। विराट ब्रह्म-विश्वमानव ही उनका आराध्य होता है। उसी के निमित्त अपने स्वजनों को वे लगाते हैं, अपनी इस नवोदित मान्यता के पीछे रामकृष्ण-विवेकानन्द का, समर्थ रामदास-शिवाजी का, चाणक्य-चन्द्रगुप्त का, गाँधी-विनोबा का, बुद्ध-अशोक का गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्मरण हो आया। जिनकी आत्मीयता में ऐसा कुछ न हो, केवल सिद्धि-चमत्कार, कौतुक-कौतूहल, दिखाने या सिखाने का क्रिया-कलाप चलता रहा हो, समझना चाहिए कि वहाँ गुरु और शिष्य की क्षुद्र प्रवृत्ति है और जादूगर-बाजीगर जैसा कोई खेल-खिलवाड़ चल रहा है। गन्ध बाबा-चाहे जिसे सुगन्धित फूल सुँघा देते थे। बाघ बाबा, अपनी कुटी में बाघ को बुलाकर बिठा लेते थे। समाधि बाबा, कई दिन तक जमीन में गढ़े रहते थे। सिद्धबाबा आगन्तुकों की मनोकामना पूरी करते थे। ऐसी-ऐसी अनेक जनश्रुतियाँ भी दिमाग में घूम गईं और समझ में आया कि यदि इन घटनाओं के पीछे मेस्मेरिज्म स्तर की जादूगरी थी, तो 'महान' कैसे हो सकते हैं। ठण्डे प्रदेश में गुफा में रहना जैसी घटनाएँ भी कौतूहलवर्द्धक ही हैं। जो काम साधारण आदमी न कर सके, उसे कोई एक करामात की तरह कर दिखाए तो इसमें कहने भर की सिद्धाई है। मौन रहना, हाथ पर रखकर भोजन करना, एक हाथ ऊपर रखना, झूले पर पड़े-पड़े समय गुजारना जैसे असाधारण करतब दिखाने वाले बाजीगर सिद्ध हो सकते हैं, पर यदि कोई वास्तविक सिद्ध या शिष्य होगा तो उसे पुरातनकाल के लोक-मंगल के लिए जीवन-उत्सर्ग करने वाले ऋषियों के राजमार्ग पर चलना पड़ा होगा। आधुनिक काल में भी विवेकानन्द, दयानन्द, कबीर, चैतन्य, समर्थ की तरह उसी मार्ग पर चलना पड़ा। भगवान अपना नाम जपने वाले मात्र से प्रसन्न नहीं होते। न उन्हें पूजा-प्रसाद आदि की आवश्यकता है। जो उनके इस विश्व-उद्यान को सुरम्य, सुविकसित करने में लगते हैं, उन्हीं का नाम-जप सार्थक है। यह विचार मेरे मन में उसी वसन्त पर्व के दिन, दिन भर उठते रहे, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा था कि पात्रता में जो कमी है, उसे पूरा करने के साथ-साथ लोकमंगल का कार्य भी साथ-साथ करना है। एक के बाद दूसरा नहीं, दोनों साथ-साथ। चौबीस वर्ष का उपासनाक्रम समझाया। गायत्री पुरश्चरणों की शृंखला बताई। इसके साथ पालन करने योग्य नियम बताए, साथ ही स्वतन्त्रता संग्राम में एक सच्चे स्वयंसेवक की तरह काम करते रहने के लिए कहा।

उस दिन उन्होंने हमारा समूचा जीवनक्रम किस प्रकार चलना चाहिए; इसका स्वरूप एवं पूरा विवरण बताया। बताया ही नहीं, स्वयं लगाम हाथ में लेकर चलाया भी। चलाया ही नहीं,, हर प्रयास को सफल भी बनाया।

उसी दिन हमने सच्चे मन से उन्हें समर्पण किया। वाणी ने नहीं, आत्मा ने कहा- "जो कुछ पास में है, आपके निमित्त ही अर्पण। भगवान को हमने देखा नहीं, पर वह जो कल्याण कर सकता था, आप वही कर रहे हैं। इसलिए आप हमारे भगवान हैं। जो आज सारे जीवन का ढाँचा आपने बताया है, उसमें राई-रत्ती प्रमाद न होगा।"

उस दिन उन्होंने भावीजीवन सम्बन्धी थोड़ी-सी बातें विस्तार से समझाईं-(१) गायत्री महाशक्ति के चौबीस वर्ष में चौबीस महापुरश्चरण, (२) अखण्ड घृतदीप की स्थापना, (३) चौबीस वर्ष में एवं उसके बाद समय-समय पर क्रमबद्ध मार्गदर्शन के लिए चार बार हिमालय अपने स्थान पर बुलाना, प्राय: छह माह से एक वर्ष तक अपने समीपवर्ती क्षेत्र में ठहराना।

इस सन्दर्भ में और भी विस्तृत विवरण उनको बताना था, सो बता दिया। विज्ञ पाठकों को इतनी ही जानकारी पर्याप्त है, जितना ऊपर उल्लेख है। उनके बताए निर्देशानुसार सारे काम जीवन भर निभते चले गए एवं वे उपलब्धियाँ हस्तगत होती रहीं, जिन्होंने आज हमें वर्तमान स्थिति में ला बिठाया है।

## समर्थ गुरु की प्राप्ति-एक अनुपम सुयोग

रामकृष्ण, विवेकानन्द को ढूँढ़ते हुए उनके घर गए थे। शिवाजी को समर्थ गुरु रामदास ने खोजा था। चाणक्य चन्द्रगुप्त को पकड़कर लाए थे। गोखले गाँधी पर सवार हुए थे। हमारे सम्बन्ध में भी यही बात है। मार्गदर्शक सूक्ष्म शरीर से पन्द्रह वर्ष की आयु में घर आये थे और आस्था जगाकर उन्होंने दिशाविशेष पर लगाया था।

सोचता हूँ कि जब असंख्यों सद्गुरु की तलाश में फिरते और धूर्तों से सिर मुड़ाने के उपरान्त खाली हाथ वापस लौटते हैं, तब अपनी ही विशेषता थी जिसके कारण एक दिव्य शक्ति को बिना बुलाए स्वेच्छापूर्वक घर आना और अनुग्रह बरसाना पड़ा। इसका उत्तर एक ही हो सकता है कि जन्मान्तरों से पात्रता के अर्जन का प्रयास। यह प्राय: जल्दी नहीं हो पाता। व्रतशील होकर लम्बे समय तक कुसंस्कारों के विरुद्ध लड़ना होता है।

संकल्प, धैर्य और श्रद्धा का त्रिविध सुयोग अपनाए रहने पर मनोभूमि ऐसी बनती है कि अध्यात्म के दिव्य अवतरण को धारण कर सके। समय पात्रता विकसित करने में लगता है, गुरु मिलने में नहीं। एकलव्य के मिट्टी के द्रोणाचार्य असली की तुलना में कहीं अधिक कारगर सिद्ध होने लगे थे। कबीर को अछूत होने के कारण जब रामानन्द ने दीक्षा देने से इनकार कर दिया तो उन्होंने एक युक्ति निकाली। काशी घाट की जिन सीढ़ियों पर रामानन्द नित्य स्नान के लिए जाया करते थे, उन पर भोर होने से पूर्व ही कबीर जा लेटे, रामानन्द अन्धेरे में निकले तो पैर लड़के के सीने पर पड़ा। चौंके, राम-नाम कहते हुए पीछे हट गए। कबीर ने इसी को दीक्षा-संस्कार मान लिया और राम-नाम को मन्त्र तथा रामानन्द को गुरु कहने लगे। यह श्रद्धा का विषय है। जब पत्थर की प्रतिमा देवता बन सकती है तो श्रद्धा के बल पर किसी उपयुक्त व्यक्तित्व को गुरु क्यों नहीं बनाया जा सकता? आवश्यक नहीं कि इसके लिए विधिवत संस्कार कराया ही जाए, कान फुँकवाए ही जाएँ।

अध्यात्म प्रयोजनों के लिए गुरुस्तर के सहायक की इसलिए आवश्यकता पड़ती है कि उसे पिता और अध्यापक का दुहरा उत्तरदायित्व निभाना पड़ता है। पिता बच्चे को अपनी कमाई का एक अंश देकर पढ़ने की सारी साधन-सामग्री जुटाता है। अध्यापक उसके ज्ञान-अनुभव को बढ़ाता है। दोनों के सहयोग से ही बच्चे का निर्वाह और शिक्षण चलता है। भौतिक-निर्वाह की आवश्यकता तो पिता भी पूरी कर देता है, पर आत्मिक क्षेत्र में प्रगति के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, उसमें मन:स्थिति के अनुरूप मार्गदर्शन करने तथा सौंपे हुए कार्य को कर सकने के लिए आवश्यक सामर्थ्य गुरु अपने संचित तप-भण्डार में से निकालकर हस्तांतरित करता है। इसके बिना अनाथ बालक की तरह शिष्य एकाकी पुरुषार्थ के बलबूते उतना नहीं कर सकता जितना कि करना चाहिए। इसी कारण 'गुरु बिन होई न ज्ञान' की उक्ति अध्यात्म क्षेत्र में विशेष रूप से प्रयुक्त होती है।

दूसरे लोग गुरु तलाश करते फिरते भी हैं, पर सुयोग्य तक जा पहुँचने पर भी निराश होते हैं। स्वाभाविक है इतना घोर परिश्रम और कष्ट सहकर की गई कमाई ऐसे ही कुपात्र और विलास संग्रह, अहंकार, अपव्यय के लिए हस्तांतरित नहीं की जा सकती। देने वाले में इतनी बुद्धि भी होती है कि लेने वाले की प्रामाणिकता किस स्तर की है, जो दिया जा रहा है, उसका उपयोग किस कार्य में होगा। जो लोग इस कसौटी पर खोटे उतरते हैं, उनकी दाल नहीं गलती। इन्हें वे ही लोग मूँड़ते हैं, जिनके पास देने को कुछ नहीं है, मात्र शिकार फँसाकर शिष्य से जिस-तिस बहाने दान-दक्षिणा मूँड़ते रहते हैं। प्रसन्नता की बात है कि इस विडम्बना भरे प्रचलित कुचक्र में हमें नहीं फँसना पड़ा। हिमालय की एक सत्ता अनायास ही घर बैठे मार्गदर्शन के लिए आ गई और हमारा जीवन धन्य हो गया।

हमें इतने समर्थ गुरु अनायास ही कैसे मिले? इस प्रश्न का एक ही समाधान निकलता है कि उसके लिए लम्बे समय से जन्म-जन्मान्तरों में पात्रता-अर्जन की धैर्यपूर्वक तैयारी की गई। उतावली नहीं बरती गई। बातों में फँसकर किसी गुरु की जेब काट लेने जैसी उस्तादी नहीं बरती गई, वरन् यह प्रतीक्षा की गयी कि अपने को किसी पवित्र सरिता में मिलाकर अपनी हस्ती का उसी में समापन किया

जाए। किसी भौतिक प्रयोजन के लिए इस सुयोग की ताक-झाँक नहीं की जाए, वरन् बार-बार यही सोचा जाता रहे कि जीवन-सम्पदा की श्रद्धांजलि किसी देवता के चरणों में समर्पित करके धन्य बना जाए।

दयानन्द ने गुरु विरजानन्द की इच्छानुरूप अपने जीवन का उत्सर्ग किया था। विवेकानन्द अपनी सभी इच्छाएँ समाप्त करके गुरु को सन्तुष्ट करने वाले कष्टसाध्य कार्य में प्रवृत्त हुए थे। इसी में सच्ची गुरुभक्ति और गुरुदक्षिणा है। हनुमान ने राम को अपना समर्पण करके प्रत्यक्षतः तो सब कुछ खोया ही था, पर परोक्षतः वे सन्त तुल्य ही बन गए थे और वह कार्य करने लगे जो राम के ही बलबूते के थे। समुद्र छलाँगना, पर्वत उखाड़ना, लंका जलाना बेचारे हनुमान नहीं कर सकते थे। वे तो अपने स्वामी सुग्रीव को बालि के अत्याचार तक से छुड़ाने में समर्थ नहीं हो सके थे। समर्पण ही था, जिसने एकात्मता उत्पन्न कर दी। गन्दे नाले में थोड़ा गंगाजल गिर पड़े तो वह गन्दगी बन जाएगा, किन्तु यदि बहती हुई गंगा में थोड़ी गन्दगी जा भी मिले, तो फिर उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। जो बचेगा मात्र गंगाजल ही होगा। जो स्वयं समर्थ नहीं हैं, वे भी समर्थों के प्रति समर्पित होकर उन्हीं के समतुल्य बन गए हैं। ईंधन जब आग से लिपट जाता है, तो फिर उसकी हेय स्थिति नहीं रहती, वरन् अग्नि के समान प्रखरता आ जाती है। वह तद्रूप हो जाता है।

श्रद्धा का केन्द्र भगवान है और प्राप्त भी उसी को करना पड़ता है, पर उस अदृश्य के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए किसी दृश्यप्रतीक का सहारा लेना आवश्यक होता है। इस कार्य को देव-प्रतिमाओं के सहारे भी सम्पन्न किया जा सकता है और देहधारी गुरु यदि इस स्तर का है तो उस आवश्यकता की पूर्ति करा सकता है।

हमारे यह मनोरथ अनायास ही पूरे हो गए। अनायास इसलिए कि उसके लिए पिछले जन्मों से पात्रता उत्पन्न करने की पृथक साधना आरम्भ कर दी गई थी। कुण्डलिनी जागरण, ईश्वर-दर्शन, स्वर्ग-मुक्ति तो बहुत पीछे की वस्तु है। सबसे प्रथम दैवी-अनुदानों को पा सकने की क्षमता अर्जित करनी पड़ती है, अन्यथा जो वजन न उठ सके, जो भोजन न पच सके, वह उलटे और भी बड़ी विपत्ति खड़ी करता है।

प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ और उसके सच्चे-झूठे होने की परीक्षा भी तत्काल ही चल पड़ी। दो बातें विशेष रूप से कही गयीं- ''संसारी लोग क्या करते और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना। दूसरा यह है कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने के लिए तपश्चर्या में जुट जाना, चौबीस वर्ष के चौबीस गायत्री महापुरश्चरण के साथ जौ की रोटी और छाछ पर निर्वाह करने का अनुशासन रखा। सामर्थ्य विकसित होते ही यह सब कुछ मिलेगा, जो अध्यात्म मार्ग के साधकों को मिलता है, किन्तु मिलेगा विशुद्ध परमार्थ के लिए। तुच्छ स्वार्थों की सिद्धि में उन दैवी-अनुदानों को प्रयुक्त न किया जा सकेगा।'' बसन्त पर्व का यह दिन, गुरु-अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। याचकों की कमी नहीं, पर सत्पात्रों पर सब कुछ लुटा देने वाले सहृदयों की भी कमी नहीं। कृष्ण ने सुदामा पर सब कुछ जो लुटा दिया था। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।

## पिछले तीन जन्मों की एक झाँकी

पिछले जिन तीन जन्मों का दृश्य गुरुदेव ने हमें दिखाया, उनमें से प्रथम थे- सन्त कबीर, दूसरे समर्थ रामदास, तीसरे रामकृष्ण परमहंस । इन तीनों का कार्यकाल इस प्रकार रहा है, कबीर (सन् १३९८ से १५१८), समर्थ रामदास (सन् १६०८ से १६८१), श्री रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३६ से १८८७), यह तीनों ही भारत की सन्त-सुधारक परम्परा के उज्ज्वल नक्षत्र रहे हैं। उनके शरीरों द्वारा ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए जिससे देश, धर्म, समाज और संस्कृति का महान कल्याण हुआ।

भगवान के भक्त तीनों ही थे। इसके बिना आत्मबल की समर्थता और कषाय-कल्मषों का निराकरण कठिन है, किन्तु साथ ही भगवान के विश्व-उद्यान को सींचने और समुन्नत-सुविकसित करने की प्रक्रिया भी साथ-साथ ही चलनी चाहिए, तो इन तीनों के जीवनों में यह परम्पराएँ भलीप्रकार समाहित रहीं।

कबीर को एक मुसलमान जुलाहे ने तालाब के किनारे पड़ा हुआ पाया था। उन्हें कोई ब्राह्मणी अवैध सन्तान होने के कारण इस प्रकार छोड़ गई थी। जुलाहे ने उन्हें पाल लिया। वे सन्त तो आजीवन रहे, पर गुजारे के लिए रोटी अपने पैतृक व्यवसाय से कमाते रहे।

अपने बारे में उन्होंने लिखा है-

**काशी का मैं वासी ब्राह्मण, नाम मेरा परबीना।**
**एक बार हर नाम बिसारा, पकरि जुलाहा कीन्हा॥**
**भई मेरा कौन बुनेगा ताना॥**

कबीर ने तत्कालीन हिन्दू समाज की कुरीतियों और मत-मतान्तरों की विग्रह विडम्बनाओं को दूर करने के लिए प्राण-पण से प्रयत्न किए। उन पर 'इस्लाम विरोधी होने का इलजाम लगाया और हाथ-पैरों में लोहे की जंजीरें बाँधकर नदी में डलवा दिया गया, पर ईश्वर-कृपा से जंजीर टूट गई और वे जीवित बच गए। कुलवंश को लेकर उन्हें समाज का विग्रह सहना पड़ा, पर वे एकाकी अपने प्रतिपादन पर अड़े रहे। उन दिनों काशी में मृत्यु से स्वर्ग मिलने और मगहर में मरने पर नरक जाने की मान्यता प्रचलित थी। वे इसका खण्डन करने के लिए अन्तिम दिनों मगहर ही चले गए और वहीं शरीर छोड़ा । कबीर विवाहित थे। उनकी पत्नी का नाम लोई था, वह आजीवन उनके हर कार्य में उनके साथ रहीं। जीवन का एक भी दिन उन्होंने ऐसा न जाने दिया, जिसमें भ्रान्तियों के

निवारण और सत्परम्पराओं के प्रतिपादन में प्राण-पण से प्रयत्न न किया हो। विरोधियों में से कोई उन्हें तनिक भी न झुका सका।

मरते समय उनकी लाश को हिन्दू जलाना चाहते थे, मुसलमान दफनाना। इसी बात को लेकर विग्रह खड़ा हो गया। चमत्कार यह हुआ कि कफन के नीचे से लाश गायब हो गई। उसके स्थान पर फूल पड़े मिले। इनमें से आधों को मुसलमानों ने दफनाया और आधों को हिन्दुओं ने जलाया। दोनों ही सम्प्रदाय वालों ने उनकी स्मृति में भव्य भवन बनाए। कबीर पन्थ को मानने वाले लाखों व्यक्ति हिन्दुस्तान में हैं।

दूसरे समर्थ रामदास, महाराष्ट्र के उच्चस्तरीय सन्त थे। उन्होंने शिवाजी को स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ने के लिए तैयार किया। भवानी से अक्षय पराक्रम वाली तलवार दिलवाई, गाँव-गाँव घूमकर ७०० महावीर मन्दिर बनवाए, जिनमें हनुमान जी की प्रतिमा तो थी ही, साथ ही व्यायामशाला और सत्संग-प्रक्रिया भी नियमित रूप से चलती थी। इन देवालयों के माध्यम से शिवाजी को सैनिक, शस्त्र और धन मिलता था, ताकि स्वतन्त्रता संग्राम सफलतापूर्वक चलता रहे। शिवाजी ने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। उसकी गद्दी पर गुरु के खड़ाऊँ स्थापित किए और स्वयं प्रबन्धक मात्र रहे। शिवाजी द्वारा छेड़ा गया आन्दोलन बढ़ता ही गया और अन्त में गाँधीजी के नेतृत्व में भारत स्वतन्त्र होकर रहा।

तीसरे रामकृष्ण परमहंस, कलकत्ता के पास एक देहात में जन्मे थे। वे कलकत्ता दक्षिणेश्वर मन्दिर में पूजा करते थे। हजारों जिज्ञासु नित्य उनके पास आकर ज्ञान-पिपासा तृप्त करते थे और उनके आशीर्वाद-अनुदानों से लाभ उठाते थे। उनकी धर्मपत्नी शारदामणि थी।

उन्होंने नरेन्द्र के रूप में सुपात्र पाया और संन्यास देकर विवेकानन्द नाम दिया और देश-देशान्तरों में भारतीय संस्कृति की गरिमा समझाने भेजा। देश में शिक्षित वर्ग ईसाई एवं नास्तिक बनता चला जा रहा था। विवेकानन्द के प्रवचनों से लाखों के मस्तिष्क सुधरे, उन्होंने संसार भर में रामकृष्ण परमहंस मिशन की स्थापनाएँ कीं, जो पीड़ा निवारण की सेवा करता है। विवेकानन्द स्मारक कन्याकुमारी पर जहाँ उन्हें नव-जाग्रति का सन्देश गुरु से मिला था, बना है एवं देखने ही योग्य है।

यह एक आत्मा के विभिन्न शरीरों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त अन्यान्य आत्माओं में प्रेरणाएँ भरकर उस दैवीसत्ता ने समय-समय पर उनसे बड़े-बड़े काम कराए। चैतन्य महाप्रभु बंगाल के एवं बापा जलाराम गुजरात के उन्हीं के संरक्षण में ऊँची स्थिति तक पहुँचे और देश को ऊँचा उठाने में भगवद् भक्ति को उसके वास्तविक स्वरूप में जन-जन तक पहुँचाने में उस अन्धकार युग में अभिनव सूर्योदय का काम किया।

यह तीन प्रधान जन्म थे, जिनकी हमें जानकारी दी गयी। इनके बीच-बीच मध्यकाल में हमें और भी महत्त्वपूर्ण जन्म लेने पड़े हैं, पर वे इतने प्रख्यात नहीं हैं, जितने उपर्युक्त तीन। हमें समग्र जीवन की रूपरेखा इन्हीं में दिखाई गई और बताया गया कि गुरुदेव इन जन्मों में हमें किस प्रकार अपनी सहायता पहुँचाते, ऊँचा उठाते और सफल बनाते रहे हैं।

अधिक जानने की अपनी इच्छा नहीं हुई। जब समझ लिया गया कि इतनी महान आत्मा स्वयं पहुँच-पहुँचकर सत्पात्र आत्माओं को ढूँढती और उनके द्वारा बड़े काम कराती रही है, तो हमारे लिए इस जन्म में भी यही उचित है कि एक का पल्ला पकड़ें, एक नाव में बैठें और अपनी निष्ठा डगमगाने न दें। इन तीन महान जन्मों के माध्यम से जो समय बचा, उसे हमें कहाँ-कहाँ किस रूप में, कैसे खर्च करना पड़ा यह पूछने का अर्थ उन पर अविश्वास व्यक्त करना था। अनेक गवाहियाँ माँगना था। हमारे सन्तोष के लिए यह तीन जन्म ही पर्याप्त थे।

महान कार्यों का बोझ-उत्तरदायित्व सँभालने वाले को समय-समय पर अनेक प्रकार के असाधारण पराक्रम दिखाने पड़ते हैं। यह हमारे साथ भी घटित होता रहा है। दौड़-दौड़कर गुरुदेव सहायता के लिए पहुँचते रहे हैं। हमारी नन्हीं-सी सामर्थ्य में अपनी महती सामर्थ्य मिलाते रहे हैं, संकटों से बचाते रहे हैं, लड़खड़ाते पैरों को सँभालते रहे हैं। इन तीन जन्मों की घटनाओं से ही पूरी तरह विश्वास हो गया। इसलिए उसी दिन निश्चय कर लिया कि अपना जीवन अब इन्हीं के चरणों में समर्पित रहेगा। इन्हीं के संकेतों पर चलेगा।

इस जन्म में उन्होंने हमें धर्मपत्नी समेत पाया और कहा- "इस विषम समय में आध्यात्मिक जीवन धर्मपत्नी समेत अधिक अच्छी तरह बिताया जा सकता है। विशेषतया जब तुम्हें आगे चलकर आश्रम बनाकर शिक्षा-व्यवस्था बनानी हो। ऋषि-व्यवस्था में माता द्वारा भोजन, निवास, स्नेह-दुलार आदि का प्रबन्ध और पिता द्वारा अनुशासन अध्यापन, मार्गदर्शन का कार्य चलने में सुविधा रहती है।"

# मार्गदर्शक द्वारा भावी जीवनक्रम सम्बन्धी निर्देश

हमारा अनुभव यह रहा है कि जितनी उत्सुकता साधकों को सिद्धपुरुष खोजने की होती है, उससे असंख्यों गुनी उत्कण्ठा सिद्धपुरुषों को सुपात्र साधकों की तलाश करने के निमित्त होती है। साधक सत्पात्र चाहिए। जिसने अपना चिन्तन, चरित्र और व्यवहार परिष्कृत कर लिया हो, वही सच्चा साधक है। उसे मार्गदर्शक खोजने नहीं पड़ते, वरन् वे दौड़कर स्वयं उनके पास आते और उँगली पकड़कर आगे चलने का रास्ता बताते हैं। जहाँ वे लड़खड़ाते हैं-वहाँ गोदी में उठाकर, कन्धे पर बिठाकर

पार लगाते हैं। हमारे सम्बन्ध में यही हुआ है। घर बैठे पधारकर अधिक सामर्थ्यवान बनाने के लिए २४ वर्ष का गायत्री पुरश्चरण उन्होंने कराया एवं उसकी पूर्णाहुति में सहस्र कुण्डी गायत्री यज्ञ सम्पन्न कराया है। धर्मतन्त्र से लोक-शिक्षण के लिए एक लाख अपरिचित व्यक्तियों को परिचित ही नहीं घनिष्ट बनाकर, कन्धे से कन्धा, कदम से कदम मिलाकर चलने योग्य बना दिया।

अपने प्रथम दर्शन में ही चौबीस महापुरश्चरण पूरे होने एवं चार बार एक-एक वर्ष के लिए हिमालय बुलाने की बात गुरुदेव ने कही।

हमें हिमालय पर बार-बार बुलाए जाने के कई कारण थे, एक यह जानना कि सुनसान प्रकृति के सान्निध्य में, प्राणियों एवं सुविधाओं के अभाव में आत्मा को एकाकीपन कहीं अखरता तो नहीं? दूसरे यह कि इस क्षेत्र में रहने वाले हिंस्र पशुओं के साथ मित्रता बना सकने लायक आत्मीयता विकसित हुई या नहीं, तीसरे वह समूचा क्षेत्र देवात्मा है। उसमें ऋषियों ने मानवी-काया में रहते हुए देवत्व उभारा और देवमानव के रूप में ऐसी भूमिकाएँ निभायीं, जो साधन- सहयोग के अभाव में साधारणजनों के लिए कर सकना सम्भव नहीं थीं। उनसे हमारा प्रत्यक्षीकरण कराया जाना था।

उनका मूक निर्देश था कि अगले दिनों उपलब्ध आत्मबल का उपयोग हमें ऐसे ही प्रयोजन के लिए एक साथ करना है, जो ऋषियों ने समय-समय पर तात्कालिक समस्याओं के समाधान के निमित्त अपने प्रबल पुरुषार्थ से सम्पन्न किया है। यह समय ऐसा है जिसमें अगणित अभावों की एक साथ पूर्ति करनी है। साथ ही एक साथ चढ़ दौड़ी अनेकानेक विपत्तियों से जूझना है, यह दोनों ही कार्य इसी उत्तराखण्ड-कुरुक्षेत्र में पिछले दिनों सम्पन्न हुए हैं। पुरातन देवताओं, ऋषियों में से कुछ आंशिक रूप से सफल हुए हैं, कुछ असफल भी रहे हैं। इस बार एकाकी वे सब प्रयत्न करने और समय की माँग को पूरा करना है। इसके लिए जो मोर्चेबन्दी करनी है, उसकी झलक-झाँकी समय रहते कर ली जाए, ताकि कन्धों पर आने वाले उत्तरदायित्वों की पूर्व जानकारी रहे और पूर्वज किस प्रकार दाँव-पेंच अपनाकर विजयश्री को वरण करते रहे हैं, इस अनुभव से कुछ न कुछ सरलता मिले। यह तीनों ही प्रयोजन समझने, अपनाने और परीक्षा में उत्तीर्ण होने के निमित्त ही हमारी भावी हिमालय यात्राएँ होनी हैं, ऐसा उनका निर्देश था। आगे उन्होंने बताया कि- "हम लोगों की तरह तुम्हें भी सूक्ष्म शरीर के माध्यम से अति महत्त्वपूर्ण कार्य करने होंगे। इसका पूर्वाभ्यास करने के लिए यह सीखना होगा कि स्थूल शरीर से हिमालय के किस भाग में, कितने समय तक किस प्रकार ठहरा जा सकता है और निर्धारित उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न रहा जा सकता है।"

"सहज शीत-ताप के मौसम में, जीवनोपयोगी सभी वस्तुएँ मिल जाती हैं, शरीर पर भी ऋतुओं का असह्य दबाव नहीं पड़ता, किन्तु हिमालय क्षेत्र के सुविधाओं वाले प्रदेश में स्वल्प-साधनों के सहारे कैसे रहा जा सकता है, यह भी एक कला है, साधना है। जिस प्रकार नट शरीर को साधकर अनेक प्रकार के कौतूहलों का अभ्यास कर लेते हैं, लगभग उसी प्रकार का वह अभ्यास है, जिसमें नितान्त एकाकी रहना पड़ता है। पत्तियों और कन्दों के सहारे निर्वाह करना पड़ता है और हिंस्र जीव-जन्तुओं के बीच रहते हुए अपने प्राणों को बचाना पड़ता है।

जब तक स्थूल शरीर है तभी तक यह झंझट है। सूक्ष्म शरीर में चले जाने पर वे आवश्यकताएँ समाप्त हो जाती हैं, जो स्थूल शरीर के साथ जुड़ी हुई हैं। सर्दी-गर्मी से बचाव, क्षुधा-पिपासा का निवारण, निद्रा और थकान का दबाव यह सब झंझट उस स्थिति में नहीं रहते हैं। पैरों से चलकर मनुष्य थोड़ी दूर जा पाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर के लिए एक दिन में सैकड़ों योजनों की यात्रा सम्भव है। एक साथ, एक मुख से सहस्रों व्यक्तियों के अन्तःकरणों तक अपना सन्देश पहुँचाया जा सकता है। दूसरों की इतनी सहायता सूक्ष्म शरीरधारी कर सकते हैं, जो स्थूल शरीर रहते सम्भव नहीं। इसलिए सिद्धपुरुष सूक्ष्म शरीर द्वारा काम करते हैं। उनकी साधनाएँ भी स्थूल शरीर वालों की अपेक्षा भिन्न हैं।"

"स्थूल शरीरधारियों की एक छोटी सीमा है। उनकी बहुत सारी शक्ति तो शरीर की आवश्यकताएँ जुटाने में, दुर्बलता, रुग्णता, जीर्णता आदि के व्यवधानों से निपटने में खर्च हो जाती है, किन्तु लाभ यह है कि प्रत्येक दृश्यमान कार्य स्थूल शरीर से ही हो पाते हैं। इस स्तर के व्यक्तियों के साथ घुलना-मिलना, आदान-प्रदान इसी के सहारे सम्भव है। इसलिए जन-साधारण के साथ सम्पर्क साधे रहने के लिए प्रत्यक्ष शरीर से ही काम लेना पड़ता है। फिर वह जरा-जीर्ण हो जाने पर अशक्त हो जाता है और त्यागना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा आरम्भ किए गए काम अधूरे रह जाते हैं। इसलिए जिन्हें लम्बे समय तक ठहरना है और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के अन्तराल में प्रेरणाएँ एवं क्षमताएँ देकर बड़े काम कराते रहना है, उन्हें सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करना पड़ता है।"

"जब तक तुम्हारे स्थूल शरीर की उपयोगिता रहेगी, तभी तक वह काम करेगा। इसके उपरान्त इसे छोड़कर सूक्ष्म शरीर में चला जाना होगा, तब साधनाएँ भिन्न होंगी, क्षमताएँ बढ़ी-चढ़ी होंगी। विशिष्ट व्यक्तियों से सम्पर्क रहेगा। बड़े काम इसी प्रकार हो सकेंगे।"

गुरुदेव ने कहा- "उचित समय आने पर तुम्हारा परिचय देवात्मा हिमालय क्षेत्र से कराना है। गोमुख से पहले सन्त महापुरुष स्थूल शरीर समेत निवास करते हैं। इस क्षेत्र में भी कई प्रकार की कठिनाइयाँ हैं। इनके बीच निर्वाह करने का अभ्यास करने के लिए, एक-एक साल वहाँ निवास करने का क्रम बना देने की योजना बनाई है। इसके अतिरिक्त हिमालय का हृदय, जिसे अध्यात्म का ध्रुव केन्द्र कहते हैं उसमें चार-चार दिन ठहरना होगा, हम

साथ रहेंगे। स्थूल शरीर जैसी स्थिति सूक्ष्म शरीर की बनाते रहेंगे। वहाँ कौन रहता है? किस स्थिति में रहता है, तुम्हें कैसे रहना होगा? यह भी तुम्हें विदित हो जाएगा। दोनों शरीरों का, दोनों क्षेत्रों का अनुभव क्रमशः बढ़ते रहने में तुम उस स्थिति में पहुँच जाओगे, जिसमें ऋषि अपने निर्धारित संकल्पों की पूर्ति में संलग्न रहते हैं। संक्षेप में यही है तुम्हें चार बार हिमालय बुलाने का उद्देश्य। इसके लिए जो अभ्यास करना पड़ेगा, जो परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ेगी, यह उद्देश्य भी इसी बुलावे का है। तुम्हारी यहाँ पुरश्चरण साधना में इस विशिष्ट प्रयोग से कोई विघ्न न पड़ेगा।

''सूक्ष्म शरीरधारी उसी क्षेत्र में इन दिनों निवास करते हैं। पिछले हिमयुग के बाद परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। जहाँ धरती का स्वर्ग था, यहाँ का वातावरण अब देवात्माओं के उपयुक्त नहीं रहा, इसलिए वे अन्तरिक्ष में रहते हैं।''

''पूर्वकाल में ऋषिगण गोमुख से ऋषिकेश तक अपनी-अपनी रुचि और सुविधाओं के अनुसार रहते थे। वह क्षेत्र अब पर्यटकों, तीर्थयात्रियों और व्यवसाइयों से भर गया है। इसलिए उसे उन्हीं लोगों के लिए छोड़ दिया गया है। अनेकों देवमन्दिर बन गये हैं ताकि यात्रियों का कौतूहल, पुरातनकाल का इतिहास और निवासियों का निर्वाह चलता रहे।''

हमें बताया गया कि थियोसोफी की संस्थापिका ब्लैवेट्स्की सिद्धमहिला थीं। ऐसी मान्यता है कि वे स्थूल शरीर में रहते हुए भी सूक्ष्म शरीरधारियों के सम्पर्क में थीं। उन्होंने अपनी पुस्तकों में लिखा है कि दुर्गम हिमालय में 'अदृश्य सिद्धपुरुषों की पार्लियामेण्ट' है। इसी प्रकार उस क्षेत्र के दिव्य निवासियों को 'अदृश्य सहायक' भी कहा गया है। गुरुदेव ने कहा कि-''वह सब सत्य है, तुम अपने दिव्यचक्षुओं से यह सब उसी हिमालय क्षेत्र में देखोगे, जहाँ हमारा निवास है।'' तिब्बत क्षेत्र उन दिनों हिमालय की परिधि में आता था। अब वह परिधि घट गई है, तो भी ब्लैवेट्स्की का कथन सत्य है। स्थूल शरीरधारी उसे देख नहीं पाते, पर हमें अपने मार्गदर्शक गुरुदेव की सहायता से उसे देख सकने का आश्वासन मिल गया।

गुरुदेव ने कहा- ''हमारे बुलावे की प्रतीक्षा करते रहना। जब परीक्षा की स्थिति के लिए उपयुक्तता एवं आवश्यकता समझी जाएगी, तभी बुलाया जाएगा। अपनी ओर से उसकी इच्छा या प्रतीक्षा मत करना। अपनी ओर से जिज्ञासावश उधर प्रयाण भी मत करना। यह सब निरर्थक रहेगा। तुम्हारे समर्पण के उपरान्त वह जिम्मेदारी हमारी हो जाती है।'' इतना कहकर वे अन्तर्द्धान हो गए।

## दिए गए कार्यक्रमों का प्राणपण से निर्वाह

इस प्रथम साक्षात्कार के समय मार्गदर्शक सत्ता द्वारा तीन कार्यक्रम दिए गए थे। सभी नियमोपनियमों के साथ २४ वर्ष का २४ गायत्री महापुरश्चरण सम्पन्न किया जाना था। अखण्ड घृत दीपक को भी साथ-साथ निभाना था। अपनी पात्रता में क्रमशः कमी पूरी करने के साथ लोकमंगल की भूमिका निभाने हेतु साहित्य-सृजन करना दूसरा महत्त्वपूर्ण दायित्व था इसके लिए गहन स्वाध्याय भी करना था, जो एकाग्रता सम्पादन की साधना थी। साथ ही जन-सम्पर्क का भी कार्य करना था ताकि भावी कार्यक्षेत्र को दृष्टिगत रखते हुए हमारी संगठन क्षमता विकसित हो। तीसरा महत्त्वपूर्ण दायित्व था, स्वतन्त्रता संग्राम में एक स्वयंसेवी सैनिक की भूमिका निभाना। देखा जाए तो सभी दायित्व शैली एवं स्वरूप की दृष्टि से परस्पर विरोधी थे, किन्तु साधना एवं स्वाध्याय की प्रगति में इनमें से कोई बाधक नहीं बने, जबकि इस बीच हमें दो बार हिमालय भी जाना पड़ा। अपितु सभी साथ-साथ सहज ही ऐसे सम्पन्न होते चले गए कि हमें स्वयं इनके क्रियान्वयन पर अब आश्चर्य होता है। इसका श्रेय उस दैवी मार्गदर्शक सत्ता को जाता है, जिसने हमारे जीवन की बागडोर प्रारम्भ से ही अपने हाथों में ले ली थी एवं सतत् संरक्षण का आश्वासन दिया।

ऋषि दृष्टिकोण की दीक्षा जिस दिन मिली, उसी दिन यह भी कह दिया गया कि यह परिवार सम्बद्ध तो है, पर विजातीय द्रव्य की तरह है, बचने योग्य। इसके तर्क, प्रमाणों की ओर से कान बन्द किए रहना ही उचित रहेगा। इसलिए सुननी तो सबकी चाहिए, पर करनी मन की। उनके परामर्श को, आग्रह को वजन या महत्त्व दिया गया और उन्हें स्वीकारने का मन बनाया गया तो फिर लक्ष्य तक पहुँचना कठिन है। श्रेय और प्रेय की दोनों दिशाएँ एक-दूसरे के प्रतिकूल जाती हैं। दोनों में से एक ही अपनायी जा सकती है। संसार प्रसन्न होगा तो आत्मा रूठेगी। आत्मा को सन्तुष्ट किया जाएगा तो संसार की, निकटस्थों की नाराजगी सहन करनी पड़ेगी। आमतौर से यही होता रहेगा। कदाचित ही कभी कहीं ऐसे सौभाग्य बने हैं जब सम्बन्धियों ने आदर्शवादिता अपनाने का अनुमोदन दिया हो। आत्मा को तो अनेकों बार संसार के सामने झुकना पड़ा है। ऊँचे निश्चय बदलने पड़े हैं और पुराने ढर्रे पर आना पड़ा है।

यह कठिनाई अपने सामने पहले दिन से ही आई। बसन्त पर्व को जिस दिन नया जन्म मिला, उसी दिन नया कार्यक्रम भी। पुरश्चरणों की शृंखला के साथ-साथ आहार-विहार के तपस्वी स्तर के अनुबन्ध भी। तहलका मचा, जिसने सुना अपने-अपने ढंग से समझाने लगा। मीठे और कड़वे शब्दों की वर्षा होने लगी। मन्तव्य एक ही था कि जिस तरह सामान्यजन जीवनयापन करते हैं, कमाते-खाते हैं, वही राह उचित है। ऐसे कदम न उठाए जाएँ, जिनसे इन दोनों में व्यवधान पड़ता हो। यद्यपि पैतृक सम्पदा इतनी थी कि उसके सहारे तीन पीढ़ी तक घर बैठकर गुजारा हो सकता था, पर उस तर्क को कोई सुनने तक के लिए तैयार न हुआ। नया कमाओ, नया खाओ, जो पुराना

है, उसे भविष्य के लिए, कुटुम्बियों के लिए जमा रखो। सब लोग अपने-अपने शब्दों में एक ही बात कहते थे। अपना मुँह एक, सामने वाले के सौ। किस-किस को कहाँ तक जवाब दिया जाए? अन्त में हारकर गाँधीजी के तीन गुरुओं में से एक को अपना भी गुरु बना लिया। मौन रहने से राहत मिली। 'भगवान की प्रेरणा' कह देने से थोड़ा काम चल पाता, क्योंकि उसे काटने के लिए उन सबके पास बहुत पैने तर्क नहीं थे। नास्तिकवाद तक उतर आने या अन्तःप्रेरणा का खण्डन करने लायक तर्क उनमें से किसी ने भी नहीं सीखे-समझे थे। इसलिए बात ठण्डी पड़ गयी। मैंने अपना संकल्पित व्रत इस प्रकार चालू कर दिया, मानो किसी को जवाब देना ही नहीं था। किसी का परामर्श लेना ही नहीं था। अब सोचता हूँ कि उतनी दृढ़ता न अपनायी गई होती, तो नाव दो-चार झकझोरे खाने के उपरान्त ही डूब जाती। जिस साधना-बल के सहारे आज अपना और दूसरों का कुछ भला बन पड़ा, उसका सुयोग ही न आता। ईश्वर के साथ वह नाता जुड़ता ही नहीं, जो पवित्रता और प्रखरता से कम में जड़ें जमाने की स्थिति में होता ही नहीं।

इसके बाद दूसरी परीक्षा बचपन में ही तब सामने आई, जब काँग्रेस का असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। गाँधीजी ने सत्याग्रह आन्दोलन का बिगुल बजाया। देशभक्तों का आह्वान किया और जेल जाने, गोली खाने के लिए घर से निकल पड़ने के लिए कहा।

मैंने अन्तरात्मा की पुकार सुनी और समझा कि यह ऐतिहासिक अवसर है। इसे किसी भी कारण चुकाया नहीं जाना चाहिए। मुझे सत्याग्रहियों की सेना में भर्ती होना ही चाहिए। अपनी मर्जी से उस क्षेत्र के भर्तीकेन्द्र में नाम लिखा दिया। साधन सम्पन्न घर छोड़कर नमक सत्याग्रह के लिए निर्धारित मोर्चे पर जाना था। उन दिनों गोली चलने की चर्चा बहुत जोरों से थी। लम्बी सजाएँ, कालापानी होने की भी ऐसी अफवाहें सरकारी पक्ष के, किराए के प्रचारक जोरों से फैला रहे थे ताकि कोई सत्याग्रही बने नहीं। घर वाले उसकी पूरी-पूरी रोकथाम करें। मेरे सम्बन्ध में भी यही हुआ। समाचार विदित होने पर मित्र, पड़ोसी, कुटुम्बी, सम्बन्धी एक भी न बचा, जो विपत्ति से बचाने के लिए, जोर लगाने के लिए न आया हो। उनकी दृष्टि से यह आत्महत्या जैसा प्रयास था।

बात बढ़ते-बढ़ते जवाबी आक्रमण तक की आयी, किसी ने अनशन की धमकी दी, तो किसी ने आत्महत्या। हमारी माताजी अभिभावक थीं। उन्हें यह पट्टी पढ़ाई गयी कि लाखों की पैतृक सम्पत्ति से वे मेरा नाम खारिज कराकर अन्य भाइयों के नाम कर दें। भाइयों ने कहा- घर से कोई रिश्ता न रहेगा और उसमें प्रवेश भी न मिलेगा। इसके अतिरिक्त भी और कई प्रकार की धमकियाँ दीं। उठाकर ले जाया जाएगा और डाकुओं के नियन्त्रण में रहने के लिए बाधित कर दिया जाएगा।

इन मीठी-कड़वी धमकियों को मैं शान्तिपूर्वक सुनता रहा। अन्तरात्मा के सामने एक ही प्रश्न रहा कि समय की पुकार बड़ी है या परिवार का दबाव। अन्तरात्मा की प्रेरणा बड़ी है या मन को इधर-उधर डुलाने वाली असमंजस की स्थिति। अन्तिम निर्णय किससे कराता? आत्मा और परमात्मा दो को ही साक्षी बनाकर और उनके निर्णय को ही अन्तिम मानने का फैसला किया।

इस सन्दर्भ में प्रह्लाद का फिल्मचित्र आँखों के आगे तैरने लगा। वह समाप्त न होने पाया था कि ध्रुव की कहानी मस्तिष्क में तैरने लगी। इसका अन्त न होने पाया कि पार्वती का निश्चय उछलकर आगे आ गया। इस आरम्भ के उपरान्त महामानवों की, वीर-बलिदानियों की, सन्त-सुधारक और शहीदों की अगणित कथा-गाथाएँ सामने तैरने लगीं। उनमें से किसी के भी घर-परिवार वालों ने, मित्र-सम्बन्धियों ने समर्थन नहीं किया था। वे अपने एकाकी आत्मबल के सहारे कर्त्तव्य की पुकार पर आरूढ़ हुए और दृढ़ रहे। फिर यह सोचना व्यर्थ है कि इस समय अपने इर्द-गिर्द के लोग क्या करते और क्या कहते हैं? उनकी बात सुनने से आदर्श नहीं निभेंगे। आदर्श निभाने हैं तो अपने मन की ललक-लिप्साओं से जूझना पड़ेगा। इतना ही नहीं इर्द-गिर्द जुड़े हुए उन लोगों की भी उपेक्षा करनी पड़ेगी, जो मात्र पेट-प्रजनन के कुचक्र में ही घूमते और घुमाते रहे हैं।

निर्णय आत्मा के पक्ष में गया। मैं अनेक विरोध और प्रतिबन्धों को तोड़ता, लुक-छिपकर निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा और सत्याग्रही की भूमिका निभाता हुआ जेल चला गया। जो भय का काल्पनिक आतंक बनाया गया था, उसमें से एक भी चरितार्थ नहीं हुआ।

छुटपन की एक घटना इन दोनों प्रयोजनों में और भी साहस देती रही। गाँव में एक बुढ़िया मेहतरानी घावों से पीड़ित थी। दस्त भी हो रहे थे। घावों में कीड़े पड़ गए थे। बेतरह चिल्लाती थी, पर कोई छूत के कारण उसके घर में घुसता न था। मैंने एक चिकित्सक से उपचार पूछा। दवाओं का एकाकी प्रबन्ध किया, उसके घर नियमित रूप से जाने लगा। चिकित्सा के लिए भी, परिचर्या के लिए भी, भोजन व्यवस्था के लिए भी। यह सारे काम मैंने अपने जिम्मे ले लिए। मेहतरानी के घर में घुसना, उसके मल-मूत्र से सने कपड़े धोना आज से ६५ पूर्व गुनाह था। जाति-बहिष्कार कर दिया गया। घर वालों तक ने प्रवेश न करने दिया- चबूतरे पर पड़ा रहता और जो कुछ घर वाले दे जाते, उसी को खाकर गुजारा करता। इतने पर भी मेहतरानी की सेवा नहीं छोड़ी। यह पन्द्रह दिन चली और वह अच्छी हो गई। वह जब तक जियी मुझे भगवान कहती रही। उन दिनों १३ वर्ष की आयु में भी मैं अकेला था। सारा घर और सारा गाँव एक ओर। लड़ता रहा, हारा नहीं। अब तो उम्र कई वर्ष और अधिक हो गई थी। अब क्यों हारता ?

स्वतन्त्रता संग्राम की कई बार जेलयात्रा, २४ महापुरश्चरणों का व्रतधारण, इसके साथ ही मेहतरानी की सेवा-साधना, यह तीन परीक्षाएँ, मुझे छोटी उम्र में ही पास करनी पड़ीं । आन्तरिक दुर्बलताओं और सम्बद्ध परिजनों के दुहरे मोर्चे पर एक साथ लड़ा। उस आत्म-विजय का ही परिणाम है कि आत्मबल संग्रह में अधिक लाभ से लाभान्वित होने का अवसर मिला। उन घटनाक्रमों से हमारा आपा बलिष्ठ होता चला गया एवं वे सभी कार्यक्रम हमारे द्वारा बखूबी निभते चले गए, जिनका हमें संकल्प दिलाया गया था।

महापुरश्चरणों की शृंखला नियमित रूप से चलती रही। जिस दिन गुरुदेव के आदेश से उस साधना का शुभारम्भ किया था, उसी दिन घृतदीप की 'अखण्ड-ज्योति' भी स्थापित की। उसकी जिम्मेदारी हमारी धर्मपत्नी ने सँभाली, जिन्हें हम भी माताजी के नाम से पुकारते हैं। छोटे बच्चे की तरह उस पर हर घड़ी ध्यान रखे जाने की आवश्यकता पड़ती थी, अन्यथा वह बच्चे की तरह मचल सकता था, बुझ सकता था। वह अखण्ड दीपक इतने लम्बे समय से बिना किसी व्यवधान के अब तक नियमित जलता रहा है। इसके प्रकाश में बैठकर जब भी साधना करते हैं, तो मन:क्षेत्र में अनायास ही दिव्य भावनाएँ उठती रहती हैं। कभी किसी उलझन को सुलझाना अपनी सामान्य बुद्धि के लिए सम्भव नहीं होता तो इस 'अखण्ड-ज्योति' की प्रकाश किरण अनायास ही उस उलझन को सुलझा देती हैं।

नित्य ६६ माला का जप, गायत्री माता के चित्र-प्रतीक का धूप, दीप, नैवेद्य, अक्षत, पुष्प से पूजन। जप के साथ-साथ प्रातःकाल के उदीयमान सविता देवता का ध्यान। अन्त में सूर्यार्घ्य दान। इतनी छोटी-सी विधि-व्यवस्था अपनाई गई। उसके साथ बीज-मन्त्र सम्पुट आदि का कोई तांत्रिक विधि-विधान जोड़ा नहीं गया, किन्तु श्रद्धा अटूट रही। सामने विद्यमान गायत्री माता के चित्र के प्रति असीम श्रद्धा उमड़ती रही। लगता रहा कि वे साक्षात सामने बैठी हैं। कभी-कभी उनके आँचल में मुँह छिपाकर प्रेमाश्रु बहाने के लिए मन उमड़ता। कभी ऐसा नहीं हुआ कि मन न लगा हो। कहीं अन्यत्र भागा हो। तन्मयता निरन्तर प्रगाढ़ स्तर की बनी रही। समय पूरा हो जाता तो अलग अलार्म बजता, अन्यथा उठने को जी ही नहीं करता था। उपासनाक्रम में कभी एक दिन भी विघ्न न आया।

यही बात अध्ययन के सम्बन्ध में रही। उसके लिए अतिरिक्त समय न निकालना पड़ा। काँग्रेस कार्यों के लिए प्राय: काफी-काफी दूर चलना पड़ता। जब परामर्श या कार्यक्रम का समय आता, तब पढ़ना बन्द हो जाता। जहाँ चलना आरम्भ हुआ, वहीं पढ़ना भी आरम्भ हो गया। पुस्तक साइज के चालीस पन्ने प्रतिघण्टे पढ़ने की स्पीड रही। कम से कम दो घण्टे नित्य पढ़ने के लिए मिल जाते। कभी-कभी ज्यादा भी। इस प्रकार दो घण्टे रुचि में ८० पृष्ठ। महीने में ४८०० पृष्ठ। सालभर में ५८ हजार पृष्ठ। साठ वर्ष की कुल अवधि में ३५ लाख पृष्ठ हमने मात्र अपनी अभिरुचि के पढ़े हैं। लगभग तीन हजार पृष्ठ नित्य विहंगम रूप से पढ़ लेने की बात भी हमारे लिए स्नान-भोजन की तरह आसान व सहज रही है। यह क्रम प्राय: ६० वर्ष से अधिक समय से चलता आ रहा है और इतने दिन में अगणित पृष्ठ उन पुस्तकों के पढ़ डाले, जो हमारे लिए आवश्यक विषयों से सम्बन्धित थे। महापुरश्चरणों की समाप्ति के बाद समय अधिक मिलने लगा। तब हमने भारत के विभिन्न पुस्तकालयों में जाकर ग्रन्थों, पाण्डुलिपियों का अध्ययन किया, वह हमारे लिए अमूल्य निधि बन गई।

मनोरंजन के लिए एक पन्ना भी कभी नहीं पढ़ा है। अपने विषयों में मानो प्रवीणता की उपाधि प्राप्त करनी हो, ऐसी तन्मयता से पढ़ा है। इसलिए पढ़े हुए विषय मस्तिष्क में एकीभूत हो गए। जब भी कोई लेख लिखते थे या पूर्व में वार्त्तालाप में किसी गम्भीर विषय पर चर्चा करते थे, तो पढ़े हुए विषय अनायास ही स्मरण हो आते थे। लोग पीठ पीछे कहते हैं-"यह तो चलता-फिरता एन-साइक्लोपीडिया है।" 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका के लेख पढ़ने वाले उसमें इतने सन्दर्भ पाते हैं कि लोग आश्चर्यचकित होकर रह जाते हैं और सोचते हैं कि एक लेख के लिए न जाने कितनी पुस्तकों और पत्रिकाओं को पढ़ा होगा। पर सच बात इतनी ही है कि हमने जो भी पढ़ा है, उपयोगी पढ़ा है और पूरा मन लगाकर पढ़ा है। इसलिए समय पर सारे सन्दर्भ अनायास ही स्मृतिपटल पर उठ आते हैं। यह वस्तुत: हमारी तन्मयता से की गई साधना का चमत्कार है।

जन्मभूमि के गाँव में प्राथमिक पाठशाला थी। सरकारी स्कूल की दृष्टि से इतना ही पढ़ा है। संस्कृत हमारी वंश-परम्परा में घुसी हुई है। पिताजी संस्कृत के असाधारण प्रकाण्ड विद्वान थे, भाई भी। सबकी रुचि भी उसी ओर थी। फिर हमारा पैतृक व्यवसाय पुराणों की कथा कहना तथा पौरोहित्य रहा है, सो उस कारण उसका भी समुचित ज्ञान हो गया। आचार्य तक के विद्यार्थियों को हमने पढ़ाया है, जबकि हमारी स्वयं की डिग्रीधारी योग्यता नहीं थी।

इसके बाद अन्य भाषाओं के पढ़ने की कहानी मनोरंजक है। जेल में लोहे के तसले पर कंकड़ की पेन्सिल से अँग्रेजी लिखना आरम्भ किया। एक अँग्रेजी दैनिक 'लीडर' अखबार जेल में हाथ लग गया था। उसे पढ़ना शुरू किया। साथियों से पूछताछ कर लेते, इस प्रकार एक वर्ष बाद जब जेल से छूटे तो अँग्रेजी की अच्छी-खासी योग्यता उपलब्ध हो गई। आपसी चर्चा से हर बार की जेलयात्रा में अँग्रेजी का शब्दकोष हमारा बढ़ता ही चला गया एवं क्रमश: व्याकरण भी सीख ली। बदले में हमने उन्हें संस्कृत एवं मुहावरों वाली हिन्दुस्तानी भाषा सिखा दी। अन्य भाषाओं की पत्रिकाएँ तथा शब्दकोष अपने आधार रहे हैं और ऐसे ही रास्ता चलते अन्यान्य भाषाएँ पढ़ ली हैं। गायत्री को बुद्धि की देवी कहा जाता है। दूसरों को वैसा लाभ मिला या नहीं, पर हमारे लिए यह

चमत्कारी लाभ प्रत्यक्ष हैं 'अखण्ड-ज्योति' की संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ने हिन्दी के प्राध्यापकों तक का मार्गदर्शन किया है। यह हम जब देखते हैं तो उस महाप्रज्ञा को ही इसका श्रेय देते हैं। अतिव्यस्तता रहने पर भी विज्ञ की, ज्ञान की, विभूति इतनी मात्रा में हस्तगत हो गई, जिसमें हमें परिपूर्ण सन्तोष होता है और दूसरों को आश्चर्य।

गुरुदेव का आदेश पालन करने के लिए हमने काँग्रेस के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग तो लिया, पर प्रारम्भ में असमंजस ही बना रहा कि जब चौबीस वर्ष का एक संकल्प दिया गया था तो ५ और १९ वर्ष के दो टुकड़ों में क्यों विभाजित किया। फिर आन्दोलन में तो हजारों स्वयंसेवक संलग्न थे, तो एक की कमीबेशी से उसमें क्या बनता-बिगड़ता था।

हमारे असमंजस को साक्षात्कार के समय ही गुरुदेव ने ताड़ लिया था। जब बारी आई तो उनकी परावाणी से मार्गदर्शन मिला कि "युगधर्म की अपनी महत्ता है। उसे समय की पुकार समझकर अन्य आवश्यक कार्यों को भी छोड़कर उसी प्रकार दौड़ पड़ना चाहिए जैसे अग्निकाण्ड होने पर पानी लेकर दौड़ना पड़ता है और अन्य सभी आवश्यक काम छोड़ने पड़ते हैं।" आगे सन्देश मिला कि- "अगले दिनों तुम्हें जन-सम्पर्क के अनेक काम करने हैं, उनके लिए विविध प्रकार के व्यक्तियों से सम्पर्क साधने और निपटने का दूसरा कोई अवसर नहीं आने वाला है। यह उस उद्देश्य की पूर्ति का एक चरण है, जिसमें भविष्य में बहुत-सा श्रम व समय लगना है। आरम्भिक दिनों में जो पाठ पढ़े थे, पूर्वजन्मों में जिनका अभ्यास किया था, उनकी रिहर्सल का अवसर भी मिल जाएगा। यह सभी कार्य निजी लाभ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। समय की माँग तो इसी से पूरी होती है।"

"व्यावहारिक जीवन में तुम्हें चार पाठ पढ़ाए जाने हैं- (१) समझदारी, (२) ईमानदारी, (३) जिम्मेदारी, (४) बहादुरी। इनके सहारे ही व्यक्तित्व में खरापन आता है और प्रतिभा-पराक्रम विकसित होता है। हथियार भोंथरे तो नहीं पड़ गए, कहीं पुराने पाठ विस्मृत तो नहीं हो गए, इसकी जाँच-पड़ताल नये सिरे से हो जाएगी। इस दृष्टि से एवं भावी क्रिया-पद्धति के सूत्रों को समझने के लिए तुम्हारा स्वतन्त्रता संग्राम अनुष्ठान भी जरूरी है।"

देश के लिए हमने क्या किया? कितने कष्ट सहे, सौंपे गए कार्यों को कितनी खूबी से निभाया? इसकी चर्चा यहाँ करना सर्वथा अप्रासंगिक होगा। उसे जानने की आवश्यकता प्रतीत होती हो तो परिजन, पाठक उत्तर प्रदेश सरकार के सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित 'आगरा संभाग के स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी' पुस्तक पढ़ लें। उसमें अनेकों महत्त्वपूर्ण कार्यों के साथ हमारा उल्लेख हुआ है। 'श्रीराम मत्त' हमारा उन दिनों का प्रचलित नाम है। यहाँ तो केवल यह ध्यान में रखना है कि हमारे हित में मार्गदर्शक ने किस हित का ख्याल मन में रखकर यह आदेश दिया।

इन दस वर्षों में जेलों में तथा जेल से बाहर अनेकों प्रकृति के लोगों से मिलना हुआ। स्वतंत्रता संग्राम के समय में जन-जाग्रति चरम सीमा पर थी। शूरवीर, साहस के धनी, संकल्प बल वाले अनेक ऐसे व्यक्ति सम्पर्क में आए, जिनसे हमने बहुत कुछ सीखा। जन-समुदाय को लाभान्वित करने और नैतिक क्रान्ति जैसे बड़े कार्य के लिए अपने प्रशंसक, समर्थक, सहयोगी बनाने हेतु किन रीति-नीतियों को अपनाना चाहिए, यह हमें मात्र दो वर्षों में ही सीखने को मिल गया। इसके लिए वैसे पूरी जिन्दगी गुजार देने पर यह सुयोग उपलब्ध न होता। विचित्र प्रकार की विचित्र प्रकृतियों का अध्ययन करने का इतना अवसर मिला जितना देश के अधिकांश भाग का परिभ्रमण करने पर मिल पाता। हमारे मन में घर-गृहस्थी, अपने-पराये का मोह छूट गया और उन विपन्न परिस्थितियों में भी इतनी प्रसन्नतापूर्वक जीवन जिया कि अपने आपे की मजबूती पर विश्वास होता चला। सबसे बड़ी बात यह कि हमारा स्वभाव स्वयंसेवक की तरह ढलता चला गया, जो अभी भी हमें इस चरमावस्था में पहुँचने पर भी विनम्र बनाए हुए है। हमारे असमंजस का समाधान उन दिनों गुजारे स्वतंत्रता संग्राम के प्रसंगों से हो गया कि क्यों हमसे अनुष्ठान दो भागों में कराया गया।

काँग्रेस की स्थापना को एक शताब्दी होने को चली, वह काँग्रेस जिसमें हमने काम किया वह अलग थी। उसमें काम करने के हमारे अपने विलक्षण अनुभव रहे हैं। अनेक मूर्धन्य प्रतिभाओं से सम्पर्क साधने के अवसर अनायास ही आते रहे। सदा विनम्र और अनुशासनरत स्वयंसेवक की अपनी हैसियत रखी। इसलिए मूर्धन्य नेताओं की सेवा में किसी विनम्र स्वयंसेवक की जरूरत पड़ती, तो हमें ही पेल दिया जाता रहा। आयु भी इसी योग्य थी। इसी सम्पर्क में हमने बड़ी से बड़ी विशेषताएँ सीखीं। अवसर मिला तो उनके साथ भी रहने का सुयोग मिला, साबरमती आश्रम में गाँधीजी के साथ और पवनार आश्रम में विनोबा के साथ रहने का लाभ मिला है। दूसरे, उनके समीप जाते हुए दर्शन मात्र करते हैं या रहकर लौट आते हैं, जबकि हमने इन सम्पर्कों में बहुत कुछ पढ़ा और जाना है। इन सबकी स्मृतियों का उल्लेख करना तो यहाँ अप्रासंगिक होगा, पर कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जो हमारे लिए कल्पवृक्ष की तरह महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं।

सन् १९३३ की बात है। कलकत्ता में इण्डियन नेशनल काँग्रेस का अधिवेशन था। उन दिनों काँग्रेस गैरकानूनी थी। जो भी जाते, पकड़े जाते। उसमें गोलीकाण्ड भी हुआ। जिन्हें महत्त्वपूर्ण समझा गया, उन्हें बर्द्धवान स्टेशन पर पकड़ लिया गया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने में बनी गोरों के लिए बनाई गई एक विशेष जेल (आसनसोल) में भेज दिया गया, इसमें हम भी आगरा जिले के अपने तीन साथियों के साथ पकड़े गए। यहाँ हमारे साथ में मदनमोहन मालवीयजी के अलावा गाँधीजी के सुपुत्र देवीदास गाँधी, श्री जवाहरलाल नेहरू की माता स्वरूप रानी नेहरू, रफी अहमद किदवई, चन्द्रभान गुप्त,

कन्हैयालाल खादी वाला, जगन प्रसाद रावत आदि मूर्धन्य लोग थे। वहाँ जब तक हम लोग रहे, सायं काल महामना मालवीय जी का नित्य भाषण होता था। मालवीय जी व माता स्वरूप रानी सबके साथ सगे बच्चों की तरह व्यवहार करते थे। एक दिन उन्होंने अपने व्याख्यान में इस बात पर बहुत जोर दिया कि हमें आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए हर मर्द से एक पैसा और हर स्त्री से एक मुट्ठी अनाज माँगकर लाना चाहिए, ताकि सभी यह समझें कि काँग्रेस हमारी है। हमारे पैसों से बनी है। सबको इसमें अपनापन लगेगा एवं मुट्ठी फण्ड ही इसका मूल आर्थिक आधार बन जाएगा। वह बात औरों के लिए महत्त्वपूर्ण न थी, पर हमने उसे गाँठ बाँध लिया। ऋषियों का आधार यही 'भिक्षा' थी। उसी के सहारे वे बड़े-बड़े गुरुकुल और आरण्यक चलाते थे। हमें भविष्य में बहुत बड़े काम करने के लिए गुरुदेव ने संकेत दिए थे। उनके लिए पैसा कहाँ से आएगा, इसकी चिन्ता मन में बनी रहती थी। इस बार जेल में सूत्र हाथ लग गया। जेल से छूटने पर जब बड़े काम पूरे करने का उत्तरदायित्व कन्धे पर आया, तब उसी फार्मूले का उपयोग किया। "दस पैसा प्रतिदिन या एक मुट्ठी अनाज" अंशदान के रूप में यही तरीका अपनाया और अब तक लाखों नहीं, करोड़ों रुपया खर्च कर या करा चुके हैं।

काँग्रेस अपनी गायत्री गंगोत्री की तरह जीवनधारा रही। जब स्वराज्य मिल गया तो मैंने उन्हीं कामों की ओर ध्यान दिया, जिससे स्वराज्य की समग्रता सम्पन्न हो सके। राजनेताओं को देश की राजनैतिक, आर्थिक स्थिति सँभालनी चाहिए, पर नैतिक क्रान्ति, बौद्धिक क्रान्ति और सामाजिक क्रान्ति उससे भी अधिक आवश्यक है, जिसे हमारे जैसे लोग ही सम्पन्न कर सकते हैं। यह धर्म-तन्त्र का उत्तरदायित्व है।

अपने इस नये कार्यक्रम के लिए अपने सभी गुरुजनों से आदेश लिया और काँग्रेस का एक ही कार्यक्रम अपने जिम्मे रखा-'खादी धारण।' इसके अतिरिक्त उसके सक्रिय कार्यक्रमों से उसी दिन पीछे हट गए, जिस दिन स्वराज्य मिला। इसके पीछे बापू का आशीर्वाद था, दैवी सत्ता का हमें मिला निर्देश था। प्रायः २० वर्ष लगातार काम करते रहने पर जब मित्रों ने स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी के नाते निर्वाहराशि लेने का फार्म भेजा तो हमने हँसकर स्पष्ट मना कर दिया। हमें राजनीति में श्रीराम मत्त या मत्तजी नाम से जाना जाता है। जो लोग जानते हैं, उस समय के मूर्धन्य जो जीवित हैं, उन्हें विदित है कि आचार्य जी (मत्तजी) काँग्रेस के आधारस्तम्भ रहे हैं और कठिन से कठिन कामों में अग्रिम पंक्ति में खड़े रहे हैं, किन्तु जब श्रेय लेने का प्रश्न आया, उन्होंने स्पष्टतः स्वयं को पर्दे के पीछे रखा।

तीनों काम यथावत पूरी तत्परता और तन्मयता के साथ सम्पन्न किए और साथ ही गुरुदेव जब-जब हिमालय बुलाते रहे, तब-तब जाते रहे। बीच के दो आमन्त्रणों में उन्होंने छह-छह महीने ही रोका। कहा- "काँग्रेस का कार्य स्वतन्त्रता-प्राप्ति की दृष्टि से इन दिनों आवश्यक है, सो इधर तुम्हारा रुकना छह-छह महीने ही पर्याप्त होगा।" उन छह महीनों में हमसे क्या कराया गया एवं क्या कहा गया? यह सर्वसाधारण के लिए जानना जरूरी नहीं है। दृश्य जीवन के ही अगणित प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें हम अलौकिक एवं दैवीशक्ति की कृपा का प्रसाद मानते हैं, उसे याद करते हुए कृतकृत्य होते रहते हैं।

# सफलताओं के कुछ रहस्य-सूत्र

स्वतन्त्रता संग्राम के प्रारम्भिक दिनों की बात है। तब तक मार्गदर्शक सत्ता से साक्षात्कार नहीं हुआ था। एक उत्साही स्वयंसेवक के रूप में गाँव में ही काँग्रेस का कार्यकर्त्ता था। उन दिनों देहातों में गाँधीजी को करामाती बाबा मानते थे और कहते थे, अँग्रेज पकड़कर जेल में बन्द करते हैं और वे अपनी करामात से बाहर निकल जाते हैं।हम तो उन्हें स्वतन्त्रता हेतु भारत में अवतरित देवदूत मानते थे।

ऐसी ही योगियों की कथा किम्वदन्तियाँ और भी सुन रखी थीं । मन में आया कि योग सीखने के लिए गाँधीजी के पास ही चलना चाहिए। साबरमती अहमदाबाद के पते पर पत्र-व्यवहार किया । कुछ समय आश्रम में रहने की आज्ञा माँगी। इसे सुयोग ही कहना चाहिए कि मुझे आज्ञा मिल गई और दैनिक उपयोग के वस्त्र, बिस्तर साथ लेकर अहमदाबाद जा पहुँचा। साबरमती आश्रम में अपना नाम दर्ज करा दिया।

दूसरे दिन से अपने लिए काम पूछा-ड्यूटी टट्टियाँ साफ करने एवं आँगन बुहारने की लगी। प्रायः प्रथम आगन्तुक को वहाँ यही शिक्षा दी जाती थी, गन्दगी दूर करना और उसके स्थान पर स्वच्छता बनाना।

मैंने टट्टियाँ अपनी बुद्धि के अनुरूप साफ कीं, पर जब निरीक्षक आये तो उन्हें काम पसन्द नहीं आया। जो त्रुटियाँ रह गई थीं, सो बताईं और कहा कि सफाई ऐसी होनी चाहिए, जैसी रसोईघर में होती है। दूसरी बार मैंने उनकी मर्जी जैसा काम कर दिया। नित्य का सिलसिला यही चलता। निरीक्षक की पसन्दगी का काम करने लगा। सूत कातने सम्बन्धी अन्य काम तो दिनचर्या में सम्मिलित थे ही।

एक दिन लकड़ी चीरने का काम दिया गया। चीर दीं । निरीक्षक आए। उन्होंने छोटे-छोटे टुकड़े बिखरे देखे और कहा- यह किसी के पैर में चुभ सकते हैं। सभी को उठाओ और पतले टुकड़ों को ईंधन में रखो, वैसा कर दिया। वह काम कई दिन हमसे कराया गया।

इसके बाद सूत सम्बन्धी काम, प्रार्थना, सफाई, व्यवस्था आदि के काम कराए जाते रहे। प्रातः सायं जो सामूहिक प्रार्थना होती, उसमें सम्मिलित होता रहा।

एक दिन मैंने पेड़ पर से दातौन के लिए लम्बी दातौन तोड़ ली और दाँत घिसने लगा। निरीक्षक थीं मीरा बहिन। वे दूर से इसे देख रही थीं। पास आकर बोलीं- "इतनी लम्बी दातौन नहीं तोड़नी चाहिए। तोड़नी थी तो उसे ऐसे

ही कूड़े की तरह नहीं डालना चाहिए। बचे टुकड़े को किसी और की आवश्यकता पूरी करने के लिए देना चाहिए था। पत्तियाँ कूड़ेदान में डालनी चाहिए थीं और घिसते समय जो पानी मुँह से निकलता है वह फर्श पर नहीं, नाली में डाला जाना चाहिए अन्यथा मुँह में कोई छूत हो तो दूसरे को लग सकती है। पानी अधिक खर्च नहीं करना चाहिए था।'' मैंने भूल मानी और सुधारी तथा भविष्य में सावधानी बरतने का आश्वासन दिया, पर इतने से बड़ी सिखावन हाथ लग गयी। डायरी रोज लिखता और वह गाँधीजी के पास पहुँचती रहती।

इसी प्रकार के कार्यक्रमों में तीन महीने होने को आए। करामाती योगी बनने के उद्देश्य से आया था। दूसरा गाँधी बनना चाहता था, पर वैसी कोई साधना सीखने का कोई अवसर न मिला । जाने के दिन समीप आने पर बहुत बेचैनी रहने लगी। एक दिन हिम्मत बाँधकर गाँधीजी के सेक्रेटरी महादेव भाई देसाई के दफ्तर में गया और संकोच पर नियन्त्रण करके आने का उद्देश्य कह सुनाया। देसाई जी हँसे और बोले- ''भाई! हम तो करामाती योगी हैं नहीं। गाँधीजी हो सकते हैं। सो कल प्रातःकाल तुम उनके साथ टहलने चले जाना और योगी बनने का राज पूछकर अपना समाधान कर लेना।'' इस उत्तर से मुझे सन्तोष हो गया।

गाँधीजी प्रातःकाल नित्य टहलते समय किसी को साथ ले जाते थे। उसका समाधान भी हो जाता था व गाँधीजी का भ्रमण भी। प्रातःकाल ५ बजे मैं दरवाजे पर जा खड़ा हुआ और जैसे ही गाँधीजी आये, उनके पीछे-पीछे चलने लगा। महादेव भाई ने उन्हें मेरी बात बता दी थी। गाँधीजी ने मुड़कर पीछे देखा और अपनी टहलने वाली चाल में चल पड़े। रास्ते में पूछा- ''तुम्हीं गाँधीजी बनने की योगसाधना सीखने आए थे?'' मैंने हाँ कह दिया। दूसरा प्रश्न पूछा गया-''वैसा कुछ सिखाया गया या नहीं?'' मैंने तीन महीने का कार्य-विवरण संक्षेप में सुना दिया। वे बोले- ''यही है गाँधी बनने की विद्या, जो तुम सीखते रहे।''

जिज्ञासा समाधान न होते देखकर उन्होंने टहलते-टहलते मुझे एक ऐतिहासिक घटना सुनाई। वैज्ञानिक थामस डेवी की एक घटना। वह लड़का एक गरीब घर में जन्मा। वैज्ञानिक बनने की इच्छा थी। विधिवत वैज्ञानिक शिक्षा दिलाने की परिवार में परिस्थितियाँ न थीं। डेवी ने सुझाया, मुझे किसी वैज्ञानिक के यहाँ छोड़ दो। उसका घरेलू काम-काज करता रहूँगा और जो वे सिखा दिया करेंगे, सीखता रहूँगा।

ऐसा सुयोग देखने के लिए उसकी माँ कितने ही वैज्ञानिकों के पास ले गई, पर सभी ने ऐसा झंझट सिर पालने से स्पष्ट मना कर दिया। एक वैज्ञानिक ने कहा- ''इसे कल लाना, काम का होगा तो रख लेंगे।''

डेवी की माँ उसे लेकर दूसरे दिन पहुँची। उस वैज्ञानिक ने हाथ में बुहारी थमाई और घर की सफाई करने को कहा। डेवी ने इतनी दिलचस्पी से बुहारी लगाई कि कोई कोना, छत, फर्नीचर, सामान गन्दा न रहा। सब वस्तुएँ सफाई के बाद इस तरह रखीं कि वे सुसज्जित जैसी लगती थीं। वैज्ञानिक ने ताड़ लिया कि इसमें काम के प्रति दिलचस्पी, तन्मयता और व्यवस्था का माद्दा है। इसे सिखाना सार्थक हो सकता है। यह इस गुण के कारण ही उपयोगी हो सकता है और वैज्ञानिक बन सकता है। लड़के को उन्होंने पास में रख लिया। घरेलू काम करता रहा और पढ़ता रहा। क्रमशः उसकी मौलिक जिज्ञासु बुद्धि विकसित होने लगी एवं वह अन्ततः उच्च कोटि का वैज्ञानिक बन गया। उसने कितने ही आविष्कार किए।

यह प्रसंग सुनाते हुए गाँधीजी ने कहा- ''यहाँ जो भी काम तुमसे कराए गए हैं, वे सभी ऐसे थे जिनमें काम के प्रति जिम्मेदारी और दिलचस्पी बढ़े। हमारे अन्दर यही विशेषता है। इसी के सहारे हमारी आदर्शवादिता उठाकर हमें यहाँ तक ले आई है। हमारी सफलता का इतना ही रहस्य है। तुम इस रास्ते पर चलोगे तो जो भी कार्य अपनाओगे, उसमें प्रवीण और सफल होकर रहोगे। चाहे धर्मक्षेत्र हो, राजनीति अथवा अपना पारिवारिक जीवन, सफलता का यही एक राजमार्ग है।''

बात समाप्त हो गई। सच्चे योगाभ्यास का रहस्य मेरे हाथ लग गया कि मनुष्य को आदर्शवादी कार्यक्रम हाथ में लेने चाहिए। जो करना है, उसे पूरी दिलचस्पी और जिम्मेदारी के साथ करना चाहिए। तीन महीने साबरमती आश्रम में रहकर मैंने इसी प्रक्रिया का अभ्यास किया। निरीक्षकों ने उसमें जो त्रुटियाँ रहती थीं, वे ठीक कराईं।

मैं करामाती योगी बनने का उद्देश्य लेकर आया था। वह बचपन जैसी उमंग हवा में उड़ गई। ऐसा कोई योगी नहीं होता, जो जादूगरों जैसी करामात दिखा सके। गाँधीजी भी वैसे नहीं थे। वे महापुरुष थे।

तीन महीने का समय पूरा हुआ, मैं सभी को विदाई का प्रणाम, अभिवादन करके घर लौट आया। गाँधीजी के बताए सूत्र गिरह बाँध लिए। आदर्शों को अपनाया । जो काम हाथ में लिया, उसे प्राण-पण से किया। हमारी सफलताओं के मूल में दैवी अनुदानों के साथ वैयक्तिक पराक्रम की भी भूमिका रही है। इसी को विविध सफलताओं का रहस्य कहा जा सकता है।

## गुरुदेव का प्रथम बुलावा

## पग-पग पर परीक्षा

गुरुदेव द्वारा हमारी हिमालय बुलावे की बात मत्स्यावतार जैसी बढ़ती चली गयी। पुराण की कथा कि ब्रह्माजी के कमण्डलु में कहीं से एक मछली का बच्चा आ गया। हथेली में आचमन के लिए कमण्डलु लिया तो वह देखते-देखते हथेली भर लम्बी हो गयी । ब्रह्माजी ने उसे घड़े में डाल दिया। क्षण भर में वह उससे भी दूनी हो गयी। ब्रह्माजी ने उसे पास के तालाब में डाल दिया, उसमें भी वह समाई नहीं, तब उसे समुद्र तक पहुँचाया गया।

देखते-देखते उसने पूरे समुद्र को आच्छादित कर लिया। तब ब्रह्माजी को बोध हुआ, उस छोटी-सी मछली में अवतार होने की बात जानी, स्तुति की और आदेश माँगा। बात पूरी होने पर मत्स्यावतार अन्तर्द्धान हो गए । जिस कार्य के लिए वे प्रकट हुए थे, वह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो गया।

हमारे साथ भी घटनाक्रम ठीक इसी प्रकार चले हैं। आध्यात्मिक जीवन वहाँ से आरम्भ हुआ था जहाँ कि गुरुदेव ने परोक्ष रूप से महामना जी से गुरुदीक्षा दिलवायी थी, यज्ञोपवीत पहनाया था और गायत्री मन्त्र की नियमित उपासना करने का विधि-विधान बताया था। छोटी उम्र थी, पर उसे पत्थर की लकीर की तरह माना और विधिवत निबाहा। कोई दिन ऐसा नहीं बीता जिसमें नागा हुई हो। साधना नहीं तो भोजन नहीं। इस सिद्धान्त को अपनाया । वह आज तक ठीक चला है और विश्वास है कि जीवन के अन्तिम दिन तक यह निश्चित रूप से निभेगा।

इसके बाद गुरुदेव का प्रकाश रूप से साक्षात्कार हुआ। उन्होंने आत्मा को ब्राह्मण बनाने के निमित्त २४ वर्ष की गायत्री पुरश्चरण साधना बताई। वह भी ठीक समय पर पूरी हुई। इस बीच में बैटरी चार्ज कराने के लिए, परीक्षा देने के लिए बार-बार हिमालय आने का आदेश मिला। साथ ही हर यात्रा में एक-एक वर्ष या उससे कम दुर्गम हिमालय में ही रहने के निर्देश भी। वह क्रम भी ठीक प्रकार चला और परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर नया उत्तरदायित्व भी कन्धे पर लदा। इतना ही नहीं उसका निर्वाह करने के लिए अनुदान भी मिला, ताकि दुबला बच्चा लड़खड़ा न जाए। जहाँ गड़बड़ाने की स्थिति आई, वहीं मार्गदर्शक ने गोदी में उठा लिया।

पूरा एक वर्ष होने भी न पाया था कि बेतार का तार हमारे अन्तराल में हिमालय का निमन्त्रण ले आया। चल पड़ने का बुलावा आ गया। उत्सुकता तो रहती थी, पर जल्दी नहीं थी। जो नहीं देखा है, उसे देखने की उत्कण्ठा एवं जो अनुभव हस्तगत नहीं हुआ है, उसे उपलब्ध करने की आकांक्षा ही थी। साथ ही ऐसे मौसम में, जिसमें दूसरे लोग उधर जाते नहीं, ठण्ड, आहार, सुनसान, हिंस्र जन्तुओं का सामना पड़ने जैसे कई भय भी मन में उपज उठते, पर अन्ततः विजय प्रगति की हुई। साहस जीता। संचित कुसंस्कारों में से एक अनजाना डर भी था। यह भी था कि सुरक्षित रहा जाए और सुविधापूर्वक जिया जाए, जबकि घर की परिस्थितियाँ ऐसी ही थीं। दोनों के बीच कौरव-पाण्डवों की लड़ाई जैसा महाभारत चला, पर यह सब २४ घण्टे से अधिक न टिका। ठीक दूसरे दिन हम यात्रा के लिए चल दिए। परिवार को प्रयोजन की सूचना दे दी। विपरीत सलाह देने वाले भी चुप रहे। वे जानते थे कि इसके निश्चय बदलते नहीं।

कड़ी परीक्षा देना और बढ़िया वाला पुरस्कार पाना, यही सिलसिला हमारे जीवन में चलता रहा है। पुरस्कार के साथ अगला बड़ा कदम बढ़ाने का प्रोत्साहन भी। हमारे मत्स्यावतार का यही क्रम चलता आया है।

प्रथम बार हिमालय जाना हुआ तो वह प्रथम सत्संग था। हिमालय दूर से तो पहले भी देखा था, पर वहाँ रहने पर किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, इसकी पूर्व जानकारी कुछ भी न थी। वह अनुभव प्रथम बार ही हुआ। सन्देश आने पर चलने की तैयारी की। मात्र देवप्रयाग से उत्तरकाशी तक उन दिनों सड़क और मोटर की व्यवस्था थी। इसके बाद तो पूरा रास्ता पैदल का ही था, ऋषिकेश से देवप्रयाग भी पैदल यात्रा करनी होती थी। सामान कितना लेकर चलना चाहिए, जो कन्धे और पीठ पर लादा जा सके, इसका अनुभव न था। सो कुछ ज्यादा ही ले लिया। लादकर चलना पड़ा तो प्रतीत हुआ कि यह भारी है। उतना हमारे जैसा पैदल यात्री लेकर न चल सकेगा। सो सामर्थ्य से बाहर की वस्तुएँ रास्ते में यात्रियों को बाँटते हुए केवल उतना रहने दिया, जो अपने से चल सकता था एवं उपयोगी भी था।

इस यात्रा से गुरुदेव एक ही परीक्षा लेना चाहते थे कि विपरीत परिस्थितियों में जूझने लायक मनःस्थिति पकी या नहीं। सो यात्रा अपेक्षाकृत कठिन ही होती गयी। दूसरा कोई होता तो घबरा गया होता, वापस लौट पड़ता या हैरानी में बीमार पड़ गया होता, पर गुरुदेव यह जीवन-सूत्र व्यवहार रूप में सिखाना चाहते थे कि मनःस्थिति मजबूत हो तो परिस्थितियों का सामना किया जा सकता है, उन्हें अनुकूल बनाया या सहा जा सकता है। महत्त्वपूर्ण सफलताओं के लिए आदमी को इतना ही मजबूत होना पड़ता है।

ऐसा बताया जाता है कि जब धरती का स्वर्ग या हृदय कहा जाने वाला भाग देवताओं का निवास था, तब ऋषि गोमुख से नीचे और ऋषिकेश से ऊपर रहते थे, पर हिमयुग के बाद परिस्थितियाँ एकदम बदल गयीं। देवताओं ने कारण शरीर धारण कर लिए और अन्तरिक्ष में विचरण करने लगे। पुरातनकाल के ऋषि गोमुख से ऊपर चले गए। नीचे वाला हिमालय अब सैलानियों के लिए रह गया है। वहाँ कहीं-कहीं साधुबाबाजी की कुटियाँ तो मिलती हैं, पर जिन्हें ऋषि कहा जा सके ऐसों का मिलना कठिन है।

हमने यह भी सुन रखा था कि हिमालय की यात्रा में मार्ग में आने वाली गुफाओं में सिद्धयोगी रहते हैं। वैसा कुछ नहीं मिला। पाया कि निर्वाह एवं आजीविका की दृष्टि से वह कठिनाइयों से भरा क्षेत्र है। इसलिए वहाँ मनमौजी लोग आते-जाते तो हैं, पर ठहरते नहीं। जो साधु-सन्त मिले, उनसे भेंट-वार्त्ता होने पर विदित हुआ कि वे भी कौतूहलवश या किसी से कुछ मिल जाने की आशा में ही आते थे। न उनका तत्त्वज्ञान बढ़ा-चढ़ा था, न तपस्वी जैसी दिनचर्या थी। थोड़ी देर पास बैठने पर वे अपनी आवश्यकता व्यक्त करते थे। ऐसे लोग दूसरों को क्या देंगे, यह सोचकर सिद्धपुरुषों की तलाश में अन्यों द्वारा जब-तब की गई यात्रा मजे की यात्रा भर रही, यही मानकर अपने कदम आगे बढ़ाते गए। यात्रियों को आध्यात्मिक सन्तोष-समाधान तनिक भी नहीं होता होगा, यही सोचकर मन दुःखी रहा।

उनसे तो हमें चट्टियों पर दुकान लगाए हुए पहाड़ी दुकानदार अच्छे लगे। वे भोले और भले थे। आटा, दाल चावल आदि खरीदने पर वे पकाने के बर्तन बिना किराया लिए, बिना गिने ऐसे ही उठा देते । माँगने-जाँचने का कोई धन्धा उनका नहीं था। अक्सर चाय बेचते थे, बीड़ी-माचिस, चना, गुड़, सत्तू, आलू जैसी चीजें यात्रियों को उनसे मिल जाती थीं। यात्री श्रद्धालु तो होते थे, पर गरीब स्तर के थे। उनके काम की चीजें ही दुकानों पर बिकती थीं। कम्बल उसी क्षेत्र के बने हुए किराए पर रात काटने के लिए मिल जाते थे।

शीत ऋतु और पैदल चलना यह दोनों ही परीक्षाएँ कठिन थीं। फिर उस क्षेत्र में रहने वाले साधु-संन्यासी उन दिनों गरम इलाकों में गुजारे की व्यवस्था करने नीचे उतर आते हैं। जहाँ ठण्ड अधिक है, वहाँ के ग्रामवासी भी पशु चराने नीचे के इलाकों में उतर आते हैं। गाँवों में, झोंपड़ियों में सन्नाटा रहता है। ऐसी कठिन परिस्थितियों में हमें उत्तरकाशी से नन्दनवन तक की यात्रा पैदल चलकर पूरी करनी थी। हर दृष्टि से यह यात्रा बहुत कठिन थी।

स्थान नितान्त एकाकी। ठहरने की कोई व्यवस्था नहीं, वन्यपशुओं का निर्भीक विचरण, यह सभी बातें काफी कष्टकर थीं। हवा उन दिनों काफी ठण्डी चलती थी। सूर्य ऊँचे पहाड़ों की छाया में छिपा रहने के कारण दस बजे के करीब दिखाई देता है और दो बजे के करीब शिखरों के नीचे चला जाता है। शिखरों पर तो धूप दिखाई देती है, पर जमीन पर मध्यम स्तर का अँधेरा। रास्ते में कभी ही कोई भूला भटका आदमी मिलता । जिन्हें कोई अति आवश्यक काम होता, किसी की मृत्यु हो जाती तो ही आने-जाने की आवश्यकता पड़ती। हर दृष्टि से वह क्षेत्र अपने लिए सुनसान था। सहचर के नाम पर थे, छाती में धड़कने वाला दिल या सोच-विचार उठाने वाले सिर में अवस्थित मन। ऐसी दशा में लम्बी यात्रा सम्भव है या असम्भव, यह परीक्षा अपनी ली जा रही थी। हृदय ने निश्चय किया कि जितनी साँस चलनी है, उतने दिन अवश्य चलेगी। तब तक कोई मारने वाला नहीं। मस्तिष्क कहता, वृक्ष-वनस्पतियों में भी तो जीवन है। उन पर पक्षी रहते हैं। पानी में जलचर मौजूद हैं। जंगल में वन्यपशु फिरते हैं। सभी नंगे बदन, सभी एकाकी। जब इतने सारे प्राणी इस क्षेत्र में निवास करते हैं तो तुम्हारे लिए सब कुछ सुनसान कैसा? अपने को छोटा मत बनाओ। जब 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात मानते हो, तब इतने सारे प्राणियों के रहते तुम अकेले कैसे? मनुष्यों को ही क्यों प्राणी मानते हो? यह जीव-जन्तु क्या तुम्हारे अपने नहीं? फिर सूनापन कैसा?

हमारी यात्रा चलती रही। साथ-साथ चिन्तन भी चलता रहा। एकाकी रहने में मन पर दबाव पड़ता है क्योंकि वह सदा से समूह में रहने का अभ्यासी है। एकाकीपन से उसे डर लगता है। अँधेरा भी डर का एक बड़ा कारण है। मनुष्य दिन भर प्रकाश में रहता है। रात्रि को बत्तियों का प्रकाश जला लेता है। जब नींद आती है, तब बिलकुल अँधेरा होता है। उसमें भी डरने का उतना कारण नहीं जितना कि सुनसान अँधेरे में होता है।

एकाकीपन में विशेषतया मनुष्य के मस्तिष्क को डर लगता है। योगी को इस डर से निवृत्ति पानी चाहिए। 'अभय' को अध्यात्म का अतिमहत्त्वपूर्ण गुण माना गया है। वह छूटे तो फिर उसे गृहस्थ की तरह सरंजाम जुटाकर, सुरक्षा का प्रबन्ध करते हुए रहना पड़ता है। मन की कच्चाई बनी ही रहती है।

दूसरा संकट हिमालय क्षेत्र के एकाकीपन में यह है कि उस क्षेत्र में वन्यजीवों विशेषतया हिंस्र पशुओं का डर लगता है। कोलाहलरहित क्षेत्र में ही वे विचरण करते हैं । रात्रि ही उनका भोजन तलाशने का समय है। दिन में प्रतिरोध का सामना करने का डर उन्हें भी रहता है।

रात्रि में, एकाकी, अन्धेरे में हिंस्र पशुओं का मुकाबला होना एक संकट है। संकट क्या सीधी मौत से मुठभेड़ है। कोलाहल और भीड़ न होने पर हिंस्र पशु दिन में भी पानी पीने या शिकार तलाशने निकल पड़ते हैं। इन सभी परिस्थितियों का सामना हमें अपनी यात्रा में बराबर करना पड़ा।

यात्रा में जहाँ भी रात्रि बितानी पड़ी, वहाँ काले साँप रेंगते और मोटे अजगर फुफकारते बराबर मिलते रहे। छोटी जाति का सिंह उस क्षेत्र में अधिक होता है। उसमें फुर्ती, बबर शेर की तुलना में अधिक होती है। आकार के हिसाब से ताकत उसमें कम होती है। इसलिए छोटे जानवरों पर हाथ डालता है। शाकाहारियों में आक्रमणकारी पहाड़ी रीछ होता है। शिवालिक की पहाड़ियों एवं हिमालय के निचले इलाके में इर्द-गिर्द जंगली हाथी भी रहते हैं। इन सभी की प्रकृति यह होती है कि आँखों से आँखें न मिलें, उन्हें छेड़े जाने का भय न हो, तो अपने रास्ते ही चले जाते हैं, अन्यथा तनिक भी भय या क्रोध का भाव मन में आने पर वे आक्रमण कर बैठते हैं।

अजगर, सर्प, बड़ी छिपकली (गोह), रीछ, तेन्दुए, चीते, हाथी इनसे आये दिन यात्रियों को कई-कई बार पाला पड़ता है। समूह को देखकर वे रास्ता बचाकर निकल जाते हैं, पर जब कोई मनुष्य या पशु अकेला सामने से आता है तो वे बचते नहीं। सीधे रास्ते चलते जाते हैं, ऐसी दशा में मनुष्य को ही उनके लिए रास्ता छोड़ना पड़ता है, अन्यथा मुठभेड़ होने पर आक्रमण एक प्रकार से निश्चित ही समझना चाहिए।

ऐसा आमना-सामना, मुकाबला दिन और रात में मिलाकर दस से बीस बार हो जाता था। अकेला आदमी देखकर वे निर्भय होकर चलते थे और रास्ता नहीं छोड़ते थे। उनके लिए हमें ही बचना पड़ता था। यह घटनाक्रम लिखने और पढ़ने में तो सरल है, पर व्यवहार में ऐसा वास्ता पड़ना अति कठिन है। कारण कि वे साक्षात् मृत्यु के रूप में सामने आते थे, कभी-कभी साथ चलते या पीछे-पीछे चलते थे। शरीर की मौत सबसे डरावनी लगती

है। हिंस्र पशु अथवा जिनकी आक्रमणकारी प्रकृति होती है ऐसे जंगली नर-नीलगाय भी आक्रमणकारी होते हैं। भले ही वे आक्रमण न करें, पर डर इतना ही लगता कि साक्षात् मौत की घड़ी आ गई। जब-तब कोई वास्ता पड़े तो एक बात भी है, पर यहाँ तो प्राय: हर घण्टे एक बार मौत से भेंट होना और हर बार प्राण जाने का डर लगना और अत्यधिक कठिन परिस्थितियों का सामना करने की बात थी। दिल धड़कना आरम्भ होता। जब तक वह धड़कन बन्द न हो पाती, तब तक दूसरी नई मुसीबत सामने आ जाती और फिर नये सिरे से दिल धड़कने लगता, वे लोग एकाकी नहीं होते थे। कई-कई के झुण्ड सामने आ जाते। यदि हमला करते, तो एक-एक बोटी नोंच ले जाते एवं कुछ ही क्षणों में अपना अस्तित्व समाप्त हो जाता।

किन्तु यहाँ भी विवेक समेटना पड़ा, साहस सँजोना पड़ा। मौत बड़ी होती है, पर जीवन से बड़ी नहीं होती। अभय और मैत्री भीतर हो तो हिंसकों की हिंसा भी ठण्डी पड़ जाती है और अपना स्वभाव बदल जाती है। पूरी यात्रा में प्राय: तीन-चार सौ की संख्या में ऐसे डरावने मुकाबले हुए, पर गड़बड़ाने वाले साहस को हर बार सँभालना पड़ा। मैत्री और निश्चिन्तता की मुद्रा बनानी पड़ी। मृत्यु के सम्बन्ध में सोचना पड़ा कि उसका भी एक समय होता है। यदि यहीं इसी प्रकार जीवन की इति-श्री होनी है, तो फिर उससे डरते हुए क्यों? हँसते हुए ही सामना क्यों न किया जाए? ऐसे विचार उठे तो नहीं, पर बलपूर्वक उठाने पड़े। पूरा रास्ता डरावना था। एकाकीपन, अन्धेरी और मृत्यु के दूत मिल-जुलकर डराने का प्रयत्न करते रहे और वापस लौट चलने की सलाह देते रहे, पर संकल्प-शक्ति साथ देती रही और यात्रा आगे बढ़ती रही।

परीक्षा का एक प्रश्नपत्र यह था कि सुनसान का, अकेलेपन का डर लगता है क्या? कुछ ही दिनों में दिल मजबूत हो गया और उस क्षेत्र में रहने वाले प्राणी अपने लगने लगे। डर न जाने कहाँ चला गया। सूनापन सुहाने लगा। मन ने कहा- प्रथम प्रश्नपत्र में उत्तीर्ण होने का सिलसिला चल पड़ा। आगे बढ़ने पर असमंजस होता है, वह भी अब न रहेगा।

दूसरा प्रश्न-पत्र था, शीत ऋतु का। सोचा कि जब मुँह, नाक, आँखें, सिर, कान, हाथ खुले रहते हैं, अभ्यास से इन्हें शीत नहीं लगता तो तुम्हें ही क्यों लगना चाहिए। उत्तरी ध्रुव, नार्वे, फिनलैण्ड में हमेशा शून्य से नीचे तापमान रहता है। वहाँ एस्किमो तथा दूसरी जाति के लोग रहते हैं, तो इधर तो दस-बारह फुट की ही ऊँचाई है। यहाँ ठण्ड से बचने के उपाय ढूँढ़े जा सकते हैं। वे उधर के एक निवासी से मालूम भी हो गए। पहाड़ ऊपर ठण्डे रहते हैं, पर उनमें जो गुफाएँ पाई जाती हैं वे अपेक्षाकृत गरम होती हैं। कुछ खास किस्म की झाड़ियाँ ऐसी होती हैं जो हरी होने पर भी जल जाती हैं। लाँगड़ा, मार्चा आदि शाकों की पत्तियाँ जंगलों में उगी होती हैं, वे कच्ची खाई जा सकती हैं। भोजपत्र के तने पर उठी हुई गाँठों को उबाल लिया जाए तो ऐसी चाय बन जाती है, जिससे ठण्डक दूर हो सके। पेट में घुटने और सिर लगाकर ऊँकड़ू बैठ जाने पर भी ठण्डक कम लगती है। मानने पर ठण्डक अधिक लगती है। बच्चे थोड़े से कपड़ों में कहीं भी भागे-भागे फिरते हैं। उन्हें कोई हैरानी नहीं होती। ठण्ड मानने भर की है। उसमें अनभ्यस्त, बूढ़े, बीमारों को तो नहीं कहते, अन्यथा जवान आदमी ठण्डक से नहीं मर सकता। बात यह भी समझ में आ गई और इन सब उपायों को अपना लेने पर ठण्ड भी सहन होने लगी। फिर एक और बात है कि ठण्डक-ठण्डक रटने की अपेक्षा मन में कोई और उत्साह भरा चिन्तन बिठा लिया जाए तो भी काम चल जाता है। इतनी महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ, उस क्षेत्र की समस्याओं का सामना करने में मिल गईं।

बात वन्यपशुओं की, हिंस्र जन्तुओं की फिर रह गई। वे प्राय: रात को ही निकलते हैं, उनकी आँखें चमकती हैं। फिर मनुष्य से सभी डरते हैं, शेर भी। यदि स्वयं उनसे डरा न जाए तो मनुष्य पर आक्रमण नहीं करते, उनके मित्र ही बनकर रहते हैं।

प्रारम्भ में हमें इस प्रकार का डर लगता था। फिर सरकस के सिखाने वालों की बात याद आई। वे उन्हें कितने करतब सिखा लेते हैं। तंजानिया की एक यूरोपियन महिला का वृत्तान्त पढ़ा था-'बॉर्न फ्री' जिसका पति वन विभाग का कर्मचारी था। उसकी स्त्री ने माँ-बाप से बिछुड़े दो शेर के बच्चे पाल रखे थे और वे जवान हो जाने पर भी गोद में सोते रहते थे। अपने मन में वजनदार निर्भयता या प्रेम-भावना हो तो घने जंगलों में आनन्द से रहा जा सकता है। वनवासी भील लोग अक्सर उसी क्षेत्र में रहते हैं। उन्हें न डर लगता है और न जोखिम दीखता है। ऐसे-ऐसे उदाहरणों को स्मृति में रखते-रखते निर्भयता आ गई और विचारा कि एक दिन वह आएगा, जब हम वन में कुटी बनाकर रहेंगे और गाय-शेर एक घाट पर पानी पिया करेंगे।

मन कमजोर भी है और मना लिए जाने पर समर्थ भी। हमने उस क्षेत्र में पहुँचकर यात्रा जारी रखी और मन में से भय निकाल दिया। अनुकूल परिस्थिति की अपेक्षा करने के स्थान पर मन:स्थिति को मजबूत बनाने की बात सोची। इस दिशा में मन को ढालते चले गए और प्रतिकूलताएँ जो आरम्भ में बड़ी डरावनी लगती थीं, अब बिलकुल सरल और स्वाभाविक-सी लगने लगीं।

मन की कुटाई-पिटाई और ढलाई करते-करते वह बीस दिन की यात्रा में काबू में आ गया। वह क्षेत्र ऐसा लगने लगा, मानो हम यहीं पैदा हुए हैं और यहीं मरना है।

गंगोत्री तक राहगीरों का बनाया हुआ भयंकर रास्ता है। गोमुख तक के लिए उन दिनों एक पगडण्डी थी। इसके बाद कठिनाई थी। तपोवन काफी ऊँचाई पर है। रास्ता भी नहीं है। अन्त:प्रेरणा या भाग्य भरोसे चलना पड़ता है। तपोवन पठार, चौरस है। फिर पहाड़ियों की ऊँची शृंखला

है। इसके बाद नन्दनवन आता है। हमें यहीं बुलाया गया था। समय पर पहुँच गए। देखा तो गुरुदेव खड़े थे। प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। हमारी का भी और उनका भी। वे पहली बार हमारे घर गये थे, इस बार हम उनके यहाँ आए। यह सिलसिला जीवन भर चलता रहे, तो ही इस बँधे सूत्र की सार्थकता है।

तीन परीक्षाएँ इस बार होनी थीं, बिना साथी के काम चलाना, ऋतुओं के प्रकोप की तितिक्षा सहना, हिंस्र पशुओं के साथ रहते हुए विचलित न होना। तीनों में ही अपने को उत्तीर्ण समझा और परीक्षक ने वैसा ही माना।

बात-चीत का सिलसिला तो थोड़े ही समय में पूरा हो गया। "अध्यात्म शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रचण्ड मनोबल सम्पादित करना, प्रतिकूलताओं को दबोचकर अनुकूलता में ढाल देना, सिंह-व्याघ्र तो क्या मौत से भी न डरना, ऋषि कल्प आत्माओं के लिए तो यह स्थिति नितान्त आवश्यक है। तुम्हें ऐसी ही परिस्थितियों के बीच अपने जीवन का बहुत-सा भाग गुजारना है।"

उस समय की बात समाप्त हो गई। जिस गुफा में उनका निवास था, वहाँ तक ले गए। इशारे में बताए हुए स्थान पर सोने का उपक्रम किया तो वैसा ही किया। इतनी गहरी नींद आई कि नियम-क्रम की अपेक्षा दूना, तीन गुना समय लग गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। रास्ते की सारी थकान इस प्रकार दूर हो गई, मानो कहीं चलना ही नहीं पड़ा था।

वहीं बहते निर्झर में स्नान किया। संध्यावन्दन भी। जीवन में पहली बार ब्रह्मकमल और देवकन्द देखा। ब्रह्मकमल ऐसा, जिसकी सुगन्ध थोड़ी देर में ही नींद कहें या योगनिद्रा ला देती है। देवकन्द वह, जो जमीन में शकरकन्द की तरह निकलता है, सिंघाड़े जैसे स्वाद का। पका होने पर लगभग पाँच सेर का, जिससे एक सप्ताह तक क्षुधा निवारण का क्रम चल सकता है। गुरुदेव के यही दो प्रथम प्रत्यक्ष उपहार थे। एक शारीरिक थकान मिटाने के लिए और दूसरा मन में उमंग भरने के लिए।

इसके बाद तपोवन पर दृष्टि दौड़ाई। पूरे पठार पर मखमली फूलदार गलीचा-सा बिछा हुआ था। तब तक भारी बर्फ नहीं पड़ी थी। जब पड़ती है, तब ये फूल पककर जमीन पर फैल जाते हैं, अगले वर्ष उगने के लिए।

## ऋषितन्त्र से दुर्गम हिमालय में साक्षात्कार

नन्दनवन में पहला दिन वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य को निहारने, उसी में परमसत्ता की झाँकी देखने में निकल गया। पता ही नहीं चला कि कब सूरज ढला और रात्रि आ पहुँची। परोक्ष रूप से निर्देश मिला-समीपस्थ एक निर्धारित गुफा में जाकर सोने की व्यवस्था बनाने का। लग रहा था कि प्रयोजन सोने का नहीं, सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने का है, ताकि स्थूल-शरीर पर शीत का प्रकोप न हो सके। सम्भावना थी कि पुनः रात्रि को गुरुदेव के दर्शन होंगे। ऐसा हुआ भी।

उस रात्रि को गुफा में गुरुदेव सहसा आ पहुँचे। पूर्णिमा थी। चन्द्रमा का सुनहरा प्रकाश समूचे हिमालय पर फैल रहा था। उस दिन ऐसा लगा कि हिमालय सोने का है। दूर-दूर बर्फ के टुकड़े तथा बिन्दु बरस रहे थे, वे ऐसा अनुभव कराते थे, मानो सोना बरस रहा है। मार्गदर्शक के आ जाने से गर्मी का एक घेरा चारों ओर बन गया, अन्यथा रात्रि के समय इस विकट ठण्ड और हवा के झोंकों में साधारणतया निकलना सम्भव न होता। दुस्साहस करने पर इस वातावरण में शरीर जकड़ या इठ सकता था।

किसी विशेष प्रयोजन के लिए ही यह अहेतुकी कृपा हुई है, यह मैंने पहले ही समझ लिया, इसलिए कुछ पूछने की आवश्यकता न पड़ी। पीछे-पीछे चल दिया। पैर जमीन से ऊपर उठते हुए चल रहे थे। आज यह जाना कि सिद्धि से ऊपर हवा में उड़ने की, अन्तरिक्ष में चलने की क्यों आवश्यकता पड़ती है। उन बर्फीले ऊबड़-खाबड़ हिम-खण्डों पर चलना उससे कहीं अधिक कठिन था, जितना कि पानी की सतह पर चलना। आज उन सिद्धियों की अच्छी परिस्थितियों में आवश्यकता भले ही न पड़े, पर उन दिनों हिमालय जैसे विकट क्षेत्रों में आवागमन की कठिनाई को समझने वालों के लिए आवश्यकता निश्चय ही पड़ती होगी।

मैं गुफा में से निकलकर शीत से काँपते हुए स्वर्णिम हिमालय पर अधर-ही-अधर गुरुदेव के पीछे-पीछे उनकी पूँछ की तरह सटा हुआ चल रहा था। आज की यात्रा का उद्देश्य पुरातन ऋषियों की तपस्थलियों का दिग्दर्शन करना था। स्थूल शरीर सभी ने त्याग दिए थे, पर सूक्ष्म शरीर उनमें से अधिकांश के बने हुए थे। उन्हें भेदकर किन्हीं-किन्हीं के कारण शरीर भी झलक रहे थे। नत-मस्तक और करबद्ध नमन की मुद्रा अनायास ही बन गई। आज मुझे हिमालय पर सूक्ष्म और कारण शरीरों से निवास करने वाले ऋषियों का दर्शन और परिचय कराया जाना था। मेरे लिए आज की रात्रि जीवनभर के सौभाग्यशाली क्षणों में सबसे अधिक महत्व की वेला थी।

उत्तराखण्ड क्षेत्र की कुछ गुफाएँ तो जब-तब आते समय यात्रा के दौरान देखी थीं, पर देखी वही थीं जो यातायात की दृष्टि में सुलभ थीं। आज जाना कि जितना देखा है, उससे अनदेखा कहीं अधिक है। इनमें जो छोटी थीं, वे तो वन्य-पशुओं के काम आती थीं, पर जो बड़ी थीं, साफ-सुथरी और व्यवस्थित थीं, वे ऋषियों के सूक्ष्म शरीरों के निमित्त थीं। पूर्व अभ्यास के कारण वे अभी भी उनमें यदा-कदा निवास करते हैं।

वे सभी उस दिन ध्यानमुद्रा में थे। गुरुदेव ने बताया कि वे प्रायः सदा इसी स्थिति में रहते हैं। अकारण ध्यान तोड़ते नहीं। मुझे एक-एक का नाम बताया और सूक्ष्म शरीर का दर्शन कराया गया। यही है सम्पदा, विशिष्टता और विभूति-सम्पदा, इस क्षेत्र की।

गुरुदेव के साथ मेरे आगमन की बात उन सभी को पूर्व से ही विदित थी। सो हम दोनों जहाँ भी जिस-जिस

समय पहुँचे, उनके नेत्र खुल गए। चेहरों पर हल्की मुसकान झलकी और सिर उतना ही झुका, मानो वे अभिवादन का प्रत्युत्तर दे रहे हों। वार्तालाप किसी से कुछ नहीं हुआ। सूक्ष्म शरीर को कुछ कहना होता है, तो वे वैखरी, मध्यमा से नहीं, परा और पश्यन्ति वाणी से, कर्ण छिद्रों के माध्यम से नहीं, अन्तःकरण में उठी प्रेरणा के रूप में कहते हैं, पर आज दर्शन मात्र प्रयोजन था। कुछ कहना और सुनना नहीं था। उनकी बिरादरी में एक नया विद्यार्थी भर्ती होने आया, सो उसे जान लेने और जब जैसी सहायता करने की आवश्यकता समझे, तब वैसी उपलब्ध करा देने का सूत्र जोड़ना ही उद्देश्य था। सम्भवतः यह उन्हें पहले ही बताया जा चुका होगा कि उनके अधूरे कामों को समय की अनुकूलता के अनुसार पूरा करने के लिए यह स्थूल शरीरधारी बालक अपने ढंग से क्या-क्या कुछ करने वाला है एवं अगले दिनों इसकी भूमिका क्या होगी?

सूक्ष्म शरीर से अन्तःप्रेरणाएँ उमगाने और शक्ति-धारा प्रदान करने का काम हो सकता है, पर जन-साधारण को प्रत्यक्ष परामर्श देना और घटनाक्रमों को घटित करना स्थूल शरीरों का ही काम है। इसलिए दिव्य शक्तियाँ किन्हीं स्थूल शरीरधारियों को भी अपने प्रयोजनों के लिए वाहन बनाती हैं। अभी तक मैं एक ही मार्गदर्शक का वाहन था, पर अब वे हिमालयवासी अन्य दिव्य आत्माएँ भी अपने वाहन का काम ले सकती थीं और तदनुसार प्रेरणा, योजना एवं क्षमता प्रदान करती रह सकती थीं। गुरुदेव इसी भाव-वाणी में मेरा परिचय उन सबसे करा रहे थे। वे सभी बिना लोकाचार, शिष्टाचार निबाहे, बिना समयक्षेप किए एक संकेत में उस अनुरोध की स्वीकृति दे रहे थे। आज रात्रि की दिव्ययात्रा इसी रूप में चलती रही। प्रभात होने से पूर्व ही वे मेरी स्थूल काया को निर्धारित गुफा में छोड़कर अपने स्थान को वापस चले गए।

आज ऋषिलोक का पहली बार दर्शन हुआ। हिमालय के विभिन्न क्षेत्रों-देवालय, सरोवरों, सरिताओं का दर्शन तो यात्राकाल में पहले से भी होता रहा। उस प्रदेश को ऋषि निवास का देवात्मा भी मानते रहे हैं, पर इससे पहले यह विदित न था कि किस ऋषि का, किस भूमि से लगाव है। यह आज पहली बार देखा और अन्तिम बार भी। वापस छोड़ते समय मार्गदर्शक ने कह दिया कि इनके साथ अपनी ओर से सम्पर्क साधने का प्रयत्न मत करना। उनके कार्य में बाधा मत डालना। यदि किसी को कुछ निर्देशन करना होगा तो वैसा स्वयं ही करेंगे। हमारे साथ भी तो तुम्हारा यही अनुबन्ध है कि अपनी ओर से द्वार नहीं खटखटाओगे। जब हमें जिस प्रयोजन के लिए जरूरत पड़ा करेगी, स्वयं ही पहुँचा करेंगे और उसकी पूर्ति के लिए आवश्यक साधन जुटा दिया करेंगे। यही बात आगे से तुम उन ऋषियों के सम्बन्ध में भी समझ सकते हो, जिनके कि दर्शन प्रयोजनवश तुम्हें आज कराए गए हैं। इस दर्शन को कौतूहल भर मत मानना, वरन् समझना कि हमारा अकेला ही निर्देश तुम्हारे लिए सीमित नहीं रहा। यह महाभाग भी उसी प्रकार अपने सभी प्रयोजन पूरा कराते रहेंगे, जो स्थूल शरीर के अभाव में स्वयं नहीं कर सकते। जन-सम्पर्क प्रायः तुम्हारे जैसे सत्पात्रों, वाहनों के माध्यम से कराने की ही परम्परा रही है। आगे से तुम इनके निर्देशनों को भी हमारे आदेश की तरह ही शिरोधार्य करना और जो कहा जाए सो करने के लिए जुट पड़ना। मैं स्वीकृतिसूचक संकेत के अतिरिक्त और कहता ही क्या? वे अन्तर्द्धान हो गए।

## भावी रूपरेखा का स्पष्टीकरण

नन्दनवन-प्रवास का अगला दिन और भी विस्मयकारी था। पूर्वरात्रि में गुरुदेव के साथ ऋषिगणों के साक्षात्कार के दृश्य फिल्म की तरह आँखों के समक्ष घूम रहे थे। पुनः गुरुदेव की प्रतीक्षा थी-भावी निर्देशों के लिए। धूप जैसे ही नन्दनवन के मखमली कालीन पर फैलने लगी, ऐसा लगा जैसे स्वर्ग धरती पर उतर आया हो। भाँति-भाँति के रंगीन फूल ठसाठस थे और चौरस पठार पर बिखरे हुए थे। दूर से देखने पर लगता था, मानो एक गलीचा बिछा हो।

सहसा गुरुदेव का स्थूल शरीर रूप में आगमन हुआ। उन्होंने आवश्यकतानुसार पूर्व रात्रि के प्रतिकूल अब वैसा ही स्थूल शरीर बना लिया था, जैसा कि प्रथम बार प्रकाशपुंज के रूप में पूजाघर में अवतरित होकर हमें दर्शन दिया था।

वार्तालाप को आरम्भ करते हुए उन्होंने कहा- "हमें तुम्हारे पिछले सभी जन्मों की श्रद्धा और साहसिकता का पता था। अबकी बार यहाँ बुलाकर तीन परीक्षाएँ लीं और जाँचा कि बड़े कामों का वजन उठाने लायक मनोभूमि तुम्हारी बनी या नहीं। हम इस पूरी यात्रा में तुम्हारे साथ रहे हैं और घटनाक्रम तथा उसके साथ उठती प्रतिक्रिया को देखते रहे हैं और भी अधिक निश्चिन्तता हो गयी। यदि स्थिति सुदृढ़ और विश्वस्त न रही होती, तो इस क्षेत्र के निवासी सूक्ष्म शरीरधारी ऋषिगण तुम्हारे समक्ष प्रकट न होते और मन की व्यथा न कहते। उनके कथन का प्रयोजन यही था कि काम छूटा हुआ है, उसे पूरा किया जाए। समर्थ देखकर ही उन्होंने अपने मनोभाव प्रकट किए, अन्यथा दीन, दुर्बल, असमर्थों के सामने इतने बड़े लोग अपना मन खोलते ही कहाँ हैं?"

तुम्हारा समर्पण यदि सच्चा है तो शेष जीवन की कार्य-पद्धति बनाए देते हैं, इसे परिपूर्ण निष्ठा के साथ पूरा करना। प्रथम कार्यक्रम तो यही है कि २४ लक्ष गायत्री महामंत्र के २४ पुरश्चरण चौबीस वर्ष में पूरे करो। इससे मजबूती में जो कमी रही होगी सो पूरी हो जाएगी। बड़े और भारी काम करने के लिए बड़ी समर्थता चाहिए। उसी के निमित्त यह प्रथम कार्यक्रम सौंपा गया है। इसी के साथ-साथ दो कार्य और भी चलते रहेंगे। एक यह कि अपना

अध्ययन जारी रखो। तुम्हें कलम उठानी है। आर्ष ग्रन्थों के अनुवाद, प्रकाशन की व्यवस्था करके उसे सर्वसाधारण तक पहुँचाना है। इससे देवसंस्कृति की लुप्तप्रायः कड़ियाँ जुड़ेंगी और भविष्य में विश्वसंस्कृति का ढाँचा खड़ा करने में सहायता मिलेगी। इसके साथ ही जब तक स्थूल शरीर विद्यमान है, तब तक मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण करने वाला सर्वसुलभ साहित्य, विश्ववसुधा की सभी सम्भव भाषाओं में लिखा जाना है। यह कार्य तुम्हारी प्रथम साधना की शक्ति से सम्बद्ध है। इसमें समय आने पर तुम्हारी सहायता के लिए सुपात्र मनीषी आ जुटेंगे, जो तुम्हारा छोड़ा काम पूरा करेंगे।

तीसरा कार्य स्वतन्त्रता संग्राम में एक सिपाही की तरह प्रत्यक्ष एवं पृष्ठभूमि में रहकर लड़ते रहने का है। यह सन् १९४७ तक चलेगा, तब तक तुम्हारा पुरश्चरण भी बहुत कुछ पूरा हो लेगा। यह प्रथम चरण है। इसकी सिद्धियाँ जन-साधारण के सम्मुख प्रकट होंगी। इस समय के लक्षण ऐसे नहीं हैं जिनसे यह प्रतीत हो कि अँग्रेज भारत को स्वतन्त्रता देकर सहज ही चले जाएँगे, किन्तु यह सफलता तुम्हारा अनुष्ठान पूरा होने के पूर्व ही मिलकर रहेगी। तब तक तुम्हारा ज्ञान इतना हो जाएगा, जितना कि युग-परिवर्तन और नव-निर्माण के लिए किसी तत्त्ववेत्ता के पास होना चाहिए।

पुरश्चरणों की समग्र सम्पन्नता तब होती है, जब उसका पूर्णाहुति यज्ञ भी किया जाए। चौबीस लाख पुरश्चरण का गायत्री महायज्ञ इतना बड़ा होना चाहिए, जिसमें २४ लाख मंत्रों की आहुतियाँ हो सकें एवं तुम्हारा संगठन इस माध्यम से खड़ा हो जाए। यह भी तुम्हें ही करना है। इसमें लाखों रुपये की राशि और लाखों की सहायक जनसंख्या चाहिए। तुम यह मत सोचना कि हम अकेले हैं। पास में धन नहीं है। हम तुम्हारे साथ हैं। साथ ही तुम्हारी उपासना का प्रतिफल भी। इसलिए सन्देह करने की गुंजाइश नहीं है। समय आने पर सब हो जाएगा। साथ ही सर्वसाधारण को यह भी विदित हो जाएगा कि सच्चे साधक की सच्ची साधना का कितना चमत्कारी प्रतिफल होता है। यह तुम्हारे कार्यक्रम का प्रथम चरण है। अपना कर्त्तव्य पालन करते रहना। यह मत सोचना कि हमारी शक्ति नगण्य है, तुम्हारी कम सही। पर जब हम दो मिल जाते हैं, तब एक और एक मिलकर ग्यारह होते हैं और फिर यह तो दैवीसत्ता द्वारा संचालित कार्यक्रम है। इसमें सन्देह कैसा? समय आने पर सारी विधि-व्यवस्था सामने आती जाएगी। अभी से योजना बनाने और चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। अध्ययन जारी रखो। पुरश्चरण भी करते रहो। स्वतन्त्रता सैनिक का काम करो। अधिक आगे की बात सोचने में, व्यर्थ में मन में उद्विग्नता बढ़ेगी। अभी अपनी मातृभूमि में रहो और वहीं से प्रथम चरण के यह तीनों काम करो।

आगे की बात संकेत रूप में कह देते हैं। साहित्य प्रकाशन स्वाध्याय का और विशाल धर्म-संगठन द्वारा सत्संग का यह दो कार्य मथुरा रहकर करने पड़ेंगे। पुरश्चरण की पूर्णाहुति भी वहीं होगी। प्रेस-प्रकाशन भी वहीं से चलेगा। मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण की प्रक्रिया सुनियोजित ढंग से वहीं से चलेगी। वह प्रयास एक ऐतिहासिक आन्दोलन होगा, जैसा कि अब तक कहीं भी नहीं हुआ।

तीसरा चरण इन सूक्ष्म शरीरधारी ऋषियों की इच्छा पूरी करने का है। ऋषिपरम्परा का बीजारोपण तुम्हें करना है। इसका विश्वव्यापी विस्तार अपने ढंग से होता रहेगा। यह कार्य सप्तऋषियों की तपोभूमि सप्तसरोवर हरिद्वार में रहते हुए करना पड़ेगा। तीनों कार्य तीनों जगह उपयुक्त ढंग से चलते रहेंगे।

अभी संकेत किया है। आगे चलकर समयानुसार इन कामों की विस्तृत रूपरेखा हम यहाँ बुलाकर बताते रहेंगे। तीन बार बुलाने के तीन प्रयोजन होंगे।

चौथी बार तुम्हें भी चौथी भूमिका में जाना है और हमारे प्रयोजन का बोझ इस सदी के अन्तिम दशकों में अपने कन्धों पर लेना है। तब सारे विश्व में उलझी हुई विषम समस्याओं के अत्यन्त कठिन और अत्यन्त व्यापक कार्य अपने कन्धे पर लेने होंगे। पूर्व घोषणा करने से कुछ लाभ नहीं। समयानुसार जो आवश्यक होगा, सो विदित भी होता चलेगा और सम्पन्न भी।

इस बार की हमारी हिमालय यात्रा में मन में यह असमंजस बना हुआ था कि हिमालय की गुफाओं में सिद्धपुरुष रहने और उनके दर्शनमात्र से विभूतियाँ मिलने की जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। हमें इनका कोई आधार नहीं मिला। वह बात ऐसे ही किम्वदन्ती मालूम पड़ती है। था तो मन का भीतरी असमंजस, पर गुरुदेव ने उसे बिना कहे ही समझ लिया और कन्धे पर हाथ रखकर पूछा-"तुझे क्या जरूरत पड़ गयी सिद्धपुरुषों की? ऋषियों के सूक्ष्म शरीरों के दर्शन एवं हमसे मन नहीं भरा।"

अपने मन में अविश्वास जैसी बात! कोई दूसरा खोजने जैसी बात स्वप्न में भी नहीं उठी थी। मात्र बाल कौतूहल मन में था। गुरुदेव ने इसे अविश्वास मान लिया होगा तो श्रद्धा क्षेत्र में हमारी कुपात्रता मानेंगे। यह विचार मन में आते ही स्तब्ध रह गया।

मन को पढ़ लेने वाले देवात्मा ने हँसते हुए कहा- "वे हैं तो सही। पर दो बातें नयी हो गयी हैं। एक तो सड़कों की, वाहनों की सुविधा होने से यात्री अधिक आने लगे हैं। इससे उनकी साधना में विघ्न पड़ता है। दूसरे यह कि अन्यत्र जाने पर शरीर निर्वाह में असुविधा होती है। इसलिए उन्होंने स्थूल शरीरों का परित्याग कर दिया है और सूक्ष्म शरीर धारण करके रहते हैं। जो किसी को दृष्टिगोचर भी न हो और उनके लिए निर्वाह-

साधनों की आवश्यकता भी न पड़े। इस कारण उन सभी ने शरीर ही नहीं, स्थान भी बदल लिए हैं। स्थान ही नहीं साधना के साथ जुड़े कार्यक्रम भी बदल लिए हैं। जब सब कुछ परिवर्तन हो गया तो दृष्टिगोचर कैसे हो? फिर सत्पात्र साधकों का अभाव हो जाने के कारण वे कुपात्रों को दर्शन देने या उन पर की हुई अनुकम्पा में अपनी शक्ति गँवाना भी नहीं चाहते, ऐसी दशा में अन्य लोग जो तलाश करते हैं, वह मिलना सम्भव नहीं। तुम्हें अगली बार पुन: हिमालय के सिद्धपुरुषों की दर्शन-झाँकी करा देंगे।

परब्रह्म के अंशधर देवात्मा सूक्ष्म शरीर में किस प्रकार रहते हैं, इसका प्रथम परिचय हमने अपने मार्गदर्शक के रूप में घर पर ही प्राप्त कर लिया था। उनके हाथों में विधिवत मेरी नाव सुपुर्द हो गयी थी,फिर भी बाल-बुद्धि अपना काम कर रही थी। हिमालय में अनेक सिद्ध पुरुषों के निवास की जो बात सुन रखी थी, उस कौतूहल को देखने का जो मन था, वह ऋषियों के दर्शन एवं मार्गदर्शक की सांत्वना से पूरा हो गया था। इस लालसा को पहले अपने अन्दर ही मन के किसी कोने में छिपाए फिरते थे। आज उसके पूरे होने व आगे भी दर्शन होते रहने का आश्वासन मिल गया था। सन्तोष तो पहले भी कम न था, पर अब वह प्रसन्नता और प्रफुल्लता के रूप में और भी अधिक बढ़ गया।

गुरुदेव ने आगे कहा कि हम जब भी बुलावें, तब समझना कि हमने ६ माह या एक वर्ष के लिए बुलाया है। तुम्हारा शरीर इस लायक बन गया है कि इधर की परिस्थितियों में निर्वाह कर सको। इस नये अभ्यास को परिपक्व करने के लिए इस निर्धारित अवधि में एक-एक करके तीन बार और इधर हिमालय में ही रहना चाहिए। तुम्हारे स्थूल शरीर के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता समझेंगे, हम प्रबन्ध कर दिया करेंगे । फिर इसकी आवश्यकता इसलिए भी है कि स्थूल से सूक्ष्म में और सूक्ष्म से कारण शरीर में प्रवेश करने के लिए जो तितिक्षा करनी पड़ती है, सो होती चलेगी। शरीर को क्षुधा-पिपासा, शीत, ग्रीष्म, निद्रा, थकान व्यथित करती है। इन छह को घर पर रहकर जीतना कठिन है, क्योंकि सारी सुविधाएँ वहाँ उपलब्ध रहने से यह प्रयोजन आसानी से पूरे होते हैं और तप-तितिक्षाओं के लिए अवसर ही नहीं मिलता। इसी प्रकार मन पर छाये रहने वाले छह कषाय-कल्मष भी किसी न किसी घटनाक्रम के साथ घटित होते रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इन छह रिपुओं से जूझने के लिए आरण्यकों में रहकर इनसे निपटने का अभ्यास करना पड़ता है। तुम्हें घर रहकर यह अवसर भी मिल सकेगा। इसलिए अभ्यास के लिए जनसंकुल स्थान से अलग रहने से उस आन्तरिक मल्लयुद्ध में भी सरलता होती है। हिमालय में रहकर तुम शारीरिक तितिक्षा और मानसिक तपस्या करना। इस प्रकार तीन बार तीन वर्ष यहाँ आते रहने और शेष वर्षों में जनसम्पर्क में रहने से परीक्षा भी होती चलेगी कि जो अभ्यास हिमालय में रहकर किया था, वह परिपक्व हुआ या नहीं।

यह कार्यक्रम देवात्मा गुरुदेव ने ही बनाया, पर था मेरा इच्छित। इसे मनोकामना की पूर्ति कहना चाहिए। स्वाध्याय, सत्संग और मनन-चिन्तन से यह तथ्य भलीप्रकार हृदयंगम हो गया था कि दसों इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष और ग्यारहवाँ अदृश्य मन इन सबका निग्रह कर लेने पर बिखराव से छुटकारा मिल जाता है और आत्म-संयम का पराक्रम बन पड़ने पर मनुष्य की दुर्बलताएँ समाप्त हो जाती हैं और विभूतियाँ जग पड़ती हैं। सशरीर सिद्धपुरुष होने का यही राजमार्ग है। इन्द्रिय-निग्रह, अर्थ-निग्रह, समय-निग्रह और विचार-निग्रह यह चार संयम हैं। इन्हें साधने वाले महामानव बन जाते हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह इन चारों से मन को उबार लेने पर लौकिक सिद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं ।

मैं तपश्चर्या करना चाहता था, पर करता कैसे? समर्पित को स्वेच्छा आचरण की सुविधा कहाँ? जो मैं चाहता था, वह गुरुदेव के मुख से आदर्श रूप में कहे जाने पर मैं फूला न समाया और उस क्रिया-कृत्य के लिए समय निर्धारित होने की प्रतीक्षा करने लगा।

गुरुदेव बोले- "अब वार्ता समाप्त हुई। तुम अब गंगोत्री चले जाओ। वहाँ तुम्हारे निवास, आहार आदि की व्यवस्था हमने कर दी है। भागीरथ शिला, गौरीकुण्ड पर बैठकर अपना साधनाक्रम आरम्भ कर दो। एक साल पूरा हो जाए तब अपने घर लौट जाना। हम तुम्हारी देखभाल नियमित रूप से करते रहेंगे।"

गुरुदेव अदृश्य हो गए। हमें उनका दूत गोमुख तक पहुँचा गया। इसके बाद उनके बताए हुए स्थान पर एक वर्ष के शेष दिन पूरे किए।

समय पूरा होने पर हम वापस लौट पड़े। अबकी बार इधर से लौटते हुए उन कठिनाइयों में से एक भी सामने नहीं आई, जो जाते समय पग-पग पर हैरान कर रही थीं। वे परीक्षाएँ थीं, सो पूरी हो जाने पर लौटते समय कठिनाइयों का सामना करना भी क्यों पड़ता।

हम एक वर्ष बाद घर लौट आए। वजन १८ पौण्ड बढ़ गया। चेहरा लाल और गोल हो गया था। शरीरगत शक्ति बढ़ी थी। हर समय प्रसन्नता छाई रहती थी। लौटने पर लोगों ने गंगाजी का प्रसाद माँगा। सभी को गंगोत्री की रेती में से एक-एक चुटकी दे दी व गोमुख के जल का प्रसाद दे दिया। यही वहाँ से साथ लेकर भी लौटे थे। दीख सकने वाला प्रत्यक्ष प्रसाद यही एक ही था, जो दिया जा सकता था। वस्तुत: यह हमारे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था। यद्यपि इसके बाद भी हिमालय जाने का क्रम बराबर बना रहा एवं गन्तव्य भी वही है, फिर भी गुरुदेव के साथ विश्व-व्यवस्था का संचालन करने वाली परोक्ष ऋषिसत्ता का प्रथम दर्शन अन्त:स्तल पर अमिट छाप छोड़ गया। हमें अपने लक्ष्य, भावी जीवनक्रम, जीवन-यात्रा में सहयोगी बनने वाली जाग्रत आत्माओं का आभास भी इसी

यात्रा में हुआ। हिमालय की हमारी पहली यात्रा अनेकों ऐसे अनुभवों की कथा-गाथा है, जो अन्य अनेक व्यक्ति के लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध हो सकती है।

## अनगढ़ मन हारा, हम जीते

अपनी पहली यात्रा में ही सिद्धपुरुषों-सन्तों के विषय में वस्तुस्थिति का पता चल गया। हम स्वयं जिस भ्रम में थे वह दूर हो गया और दूसरे जो लोग हमारी ही तरह सोचते रहे होंगे, उनके भ्रम का भी निराकरण करते रहे। अपने साक्षात्कार-प्रसंग को याद रखते हुए दुहराया कि अपनी पात्रता पहले से ही अर्जित न कर ली हो, तो उनसे भेंट हो जाना अशक्य है, क्योंकि वे सूक्ष्म शरीर में होते हैं और उचित अधिकारी के सामने ही प्रकट होते हैं। यह जानकारियाँ हमें पहले न थीं।

हमारी हिमालय यात्रा का विवरण पूर्व में 'सुनसान के सहचर' पुस्तक में प्रकाशित किया गया है। वह विवरण तो लम्बा है, पर सारांश थोड़ा ही है। अभावों और आशंकाओं के बीच प्रतिकूलताओं को किस तरह मनोबल के सहारे पार किया जा सकता है, इसका आभास उनमें मिल सकेगा। मन साथ दे तो सर्वसाधारण को संकट दीखने वाले प्रसंग किस प्रकार हँसी-मजाक जैसे बन जाते हैं कुछ इसी प्रकार के विवरण उन छपे प्रसंगों में पाठकों को मिल सकते हैं। अध्यात्म मार्ग पर चलने वाले को मन इतना मजबूत तो बनाना ही पड़ता है।

पुस्तक बड़ी है, विवरण भी सुविस्तृत है, पर उसमें बातें थोड़ी-सी हैं, साहित्यिक विवेचना ज्यादा है। हिमालय और गंगातट क्यों साधना के लिए अधिक उपयुक्त हैं, इसका कारण हमने उसमें दिया है। एकान्त में सूनेपन का जो भय लगता है, उसमें चिन्तन की दुर्बलता ही कारण है। मन मजबूत हो तो साथियों की तलाश क्यों करनी पड़े? उनके न मिलने पर एकाकीपन का डर क्यों लगे। जंगली पशु-पक्षी अकेले रहते हैं। उनके लिए तो हिंस्र पशु-पक्षी भी आक्रमण करने को बैठे रहते हैं। फिर मनुष्य से तो सभी डरते हैं। साथ ही उसमें इतनी सूझ-बूझ भी होती है कि आत्म-रक्षा कर सके। चिन्तन भय की ओर मुड़े, तो इस संसार में सब कुछ डरावना है। यदि साहस साथ दे तो हाथ-पैर, आँख, मुख, मन और बुद्धि इतनों का निरन्तर साथ रहने पर डरने का क्या कारण हो सकता है? वन्यपशुओं में कुछ ही हिंसक होते हैं। फिर मनुष्य निर्भय रहे, उनके प्रति अन्तः से प्रेम भावना रखे तो खतरे का अवसर आने की कम ही सम्भावना रहती है। राजा हरिश्चन्द्र श्मशान की जलती चिताओं के बीच रहने की मेहतर की नौकरी करते थे। केन्या के मसाई शेरों के बीच ही झोंपड़े बनाकर रहते हैं। वनवासी, आदिवासी सर्पों और व्याघ्रों के बीच ही रहते हैं। फिर कोई कारण नहीं कि सूझ-बूझ वाला आदमी वहाँ न रह सके, जहाँ खतरा समझा जा सकता है।

आत्मा, परमात्मा के घर में एकाकी आता है। खाना, सोना, चलना भी अकेले ही होता है। भगवान के घर भी अकेले ही जाना पड़ता है। फिर अन्य अवसरों पर भी आपको परिष्कृत और भावुक मन के सहारे उल्लास अनुभव कराता रहे, तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है। अध्यात्म के प्रतिफल रूप में मन में इतना परिवर्तन तो दृष्टिगोचर होना ही चाहिए। शरीर को जैसे अभ्यास में ढालने का प्रयास किया जाता है, वह वैसा ही ढल जाता है। उत्तरी ध्रुव के ऐस्किमो केवल मछलियों के सहारे जिन्दगी गुजार देते हैं। दुर्गम हिमालय एवं आल्पस पर्वत के ऊँचे क्षेत्रों में रहने वाले अभावों के बावजूद स्वस्थ, लम्बी जिन्दगी जीते हैं। पशु भी घास के सहारे गुजारा कर लेते हैं। मनुष्य भी यदि उपयोगी पत्तियाँ चुनकर अपना आहार निर्धारित कर ले, तो अभ्यास न पड़ने पर ही थोड़ी गड़बड़ रहती है। बाद में गाड़ी ढर्रे पर चलने लगती है। ऐसे-ऐसे अनेक अनुभव हमें उस प्रथम हिमालय यात्रा में हुए और जो मन सर्वसाधारण को कहीं से कहीं खींचे-खींचे फिरता है, वह काबू में आ गया और कुकल्पनाएँ देने के स्थान पर आनन्द एवं उल्लास भरी अनुभूतियाँ अनायास ही देने लगा। संक्षेप में यही है हमारी 'सुनसान के सहचर' पुस्तक का सार-संक्षेप। ऋतुओं की प्रतिकूलता से निपटने के लिए भगवान ने उपयुक्त माध्यम रखे हैं। जब इर्द-गिर्द बर्फ पड़ती है, तब भी गुफाओं के भीतर समुचित गर्मी रहती है। गोमुख क्षेत्र की कुछ हरी झाड़ियाँ जलाने से जलने लगती हैं। रात्रि को प्रकाश दिखाने के लिए ऐसी ही एक वनौषधि झिलमिल जगमगाती रहती है। तपोवन और नन्दनवन में एक शकरकंद जैसा अत्यधिक मधुर स्वाद वाला 'देवकन्द' जमीन में पकता है। ऊपर तो वह घास जैसा दिखाई देता है, पर भीतर से उसे उखाड़ने पर आकार में इतना बड़ा निकलता है कि कच्चा या भूनकर एक सप्ताह तक का गुजारा चल सकता है। भोजपत्र के तने की मोटी गाँठें होती हैं। उन्हें कूटकर चाय की तरह क्वाथ बना लिया जाए तो पीने पर ठण्ड में भी अच्छा-खासा पसीना आ जाता है। नमक डाल लिया जाए, तो ठीक, अन्यथा बिना नमक के भी वह क्वाथ बड़ा स्वादिष्ट लगता है। भोजपत्र का छिलका ऐसा होता है कि उसे बिछाने, ओढ़ने और पहनने के काम में आच्छादन रूप में लिया जा सकता है। यह बातें यहाँ इसलिए लिखनी पड़ रही हैं कि भगवान ने हर ऋतु की असह्यता से निपटने के लिए सारी व्यवस्था रखी है, परेशान तो मनुष्य अपने मन की दुर्बलता से अथवा अभ्यस्त वस्तुओं की निर्भरता से होता है। यदि मनुष्य आत्म-निर्भर रहे तो तीन-चौथाई समस्याएँ हल हो जाती हैं। एक-चौथाई के लिए अन्य विकल्प ढूँढ़े जा सकते हैं और उनके सहारे समय काटने के अभ्यास किए जा सकते हैं। मनुष्य हर स्थिति में अपने को फिट कर सकता है। उसे तब हैरानी होती है, जब वह यह चाहता है कि अन्य लोग उसकी मर्जी के अनुरूप बन जाएँ, परिस्थितियाँ अपने अनुकूल ढल जाएँ। यदि अपने को बदल लें, तो हर स्थिति से गुजरने के बाद भी उल्लासयुक्त बना रहा जा सकता है।

यह बातें पढ़ी और सुनी तो पहले भी थीं, पर अनुभव में इस वर्ष के अन्तर्गत ही आईं, जो प्रथम हिमालय यात्रा में व्यवहार में लानी पड़ीं। यह अभ्यास एक अच्छी-खासी तपश्चर्या थी, जिसने अपने ऊपर नियन्त्रण करने का भलीप्रकार अभ्यास करा दिया। जब हमें विपरीत परिस्थितियों में भी गुजारा करने से परेशानी का अनुभव नहीं होता था। हर प्रतिकूलता को अनुकूलता की तरह अभ्यास में उतारते देर नहीं लगती।

एकाकी जीवन में काम, क्रोध, लोभ, मोह का कोई अवसर नहीं था। इसलिए उनसे निपटने का कोई झंझट सामने नहीं आया। परीक्षा के रूप में जो भय और प्रलोभन सामने आए उन्हें हँसी में उड़ा दिया गया। यहाँ स्वाभिमान भी काम न कर पाया। सोचा "हम आत्मा हैं। प्रकाशपुंज और समर्थ । गिराने वाले भय और प्रलोभन हमें न तो गिरा सकते हैं, न उलटा घसीट सकते हैं।" मन का निश्चय सुदृढ़ देखकर पतन और पराभव के जो भी अवसर आए, वे परास्त होकर वापस लौट गए। एक वर्ष के उस हिमालय निवास में जो ऐसे अवसर आए, उनका उल्लेख करना यहाँ इसलिए उपयुक्त नहीं समझा कि अभी हम जीवित हैं और अपनी चरित्रनिष्ठा की ऊँचाई का वर्णन करने में कोई आत्म-श्लाघा की गंध सूँघ सकता है। यहाँ तो हमें मात्र इतना ही कहना है कि अध्यात्म-पथ के पथिक को आये दिन भय और प्रलोभनों का दबाव सहना पड़ता है। इनसे जूझने के लिए हर पथिक को कमर कसकर तैयार रहना चाहिए। जो इतनी तैयारी न करेगा उसे उसी तरह पछताना पड़ेगा, जिस प्रकार सरकस के संचालक और रिंगमास्टर का पद बिना तैयारी किए कोई ऐसे ही सँभाल ले और पीछे हाथ-पैर तोड़ लेने अथवा जान जोखिम में डालने का उपहास कराए।

उपासना, साधना और आराधना में साधना ही प्रमुख है। उपासना का कर्मकाण्ड कोई नौकरी की तरह भी कर सकता है। आराधना-पुण्य परमार्थ को कहते हैं। जिसने अपने को साध लिया है, उसके लिए और कोई काम करने के लिए बचता ही नहीं। उत्कृष्टता सम्पन्न मन, अपने लिए सबसे लाभदायक व्यवसाय पुण्य-परमार्थ ही देखता है। इसी में उसकी अभिरुचि और प्रवीणता बन जाती है। हिमालय के प्रथम वर्ष में हमें आत्म-संयम की, मनोनिग्रह की साधना करनी पड़ी। जो कुछ चमत्कार हाथ लगे हैं, उसी के प्रतिफल हैं। उपासना तो समय काटने का एक व्यवसाय बन गया है।

घर चार घण्टे नींद लिया करते थे। यहाँ उसे बढ़ाकर छह घण्टे कर दिया। कारण कि घर पर अनेक स्तर के अनेक काम रहते थे, पर यहाँ तो दिन का प्रकाश हुए बिना मानसिक जप के अतिरिक्त और कुछ कर सकना ही सम्भव न था। पहाड़ों की ऊँचाई में प्रकाश देर से आता है और अन्धेरा जल्दी हो जाता है । इसलिए बारह घण्टे के अन्धेरे में छह घण्टे सोने के लिए और छह घण्टे उपासना के लिए पर्याप्त होने चाहिए। स्नान का बन्धन यहाँ नहीं रहा। मध्याह्न को ही नहाना और कपड़े सुखाना सम्भव होता था। इसलिए परिस्थिति के अनुरूप दिनचर्या बनानी पड़ी। दिनचर्या के अनुरूप परिस्थितियाँ तो बन नहीं सकती थीं।

"प्रथम हिमालय यात्रा कैसी सम्पन्न हुई?" इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि परिस्थितियों के अनुरूप मन को ढाल लेने का अभ्यास भलीप्रकार कर लिया । इसे यों भी कह सकते हैं कि आधी मंजिल पार कर ली। इस प्रकार प्रथम वर्ष में दबाव तो अत्यधिक सहने पड़े, तो भी कच्चा लोहा तेज आग की भट्ठी में ऐसा लोहा बन गया जो आगे चलकर किसी भी काम आ सकने के योग्य बन गया।

पिछला जीवन बिलकुल ही दूसरे ढर्रे में ढला था। सुविधाओं और साधनों के सहारे गाड़ी लुढ़क रही थी। सब कुछ सीधा और सरल लग रहा था, पर हिमालय पहुँचते ही सब कुछ उलट गया। वहाँ की परिस्थितियाँ ऐसी थीं, जिनमें निभ सकना केवल उन्हीं के लिए सम्भव था, जो छिड़ी लड़ाई के दिनों में कुछ ही समय की ट्रेनिंग लेकर सीधे मोर्चे पर चले जाते हैं और उस प्रकार के साहस का परिचय देते हैं, जिसका इससे पूर्व कभी पाला नहीं पड़ा था।

प्रथम हिमालय-यात्रा का प्रत्यक्ष प्रतिफल एक ही रहा कि अनगढ़ मन हार गया और हम जीत गये। प्रत्येक नई असुविधा को देखकर उसने नये बछड़े की तरह हल में चलने से कम आना-कानी नहीं की, किन्तु उसे कहीं भी समर्थन न मिला। असुविधाओं को उसने अनख तो माना और लौट चलने की इच्छा प्रकट की, किन्तु पाला ऐसे किसान से पड़ा था, जो मरने-मारने पर उतारू था। आखिर मन को झक मारनी पड़ी और हल में चलने का अपना भाग्य अंगीकार करना पड़ा। यदि जी कच्चा पड़ा होता, तो स्थिति वह नहीं बन पड़ती जो अब बन गई है। पूरे एक वर्ष नई-नई प्रतिकूलताएँ अनुभव होती रहीं, बार-बार ऐसे विकल्प उठते रहे, जिसका अर्थ होता था कि इतनी कड़ी परीक्षा में पड़ने पर हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जाएगा। भविष्य की सांसारिक प्रगति का द्वार बन्द हो जाएगा। इसलिए समूची स्थिति पर पुनर्विचार करना चाहिए।

एक बार तो मन में ऐसा ही तमोगुणी विचार भी आया, जिसे छिपाना उचित नहीं होगा। वह यह कि जैसा बीसियों ढोंगियों ने हिमालय का नाम लेकर अपनी धर्म-ध्वजा फहरा दी है, वैसा ही कुछ करके सिद्धपुरुष बन जाना चाहिए और उस घोषणा के आधार पर जन्म भर गुलछर्रे उड़ाने चाहिए। ऐसे बीसियों आदमियों की चरित्रगाथा और ऐशो-आराम भरी विडम्बना का हमें आद्योपान्त परिचय है। यह विचार उठा, वैसे ही उसे तत्क्षण जूते के नीचे दबा दिया। समझ में आ गया कि मन की परीक्षा ली जा रही है। सोचा कि जब अपनी सामान्य प्रतिभा के बलबूते ऐशो-आराम के आडम्बर खड़े किए जा सकते हैं, तो हिमालय को, सिद्धपुरुषों को, सिद्धियों को,

भगवान को, तपश्चर्या को बदनाम करके आडम्बर रचने से क्या फायदा ?

इस प्रथम वर्ष में मार्गदर्शक ऋषिसत्ता के साक्षात्कार ने हमें आमूल-चूल बदल दिया, अनगढ़ मन के साथ नये परिष्कृत मन का मल्ल-युद्ध होता रहा और यह कहा जा सकता है कि परिणामस्वरूप हम पूरी विजयश्री लेकर वापस लौटे।

# प्रवास का दूसरा चरण एवं कार्य-क्षेत्र का निर्धारण

प्रथम परीक्षा देने के लिए हिमालय बुलाए जाने के आमंत्रण को प्रायः दस वर्ष बीत गए। फिर बुलाए जाने की आवश्यकता नहीं समझी गई। उनके दर्शन उसी मुद्रा में होते रहे जैसे कि पहली बार हुए थे। ''सब ठीक है'' इतने ही शब्द कहकर प्रत्यक्ष सम्पर्क होता रहा। अन्तरात्मा में उनका समावेश निरन्तर होता रहा। कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि हम अकेले हैं। सदा दो साथ रहने जैसी अनुभूति होती रही। इस प्रकार दस वर्ष बीत गए।

स्वतन्त्रता संग्राम चल ही रहा था। इसी बीच ऋतु अनुकूल पाकर पुनः आदेश आया हिमालय पहुँचने का। दूसरे ही दिन चलने की तैयारी कर दी। आदेश की उपेक्षा करना, विलम्ब लगाना हमारे लिए सम्भव न था। जाने की जानकारी घर के सदस्यों को देकर प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में चल पड़ने की तैयारी कर दी। सड़क तब भी उत्तरकाशी तक ही बनी थी। आगे के लिए निर्माण-कार्य आरम्भ हो रहा था।

रास्ता अपना देखा हुआ था। ऋतु उतनी ठण्डी नहीं थी जितनी कि पिछली बार थी। रास्ते पर आने-जाने वाले मिलते रहे। चट्टियाँ (ठहरने की छोटी धर्मशालाएँ) भी सर्वथा खाली नहीं थीं । इस बार कोई कठिनाई नहीं हुई। सामान भी अपेक्षाकृत साथ में ज्यादा नहीं था। घर जैसी सुविधा तो कहाँ, किन्तु जिन परिस्थितियों में यात्रा करनी पड़ी, वह असह्य नहीं अनभ्यस्त भर थीं। क्रम यथावत् चलता रहा।

पिछली बार जो तीन परीक्षाएँ ली थीं, इस बार इनमें से एक से भी पाला नहीं पड़ा। जो परीक्षा ली जा चुकी है, उसी को बार-बार लेने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। गंगोत्री तक का रास्ता ऐसा था जिसके लिए किसी से पूछताछ नहीं करनी थी। गंगोत्री से गोमुख के १४ मील ही ऐसे हैं, जिनका रास्ता बर्फ पिघलने के बाद हर साल बदल जाता है, चट्टानें टूट जाती हैं और इधर से उधर गिर पड़ती हैं। छोटे नाले भी चट्टानों से रास्ता रुक जाने के कारण अपना रास्ता इधर से बदलते रहते हैं, नये वर्ष का रास्ता यों तो उस क्षेत्र से परिचित किसी जानकार को लेकर पूरा करना पड़ता था या फिर अपनी विशेषबुद्धि का सहारा लेकर, अनुमान के आधार पर बढ़ते और रुकावट आ जाने पर लौटकर दूसरा रास्ता खोजने का क्रम चलता रहा। इस प्रकार गोमुख जा पहुँचे।

आगे के लिए गुरुदेव का सन्देशवाहक साथ जाना था। वह भी सूक्ष्म शरीरधारी था। छायापुरुष यों वीरभद्र स्तर का था। समय-समय पर वे उसी से बहुत से काम लिया करते थे। जितनी बार हमें हिमालय जाना पड़ा, तब नन्दन वन एवं और ऊँचाई तक तथा वापस गोमुख पहुँचाने का काम उसी के जिम्मे था। सो उस सहायक की सहायता से हम अपेक्षाकृत कम समय में और अधिक सरलतापूर्वक पहुँच गये। रास्ते भर दोनों ही मौन रहे।

नन्दनवन पहुँचते ही गुरुदेव का सूक्ष्म शरीर प्रत्यक्ष रूप में सामने विद्यमान था। उनके प्रकट होते ही हमारी भावनाएँ उमड़ पड़ीं। होंठ काँपते रहे। नाक गीली होती रही। ऐसा लगता रहा मानो अपने ही शरीर का कोई खोया अंग फिर मिल गया हो और इसके अभाव में जो अपूर्णता रहती हो सो पूर्ण हो गई हो। उनका सिर पर हाथ रख देना हमारे प्रति अगाध प्रेम के प्रकटीकरण का प्रतीक था। अभिवादन-आशीर्वाद का शिष्टाचार इतने से ही पूर्ण हो गया। गुरुदेव ने हमें संकेत किया, ऋषिसत्ता से पुनः मार्गदर्शन के लिए जाने के विषय में । हृदय में रोमांच हो उठा।

सतयुग के प्रायः सभी ऋषि सूक्ष्म शरीरों से उसी दुर्गम हिमालय क्षेत्र में निवास करते आए हैं, जहाँ हमारा प्रथम साक्षात्कार हुआ था। स्थान नियत करने की दृष्टि से सभी ने अपने-अपने लिए एक-एक गुफा निर्धारित कर ली है। वैसे शरीरचर्या के लिए उन्हें स्थान नियत करने या साधन-सामग्री जुटाने की कोई आवश्यकता नहीं है, तो भी अपने-अपने निर्धारित क्रिया-कलाप पूरे करने तथा आवश्यकतानुसार परस्पर मिलते-जुलते रहने के लिए सभी ने एक-एक स्थान नियत कर लिया है।

पहली यात्रा में हम उन्हें प्रणाम भर कर पाए थे। अब दूसरी यात्रा में गुरुदेव हमें एक-एक करके उनसे अलग-अलग भेंट कराने ले गए। परोक्ष रूप में आशीर्वाद मिला था, अब उनका सन्देश सुनने की बारी थी। दीखने को वे हलके से प्रकाशपुंज की तरह दीखते थे, पर जब अपना सूक्ष्म शरीर सही हो गया, तो उन ऋषियों का सतयुग वाला शरीर भी यथावत दीखने लगा। ऋषियों के शरीर की जैसी संसारी लोग कल्पना किया करते हैं, वे लगभग वैसे ही थे। शिष्टाचार पाला गया। उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। उन्होंने हाथ का स्पर्श जैसा सिर पर रखा और उतने भर से ही रोमांच हो उठा। आनन्द और उल्लास की उमंगें फूटने लगीं।

बात काम की चली। हर एक ने परावाणी में कहा कि हम स्थूल शरीर से जो गतिविधियाँ चलाते थे, वे अब पूरी तरह समाप्त हो गई हैं। फूटे हुए खण्डहरों के अवशेष हैं। जब हम लोग दिव्यदृष्टि से उन क्षेत्रों की वर्तमान स्थिति देखते हैं तो बड़ा कष्ट होता है। गंगोत्री से लेकर हरिद्वार तक का पूरा क्षेत्र ऋषि क्षेत्र था । उस एकान्त में मात्र तपश्चर्या की विधा पूरी होती थी।

उत्तरकाशी में जैसा जमदग्नि का गुरुकुल आरण्यक था, जहाँ-तहाँ वैसे अनेक ऋषि-आश्रम संव्याप्त थे। शेष

ऋषि अपने-अपने हिस्से की शोध-तपश्चर्याएँ करने में संलग्न रहते थे। देवताओं के स्थान वहाँ थे, जहाँ अब आजकल हम लोग रहते हैं। हिमयुग के उपरान्त न केवल स्थान ही बदल गए, वरन् गतिविधियाँ बदलीं तो क्या, पूरी तरह समाप्त ही हो गईं, उनके चिह्न भर शेष रह गए हैं?

उत्तराखण्ड में जहाँ-तहाँ देवी-देवताओं के मन्दिर तो बन गए हैं ताकि उन पर धनराशि चढ़ती रहे और पुजारियों का गुजारा होता चले, पर इस बात को न कोई पूछने वाला है न बताने वाला कि ऋषि कौन थे? कहाँ थे? क्या करते थे? उसका कोई चिह्न भी अब बाकी नहीं रहा। हम लोगों की दृष्टि में ऋषि-परम्परा की तो अब एक प्रकार से प्रलय ही हो गई।

लगभग यही बात उन बीसियों ऋषियों की ओर से कही गई, जिनसे हमारी भेंट कराई गई। विदाई देते समय सभी की आँखें डबडबाई-सी दीखीं। लगा कि सभी व्यथित हैं। सभी का मन उदास और भारी है, पर हम क्या कहते? इतने ऋषि मिलकर जितना भार उठाते थे उसे उठाने की अपनी सामर्थ्य भी तो नहीं है। उन सबका मन भारी देखकर अपना चित्त भी द्रवित हो गया, सोचते रहे भगवान ने किसी लायक हमें बनाया होता तो इन देवपुरुषों को इतना व्यथित देखते हुए चुप्पी साधकर ऐसे ही वापस न लौट जाते। स्तब्धता अपने ऊपर भी छा गई और आँखें डबडबाने लगीं, प्रवाहित होने लगीं। इतने समर्थ ऋषि, इतने असहाय, इतने दुःखी, यह उनकी वेदना हमें बिच्छू के डंक की तरह पीड़ा देने लगी।

गुरुदेव की आत्मा और हमारी आत्मा साथ-साथ चल रही थी। दोनों एक-दूसरे को देख रहे थे। साथ में उनके चेहरे पर भी उदासी छाई हुई थी। हे भगवान, कैसा विषम समय आया कि किसी ऋषि का कोई उत्तराधिकारी नहीं उपजा। सबका वंशनाश हो गया। ऋषिप्रवृत्तियों में से एक भी सजीव नहीं दीखती। करोड़ों की संख्या में ब्राह्मण हैं और लाखों की संख्या में सन्त, पर उनमें से दस-बीस भी जीवित रहे होते तो गाँधी और बुद्ध की तरह गजब दिखाकर रख देते, पर अब क्या हो? कौन करे? किस बलबूते पर करे?

राजकुमारी की आँखों से आँसू टपकने पर और इतना कहने भर कि "को वेदान् उद्धरस्मसि?" अर्थात् "वेदों का उद्धार कौन करेगा?" इसके उत्तर में कुमारिल भट्ट ने कहा था कि "अभी यह कुमारिल भूतल पर है। इस प्रकार विलाप न करो।" तब एक कुमारिल भट्ट जीवित था। उसने जो कहा था सो कर दिखाया, पर आज तो कोई कहीं न ब्राह्मण है, न सन्त। ऋषियों की बात तो बहुत आगे की है। आज तो छद्म वेशधारी ही चित्र-विचित्र रूप बनाए रँगे सियारों की तरह पूरे वनप्रदेश में हुँआ-हुँआ करते फिर रहे हैं।

दूसरे दिन लौटने पर हमारे मन में इस प्रकार के विचार दिन भर उठते रहे। जिस गुफा में निवास था, दिन भर यही चिन्तन चलता रहा। लेकिन गुरुदेव उन्हें पूरी तरह पढ़ रहे थे, मेरी कसक उन्हें भी दुःख दे रही थी।

उन्होंने कहा- "फिर ऐसा करो! अब की बार उन सबसे मिलने फिर से चलते हैं। कहना आप लोग कहें तो उसका बीजारोपण तो मैं कर सकता हूँ। खाद-पानी आप देंगे तो फसल उग पड़ेगी अन्यथा प्रयास करने से अपना मन तो हलका होगा ही।"

"साथ में यह भी पूछना कि शुभारम्भ किस प्रकार किया जाए, इसकी रूपरेखा बताएँ। मैं कुछ न कुछ अवश्य करूँगा। आप लोगों का अनुग्रह बरसेगा तो इस सूखे श्मशान में हरीतिमा उगेगी।"

गुरुदेव के आदेश पर तो मैं यह भी कह सकता था कि जलती आग में जल मरूँगा। जो होना होगा, सो होता रहेगा। प्रतिज्ञा करने और उसे निभाने में प्राण की साक्षी देकर प्रण तो किया ही जा सकता है। यह विचार मन में उठ रहे थे। गुरुदेव उन्हें पढ़ रहे थे। अबकी बार मैंने देखा उनका चेहरा ब्रह्मकमल जैसा खिल गया।

दोनों स्तब्ध थे और प्रसन्न भी। पीछे लौट चलने और उन सभी ऋषियों से दुबारा मिलने का निश्चय हुआ, जिनसे कि अभी-अभी विगत रात्रि ही मिलकर आए थे। दुबारा हम लोगों को वापस आया हुआ देखकर उनमें से प्रत्येक बारी-बारी से प्रसन्न होता गया और आश्चर्यान्वित भी।

मैं तो हाथ जोड़े, सिर नवाए मन्त्र-मुग्ध की तरह खड़ा रहा। गुरुदेव ने मेरी कामना, इच्छा और उमंग उन्हें परोक्षतः परावाणी में कह सुनाई और कहा- "यह निर्जीव नहीं है, जो कहता है, उसे करेगा भी। आप यह बताइए कि आपका जो कार्य छूटा हुआ है, उसका नए सिरे से बीजारोपण किस तरह हो। खाद-पानी आप-हम लोग लगाते रहेंगे, तो इसका उठाया हुआ कदम खाली नहीं जाएगा।"

इसके बाद उन्होंने गायत्री पुरश्चरण की पूर्ति पर मथुरा में होने वाले सहस्रकुण्डी पूर्णाहुति यज्ञ में इसी छाया रूप में पधारने का आमन्त्रण दिया और कहा यह बन्दर तो है, पर है हनुमान। यह रीछ तो है, पर है जामवन्त। यह गिद्ध तो है, पर है जटायु। आप इसे निर्देश दीजिए और आशा कीजिए कि जो छूट गया है, जो टूट गया है, वह फिर से विनिर्मित होगा और अंकुर वृक्ष बनेगा। हम लोग निराश क्यों हों? इससे आशा क्यों न बाँधें, जबकि यह गत तीन जन्मों में दिए गए दायित्वों को निष्ठापूर्वक निभाता रहा है।

चर्चा एक से चल रही थी, पर निमन्त्रण पहुँचते एक क्षण लगा और वे सभी एक-एक करके एकत्रित हो गए। निराशा गई, आशा बँधी और आगे का कार्यक्रम बना कि जो हम सब करते रहे हैं, उसका बीज एक खेत में बोया जाए और पौधशाला में पौध तैयार की जाए, उसके पौधे सर्वत्र लगेंगे और उद्यान लहलहाने लगेगा।

यह शान्तिकुंज बनाने की योजना थी, जो हमें मथुरा के निर्धारित निवास के बाद पूरी करनी थी। गायत्री नगर बसने और ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान का ढाँचा खड़ा किए जाने की योजना भी विस्तार से समझाई गयी। हमने ध्यान

से उसका एक-एक अक्षर हृदय-पटल पर लिख लिया और निश्चय किया कि २४ लक्ष का पुरश्चरण पूरा होते ही इस कार्यक्रम की रूपरेखा बनेगी और चलेगी । निश्चय ही, अवश्य ही और जिसे गुरुदेव का संरक्षण प्राप्त हो वह असफल रहे, ऐसा हो ही नहीं सकता।

एक दिन और रुका। उसमें गुरुदेव ने पुरश्चरण की पूर्णाहुति का स्वरूप विस्तार से समझाया एवं कहा कि- ''पिछले वर्षों की स्थिति और घटनाक्रम को हम बारीकी से देखते रहे हैं और उसमें जहाँ कुछ अनुपयुक्त जँचा है, उसे ठीक करते रहे हैं। अब आगे क्या करना है, उसी का स्वरूप समझाने के लिए इस बार बुलाया गया है। पुरश्चरण पूरा होने में अब बहुत समय नहीं रहा है, उसे मथुरा जाकर पूरा करना चाहिए। अब तुम्हारे जीवन का दूसरा चरण मथुरा से आरम्भ होगा।

प्रयाग के बाद मथुरा ही देश का मध्य केन्द्र है। आवागमन की दृष्टि से वही सुविधाजनक भी है। स्वराज्य हो जाने के बाद तुम्हारा राजनैतिक उत्तरदायित्व तो पूरा हो जाएगा, पर वह कार्य अभी पूरा नहीं होगा। राजनैतिक क्रान्ति तो होगी, आर्थिक क्रान्ति तथा उससे सम्बन्धित कार्य भी सरकार करेगी, किन्तु इसके बाद तीन क्रान्तियाँ और शेष हैं, जिन्हें धर्मतन्त्र के माध्यम से ही पूरा किया जाना है। उनके बिना पूर्णता न हो सकेगी। देश इसलिए पराधीन या जर्जर नहीं हुआ था कि यहाँ शूरवीर नहीं थे। आक्रमणकारियों को परास्त नहीं कर सकते थे। भीतरी दुर्बलताओं ने पतन-पराभव के गर्त में धकेला। दूसरों ने तो उस दुर्बलता का लाभ भर उठाया।

नैतिक क्रान्ति, बौद्धिक क्रान्ति और सामाजिक क्रान्ति सम्पन्न की जानी है। इसके लिए उपयुक्त व्यक्तियों का संग्रह करना और जो करना है उससे सम्बन्धित विचारों को व्यक्त करना अभी से आवश्यक है। इसलिए तुम अपना घर-गाँव छोड़कर मथुरा जाने की तैयारी करो। वहाँ एक छोटा घर लेकर एक मासिक पत्रिका आरम्भ करो। साथ ही तीनों क्रान्तियों के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी देने का प्रकाशन भी । अभी तुम से इतना ही काम बन पड़ेगा। थोड़े ही दिन उपरान्त तुम्हें दुर्वासा ऋषि की तपःस्थली में मथुरा के समीप एक भव्य गायत्री मन्दिर बनाना है। सहकर्मियों के आवागमन, निवास, ठहरने आदि के लिए इसके उपरान्त २४ महापुरश्चरण के पूरे हो जाने की पूर्णाहुति स्वरूप एक महायज्ञ करना है। अनुष्ठानों की परम्परा जप के साथ यज्ञ करने की है। तुम्हारे २४ लक्ष के २४ अनुष्ठान पूरे होने जा रहे हैं। इसके लिए एक सहस्र कुण्डों की यज्ञशाला में एक हजार मान्त्रिकों द्वारा २४ लाख आहुतियों का यज्ञ आयोजन किया जाना है। उसी अवसर पर ऐसा विशालकाय संगठन खड़ा हो जाएगा, जिसके द्वारा तत्काल धर्मतन्त्र से जन-जाग्रति का कार्य प्रारम्भ किया जा सके। यह अनुष्ठान की पूर्ति का प्रथम चरण है। लगभग २५ वर्षों में इस दायित्व की पूर्ति के उपरान्त तुम्हें सप्त सरोवर हरिद्वार जाना है। वहाँ रहकर वह कार्य पूरा करना है, जिसके लिए ऋषियों की विस्मृत परम्पराओं को पुनर्जाग्रत करने हेतु तुमने स्वीकृति सूचक सम्मति दी थी।''

मथुरा की कार्यशैली आदि से अन्त तक किस प्रकार सम्पन्न की जानी है, इसकी एक सुविस्तृत रूप रेखा उन्होंने आदि से अन्त तक समझायी। इसी बीच आर्ष साहित्य के अनुवाद, प्रकाशन, प्रचार की तथा गायत्री परिवार के संगठन और उसके सदस्यों को काम सौंपने की रूपरेखा उन्होंने बता दी।

जो आदेश हो रहा है, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहने दी जाएगी। यह मैंने प्रथम मिलन की तरह उन्हें आश्वासन दे दिया, पर एक ही सन्देह रहा कि इतने विशाल कार्य के लिए जो धन-शक्ति और जन-शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी, उसकी पूर्ति कहाँ से होगी?

मन को पढ़ रहे गुरुदेव हँस पड़े ''इन साधनों के लिए चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। जो तुम्हारे पास है, उसे बोना आरम्भ करो। इसकी फसल सौगुनी होकर पक जाएगी और जो काम सौंपे गए हैं, उन सभी के पूरा हो जाने का सुयोग बन जाएगा।'' क्या हमारे पास है, उसे कैसे कहाँ बोया जाना है और उसकी फसल कब, किस प्रकार पकेगी? यह जानकारी भी उन्होंने दे दी।

जो उन्होंने कहा, उसकी हर बात गाँठ बाँध ली। भूलने का तो प्रश्न ही नहीं था। भूला तब जाता है, जब उपेक्षा होती है। सेनापति का आदेश सैनिक कहाँ भूलता है? हमारे लिए भी अवज्ञा एवं उपेक्षा करने का कोई प्रश्न नहीं। वार्त्ता समाप्त हो गई। इस बार छह महीने ही हिमालय रुकने का आदेश हुआ। जहाँ रुकना था, वहाँ की सारी व्यवस्था बना दी गयी थी।

गुरुदेव के वीरभद्र ने हमें गोमुख पहुँचा दिया। वहाँ से हम निर्देशित स्थान पर जा पहुँचे और छह महीने पूरे कर लिए। लौटकर घर आए, तो स्वास्थ्य पहले से भी अच्छा था। प्रसन्नता और गम्भीरता बढ़ गई थी, जो प्रतिभा के रूप में चेहरे के इर्द-गिर्द छाई हुई थी। लौटने पर जिन्होंने भी देखा, उन सभी ने कहा- ''लगता है, हिमालय में कहीं बड़ी सुख-सुविधा का स्थान है। तुम वहीं जाते हो और स्वास्थ्य-संवर्द्धन करके लौटते हो।'' हमने हँसने के अतिरिक्त और कोई भी उत्तर नहीं दिया।

अब मथुरा जाने की तैयारी थी। एक बार दर्शन की दृष्टि से मथुरा देखा तो था, पर वहाँ किसी से परिचय न था। चलकर पहुँचा गया और 'अखण्ड-ज्योति' प्रकाशन के लायक एक छोटा मकान किराए पर लेने का निश्चय किया।

मकानों की उन दिनों भी किल्लत थी। बहुत ढूँढ़ने के बाद भी आवश्यकता के अनुरूप मिल नहीं रहा था। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते घीयामण्डी जा निकले। एक मकान खाली मिला। बहुत दिन से खाली पड़ा था। मालकिन एक बुढ़िया थी। किराया पूछा तो उसने पन्द्रह रुपया बताया और चाबी हाथ में थमा दी। भीतर घुसकर देखा तो उसमें छोटे-बड़े

कुल पन्द्रह कमरे थे। था तो जीर्ण-शीर्ण, पर एक रुपया कमरे के हिसाब से वह महँगा किसी दृष्टि से न था। हमारे लिए कामचलाऊ भी था। पसन्द आ गया और एक महीने का किराया पेशगी, पन्द्रह रुपया हाथ पर रख दिये। बुढ़िया बहुत प्रसन्न थी।

घर जाकर सभी सामान ले आए और पत्नी-बच्चों समेत उसमें रहने लगे। सारे मुहल्ले में कानाफूँसी होते सुनी, मानो हमारा वहाँ आना कोई आश्चर्य का विषय हो। पूछा तो लोगों ने बताया कि- "यह भुतहा मकान है । इसमें जो भी आया, जान गँवाकर गया। कोई टिका नहीं। हमने तो कितनों को ही आते और धन-जन की भारी हानि उठाकर भागते हुए देखा । आप बाहर के नये आदमी हैं, इसलिए धोखे में आ गए। अब बात आपके कान में डाल दी। यदि ऐसा न होता तो तीन मंजिल १५ कमरों का मकान वर्षों से क्या खाली पड़ा रहता? आप समझ-बूझकर भी उसमें रह रहे हैं । नुकसान उठाएँगे।"

इतना सस्ता और इतना उपयोगी मकान अन्यत्र मिल नहीं रहा था। हमने तो उसी में रहने का निश्चय किया। भुतहा होने की बात सच थी। रात भर छत के ऊपर धमा-चौकड़ी मचती रहती। ठठाने की, रोने की, लड़ने की आवाजें आतीं। उस मकान में बिजली तो थी नहीं। लालटेन जलाकर ऊपर गए तो कुछ स्त्री-पुरुष आकृतियाँ कुछ आगे कुछ पीछे भागते दीखे, पर साक्षात् भेंट नहीं हुई। न उन्होंने हमें कोई नुकसान ही पहुँचाया। ऐसा घटनाक्रम कोई दस दिन तक लगातार चलता रहा।

एक दिन हम रात को १ बजे के करीब ऊपर गए। लालटेन हाथ में थी। भागने वालों से रुकने के लिए कहा। रुक गए। हमने कहा- "आप बहुत दिन से इस घर में रहते आए हैं। ऐसा करें कि ऊपर की मंजिल के सात कमरों में आप लोग गुजारा करें। नीचे के आठ कमरों में हमारा काम चल जाएगा। इस प्रकार हम सब राजीनामा करके रहें। न आप लोग परेशान हों और न हमें हैरान होना पड़े।" किसी ने उत्तर नहीं दिया। खड़े जरूर रहे । दूसरे दिन से पूरा घटनाक्रम बदल गया। हमने अपनी ओर से समझौते का पालन किया और वे सभी उस बात पर सहमत हो गए। छत पर कभी-कभी चलने-फिरने जैसी आवाज तो सुनी गई, पर ऐसा उपद्रव न हुआ, जिससे हमारी नींद हराम होती, बच्चे डरते या काम में विघ्न पड़ता। घर में जो टूट-फूट थी, अपने पैसों से सँभलवा ली। 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका पुनः इसी घर से प्रकाशित होने लगी। परिजनों से पत्र-व्यवहार यहीं आरम्भ किया। पहले वर्ष में ही दो हजार के करीब ग्राहक बन गए। ग्राहकों से पत्र-व्यवहार करते और वार्त्तालाप के लिए बुलाते रहे। अध्ययन का क्रम तो रास्ता चलने के समय में चलता रहा। रोज टहलने जाते थे, उसी समय में दो घण्टा नित्य पढ़ लेते। अनुष्ठान भी अपनी छोटी-सी पूजा की कोठरी में चलता रहता। काँग्रेस के काम के स्थान पर लेखनकार्य को अब गति दे दी। 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका, आर्ष साहित्य का अनुवाद, धर्मतन्त्र से लोक-शिक्षण की रूपरेखा, इन्हीं विषयों पर लेखनी चल पड़ी, पत्रिका अपनी ही हैण्ड प्रेस से छापते, शेष साहित्य दूसरी प्रेसों से छपा लेते। इस प्रकार ढर्रा तो चला, पर वह चिन्ता बराबर बनी रही कि अगले दिनों मथुरा में रहकर जो प्रकाशन का बड़ा काम करना है, प्रेस लगाना है, गायत्री तपोभूमि का भव्य भवन बनाना है, यज्ञ इतने विशाल रूप में करना है, जितना महाभारत के उपरान्त नहीं हुआ, इन सबके लिए धन-शक्ति और जन-शक्ति कैसे जुटे? उसके लिए गुरुदेव का वही सन्देश आँखों के सामने आ खड़ा होता था कि "बोओ और काटो"। उसे अब समाजरूपी खेत में कार्यान्वित करना था। सच्चे अर्थों में अपरिग्रही ब्राह्मण बनना था, इसी कार्यक्रम की रूपरेखा मस्तिष्क में घूमने लगी।

## विचार-क्रान्ति का बीजारोपण, पुनः हिमालय आमंत्रण

मथुरा से ही उस विचार-क्रान्ति अभियान ने जन्म लिया जिसके माध्यम से आज करोड़ों व्यक्तियों के मन-मस्तिष्कों को उलटने का संकल्प पूरा कर दिखाने का हमारा दावा सत्य होता दिखाई दे रहा है। सहस्र कुण्डी यज्ञ तो पूर्वजन्म से जुड़े उन परिजनों के समागम का एक माध्यम था, जिन्हें भावी जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी थी। इस यज्ञ में एक लाख से भी अधिक लोगों ने समाज से, परिवार से एवं अपने अन्दर से बुराइयों को निकाल फेंकने की प्रतिज्ञाएँ लीं। यह यज्ञ नरमेध यज्ञ था। इसमें हमने समाज के लिए समर्पित लोकसेवियों की माँग की एवं समयानुसार हमें वे सभी सहायक उपलब्ध होते चले गए। यह सारा खेल उस अदृश्य बाजीगर द्वारा सम्पन्न होता ही हम मानते आए हैं, जिसने हमें माध्यम बनाकर समग्र परिवर्तन का ढाँचा खड़ा कर दिखाया।

मथुरा में ही नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्रान्ति के लिए गाँव-गाँव आलोक वितरण करने एवं घर-घर अलख जगाने के लिए सर्वत्र गायत्री यज्ञ समेत युग-निर्माण सम्मेलन के आयोजनों की एक व्यापक यज्ञ योजना बनाई गई। मथुरा के सहस्र कुण्डी यज्ञ के अवसर पर जो प्रज्ञावान व्यक्ति आये थे, उन्होंने अपने यहाँ एक शाखा-संगठन खड़ा करने और एक ऐसा ही यज्ञ आयोजन का दायित्व अपने कन्धों पर लिया, ये कहें कि उस दिव्य वातावरण में अन्तःप्रेरणा ने उन्हें वह दायित्व सौंपा ताकि हर व्यक्ति न्यूनतम एक हजार विचारशील व्यक्तियों को अपने समीपवर्ती क्षेत्र में से ढूँढ़कर अपना सहयोगी बनाए। आयोजन चार-चार दिन के रखे गए। इनमें तीन-दिन तीन क्रान्तियों की विस्तृत रूपरेखा और कार्य-पद्धति समझाने वाले संगीत और प्रवचन रखे गए। अन्तिम चौथे दिन यज्ञाग्नि के सम्मुख उन लोगों से व्रतधारण करने को कहा गया, जो अवांछनीयता को छोड़ने और उचित परम्पराओं को अपनाने के लिए तैयार थे।

ऐसे आयोजन जहाँ-जहाँ भी हुए, बहुत ही सफल रहे। इनके माध्यम से प्रायः एक करोड़ व्यक्तियों ने मिशन की विचारधारा को सुना एवं लाखों व्यक्ति ऐसे थे, जिन्होंने अनैतिकताओं, अन्ध-विश्वासों एवं कुरीतियों के परित्याग की प्रतिज्ञाएँ लीं। इन आयोजनों में अधिकांश के बिना दहेज और धूमधाम के साथ विवाह हुए। मथुरा में एक और सौ कुण्डी यज्ञ में १०० आदर्श विवाह कराए गए। तब से ये प्रचलन बराबर चलते आ रहे हैं और हर वर्ष इस प्रकार के आन्दोलन से अनेक व्यक्ति लाभ उठाते रहे हैं।

सहस्र कुण्डीय यज्ञ से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रसंगों से जुड़े अनेकानेक रहस्यमय घटनाक्रमों का विवरण बताना अभी जनहित में उपयुक्त न होगा। इस काया को छोड़ने के बाद ही यह रहस्योद्‌घाटन हो, ऐसा प्रतिबन्ध हमारे मार्गदर्शक का है, सो हमने उसे दबी कलम से ही लिखा है। इस महान यज्ञ से हमें प्रत्यक्ष रूप से काफी कुछ मिला है। एक बहुत बड़ा संगठन रातोंरात गायत्री परिवार के रूप में खड़ा हो गया। युग-निर्माण योजना के विचार-क्रान्ति अभियान एवं धर्मतन्त्र से लोक-शिक्षण के रूप में उसकी भावी भूमिका भी बन गयी। जिन-जिन स्थानों से आए व्यक्तियों ने अपने यहाँ शाखा स्थापित करने के संकल्प लिए, लगभग वहीं दो दशक बाद हमारे प्रज्ञासंस्थान एवं स्वाध्याय-मण्डल विनिर्मित हुए। जिन स्थायी कार्यकर्त्ताओं ने हमारे मथुरा से आने के बाद प्रेस प्रकाशन, संगठन-प्रचार का दायित्व अपने कन्धों पर लिया, वे इसी महायज्ञ से उभरकर आए थे। सम्प्रति शान्तिकुंज में स्थायी रूप से कार्यरत बहुसंख्य स्वयंसेवकों की पृष्ठभूमि में इस महायज्ञ अथवा इसके बाद देश भर में हुए आयोजनों की प्रमुख भूमिका रही है।

इससे हमारी स्वयं की संगठन-सामर्थ्य विकसित हुई। हमने गायत्री तपोभूमि के सीमित परिकर में ही एक सप्ताह, नौ दिन एवं एक-एक माह के कई शिविर आयोजित किए। आत्मोन्नति के लिए पंचकोशी साधना शिविर, स्वास्थ्य-संवर्द्धन हेतु कायाकल्प सत्र एवं संगठन विस्तार हेतु परामर्श एवं जीवन-साधना सत्र उन कुछ प्रमुख आयोजनों में से हैं, जो हमने सहस्र एवं शतकुण्डी यज्ञ के बाद मथुरा में मार्गदर्शक के निर्देशानुसार सम्पन्न किए। गायत्री तपोभूमि में आने वाले परिजनों से जो हमें प्यार मिला, परस्पर आत्मीयता की जो भावना विकसित हुई, उसी ने एक विशाल गायत्री परिवार को जन्म दिया। यह वही गायत्री परिवार है जिसका हर सदस्य हमें पिता के रूप में, उँगली पकड़ कर चलाने वाले मार्गदर्शक के रूप में, घर-परिवार मन की समस्याओं को सुलझाने वाले चिकित्सक के रूप में देखता आया है।

इसी स्नेह-सद्‌भाव के नाते हमें भी उनके यहाँ जाना पड़ा, जो हमारे यहाँ आए थे। कई स्थानों पर छोटे-छोटे यज्ञायोजन थे, कहीं सम्मेलन, तो कहीं प्रबुद्ध समुदाय के बीच तर्क, तथ्य, प्रतिपादनों के आधार पर गोष्ठी आयोजन। हमने जब मथुरा छोड़कर हरिद्वार आने का निश्चय किया तो लगभग दो वर्ष तक पूरे भारत का दौरा करना पड़ा। पाँच स्थानों पर तो उतने ही बड़े सहस्र कुण्डी यज्ञों का आयोजन था, जितना बड़ा मथुरा का सहस्र कुण्डी यज्ञ था। ये थे टाटानगर, महासमुन्द, बहराइच, भीलवाड़ा एवं पोरबंदर। एक दिन में तीन-तीन स्थान पर रुकते हुए हजारों मील का दौरा अपने अज्ञातवास पर जाने के पूर्व कर डाला। इस दौरे से हमारे हाथ लगे समर्पित समयदानी कार्यकर्त्ता। ऐसे अगणित व्यक्ति हमारे सम्पर्क में आए, जो पूर्व जन्म में ऋषिजीवन जी चुके थे। उनकी समस्त सामर्थ्य का पहचानकर हमने उन्हें परिवार से जोड़ा और इस प्रकार पारिवारिक सूत्रों से बँधा एक विशाल संगठन बनकर खड़ा हो गया।

मार्गदर्शक का आदेश वर्षों पूर्व मिल चुका था कि हमें छह माह के प्रवास के लिए पुनः हिमालय जाना होगा, पर पुनः मथुरा न लौटकर हमेशा के लिए वहाँ से मोह तोड़ते हुए हरिद्वार सप्तसरोवर में सप्तऋषियों की तपस्थली में ऋषिपरम्परा की स्थापना करनी होगी। अपना सारा दायित्व हमने क्रमशः धर्मपत्नी के कन्धों पर सौंपना काफी पूर्व से आरम्भ कर दिया था। वे पिछले तीन में से दो जन्मों में हमारी जीवनसंगिनी बनकर रही ही थीं। इस जन्म में भी उन्होंने अभिन्न साथी-सहयोगी की भूमिका निभाई थी। वस्तुतः हमारी सफलता के मूल में उनके समर्पण-एकनिष्ठ सेवा-भाव को देखा जाना चाहिए। जो कुछ भी हमने चाहा, जिन प्रतिकूलताओं में जीवन जीने हेतु कहा, उन्होंने सहर्ष अपने को उस क्रम में ढाल लिया। हमारी पारिवारिक पृष्ठभूमि ग्रामीण जमींदार के घराने की थी, तो उनकी एक धनी शहरी खानदान की, परन्तु जब घुलने का प्रश्न आया तो दोनों मिलकर एक हो गए। हमने अपने गाँव की भूमि विद्यालय हेतु दे दी एवं जमींदारी के बॉण्ड से मिली राशि गायत्री तपोभूमि के लिए जमीन खरीदने हेतु, तो उन्होंने अपने सभी जेवर तपोभूमि का भवन विनिर्मित होने के लिए दे दिए। यह त्याग-समर्पण उनका है, जिसने हमें इतनी बड़ी ऊँचाइयों तक पहुँचाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अपनी दूसरी हिमालय यात्रा में उन्होंने हमारी अनुपस्थिति में सम्पादन, संगठन की जिम्मेदारी सँभाली ही थी। अब हम १० वर्ष बाद १९७१ में एक बहुत बड़ा परिवार अपने पीछे छोड़कर हिमालय जा रहे थे। गायत्री परिवार को दृश्य रूप में एक संरक्षक चाहिए था, जो उन्हें स्नेह-ममत्व दे सके। उनकी दुःख भरी वेदना में आँसू पोंछने का कार्य माता ही कर सकती थी। माताजी ने यह जिम्मेदारी भली-भाँति सँभाली। प्रवास पर जाने के ३ वर्ष पूर्व से ही हम लम्बे दौरे पर रहा करते थे। ऐसे में मथुरा आने वाले परिजनों से मिलकर उन्हें दिलासा देने का कार्य वे अपने कन्धों पर ले चुकी थीं। हमारे सामाजिक जीवन जीने में हमें उनका सतत सहयोग ही मिला। २०० रुपये में पाँच व्यक्तियों का गुजारा, परिवार का भरण-पोषण किया,

आने वालों का समुचित आतिथ्य-सत्कार भी वे करती रहीं। किसी को निराश नहीं लौटने दिया।

मथुरा में जिया हमारा जीवन एक अमूल्य धरोहर के रूप में है। इससे न केवल हमारी भावी क्रान्तिकारी जीवन की नींव ढली अपितु क्रमशः प्रत्यक्ष पीछे हटने की स्थिति में दायित्व सँभाल सकने वाले मजबूत कन्धों वाले नरतत्व भी हाथ लगे।

## मथुरा के कुछ रहस्यमय प्रसंग

प्रारम्भ में मथुरा में रहकर जिन गतिविधियों को चलाने के लिए हिमालय से आदेश हुआ था, उन्हें अपनी जानकारी की क्षमता द्वारा कर सकना कठिन था। न साधन, न साथी, न अनुभव, न कौशल। फिर इतने विशाल काम किस प्रकार बन पड़े? हिम्मत टूटती-सी देखकर मार्गदर्शक ने परोक्षतः लगाम हाथ में सँभाली। हमारे शरीर भर का उपयोग हुआ। बाकी सब काम कठपुतली नचाने वाला बाजीगर स्वयं करता रहा, लकड़ी के टुकड़े का श्रेय इतना ही है कि तार मजबूती से जकड़ कर रखा और जिस प्रकार नाचने का संकेत हुआ, वैसा करने से इनकार नहीं किया।

चार घण्टे नित्य लिखने के लिए निर्धारण किया। लगता रहा कि व्यास और गणेश का उदाहरण चल पड़ा। पुराणलेखन में व्यास बोलते गए थे। ठीक वही यहाँ हुआ। आर्ष ग्रन्थों का अनुवाद कार्य अति कठिन है। चारों वेद, १०८ उपनिषद्, छहों दर्शन, चौबीसों स्मृतियाँ आदि-आदि सभी ग्रन्थों में हमारी कलम और उँगलियों का उपयोग हुआ। बोलती-लिखाती कोई और अदृश्य शक्ति रही, अन्यथा इतना कठिन काम इतनी जल्दी बन पड़ना सम्भव न था। फिर धर्मतन्त्र से लोक-शिक्षण का प्रयोग पूरा करने वाली सैकड़ों की संख्या में लिखी गयी पुस्तकें मात्र एक व्यक्ति के बलबूते किस प्रकार होती रह सकती थीं। यह लेखनकार्य जिस दिन से आरम्भ हुआ, उस दिन से लेकर आज तक बन्द ही नहीं हुआ। वह बढ़ते-बढ़ते इतना हो गया, जितना हमारे शरीर का वजन है।

प्रकाशन के लिए प्रेस की जरूरत हुई। अपने बलबूते पर हैण्डप्रेस का जुगाड़ किसी तरह जुटाया गया। जिसे काम कराना था, वह इतनी-सी बाल-क्रीड़ा को देखकर हँस पड़ा। प्रेस का विकास हुआ। ट्रेडिलें, सिलेण्डर, आटोमेटिक, ऑफसेटें एक के बाद एक आती चली गयीं। उन सबकी कीमतें व प्रकाशित साहित्य की लागत लाखों को पार कर गयी।

'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका के अपने पुरुषार्थ से दो हजार तक ग्राहक बनने पर बात समाप्त हो गयी थी। फिर मार्गदर्शक ने धक्का लगाया तो अब वह बढ़ते-बढ़ते डेढ़ लाख के करीब छपती है, जो एक कीर्तिमान है। उसके और भी दस गुने बढ़ने की ही सम्भावना है। युग-निर्माण योजना हिन्दी, युगशक्ति गायत्री गुजराती, युगशक्ति उड़िया आदि सब मिलाकर भी डेढ़ लाख करीब हो जाती हैं। एक व्यक्ति द्वारा रचित इतनी उच्चकोटि की, इतनी संख्या में पत्रिका छपती हैं और घाटा जेब में से न देना पड़ता हो, यह एक कीर्तिमान है, जैसा अपने देश में अन्यत्र उदाहरण नहीं ढूँढ़ा जा सकता।

गायत्री परिवार का संगठन करने के निमित्त-महापुरश्चरण की पूर्णाहुति के बहाने हजार कुण्डी यज्ञ मथुरा में हुआ था, उसके सम्बन्ध में यह कथन अत्युक्तिपूर्ण नहीं है कि इतना बड़ा आयोजन महाभारत के उपरान्त आज तक नहीं हुआ।

उसकी कुछ रहस्यमयी विशेषताएँ ऐसी थीं, जिनके सम्बन्ध में सही बात कदाचित ही किसी को मालूम हो। एक लाख नैष्ठिक गायत्री उपासक देश के कोने-कोने में से आमन्त्रित किए गए। वे सभी ऐसे थे जिन्होंने धर्मतन्त्र से लोक-शिक्षण का काम हाथों-हाथ सँभाल लिया और इतना बड़ा हो गया, जितने कि भारत के समस्त धार्मिक संगठन मिलकर भी पूरे नहीं होते। इन व्यक्तियों से हमारा परिचय बिलकुल न था, पर उन सबके पास निमन्त्रण-पत्र पहुँचे और वे अपना मार्गव्यय खर्च करके भागते चले आए। यह एक पहेली है जिसका समाधान ढूँढ़ पाना कठिन है।

दर्शकों की संख्या मिलाकर दस लाख तक प्रतिदिन पहुँचती रही। इन्हें सात मील के घेरे में ठहराया गया था। किसी को भूखा नहीं जाने दिया। किसी से भोजन का मूल्य नहीं माँगा गया। अपने पास खाद्य-सामग्री मुट्ठी भर थी। इतनी जो एक बार में बीस हजार के लिए भी पर्याप्त न होती, पर भण्डार अक्षय हो गया। पाँच दिन के आयोजन में प्रायः ५ लाख से अधिक खा गये। पीछे खाद्य-सामग्री बच गयी जो उपयुक्त व्यक्तियों को बिना मूल्य बाँटी गयी। व्यवस्था ऐसी अद्भुत रही, जैसी हजार कर्मचारी, नौकर रखने पर भी नहीं कर सकते थे।

ये रहस्यमयी बातें हैं, आयोजन का प्रत्यक्ष विवरण तो हम दे चुके हैं, पर जो रहस्यमय था सो अपने तक सीमित रहा है। कोई यह अनुमान न लगा सका कि इतनी व्यवस्था, इतनी सामग्री कहाँ से जुट सकी, यह सब अदृश्य सत्ता का खेल था। सूक्ष्म शरीर से वे ऋषि भी उपस्थित हुए थे, जिनके दर्शन हमने प्रथम हिमालय-यात्रा में किए थे। इन सब कार्यों के पीछे जो शक्ति काम कर रही थी उसके सम्बन्ध में कोई तथ्य किसी को विदित नहीं। लोग इसे हमारी करामात-चमत्कार कहते रहे, भगवान साक्षी है कि हम जड़ भरत की तरह, मात्र दर्शक की तरह यह सारा खेल देखते रहे। जो शक्ति इस व्यवस्था को बना रही थी, उसके सम्बन्ध में कदाचित ही किसी को कुछ आभास हुआ हो।

तीसरा काम जो हमें मथुरा में करना था, वह था-गायत्री तपोभूमि का निर्माण। इतने बड़े कार्यक्रम के लिए छोटी इमारत से काम नहीं चल सकता था। वह बनना आरम्भ हुई। निर्माणकार्य आरम्भ हुआ और हमारे आने के बाद भी अब तक बराबर चलता ही रहा। प्रज्ञानगर के रूप में विकसित विस्तृत हो गया है। जो मथुरा गए हैं, गायत्री

तपोभूमि की इमारत और उसका प्रेस, अतिथि व्यवस्था, कार्यकर्त्ताओं का समर्पण भाव आदि देखकर आए हैं, वे आश्चर्यचकित होकर रहे हैं। इतना सामान्य दीखने वाला आदमी किस प्रकार इतनी भव्य इमारत की व्यवस्था कर सकता है। इस रहस्य को जिन्हें जानना हो, उन्हें हमारी पीठ पर काम करने वाली शक्ति को ही इसका श्रेय देना होगा, व्यक्ति को नहीं। अर्जुन का रथ भगवान सारथी बनकर चला रहे थे। उन्होंने जिताया था, पर जीत का श्रेय अर्जुन को मिला और राज्याधिकारी पाण्डव बने। इसे कोई चाहे तो पाण्डवों का पुरुषार्थ, पराक्रम कह सकता है, पर बात वस्तुतः वैसी थी नहीं। यदि होती तो द्रौपदी का चीर उनकी आँखों के सामने कैसे खींचा जाता? वनवास काल में जहाँ-तहाँ छिपे रहकर जिस-तिस की नगण्य-सी नौकरियाँ क्यों करते फिरते?

हमारी क्षमता नगण्य है, पर मथुरा जितने दिन रहे, वहाँ रहकर इतने सारे प्रकट और अप्रकट कार्य जो हम करते रहे, उसकी कथा आश्चर्यजनक है। उसका कोई लेखा-जोखा लेना चाहे तो हमारी जीवन-साधना के तथ्यों को ध्यान में रखे और हमें नाचने वाली लकड़ी के टुकड़े से बनी कठपुतली के अतिरिक्त और कुछ न माने। यही समर्पण-भाव हमारी जीवन-गाथा का केन्द्र रहा है। यही हमने सम्पर्क में आने वालों को भी सिखाया व सत्ता द्वारा परोक्ष-संचालन हेतु स्वयं को एक निमित्त मात्र मानकर उपासना, साधना, आराधना के त्रिविध प्रसंगों का समय-समय पर रहस्योद्घाटन किया है। जो चाहें, उन्हीं प्रसंगों में हमारी आत्म-कथा का तत्त्वदर्शन समझते रह सकते हैं।

# महामानव बनने की विधा, जो हमने सीखी, अपनाई

उचित होगा कि आगे का प्रसंग प्रारम्भ करने के पूर्व हम अपनी जीवन साधना के, स्वयं की आत्मिक-प्रगति से जुड़े तीन महत्त्वपूर्ण चरणों की व्याख्या कर दें। हमारी सफल जीवनयात्रा का यही केन्द्र-बिन्दु रहा है। आत्म-गाथा पढ़ने वालों को इस मार्ग पर चलने की इच्छा जागे, प्रेरणा मिले तो वे उस तत्त्वदर्शन को हृदयंगम करें जो हमने जीवन में उतारा। अलौकिक रहस्य-प्रसंग पढ़ने-सुनने में अच्छे लग सकते हैं, पर रहते वे व्यक्ति विशेष तक ही सीमित हैं। उनसे 'हिप्नोटाइज' होकर कोई उसी कर्मकाण्ड की पुनरावृत्ति कर हिमालय जाना चाहे तो उसे कुछ हाथ न लगेगा। सबसे प्रमुख पाठ जो इस काया रूपी चोले में रहकर हमारी आत्म-सत्ता ने सीखा है, वह है सच्ची उपासना, सही जीवन-साधना एवं समष्टि की आराधना। यही वह मार्ग है, जो व्यक्ति को नर-मानव से देवमानव, ऋषि, देवदूत स्तर तक पहुँचाता है।

जीवन-धारण के लिए अन्न, वस्त्र और निवास की आवश्यकता पड़ती है। साहित्य सृजन के लिए कलम, स्याही और कागज चाहिए। फसल उगाने के लिए बीज और खाद-पानी का प्रबन्ध करना है। यह तीनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आत्मिक-प्रगति के लिए उपासना, साधना और आराधना इन दोनों के समान समन्वय की आवश्यकता पड़ती है। इनमें से किसी अकेले के सहारे लक्ष्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। कोई एक भी ऐसा नहीं है जिसे छोड़ा जा सके।

## उपासना का सही स्वरूप

भूल यह होती रही कि जो पक्ष इनमें सबसे गौण है उसे 'पूजा-पाठ' की उपासना मान लिया गया और उतने पर ही आदि-अन्त कर लिया गया। पूजा का अर्थ है, हाथों तथा वस्तुओं द्वारा की गई मनुहार, दिए गए छुटपुट उपचार-उपहार। पाठ का अर्थ है- प्रशंसापरक ऐसे गुणगान, जिनमें अत्युक्तियाँ ही भरी पड़ी हैं। समझा जाता है कि ईश्वर या देवता कोई बहुत छोटे स्तर के हैं, उन्हें प्रसाद, नैवेद्य, नारियल, इलायची जैसी वस्तुएँ कभी मिलती नहीं। पाएँगे तो फूलकर कुप्पा हो जाएँगे। जागीरदारों की तरह प्रशंसा सुनकर चरणों को निहाल कर देने की उनकी आदत है। ऐसी मान्यता बनाने वाले देवताओं के स्तर एवं बड़प्पन के सम्बन्ध में बेखबर होते और उनको बच्चों जैसे नासमझ समझते हैं, जिन्हें इन्हीं खिलवाड़ों से फुसलाया, बरगलाया जा सकता है। मनोकामना पूरी करने के लिए उन्हें लुभाया जा सकता है। भले ही वे उचित हों अथवा अनुचित, न्यायसंगत हों या अन्यायपूर्ण। आम आदमी इसी भ्रान्ति का शिकार है। तथाकथित भक्तजनों में से कुछ सम्पदा या सफलता माँगते हैं, कुछ स्वर्ग, मुक्ति और सिद्धि की फिराक में रहते हैं। कइयों पर ईश्वर-दर्शन का भूत चढ़ा रहता है। माला घुमाने और अगरबत्ती जलाने वालों में से अधिकतर संख्या ऐसे ही लोगों की है। मोटे अर्थों में उपासना उतने तक सीमित समझी जाती है। जो इस विडम्बना में से जितना अंश पूरा कर लेते हैं, वे अपने को भक्तजन समझने का नखरा करते हैं और बदले में भगवान ने उनकी मनोकामनाओं की पूर्ति नहीं की, तो हजार गालियाँ सुनाते हैं। कई इनसे भी सस्ता नुस्खा ढूँढ़ते हैं। वे प्रतिमाओं की, सन्तों की दर्शन-झाँकी करने भर से ही यह मानने लगते हैं कि इस अहसान के बदले ये लोग झक मारकर अपना मनोरथ पूरा करेंगे।

बुद्धिहीन स्तर की कितनी ही मान्यताएँ समाज में प्रचलित हैं। लोग उन पर विश्वास भी करते हैं और अपनाते भी हैं। उन्हीं में से एक यह भी है कि आत्मिक-क्षेत्र की उपलब्धियों के लिए दर्शन-झाँकी या पूजा-पाठ जैसा नुस्खा अपना लेने भर से काम चल जाना चाहिए, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। यदि होता तो मन्दिरों वाली भीड़ और पूजा-पाठ वाली मण्डली अब तक कब की आसमान के तारे तोड़ लाने में सफल हो गयी होती।

समझा जाना चाहिए कि जो वस्तु जितनी महत्त्वपूर्ण है, उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होना चाहिए।

प्रधानमन्त्री के दरबार का सदस्य बनने के लिए पार्लियामेण्ट का चुनाव जीतना चाहिए। उपासना का अर्थ है- पास बैठना। यह वैसा नहीं है, जैसा कि रेलगाड़ी के मुसाफिर एक-दूसरे पर चढ़ बैठते हैं, वरन् वैसा है जैसा कि दो घनिष्ट मित्रों को दो शरीर एक प्राण होकर रहना पड़ता है। सही समीपता ऐसे ही गम्भीर अर्थों में ली जानी चाहिए, समझा जाना चाहिए कि इसमें किसी को किसी के लिए समर्पण करना होगा। चाहे तो भगवान अपने नियम, विधान, मर्यादा और अनुशासन छोड़कर किसी भजनानन्दी के पीछे-पीछे नाक में नकेल डालकर फिरें और जो कुछ भला-बुरा वह निर्देश करे उसकी पूर्ति करते रहें, अन्यथा दूसरा उपाय यही है कि भक्त को अपना जीवन भगवान की मर्जी के अनुरूप बनाने के लिए आत्म-समर्पण करना होगा।

हमें हमारे मार्गदर्शक ने जीवनचर्या को आत्मोत्कर्ष के त्रिविध कार्यक्रमों में नियोजित करने के लिए सर्वप्रथम उपासना का तत्त्वदर्शन और स्वरूप समझाया। कहा- "भगवान तुम्हारी मर्जी पर नहीं नाचेगा। तुम्हें ही भगवान का भक्त बनना और उसके संकेतों पर चलना पड़ेगा। ऐसा कर सकोगे तो तद्रूप होने का लाभ प्राप्त करोगे।"

उदाहरण देते हुए उन्होंने समझाया कि "ईंधन की हस्ती दो कौड़ी की होती है, पर जब वह अग्नि के साथ जुड़ जाता है, तो उसमें सारे गुण अग्नि के आ जाते हैं। आग ईंधन नहीं बनती है, ईंधन को आग बनना पड़ता है। नाला नदी में मिलकर वैसा ही पवित्र और महान बन जाता है, पर ऐसा नहीं होता कि नदी उलटकर नाले में मिले और वैसी ही गन्दी बन जाए। पारस को छूकर लोहा सोना होता है, लोहा पारस नहीं बन सकता। किसी भक्त का यह आशा करना कि भगवान उसके इशारों पर नाचने के लिए सहमत हो जाएगा, आत्म-प्रवंचना भर है। भक्त को ही भगवान के संकेतों पर कठपुतली की तरह नाचना पड़ता है। भक्त की इच्छाएँ भगवान पूरी नहीं करते, वरन् भगवान की इच्छा पूरी करने के लिए भक्त को आत्म-समर्पण करना पड़ता है। बूँद को समुद्र में घुलना पड़ता है, समुद्र बूँद नहीं बनता। यही है उपासना का एकमात्र तत्त्वदर्शन। जो भगवान के समीप बैठना चाहे, वह उसी का निर्देशन-अनुशासन स्वीकार करे। उसी का अनुयायी-सहयोगी बने।"

हमें ऐसा ही करना पड़ा है। भगवान की उपासना, गायत्री माता का जप और सविता पिता का ध्यान करते रहे। भावना एक ही रखी है कि श्रवणकुमार की तरह आप दोनों को तीर्थयात्रा कराने के आदर्श का परिपालन करेंगे। आपसे कुछ माँगेंगे नहीं। आपके सच्चे पुत्र कहला सकें, ऐसा व्यक्तित्व ढालेंगे। आपकी निकृष्ट सन्तान जैसी बदनामी नहीं होने देंगे।

ध्यान की सुविधा के लिए गायत्री को माता और सविता को पिता माना तो सही, पर साथ ही यह भी अनुभव किया कि वे सर्वव्यापक और सूक्ष्म हैं। इसी मान्यता के कारण उनको अपने रोम में और उनको अपनी हर तरंग में घुला सकना सम्भव हो सका। मिलन का आनन्द इससे कम में आता ही नहीं। यदि उन्हें व्यक्ति विशेष माना होता तो दोनों के मध्य अन्तर बना ही रहता और चलकर आत्मसात होने की अनुभूति होने में बाधा ही बनी रहती।

अभ्यास के लिए आरम्भिक चरणों में अपने को बेल, भगवान को वृक्ष मानकर उनके साथ लिपटते हुए उतनी ही ऊँचाई तक जा पहुँचने की मान्यता ठीक है। इसी प्रकार अपने को वंशी और भगवान को वादक मानकर उनके द्वारा अनुशासित, अनुप्राणित किए जाने का ध्यान भी सुविधाजनक पड़ता है। बच्चे के हाथ में डोरी और उसके इशारे पर पतंग के आकाश तक उड़ जाने का ध्यान भी उत्साहवर्द्धक है। यह तीनों ही ध्यान हमने समय-समय पर किए हैं और उनसे उत्साहवर्द्धक अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं, पर सबसे सुखद और प्राणवान अनुभूति, एकाकार अनुभव में हुई है। पतंगे का दीपक पर आत्म-समर्पण करना, पत्नी का पति के हाथों अपना शरीर, मन और धन-वैभव सौंप देना, भक्त को भगवान के साथ तादात्म्य मिलाने का एक अच्छा अनुभव है। उपासनाकाल में इन्हीं कृत्यों को अपनाते हुए जप और ध्यान की प्रक्रिया पूरी करते रहा गया है।

हमारी उपासना क्रिया-प्रधान नहीं, श्रद्धा-प्रधान रही है। निर्धारित जप संख्या को पूरा करने का अनुशासन कठोरतापूर्वक पाला गया है। प्रात: एक बजे उठ बैठने और निर्धारित संकल्प को पूरा करने में कभी कदाचित ही आपत्तिकाल में भूल हुई हो। जो कमी पड़ी है, उसकी अगले दिनों पूर्ति कर ली गई। उपेक्षा में नहीं डाला गया। इतने पर भी उस अवधि में भावनाओं से ओत-प्रोत रहने की मन:स्थिति बनाए रहने का अभ्यास किया गया है और वह सफल भी होता रहा है। समर्पण, एकता, एकात्मता, अद्वैत की भावनाओं का अभ्यास आरम्भ में कल्पना के रूप में किया गया था। पीछे वह मान्यता बन गई और अन्त में अनुभूति प्रतीत होने लगी।

गायत्री माता की सत्ता कारण शरीर में श्रद्धा, सूक्ष्म शरीर में प्रज्ञा और स्थूल शरीर में निष्ठा बनकर प्रकट होने लगी। यह मात्र कल्पना ही तो नहीं है। इसके लिए बार-बार कठोर आत्म-परीक्षण किया जाता रहा। देखा कि आदर्श जीवन के प्रति, समष्टि के प्रति अपनी श्रद्धा बढ़ रही है या नहीं। इनके लिए प्रलोभनों और दबावों से इनकार कर सकने की स्थिति है या नहीं। समय-समय पर घटनाओं के साथ जोड़कर भी परख की गई और पाया गया कि भावना परिपक्व हो गई है। उसने अपना स्वस्थ साधन श्रद्धा का वैसा ही बना लिया है, जैसा कि ऋषिकल्प साधक बनाया करते थे।

गायत्री माता मात्र स्त्री शक्ति के रूप में छवि दिखाती हैं। अब प्रज्ञा बनकर विचार-संस्थान पर आच्छादित हो

चलीं। इसका जितना बन पड़ा विश्लेषण किया जाता रहा। अनेक प्रसंगों पर हमने परखा भी है कि समझदारी, जिम्मेदारी, बहादुरी के रूप में प्रज्ञा का समन्वय आत्म-चेतना की गहराई तक हुआ या नहीं। यदि पक्षपात की चूक न हुई हो तो प्रतीत होता रहा है कि भाव-चेतना में प्रज्ञा के रूप में गायत्री माता का अवतरण हुआ है और उनकी उपासना, ध्यान-धारणा फलवती हो चली है। मान्यता का गुण, कर्म, स्वभाव में परिवर्तित होना, यही तो उपासनात्मक धारणा की परख है।

त्रिपदा गायत्री का तीसरा स्वरूप है-निष्ठा। निष्ठा अर्थात् संकल्प, धैर्य, साहस, पराक्रम, तप, कष्ट सहन। जिस प्रकार आँवें से निकले बर्तन को उँगली से ठोंक-ठोंक कर देखा जाता है कि यह फूटा तो नहीं है, उसी प्रकार प्रलोभन और भय के प्रसंगों पर दृढ़ता डगमगाई तो नहीं, यह क्रिया और भावना की दृष्टि से जाँच-पड़ताल की जाती रही। पाया कि प्रगति रुकी नहीं है। हर कदम क्रमशः आगे ही बढ़ता रहा है।

सविता का तेजस-ब्रह्मवर्चस कहलाता है। उसी को ओजस, तेजस, मनस, वर्चस कहते हैं। पवित्रता, प्रखरता और प्रतिभा के रूप में इसका प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। सविता के आलोक के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर-प्रवेश की विधि पहले ही ऐसा अनुभव कराती रही कि शरीर में बल, मस्तिष्क में ज्ञान और हृदय में भाव साहस भर रही है। पीछे अनुभव होने लगा कि अपनी समूची सत्ता ही अग्निपिण्ड के, ज्योतिपिण्ड के समान बन गई है। नस-नस में, कण-कण में अमृत संव्याप्त हो रहा है। सोमरस पान जैसी तृप्ति, तुष्टि, शान्ति का आनन्द मिल रहा है।

संक्षेप में यही है, हमारी चार घण्टा नित्य की नियमित उपासना का उपक्रम । यह समय ऐसी अच्छी तरह कटता रहा है, मानो आधे घण्टे में ही समाप्त हो गया, कभी न ऊब आई, न थकान, न जम्हाई, हर घड़ी नसों में आनन्द का संचार होता रहा और ब्रह्मसान्निध्य का अनुभव होता रहा। यह सहज सरल स्वाभाविक प्रक्रिया चलती रही है। न कभी गणना करनी पड़ी, न कभी गर्व हुआ, न प्रयास की उपेक्षा मन में उठी। जिस प्रकार दिनचर्या के अन्य कार्य सहज सरल हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान के पास बैठना भी एक ऐसा कार्य है, जिसे किए बिना अब हमारे लिए एक दिन बिताना तक सम्भव नहीं है। नियत घण्टे तो उपासना के ऐसे हैं, जैसे नशा पीने, ताड़ी खाने में जाने का। जो पिया है, उसकी खुमारी तो चौबीस घण्टे बनी रहती है। अपने को भगवान में, भगवान को अपने में अनुभव करते हुए क्षण गुजरते रहते हैं।

इस मनःस्थिति में उतार-चढ़ाव की परिस्थितियाँ भी सरल-स्वाभाविक लगती हैं। न हर्ष होता है न शोक। चारों ओर आनन्द का समुद्र जैसा लहलहाता दीखता है।

जिधर भी देखते हैं, भगवान दीखता है। आगे भी, पीछे भी, जिधर चलते हैं, वह साथ ही चलता है। बॉडीगार्ड की तरह, पायलट की तरह उसकी उपस्थिति हर घड़ी परिलक्षित होती रहती है। समुद्र तो बूँद नहीं बन सकता, पर बूँद के समुद्र बन जाने की अनुभूति में अब कोई सन्देह भी नहीं रह गया है। उसकी उपस्थिति में न निश्चिन्तता की कमी है, न निर्भयता की।

आत्मा को परमात्मा से मिला देने वाली जिस श्रद्धा को लम्बे जीवनकाल में सँजोया गया है, वह अब साक्षात भगवती की तरह अपनी उपस्थिति और अनुभूति का परिचय देती रहती है।

## जीवन-साधना जो कभी असफल नहीं हुई

बालक की तरह मनुष्य सीमित है। उसे असीम क्षमता उसके सुसम्पन्न सृजेता भगवान से उपलब्ध होती है, पर यह सशर्त है। छोटे बच्चे वस्तुओं का सही उपयोग नहीं जानते, न उनको सँभालकर रख सकते हैं, इसलिए उन्हें दुलार में जो मिलता है, हलके दर्जे का होता है। गुब्बारे, झुनझुने, सीटी, लेमनचूस स्तर की विनोद वाली वस्तुएँ ही माँगी और पाई जाती हैं। प्रौढ़ होने पर लड़का घर की जिम्मेदारियाँ समझता और निबाहता है। फलतः बिना माँगे उत्तराधिकार का हस्तान्तरण होता जाता है। इसके लिए प्रार्थना-याचना नहीं करनी पड़ती। न दाँत निपोरने पड़ते हैं और न नाक रगड़नी पड़ती है। जितना हमें माँगने में उत्साह है, उससे हजार गुना देने में उत्साह भगवान को और महामानवों को होता है। कठिनाई एक पड़ती है, सदुपयोग कर सकने की पात्रता विकसित हुई या नहीं?''

इस सन्दर्भ में भविष्य के लिए झूठे वायदे करने से कुछ काम नहीं चलता। प्रमाण यह देना पड़ता है कि अब तक जो हाथ में था उसका उपयोग कैसा होता रहा है। 'हिस्ट्रीशीट' इसी से बनती है और प्रमोशन में यह पिछला विवरण ही काम आता है। हमें पिछले कई जन्मों तक अपनी पात्रता और प्रामाणिकता सिद्ध करनी पड़ी है। जब बात पक्की हो गई तो ऊँचे क्षेत्र से अनुग्रह का सिलसिला अपने आप ही चल पड़ा।

सुग्रीव, विभीषण, सुदामा, अर्जुन आदि ने जो पाया, जो कर दिखाया वह उनके अपने पराक्रम का फल नहीं था, उसमें ईश्वर की सत्ता और महत्ता काम करती रही है। बड़ी नदी के साथ जुड़ी रहने पर नहरें और नहरों के साथ जुड़े हुए रजवाहे खेतों को पानी देते रहते हैं। यदि इस सूत्र में कहीं गड़बड़ी उत्पन्न होगी तो अवरोध खड़ा होगा और सिलसिला टूटेगा। भगवान के साथ मनुष्य अपने सुदृढ़ सम्बन्ध सुनिश्चित आधारों पर ही बनाए रह सकता है। उसमें चापलूसी जैसी कोई गुंजाइश नहीं है। भगवान की किसी से न निजी मित्रता है, न शत्रुता। वे नियमों से बँधे हैं। समदर्शी हैं।

हमारी व्यक्तिगत क्षमता सर्वथा नगण्य है। प्रायः जन-साधारण के समान ही उसे समझा जा सकता है। जो कुछ अतिरिक्त दीखता है या बन पड़ा है, उसे विशुद्ध दैवी-अनुग्रह समझा जाना चाहिए। वह सीधा कम और मार्गदर्शक के माध्यम से अधिक आता रहा है, पर इससे

कुछ अन्तर नहीं आता। धन बैंक का है। भले ही वह नकदी के रूप में, चैक, ड्राफ्ट आदि के माध्यम से मिला हो।

यह दैवी उपलब्धि किस प्रकार सम्भव हुई। इसका एक ही उत्तर है-पात्रता का अभिवर्द्धन। उसी का नाम जीवन-साधना है। उपासना के साथ उसका अनन्य एवं घनिष्ट सम्बन्ध है। बिजली धातु में होती है, लकड़ी में नहीं। आग सूखे को जलाती है, गीले को नहीं। माता बच्चे को गोदी तब लेती है, जब वह साफ-सुथरा हो। मल-मूत्र से सना हो तो पहले उसे धोयेगी, पोंछेगी, इसके बाद ही गोदी में लेने और दूध पिलाने की बात करेगी। भगवान की समीपता के लिए शुद्ध चरित्र आवश्यक है। कई व्यक्ति पिछले जीवन में तो मलीन रहे हैं, पर जिस दिन से भक्ति की साधना अपनाई, उस दिन से अपना कायाकल्प कर लिया। वाल्मीकि, अंगुलिमाल, बिल्वमंगल, अजामिल आदि पिछले जीवन में कैसे ही क्यों न रहे हों, जिस दिन से भगवान की शरण में आए, उस दिन से सच्चे अर्थों में सन्त बन गए। हम लोग "राम-नाम जपना, पराया माल अपना" की नीति अपनाते हैं। कुकर्म भी करते रहते हैं, पर साथ ही भजन-पूजन के सहारे उनके दण्ड से छूट मिल जाएगी, ऐसा भी सोचते रहते हैं। यह कैसी विडम्बना है?

कपड़े को रँगने से पूर्व धोना पड़ता है। बीज बोने से पूर्व जमीन जोतनी पड़ती है। भगवान का अनुग्रह अर्जित करने के लिए भी शुद्ध जीवन की आवश्यकता है। साधक ही सच्चे अर्थों में उपासक हो सकता है। जिससे जीवन-साधना नहीं बन पड़ी, उसका चिन्तन, चरित्र, आहार, विहार, मस्तिष्क अवांछनीयताओं से भरा रहेगा। फलत: मन लगेगा ही नहीं। लिप्साएँ और तृष्णाएँ जिसके मन को हर घड़ी उद्विग्न किए रहती हैं, उससे न एकाग्रता सधेगी और न चित्त की तन्मयता आएगी। कर्मकाण्ड की चिह्न-पूजा भर से कुछ बात बनती नहीं। भजन का भावनाओं से सीधा सम्बन्ध है। जहाँ भावनाएँ होंगी, वहाँ मनुष्य अपने गुण, कर्म, स्वभाव में सात्विकता का समावेश अवश्य करेगा।

सम्भ्रान्त मेहमान घर में आते हैं, कोई उत्सव होते हैं तो घर की सफाई-पुताई करनी पड़ती है। जिस हृदय में भगवान को स्थान देना है, उसे कषाय-कल्मषों से स्वच्छ किया जाना चाहिए। इसके लिए आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की चारों ही दिशा-धाराओं में बढ़ना आवश्यक है। इन तथ्यों को हमें भलीप्रकार समझाया गया। सच्चे मन से उसे हृदयंगम भी किया गया। सोचा गया कि आखिर गर्हित जीवन बनता क्यों है? निष्कर्ष निकाला कि इन सभी के उद्गम केन्द्र तीन हैं- लोभ, मोह और अहंकार। जिसमें इनकी जितनी ज्यादा मात्रा होगी, वह उतना ही अवगति की ओर घिसटता चला जाएगा।

क्रियाएँ वृत्तियों से उत्पन्न होती हैं। शरीर मन के द्वारा संचालित होता है। मन में जैसी उमंगें हैं, शरीर वैसी ही गतिविधियाँ अपनाने लगता है। इसलिए अवांछनीय कृत्यों-दुष्कृत्यों के लिए शरीर को नहीं, मन को उत्तरदायी समझा जाना चाहिए। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए विषवृक्ष की जड़ काटना उपयुक्त समझा गया और जीवन-साधना को आधारभूत क्षेत्र मन से ही आरम्भ किया गया।

देखा गया है कि अपराध प्राय: आर्थिक प्रलोभनों या आवश्यकताओं के कारण होते हैं। इसलिए उनकी जड़ें काटने के लिए औसत भारतीय स्तर का जीवन-यापन अपनाने का व्रत लिया गया। अपनी निज की कमाई कितनी ही क्यों न हो, भले ही वह ईमानदारी या परिश्रम की क्यों न हो, पर उसमें से अपने लिए, परिवार के लिए खर्च देशी हिसाब से किया जाए, जिससे कि औसत भारतीय गुजारा करना सम्भव हो। यह सादा जीवन उच्च विचार का व्यावहारिक निर्धारण है। सिद्धान्त: कई लोग इसे पसन्द करते हैं और उसका समर्थन भी, पर जब अपने निज के जीवन में इसका प्रयोग करने का प्रश्न आता है तो उसे असम्भव कहने लगते हैं। ऐसा निर्वाह व्रतशील होकर ही निबाहा जा सकता है। साथ ही परिवार वालों को इसके लिए सिद्धान्तत: और व्यवहार तैयार करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी कठिनाई लोकप्रचलन की आती है। जब सभी लोग ईमानदारी-बेईमानी की कमाई से गुलछर्रे उड़ाते हैं तो हम लोग ही अपने ऊपर ऐसा अंकुश क्यों लगाएँ? इस प्रश्न पर परिजनों और उनके पक्षधर रिश्तेदारों को सहमत करना बहुत कठिन पड़ता है। फिर भी यदि अपनी बात तर्क, तथ्य और परिणामों के सबूत देते हुए ठीक तरह प्रस्तुत की जा सके और अपने निज का मन दृढ़ हो, तो फिर अपने समीपवर्ती लोगों पर कुछ भी असर न पड़े, ऐसा नहीं हो सकता। आर्थिक अनाचारों की जड़ काटनी है तो यह कार्य इसी स्तर के लोक-शिक्षण एवं प्रचलन से सम्भव होगा। उस विश्वास के साथ अपनी बात पर दृढ़ रहा गया। घीयामण्डी, मथुरा में अपना परिवार पाँच सदस्यों का था, तब उसका औसत खर्च १९७१ में हरिद्वार जाने तक २०० रु० मासिक नियमित रूप से बनाए रखा गया। मिल-जुलकर मितव्ययतापूर्वक लोगों से भिन्न अपना अलग स्तर बना लेने के कारण यह सब मजे में चलता रहा। यों आजीविका अधिक थी। पैतृक सम्पत्ति से पैसा आता था, पर उसका व्यय घर में अन्य सम्बन्धी, परिजनों के बच्चे बुलाकर उन्हें पढ़ाते रहने का नया दायित्व ओढ़कर पूरा किया जाता रहा। दुर्गुणों-दुर्व्यसनों के पनपने लायक पैसा बचने ही नहीं दिया गया और जीवन-साधना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सरलतापूर्वक निभता रहा।

मोह परिवार को सजाने, सुसम्पन्न बनाने, उत्तराधिकार में सम्पदा छोड़ मरने का होता है। लोग स्वयं विलासी जीवन जीते हैं और वैसी ही आदतें बच्चों को भी डालते हैं, फलत: अपव्यय का सिलसिला चल पड़ता है और अनीति की कमाई के लिए अनाचारों के विषय में सोचना और प्रयास करना होता है। दूसरों के पतन व अनुभवों से लाभ उठाया गया और उस चिन्तन तथा प्रचलन का घर में

प्रवेश नहीं होने दिया गया। इस प्रकार अपव्यय भी नहीं हुआ, दुर्गुण भी नहीं बढ़े, कुप्रचलन भी नहीं चला, सुसंस्कारी परिवार विकसित होता चला गया।

तीसरा पक्ष अहंता का है। शेखीखोरी, बड़प्पन, ठाट-बाट, सजधज फैशन आदि में लोग ढेरों समय और धन खर्च करते हैं। हमारे निजी जीवन तथा परिवार में नम्रता और सादगी का ऐसा ब्राह्मणोचित माहौल बनाए रखा गया कि अहंकार के प्रदर्शन की कोई गुंजाइश नहीं थी। हाथ से घरेलू काम करने की आदत अपनाई गई। माताजी ने मुद्दतों हाथ से चक्की पीसी है । घर का तथा अतिथियों का भोजन तो वे मुद्दतों से बनाती रही हैं। घरेलू नौकर की आवश्यकता तो तब पड़ी, जब बाहरी कामों का असाधारण विस्तार होने लगा और उनमें व्यस्त रहने के कारण माताजी का उसमें समय दे सकना सम्भव नहीं रह गया।

यह अनुमान गलत निकला कि ठाट-बाट से रहने वालों को बड़ा आदमी समझा जाता है और गरीबी से गुजारा करने वाले उद्विग्न, अभागे, पिछड़े पाए जाते हैं। हमारे सम्बन्ध में यह बात कभी लागू नहीं हुई। आलस्य और अयोग्यतावश गरीबी अपनाई गई होती, तो अवश्य वैसा होता, पर स्तर उपार्जन योग्य होते हुए भी यदि सादगी का हर पक्ष स्वेच्छापूर्वक अपनाया गया है तो उसमें सिद्धान्तों का परिपालन ही लक्षित होता है, जो भी अतिथि आए, जिन भी मित्र-सम्बन्धियों को रहन-सहन का पता चलता रहा, उनमें से किसी ने भी इसे दरिद्रता नहीं कहा, वरन् ब्राह्मण-परम्परा का निर्वाह ही माना। मिर्च न खाने, खड़ाऊँ पहनने जैसे एकाध उपकरण सादगी के नाम पर अपनाकर लोग सात्त्विकता का विज्ञापन भर करते हैं। वस्तुत: आध्यात्मिकता निभती है-सर्वतोमुखी संयम और अनुशासन से। उसमें समग्र जीवनचर्या को ब्राह्मण जैसी बनाना एवं अभ्यास में उतारने के लिए सहमत करना होता है। यह लम्बे समय की और क्रमिक साधना है। हमने इसके लिए अपने को साधा और जो भी अपने साथ जुड़े रहे, उन्हें यथासम्भव सधाया।

संचित कुसंस्कारों का दौर हर किसी पर चढ़ता रहता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर अपनी उपस्थिति का परिचय देते रहे, पर उन्हें उभरते ही दबोच लिया गया। बेखबर रहने, देर-गुजर करने से ही वे पनपते और कब्जा जमाने में सफल होते हैं। वैसा अवसर जब-जब आया, उसे खदेड़ दिया गया। गुण, कर्म, स्वभाव तीनों पर ध्यान रखा गया कि इसमें साधक के अनुसार सात्त्विकता का समावेश है या नहीं। सन्तोष की बात है कि इस आन्तरिक महाभारत को जीवन भर लड़ते रहने के कारण अब चलते समय अपने को विजयी घोषित कर सके।

जन्मत: सभी अनगढ़ होते हैं। जन्म-जन्मान्तरों के कुसंस्कार सभी पर न्यूनाधिक मात्रा में लदे होते हैं। वे अनायास ही हट या घुल नहीं जाते। गुरु-कृपा या पूजा-पाठ से भी वह प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उनके समाधान का एक ही उपाय है, जूझना। जैसे ही कुविचार उठें, उनके प्रतिपक्षी सद्विचारों की सेना को पहले से ही प्रशिक्षित, कटिबद्ध रखा जाए और विरोधियों से लड़ने को छोड़ दिया जाए। जड़ जमाने का अवसर न मिले तो कुविचार या कुसंस्कार बहुत समय तक ठहरते नहीं। उनकी सामर्थ्य स्वल्प होती है। वे आदतों और प्रचलनों पर निर्भर रहते हैं, जबकि सद्विचारों के पीछे तर्क, तथ्य, प्रमाण, विवेक आदि अनेकों का मजबूत समर्थन रहता है। इसलिए शास्त्रकार की उक्ति ऐसे अवसरों पर सर्वथा खरी उतरती है, जिसमें कहा गया है, कि- "सत्य ही जीतता है, असत्य नहीं।" इसी बात को यों भी कहा जाता है कि परिपक्व किए गए सुसंस्कार ही जीतते हैं, आधाररहित कुसंस्कार नहीं। जब सरकस के रीछ-वानरों को आश्चर्यजनक कौतुक, कौतूहल दिखाने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है, तो कोई कारण नहीं कि अनगढ़ मन और जीवनक्रम को संकल्पवान साधनों के हण्टर से सुसंस्कारी न बनाया जा सके।

## आराधना, जिसे निरन्तर अपनाये रहा गया

गंगा, यमुना और सरस्वती के मिलने से त्रिवेणी-संगम बनने और उसमें स्नान करने वाले का काया-कल्प होने की बात कही गई है। बगुले का हंस और कौए का कोयल की आकृति में बदल जाना तो सम्भव नहीं, पर इस आधार पर विनिर्मित हुई अध्यात्म-धारा का अवगाहन करने से मनुष्य का अन्तरंग और बहिरंग जीवन असाधारण रूप से बदल सकता है, यह निश्चित है। यह त्रिवेणी उपासना, साधना और आराधना के समन्वय से बनती है। यह तीनों कोई क्रियाकाण्ड नहीं हैं, जिन्हें इतने समय में, इस विधि से इस प्रकार बैठकर सम्पन्न करते रहा जा सके। यह चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में होने वाले उच्चस्तरीय परिवर्तन हैं, जिनके लिए अपनी शारीरिक और मानसिक गतिविधियों पर निरन्तर ध्यान देना पड़ता है। दुरितों से संशोधन में प्रखरता का उपयोग करना पड़ता है और नयी विचारधारा में अपने गुण, कर्म, स्वभाव को इस प्रकार अभ्यस्त करना पड़ता है जैसे अनगढ़ पशु-पक्षियों को सरकस के करतब दिखाने के लिए जिस-तिस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है। पूजा कुछ थोड़े समय की हो सकती है, पर साधना तो ऐसी जिसके लिए गोदी के बच्चे को पालने के लिए निरन्तर ध्यान रखना पड़ता है। फलवती भी वही होती है, जो लोग पूजा को बाजीगरी समझते हैं और जिस-तिस प्रकार के क्रिया-कृत्य करने भर के बदले में ऋद्धि-सिद्धियों के दिवास्वप्न देखते हैं, वे भूल करते हैं।

हमारे मार्गदर्शक ने प्रथम दिन ही त्रिपदा गायत्री का व्यवहारिक स्वरूप, उपासना, साधना, आराधना के रूप में भलीप्रकार बता दिया था। नियमित जप-ध्यान करने का अनुबन्धों सहित पालन करने के निर्देशन के अतिरिक्त यह भी बताया था कि चिन्तन में उपासना, चरित्र में साधना और व्यवहार में आराधना का समावेश करने में पूरी-पूरी सतर्कता और तत्परता बरती जाए। उस निर्देशन का अद्यावधि

यथासम्भव ठीक तरह ही परिपालन हुआ है। उसी के कारण अध्यात्म-अवलम्बन का प्रतिफल इस रूप में सामने आया कि उसका सहज उपहास नहीं उड़ाया जा सकता।

आराधना का अर्थ है- लोकमंगल में निरत रहना। जीवन-साधना प्रकारान्तर से संयम-साधना है। उसके द्वारा न्यूनतम में निर्वाह चलाया और अधिकतम बचाया जाता है। समय, श्रम, धन और मन मात्र इतनी ही मात्रा का शरीर तथा परिवार के लिए खर्च करना पड़ता है, जिसके बिना काम न चले। काम न चलने की कसौटी है- औसत देशवासियों का स्तर। इस कसौटी पर कसने के उपरान्त किसी भी श्रमशील और शिक्षित व्यक्ति का उपार्जन इतना हो जाता है कि काम चलाने के अतिरिक्त भी बहुत कुछ बच सके। इसी के सदुपयोग को आराधना कहते हैं। आमतौर से लोग इस बचत को विलास में, अपव्यय में अथवा कुटुम्बियों में बिखेर देते हैं। उन्हें सूझ नहीं पड़ता कि इस संसार में और भी कोई अपने हैं, औरों की भी कुछ जरूरतें हैं। यदि दृष्टि में इतनी विशालता आयी होती, तो उस बचत को ऐसे कार्यों में खर्च किया गया होता जिससे अनेकों का वास्तविक हित-साधन होता और समय की माँग पूरी होने में सहायता मिलती।

ईश्वर का एक रूप साकार है, जो ध्यान-धारणा के लिए अपनी-अपनी रुचि और मान्यता के अनुरूप गढ़ा जाता है। यह मनुष्य से मिलती-जुलती आकृति-प्रकृति का होता है। यह गठन उस प्रयोजन के लिए है तो उपयोगी, आवश्यक, किन्तु साथ ही यह ध्यान रखने योग्य भी है कि वास्तविक नहीं, काल्पनिक है। ईश्वर एक है, उसकी इतनी आकृतियाँ नहीं हो सकतीं जितनी कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में गढ़ी गई हैं। उपयोग मन की एकाग्रता का अभ्यास करने तक ही सीमित रखा जाना चाहिए। प्रतिमा पूजन के पीछे आद्योपान्त प्रतिपादन इतना ही है कि दृश्य प्रतीक के माध्यम से अदृश्य-दर्शन और प्रतिपादन को समझने, हृदयंगम करने का प्रयत्न किया जाए।

सर्वव्यापी ईश्वर निराकार ही हो सकता है। उसे परमात्मा कहा गया है। परमात्मा अर्थात् आत्माओं का परम समुच्चय। इसे आदर्शों का एकाकार कहने में भी हर्ज नहीं। यही विराट ब्रह्म या विराट विश्व है। कृष्ण ने अर्जुन और यशोदा को अपने इसी रूप का दर्शन कराया था। राम ने कौशल्या तथा काकभुशुण्डि को इसी रूप की झलक के रूप में दिखाया था और प्राणियों को उनका दृश्य स्वरूप। इस मान्यता के अनुसार यह लोकसेवा ही विराट ब्रह्म की आराधना बन जाती है। विश्व-उद्यान को सुखी-समुन्नत बनाने के लिए ही परमात्मा ने यह बहुमूल्य जीवन देकर अपने युवराज की तरह यहाँ भेजा है। इसकी पूर्ति में ही जीवन की सार्थकता है। इसी मार्ग का अधिक श्रद्धापूर्वक अवलम्बन करने से अध्यात्म उत्कर्ष का वह प्रयोजन सधता है, जिसे आराधना कहा गया है।

हम करते रहे हैं। सामान्य दिनचर्या के अनुसार रात्रि में शयन, नित्यकर्म के अतिरिक्त दैनिक उपासना भी उन्हीं बारह घण्टों में भलीप्रकार सम्पन्न होती रही है। बारह घण्टे इन तीनों कामों के लिए पर्याप्त र[illegible] हैं। चार घण्टा प्रातःकाल का भजन इसी अवधि में होता रहा है। शेष आठ घण्टे में नित्यकर्म और शयन, इसमें समय की कोताही कभी नहीं पड़ी। आलस्य-प्रमाद बरतने पर तो पूरा समय ही ऐंड-बेंड में चला जाता है, पर एक-एक मिनट पर घोड़े की तरह सवार रहा जाए, तो प्रतीत होता है कि जागरूक व्यक्तियों ने इसी में तत्परता बरतते हुए वे कार्य कर लिए होते, जितने के लिए साथियों को आश्चर्यचकित रहना पड़ता है।

यह रात्रि का प्रसंग हुआ। अब दिन आता है। उसे भी मोटे रूप में बारह घण्टे का माना जा सकता है। इसमें से दो घण्टे भोजन, विश्राम के लिए कट जाने पर दस घण्टे विशुद्ध बचत के रह जाते हैं। इनका उपयोग परमार्थ प्रयोजनों की लोकमंगल आराधना में नियमित रूप से होता रहा है। संक्षेप में इन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है- (१) जनमानस के परिष्कार के लिए युग-चेतना के अनुरूप विचारणा का निर्धारण-साहित्य सृजन, (२) संगठन प्राणवान जाग्रत आत्माओं को युगधर्म के अनुरूप गतिविधियाँ अपनाने के लिए उत्तेजना-मार्गदर्शन (३) व्यक्तिगत कठिनाइयों में से निकलने तथा सुखी भविष्य विनिर्मित करने तथा परामर्श-योगदान। हमारी सेवा-साधना इन तीन विभागों में बँटी रही है। इनमें दूसरी और तीसरी धारा के लिए असंख्य व्यक्तियों से सम्पर्क साधना और पाना चलता रहा है। इनमें से अधिकांश को प्रकाश और परिवर्तन का अवसर मिला है।

इनके नामोल्लेख और घटनाक्रमों का विवरण सम्भव नहीं, क्योंकि एक तो जिनकी सहायता की जाए, इनका स्मरण भी रखा जाए। यह अपनी आदत नहीं, फिर उनकी संख्या और विनिर्मित उतनी है जितने स्मरण हैं, उनके वर्णन से ही एक महापुराण लिखा जा सकता है। फिर इसमें उनकी आपत्ति भी हो सकती है। इन दिनों कृतज्ञता व्यक्त करने का प्रचलन समाप्त हो गया। दूसरों की सहायता को महत्त्व कम दिया जाए। अपने भाग्य या पुरुषार्थ का ही बखान किया जाए। दूसरों की सहायता के उल्लेख में हेटी लगती है। ऐसी दशा में अपनी ओर से उन घटनाओं का उल्लेख करना, जिसमें लोगों के कष्ट घटें या प्रगति के अवसर मिलें, उचित न होगा। फिर एक और बात भी है कि बखान करने के बाद पुण्य घट जाता है। इतने व्यवधानों के रहते उस प्रकार की घटनाओं के सम्बन्ध में मौन धारण करना ही उपयुक्त समझा जा रहा है और कुछ न कहकर ही प्रसंग समाप्त किया जा रहा है।

इतने पर भी वे सेवाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। अब तक प्रज्ञा परिवार से प्रायः २४ लाख से भी अधिक व्यक्ति सम्बन्धित हैं। उनमें से जो मात्र सिद्धान्तों, आदर्शों से प्रभावित होकर इस ओर आकर्षित हुए हैं, वे कम हैं। संख्या उनकी ज्यादा है, जिन्होंने व्यक्तिगत जीवन में प्रकाश, दुलार, सहयोग, परामर्श एवं अनुदान प्राप्त किया है। ऐसे प्रसंग मनुष्य के

अन्तराल में स्थान बनाते हैं। विशेषतया तब, जब सहायता करने वाला अपनी प्रामाणिकता एवं निस्वार्थता की दृष्टि से हर कसौटी पर खरा उतरता हो। सम्पर्क परिकर में मुश्किल से आधे-तिहाई ऐसे होंगे, जिन्हें मिशन के आदर्शों और हमारे प्रतिपादनों का गम्भीरतापूर्वक बोध है। शेष तो हैरानियों में दौड़ते और जलती परिस्थितियों में शान्तिदायक अनुभूतियाँ लेकर वापस लौटते रहे हैं। यही कारण है जिससे इतना बड़ा परिवार बनकर खड़ा हो गया, अन्यथा मात्र सिद्धान्तपरक ही सब कुछ रहा होता तो आर्य समाज और सर्वोदय की तरह सीमित सदस्य होते और व्यक्तिगत आत्मीयता-घनिष्टता का जो वातावरण दीखा है, वह न दीखता। आगन्तुकों की संख्या अधिक, समय-कुसमय आगमन, ठहराने, भोजन कराने जैसी व्यवस्थाओं का अभाव जैसे कारणों से इस दबाव का सर्वाधिक भार माताजी को सहन करना पड़ा है, पर उस असुविधा के बदले जितनों की जितनी आत्मीयता अर्जित की है, उसे देखते हुए हम लोग धन्य हो गए हैं। लगता है जो किया गया वह ब्याज समेत वसूल होता रहा है। पैसे की दृष्टि से न सही, भावना की दृष्टि से भी यदि कोई कुछ कम ले, तो वह उसके लिए घाटे का सौदा नहीं समझा जाना चाहिए।

आराधना के लिए, लोक-साधना के लिए गिरह की पूँजी चाहिए। उसके बिना भूखा क्या खाए? क्या बाँटे? यह पूँजी कहाँ से आई? कहाँ से जुटाई? इसके लिए मार्गदर्शक ने पहले ही दिन कहा था- जो पास में है, उसे बीज की तरह भगवान के खेत में बोना सीखो। उसे जितनी बार बोया गया, सौ गुना होता चला गया। अभीष्ट प्रयोजन में कभी किसी बात की कमी न पड़ेगी। उन्होंने बापा जलाराम का उदाहरण दिया था, जो किसान थे, अपनी पेट से बचने वाली सारी आमदनी जरूरतमंदों को खिलाते थे। भगवान इस सच्ची साधना से अतिशय प्रसन्न हुए और एक ऐसी अक्षय झोली दे गए, जिसका अन्न कभी निपटा ही नहीं और अभी भी वीरपुर (गुजरात) में उनका अन्न सत्र चलता रहता है, जिसमें हजारों भक्तजन प्रतिदिन भोजन करते हैं। जो अपना लगा देता है, उसे बाहर का सहयोग बिना माँगे मिलता है, पर जो अपनी पूँजी सुरक्षित रखता है, दूसरों से माँगता फिरता है, उस चन्दा उगाहने वाले पर लोग व्यंग्य ही करते रहते हैं और यत्किंचित देकर पल्ला छुड़ाते रहते हैं।

गुरुदेव के निर्देशन में अपनी चारों ही सम्पदाओं को भगवान के चरणों में अर्पित करने का निश्चय किया। (१) शारीरिक श्रम, (२) मानसिक श्रम, (३) भाव-संवेदनाएँ (४) पूर्वजों का उपार्जित धन। अपना कमाया तो कुछ था नहीं। चारों को अनन्य निष्ठा के साथ निर्धारित लक्ष्य के लिए लगाते चले आए हैं। फलतः सचमुच ही वे सौ गुने होकर वापस लौटते रहे हैं। शरीर से बारह घण्टा नित्य श्रम किया है। इससे थकान नहीं आई, वरन् कार्यक्षमता बढ़ी ही है। इन दिनों इस बुढ़ापे में भी जवानों जैसी कार्यक्षमता है। मानसिक श्रम भी शारीरिक श्रम के साथ सँजोए रखा। उसकी परिणति यह है कि मनोबल में, मस्तिष्कीय क्षमता में कहीं कोई ऐसे लक्षण प्रकट नहीं हुए जैसे कि आमतौर से बुढ़ापे में प्रकट होते हैं। हमने खुलकर प्यार बाँटा और बिखेरा है। फलस्वरूप दूसरी ओर से भी कमी नहीं है। व्यक्तिगत स्नेह, सम्मान, सद्भाव ही नहीं, मिशन के लिए जब-जब जो-जो अपील, अनुरोध प्रस्तुत किए जाते रहे हैं, उनमें कभी कमी नहीं पड़ी। २४०० प्रज्ञापीठों का दो वर्ष में बनकर खड़े हो जाना इसका एक जीवन्त उदाहरण है। आरम्भ में मात्र अपना ही धन था। पैतृक सम्पत्ति से ही गायत्री तपोभूमि का निर्माण हुआ। जन्मभूमि में हाईस्कूल खड़ा किया गया, बाद में एक और शक्तिपीठ वहाँ विनिर्मित हो गया। आशा कम ही थी कि लोग बिना माँगे भी देंगे और निर्माण का इतना बड़ा स्वरूप खड़ा हो जाएगा। आज गायत्री तपोभूमि, शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, ब्रह्मवर्चस् की इमारतों को देखकर भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बोया हुआ बीज सौ गुना होकर फलता है या नहीं। यह श्रद्धा का अभाव ही है जिसमें लोग अपना संचय बगल में दबाए रहना चाहते हैं, भगवान से लाटरी अथवा लोगों से चन्दा माँगते हैं। यदि बात आत्म-समर्पण से प्रारम्भ की जा सके, तो उसका आश्चर्यजनक परिणाम होगा। विनिर्मित गायत्री शक्तिपीठों में से जूनागढ़ के निर्माता ने अपने बर्तन बेचकर कार्य आरम्भ किया था और वही अब तक विनिर्मित, सभी इमारतों में मूर्धन्यों में से एक है।

बाजरे का, मक्का का एक दाना सौ दाने होकर पकता है। यह उदाहरण हमने अपनी संचित सम्पदा के उत्सर्ग करने जैसा दुस्साहस करने में देखा। जो था, वह परिवार के लिए उतनी ही मात्रा में, उतनी ही अवधि तक दिया गया, जब तक कि वे लोग हाथ-पैरों से कमाने-खाने लायक नहीं बन गए। उत्तराधिकार में समर्थ सन्तान हेतु सम्पदा छोड़ मरना, अपना श्रम, मनोयोग उन्हीं के लिए खपाते रहना, हमने सदा अनैतिक माना और विरोध किया है। फिर स्वयं वैसा करते भी कैसे? मुफ्त की कमाई हराम की होती है, भले ही वह पूर्वजों की खड़ी की हुई हो। हराम की कमाई न पचती है, न फलती है। इस आदर्श पर परिपूर्ण विश्वास रखते हुए हमने शारीरिक श्रम, मनोयोग, भाव-संवेदन और संग्रहीत धन की चारों सम्पदाओं में से किसी को भी कुपात्रों के हाथ नहीं जाने दिया है। उसका एक-एक कण सज्जनता के संवर्द्धन में, भगवान के आराधन में लगाया है। परिणाम सामने है। जो पास में था उससे अगणित लाभ उठा चुके। यदि कृपणों की तरह उन उपलब्धियों को विलास में, लालच में, संग्रह में परिवार वालों को धन-कुबेर बनाने में खर्च किया होता, तो वह सब कुछ बेकार चला जाता। कोई महत्त्वपूर्ण काम न बनता, वरन् जो भी उस मुफ्त के श्रम-साधन का उपयोग करते, वे दुर्गुणी, दुर्व्यसनी बनकर नफे में नहीं घाटे में ही रहते।

कितने पुण्यफल ऐसे हैं, जिनके सत्परिणाम प्राप्त करने के लिए अगले जन्म की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, पर

लोक-साधना का परमार्थ ऐसा है जिसका प्रतिफल हाथों-हाथ मिलता है। किसी दुःखी के आँसू पोंछते समय असाधारण आत्म-सन्तोष होता है। कोई बदला न चुका सके, तो भी उपकारी का मन ही मन सम्मान करता है, आशीर्वाद कहता है। इसके अतिरिक्त एक ऐसा दैवी विधान जिसके अनुसार उपकारी का भण्डार खाली नहीं होता, उस पर ईश्वरीय अनुग्रह बरसता रहता है और जो खर्चा गया है उसकी भरपाई करता रहता है।

भेड़ ऊन कटाती रहती है। हर वर्ष उसे नई ऊन मिलती है। पेड़ फल देते हैं। अगली बार टहनियाँ फिर उसी तरह लद जाती हैं। बादल बरसते हैं, पर खाली नहीं होते। अगले दिनों वे फिर उतनी ही जल-सम्पदा बरसाने के लिए समुद्र से प्राप्त कर लेते हैं। उदारचेताओं के भण्डार कभी खाली नहीं हुए। किसी ने कुपात्रों को अपना श्रम-समय देकर भ्रमवश दुष्प्रवृत्तियों का पोषण किया हो और उसे भी पुण्य समझा हो, तो फिर बात दूसरी है, अन्यथा लोकसाधना के परमार्थ का प्रतिफल ऐसा है जो हाथों-हाथ मिलता है। आत्म-संतोष, लोकसम्मान, दैवी-अनुग्रह के रूप में तीन गुना सत्परिणाम प्रदान करने वाला व्यवसाय ऐसा है, इसमें जिसने भी हाथ डाला, कृतकृत्य होकर रहा है। कृपण ही हैं जो चतुरता का दम भरते, किन्तु हर दृष्टि से घाटा उठाते हैं।

लोकसाधना का महत्त्व तब घटता है, जब उसके बदले नामवरी लूटने की ललक होती है। यह तो अखबारों में इश्तहार छपाकर विज्ञापनबाजी करने जैसा व्यवसाय है। अहसान जताने और बदला चाहने से भी पुण्यफल नष्ट होता है। दोस्तों के दबाव से किसी भी काम के लिए चन्दा दे बैठने से भी दान की भावना पूर्ण नहीं होती। देखा यह जाना चाहिए कि इस प्रयास के फलस्वरूप सद्भावनाओं का संवर्द्धन होता है या नहीं, सत्प्रवृत्तियों को अग्रगामी बनाने का सुयोग बनता है या नहीं । संकटग्रस्तों को विपत्ति से निकालने और सत्प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाने में जो कार्य सहायक हों उन्हीं की सार्थकता है, अन्यथा मुफ्तखोरी बढ़ाने और छल-प्रपंच से भोले-भाले लोगों को लूटते खाते रहने के लिए इन दिनों अगणित आडम्बर चल पड़े हैं। उनमें धन या समय देने से पूर्व हजार बार यह विचार करना चाहिए कि अपने प्रयत्नों की अन्तिम परिणति क्या होगी? इस दूरदर्शी विवेकशीलता का अपनाया जाना इन दिनों विशेष रूप से आवश्यक है। हमने ऐसे प्रसंगों में स्पष्ट इनकारी भी व्यक्त की है। औचित्य-सनी उदारता के साथ-साथ अनौचित्य की गन्ध अपनाने पर अनुदारता अपनाने और नाराजी का खतरा लेने का भी साहस किया है। आराधना में इन तथ्यों का समावेश भी नितान्त आवश्यक है ।

उपर्युक्त तीनों प्रसंगों में हमारे जीवन-दर्शन की एक झलक मिलती है। यह वह मार्ग है, जिस पर सभी महामानव चले एवं लक्ष्यप्राप्ति में सफल हो यश के भागी बने हैं। किसी प्रकार के 'शार्टकट' का इसमें कोई स्थान नहीं है।

# तीसरी हिमालय यात्रा-

## ऋषि-परम्परा का बीजारोपण

मथुरा का कार्य सुचारू रूप से चल पड़ने के उपरान्त हिमालय से तीसरा बुलावा आया, जिसमें अगले चौथे कदम को उठाए जाने का संकेत था। समय भी काफी हो गया था। इस बार कार्य का दबाव अत्यधिक रहा और सफलता के साथ-साथ थकान बढ़ती गयी थी। ऐसी परिस्थितियों में बैटरी चार्ज करने का यह निमन्त्रण हमारे लिए बहुत ही उत्साहवर्द्धक था।

निर्धारित दिन प्रयाण आरम्भ हो गया। देखे हुए रास्ते को पार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। फिर मौसम भी ऐसा था जिसमें शीत के कड़े प्रकोप का सामना न करना पड़ता और एकाकीपन की प्रथम बार जैसी कठिनाई न पड़ती। गोमुख पहुँचने पर गुरुदेव के छायापुरुष का मिलना और अत्यन्त सरलतापूर्वक नन्दनवन पहुँचा देने का क्रम पिछली बार जैसा ही रहा। सच्चे आत्मीयजनों का पारस्परिक मिलन कितना आनन्द-उल्लास भरा होता है, इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं। रास्ते भर जिस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करनी पड़ी, वह आखिर आ ही गयी। अभिवादन, आशीर्वाद का क्रम चला और पीछे बहुमूल्य मार्गदर्शन का सिलसिला चल पड़ा।

अब की बार मथुरा छोड़कर हरिद्वार डेरा डालने का निर्देश मिला और कहा गया कि "वहाँ रहकर ऋषि-परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का कार्य आरम्भ करना है। तुम्हें याद है न, जब यहाँ प्रथम बार आए थे और हमने सूक्ष्म शरीरधारी इस क्षेत्र के ऋषियों का दर्शन कराया था। हर एक ने उनकी परम्परा लुप्त हो जाने पर दुःख प्रकट किया था और तुमने यह वचन दिया था कि इस कार्य को भी सम्पन्न करोगे। इस बार उसी निमित्त बुलाया गया है।

भगवान अशरीरी हैं। जब कभी उन्हें महत्त्वपूर्ण कार्य कराने होते हैं तो ऋषियों के द्वारा कराते हैं। महापुरुषों को वे बनाकर खड़े कर देते हैं। स्वयं तप करते हैं और अपनी शक्ति देवात्माओं को देकर बड़े काम करा लेते हैं। भगवान राम को विश्वामित्र अपने यहाँ रक्षा के बहाने ले गए और वहाँ बला अतिबला विद्या (गायत्री और सावित्री) की शिक्षा देकर उनके द्वारा असुरता का दुर्ग ढहाने तथा रामराज्य, धर्मराज्य की स्थापना का कार्य कराया था। कृष्ण भी सांदीपनि ऋषि के आश्रम में पढ़ने गए थे और वहाँ से गीतागायन, महाभारत निर्णय तथा सुदामा ऋषि की कार्यपद्धति को आगे बढ़ाने का निर्देशन लेकर वापस लौटे थे। समस्त पुराण इसी उल्लेख से भरे पड़े हैं कि ऋषियों के द्वारा महापुरुष उत्पन्न किए गए और उनकी सहायता से महान कार्य सम्पादित कराए गए। स्वयं तो वे शोध-प्रयोजनों में और तप-साधनाओं में संलग्न रहते ही थे। इसी कार्य को तुम्हें अब पूरा करना है।"

# बहुआयामी व्यक्तित्त्व के धनी हमारे गुरुदेव

## वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के प्रणेता युगऋषि

परमपूज्य गुरुदेव के जीवन के बहुमुखी व्यक्तित्व के अनेकानेक पक्ष ऐसे हैं, जिन पर विस्तार से यदि प्रकाश डाला जाना संभव हो तो एक-एक पक्ष पर विशाल ग्रंथ विनिर्मित हो सकता है, पिछले पृष्ठों पर उनके लीला-प्रसंगों से लेकर तीर्थचेतना के उन्नायक व संस्कृतिपुरुष आदि रूपों की झलक समय-समय पर दी जाती रही है। एक वैज्ञानिक के रूप में, ऋषि-चिन्तक-मनीषी के रूप में उनका परिचय बहुत कम लोगों की जानकारी में है। सही अर्थों में बहुत कम व्यक्ति जानते हैं कि 'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद' का स्वरूप लिए जो 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका विगत कई वर्षों से निकलती रही है व जिसका व्यावहारिक रूप ब्रह्मवर्चस शोध- संस्थान की शोध-अनुसंधान प्रक्रिया के रूप में परिलक्षित होता है, वह इस महान ऋषि-वैज्ञानिक का मौलिक चिन्तन है। इस अध्याय में हम उनके इसी बहुआयामी व्यक्तित्व पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं।

गायत्री का निवास बुद्धि में माना जाता है। वह स्वयं को विचारों के रूप में प्रकट करती है। मानव जाति समय-समय पर इसको अनेक रूपों में प्रत्यक्ष करती आयी है। समय, परिस्थितियों, परिवेश के अनुसार इसकी अभिव्यक्तियों के ढंग भले अनेक हों, पर वह अपने मूल तत्त्व में एक है। योगेश्वर कृष्ण की वाणी "**बुद्धेः परतस्तु सः**" बुद्धि के परे वह है- जो स्वयं की झलक बुद्धि के माध्यम से दिखाती है। जिसकी झाँकी मन की संकल्पनाओं में उभरती है। जो स्वयं को शरीर के विभिन्न क्रिया-कलापों के रूप में दर्शाती है, जिसका मूल रूप कर्म है और विस्तार है जीवन।

जीवन और विचार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते। मनोवैज्ञानिक एस. टाक्स के ग्रन्थ 'माइन्ड कल्चर एण्ड सोसाइटी' के अनुसार सामान्य व्यक्ति ही नहीं पागल तक इस नियम से बँधे हैं। लोकमान्यता भले यह समझे कि पागल की हरकतें सर्वथा अयाचित, अप्रत्याशित अथवा स्वयमेव घटती हैं, भ्रम मात्र है। मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों का ढेर लगा देने वाले वर्तमान में, यह तथ्य सुस्पष्ट है कि पागल की हरकतें भी किन्हीं विचारों का परिणाम हैं। भले वे विचार अचेतन मन के संस्कारों से उपजे हों। मन के ऊपरी हिस्से के निठल्ले-निकम्मे पड़े रहने के कारण सीधे कर्म का बाना पहन लिये हों पर हैं-विचार ही। आज के नहीं तो कभी किसी समय की बटोरी-समेटी गई थाती।

विचार और जीवन की ऐसी सघनता और एकात्मता के कारण ही इतिहासवेत्ता अर्नाल्ड टायनबी मानव जाति के इतिहास को उसके विचारों का इतिहास कहता है। उसके अनुसार तथ्यों को समझने के लिए घटनाक्रमों के पर्यवेक्षण की कम, उसके पीछे क्रियाशील मन के सर्वेक्षण की कहीं अधिक जरूरत है। मानव ने अपने अस्तित्व के उदय से लेकर अब तक जो भी उतार-चढ़ाव देखे हैं- जो भी उसकी जीवनयात्रा में घटा है, उसका यदि ग्राफ बनाया जाए तो स्थिति उसके विचारों के अनुरूप होगी। बाहरी घटनाक्रमों को यदि फोटो की उपमा दें, तो विचारों को निगेटिव कहे बिना न रहेंगे।

इस तथ्य को गहरे समझकर ही आधुनिक समय में ज्ञान की नयी शाखा 'साइको हिस्ट्री' ने जन्म पाया है। इस विधा के विद्वान जे. लुडविंग 'साइकोलाजिकल मीनिंग ऑफ हिस्ट्री' में कहते हैं कि विगत की उपलब्धियाँ- अनुपलब्धियाँ, गति-अवगति, विकास-विनाश के घटनाचक्रों ने कुछ सशक्त विचारों वाले व्यक्तियों की मनोभूमि में ही जन्म पाया है। परमपूज्य गुरुदेव के शब्दों में "यदि नेपोलियन, चर्चिल, बिस्मार्क, वेलिंगटन जैसे व्यक्तियों के नामों को निकाल दें तो यूरोप की कथा रसहीन हो जाएगी"। यही बात भारत के बारे में भी है। कृष्ण, चाणक्य, बुद्ध, गाँधी आदि के विचारों की आड़ी-तिरछी लकीरों ने ही यहाँ के इतिहास का चित्र बनाया है। सशक्त मनोभूमि से विकसित विचार-शृंखला अपने समानधर्मा अनेक को उसमें जकड़ लेती है। विचारों की पतली धारा अपने समान गुण वाले अनेक जलकणों से मिलकर स्वयं को प्रबल वेगवती नदी, नद में बदलती महासागर का रूप ले लेती है। घटनाएँ, परिस्थितियाँ परिवेश इसका अनुगमन करते हैं।

आज विचारों की समग्रता नष्टप्राय है। 'धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं पूरक' नाम पुस्तक में परम पूज्य गुरुदेव लिखते हैं- "मनुष्य के खण्ड-खण्ड का चिन्तन विश्लेषण चल रहा है। उसके अस्तित्व के एक भाग को समग्र शास्त्र का रूप दे दिया गया है। ...... ये सब हैं तो उपयोगी पर समग्र मानव को समझे बिना, उसकी मूल प्रकृति और प्रवृत्ति पर ध्यान दिए बिना एकांगी आंशिक समाधानों से कुछ बनेगा नहीं। एक छेद सींते-सींते दूसरे और नये फट पड़ें तो उस मरम्मत से कब तक काम चलेगा?......... उस महाविद्या की ओर से क्यों उदासी है? जिसे समग्र मानव का विज्ञान कहा जा सके।" बड़ा गहरा प्रश्न है- युगद्रष्टा का। इसमें युगों की तत्त्वालोचना समायी है। तीनों काल खण्ड एक होकर अपनी समस्याओं के बारे में मुखर हैं।

पिछले दो सौ वर्षों में इतने अधिक शास्त्र-ज्ञान-विज्ञान की धाराएँ ढूँढ निकाली गई हैं जितनी पहले कभी न थीं।

इस सबके बाद भी उदासी के बादल छँटे नहीं, गहराते ही गए, कारण उपयुक्त सवाल के समाधान में बरती गई उदासीनता है। ज्ञान के खोजियों, जीवन के मीमांसकों और अन्वेषित प्रणालियों का पर्यावलोकन करें तो पाएँगे- इनके मुख्यत: तीन वर्ग हैं। एक जिन्होंने जीवन का बाह्य परिवेश देखा, केन्द्र से दूर रहकर परिधि की ओर उन्मुख रहे। बस फिर क्या? इस निष्कर्ष को केन्द्र बनाकर रच डाले गए नये शास्त्र। क्रियाशीलता क्यों? सक्रियता किसलिए? इनका जवाब पाने की कोई जरूरत नहीं समझी गई। उलटे कह दिया गया- यह तो दिवास्वप्नदर्शियों का काम है। इस परम्परा ने व्यक्ति को आत्म-गरिमा से हीन भारवाहक श्रमिक बना दिया। आज जिसे विज्ञान कहते हैं- वह इसी परम्परा का अनुयायी है। इसकी उपलब्धियों पर हम कितना ही गर्व क्यों न कर लें पर 'इंट्रोडक्शन ऑफ फिलासफी' के लेखक जी. टी. डब्ल्यू पेट्रिक के शब्दों में "विज्ञान मूल्यों, जीवन तथा मानवीय आचरण जैसे अनिवार्य प्रश्नों के समाधान की चेष्टा नहीं करता, जो हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ...... भौतिक क्षेत्र से परे जो कुछ है, यह उसके बारे में अनिश्चित है। चट्टानों की आकृति, तारों की दूरी, हड्डियों अथवा पेशियों के विषय में अधिकांश लोगों को कम रुचि है- जो सम्भवत: वैज्ञानिक कौतूहल मात्र है, किन्तु मानवीय, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विषयों को जाने बिना हमारा काम नहीं चलता।"

पूज्य गुरुदेव के शब्दों में कहें तो "इन बातों की उपेक्षा करके चिन्तन और भावना से हीन विज्ञान की प्रक्रिया और उपलब्धियों ने मनुष्यता को बारूद के ढेर में बिठा दिया है। उन्मादी अट्टहासों के बीच वह स्वयं के अस्तित्व में आग लगाने पर उतारू है। कारण, उसने सोचने की जरूरत नहीं समझी उपलब्धियाँ किसलिए?"

इसके विपरीत जिन्होंने सोचा उन्होंने क्रिया को नि:स्सारता मान ली। मन की संकल्पनाओं से घिरे रहने के कारण वस्तुजगत को झुठलाने के प्रयास में ही अपने कर्त्तव्य और पुरुषार्थ की इतिश्री समझ ली। मन का संकल्प, वस्तुओं का सृजन करता है। इस दावे के बाद फिर क्या जरूरत कि वस्तु जगत पर ध्यान दिया जाय। अर्द्ध सत्य विचार को पूर्ण सत्य मान लेने के कारण मनुष्यता फिर एक कठघरे में फँसकर रह गयी। ठीक वैसा ही कठघरा जैसा क्रियाशीलता को सब कुछ समझने वालों का है। बेकन की भाषा में "स्वयं को दार्शनिक समझने वाले जीव अपने ही बुने तन्तुजाल में फँसता- उलझता, फँसाता-उलझाता रहता है, क्योंकि उसने मान रखा है-दर्शन सोचने की पद्धति है, करने की नहीं। भावना और क्रिया से विलग रहकर वह स्वयं को मानवता की कितना ही हितसाधक कहे, पर उसने स्वयं का भी कितना हितसाधन किया है- इस पर भी समय ने अमिट प्रश्न चिह्न लगा दिया है।"

इस प्रश्न का हल ढूँढ़ने वालों ने मानवी अस्तित्व के एक नए केन्द्र का स्पर्श किया। उसी को सब कुछ मान जीवन की प्रश्नावली के नए समाधान खोजने शुरू किए। उनका कार्य स्तुत्य होते हुए भी समग्रता के अभाव में मनुष्य का कुछ अधिक हित नहीं कर सका। भावनाएँ उत्तम हैं, पर क्रिया का अभाव इन्हें पंगु बना देता है। चिन्तन न होने पर ये कोरी भावुकता होकर रह जाती है, इनकी श्रेष्ठता हम कितनी ही तरह से क्यों न सिद्ध करें, किन्तु यदि एकमात्र भावना ही सत्य है, तो मनुष्य के बौद्धिक विकास शरीरधर्म का क्या अर्थ रहा? सर्वथा अनुत्तरित प्रश्न है। बौद्धिक विवेचना से पल्ला छुड़ा बैठने के साथ ही इस पथ के अनुयायी, रहस्यवादी कहलाए। उपाधि धारण करने का एक मात्र कारण- यह अयोग्यता कही जाएगी, जिसके कारण ये अपने अनुभवों को बुद्धि की भाषा में नहीं कह पाए।

क्रिया, चिन्तन और संवेदना जीवन के तीन पक्ष अपने एकाकीपन में मनुष्य जाति को जीवन का अर्थ नहीं दे सकते। वह कला नहीं सिखा सकते जिससे अनगढ़ता-भद्दापन मिट सके। इस कला का अभाव ही है, जिसके कारण समृद्धियों के ढेर में दबा-बौद्धिक भार से लदा मनुष्य करुण विलाप कर रहा है।

परमपूज्य गुरुदेव का सारा कर्तृत्व उस विचारसृष्टि के रूप में है जो आज के मनुष्य को सोचने का ढंग सिखाती है। उसके जीवन की गुत्थियों को सुलझाकर जीने की कला सिखाती है। उन्होंने अपने कर्तृत्व के रूप उस अनूठी चिन्तनशैली का विकास किया है, जो उनके निजी व्यक्तित्व के कारखाने में बनी, ढली और सँवारी गई है। वर्तमान के मनुष्य को मार्गदर्शक और भविष्य के मानव के लिए विरासत के रूप में सौंपी गई इस चिन्तन पद्धति को ही उन्होंने 'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद' का नाम दिया है।

'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद' वादों के ढेर में एक नये प्रकार की सर्जना नहीं, बल्कि ऐसा कुछ है जहाँ सभी वाद समा जाते हैं जहाँ सबको उसका निश्चित स्थान मिल जाता है। "**समुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत्**- समुद्र नदी नहीं है, परन्तु सभी नदियाँ समुद्र में अपना स्थान ग्रहण करती हैं।" इसी भाँति इस चिन्तन प्रणाली से जीवन के सभी अंग-उपांग अपने चरम विकास की कला सीखते हैं।

परमपूज्य गुरुदेव के शब्दों में-"यह उलटे को उलटकर सीधा करने की विधि है। जहाँ अभी तक हम अखण्ड को खण्ड-खण्ड करने की कल्पना करने की पीड़ा भोगते रहे, वहीं यह तत्वदर्शन सिखाता है- खण्ड-खण्ड अविभाज्यता कैसे पायें?" इस चिन्तन-पद्धति के आविष्कर्ता भले ही वह हैं, किन्तु इसकी तीव्र आवश्यकता पिछले कुछ समय से सभी मनीषी अनुभव कर रहे थे। 'साइन्स एण्ड फर्स्ट प्रिंसिपल्स' के रचनाकार वैज्ञानिक एफ. एस. सी. नार्थाप की भाषा में "यही कारण है कि एडिनल

आइन्सटीन तथा व्हाइटहेड जैसे भौतिकशास्त्री, ट्रीश हाल्डेन जैसे शरीरक्रियाविद, ब्रोबर, हिलबर्ट जैसे गणितज्ञों का भी इस ओर उन्मुख होना यह बताता है कि जगत में एक नवीन स्फूर्ति तथा स्वभाव का वातावरण बन रहा है।''

धर्म-दर्शन और विज्ञान-मानवीय अस्तित्व से उपजी तीन प्रबल विचार-शक्तियाँ हैं, किन्तु इनका अलगाव-आपसी टकराव मानव जीवन में वरदानों की सृष्टि न कर सका। जब संवेदना-चिन्तन और कर्म ही आपस में टकराते रहेंगे, तब परिणाम संहार के सिवा और क्या होगा? उज्ज्वल भविष्य की संसिद्धि का सिर्फ एक उपाय है-इनका सामंजस्य। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के रूप में यही है। इस नये तत्त्वदर्शन के अनुसार क्रिया और चिन्तन दोनों जहाँ मिल सकते हैं, वह स्थान संवेदना है। जाने-अनजाने ये दोनों यहीं अपना जन्म पाते हैं। इस मिलन-बिन्दु को अपने मूल स्रोत के रूप में पहचानना-स्वीकारना ही वह उपाय है- जिससे मनुष्य अब तक के अपने विकास को बरकरार रख सम्भावनाओं के नए द्वार खोल सकता है।

यह उन्मुक्त द्वार संकीर्ण विचारों की कोठरियों में हैरान-परेशान मनुष्य को खुले आकाश, प्राणवर्द्धक वायु के बीच ले जाएगा। संवेदना से उपजी क्रिया-भारभूत श्रम नहीं-जीवन साधना बनेगी। संवेदना से उपजा चिन्तन उसका मार्गदर्शक बनेगा। चिन्तन की यह नयी प्रणाली मानव की नियति है। इसे स्वीकारे बिना अन्य कोई उपाय नहीं। किन्तु किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि विज्ञान कैसे जीवित रहेगा? 'परिवर्तन के महान क्षण' पुस्तक में निहित अस्तित्व भेदी अपने विचारों में परमपूज्य गुरुदेव स्पष्ट करते हैं- ''विज्ञान जीवित रहेगा, पर उसका नाम भौतिक विज्ञान न रहकर अध्यात्म विज्ञान रहेगा। उस आधार को अपनाते ही वे सभी समस्याएँ सुलझ जाएँगी, जो इन दिनों भयावह दीख पड़ती हैं। उन आवश्यकताओं को प्रकृति ही पूरा करने लगेगी, जिनके अभाव में मनुष्य अतिशय उद्विग्न, आशंकित, आतंकित दीख पड़ता है।''

वस्तुतः विज्ञान और अध्यात्म एक-दूसरे के पूरक हैं तथा अध्यात्म का विज्ञानसम्मत प्रतिपादन भली-भाँति संभव है, यह सब कथन, उपकथन आज हम जितने खुले रूप में सुनते व चारों ओर इसका उद्घोष होते, अनेक व्यक्तियों को इस पर वक्तृता देते देखते हैं, उतना सरल यह आज से पैंतालीस-पचास वर्ष पूर्व नहीं था। सभी यह मानते रहे हैं कि विज्ञान वह है जो दृश्य माध्यमों को आधार बनाकर हमें प्रत्यक्ष रूप से यह समझाता है कि कोई भी घटनाक्रम या क्रिया-प्रतिक्रिया किस कारण होती है, जबकि अध्यात्म मूलतः चेतना विज्ञान को प्रगति की दिशा देने वाली एक परोक्ष विधा है, जिसे विज्ञान का प्रत्यक्षीकरण का जामा नहीं पहनाया जा सकता है। किंतु श्रद्धा-भावना संवेदना भी एक विज्ञान है, अध्यात्म स्वयं में एक विज्ञान है व उसे पूर्णतः पदार्थ विज्ञान की कसौटी पर कसते हुए प्रमाणित किया जा सकता है, यह सबसे पूर्व 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका के वर्ष १९४७ के अंक में (जनवरी ४७) परमपूज्य गुरुदेव ने प्रतिपादित करते हुए दर्शनविज्ञान को जो अनोखी दिशा दे दी, उसका मूल्यांकन हम व मनीषी वर्ग संभवतः अभी न कर सकें, किंतु उनकी स्थापनाएँ व लेखन परिमाण विराट हैं, आने वाले कुछ वर्षों में निश्चित ही करेंगे।

हम सभी आज ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के रूप में तर्क, तथ्य, प्रमाणसम्मत विवेचन करने वाली एक जाग्रत प्रयोगशाला खड़ी देखते हैं जिसे चौदह वर्ष पूरा होने को आ रहे हैं, साथ ही अखण्ड-ज्योति के विज्ञानसम्मत प्रतिपादन भी हममें से अनेक वर्षों से पढ़ते चले आ रहे हैं। किंतु इन सभी के सम्बन्ध में प्रारम्भिक प्रारूप आज से पचास वर्ष पूर्व बन चुका था, जैसा कि 'अखण्ड ज्योति' के प्रारम्भिक वर्षों के लेख बताते हैं। धर्म को विडम्बनाओं से मुक्त कर उसे विज्ञानसम्मत बना अध्यात्म का शाश्वत ज्वलन्त स्वरूप सामने लाने का संकल्प परम पूज्य गुरुदेव ने अपने मार्गदर्शक परमपूज्य गुरुदेव की प्रेरणा से बहुत पहले ही ले लिया था। प्रारंभ से ही चिंतन चेतना व लेखनी का मोड़ नितांत क्रांतिकारी रहा। धर्म-अध्यात्म के नाम पर व्यक्ति को बिना अर्थ-मर्म समझे कीर्तन कराते रहने वाला साहित्य ही उन दिनों प्रकाशित होता रहा था, किन्तु इससे तनिक भी प्रभावित न हो उन्होंने जन-जन के मन को उद्वेलित करने वाले क्रांतिकारी वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की आधारशिला रख इक्कीसवीं सदी के धर्म-दर्शन की मूल पृष्ठ-भूमि अपनी ओजस्वी लेखनी से बना दी।

'अखण्ड ज्योति' के पाठकों को १९६५-१९६६ में कुछ नया-सा पढ़ने को उन दिनों पत्रिका में मिला। परमपूज्य गुरुदेव ने बुद्धिजीवी वर्ग से, मनीषा से अनुरोध किया कि वे विज्ञान की विभिन्न विधाओं का शिक्षण पाठकों व उनके वैज्ञानिक मित्रों से लेना चाहते हैं। बड़ी विनम्रतापूर्वक उन्होंने लिखा था कि हमारा मन है कि हम विज्ञान का क, ख, ग सीखें ताकि उस आधार पर जीवात्मा-परमात्मा, कर्मफल-पुनर्जन्म, परलोकवाद, मानवी काया की विलक्षणताओं, प्रकृति के चमत्कारों के मूल में छिपी विज्ञान-सम्मत विवेचनाओं का रहस्योद्घाटन वे जन-जन के सम्मुख कर सकें। इसके लिए उन्होंने दर्शनशास्त्र, अध्यात्म विज्ञान के बहुमुखी पक्ष को सामने रखते हुए हर पहलू पर आधुनिक विज्ञान इस सम्बन्ध में क्या कहता है, यह सभी विवेचना पाठक वर्ग से किए जाने की अपेक्षा रखते हुए पाठकगणों से निवेदन किया कि वे (बुद्धिजीवी पाठक) उन्हें (परमपूज्य गुरुदेव को) पत्राचार पाठ्यक्रम द्वारा अथवा स्वयं गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान आकर पढ़ायें।

किसी को भी पढ़ने सोचने पर यह सारा उपक्रम विचित्र लग सकता है कि एक विराट संगठन बनाने वाले, हिंदू धर्म के मूल आधार पर देवसंस्कृति के मुख्य दो आधार गायत्री व यज्ञ की धुरी पर धर्मतंत्र से लोकमानस का परिष्कार का संकल्प लेने वाले आचार्यश्री ने १९७१ में अपनी मथुरा छोड़कर हिमालय आने की घोषणा के बावजूद भी ऐसा कुछ निवेदन जाने से ठीक पाँच-छह वर्ष पूर्व किया था। लिखने में भी उन्होंने कोई संकोच नहीं किया कि वे स्वयं प्राइमरी से अधिक पढ़े-लिखे नहीं हैं, किंतु इच्छा यह है कि जीवन के इस उत्तरार्द्ध में विज्ञान पढ़ें। लीलापुरुष का यह उपक्रम उस समय की अखण्ड ज्योति पत्रिका के चालीस-पचास हजार पाठकों को संभवतः समझ में भी नहीं आया होगा, पर यही तो अद्‌भुतता हर उस अवतारी स्तर की सत्ता की रही है, जिसका दृश्य जीवन महज रहस्यों की पिटारी बनकर रहा है। सारे रहस्य उनके जाने के बाद ही खुले हैं।

मूर्धन्य वैज्ञानिकों की बाकायदा एक शोध मण्डली १९६५-६६ के उन दिनों में अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय हो गयी जो समय निकाल कर पूज्यवर को विज्ञान 'पढ़ाने' का काम करने लगी।

इन्हें विभिन्न विधाओं के प्रतिपादनों को एकत्र कर अध्यात्म से जोड़ने का काम सौंपा गया था। पढ़ा तो था इन्होंने व इन जैसे ही कुछ और लोगों ने जो जीवविज्ञान, भौतिकी, चिकित्सा विज्ञान में या तो निष्णात् थे या होने का प्रयास कर रहे थे, किंतु एक आश्चर्यजनक परिवर्तन १९६७ की पत्रिका में आया जब वसंत पर्व के बाद से ही 'अखण्ड ज्योति' के लेखों ने एक नया मोड़ लिया तथा आत्मसत्ता से लेकर ब्राह्मीचेतना के तथा सृष्टि के महत्त्वपूर्ण घटनाक्रमों से लेकर दैनन्दिन जीवन के उपक्रमों के साधनात्मक-दार्शनिक विवेचन के साथ वैज्ञानिक प्रतिपादनों का प्रस्तुतीकरण होने लगा। नोट्स जब इकट्ठे हो ही रहे थे, तब कौन इन लेखों को लिख व बड़ी कुशाग्रतापूर्वक संपादित कर रहा था? आज के पाठकों को आश्चर्य होगा किंतु यह सभी कार्य वह 'कलेक्टीव कांशसनेस' (समूह चेतना) का पर्याय समष्टि मन कर रहा था, जिन्हें हम परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के नाम से जानते हैं। व्यक्तित्व की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्याख्या से लेकर व्यक्ति-निर्माण के सूत्रों का वह वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण स्वयं में अद्‌भुत व अनुपम था। परमात्म चेतना जब प्रस्फुटित होने के लिए किसी को माध्यम बनाती है तो उसके लिए दृश्य स्तर पर कोई 'क्वालिफिकेशन' का मापदण्ड होना जरूरी नहीं है। उसने पूज्यवर को माध्यम बनाया व बुद्धिजीवी वर्ग के उन व्यक्तियों को जिनसे पढ़ने को कहा गया था, निमित्त मात्र बनाया। वह सब कुछ जो उन दिनों से लेकर सन् २००० तक लिखा जाना था, दिमाग की परतों में पड़ा था किंतु उसके प्रस्तुतीकरण के लिए उस नाटक की भी आवश्यकता थी, जो लीलापुरुष द्वारा रचा गया।

विज्ञान व अध्यात्म के समन्वयात्मक रूप की यह जीवन यात्रा परिजनों के समक्ष प्रस्तुत करते समय कई ऐसे प्रसंग मस्तक-पटल पर घूम जाते हैं, जिनसे आभास होता है कि कितने सहज-स्वाभाविक रूप में वह स्थापना कर दी गयी, जिसके बिना संभवतः आज का पढ़ा-लिखा वर्ग स्वयं भगवान की कही बात भी स्वीकार न करता। ये प्रसंग ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान की स्थापना से सम्बन्धित हैं, जिसके विषय में घोषणा १९७६-७७ में की गयी, स्थापना १९७८ में हो गयी थी, किंतु स्पष्ट रूप १९७९ में उभर कर सामने आया, जब नाना तरह के यंत्रों से युक्त अपने में अनुपम अद्‌भुत एक प्रयोगशाला की सप्तसरोवर में शांतिकुंज से कुछ दूर स्थापना कर दी गयी। १९४० में ही 'मैं क्या हूँ?' जैसी विज्ञान व अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों के प्रस्तुतीकरण वाली प्रथम पुस्तक जिन्होंने लिखी हो तथा तब से लेकर गायत्री महाविद्या के जटिल गुह्यतम वैज्ञानिक पक्षों-पंचकोषी साधना से लेकर कल्पसाधना, षट्‌चक्र जागरण, ग्रंथिभेदन आदि प्रक्रिया पर जिनके द्वारा प्रकाश डाला जा चुका हो, समस्त आर्षग्रंथों के भाष्य के साथ मंत्र महाविज्ञान तथा तंत्र महाविज्ञान भी जिन्होंने रचकर रख दिया हो, ऐसे पूज्यवर के लिए प्रयोगशाला की आवश्यकता क्यों पड़ी होगी, यह किसी के भी मन में आ सकता है। कोई यह भी सोच सकता है कि दृश्य विज्ञान पर आधारित प्रयोगशाला तो जटिलतम आध्यात्मिक गुत्थियों का समाधान नहीं दे सकती? फिर यह स्थापना क्यों की? सोचना स्वाभाविक भी है।

हमें आज भी याद है जब दो-तीन कार्यकर्त्ताओं को सामने बिठाकर पूज्यवर ने कहा था- "लड़को! अब हमें प्रत्यक्ष विज्ञान की कसौटी पर कसने के लिए गायत्री के साधना विज्ञान, यज्ञ की ऊर्जा की सामर्थ्य, चिंतन-चेतना के विभिन्न घटकों के मापन के लिए कुछ मशीनों की जरूरत पड़ेगी। तुम जरा यह तो बताओ- पैथोलॉजी, फिजियॉलॉजी, साइकोलॉजी में किन-किन मशीनों की जरूरत पड़ती है? बस ऐसी ही कुछ चौबीस मशीनों को मँगाकर अपनी लेबोरेट्री शुरू कर दो ताकि वैज्ञानिक समुदाय इस मिशन के मूलभूत उद्देश्यों को समझ सके।" कौन से उपकरण मँगाये जाए, यह यक्ष प्रश्न तो हम सबके समक्ष भी था क्योंकि स्थूल उपकरणों से तो साधना विज्ञान की-यज्ञ विज्ञान की गहराइयों को, प्रतिक्रियाओं को मापा जाना संभव नहीं था। पूछा भी कि 'आप बताए, कौन से व किस स्तर के उपकरण मँगायें?' गुरुदेव का उत्तर था कि किसी भी दवा को देने के पूर्व व बाद में शरीर व मन पर क्या प्रभाव पड़ा यह जानने के लिए शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान में जिन उपकरणों की जरूरत पड़ती है, उनको मँगा लो। शेष काम हम प्रतिपादन करेंगे।" यही किया गया। प्रयोगशाला बनायी तथा एक विशाल ग्रंथागार खड़ा हो गया। इस स्थापना का मूल उद्देश्य परमपूज्य गुरुदेव ने समझाना आरंभ किया- "हमें आत्मबल

संपन्न व्यक्तियों की नवयुग के लिए आवश्यकता है। ऐसी पीढ़ी जो इक्कीसवीं सदी का भार अपने कंधों पर ढोएगी। धर्म-अध्यात्म के तत्वज्ञान को जिस भाषा में समझती है, उसी भाषा में प्रस्तुतीकरण हमारा उद्देश्य होगा। मजहब-संप्रदायों से मुक्त विश्व संस्कृति का नवोन्मेष करने वाले एक सार्वभौम अध्यात्म का विज्ञान सम्मत धर्म का ढाँचा खड़ा करना होगा ताकि मानव धर्म को मानने वाली मनीषा नये समाज की संरचना कर सके। 'ब्रह्मवर्चस्' का अर्थ ही है ब्रह्मविद्या तथा व्यावहारिक तप-साधना का समन्वय, अध्यात्म तथा विज्ञान का समन्वय, सिद्धान्त व व्यवहार का समन्वय। इन्हीं उद्देश्यों को लेकर यह स्थापना की जा रही है।''

प्रयोगशाला से किन्हीं विलक्षण परिणामों की आशा-अपेक्षा लगाए परिजनों को हम यही बताना चाहेंगे कि देव-संस्कृति के विज्ञानसम्मत आधार के प्रतिपादन के लक्ष्य को लेकर चली यह वैज्ञानिक एवं दार्शनिक शोध ठीक वही कार्य संपन्न कर रही है, जो गुरुसत्ता उसे सौंप कर गयी है। साधना व्यक्ति के व्यक्तित्व को किस कदर बदल सकती है, अध्यात्म प्रतिपादनों के अनुरूप चिंतन, आहार में परिवर्तन, वनौषधियाँ, यज्ञ ऊर्जा व मंत्र विज्ञान, संगीत, चिकित्सा जैसे उपचारों के क्या कुछ प्रभाव व्यक्ति की जैव रासायनिक व जैव-विद्युतीय संरचना पर पड़ते हैं, यह सब जन-मानस के सम्मुख आते ही एक क्रांतिकारी चिंतन-चेतना विकसित होगी, यह सुनिश्चित है। थीसिस तो बहुत लिखी जाती हैं, शोध संस्थान के बोर्ड्स तो ढेरों लटके दिखाई देते हैं तथा प्रयोगशालाएँ सहस्रों की संख्या में विश्व में हैं, किंतु अध्यात्म विज्ञान के समन्वय की शोध का स्तर क्या होना चाहिए तथा मानव मात्र की क्षीण होती जा रही जीवनी-शक्ति, मनोबल-आत्मबल को ऊँचा उठाने, सोचने की पद्धति को बदलने वाली भी कोई विज्ञान सम्मत विधा है, यह पक्ष सामने आते ही आज के तार्किकों-तथाकथित बुद्धिजीवियों का चिंतन आमूलचूल बदलेगा, ऐसा हमारा विश्वास है। शोध संस्थान के निष्कर्षों की थोड़ी सी झलक विश्व-यात्रा पर निकले दल ने विश्वमनीषा को दी है तो वहाँ तहलका मच गया है। कोई कारण नहीं कि अगले दिनों यह शोध नवयुग के महामानव के निर्माण की मूल धुरी बनकर सामने न आए।

## प्राणऊर्जा का अक्षय कोष रहा, उस साधक का व्यक्तित्व

पिछले पृष्ठों में वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के जन्मदाता के रूप में उनके जीवनदर्शन के विभिन्न प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया। यहाँ प्रस्तुत है साधक के रूप में उनके व्यक्तित्व के गुह्यपक्षों की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विवेचना।

तरंगों में उछलते-बिखरते जलकणों को समेट-सँजोकर यह नहीं कहा जा सकता कि सागर में इतना ही जल है। तरंगित जलराशि छिटकते जलकणों का इतना ही परिचय काफी है कि यह सागर का जल है। पूज्य गुरुदेव का व्यक्तित्व जितने अंशों में हम सब को दिखाई दे रहा है, वे उनके जीवन सागर की कुछ बौनी तरंगें, कुछ नन्हें जलकण भर हैं। इनके रूप भले ही कितने बहुरंगी और अलग-अलग क्यों न दिखें? पर साधक, मनीषी, लेखक, दार्शनिक, संगठनकर्त्ता, समाजसुधारक जैसे ढेर जलकणों को समेट-बटोर कर यह किस तरह कहा जा सकता है-बस सागर में इतनी ही जलराशि है?

लेकिन यदि कोई सागर से उसका परिचय जानना चाहे तो? बस कुछ ऐसा ही दुःस्साहस भरा सुयोग, बचपन से उनके साथ रहीं, उनके ही परिवार की एक अंतरंग सदस्या के जीवन में आया। दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर की उपाधि के बाद उसकी इच्छा थी कि गुरुदेव के जीवन-दर्शन पर कोई शोध-कार्य किया जाय। इच्छा तो इच्छा ठहरी, बौने नमक के पुतले द्वारा सागर की गहराई नापने की इच्छा। पहले वह मुसकराए फिर खिलखिला कर हँस पड़े। कुछ देर हँसते रहने के बाद उनके चेहरे पर गम्भीरता छा गई। इस गम्भीरता के बीच उन्होंने कहा- ''मेरे जीवन की पुस्तक में ८० पृष्ठ हैं। इन ८० में से १ पृष्ठ का थोड़ा-बहुत परिचय लोगों को है। बाकी जो ७९ पृष्ठ हैं उनके बारे में मैंने अपवाद रूप से एक दो को ही कुछ बताया है और अगर अभी सबको बता भी दूँ तो विश्वास कौन करेगा?'' सुन रही शोधार्थी को याद आ गए ऋषि अरविंद के वाक्य जो उन्होंने उनका जीवन-चरित्र लिखने के इच्छुक एक शिष्य को कहे थे- ''मेरी जीवनकथा कोई नहीं लिख सकता, क्योंकि यह सतह पर नहीं है।''

थोड़ी देर चुप रहने के बाद बालहठ पुनः सक्रिय हुआ ''आखिर क्या है इन ७९ पृष्ठों में?'' ''एक साधक की जिन्दगी।'' संक्षिप्त-सा उत्तर था। ''पर उसकी चर्चा तो चौबीस गायत्री महापुरश्चरणों के रूप में कई बार हो चुकी।'' हँसी को बिखेरते हुए गुरुवाणी पुनः गूँजी- ''वह तो ७९ पृष्ठों की प्रस्तावना भर थी और प्रस्तावना पुस्तक नहीं हुआ करती।'' सुनने वालों को, पढ़ने वालों को बात कितनी समझ में आयी या आ रही है? पता नहीं, पर इतना तो निश्चित है कि साधना उनके जीवन का पर्याय थी। उनका व्यक्तित्व साधक की प्राण-ऊर्जा का अक्षयकोष था।

साधक के रूप में पूज्य गुरुदेव ने कौन-सी साधना की? इस कठिन सवाल का सरल जवाब है- 'जीवन साधना'। हो सकता है इस जवाब से सरल सस्ते हथकण्डों को ढूँढ़-खोजकर चमत्कारी बनने, सिद्ध-पुरुष कहलाने के इच्छुक जनों को निराशा हो, पर सच्चाई को उन्हीं के शब्दों में सुनें तो- ''अध्यात्म विद्या के शक्ति तंत्र को धारण करने के लिए

परशुराम, भगीरथ जैसी आत्माओं की जरूरत पड़ती है। घटिया लोग कुण्डलिनी जागरण से लेकर सिद्धि-सामर्थ्यों की उपलब्धि के स्वप्न भर देखते हैं। उन्हें धारण करने के लिए शंकर जैसी जटाएँ चाहिए, सो कोई अपनी सर्वतोमुखी पात्रता विकसित करता नहीं, मात्र तंत्र-मंत्र के छुटपुट कर्मकाण्डों से लम्बे-चौड़े स्वप्न देखते और निष्फल मनोरथ असफल बने रहते हैं।'' *(अपनों से अपनी बात- अ. ज्यो. अप्रैल ७१)*।

एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं- ''जिनके पास इस प्रकार का ब्रह्मवर्चस न होगा वे माला सटका कर पूजा-पत्री उलट-पुलट कर मिथ्या आत्म-प्रवंचना भले ही करते रहें। वस्तुतः परमार्थ पथ पर एक कदम भी न बढ़ा सकेंगे।'' *(अपनों से अपनी बात- अ. ज्यो. जून, ७९)*

इस कठोर चेतावनी का अर्थ किसी को निराश करना नहीं बल्कि भ्रम-जंजालों, मूढ़-मान्यताओं की जड़ पर कुठाराघात करना है। आज मनुष्य की जिन्दगी का बहिरंग क्षेत्र (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक) जितना गँदला, भद्दा और ओछा हो चुका है, अंतरंग उससे कहीं कम थोड़ा नहीं है। हो भी क्यों न? आखिर बहिरंग है क्या ? अंतरंग की प्रतिच्छाया मात्र। युगऋषि का पुरुषार्थ जीवन के इन दोनों पक्षों के परिशोधन-परिमार्जन हेतु रहा है। इसी कारण कभी-कभी वे हँसी में स्वयं को समाज का धोबी-भंगी तक कह डालते थे। अध्यात्म इसी तत्त्व का पर्याय है, पर इसे दुर्भाग्य ही कहेंगे कि औरों की तो बात क्या स्वयं आध्यात्मिक कहने-कहलाने वाले इस तत्त्वबोध से वंचित हैं।

जिन्दगी की नैसर्गिक जरूरत अध्यात्म की ओर मुड़ने वालों का यदि सर्वेक्षण किया जाए, तो पता चलेगा कि बहुसंख्य व्यक्ति तो इस कारण आध्यात्मिक होना चाहते हैं कि वे बिना कुछ किए-अकर्मण्यता को गले लगाए ही लोक-सम्मान के अधिकारी हो जाएँगे। स्वयं को असाधारण समझने कहलाने का सुयोग अर्जित कर सकेंगे, पर इनकी अन्तिम गति क्या होती है, गोस्वामी जी कह गए हैं-

''उघरे अन्त न होहिं निबाहू।
कालनेमि जिमि रावन राहू॥''

अर्थात् पोल खुलने पर निर्वाह नहीं हो पाता। जैसे-कालनेमि और रावण ने साधु वेश धारण किया, राहू ने भी देवता बनने का ढोंग रचाया था, पर इनकी दुर्गति किसी से छुपी है क्या ?

परिवर्तन वेश का नहीं जीवन का आवश्यक है, जो इसके लिए थोड़ी-बहुत कोशिश करते हैं उनका अविश्वास, अधैर्य और छोटे लक्ष्य रह-रहकर उनमें घबराहट पैदा करते, पथ विमुख करते रहते हैं। अभी सिद्धि नहीं मिली, अभी कुण्डलिनी नहीं जगी- प्रकाश नहीं चमका, चमत्कार नहीं घटित हुआ। तब क्यों साधना की जाए? शायद यह रास्ता ठीक न हो, हो सकता है, गुरु जी में शक्ति न हो, अन्यथा अब तक शक्तिपात हो जाता, सम्भव है मंत्र में दम न हो तब? ऐसी स्थिति में बार-बार गुरु बदलते, बार-बार साधना-पद्धतियों को परिवर्तित करते ही जीवन नष्ट हो जाता है। दक्षिणेश्वर के संत परमहंस श्री रामकृष्ण की भाषा में कहें- एक पानी का इच्छुक व्यक्ति कई स्थानों पर दस-दस फीट खोदता फिरा। बारह सौ फीट खोद डालने के बावजूद भी उसने निष्कर्ष दिया- धरती में कहीं पानी नहीं है।

जबकि गुरुदेव ने आधुनिक युग में हम सबके बीच रहकर, इस स्वानुभूत तथ्य का उद्‌घोष किया, अध्यात्म सौ फीसदी सच है, इसे हमने अपने जीवन की प्रयोगशाला में कसा, परखा और खरा पाया है। इसके पीछे वे तीन तत्त्व हैं, जो उनके समूचे जीवन में घुले-मिले रहे। ये तत्त्व हैं- (१) गुरु के प्रति समर्पण, (२) विश्वमानव के प्रति छलकती संवेदना, (३) जीवन के प्रत्येक पक्ष को सर्वांग सुन्दर बनाने का अनवरत उद्योग। उनके शब्दों को दुहराएँ तो-''हमने अपनी जीवनसाधना में इन तत्त्वों का समावेश किया और मंजिल की एक सन्तोषजनक लम्बाई पार कर चुके। अपने हर अनुयायी से इस अवसर पर यही अनुरोध कर सकते हैं कि जितना अधिक सम्भव हो इसी मार्ग पर कदम बढ़ाएँ, जिस पर हम चलते रहे हैं।''

महत्वाकांक्षा को पूरा करने की हवस और ललक स्वभावतः मनुष्य में भरी है। पल-पल पर वह अपने अहं को बुलन्दियों पर पहुँचाने के लिए कोशिश करता, इसी के लिए जूझता-खपता रहता है, लेकिन यह तो अधोगामी क्रम है। साधना मार्ग में भला इसकी गुंजाइश कहाँ? पर आदत जो ठहरी, इस प्रकाशलोक में भी वह अहंता का अँधेरा चिपकाए स्वप्न देखना शुरू कर देता है- ''गुरुजी बनेंगे, विवेकानन्द बनेंगे'' इससे कम कुछ बनना नहीं है। ऐसा क्यों- रैदास, गोरा कुम्हार-क्यों नहीं बनना चाहते? बस-इसलिए कि वहाँ लोकसम्मान नहीं दिखाई पड़ रहा है, पर साधना का अर्थ है- अहं का विसर्जन-विलय।

समर्पण जितना समग्र होगा, गुरु की चेतना, सिद्धियों, शक्तियों, सामर्थ्य को हम उतना ही व्यापक रूप में धारण कर सकेंगे जीवन उतना तेजी से परिवर्तित होने लगेगा। इसके अभाव में हिमालय यात्रा की कल्पनाएँ करना व्यर्थ दौड़-भाग का परिणाम पत्थरों से सिर टकराने के सिवा और क्या हो सकता है? ऐसों के लिए उन्होंने अपनी जून ७१ की हिमालय यात्रा के समय निर्देश दिया था- ''**कितने व्यक्ति कहते रहते हैं कि हम आपके साथ हिमालय चलेंगे। उनसे यही कहना है कि वे आदर्शों के हिमालय पर उसी तरह चढ़ें, जिस तरह हम जीवन भर चढ़ते रहे। असंदिग्ध रूप से गुरु के प्रति समर्पण ही वह गौरी शंकर शिखर है, जिस पर स्थित हो कोई भी चेतना के नीलाभ आकाश से एक हो सकता है। आध्यात्मिक जीवन के अनोखे रहस्य उसके लिए-सहज उद्घाटित हो सकते हैं।**'' गुरुदेव के जीवन में यही हुआ।

पन्द्रह वर्ष की अल्प वय में साधना की जो ज्योति प्रज्वलित हुई, वह निष्काम-अनवरत अविराम जलती रही। उसे अविश्वास, अधैर्य, विषमताओं के प्रचण्ड झंझावात बुझा तो क्या डिगा भी नहीं सके।

साधना और जीवन दोनों वे एक-दूसरे में घुलते गए। थोड़े ही समय में घुल-मिलकर एक हो गए। जीवन-साधना का उदय इसी अनुभूति का निष्कर्ष था। यों यह बात किसी को कहने-सुनने में सामान्य लग सकती है, पर जिन्होंने साधना-पद्धतियों पर शोध की है, साधकों के जीवन का बारीकी से अध्ययन-अन्वेषण किया, वे इस विरल-सुयोग को पाकर न केवल हतप्रभ होंगे, बल्कि सुखद आश्चर्य से भर उठेंगे।

अब तक के आध्यात्मिक इतिहास में साधना और जीवन दो विरोधी ध्रुवों पर स्थित रहे हैं। अपने अस्तित्व की शुरुआत से मानव-समाज यह धारणा सँजोये रहा है **"जिसे साधना करनी है, उसे जीवन का त्याग करना पड़ेगा। जिसे जीवन का मोह है उसे साधना का लाभ नहीं मिलेगा।"** बात सिर्फ हिन्दू-धर्म, आर्य भूमि की नहीं जहाँ कहीं जिस किसी भूखण्ड में जाति समूह में आस्तिक भावनाएँ पनपीं, व्यक्तित्व विकास को चरम स्तर पर ले जाने की ललक उमगी है। इन भावों का विकास हुए बिना नहीं रहा। ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध, पारसी, यहूदी, जैन सभी को इन दो मनोभावों में बाँटा जा सकता है। मानव की प्रवृत्तियों और प्रकृति के इस विभाजन में कितनी ही निराशा की वेदना क्यों न सहनी पड़ी हो, पर होना इसकी मजबूरी रही है।

धीरे-धीरे लोकमानस में यह धारणा बद्धमूल हो गई कि जो साधक है- उसे जीवन से क्या लेना-देना, उसे संन्यासी हो जाना चाहिए और जिसे जीवन से प्रेम है जो गृही है- उसे साधना का क्या करना! एक का स्वधर्म दूसरे का विधर्म बनकर रह गया। विधर्म के प्रति अधिक से अधिक संवेदनाजन्य सहानुभूति भर हो सकती है, उसे अंगीकार किया जाने से तो रहा। परिणाम में संन्यासी, गृही भिक्षु श्रमण के रूप में दो समूह स्थायित्व पा गए।

गुरुदेव ने मानव इतिहास में पहली बार जीवन और साधना को एकाकार किया। उन्होंने कहा- **"क्या वस्तुतः जीवन ऐसा ही है जिसे रोते-खीझते किसी प्रकार पूरा किया जाना है? इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि अनाड़ी हाथों में पड़कर हीरा भी उपेक्षित होता है तो बहुमूल्य मनुष्य जीवन भी क्यों न भार बनकर लदा रहेगा।..... यदि उसे कलाकार की प्रतिभा से सँभाला, सँजोया जाए तो निश्चय ही उसे स्वर्गीय परिस्थितियों से भरा-पूरा जिया जा सकता है। साधना जीवन जीने की कला है।"**

वे इसके समर्थ कला शिल्पी थे। बुद्ध की करुणा, शंकराचार्य का ज्ञान और महावीर का त्याग पाकर भी वे न वन की ओर भागे, न जीवन से मुख मोड़ा, बल्कि घोषित किया- **"गृहस्थ एक तपोवन है"** जहाँ उन्होंने वन्दनीया माताजी के साथ संयम, सेवा, सहिष्णुता की साधना करते हुए दो पुत्र, दो पुत्रियों के पिता का दायित्व भलीप्रकार निभाया। जीवन का कोई भी पक्ष हो, छोटा या बड़ा, खान-पान की समस्याएँ हों या लोकाचार-शिष्टाचार के सामान्य प्रश्न अथवा आत्मसाधना की जटिल पहेलियाँ, हर जगह उनके उत्तर सटीक और सार्थक हैं। ध्यान रखने की बात है- ये उत्तर वाणी से नहीं दिए गए, बल्कि स्वयं के आचरण से इनमें प्राण फूँका गया है।

ये बातें किसी सामान्य चेतना में जीवन जीने वाले को साधारण लग सकती हैं, पर जिन्होंने स्वयं साधना कर चेतना के विशिष्ट शिखरों को पार किया है- वे जानते होंगे- यह सब सहज नहीं है। श्रीरामकृष्ण परमहंस को बार-बार भावसमाधि में जाना पड़ता था। चैतन्य देव पर निरन्तर एक तरह का भावावेश चढ़ा रहता। व्यवहारकुशलता वहाँ रहती है जहाँ अपेक्षाएँ हों। अपेक्षा-शून्यता होने पर व्यवहारकुशल बने रहना-उसी महायोगी से सम्भव है, जो मन के साथ प्राण और शरीर में भी ठीक-ठीक ईश्वरीय प्रकाश का अवतरण कर सका हो। पूज्य गुरुदेव के जीवन में साधना जगत का यह परम रहस्य सहज उजागर हो सका था।

साधक के रूप में उन्होंने आश्चर्य के अनेकों मानदण्ड स्थापित किए। इन्हीं में से एक था- विश्वजीवन का केन्द्र बनकर किया गया प्रचण्ड साधनात्मक पुरुषार्थ। सामान्यतया साधक स्वयं के जीवन को ठीक बनाने, परिशोधित करने, मोक्ष के रूप में जीवनलक्ष्य पाने का पुरुषार्थ करते रहते हैं, पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा **"मेरी साधना का उद्देश्य किसी मोक्ष या निर्वाण की खोज नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य जीवन एवं अस्तित्व का परिवर्तन है।"** वे विश्वचेतना के केन्द्र बन सकें- क्योंकि -**"पीड़ित मानवता की, विश्वात्मा की, व्यक्ति और समाज की व्यथा-वेदना अपने भीतर उठने और बेचैन करने लगी। आँख, दाढ़ और पेट के दर्द से बेचैन मनुष्य व्याकुल फिरता है कि किस प्रकार किस उपाय से इस कष्ट से छुटकारा पाया जाए। लगभग अपनी मनोदशा ऐसी है।"**

विश्व मानव के प्रति उफनती संवेदना से जो विश्वात्म बोध जाग्रत हुआ, उससे प्रचण्ड साधनात्मक पुरुषार्थ उतुंग गिरि शिखर की तरह उठ खड़ा हुआ। इसलिए कि **"अर्जुन को, हनुमान को जो अनुदान मिला वही इस युग के महामानव को देना होगा। जो सौभाग्य हमने पाया वही अब अन्य असंख्यों को देना होगा।"** उनकी जीवन साधना के परिणामों को उन्हीं के शब्दों में आत्मसात् करें- **"हमारी तपश्चर्या का प्रयोजन संसार के हर देश में जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भगीरथों का सृजन करना है।" "नवनिर्माण के उदीयमान नेतृत्व के लिए पर्दे के पीछे हम आवश्यक शक्ति तथा परिस्थितियाँ उत्पन्न करेंगे।"**

एक अन्य स्थान पर उनकी लेखनी से उमगते भाव हैं- **"हम जिस अग्नि में अगले दिनों तपेंगे, उसकी गर्मी असंख्य जाग्रत आत्माएँ अनुभव करेंगी। भावी महाभारत का संचालन**

करने के लिए कितने कर्मनिष्ठ महामानव अपनी वर्तमान मूर्छना छोड़कर आगे आते हैं, इस चमत्कार को अगले ही दिनों प्रत्यक्ष देखने के लिए सहज ही हर किसी को प्रतीक्षा करनी चाहिए। लोकसेवियों की एक ऐसी उत्कृष्ट चतुरंगिणी खड़ी कर देना, जो असम्भव को सम्भव बना दे, नरक को स्वर्ग में परिणत कर दे, हमारे ज्वलन्त जीवनक्रम का अन्तिम-चमत्कार होगा।''

और साथ में ही उनकी जीवन-साधना पर शोध करने वालों के लिए चुनौती भरा निर्देश, अब तक के जिन छुटपुट कामों को देखकर लोग हमें सिद्ध-पुरुष कहने लगे हैं, उन्हें अगले दिनों के परोक्ष कर्तृत्व का लेखा-जोखा यदि सूझ पड़े तो वे इससे भी आगे बढ़कर न जाने क्या-क्या कह सकते हैं। निश्चित रूप से हमारी जीवन-साधना कुछ ऐसा अनुदान विश्वमानव के सम्मुख प्रस्तुत करेगी जो उसके भाग्य और भविष्य की दिशा ही मोड़ दे। शोध की दृष्टि हो या सीखने की ललक- जब कभी किसी के मन में सवाल उठे वह कैसे साधक थे तो याद कर ले महाकवि कालिदास के इन स्वरों को-

''सर्वातिरिक्त सारेण सर्वतेजोभिभाविना।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्ता मेरुरिवात्मना॥
आकार सदृश प्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भ सदृशोदयः॥

(रघुवंश १-१४-१५)

''वे दृढ़ता में सबसे दृढ़, तेज में सबसे उदीप्त, उच्चता में सबसे उच्च, व्यापकता में सबसे व्यापक मेरु सदृश आत्मा वाले थे। जैसा उच्च व्यक्तित्व था, वैसी ही प्रज्ञा थी, वैसी ही शास्त्रज्ञता, जैसी शास्त्रज्ञता थी, वैसी ही साधना, और होती थी वैसी ही महती उपलब्धि।''

## साधना उनकी हर श्वास में संव्याप्त थी

गीताकार ने अध्याय दो में कहा है-

**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ २/६१**

अर्थात् ''साधक को चाहिए कि वह उन संपूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे, क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर हो जाती है।'' यहाँ श्रीकृष्ण शिष्य अर्जुन को स्थितप्रज्ञ योगी के लक्षण बताते हुए आदर्श साधक की परिभाषा स्पष्ट करते हैं। जब हम एक साधक के रूप में परमपूज्य गुरुदेव के जीवन का व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में अनुशीलन करते हैं तो पाते हैं कि ब्राह्मीस्थिति में स्थित ब्रह्मानन्द को प्राप्त उस महायोगी का जीवन गीता के स्थितप्रज्ञ का साकार रूप है। जिसे हम जिस पहलू से देखने का प्रयास करते हैं, पाते हैं कि बहिरंग की हलचलों से तनिक भी प्रभावित न हो वे सतत् साधना में ही निमग्न रहते थे।

यह कार्य विशुद्धतः तांत्रिक स्तर पर किये गये प्रयोगों के समकक्ष था व अभी भी उनकी कारणसत्ता के माध्यम से प्रबलतम वेग से सम्पन्न हो रहा है।

परमपूज्य गुरुदेव कहते थे कि- ''हर उस व्यक्ति को जो लोकसेवा के क्षेत्र में प्रवेश का इच्छुक है साधक पहले बनना चाहिए। साधना के बिना उसका व्यक्तित्व उस स्तर का बन ही नहीं सकता, जो सेवाकार्य के लिए अभीष्ट है।'' साधना पूज्यवर के अनुसार मानव-जीवन प्राप्त हर जीव के लिए अनिवार्य है, क्योंकि ''परमसत्ता यह चाहती है कि भगवत चेतना उसके माध्यम से इसी साधना पुरुषार्थ द्वारा झरे, परमात्मा मानवी व्यक्तित्व के माध्यम से पूरे ऐश्वर्य के साथ प्रकट हो सके।''

साधना कैसे की जाए? उसका स्वरूप क्या हो? इसका स्पष्टीकरण वे समय-समय पर करते रहते थे। गुरु को समर्पित एक शिष्य उनके बताए निर्देशों पर चलता रहे तो उसके व्यक्तित्व गठन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है तथा यह प्रक्रिया उसके आध्यात्मिक विकास हेतु एक प्लेटफार्म तैयार करती है। कभी-कभी शिष्य अतिवादिता के व्यूहजाल में फँसकर अनेक प्रकार के उपक्रम करने का प्रयास करता है किन्तु उससे हाथ कुछ लगता नहीं, उलटे जो एक विशिष्ट अवसर सामीप्य के नाते मिला था, हाथ से चला जाता है।

साधना-क्षेत्र में परमपूज्य गुरुदेव की समस्त उपलब्धियाँ, जिन्होंने उन्हें साक्षात सूर्यमय बना दिया, इसी समर्पण की तो देन थीं। अपनी सूक्ष्मशरीरधारी गुरुसत्ता को उन्होंने वसंत पंचमी १९२६ को स्वयं को सौंपा तो योगक्षेम के वहन की चिंता उन पर छोड़कर स्वयं एक निमित्त मात्र बनकर वे गायत्री जयंती १९९० तक उन्हीं का कार्य करते हुए माँ गायत्री की गोद में ही समा गए। समर्पण इस स्तर का हो तो साधना निश्चित ही फल देती है। चाहे वह अत्यल्प ही क्यों न हो, पर हो वह ईश्वरीय कार्य के निमित्त, उनकी योजना के अन्तर्गत तो निश्चित ही सफलता मिलती है। 'हमारी वसीयत और विरासत' पुस्तक, जो पूज्यवर की आत्मकथ्य आधिकारिक जीवनी है, से हम सबसे बड़ा शिक्षण साधनाविज्ञान का जो पाते हैं, वह है सघन श्रद्धा व पूर्ण समर्पण- आराध्य से- इष्ट से। यही यदि भलीभाँति निभ जाए तो जीवन-साधना सफल होती चली जाती है। फिर व्यक्ति सिद्धियों की तलाश में नहीं जाता। वे उसके पीछे भागती रहती हैं, वह उनसे दूर भागता रहता है।

परमपूज्य गुरुदेव ने जीवनभर साधनाएँ कीं व करायीं। दुर्गम हिमालय से लेकर उत्तरकाशी एवं ऋषिकेश की छोटी-सी कुटिया से लेकर सप्तर्षि आश्रम परिसर में बनी

विश्वामित्र कुटीर तथा 'अखण्ड-ज्योति संस्थान' का साधना कक्ष उनके कठोर तपसाधना के क्षेत्र रहे हैं। गायत्री चर्चा स्तम्भ ४०वें दशक में प्रारंभ कराने के बाद क्रमशः पंचकोषी साधना, कल्प-साधना, प्राणप्रत्यावर्त्तन साधना, कुण्डलिनी साधना, जीवन-साधना व कुटीप्रवेश आदि सभी के मूल में एक ही बात रही-साधक का समूचा व्यक्तित्व साधनामय बन जाए व इसकी प्रारंभिक शर्त है- 'आत्मशोधन'। जून १९७३ में प्राण-प्रत्यावर्त्तन प्रक्रिया समझाने के लिए लिखे गए 'अखण्ड-ज्योति' के विशेषांक में वे स्पष्ट लिखते हैं- ''यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है कि छुटपुट पूजा-पत्री या कर्मकाण्डी टण्ट-घण्ट आत्म-कल्याण अथवा ईश्वर-अनुग्रह का लक्ष्य प्राप्त करा सकते हैं। उपासनात्मक उपचार तो रेलवे लाइन पर खड़े सिगनल, सड़क पर लगे संकेतपट मात्र हैं, जो दिशानिर्देश भर देते हैं। काम तो सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने और पुण्यकर्म करने से होता है। पाप भी तो दुष्कर्मों से ही बने थे। पुण्य-प्रायश्चित्त भी उसी स्तर का घटनाक्रम-क्रियाकलाप अपनाने से पूरा हो सकता है। कर्म की काट कर्म से ही हो सकती है। इसलिए प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशोधन का, आत्मिक-प्रगति का पथ प्रशस्त करना पड़ता है, वैसा ही सत्साहस दिखाने की जरूरत पड़ती है, जैसा कि दुष्कर्म करते समय किसी की भी न सुनने का दुस्साहस किया गया था।''

किन्तु पवित्रता संवर्धन एक सतत चलने वाली प्रक्रिया है। पूज्यवर ने इसी प्रक्रिया को सरल बना दिया एवं कहा कि आत्मशोधन कर पवित्रता को रोम-रोम में उतारकर हर कोई साधना क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है। गीताकार की तरह उन्होंने आश्वासन भी दिया-

**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥**

(९/३०)

अर्थात् - ''यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है।''

# प्रेम व करुणा से लबालब था, जिनका अंतःकरण

कहते हैं दो अंजलि में महर्षि अगस्त्य ने समूचा समुद्र पी डाला था। यदि हम-आप भी पूज्य गुरुदेव के व्यक्तित्व महासागर को दो शब्दों में समेटना-आत्मसात करना चाहें, तो वे दो शब्द होंगे- प्रेम व करुणा। यही उनका वास्तविक परिचय है। करुणा, प्रेम, छलकती संवेदना, लफनती भावना ही उनके व्यक्तित्व के उपयुक्त पर्यायवाची शब्द हैं। इन्हीं के सहारे उनके जीवन का चित्रांकन कर सकना संभव है।

संसार उन्हें लेखक, मनीषी, समाज-सुधारक, ऋषि तपस्वी, ज्ञानी, योगी जैसे न जाने कितने रूपों में देखता-पहचानता है।

यह उपार्जन उतना सरल नहीं है, जितना देखने-सुनने में समझ पड़ता है। बोल-चाल की भाषा में अपने को 'प्रेम' तत्त्व का जानकार कहने-समझने वाले हजारों लाखों की संख्या में मिल जायेंगे। पर जरा गहरी छान-बीन की हिम्मत जुटाए तो मिलने वाले तथ्यों से उजागर होता है कि उनमें से ज्यादातर मोह, वासना अथवा किसी न किसी आसक्ति के बंधनों में फँसे-बँधे हैं। इन्हीं बंधनों को भ्रमवश उन्होंने प्रेम का दर्जा दे रखा है। अपने भ्रम में वे काँच को हीरा समझकर सँजोने की भूल कर बैठे हैं।

प्रेम का स्वाद पाकर औरों को भी करा देना अपने में गहरी कठिन और दुःसाध्य साधना का अंतिम परिणाम है। सामान्य व्यक्तियों की बात तो बहुत दूर, महामानवों में से भी बहुत कम ही इस अंतिम सीढ़ी पर चढ़ सकने में सफल होते हैं अन्यथा बहुतों को बीच में ही कहीं न कहीं रुक जाना पड़ता है। सूक्ष्म व गहरी दृष्टि के अभाव में महामानवों के जीवन-इतिहास के विद्यार्थी इस रहस्य को जानने से वंचित रह जाते हैं। प्रेम तत्त्व का बीज किस तरह से अंकुरित होता, फूलता फलता और महावट का रूप धारण करता है, इसे गुरुदेव के जीवनक्रम में अनुभव किया जा सकता है।

आमतौर पर देखने में आता है कि हर इनसान में थोड़ी बहुत भावुकता दबी-छुपी पड़ी रहती है। जो कभी-कभी आँसुओं का ज्वार बनकर उभरती, आवेग बनकर प्रकट होती और गायब हो जाती है। यह उभरना, प्रकट होना और कुछ नहीं, मानवी आत्मा की चीत्कार है, जो लोभ-लिप्सा, वासना-तृष्णा के बंधनों को तोड़ फेंकने के लिए आतुर-आकुल है। यह प्रेम बीज का अंकुरण है, जो जड़ता के अँधेरे से उभरकर ईश्वरीय प्रकाश को पाना चाहता है। लेकिन इन कोशिशों को सामान्यक्रम में ज्यादातर निष्ठुरता के पत्थरों से दबाकर कुचल-मसल दिया जाता है।

पर गुरुदेव की समूची जिंदगी इसके विकास की दुष्कर तप-साधना बन गई। भावुकता का हर आवेग जीवात्मा के बंधनों को तोड़ता फेंकता चला गया। भावबीज का अंकुरण बचपन से ही उन्हें असहाय, बूढ़ी, कुष्ठ रोग पीड़ित मेहतरानी की सेवा करने, कसाई के हाथ पड़ी गाय की जीवनरक्षा के लिए विवश करने लगा। धीरे-धीरे जीवन की हर चेष्टा, संवेदना की कम्पक बन गई। संवेदना-भावुकता की विकसित अवस्था है। भावुकता की दशा में अन्तः की कसक भरी पुकार उभरती और विलीन होती रहती है, लेकिन संवेदना बनकर इसे स्थायित्व मिल जाता है। संवेदनशील अन्तःकरण हर किसी की पीर को अनुभव करता और प्रतिपल इसे दूर करने के लिए बेचैन रहता है।

संवेदना का जागरण-दो शक्तियाँ, विभूतियों का वरदान मनुष्य को दे डालता है। पहली विभूति और शक्ति है-सर्वस्व उत्सर्ग का साहस। सामान्यतया आदमी निष्ठुर जोंक की तरह दूसरों का खून चूस-चूसकर साधन-संपत्ति बटोरते और क्रुद्ध नाग की तरह उनकी रक्षा करने में जिंदगी खपा देता है। त्याग, उत्सर्ग, बलिदान की सामर्थ्य उसमें कहाँ? यह तो उसी संवेदनशील हृदय से संभव है- जिसमें उत्सर्ग का साहस उभरा है। फिर तो उसमें भी गुरुदेव के शब्द सक्रिय हो उठेंगे "जो पाया उसका एक-एक कण हमने उसी प्रयोजन के लिए खर्चा किया, जिससे शोक-संताप की व्यापकता हटाने और संतोष की साँस ले सकने की स्थिति में थोड़ा योगदान मिल सके।" यही क्यों वह तो अपना उदाहरण सामने रखते हुए हम आपको भी निर्देश देते हैं- "नवनिर्माण की लालमशाल में हमने अपने सर्वस्व का तेल टपकाकर उसे प्रकाशमान रखा है। अब परिजनों की जिम्मेदारी है कि वे उसे जलती रखने के लिए अपने अस्तित्व के सारतत्त्व को टपकाएँ।"

दूसरी विभूति के रूप में मिलती है- सहिष्णुता। उपद्रवों, व्यंग्य-कटाक्षों को मुसकराते हुए सुन लेना-सह लेना और अपने लक्ष्य में निरत रहना। सुनें उनकी अनुभूति-"वृक्ष जैसा उदार, सहिष्णु और शांत जीवन जीने की शिक्षा हमने पायी। उन्हीं जैसा जीवनक्रम लोग अपना सकें तो बहुत है। हमारी प्रवृत्ति, जीवन-विधा और मनोभूमि का परिचय वृक्षों से अधिक और कोई नहीं दे सकता।" संवेदना और क्रोधोन्माद का कोई सम्बन्ध है भी नहीं। क्रोध की फुफकार तो अहं पर चोट लगने से उठती है। अहं-विसर्जन में तत्पर, संवेदनशील, क्रोधी बनने से रहा। वह तो सतत अपने लक्ष्य की पूर्ति में, आदर्शों को साकार करने में स्वयं को खपाता रहता है।

संवेदनशीलता अपने विकसित रूप में भावना बन जाती है। कसक के स्थायित्व के साथ इसमें एक नयी चीज आती है सम्बन्धों का शारीरिक धरातल से ऊपर उठकर जीवात्मा के स्तर पर विकसित हो जाना। भौतिक दूरियों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में माँ की ममता जन्म लेती है। दुलार करते अघाती नहीं। आशीर्वाद देते जिसका जी नहीं भरता। कोशिशें सिर्फ पीड़ा-निवारण तक सीमित नहीं रहती हैं। आत्मिक उत्कर्ष के लिए प्रयत्न शुरू हो जाते हैं। माँ का ममत्व, स्नेहिल ज्वार हृदय में निरन्तर घुमड़ता रहता है: क्या दे? क्या करे? सोचते-सोचते मन नहीं भरता।

इन भावनाओं को काल पाश बाँध नहीं सकता। मौत इनकी छाया तक को छिपाने में असहाय है। अमृत पुत्रो! वे भावनाएँ ही कैसी जिन्हें दूरी धक्का डाले, मृत्यु डरा दे, शरीर बाँध ले, समय समेट ले। आज भी अपना और अपने आराध्य के बीच भावनात्मक प्रवाह यथावत है और तब तक बना रहेगा, जब तक कालजयी आत्म-चेतना का अस्तित्व है। विश्वास न हो रहा हो तो सुनें उनकी वाणी- "लोगों की आँखों से हम दूर हो सकते हैं, पर हमारी आँखों से कोई दूर न होगा। जिनकी आँखों में हमारे प्रति स्नेह और हृदय में भावनाएँ हैं, उन सबकी तस्वीरें हम अपने कलेजे में छिपाकर ले जाएँगे और उन देव-प्रतिमाओं पर निरंतर आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाया करेंगे। कह नहीं सकते उऋण होने के लिए प्रत्युपकार का कुछ अवसर मिलेगा या नहीं। पर यदि मिला तो अपनी इन देव प्रतिमाओं को अलंकृत और सुसज्जित करने में कुछ उठा न रखेंगे। लोग हमें भूल सकते हैं, पर हम अपने किसी स्नेही को भूलेंगे नहीं।"

भावना का विस्तार जब समष्टि में हो जाता है, तब वह करुणा में बदल जाती है। करुणा किसी व्यक्ति विशेष, समूह विशेष के प्रति नहीं, सबके प्रति होती है, की नहीं जाती, होती है। इसे ऐसे समझा जा सकता है जैसे जंगल की किसी अनजानी पगडंडी के किनारे एक गुलाब खिला है। जो भी आता है सम्राट हो या भिखारी वही उसकी खुशबू प्रेमिल मुसकान से विभोर होता चला जाता है। कोई न आए तो भी वह अपनी सुरभि को अनंत में फैलाता रहता है। सुरभि बिखेरना, मुसकान लुटाना उसकी स्वाभाविक अवस्था है। ऐसे ही करुणा उस व्यक्ति के अन्तःकरण की स्वाभाविक अवस्था है, जो बुद्ध बन गया है। इसके नीचे यह विकसित नहीं होती। यह '**आत्मवत सर्वभूतेषु**' की भावना का प्रकाश है।

युगऋषि अपनी इस उपलब्धि का शब्दांकन करते हैं- "आत्मवत सर्वभूतेषु की भावना जैसे ही प्रखर हुई, निष्ठुरता उसी में गलकर नष्ट हो गई। जी में केवल करुणा शेष रह गई। वही अब तक जीवन के अंतिम अध्याय तक यथावत बनी हुई है। उसमें कमी रत्ती भर भी नहीं हुई, वरन् दिन-दिन बढ़ोत्तरी ही होती गई।" इस उपलब्धि को सँजोये उनका अन्तःकरण पुकार उठा "जब तक व्यथा-वेदना का अस्तित्व इस जगती में बना रहे, जब तक प्राणियों को क्लेश और कष्ट की आग में जलना पड़े, तब तक हमें भी चैन से बैठने की इच्छा न हो। जब भी प्रार्थना का समय आया तब भगवान से यही निवेदन किया। हमें चैन नहीं वह करुणा चाहिए, जो पीड़ितों की व्यथा को अपनी व्यथा समझने की अनुभूति करा सके। हमें समृद्धि नहीं, वह शक्ति चाहिए जो आँखों के आँसू पोंछ सकने की अपनी सार्थकता सिद्ध कर सके। बस इतना ही अनुदान-वरदान भगवान से माँगा और लगा कि द्रौपदी को वस्त्र देकर उसकी लज्जा बचाने वाले भगवान हमें करुणा की अनन्त संवेदनाओं से ओत-प्रोत करते चले जाते हैं।"

यह अवस्था जब अपनी व्यापकता में सघन शांति, अविराम प्रसन्नता, गहरी एकात्मता को जन्म देती है तब उसे 'प्रेम' कहते हैं। प्रेम का विकास भाव विकास का

चरमोत्कर्ष है। रामकृष्ण कहा करते थे सबको इसकी उपलब्धि नहीं होती। उनके अनुसार तीन अतिमानव ही इसके रस को चख पाए। इनमें प्रथम है राधा, दूसरे चैतन्य, तीसरे स्वयं श्री रामकृष्ण। वर्तमान युग में पुनः श्री रामकृष्ण ने स्वयं 'श्रीराम' के रूप में आकर पुनः एक बार घोषित किया "हमने एक ही रस चखा है वह है प्रेम का।"

प्रेम आन्तरिक सद्गुणों के विकास का केन्द्र है। इसकी हलचलें समस्त गुणों को प्रभावित करती रहती हैं। गुरुदेव के शब्दों में-"आन्तरिक सद्गुण किसी अभ्यास प्रयोग से पाए बढ़ाए नहीं जा सकते, वरन् प्रेमतत्त्व की स्थिति के जुड़े होने के कारण उसी अनुपात में घटते-बढ़ते हैं, जैसे कि प्रेम-भावना का उत्कर्ष-अपकर्ष होता है। प्रेमतत्त्व अन्तःकरण में जितना होगा, उसी अनुपात में -सद्गुणों का विकास होगा और इसी विकास से आत्मबल की मात्रा नापी जा सकती है।"

कहना न होगा इन शब्दों में उनकी आत्मानुभूति है। जिसे और अधिक स्पष्ट करते हैं-"प्रेम ही परमात्मा है। किसी व्यक्ति के कलेवर में परमात्मा ने कितने अंशों में प्रवेश किया, उसकी परख करनी हो तो यह देखना होगा कि उसके अन्तःकरण में प्रेमभावनाओं की उपस्थिति कितनी मात्रा में है। थर्मामीटर से बुखार नापा जाता है और आत्मा का विकास प्रेमतत्त्व की मात्रा के अनुरूप समझा जाता है।"

तनिक आगे बढ़ चलें तो पाते हैं उनकी आत्माभिव्यक्ति-"एक प्रेमी, अनेक प्रेमिकाएँ यह आश्चर्य अध्यात्म जगत में ही संभव है। प्रेम से भरी आत्मा को अगणित सत्प्रवृत्तियाँ, असीम प्यार करती हैं। उत्कृष्ट प्रेम और उसके आधार पर एकत्रित सत्प्रवृत्तियाँ जीवन को आनन्द-उल्लास से भरा-पूरा बना देती हैं। द्वैत की अद्वैत में परिणति, अहंता का समर्पण में विलय, इसी का नाम मुक्ति है। सच्चिदानन्द की उपलब्धि का यही मर्मस्थल है। हमारी अनुभूति और उपलब्धियों का यही निष्कर्ष है।"

प्रेममय हो संव्याप्त परमात्मा कहीं किसी लोक का वासी नहीं, बल्कि कण-कण में समाया है, पर सबसे अधिक जहाँ उन्होंने परमात्मा की घनिष्ठता अनुभव की इसे उन्हीं के शब्दों में कहें तो- "परिजन हमारे लिए भगवान की प्रतिकृति हैं और उनसे अधिकाधिक गहरा प्रेम-प्रसंग बनाए रखने की उत्कंठा उमड़ती रहती है। इस वेदना के पीछे भी एक ऐसा दिव्य-आनन्द झाँकता है इसे भक्तियोग के मर्मज्ञ ही जान सकते हैं।"

हो सकता है इस मर्म को कोई और भी जानना चाहे। शायद किसी के मन में हुलस उठे, काश! हम भी चख सकते प्रेम-रस । तो अधीर न हों द्वार अभी भी खुला है बस प्रवेश करने के लिए वैसा ही कुछ करना होगा, जो उन्होंने किया। क्या? तो सुनिए उन्हीं के भावों में- ईश्वर-भक्ति का अभ्यास हमने गुरु भक्ति की प्रयोगशाला में व्यायामशाला में आरंभ किया और क्रमिक विकास करते हुए प्रभु प्रेम के दंगल में जा पहुँचे। गुरुदेव पर आरोपित हमारी प्रेम साधना प्रकारान्तर से चमत्कारी वरदान बनकर लौटी है।

# करुणा के सागर-स्नेह की प्रतिमूर्ति

एकाकीपन ही जब जीवन का एकमात्र अर्थ बन गया हो, पारिवारिकता का सारा मूल ढाँचा ही जब चारों ओर ध्वस्त होता दिखाई पड़ता हो, तब एक विशाल परिवार अपने को धुरी बनाकर अपने चारों ओर बनाते हुए हम अपने परमपूज्य गुरुदेव को पाते हैं जिन्होंने जीवन भर एक काम सतत् किया-प्यार लुटाते बाँटते रहने का । गायत्री परिवार की मूल धुरी है, वह करुणा, वह संवेदना जो गुरुसत्ता से उन्होंने बँटायी। यह कार्य परमपूज्य गुरुदेव ने आरंभ किया व उसे परिपूर्णता तक लाने का दायित्व परमवंदनीया माताजी के माध्यम से सतत् निभाया।

गायत्री परिवार की विराट जनमेदिनी में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसे इस स्नेह संजीवनी से लाभान्वित होने का अवसर न मिला हो। हर व्यक्ति की यह अनुभूति रही है कि एक वही ऐसा है जिसे इतनी देर तक गुरुदेव के श्री चरणों में बैठकर अपनी व्यथा-कथा सुनाने व बदले में गुरु की स्नेह सरिता में अवगाहन का मौका मिला। अक्सर ऐसे व्यक्ति मिलते रहते हैं देश व विदेश में जो यही कहते हैं कि मुझसे अलग से बुलाकर बैठकर उन्होंने बात की, पीठ पर हाथ फिराया व मनोबल को इतना ऊँचा उछाल दिया कि देखते-देखते कष्ट दूर हो गए तथा प्रगति पथ पर बढ़ते चलने का राजमार्ग मिल गया। ऐसे व्यक्तियों को वही अनुभूति हुई जो श्रीकृष्ण के साथ महारास खेलने वाली गोपियों को हुई होगी। इनकी संख्या कम नहीं, लाखों में है।

मूलतः गुरुवर का हृदय माँ का हृदय था। माँ प्यार भी करती है, बच्चे को दुलारती है, किन्तु साथ ही साथ एक आँख सुधार की भी रखती है। विश्व मानवता के सुधार की दृष्टि रखने वाली मातृ स्तर की उस गुरुसत्ता ने जहाँ परिजनों की दुष्प्रवृत्तियों-दुर्व्यसनों, अवांछनीय कामनाओं पर कड़ी दृष्टि रखी, वहीं करुणा भरे लबालब अंतःकरण से अनुदान भी ढेरों बरसाए। क्या यह एक सत्य नहीं कि हर ऐसे व्यक्ति को लौकिक-आध्यात्मिक स्तर के अगणित अनुदान मिले और वे निहाल होते चले गए। अब स्थूल शरीर नहीं रहा तो भी वह आश्वासन तो सतत् है ही व नित्य प्रतिपल साकार हो रहा है "कि जो भी मेरा ध्यान करेगा, मेरे बताए काम में स्वयं को नियोजित करेगा उसके योगक्षेम का वहन मैं अंत तक करूँगा।" गायत्री परिवार का हर कार्यकर्त्ता ऐसी

गुरुसत्ता के साथ जुड़कर स्वयं को सुरक्षित व धन्य अनुभव करता है।

माँ का हृदय होने के नाते विश्व मानवता की हर व्यथा उनकी अपनी व्यथा थी । दहेज में जलती बहुओं का वर्णन समाचार-पत्रों में पढ़कर उनका बोलते-बोलते गला भर आता था। लगता था कहीं कोई बहू जली है, लड़की-नारी जाति पर अत्याचार हुआ है, तो वह उनकी अपनी ही बेटी के साथ हुआ है। अक्सर अपने प्रवचनों, कार्यकर्त्ताओं से चर्चा के दौरान व अंतरंग गोष्ठी में वे इन प्रसंगों पर बोलते-बोलते रुक जाते थे, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता था तथा यह कहकर बात समाप्त कर देते थे कि "क्यों नहीं यह सब बन्द होता, क्यों नहीं तुम सब इसके खिलाफ प्रतिरोध का मोर्चा प्रबल बनाते हो? मुझे उम्मीद है कि अगले दिनों देखते-देखते इन उत्पीड़कों का निश्चित ही दमन हो जाएगा।" इन शब्दों में जहाँ उत्पीड़ितों की पीड़ा के प्रति असीम करुणा का भाव है, वहाँ वह 'मन्यु' भी झलकता है, जो उनकी यति योद्धा रूपी सत्ता का मूल मर्म था।

एक बात सुनिश्चित है। माँ के हृदय जैसी विशालता, सहनशीलता व संवेदना विकसित किये बिना कोई संगठनकर्त्ता अपने आत्मीयों का परिकर न बढ़ा सकता है, न उसके लक्ष्यों को सुनिश्चित गंतव्य तक पहुँचा सकता है। यदि किसी संगठन को सैनिक अनुशासन के स्थान पर नैतिक व भावनात्मक अनुशासन विकसित कर, उसे आगे बढ़ाना है तो उसके सदस्यों को सबसे पहले गायत्री परिवार के मुखिया के जीवन दर्शन को समझना व जीवन में उतारना होगा। दूसरों का दु:ख-दर्द समझे व सहानुभूति जताए, कष्ट बँटाये बिना कोई भी व्यक्ति अपने सहकर्मी अथवा अन्यान्य कार्यकर्ताओं की श्रद्धा का पात्र भी नहीं बन सकता। यह व्यवहार में उतारने वाली वह गुण प्रधान विधा है, जिसका जीता-जागता उदाहरण हमें गुरुसत्ता के रूप में मिलता है।

१९७१ के जून माह में मथुरा से हिमालय-हरिद्वार क्षेत्र के लिए उन्हें लाखों परिजनों द्वारा दी गयी विदाई इस तथ्य की साक्षी है कि हर शख्स के मन में उनके प्रति कितना स्नेह था, कितनी श्रद्धा थी। उस समय का दृश्य जिन्होंने भी देखा है, उनका हृदय विगलित हुए बिना रह नहीं सकता। एक तरफ तो इतना अधिक स्नेह-इतनी करुणा, किन्तु दूसरी ओर गुरुसत्ता के मन में कठोरता इस सीमा तक कि जिस स्थान पर जिनके साथ इतने दिन रहे, उसे छोड़कर जाने में तनिक भी असमंजस मन में नहीं। अपनी पुत्री का विवाह कर तुरन्त हमेशा के लिए उस स्थान को छोड़ देना हममें से कितनों के बस की बात है? किन्तु यह अवतारी स्तर की सत्ता ही होती हैं जो दोनों कार्य एक साथ निबाहती हैं।

तप के धनी, ज्ञान के सागर, चिन्तन के उद्गाता के रूप में हम गुरुदेव को जानते हैं, किन्तु उनका वास्तविक परिचय उनकी स्नेहमयी-मोहक उस मुसकान के रूप में अधिक है, जिसने लाखों व्यक्तियों के हृदय का सम्राट उन्हें बना दिया। व्यक्ति उनके पास रोते हुए आते थे तथा हँसते हुए वापस जाते थे। यह उनका विशाल हृदय ही था जिसके समक्ष नतमस्तक हो हर व्यक्ति अपने अंदर की व्यथा अपनी हर बात उनसे कह स्वयं को अत्यन्त हल्का महसूस करता था। इसीलिए तो पूज्यवर अपनी पत्रिका में लिखते हैं- "लोग हमें भूल सकते हैं, पर हम अपने किसी स्नेही को भूलेंगे नहीं।"

अंत:वेदना, मानव मात्र के प्रति करुणा जो महामानवों में होती है, उसका वे दिखावा नहीं करते। वह तो सहज ही उनके जीवन व्यवहार में परिलक्षित होती रहती है। स्वामी विवेकानन्द के जीवन का वह प्रसंग सभी को ज्ञात है, जब फिजी में हुए भयंकर अग्निकाण्ड पर वे रात्रि भर व्याकुल रहे, सो नहीं सके तथा सभी शिष्यगणों द्वारा पूछने पर मात्र यही बता सके कि कहीं बड़े व्यापक स्तर पर जनक्षति हुई है। हजारों मील दूरी पर हुई एक घटना की अनुभूति उसी समय किसी को हो सकती है यह विज्ञान के लिए कौतूहल का विषय हो सकता है, किन्तु अध्यात्म की परिधि में यह असंभव नहीं। महामानवों का अंत:करण एक विशाल मेक्रोकॉस्मास की तरह होता है व समष्टि का दु:ख उनकी पीड़ा बन जाता है। ऐसे ही बंगलादेश की आजादी के समय हुए युद्ध में हजारों अबलाओं तथा निरीह इनसानों पर हुआ अत्याचार उनकी वाणी व लेखनी में देखा जा सकता था। हर किसी की पीड़ा उनकी अपनी थी, उसका परिचय देते अनेकानेक घटनाक्रम देखने को मिलते हैं।

मर्म को स्पर्श करने वाली संवेदना का यह तीव्रतम स्तर जब तक विकसित नहीं होगा, तब तक हम वस्तुत: अध्यात्म का पहला पाठ पढ़ आगे बढ़ ही नहीं सकते। यही करुणा तो है, जिसके अगाध स्रोत से बहने वाली भागीरथी ने लक्षाधिक व्यक्तियों को स्नात कर धन्य कर दिया। परमपूज्य गुरुदेव द्वारा लिखे गए पत्रों को, जिन्हें अनेक व्यक्तियों ने भलीभाँति सजा-सँवार कर अपने पास सुरक्षित रखा है, पढ़कर यही अनुभूति होती है। हर पत्र अपने आप में संवेदना से सराबोर एक ऐसा दस्तावेज है, जो यह प्रेरणा देता है कि दूसरों का दिल जीतना ही नहीं, उनके आत्मबल को शिखर पर पहुँचा कर उनसे समाज निर्माण की विभिन्न गतिविधियाँ सम्पन्न करा लेना महामानवों की सदा से रीति-नीति रही है व हमें भी जन-श्रद्धा अर्जित करनी है तो यही मार्ग पकड़ना होगा।

उनके साथ बिताए थोड़े से क्षण भी हम आप सबके लिए अमूल्य थाती बन गए हैं। एक छोटे से स्नेहसिक्त वाक्य ने किसी कार्यकर्त्ता-परिजन या व्यक्ति की जीवन की दिशाधारा बदल दी है। मात्र कथनी ही नहीं, जीवन व्यवहार में करुणा-संवेदना का समावेश जब किसी के जीवन में होता है तो वह विलासिता को दूर भगा जीवन को

सादगी सम्पन्न बना देता है। स्वयं पूज्यवर का जीवन ऐसा ही था। किसी कार्यकर्ता के घर कोई बीमार हो, जब तक उसके लिए मुसम्बी के रस की व्यवस्था करने की स्थिति न हो, तब तक स्वयं उन्होंने इतना अधिक काम करने-थकान की स्थिति होने पर भी वंदनीया माताजी द्वारा दिये जाने पर उसे स्वीकार नहीं किया। गलती से एक बार ग्रहण करते ही पता लगने पर उँगली डालकर उलटी की व उसे निकाल दिया। यह एक छोटी- सी घटना "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के उनके उस स्वरूप की परिचायक है, जिसकी जीती जागती मिसाल वे थे। खादी की एक धोती व एक मोटा कुर्ता बस यही जीवन भर पहना व इतने भर में सारा जीवन काट दिया।

कोई आश्चर्य नहीं कि उनके जीवन दर्शन व्यवहार में उतरे इस ब्राह्मणत्व ने ही औरों का दिल जीतकर उनसे वह सब करा लिया जो स्वयं शायद वे न कर पाते। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिखाया कि जब आदमी के जीवन में भगवत् सत्ता के प्रति सच्चा प्रेम-साधन संवेदना मानवमात्र के प्रति करुणा का समावेश होता है तो सबसे पहले वह सुविधा साधनों को तिलांजलि देकर उनका उपयोग समष्टि के लिए करता है।

वास्तव में देखा जाए तो एक आदर्श ब्राह्मण, करुणा के सागर-स्नेह की प्रतिमूर्ति के रूप में हम परमपूज्य गुरुदेव-अपने आराध्य देव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य की सारी विशिष्टताएँ इस मूल आधार-बीज से पनपे वटवृक्ष के वैभव की तरह हैं। हमें एक पथ वे दिखा गए हैं कि हम सब भी इन गुणों को जीवन में समाहित कर अपनी जीवन यात्रा को सार्थक बना सकते हैं। यदि उनकी जीवन समिधा की एक जलती चिनगारी भी हमें स्पर्श कर जाए तो हमारा जीवन यज्ञ वस्तुतः सफल हो जाए।

## जीवन-मूरि की तरह थी उनकी लेखनी

लेखनी की जड़ता भेदकर निकली साहित्य की चेतन सृष्टि साहित्यकार का तप है, उसके व्यक्तित्व की संजीवनी क्षमता है, जिसका स्पर्श मात्र निर्जीव-निष्प्राण हो रहे मानव को उल्लास भरा जीवन दे डालता है। मनुष्य के विकासपथ पर प्रत्येक साहित्यकार ने इसी तप संजीवनी के बल पर उल्लास बिखेरा, जीवन बाँटा है। बाँटने और बिखेरने के तौर-तरीके, बदलते समय और परिवेश के अनुसार भले अनेक रहे हों। पर कार्य के पीछे रहने वाला भाव सदा एक रहा है, "विकासपथ पर गतिमान मानव चरण रुकने न पाएँ।" इस भाव के बहुआयामी विकास के लिए अपनी चिंतन-क्षमता, कल्पना-शक्ति, भाव-संपदा, तर्क-सामर्थ्य खपाने वाले उस तपस्वी को साहित्य संसार कैसे भूल पाएगा? जिसने अर्द्धशताब्दी से अधिक समय तक तपकर अपनी लेखनी द्वारा अनेक जीवन-तत्त्व जन-मानस में प्रविष्ट किए।

शब्द-संसार में विचरण करने वाले विचारशील मन के लिए उनका नाम सहज है। संभव है याद करने के ढंग अलग-अलग हों। कोई उनके अगाध पांडित्य को याद करे। किसी को उनकी मनीषा चकाचौंध कर दे। किसी का मन उन युगाचार्य द्वारा प्रस्तुत वर्तमान समस्याओं की तत्त्वालोचना के सामने नत हो उठे। कुछ उन्हें अपने जीवन की निगूढ़ पहेलियों को सुलझाने वाले अपने पूज्य गुरुदेव के रूप में याद कर बैठें। तो किसी के मन में उनका छवि-चित्र प्रज्ञापुरुष, क्रांतिदर्शी, ब्रह्मर्षि के रूप में जगमगा उठे, जिसने मानव की उज्ज्वल भवितव्यता का मानचित्र तैयार किया है। उसे उस ओर बढ़ चलने की सामर्थ्य दी है। भावना, विचारणा, कल्पना के अनेक रूपों द्वारा उनकी पुण्य स्मृति अगणित ढंग से सँजोने पर भी युगमनीषी पं. श्रीराम शर्मा आचार्य एक हैं, अपने में सर्वथा अद्वितीय।

उनका रचना संसार उपयोगी, आवश्यक और समसामयिक होने के साथ ही साहित्य की दृष्टि से भी अनूठा और मोहक है। यहाँ दर्शन ने साहित्य-कला की संवेदना और सौंदर्य पाया है और साहित्य-कला ने दार्शनिक विचारशीलता को अपनाया है। अपने सामान्य क्रम में दर्शन और साहित्य दो अलग-अलग विधाएँ रही हैं। इनके अंतर की स्पष्टता समझने, मूल्यांकन करने के लिए दोनों की गहराइयों में प्रवेश करना जरूरी है। प्रचलित अर्थों में साहित्य के अनेक रूप हमारे सामने बिखरे दिखाई देते हैं। नाटक-काव्य-कहानी, व्यंग्य इनमें से किसी का संपर्क मन को साहित्यिकता का भान करा देता है। इसके अनेक रंगों में स्वयं के मन को रँगते यह पहचान हुए बिना नहीं रहती कि साहित्य-कला है। कला की अनेक विधाओं में सर्वथा उत्कृष्ट और सूक्ष्म।

जबकि दर्शन विचार है। अपने अस्तित्व के उदय से आज तक इसने अनेक शाखा-प्रशाखाओं के रूप में इसने अपना विकास किया है। वेद से श्री अरविंद, सुकरात से सार्त्र तक की लम्बी यात्रा पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों में पूरी हुई है। विचारों का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना कि स्वयं मानव-जीवन। ठीक यही बात साहित्य के संदर्भ में भी कही जा सकती है। पर इस समानता के बावजूद दोनों में गहरी विषमता है। एक का क्षेत्र बुद्धि है, दूसरे का भाव। बौद्धिकता के अभाव में दर्शन जन्म नहीं ले सकता और न भावों के अभाव में कला। यही कारण है-इमानुएल काण्ट को साहित्यकार नहीं कहा जा सकता और न बायरन को दार्शनिक।

इस अलगाव के बावजूद साहित्य दर्शन से नाता नहीं तोड़ सकता। कला स्वयं में पूर्ण नहीं है। युगमनीषी परम पूज्य गुरुदेव ने इसी तथ्य को अपनी मीमांसा का केन्द्र

माना है। वे डा. ब्रैडले और मि. क्लाइव बेल की तरह काल की दुनिया को अपने में पूर्ण स्वतन्त्र सृष्टि स्वीकार नहीं करते। बात सही भी है जैसे ही इसे स्वयं में पूर्ण होने का दम्भ घेर लेता है-अपनी उपयोगिता खो बैठती है। सृजन से विमुख हो जाती है। कला का समूचा विकास इसकी चरमावस्था यही है कि मानव को उसके चरमस्तर तक ग्रहणशील बना दे, पर ग्रहणशील किसलिए? यह एक ऐसा जटिल प्रश्न है, जिसके बारे में आज कला की समस्त विधाएँ मौन हैं। उनका यही मौन मनुष्य जाति को कुछ ऐसा दिए जा रहा है, जिससे वह स्वयं की गरिमा भूल पशुता की ओर बढ़ चली है।

इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति को युगऋषि के शब्दों में कहें तो ''भावनाओं को दिशा देने वाली कुंजी उन हाथों में चली गई, जिनमें नहीं जानी चाहिए थी। बारूद की पेटी बालकों को थमा दी जाए, तलवार बंदर को मिल जाए, सशक्त औषधियों का उपयोग कोई अनाड़ी करने लगे, खजाने की व्यवस्था पागल सँभाले तो उसका परिणाम अहितकर ही होगा। भावनाओं को प्रभावित करना एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिस पर संसार का भाग्य और भविष्य जुड़ा हुआ है, इसलिए इसको प्रयुक्त करने का अधिकार सत्पात्रता की आग में तपे हुए अधिकारियों और मनीषियों को मिलना चाहिए, जो कला को सद्विचारों, सद्भावों का माध्यम बना सकें।''

जो कलाकार अथवा कला स्वयं को ऐसा करने में अक्षम पाते हैं, उनके न विकसित होने में मानवहित है। पाक कला प्रशंसनीय है। इसकी उपलब्धि के रूप में बने अनेक व्यंजनों को देख किसी की लार टपकने लगना स्वाभाविक है, लेकिन यदि सारे व्यंजनों में जहर घुला हो तब व्यक्ति की ग्रहणशीलता का जागरण क्या परिणाम देगा? इस बिन्दु पर सोचने की आज किसी को फुरसत भले ही न हो, पर परिस्थितियाँ कला-विशेषज्ञों को इस पर सोचने के लिए विवश कर रही हैं। यहाँ कला का दोष इतना ही है कि उसने स्वयं को पूर्ण मान अपने जन्म-स्थान से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। यह तथ्य इसकी विविध विधाओं के लिए आवश्यक होने के साथ साहित्य के लिए अनिवार्य है।

साहित्य के जन्म का उद्देश्य यही था कि यह दर्शन को लोकजीवन के लिए ग्राह्य बनाए। अपनी शुरुआत में दर्शन व साहित्य अलग न थे। विचारों की खोज करने वाले ऋषि पर ही यह जिम्मेदारी थी कि यह उसे साहित्य के रूप में प्रस्तुत करे। यही कारण है वेदों में कवि शब्द ऋषि का पर्याय माना गया है और उसी की उपलब्धि वैदिक वाङ्मय है। कालान्तर में कार्यविस्तारवश उपनिषद्युग में दोनों के दो क्षेत्र हो गए। उपनिषद् ने दर्शन का रूप लिया तो पुराणों ने काव्य का। षड्दर्शनों तक आते-आते इनमें उपनिषदों में पायी जाने वाली काव्य-शैली का लोप हो गया। दर्शन सूत्रमय सूक्ष्म बुद्धि के लिए बोधगम्य हो गया तो काव्यलोक जीवन के लिए ग्राह्य, पर साहित्य का उद्देश्य दर्शन को लोकजीवन के लिए सुलभ बनाना ही रहा।

संस्कृत साहित्य की भाँति हिन्दी साहित्य के अस्तित्व के उदय में यही रूप देखते हैं। भक्तियुग में जन्म लेने वाले हिन्दी वाङ्मय में सूर-तुलसी और कबीर की भावधारा का एक ही उद्देश्य रहा है, सर्वसामान्य के लिए दुर्लभ अध्यात्मदर्शन को सुलभ बनाना। आज भी हम जिसे श्रेष्ठ साहित्य की श्रेणी में रखते हैं उसका आधार कोई न कोई विचारधारा रही है। देश की स्वतन्त्रता के समय और उसके बाद हिन्दी साहित्य जिन दो विचारधाराओं से प्रभावित हुआ वे गाँधी और मार्क्स की हैं, कहीं-कहीं कीर्केगार्ड, जेस्पर का अस्तित्ववाद और मानववाद अपनी झलक दिखा जाता है। मैथिलीशरण, सियारामशरण, सोहनलाल द्विवेदी आदि को यदि गाँधी प्रभावित करते हैं, तो प्रेमचन्द्र, निराला, मुक्तिबोध नागार्जुन की लेखनी मार्क्स को केन्द्र बनाकर घूमती है। पंत का काव्य मानववाद की झलक दिखाता है।

दर्शन और साहित्य की अटूट घनिष्टता सिद्ध होने के बाद भी यह पहेली बनी ही रहती है-क्या सभी विचार मानव के समग्रविकास में सहायक हैं? इस सवाल का उत्तर तलाश रहे साहित्य मनीषी प्रभाकर माचवे की विकलता उन्हीं के शब्दों में-

''नया प्रकाश चाहिए, नया प्रकाश चाहिए,
पुकारती दिशा, मिटे तृषा, मिटे निशा
बहुत हुआ उदासपन हमें सुहास चाहिए।''

उनके इस उद्गार में नये विचारों की जरूरत की गहरी अकुलाहट है। ऐसे विचार जो मानव के समग्र विकास में सहायक सिद्ध हो सकें।

युग की यही विकल-वेदना पूज्य गुरुदेव का जीवन-स्पन्दन बन गई और उन्होंने स्वयं को मौलिक विचारों की शोध और उनकी कलात्मक अभिव्यंजना में तन्मय किया। साहित्य-सृजन के पीछे क्रियाशील अपने अंतर्भावों को शब्द देते हुए वे कहते हैं-''हमारा जीवन रूढ़ियों एवं विडम्बनाओं की धुरी पर नहीं घूमा है। उससे अति महत्त्वपूर्ण प्रयोगों-परीक्षणों और अनुभवों का एक अच्छा-खासा भंडार जमा हो गया है। हम चाहते थे कि यह उपलब्धियाँ जन-सामान्य को वितरित करते जाएँ, ताकि वे सभी हमारी ही तरह जीवन की सार्थकता अनुभव कर सकें। लेखन और प्रवचन हमारा व्यवसाय नहीं वरन् अंतःकरण की ऐंठन है जो निरंतर इसलिए होती रहती है कि हमारी अनुभूतियों और उपलब्धियों का लाभ हमारे सहचरों को भी मिलना चाहिए। उपर्युक्त दोनों ही क्रिया-कलाप हम अपनी आंतरिक संपदा दूसरों को हस्तांतरित करने के उच्च उद्देश्य से चलाते रहे हैं।''

## ८.१५ युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन

इस तरह उन्होंने दार्शनिक और साहित्यकार दोनों की भूमिकाएँ एक साथ निभाईं। लोकभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हुए उनका प्रयास ठीक ऋषियों की भाँति है। सही अर्थों में कहा जाए तो साहित्य रचना का अधिकार भी ऋषिकल्प व्यक्ति को है। वैदिक युग में तो इसे साहित्य-रचना के अनिवार्य मानदण्ड के रूप में स्वीकारा जाता था। किसी अनधिकारी को साहित्य रचना करने की अनुमति न थी। अनधिकार जाति का नहीं योग्यता का था। इसी वजह से शूद्रा इतरा के पुत्र ने ऐतरेय नाम से उपनिषद् की रचना की, जबकि ब्राह्मण धुंधकारी वंचित रह गया। इसकी प्रामाणिकता के कारण छह प्रमाणों में शब्द प्रमाण को सर्वोपरि माना गया । अर्थात् "जो कुछ लिखा है अकाट्य प्रमाण है।"

आज के युग में यह बात कितनी ही अप्रासंगिक लगे, किन्तु मानवता को नये युग में प्रवेश दिलाने वाले परमपूज्य गुरुदेव के साहित्य ने उनकी तपनिष्ठा से जन्म पाया है। उनका रचना संसार दर्शन और साहित्य की संगम-स्थली बना । इसे किसी नये युग के प्रतिष्ठापक के लिए अनिवार्य विवशता भी समझा जा सकता है कि वह दोनों तरह का श्रमसाध्य काम अकेले करें। इसके लिए विचारों का अन्वेषण भर पर्याप्त नहीं। लोक-जीवन तब तक उसे ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक उसकी ग्रहणशीलता न जगाई जाए। उनका यही प्रयास उन्हें साहित्य मनीषियों में उत्कर्ष प्रदान करता है। ठीक ग्रीक दार्शनिक साहित्यकार प्लेटो और भारतीय दार्शनिक-संत एवं साहित्यकार श्री अरविंद की भाँति, जिनकी रचनाओं में कला और दार्शनिक विचारशीलता एक साथ सँजोई है।

कला के अर्थों में साहित्य का मतलब है-शब्द अभिव्यंजना की शैली। आलोचक आई. ए. रिचर्ड्स के मत से शैली दृष्टिकोण का प्रतिबिंब है। दोनों का कौशलपूर्ण उपयोग 'रस' को जन्म देता है। यही वह बिंदु है, जहाँ मानव मन बरबस ग्रहणशील हो उठता है। रस छलकाता गद्य भी काव्य से कम सुन्दर नहीं। इसी तथ्य को स्वीकार कर दिनकर ने प्रश्न पूछा था-"गीत-अगीत कौन सुन्दर है? अगीत भी गीत का सारा सौन्दर्य अपने में तब समेट लेता है जब उसमें करुणा की सरसता और ओजपूर्ण गंभीर्य आ टिका हो।" जरा देखिये सतयुग की वापसी में मानवता की वर्तमान दशा का चित्रण "वर्तमान में तो सर्वत्र कुहासा छाया दीखता है। पतझड़ की तरह ठूँठी ही ठूँठी का जमघट दीख पड़ता है। पतन और पराभव का नगाड़ा बजता सुनाई देता है।" गहराई में वेदना को स्पर्श करने वाले इस शब्दचित्रण के बाद मानव को उसके वास्तविक पुरुषार्थ का बोध कराती लेखनी का शब्दांकन...."गंगा को स्वर्ग से घसीटकर जमीन पर बहने के लिए विवश करने वाले भगीरथ अकेले सफल हो गए थे। व्यापक अंधकार पर छोटा दीखने वाला सूरज विजय प्राप्त कर लेता है। ......उत्कृष्टता का उदय होगा तो वातावरण भी बदल जाएगा।" कला का अक्षुण्ण मूल्य प्रतिष्ठित करती हुई- उनकी मुहावरों से जड़ी भाषा का सौष्ठव, उसका तीखापन मानव मन की परतें उधेड़ते, सीधे अस्तित्वकेन्द्र तक पहुँचे बिना नहीं रहता। दिसम्बर, ८८ की 'अखण्ड-ज्योति' के पृष्ठों की झलक "कामुकता अपने ढंग का एक दूसरा उन्माद है, जिसकी चसक और ललक मरते दम तक पीछा नहीं छोड़ती। यह जीवनरस को निचोड़ते रहने के अतिरिक्त कुछ नहीं। अपने ओजस की फुलझड़ी जलाकर चित्र- विचित्र तमाशा देखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। दाद खुजाते-खुजाते रक्त निकल आता है, पर खुजाने वाले के हाथ रुकते कहाँ हैं? कुत्ता सूखी हड्डी चबाकर अपने मसूड़े छील लेता है और घावों से टपकने वाले खून को चाटकर समझता है कि सूखी हड्डी बड़ी रसदार और जायकेदार है।"

सर्वजन को अपने आँचल की सुखद छाया में लेने वाली भाषा का प्रयोग करते हुए भी विचारों के इतिहास में क्रांति करने वाले युगमनीषी ने अनेक शैलियों को निभाते हुए प्रधानतया गवेषणात्मक शैली का प्रयोग किया है। उनकी लेखनी मानव को अंतःप्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तरों को अपनी सामान्य भाषा में टाँक देती है। "रेल की पटरियाँ सरल और सस्ती होती हैं, पर उनके बिना बहुमूल्य इंजन अनेक डिब्बों सहित दौड़ते जाने में समर्थ नहीं होता। उपसनात्मक कर्मकांड रेल की पटरियों की तरह हैं।" एक अन्य स्थान पर मनोविज्ञानियों के लिए अनबूझ पहेली बने मानव के जटिल व्यक्तित्व को भाषा के हलके-हलके रंगों के स्पर्श मिलाते हुए किया गया मृदुल और तरल चित्रांकन- "मस्तिष्क और शरीर को व्यर्थ ही दोष दिया जाता है। वे दोनों तो वफादार सेवक हैं.... आस्थाएँ-प्रेरणाएँ होती हैं और उसी पेट्रोल से धकेले जाने पर जीवन स्कूटर के दोनों पहिए चिन्तन और कर्तृत्व सरपट दौड़ने लगते हैं। व्यक्तित्व क्या है? आस्था । मनुष्य क्या है? श्रद्धा। चेष्टाएँ क्या हैं? आकांक्षा की प्रतिध्वनि....।"

अभिव्यंजना को अपनी लेखनी से नया आयाम देकर विचारपरक साहित्य से रीते पड़े हिन्दी कोश को भरने वाले आचार्य जी के लाखों पृष्ठों में फैले साहित्य का कुछ पंक्तियों में विवेचन असंभव कार्य है, क्योंकि दृश्य साहित्य के पीछे क्रियाशील अदृश्य शक्तियाँ बहुत समर्थ और व्यापक हैं। इसे उन्हीं के शब्दों में सुनें- "अखण्ड-ज्योति का कलेवर छपे कागजों के छोटे पैकिट जैसा लग सकता है, पर वास्तविकता यह है कि उसके पृष्ठों पर किसी की प्राणचेतना लहराती है और पढ़ने वालों को अपने आँचल में समेटती है, कहीं से कहीं पहुँचाती है। बात लेखन तक नहीं सीमित हो पाती। उसका मार्गदर्शन

और अनुग्रह अवतरण किसी ऊपर की कक्षा से होता है। इसका अधिक विवरण जानना हो तो एक शब्द में इतना ही कहा जा सकता है कि यह हिमालय के देवात्मा क्षेत्र में निवास करने वाले ऋषिचेतना का समन्वित अथवा उसके किसी प्रतिनिधि का सूत्र-संचालन है।''

सूत्र-संचालक के द्वारा किया गया 'अखण्ड-ज्योति', युग-निर्माण, युग-शक्ति गायत्री, महिला जाग्रति अभियान, प्रज्ञा अभियान जैसी पत्रिकाओं का अनेक दशकों तक लेखन और संपादन करने के साथ दो हजार से अधिक पुस्तकों की रचना का विराट संसार किसी को कितना ही आश्चर्यचकित क्यों न करे पर यह उनके व्यक्तित्व के मूल्यांकन की कसौटी नहीं बन सकता। हिमालय के व्यक्तित्व को गंगा से नहीं परखा जा सकता। गंगा के रूप, गुण-संपदा, सामर्थ्य पर्वतराज की अतुलनीय महानता का चित्रांकन नहीं कर सकते। गंगा मात्र उसकी एक धारा है। सर्वआयामी व्यक्तित्व का एक आयाम। भले यह मुख्य हो पर इसके अतिरिक्त हिमालय से इस जैसी अनेक सरिताएँ निकली हैं। सरिताओं के अतिरिक्त औषधीय सम्पदा कम नहीं है। इन दृश्य रूपों के अतिरिक्त उस अदृश्य सामर्थ्य का अनुमान लगाना असंभवप्राय है, जिसके कारण वह ऋषियों, देवताओं, सिद्धों की विहार स्थली बन सका। व्यक्ति और समाज के सर्वतोमुखी विकास के लिए 'वैज्ञानिक आध्यात्मवाद' 'आध्यात्मिक समाजवाद' जैसी चिन्तन धाराएँ देने वाले पूज्य आचार्य जी का व्यक्तित्व ऐसा ही है। लेखन उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का एक आयाम है। सहस्र रश्मियों वाले अंशुमाली की एक किरण। भले इसकी प्रखरता कितनी ही हो, पर इसमें सूर्य को नहीं परखा जा सकता है।

लेखक के रूप में किसी की सफलता का मानदण्ड अपने कर्तृत्व के अतिरिक्त इस बात में है कि उसने कितने नये लेखकों को जन्म दिया? महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य में एक नये युग की प्रतिष्ठा करने वाले इसलिए कहे गए, क्योंकि वह मैथिलीशरण गुप्त, गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे अन्य उपजा सके। प्रचलित विधाओं से हटकर विचारपरक लेखन की अपने ढंग से शुरुआत करने वाले युगप्रवर्तक आचार्य जी ने साहित्य और चिन्तन की रचना भूमि में कुछ बीज बोए हैं। अपने प्राणों के रस से उन्हें सींचा है। वट के लघु बीज की तरह आज वे भले किसी की नजर में न आ रहे हों, पर आगामी कल उन्हें विशाल वटवृक्ष के रूप में देखेगा। उनकी विचार-परंपरा को पुष्पित-पल्लवित करती नवोदित साहित्यकारों की एक भरी-पूरी पीढ़ी शीघ्र नजर आने लगेगी। उनके द्वारा कायकलेवर त्याग दिए जाने से उनकी लेखनी रुक गई, विचारधारा थम गई ऐसा किसी को नहीं मानना चाहिए। कुछ अँगुलियाँ अभी भी उनको कारण-शक्ति का यन्त्र बनी उन्हीं की विचारसरिता को प्रवाहित कर रही हैं। जिसकी पतली धारा शीघ्र ही नदी-नद में बदलकर महासागर का रूप लेने वाली है। लोकजीवन जिसमें अवगाहन कर स्वयं को सतयुग के स्वर्णिम प्रकाश से घिरा पाएगा।

# युग के व्यास, जिनकी लेखनी से छलकती है भाव-संवेदना

''हमें अगले दिनों सारे विश्व को यह बताना है कि नयी दुनिया कैसी होगी, जमाना कैसे बदलेगा तथा देखते-देखते व्यक्तियों के सोचने का तरीका कैसे बदलता चला जाएगा? जैसे ब्रह्माजी ने इच्छा प्रकट की ''एकोऽहं बहुस्यामि'' व देखते-देखते साकार हो गयी उनकी परिकल्पना, उसी तरह हमने भी इच्छा व्यक्त की है। महाकाल के संकेतों पर कि हमें इस दुनिया को नयी बनाना है। इक्कीसवीं सदी का साहित्य हम इसीलिए रच रहे हैं। तुम्हारे तथ्यों के संकलन, हमारे अभी के लेखन तथा हमारे बाद कलम पकड़ने वाली उँगलियों के लेखन के पीछे यही दैवीप्रेरणा काम कर रही है। इस तथ्य को समझना, यह मानना कि तुम्हारे व्यक्तित्व का परिष्कार कर तुम से एक गहन साधना कराना मेरा उद्देश्य है। यह समझ लोगे तो तुम लोग कभी लक्ष्य से भटकोगे नहीं।'' परमपूज्य गुरुदेव ने उपर्युक्त भाव तब व्यक्त किए थे, जब हम सभी उनके समक्ष गोष्ठी में बैठे उनका मार्गदर्शन ले रहे थे। इन दिनों कागज काले करने वाले ढेरों समाचार पत्र निकलते रहते हैं। लाखों पत्रिकाएँ रोज प्रकाशित होती हैं, किन्तु रचनात्मक लेखन, युग-परिवर्तनकारी साहित्य सृजन कैसे किया जाता है, यह समझना हो तो हमें परमपूज्य गुरुदेव की लेखनप्रक्रिया से जुड़े प्रसंगों व उन अंतरंग क्षणों की आपको झाँकी करानी होगी, जिसे देखने-समझने के बाद 'अखण्ड-ज्योति' का जाज्वल्यमान विराट रूप हमारे समक्ष स्पष्ट होता चला जाता है।

प्रसंग तब का है, जब वैज्ञानिक अध्यात्मवाद का सारा ढाँचा नये सिरे से गढ़ा जा रहा था। १९६६-६७ में 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका में आरंभ किये गए इस उपक्रम को सभी ने सराहा तथा बुद्धिजीवियों में मिशन की पैठ बड़ी गहरी बनी थी। १९७७-७८ में उन सभी विषयों पर पुनर्मन्थन का क्रम चला, जिन्हें अध्यात्म और विज्ञान के समन्वयात्मक प्रतिपादनों की परिधि में लाना था, विशेषकर तब, जब प्रयोग परीक्षणों हेतु एक प्रयोगशाला व ग्रंथागार विनिर्मित होने जा रहा था। कार्य की विशालता व उद्देश्य के विराट स्वरूप को दृष्टिगत रखकर एक कार्यकर्ता ने पूज्यवर से निवेदन किया कि हमें विराट स्तर पर साहित्य सृजन हेतु राशि लेकर लिखने वाले साहित्यकारों से संपर्क

करना चाहिए व उनके माध्यम से हिन्दीभाषी ही नहीं, सभी भाषायी क्षेत्रों को पकड़ने की योजना बनानी चाहिए। पूज्यवर बोले- ''जो कार्य ऋषि-मनीषियों के स्तर का हो, इसे खरीदी हुई अक्ल नहीं कर सकती। हमें तप-पूत लेखनी के धनी मनीषी स्वयं तैयार करने होंगे, वे ही नवसृजन का आधार खड़ा करेंगे।'' यही कारण है कि ३२००' पुस्तकों के रूप में विराट परिमाण में साहित्य सृजन करने वाले पूज्य गुरुदेव एक ऐसा ढाँचा खड़ा कर सके कि बिना किसी बाहर के लौकिक स्तर के साहित्यकार की मदद के यह पत्रिका न केवल अनवरत चलती रह सकी, वरन् इसके भावी स्वरूप का प्रारूप भी निश्चित हो गया। मनीषा के सृजनात्मक लेखन व एक साधारण साहित्य लेखन में यही सबसे भारी अंतर है।

लेखक-पत्रकार-मनीषी के रूप में परमपूज्य गुरुदेव के जीवनवृत्त पर जब हम एक विहंगम दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि साहित्यलेखन उनकी साधना का एक अनिवार्य अंग था। विराट गायत्री परिवार का सृजन उन्होंने इसी के माध्यम से किया। न केवल पत्रिका उच्चस्तरीय प्रेरणाओं व निर्देशों से युक्त रहती थी, अपितु उनके परिजनों को लिखे गए पत्र मनोबल बढ़ाने वाला मार्गदर्शन भी करते थे। प्रातः काल डेढ़ बजे उठकर नित्यकर्म से निवृत्त हो चार घण्टे न्यूनतम अपनी साधना, गायत्री महामंत्र की उपासना तथा तत्पश्चात् चार घंटे से छह घंटे न्यूनतम लेखनी की साधना, यह उनकी दिनचर्या का एक अनिवार्य अंग था। चाहे वे क्षेत्रों में दौरे पर हों, राह में, ट्रेन में अथवा सक्रिय कार्यक्रमों में, केन्द्र में संलग्न, लेखनी कभी उनकी रुकी नहीं। नियमित स्तर का यही लेखन था, जिसके माध्यम से चिंतन को उछालने वाले श्रेष्ठ स्तर के साहित्य का सृजन संभव हो सका। यही प्रेरणा उन्होंने अपने पास कार्य करने वाले, सीखने वाले साधकों को भी दी। जिनने उस दिनचर्या को अपनाया, उनका निज का व्यक्तित्व तो परिष्कृत हुआ ही, उनके माध्यम से मार्गदर्शन का एक तंत्र विकसित होता चला गया।

बड़ा आश्चर्य होता है जब हम देखते हैं कि बिना किसी उच्चस्तर की पढ़ाई-शिक्षा के भारतीय संस्कृति, दर्शन, अध्यात्म, तत्त्वमीमांसा, आहार से लेकर चिकित्सा विज्ञान, भौतिकी, समाज का नव-निर्माण नैतिकी, मनोविज्ञान तथा राजनीति के दाँव-पेंच भरे विषयों से लेकर मैनेजमेण्ट जैसी विद्या पर बहुमुखी 'एक्सपर्ट' स्तर का लेखन कैसे बन पड़ा? उसका एक ही उत्तर है गहन- स्वाध्याय। फकीरों की भाषा में कहें तो ऐसे कहेंगे-

''पढ़िबे को फल गुनब है, गुनबे को फल ज्ञान,
ज्ञान को फल हरिनाम है, कहि श्रुति, संत पुरान।''

अर्थात् पढ़ने का मर्म मनन-चिंतन ज्ञानार्जन में है व ज्ञान की सार्थकता भगवद्-भक्ति में है। जहाँ ये सभी मिल जाएँ व लेखनी जिसकी सधी हुई सुनियोजित दिशा में चले, वहाँ जिस उच्चस्तरीय साहित्य का सृजन होगा, उसे पढ़कर कौन ऐसा होगा, जो प्रभावित न हो?

''कवयाः सत्यश्रुताः'' ऋषि कवि होता है व उसका काव्य फूट पड़ता है लेखनी से गद्य व पद्य के रूप में। गद्य भी उसका ऐसा सरस होता है कि पढ़कर लगता है कि शब्द कहीं भीतर तक जाकर स्पर्श कर रहे हैं। उनके मूल में संवेदना गहरे तक विराजमान है। जरा उनकी लेखनी का एक स्वरूप यहाँ देखें- ''भगवान किसी को धनी-कुबेर भले ही न बनाये, पर उनकी करुणा बरसती ही हो तो उसे उस चिकित्सक की पदवी मिले, जिसने असंख्यों को अंध तमिस्रा से उबारा और आलोक की दुनिया में हाथ पकड़कर ला बिठाया।''

*(अखण्ड ज्योति पृष्ठ ५४ अप्रैल, १९८२)*

जहाँ ऊपर की पंक्तियों में गहरी संवेदना है तो अगले उद्धरण में प्रतिभाओं को दी गयी लताड़ भी ऐसी है, जो गहरे तक चुभकर कुछ कर दिखाने की दिशा में मचला देती है- ''प्रतिभाएँ आगे बढ़ती हैं तो ही अनुगामियों की कतार पीछे चलती है। पतन और उत्थान का इतिहास इस एक ही पटरी पर आगे बढ़ता रहा है। प्रतिभाओं को दूसरे शब्दों में अंधड़ कहते हैं। उनका वेग जिस दिशा में तेजी से बढ़ता है, उसी अनुपात से तिनकों-पत्तों से लेकर छप्परों और वृक्षों तक को उड़ते-लुढ़कते देखा गया है। गिरता-उठता तो जमाना है, पर उसके लिए वास्तविक पाप-पुण्य का बोझ इस समय की अग्रगामी प्रतिभाओं के सिर पर लदता है। अब केवल एक ही बात सोचनी चाहिए कि समय की जिस चुनौती ने जाग्रतात्माओं को कान पकड़ कर झकझोरा है, उसके उत्तर में उन्हें दाँत निपोरने हैं या सीना तानना है।''

*(अखण्ड ज्योति पृष्ठ ५६ अप्रैल, १९८२)*

ऊपर पूज्यवर की लेखनी की एक साक्षी देकर यह बताने का प्रयास हम कर रहे हैं कि ऋषिस्तर के मनीषी सूक्ष्म स्तर पर अपनी साधना की शक्ति से, अपनी सशक्त लेखनी व ओजस्वी वाणी से वह सब कुछ कर दिखाने की सामर्थ्य रखते हैं, जिसे युग असंभव मानता रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में उनके द्वारा दिए गये कुछ व्यावहारिक निर्देश दृष्टि-पटल पर आ जाते हैं, जिन्हें समय-समय पर डायरी में नोट किया जाता रहा।

(१) ''अब हमें भारतीय दर्शन में समग्रता लानी है। इसे नया स्वरूप विज्ञान का पुट देकर देना है। तत्त्वदर्शन ही किसी समाज की संस्कृति बनाता है। हमारी संस्कृति के अनिवार्य अंग हैं-दूरदर्शी-विवेकशीलता तथा पुण्य-परमार्थ। कठिनाई यही है कि इस भारतीय मान्यता को

पाश्चात्य दर्शन समर्थन नहीं देता। हमें यही भागीरथी पुरुषार्थ करना है कि जन-जन के मन में ये दो आदर्श समा जाएँ।'' (९-४-८३)

(२)''प्राचीन युग देवताओं का युग था। सतयुग की संस्कृति, देव-संस्कृति थी। हम आदिम मानव से नहीं, श्रेष्ठ नर-रत्नों से, ऋषियों से जन्मे हैं। यही अवधारणा अब हमें तर्क, तथ्य, प्रमाण के साथ पूरे विश्व में पहुँचानी है।'' (११-५-८३)

(३) ''आदमी के विचारों की शक्ति असाधारण है। जिजीविषा-जीवट मनोबल में अपनी एक अलग ही सामर्थ्य है व यह मनुष्य की एक सबसे बड़ी विशेषता है। हमारे अंत: की विद्युत की ताकत पर खड़ा है विचारों का ढाँचा । साधना-उपचारों द्वारा जब तक इसे सशक्त किया जाता रहेगा, मनुष्य का आंतरिक वैभव सतत बढ़ता ही रहेगा।''

(३-६-८३)

(४) ''हमें व तुम्हें अब भ्रष्ट चिंतन से जूझना है। यही इस युग का सबसे बड़ा संग्राम है। आज दर्शन को प्रत्यक्षवाद ने विषाक्त कर दिया है। यदि यह दर्शनप्रवाह उलटा न गया तो मनुष्य को यह पशु बनाकर रहेगा। इस युगसंकट से जूझना ही मनीषा का काम है व वह काम 'अखण्ड-ज्योति' को ही करना है।''

(१९-४-१९८६)

(५) ''सृजन की अपनी लहर होती है। कभी सतयुग में सृजनपरक प्रभावोत्पादन मानसून छाया रहता था तो धरती स्वर्ग जैसी थी। वैसा ही वातावरण लाने के लिए हमें जन-जन के मनों को मथकर उन्हें यह सोचने पर मजबूर कर देना है कि परिवर्तन अवश्यंभावी है व है श्रेष्ठता की दिशा में ही। इसी उद्देश्य की सफलता में तुम्हारे समर्पण की सफलता है।''

(२० १० १९८८)

उपर्युक्त उद्धरण उन डायरियों से लेकर पाठकों की जानकारी के लिए दिये गए, जिनमें समय-समय पर पूज्यवर के मुखारविन्द से निकले हर निर्देश को नोट किया जाता रहा। १९४० से १९९० तक चली पचास वर्ष की साहित्यिक जीवनयात्रा पर हम जब दृष्टि डालते हैं, तो पाते हैं कि 'अखण्ड-ज्योति' की एक पाती की तरह अपने स्वजनों परिजनों तक भेजने वाले पूज्यवर गुरुदेव ने 'मैं क्या हूँ?' जैसी जटिल आत्मचिंतन प्रधान पुस्तक से आरंभ कर जीवन जीने की कला के व्यावहारिक अध्यात्म तथा धर्मतन्त्र से लोक-शिक्षण व लोकरंजन से लोकमंगल के स्वरूप से लेकर गायत्री के तत्त्वज्ञान के पुण्य-परमार्थ प्रधान शिक्षण द्वारा एक व्यापक समुदाय को मथा, जिसकी संख्या करोड़ों में आँकी जा सकती है। वे 'अखण्ड-ज्योति' को अपनी प्राणऊर्जा का प्रवाह बताते रहे, मात्र तीन उँगलियों व कलम से लिखी जाने वाली एक पत्रिका मात्र नहीं। इस अखण्ड-ज्योति का वस्तुत: मत्स्यावतार की तरह विस्तार हुआ व 'संदेश नहीं मैं स्वर्गलोक का लायी ' वाले कैप्शन को लेकर प्रकाशित प्रारंभिक पत्रिका जो २५० मात्र थी, बढ़ते-बढ़ते आज चार लाख से अधिक हिन्दी में व इतनी ही अन्यान्य भाषाओं में (गुजराती, उड़िया, बंगला, मराठी, तमिल, तेलगू) में प्रकाशित होकर अस्सी लाख पाठकों तक पहुँच रही है। अध्यात्म प्रधान चिंतन में यदि इतने व्यक्ति आज के कलियुग माने जाने वाले युग में भी रुचि लेते हैं, उसका स्वाध्याय कर पाने पर कुछ अभाव सा महसूस करते हैं तो यह चिह्न पूज्यवर के उस आशावादी दर्शन का द्योतक है जिसमें वे कहते थे- मूलत: मनुष्य आदर्शवादी है व उसे अंत में वही बनना ही होगा।

विचारों की स्पष्टता, शैली में रोजमर्रा के प्रयोग किए जाने वाले शब्दों से लेकर शुद्ध संस्कृत के शब्द, कई नयी संधियों के साथ नये शब्दों की संरचना, भावना का अविरल प्रवाह तथा एक सुनियोजित उद्देश्य की ओर चिंतन को मोड़ता प्रतिपादन, यह पूज्यवर की जादूभरी लेखनी की विशेषता है। एक बार का प्रसंग है कि ब्रह्मवर्चस में कार्य कर रहे एक सज्जन अगणित तर्कों व प्रमाणों के साथ नास्तिकवाद का खण्डन करने वाला एक लेख पूज्यवर के पास लाए । उनकी दृष्टि में यह उनका सर्वश्रेष्ठ लेख था। पूज्यवर ने पढ़ा व फिर कहा कि- ''बेटा- तेरा मन रखने के लिए इसे फाड़ता तो नहीं, किन्तु एक बात बताता हूँ कि बिना संवेदना का समावेश किए, बिना सही दिशा दिए लेखन नीरस-बेजान है। हम खंडनात्मक शास्त्रार्थवादी परम्परा के नहीं हैं। हमें तर्क व तथ्यों के साथ संवेदना-करुणा को भी उभारना है। इसे स्पष्टत: ध्यान में रखना।''

'सुनसान के सहचर' जैसी छन्दात्मक भावप्रधान शैली में लेखन करने वाले तथा प्रतिमाह 'अखण्ड-ज्योति' के अपनों से अपनी बात स्तम्भ द्वारा लाखों व्यक्तियों के मर्मस्थल को हिला डालने वाले परमपूज्य गुरुदेव ने अपने मार्गदर्शन में जिसको रखा, यदि उसने लगन से काम किया तो उसे उस विद्या में पारंगत बना दिया। उन्होंने प्रमाणित किया कि बिना वैसा जीवन जिए, बिना आदर्शवाद को जीवन में उतारे, बिना संवेदनशील बने कोई भी व्यक्ति यदि लेखनी पकड़ता है तो वह मात्र कागज काले करता है, जनता के विचारों का प्रदूषण बढ़ाता है व कुकुरमुत्तों की तरह बढ़ रही साहित्यकारों की फसल में एक और जुड़ जाता है।

पाठकों को पूज्यवर की भाषा यथावत् उद्धृत कर हमने उनके उस स्वरूप की झलक दिखाने का आंशिक प्रयास किया है, जिसमें उस युगपुरुष ने लेखनी की

अविराम साधना कर एक असाधारण पुरुषार्थ संपन्न किया। जब साहित्य जगत इस विराट साहित्य संजीवनी का मूल्यांकन कर पाने में सक्षम होगा, तब वह भी युग के व्यास को समय पर न पहचान पाने की विडम्बना पर स्वयं अपना सिर धुन रहा होगा।

# "इक्कीसवीं सदी-नारी सदी" उद्घोष के प्रवक्ता व द्रष्टा

नारी की पीड़ा, व्यथा, वेदना को समझ सकना, गहराई से अनुभव कर लेना उसी के लिए संभव है, जिसने नारी का हृदय पाया हो। हृदय की इन विशिष्ट धड़कनों में ही एक सहस्राब्दी से भी अधिक समय तक दलित, शोषित नारी का जीवनशास्त्र पढ़ा जा सकता है। इसके अभाव में बौद्धिक विवेचनाओं के आकर्षण, ग्रंथों के भंडार, लेख-मालाओं, वक्तृताओं के अंबार तो पैदा किए जा सकते हैं, पर वह आकुलता-आतुरता नहीं पैदा की जा सकती है, जिससे प्रेरित होकर सर्वस्व न्योछावर के लिए मन हुलस उठे। मन-प्राण में वह तड़प भरी बेचैनी पैदा हो सके जो समूचे जीवन को क्षत-विक्षत हो रहे नारी अस्तित्व के लिए मरहम का रूप देने के लिए कृतसंकल्प हो जाए।

पूज्य गुरुदेव के जीवनक्रम में 'नारी अभ्युदय का नवयुग' लाने के लिए जिस संवेदनशील पौरुष को उमड़ते-उफनते देखते हैं उसके पीछे उनके अन्तः अस्तित्व की यही प्रेरणाशक्ति थी, जिसे उन्हीं के शब्दों में कहें तो "पुरुष की तरह हमारी आकृति बनाई है, कोई चमड़ी फाड़कर देख सके तो भीतर माता का हृदय मिलेगा। जो करुणा, ममता, स्नेह और आत्मीयता से हिमालय की तरह निरंतर गलते रहकर गंगा-यमुना बहाता रहता है।" हृदय की इसी सामर्थ्य से उन्होंने मातृ-शक्ति की अंतर्वेदना को अनुभव किया। यही अनुभूति उनमें व्याकुलता, आश्चर्य और आक्रोश के रूप में उभरी और अंततः नारीशक्ति को युगशक्ति का रूप दे डालने के महान संकल्प के रूप में परिणत हुई।

व्याकुलता इस बात के लिए कि मातृशक्ति के प्रति आज इतना दूषित दृष्टिकोण कि अभिभावक उसे पराये घर का कूड़ा मानकर उपेक्षा करते और लड़कों की तुलना में कहीं अधिक निचले दर्जे का पक्षपात करते हैं। पति की दृष्टि में वह कामुकता की आग को बुझाने का एक खरीदा गया माध्यम है। उसे कामिनी, रमणी और भोग्या के रूप में ही निरखा-परखा और संतान का असह्य भारवहन करने के लिए बाधित किया जाता है। ससुराल के समूचे परिवार की दृष्टि में वह मात्र ऐसी दासी है, जिसे दिन-रात काम में जुटे रहने और बदले में किसी अधिकार या सम्मान पाने के लिए अनधिकृत मान लिया जाता है।

स्थिति यह है कि आधी जनसंख्या को शिक्षा एवं स्वावलंबन के अभाव ने पर्दाप्रथा, अनुभवहीनता एवं सामाजिक कुरीतियों ने बेतरह जकड़ रखा है। नारी की पराधीनता का एक रूप यह है कि उसे पर्दे में, पिंजड़े में बन्दीगृह की कोठरी में ही कैद रहना चाहिए। इस मान्यता को अपनाकर नारी को असह्य, अनुभवहीन ही बनाया जाता रहा है। अबला की स्थिति में पहुँचने में वह अब आक्रान्ताओं का साहसपूर्वक मुकाबला कर सकने की भी हिम्मत गँवा बैठी है। आड़े समय में अपना और अपने बच्चों का पेट पाल सकने तक की स्थिति में नहीं रही है। व्यवसाय चलाना, ऊँचे पद का दायित्व निभाना तो दूर, औसतन पारिवारिक व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक कार्यों में हाट-बाजार, अस्पताल तथा अन्य किसी विभाग का सहयोग पाने के लिए जाने में झिझक, संकोच में रहकर मूक-बधिर होने जैसे परिचय देती है।

हृदयद्रावक स्थिति का अंत यहीं पर नहीं है। आज रोज के अखबार स्त्रियों के अपहरण, बलात्कार और सामूहिक बलात्कार से रँगे रहते हैं। नववधुओं के जलने-जलाने की खबरें तो जैसे सामान्य बात हो गई हैं। आखिर क्या हो गया है कि बूढ़े-बच्चियों से, पिता-पुत्रियों तक से बलात्कार करने लगे हैं। जब कभी गुरुदेव इन विडंबना भरी स्थितियों का ब्योरा समाचारपत्रों में पढ़ते, उनकी व्याकुलता सीमा का अतिरेक कर जाती । ऐसे ही क्षणों में उभरी हृदय की सिसकियों को शब्द देते हुए वह कहते हैं- "मेरा हृदय! क्या करूँ इसे-जो नारियों के कष्ट को देखने-सुनने में स्वयं को असमर्थ पाता है। उनकी वेदना का स्पर्श पाकर ऐसा लगने लगता है कि हृदय का सारा रक्त निचुड़कर उसकी वेदना का मलहम बन जाने के लिए आतुर है। यह वेदना मेरे अंदर पीड़ा का ज्वार ला देती है? जिसे मैं सह नहीं पाता, सह भी नहीं सकता। लोग कहते हैं कि आँखें रोती हैं, दर्द होते ही होंठ बिसुरते हैं, पर क्या किसी ने मेरी तरह रोम-रोम के रो-पड़ने का अनुभव किया होगा। क्या किसी का अस्तित्व जार-जार रोया होगा?"

उनकी यह व्याकुलता जितनी गहरी हुई-आश्चर्य भी उतना ही घना हुआ। आखिर कैसे हो सकी नारी की अवमानना, अवहेलना? जिसके कारण उनकी स्थिति पंख कटे पक्षी की सी हो गई। युगऋषि के शब्दों में कहें तो "आज के इन प्रचलनों का प्राचीन भारतीय-संस्कृति के साथ कोई तालमेल नहीं खाता। स्वर्ग और नरक, आकाश और पाताल में जितना अंतर है, उतना ही नारी के प्रति प्राचीनकाल में उच्चस्तरीय श्रद्धा रखे जाने और सुविधा दिए जाने की स्थिति में और

इस हेय प्रतिबंधन की स्थिति में समझा जा सकता है।''

जिसे सामंती काल के असुर युग में द्वारं किमेकं नरकस्य? नारी। अर्थात् नरक का द्वार कहकर उपेक्षणीय ठहराया। वैदिक ऋषिगण उसी की प्रशंसा करते नहीं अघाए। एक स्थान पर तो शास्त्रकार ने यहाँ तक निःसंकोच भाव से कह दिया।

**नारी त्रैलोक्य जननी, नारी त्रैलोक्य रूपिणी।**
**नारी त्रिभुवनाधारा, नारी शक्ति स्वरूपिणी॥**

इसका सबसे बड़ा प्रमाण वैदिक भारत में ईश्वर की मातृरूप में प्रतिष्ठा है। माँ की गरिमा एवं महत्ता को आदिकाल से मनीषियों ने समझते हुए मातृशक्ति की आराधना एवं पूजा का विधि-विधान बनाया। चेतनशील मानव ने सभ्यता की ओर जैसे ही कदम रखना प्रारंभ किया, उसके मस्तिष्क के समक्ष यह प्रश्न उभरा, वह आया कहाँ से? यहीं से माँ के प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न हुआ और ईश्वर को आदिजननी मानकर आराधना प्रारंभ की। यहीं से प्रेरणा पाकर संसार की सभी संस्कृतियों में मातृशक्ति की उपासना किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

चाहे वह इटली की फारचुना के रूप में हो, रोम की साइवेलें, ग्रीक की हेरा, मध्यपूर्व की मान्ट हो अथवा उत्तरी अफ्रीका की तिवायत। मैक्सिको की एसिस हो, यूनान में अनोन्का, सीरिया में अस्टीटें, मोआष में आख्तर और अबीसीनियाँ में आसार के नाम से नारी शक्ति ही पूजित रही है। बेबीलोन यही अर्चना लाया और मिश्र ने आइसिस के रूप में संपन्न की। प्रायः विश्व के हर कोने ने परमेश्वर को नारी के रूप में पूजित कर नारीत्व के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किए हैं और इसकी प्रेरक-शक्ति भारतभूमि रही है। आज इससे अधिक महान आश्चर्य और क्या होगा कि जहाँ से नारी को श्रद्धा देने की प्रेरणा उमगी, परंपरा के रूप में पनपी, समूचे विश्व में व्यापक बनी, वहीं का नारी-जीवन दुर्दशाओं और विडंबनाओं से ग्रस्त है।

इस महान आश्चर्य से चकित पूज्य गुरुदेव तनिक आक्रोश भरे स्वर में समाज के कर्णधारों से प्रश्न करते हैं- ''इस पीड़ित नारी से नर को क्या मिला? उसे असहाय बनाकर किसने क्या पाया? घर-परिवार के लोगों को इससे क्या सुविधा बढ़ी? पति को उससे क्या सहयोग मिला? बच्चे क्या अनुदान पा सके? देश की अर्थव्यवस्था एवं प्रगति में पिछड़ी नारी ने क्या योगदान दिया? समाज को समुन्नत बनाने में वह क्या योगदान दे सकी? इन प्रश्नों पर विचार करने से लगता है नारी को पीड़ित, पददलित, उपेक्षित रखा जाना किसी प्रकार उचित नहीं हुआ। समय पूछता है कि अनुचित को कब तक सहन किया जाएगा और कब तक चलने दिया जाएगा?''

इससे उनके संवेदना के आँसू ही नहीं छलके, पौरुष की प्रचंडता से भुजाएँ भी फड़कीं, महाकाल का संकल्प उनके स्वरों में मुखरित हुआ- ''इक्कीसवीं सदी नारी सदी'' यह उद्घोष नारीजागरण का मंत्र बना और वे बने इस महामंत्र के द्रष्टा । साथ ही प्रारंभ हुआ अविराम प्रयासों का सिलसिला। उनके भावपूर्ण प्रयासों को उन्हीं के शब्दों में टाँकें तो ''शांतिकुंज की स्थापना का मूल प्रयोजन महिला जागरण-अभियान का आरंभ करके उसे नारी के समग्र उत्कर्ष की अनेकानेक गतिविधियों को विश्वव्यापी बनाना है।''

अभियान के क्रियाकलाप निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किए गए-

१- साहित्य-प्रकाशन, २- नारी शिक्षण सत्र, ३-संगठन द्वारा संघशक्ति का उदय ४- रचनात्मक कार्यक्रमों का व्यापक विस्तार। साहित्य-प्रकाशन के सिलसिले में न केवल शत-सहस्र पुस्तकें प्रकाशित हुईं बल्कि 'महिला जागृति अभियान' पत्रिका ने भी प्रवाह पकड़ा।

साहित्य प्रकाशन का उद्देश्य जहाँ एक ओर नारी की व्यथा-वेदना से संवेदनशील जन-मानस को अवगत कराना था वहीं दूसरी ओर उसकी गरिमा की गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा का अदम्य प्रयास भी था। संवेदना को झकझोरते हुए उनके शब्द दृष्टव्य हैं- ''आर्थिक दृष्टि से परावलंबी नारी पग-पग पर मन मारकर रहती है, पैसे-पैसे के लिए दूसरे के सामने गिड़गिड़ाती है। घर की खुशहाली में कोई योगदान नहीं दे पाती। उपेक्षिताओं, परित्यक्ताओं, विधवाओं की दुर्गति होती है। उन्हें और उनके बच्चों को क्या-क्या सहना पड़ता है इसके हाहाकार भरे दृश्य पर्दे के पीछे छिपे रहते हैं। यदि उन्हें देखने, सुनने और अनुभव करने का अवसर मिले तो चट्टान को भी फफक-फफक कर रोना पड़ेगा। .... इसका स्वरूप प्रस्तुत कर सकना न लेखनी के लिए संभव है, न वाणी के लिए। उस भुक्तभोगी शरीर और अन्तरात्मा को रेतने वाली असहनीय पीड़ा को कोई आप- बीती के रूप में अनुभव कर सके तो ही जान सकता है।''

इस कारुणिक प्रस्तुतीकरण के साथ ही है नारी की गौरव-गरिमा चित्रित करते हुए शब्द- ''नारी ब्रह्मविद्या है, श्रद्धा है, शक्ति है, पवित्रता है, कला है और वह सब कुछ है जो इस संसार में सर्वश्रेष्ठ के रूप में दृष्टिगोचर होता है। नारी कामधेनु है, अन्नपूर्णा है, सिद्धि है, रिद्धि है और वह सब कुछ है जो मानवप्राणी के समस्त अभावों, कष्टों एवं संकटों को निवारण करने में समर्थ है। यदि उसे श्रद्धासिक्त सद्भावना के साथ सींचा जाय तो यह सोमलता विश्व के कण-कण को स्वर्गीय परिस्थितियों से ओत-प्रोत कर सकती है।''

एक अन्य स्थान पर दृष्टव्य है- "नारी को वरिष्ठ और नर को कनिष्ठ ठहराने वाली अपनी सांस्कृतिक मान्यता हर दृष्टि से सही है। दानी बड़ा होता है उपभोक्ता छोटा। उस अनुदानी की समता कौन कर सकता है, जिसने अपने स्वेदकणों और स्नेहबिन्दुओं के मणिमुक्तकों से उस हार-उपहार को विनिर्मित किया और गले में धारण कराया।" इतना ही नहीं "नारियाँ मूर्तिकार तो अद्वितीय हैं पत्थर की नहीं, वे प्राणवान प्रतिमाएँ अपने शरीर की प्रयोगशाला में बनाकर प्रस्तुत करती हैं। उनके समान मूर्तिकार, चित्रकार, श्रद्धाकार कौन हो सकता है? परमेश्वर ने अपना दृश्यमान और चेतनात्मक सौंदर्य उसी में उँड़ेल दिया है।"

इसी गरिमा की जीवन-प्रतिष्ठा के लिए युगावतार का समूचा जीवन क्षण-क्षण कर्मरत रहा। कन्या प्रशिक्षण सत्र हो या महिलाओं की संगठन-चेतना का जागरण। सबके पीछे यही प्रेरणा क्रियाशील रही। सामान्यक्रम में स्थूल क्रिया-कलापों की समीक्षा करने वाले इसकी तुलना नारी जागृति के लिए विगत समय में क्रियारत होने वाले ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, आचार्य कर्वे, राजा राममोहन राय आदि के प्रयासों से कर सकते हैं।

परन्तु इस प्रयास में बहुत कुछ ऐसा है, जो अतुलनीय है। अच्छा हो इसे उन्हीं के शब्दों में ग्रहण करें- "यह नहीं सोचना चाहिए कि यह बरसाती बादल कुछ घड़ी गर्जन-तर्जन करके ठंडा पड़ जाएगा। यदि यह कुछ व्यक्तियों का या संगठनों का प्रयास होता, तो वैसी आशंका की जा सकती थी, पर यथार्थता कुछ और ही है। कालचक्र गतिशील हो रहा है और उसने युग बदलने जैसी करवट ली है। सूक्ष्मजगत में वे संभावनाएँ बन चली हैं, जो अपने प्रचंड प्रवाह से कितने ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रस्तुत करेंगी। नारी का पुनरुत्थान उन्हीं में से एक सुनिश्चित तथ्य है।

वस्तुतः महाकाल का यह प्रथम आश्वासन है, जिसके पीछे पिछड़ों को ऊँचे उठाकर समता का धरातल बनाने के लिए वचनबद्ध महाशक्तियों ने आश्वासन दिलाया है। लोकमानस भी समय की प्रचंड धारा के विपरीत बने रहने का देर तक प्रयास नहीं करता रह सकता। तूफान मजबूत पेड़ों को भी उखाड़ फेंकता है। घटाटोप वर्षा में छप्परों से लेकर झोपड़ी तक को बहते देखा जाता है। पानी का दबाव बड़े-बड़े बाँधों में भी दरार डालने और उन्हें बहा ले जाने का दृश्य प्रस्तुत करता है। यह महाकाल की हुँकार ही है, जिसने नारी को पिछड़े क्षेत्र से हाथ पकड़कर आगे बढ़ने के लिए धकेला और घसीटा है। अब न सिर्फ नारी के भाग्य में स्वतः की बेड़ियों से मुक्ति लिख दी गई है, वरन् विधाता ने उसे मुक्तिदूत बनने का गरिमापूर्ण दायित्व भी सौंपा है। जिन्हें सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त है, वे अनुभव कर सकते हैं कि यह अपने युग का सुनिश्चित निर्धारण है। जो इन्हीं दिनों पूरा होने वाला है।"

महाकाल की यह हुँकार ही उनके संकल्प के स्वरों में मुखरित हुई। इसी हेतु चली थी इनकी प्रचंड तप-साधना और सक्रिय हुए थे विचारात्मक एवं क्रियात्मक प्रयास। उनके इन प्रयासों का अंतिम भाग इन्हीं दिनों पूरा होने को है। जो संवेदनशील अंतःकरण युगऋषि के इन भाव-स्पंदनों का स्पर्श पा सके हों, जिनके अंतरतम में इन दिनों नारी उत्थान की सेवा-साधना, तपश्चर्या करने का मन हो वे अपनी उपयुक्त दिशा पाने के लिए शांतिकुंज, हरिद्वार से संपर्क स्थापित कर सकते हैं।

इसके लिए पूर्वकाल का स्वस्थ सांस्कृतिक परंपराओं एवं वर्तमान के विवेकपूर्ण विचारों का सामंजस्य बैठाकर समाज को प्रशिक्षित करना होगा। भारतीय आध्यात्मिक धरातल पर मातृशक्ति की पुनः प्रतिष्ठापना करनी होगी। तभी समाज एवं विश्व का उज्ज्वल भविष्य संभव है तथा नारी धात्री एवं निर्मात्री की महत्त्वपूर्ण भूमिका संपादित करने में सक्षम होगी। जिसके लिए वह अभी भी अपनी कारणसत्ता में प्रयत्नरत है।

## युगमनीषी-महाप्राज्ञ परमपूज्य गुरुदेव

समूची इनसानियत आज सवालों की काल-कोठरी में कैद है। बात पारिवारिक, सामाजिक क्षेत्र की हो या आर्थिक-राजनीतिक दायरों की। हर कहीं जलते सवालों की चिनगारियाँ फैल-बिखर रही हैं। अलगाव-आतंक, अव्यवस्था, पर्यावरण-असंतुलन, टूटते-बिखरते परिवार न जाने कितने नामरूप हैं इन सवालों के। हर रोज उपजा नया सवाल पुराने अनुत्तरित सवालों की संख्या बढ़ा देता है। समाधान की तलाश करता विज्ञान थक-हार चुका है। दर्शन भूल-भटककर बुद्धि की भूल-भुलैया में जा फँसा है। धर्म मूढ़ताओं की विडंबना से ग्रसित है। चित्र-विचित्र मान्यताओं, कुरीतियों, कुप्रथाओं की मेघमालाओं ने इस सूर्य को आच्छादित कर लिया है। इन व्यथापूर्ण क्षणों में तलाश उस मनीषी की है, जो धर्म का आच्छादन तोड़े, दर्शन को जीवन की राह के रूप में सँवारे और विज्ञान का मार्गदर्शन करे। जिसका चिंतन प्रश्नों के चक्रव्यूह में उलझी मानवता के लिए मुक्तिकारक समाधान सिद्ध हो।

परमपूज्य गुरुदेव का जीवन ऐसे ही प्रज्ञा-पुरुष का जीवन था, जिसमें ऋषित्व एवं मनीषा एकाकार हुई थी। अपने चिंतन में ज्ञान की प्रत्येक शाखा को, गरिमा को पूर्ण स्थान देने वाले पूज्यवर वेदों की ऋचाओं, उपनिषदों की

श्रुतियों के द्रष्टा की भाँति क्रांतदर्शी ऋषि थे, साथ ही शंकर, रामानुज, मध्व की परंपरा में भाष्यकार भी। अपनी गहन साधना के बल पर सत्य की गंगोत्री उनका आवास बनी थी। उन्होंने सवालों, समस्याओं, उलझनों के शिकंजे में विकल-बेबस मानव-जीवन के दर्द को पहचाना और अपना समूचा जीवन इस व्यथा के निवारण के लिए उत्सर्ग कर दिया। उन्हीं के शब्दों मे कहें तो "हमारा यह जीवन भगवान की उस इच्छा के लिए समर्पित है, जिसके अनुसार वे प्रश्न-चिह्नों के चक्रव्यूह में फँसी अपनी प्रिय मानवता का उद्धार करना चाहते हैं। हमारा अब तक का क्रिया-कलाप इसी धुरी के इर्द गिर्द घूमता रहा है। जितने दिन और जीना पड़ेगा, उसकी एक-एक घड़ी और शरीर की एक-एक साँस इसी के लिए लगानी है।"

उनके अनुसार समस्याओं के नाम-रूप कैसे ही और कितने भी क्यों न हों, पर इसके मूल में एक ही तत्त्व है- मानव का अशुभ चिन्तन। इस संघातिक व्याधि का ब्योरा प्रस्तुत करते हुए उनका कथन है- "समस्त विकृतियों, कुंठाओं, शोक-संताप, द्वन्द्व-संघर्षों, अभाव-अपराधों, रोग, क्षोभों का एकमात्र कारण हमारे चिंतनक्रम का कलुषित हो जाना है। दुष्ट चिंतन समस्त विग्रहों का मूल है। सारी विपत्तियाँ दुर्बुद्धि ही उत्पन्न करती है। अवांछनीय विचारणा है जो नरक की परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है। समस्त सुविधाएँ होने पर भी यदि विचारपद्धति सही नहीं तो व्यक्ति केवल दुःख पाता रहेगा और सम्बन्धित लोगों को दुःख देता रहेगा। हमारी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय विपन्नताओं का कारण कुछ और नहीं केवल लोकमानस की अशुद्ध दिशा ही है। यदि भूल के कारणों को न सुधारा गया तो सुधारों के समस्त प्रयत्न सूखते जाने वाले पेड़ के पत्ते सींचने जैसी विडंबना सिद्ध होंगे।"

विज्ञान इस तथ्य से अपरिचित है। दर्शन को दायित्व बोध नहीं हो सका। साहित्यकारों में अधिकांश अपनी बाल-क्रीड़ा में व्यस्त रहे हैं। शास्त्र पुराण स्मृतियों आदि में जो कुछ है, वह प्रायः पुराना पड़ चुका है। वर्तमान परिस्थितियों से उसका कोई ताल-मेल नहीं। स्थिति का विश्लेषण करते हुए पूज्यवर के शब्द हैं- "कभी व्यक्ति की निर्वाह-परिधि छोटी थी, समाज की समस्याएँ भी नगण्य थीं। चिंतन और दर्शन का विस्तार एक सीमित क्षेत्र में ही हुआ था। भौगोलिक कठिनाइयों ने हर क्षेत्र को अपनी परिधि में सीमाबद्ध कर रखा था। तब धर्म का स्वरूप भी छोटा ही था। तत्त्वदर्शन प्रायः ईश्वर, जीव, प्रकृति के निरूपण तक ही अपनी दौड़ लगाता था। उतने से भी भलीप्रकार काम चल जाता था, पर अब वैसा नहीं रहा। परिस्थितियाँ आमूलचूल बदल चुकी हैं। नये प्रश्न, नये समाधान चाहते हैं। जिन्हें तलाशने की जिम्मेदारी मनीषियों की है। इसे युगमनीषा के अतिरिक्त और कोई संपन्न नहीं कर सकता। यह न शासन के हाथ की बात है और न समृद्धि के माध्यम से इसे जुटाया जा सकता है। इन दोनों का समर्थन, प्रोत्साहन, सहयोग मिलता रहे तो बहुत है। उत्तरदायित्व तो मनीषा का है, उसे ही वहन करना पड़ेगा।"

पर मनीषी कौन? मनीषा कहाँ? लेखकों, साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों की इतनी भीड़ के रहते इसका अकाल क्यों पड़ गया। संसार में प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। न जाने कितनी संख्या में मनुष्य अध्ययन-अन्वेषण में व्यस्त हैं, पर समाधान क्यों नहीं मिल रहे? इसका उत्तर देते हुए युगमनीषी का कहना है- "बुद्धि व्यवसायियों की बिरादरी एक है, युग मनीषियों की दूसरी। बुद्धिवाद मानसिक विलक्षणता है, वह नटगायक की तरह अपनी कला का चमत्कार दिखाता और चकाचौंध भरा आकर्षण उत्पन्न करता है। बुद्धिवादी अपनी प्रखरता और चतुरता के बलबूते शब्दजाल के घटाटोप खड़े करने में देखते-देखते सफल हो सकते हैं। संपन्नों का गला पकड़कर इच्छित धनराशि एकत्रित कर सकते हैं और उसके सहारे आदर्शवादी ढकोसले भी कागजी रावण की तरह खड़े कर सकते हैं। यह चित्र-विचित्र तमाशे रोज ही देखने को मिलते हैं, पर उनके बलबूते वैसा कुछ बन पड़ने की आशा नहीं बँधती, जिसमें उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न साकार होते हैं, जबकि मनीषा न केवल आदर्शवादी प्रतिपादन करती है, न केवल लोक-शिक्षण में निरत होती है, बल्कि उसका निजी जीवन भी ऋषि-कल्प होता है। आस्थाओं को उछालने की सामर्थ्य इन्हीं व्यक्तित्वों में उत्पन्न होती है।"

शास्त्रकार का कथन है- "**मनीषा अस्तियेषां ते मनीषिनः।**" लेकिन साथ ही यह भी कहा गया है- "**मनीषिनस्तु भवन्ति पावनानि न भवन्ति**" अर्थात् मनीषी तो कई होते हैं, बड़े-बड़े बुद्धि वाले होते हैं, परंतु वे पावन हों, पवित्र हों यह अनिवार्य नहीं है।

पूज्य गुरुदेव की मनीषा उनके ऋषित्व से उपजी थी। उनका चिंतन उनकी दीर्घकालीन गहनसाधना का परिणाम था। चिंतन और साधना आपस में इस कदर घुल-मिल गए थे कि एक के बिना दूसरे के बारे में सोच पाना भी मुश्किल है। उनके ही शब्दों में स्पष्ट किया गया तथ्य है- "लेखन हमारे लिए कभी व्यवसाय नहीं रहा। इसे मैंने अपनी उपासना की तरह अपनाया है। तप ने मेरे चिंतन में प्राण भरे हैं।" एक अन्य स्थान पर उनके शब्द हैं- "अपनी रचनाओं में मैंने अपना प्राण सँजोया है। उनमें कितनी आभा है, कितनी रोशनी है, कितनी मौलिकता है, और कितनी शक्ति है यह कहने की नहीं, अनुभव करने

की बात है। जिसने इन्हें पढ़ा तड़पकर रह गए । रोते हुए आँसुओं की स्याही से जलते हृदय से इन्हें लिखा है । जो इनका प्रभाव होना चाहिए, हो रहा है और होकर रहेगा।''

मनीषा पवित्रता है और तपस्या प्रखरता । दोनों का सुयोग तेल-बाती के समन्वय की तरह कृत-कृत्य करता है। मुनि को ऋषि बनना पड़ता है। मुनि अर्थात् मनीषी। ऋषि अर्थात् वह मनीषी जो तप-साधना से अपना आत्मबल बढ़ाए और उपलब्धियों को अभावग्रस्तों की प्यास बुझाने के लिए उन्हें सुलभ कराए। आत्मबल के अभाव में साहस नहीं उभरता। साहस के बिना परमार्थ कैसा? परमार्थ में प्रयुक्त न होने पर ज्ञान, वैभव, वर्चस्व आदि की सार्थकता कहाँ? अस्तु, जिस अंत:प्रेरणा से मनीषा उभरती है, उसी का दूसरा अनुदान तपस्वी, जीवनचर्या के रूप में भी मिलता है। मनीषा यदि सच्ची और गहरी हो तो उसका दबाव व्यक्ति को तपस्वी बनने तक धकेलता, कचोटता ही रहेगा।

मनीषा की यह सर्वांगीणता उनके अपने जीवन में पूरी तरह साकार हुई। जिसके प्रभाव और परिणाम-स्वयं के मनीषी होने तक सीमित न रहकर मनीषा के दिशा-दर्शक होने तक सक्रिय हुए। समर्थ आत्मबल मात्र तीन उँगलियों में दबी कलम तक सीमित नहीं रहा। इसके द्वारा वह उर्वर मनोभूमि में मनीषा के अंकुरण-अभिवर्द्धन के लिए सक्रिय हुए। उलटी बुद्धि को उलट कर सीधा करने का लोकोत्तर दायित्व हाथ में लिया। इसे तनिक उन्हीं के शब्दों में सुनें- ''मनीषियों को यह मानने के लिए हम विवश करेंगे कि दुनिया के वर्तमान गठन को अनुपयुक्त घोषित करें और हर किसी को बताएँ कि चिरपुरातन ने दम तोड़ दिया और उसके स्थान पर नितनवीन को अब परिस्थितियों के अनुरूप नूतन कलेवर धारण करना पड़ रहा है। एक दुनिया, एक राष्ट्र की मान्यता अब सिद्धांत क्षेत्र तक सीमित न रहेगी उसके अनुरूप ताना-बाना बुना जाएगा और वह बनेगा जिसमें विश्व की एकता, विश्व मानव की एकता का व्यवहार-दर्शन न केवल समझा वरन् अपनाया भी जा सके। इसके लिए विश्वचिंतन में हम ऐसा उलट-फेर करेंगे, जिसे उलटे को उलट कर सीधा करना कहा जा सके।''

''इस उलट-फेर का दायरा किसी एक क्षेत्र, किसी एक देश तक सीमित न होकर मानवी बुद्धि के व्यापक क्षेत्र में संव्याप्त है। जहाँ कहीं भी सोचने की सामर्थ्य है, उसे दिशा देना अपना दायित्व माना गया है। यों समीक्षाएँ, भर्त्सनाएँ आए दिन होती रहती हैं। उन्हें इस कान से सुनकर उस कान से निकाल दिया जाता है। होना तो कुछ ऐसा चाहिए जिससे काम बने। युगमनीषी पूज्य गुरुदेव के द्वारा वही संपन्न हो रहा है। उनके ही शब्द हैं- ''वैज्ञानिक और दार्शनिक हमारी एक मुहिम हैं। वैज्ञानिकों को समझाएँगे कि युद्ध के घातक शस्त्र बनाने में उनकी बुद्धि सहयोग देना बंद कर दे। गाड़ी अधर में लटक जाए। उच्चस्तरीय वैज्ञानिकों की प्रतिभा और सूझ-बूझ उन्हें वैसा न करने देगी जैसा कि अपेक्षा की जा रही है। अब उनका मस्तिष्क ऐसे छोटे उपकरण बनाने की ओर लौटेगा, जिससे कुटीर उद्योगों की सहायता देने वाला नया माहौल उफन पड़े।''

''लेखकों और दार्शनिकों का अब एक नया वर्ग उठेगा। वह अपनी प्रतिभा के बलबूते एकाकी सोचने और एकाकी लिखने का प्रयत्न करेगा। उन्हें उद्देश्य में सहायता मिलेगी। मस्तिष्क के कपाट खुलते जाएँगे और उन्हें सूझ पड़ेगा कि इन दिनों क्या लिखने योग्य है और मात्र वही लिखा जाना है। दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों ही मुड़ेंगे। इन दोनों खदानों में से ऐसे नर-रत्न निकलेंगे जो उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने में आश्चर्यजनक योगदान दे सकें। ऐसी परिस्थितियाँ विनिर्मित करने में हमारा योगदान होगा, भले ही परोक्ष होने के कारण लोग उसे अभी देख या समझ न सकें।''

एक अन्य स्थान पर उनकी स्पष्टोक्ति है- ''हमने व्यक्तित्वों में पवित्रता और प्रखरता का समावेश करने के लिए मनीषा को ही अपना माध्यम बनाया एवं उज्ज्वल भविष्य का साक्षात्कार किया है। स्वयं में युगमनीषी की भूमिका निभाते हुए उन अनुसंधानों की पृष्ठभूमि बनाने का हमारा मन है। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद का प्रत्यक्ष रूप इस तर्क, तथ्य, प्रमाणों को आधार मानने वाले समुदाय के समक्ष रख सकें। आत्मानुसंधान के लिए अन्वेषणकार्य किस प्रकार चलना चाहिए? साधना-उपासना का वैज्ञानिक आधार क्या है? मन:शक्तियों के विकास में साधना-उपचार किस प्रकार सहायक सिद्ध होते हैं? ऋषिकालीन आयुर्विज्ञान का पुनरुज्जीवन शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को कैसे अक्षुण्ण बनाया जा सकता है? गायत्री की शब्दशक्ति एवं यज्ञाग्नि की ऊर्जा कैसे व्यक्तित्व को सामर्थ्यवान एवं पवित्र तथा काया को जीवनीशक्ति संपन्न बनाकर प्रतिकूलताओं से जूझने में समर्थ बना सकती है? ऐसे अनेकानेक पक्षों की शोध हमने अथर्ववेदीय ऋषि परंपरा के अंतर्गत संपन्न की है। जो आगामी समय में आत्मिकी के अनुसंधान में निरत होने वाले वैज्ञानिकों द्वारा प्रकाश में आएगी। परोक्ष रूप में हम उन्हें सतत पोषण देते रहेंगे। सारी मानवजाति को अपनी मनीषा द्वारा एवं शोध-अनुसंधान के माध्यम से लाभान्वित करने का हमारा संकल्प किस आश्चर्यजनक रीति से सफल होगा, इसे आने वाला समय बताएगा।''

युगमनीषी के रूप में अपनी भूमिका संपन्न करने वाले परमपूज्य गुरुदेव अब मनीषियों के निर्माण में संलग्न हैं। हों भी क्यों न ? युगसंधि की वेला में सबसे बड़ी जिम्मेदारी मनीषा की है। उसे अँधेरी निशा में समुद्र के बीच प्रकाशस्तम्भ की तरह एकाकी जलना होता है। उसे समर्थन किसका? सहायता किसकी? चारों ओर उफनते लहरों के कोलाहल और टकराव से अस्तित्व को चुनौती ही मिलती रहती है। फिर भी प्रकाशस्तम्भ न केवल अपनी सत्ता बचाए रहता है साथ ही उस क्षेत्र से गुजरने वाले जलयानों की इतनी सेवा भी करता रहता है कि उन्हें इस प्रदेश की चट्टानों से टकराकर उलट जाने की विपत्ति में न पड़ने दे। बेशक हीरकहार बाँटते रहने की स्थिति न होने के कारण उन्हें दानवीर होने का श्रेय तो नहीं मिलता फिर भी जानकार जानते हैं कि प्रहरी की जागरूकता सुरक्षा का जो प्रावधान करती है, उसका कितना मूल्य-महत्त्व होता है? आलोक बुझ जाने पर जलयानों के उलट जाने की दुर्घटना देखकर ही कोई यह जान सकता है कि प्रकाशस्तम्भ की मूक सेवा कितनी उपयोगी, कितनी आवश्यक होती है?

प्रश्न श्रेय का नहीं वह किसी को भी मिल सकता है, किसी का भी हो सकता है। पर उन चिनगारियों को भुलाया नहीं जा सकता, जो चमकीं-भड़कीं और अपनी लपेट में वन प्रदेशों को ईंधन बनाकर दावानल की तरह गगनचुंबी बनती चली गईं। सुकरात, अफलातून, अरस्तू जैसे मनीषियों के परोक्ष अनुदानों के गुणगान मुकुटधारियों जैसे ढोल-तमाशे बजाकर नहीं होते फिर भी तथ्य बताते हैं कि उनकी भूमिकाएँ शत-सहस्र शासकों से बढ़कर रही हैं। प्रज्ञा परिजनों में से जिनके अंतराल में दूरदर्शी विवेकशीलता का आलोक दीप्तिमान हो, उनको समय की चुनौती स्वीकार करनी चाहिए और संव्याप्त अंधकार में अपना साहस दीपक की तरह प्रज्वलित करना चाहिए।

# सिरजनहार, जिसने बनाया मणि-मुक्तकों से सजा एक गायत्री परिवार

चींटी और दीमक जैसे नगण्य-नासमझ प्राणी भी संगठन का मूल्य और महत्त्व समझते हैं। फिर अपने को समझदार कहने, समझने वाला मनुष्य संगठन के लाभों से क्यों वंचित रहे? हलचल, टूटन, अलगाव, बिखराव के दौर से गुजर रही इनसानियत के माथे पर लगा यह सवालिया निशान अपना जवाब माँगता है। किसने, किस प्रकार कितना इसे हल करने की कोशिश की- नहीं मालूम। परंतु परमपूज्य गुरुदेव के ८० वर्षीय सुदीर्घ जीवन का प्रतिपल, प्रतिक्षण इसके लिए समर्पित रहा है। संगठन मानवीय शक्ति का, मानवीय सद्‌गुणों का, मानवीय उत्कर्ष के लिए, उच्च आदर्शों के लिए, यही उनके जीवन की मधुर गूँज रही है।

इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उनके शब्द हैं- "संगठन की शक्ति अपार है। तिनके मिलकर रस्सा बनता है तो उससे मदोन्मत्त हाथी भी कसे जा सकते हैं। बूँद-बूँद मिलकर समुद्र बनने की उक्ति प्रसिद्ध है। एकाकी तुच्छ इकाइयों का मूल्य नगण्य है, पर जब वे मिलकर एकात्म हो जाती हैं, तो उनका स्वरूप और प्रभाव देखते ही बनता है। बिखरी पड़ी ईंटों का कोई महत्त्व नहीं, पर जब वे संगठित होकर विशाल भवन का रूप धारण करती हैं, तो उनका महत्त्व और उपयोगिता कुछ और ही होती है। अकेला सैनिक भला क्या कर सकता है, पर सेना के रूप में उसके संगठन के चमत्कार देखते ही बनते हैं।"

यों कहने-सुनने के लिए आज भी अनेकों संगठन हैं। बरसाती कुकुरमुत्तों की तरह इन्हें रोज उपजते-विनष्ट होते देखा जा सकता है। इनमें न कहीं चमक है, न प्रभाव। बस जिस किसी तरह निजी स्वार्थों के लिए मानवीय शक्ति के शोषण का षड्यन्त्र है। जिसमें लिप्त कुछ चालाक निकड़मबाज व्यक्ति दूसरों की बुद्धि, श्रम एवं धन का निजी महत्त्वाकांक्षाओं के लिए बेरहमी से दुरुपयोग किया करते हैं। इसके परिणाम में घृणा और विद्वेष ही पनपते हैं और संगठन की परिणति विघटन में होती है। मानवीय समस्याओं की विषबेल भी समाप्त होने के स्थान पर पुष्पित-पल्लवित होती रहती है।

दुर्भाग्य से आज संगठन कुचक्र का पर्याय बन गये हैं। जिसमें फँसकर मानवीय शक्ति ही नहीं स्वयं मानवता भी रो-तड़पकर नष्ट होने के लिए विवश हो रही है। अच्छा हो इसका विवेचन गुरुदेव के ही शब्दों में सुनें- खेद इसी बात का है कि मानव जाति ने छुट-पुट संगठन बनाने के अस्त-व्यस्त प्रयत्न तो किए, पर जन-समाज की एकात्मता और संघबद्धता पर ध्यान नहीं दिया। आधार और स्वार्थ अलग-अलग होने से वे वर्ग, वर्ण, भाषा, देश, संप्रदाय आदि के आधार पर बने छुट-पुट संगठन परस्पर टकराते रहे और विभीषिकाएँ उत्पन्न करते रहे। सच्चा और स्थिर लाभ तो तभी हो सकता था, जब वे समग्र रूप से एक आधार पर संगठित होते। समय आ गया है कि अब इस रोग का निदान प्रस्तुत किया जाए।"

सन् १९३७ में 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका की शुरुआत के साथ ही इस निदान का प्रस्तुतीकरण अखण्ड-ज्योति परिवार के रूप में हुआ। संगठन के रूप में इसका कलेवर भले छोटा हो, पर आदर्शों के उत्कर्ष में कोई कमी नहीं थी। यह कुछ मनुष्यों की बेतरतीब भीड़ नहीं, वरन् आदर्शों के लिए सर्वस्व बलिदान करने की ललक सँजोये मुट्ठी भर लोगों का समूह था

जो संयोगवश नहीं, विधाता के सुनियोजित विधान के अनुसार एक माला के मनके बने थे। इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए युगऋषि के शब्द हैं- ''अखण्ड-ज्योति परिवार में असाधारण उच्च संस्कारों से सम्बन्धित आत्माएँ हैं। उन्हें प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ा और परिश्रमपूर्वक एक टोकरी में संग्रह किया गया है। वही हमारा परिवार है। इससे नवनिर्माण की भूमिका संपादन करने की, अग्रिम मोर्चा सँभालने की हमारी आशा अकारण नहीं है। उसके पीछे एक तथ्य है कि उत्कृष्ट आत्माएँ कैसे ही मलिन आवरण में क्यों न फँस जाएँ, समय आने पर वे अपना स्वरूप और कर्त्तव्य समझ लेती हैं और दैवी प्रेरणा एवं संदेश को पहचानकर सामयिक कर्त्तव्यों की पूर्ति में विलंब नहीं करतीं।''

संगठनकर्त्ता के रूप में गुरुदेव की मौलिक विशेषता-संगठन को परिवार का स्वरूप देना रहा है। जहाँ अन्य संगठनों में शासन करने का लोभ और पद-प्रतिष्ठा की हवस को बढ़े-चढ़े क्रम में देखा जा सकता है, वहीं पारिवारिक वातावरण में एक-दूसरे से प्रेम करने, अपनाने की ललक-लालसा ही उभरते-पनपते दिखाई देती है। परिवार में शासन का स्थान शिक्षण को प्राप्त है। माँ-पिता अपने बच्चे को कभी दुलार कर, कभी डाँट कर सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं। यहाँ डाँट भी प्यार का ही प्रतिरूप है।

अनुशासन शिक्षण का आवश्यक अनुबंध है। हाँ अनुशासन और शासन में जमीन-आसमान जितना, कोयले हीरे जितना भारी अंतर है। शासन में भय और विवशता दोनों अनायास शामिल हो जाते हैं। अनुशासन में शिक्षण करने वाला तथ्य को स्वयं अपने आचरण-व्यवहार से प्रदर्शित करता है। बाद में अन्य सभी उस आचरण-व्यवहार का अनुसरण करते हैं। अनुशासन तोड़ना और दंड न होकर शिक्षण हेतु प्यार भरे अनुबंधों के रूप में पारिवारिक जीवन में स्वीकृत होता रहा है।

परमपूज्य गुरुदेव के अनुशासन एवं वंदनीया माताजी के प्यार भरे आँचल के साये में अखण्ड-ज्योति परिवार ने पल-पल बढ़कर गायत्री का रूप लिया। सन् १९५८ के सहस्रकुण्डी महायज्ञ के बाद इसी का सुव्यवस्थित रूप 'युगनिर्माण योजना' के रूप में सामने आया। अपने में आश्चर्यकारी संभावनाएँ सँजोए इस संगठन के आदर्श और उद्देश्य भी विस्मयकारी हैं। इन्हें युगद्रष्टा गुरुदेव के शब्दों में घोषित करें तो ''युगनिर्माण योजना के अंतर्गत प्रबल प्रयास यह किया जा रहा है कि समस्त मानव जाति को प्रेम, सौजन्य, सद्भाव, आत्मीयता, समता, ममता आदि उच्च अध्यात्म आदर्शों की आधारशिला पर एकत्रित और संघबद्ध किया जाए।''

यथार्थ में यह आज की बिखरी मानवता को संगठित रहने का शिक्षण देने वाला संगठन है। अखण्ड-ज्योति परिवार के रूप में अंकुरित हुआ नन्हा-सा बीज निकट भविष्य में विश्वपरिवार बनकर अपनी व्यापकता सिद्ध करेगा। इसका लक्ष्य भी यही है- ''कि सारा विश्व एक कुटुम्ब बने। मनुष्य मात्र में आत्मीयता और उदारता की प्रवृत्ति जगे और लोग एक दूसरे को सुखी-संपन्न बनाने के लिए अपने स्वार्थों-सुविधाओं एवं अधिकारों का परित्याग करते हुए प्रसन्नता, संतोष एवं गर्व अनुभव करें। इस प्रकार की एकता से ही विश्व में सच्ची शांति स्थापित होगी। आज जो श्रम, चिन्तन, साधन, धन, पुरुषार्थ एवं उत्साह जैसे साधन एक-दूसरे को नीचा दिखाने में, आक्रमणों से सुरक्षा रखने में खर्च होते हैं। वे कल सामूहिक समृद्धि, शांति एवं सुविधाओं के अभिवर्द्धन में लग जाएँगे तो देखते-देखते यह धरती स्वर्ग बनेगी।

अपनी व्यापकता में उपर्युक्त परिणाम प्रस्तुत करने वाले इस संगठन के वर्तमान स्वरूप और प्रभाव को लोग दाँतों तले उँगली दबाकर देखते हैं। आखिर कौन-सा जादू इस संगठनकर्त्ता के पास है कि समाज के सभी वर्गों के लोग इससे जुड़ते-घुलते-मिलते चले जाते हैं। उच्चशिक्षित और अशिक्षित, करोड़पति और निर्धन, सवर्ण और हरिजन सभी के स्नेहमिलन का केन्द्र यह किस मंत्र के जोर से बन सका? आश्चर्य स्वाभाविक भी है। इन दिनों जबकि परिवार टूट रहे हैं, पति-पत्नी और माँ बेटे के घनिष्ट आत्मीय सम्बन्ध तक दरक रहे हैं। ऐसे में डॉक्टर, इंजीनियर, पी-एच. डी. युवकों, युवतियों का स्वार्थ महत्त्वाकांक्षाओं पर लात मारकर समाज निर्माण के लिए संकल्पित होना किसे आश्चर्यचकित नहीं करेगा?

इस आश्चर्य का रहस्य संगठनकर्त्ता के प्रेम में निहित है। उन्होंने सारे जीवन जिस मंत्र की साधना की, जिस जादू के जोर से इतना व्यापक संगठन किया, जिस सूत्र में हम आप सभी को पिरोया वह प्रेम है। अच्छा हो यह आत्माभिव्यक्ति उन्हीं के शब्दों में सुनें- ''यह एक स्पष्ट सच्चाई है कि अपने व्यापक परिवार में हमने चुन-चुन कर, गिन-गिनकर, परख परख कर मणिमुक्ता खोजे हैं और उन्हें एक शृंखला में आबद्ध किया है।''

''जिनकी पूर्व तपश्चर्याएँ और उत्कृष्ट भावनाएँ बहुत थीं जो हमारे साथ थे, उन्हें हम पहचानते हैं, वे भले ही भूल गए हों। यों भूले तो वे भी नहीं, अनायास ही आत्मीयता उमड़ते देखकर सोचते तो वे भी यही हैं कि सामान्य परिचय से किसी विद्वान, साधक एवं सुधारक के साथ उनकी घनिष्ट आत्मीयता यकायक नहीं उमड़ सकती, जैसी कि उनके मन में हमें देखते ही उमगती, उमड़ती है। आश्चर्य तो होता उन्हें भी है कि इस असाधारण भाव प्रवाह और चिर परिचित-सी लगने वाली आत्मीयता एवं विश्वसनीयता का कारण कुछ तो होना ही चाहिए। निश्चित रूप से यह सब अकारण नहीं है।''

''अनेक जन्मों से चले आ रहे सम्बन्धों की अति आत्मीयता से भरी समीपता केवल चोला बदल लेने भर से समाप्त नहीं हो जाती। अंतर्मन में सूक्ष्म अनुभूतियाँ जमी रहती हैं और कई बार अपरिचित से परिचित होने जैसी अनुभूति होती है। अपने साथ भी यही बात है। अपना नगण्य-सा परिचय-सान्निध्य उन्हें ऐसा लगता है कि हम चिर-परिचित और चिर सहचर हैं अब भी हैं या हो जाएँगे। हमारी स्थिति अलग है। हम उनके पूर्व विचार और चरित्रों को भी जानते हैं। इसलिए वन से लौटती हुई गाय जैसे अपने बछड़े को देखते ही रँभाती, चाटती है, लगभग वैसा ही कुछ अपना भी मन करता है। संकोची स्वभाव और लोकाचार-शिष्टाचार का प्रतिबंध यदि बाधक न हो तो हमारा मन इन सहचरों को छाती से लगाने, बगल में सुलाने, गोद में खिलाने को मचलने लगे। इस उछाह को हमें जिस किसी तरह काबू में करना पड़ता है।''

ऐसा अद्भुत प्रेम भला किस संगठनकर्त्ता ने अपने सहयोगियों, सहकर्मियों को दिया होगा? ऐसे विलक्षण प्रेमी लोकनायक का सान्निध्य भला किसने कब पाया होगा? जिसके अंतर्हृदय की धड़कन हर पल कहती रहती है- ''हमने एकांगी प्रेम करना सीखा है। प्यार किया तो सदा के लिए निबाहा। बात-बात पर लड़ाई करना हमें नहीं आता। किसी ने अपना अहित किया हो या चोट पहुँचाई हो तो उसकी कटु प्रतिक्रिया का लेश भी नहीं। अमिट रेखाओं की तरह स्वजनों की सद्भावनाएँ, सहकारिताएँ, श्रद्धा और आत्मीयता ही स्मृति-पटल पर जमी हैं, जो रह-रहकर उठती-उमड़ती रहती हैं।''

प्यार का प्रतिदान तो प्यार ही है। उनके शरीर से न होने की बात भी कभी किसी के मन में उठ सकती है। जिसका उत्तर देते हुए उनके अपने शब्द हैं- ''आत्मा और परमात्मा की एक ही सम्मिलित प्रेरणा अनुभव करते-करते, कर्त्तव्य और धर्म का एक ही निर्देश-संकेत देखते-देखते अब हमारा व्यक्तित्व निर्दिष्ट लक्ष्य में एक प्रकार से तन्मय एवं सघन हो गया है। अलग से अपनी कोई हस्ती, कोई सत्ता नहीं। जो हमें प्यार करता हो उसे हमारे मिशन से ही प्यार करना चाहिए। जो हमारे संगठन की उपेक्षा तिरस्कार करता है, लगता है वह हमें ही उपेक्षित-तिरस्कृत कर रहा है। व्यक्तिगत रूप से कोई श्रद्धावान है, उसके लिए कुछ करता है, सोचता है तो लगता है, मानो हमारे ऊपर अमृत बिखेर रहा है और चंदन लेप रहा है। किंतु यदि केवल हमारे व्यक्तित्व के प्रति ही श्रद्धा है, शरीर से ही मोह है, उसी की प्रशस्ति पूजा की जाती है। यदि मिशन की बात ताक पर उठाकर रख दी जाती है तो लगता है हमारे प्राण का तिरस्कार करते हुए केवल मृत शरीर पर पंखा डुलाया जा रहा है।''

गुरुदेव आज भी हममें से प्रत्येक से पूछ रहे हैं। सुनिए उन्हीं के शब्दों में- ''अपने विशाल परिवार में कहीं सच्ची आत्मीयता का कितना अंश विद्यमान है, यह जानने की इच्छा होती है? हमारी आत्मीयता की एक ही कसौटी है कि हमारा दर्द किस-किस की नसों में कितनी मात्रा में भर चला और हमारी आग की कितनी चिनगारियाँ, कितने अंशों में, किसके कलेजे में सुलगने लगीं? किसने हमारे प्राणों से सींचे गए संगठन को मजबूत बनाने का संकल्प लिया? कौन स्वार्थ और अहंकार का बलिदान कर इस संगठन के लिए समर्पित हुआ? ये सवाल अपने प्रत्येक परिजन से हैं। हम अपने इन स्वजन-सहचरों को उनके सामयिक एवं अनिवार्य कर्त्तव्यों में संलग्न के लिए अभीष्ट प्रेरणा को फलितार्थ होते देखना चाहते हैं।''

पूज्य गुरुदेव के स्नेह-तंतुओं से बुना अपना यह संगठन कई अर्थों में अद्भुत और अलौकिक है। जिनके पास सूक्ष्म दृष्टि है, उन्होंने इस संगठन और इसके आश्चर्यजनक संगठनकर्त्ता के प्रभाव को देखा, जाना और श्रद्धा-सुमन अर्पित किए।

## संवेदना विस्तार से विनिर्मित हुआ है- यह विराट परिवार

''अन्यान्य संगठन तो निहित स्वार्थों के लिए बनते, टूटते व बिखरते रहे हैं, किंतु हमने जो गायत्री परिवार के रूप में चुने हुए पुष्पों की एक माला तैयार की है, उसका एक ही लक्ष्य है- इक्कीसवीं सदी का स्वरूप क्या होगा? वह कैसे आयेगी? उसकी एक झलक-झाँकी सारे विश्व को दिखाना तथा अध्यात्म को अपने जीवन में उतारकर सारे जमाने को बता देना कि यह जीवन का शीर्षासन अवश्य है, पर इसे व्यवहार में उतारकर चैन की, आंतरिक आनन्द की मस्ती भरी जिंदगी गुजारी जा सकती है।'' कार्यकर्त्ताओं से की जाने वाली नियमित चर्चाओं के क्रम में परमपूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से निकले ये विचार यहाँ संगठक के रूप में उनके द्वारा स्थापित 'गायत्री परिवार' रूपी उस विराट सेना की भूमिका के नाते अभिव्यक्त हुए थे, जो आज देव-संस्कृति दिग्विजय के उपक्रम में अश्वमेधी पराक्रमों में सारे विश्व में कार्यरत दिखाई पड़ती है।

किसी को लग सकता है कि जैसे विश्व में इतने पंथ, सम्प्रदाय, विचारकों, मनीषियों के पीछे सतत चलते रहने वालों के हजूम होते हैं, वैसा ही एक पंथ या संप्रदाय कोई यह 'गायत्री परिवार' भी होगा, किंतु उथली दृष्टि इससे ज्यादा सोच भी क्या सकती है। परमपूज्य गुरुदेव के शब्दों

में। हमने व माताजी ने संवेदना बाँटी है-जीवन भर तथा इसी एक कमाई से इतने व्यक्तियों की एक 'लार्जर फेमिली' खड़ी कर दी है, जिसमें सब एक-दूसरे के दु:ख-सुख में शरीक हो भावी विश्व कैसा हो? इसका एक दिग्दर्शन करा सकेंगे। निश्चित ही किसी भी संगठन के निर्माण के पीछे सृजेता की गहरी अंतर्दृष्टि अच्छी है। नैतिक व आध्यात्मिक अनुशासन किसी भी संगठन में उसके निर्माता के संवेदनात्मक सहारे से स्वत: आ जाता है, उसके लिए किसी तरह की सैनिक अनुशासन की सी कार्यवाही नहीं करनी पड़ती। जिसका हृदय विशाल है, करुणा से जिसका अंत:करण लबालब भरा पड़ा है, वह अपनी अंदर की बेचैनी बिखेरे बिना, अनेकों को उसका अनुदान दिए बिना चैन से कभी बैठ ही नहीं सकता। यह सारी प्रक्रिया हम परमपूज्य गुरुदेव एवं परम वंदनीया माताजी के जीवनक्रम के रूप में देखते हैं।

देवसंस्कृति के निमित्त अश्वमेधी पराक्रम को निकली चतुरंगिणी सेना के अगणित सैनिक लोगों को ग्राम प्रदक्षिणा करते, ग्रामतीर्थ की स्थापना, रजवन्दन समारोह तथा संस्कार समारोह संपन्न करते, गायत्री एवं यज्ञ के माध्यम से जन-जन को युगपरिवर्तन की प्रक्रिया समझाते दिखाई पड़ते हैं। प्राय: तीन करोड़ से अधिक व्यक्ति प्रत्यक्षत: तथा इनसे भी दस गुना अधिक परोक्ष रूप से कार्यक्षेत्र में इस विचारधारा से जुड़े दिखाई देते हैं, जिसमें 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष साकार होता दीख पड़ता है। इस विशाल वटवृक्ष का, जो अगले दिनों एक-डेढ़ दशक में ही अपने साये में सारे विश्व को ले लेगा, देखने के पूर्व उस बीज की महत्ता को समझना होगा, जो आज से साठ वर्ष पूर्व गला व जिसने अपनी सारी महत्त्वाकांक्षाओं को निज की मुक्ति, व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति, सिद्धि या सफलताओं के शिखर की उपलब्धि के बजाय समष्टि के उत्थान के निमित्त लगा दिया व उसी की परिणति के रूप में देवसंस्कृति को विश्वसंस्कृति बनाता यह विराट गायत्री परिवार आज दिखाई पड़ता है।

पारस्परिक चर्चाओं व कार्यकर्ता गोष्ठी के क्रम में उच्चस्तरीय परामर्श आदि प्रसंगों में पूज्यवर बताया करते थे कि ''बेटो! ब्राह्मण इस धरती से समाप्त हो गया है। मुझे वही ब्राह्मण फिर से पैदा करना है। ब्राह्मण वह जो साधन-सुविधाओं की माँग नहीं करता, बल्कि जो पास है, वह भी उसका दे देने का मन करता है। बहिरंग जीवन सादा व अंत:करण उसका कुबेर की तरह धनी होता है। औसत भारतीय का जीवन जीता है व सदा औरों को ऊँचा उठाने की सोचता है। दुर्भाग्य आज यह है कि लोग जाति-पाँति से ब्राह्मण-शूद्र आदि की परिभाषा करते हैं, जबकि देखा जाए तो जाति से लोग कुछ भी हों, कर्म से आज एक ही वर्ण चारों ओर दिखाई पड़ता है- 'शूद्रवर्ण'। शिश्नोदर परायण जीवन ही जिनका इष्ट है, लक्ष्य है व महत्त्वाकांक्षाएँ जिनकी भौतिक जगत की अनेक गुनी बढ़ी-चढ़ी दिखाई देती हैं। यदि हम ब्राह्मण बीज की पुन: स्थापना कर सकें तो फिर यह वंश-बेलि बढ़ती-बढ़ती सारी धरती पर औरों के लिए जीने वाले लोगों की होगी।''

जिस समय आजाद, भगतसिंह, बिस्मिल, खुदीराम बोस आदि आजादी के लिए शहीद हो रहे थे, 'श्रीराम मत्त' के रूप में पूज्यवर आगरा जिले के एक युवा योद्धा सैनिक की तरह उन सभी उपक्रमों में लगे थे जो उपर्युक्त शहीदों द्वारा सम्पन्न हुए। जेलयात्रा बारंबार होने से जमींदार घर की कुर्की तक की नौबत आने पर भी राष्ट्र की आजादी सर्वोपरि उन्हें दिखाई दी। जब द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ होने के साथ भारत की आजादी सन्निकट दिखाई दे रही थी, तब वे अपने गायत्री महापुरश्चरणों की शृंखला के साथ-साथ 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका आरंभ कर बापू के निर्देशों एवं अपनी अदृश्य शरीरधारी गुरुसत्ता के सतत मार्गदर्शन के अनुरूप एक ऐसे परिवार के निर्माण की प्रक्रिया आरंभ कर रहे थे, जिसे स्वतंत्र भारत को इक्कीसवीं सदी के शुभारंभ से अंत तक ले जाने का महती जिम्मेदारी वाला काम करना था। इसके लिए उन्होंने जमींदारी का वैभव त्याग, स्वयं के साधनात्मक पराक्रम द्वारा मुक्ति, सिद्धि को गौण एवं औरों के कष्टों में सहभागिता को वरीयता देकर, स्वल्प-साधनों में भी एक ऐसी संस्था के निर्माण की प्रक्रिया आरंभ कर दी, जिसका आदि से अंत तक का इतिहास त्याग व बलिदान, संवेदना व समर्पण का इतिहास है।

अपने संस्मरणों को सुनाते हुए पूज्यवर अक्सर कहा करते थे कि ''बेटो! यह गरीबी हमने जान-बूझकर ओढ़ी है एवं तुम से ओढ़ने को कहा है, क्योंकि यही युगधर्म है। तुम्हारे पास साधन हैं तो उन्हें औरों को बाँट दो। रहो ब्राह्मण की तरह । यह संस्था जो हमने बनायी है, एक नमूना है कि अगले दिनों का मानव-समाज कैसा होगा? आध्यात्मिक साम्यवाद कैसा हो सकता है, यह अगले दिनों लोग यहीं आकर सीखेंगे।'' वे बताते थे कि आजाद व भगतसिंह ने किस तरह तत्कालीन समाज के गिने-चुने युवा लोगों में अपनी करुणा उँड़ेलकर निज को बलिदान करने के लिए प्रेरित कर दिया। ''यदि वे सभी बिस्मिल, चंद्रशेखर आजाद या भगतसिंह आज के नेताओं की तरह विलासिता की जिंदगी जी रहे होते तो क्या प्रेरणा के स्रोत बन सके होते? स्वयं आगे आकर उन्होंने उदाहरण प्रस्तुत न किया होता तो क्या देश की आजादी के लिए वह वातावरण बन सका होता, जिसने अँग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए विवश कर दिया। थिगली लगी धोती पहनने

वाले सरदार पटेल व आधी धोती पहनने वाले गाँधी जो जनता की दी गयी एक-एक पाई का हिसाब रखते थे, न होते तो क्या 'क्विट इण्डिया' आंदोलन सार्थक बना होता।'' अन्यान्य संगठनों में बहुधा वे संवेदना का मर्मस्पर्शी विस्तार करने वाले उन तंत्रों का हवाला देते थे, जिनसे महामानव उपजे। प्रेम महाविद्यालय, जिसने लालबहादुर शास्त्री, श्रीकृष्ण दास जाजू, श्री संपूर्णानन्द जैसे व्यक्ति समाज को दिए, केशव बली राम हेडगेवार जिनने श्री गोलवलकर तथा भाऊसाहब देवरस जैसे त्यागी-तपस्वी समाज को दिए, डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर जिनके माध्यम से पिछड़ों-दलितों को ऊँचा उठाने की एक मुहिम समाज में बनी। इन सभी का हवाला देकर वे कहते थे कि यदि इन सभी ने निज के ब्राह्मणत्व को बनाए रखा होता तो वह सब न कर पाते जो वे अंततः कर पाये।

आज की राजनीति की समीक्षा करते हुए पूज्यवर कभी-कभी कटाक्ष की भाषा में इनकी संज्ञा केंकड़ा-वृत्ति से देते थे। एक कथा कभी-कभी वे हम सभी को गोष्ठियों में संगठनवृत्ति कैसे बनी रह सकती है व कैसे टूटती है, इसका स्पष्टीकरण देते हुए सुनाते थे-बोलते थे, एक व्यक्ति समुद्र के किनारे केंकड़े एकत्र कर रहा था। केंकड़ों को वह बारी-बारी से जाल में भर लाता व एक खाली टोकरी में डाल देता। एक व्यक्ति दूर से देख रहा था कि बिना ढँके तो ये सब निकलकर रेंगते हुए बाहर चले जाएँगे। वह उसकी मदद को आया व कहने लगा कि ''इन्हें ढँक दो, कहीं ये निकलकर बाहर न चले जाएँ।'' केंकड़ों का व्यापारी बोला- ''आप निश्चिन्त रहें। ये कहीं भी नहीं जा सकते। इन्हें मैं अच्छी तरह जानता हूँ। वर्षों से इन्हीं का धंधा जो कर रहा हूँ।'' उसकी उत्कंठा का समाधान करते हुए उसने बताया कि- ''एक भी केंकड़ा इस पूरे समूह में से जब निकलने की कोशिश करता है, तो चार केंकड़े मिलकर उसकी टाँग खींच लेते हैं कि यह कैसे ऊपर जा रहा है। जब सभी की यह मनोवृत्ति हो तो कोई बाहर कैसे आ सकता है? अतः आप निश्चिन्त रहें।''

कहानी का सार समझाते हुए पूज्यवर कहते कि आज की कीच से भरी राजनीति में इन्हीं केंकड़ों का समुच्चय है। हम ऐसे समाज के निर्माण की परिकल्पना कर रहे हैं जिसमें वरिष्ठता की कसौटी निरहंकारिता-विनम्रता हो, न कि कुटिलता, दाँव-पेंच, कूटनीति। आज की जोड़-तोड़ की राजनीति के विषय में वे बहुत पूर्व लिख चुके थे कि धर्म-तंत्र का काम सशक्त समर्थ प्रजातंत्र का निर्माण लोकशिक्षण के माध्यम से करना है। यदि व्यक्ति सही बन सका तो निश्चित ही समाज व उसके मूर्धन्य-कर्णधार भी सही होंगे। उसके लिए इकाई को ही ठीक करना होगा। इसी को उन्होंने मानव निर्माण अभियान-युग निर्माण अभियान 'मेनमेकिंग ओडीसी' नाम दिया जो व्यक्ति के अंदर के ब्राह्मणत्व के जागरण के माध्यम से चलना था।

कैसे कार्यकर्त्ता वे चाहते थे व कैसा आदर्श सृजन तंत्र के एक सिपाही को होना चाहिए, इसका एक नमूना वह परिपत्र है जो पूज्यवर ने 'अध्यात्म क्षेत्र की वरिष्ठता विनम्रता पर निर्भर' नाम से समस्त कार्यकर्त्ताओं को संबोधित कर १९८०-८१ में लिखा था- ''सेवाधर्म के साथ शालीनता का समन्वय रहना चाहिए। लोकसेवी को निस्पृह एवं विनम्र होना चाहिए। इसी में उसकी गरिमा एवं उज्ज्वल भविष्य की संभावना है। जो बड़प्पन लूटने, साथियों की तुलना में अधिक चमकने-उछलने का प्रयत्न करेंगे, वे औंधे मुँह गिरेंगे और अपने दाँतों को तोड़ लेंगे। ''संस्थाओं के विघटन में पदलोलुपता ही प्रधान कारण रही है'' .....''युगशिल्पियों को समय रहते इस खतरे से बचना चाहिए। हममें से एक भी लोकेषणा-ग्रस्त बड़प्पन का महत्त्वाकांक्षी न बनने पाए।'' .....''स्मरण रहे अधिक वरिष्ठ व्यक्ति अधिक विनम्र होते हैं। फलों से डालियाँ लद जाने पर आम का वृक्ष धरती की ओर झुकने लगता है। अकड़ते तो पतझड़ के डंठल हैं।'' ......''शांतिकुंज के हर कार्यकर्त्ता को सफाई और पहरेदारी का काम अपने हाथों करना पड़ता है। यहाँ कोई मेहतर नहीं है। नेतागीरी के लिए विग्रह खड़ा करने वाले क्षेत्र दूसरे हो सकते हैं, पर सेवाधर्म में इस प्रकार की लिप्सा का थोड़ा प्रदर्शन भी असहनीय है। पदवी पाने के लिए, विग्रह करने वालों के लिए स्वयंसेवी संगठनों में कोई स्थान नहीं होता।'' ........ ''युगशिल्पी एक महान मिशन का अंग-अवयव होने के कारण ही सम्मान पाते और उच्चस्तरीय व्यक्तित्त्व का श्रेय पाते हैं। उन्हें सार्वजनिक प्रयोगों में 'मैं' 'मैं' शब्द का उपयोग न करके 'हम' 'हम लोग' कहना चाहिए। श्रेय तो सभी के सम्मिलित प्रयत्नों से बन पड़ा है, इसलिए उसके किए जाने में सभी के मिले-जुले प्रयत्नों के संकेत रहने चाहिए। साथियों को स्नेह-दुलार, सहयोग देने में हम सदा अग्रणी रहें।''

इस परिपत्र का ऊपर उद्धृत एक-एक वाक्य कुंजी है- किसी संगठन की सफलता का। यदि आज जातीय, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक संगठन असफल हैं तो इसी कारण। महाभारत की वेदव्यास की उक्ति ''बहवः यत्र नेतारः, बहवः मानकांक्षिणः ....सदल अवसीदति। आज सामूहिक आत्मघात के रूप में दिखाई देती है तो इसका मूल कारण यही है कि बड़प्पन की महत्त्वाकांक्षा लिप्सा ने उस ब्राह्मणबीज को समाप्त कर दिया है, जो कभी जन-नेतृत्त्व करता था। उस चाणक्य, समर्थ रामदास तथा रामकृष्ण परमहंस, श्री अरविंद के पुनरुज्जीवित संस्करण के रूप में हम आज मार्गदर्शन तंत्र के रूप में गायत्री परिवार के अधिष्ठाता को देखते हैं। भले ही देखने को उनका स्थूल शरीर हमारे बीच न हो, उनकी सूक्ष्मसत्ता की इतनी सक्रियता से, अपने विराट संगठन को पोषण देती, साहित्य रूपी एक विशाल निधि व उनके जीवन की जी गयी एक-एक अनमोल घड़ी के रूप में नजर आती है।

संवेदना जब आत्मोत्सर्ग की- बलिदान की अहं को छोड़कर समष्टि के हित की जाग जाती है, तो व्यापक हो जाती है। ऐसा व्यक्ति चाहे वह आद्य शंकराचार्य हो या विवेकानन्द, जागने पर चुपचाप नहीं बैठ सकता, वह विश्वस्तर पर सांस्कृतिक नवोन्मेष की प्रक्रिया को संपन्न करने आगे बढ़ता चलता है। जो भी अपने पास है, वह भी देते रहने को सदा उसका मन करता है। जिसके भीतर महारुद्र ताण्डव कर रहा हो, वह धरती का सारा जहर पिये बिना शांति से बैठा कैसे रह सकता है? ऐसे सतत संवेदनशील बेचैन व्यक्ति ही संगठक बन पाते हैं। ऐसी जाग्रत संवेदना जिसने एक विराट प्रज्ञा परिवार बना दिया तथा जिसकी फैली हुई शाखाओं के साये में आने वाले दिनों में सारी विश्व-वसुधा को बैठना है, हमारे आराध्य पूज्य गुरुदेव ने अपने एवं परम वंदनीया माताजी के माध्यम से पैदा की। उन्होंने एक सुरक्षित तंत्र विकसित कर समर्पित स्वयंसेवकों की प्रतिभाओं का सुनियोजित सुसंगठित रूप, सबके समक्ष प्रस्तुत किया। यही निश्चित रूप से नवयुग का आधार विनिर्मित करेगा, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

# साधना-सूत्रों की नूतन शोध से देवमानवों को गढ़ा

जिंदगी कैसे जिएँ? परमपूज्य गुरुदेव का जीवन इस शाश्वत प्रश्न का युगानुरूप समाधान है। यों इस सवाल को हल करने के लिए परिस्थिति एवं परिवेश के अनुरूप समय-समय पर अगणित कोशिशें होती रही हैं। इसी के जवाब में न जाने कितने शास्त्र, दार्शनिक ग्रंथ रच डाले गए। महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य, गोरखनाथ, चैतन्य आदि मनस्वियों ने समूचे जीवन-तप करके सामयिक समाधान प्रस्तुत किए। इस पहेली को हल करने के लिए तरह-तरह की साधना-प्रणालियों का निर्माण किया। प्रयासों की इस निरंतरता के बावजूद पहेली अनबूझ बनी रही। कारण रहा शाश्वत जीवनदृष्टि का अभाव। सामयिक समाधानों ने समय के अनुरूप निदान तो प्रस्तुत किए, पर वर्तमान परिस्थितियों में उनकी छवि धूमिल पड़ गई। ऐसे में आह्वान उस युगऋषि का हुआ, जो बदलते युग को नवीन जीवन दृष्टि दे। जीवन-साधना के नवीन सूत्रों की खोज करे।

ज्ञानमूर्ति गुरुदेव का तपोनिष्ठ जीवन, ऐसे ही युगऋषि का जीवन है, जिन्होंने अस्तित्व की सूक्ष्मताओं और बदलती परिस्थितियों के मर्म को परखा और ऐसे समाधान प्रस्तुत किए जो सामयिक होते हुए भी शाश्वत हैं- चिर नवीन हैं। तथ्य का स्पष्टीकरण उन्हीं के शब्दों में करें तो ''युग परिवर्तन के साथ-साथ परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। पृथ्वी सौर-मंडल के साथ अनंत आकाश में भ्रमण करती रहती है। अपनी कक्षा में घूमते हुए भी वह सौर-मंडल के साथ कहीं से कहीं चली जाती है, इस परिभ्रमण में ब्रह्मांड किरणों की न्यूनाधिकता से मानव-शरीर और मन की सूक्ष्म स्थिति में भारी अंतर पड़ जाता है। सांसारिक परिस्थितियाँ और भौतिक हलचलें, सामाजिक विधि-व्यवस्थाएँ भी मानव-जीवन की मूलभूत स्थिति में भारी अंतर प्रस्तुत कर देती हैं । इस परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए ही युगसाधना का स्वरूप समय-समय पर निर्धारित करना पड़ता है। प्राचीनकाल की साधन-विधियाँ उस समय के अनुरूप थीं- परिवर्तन के साथ साधनक्रम भी बदलेंगे। यदि हेर-फेर न किया जाए तो प्राचीनकाल में सफल होने वाली साधनाएँ अब सर्वथा निरर्थक और निष्फल सिद्ध होती रहेंगी।''

निस्संदेह अब न पहले की परिस्थितियाँ हैं और न जीवन का पुराना सिलसिला ही बाकी है। लँगोटी लगाकर जंगल में रहने कंदमूल-फल खाने की बात सर्वसाधारण के लिए आज बड़ी बेतुकी है। शहरों की भीड़-भाड़ में न तो अब जंगल बचे हैं और न ही कंद-मूल-फल। फिर शारीरिक स्थिति भी बदल गई है। वर्तमान मानव-शरीर में पहले जैसी कठोरताओं को सहने की क्षमता अब कहाँ बची है। पुराने शास्त्रों में प्रतिपादित कृच्छ व्रतों की कठोरताओं को सामान्य मनुष्य शायद एक दिन भी न सह सके। यही क्यों मन भी अब परिवर्तित स्थिति में है। पहले का सहज सरल भाव-प्रवण मन अब तार्किक, कूटनीतिक और प्रपंची हो गया है। श्रद्धा का स्थान अब तर्क ने ले लिया है, विश्वास की जगह संदेह ने घेर ली है।

बदली हुई परिस्थितियों में न केवल जीवन का स्वरूप बदला है, बल्कि उसकी व्यापकता भी बढ़ी है। अब जीवन का दायरा सिर्फ शरीर, प्राण और अल्प-विकसित मन तक ही सिमटा-सिकुड़ा नहीं है, परिपक्व मन और विकसित-बुद्धि की व्यापक क्षितिज भी इसमें समा चुकी है। ऐसे में प्राचीन साधनासूत्रों का औचित्यहीन और एकांगी लगने लगना स्वाभाविक है।

पहले के साधनासूत्रों पर विचार करें तो यही पाते हैं कि वर्तमान में इनका प्रयोग खंडित जीवन जीने का उपक्रम भर होगा। तत्कालीन समय में जिंदगी छोटे से दायरे में कसी-बँधी होने के कारण ये सूत्र जरूर अपना औचित्य सिद्ध करते रहे होंगे, पर आज की स्थिति में यह संभव नहीं। उदाहरण के लिए, गोरखनाथ की हठयोग पद्धति को ही लें। शरीर और प्राण को सबल बनाने और इसको आधार बनाकर आत्म-जागरण करने में निश्चित ही यह पद्धति समर्थ है। लेकिन आज की स्थिति में रहने वाले शहरी नागरिक इसे अपनी जीवन साधना की प्रणाली नहीं बना सकते। चित्र-विचित्र शारीरिक व्यायामों, जटिल प्राणायामों को सहने लायक न तो उनका शरीर है और न ही समर्थ प्राण। ऐसे में इसकी सार्वभौमिक उपादेयता पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है।

यही दशा महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित जीवनसूत्रों की है। यदि संसार के सभी श्रेष्ठपुरुष इस प्रणाली को अपनाकर वन, गुहा, कंदराओं में जाकर वैराग्य धारण कर लें तब विश्व-वसुधा का स्वरूप क्या होगा? क्या वह नंदन-कानन की जगह नरक का धधकता दावानल न बन जाएगी। यही बात वैष्णवों की भक्ति के संदर्भ में भी है। भावुकता और इसका विकास निश्चित ही श्रेष्ठ है, पर विचारहीन भावुकता आज के बुद्धिवादी युग में ठगी और शोषण का ही शिकार बनेगी।

ऐसा नहीं कि ये सभी साधना-प्रणालियाँ निर्मूल और सारहीन हैं। आज के युग में भी इनके मूल्य और महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। इनमें से प्रत्येक में बेशकीमती और बहुमूल्य रत्न-भंडार छुपे हैं, पर वर्तमान स्थिति में इनका उपयोग किस तरह से हो, यह विचारणीय है। इस बिंदु पर चिंतन करने पर यही मिलता है कि समस्त साधना प्रणालियाँ शरीर, प्राण और मन में किसी न किसी एक पर आश्रित, अवलंबित हैं। जो प्रणाली *जिसको अपना आधार बनाकर चलती है, उसका विकास और उत्कर्ष तो पर्याप्त होता है, लेकिन अस्तित्व के अन्य* अंग अछूते रह जाते हैं। उदाहरण स्वरूप हठयोग शरीर को विकसित करता है। तंत्रसाधनाएँ प्राण को सबल बनाती हैं। पातंजलि के योग सूत्र मन का विकास करते हैं। शंकराचार्य का वेदांतिक ज्ञान बौद्धिकता को उत्कर्ष प्रदान करता है। पर परिणाम में स्थिति कुछ ऐसी रहती है, जैसे किसी आदमी के पैर मोटे हो जाएँ, शेष अंग दुबले बने रहें अथवा पेट फूलकर बाहर निकल आए- शेष अवयव दीन-दुर्बल बने रहें।

इस बेडौल और भद्दी स्थिति से बचने का एक ही उपाय है कि समस्त साधना-प्रणालियों के मणि-मुक्तकों को कलात्मक ढंग से पिरोकर एक समर्थ प्रणाली बनाई जाए। ऐसी प्रणाली जो युगानुरूप हो और सर्वजनीन भी। जिसे जीवन के हर क्षेत्र के, संसार के हर देश के लोग सरलतापूर्वक अपना सकें। थोड़े ही प्रयासों में लाभान्वित हो सकें, आत्मिक उत्कर्ष पा सकें।

युगऋषि गुरुदेव के प्रयासों में यही सौंदर्य साकार हुआ है। उन्होंने साधना और जीवन दोनों को एक-दूसरे का पर्याय माना । यों यह बात किसी को कहने-सुनने में साधारण लग सकती है, लेकिन जिन्होंने साधना-पद्धतियों पर शोध की है, साधकों के जीवन का बारीकी से अध्ययन-अन्वेषण किया है वे इस विरल सुयोग को पाकर सुखद आश्चर्य से भर जाएँगे।

अब तक के आध्यात्मिक इतिहास में जीवन और साधना दो विरोधी ध्रुवों पर स्थित रहे हैं। अपने अस्तित्व की शुरूआत से ही मानव-समाज यह धारणा सँजोये रहा है- ''जिसे साधना करनी हो उसे जीवन का त्याग करना पड़ेगा। जिसे जीवन का मोह है, उसे साधना का लाभ नहीं मिलेगा।'' ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध, फारसी, यहूदी, जैन सभी जगह इसी धारणा को बद्धमूल होते अनुभव किया जा सकता है कि जो साधक है उसे जीवन से क्या लेना-देना, उसे संन्यासी हो जाना चाहिए और जिसे जीवन से प्रेम है उसे साधना का क्या करना।

गुरुदेव ने मानव इतिहास में पहली बार जीवन और साधना में एकात्म स्थापित किया। जिंदगी किस तरह जिएँ, गुरुदेव के चिंतन कोश में उसका उत्तर है- जीवन जीने की कला सीखकर । दूसरे शब्दों में साधना करके। उन्होंने मनुष्यत्व का एक अर्थ साधना भी माना। हो भी क्यों न? पश्चिमी विचारक नीत्शे ने एक स्थान पर कहा है कि आदमी एक सेतु है- ''मैन इज ए ब्रिज'' एक ओर पशुता दूसरी तरफ देवत्व। या तो पशु हो जाए तो सुख पा ले, क्षणिक इन्द्रिय-तृप्ति में स्वयं को गँवा डाले अथवा परमात्मा हो जाए, तो आनंद को पा ले। परमात्मा हो जाने के लिए, आनन्द को पाने के लिए अनिवार्य है साधना। यदि *साधना की समर्थता नहीं होगी, तो मनुष्यत्व भी बचा नहीं रहेगा। फिर तो पशुता में गिरना अनिवार्य है।*

यही कारण है साधनाविहीन जीवन आसानी से पशुता की ओर खिंच जाता है। दुनिया में शराब और सेक्स का आकर्षण और किसी कारण नहीं है। शराब हमें वापस पशु में पहुँचा देने की सुविधा बन जाती है। नशा करके हम वहीं हो जाते हैं, जहाँ सभी पशु हैं। सेक्स में भी थोड़ा सुख मिलता है पशु में वापस उतर आते हैं। यही कारण है दुनिया की किसी भी साधना-प्रणा में इन दोनों का विरोध किया गया है। विरोध का अर्थ है, पशु होने की मनाही। परंतु विरोध और मनाही करने भर से काम नहीं चलेगा। आवश्यक है सर्वांगीण साधना-पद्धति का निर्माण। जिसे मनुष्य मात्र बिना किसी हिचकिचाहट के अपना सके और स्वयं के मनुष्यत्व को देवत्व में बदल सके।

पूज्य गुरुदेव ने इसके तत्वदर्शन को साधना-उपासना, आराधना की त्रिवेणी में सँजोया है। कारणशरीर को विकसित करने के लिए उपासना, सूक्ष्मशरीर के विकास हेतु साधना और स्थूलशरीर को सबलता के लिए आराधना की तकनीक सुझाई है। इसे शरीर, प्राण और मन अर्थात् कर्म, भाव और चिंतन को परिष्कृत करने, विकसित करने की पद्धति भी कह सकते हैं। उपासना को भक्तियोग, साधना को ज्ञानयोग और आराधना को कर्म- योग की भी संज्ञा दी जा सकती है। इसे यों भी कह सकते हैं, आराधना व्यवहार के उत्कर्ष की प्रणाली है, साधना चिंतन के उत्कर्ष की विधि है और उपासना से चरित्र उदात्त बनता है।

इन तीनों की चिंतन और अनुभूति में संसार की प्रत्येक साधना-प्रणाली का सार-निष्कर्ष इसमें समाविष्ट दीखता है। यही क्यों षड्दर्शनों का सार-मर्म भी इन्हीं में छिपा है।

सांख्य-योग, वेदांत, न्याय, वैशेषिक-मीमांसा इन छह दर्शन के मर्म पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि सांख्य और योग एक-दूसरे के पूरक हैं। इन्हें उपासना की सुपरिचित पद्धति के रूप में जाना जाता है। वेदान्त और न्याय का पूरक युग्म चिंतन परिष्कृत करने की साधना है। वैशेषिक और मीमांसा में आराधना का कर्म-कौशल छिपा है।

उपासना कारतूस है, साधना बंदूक। अच्छी बंदूक होने पर ही कारतूस का चमत्कार देखा जा सकता है। बंदूक रहित अकेला कारतूस तो थोड़ी आवाज करके फट ही सकता है। इससे सिंह, व्याघ्र का शिकार नहीं किया जा सकता। अनैतिक गतिविधियाँ और अवांछनीय विचारणाएँ यदि भरी रहें तो कोई साधक आत्मिक प्रगति का वास्तविक और चिरस्थाई लाभ न ले सकेगा। आत्म-बल से सम्बन्धित सिद्धियाँ और आत्म-कल्याण के साथ जुड़ी हुई विभूतियाँ प्राप्त करने के लिए साधना अनिवार्य है। अपने गुण-कर्म-स्वभाव पर गहरी दृष्टि डालते हुए छिद्र हों उन्हें बंद करना चाहिए। फूटे हुए बर्तन में जल भरा नहीं रह सकता, छेद वाली नाव तैर नहीं सकती, दुर्बुद्धि और दुश्चरित्र व्यक्ति इन छिद्रों से अपना सारा उपासनात्मक उपार्जन गँवा बैठता है और उसे छूँछ बनकर खाली हाथ रहना पड़ता है। उपासना और साधना का फलितार्थ आराधना में होता है। आराधना स्वयं को व्यापक बनाने, विराट पुरुष से स्वयं को एकात्म करने की कला है।

इन तीनों के योग के व्यावहारिक प्रयोग को युगऋषि ने 'प्रज्ञा योग' नाम दिया है। इसके नित्य उपक्रम को चार भागों में बाँटा जा सकता है- (१) जप और ध्यान जैसे भावना प्रधान उपासनात्मक, कृत्य जिन्हें परिमार्जन-प्रखरता के लिए नित्य करना अनिवार्य है। इस क्रम में पाँच प्रमुख कृत्य हैं- आत्म-शोधन, देवपूजन, जप-ध्यान, विसर्जन-सूर्यार्घ्यदान, (२) आत्म-बोध की प्रातःकालीन, साधना। जिसमें दिन भर क्या किया जाना है, इस सुरदुर्लभ मानवशरीर का सदुपयोग किस प्रकार होना है, इस पर चिंतन किया जाता है। आत्म-विश्लेषण व निरीक्षण की इस साधना को प्रज्ञायोग का प्राण कहा जा सकता है। (३) दैनिक कर्म की आराधना-कर्म भगवान की अर्चना है। इस भाव से दैनिकचर्या के साथ लोकमंगल के लिए समय और श्रम का नियोजन, (४) तत्वबोध की रात्रि-कालीन साधना जिसमें दिन भर का लेखा-जोखा लिया जाता है तथा पूरे दिन को एक पूरा जीवन मानकर मृत्यु की गोद में जाने का चिंतन करते हुए प्रातः के पर्यवेक्षण की एक रिहर्सल की जाती है। इन चारों का समन्वय का नाम प्रज्ञायोग है। उपासना के प्रथम चरण में जहाँ कृत्यों के साथ जुड़े भावनात्मक संकल्पों की प्रधान भूमिका है। वहाँ आत्मबोध तत्त्वबोध की साधना में चिंतन-मनन का प्राधान्य है। आराधना में कर्म के माध्यम से विराट पुरुष से एकात्मता का भाव है। इन तीनों उपक्रमों को समान महत्त्व देते हुए नियमित रूप से भावनापूर्वक संपन्न करने से उन विभूतियों का प्रत्यक्ष रसास्वादन होने लगता है, जो साधना-मार्ग पर सही रूप से संकल्पपूर्वक चलने वाले को मिलना चाहिए।

# युगऋषि, जिन्होंने साधना-सूत्रों को सरलतम बना दिया

अनेकानेक जाल-जंजाल से भरी, कई प्रकार के निग्रहों-निषेधात्मक आदेशों से युक्त साधना विज्ञान की पुस्तकों को देखकर आज के युग के किसी भी व्यक्ति को लग सकता है कि ये सब उसके लिए नहीं हैं। कोई देवलोक से विशिष्ट क्षमताएँ लेकर आया व्यक्ति ही यह कार्य कर सकता है, एक सामान्य व्यक्ति के लिए तो मात्र पेट-प्रजनन की जिंदगी जीकर जीवन किसी तरह काट देना भर है, यही तथ्य सबकी समझ में आता है व लोक-व्यवहार में दृष्टिगोचर भी होता है। लेकिन पूज्यवर गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने अपने जीवन के अनुभवों से हर व्यक्ति के समक्ष एक खुली किताब रखते हुए कहा कि साधनहीन व्यक्ति भले ही जीवन जी ले, किंतु साधना विहीन जीवन न जिये एवं उसके लिए सरलतम योग साधनात्मक पद्धतियों का आहार से लेकर दैनंदिन जीवन व्यवहार का एक ऐसा पहलू प्रस्तुत किया, जो हर किसी के लिए सुगम है।

उनके निज के जीवन के लिए साधना अनिवार्य थी। इसके कई गुह्य व परोक्ष पहलू हमें किसी को भी ज्ञात नहीं हैं। परमवंदनीया माताजी के अतिरिक्त उन्हें कोई जानता भी नहीं है। किंतु उन्होंने जन-जन को देखा था। यह भी देखा व पाया था कि आत्मबल, अध्यात्मशक्ति के अभाववश व्यक्ति दीनहीन जीवन जीता देखा जाता है। भारत स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए जिन दिनों अपने हाथ पाँव फेंक रहा था, अनेकानेक व्यक्ति बढ़-चढ़कर आगे आ रहे थे, पूज्यवर के मन में एक ही बात थी कि विराट स्वतंत्र भारत को सांस्कृतिक दृष्टि से आजादी दिलाने वाले मनोबल, आत्मशक्ति संपन्न मरजीवड़े कैसे व कहाँ से आयेंगे?

जब श्री अरविंद व श्री माँ अपने पूर्ण योग का प्रतिपादन कर अतिचेतन के महावतरण की चर्चा पांडिचेरी में कर रहे थे, तब एक ही संकल्प पूज्यवर के मन में उनकी गुरुसत्ता का दिया उभरता रहता था कि अति-मानस जो आएगा उसके लिए सुपात्र एक नहीं, अनेकानेक लाखों-करोड़ों व्यक्ति चाहिए, जो मात्र भारतवासी हों जरूरी नहीं, सारा विश्व उसमें भागीदारी कर सके। इसलिए यह पद्धति जनसुलभ हो, प्रत्येक के लिए सरल हो

एवं क्रमशः जीवन में उतारते हुए सभी उसे कर सकें। श्रेष्ठ मानव बनें, ग्रंथिमुक्त-कुंठा-संत्रस्तरहित व्यक्तित्व जन्में, बहुचित्तीय (पॉलिसाइकिक) नहीं, बल्कि एकनिष्ठ भाव से काम करने वाले हर श्रेणी के व्यक्तियों से मिलकर बना समुदाय अपनी चिंतन-साधना से समष्टि मन का निर्माण कर सके ताकि समूह चेतना के जागरण से व्यक्ति परिवार ही नहीं, समाज की अभिनव संरचना का भी सरंजाम जुटा सके। इतने विराट स्तर पर मानवमात्र के कल्याण की बात युगऋषि स्तर की सत्ता ही सोच सकती है।

पूज्यवर बहुधा कहा करते थे कि भीतर से हर व्यक्ति के अंदर देवत्व भरा पड़ा है, आवश्यकता मात्र उसे उभारने की है। मनुष्य का स्वाभाविक रुझान ही उत्कृष्टतापरक है। वह भटका हुआ देवता है, उठा हुआ पशु नहीं। ऐसे भगवत्प्रेरणा, ब्रह्मांडीय सुव्यवस्था के साथ तारतम्य बिठाकर चलने के लिए दैनन्दिन जीवन में जिन अनुशासनों का समावेश करना जरूरी है, वे प्रारम्भिक साधकों के लिए न्यूनतम हों एवं वे इसे दैनंदिन जीवन का ही एक अंग मानें, यह समझाने का प्रयास उन्होंने १९४० से प्रकाशित हो रही अपनी 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका को दिए जाने वाले सतत मार्गदर्शन से आरंभ कर दिया था।

व्यक्ति का आहार सही हो व विचार करने की प्रक्रिया उसकी सुव्यवस्था बने, यही वह जीवनयोग था। जिसे पूज्यवर ने जन-जन को बताया । तंत्र, कुंडलिनी, षटचक्रवेधन के बारे में तरह-तरह की जिज्ञासाएँ लेकर आने वाले व्यक्तियों से वे यही कहते थे कि- "पहले तुम आहार सही कर लो व सोचने की पद्धति बदल डालो, फिर पाओगे कि तुम्हारी कुंडलिनी जागरण प्रक्रिया का शुभारम्भ हो गया।" वे अध्यात्म को जिंदगी का शीर्षासन कहते थे व बताते थे कि जब भी अध्यात्म किसी के जीवन में पूर्ण रूप से उतर जाता है, तो वह उसके व्यक्तित्व का आमूलचूल परिष्कार कर उसे बदल कर रख देता है। योग के नाम पर उछलकूद करने वाले, तरह-तरह की नाटकबाजी-कलाकारी दिखाने वाले तथा हठयोग की प्रारंभिक क्रियाओं को ही सब कुछ मानने वालों की हँसी उड़ाते हुए वे कहते थे कि इन्होंने योग का मतलब स्वयं समझा नहीं, औरों को और भ्रम-जंजाल में भटकाते रहते हैं।

गायत्री के चौबीस अक्षरों के तत्त्वज्ञान को उन्होंने समूचे जीवन के उत्कर्ष का मूल माना तथा उसकी विशद व्याख्या के माध्यम से उन्होंने बताया कि गायत्री साधना मात्र जीभ से मंत्रोच्चारण करने से नहीं, महानता के आदर्शों को जीवन-यात्रा का एक अंग बनाने पर संपन्न होती है। इसके लिए जहाँ व्यक्ति का चिंतन सही रखने के लिए आहार सही होना जरूरी है, वहीं श्रेष्ठविचारों को आमंत्रित करने की कला भी उसे सीखनी होगी, तभी ध्यान सफल होगा। जीवन जीने की कला के नाम से उन्होंने जिस योग-साधना को जन्म दिया। वह अपने आप में विलक्षण किंतु सरल है। उन्होंने कहा कि नित्यप्रति के अपने आहार पर ध्यान दो कि तुम क्या खा रहे हो, पर कड़ा तप करने की कोई जरूरत किसी को भी नहीं है। हम शाकाहारी बनें, सात्विक आहार लें एवं 'अन्नो वै मनः' के तथ्य को ध्यान में रखें कि जैसा हम खाते हैं, वैसा ही हमारा चिंतन बन जाता है। आँवलखेड़ा से आगरा, मथुरा से हिमालय-उत्तरकाशी सप्तसरोवर व फिर हरिद्वार के शांतिकुंज में उनके प्रयोग सतत चलते रहे। जन-जन के लिए उन्होंने 'अस्वाद व्रत' का प्रचलन किया जिसे 'अणुव्रत' का नाम दिया। छोटे-से शुभारंभ कर कैसे व्यक्ति सिद्धि की चरम शिखर तक पहुँच सकता है यह उन्होंने सप्ताह में एक दिन अस्वाद व्रत जन-जन से कराके सबको सिखाया। नमक, शक्कर व मसाला आदि का परित्याग मात्र एक ही दिन व्यक्ति करके देखे तो पाएगा कि इससे उनके स्वादेन्द्रियों की कड़ी परीक्षा हो रही है। जीभ यदि स्वाद के बिना कुछ घंटों रहना भी सीख ले, तो दो संयम-रसना का व जननेन्द्रियों का स्वयं सधने लगने की प्रक्रिया गतिशील हो जाती है, यह अनेक साधकों ने अपने जीवन में परीक्षा कर सफल होता पाया ।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा में भी उन्होंने कल्प-साधना शाक कल्प, दुग्ध कल्प, फलों के कल्प के प्रयोग किए, कइयों से कराए तथा शांतिकुंज में कृच्छ-चांद्रायण प्रक्रिया में अमृताशन के रूप में उबले नाम मात्र के मसाले के आहार, हविष्यान्न के प्रयोग तथा पूर्णिमा से अमावस्या व फिर पूर्णिमा तक क्रमशः आहार घटाने व बढ़ाने का प्रयोग कर अन्नमय कोश को साधना व इससे प्राणमय कोश परिष्कार की प्रक्रिया में आगे बढ़ने का सरलतम प्रयोग सबको सिखाया। युग के अनुरूप जो व्यक्ति के शरीर-मन आज ढल गये हैं, उनमें सरलतम पद्धति हो सकती है, इससे लेकर कठिनतम का सतत विकास पूज्यवर की साधना-प्रणालियों में पाया जाता है। व्रतों को भी उन्होंने उतना ही महत्व दिया, पर उस रूप में नहीं, जैसे वे आज प्रचलित हैं। आज तो फलाहार के नाम पर अनापशनाप खाकर मनुष्य पेट में और अधिक ठूँसता चला जाता है, जबकि व्रत का मोटा अर्थ है- शरीर को थोड़ी छुट्टी-अवकाश दे देना तथा सूक्ष्म अर्थ है मन को निग्रहीत कर श्रेष्ठ चिंतन का सतत अभ्यास करने की प्रक्रिया सीखना । नवरात्रि साधना के साथ आहार-संयम का सरल सुगम रूप पूज्यवर ने दो चीजों का प्रयोग- एक खाने की, एक लगाने की या मात्र तरल प्रवाही द्रव्यों का प्रयोग. यह बताया। नवरात्रि की अनुष्ठान साधना तो ढेरों व्यक्ति करते हैं, तो कितने सही अर्थों में मन लगा पाते हैं। यदि वे जल उपवास जैसी या निर्जला जैसी कड़ी तथा फलाहार की अति वाली दो विपरीत धुरियों के बीच एक सामान्य कड़ी

के ही प्रयोग चालू करें तो बहुत सफल साधना उनकी होती रह सकती है, यह पूज्यवर ने समय-समय पर बताया।

पंचकोशी व कुंडलिनी जागरण साधना, प्राण-प्रत्यावर्तन साधना, आध्यात्मिक भाव-कल्प साधना आदि के रूप में शांतिकुंज में समय-समय पर सत्र तो होते रहे हैं, किंतु पूज्यवर ने मुख्य ध्यान जन-जन के लिए साधना सूत्रों को सुगम बनाने पर विशेषत: दिया व जीवन साधना सत्र इसी प्रयोजन के निमित्त आयोजित भी होते रहे, इन्हें बाद में संजीवनी-साधना नाम दिया गया, जिनमें जीवन जीने की कला के शिक्षण के सारे सूत्र गूँथ दिये गए। यह अपने आप में एक विलक्षण-संश्लेषित प्रक्रिया बन गयी। दैनिक जप, जप के साथ ध्यान तथा प्रज्ञायोग को नियमित संपादित किया जाना, स्वाध्याय एवं ध्यानयोग, लययोग-नादयोग के रूप में योगत्रयी का दिनचर्या में समावेश अपने-आप में एक साधना-शैली बन गयी, जिसे अब लाखों व्यक्ति जीवन में उतारते देखे जाते हैं।

प्राणायाम के माध्यम से वह भी सीधे-सादे, सरल, प्राणाकर्षण या लोम-विलोम सूर्यवेधन या नाड़ी-शोधन से कोई व्यक्ति कैसे अपने सूक्ष्म शरीर को प्राणमय तथा मनोमय कोश को परिष्कृत-जाग्रत कर सकता है, इसे पूज्यवर ने समझाकर इस भाँति हृदयंगम करा दिया कि आज यह प्रक्रिया अपनाकर अनेक व्यक्ति न केवल रोगमुक्त, मनोविकारों से मुक्त अपितु शांत-शीतल मन:-स्थिति जीवन जीते देखे जा सकते हैं, जिसमें उनकी प्राणशक्ति जीवनीशक्ति तो बढ़ी ही है- आभामंडल भी परिष्कृत हुआ है। पाँच मिनट के इस सरल प्रयोग ने कुण्डलिनी जागरण की सामूहिक प्रक्रिया के लिए सुपात्रों का निर्माण आरंभ कर दिया है व स्वयं में यह एक बड़ी विलक्षण प्रक्रिया है। आज देश-विदेश में अनेक व्यक्ति उगते सूर्य के ध्यान से लोम-विलोम, सूर्यवेधन, प्राणायाम कर अपनी प्रसुप्त क्षमता को जगाकर दिनभर उल्लास भरा जीवन जीते देखे जा सकते हैं।

ध्यान को पूज्यवर ने बड़ा सुगम बनाया, उन्होंने समय-समय पर कहा कि सामूहिक महापुरश्चरण से समूह मन तो विकसित होगा ही एवं प्राण चुंबक निज का बढ़ेगा ही, व्यक्तिगत ध्यान से आने वाले युग की एक निराली ध्यान चिकित्सा पद्धति विकसित होगी। ध्यान के लिए बिंदुयोग, त्राटक दीपक की लौ या उगते सूर्य का ध्यान सबसे सरल प्रयोग था, जिससे प्रतिभा की प्रखरता ही नहीं, विशिष्ट उपलब्धि अंत:ऊर्जा के जागरण के रूप में सबको मिल रही थी। ध्यान के दौरान विशिष्ट विचारों को आमंत्रित करना, विधेयात्मक चिंतन द्वारा व्यक्तित्व को विचारों का स्नान कराना तथा अपनी अनगढ़ता को सुगढ़ता में बदलने की यह प्रक्रिया अब सारे विश्व में लोकप्रिय हो गयी है। रंगों का ध्यान, रागों का सुनते हुए ध्यान, दृश्यमूर्ति पर साकारोपासना में ध्यान, ये प्रक्रियाएँ ऐसी हैं जिन्हें जन-सामान्य बिना इस विशिष्ट मार्गदर्शन के कर नहीं सकता था। आज सभी व्यक्ति सारे विश्व में इन साधनाओं को कर रहे हैं एवं लाभान्वित हो रहे हैं।

उपासना परमसत्ता की, साधना अपने आपकी तथा आराधना विराट विश्व-ब्रह्माण्ड की, इस समाज की यह एक निराली त्रिधा साधना-प्रक्रिया पूज्यवर के द्वारा ही निर्धारित है। उपासना में आत्मसत्ता को परमतत्त्व से एकाकार करने की भावना, कषाय-कल्मषों का परिशोधन, साधना में विचार, अर्थ, समय व इंद्रिय-संयम व उसके लिए सतत स्वाध्याय तथा आराधना में सारे समाज का अपने को एक अंग मानते हुए समाज-सेवा के निमित्त समय व अंशदान नियमित रूप से देते रहने का विधान जो उन्होंने बनाया, वह प्रज्ञा-परिजनों के लिए योगत्रयी बनाया। यह त्रिवेणी जिसमें करोड़ों व्यक्ति स्नान कर अपने आपको महाकाल की धारा के साथ जोड़ चुके हैं, आज अपने सरल-सुगम रूप में योग-साधना में प्रवेश का, मानव-मात्र की कुंडलिनी के जागरण का एक द्वार ही नहीं खोलती है वरन् जन-जन की आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त करती है। यही वह विशेषता है, जिससे गायत्री परिवार अपने अधिष्ठाता के मार्गदर्शन में साधना-प्रणाली को जन-जन तक पहुँचा सका है। दीपयज्ञों, संस्कारों के द्वारा अब हर व्यक्ति अध्यात्म को उल्लासमय महोत्सव बनाकर अपने जीवन से झरता देख जा सकता है। युगसाधना का कायाकल्प कर प्रत्येक के लिए मुक्ति का पथ प्रशस्त करने वाले उस युगऋषि को, महाकाल की सत्ता को बारंबार प्रणाम है।

# गायत्री रूपी वट वृक्ष, जिनकी ब्राह्मणत्व रूपी उर्वर भूमि में फलित हुआ

परमपूज्य गुरुदेव का महाप्रयाण २ जून सन् १९९० में गायत्री जयंती के दिन हुआ था, जब उन्होंने अस्सी वर्ष जिये गये अपने जीवन के दृश्य रूप को समेटकर स्थूल-दृश्य काया के बंधनों से मुक्त हो स्वयं को उस महाविराट से जोड़ लिया था, जिसका दिग्दर्शन उन्हीं की सूक्ष्म व कारणसत्ता के रूप में आज सभी को हो रहा है। इन पंक्तियों में पूज्यवर के ब्राह्मण रूप में जिए गये जीवन के विशिष्ट क्षणों के माध्यम से ब्राह्मणत्व की वह चिंतनपरक व्याख्या है, जो आज समाज में तथाकथित बुद्धिजीवियों-जातिवाद की संदेहभरी राजनीति करने वाले क्षुद्रमना व्यक्तियों की जिह्वा पर विराजमान है। ब्राह्मण क्या है?

कैसा होता है? कैसे हर कोई बन सकता है? उसका दार्शनिक विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

जड़ें जमीन में न हों, ऐसे पेड़ की कल्पना करना कठिन है। ठीक इसी तरह ब्राह्मणत्व विकसित किए बगैर गायत्री साधना के चमत्कारी परिणाम हथियाने की सोच बेकार है। ब्राह्मणत्व ही वह आधार है, वह उर्वर भूमि है जिसकी गोद में गायत्री का वट-बीज अपनी चमत्कारी परिणति प्रस्तुत करता है। परमपूज्य गुरुदेव के जीवन में हम सबने गायत्री महाशक्ति की जिन आश्चर्यजनक शक्तियों को देखा, जाना, अनुभव किया, लाभान्वित हुए, इसके रहस्य का खुलासा करते हुए उन्हीं के शब्द हैं- ''हमारा जीवन-प्रयोग प्रत्यक्ष है। हमने सारे जीवन ब्राह्मण बनने की साधना की। इसके लिए पल-पल तपे, इंच-इंच बढ़े। जिंदगी में यज्ञोपवीत संस्कार का वह क्षण कभी नहीं भूला, जब महामना मदनमोहन मालवीय ने गायत्री महामंत्र सुनाने के साथ ही कहा था- गायत्री ब्राह्मण की कामधेनु है।'' ब्राह्मण जन्म से नहीं जीवन-साधना से बना करते हैं। इस तथ्य को न समझने वाले छुटपुट पूजा-पत्री करने और उलटी-पलटी माला खिसकाने के सहारे लंबे-चौड़े स्वप्न देखते और विफल मनोरथ, निराश, असफल बने रहते हैं।

सामान्य क्रम में यह सत्य किसी को कबीरदास की उलटबाँसी जैसा लग सकता है। हो भी क्यों न ? ब्राह्मण घर में जन्म लेने, ब्राह्मण कहलाने के बावजूद ब्राह्मण बनने का उपदेश किस अनबूझ पहेली से कम है। इस उलझन को सुलझाते हुए उनके शब्द हैं- ''ब्राह्मणत्व एक साधना है। मनुष्यता का सर्वोच्च सोपान है। इस साधना की ओर उन्मुख होने वाले क्षत्रिय विश्वामित्र और शूद्र ऐतरेय भी ब्राह्मण हो जाते हैं। साधना से विमुख होने पर ब्राह्मण कुमार अजामिल और धुंधकारी शूद्र हो गए। सही तो है जन्म से कोई कब ब्राह्मण हुआ है? ब्राह्मण वह जो समाज से कम से कम लेकर उसे अधिकतम दे। स्वयं के तप, विचार और आदर्श जीवन के द्वारा अनेकों को सुपथ पर चलना सिखाए।''

इसे न समझ पाने के कारण बहुधा लोग भ्रमित होते रहते हैं। बहुत से इसका नाम सुनकर गर्वित हो उठते हैं। अपनी जाति-दंभ में फूल उठते हैं। अनेक लोगों के चेहरों पर 'ब्राह्मण' शब्द तिरस्कार और उपेक्षा के भावों को घना कर देता है। किंतु इन ढेर सारे भावों का उद्दीपन सिर्फ गलत अवधारणा का परिणाम है। यदि अवधारणा सही होती तो वैदिक वाङ्मय के पारिभाषिक शब्दों का सम्यक ज्ञान होने पर इन विवादों का कोई फेर न पड़ता। प्राच्यविद् आई. ए. रोजेट ने भी अपनी रचना 'वैदिक इण्डिया' में इस तथ्य को स्वीकारा है। उनके अनुसार, यह शब्द जाति, कुल, गोत्र, रूप, रंग का द्योतक न होकर एक मनोवैज्ञानिक अवस्था का द्योतक है। यह विकसित व्यक्तित्व की विशेष अवस्था है। इसका ठीक-ठीक समानार्थी शब्द जब यहीं के प्राचीन-अर्वाचीन चिंतन में नहीं है, तब पश्चिम के रीते कोश से कुछ आशा करना व्यर्थ है।''

वैसे भी पश्चिमी मनोविज्ञान ने ज्यादातर रोगियों की छान-बीन की है। बीमार, भग्न मानसिकता इन विचारकों के कार्य की सीमारेखा बन गई। स्वस्थ लोगों के अभाव में उनकी सारी खोजें रोग-अध्ययन पर आधारित हैं और एक स्वस्थ व्यक्ति नितान्त अलग होता है अस्वस्थ व्यक्ति से। फ्रायड का कभी सामना नहीं पड़ा स्वस्थ व्यक्तित्व से। पड़ता भी क्यों ? सही सलामत आदमी को क्या गरज पड़ी है वैद्य-डाक्टरों के पास जाने की। इसी कारण उसने समूचे व्यक्तित्व को मुख, गुदा, लिंग, काम प्रसुप्ति एवं जननांगीय अवस्थाओं में समेट दिया। यही हाल उस जैसे अनेकों का है। इनका विवेचन देखने से लगता है जैसे आदमी के जीवन में कामुकता के सिवाय और कुछ बचा ही नहीं लेकिन इस सिद्धान्त-रचना में उसकी गलती भी क्या है? यदि मानसिक रूप से बीमार न हो तो उसे मनःचिकित्सक के पास जाने की क्यों सूझेगी? यही कारण है, फ्रायड, एडलर, जैनेव इन सभी ने अपने सिद्धान्तों की इमारत बीमार मन की जमीन पर खड़ी की।

समग्रता के परिप्रेक्ष्य में देखने पर समूचा व्यक्तित्व परक अध्ययन तीन वर्गों में बँटा दीखता है। एक रोगात्मक, सारा पश्चिमी अध्ययन इसी खाँचे में समा जाता है। केवल अभी-अभी इधर कुछ सम्पूर्ण धारणाएँ मजबूती पकड़ती जा रही हैं, जो कि स्वस्थ व्यक्ति के बारे में सोचती हैं। लेकिन वे एकदम आरंभ पर ही हैं। पहले कदम भी नहीं उठाये गये। दूसरे प्रकार के अध्ययन वे जो स्वस्थ व्यक्ति के बारे में सोचते हैं। स्वस्थ मन पर आधारित हैं। ये हैं पूरब के मनोविज्ञान पर-बौद्ध, पतंजलि, झेन, सूफी-इन्होंने इस पर गहरी खोज की है। तरह-तरह की साधना-प्रणालियों का विकास यहाँ देखने को मिलता है। विकासमान व्यक्तित्व तमाम सारी अतीन्द्रिय क्षमताओं की चर्चा यहाँ सुनने को मिलती है। कुल मिलाकर इनकी मदद व्यक्तित्व विकास की पूर्णता पाने के लिए है।

फिर एक तीसरा प्रकार है, जिसे गुरजिएफ 'परम मनोविज्ञान' कहता है। इसकी दशा अविकसित है। इसमें विकास की पूर्णता पाये हुए व्यक्तित्वों का अध्ययन करने की चेष्टा है। श्री अरविंद की पुस्तक 'सीक्रेट ऑफ द वेद' में वैदिक ऋषियों के इन्हीं प्रयासों पर संकेत है। उनका खुद का भी थोड़ा-बहुत प्रयास है। ब्राह्मणत्व की साधना के चरम शिखर पर पहुँचने वाला कैसा होगा? यहीं पर उसकी एक झलक देखने को मिलती है।

स्वस्थ व्यक्तित्व की अगर बखूबी जाँच करें, उसकी विकास-यात्रा के आरंभिक बिंदु की ओर देखें तो वह

अवस्था है जड़ता की। एक तमस उनको घेरे रहता है। इस आवरण के कारण इनको न तो सोचने का मन करता है और न कुछ करने का। चिंतन और कर्म दोनों से विरति एकमात्र लक्षण है इनका। इसे तोड़ने, आगे बढ़ने का उपाय सिर्फ एक है-कठोर श्रम। श्रम का कुठार ही इस तमस की कारा को तोड़ने में सक्षम है। इस ओर प्रयत्न करने का मतलब है ब्राह्मणत्व की ओर उन्मुख होना।

श्रम होगा तो अर्जन होगा। फिर शुरुआत भले शरीर करे, देर-सबेर साथ तो मन को भी देना पड़ेगा। कर्म और चिंतन इन दोनों पैरों के बिना ब्राह्मणत्व की राह पर कैसे चला जा सकेगा। इस अर्जन की अवस्था में होता है रजस का जागरण। कामनाओं-इच्छाओं का उदय, अतृप्ति की जलन का अहसास। यह इसी अवस्था की देन है। अर्जन का सदुपयोग अपने लिए नहीं औरों के लिए हो। इस भावना का उभार धीरे-धीरे व्यक्तित्व को उस धरातल पर लाकर खड़ा कर देता है, जहाँ वह अनेक लोगों को संरक्षण देने लगता है।

मनुष्य में कर्म, चिंतन और भाव तीनों का ही विकास ठीक-ठीक हो सके, इसी का विज्ञान विधान गायत्री मंत्र है। इसे ऋषियों द्वारा अन्वेषित ऐसी वैज्ञानिक पद्धति के रूप में जाना जा सकता है-जिसका प्रयोग मानवीय व्यक्तित्व में अंतर्निहित समस्त शक्तियों को जगा सके और उसे पूर्णता दे सके। इस तरह ब्राह्मणत्व और गायत्री एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक की चाहत दूसरे का प्रयोग करने के लिए प्रेरित करती है। दूसरे का प्रयोग पहले की प्राप्ति कराता है।

आधुनिक युग में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने जीवन में इस गंभीर प्रयोग की सफल साधना की। निष्कर्ष में उन्होंने कहा- गायत्री की तुलना अमृत और कल्पवृक्ष से की गई है। इसके तत्त्वज्ञान के संपर्क में आकर मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को, बल और महत्त्व को, पक्ष और प्रयोजन को ठीक तरह समझ लेता है। इस आस्था के आधार पर विनिर्मित कार्य-पद्धति को दृढ़तापूर्वक अपनाये रहने पर वह ब्राह्मण बन जाता है भले ही लौकिक रूप में उसे सामान्य परिस्थितियों का जीवन जीना पड़े। ब्राह्मण की आस्थाएँ एवं विचारणाएँ इतने ऊँचे स्तर की होती हैं कि उनके निवास स्थान अंत:करण में अमृत का निर्झर झरने जैसा आनन्द हर घड़ी उपलब्ध होता रहता है।

गायत्री निस्संदेह पारसमणि है। जिसने उसे छुआ वह लोहे से सोना बन गया। गुण, कर्म और स्वभाव में महत्तम उत्कृष्टता उत्पन्न करना इसका प्रधान प्रतिफल है। जिसकी आंतरिक महानता विकसित होगी, उसकी बाह्य प्रतिभा का प्रखर होना नितांत स्वाभाविक है और प्रखर प्रतिभा जहाँ कहीं भी होगी, वहाँ सफलताएँ और समृद्धियाँ हाथ बाँधे सामने खड़ी दिखाई देंगी। लघु को महान बनाने की सामर्थ्य और किसी में नहीं केवल अंतरंग की महत्ता, गुण, कर्म और स्वभाव की उत्कृष्टता में है। गायत्री का तत्वचिंतन उसी को उगाता, बढ़ाता और सँवारता है। फलस्वरूप उसे पारस कहने में कोई आपत्ति नहीं। इसे पाकर अंतरंग ही हर्षोल्लास में निमग्न नहीं रहता, बहिरंग जीवन भी स्वर्ण जैसी आभा से दीप्तिमान रहता है। इतिहास का पन्ना-पन्ना इस प्रतिपादन से भरा पड़ा है कि इस तत्वज्ञान को अपनाकर कितने कलुषित और कुरूप लौह-खण्ड स्वर्ण जैसे बहुमूल्य, महान, अग्रणी एवं प्रकाशवान बनने में सफल हुए हैं।

कल्पना की ललक और लचक ही मानव जीवन का सबसे बड़ा आकर्षण है। कल्पनालोक में उड़ने-उड़ाने वाले ही कलाकार कहलाते हैं। सरसता नाम की जो अनुभूतियाँ हमें तरंगित, आकर्षित एवं उल्लसित करती रहती हैं, उनका निवास कल्पना क्षेत्र में ही है। भावनाओं में ही आनन्द का उद्गम है। आहार-निद्रा से लेकर इंद्रिय-तृप्ति तक की सामान्य शारीरिक क्रियाएँ भी मनोरम तब लगती हैं, जब उनके साथ सुव्यवस्थित भाव-कल्पना का तारतम्य जुड़ा हो अन्यथा वे नीरस और भाररूप क्रिया-कलाप बनकर रह जाती हैं। उच्च कल्पनाएँ अभावग्रस्त, असमर्थ जीवन में भी आशाएँ और उमंगें संचारित करती रहती हैं। संसार में जितना शरीर संपर्क से उत्पन्न सुख है उससे लाख-करोड़ गुना कल्पना, विचारणा एवं भावना पर अवलंबित है। इस दिव्य-संस्थान को सुव्यवस्थित करने और परिस्थितियों के साथ ठीक तरह तालमेल बिठा लेने की अद्भुत सामर्थ्य गायत्री के साधनात्मक प्रयोगों से मिलती है। इसीलिए उसे कल्प-वृक्ष कहते हैं।

पर गायत्री साधना के ये सभी लाभ जीवन में तभी मिलते हैं, जब लक्ष्य ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हो अन्यथा यह समर्थ महामंत्र भी सामान्य कर्मकाण्ड बनकर रह जाता है। एक बार पारस्परिक चर्चा में पूज्य गुरुदेव ने ब्राह्मणत्व को स्पष्ट करते हुए कहा था- "ब्राह्मण की सही माने में पूँजी तो विद्या और तप है-जो उसे गायत्री मंत्र की साधना से मिलती है। भौतिक सुविधाओं के मामले में तो उसे सर्वथा अपरिग्रही होना चाहिए।" फिर कुछ रुककर थोड़ा रोष व्यक्त करते हुए बोले- "खेद है आज अपरिग्रह को दरिद्रता समझ लिया गया, जबकि अपरिग्रह का मतलब है स्वयं पर विश्वास, समाज पर विश्वास और ईश्वर पर विश्वास और ब्राह्मण का जीवन इसका चरमादर्श है। जब मनुष्य का स्वयं पर, समाज पर और भगवान पर विश्वास उठ जाता है, तभी वह लालची होकर सुविधाएँ बटोरने लगता है।"

ऐसे विश्वासी और उदार व्यक्तित्व जिस काल में बहुसंख्यक थे, उस समय को धरती का सतयुग माना गया। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के बारहवें अध्याय के दसवें श्लोक में साफ उल्लेख है कि सतयुग में सिर्फ एक

वर्ण था, ब्राह्मण (हंस) तभी सतयुग का एक और नाम प्रचलित हुआ ब्राह्मण युग। इसका मतलब यह नहीं कि व्यक्तित्व की अन्य व्यवस्थाएँ नहीं थीं, बल्कि सभी लोग अपनी-अपनी अवस्था से इस ओर निष्ठापूर्वक बढ़ रहे थे और ब्राह्मणत्व की ओर जो निष्ठापूर्वक बढ़े सो ब्राह्मण। जिस तरह ब्रह्मचर्य का साधक ब्रह्मचारी कहलाता है, उसी तरह ब्राह्मणत्व का साधक भी ब्राह्मण की संज्ञा से विभूषित होता है। अपनी इसी निष्ठा की बदौलत धीवर कन्या के पुत्र व्यास, दासीपुत्र सत्यकाम जाबाल, ब्राह्मणत्व की चरमावस्था पा सके। आज के जमाने में भी कायस्थ घराने में जन्म लेने वाले श्री अरविंद स्वामी, विवेकानन्द, वैश्यकुल में जन्म लेने वाले गाँधी जैसे अनेक महापुरुष हैं, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व विकास की साधना द्वारा ब्राह्मणत्व उपलब्ध किया। विदेशों में यह नाम भले न प्रचलित हो पर इसका मतलब यह नहीं कि वहाँ ब्राह्मण नहीं हुए। सुकरात, थोरो, इमर्सन, आइन्सटीन सौ टंच खरे ब्राह्मण थे।

व्यक्तित्व विकास की यह साधना पूरी हुई, इसे कैसे पहचानें? इस पहेली को गीता ने अपने अठारहवें अध्याय के बयालीसवें श्लोक में सुलझाया है। इसके अनुसार अंतःकरण का निग्रह, आचरण एवं व्यवहार की परिष्कृत स्थिति सरल, आस्तिक, बुद्धि अपरिग्रह आदि ऐसे लक्षण हैं जिनसे इन्हें पहचाना जा सकता है। प्राचीन समय में ब्राह्मणों ने अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया भी। स्मृतियों की विविधता इसका प्रमाण है। जिसे देखकर हर्ष के समय आये चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इसे ब्राह्मणों का देश घोषित किया। आधुनिक युग में ब्राह्मणत्व विकसित करने की प्रेरणा देने वाले परमपूज्य गुरुदेव ने सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से इसे दो वर्गों में बाँट दिया- विचारक एवं प्रचारक। दूसरे शब्दों में कहें तो ब्राह्मण और साधु। असलियत में दोनों एक से हैं। विचारक इनकी वह स्थिति है जो नवविधान का निर्माण करती और सामयिक समस्याओं का समाधान खोजती है। प्रचारकवर्ग समाज को पुराने और अनुपयोगी विधान को छोड़ने और नव- विधान पर चलाने के लिए प्रतिबद्ध होता है। कमोबेश दोनों पर बराबर का दायित्व है।

इसी दायित्व के निर्वाह पर भावी समाज की स्थिरता, समृद्धि और सतयुग की सृष्टि टिकी हुई है। इसी कारण इन्हें सावधान करते हुए भागवतकार ग्यारहवें स्कन्द के बारहवें अध्याय के बयालीसवें श्लोक में कहते हैं-**ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते-** "ब्राह्मण का जीवन क्षुद्र कामनाओं के लिए नहीं है, जीवन और समाज के संरक्षण की जिम्मेदारी उसी की है।"

उनका ही आह्वान करते हुए परमपूज्य गुरुदेव के शब्द हैं "इस आड़े वक्त में संस्कृति ने ब्राह्मणत्व को पुकारा है। यदि वह कहीं जीवित हो तो आगे आये। जाति और देश में हम वर्ण का सम्बन्ध नहीं जोड़ते। ब्राह्मण हम उन्हें कहते हैं जिनके मन में आदर्शवादिता के लिए इतना दर्द मौजूद हो कि वह अपनी वासना-तृष्णा से बचाकर शक्तियों का एक अंश अध्यात्म की प्राणरक्षा के लिए लगा सकें। किसी भी वंश में पैदा क्यों न हुआ हो, पर जिनमें मानवीय आदर्शों की रक्षा में कुछ त्याग और बलिदान करने का शौर्य एवं साहस उठता है, वस्तुतः वही ब्राह्मण कहा जाने का अधिकारी है। उसी वर्ग ने समय-समय पर ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ प्रस्तुत की हैं।"

"आज तो ब्राह्मणबीज ही इस धरती पर से समाप्त हो गया है। मेरे बेटो! तुम्हें फिर से ब्राह्मणत्व को जगाना और उसकी गरिमा का बखान कर स्वयं जीवन में उसे उतारकर जन-जन को उसे अपनाने को प्रेरित करना होगा। यदि ब्राह्मण जाग गया तो सतयुग सुनिश्चित रूप से आकर रहेगा।" ये शब्द परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी अंतरंग गोष्ठी में अपनी वेदना व्यक्त करते हुए परिजनों के समक्ष कहे थे। आज जब मनुवादी-अम्बेडकरवादी संतानों में द्वंद्व छिड़ा है, तब यह अनिवार्य हो जाता है कि जन-जन को समझाया जाए कि हर वह व्यक्ति ब्राह्मण है, जिसने ब्राह्मणत्व के आदर्शों को जीवन में उतारा हो एवं जन्म से ही नहीं, कर्म से व्यक्ति ब्राह्मणत्व अर्जित करता है। इस दृष्टि से महात्मा गाँधी एवं संविधान का सृजन करने वाले श्री बाबा साहब अम्बेडकर दोनों ही ब्राह्मण थे, यह समझने व मानने में किसी को कोई संशय नहीं होगा। तब सभी को लगेगा कि परिभाषा समझे बिना एक निराधार वितंडावाद खड़ा कर दिया गया।

परमपूज्य गुरुदेव के जीवन के उत्तरार्द्ध की अवधि में ४ अप्रैल १९९० को प्रातः उनके द्वारा अभिव्यक्त कुछ विचारों को 'ब्राह्मणत्व' के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में कहने का मन है। वे ५-६ परिजनों की एक कार्यकर्त्ता गोष्ठी में बता रहे थे कि- "यह जो कलियुग दिखाई देता है, मानसिक गिरावट से आया है। मनुष्य की अधिक संग्रह करने की, संचय की वृत्ति ने ही वह स्थिति पैदा की है जिससे ब्राह्मणत्व समाप्त हो, प्रत्येक के अंदर का वह पशु जाग उठा है, जो उसे मानसिक विकृति की ओर ले जा रहा है। आवश्यकता से अधिक संग्रह मन में विक्षोभ, परिवार में कलह तथा समाज में विग्रह पैदा करता है। कलियुग मनोविकारों का युग है एवं ये मनोविकार तभी मिटेंगे जब ब्राह्मणत्व जागेगा।"

आगे ब्राह्मण की परिभाषा करते हुए पूज्यवर ने कहा कि-"ब्राह्मण सूर्य की तरह तेजस्वी होता है, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी चलता रहता है। वह कहीं रुकता नहीं, कभी आवेश में नहीं आता तथा लोभ, मोह पर सतत नियंत्रण रखता है। ब्राह्मण शब्द ब्रह्म से बना है तथा समाज का शीर्ष माना गया है। कभी यह शिखर पर था तो वैभव गौण व गुण प्रधान माने जाते थे। जलकुंभी की तरह छा जाने वाला यही ब्राह्मण सतयुग लाता था। आज की

परिस्थितियाँ इसलिए बिगड़ीं कि ब्राह्मणत्व लुप्त हो गया। भिखारी बनकर, अपने पास संग्रह करने की वृत्ति मन में रख उसने अपने को पदच्युत कर दिया है। उसी वर्ण को पुन: जिंदा करना होगा एवं वे लोकसेवी समुदाय में से ही उभर कर आयेंगे चाहे जन्म से वे किसी भी जाति के हों।''

न्यूनतम में निर्वाह व सारे अपने समाज को समर्पित करने की ललक जो एक ब्राह्मण में होती है, वह हम सब ने अपनी गुरुसत्ता के जीवन में देखी। मात्र दो जोड़ी खादी के धोती कुर्त्ता तथा हाथ में लिखने की एक दो रुपये लागत की कलम, यही उनकी जीवन भर की जमा पूँजी थी जो अंत तक उनके पास रही। ऐसे ही व्यक्ति औरों के लिए आदर्श बनते हैं।

वस्तुत: अपने लिए कठोरता, औरों के लिए उदारता यही ब्राह्मणत्व का चिह्न है- यह बार-बार पूज्यवर ने अपने आचरण से सबको सिखाया। आज तो प्रचलन कुछ उलटा ही है। राजनेताओं के बड़े-बड़े अधिवेशन होते हैं। उनमें भोजन, रहन-सहन की व्यवस्था से लेकर छुटभय्यों से लेकर बड़े सभी जब नखरे करते देखे जाते हैं तथा जनता की संपत्ति का खुलकर दुरुपयोग करते पाये जाते हैं तो लगता है कि जब तक जनमानस को इस सम्बन्ध में जागरूक नहीं बनाया जायगा कि हमारा शासक वर्ग सुधरेगा नहीं। न ही सतयुग का स्वप्न कभी पूरा होगा।

रसना पर नियंत्रण, कामुकता पर अंकुश, अपरिग्रह तथा अधिकाधिक का औरों के लिए वितरण- ये चार प्रमुख गुण ब्राह्मण के बताये गए हैं। सुसंस्कारी बनाने वाली विद्या का दान तथा गुण-कर्म-स्वभाव को सुधारने वाली विद्या का दान जो करे, वह है ब्राह्मण। आज की सारी समस्याओं का समाधान यही है कि हर व्यक्ति के अंदर सोया यह ब्राह्मणत्व किसी तरह जगा दिया जाय तथा इस प्रकार देवत्व से भरी पूरी धरित्री को स्वर्गोपम बनाया जाय। कैसे, कब यह हो सकेगा, यह सारा सूत्ररूप में मार्गदर्शन हमारी गुरुसत्ता हमें कर गयी है। हम पर निर्भर करता है कि हम सतत देखते रहें कि कितना हम उसका अनुपालन कर रहे हैं, कितना कर सकेंगे।

कई बार कुछ समृद्ध परिजन शांतिकुंज आते हैं विशेष रूप से भारत से बाहर से तो परम वंदनीया माताजी के अतिरिक्त अन्यान्य कार्यकर्त्ताओं के लिए भी कुछ गिफ्ट-खाने पीने की वस्तुएँ लेकर आ जाते हैं। पूज्यवर ने एक आदर्श आचार संहिता के नाते प्रत्येक से प्रवेश के समय एक ही बात कही थी कि- ''तुम सब यह मानकर चलना कि यह तुम्हारी ओढ़ी हुई गरीबी है। तुम्हारी इस गरीबी में ही तुम्हारी शान है। कभी किसी से भीख मत माँगना एवं जो भी कोई तुम्हें व्यक्तिगत रूप से दे, उसे अपना न मानकर माताजी को दे देना ताकि वह समष्टिगत रूप से बँट सके। जिस दिन तुम्हें दीन-हीन याचक माना जाने लगेगा, तुम पर भेंट तो न्योछावर होगी, घर जाकर भी तुम्हें तुम्हारे वाक्-कौशल से प्रभावित हो कोई न कोई कुछ दे जायगा पर बेटा उसी दिन से तुम्हारा ब्रह्मतेज समाप्त होने लगेगा। माताजी के दिए पैसे से तुम चने खाकर संतोष कर लेना, पर दूसरों के दिये बादाम मत खाना। जिस दिन इस स्तर का ब्राह्मणत्व तुम्हारे अंदर उतर गया, मानो एक लोकसेवी का सही मानों में उदय हो गया।''

उपर्युक्त पंक्तियाँ अभी भी हम सबके लिए प्रेरणा की स्रोत हैं। शांतिकुंज के कार्यकर्त्ता की प्रामाणिकता इसी पर टिकी है कि वह समाज का एक घटक है, उसी के लिए समर्पित है। जो मिल जाए उसी में संतोष, नहीं तो बिना असंतोष जताये, अपनी खीझ दिखाए अपनी व्यवस्था स्वयं करने का माद्दा है तो वह एक कुशल सुगढ़ लोकसेवी है। मात्र 'अखण्ड ज्योति' पाठकों के लिए ही नहीं, सभी परिजनों, स्थायी कार्यकर्त्ताओं-समयदानियों के निमित्त ये पंक्तियाँ हैं। हृदय सबको टटोलना होगा कि कौन गुरु के पद-चिह्नों पर चलते हुए कितना लड़खड़ाया, कितना चला व कहाँ पर आकर रुक गया।

इक्कीसवीं सदी बनाम सतयुग की घोषणा करने वाले पूज्यवर-हमारे गुरुदेव ने जहाँ सही अर्थों में निज के ब्राह्मण होने का प्रमाण अपनी विरासत में मिली जायदाद जो २००० बीघा से अधिक थी तथा परम वंदनीया माताजी से सभी जेवर बेचकर गायत्री तपोभूमि विनिर्मित करने के रूप में दिया, वहीं उनका बोया-काटा सिद्धान्त फलित होता चला गया। जितना उन्होंने समाज के खेत में बोया -अनगिनत गुना उन्हें मिलता चला गया। प्रेम दिया, तो अपार स्नेह मिला। बुद्धि समाज के लिए लगायी, तो सत्साहित्य से करोड़ों ने प्रेरणा पायी। अनगिनत ईर्षालु व्यक्तियों ने कहा कि यह अपने आपको ब्राह्मण क्यों कहते हैं- यह तो लकड़ी की राजगीरी का काम करने वाले बढ़ई हैं, ब्राह्मण नहीं। न जाने कहाँ-कहाँ, किन-किन रूपों में इसका प्रचार हुआ, पर उन्होंने एक ही बात कही कि चलो हमें बढ़ई ही मान लो, पर हमारे जीवन को जो पारदर्शी आइने की तरह है, देखकर कर्म से हमें ब्राह्मण मानते हुए स्वयं को खराद पर चढ़ाने की तैयारी कर लो। यदि जन-साधारण इस तथ्य से आश्वस्त न होता तो इस ब्राह्मण के पीछे करोड़ों समर्पित व्यक्तियों की सेना आज न होती। गायत्री ब्राह्मण की कामधेनु है, उस तथ्य का उन्होंने जीवन भर, हर क्षण मनन किया, उसे हृदयंगम किया व उसे अपनी करनी में उतारा-प्रतिफल गायत्री परिवार के रूप में देखा जा सकता है।

पिछले दिनों २६ अश्वमेध यज्ञ संपन्न हो चुके हैं। देव-संस्कृति दिग्विजय के इस पावन अभियान में, संभव है कुछ समीक्षकों को इस विराट परिवार के वैभव के भी दर्शन हुए हों। उन्हें लगा हो कि अपनी शक्ति का प्रदर्शन यह संस्था करना चाहती है। उनके लिए हमारे पास एक ही उत्तर है। सेवाधर्म का सदुपयोग जिस गुरुसत्ता ने अपने

शिष्यों को सिखाया है, उससे कहीं भी एक कदम पीछे हटकर काम न किया गया है, न किया जा सकेगा। यदि कोई कार्यकर्त्ता दुरुपयोग करता है तथा अपने गुरु की शान पर बट्टा लगाता है तो वह जनता के न्यायालय में खड़ा है। जनता न्याय करे एवं तथ्यों-प्रमाणों सहित उसका वास्तविक रूप सबके सामने प्रस्तुत करे, तभी तो हम गुरुसत्ता के क्रिया-कलापों के वास्तविक निर्वाहकर्त्ता कहलायेंगे। पूज्यवर ने अपनी इस संस्था के कानूनी रख-रखाव की व्यवस्था आदि को जितना प्रामाणिक स्तर का बनाया है, उसमें किसी को गुंजाइश ही नहीं है कि कोई पब्लिक ट्रस्ट जनता के धन के साथ कोई हेराफेरी कर सके। यही इस मिशन का मूल प्रमाण है।

परिजन स्वयं मूल्यांकन करें कि कितनी पुख्ता नींव लेकर यह मिशन खड़ा हुआ है। यहाँ बाह्य बड़प्पन का नहीं, आंतरिक महानता का अधिक महत्त्व है; दृश्य वैभव का नहीं सद्गुणों की संपत्ति-यज्ञीय जीवन जी कर देने की वृत्ति को अधिमान प्राप्त है। ऐसी स्थिति में सतयुग आने तक उस ब्राह्मण की छत्र-छाया में पलकर विकसित हुए वटवृक्ष की जड़ें कौन हिला सकता है?

## एक मनश्चिकित्सक के रूप में पूज्य आचार्यश्री

महायोगी का बहुआयामी व्यक्तित्व सागर में डूबी बर्फ शिला की भाँति होता है। सर्वसाधारण उसे देख और समझ ही कितना सकता है? कभी-कभी तो उसे यह भ्रम होने लगता है कि यह भारी-भरकम जहाज को चकना-चूर करने की क्षमता वाली विशालकाय चट्टान न होकर बर्फ का एक छोटा-सा टुकड़ा-सा भर है। किन्तु दोष भ्रमित बुद्धि का भी नहीं, वह अपनी सीमित दृष्टि के बूते जाने भी कितना? कुछ भी हो इनका शीतल स्पर्श अनेकों संतप्त जीवनों में नवप्राण तो भरता ही है। व्यथा, उद्वेग, विक्षोभ, चिन्ता, तनाव आदि न जाने कितने मनोविकारों से ग्रसित व्यक्ति उसके पास आकर मन:संतापों से छुटकारा पा स्वस्थ-सन्तुष्ट जीवन की ताजगी पहले से भी अधिक महसूस करते हैं।

उपनिषद् प्रसंग, वेद मीमांसा ग्रन्थों के रचनाकार मनीषी अनिर्वाण ने कहा था कि योगी मानव जाति का चिकित्सक होकर जीता है। चिकित्सक वही होगा न, जो मनुष्य प्रकृति का पूर्ण जानकार हो, उसकी संरचना व क्रिया-पद्धति में निष्णात हो। जिसे विकृति की क्रिया और उसके स्थान की भलीप्रकार जानकारी हो। इस सबके बिना तो 'नीम हकीम खतरे जान' वाली उक्ति ही चरितार्थ होगी। शरीर शास्त्री सिर्फ शारीरिक गतिविधियों की जानकारी भर रखते हैं। फिर उन्होंने यह भी भ्रम पाल रखा है कि मन भी शरीर का ही कोई टुकड़ा है। रही मनोचिकित्सकों की बात तो उनके अध्यवसाय से इनकार नहीं किया जा सकता, पर अपने अधूरेपन को वह स्वयं स्वीकारने लगा है। मन तो मानव चेतना का एक छोटा-सा हिस्सा भर है। समग्र की जानकारी प्रवीणता हासिल किए बगैर क्या उसके एक अंग को सुधारा जा सकता है।

'मेण्टल हेल्थ एण्ड हिन्दू साइकोलाजी' के लेखक स्वामी अखिलानन्द ने स्पष्ट किया है कि एक योगी ही सफलतम मनोचिकित्सक हो सकता है। क्योंकि वह मानव प्रकृति की सूक्ष्मताओं और विचित्रताओं से भिज्ञ होता है। लूबार्स्की ने एक सफल मनोचिकित्सक के व्यक्तित्व के गुणों की सन् १९५२ में अमेरिकन एसोशियेशन की एक मीटिंग में चर्चा करते हुए कहा- "मात्र मनोविज्ञान की विधियों तथा तकनीकों में प्रशिक्षण पाने वाले व्यक्ति मनोचिकित्सक नहीं हैं। अधिकतम उसे मनोवैज्ञानिक तकनीशियन भर कहा जा सकता है। अच्छे मनोचिकित्सक अधिक संवेदनशील तथा चिन्तन एवं निर्णय लेने में स्वतन्त्र होते हैं। वे व्यक्तियों से अधिक सम्मान पाते हैं व्यक्ति उन्हें पसन्द करते हैं"....। परमपूज्य गुरुदेव ऐसे ही मनोचिकित्सक थे। उनके इस रूप का परिचय, अनुभव यों दो-चार, दस, सौ, हजार नहीं, बल्कि लाखों को हुआ है। पर शायद वे उन्हें इस तरह न पहचान सके हों।

उन्होंने स्वयं इसे स्वीकारते हुए- 'हमारी वसीयत और विरासत' में एक स्थान पर लिखा है- "हमारे पास कितने ही रोते हुए उद्विग्न-विक्षिप्त आए हैं और हँसते हुए गए हैं।" यद्यपि उनके बहुमुखी जीवन को मनश्चिकित्सक के छोटे-से दायरे में तो किसी भी तरह नहीं समेटा जा सकता, किन्तु फिर भी उनके व्यक्तित्व का वह आयाम जिसने मार्गदर्शन दिया, जो लोगों से मिला, मिलने वालों की अन्तराल की गहराइयों मे घुसकर उसे सँवारा, निश्चित रूप से मनश्चिकित्सा वाला पक्ष उजागर करता है।

वैज्ञानिक मनोविज्ञान की कसौटी पर उनके इस काम को परखें तो परिणाम को देखकर एक सुखद आश्चर्य की अनुभूति हुए बिना न रहेगी। एरिकफ्राम ने आज के युग को मन:सन्ताप के युग के रूप में स्वीकारा है। आज के व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन की दशाओं को देखने पर उसकी यह बात सौ टंच खरी दिखाई देती है। मनोरोग कितने होते हैं इसकी पूरी गणना के बारे में विशेषज्ञ अभी एकमत नहीं हो पाए। हाँ शैफर और लॉजरस जैसों ने इन सबको तीन हिस्सों में बाँट दिया है- मनोस्नायु विकृतियाँ, मनोविकृतियाँ और व्यक्तित्व विकार। पहले में चिन्ता, तनाव, अति संवेदनशीलता भय, आदि आते हैं, दूसरे में हिस्टीरिया, भय, उद्विग्नता आदि की गणना होती है। इसे सरल ढंग से समझाते हुए पूज्य गुरुदेव ने लिखा है कि मनोरोगी अपनी दब्बू या आक्रामक प्रकृति के अनुसार घुटन या उन्माद में जीता है। इन्हीं दोनों की अन्तर्क्रिया व्यक्तित्व की अनेकानेक गड़बड़ियों के रूप में सामने आती हैं।

मनोरोग होते क्यों हैं? इसका कारण मनोवैज्ञानिक कितना स्पष्ट कर पाए यह तो विवाद का विषय है, पर आचार्यश्री स्वयं एक स्थान पर अवश्य लिखते हैं कि मनोरोग और कुछ नहीं कुचली, मसली, रौंदी गई भावनाएँ हैं। इनकी यह दशा हमारे अपने अथवा परिवेश के दूषित चिन्तन के कारण होती है। 'सतयुग की वापसी' पुस्तक में वह कहते हैं ''विकृतियाँ दिखती भर ऊपर हैं। इनकी जड़ें गहराई में कुसंस्कारिता के रूप में छिपी हैं। भावनाओं की यह टूट-फूट कब और कैसे हुई? इसके भेद के अनुसार मनोरोग के अनेकों भेद हो जाते हैं।''

जहाँ तक इनके ठीक करने का सवाल है, संसार भर के क्लीनिकल साइकोलाजिस्ट चार विधियाँ सुझाते हैं। रेचन, सुझाव, प्रत्यायन और पुनर्शिक्षा। बाकी प्रणालियाँ किसी न किसी तरह इनकी सहायता की हैं। इनमें से कोई एक विधि का प्रयोग करता है, कोई दूसरी । उन्होंने इनमें से सभी विधियों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया । रेचन- अर्थात् किसी के अन्दर दमित भावों को उगलवाना कोई सरल काम नहीं। मनोचिकित्सकों को इस हेतु सम्मोहन जैसी कितनी ही विधियों का प्रयोग करना पड़ता है, पर उनके सम्मोहक व्यक्तित्व के सामने आकर उनके विश्वास से अनुप्राणित होकर वह सारा हाल कह देते थे, जिसे उन्होंने अभी तक अपनी पत्नी-पति, पिता जैसे घनिष्ठतम सम्बंधियों से छुपाये रखा।

इसके बाद वह आने वालों के जीवन के लिए हितकारी सुझाव देते। अब इस स्थिति में क्या करना है? न केवल इसका ब्यौरा बताते, बल्कि आगे सहायता करने का वचन देते। उनके सुझाव में सिर्फ मनोरोग का शमन ही नहीं, अपितु उच्चतर जीवन के लिए पर्याप्त मार्गदर्शन भी होता। यों उनके सामने आकर हर कोई अपने दिल का हाल खुशी-खुशी बखान देता। फिर भी ऐसे नये लोग भी होते, जिन्हें पहली बार आने के कारण झिझक होना स्वाभाविक था। उनके रेचन के लिए उन्हें वह विधि प्रयोग करनी पड़ती, जिसके लिए श्री माँ ने मातृवाणी में कहा है कि ''मैं सामने खड़े व्यक्ति की आँखों से उतर कर उसकी समग्र सत्ता की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातें पकड़ लेती हूँ।'' इस सक्षम विधि से वे सारी बातों को जान हँसते-हँसाते ऐसी बातें सुना देतीं, जो न केवल चिकित्सा रूप होतीं बल्कि व्यक्ति उनको अपना मान बैठता।

मनोवेत्ताओं ने मनश्चिकित्सा को दो वर्गों में बाँटा है। पहली वैयक्तिक, दूसरी सामूहिक। वैयक्तिक में रोग की तीव्रता होती है। ये सब विकट उन्माद या घुटन में जकड़े होते हैं। सामूहिक चिकित्सा में उन लोगों की गणना की जा सकती है जिन्हें चिन्ता, अनिद्रा, स्नायविक दौर्बल्य जैसी व्याधियाँ होती हैं। आध्यात्मिक सैनीटोरियम के रूप में विकसित शांतिकुंज में प्रारम्भ के दिनों से अब तक के शिविरों का विश्लेषण इस सन्दर्भ में किया जाए तो उपलब्धियाँ चमत्कृत कर देने वाली होंगी। प्राण-प्रत्यावर्तन, अनुदान, जीवन-साधना, कल्प साधना जैसे शिविरों में अपनी बीती बातों को उन्हें लिखकर देना, साधनात्मक उपचार, औषधिकल्प जैसी विधाओं से व्यक्तियों के जीवन में अकल्पनीय परिवर्तन घटित हुआ।

उनके द्वारा आरंभ की गयी सामूहिक मनोचिकित्सा का एक और सशक्त पक्ष है 'गायत्री मंत्र' 'ऑकल्ट साइकोलाजी ऑफ हिन्दूज' में एन. शुभनारायनन ने वैयक्तिक एवं सामूहिक मनोचिकित्सा की उत्तम विधा के रूप में इसे स्वीकारा है। संक्षेप में इसे व्यक्तित्व समायोजन की उन्नत विधि के रूप में माना गया है। इसका जप अपने आप में पूर्ण प्रयोग है। जिसका यथाविधि पालन करने पर शब्द शक्ति का शरीर पर पड़ने वाला प्रभाव, जप की लय के द्वारा प्राण का परिमार्जन और एकाग्रतापूर्ण चिन्तन के द्वारा अचेतन का रूपान्तरण घटित होता है। इतना ही नहीं इन तीनों का समायोजन सत्ता के उस मूलभूत केन्द्र के आस-पास होता है जिसे कार्लगुस्ताव युंग ने अपनी भाषा में 'सेन्टर' कह कर सम्बोधित किया है। इसमें प्रयोगकर्ता साधक का चेतन मन एकाग्र और हलचल रहित होने से सम्प्रेषित किए जा रहे मंत्र के दिव्य भाव उस स्तर का पुनर्गठन करने लगते हैं, जिसे मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य में बालक बर्बर, वासनाओं का पिटारा कहा है। यह अपने आप में मनश्चिकित्सा क्षेत्र की अभूतपूर्व उपलब्धि है।

पूज्य गुरुदेव की भूमिका महज एक मनोचिकित्साभर की नहीं रही। बल्कि उन्होंने सैद्धान्तिक व प्रायोगिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी अद्‌भुत काम किया है। इस सम्बन्ध में यदि उन्हें भारतीय मनोविज्ञान का पुनरुज्जीवन करने वाला कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यद्यपि डा. यदुनाथ सिन्हा की 'इण्डियन साइकोलाजी' स्वामी अखिलानन्द की 'हिन्दू साइकोलाजी' आदि गिने-चुने ग्रन्थों में भारतीय ऋषि-चिन्तन में यत्र-तत्र बिखरे मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का सुन्दर संकलन किया गया है। इन मनीषियों का कार्य प्रशंसनीय होते हुए भी प्रायोगिक कसौटी पर न कसे जाने के कारण अधूरा ही कहा जाएगा।

सिद्धान्तों को प्रयोग की कसौटी पर सिद्ध करने के लिए उन्होंने ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की संस्थापना की। ताकि शांतिकुंज के आध्यात्मिक सैनीटोरियम में व्यक्तित्व की अनगढ़ता को उचित मार्गदर्शन में सँवार रहे व्यक्तियों का आधुनिक विधियों से सूक्ष्म व व्यापक परीक्षण किया जा सके। वैज्ञानिक कसौटी पर कसी जा रही इस पद्धति को उन्होंने दो विधाओं का एकीकरण कर पूर्णता दी। साइकियाट्रिस्ट सामान्यतया कुछ गिनी-चुनी औषधियों पर

निर्भर रहते हैं और साइकोलाजिस्ट कुछ तकनीकों पर। इन औषधियों का स्नायु-संस्थान पर कितना खराब असर पड़ता है इसे कोई भी डेबिड जान इंग्लेबी द्वारा संपादित कृति 'क्रिटीकल साइकियाट्री' पढ़कर जान सकता है और मनोवैज्ञानिक भी अपनी तकनीकों का अधूरापन उस समय अनुभव करने लगते हैं जब रोग तीव्र होता है। पूज्य गुरुदेव ऋषिप्रणीत आयुर्वेद की प्रभावकारी औषधियों एवं उपनिषद् योग आदि शास्त्रों में वर्णित विभिन्न तकनीकों का एकीकरण कर मनश्चिकित्सा की ऐसी समग्र पद्धति तैयार कर गए, जो भावी मनश्चिकित्सकों के लिए आधारभूमि प्रस्तुत करेगी।

सैद्धान्तिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में उनकी गवेषणाओं का विस्तार कर पाना तो यहाँ सम्भव नहीं। फिर भी मानव की मूल प्रवृत्ति के रूप में व्यक्तित्व के सन्दर्भ में उनकी अवधारणा का स्पष्टीकरण करने से काफी कुछ झलक मिल जाती है। उन्होंने फ्रायडवादियों की कामुकता के स्थान पर महानता, उल्लास और सहकारिता को मूल प्रवृत्तियों को प्रमाणित कर एक नया सोपान रचा। इसी प्रकार व्यक्तित्व के केन्द्रों की जगह तीन वर्ग किए- सामान्य, असामान्य और अतिसामान्य । पहले में औसत व्यक्ति, दूसरे में मनोरोगी, तीसरे में महामानवों को रखा। इसके पहले मनोरोगियों एवं महामानवों दोनों को असामान्य करार करने की प्रथा थी। साथ ही व्यक्तित्व को पर्सोना अर्थात् मुखौटा के स्थान पर गुणों के समुच्चय के रूप में मान्यता दी।

इसी तरह उनकी अनेकों मौलिक गवेषणाएँ हैं, जो मनोवैज्ञानिक चिन्तन को एक नई दिशा सुझाने वाली हैं। इनका निकट भविष्य में उसी तरह प्रकटीकरण होगा जैसे मनश्चिकित्सक ए. एस. दलाल ने 'लिविंग विद इन' व मनोवैज्ञानिक डॉ. इन्द्रसेन ने 'इन्ट्रीगल साइकोलाजी' में श्री अरविन्द के चिन्तन में व्याप्त मनश्चिकित्सा व सैद्धान्तिक मनोविज्ञान के तत्त्वों को भलीप्रकार स्पष्ट किया। इनसे भी कहीं अधिक व्यापक और शोधपरक संकलन अगले दिनों जिज्ञासुओं के समक्ष आएगा। जो अपनी उपादेयता मनोविज्ञान के नूतन आयाम के रूप में प्रस्तुत करने के साथ पूज्य गुरुदेव का परिचय मनोविज्ञान के दिशादर्शक के रूप में देने में समर्थ होगा।

## साधनासूत्रों का सरलीकरण करने वाली युग-ऋषि की दिव्यसत्ता

एक ऋषि का आध्यात्मिक जीवन कैसा होना चाहिए, इसकी जीती-जागती मिसाल संस्कृति पुरुष पूज्य गुरुदेव का जीवन है। संस्कृति चिंतन के विशेषांकों की शृंखला में हम उनके इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य के द्रष्टा एक ब्राह्मण तथा तीर्थचेतना के उन्नायक के रूप में देव संस्कृति को समर्पित एक साधक के रूप में उनके जीवन व कर्तृत्व सम्बन्धी विभिन्न पक्षों पर विस्तार से विवेचन कर चुके हैं। युगऋषि के रूप में मानवमात्र को ऊँचा उठाने की आकांक्षा लेकर अवतरित हुए परमपूज्य गुरुदेव के जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। ऋषि वह जो काल व परम्पराओं से न बँधे। ऋषि वह जो साधना पद्धति से लेकर समाज-व्यवस्था में युगानुकूल नूतन निर्धारण कर डाले व एक विराट समुदाय को उनका पालन करने को विवश कर दे। ऋषि वह जो आत्मसत्ता रूपी प्रयोगशाला में गहन अनुसंधान कर मानवमात्र के लिए चेतना जगत सम्बन्धी कुछ ऐसे सूत्र दे, जिनसे तत्कालीन समाज की मनः-स्थिति चमत्कारी ढंग से बदलती देखी जा सके।

'ऋषि' शब्द 'ऋ' से बना है। 'ऋ' का अर्थ है 'गति' जो गतिशील परमार्थ की ओर अग्रसर होता हो, वह ऋषि। जो निर्मल बुद्धि सम्पन्न मंत्र रहस्य द्रष्टा पुरुष हो, वह है ऋषि। जो नरकीटक-नरपामर स्तर के क्षुद्र से प्रतीत होने वाले जनसमुदाय की लौकिक आकांक्षाओं का परिष्कार कर उन्हें उच्चस्तरीय परमार्थ-प्रयोजन में निरत कर दे, वह है ऋषि । लगभग यही आदिकालीन ऋषियों जैसा स्वरूप हम अपने गुरुदेव के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व में पाते हैं।

अंतरंग क्षणों का एक प्रसंग है। ब्रह्मवर्चस के कुछ कार्यकर्त्ता शोध प्रसंग संबंधी चर्चा हेतु उनके पास बैठे थे। चर्चा चित्तवृत्तियों के निरोध की तथा तन्मात्राओं की साधना की चल रही थी। साधना का प्रसंग चलने पर लौकिक जीवन में कभी भी गहराई तक उसका विवेचन न करने वाले परमपूज्य गुरुदेव ने उस चर्चा के दौरान गुह्य प्रसंगों पर पड़े आवरण को हटा दिया। विगत हजारों वर्षों से चली आ रही साधना-पद्धतियों की एक समीक्षा कर उन्होंने प्रायः डेढ़ घण्टे तक ध्यान-प्राणायाम से लेकर पंच-तन्मात्राओं की साधना तथा सूर्य के ध्यान की फलश्रुतियों से लेकर अष्टांग योग के विभिन्न सूत्रों को विस्तार से समझाया । फिर अचानक चुप होकर लेट गए व बोले कि – ''अभी वातावरण बनना है तब तुम लोग यह सब साधनाएँ करना। सूर्य का ध्यान व गायत्री जप, नित्य शक्तिसंचार हेतु प्राणायाम, बस इतना भर तुम करते रहो व सबको बताते रहो। समय आने पर ग्रन्थिवेधन से लेकर चक्रजागरण, पंचकोषी साधना से लेकर कुण्डलिनी जागरण आदि पहले बतायी गयी मेरी समस्त साधनाएँ तुम्हारे लिए सरल होती चली जायेंगी। वैसे मैं यह सब लिखकर जा रहा हूँ, सारी-साधना पद्धतियों को मैंने समय के अनुसार बदलकर लिख दिया है, किन्तु लोग इन्हें कर तभी पायेंगे जब सूक्ष्म जगत की ऋषि-सत्ताएँ ऐसा चाहेंगी।''

जो करना-नहीं था, वह बताया क्यों व कभी भी इस सम्बन्ध में चर्चा चलने पर समाज सेवा, विराटब्रह्म की साधना का माहात्म्य समझाने वाले परमपूज्य गुरुदेव ने वह रूप क्यों दिखाया, यह किसी के मन में भी असमंजस हो सकता है। वस्तुतः लीलापुरुषों के जीवनक्रम बड़े अद्भुत होते हैं। परमपूज्य गुरुदेव का जीवन तो बहुआयामी व्यक्तित्व लिए था। एक साधारण प्यार बाँटने वाले पिता से लेकर समाज की पीड़ा मन में लिए उसके उद्धार को कृतसंकल्प एक सुधारक स्तर के मनीषी, जीवन-विधा के अंतरंग पहलुओं को खोलने वाले मनःविश्लेषक से लेकर कुशल संगठनकर्त्ता वाले स्वरूप को हमने देखा है। किन्तु चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महापुरश्चरण कठोर तप-तितिक्षा द्वारा सम्पन्न कर जिसने अपना जीवनक्रम आरंभ किया हो, उसके लिए तो मूलतः एक विराट समुदाय के लिए साधना-पद्धतियों के विभिन्न सूत्रों, खोई कड़ियों को ढूँढ़कर गूँथना एक सबसे जरूरी काम था। वह उन्होंने किया। जब तक उस स्तर की पात्रता न बने एक ऐसी युग-साधना में उन्होंने अपने सहचरों को-अनुयायियों को नियोजित कर दिया, जिससे उनका अचेतन, जन्म-जन्मान्तर से संचित प्रारब्धों की शृंखला का क्रम परिष्कृत-व्यवस्थित होता चले। इतना बन पड़ने पर पवित्र मन वालों का समष्टिगत आधार विकसित होगा, तो चेतना जगत में इनकी सामूहिकसाधना निश्चित ही व्यापक परिवर्तन लाएगी, ऐसा उनका विश्वास था। प्रज्ञा-पुरश्चरण प्रातः काल का सामूहिक तीन शरीरों का महाकाल के घोंसले के रूप में शांतिकुंज को मानते हुए नित्य वहाँ पहुँचने की ध्यान-धारणा, स्वर्णजयन्ती साधना, शक्तिसंचार साधनादि उपक्रम उसी कड़ी के अंग हैं।

इतिहास के पृष्ठों पर एक दृष्टि डालें तो पाते हैं कि कभी साधना-उपक्रमों का स्वरूप ऐसा था कि सभी अपने योग्य साधनाएँ उचित मार्गदर्शक को माध्यम बनाकर सम्पन्न कर लिया करते थे। वैदिक युग की इस व्यवस्था में नर-नारी, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ-संन्यासी सभी अपने-अपने लिए साधना-उपक्रम चुनकर देवोपम जीवन जीते थे। कालान्तर में विभिन्न साधना-पद्धतियों को उनके प्रणेताओं ने जन्म दिया। सबका उद्देश्य एक ही रहा है मुक्ति, कैवल्य, विदेह मुक्ति, फुलफिलमेण्ट या सेल्फएक्चुअलाइजेशन। चाहे वेदान्तिक हों, यौगिक हों अथवा तांत्रिक, गीता के परम भाव के रूप में परमसत्ता के भावातीत रूप को समझाना ही साधना-पद्धतियों का लक्ष्य रहा है। व्यावहारिक जीवन में साधक के व्यक्तित्व के संपूर्ण घटकों में परिपूर्णता को लाना-बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक एवं कलात्मक हर पहलू को परिष्कृत करना, एक सर्वांगपूर्ण मानव को अव्यवस्था से व्यवस्था में बदलकर विनिर्मित करना ही हर साधना-पद्धति का उद्देश्य रहा है।

इतिहास के पृष्ठों पर निगाह डालने पर पाते हैं जिन दिनों शक-हूणों के आक्रमण इस धरती पर हो रहे थे, हमारी धरती पर वज्रयानियों की साधनाओं का आतंक था। हठयोग के माध्यम से सिद्धियाँ प्राप्त करके वे उनका जन-जन में प्रदर्शन करते थे। तंत्रयोग के इस विकृत स्वरूप ने नारी-शक्ति के गौरव को अतिक्षीण कर दिया था, क्योंकि उसका दुरुपयोग तांत्रिकों द्वारा वज्रोली प्रक्रिया द्वारा निज की भौतिक शक्ति-वर्चस उपार्जन हेतु किया जाने लगा था। शवसाधना से लेकर अघोरी स्तर की अन्यान्य साधनाओं ने अध्यात्म तंत्र को विकृत कर दिया था। तब गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य अंगन वज्र आगे आए, जो बाद में गोरक्षनाथ कहलाये। उन्होंने इस सारे अनाचार का विरोध कर नाथ सम्प्रदाय की योग-साधना पद्धति का सुनियोजित निर्धारण किया। साधना द्वारा परमतत्व की प्राप्ति का मार्ग बताकर योगसाधकों को योगामृत संजीवनी प्रदान की। नाथसिद्धों की वाणियाँ सीधे-सरल शब्दों में लिखी गयीं व उनसे इस साधना के परिष्कृत रूप के जन्म लेने में मदद मिली। घेरण्ड संहिता व गोरक्ष संहिता आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ इसी समय के हैं।

मंत्रयोग, भक्तियोग, राजयोग, क्रियायोग, शब्द-पूर्वयोग, आस्पर्शयोग (गौड़पाद), लययोग, ऋजुयोग इत्यादि नामों से न जाने कितनी योग-पद्धतियाँ हमारे अध्यात्म में प्रचलित रही हैं। बुद्ध के जन्म के प्रायः पाँच सौ वर्ष बाद आद्य शंकराचार्य का जन्म हमारे देश के इतिहास की एक और विलक्षण घटना है। इस साधक ने अल्पायु में ही आत्म-ज्ञान प्राप्त कर पूरे राष्ट्र की दिग्विजय यात्रा की। बौद्धों के समय में जो अध्यात्म तंत्र में भ्रष्टता छा गयी थी, तंत्र के नाम पर भ्रष्टाचरण ही एक नियम बन गया था, उस समय आद्यशंकर ने इस साधना का अपने सशक्त प्रतिपादनों द्वारा खण्डन किया। स्वयं उन्होंने जीवन में तंत्र से लेकर अन्यान्य सभी साधनाएँ कीं, सौन्दर्यलहरी जैसा अभिनव विलक्षण काव्य रचा, किन्तु जन-जन के लिए निराकार उपासना के साथ-साथ पंचदेव उपासना का प्रचलन किया। उनका आगमन व मात्र ३२ वर्ष की आयु में कार्य कर सारी महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ कर जाना हमारी संस्कृति की एक ऐतिहासिक घटना है।

आद्यशंकर के पश्चात मध्यकाल का विकृति युग आया। मार्गदर्शक के अभाव में ढेरों प्रकार की साधना पद्धतियाँ प्रचलित हो गयीं। इस्लाम संप्रदाय आया तो ईसाई सम्प्रदाय भी अपना रहस्यवाद सिद्धान्त लेकर आया। रीतिकाल में भक्तियोग का वर्चस्व रहा। इस सदी के प्रारंभ से कुछ दशक पूर्व रामकृष्ण परमहंस का इस धरती पर अवतरण हुआ, जिनने विवेकानन्द जैसे सुयोग्य शिष्य के माध्यम से अध्यात्म तंत्र के परिशोधन तथा पूरे विश्व के मार्गदर्शन की बात कही। स्वयं विवेकानन्द निर्विकल्प समाधि चाहते थे किन्तु श्री रामकृष्ण ने उन्हें ऐसी स्थिति में जाकर समाज के लिए अनुपयोगी होने के बजाय

साधना का परमार्थ में, आराधना में नियोजन करने की बात कही। इस सदी के प्रारंभ तक रामकृष्ण मिशन के वेदान्तिक प्रतिपादनों से लेकर महर्षिरमण व महर्षि अरविन्द व श्री माँ के भागवत चेतना अवतरण से लेकर अधिमानस व अतिमानस के अवतरण के प्रसंगों का साहित्य व जन- प्रचलन में बाहुल्य हम देखते हैं। साथ ही विदेश व भारत में श्री कृष्ण भक्ति के माध्यम से प्रभुपाद स्वामी का हरे कृष्ण (इस्कॉन) सम्प्रदाय, महर्षि महेशयोगी का भावातीत ध्यान तथा ओशो रजनीश का नवसंन्यास व प्रचलन से हटकर एक अलग ढंग की एण्टी थीसिस साधना पद्धति में जन्म लेती दिखाई पड़ती है।

इन सबके बीच चौथे दशक के अंत में 'मैं क्या हूँ' नामक आत्मोपनिषद से आरंभ कर गायत्री महाविद्या के छोटे-छोटे सूत्रों का उद्घाटन करने वाले, गायत्री व यज्ञ को जीवन-व्यवहार में हर किसी के द्वारा अपनाये जाने का प्रतिपादन करने वाले परमपूज्य गुरुदेव का आविर्भाव हुआ। देखते-देखते 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका का गायत्री चर्चा प्रसंग ऐसा विस्तृत होता चला गया कि उसने योग व तंत्र के सारे विशिष्ट पहलुओं को आत्मसात कर जन-जन के लिए सुलभ बना दिया। १००८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ द्वारा एक विशाल गायत्री परिवार का संगठन करने वाले परमपूज्य गुरुदेव ने बिना अधिक स्वयं को प्रकाश में लाए, वर्ष की उच्चस्तरीय तांत्रिक स्तर की साधना हिमालय में पुनः १९६०-६१ में की (जो उनकी चौबीस लक्ष की चौबीस महापुरश्चरणों के बाद की साधना है) तथा तुरंत आते ही युगनिर्माण योजना को जन्म देकर जन-जन को पंचकोषी साधना द्वारा साधनापथ पर एक ऊँचे सोपान पर चल पड़ने को प्रेरित किया। सामान्यतया नारी-शक्ति से तप के स्थान पर भाव-प्रधान अपेक्षाएँ की जाती रही हैं, किन्तु युगऋषि ने एक विराट नारी समुदाय को भी इस कठोर साधना का भागीदार बनाया, पंचकोशी साधना हेतु सुनियोजित पाठ्यक्रम चलाया, सूर्य की साधना सबके द्वारा इन प्रतिकूल परिस्थितियों में किए जाने की महत्ता प्रतिपादित की तथा महाकाल की युगप्रत्यावर्तन क्रिया का उद्घाटन करते हुए कठिन से कठिन साधनाओं को सरल रूप देते हुए एक विशाल समुदाय को गायत्री-सावित्री महाशक्ति की साधना से जोड़ दिया।

हम संभवतः अपनी गुरुसत्ता के साधना क्षेत्र की उपलब्धियों का विश्लेषण कर उनकी युगऋषि के रूप में अपरिमित उपलब्धियों के विषय में पूरा न्याय न कर पाएँ, किन्तु इतना अवश्य बताना चाहेंगे कि जो साधना-पद्धतियाँ कभी भिन्न-भिन्न समूहों में बँटकर कुछ पंथों तक सीमित रह गयी थीं, उन्हें जन-साधारण के नित्यक्रम का एक अंग बना देना, षटचक्र जागरण, कुण्डलिनी जागरण, ग्रन्थि-भेदन जैसी प्रक्रियाओं को अतिसरल रूप में एक गायत्री साधना रूपी वटवृक्ष के नीचे लाकर खड़ा कर प्रतिपादित कर देना एक ऋषि स्तर के व्यक्ति का काम है। चौथी बार की हिमालय-यात्रा (१९७१-१९७२) के बाद आने पर प्राण-प्रत्यावर्तन साधना के द्वारा प्राण का महाप्राण के साथ आदान-प्रदान जैसी प्रक्रिया आरंभ करना जिसमें खेचरी मुद्रा, सोऽहम् साधना, ज्योति अवतरण की बिन्दु साधना, नादयोग की साधना, आत्मबोध-तत्वबोध की दर्पण साधना, पंचकोशों की पंचदेव सिद्धि आदि उपचारों का समावेश था, जो एक विलक्षण स्थापना है। उस पर भी परमपूज्य गुरुदेव यह कहते थे कि- "यह तो मात्र खिलौने-झुनझुने मैंने पकड़ा दिये हैं। समय आने पर एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों से इनसे भी कठोर स्तर की साधनाएँ सूक्ष्म शरीर से कराते हुए उन्हें नवयुग का आधार, आत्मबल संपन्न महामानव मुझे बनाना है।" जो कभी अति कठोर, दुर्लभ समझी जाने वाली साधनाएँ थीं, उन्हें उन्होंने इतना सरल कर दिया तथा उपाधि दी झुनझुनों की। कहीं ऐसा वर्णन साधना-पद्धतियों का साधना के इतिहास में नहीं मिलता जिसका प्रणयन परमपूज्य गुरुदेव ने किया, यहीं उनका ऋषिपक्ष उद्घाटित होता है। जो नये सूत्र चेतना जगत के क्षेत्र को दे, वह युगऋषि नहीं तो और क्या है?

प्राण-प्रत्यावर्त्तन के उपरान्त स्वर्ण जयंती साधना (१९७६) विशिष्ट ब्रह्मवर्चस साधना (१९७७-७८), युग सन्धि महापुरश्चरण (१९८०), आध्यात्मिक कायाकल्प की चांद्रायण स्तर की कल्प-साधना (१९८१-८२), अति प्रचण्ड सूक्ष्मीकरण साधना (१९८४-८५), पंचवीरभद्रों के जागरण की सावित्री साधना (१९८६) तथा राष्ट्र की देवात्म-शक्ति का कुण्डलिनी जागरण (१९८७) क्रमशः चले आने वाले वे विशिष्ट उपादान हैं, जिनसे अतिकठिन शास्त्रोक्त साधना-पद्धतियों को अति सरल बनाकर यज्ञ-प्रक्रिया में आमूल-चूल परिवर्तन कर उसे प्रगतिशील मोड़ देना एक असाधारण साधक स्तर के युगऋषि का ही कार्य हो सकता है।

एक असमंजस सबके मन में हो सकता है कि अब जब गुरुदेव की स्थूल उपस्थिति हमारे बीच नहीं है, तो हमारा क्या होगा? तो हम सबको बताना चाहेंगे एक वार्त्तालाप के बारे में जो कभी उनके साथ हुआ था। उनसे यह पूछा जाने पर कि- "गुरुदेव जब हम आपके सामने नहीं होते, कहीं दूर कार्यक्षेत्र में काम कर रहे होते हैं अथवा अपने-अपने घरों में सो रहे होते हैं, तब भी आपको हमारा ध्यान रहता है?" उन्होंने आँख में आँसू लाकर कहा था- "बेटा! जब तुम सोते हो या मेरा-गायत्री माता का ध्यान करते हो तब मैं तुम्हारी चेतना में प्रवेश कर तुम्हें सुधारता हूँ। तुम्हारी चेतना के कण-कण को बदलता हूँ। शरीर से न रहने पर तो यह काम और अधिक व्यापक क्षेत्र में करूँगा, क्योंकि मुझे एक करोड़

साधक तैयार करने हैं। मुझे अपने एक-एक शिष्य व जाग्रतात्मा का ध्यान है।'' यह आश्वासन है इस दैवीसत्ता का। यदि हम साधना द्वारा उनसे जुड़े रहें, उनकी दैवीसत्ता को सूर्यमण्डल के मध्य स्थितमान ध्यान करें तो पायेंगे कि पवित्रता सतत बढ़ रही है व शक्ति की निरन्तर वर्षा हो रही है। जब तक अंतिम आदमी उनसे जुड़ा मुक्त नहीं हो जाता, उनकी सत्ता सक्रिय है युगऋषि के रूप में। कृतसंकल्प है हमें बदलने को तथा सतयुग लाने को। फिर मन में कैसा असमंजस, कैसा ऊहापोह?

## उज्ज्वल भविष्य लाने को तत्पर, संस्कृतिपुरुष की कालजयी सत्ता

''भगवान तीनों पर नाराज होते हैं- अन्याय करने वाले, अन्याय सहन करने वाले तथा उस पर भी जो सब समझते हुए भी दूर से देखता रहता है, प्रतिरोध का प्रयास नहीं करता। बिगड़ते को बिगड़ने देना, यह मूकदर्शकों का, गैरजिम्मेदारों का काम है। भगवान ऐसा नहीं है। लोग भले ही बिगाड़ करते हों पर भगवान अन्ततः सबको सँभाल लेते हैं। बूढ़ा होने पर शरीर मर जाता है। घर वाले कुटुम्बी उसे जला देते हैं पर भगवान उसे नया जन्म देता है और फिर हँसने-खेलने की स्थिति में पहुँचा देता है। पिछले दिनों बिगाड़ बहुत हुआ। प्रताड़ना का समय बीत चुका। जो शेष रहा है, वह सन् ९० से लेकर २००० के बीच दस वर्षों में बीत जाएगा। इन दस वर्षों में महाकाल की दुहरी भूमिका सम्पन्न होगी। प्रसव जैसी स्थिति होगी। प्रसवकाल में एक ओर जहाँ प्रसूता को असह्य कष्ट सहना पड़ता है, वहाँ दूसरी ओर संतान प्राप्ति की सुन्दर संभावना भी मन ही मन पुलकन उत्पन्न करती रहती है।''

प्रस्तुत पंक्तियाँ परमपूज्य गुरुदेव के अन्तिम दो वर्षों में रचित क्रान्तिधर्मी साहित्य, 'नवसृजन के निमित्त महाकाल की तैयारी' से ली गयी हैं। संस्कृति-पुरुष का लिखा एक-एक वाक्य संभावित महाक्रान्ति का भविष्यकथन करता दिखाई पड़ता है। द्रष्टा महामानव भविष्य के गर्भ में झाँकने की क्षमता रखते हैं व उस नाते वह सब, जो उनकी सूक्ष्म जगत में भूमिका संपन्न करने वाली है, पहले से ही देख लेते हैं, सम्बन्धित देवमानवों को इन परिस्थितियों के सम्बन्ध में सचेत कर जाते हैं।''

महर्षि अरविन्द ने इसी तथ्य का विज्ञापन करते हुए 'ह्यूमन साइकिल' में लिखा है- संसार का वर्तमान युग है- महान रूपान्तरणों की अवस्था का युग। मानवता के मन में एक नहीं, बहुत से मूलभूत भाव क्रियाशील हैं और उसके जीवन में उग्र चपेट और चेष्टा के साथ परिवर्तन ले आने को छटपटा रहे हैं।

परमपूज्य गुरुदेव ने ऊपर उद्धृत पुस्तक 'नव-सृजन के निमित्त महाकाल की तैयारी' में लिखा है- ''युगसन्धि के यह दस वर्ष दुहरी भूमिकाओं से भरे हुए हैं। पिछले दो हजार वर्षों में जो अनीति चलती रही है, उसकी प्रताड़ना स्वरूप अनेकों कठिनाइयाँ भी उन्हीं दिनों व्यक्ति के जीवन में, समाज की व्यवस्था में तथा प्रकृति के अवांछनीय माहौल में दृष्टिगोचर होंगी। .... साथ ही यह भी स्मरण रखने योग्य है कि माता एक आँख जहाँ सुधार के लिए टेढ़ी रखती है, वहाँ उसकी दूसरी आँख में दुलार भी भरा होता है। उसकी प्रताड़ना में भी यही हितकामना रहती है कि सुधरा हुआ बालक अगले दिनों गलतियाँ न करे और सीधे रास्ते को अपनाता हुआ सुख-सुविधा भरा जीवन जिये। वर्तमान युग सन्धिकाल इसी दुहरी प्रक्रिया का सम्मिश्रण है।''

महाप्रयाण से सात-आठ माह पूर्व की बात है। शिशिर ऋतु में पूज्य गुरुदेव अपने कक्ष से बाहर धूप में बैठते थे। लेखन-शोध से सम्बन्धित कार्यकर्त्ताओं को वहीं बुलाकर चर्चा करते थे। वहीं निर्देश देते-देते एकाएक एक दिन वे गंभीर हो उठे बोले- ''लड़को! कहीं तुम्हें अविश्वास तो नहीं होता मेरे कथन पर कि सतयुग वास्तव में आने वाला है। मैंने जो कुछ भी पिछले दिनों लिखा है महाकाल के आदेश से लिखा है। मेरी नब्बे प्रतिशत से अधिक चेतना अब सूक्ष्म जगत में सक्रिय है व ऋषिसत्ताओं के साथ नये युग का सरंजाम जुटा रही है। तुम देखना कि मेरे कहे गए ये वाक्य, लिखी हुई एक-एक पंक्ति बम का धमाका करेगी व देखते-देखते विचार-क्रान्ति का स्वरूप तुम्हें दस-पन्द्रह वर्ष में ही दिखाई देने लगेगा। विश्व का सारा ढाँचा बदल जाएगा। मेरी बात पर विश्वास रखना कि भारतीय संस्कृति का ही अलख अब चारों दिशाओं में गूँजने जा रहा है।'' जो भी कुछ पूज्यवर ने अपनी मंद वाणी में स्फुट वचन कहे थे, उन्हें हमने डायरी से निकाल कर ज्यों का त्यों पाठकों के समक्ष रख दिया है, यह बताने के लिए कि संस्कृति-पुरुष प्रयोजन विशेषों के लिए हम सबके बीच आया एवं हमें सौभाग्यशाली भी बना गया।

शांतिकुंज व यहाँ से आरंभ हुआ विश्वव्यापी युगान्तरीय चेतना का आन्दोलन, उसी निर्धारण का एक व्यापक रूप है, जिसका समापन अगले दिनों विश्वमानवता के लिए उज्ज्वल भविष्य की वापसी के रूप में होना है। पूज्य गुरुदेव अक्सर अंतरंग चर्चा में कहा करते थे- ''ऋषि चाणक्य देवसंस्कृति के दिग-दिगन्त तक विस्तार का काम करने आये थे, वह काम पूरा नहीं हो पाया, उसी शृंखला में बाद में विवेकानन्द व अरविन्द आए। हम उसी काम को अब पूरा रूप देने के लिए महाकाल द्वारा भेजे गए हैं।'' इसी बात को महर्षि अरविन्द ने 'ह्यूमन साइकिल' में इस तरह लिखा है- ''दक्षिणेश्वर में जो काम शुरू हुआ था, वह पूरा होने में अभी कोसों दूर है। वह समझा तक नहीं गया है। विवेकानन्द ने जो कुछ प्राप्त किया और जिसे अभिवर्द्धित

करने का प्रयत्न किया, वह अभी तक मूर्त नहीं हुआ है। ... अब अधिक उन्मुक्त ईश्वरीय प्रकाश की तैयारी हो रही है, अधिक ठोस शक्ति प्रकट होने को है, परन्तु यह सब कहाँ होगा? कब होगा? यह कोई नहीं जानता।'' वस्तुत: दक्षिणेश्वर की माटी से जो तूफान एक वेग से उठा था, उसे सही समय पर, सही प्रक्रिया से, सही व्यक्तियों द्वारा नियंत्रित कर उससे नयी सदी के लिए ऊर्जा की उत्पत्ति होनी थी। संभवत: वह समय, वह वेला अब आ गयी है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में - ''भारत का पुनरुत्थान होगा, जड़ की शक्ति से नहीं, चेतना की शक्ति से। विनाश की विजय ध्वजा लेकर नहीं, बल्कि शान्ति और प्रकाश के ध्वज फैलाकर-संन्यासियों के गेरुआ वस्त्र का सहारा लेकर, अर्थशक्ति से नहीं, बल्कि भिक्षापात्र की शक्ति से सम्पादित होगा..... मैं मानो अपनी दिव्य दृष्टि से देख रहा हूँ। हमारी मातृभूमि जाग उठी है- नवजीवन लाभ करके पहले से भी अधिक गौरवमय मूर्तिधारण कर अपने सिंहासन पर आरूढ़। इस बार का केन्द्र भारतवर्ष ही है।'' इसके लिए वे 'भारत का भविष्य' नामक अपने उद्‍बोधन में कहते हैं- ''महाभारत के अनुसार सत्ययुग के आरंभ में एक ही जाति थी- ब्राह्मण और फिर पेशे के भेद से वह भिन्न-भिन्न जातियों में बँटती चली गयी । बस यहीं एकमात्र व्याख्या सत्य और युक्तिपूर्ण है। भविष्य में जो सत्ययुग आ रहा है, उसमें ब्राह्मणेतर सभी जातियाँ फिर ब्राह्मण रूप में परिणत होंगी।'' ब्राह्मण से यहाँ अर्थ है ब्रह्मज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ, आदर्श चरित्र वाले पुरुष। विवेकानन्द का एक-एक शब्द पूज्यवर के लिखे वाक्यों में गुंजित होता देखा जा सकता है। आखिर थे तो ये सभी महाकाल की सत्ता के प्रतिनिधि ही। सभी यह कह गए हैं कि परिवर्तन की वेला आ पहुँची। महाकाल इस प्रक्रिया को परोक्ष जगत से अंजाम दे रहा है। सतयुग की वापसी की ही पृष्ठभूमि इन दिनों बन रही है। मानवी प्रयास इसमें अनिवार्य अवश्य हैं, पर पर्याप्त नहीं। दैवी शक्ति की ही सबसे बड़ी भूमिका होगी।

महायोगी अरविन्द की भविष्यवाणियों के आधार पर अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी से एक वार्त्ता प्रकाशित हुई है- 'इनटू द ट्वेण्टीफर्स्ट सेंचुरी' (इक्कीसवीं सदी की ओर) इसमें आज की परिस्थितियों का आकलन भी है व आने वाले समय के अप्रत्याशित परिवर्तनों का दिग्दर्शन भी। इस वार्त्ता में जो १४ अगस्त, १९९१ को आश्रम के प्रांगण में सम्पन्न हुई, यह बताया गया कि योगीराज अरविन्द के अनुसार कलियुग का समापन हो चुका है व सतयुग की स्थापना का समय आ गया है। सामान्यत: दो युगों के बीच १८० वर्ष की अवधि ट्रांजिशनल पीरियड (संक्रान्ति काल या दो युगों की मिलनवेला) की होती है। महर्षि ने अपनी कालगणना के अनुसार इस अवधि के आरंभ होने का समय १८४० बताया है। यह समय वही है जब रामकृष्ण परमहंस जन्म ले चुके थे। (१८३६ में) व हमारा राष्ट्र अलसाई स्थिति से उठने की कोशिश कर रहा था। योगीराज कहते हैं कि तब से परिवर्तन प्रक्रिया इतनी तीव्रगति से बढ़ी है, उच्चस्तरीय योगी स्तर की आत्माएँ इतनी अधिक जन्मी हैं कि यह समय सन् २०२० तक सुनिश्चित रूप से आने जा रहा है, जब सारे विश्व का नेतृत्व भारत के हाथों में होगा तथा भारतीय-संस्कृति विश्व-संस्कृति बन चुकी होगी। इसे वे भारत की आध्यात्मिक भवितव्यता (स्प्रिचुअल डेस्टीनी) नाम देते हैं। उनका कहना है कि- ''परमात्म-सत्ता अपने लिए हमेशा एक ऐसी राष्ट्र-संस्कृति चुनकर रखती है, जहाँ उच्चतम दैवी ज्ञान कुछ व्यक्तियों, ग्रन्थों के माध्यम से सुरक्षित बना रहता है। वहीं से फिर नये युग का आविर्भाव होता है। इस चतुर्युग में कम से कम यह तो सुनिश्चित है कि वह देश भारतवर्ष है व वह ज्ञान हिन्दू अध्यात्म भारतीय संस्कृति के रूप में है।'' कलियुग के प्रभाव के समापन का समय श्री अरविन्द १९०७ बताते हैं व कहते हैं कि ''तब से विश्व की नियति महाकाल के हाथ में है- विश्वयुद्धों की शृंखला, शीतयुद्ध, बड़े स्तर की औद्योगिक, आर्थिक, राजनीतिक क्रांतियाँ उसी प्रक्रिया का एक अंग हैं।''

पाठकों को यह यूटोपिया लग सकता है, दिवा स्वप्न भी, किन्तु यह भवितव्यता है, इसमें किसी को संदेह नहीं होना चाहिए। पश्चिम का भोगवाद जिस अग्नि में- तेजाबी तालाब में जलता, कलपता, निष्ठुर स्वार्थपरता की कीचड़ में डूबा विकल, संत्रस्त दृष्टिगोचर हो रहा है, उसे भारतीय अध्यात्म ही भावसंवेदना की गंगोत्री में स्नान कराके मुक्ति दिलाएगा। परमपूज्य गुरुदेव ने 'सतयुग की वापसी' पुस्तक में लिखा है कि- ''इक्कीसवीं सदी भाव-संवेदनाओं के उभरने-उभारने की अवधि है। हमें इस उपेक्षित क्षेत्र को ही हरा-भरा बनाने में निष्ठावान माली की भूमिका निभानी चाहिए।''

कैसे होगा इतना शीघ्र यह सब ? किसी के भी मन में वर्तमान स्थिति को देखकर असमंजस हो सकता है। क्या इसमें किसी एक व्यक्ति की महत्ता होगी? कौन यह करेगा? स्वामी विवेकानन्द इसका उत्तर देते हुए कहते हैं-''उपयुक्त समय पर एक आश्चर्यजनक व्यक्ति आएगा और तब सभी चूहे साहसी बन जाएँगे।'' (विवेकानन्द साहित्य प्रथम खण्ड - पृष्ठ २३६)। चूहों के साहसी होने व बिल्ली के गले में घंटी बाँधने की उक्ति द्वारा स्वामी जी बताते हैं कि सामान्य नरसमुदाय में से ही असाधारण शक्ति जागेगी व देखते-देखते उनका ब्रह्मवर्चस् उनसे ऐसे काम करा लेगा जिनसे युगपरिवर्तन जैसा असंभव कार्य भी पूरा होता दीख पड़ेगा। यह असंभव नहीं है। आश्चर्यजनक

व्यक्ति से स्वामी जी का तात्पर्य है, चेतना का अवतार। एक ऐसी सत्ता, जो महाकाल का प्रतिनिधि बनकर आएगी व जिसके बताए पदचिह्नों पर सारी मानव-जाति चलेगी। हम परमपूज्य गुरुदेव को संस्कृति-पुरुष के रूप में चेतना का अवतार मानते हैं, मात्र स्थूल शरीर वाले, नामधारी रूप वाले व्यक्ति नहीं। उनके मौलिक चिन्तन ने ही राष्ट्र की सोई कुण्डलिनी जगाई है व वह काम परोक्ष सत्ता के निर्देशों द्वारा किया, जिसे करने महर्षि चाणक्य, आद्यशंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमण, स्वामी विवेकानन्द व योगीराज अरविन्द इस धरती पर आए थे। कोई आश्चर्य नहीं कि उनके ये छोटे-छोटे चूहे प्रज्ञा-परिजन अगले दिनों इतने शक्तिशाली रूप में सामने आएँ कि जन-जन के मनों को मथकर रख दें। स्वयं पूज्यवर अपने क्रान्तिधर्मी साहित्य में लिखते हैं- ''नरपशु, नरकीटक, नरपिशाच स्तर के जीवनयापन करने वालों में से ही बड़ी संख्या में ऐसे इन्हीं दिनों निकल पड़ेंगे, जिन्हें नररत्न कहा जा सके। इन्हीं को दूसरा नाम दिव्यप्रतिभासम्पन्न भी दिया जा सकता है। इनका चिन्तन, चरित्र और व्यवहार ऐसा होगा, जिसका प्रभाव असंख्यों को प्रभावित करेगा। इसका शुभारंभ शान्तिकुंज से हुआ है।'' (पृष्ठ २६ 'नव-सृजन के निमित्त महाकाल की तैयारी' से)। स्पष्ट है कि दुर्गम हिमालयवासी ऋषि सत्ताओं ने अपनी कार्यस्थली अब शांतिकुंज को बनाया है व यहाँ से उद्‌भूत चेतना देवसंस्कृति का आलोक अब दिग्दिगन्त तक विस्तार की प्रतीक्षा कर रहा है। शपथ समारोह में एक लाख व्यक्तियों द्वारा इसी निमित्त ली गई प्रतिज्ञा इस घोषणा को सही कर रही है कि चूहे साहसी होने जा रहे हैं।

इस सदी के, विशेषकर पिछले एक दशक के सभी अप्रत्याशित परिवर्तन व्यक्ति के द्वारा नहीं, परोक्ष महाकाल की सत्ता द्वारा सम्पन्न हुए हैं। वैयक्तिक पुरुषार्थ जो नहीं कर सकता था, वह सब उलट पुलट सूक्ष्म स्तर पर समष्टि सत्ता कर रही है। श्रीकृष्ण का गीता वाला स्वर जोरों से उद्‌घोष करते हुए कह रहा है **कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धोलोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।** (मैं काल हूँ, लोकों को उजाड़ता और नष्ट करता हूँ। मैं अपनी पूरी शक्ति के साथ उठ खड़ा हुआ हूँ) अतएव हम सब उठें व केवल श्रेय अर्जित करने वाले निमित्त मात्र बन जाएँ (**तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व... निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**) ३३/११ वाँ अध्याय।

संस्कृति-पुरुष ने व्यापक स्तर पर सामूहिक मनों पर प्रयोग करके उनके भीतर का देवत्व जगाने की प्रक्रिया आरंभ कर दी है व सामान्य को असामान्य, क्षुद्र हृदय वाले दुर्बल को महासाहसी तथा रोग, शोक, लोभ-मोह, अहंता में डूबे नरकीटकों को भी देवमानव बनाने हेतु वे संकल्पित हैं। देव-संस्कृति का तत्त्वज्ञान ही यह सब सम्पन्न कराएगा। निश्चित ही समय बदल रहा है। रात्रि का पलायन व प्रभात का उदय हो रहा है। सतयुग अब निकट से निकटतम आता जा रहा है। इस संदर्भ में उन्होंने अपने महाप्रयाण से कुछ दिन पूर्व ही 'ब्रह्मबीज से ब्रह्मकमल की उत्पत्ति एवं विस्तार' नामक एक लेख में विस्तारपूर्वक लिखा है जिसे अविकल रूप में यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

एक मान्यता है कि कभी इस धरातल पर सतयुग था। सतयुग को भी स्वर्ग के समतुल्य ही माना जाता है। अन्तर इतना ही है कि परलोक वाला स्वर्ग विलासिता की सुविधाओं से भरपूर था एवं धरती वाले सतयुग में व्यक्ति और वातावरण में सात्विकता, सद्‌भावना, सहकार से भरी- पूरी परिस्थितियाँ विद्यमान थीं। उत्कृष्ट जीवन जीने वाले, हँसती-हँसाती, मिल-जुलकर रहने वाली परिस्थितियाँ विनिर्मित करने वाले देवपुरुष जब भी धरती पर रहे होंगे, वास्तव में उन दिनों धरती पर सतयुग रहा होगा?

सतयुग का सीधा सम्बन्ध ऋषि परम्परा से है। उसका एक नाम ब्रह्मयुग भी है अर्थात् ऐसे व्यक्तियों का वर्चस्व जो ब्रह्मपरायण, सर्वहितार्थाय जीवन जीते हों, जो अपने पर कड़ा अंकुश लगाकर अपनी समस्त विभूतियाँ, समय, उपार्जन को समाजोत्थान के लिए नियोजित करें, ऐसे ऋषियों को, देवमानवों को ब्राह्मण भी कहा जा सकता है। ब्राह्मण वंश व वेश से नहीं, जाति एवं वर्ण से नहीं अपितु कर्म से। मनीषियों का मत है कि ब्राह्मण वर्ग ही सबसे पहले आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त में अवतरित हुआ तथा स्रष्टा की तरह उसके अन्दर भी यह अभिलाषा उठी कि '**एकोऽहं बहुस्यामि**' की तरह फैल जाएँ। इस तरह गंगा, यमुना के दोआब से जिसे ब्रह्मावर्त कहा जाता था, निकला ब्राह्मण समुदाय पूरे भारतवर्ष व फिर पूरे विश्व में फैल गया, अनगढ़ों को सुसंस्कृत, शिक्षित, सभ्य बनाता चला गया। इस प्रकार सारे विश्व में आर्यों का साम्राज्य छा गया, परिस्थितियाँ सतयुगी हो गयीं।

आज ब्राह्मणवंश लुप्त हो गया है। हिमालय क्षेत्र में पायी जाने वाली दुर्लभ कायाकल्प जैसा चमत्कारी परिवर्तन कर देने वाली वनौषधियाँ क्रमशः लुप्त होती जा रही हैं, जिसके लिए सभी वैज्ञानिक प्रयास कर रहे हैं कि किस प्रकार इन लुप्त हो रही प्रजातियों को बचाया जाए? गिर का सिंह बड़ा प्रसिद्ध नाम है, किंतु गिरनार के अभ्यारण्यक में प्रतीकचिह्न के रूप में अब कुछ सिंह ही शेष रह गये हैं, एक पूरा समुदाय ही, वंश का वंश ही नष्ट हो गया। लगभग यही स्थिति ब्राह्मण वर्ग की है, जो कभी सतयुगी वातावरण के लिए जिम्मेदार थे। तैंतीस कोटि ब्राह्मण ही देवता कहलाते थे। आज यह परम्परा लुप्त हो गई है।

यदि सतयुग की वापसी करनी है, तो लुप्त ब्राह्मण परम्परा को पुन: जाग्रत करना होगा। जिसके माध्यम से जड़ धरित्री पर सुसंस्कृत स्तर के देवमानवों की बेल उगायी, बढ़ायी, फैलायी जाती है। वह परम्परा है ब्रह्मबीज के ब्रह्मकमल में विकसित होने की, मानव में देवत्व के जागरण की, व्यक्ति के अन्दर प्रसुप्त सुसंस्कारिता के उभार की।

इक्कीसवीं सदी निश्चित ही नवयुग के आगमन का शुभ संकेत लेकर आ रही है, जिसमें ब्रह्मपरायण व्यक्तित्व उभरेंगे, बड़ी संख्या में धरित्री पर फैलेंगे तथा पुन: सतयुगी वातावरण की स्थापना करेंगे। ब्राह्मण के जो प्रमुख कार्य बताये गये हैं वे हैं विद्या पढ़ना-पढ़ाना, दान देना-दिलवाना तथा यज्ञ करना, यज्ञकार्य में सबको सहभागी बनाना। कहते हैं कि 'ब्राह्मण' शब्द की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है, जो स्वयं विष्णु की नाभिकमल से जन्मे थे व एक भावसम्पन्न सृष्टि का निर्माण करने में निरत होकर सृष्टिकर्त्ता प्रजापिता कहलाये। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने भी अपने ब्रह्मतेज से कभी नूतन सृष्टि का सृजन कर ओजस, तेजस, वर्चस से सम्पन्न महामानवों से धरित्री को शोभायमान किया था। आज की विषम परिस्थितियों में वैसा ही प्रखर पराक्रम ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की क्रियास्थली में ही कठोर एकाकी तपश्चर्या में निरत पूज्य गुरुदेव ने सम्पन्न किया है। उन्होंने ही उज्ज्वल भविष्य का सतयुगी वातावरण का स्वप्न देखा व उसकी समग्र पृष्ठभूमि तैयार की है। कठोर तप के माध्यम से उनके अन्त:करण से भी वैसा ही ब्रह्मकमल प्रस्फुटित हुआ है जो पूर्ण पुष्पित, सुविकसित होकर अनेकानेक ब्रह्मतेज से युक्त आत्माओं के रूप में चरमस्थिति को पहुँचेगा, भाव-संवेदना से भरा-पूरा स्वर्गोपम वातावरण धरती पर लाने में सक्षम होगा।

ब्रह्मबीज के जागरण व ब्रह्मकमल के प्रस्फुटन की इस प्रक्रिया का शुभारंभ प्रथम चरण के रूप में छह विराट ब्रह्मयज्ञ आयोजन संजीवनी-विद्या के विस्तार तथा राष्ट्रीय एकता का संदेश पहुँचाने के निमित्त उत्तरप्रदेश में लखनऊ, बिहार में मुजफ्फरपुर, मध्यप्रदेश में भोपाल एवं कोरबा, राजस्थान में जयपुर तथा गुजरात में अहमदाबाद इस प्रकार छह स्थानों पर किए गए। इन्हें सूत-शौनिक समागम स्तर का ब्रह्मयज्ञ, कुम्भ महापर्व स्तर का सम्मेलन तथा वाजपेय राजसूय यज्ञ परम्परा के स्तर का महायज्ञ कहा गया है। जिन्होंने भी मथुरा का १९५८ का सहस्रकुण्डी महायज्ञ देखा है, वे आज तक उस विराट आयोजन के स्वरूप एवं सत्परिणामों की याद सँजोये हुए हैं। जो भी उस महायज्ञ से जुड़ा, वह महाकाल से एकाकार होकर निहाल हो गया। उसे वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक हर क्षेत्र में सफलताएँ ही विभूतियों के रूप में मिलती चली गयीं। यह एक सुविदित तथ्य है कि पच्चीस लाख से भी अधिक परिजनों का जो परिकर गायत्री के रूप में जाना जाता है परोक्ष रूप से उसी गायत्री महायज्ञ से जन्मा है।

यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि वह दीपों का प्रज्ज्वलन मात्र नहीं था, नवयुग की आरती उतारी जा रही थी तथा यह मात्र याजकों का समागम नहीं था, वह एक विराट ज्ञानयज्ञ था जिससे उद्भूत निष्कर्षों के आधार पर राष्ट्र के भावनात्मक नव-निर्माण की आधारशिला रखी गई थी। यह एक शुभारंभ मात्र था, एक संक्षिप्त यज्ञ आयोजन नहीं।

# लीलापुरुष के सहचरों-अनुगामियों से एक भावभरा अनुरोध

एक युगऋषि का अस्सी वर्ष जिया गया तप:पूत जीवन। आयुष्य का पल पल ऐसा जो मानवमात्र की पीड़ा को मन में रखकर उन्हीं के निमित्त जिया गया। स्वभाव ऐसा सरल व मृदु कि हर कोई उन्हें अपना मित्र, सखा, आत्मीय समझता रहा। करुणा इतनी गहरी कि उसी ममत्व के सहारे देखते-देखते एक छतदार वृक्ष के नीचे एक विराट परिवार विनिर्मित होता चला गया, नाम जिसका रखा गया 'गायत्री परिवार'। लाखों व्यक्तियों के हृदय के सम्राट, गायत्री परिवार-युग-निर्माण योजना के संस्थापक अधिष्ठाता परमपूज्य गुरुदेव का जीवन-वृत्त जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि एक बहुआयामी हिमालय समान ऊँचाई वाला अलौकिक सिद्धियों से भरा जीवन उनके द्वारा जिया गया, किन्तु दृश्य रूप में वह अतिसाधारण जान पड़ता है।

पूज्यवर पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का वसंत पंचमी को जन्मदिवस, जो हम उनके आध्यात्मिक बोध दिवस के रूप में मनाते हैं और जब पीछे मुड़कर गहराई से दृष्टि डालकर देखते हैं तो पाते हैं कि उनसे अनेक लोगों ने अगणित अनुदान पाये हैं, असंख्यों संस्मरण हम सबके मस्तिष्क पटल पर अंकित हैं। उनकी जीवन-शैली रामकृष्ण परमहंस जैसी थी।

एक सद्‌गृहस्थ साधक के रूप में श्री रामकृष्ण परमहंस का जीवन सभी के समक्ष उनके लीलामृत, वचनामृत तथा कथामृत के माध्यम से इस सदी के प्रारंभ में आया। लाखों व्यक्तियों के लिए ये प्रसंग जीवन को ऊँचा उठाने की प्रेरणा बनकर आए व अगणित व्यक्तियों ने अपने को लौकिक से आध्यात्मिक धारा की ओर उन्मुख किया। एक बार रामकृष्ण जब ध्यानस्थ थे समाधि की गहन अवस्था में चले गये थे, तो उनके चारों ओर प्रकाश फैल गया। सहज ही उनकी आँख खुली तो उन्होंने चारों ओर प्रकाश विस्तारित होता देखा, तुरंत चिल्ला उठे।

''माँ! भीतर कर। बाहर मत जाने दे। नहीं तो चेले आकर चिपट जाएँगे।'मैं तो साधारण आदमी बनकर जीना चाहता हूँ।'' तुरन्त प्रकाश तिरोहित हो गया तथा वे साधारण व्यक्ति की तरह दिखाई देने लगे। कुछ ऐसे ही प्रसंग परमपूज्य गुरुदेव के जीवन-वृत्त पर भी लागू होते हैं। अनेकों व्यक्तियों ने उनके भिन्न-भिन्न रूपों में दर्शन किए हैं तथा अपनी अनुभूति का संसार विनिर्मित किया। स्वयं वे कभी भी नहीं चाहते थे कि लोग उन्हें उस रूप में जानें या उसका प्रचार करें। नहीं तो वही होता जो किसी चमत्कारी सिद्धपुरुष के साथ होता है या होता आया है। फिर भी जैसे किसी हीरे को धूल के ढेर में, सूर्यकान्त-श्यामंतक मणि को कहीं किसी कपड़ों की थैली में बिना उस चमक के फैलाए पास नहीं रखा जा सकता, लगभग वैसा ही महापुरुषों के साथ होता आया है। सुपात्र व्यक्तियों को उनकी जानकारी मिलती रहती है।

श्री केशवचंद्र सेन से श्री रामकृष्ण ने एक बार कहा- ''मेरा नाम समाचार-पत्रों में क्यों निकालते हो? भगवान जिसे बड़ा मानते हैं, जंगल में रहने पर भी लोग उसे जान लेते हैं। घने जंगल में फूल खिला है, भौंरा उसका पता लगा ही लेता है, पर दूसरी मक्खियाँ पता तक नहीं पातीं। मैं प्रसिद्धि नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि दीन से दीन, हीन से हीन बनकर रहूँ।'' ऐसा जीवन्मुक्त लीलापुरुष जानबूझकर करते हैं, क्योंकि जीवित रहते जो अगणित काम उन्हें करने हैं, उनमें इन सभी बहिरंग के पक्षों से बाधा आती है। रामकृष्ण परमहंस ने चमत्कार दिखाये नहीं वे सहज ही हो गए। इसी तरह परमपूज्य गुरुदेव ने दृश्य रूप बिलकुल साधारण रहने दिया, जो भी कुछ असाधारण घटा वह होता चला गया व ऐसा अगणित व्यक्तियों के साथ घटा। असाधारण से अर्थ है- सामान्य जीवनचर्या के पीछे से दर्शन कराती वे हलचलें, गतिविधियाँ जो उस महासत्ता के अस्तित्व का बोध कराती हैं।

जीवित रहते क्यों एक साधारण-सा दृष्टिगोचर होने वाला जीवन जिया गया? इसे स्पष्ट करते हुए परमपूज्य गुरुदेव जनवरी १९७१ की 'अखण्ड ज्योति' की अपनों से अपनी बात में लिखते हैं- ''जब तक रंगमंच पर प्रत्यक्ष रूप से हमारा अभिनय चल रहा है, तब तक वास्तविकता बता देने पर दर्शकों का आनन्द दूसरी दिशा में मुड़ जाएगा और हम जिस कर्त्तव्यनिष्ठा को सर्वसाधारण में जगाना चाहते हैं, वह प्रयोजन पूरा न हो सकेगा। लोग रहस्यवाद के जंजाल में उलझ जाएँगे। इससे हमारा व्यक्तित्व भी विवादास्पद बनेगा और जो करने-कराने हमें भेजा गया, उसमें भी हमें अड़चन पड़ेगी। निस्सन्देह हमारा जीवन अलौकिकताओं से भरा पड़ा है, रहस्यवाद के पर्दे इतने अधिक हैं कि उन्हें समय से पूर्व खोला जाना अहितकर ही होगा। पीछे वालों के लिए उसे छोड़ देते हैं कि वस्तुस्थिति को सच्चाई की, प्रामाणिकता की कसौटी पर कसें और जितनी हर दृष्टि से परखी जाने पर सही निकलें उससे यह अनुमान लगाए कि अध्यात्म विद्या कितनी समर्थ और सारगर्भित है।''...''अभी तो उस पर वैसे ही पर्दा पड़ा रहना चाहिए जैसे कि अब तक पड़ा रहा है।''

श्री रामकृष्ण परमहंस के महाप्रयाण के बाद उनके लीलामृत-वचनामृत के प्रकाशन के पुरुषार्थ के बाद ही पूर्व व पश्चिम में लोगों ने उन्हें जाना था। स्वयं कलकत्ता में ही वे कहाँ अधिक परिचित थे, न ही वे चाहते थे, किन्तु जब उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंग जन-जन के समक्ष आने लगे तो दक्षिणेश्वर लाखों व्यक्तियों की प्रेरणा बन गया, एक विराट स्तर का बवण्डर उठा व उसमें से संन्यासियों की टोली निकली, जिसके रत्न के रूप में स्वामी विवेकानन्द प्रकट हुए। वे ही अन्ततः अपने गुरु की वाणी को जन-जन तक पहुँचाने में सफल हुए। ऐसे अगणित विवेकानन्द व निवेदिता स्तर की आत्माएँ अपने मिशन में क्रियाशील हैं जो बहिरंग में तो दैनन्दिन जीवन के व्यापार में उलझी दिखाई देती हैं, किन्तु अंतरंग से वे उच्चस्तरीय पुरुषार्थ करने में सक्षम हैं। उन्हें झकझोरना व देव संस्कृति को विश्वव्यापी बना देना अब हम सबका कर्तव्य बन जाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि ''मैं निराकार वाणी बनना चाहता हूँ'' (आय वान्ट टू बि ए वॉयस विदाउट फॉर्म) यह बिना किसी हिचक के कहा जा सकता है कि वे बने तथा बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध से लेकर इक्कीसवीं सदी में कदम रखने जा रही पीढ़ी के आदर्श हैं। एक ऐसे लोकनायक के रूप में उनकी छवि रही जिसने जहाँ शहीद भगतसिंह, आजाद, बिस्मिल, सुखदेव जैसों को प्रेरित-प्रभावित किया, वहाँ तिलक, गाँधी, पटेल आदि तथा महर्षि श्री अरविंद जैसे उच्चस्तरीय साधक भी उनके आदर्शों से प्रेरित दिखाई देते हैं। परमपूज्य गुरुदेव का पुरुषार्थ जो १९११ से १९९० तक की अवधि के ८० वर्षों में सम्पन्न हुआ अपनी विचार-सम्पदा के रूप में जो कुछ निधि हमें उत्तराधिकार में दे गया है उसकी तुलना तो किसी से नहीं की जा सकती, किन्तु जैसे-जैसे वह प्रकाश में आएगा, लोग जान सकेंगे कि आज उनकी सूक्ष्म एवं कारणशरीर रूप में विद्यमान चेतना विश्वमानवता का मार्गदर्शन करने में और भी अधिक सक्षम है।

□□□

# परमपूज्य गुरुदेव–लीलाप्रसंग

## पत्रों से झाँकता एक विराट पुरुष का व्यक्तित्व

लीलाप्रसंग प्रकरण के अन्तर्गत परमपूज्य गुरुदेव से जुड़े 'ऑकल्ट' विवरणों को, उनकी सिद्धि के घटनाक्रमों को पढ़कर किसी बुद्धिजीवी वर्ग के पाठक को लगे कि यहाँ प्रतिपाद्य विषय से कुछ हटकर यह विवेचना किस कारण प्रस्तुत की जा रही है, तो उन्हें हम बताना चाहेंगे कि वस्तुतः यह स्तम्भ भी पूरी तरह वाङ्मय की परिधि के भीतर ही है । १९३८ में हाथ से लिखा अखण्ड-ज्योति का प्रथम अंक वसन्त पंचमी पर निकलने वाले तथा १९४० की वसन्त पंचमी से उसका अधिकृत छपा हुआ प्रथम संस्करण प्रकाशित करने वाले परमपूज्य गुरुदेव ने जीवन भर एक ही विषय को बहुविध रूप में संदर्भों के साथ प्रस्तुत किया । वह यह कि मानव में अनन्त सम्भावनाएँ छिपी पड़ीं हैं उन्हें विकसित कर वह देवमानव, सिद्धपुरुष-देवदूत स्तर तक पहुँच सकता है । हर व्यक्ति एक शक्तिपुंज है । यदि आत्महीनता से उबरा जा सके तो वस्तुतः असम्भव दीख पड़ने वाला पुरुषार्थ भी सम्भव है, महामानवों के आप्तवचनों के द्वारा अभिव्यक्त इस संदेश को परमपूज्य गुरुदेव ने बड़े ही व्यावहारिक रूप में अपनी लेखनी के माध्यम से प्रकट किया ।

आज जब चमत्कारों के नाम पर नानाप्रकार के जाल धर्मतन्त्र के अन्दर ही बुने जाते व उनमें अगणित भोले व्यक्ति फँसते देखे जाते हैं, तो सर्वसाधारण के शिक्षण के लिए यह जरूरी है कि उन्हें बताया जाए कि सिद्धियाँ विकसित अतिचेतन का ही एक रूप हैं । उनका लक्ष्य व उद्देश्य हर पुरुषार्थपरायण व्यक्ति को लोकमंगल में नियोजित होते हुए आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा देने के लिए होना चाहिए । अकारण हर किसी पर सिद्धि-चमत्कारों की वर्षा व उनका खुला प्रदर्शन परमपूज्य गुरुदेव ने जीवन भर नहीं किया तथा वस्तुतः इसके विरुद्ध ही लिखते रहे । उनकी 'साधना से सिद्धि' उक्ति का अर्थ था-'जीवन का परिष्कार, चिंतन का काया-कल्प व परिस्थितियों का अनुकूलन ।' व्यक्ति यदि संकल्पबद्ध पुरुषार्थ करे तो सिद्धियाँ स्वयं उस पर आकर बरसती हैं, यह उन्होंने जीवनभर प्रतिपादित किया । सर्वसाधारण को सम्भवतः इस तथ्य पर विश्वास न हो, अतः हमने यही उचित समझा कि एक साक्षी के रूप में, जीती -जागती चित्र-कथा के रूप में परमपूज्य गुरुदेव के जीवन से जुड़े उन प्रामाणिक प्रसंगों को ही सबके सम्मुख रख दिया जाए, ताकि वे स्वयं निर्णय लें कि यह सब क्यों व कैसे हो पाना शक्य बन पड़ा ?

स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीर की विवेचना कई बार की जा चुकी है । फिर भी एक स्पष्टीकरण के नाते स्थूल-शरीर तो वह है जो अभिव्यक्त है, जिसमें अन्नमयकोश व उसमें संव्याप्त प्राणसत्ता का अंश आता है । जीवनी-शक्ति व विकसित शरीरबल के रूप में यह बहिरंग में दिखाई देता है । सूक्ष्म शरीर मन की प्रसुप्त सामर्थ्यों से सम्बन्धित है, जिनकी जाग्रति मनोमयकोश व विज्ञानमयकोश के अनावरण द्वारा अतीन्द्रिय क्षमताओं से लेकर त्रिकालज्ञ स्तर की सिद्धि के रूप में प्रकट होती है । संकल्प शक्ति, प्रखर जीवटभरा मनोबल तथा वेधक सामर्थ्य द्वारा दूसरों को पढ़कर सब कुछ जान लेना, यह सब इसी के अन्तर्गत आता है । इसी शरीर की परिधि में यह भी स्पष्ट होता है कि व्यष्टिमन, समष्टिमन का एक अंग है व देशकाल से परे वह कहीं आ-जा सकता है । जब हम सूक्ष्मशरीर के विकास का विराट रूप देखते हैं तो विलक्षण स्तर की दीख पड़ने वाली विचार-संप्रेषण, पूर्वाभास जैसी क्षमताएँ बौनी जान पड़ती हैं । तीसरा कारणशरीर है जो भाव-संवेदनाओं से भरे सरस अंतःकरण का पर्याय है । रसानुभूति, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना-करुणा का मानवमात्र के लिए जागरण तथा परहितार्थाय अपना सब कुछ होम देने की आकांक्षा का विकास इसी स्थिति में होता है । जीव-ब्रह्म-मिलन से लेकर ईश्वर, साक्षात्कार और बन्धन-मुक्ति से लेकर समाधि के चरम सोपान की स्थिति में जा पाना इसी शरीर के विकास द्वारा सम्भव बन पड़ता है । यह आनन्दमयकोश के जागरण का सहस्रारदल कमल के प्रस्फुटन व विकास का द्योतक है । संक्षेप में यह सिद्धियों का एक प्रकार से 'एनाटॉमीकल' विश्लेषण हुआ ।

जब हम परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी के जीवन पर एक दृष्टि डालते हैं तो यह सारे प्रसंग उनके ८० वर्षीय लम्बे जीवन में चरितार्थ होते दिखाई देते हैं । नीरोग, दीर्घायुष्य भरा जीवन न केवल स्वयं उन्होंने जिया, वरन् अपने जीवनक्रम से अनेकों लोगों को प्रेरणा दी व रोगी स्तर के व्यक्तियों से लेकर मृत्यु के मुख में जा पहुँचे परिजनों को भी प्राणदान देकर उन्हें नया जीवन दिया । यह एक ऐसी सिद्धि है, जो गिने-चुने विकसित स्तर के देवमानवों से लेकर अवतारी स्तर की सत्ता में ही पायी जाती है ।

परमपूज्य गुरुदेव का जीवन खुले पृष्ठों की एक किताब के रूप में हम सबके समक्ष रहा है । अर्थ से लेकर समय एवं जिह्वा से लेकर विचारों के संयम का जो भी समग्र आदर्श रूप हो सकता है, वह उनके जीवन में देखने को मिला । प्रत्यक्ष जीवन से तो उन्होंने प्रेरणा दी ही, लेखनी से भी यही शिक्षण दिया । उनका व्यावहारिक अध्यात्म यही था ।

गुजरात की अहमदाबाद की तारा बहिन के साथ रहने वाले परिजनों को अभी भी याद है कि किस प्रकार पूज्य गुरुदेव ने अपने वरदान द्वारा उन्हें एक ऐसी व्याधि से मुक्त कराया, जिसका निदान कोई नहीं कर पाया था। वह जो भी खातीं, तुरन्त उल्टी हो जाती। चिकित्सकों का कहना था कि बहुत कम मात्रा में बार-बार तरल द्रव्य लें। चूँकि आमाशय के आगे मार्ग सँकरा है। कभी भी ठोस या अर्द्ध तरल द्रव्य उनके पेट में आगे नहीं बढ़ सकेगा, उसके हमेशा उल्टी होने या फिर सर्जीकल इमरजेन्सी पैदा होने की सम्भावना अधिक है। अपने गुजरात प्रवास में वे भी परमपूज्य गुरुदेव के दर्शन को गयीं। चर्चा के दौरान ही मेजबान ने कहा कि-"पूज्यवर ! आप भोजन कर लें, समय हो गया है।" गुरुदेव भगवान ने अपने साथ उस बहिन को भी लिया व उसके लिए भी एक थाली लगवायी। वह कहती रहीं कि मैं भोजन नहीं कर पाऊँगी। सारा भोजन उल्टी में बाहर निकल जाएगा। परमपूज्य गुरुदेव ने जोर देकर कहा कि-"तू खा तो बेटा। हम यहाँ बैठे हैं। कोई दिक्कत हो तो हम देख लेंगे।" देखते-देखते वह बहिन पूरा भोजन ग्रहण कर गयीं व आश्चर्य कि भोजन बाहर भी नहीं आया, न ही वैसा कुछ आभास हुआ कि उल्टी हो सकती है। वह दिन उनके कष्टों के समापन का दिन था। उस दिन के बाद से अब तक वे सहज रूप में भोजन करती रही हैं। एक 'मेकेनीकल' तकलीफ कैसे दूर हो गयी, इसका किसी चिकित्सक के पास कोई समाधान नहीं है। क्या कोई बता सकता है कि इस प्रक्रिया का विश्लेषण विज्ञान की किस पद्धति से किया जाए ? यह मात्र इसी आशय से कहा जा रहा है कि परमार्थ हितार्थाय ही स्व-उपार्जित सिद्धियों का सुनियोजन महामानव करते आए हैं। परमपूज्य गुरुदेव ने उसी परम्परा का निर्वाह किया।

मिशन के वरिष्ठ कार्यकर्त्ता डॉ. आर. पी. कर्मयोगी (भोपाल) की एक आँख सन् १९६३ में खराब हो गई थी। तब ऑल इण्डिया मेडीकल इन्स्टीट्यूट दिल्ली, आई हास्पीटल अलीगढ़ एवं जयपुर के नेत्र विशेषज्ञों ने उनकी लम्बे समय तक चिकित्सा की थी। जब बीमारी का कोई कारण पता न लगा तो डॉक्टरों ने एकमत से यह कहना आरम्भ कर दिया कि ऐसी स्थिति में दूसरी अच्छी-भली आँख को भी बचाना मुश्किल है। डॉ. कर्मयोगी परेशान थे। उन्होंने पूज्य गुरुदेव को यह सब हाल कह सुनाया। गुरुदेव ने उनकी ओर देखा और बोले-"अच्छा, तेरा डॉक्टर ऐसा कहता है। मैं कहता हूँ कि एक आँख जैसी हो गई वैसी हो जाने दे, तेरी दूसरी आँख खराब नहीं हो सकती। इसके लिए मैं जिम्मेदार हूँ। यह जिन्दगी भर तेरा साथ देगी।" डॉ. कर्मयोगी ने उसके बाद से आँख की कभी कोई दवा नहीं खाई। यह बात १९६८ की है। इसके बाद उन्होंने एम. एड. पी-एच. डी०, डिप. भाषा विज्ञान और लेखन-सम्पादन का ढेरों काम किया है। अभी भी मिशन के कार्यों में निरन्तर लगे हैं, उन्हें कभी कोई कष्ट नहीं हुआ।

पनवाड़ी जिला हमीरपुर के श्री कुंजबिहारी लाल गुप्ता के पुत्र रामबिहारी गुप्ता १९८२-८३ में रुड़की यूनिवर्सिटी से केमीकल इंजीनियरिंग में एम. टेक. कर रहे थे। एक दिन एक वज्रपात-सा हो गया। कमर की हड्डी में दर्द व सूजन आ जाने से तुरन्त डॉक्टर को दिखाया। ४-५ दिन बिस्तर पर रहना पड़ा। एक्सरे, रक्त आदि की जाँच से चिकित्सकों ने निष्कर्ष निकाला कि यह तो जोड़ों की अस्थियों की टी. बी. है एवं इसमें बड़ी तेज औषधियाँ डेढ़ वर्ष तक लेनी ही होंगी, चलना-फिरना भी प्रभावित होगा। अपने माता-पिता को उन्होंने सूचना दी। तकलीफ पता चलने के १० दिन के अन्दर ही श्री रामबिहारी अपने माता-पिता सहित परमपूज्य गुरुदेव की शरण में आ गए व प्रार्थना की कि अब तकलीफ से मुक्ति दिलाएँ व पढ़ाई में किसी प्रकार का व्यवधान न आने दें। पूज्यवर ने स्थान को स्पर्श करके कहा कि-"अरे बेटा ! किसी ने गलत डायग्नोसिस कर दी है। तुझे टी. बी. जैसी कोई बीमारी नहीं है। जा हमारी जड़ी-बूटी की दवा एक महीने ले ले व अच्छे नम्बरों से पास होकर विदेश से नाम कमा कर आ।" आशीर्वचनों का प्रभाव यह पड़ा कि वे बिना किसी तकलीफ के तो तुरन्त चलने लगे, एलोपैथिक औषधियाँ बन्द कर दीं तथा एक माह तक शान्तिकुंज के चिकित्सकों की बताई दवा ली। दवा तो निमित्त मात्र थी। रोग तो उसी दिन दूर हो गया था। श्री रामबिहारी ने प्रथम स्थान लेकर अपनी पढ़ाई पूरी की तथा अपनी पत्नी दीप्तिशिखा (सुपुत्री शालिग्राम गुप्ता) के साथ अमेरिका में रहकर पी-एच. डी. किया। साथ ही असोशिएटेड प्रोफेसर की पोस्ट पर हैं व कई अमेरिका निवासी प्रवासी छात्रों के प्रिय अध्यापक हैं। दोनों पति-पत्नी गायत्री का खूब प्रचार करते हैं व स्वयं को उनकी कृपा का जीता-जागता नमूना बताते हैं।

उत्तरप्रदेश शासन में इस समय सचिव पद पर कार्यरत एक गायत्री परिजन पूज्यवर की आज्ञा लेकर शासकीय कार्य से दो माह के लिए १९८८ में अमेरिका गए। जाते समय की तैयारी पर उन्हें याद आया कि पूज्यवर तथा वंदनीया माताजी ने उन्हें निर्देश दिया था कि विदेश की यात्रा कभी अकेले नहीं सपत्नीक ही करें अतः पत्नी जो चिकित्सक थीं, उनका भी पासपोर्ट 'वीसा' टिकट आदि बनवाया गया। अमेरिका में पिट्सवर्ग (Pittsburgh) में उन्हें दो माह तक विशेष अध्ययन हेतु संगोष्ठी में भाग लेना था, जो दिन भर चलती थी। एक दिन सहसा उन्हें लगा कि एयरपोर्ट पर उतरने पर थोड़ी जो साँस फूलने की शिकायत हुई थी वह तुरन्त ठीक हो गयी थी अब फिर से हो रही है व साँस लेना उनके लिए अब मुश्किल हो गया है। साधारण-सी तकलीफ मानकर खिड़की के पास जाकर खुली हवा में साँस लेकर फिर मीटिंग में बैठे, पर कुछ ही देर में बेहोशी-सी आने लगी। उन्हें होश अस्पताल में आया, जहाँ चिकित्सकों ने उन्हें बताया कि उन्हें बड़ा तेज स्तर का दिल का दौरा पड़ा था, तुरन्त उनकी पत्नी को सूचित कर उन्हें समीप के ही एक अस्पताल की 'इन्टेंसिव केयर यूनिट' में भर्ती किया गया। परीक्षण पर ज्ञात हुआ कि हृदय की प्रमुख धमनियों में ९९ % ब्लाकेज था।

उन्होंने बैलून डालकर तुरन्त उसे कमकर धमनियों के रक्त-प्रवाह को ठीक कर दिया । एक सप्ताह में ही अस्पताल से छुट्टी मिल गयी । चूँकि उनकी चिकित्सक श्रीमती जी साथ थीं व वे तकनीकी दृष्टि से अतिविकसित अमेरिका में थे, उन्हें चिकित्सा सेवा तुरन्त सुलभ हो गयी व देखरेख भी उनकी पत्नी करती रहीं । उन्हें आश्चर्य था कि कभी भी भारत में ऐसी तकलीफ उन्हें नहीं हुई व जब पहली बार यह हुई तो ऐसे स्थान पर जहाँ कुछ ही दूरी पर कुशल चिकित्सा ही नहीं, परिपूर्ण सघन देख-रेख सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध थीं । वे सोच रहे थे कि यदि परमपूज्य गुरुदेव का आशीर्वाद न होता तथा वे अकेले होते तो अपने देश से १० हजार किलोमीटर दूर इस स्थान पर कैसे यह सब हो पाता । वे आज पूर्ण स्वस्थ हैं व अपनी दीर्घायुष्य के लिए परमपूज्य गुरुदेव व वंदनीया माताजी का आशीर्वाद ही मूल में पाते हैं । उन्हीं की प्रेरणा से, उन्हीं के निर्देशों के अनुरूप जीवन जीने को संकल्पित यह अधिकारी महोदय क्रमशः उच्चतम सोपानों पर बढ़ते ही चले जा रहे हैं । हाँ, पूर्णतः स्वस्थ तो हैं ही ।

यह कुछ प्रसंग मात्र कौतुक-कौतूहल पैदा करने के लिए नहीं, एक परोक्ष सत्ता का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए उद्धृत किए गए हैं । एक ऐसी सत्ता, जो समाज को समर्पित हर श्रेष्ठ संस्कारवान आत्मा के लिए एक सुरक्षा कवच का प्रावधान बनाए रखती है । तप से अर्जित यह पूँजी परमपूज्य गुरुदेव ने प्रत्यक्ष रूप से मिलने पर ही लुटायी हो, सो ऐसी बात नहीं है । सुदूर प्रान्तों या विदेशों में बसे परिजन भी उनकी अहैतुकी कृपा को पत्रों के माध्यम से उसी तरह बरसते हुए पाते रहे हैं । इस सम्बन्ध में अगणित प्रमाण उपलब्ध हैं । उन्हीं में से कुछ का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में किया जा रहा है-

*हमारे आत्मस्वरूप,*

*पत्र मिला । पढ़कर मिलने के समान प्रसन्नता हुई । पिछले जन्म का छोड़ा हुआ काम आपने फिर आरम्भ कर दिया है, यह बड़े सन्तोष की बात है । इससे हमारा अन्तःकरण पुलकित हो उठता है । आपको इतिहास-प्रसिद्ध महापुरुष के रूप में देखने की ही हमारी कामना निरन्तर रही है और वह पूर्ण भी अवश्य होगी ।*

प्रस्तुत पंक्तियाँ परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा अगणित परिजनों को लिखे गये पत्रों से उद्धृत हैं । ऐसे लक्षाधिक पत्र हैं, जिनके माध्यम से उन्होंने १९३५ से १९७१ की अवधि में विभिन्न स्थानों पर बैठे परिजनों से सम्पर्क स्थापित कर उस परिवार का बीजारोपण किया, जिसे आज युगनिर्माण योजना परिवार, गायत्री परिवार के रूप में हम सब अपनी आँखों से देखते हैं । व्यक्ति की प्रसुप्त सुसंस्कारिता को उभारकर उसे देवत्व की ओर अग्रगामी बना देना, उसकी भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं को आध्यात्मिक मोड़ देकर उसकी आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त कर देना तथा अपनत्व द्वारा उसका मनोबल, आत्मबल पर्याप्त मात्रा में बढ़ा देना, यह उनके पत्रों व व्यक्तिगत सम्पर्क की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी । लाखों व्यक्तियों ने उन्हें अपना अभिभावक, संरक्षक, सखा, प्रिय, इष्ट क्या-क्या नहीं माना व अपना सब कुछ उनके चरणों पर लुटा दिया, क्योंकि दुःख, कष्ट, संताप सभी में उनकी सहभागिता करने वाली यह सत्ता सतत उनका संरक्षण करती रहती है ।

जो उनके सामीप्य में आया उसे वह प्यार मिला, जो भौतिक दुनियावी सम्बन्धों के माध्यम से उसे नहीं मिला था । ऐसा दिव्य प्रेम जैसा भक्त-भगवान के बीच होता है, समर्पित साधक और आराध्य के बीच होता है । जिसने अपना जिस परिमाण में समर्पण किया, उसे उसी परिमाण में आध्यात्मिक वैभव ही नहीं, चैन-शान्ति के लिए भौतिक सुख भी मिलता चला गया । सबसे बड़ी विशेषता पूज्यवर के जीवन की यह है कि उन्होंने व्यक्ति को सीमित दायरे से निकालकर समाज के साथ, विराट के साथ जोड़ दिया । जो भी औषधि जिसके योग्य उपयुक्त थी, वह उन्होंने दी, किन्तु मार्ग एक ही बताया, आत्म-परिष्कार, पात्रता के विकास के साथ-साथ लोकमंगल की साधना, अपना ही नहीं अपने परिवार व समाज का साथ-साथ सुधार, निर्माण व विकास ।

अनेकानेक प्रकार की प्रवृत्तियों का एक अद्भुत सम्मिश्रण हमें परमपूज्य गुरुदेव के जीवनवृत्त में देखने को मिलता है । एक संत का जीवन इतना विविधता व बहुमुखी प्रवृत्तियों से युक्त हो सकता है व इतनी अल्पावधि में भी कोई स्वयं को साधारण कहने वाला व्यक्ति इतना विशाल कर्तृत्व सम्पन्न करके जा सकता है, यह सोच-सोचकर बुद्धि हतप्रभ हो जाती है ।

एक महान सन्त, एक विराट परिवार के अभिभावक, एक कुशल संगठक, एक श्रेष्ठ व्यवस्थापक, ममत्व की प्रतिमूर्ति, एक ऐसी सत्ता जिनके पास जाकर कोई अपना दुःखड़ा रो लेता था, एक महान लेखक, साहित्यकार, एक समाज-सुधारक, धर्म-राष्ट्र संस्कृति के उत्थान के लिए जिसके हृदय में आग जल रही हो, ऐसा लोकसेवी, एक वैज्ञानिक जो आज की युगमनीषा के स्तर पर चिंतन कर रहा हो व आधुनिकतम विज्ञान जिसके रोम-रोम में बसा हो, अध्यात्म प्रतिपादन उसी आधार पर करता हो, राष्ट्र की आधी जनशक्ति नारी के लिए हृदय में पीड़ा हो, भाव-संवेदनाएँ हिलोरें लेती हों, एक क्रान्तिकारी चिन्तक-ऋषि जो मूढ़-मान्यताओं, अन्ध-परम्पराओं से मोर्चा लेने पर उतारू हो, एक सर्वश्रेष्ठ वक्ता, एक शिल्पी-मूर्तिकार जिसने अपनी इच्छानुसार अगणित व्यक्तियों को जैसा चाहा हो, वैसा गढ़कर रख दिया अथवा अवतारी सत्ता जो परोक्ष जगत से सम्पर्क स्थापित कर दुर्गम हिमालय की ऋषिसत्ता से आने वाले संकेतों के आधार पर 'सतयुग की वापसी' का हमें स्वप्न ही नहीं दिखा गयी, एक प्रारूप व आचार-संहिता भी बना गयी, क्या-क्या स्वरूप बखान किया जाए, कुछ समझ में नहीं आता । अकिंचन हम मानवों द्वारा यह

सब शब्दांकन लेखनी द्वारा यद्यपि सम्भव नहीं, फिर भी सर्वसाधारण की जानकारी हेतु प्रयास तो किया ही जाना चाहिए, ताकि ऐसे युगऋषि, महामानव की वसीयत-विरासत से जन-जन लाभान्वित हो सके ।

संगठन तो अनेक बनते हैं, टूटते व बिखरते रहते हैं, किन्तु उनकी नींव किस ईंट, सीमेण्ट व चूने से बनायी जानी चाहिए व किस जल से उसकी तराई होनी चाहिए, यह परमपूज्य गुरुदेव ने हमें सिखाया । सद्गृहस्थ बने रहकर समाज को समर्पित आदर्शवादी कार्यकर्त्ताओं का एक मणि-मुक्तकों से गुँथा हार पूज्यवर अपने पीछे छोड़ गये हैं, जिसे उन्होंने स्नेह, ममत्व, अपनत्व द्वारा परस्पर अपने से जोड़ा था । न किसी प्रलोभन या बाह्य दबाव से, बल्कि अन्तःप्रेरणा तथा समर्पण भाव से जुड़े व्यक्ति ही देश-समाज-संस्कृति की रक्षा का दायित्व अपने कन्धों पर ले सकते हैं, यह हम उनका विशाल कर्तृत्व देखकर समझ पाते हैं । उन्होंने जन-जन की मनोवृत्ति का गहरा अध्ययन कर स्वार्थ से परमार्थ की यात्रा इस प्रकार करायी कि व्यक्ति कब संकीर्णता के दायरे से निकलकर विराट के साथ जुड़ गया, स्वयं वह ही नहीं समझ पाया । आज नये संगठनों की रूपरेखा बनाने वालों को गायत्री परिवार के निर्माण के इतिहास से बहुत कुछ सीखना होगा ।

**'संत हृदय नवनीत समाना'** की उक्ति अक्षरशः जिन्होंने पूज्यवर के जीवन में सार्थक होती देखी है, वे कल्पना कर सकते हैं कि सतयुग में संतपरम्परा का निर्वाह करने वाले कैसे होते होंगे ? दूसरों के कष्ट को अपना समझते हुए इतना विगलित हो जाना कि उसकी पीड़ा में हिस्सेदारी भी होने लगे, यह पूज्य गुरुदेव के जीवन में हम देखते हैं । एक पत्र में वे एक परिजन को लिखते हैं-*"गाय अपने बच्चों को दूध पिलाकर जिस प्रकार पुष्ट करती है, वैसे ही तुम्हारी आत्मा को विकसित करने और ऊपर उठाने के लिए हम निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं ।"* ये पंक्तियाँ किसी व्याख्या की मोहताज नहीं हैं ।

लेखनी की साधना उन्होंने जीवन भर की । कभी उसमें अवरोध नहीं आने दिया । यात्रा में भी वे सतत लिखते रहते । प्रातःकाल की उपासना-साधना के बाद उनका लिखने का क्रम आरम्भ होता, तो ४ से ६ घण्टे अनवरत चलता रहता । सारा चिन्तन नितान्त मौलिक एवं इतना स्पष्ट लिपिबद्ध मार्गदर्शन कि पढ़ने वाले को जो कुछ भी किया जाना है, जो होना चाहिए व जो होने वाला है, उसकी स्पष्ट झाँकी होने लगती है । विराट परिमाण में प्रकाशित पुस्तकें 'अखण्ड-ज्योति', 'युग निर्माण योजना,' 'युगशक्ति गायत्री' पत्रिका के वर्षों के लिखे लेख, अनूदित आर्षसाहित्य, प्रज्ञापुराण रूपी विलक्षण कृति उनकी सृजन-साधना के प्रमाण हैं । हिन्दी साहित्य को इस महामानव ने कितना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, इसका मूल्यांकन जब भी मनीषी करेंगे, तब ज्ञात होगा कि एक नई विधा जीवनदर्शन, मनोविज्ञान, व्यावहारिक अध्यात्म के क्षेत्र में विकसित हो गयी है । उन्होंने न केवल स्वयं लिखा, अनेक परिजनों को पास बैठाकर कलम चलाना सिखाया । वे जो अपने को पढ़ा-लिखा मानते थे, उनके पास आकर जब विद्यार्थी बने, तो उन्हें बदले में अनुदान मिलते चले गये । जो यह जानना चाहते हों कि महापुरुषों की कृपा कैसे बरसती है ? उनके सम्पर्क में रहकर पत्रकारिता का शिक्षण लेने वालों को देखकर भली-भाँति समझ सकते हैं । लेखनी की साधना हेतु उन्होंने युग-मनीषा का आह्वान किया व उन्हें ऐसे शिल्पी मिलते चले गये ।

एक ओर आज के युग में जहाँ चारों ओर छलावा, दुरभिसन्धियाँ, आपसी व्यवहार में कर्कशता ही दिखाई पड़ती है । दैनन्दिन जीवन की कठिनाइयों, प्रतिकूलताओं से परेशान मन शान्ति चाहता है, दिलासा चाहता है, उसका मन करता है कि कोई अपना स्नेह भरा हाथ उसकी पीठ पर भी फिराए । किन्तु उद्विग्न करने वाले, जीवन का निषेधात्मक पहलू दिखाने वाले अधिक एवं जीवन को ऊँचा उठाने की प्रेरणा देने वाले कम ही देखे जाते हैं । साहित्य यह सेवा कर सकता था व व्यक्ति के मनोबल को ऊँचा उठाकर उसे सृजनात्मक दिशा दे सकता था, किन्तु वहाँ से भी हताश ही हाथ लगती है । उसमें समाज में फैली विपन्नताओं, कष्ट-कठिनाइयों का अच्छा-खासा चित्रण रहता है, जो व्यक्ति को सोचने की, जीने की सही दिशा देने के स्थान पर उसमें निराशा का संचार करता रहता है, वहीं दूसरी ओर ऐसी परिस्थितियों में विश्वास नहीं होता कि मात्र अपनी लेखनी के जादू से कुछ पंक्तियों द्वारा ममत्वभरा परामर्श देकर एक सामान्य से दीखने वाले सद्गृहस्थ ने न केवल अगणित व्यक्तियों में नूतन प्रेरणा का अभिसंचार किया, वरन् प्रगति की दिशा दिखाकर उन्हें महामानव बनने, नव-सृजन का निमित्त बन जाने तक का श्रेय प्रदान किया ।

जिस युगपुरुष ने यह अपौरुषेय पुरुषार्थ सम्पन्न किया, हमारे बीच जो विगत पाँच दशक से हमारा अपना ही एक अभिन्न अंग बनकर हमारे हृदय पर राज्य करता रहा, उसके इस पहलू को इस तथ्य से जाना जा सकता है कि लगभग पचास हजार परिजन पूरे भारत में ऐसे हैं, जिनके पास पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी के हाथ से लिखे, मूर्च्छितों में भी प्राण फूँकने वाली संजीवनी से ओतप्रोत पत्र अभी भी सुरक्षित हैं । यही पत्र इन साधकों के जीवन की अमूल्य निधि हैं व वे उन्हें स्मरण करते रहने के लिए सदैव छाती से लगाए रखते हैं। अब स्थूल रूप से वे तो हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनका बहुमूल्य परामर्श जो दैनन्दिन जीवन सम्बन्धी था, साधना से जुड़ा हुआ था तथा अन्तरंग की गहन परतों को उघाड़कर अन्तःकरण की चिकित्सा करता चलता था, इन पंक्तियों के रूप में हमारे पास अभी भी है । पत्रलेखन की यह शैली सम्भवतः आने वाले वर्षों में अगणित छात्रों के लिए शोध का विषय बने । फिर भी जो इस पक्ष से अभी तक अनभिज्ञ हैं, सम्भवतः उन दिनों नहीं बाद में इस महामानव व ऋषियुग्म के तंत्र से जुड़े हों, उनको लाभान्वित करने के

लिए ऐसे कुछ पत्रों के महत्त्वपूर्ण अंश यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं ।

२१-६-१९५१ को लिखे गए अपने एक पत्र में पूज्य गुरुदेव अपने एक परिजन को लिखते हैं-"*आप हमारी आत्मा के टुकड़े हैं । इस मानव-शरीर से परम निस्वार्थ एवं सात्त्विक प्रेम जितना कोई किसी से कर सकता है, उतना ही हम आपसे करते हैं । यह आपसे कहने की नहीं, वरन् मन में रखने की बात है, आप विश्वास रखें, जब तक हमारी सत्ता है, आपको सदा ही अविरल पितृ-प्रेम प्राप्त होता रहेगा ।*" इसी प्रकार ५ दिसम्बर, १९५० को एक आत्मीय शिष्य को अपने पत्र में वे लिखते हैं-"*आप अपनी आत्मा के एक भाग हैं । आप जैसे स्वजनों को भूल जाने का अर्थ है-अपने आपको भूल जाना । यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं । आपके आत्मिक विकास का हमें पूरा-पूरा ध्यान है ।*"

मनोदशा सब की यदाकदा गड़बड़ाती है । ऐसी स्थिति में सही मार्गदर्शन मिले तो कहाँ से ? हर व्यक्ति हर समय तो चलकर किसी के पास जाकर अपनी मन की बात कहता नहीं रह सकता । ऐसी स्थिति में अगणित परिजन अपने मन की बात पूज्य गुरुदेव को लिख भेजते व हल्के हो जाते, क्योंकि वे निश्चिन्त थे कि उनके मन पर छाया घटाटोप इसके साथ ही मिट जाएगा । समाधान भी ऐसा मर्मस्पर्शी आता कि व्यक्ति अन्दर से हिल जाता था । एक सज्जन को ऐसी ही परिस्थितियों में लिखे गए एक पत्र का जवाब इस प्रकार मिला-

"*हमारे आत्मस्वरूप,*

*आपका पत्र मिला । धूप-छाँह की तरह मनुष्य के जीवन में तीनों गुणों के उभार आते रहते हैं । समुद्र में ज्वारभाटे की तरह मन भी कई बार उतार-चढ़ाव के झोंके लेता रहता है । महाभारत के बाद पाण्डवों ने श्रीकृष्णजी से युद्ध के समय कही हुई गीता पुनः सुनाने की प्रार्थना की, तो श्रीकृष्णजी ने उत्तर दिया कि उस समय मेरी जो आत्मिक स्थिति थी, वह अब नहीं है, इसलिए वह गीता तो नहीं सुना सकता, पर दूसरा उपयोगी ज्ञान 'अनुगीता' के नाम से सुनाता हूँ । इस प्रसंग से यह विदित होता है कि बड़े-बड़ों की मनोदशा में भी उभार आते रहते हैं । आपको भी वैसा हुआ हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । बदली हटते ही सूर्य का प्रकाश प्रकट हो जाएगा । आपका आधार बहुत मजबूत है । उसे पकड़े रहने वाले व्यक्ति की कभी दुर्गति नहीं होती ।*"

यह पत्र २१ नवम्बर, १९५२ को लिखा गया था । कितना सशक्त मनश्चिकित्सक के स्तर का प्रतिपादन है एवं प्रमाणित करता है कि यदि व्यक्ति की अन्तरंग परतों को स्पर्श कर मन:स्थिति ठीक बनाये रखने का परामर्श दिया जाए तो उन्हें ऊँचा उठने हेतु समर्थ आधार दिया जा सकता है । पूज्य गुरुदेव ने आजीवन यही सेवा की ।

१२-११-५३ को एक 'अखण्ड-ज्योति' पाठक को लिखे एक पत्र में पूज्य आचार्य श्री लिखते हैं-"*आप हमें हमारी आत्मा के समान प्रिय हैं । हम सदा आपके समीप हैं । जिस क्षण भी आप आवश्यकता समझें, आपके घर पहुँचने को अविलम्ब तत्पर हैं ।*" यही नहीं वे पत्रों में ममत्व भरे मार्गदर्शन के साथ रचनात्मक दिशानिर्देश भी दिया करते थे । इसी पत्र में वे लिखते हैं-"*आपका समय अमूल्य है । इसे आत्मवत् ही महत्त्वपूर्ण कार्यों में लगाना है । आपके आस-पास का मण्डल आपके द्वारा आत्मिकज्ञान के प्रकाश से आलोकित होगा । इस दिशा में आपको विश्वामित्र और भगीरथ जैसा प्रयत्न करना है । राजनीतिक झंझटों से आपकी शक्ति बचाकर उसी क्षेत्र में लगायी जानी है । आप इसके लिए तैयारी करते रहने में संलग्न रहें ।*"

यही मार्गदर्शन व्यक्ति की प्रसुप्त क्षमताओं को उभार कर कहाँ से कहाँ पहुँचा देता था । जो आज राजनीति के शीर्ष पर हैं, समाज-सेवा के क्षेत्र में काफी ऊँचे सोपानों को पार कर चुके हैं, उन्हें समय-समय पर मिला बहुमूल्य मार्गदर्शन ही मूल प्रेरणा का स्रोत बना ।

अपनी तप-साधना से औरों को लाभान्वित करना ही सदैव पूज्य गुरुदेव का लक्ष्य रहा । वे २१ जनवरी, १९५९ को लिखे गए एक पत्र में एक घनिष्ट आत्मीय को लिखते हैं-"*हम अधिक शक्ति प्राप्त करने जा रहे हैं और उसका परिपूर्ण लाभ आपको मिलने वाला है । आपके साथ हमारी आत्मा अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है और वह तब तक जुड़ी रहेगी, जब तक हम दोनों पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लेते ।*"

परिजन विभिन्न साधनाओं की जटिलताओं में उलझकर उनसे मार्गदर्शन लेते थे । कोई कुण्डलिनी, चक्रवेधन तथा कोई हठयोग अथवा विरक्ति प्रधान साधना का विधान जानने व मार्गदर्शन प्राप्त करने का हठ करता तो उनका उत्तर यों होता था-"*शबरी, निषाद, रैदास आदि अनेक साधारण स्थिति के साधक बिना विशिष्ट योग-साधनाओं के ही उच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सके थे । आप भी वैसा ही कर सकेंगे । गृहस्थ त्यागने की, नौकरी छोड़ने की आपको आवश्यकता न पड़ेगी । कोई चमत्कारिक अनुभव आपको भले ही न हो, पर आप गृहस्थ योग की भूमिका का ठीक प्रकार पालन करते हुए योगी और यतियों की गति प्राप्त कर लेंगे । आप इस सम्बन्ध में पूर्ण निश्चिन्त रहें और सब सोचना-विचारना हमारे ऊपर छोड़ दें ।*" यह पत्र २१ फरवरी, १९५४ को एक जिज्ञासु आत्मीय परिजन को लिखा गया था । इससे प्रतिपादित होता है कि वे साधक के भटकने की सारी सम्भावनाओं की जानकारी रखते हुए मन:स्थिति के अनुरूप चिकित्सक के स्तर का ऐसा परामर्श देते थे जिससे कोई आकस्मिक कदम न उठाकर व्यक्ति सहज जीवन-साधना के पथ पर सुगमतापूर्वक चलता रह सके ।

आध्यात्मिक यात्रा ठीक चल रही है या नहीं, इस सम्बन्ध में अपने सारगर्भित पत्र में लिखते हैं-"*सांसारिक झंझट तो आपके साथ इसलिए चलते रहेंगे कि जिसका जितना आपको देना-लेना है, उसको चुकाने की व्यवस्था*

*करनी है ताकि आगे के लिए कोई हिसाब-किताब ऐसा न रह जाए जो बन्धनकारक हो । आपका वर्तमान तो हम स्वयं परिमार्जन करते रहते हैं । उसकी तनिक भी चिन्ता नहीं करनी है । चिन्ता तो केवल पूर्व संचय की है, जिसका लम्बा हिसाब-किताब इसी जीवन में बेबाक करना आवश्यक है ।''* कितना आश्वासन देता था यह कथन उस व्यक्ति को, जो कर्म, बन्धन, मोक्ष की ऊहापोह में फँसा इधर-उधर भटकता रहा था ।

अपनी समस्या पत्र पाते ही सुलझती देख सहज ही भावनाशील परिजन कभी-कभी कुछ राशि 'अखण्ड-ज्योति संस्थान' के नाम भेज देते, तब उनका जवाब होता था-*''आपका भेजा हुआ २।।) का मनीऑर्डर मिला । आपके पैसे इतनी उच्चकोटि की श्रद्धा से भरे होते हैं कि उनको व्यक्तिगत उपयोग में लाते हुए हमारा अन्तस्तल काँप जाता है । इन्हें पचाने के लिए उच्चकोटि का ऋषित्व अपने अन्दर होना आवश्यक है । इसलिए आमतौर से आपके पैसों को परमार्थ में लगा देते हैं । यदि इस राशि का अन्न का एक कण भी हमारे उपयोग में आएगा, तो उतने दिन की हमारी तपश्चर्या एवं सेवा-साधना आपकी होगी व पुण्य आपको हस्तान्तरित होगा ।''*

क्या यह पंक्तियाँ पढ़ते हुए पाठकों को नहीं लगता कि इस युगपुरुष ने अपने वर्तमान विशाल परिकर को बनाने, संगठित करने के लिए कितने प्रचण्ड स्तर की तपश्चर्या की है ? जिसने धनाध्यक्षों के धन को ठुकरा दिया, स्वेच्छा से भेजे गए परिजनों की राशि को सत्प्रयोजनों में लगा दिया, वह निश्चित ही नरसी मेहता के, बापा जलाराम के स्तर का उच्चकोटि का साधक रहा होगा, जिसे पुण्य के बीजों को बोने के बदले में अगणित मूल्य वाली फसल काटने को मिली । लाखों की श्रद्धा, सद्भावना, निस्पृहता, निर्लोभिता की कड़ी परीक्षा से गुजर कर ही अर्जित की जा सकती है, इस तथ्य का साक्षी रहा है पूज्यवर का जीवन । जो बाबाजी बिना तपे आशीर्वचनों की मृग-मरीचिका में, अपने शारीरिक गठन एवं आकर्षक व्यक्तित्व के माध्यम से शिष्यगणों को उलझाते व ठगते रहते हैं, उनके लिए यह एक सिखावन है कि पहले देना सीखो, तुम्हें स्वत: मिलता जाएगा । समाजरूपी खेत में बोए दानों की फसल ढेरों सोना उगल सकती है, यदि निस्पृह भाव से समाज देवता की आराधना की गयी हो ।

उपर्युक्त मार्गदर्शन पाकर साधक स्तर के अन्त:करण वाले सहज ही उन्हें पत्र लिखकर अपना गुरु बनाने को लिखते व पूछते कि इसके लिए उन्हें क्या करना चाहिए ? २४ जनवरी, १९४५ को लिखे एक पत्र में वे परिजन को सम्बोधित करते हैं-*''गुरुतत्त्व में हम सब की वैसी ही निष्ठा होनी चाहिए जैसी कि अपने मन में धारण करने का आप प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य आखिर मनुष्य ही है । उसमें दोष होना सम्भव है । मुझे आप निर्दोष न समझें । इतना मानने-समझ लेने के बाद ही अपनी निष्ठा को केन्द्रीभूत करें । देवता मान लेने से आपकी साधना को हानि पहुँच सकती है ।''* कितना बेशक स्पष्टवादी मार्गदर्शन है । यहाँ यह बताना उचित होगा कि उस समय वे 'मैं क्या हूँ ?' जैसी गूढ़ उपनिषद् स्तर की पुस्तक लिख चुके थे । तथापि सभी को सत्साहित्य पढ़ते रहने व सत्यधर्म की दीक्षा लेने का ही आग्रह करते थे । गुरुदीक्षा तो उन्होंने तब देना आरम्भ की जब चौबीस लक्ष के चौबीस पुरश्चरण पूरा कर उन्होंने पूर्णाहुति कर ली । ज्येष्ठ सुदी १० गायत्री जयन्ती, १९५३ (संवत् २०१०) को उन्होंने अपने जीवन की पहली दीक्षा तीस साधकों को देकर एक महान शुरुआत की । लगभग पाँच करोड़ व्यक्तियों को मात्र ३६-३७ वर्ष में अध्यात्मपथ पर दीक्षित कर जिसने उच्च प्रगति के सोपानों पर चढ़ा दिया हो, वह स्वयं शक्ति अर्जित किए बिना औरों को अनुदान कैसे देता ? यही कारण था कि उनके सत्परामर्श, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक सूत्रों से युक्त होते थे ।

ईश्वरभक्ति सम्बन्धी परामर्श भी अध्यात्मपथ के पथिक अपनी ओर से उन्हें दिया करते थे, जिसे वे सिरमाथे रख अपनी महानता का परिचय देते थे । एक पत्र जो फरवरी, १९४३ में लिखा गया वे लिखते हैं-*''ईश्वर भक्ति सम्बन्ध में आपका विचार ही हमें अधिक उचित प्रतीत होता है । राम और कृष्ण यद्यपि ऐतिहासिक पुरुष भी हुए हैं, पर उनसे हमारे इष्टदेव भिन्न हैं ? व्यक्ति आदर्श हो सकते हैं, ईश्वर नहीं । ईश्वरीय-सत्ता वाले राम या कृष्ण की अन्त:करण में धारणा करनी चाहिए । ऐतिहासिक राम, कृष्ण के चरित्रों में कुछ दोष भी हैं । उनको इष्टदेव मानने से हम घाटे में रहेंगे । ध्यान प्रतिमा इष्टदेव उच्च आदर्शों एवं दिव्य गुणों से ही सम्पन्न होनी चाहिए । मानवीय दोषों का उनके साथ समन्वय कर देने से उलझनें बढ़ जाती हैं । अच्छा हो आप भी एक आदर्श नियत कर लें । राम, कृष्ण या बुद्ध की प्रतिमाएँ ध्यान के योग्य उत्तम हैं । आप हमें या किसी अन्य जीवित पुरुष को उस आसन पर बिठाने की भूल न करें ।''*

कितना सही अध्ययन है कि व्यक्ति की मन:स्थिति का एवं तदनुरूप उसके समाधान का ? जब तक बुद्धि सक्रिय हो, तर्क-श्रद्धा-समर्पण में आड़े आता हो, तब तक समाधान किस स्तर का दिया जाना चाहिए, इसे वे भली-भाँति समझते थे । प्रतीकपूजा, मूर्तिपूजा, गुरुवरण की भाँति-भाँति के विचार रखने वाले परिजन के लिए उनका इसी स्तर का मार्गदर्शन रहा करता था ।

प्रत्येक पत्र स्वयं में एक पाठ्य-सामग्री होता था, [illegible] विवेचना एवं व्यावहारिक तर्कसम्मत मार्गदर्शन से युक्त [illegible] यह लिखने वाले उस मनीषी की ही विशेषता थी । [illegible] यह आग्रह नहीं होता था कि सामने वाला उनकी बात [illegible] माने ही । वे अपना विनम्र निवेदन प्रस्तुत कर देते, आत्मीयता भरा अनुरोध भी तथा लिखते कि जो लिखा, वह आपको ठीक लगे तो ही ग्रहण करें ।

यज्ञ की व्याख्या एक तार्किक जिज्ञासु को लिखते हुए उन्होंने स्पष्ट किया-*"यज्ञ मनुष्य का प्रधान कर्तव्य है । धर्म का प्रमुख आधार है । गीता के अनुसार यज्ञ कई प्रकार के हैं । उनमें से एक अग्निहोत्र भी है । कोई अग्निहोत्र को ही यज्ञ मानते हैं, परन्तु ज्ञानयज्ञ आदि भी उतने ही पवित्र हैं, जितना अग्निहोत्र । रुचिभिन्नता के अनुसार सभी उत्तम हैं, सभी फलदायक हैं । हो सकता है कि महर्षि दयानन्द ने मूर्तिपूजा के पाखण्ड से लोगों का चित्त हटाने के लिए हवन की पद्धति के कर्मकाण्ड पर विशेष जोर दिया हो । वर्तमान समय में हमारे देश के दो प्रधान रोग हैं-(१) अज्ञान, (२) दरिद्रता । इन दो को हटाने के कार्य में जो क्रिया सहायक न होती हो, वह सामयिक युगधर्म के अनुसार शायद यज्ञ न ठहराई जा सकेगी । ज्ञानयज्ञ, विचार-क्रान्ति शायद उसका सही स्वरूप होगा ।"*

उपर्युक्त पत्र उन्होंने एक अक्टूबर, १९४३ को एक साधक को लिखा था । तब उनकी आयु थी ३२ वर्ष । वे आर्य समाज (चौक) मथुरा के प्रधान थे एवं सम्भवतः पूछे गए प्रश्न का उत्तर इससे समुचित सटीक व अधिक कोई और नहीं हो सकता था ।

समय-समय पर नरमानवों को उनकी प्रसुप्त सुसंस्कारिता जगाने के निमित्त वे लिखते-*"आप साधारण परिस्थिति में गुजर जरूर कर रहे हैं, पर वस्तुतः अत्यन्त उच्च कोटि की आत्मा हैं । रोटी खाने और दिन गुजारने के लिए आप पैदा नहीं हुए । विशेष प्रयोजन लेकर ही अवतरित हुए हैं । उस प्रयोजन को पूरा करने में ही लग पड़ना चाहिए । आत्मबल द्वारा ही साहसपूर्ण कदम उठाये जाते हैं । आप अब उसी की तैयारी करें और हमारी सच्चे उत्तराधिकारी की तरह हमारा स्थान सँभालें ।*

स्वयं अपने सम्बन्ध में बार-बार परिजनों के लिखने पर वे उन्हें प्रत्युत्तर देते-*"भविष्यवाणियाँ (जो आपने लिखीं) हमारे अपने ही सम्बन्ध में हैं । लोग पहचान नहीं पा रहे हैं । समय निकल जाने पर पहचानेंगे और पछताएँगे । आपको इस सन्दर्भ में क्या करना होगा सो हम मिलने पर बताएँगे ।"* (१८/३/७०) । इसी प्रकार एक साधक को ११-९-१९६३ को लिखते हुए उन्होंने स्पष्ट किया-*"रामकृष्ण परमहंस का चित्रपूजा के स्थान पर रखने में कोई हर्ज नहीं । अब से तीसरा पूर्व शरीर हमारी ही आत्मा ने रामकृष्ण परमहंस का धारण किया है । वही आत्मा आपके वर्तमान गुरुरूप में विद्यमान है ।"*

इन सब विस्तृत जानकारियों के बाद भी क्या किसी के मन में कोई संदेह होना चाहिए ? एक युगपुरुष के सम्बन्ध में, उस उच्च मार्गदर्शक सत्ता के विषय में जो उन्हें उँगली पकड़ कर चलना सिखाती रही व अपने साथ नाव में बिठाकर उन्हें जन्म-जन्मान्तरों के लिए निहाल कर गयी ।

# अलौकिकताओं से भरे गुरुसत्ता के कुछ प्रसंग

वस्तुतः अवतारों की भूमि है भारतवर्ष । वे विशिष्ट चेतनसत्ता को समाहित कर अवतरित होते हैं व मानवमात्र का मार्गदर्शन करने के लिए शाश्वत तत्त्वदर्शन सूत्र रूप में दे जाते हैं । आज हम जिन क्षणों में यह चर्चा कर रहे हैं, यह बड़ा वैशिष्ट्यपूर्ण समय है । जितनी आवश्यकता धरा को अवतार की इस समय है, उतनी सम्भवतः पहले कभी नहीं रही । अवतार कौन-सा है ? श्रुति के अनुसार, ईश्वरीयसत्ता के अवतार कई रूपों में होते हैं-आवेशावतार, चेतनावतार, सिद्धावतार इत्यादि ऐसे भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे समक्ष विगत डेढ़ सौ, दो सौ वर्षों में कई सत्ताएँ आयीं व अपने लीलासंदोह द्वारा अनेकों को अपना सखा-अनुचर बनाकर उनको गढ़ती हुईं उनसे असम्भव-सा दीख पड़ने वाला पुरुषार्थ भी सम्पन्न करा गयीं । बुद्ध से लेकर आद्यशंकराचार्य तक तथा चैतन्य व कबीर से लेकर ज्ञानेश्वर, समर्थ रामदास, छत्रपति एवं रामकृष्ण परमहंस से लेकर विवेकानन्द, योगीराज अरविन्द तक ये सभी अवतारी सत्ताएँ ही थीं, जिनके लीलासहचर बनकर देवतत्त्व अंशधर आत्माएँ निहाल हुईं व जगती को धन्य बना गयीं ।

परमपूज्य गुरुदेव के लीलाप्रसंग के सन्दर्भ में जब हम चर्चा करते हैं तो सहज ही किसी को लग सकता है कि क्या किसी की बीमारी दूर होने, नौकरी लग जाने, असम्भव काम होते चले जाने से ही उसके लीलापुरुष की पहचान की जा रही है ? तार्किक यह भी सोच सकता है कि क्या कर्म का कोई महत्त्व नहीं है ? यह कैसे पहचान की जाए कि जिसे कुछ मिला, वह इस योग्य था भी कि नहीं ? वस्तुतः इन लीलाप्रसंगों के माध्यम से एक ही बात समझाने का प्रयास किया जाता है कि हम सब जो उस सत्ता से जुड़े, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में असाधारण रूप से सौभाग्यशाली हैं । किसी को प्रलोभनवश टॉफी मिल जाए व फिर भी वह काम न करे, तो उस बच्चे पर नाराज नहीं हुआ जाता । क्षमाशील, उदारचेता वह सत्ता एक विराट हृदय वाले पिता की तरह है तथा बहिरंग के अलौकिक प्रसंगों के मूल में उसका एक ही उद्देश्य होता है व्यक्तिविशेष की चेतना में आमूलचूल हेर-फेर, परिपूर्ण बदलाव । यह काम वह सतत करती रहती है । राम के, कृष्ण के जमाने में भी यही हुआ व आगे भी यही होता रहेगा ।

जिन दिनों यह लीलाप्रसंग आप हम सब पढ़ रहे हैं, उन दिनों सृष्टि पर एक अभूतपूर्व प्रयोग सम्पन्न होने जा रहा है । ऐसा विश्व के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ । वह है सामूहिक मन पर एक ऐसी प्रक्रिया सूक्ष्मजगत से, जिसके माध्यम से व्यक्ति की चेतना का रूपान्तरण किया जा सके । परमपूज्य गुरुदेव के अभी तक के सभी चमत्कार

इसी क्षेत्र में हुए हैं । व्यक्ति का एक विराट स्तर पर चेतना जगत के धरातल पर पुनर्निर्माण हो, यह एक विलक्षण घटना है। महर्षि अरविन्द कह गए हैं कि- ''अतिमानसिक दिव्यता नीचे आकर मानव-प्रकृति का सामूहिक रूपान्तरण करना चाहती है ।'' यही बात परमपूज्य गुरुदेव ने अपने शब्दों में इस प्रकार कही है- ''इन दिनों मनुष्य का भाग्य और भविष्य नये सिरे से लिखा और गढ़ा जा रहा है । ऐसा विलक्षण समय कभी हजारों लाखों वर्षों बाद आता है । इन्हें चूक जाने वाले सदा पछताते ही रहते हैं और जो उसका सदुपयोग कर लेते हैं, वे अपने आपको सदा-सर्वदा के लिए अजर-अमर बना लेते हैं ।''

विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से एक ही तथ्य का प्रतिपादन किया जाता है कि यह परोक्ष जगत में छाई चेतना है, जो भिन्न-भिन्न रूपों में अपने प्रभाव दर्शा रही है, जिन्हें हम चमत्कार के रूप में जानते हैं । एक चमत्कार यह भी हो सकता है कि अगणित व्यक्तियों की प्रतिभा उस क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रेरित कर दी गयी, जिसके विषय में न उनकी योग्यता थी, न उन्होंने स्वयं कभी चिन्तन किया था कि ऐसा भी कुछ हो सकेगा । एक चमत्कार यह भी है कि एक बहुत बड़ा वर्ग औरों की तरह भौतिक जगत के प्रवाह में न बहकर श्रेष्ठता की ओर ले चलने वाले प्रवाह से जुड़ने की सोचने लगा, न केवल सोचने, वरन् छोटे-छोटे दीपयज्ञों, यज्ञायोजनों द्वारा सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन के कार्यक्रमों में जुट गया । एक चमत्कार यह है कि नये जन्म लेने वाले बालक-बालिकाओं का एक बड़ा वर्ग भारतीय-संस्कृति के विभिन्न पक्षों को जीवन में उतारने लगा और बौद्धिक व भावात्मक दोनों ही क्षेत्रों में बहुमुखी प्रतिभा उसकी दृष्टिगोचर होने लगी, क्या यह सभी चमत्कार नहीं हैं ? सम्भवतः इन सबका मूल्यांकन अभी न होकर बाद में हो, अतः फिलहाल उन प्रसंगों की चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं, जिनसे स्थूल-बहिरंग जगत में दृष्टिगोचर प्रसंगों का ऊहापोह किया जाता है ।

जो अवतारीसत्ता के काम में स्वयं को नियोजित करता है, उसका वह सदा-सर्वदा ध्यान रखती है । योग-क्षेम को वहन करने का दायित्व वह पूरी तरह निभाती है । कर्मक्षेत्र में अग्रसर होने की प्रेरणा भी सतत देती रहती है । सीकर (राजस्थान) के श्री वंशीनारायण साधक २६ फरवरी, ९२ को भेजी अपनी अनुभूति में लिखते हैं कि वे ७ से ११ जनवरी, १९७४ की अवधि में चलने वाले प्राण-प्रत्यावर्तन सत्र में भागीदारी करने शान्तिकुंज आए, तो विदा के समय पूज्यवर ने एक ही पंक्ति में अपनी बात कही-''बेटा मौत को याद रखना ।'' उस समय उन्होंने यही अर्थ लगाया कि जीवन में जो दोष-दुर्गुण हैं, उनको समाप्त करने का ही निर्देश दिया गया है । शान्तिकुंज से आते ही डेढ़ मास पश्चात् उनके सिर में भयंकर दर्द शुरू हो गया । दर्द इतना असहाय कि वे फूट-फूटकर बच्चों की तरह रोते थे । खूब दवाई की, कोई आराम नहीं । उन्हें लगा कि गुरुदेव की बात सही होने जा रही है । उन्होंने कहा था-''मौत को याद रखना ।'' अतः अब मृत्यु का योग आ गया है । पहले से उन्होंने सावधान कर दिया था । यह मृत्यु होनी ही है तो गुरु के चरणों में शान्तिकुंज में ही हो, यह सोचकर शान्तिकुंज रहने के इरादे से ही सब सामान आदि लेकर पेंशन आदि की कार्यवाही करके वे पत्नी व बच्ची को लेकर १७ अप्रैल, १९७४ को प्रातः हरिद्वार पहुँच गए । पहुँचते ही ऊपर से बुलावा आ गया । कुम्भ का पर्व था । खूब भीड़ थी । गुरुदेव ने पूछा-''बेटा ! कैसे आये ?'' ''दर्शन के लिए ।'' ''अच्छा दर्शन कर लिए तो अब वापस लौट जा ।'' इन्होंने अब असली बात कही कि वे तो सामान व बच्ची सहित शान्तिकुंज रहने की दृष्टि से आए हैं, तो पूज्य गुरुदेव गर्म होकर कहने लगे कि ''तू सारी मर्यादाएँ तोड़कर बिना कुछ काम किए यहाँ रहना चाहता है, जा ! रहना है तो काली कमले वाले के यहाँ जा । यहाँ कोई जगह नहीं है ।'' पूज्यवर के श्रीचरण उन्होंने पकड़ लिए व कहा कि इन्हें छोड़कर कहीं जाना नहीं है ।

पूज्य गुरुदेव लीलापुरुष हैं । वे तो देखकर ही समझ गए थे कि क्यों इन सज्जन का आगमन हुआ है ? वह भी जीवनदानी बनकर । उन्होंने वंशीनारायण जी की धर्मपत्नी से पूछा-''यह तो कुछ बताता नहीं । तू बता ।'' उनकी पत्नी ने सिर की पीड़ा वाली बीमारी व मौत के भय का पूरा विवरण सुनाया । बताया कि कहीं आराम नहीं मिला । आपको पत्र लिखा तो जवाब नहीं मिला । फिर यही सोचा कि अब यहीं शरण मिलेगी, तो पेंशन की कार्यवाही करके रहने आए हैं । कहते हैं कि जीवनदान मिल गया तो यहीं रहकर सेवा करेंगे, नहीं तो मृत्यु वरण करेंगे । इतना कहकर वे रोने लगीं । गुरुदेव ने कहा कि-''नौकरी के अभी काफी वर्ष बाकी हैं । पेंशन लेने की क्या जरूरत है ? बच्ची छोटी है । नौकरी भी करो व समाज का काम करो । उम्र तुम्हारी हम बढ़ा देंगे । बच्ची व बहू को घर छोड़ आओ । एक माह का प्रशिक्षण सत्र अटेण्ड कर लो व नौकरी फिर कर लो । प्रशिक्षण के बाद जाकर जहाँ हम भेजें, कार्यक्रम करने जाना, पर नौकरी मत छोड़ना । जिम्मेदारियाँ पूरी करके फिर समाज का पूरे समय काम करना ।'' इतना कहकर उन्होंने आशीर्वाद देकर विदा किया । नीचे उतरते सिरदर्द तो समाप्त हो गया था, एक विलक्षण-प्रकार की हल्केपन की अनुभूति हो रही थी । उसके बाद वह सिरदर्द पुनः कभी नहीं हुआ । १८ वर्ष पूरे बीत चुके हैं । उनके दायित्व सब निभते चले गए । सारा परिवार प्रसन्नचित्त मिशन के कार्यों में लगा है । वे स्वयं एक समर्पित कार्यकर्त्ता हैं ।

''तुम्हारी पत्नी की बीमारी एक रहस्य है और जिन्दगी भर रहस्य ही बनी रहेगी । माँ पर विश्वास रखो । बहू की तबियत ठीक रहेगी ।'' यह पत्र परम वंदनीया माताजी के हस्ताक्षर से श्री अश्विनी कुमार शर्मा, जो बी.

एच. ई. एल. भोपाल में कार्यरत हैं, को प्राप्त हुआ तो उनके समक्ष विगत दो वर्षों की अपनी पत्नी की बीमारी का पूरा दृश्य घूम गया । साथ ही पूज्यवर के कक्ष में उनके द्वारा बोला गया एक ही वाक्य पुनः मन-मस्तिष्क में गूँजने लगा-''रोता क्यों है बेटे ! मैंने उसे जीवनदान दिया है ।'' यह उन्होंने २९ जून, १९८३ को शान्तिकुंज में अपने कक्ष में ब्रह्ममुहूर्त में कहा था, जब वे दर्शनार्थ पत्नी सहित शान्तिकुंज आए थे । वस्तुतः स्थिति ऐसी ही थी । ७ मई, १९८२ को पहली बार जब उन्हें मिर्गी के दौरों के साथ बेहोशी की स्थिति में कस्तूरबा अस्पताल में भर्ती किया गया तो स्थिति गम्भीर ही थी, बेहोशी टूटती तो दौरे तेजी से आने लगते व दौरे समाप्त होते तो गहरी बेहोशी । चीफ मेडिकल ऑफीसर डॉ. के. व्ही. पण्ड्या सहित कुशल चिकित्सकों की एक पूरी टीम जाँच-पड़ताल करने में लगी थी व अभी कोई सुनिश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पायी थी कि कारण क्या है । उसी दिन रात्रि ढाई बजे साँस उल्टी चलने लगी व लगा कि अब अंतिम समय आ गया है । उसी क्षण स्वयं डॉ. पण्ड्या जी ने टेलीग्राम बनाकर विवरण पूज्यवर को भेज दिया । इधर पोस्टऑफिस से टेलीग्राम किया गया व उधर साँस नारमल हुई । धीरे-धीरे वे गहरी बेहोशी में चली गयीं । ४ दिन बाद वंदनीया माताजी का पत्र आ गया कि ''हम माँ से प्रार्थना कर रहे हैं ।'' श्रीमती शर्मा की जान बच गयी । रोग क्या था, कोई जान न पाया, बम्बई जाने तक व कैटस्कैन से लेकर सभी जाँच-पड़तालें हुईं, पर बीमारी रहस्य ही बनी रही । ढाई-तीन वर्ष बाद दौरे स्वतः बन्द हो गए व अब वे पूर्णतः ठीक हैं । कोई नहीं कह सकता कि कभी ब्रेनट्यूमर जैसी डायग्नोसिस इनकी की गयी होगी । आश्चर्य यही है कि गम्भीर बेहोशी की स्थिति में वे न किसी को पहचान पाती थीं न जवाब दे पाती थीं, पर गायत्री मंत्र का स्पष्ट उच्चारण स्वयमेव करती रहती थीं । श्री अश्विनी कुमार जी व उनकी पत्नी नैष्ठिक कार्यकर्त्ता हैं व उनका रोम-रोम गुरुसत्ता के प्रति कृतज्ञ है, जिन्होंने उनके घर को बिखरने से रोका । सबका उसी तरह ध्यान रखा, जैसा आकाश में उड़ती चिड़िया को घोंसले में बैठे बच्चों का होता है ।

वस्तुतः महापुरुष जिस लोक में रहते हैं, उसमें वे स्थूलजगत में कहीं और विचरण कर रहे होते हैं व अपने भक्त को कष्ट होते ही उसके प्रारब्ध व समर्पण के अनुरूप उसको सांत्वना देने, कष्ट हरने सूक्ष्मरूप में पहुँच जाते हैं । एक ही समय में एक ही सत्ता विभिन्न स्थलों पर कहीं भी कभी भी हो सकती है । स्थूलशरीर से न रहने पर वह मार्गदर्शन करेगी कि नहीं, हमारी विपदाओं को हरेगी कि नहीं, यह असमंजस किसी के भी मन में आ सकता है । किन्तु यदि हम उनके आश्वासन पर दृष्टि डालें तो वस्तुतः सूक्ष्म व कारणरूप में उनकी सत्ता और भी अधिक व्यापक क्षेत्र में गतिशील है व अपना प्रभाव सतत दिखा रही है । एक छोटा-सा घटनाप्रसंग बताकर इस चर्चा का समापन करेंगे । रतलाम नगर के कार्यकर्त्ता रुद्रकुमार कृष्णात्रे ६ से ८ फरवरी, १९९२ की अवधि में सामूहिक शक्ति-साधना कार्यक्रम की तैयारी में जुटे थे । संयोग से वसंत पंचमी भी साथ में होने से परमपूज्य गुरुदेव का आध्यात्मिक जन्म-दिवस भी साथ ही मनाया जा रहा था ।

श्री कृष्णात्रे जी कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए दिन-रात लगे हुए थे । ६ फरवरी का प्रसंग है । कलश यात्रा रवाना करने के बाद वे देव-स्थापना के लिए कुछ परिजनों को तैयार रहने का संदेश देने के लिए अपनी मोपेड पर रवाना हुए । नगर के एक व्यस्त मार्ग से गुजरते समय सामने से तेज गति से आ रही एक साइकिल से उनकी टक्कर हो गयी । वे नीचे सड़क पर आ गिरे । तभी लगा कि किसी वृद्ध ने सहारा देकर उन्हें व जिस साइकिल चालक से उनकी टक्कर हुई, दोनों को उठाकर खड़ा कर दिया । जिस समय इधर टक्कर लगी थी, उसी समय शोभायात्रा का समापन हो रहा था । काफी तेज हवा चल रही थी व गुरुजी-माताजी के चित्र उसी समय वेग से गिर कर उनके काँच टूट गए थे । परिजनों ने तुरन्त चित्रों को काँच मढ़वाने के लिए भेज दिया था । संयोग ही था कि एक्सीडेण्ट व चित्र गिरने का समय एक ही था । जब वे अपनी मामूली-सी खरोंच व साइकिलचालक की ऊपरी चोट का प्राथमिक उपचार कराके कार्यक्रम-स्थल पर पहुँचे तो सारी जानकारी उन्हें मिली ।

जिन्हें लगता है कि स्थूलशरीर से पूज्यवर नहीं हैं, अब उन्हें कौन देखेगा, कौन उनका कष्ट निवारण करेगा, उनके लिए सतत आश्वासन है उस सत्ता का, कि मेरा काम करते रहने वाले हर परिजन की देख-रेख मेरी सूक्ष्मसत्ता व वंदनीया माताजी की सूक्ष्मशक्ति सतत करती रहेगी । कभी भी उस संरक्षण में कोई कमी नहीं आने वाली । वे औघड़दानी हैं । औघड़दानी उसे कहते हैं जो अनायास ही भक्तों पर प्रसन्न हो अपनी विभूतियाँ लुटाता रहता है । बाबा भोलेनाथ इसी नाम से प्रसिद्ध भी हैं । कालजयी, महाकाल, समुद्रमंथन से निकले हलाहल को, वारुणि को अपने कण्ठ में धारण कर देवसत्ताओं को अमृतपान का लाभ देते हैं । हमारी गुरुसत्ता परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, जिन्होंने मानवता के निमित्त दुष्प्रवृत्तियों का हलाहल स्वयं धारण कर विश्वहितार्थाय जीवन जिया, उनका वही साक्षात शिवरूप हममें से अनेकों ने प्रत्यक्ष अपने जीवन में देखा है । अगणित परिजन उनके द्वारा प्रदत्त संजीवनी-शक्ति से लेकर दैवी-संरक्षण तथा भौतिक विभूतियों से लेकर आध्यात्मिक सिद्धि के पात्र विगत साठ वर्षों में बने । इन प्रसंगों को पढ़कर सहज ही मन में पुलकन व स्फुरणा होती है कि ऐसी सत्ता के अंशधर यदि हम हैं तो कोई हमारा क्या बिगाड़ सकता है । वे नहीं हैं स्थूलतः तो क्या, उनका दैवी रक्षाकवच तो हमारे चारों ओर यथावत विद्यमान है । वह सूक्ष्मसत्ता भी हर परिजन के समक्ष ही है, जो जब कातर भाव से माँगा जाए तो सब कुछ देने को आतुर है ।

अनुभूतियों के पिटारे को खोलकर विगत आधे शतक के घटनाक्रमों पर दृष्टि डालते हैं तो अगणित ऐसे प्रसंग देखने को मिलते हैं, जिनसे परमपूज्य गुरुदेव की सत्ता के विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं । वैद्य श्रीमदनलाल श्रोत्रिय राजस्थान के एक प्रखर कार्यकर्त्ता रहे हैं । उन दिनों वे राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय, पहुना जिला चित्तौड़गढ़ में सेवारत थे । एक दिन गायत्री तपोभूमि, मथुरा में पूज्य गुरुदेव के साथ बैठे थे । चर्चा चलती रही, फिर पूज्य गुरुदेव घीयामण्डी चल पड़े । साथ में उन्हें भी लेते गए । विभिन्न प्रसंगों पर चर्चा होती रही । घीयामण्डी में घर की छत पर बैठे वार्ताप्रसंग को उन्होंने सहज ही विराम देते हुए कहा कि-''मदन तुम्हें कुछ जरूरत हो तो माँग लो ।'' उन्होंने कहा तो नहीं कि यह चाहिए पर सहज विनम्रतावश कहा कि ''सब कुछ पूज्यवर आपका ही दिया हुआ है । कुछ भी तो नहीं चाहिए ।'' तो गुरुदेव बोले-''अच्छा ! कल से किसी को मिट्टी की पुड़िया भी दोगे, तो रोगी ठीक होते जाएँगे । विश्वासपूर्वक देना व जीवन भर हमारा काम करना ।'' वैद्य श्रोत्रिय जी बताते हैं कि इसके बाद अगणित असाध्य रोगियों को उन्होंने गायत्री मंत्र बोलकर एक ही दवा दी-यज्ञ की भस्म के साथ रोग के लिए दी जाने वाली वनौषधि का चूर्ण, क्वाथ या आसव । देखा कि कई बार दवाएँ बदल जाने पर भी रोगी ठीक हो गया । एक श्वास रोगी को प्रवाहिका की दवा चली गयी तो वह भी ठीक हो गया तथा प्रवाहिका के रोगी को कनकासव की बोतल में मात्र पानी दिया गया, वह भी ठीक हो गया । बाद में वे मात्र भस्म देकर ही रोगियों को स्वास्थ्य-लाभ दिया करते थे । यह गुरुकृपा ही थी कि उनके पास आए सभी रोगी स्वस्थ-सानन्द होते चले गए । यह औघड़दानी का वरदान ही तो है ।

रामपुर के एक सज्जन श्री कौशल कुमार चौधरी व उनकी पत्नी अनिता चौधरी ने अपनी प्रथम संतान के जन्म के सम्बन्ध में एक विस्तृत विवरण मय प्रमाणों के लिखकर भेजा । परमपूज्य गुरुदेव के आशीर्वाद के साथ निर्देश मिला कि सविता देवता की उपासना करो । निश्चित ही-सुसंतति की प्राप्ति होगी । गर्भधारण करते ही खून में लौह-तत्त्व की अत्यधिक कमी पाने से चिकित्सकों ने औषधियाँ आरम्भ कर दीं, किन्तु शीघ्र ही डेढ़ माह के अन्दर ही एबॉर्शन हो गया । ऐसा दो बार हो जाने पर पुनः यहाँ आकर पूज्यवर से प्रत्यक्ष आशीर्वाद माँगा, बताया कि डॉक्टर्स ने जीन्स में डिफेक्ट बताया है । रिपोर्ट में लिखा था कि रक्त के कोषों का कल्चर करने के बाद पाया गया कि इस प्रकार को क्रोमोसोमल काम्पलीमेण्ट की बनावट बार-बार एबॉर्शन के लिए जिम्मेदार है । क्रोमोसाम नं. १२ की लोकेशन पर मोनोसोमी, ट्राइसोमी की विकृति पायी गयी । तय था कि ल्यूकोसाइट कल्चर की रिपोर्ट के बाद उनके गर्भधारण के प्रयास के बाद हर चिकित्सक का जवाब एक ही होता कि वे एबॉर्शन करवा लें व आगे सन्तान-सुख की बात सोचें ही नहीं । परमपूज्य गुरुदेव ने वंदनीया माताजी के पास से एक रक्षाकवच मँगाकर श्रीमती चौधरी को पहनने को दिया । इसके पहनने के बाद ही उन्होंने नियमित सूर्य का ध्यान व गायत्री उपासना का क्रम आरम्भ कर दिया । गर्भधारण हुआ । सोनोग्राफी व बच्चे की माँ के जीन्स के विश्लेषण से जानकारी मिली कि बच्चा बिलकुल ठीक है व प्रायः बीस सप्ताह का बालक गर्भ में स्वस्थ है । पुंसवन संस्कार कराने सम्बन्धी निर्देश परमवंदनीया माताजी का मिला । वह भी कराया गया । सब कुछ ठीक चल रहा था कि हीमोग्लोबिन पुनः गिरने लगा । उन्होंने पत्र लिखा व दवाएँ चालू रखीं । पत्र लिखने के अगले दिन ही हीमोग्लोबिन सामान्य आ गया थ जिसका कोई बुद्धिसम्मत समाधान चिकित्सकों के पास नहीं था । अंततः १८ नवम्बर, सोमवार, कार्तिक शुक्ल एकादशी, १९९१ के दिन उन्हें एक स्वस्थ, सुन्दर, तेजस्वी संतति की प्राप्ति हुई । यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि चिकित्सा उपचार उनकी ओर से सितम्बर, १९८८ से ही चल रहे थे, पर प्रत्यक्ष आशीर्वाद पूज्यवर का व बाद में परमवंदनीया माताजी का उन्हें मिलता रहा, जिसकी परिणति तब हुई जब स्वयं गुरुदेव सूक्ष्म व कारणसत्ता की अंशधारी सत्ता बन चुके थे । कितना अलौकिक दैवी स्तर का संरक्षण है यह ? इस घटनाक्रम के माध्यम से हम सभी परिजनों को आश्वस्त करना चाहते हैं कि परमपूज्य गुरुदेव की सत्ता का स्थूल रूप अब नहीं है, इस पर कदापि विक्षुब्ध न हों । उनकी सूक्ष्मसत्ता और भी सक्रिय व अतिव्यापी बन पूरे कार्यक्षेत्र में गतिशील है ।

ईश्वरीय अनुकम्पा हर व्यक्ति पर बरस सकती है व बरसती है, यदि उसने अपना पुरुषार्थ करने में कोई कसर न छोड़ी हो उतना सब होने के बाद ईश्वर को कातरभाव से पुकारा हो । यह एक अनिवार्यता है कि व्यक्ति अपना प्रयास पूरा कर ले । फिर द्रौपदी की याचना से लेकर मगर के जबड़े में फँसे गजराज तक की पुकार वे सुनते हैं । हर परिजन यही सोचकर परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी को अपनी समस्या-सम्बन्धी पत्र लिखता रहा कि उसने अपनी ओर से पूरी कोशिश कर ली, अब उनकी कृपा से ही आगे गाड़ी बढ़ेगी । जबलपुर के श्री सूर्यभानु लिखते हैं कि सन् १९७७ में उनकी पत्नी की तबियत अचानक काफी खराब हो गयी । चार माह तक बुखार ही नहीं उतरा । डॉक्टर बीमारी का इलाज तो कर नहीं पाए, कई एण्टीबायोटिक्स देकर जीवनीशक्ति को बुरी तरह झिंझोर जरूर डाला । तब उन्होंने मजबूर होकर पूज्यवर को पत्र में अपनी व्यथा लिखकर पोस्ट कर दी । आश्चर्य यह कि इधर पत्र डाला व उधर बुखार कम होने व तबियत क्रमशः अच्छी होने की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी । जवाब भी आ गया । आशीर्वाद रामबाण सिद्ध हुआ व दो माह में वे बिलकुल स्वस्थ हो, नियमित दिनचर्या में भाग लेने लगीं । तब से आज तक नीरोग हैं । मानते हैं कि उनकी समर्पण भाव से की गयी याचना भरी करुण पुकार ही उनकी पत्नी के स्वास्थ्य के ठीक होने के मूल में पूज्यवर की अनुकम्पा का निमित्त कारण बनी ।

कई बार ऐसे प्रसंग भी आते थे, जब परमपूज्य गुरुदेव दूसरों के कष्ट अपने पर लेकर उन्हें हल्के कर देते थे। संयमित दिनचर्या, नियत आहार व तप-साधना के चलते कभी किसी भी प्रकार की कोई व्याधि पूज्यवर को नहीं हुई। ऐसे में कभी किसी का कष्ट निज पर ओढ़ना ही उसके मूल में था। श्रीमती मायावर्मा से सभी अखण्ड-ज्योति परिजन उनकी काव्यप्रतिभा के कारण परिचित हैं। ६/१२/६७ को अपने हस्तलिखित पत्र में पूज्यवर उन्हें लिखते हैं कि-"*हमारा स्वास्थ्य अब ठीक है। किसी स्वजन की दुर्घटना का भार अपने ऊपर लेने के कारण ही इस बार हमें इस प्रकार का कष्ट सहना पड़ा। दूसरा कोई मार्ग न था। सब रास्ते बन्द हो जाने के कारण यह अन्तिम उपाय काम में लाना पड़ा। किस के लिए यह किया गया, इसकी चर्चा ठीक नहीं, क्योंकि व्यर्थ ही इसमें अहसान मानने या उपकारी होने का अहंकार बढ़ता है।*" वह पत्र उनके एक पत्र के उत्तर के रूप में लिखा गया था, जिसमें उन्होंने परमपूज्य गुरुदेव के अचानक अस्वस्थ हो जाने पर चिन्ता व्यक्त की थी। लश्कर-ग्वालियर वासी श्रीमती मायावर्मा के ऊपर आए संकट कई बार स्वयं पूज्य गुरुदेव द्वारा अपने ऊपर लेकर हल्के किए गये, इसकी साक्षी के स्वयं समीपस्थ परिजन व उनको लिखे गए पूज्यवर के पत्र हैं, जो अभी भी उनके पास सुरक्षित हैं।

१९६८-६९ का प्रसंग है। परमपूज्य गुरुदेव को गुजरात के आणन्द नामक स्थान पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में जाना था। साथ जाने वाले परिजन ट्रेन छूटने के ठीक २ घण्टे पहले उनके पास घीयामण्डी आ गए। ठीक उसी समय जब जाने का समय था, पूज्यवर को एकाएक बुखार चढ़ना आरम्भ हुआ, जो क्रमशः १०४ डिग्री तक पहुँच गया। आधे घण्टे में उत्पन्न हुई इस स्थिति को देखकर सब परेशान थे। तुरन्त पारिवारिक चिकित्सक डाक्टर अरोड़ा को खबर दी गयी। इस बीच बढ़ते तापमान के बावजूद परमपूज्य गुरुदेव निश्चिन्त लेटे हुए थे। बार-बार घड़ी पर निगाह डाल लेते थे। इसी बीच उन्होंने वंदनीया माताजी से पूछा कि जयपुर से कोई पत्र या तार तो नहीं आया? इस प्रश्न का उस समय कोई प्रसंग था नहीं, न ही ऐसा कोई तार उस समय आना था। पेट में पथरी के दर्द की वेदना एवं चढ़ता बुखार एकाएक कम होना शुरू हुआ। डॉ. अरोड़ा की दवा तो निमित्त बन गयी, पर तबियत लगभग सवा घण्टे में सामान्य हो गयी। ट्रेन का समय हो गया था। वंदनीया माताजी के रोकने के बावजूद वे चलने के लिए उद्यत हो गए। घीयामण्डी कार्यालय में ही रहने वाले एक कार्यकर्त्ता से यह कहकर कि जयपुर से तार आते ही उसे आणन्द भेज दिया जाए, वे स्टेशन व वहाँ से आणन्द रवाना हो गए। ट्रेन चूँकि एक घण्टे लेट थी, अतः यात्रा समय से आरम्भ हो गयी। उनका उधर रवाना होना था कि इधर पूज्यवर के नाम तार आया कि माँ को तेज बुखार है, पथरी की डायग्नोसिस है, हम सब चिन्तित हैं, कृपया आशीर्वाद भेजें। तार भेजने वाली पूज्यवर की एक परमभक्त बालिका थी। तार तुरन्त आणन्द भेज दिया गया। आश्चर्य यह कि जो कष्ट पूज्यवर को हुआ था, ठीक वैसा ही उस महिला को हुआ, जिसका कष्ट पूज्यवर ने अपने ऊपर लिया था। पूज्यवर के ट्रेन में बैठकर रवाना होते ही ठीक हो गया। पत्र द्वारा यह सब विस्तार से ज्ञात हुआ। आणन्द का कार्यक्रम प्रसन्नतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

दूसरों के कष्टों को अपने ऊपर लेकर उनकी रक्षा करना ठीक उसी प्रकार भगवत् सत्ता का संकल्प है, जो योगीराज श्रीकृष्ण ने 'योगक्षेम वहाम्यहम' के रूप में अपने भक्त के समक्ष किया है। कैसे कोई सत्ता इतनी दूर से अपने भक्त के कष्ट को पढ़ लेती है व अपने पर लेकर उसे हल्का कर लेती है, इसके अनेकानेक दृष्टान्त परमपूज्य गुरुदेव जैसे महापुरुषों के जीवन में देखने को मिलते हैं। वस्तुतः परोक्ष जगत का यह लीला-सन्दोह विज्ञान के स्तर पर प्रतिपाद्य है भी नहीं। श्रद्धा पर आधारित ये घटनाक्रम यही बताते हैं कि अतीन्द्रिय क्षमता सम्पन्न साधक स्तर के महामानवों के लिए अपने भक्त की दूरी कोई मायने नहीं रखती। वे जहाँ भी रहते हैं, उन्हें अपने हर भक्त, हर श्रद्धालु, परिजन के सुख-दुःख में भागीदार बनने की व्यग्रता हमेशा बनी रहती है। कुछ घटनाक्रम प्रकाश में आते हैं। अगणित ऐसे होते हैं, जिनका कोई विवरण न उपलब्ध है, न कभी मिल ही पाएगा। पर एक तथ्य अपनी जगह अटल रहेगा कि ऐसी गुरुसत्ता से जिसने ऐसी दैवी स्तर के अनुदान पाए, उसके मूल में उसकी प्रसुप्त सुसंस्कारिता और वह अविच्छिन्न सम्बन्ध था, जो दोनों के बीच सतत बना रहा। प्रत्यक्षतः वह दिखाई न पड़ा हो, पर परोक्ष रूप से यह सम्बन्ध बने रहे व दोनों सत्ताएँ एक-दूसरे के लिए अपना-अपना काम करती रहीं।

अभी-अभी सम्पन्न हुए भारतवर्ष व विश्वभर के शक्ति-साधना कार्यक्रमों से कई ऐसे घटनाक्रम प्रकाश में आए हैं, जिनमें ऐसे व्यक्ति जिन्होंने कभी स्थूल नेत्रों से परमपूज्य गुरुदेव व उनसे अविभाज्य शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी के दर्शन नहीं किए, विगत दो वर्षों में भिन्न-भिन्न रूपों में लाभान्वित हुए हैं। किन्हीं के कभी समाप्त न होने वाले कष्ट मिटे हैं, तो किन्हीं को अप्रत्याशित सहायता ऐसे समय मिली है, जब सभी द्वार मदद के बन्द हो चुके थे। किन्हीं को सूक्ष्मसत्ता के दर्शन के साथ पर्याप्त मनोबल के रूप में अनुदान मिला है तो किन्हीं को सद्बुद्धि के अनुदान के रूप में अँधेरे भरे जीवन में नया प्रकाश मिला है। यह सारे घटनाक्रम अद्भुत, अलौकिक हैं व इनसे परोक्ष जगत की दैवी सत्ता पर हम सबका विश्वास और दृढ़ होता है। इसी संदर्भ में एक रोचक प्रसंग इस प्रकार है-

प्रज्ञामण्डल राँची के श्री मोहन झा ने ९ नवम्बर से १२ नवम्बर, १९९१ की अवधि में हरमू राची में सम्पन्न शक्ति साधना कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक बड़ा ही विलक्षण विवरण लिखकर भेजा है। उस शक्ति-साधना कार्यक्रम में

अखण्डजप में हजारों परिजनों ने भाग लिया था । समापन दीपयज्ञ द्वारा होना था । परमपूज्य गुरुदेव व वंदनीया माताजी के चित्र के समक्ष रखा हुआ कलश सभी परिजनों ने बड़ी तेजी से अपने स्थान पर घूमते देखा । सभी दृश्य देखकर भाव-विभोर थे । सभा में उपस्थित बुद्धिजीवी स्तर के कई व्यक्ति भी सूक्ष्मसत्ता की यह लीला देखकर हतप्रभ से थे, चमत्कृत थे । कुछ ही मिनटों में पूर्णाहुति पूरी होते ही कलश का घूमना बन्द हो गया । शक्ति-साधना कार्यक्रम सम्बन्धी अगणित स्थानों से इसी प्रकार के व प्रत्यक्ष-परोक्ष दैवी सहायता के कई घटनाक्रम लोगों ने लिख भेजे हैं । आज जबकि हम उस सत्ता के दिव्य अलौकिक प्रसंगों पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि ऐसे दर्शन उन्होंने अगणित भक्तों को कराये हैं, कभी कष्टों से त्राण हेतु पुकारने पर, कभी मार्गदर्शन देने हेतु, कभी अपनी सत्ता का आभास दिलाने हेतु ताकि भक्त की श्रद्धा को बल मिले । यहाँ पर जब उनके जीवन के लीला-प्रसंगों पर चर्चा कर रहे हैं, तो अगणित घटनाक्रम आँखों के समक्ष घूम जाते हैं ।

एक शान्तिकुंजवासी स्थायी कार्यकर्ता बताते हैं कि जब वे विद्यार्थी जीवन में चिकित्साशास्त्र की पढ़ाई पढ़ रहे थे, तब एक दिन घर में प्रवेश करने के बाद उनको एक साधु-महात्मा की आवाज सुनाई दी । चूँकि वह अकेले ही रहते थे । उन्होंने कहा-''बाबा ! यहाँ भिक्षा नहीं मिलेगी । यह तो छात्रों का निवास-स्थान है ।'' पर देखते-देखते वह बाबाजी घर में प्रवेश कर गए । पाँच फीट ऊँचे दरवाजे में से आठ फुट ऊँचाई के हट्टे-कट्टे एक संन्यासी ने प्रवेश किया । चेहरे पर अलौकिक तेज था । उन्होंने कहा-''बेटा । हम लेने नहीं, तुम्हें कुछ बताने आए हैं ।'' सोचा हाथ-वाथ देखने का कोई चक्कर होगा । इन्होंने कहा कि-''हम इन सब में विश्वास नहीं करते । हम तो पुरुषार्थ के धनी हैं व पढ़ाई मन लगाकर करते हैं ।'' अलौकिक रूपधारी उस बाबा ने कहा कि-''बेटा ! शीघ्र ही तुम्हारे जीवन में एक दैवी-सत्ता का अवतरण होगा, जो तुम्हारे जीवन की दिशाधारा बदल देगी । तुम्हारा उनसे शीघ्र ही गहन सम्पर्क होगा ।'' इतना कहकर वे बाहर निकल गए । एकाध मिनट बाद इन्हें होश आया कि यह बाबाजी कौन थे ? इनसे शिष्टाचार के नाते बात तो करते, कम से कम बिठाकर पानी पिलाते । बाहर जाकर पता लगाया कि एक बाबाजी इधर आए थे, किसी ने देखे क्या ? वहाँ खड़े एक तिपहिया चालक ने कहा-काफी देर से वह सवारी तलाश रहा है । वहाँ तो कोई नहीं है । निराश होकर उन्होंने पूरी कॉलोनी का एक-एक घर देख डाला व चक्कर लगा लिया । तब लगा कि कुछ अलौकिक घटा है । कोई दैवी-सत्ता ही थी, उन्होंने तुरन्त पत्र अपने पिता को लिखा जिन्होंने पूज्य गुरुदेव के पास उसे भेज दिया । वहाँ से एक पत्र आया कि महत्त्वपूर्ण घटनाओं के पूर्व ऐसे प्रसंग कभी-कभी होते हैं । घटना को नहीं उसके पीछे छिपी प्रेरणा को महत्त्व दें । कुछ वर्ष बाद जब स्वयं परमपूज्य गुरुदेव ने शान्तिकुंज आकर काम करने का आमंत्रण उन्हें एक उलाहने के रूप में दिया, तो उन कार्यकर्त्ता महोदय को एकाएक कुछ सेकण्डों के लिए वही महात्माजी आठ फुट के गुरुदेव के स्थान पर खड़े दिखाई दिए व तुरन्त ही अन्तर्द्धान भी हो गए ।

उन्हें पिछली घटना व इसकी संगति समझ में आ गयी व यह सोचकर ही रोम-रोम पुलकित हो उठा कि स्वयं उन्हें प्रेरणा देने, पिछले कुसंस्कारों को मिटाने तथा वातावरण बनाने स्वयं साक्षात गुरुसत्ता उनके द्वार पर आयी थी । उसी दिन से वे शान्तिकुंज में स्थायी रूप से आ गए ।

समय-समय पर परमपूज्य गुरुदेव अपने पत्रों में भी प्रत्यक्ष यह सब लिख दिया करते थे । २०-१-६७ को केशर बहिन (अंजार कच्छ) को लिखे एक पत्र में वे उन्हें सम्बोधन करते हुए कहते हैं-''तुमने स्वप्न में हमें देखा, सो वह स्वप्न नहीं था, जाग्रति थी । हमारा प्राण शरीर में से निकलकर निष्ठावान साधकों के पास जाया करता है और उन्हें प्रकाश प्रदान करता है । जब हम उधर जाते हैं, तभी तुम इस प्रकार का अनुभव करती हो ।'' कितना प्रेरणा भरा दैवी-संरक्षण उन्होंने आजीवन अपने अनुयायी साधकों को दिया, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनकी संख्या गिनी जा सकनी सम्भव नहीं है । लगभग सभी के पास अनुभूतियाँ हैं, हस्तलिखित पत्र हैं या अपने जीवन के कायाकल्प सर्वांगपूर्ण प्रगति रूपी प्रमाण हैं ।

श्री शिवशंकर गुप्त (दिल्ली) को ८ मई, १९५५ की तारीख में परमपूज्य गुरुदेव की हस्तलिपि में लिखा पत्र मिला । ''*विवाह का विस्तृत समाचार जाना । यह सब समाचार पूर्ण रूप से हमें मालूम है । क्योंकि हमारा सूक्ष्म शरीर उस समय चौकीदार की तरह वहीं अड़ा रहा है और विघ्नों को टालने के लिए, शत्रुओं को नरम करने के लिए, आपत्तियों को हल्का करने के लिए जो कुछ बन पड़ा है सो बराबर करते रहे हैं । फिर भी आपके पत्र से सब बातें भलीप्रकार विदित हो गयीं ।*'' पत्र से स्पष्ट है कि उनका दिव्य संरक्षण सतत सबके साथ रहता था । मात्र स्मरण करने या पत्र लिखने भर की देर थी व उनका दैवी सुरक्षा कवच सक्रिय हो जाता था । पत्र लिखने से भक्त का मन तो हल्का होता ही था, यह भी लगता था कि अपना कष्ट पूज्यवर तक पहुँचा दिया । अब रक्षा वे ही करेंगे, पर यह बेतार का तार पत्र रवाना होने से पहले ही पहुँच चुका होता था ।

श्री रामचन्द्र सिंह अभी भी शान्तिकुंज में रहते हैं व उन्हें तीस वर्ष तक परमपूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों में रहने का सौभाग्य मिला है । इस अवधि में उन्होंने हजारों अलौकिक चमत्कारी घटनाएँ अपनी आँखों से देखी हैं । असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति जिन्हें चिकित्सकों ने बचने की सम्भावना नाममात्र की बताकर जवाब दे दिया था, जो

पारिवारिक विग्रह-गृहकलह से व्यथित थे, जिन्हें मुकदमों के कारण अत्यधिक परेशानी उठानी पड़ रही थी, जिन्हें शत्रुओं से अपनी जान का खतरा था, जिन्हें व्यवसाय में लगातार घाटा आ रहा था, जो नौकरी में पदोन्नति या तबादले की समस्याओं से ग्रसित थे, जिन दम्पत्तियों के विवाह के वर्षों बाद तक सन्तान नहीं हुई थी, ऐसों के बारे में मात्र पत्र द्वारा सूचित करने पर उनकी समस्याओं का निराकरण व मनवांछित इच्छा पूरी हो जाना उन्होंने अपनी आँखों से देखा है।

श्री रामचन्द्र सिंह के पास के ही एक गाँव हरना की एक महिला शान्तिकुंज बड़े दुःखी मन से आयी। उसकी पुत्री गीता को एक लड़का हुआ था, जो जन्म लेने के दस दिन बाद ही मर गया। श्री रामचन्द्र ने उसे गुरुदेव से मिलाया। मुख से ब्रह्मवाक्य निकला कि वही लड़का गीता की गोद में पुनः लौटाएँगे। १९८९ में शान्तिकुंज की टोली उसी ग्राम में गयी थी। १००० बेदी दीपयज्ञ हो रहा था। उसी दिन गीता को उसी शक्ल का एक पुत्र पैदा हुआ। ये सारे घटनाक्रम प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा देखे हुए हैं व बताते हैं कि अगणित व्यक्तियों पर परमपूज्य गुरुदेव की कृपा किस प्रकार सहज ही बरसती रही है। यही नहीं अपने सामीप्य के क्षणों में उन्होंने रामचन्द्र सिंह से यह भी कहा कि-"जब भी कोई सच्चे मन से आकर यहाँ गायत्रीतीर्थ में पुकारेगा, मेरी सत्ता उसकी सहायता करेगी। मैं स्थूल शरीर से रहूँ न रहूँ, किन्तु मेरी अनुकम्पा सदैव उन पर बरसती रहेगी, जो सदाशयतासम्पन्न होंगे, समाज के लिए कुछ करने का दर्द जिनके मन में होगा।" यह आश्वासन वे लिखित रूप में महाकाल के वसन्त पर्व के संदेश के रूप में अपने महाप्रयाण से पूर्व ही सबको दे भी गए हैं।

जब कभी किसी ने किसी तरह का अनहित करने की बात उनके समक्ष कही, तो उनका रौद्ररूप देखते ही बनता था। २ मार्च, १९७६ की एक घटना है। ग्राम दरियापुर जिला छपरा के एक व्यक्ति शान्तिकुंज आए। अपने साथ स्टील की थाली में ढेर सारे फल लेकर पूज्यवर को उन्होंने भेंट किए। गुरुदेव के सिद्धिसम्पन्न होने की बात उन्होंने सुन रखी थी। गुरुदेव के पूछने पर वे बोल उठे-"गुरुदेव! मेरी पत्नी दुश्चरित्र का है। दूसरे पुरुष से प्रेम करती है। उसे मारण मंत्र से मार दीजिए। इतना सुनते ही पूज्यवर का आक्रोश सीमा को पार कर गया। वे बोले-"आज तक हमने एक चुहिया नहीं मारी व तेरे कहने से तेरी पत्नी को मार देंगे? चल उठा सामान व भाग यहाँ से।" उनके क्षमा माँगने पर बोले-"हम किसी को मारते नहीं हैं। मारते हैं तो दुर्बुद्धि। जाओ घर जाकर देखो। तुम्हारी पत्नी को हम सद्बुद्धि देंगे। वह तुम्हारे साथ वैसे ही पहले की तरह रहने लगेगी। वह सज्जन वापस लौट गए। जाते ही परिवार में पारस्परिक सामंजस्य, स्नेह-सौहार्द की स्थापना हो गयी। पति-पत्नी दोनों प्रेम से रहते हैं व मिशन का काम करते हैं। जान-बूझकर यहाँ उनका नाम नहीं दिया गया है। घटना के प्रत्यक्षदर्शी शान्तिकुंज में ही रहते हैं।

लखनऊ आय. टी. आय. के प्रिंसीपल श्री सिन्हा जी सेवानिवृत्ति के बाद अब शान्तिकुंज की वाहन सेवा में ही अपना अधिकतम समय देते हैं, वे १९७० से मिशन से जुड़े हैं, उन दिनों वे गोरखपुर में आय. टी. आई. में प्रशिक्षक थे। लखनऊ के उनके निजी घर को उनके ही परिचय के एक व्यक्ति के माध्यम से एक पुलिस विभाग के अधिकारी को उन्होंने किराये पर उठा दिया था। छह माह तक किराया न आने पर उनकी पत्नी शकुन्तला देवी लखनऊ किसी काम से गयी थीं, तो उनके पास भी पहुँचीं। उसने धमकी भरे शब्दों में कहा कि-"न मैं किराया दूँगा, न मकान से निकलूँगा। अब इसकी एक-एक ईंट बेचकर ही निकलूँगा। चाहे आप जो कर लें। इस पूरे क्षेत्र में चलती मेरी ही है।" शकुन्तला जी घर आते ही इस शोक से ऐसी बीमार पड़ीं कि उठ ही नहीं सकीं। घर में बड़ा दुःख भरा वातावरण छा गया। पड़ोस में ही एक गायत्री परिवार के परिजन रहते थे। उन्होंने यह स्थिति देखी, तो गोंडा में हो रहे १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में चलने को कहा, जहाँ स्वयं पूज्य गुरुदेव आ रहे थे।

वैज्ञानिक व विदेश यात्रा से लौटे सिन्हाजी अविश्वास भरे मन से गए, तो पर यही भाव लेकर कि कोई ढोंग-ढकोसला दिखा तो लौट आएँगे। न जाने क्या प्रेरणा मिली कि दीक्षा भी उन्होंने यज्ञ में ले ली व जब प्रणाम करने पूज्यवर के पास पहुँचे तो अश्रुपात ऐसा होने लगा कि रुका नहीं। आँखों-आँखों में गुरु ने शिष्य की वेदना पढ़ ली। पास बुलाया व पूरी कहानी सुनी, मात्र इतना कहा कि "जा बेटा! सब ठीक हो जाएगा।" श्री सिन्हाजी के यज्ञ से लौटने के एक सप्ताह के अन्दर ही उस किरायेदार पुलिस ऑफिसर का पत्र आया कि-"सिन्हा साहब, आप कृपया लखनऊ आकर अपना घर सँभालिए। पिछला सारा किराया आपकी सेवा में भेज रहा हूँ। अब मैं इस मकान में एक दिन भी नहीं रह सकता। रात दिन मुझे एक अजीब बेचैनी रहती है। कोई मुझे बराबर यह कहता है कि तुमने एक सज्जन दम्पत्ति को तंग किया है। तुम्हें प्रायश्चित्त करना चाहिए। आपका मकान छोड़कर ही मुझे शान्ति मिलेगी।"

न केवल मकान वापस मिला, पिछला किराया भी तथा श्रीमती सिन्हा को स्वास्थ्य-लाभ इतना शीघ्र हुआ कि देखते ही बनता था। न केवल उनका विश्वास दिव्यसत्ता पर मजबूत हुआ, वे गायत्री के अनन्य साधक व मिशन के एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ बन गए। अगणित व्यक्ति श्री सिन्हा जी की श्रेणी में आते हैं, जिनके प्रथम विश्वास को बल ही किसी चमत्कार से मिला। कई व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जो 'अखण्ड-ज्योति' पाठकों में हों व कहें कि हमारे साथ भी ऐसा घटा तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। यह तो उस हिमखण्ड के बहिरंग पक्ष के कुछ हिस्से पर ही रोशनी डालने का एक छोटा-सा प्रयास किया गया है, जिसका एक बहुत बड़ा हिस्सा जलराशि के भीतर रहा व अभी भी अपनी शक्ति से अगणित चमत्कार नित्य दिखा रहा है।

चेतना स्तर पर मानवीसत्ता ब्रह्म के समतुल्य है । मूल अस्तित्व की दृष्टि से दोनों में अद्भुत साम्य है । जिन कारणों से विभेद की स्थिति उत्पन्न होती है, महापुरुष उन आवरणों को हटा देते हैं और अपनी सत्ता का विकास नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम के रूप में कर लेते हैं । सुविकसित आत्मा ही परमात्मा है व प्रगति का, विकास का यह मार्ग सब के लिए खुला पड़ा है, ऐसा हमारे ऋषि-मुनि, उपनिषद्कार कहते आए हैं । सिद्धपुरुष, देवदूत, अवतार, माया के आवरण से परे सच्चिदानन्दोऽहम् की स्थिति में होते हैं । यही कारण है कि स्थूल चर्मचक्षुओं से देखने वाले सामान्य जीवनक्रम में उलझे व्यक्ति उन्हें उनके रहते पहचान नहीं पाते । कभी-कभी घटने वाले घटनाक्रमों की गहराई तक जाने पर उनकी अन्वेषण बुद्धि प्रत्यक्षवाद के तर्कों में उलझकर असमंजस सा उत्पन्न कर देती है, किन्तु जो विवेकशील हैं वे दृश्य-घटनाक्रम के मूल में छिपे प्रसंग को समझ लेते हैं । सिद्धपुरुषों, महामानवों की परख कर पाना इस संसार का सबसे दुष्कर कार्य है । जिन्हें यह चक्षु प्राप्त हो जाएँ व अपनी श्रद्धा का अभिसिंचन वे इससे करना आरम्भ कर दें, समझना चाहिए कि उनकी आत्मा का विकास आरम्भ हो गया, इनिशिएशन की प्रक्रिया चल पड़ी ।

यह भूमिका इस सन्दर्भ में प्रस्तुत की जा रही है कि परमपूज्य गुरुदेव के दृश्यजीवन को जिन्होंने देखा है, वे उन अनेकानेक सिद्धि-पराक्रमों से अभी भी अपरिचित हैं, जो सम्पन्न होते रहे, किन्तु वे समझ नहीं पाए । प्रायः उनके स्तर के सन्त अपने अन्तरंग स्वरूप को प्रत्यक्ष परिलक्षित नहीं होने देते, यही कारण है कि हम ऐसे महामानवों को साधारण समझने की भूल कर जाते हैं । हमारे घरों में जैसे हमारे पिता, दादाजी, नानाजी होते हैं, कुछ ऐसा ही स्वरूप पूज्यवर का था । खादी की धोती व एक सामान्य मोटे कपड़े का खद्दर का कुर्ता उनकी वेश-भूषा थी । न दाढ़ी, न जटाजूट, न गले में माला, जो महामण्डलेश्वर अक्सर धारण किए रहते हैं । बोलचाल से लेकर सामान्य व्यवहार ऐसा कि कहीं भी विशिष्टता का आभास तक न हो । ऐसा कुछ उनका बहिरंग रूप था, पर उस सबके पीछे जो 'ऑकल्ट' था वह बहुत विलक्षण था एवं कई घटना-प्रसंगों में इसकी झलक देखने को मिलती है ।

नयी दिल्ली का एक परिवार है श्री बशेशरनाथ एण्ड सन्स । लाला बशेशरनाथ १९४३-४४ की अवधि में पूज्य गुरुदेव से जुड़े । उनके बेटे थे श्री शिवशंकर गुप्ता । अब वे तो नहीं हैं उनके भाई, पुत्र आदि फर्म का काम सँभाल रहे हैं । इन सभी के जीवनक्रम में बड़े अन्तरंग तक जुड़े रहे हैं-गुरुदेव । यह परिवार काफी बड़ा है, पर प्रत्येक को ढेरों अनुदान ऐसे मिल हैं जिनके ये सभी जीती-जागती साक्षी हैं । सबसे विलक्षण मामला तो स्वयं शिवशंकर जी का है । वे एल. एल. एम. थे व प्रखर प्रतिभासम्पन्न । पूज्य गुरुदेव के निर्देशानुसार १९४८-४९ से ही गायत्री व सविता का ध्यान नियमित करने लगे थे, फलतः व्यापार भी प्रगतिपथ पर बढ़ता रहा । प्रति सप्ताह दिल्ली से मथुरा व बाद में हरिद्वार आना व उसी दिन पूज्य गुरुदेव से मिलकर दर्शन कर वापस चले जाना, यही उनकी दिनचर्या थी । कुछ ऐसा कान्ट्रेक्ट था गुरु व शिष्य के बीच कि सप्ताह में एक दिन सबसे मिलना होता रहे ।

प्रस्तुत प्रसंग १९८१ का है । जब वे नहीं आए उनके स्थान पर उनके भाई व भतीजे ने आकर सूचना दी कि उन्हें ब्रेन हेमरेज (मस्तिष्कीय रक्तस्राव) हो गया है व वे अचेतावस्था में पड़े हैं । पूज्य गुरुदेव तत्काल साधना-कक्ष में चले गए व एक घण्टे बाद निकल कर बोले कि कोई भी शिवशंकर का बाल-बाँका नहीं कर सकता, उन्होंने अपने समीपस्थ एक चिकित्सक कार्यकर्ता को उनके साथ दिल्ली रवाना किया व घरवालों को आश्वस्त करने को कहा । उनकी पत्नी के लिए कहलवाया कि तेरा सुहाग हम अभी जिन्दा रखेंगे, अभी उसका समय नहीं आया है । नर्सिंग होम में कैटस्कैन आदि हो चुका था । सभी इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि मस्तिष्क में बढ़ रहे रक्त के दबाव को कम नहीं किया गया, तो वाइटल सेण्टर्स पर प्रभाव पड़ने से कभी भी जान जा सकती है व यह निर्णय तुरन्त लिया जाना चाहिए । दिल्ली से हरिद्वार फोन करने पर यही कहा गया कि ऑपरेशन नहीं कराना है । बेहोशी माँ गायत्री की कृपा से टूटेगी । चिकित्सकों के आग्रह को विनम्रतापूर्वक ठुकरा दिया गया व धीरे-धीरे न केवल बेहोशी मिटी, धीरे-धीरे वे बोलने, सबको पहचानने लगे । प्रायः तीन माह से अधिक की अवधि में रिकवरी भी हो गयी व धीरे-धीरे चलने-फिरने लगे । बिना किसी औषधि के यह परिवर्तन कैसे हुआ, कोई समझ नहीं पाया । उन्हें बराबर रट लगी थी कि हरिद्वार जाना है । प्रायः चार माह के अन्तराल पर वे हरिद्वार आए । पूज्यवर ने उनसे कहा कि डेढ़-दो वर्ष में बच्चों को शादी व अन्यान्य सारी व्यवस्था कर लो । इससे अधिक हम तुम्हें नहीं रोकेंगे । वे समझ गए ।

जो एक्सटेंशन की अवधि मिली थी उसमें उन्होंने व्यवस्थाक्रम बिठाना आरम्भ किया । फर्म की इनकमटेक्स रिटर्न की सारी सूचनाएँ उनके ही पास थीं । किसी मिलने वाले ने विभाग को गलत सूचना देकर उनके हिसाब-किताब की इन्क्वायरी चालू करवा दी । सब कुछ ठीक पाया गया, किन्तु तीस वर्ष पूर्व के आँकड़े किस को याद रहते । जिस मस्तिष्क में रक्तस्राव हुआ था, उसी मस्तिष्क ने १९५० से अब तक के हर वर्ष के रिटर्न व फाइलों के नम्बर बोलना चालू किए तथा अधिकारी हतप्रभ हो अपना रिकार्ड उनके बोले हुए से मिलाते चले गए । वे हक्का-बक्का रह गए, ऐसी विलक्षण स्मरण-शक्ति देखकर वह भी इतनी लम्बी बेहोशी के बाद । उनके दिमाग की कैटस्कैनिंग फिल्में न्यूरालॉजी की कान्फ्रेन्स में सर्जन के समक्ष रखी गयीं व सबने यही कहा कि ऐसे व्यक्ति को तो मर जाना चाहिए था, किन्तु उनके चिकित्सक ने बताया

कि अपने 'भगवान' की कृपा से वह व्यक्ति जिन्दा है व वह सभी उसे चेक कर सकते हैं । सब आश्चर्यचकित थे कि विज्ञान जिसकी व्याख्या नहीं कर सकता, वह चमत्कार क्यों व कैसे सम्भव हुआ ? बाद में सारे दायित्व निभते ही ढाई वर्ष बाद दूसरी बार की तकलीफ में उनका देहान्त हो गया, पर वे अपने बाद की सारी व्यवस्था कर गए थे, अपने गुरु के निर्देशानुसार । मृत्यु को भी टालने की यह कौन-सी नियन्ता के स्तर की व्यवस्था है ? इसे तर्क-बुद्धि से नहीं समझा जा सकता ।

ऐसी ही एक घटना शान्तिकुंज में अभी रह रहे शोध-संस्थान में कार्यरत एक कार्यकर्त्ता से सम्बन्धित है । किन्हीं कारणोंवश हम यहाँ उनका नाम नहीं दे रहे । उसकी बड़ी इच्छा थी कि डॉक्टरी की पढ़ाई तो कर ली व अब बाहर विदेश जाना चाहिए । पूज्य गुरुदेव से पूछकर ही हर निर्देश लिए जाते थे । उन्होंने कहा कि घूमने के लिए जाना है तो भले ही चले जाएँ, पर नौकरी या अध्ययन की दृष्टि से जाना अब ठीक नहीं है, क्योंकि परिस्थितियाँ बाहर धीरे-धीरे विषम होंगी, वापस लौटने की स्थिति बनेगी नहीं तथा भारत में रहकर काम करने के अवसर अधिक बेहतर हैं । यह बात तो उसे शायद समझ में भी नहीं आ पाती, किन्तु उन्होंने कहा कि एक संकट इस वर्ष सम्भावित है, जिसे तुम्हारे भारत में बने रहने पर ही टाला जा सकता है । कुछ सोचकर जाने का कार्यक्रम स्थगित कर दिया । यहीं भारत में ही एक नौकरी मिल गयी । उसी वर्ष एक भयंकर एक्सीडेण्ट में उसके हाथ व खोपड़ी के ५-६ फ्रेक्चर हो गए । यह दुर्घटना संयोग से हुई भी हरिद्वार में उस स्थान पर, जिस पर से पूज्य गुरुदेव एवं वंदनीया माताजी कुछ देर पूर्व होकर गुजरे थे । सम्भवतः वे आए ही थे कोई आसन्न विपत्ति को टालने । एक्सीडेण्ट के बाद की सारी व्यवस्था किसी भले आदमी द्वारा उसे शान्तिकुंज लाना, अस्पताल पहुँचाना व फिर दिल्ली व फिर भोपाल में ऑपरेशन की सारी व्यवस्था बन जाना, दो माह में स्वस्थ होकर पुनः नौकरी पर आ जाना एक चमत्कारी सिक्वेन्स थी, जिसका तारतम्य किसी भी बुद्धि से सोचने वाले के दिमाग में शायद न बैठ पाए ।

उपचार के बाद पुनः पूज्य गुरुदेव के पास लौटने पर उस कार्यकर्त्ता को बताया गया कि अकालमृत्यु का संकट उस पर आया था, जो इस दैवी दुर्घटना के माध्यम से टाल दिया गया । इसकी पुष्टि उसके पिता द्वारा भी की गयी, जिनके पास दृश्यगणित के आधार पर बनी उसकी जन्म-कुण्डली थी । पूज्यवर ने प्रेरणा दी कि अब इस नयी जिन्दगी का उपयोग समाज के लिए करना चाहिए । धीरे-धीरे स्पष्ट संकेत देते हुए उन्होंने मिशन के लिए समर्पित जीवन जीने व पूरी तरह यहीं आकर कार्य करने का मन बनाने की बात कही व तब से वह कार्यकर्त्ता पूरी तरह से यहीं जुटा हुआ मिशन में सक्रिय है । चर्चा चलने पर वह बताता है कि सतत मन से यही पुकार आती रही कि अब यह जीवन पूर्णतः समाज को अर्पित करना है । ढर्रे का जीवन न जीकर इसे नयी जिन्दगी मानते हुए लोकहित के कार्यों को करना है, यही उमंग खींचकर उसे सपरिवार यहाँ ले आयी । यह समझा जाना चाहिए कि महामृत्युंजय स्तर की सिद्धि प्राप्त महापुरुष ही व्यक्ति को देखकर उसकी भवितव्यता पर चिंतन कर मृत्यु भी टाल सकता है व छोटे स्तर पर टली विपदा द्वारा नया जीवन जीने की प्रेरणा दे सकता है । गायत्री की सिद्धि जिन्हें सर्वोच्च स्तर की प्राप्त हो, ऐसे परमपूज्य गुरुदेव ने अगणित व्यक्तियों को मौत के मुँह से लौटाकर उन्हें सृजन कार्यों से जोड़ा । यहाँ तो मात्र दो ही उदाहरण दिए हैं, किन्तु ऐसे उदाहरण ढेरों हैं, अगणित परिजन जिसके साक्षी हैं ।

हृदय रोगी हों अथवा अतिघातक व कष्टदायी कैन्सर "माँ गायत्री से प्रार्थना करेंगे ।" मात्र इतना कहकर जिसे आशीर्वाद दे दिया, वह स्वस्थ हो गया । यही सिद्धि उन्होंने वंदनीया माताजी की शक्ति में समाहित कर हरिद्वार आने पर पीछे से संचालन का दायित्व सँभाल लिया तथा प्रत्यक्ष भूमिका संगठन से लेकर परिजनों तक की वन्दनीया माताजी को दे दी । सैकड़ों व्यक्ति अभी भी साक्षी दे देंगे इस बात की, कि जो बात ऊपर पूज्य गुरुदेव किसी को कहते थे, शब्दशः वंदनीया माताजी के मुखारबिन्द से भी उसे निकलता देखा जाता था । जो शिव व शक्ति में भेद करते हैं, उनके लिए यह एक जीता-जागता नमूना सामने है।

सबसे बड़ी बात जो पूज्यवर के जीवन-प्रसंगों एवं घटनाक्रमों पर दृष्टि डालने पर समझ में आती है, वह यह कि वे असाधारण रूप से शिष्य का, परिजन का, भक्त का मनोबल बढ़ाकर उस पर एक ऐसा शक्तिपात करते थे कि वह जीवन-संग्राम में अपने को लड़कर सफल होता पाता था । वे स्वयं कभी जीवन-समर से भागे नहीं, संघर्ष किया । सतत कार्य करते रहने की, पुरुषार्थपरायण बनने की सबको प्रेरणा देते रहे । अनेकों व्यक्तियों को अपनी जीवन-यात्रा में जो अवरोधों से जूझने की सामर्थ्य मिली उसके लिए वे विकसित आत्मबल को ही श्रेय देते हैं । मात्र एक पत्र परमपूज्य गुरुदेव को लिखकर भक्त निश्चिन्त हो जाता था कि अब विपत्ति मेरी नहीं, आपकी है, आप सँभालिए । वे सँभाल लेते थे ।

कहीं-कहीं उनके पत्रों पर दृष्टि डालने पर उनके उस रूप के दर्शन होते हैं, जिसे अलौकिक कहा जाता है, 'ऑकल्ट' या 'सुपरनेचरल' माना जाता है । केशर बहिन विश्राम भाई ठक्कर (अंजार कच्छ) को २९ दिसम्बर, १९६७ के एक पत्र में वे लिखते हैं-"*प्रिय पुत्री तुम्हारा पत्र पढ़ते समय लगा कि तुम हमारे सामने ही बैठी हो, हमारी गोदी में खेल रही हो । शरीर से तुम दूर हो, किन्तु आत्मा की दृष्टि से हमारे अतिनिकट हो । हमारा प्रकाश तुम्हारी आत्मा में निरन्तर प्रवेश करता रहेगा और इसी जीवन में तुम्हें पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचा देगा । हम अपनी तपस्या का एक अंश तुम्हें देंगे और तुम्हें पूर्णता तक पहुँचा देंगे । हमारा सूक्ष्मशरीर तीन वर्ष बाद इतना प्रबल हो जाएगा कि बिना किसी कठिनाई के कहीं भी पहुँच सके और दर्शन दे सके ।*"

इससे बड़ा और क्या आश्वासन कोई राम अपनी शबरी को दे सकता है । जो केशर बहिन को जानते हैं, उन्हें उनकी भाव-समाधि की स्थिति भी ज्ञात है व किस प्रकार अंत तक उन पर उनके इष्ट की कृपा निरन्तर बरसती रही, यह भी जानकारी है । ऐसी केशर बहिन एक नहीं, पूरे भारत व विश्व में सहस्रों हैं, जिनसे परमपूज्य गुरुदेव अपने जीवनकाल में जुड़े रहे व अनुदान बाँटते रहे । ऐसे अगणित शिवशंकर जी गायत्री परिवार में व समाज में हैं, जिन्हें उन्होंने नव-जीवन दिया । हम ही ऐसे सिद्धस्तर के पुरुषों के समझने में भूल कर जाते हैं, उसे हमारी नादानी नहीं तो और क्या कहा जाए ?

# संस्कारों की प्रबलता व ऊर्ध्वगामी पुरुषार्थ

*"आप पूर्व जन्म के ऋषि हैं । चिरकाल तक हमारे साथी-सहचर रहे हैं । वही पूर्व सम्बन्ध इस जन्म में फिर जाग्रत हो आए हैं । आपको पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए शक्ति भर प्रयत्न करेंगे ।"* यह पंक्तियाँ परमपूज्य गुरुदेव के पत्रों से उद्धृत हैं, जो उनके द्वारा प्रकारान्तर से इन सभी को लिखी गयीं, जिन्हें वे प्रसुप्त का बोध कराके महानता से जोड़ना चाहते थे व इसी शृंखला में एक हार अगणित परिजनों- मणि-मुक्ताओं को गूँथकर एक हार के रूप में विनिर्मित कर वे एक विशाल गायत्री परिवार बना गए ।

हर हनुमान को यदि जामवन्त की तरह आत्मबोध कराने वाला मिल जाए तो उसका अन्तः का वैभव निखर कर सामने आ जाए । पूज्यवर ने वह अपने जीवन में साकार कर औरों को यही प्रेरणा देकर उन्हें कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया ? वस्तुतः मनुष्य जिस मूलभूत सत्ता का बना है वह हाड़-मांस का यह शरीर नहीं, वरन् अन्तः-करण में विद्यमान वे दिव्य-संस्कार हैं जो उसे मानवी गरिमा का बोध कराके सतत ऊँचा उठने की प्रेरणा देते रहते हैं । बाहर से दीखने में तो सभी एक जैसे हैं, सभी का चोला नरतन का है, परन्तु संस्कारों की सम्पदा ही वह विशिष्टता है, जो एक को दूसरे से अलग करती है ।

बहुधा हम देखते हैं कि परिस्थितियाँ नितान्त प्रतिकूल व पूरी तरह भौतिकता प्रधान होते हुए भी कुछ महामानव अपनी प्रसुप्त सुसंस्कारिता के कारण प्रबलतम पुरुषार्थ सम्पन्न करते, प्रवाह के विपरीत चलते व अपनी विशिष्ट भूमिका सम्पन्न कर महाकाल के अग्रदूत बनते देखे जाते हैं । यहाँ आत्मिकी का पौर्वात्य अध्यात्म का वही सिद्धान्त चरितार्थ करता है कि परिस्थितियाँ कितनी ही विषम क्यों न हों, बहिरंग जगत कितनी ही प्रतिकूलताओं से भरा क्यों न हो, अन्दर सोये पड़े संस्कार व्यक्ति के प्रचण्ड मनोबल के साथ जुड़कर विषमताओं के घटाटोप को भी निरस्त करने की सामर्थ्य रखते हैं ।

बीज यदि सही है, गलकर अंकुरित हो ऊपर आना चाहता है तो कोई भी शक्ति उसे रोक नहीं सकती । मिट्टी, पानी, खाद का होना अपनी जगह सही हो सकता है, पर इन सबके होते हुए भी बीज में यदि घुन लगा हो, वह सही स्तर का न हो, तो उससे अंकुर फूटने की सम्भावना न के बराबर ही रहती है । जब मानवी-संस्कारों रूपी बीज की चर्चा की जाती है तो चाहे अनुकूल बनाने वाली परिस्थितियाँ हों न हों, वह विकसित होते देखा ही जाता है, क्योंकि वह उसी अभीप्सा के साथ इस धरती पर आया है ।

प्रस्तुत भूमिका जिस संदर्भ में प्रतिपादित है, वह परमपूज्य गुरुदेव के प्रारम्भिक जीवन के घटनाक्रमों से सम्बन्धित है । एक अद्‌भुत साम्य योगीराज अरविन्द एवं परमपूज्य गुरुदेव के जीवन में इस सम्बन्ध में देखने को मिलता है । दोनों के जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में कुछ ऐसे मोड़ आए जिनमें अंतः की सुसंस्कारिता की, प्रबलता की प्रचण्ड परीक्षा ली गई । दोनों ही उत्तीर्ण रहे व संघर्ष करके उभारकर महामानव के रूप में विकसित होने में समर्थ रहे । बाद में श्री अरविन्द ने स्वयं को जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति हेतु पाण्डिचेरी जाकर एकाकी तप में नियोजित कर लिया व पूज्य गुरुदेव अपनी कोठरी में पधारे दैवी सौभाग्य के, परोक्षसत्ता के संरक्षण में चलते हुए करोड़ों के हृदय के सम्राट बने ।

यह विशेषता महामानवों, देवमानवों, पैगम्बरों, युग-ऋषि स्तर का क्रान्तिकारी जीवन जीने वाले कतिपय उँगली पर गिने जा सकने वालों में ही देखी जाती है । अधिकांश तो बहिर्जगत में चल रहे प्रवाहों में बहते या प्रचलनों के साथ अंधानुगमन करते देखे जाते हैं । जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है, अपनी नहीं अपने अतिरिक्त अन्य अनेक जो जीवधारी हैं, उनकी मुक्ति हेतु अध्यात्म पराक्रम में जुटना । सब के लिए संघर्ष करना व उन्हें सही मार्गदर्शन देना । यही पुरुषार्थ पूज्य गुरुदेव ने जीवन भर किया व इसमें सहायता दी, उनके उच्चस्तरीय संस्कारों ने, उस बीज ने, जिसे गलकर एक विराट वृक्ष बनना था व अपनी छाया में अनेक लोगों को शरण देनी थी ।

शुद्ध-बुद्ध-निरंजन आत्मा के रूप में यह जीव जब जन्म लेता है तो उस पावनदिन को जन्मदिवस के रूप में याद किया जाता है । परमपूज्य गुरुदेव का आध्यात्मिक जन्मदिवस हम वसन्त पंचमी को उनके ही निर्देशानुसार मनाते रहे हैं, पर काया का इस धरती पर अवतरण संवत् १९६८ में आश्विन माह में कृष्णपक्ष की त्रयोदशी के दिन (२० सितम्बर, १९११) को प्रातः ८ से ९ के मध्य हुआ । एक संस्कारवान तपस्वी ब्राह्मण परिवार में जन्मे बालक श्रीराम को किसी प्रकार की कमी न थी । भौतिक दृष्टि से सम्पन्नता थी, पढ़-लिखकर बड़ा बनकर गुजारा चलाने व

ऐश्वर्य भरा जीवन जीने के लिए बना-बनाया मार्ग था। चाहते तो वे भी पिता की तरह भागवतपरायण पंडित बनकर बिना बाधाओं को आमंत्रित कर एक सरल-सुखमय जीवन जी सकते थे, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। प्रारम्भ से ही उनके संस्कारों की प्रबलता व सुदृढ़ मनोभूमि अपना परिचय देने लगी।

यहाँ श्री अरविन्द के जीवन का प्रारम्भकाल देखते हैं तो एक विलक्षण साम्य हम पाते हैं। १५ अगस्त सन् १८७२ को कलकत्ता में जन्मे श्री अरविन्द को डॉ० कृष्णाधन घोष के रूप में अपने पिता पूरे पाश्चात्य रंग में रँगे हुए मिले। माँ सतत बीमार रहती थीं। पिता स्वयं चिकित्सा की डिग्री प्राप्त करने पश्चिम होकर आए थे। वे नहीं चाहते थे कि भारत की पौर्वात्य रहस्यवाद व अध्यात्म की कोई छाया भी उनके तीनों बच्चों पर पड़े। जिस समय बच्चों में संस्कारों का पोषण करने हेतु उन्हें धार्मिक कथाएँ सुनाई व विभिन्न प्रकार से उनके मानस को प्रभावित करने के विभिन्न उपक्रम रचे जाते हैं, उस समय श्री अरविन्द को पूरी तरह पश्चिमी सभ्यता में रँगने की तैयारी चल रही थी। उन्हें पाँच वर्ष की आयु में ही आयरिश कान्वेण्ट स्कूल, दार्जिलिंग भेज दिया गया। मातृ-भाषा बंगाली वे सीख नहीं पाए व मात्र अँग्रेजी ही उनके वार्तालाप का माध्यम बनी। छह वर्ष की आयु से बीस वर्ष की आयु तक दोनों भाई इंग्लैण्ड में साथ-साथ रहे। उन्हें गवर्नेस के रूप में मिस पैजेट नामक एक आंग्ल महिला मिली, जिसने उन्हें क्रिश्चियेनिटी के प्रभाव में ढालने की अपनी पुरजोर कोशिश की। पिता का सख्त निर्देश था कि अरविन्द व उनके भाई को किसी भारतीय की संगति से बचाया जाए। मैन्चेस्टर व बाद में स्कालरशिप प्राप्त कर कैम्ब्रिज में पढ़े अरविन्द घोष ने शैली, होमर, अरिस्टोफेन्स, दांते, गोथ आदि को रट डाला व फ्रेंच तथा आँग्ल साहित्य में निपुणता अर्जित कर ली। यदि श्री अरविन्द के निज के संस्कार सशक्त न होते तो चौदह वर्ष के अपने बाल्यकाल के ही उस विदेशी भूमि के प्रवाह में वे पूरी तरह वैसे ही ढल गए होते, जैसा उनके पिताजी ने चाहा था।

यहाँ बीच में प्रवाह रोककर परमपूज्य गुरुदेव के जीवनवृत्त पर एक दृष्टि डालना ठीक होगा। उन्हें श्री अरविन्द की तरह पाश्चात्य मनोभूमि वाले पिता का सामना नहीं करना पड़ा। उनके पिता पं. रूपकिशोर शर्मा वाराणसी में महामना मदन मोहन मालवीय जी के बालसखा रहे थे व वे स्वयं बच्चे की शिक्षा-दीक्षा में रुचि लेते हुए उसकी आत्मिक-प्रगति की दिशा में गतिशील थे। गायत्री माता के रूप में ब्राह्मण की कामधेनु की व्याख्या उन्हीं के द्वारा उन्हें सुनने को मिली थी व उनके ही कारण से मालवीय जी के हाथों यज्ञोपवीत पहनने का सौभाग्य प्राप्त कर पाये थे। इतना सब कुछ होने पर भी आकांक्षा उनकी यही थी कि उनका पुत्र सीधा-सा मार्ग पकड़े, पाण्डित्य अर्जित कर वही काम करे जो जीवन भर उन्होंने किया था। किन्तु माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध औपचारिक शिक्षा प्राइमरी तक ही पढ़कर सारी परिस्थितियाँ अनुकूल होते हुए भी बालक श्रीराम ने समाज देवता की आराधना के बीजांकुरों को पोषण देना आरम्भ कर दिया। घर का वातावरण कट्टर, संकीर्ण, जातिप्रधान था, किन्तु वे गन्दगी साफ करने वाले शूद्र व निम्न जाति के माने जाने वाले वर्ग में घूमते देखे जाते। छपको नामक मेहतरानी के घाव धोकर उसकी सेवा में उन्हें जो स्वर्गोपम आनन्द मिला था, वह घरवालों की उपेक्षा, डाँट व कड़े से कड़ा दण्ड पाने के बाद भी सतत याद बना रहता था। तत्कालीन ग्रामीण परिवेश में यह एक प्रकार की सामाजिक क्रान्ति ही थी। जब अन्यान्य उनके साथी पढ़कर आगे बढ़ रहे थे, वे निरक्षरों को साक्षर बनाने का, असमर्थों को समर्थ बनाने का विद्यालय अपनी हवेली में खोले हुए थे। अपनी माँ को भी उन्होंने सभी धर्मों की महिलाओं को उनके द्वारा दिए जा रहे प्रौढ़शिक्षण में जबरन सम्मिलित कर लिया था। अमराई में बैठकर घण्टों साधना में निरत रहना, किन्तु असहायों की मदद हेतु तुरन्त पहुँच जाना पूज्यवर के जीवन की एक ऐसी विशेषता है जो विरलों में पायी जाती है।

पिता पं. रूपकिशोर जी अधिक दिन जीवित नहीं रहे। जब बालक श्रीराम लगभग ग्यारह या बारह वर्ष के ही थे उनके पिता का निधन हो गया। लौकिक दृष्टि से सम्भवतः पिता को अपने पुत्र की जीवनशैली पसन्द नहीं आई थी। यदि उनका पुत्र उनके जीवित रहते उनका पैतृक व्यवसाय अपना लेता तो वे प्रसन्नमन से विदा लेते, पर ऐसा नहीं होना था। लगभग यही बात हम श्री अरविन्द घोष के जीवन में देखते हैं। बच्चे को आई. सी. एस. पास कराके भारत में उच्च नौकरी प्राप्त कर देखने का डॉ० कृष्णाधन घोष का खूब मन था, पर आई० सी० एस० की परीक्षा के पूर्व बी. ए. स्कॉलरशिप के के साथ प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर पास करने वाले अरविन्द उस समय इंग्लैण्ड में मेजिनी जोन ऑफ आर्क से प्रभावित थे व स्वतन्त्रता के लिए आतुर भारतीयों की एक समिति 'इण्डियन मजलिस' के सचिव बन गए थे। आई. सी. एस. परीक्षा पास करने के बाद भी वे बूलविच जाकर घुड़सवारी का अन्तिम टेस्ट देने के बजाय समधर्मी विचार वाले मित्रों के साथ घूमने निकल गए। मात्र इसी बजह से एक बुद्धिमान काला अँग्रेज भारत पर शासन न करने पाए, यह उनके आंग्लशिक्षक को गंवारा न हुआ व उसने पूरा प्रयास किया कि अरविन्द घोष अपनी गलती कबूल कर किसी तरह डिग्री ले लें, पर अरविन्द घोष को इस शिक्षा की तुलना में संस्कारों को प्रधानता देने वाली विधा का महत्त्व समझ में आ चुका था। वे वैसे ही सन् १८९२ में अपने देश लौट आए। आते ही पता चला कि मार्ग में सम्भावित दुर्घटना की गलत खबर सुनकर हृदयाघात से उनके पिता चल बसे हैं व मात्र बूढ़ी माँ उनके पास है, जो उन्हें देख पाने में असमर्थ है।

जो पिता अपने बच्चों को पाश्चात्य शिक्षा में प्रवीण बनाकर भारतीयता के प्रभाव से वंचित रखना चाहता था, वह अपने बच्चे को विदेश से लौटा देख न पाया । यदि वह जीवित रहता तो सम्भवतः पाता कि उनका बेटा विदेश जाकर एक निरासक्त कर्मयोगी, एक निस्पृह स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में विकसित होकर लौटा है । यह सब कैसे हो पाया, इस पर अरविन्द पर जीवनी लिखने वाले विद्वान लेखक लिखते हैं कि बाह्यजगत में दबावों के बावजूद अरविन्द के अन्दर के संस्कार प्रबल थे व उन्हीं की प्रेरणा से वे एक ऐसे सशक्त व्यक्तित्व के रूप में स्वयं को गढ़ते चले गए । पाश्चात्य वातावरण में उसके अनुरूप न ढलकर स्वयं को अपनी मूलभूत संस्कार निधि मुमुक्षत्व के अनुरूप ढाला व साथ ही मातृभूमि के प्रति अपना प्रेम भी जिन्दा रखा ।

पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य भी पिता के देहावसान के पूर्व से ही अपना राष्ट्रप्रेम जता चुके थे । जमींदारी प्रथा के खिलाफ संघर्ष वे तब कर रहे थे, जब स्वयं उनके पिता हजारों बीघा जमीन के मालिक एक जागीरदार थे । गाँव के हाट-बाजारों में जाकर पर्चे बाँटना व अँग्रेजी शासन तथा उनका साथ देने वालों के विरुद्ध आक्रोश जन-जन तक पहुँचाने के लिए नमक आन्दोलन से लेकर जेल भरो आन्दोलन में सम्मिलित होना, यह सब कार्य उन्होंने ११ वर्ष की आयु से चौबीस वर्ष की आयु तक किया । जहाँ अरविन्द बड़ौदा महाराज के सचिव बने लेख लिख रहे थे-'शेक ऑफ दि ब्रिटिश योक'[1] (अँग्रेजी सत्ता के जुए को उखाड़ फेंको) । वहीं पूज्य गुरुदेव आगरा जिले के एक स्वतन्त्रता सेनानी के नाते 'सैनिक' पत्र के सम्पादन में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी का सहयोग कर रहे थे । जहाँ अरविन्द कलकत्ता में बमकाण्ड में गिरफ्तार होकर अपनी सुनवाई की प्रतीक्षा के साथ-साथ लाखों युवकों में क्रूरशासन की दमनकारी नीतियों के खिलाफ मन्यु पैदा कर रहे थे, वहीं पूज्य गुरुदेव भगतसिंह को फाँसी लगने पर मौन न रहकर सारे आगरा जिले में क्रान्ति की एक आग फूँकते देखे जाते हैं ।

एक विलक्षण साम्य है महर्षि अरविन्द एवं युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के जीवनक्रम में । महर्षि अरविन्द अड़तीस वर्ष की आयु में (सन् १९१० में) जन-जन की मुक्ति के लिए एक समग्र योगदर्शन की खोज करने पाण्डिचेरी चल देते हैं व एकाकी जीवनक्रम अपना लेते हैं, ताकि परोक्षजगत को अपनी तपश्चर्या से अनुकूल बना सकें । ज्ञानयोग का आश्रय लेकर वे अतिचेतन सत्ता के धरती पर अवतरण की, स्वर्णिम भारत के पुनरोदय की बात कहते हैं । वहीं पूज्य गुरुदेव भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग के समन्वित स्वरूप के आधार पर सांस्कृतिक बौद्धिक-नैतिक क्रान्ति का, विचार-क्रान्ति का तथा इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य का उद्घोष करते हैं । महर्षि अरविन्द को दैवी चेतनसत्ता सतत प्रेरणा देती रहती है तथा पूज्य गुरुदेव को उनकी हिमालयवासी परोक्ष मार्गदर्शक सत्ता जो सतत उनके पास आती, अपने पास बुलाती है, उन्हें पग-पग पर चलना सिखाती है । जहाँ अरविन्द को महर्षि अगस्त्य की तपःस्थली वेदपुरी (अब पाण्डिचेरी) में जाकर मौनसाधना करने की दैवी प्रेरणा मिलती है । वहाँ पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी को पहले महर्षि दुर्वासा की तपःस्थली मथुरा में, जहाँ गायत्री तपोभूमि विद्यमान है तथा बाद में नवीन सृष्टि के सृजेता महर्षि विश्वामित्र की तपःस्थली सप्तसरोवर शान्तिकुंज में जाकर तप करने व ऋषिसंस्कृति के गायत्री के तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने की परोक्षसत्ता की प्रेरणा मिलती है ।

यह एक संयोगमात्र नहीं है कि अध्यात्म क्षेत्र के दो प्रचण्ड तपस्वी जिनका तुलनात्मक अध्ययन अति संक्षेप में ऊपर प्रस्तुत किया गया, भारत में ही जन्मे, एक उद्देश्य को लेकर तपे तथा जिनके प्रारम्भिक जीवन से अंत तक संस्कारों की प्रबलता ही प्रमुख भूमिका निभाती रही । महामानवों की यही रीति-नीति होती है । वे धारा के प्रवाह के विपरीत चलते हुए स्वयं पार होते हैं व अपनी नाव में असंख्यों को पार करते हैं । वे मल्लाह की भूमिका निभाते देखे जाते हैं । हम सब के जीवन का परमसौभाग्य हमारी जीवननौका को उस काफिले से जुड़ने का अवसर मिला जो श्रेष्ठ पथ पर अग्रगमन कर रहा था । हम नहीं जानते कि हमने अपने संस्कारों को दैवीसत्ता की प्रेरणा से स्वयं पहचाना, प्रवाह से, प्रज्ञा अभियान से जुड़ गए अथवा अनुभूतियों से लेकर उपलब्धियों के रूप में अनेकानेक प्रकार से झकझोर कर हमें अपनी दैवी अंशधारी सत्ता का बोध कराके परमपूज्य गुरुदेव ने अपने साथ जोड़ा, किन्तु यह सत्य है कि जो मार्ग अब मिल गया है, वह मनुष्य जीवन के दुर्लभतम सुयोगों में से एक है ।

कुसंस्कारों के वशीभूत हो अनेक व्यक्ति कुपथगामी होते, भटकते देखे जाते हैं । नर-पशु, नरपामर, नर-पिशाच की योनि में नारकीय जीवन जीते इसी चोले में सब कुछ भुगतते देखे जाते हैं । ऐसे में कोई अपने संस्कारों को पहचान ले व श्रेष्ठता से स्वयं को जोड़ ले तो वह कहाँ से कहाँ पहुँच सकता है, यह हम पूज्य गुरुदेव के जीवनवृत्त का अवलोकन कर अपने सौभाग्य को सराहते हुए भली-भाँति समझ सकते हैं ।

# प्राणरक्षक संजीवनी-जिनकी सिद्धि थी

*"आपकी भावनाएँ हमें पुलकित कर देती हैं । माताजी ने पत्र पढ़ा तो आँखों में आँसू भर लाईं । भगवान को किसी ने देखा नहीं और न उनके स्थान आदि का कुछ पता है, फिर भी भावना के वशीभूत हो वह मदारी की तरह भक्त के इशारे पर नाचता रहता है और सामने आ खड़ा होता है । हम भी आपसे कभी विलग न होंगे । चमड़े का पिंजड़ा यदि दूर रहे तो भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । हमारी आत्मा को आप सदा अपने ऊपर मँडराती*

अनुभव करेंगे ।'' १८ मार्च, १९७० को परमपूज्य गुरुदेव द्वारा एक परिजन को लिखे पत्र की ये पंक्तियाँ बताती हैं कि कितने सशक्त सघन आत्मीयता के सूत्रों में बाँधकर उन्होंने गायत्री परिवार रूपी विशाल संगठन खड़ा किया। भाव-संवेदना शब्दों में से निर्झरिणी की तरह प्रवाहित हो रही हो, ऐसा उनका संदेश होता था । अगणित व्यक्तियों तक यह भावना की गंगोत्री विगत पचास वर्षों में लेखनी व वाणी के माध्यम से बही व उसमें स्नान कर सभी धन्य हो गए ।

सुनिश्चित आश्वासन देते हुए वे एक परिजन को लिखते हैं-''*हमारे जीवित रहते व उसके बाद भी हमसे जुड़े होने के कारण आपको कुछ भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है । पत्र द्वारा ही नहीं, आत्मा से आत्मा की प्रेरणा द्वारा भी हमारी शिक्षा आप तक बराबर पहुँचती रहेगी ।*'' ३१-१२-६३ को लिखा यह पत्र साक्षी है एक ऐसे मनस्वी का, जो अपने शिष्य का पूरा दायित्व अपने कंधों पर लेते हुए कहता है **'मामेकं शरणं व्रज'** । जिस किसी से भी पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने नाता जोड़ा उस तक अनुदान निरन्तर पहुँचाते रहे ।

शारीरिक कष्ट से लेकर आत्मबल की कमी जैसे व्यवधान सभी के रोजमर्रा के जीवन में आते हैं । सतत उनका समाधान होता रहा । पत्र जब भी आता था, ऐसी प्रेरणा की संजीवनी से ही भरा होता था । १८-१०-१९४३ को उनके द्वारा एक वरिष्ठ गायत्री परिजन को लिखे पत्र से उद्धृत कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-''*आप उलझन और कठिनाइयों में भी धैर्य को पकड़े रहें । दिन नहीं रहा तो रात भी न रहेगी । ईश्वर सब मंगल करेंगे । अमंगल में भी मंगल की भावना करने से मन को एक अद्भुत शान्ति प्राप्त होती है । आप सदा प्रसन्न रहिए और ईश्वर स्मरण रखिए ।*'' इसी प्रकार एक अन्य परिजन को जो पत्र उन्होंने २० मई, १९६१ को लिखा की पंक्तियाँ हैं-''*हम अकेले पार होना कभी स्वीकार न करेंगे । जब हम पार होंगे तो उसमें तुम्हारा भी साथ अवश्य होगा । हमारी तपस्या में तुम स्वयं भी भागीदार हो । जैसे हमारे सुख-दुःख और पाप-पुण्य में हमारे शरीर का हर भाग भागीदार है, उसी प्रकार तुम भी हमारे अंग रूप में अब जुड़ गए हो । जो हमारा बुरा-भला होना होगा, वही तुम्हारा भी होगा । इसलिए तुम निश्चिन्त रहा करो । किसी प्रकार का डर अपने मन में न आने दिया करो ।*''

ऐसे आत्मबल बढ़ाने वाले उनके शब्दों का प्रभाव होता रहा है कि लाखों परिजनों में से एक-एक उनके साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बन्ध स्थापित कर स्वयं की प्रगति यात्रा पर निश्चिन्त होकर चलते रहे । उनसे जुड़ने के बदले में जो अनुदान मिले हैं, उनका वर्णन कहाँ तक किया जाए । परिजनों की अनुभूतियों से भरी अगणित फाइलें जो शान्तिकुंज में जमा हैं, प्रमाण देती हैं कि कैसे विभिन्न परिजन गुरुसत्ता के सामीप्य से निहाल होते चले गए ।

अनुदान एक औघड़दानी की तरह उन्होंने जीवन भर बाँटे । किसी की तकलीफ में हिस्सा बँटाया, कष्ट से उसे मुक्ति दिलाई । मानसिक वेदना में विगलित क्षुब्ध स्वजन को कष्ट से राहत दिलाई, तो किसी के मनोबल-आत्मबल को बढ़ाते हुए प्रतिकूलताओं से जूझने का पथ प्रशस्त किया । अनुदान हमेशा पात्रता परख कर बाँटे गए । बदले में व्यक्ति को यही प्रेरणा दी गयी कि वह अपना जीवन बदले, समाज के लिए कुछ करने के लिए आगे आए । इस प्रकार सत्प्रवृत्ति विस्तार के लिए आत्म-कल्याण से लोक-मंगल वाला मार्ग बनता चला गया । यही नहीं यह भी स्पष्ट होता चला गया कि जो भी क्षुद्रता को त्याग कर महानता के, श्रेष्ठता के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ेगा वह दैवीसत्ता के अनुदानों से निहाल होता चला जाएगा । परमपूज्य गुरुदेव की सत्ता स्थूल रूप से आज नहीं है । वे और भी व्यापक व सघनतम हो गए हैं, किन्तु सतत अनुदान अब भी सबको सहज ही उन्हें स्मरण करने मात्र से मिलते हैं, इससे दैवी सत्ता का शाश्वत नियम सही प्रमाणित होता है ।

एक भी परिजन, नया या पुराना ऐसा नहीं है जिसके जीवन में विलक्षण कुछ घटा न हो । घटनाक्रम के विस्तार में सामान्य बुद्धि चली जाती है, वह उसके मर्म को नहीं समझ पाती । यही बात परमपूज्य गुरुदेव बार-बार समझाते रहते थे कि घटना को नहीं उसके पीछे छिपे दैवी-संकेतों को महत्त्व दें, नहीं तो मात्र आदान-प्रदान के इस प्रारम्भिक उपक्रम तक ही वह व्यक्ति सीमित होकर रह जाएगा । इसीलिए प्रेरणा भरे वचन, न कि घटना का विस्तार, पूज्यवर अपने पत्रों में लिखते रहे । वे एक बहिन को ६-१२-१९६७ के पत्र में लिखते हैं-''तुम्हारा कष्ट हमें अपना निज का कष्ट प्रतीत होता रहता है और उसके निवारण के लिए वही उपाय करते हैं, जैसा कोई व्यक्ति अपना कष्ट-निवारण करने के लिए कर सकता है ।''

बिलासपुर (मध्यप्रदेश) के एक कार्यकर्त्ता के श्वसुर, पेट के कैन्सर से अन्तिम स्थिति में टाटा मेमोरियल कैन्सर अस्पताल बम्बई में भरती थे । उनकी दो बच्चियाँ शादी योग्य थीं । कार्यकर्त्ता महोदय ने लिखा कि एक वर्ष का जीवनदान मिल जाए, तो वे जिम्मेदारी से मुक्त हो जाएँगे । पूज्य गुरुदेव ने उन्हें लिखा-''*जीव का जीवनकाल बहुत लम्बा नहीं खींचा जा सकता । थोड़ी ही रोकथाम सम्भव हुई है । सो आप यथासम्भव जल्दी ही बच्चियों की शादी से उन्हें निवृत्त कराने का प्रयत्न करें ।*'' अप्रैल, १९६३ में माँगा गया जीवनदान मार्च १९६४ तक चला । इस बीच उनकी दोनों बच्चियों की शादी हो गयी । सामान्य चिकित्सा द्वारा ही जीवनकार्य चलाते हुए वे जीवित रहे । अवधि समाप्त होते ही पुरानी शिकायत यथावत हो गयी व उसी रोग से उनका देहावसान हो गया ।

हमेशा किसी की रोगमुक्ति पर परेशानियों के हटने पर पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी, श्रेय माँ गायत्री को देते व लिखते या कहते कि-''*माता से की गयी प्रार्थना*

*से ही आपको यह सब मिला है । इस जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग करने, गायत्री के सद्बुद्धि के तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के सम्बन्ध में विचार करें ।''* पटना के एक सज्जन लिखते हैं कि उनके बड़े भाई को पेशाब की थैली में कैन्सर बताया गया । सभी जाँच के बाद यह कहा गया कि तीन-चार माह से अधिक वे जी नहीं पाएँगे । वे आए और शान्तिकुंज से पूज्यवर का आशीर्वाद व भस्म ले गए । भस्म का सेवन श्रद्धापूर्वक गंगाजल के साथ इस भाव से कराया गया कि यह पूज्यवर का चरणामृत है । तकलीफ ठीक हो गयी व एक्सरे भी ठीक आया । आज सात वर्ष से अधिक हो गए हैं । वे पूर्णतः स्वस्थ हैं व संस्था के कार्यों में पूर्ण सहयोगी हैं ।

जबलपुर के एक सज्जन को लम्बी प्रतीक्षा के बाद पुत्ररत्न प्राप्ति हुई । जाँच-पड़ताल के बाद चिकित्सकों ने बताया कि मलविर्सजन का द्वार नहीं होने से इसका ऑपरेशन करना होगा । उन सज्जन ने पूज्यवर का ध्यान किया व प्रार्थना की कि-''आपसे अब तक कुछ नहीं माँगा । पुत्र हुआ व उसको भी जन्म के तुरन्त बाद चीर-फाड़ से गुजर कर जीवनभर पेट के सामने वाले भाग के एक छेद से मलविसर्जन करना होगा । कुछ कीजिए, ऐसी नारकीय जिन्दगी से उसे बचाइए ।'' उनकी अन्तरात्मा को आश्वासन मिला तथा भरती होने के बाद ही चाइल्ड सर्जरी के प्रमुख ने आकर केस अपने हाथ में लिया । जाँच-पड़ताल के दौरान नली गुजारने की कोशिश में पाया गया कि पतली झिल्ली-सी मलद्वार के मुँह पर आवरण के रूप में विद्यमान है व अन्दर के दबाव से स्वतः वह खुल गया तथा मलविसर्जन बराबर हो रहा है । सभी चिकित्सक आश्चर्यचकित थे कि यह सब कैसे हुआ । क्या जो पहले देखा था वह गलत था या जो अब देखा है वह गलत है । अगले ही दिन वंदनीया माताजी का पत्र उन सज्जन को सब कुछ ठीक तरह होने के आश्वासन के साथ मिला । उनका वह पत्र आज समाज को समर्पित है ।

दिल्ली के एक स्वजन जो बराबर शान्तिकुंज आते रहते हैं, शोधसंस्थान से जुड़े चिकित्सकों के लिए एक चलते-फिरते आश्चर्य हैं । कारण यह कि उनके हृदय के दो वाल्व इतने अधिक विकृत हो चुके थे कि बिना ऑपरेशन कोई चारा नहीं था । साँस लेने में भी कष्ट होता था व हाथ-पाँव में सूजन आदि तकलीफ बराबर बनी रहती थी । सभी चिकित्सकों की राय थी ऑपरेशन होना चाहिए । पूज्य गुरुदेव ने कहा कि जाँच करा लो, पर ऑपरेशन जरूरी नहीं है । बिना ऑपरेशन भी काम चल जाएगा । वे दिल्ली से जाँच कराके वापस आए तो पता चला कि वाल्व इतने अधिक सिकुड़ चुके हैं कि तीन माह में ही ऑपरेशन करवाना होगा । तारीख भी दे दी गयी ।

परमपूज्य गुरुदेव ने जाते समय फिर आशीर्वाद दिया कि घूम आओ, पर ऑपरेशन की जरूरत नहीं पड़ेगी । भरती होने के बाद ऑपरेशन से एक घण्टा पूर्व जब हृदय से जुड़ी धमनियों के प्रेशर की जाँच की जा रही थी, तो सब आश्चर्यचकित थे कि सब कुछ ठीक है, जबकि तीन माह पूर्व की जाँच बताती है कि स्थिति बिना ऑपरेशन के ठीक नहीं होने वाली । चूँकि यह अवरोध 'मेकेनीकल' स्तर का था, इसमें किसी प्रकार की कोई गलती की अब सम्भावना नहीं थी । जाँच के बाद बिना ऑपरेशन के उन्हें भेज दिया गया, यह कहकर कि अब यह जरूरी नहीं है । वे सज्जन अभी भी पूर्ण स्वस्थ स्थिति में पत्रकारिता से जुड़े मिशन के कार्य का विस्तार कर रहे हैं । परमपूज्य गुरुदेव से समीप से जुड़े चिकित्सक स्तर के एक वरिष्ठ कार्यकर्त्ता को अभी भी चालीस से अधिक रोगियों की जानकारी है, जिन्हें हार्टवाल्व या धमनियों की खराबी होने की वजह से सर्जरी की राय दी गयी थी, पर उन्हें जब गुरुदेव का आशीर्वाद मिल गया तो किसी तरह की बड़े स्तर की चीर-फाड़ की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी । वे सभी स्वस्थ हैं व सक्रिय हैं । यह मृतसंजीवनी जो परमपूज्य रूपी अवतारसत्ता द्वारा अगणित लोगों को मिली । सारे घटनाक्रमों को लिपिबद्ध करना ही एक असम्भव कार्य है ।

एक सज्जन जिनका परिवार तीन पीढ़ियों से परमपूज्य गुरुदेव से जुड़ा है व स्वयं को जन्म-जन्मान्तरों से जुड़ा मानता है, दिल्ली में रहते हैं व अंश-अंश को उनका ऋणी मानते हैं । उनकी अनुभूतियाँ विलक्षण हैं । उनकी बड़ी से बड़ी विपत्तियों को परमपूज्य गुरुदेव ने टाला । जब भी किसी की व्याधि चिकित्सकों की सीमा से पार हो गयी तो उन्होंने गुरुसत्ता का स्मरण किया व इतने मात्र व उनके दृढ़विश्वास से सब ठीक होता गया । उनकी पत्नी को असहनीय पीड़ा से मुक्ति मिली । स्वयं वे 'पेम्फीगस वल्गेरिस' नामक एक भयंकर महाव्याधि से तब पूज्यवर के आशीर्वाद से मुक्त हो गए, जब उनके चिकित्सक उन्हें निराश कर चुके थे । उनके छोटे भाई की मस्तिष्क की धमनी फटने से रक्तस्राव होने से जो स्थिति हुई, उसे इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं देखा है । मरणासन्न स्थिति से उठाकर उस स्थिति में पहुँचा देना कि वे कुछ वर्ष के एक्सटेंशन द्वारा अपने दायित्वों को पूरा कर सकें । परिवार सम्बन्धी सारी जिम्मेदारियाँ पूरी होने पर व मिशन से सम्बन्धित ऋण चुकते ही उन्हें एक्सटेंशन से मुक्त कर दिया गया ।

मिशन से अपरिचित, किन्तु पूज्यवर की प्राणदायिनी शक्ति से परिचित हुए एक नये सज्जन शान्तिकुंज आए व नीचे बैठे रहे, इस परीक्षा के लिए कि-''यदि वे तत्वज्ञ त्रिकालदर्शी हैं, तो मेरे आने की जानकारी उन्हें होनी चाहिए ।'' मिलने की, दर्शन की कोई उत्सुकता उन्होंने नहीं दर्शाई । जब पूज्यवर ने ऊपर से पुछवाया कि फलांफलां सज्जन क्या नीचे बैठे हैं ? वे आश्चर्यचकित रह गए, क्योंकि अपनी कोई जानकारी उन्होंने किसी को नहीं दी थी । ऊपर वे दर्शन को पहुँचे तो उलाहना सुना कि-''पेट का कैन्सर है, तो क्या ऐसे ही ठीक हो जाएगा ?

गुरु की शक्ति की थाह पाना चाहते हो क्या ?'' वे बोले- ''आप जैसी महासत्ता को कष्ट नहीं देना चाहता था । प्रारब्ध मेरा है, मुझे ही भोगने दें । गुरुसत्ता का उत्तर था कि तुम्हें इससे मुक्ति दिलाएँगे, ताकि तुम समाज का काम कर सको । एक गुलाब का फूल दिया गया व कहा गया कि एक पंखुड़ी रोज खाना, जब तक फूल सूखकर समाप्त न हो जाए । इसके बाद ही रोग से मुक्ति मिल जाएगी । जिस परिजन ने यह घटनाक्रम देखा था उसने उस रोगी से चर्चा कर बाद के घटनाक्रमों पर दृष्टि रखी, वे रोग मुक्त हो गए व अभी भी स्वस्थ स्थिति में इस घटनाप्रसंग के आठ वर्ष बाद सतत कार्यरत हैं । क्या इन सब के बावजूद हम यह प्रश्नचिह्न लगाते रहेंगे कि हमें अध्यात्म के तत्त्वदर्शन से सही अर्थों में जोड़ने वाली सत्ता असामान्य ईश्वरीय स्तर थी कि नहीं ?

## अनुदानों के बरसने का अनवरत सिलसिला

''आपकी आत्मा जिस तेजी से प्रगति कर रही है, उसे देखते हुए इस जीवन में लक्ष्य प्राप्त कर लेना पूर्णतया निश्चित है । आपके सम्बन्ध में हमें उतना ही ध्यान है जितना किसी पिता को अपने बच्चों का रह सकता है'' तथा ''चिड़िया की छाती की गर्मी से अण्डा पकता रहता है और समय पर फूटकर बच्चा निकलता है । आप हमारी छाती के नीचे अण्डे की तरह पक रहे हैं । समय पर पककर फूट पड़ेंगे '' तथा ''गाय अपने बच्चे को दूध पिलाकर जिस प्रकार पुष्ट करती है, वैसे ही तुम्हारी आत्मा को विकसित करने और ऊपर उठाने के लिए हम निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं ।'' यह तीन उद्धरण परमपूज्य गुरुदेव के पत्रों से हैं, जो उनके द्वारा समय-समय पर विभिन्न परिजनों पर मातृवत स्नेह की वर्षा कर एक दैवी संरक्षण प्रदान करते हुए लिखे गए । शब्दों के पीछे भाव यही थे कि जुड़ने के बाद अब हर संकट से बचाकर आगे बढ़ाना, आत्मिक प्रगति की ओर ले जाना अब गुरुसत्ता के हाथों में है । इसके लिए उन्हें मन में तनिक भी असमंजस नहीं आने देना चाहिए ।

सभी को साधना का सुयोग्य मार्गदर्शन एक सिद्धपुरुष द्वारा सतत मिलता रहा, ताकि अनुदानों के लिए पात्रता अर्जित हो सके । एक परिजन जो छिन्दवाड़ा मध्यप्रदेश के हैं, जब भी पूज्यवर के पास आते, तो गायत्री साधना करने की प्रेरणा मिलती । वे अपने मन की बात कई बार चाह कर भी नहीं कह पाते थे । उनकी पत्नी को एक विचित्र व्याधि थी कि दो पुत्रियों की अकाल मृत्यु के बाद उन्हें जब भी गर्भ ठहरता, बालक की भ्रूण में मृत्यु हो जाती । तीन गर्भपात हो चुके थे । वे उस ओर से निराश हो चुके थे । अपनी कष्ट-कठिनाई पूज्यवर को सुनाना चाहते थे । एक बार घर से चले तो यही सोचकर कि अब वे अपनी कहेंगे, बाद में उनकी सुनेंगे । चर्चा गुरु-शिष्य में आरम्भ होने से पूर्व ही वंदनीया माताजी ने भोजन के लिए बुला लिया । भोजन करते-करते उनकी आँखों में आँसू बहने लगे । परमपूज्य गुरुदेव ने कहा-''हमें तुम्हारे कष्ट का ज्ञान है । तुम समझते हो कि कहने के बाद, तुम्हारी वाणी से शब्द निकलने के बाद ही हमें जानकारी होगी । हर अनुदान की एक निश्चित अवधि होती है । साधना द्वारा तुम्हें पकाना उद्देश्य था, वह हो चुका । तुम्हें पुत्रप्राप्ति होगी व तुम्हारी सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होंगी ।'' ठीक एक वर्ष बाद उन्हें पुत्र हुआ । उसके माध्यम से पति-पत्नी के जीवन में प्रसन्नता आयी । कुछ शंकाएँ गुरुसत्ता को लेकर मन में थीं, तो वे दूर हो गयीं । साधना से सिद्धि का सही स्वरूप जो वे स्वयं देख चुके थे ।

संतों के इतिहास में अनेकानेक घटनाक्रम हम पढ़ते रहते हैं, जिनमें उनके माध्यम से अगणित पर कृपा बरसती बताई जाती है । परमपूज्य गुरुदेव ने कृपा भी बरसायी, जीवनलक्ष्य को उत्कृष्टता के साथ भी जोड़ा । सम्भवतः यह उनके लीलामय जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है ।

एक सज्जन जो टीकमगढ़ (मध्यप्रदेश) के हैं, को परमपूज्य गुरुदेव ३०-१२-६२ को लिखते हैं कि-''*बच्चे के स्वर्गवास का समाचार पढ़कर हमें भी आपकी ही तरह आघात लगा । आपका परिवार हमें अपने निजी परिवार जैसा ही प्रिय है । ईश्वर की इच्छा प्रबल है । उसके आगे मनुष्य का कुछ भी वश नहीं चलता । प्राणी जितने समय के लिए आते हैं, उतने ही समय ठहरते हैं । विवेक द्वारा शोक को शान्त करें । स्वर्गीय आत्मा फिर आप लोगों के घर अवतरित हो, ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं ।*'' इतना विश्वास देने के बाद उन सज्जन को एक नियमित अनुष्ठान में जुटा दिया गया, एक साधना-सत्र मथुरा गायत्री तपोभूमि में करवाया गया और ठीक डेढ़ वर्ष बाद एक संस्कारवान जीवसत्ता उनके घर आयी । समय-समय पर उसका व्यवहार देखकर लगता था कि यह वही बालक है, जो कुछ वर्ष पूर्व दिवंगत हुआ था । परोक्ष जगत में हस्तक्षेप कर अपनी प्रचण्ड शक्ति से सुपात्र को ऐसी गुरुसत्ता क्या कुछ नहीं दिला सकती ?

परमपूज्य गुरुदेव के छत्तीसगढ़ निवासी एक चिकित्सक शिष्य की कामना थी कि दो पुत्रियों के बाद जो तीसरी पुत्री उन्हें प्राप्त हुई थी वह कुछ वर्ष जीकर ही इस दुनिया से चली गयी थी, उन्हें पुनः मिल जाए । सम्भव हो तो जीवात्मा भले ही वह हो, पुत्र रूप में मिल जाए । कहीं आक्रोश न आ जाए, इस भय से कभी गुरुदेव से कुछ कहा नहीं । शान्तिकुंज सत्र में आए तो दो बार ऊपर गुरुदेव से मिल आए, पर मन की बात कह न पाए । चौथे दिन पूज्य गुरुदेव ने ऊपर अपनी ओर से बुलवाया व कहा कि-''जप करते समय बार-बार मन में यह मत लाया करो कि गुरुदेव देंगे कि नहीं । कहें कि नहीं ? जप में अपने मन को लौकिक कामना की नहीं, आध्यात्मिक प्रगति की बात सोचा करो । जहाँ तक पुत्र का प्रश्न है, वह हम तुम्हें

देंगे। मात्र ५-६ वर्ष तक उसे अपने कन्या रूप में पूर्व जन्म की स्मृति रहेगी। फिर क्रमशः यह आत्मा उसे भूल जाएगी।" एक मनचाहा वरदान उन्हें मिल चुका था। यह भी स्पष्ट हो गया था कि त्रिकालदर्शी गुरुसत्ता उनके मन को स्पष्ट पढ़ रही थी। वे ही अनावश्यक संशय कर रहे थे। ठीक पौने दो वर्ष बाद उन्हें एक बेटा हुआ, जो जन्म में पाँच-छह वर्ष तक हर बात ऐसे करता जैसे वह लड़की हो। वेश-विन्यास भी वही रखने का प्रयास करता। धीरे-धीरे यह स्मृति लुप्त हो गयी। आज वही बच्चा एक मेधावी किशोर के रूप में बड़ा हो चुका है।

एक दबंग ओजस्वी कार्यकर्त्री का परमपूज्य गुरुदेव के समीप रहने वाले एक घनिष्ट कार्यकर्त्ता को अभी भी स्मरण है कि कैसे उसने अपनी मनचाही बात भक्त रूप में भगवान से पूरी करायी। पहली उसकी बच्ची थी वह चाहती थी कि एक बच्चा और होने के बाद वह पूर्णतः समाज को समर्पित हो निश्चिन्त होकर कार्य करेगी। गर्भ ठहरने पर जाँच कराने पर पता चला कि यह भी कन्या है। पति ने सलाह दी कि गर्भपात करा लेना चाहिए। उसने पति की राय नहीं मानी व सीधे पूज्यवर के पास आकर लड़ने लगी कि-"आपने जो कहा था, वह किया क्यों नहीं?" परमपूज्य कृपालु गुरुदेव ने उससे सामने बैठने को कहा व निर्निमेष उसकी ओर कुछ देर देखते रहे। फिर बोले कि-"तुझे तो बेटा ही होगा। गर्भपात मत कराना। इसके बाद इस शरीर व मन को समाज के कार्य हेतु लगाना। इसी शर्त पर यह आश्वासन, वरदान तुझे दे रहा हूँ।" जाते ही उस उच्च शिक्षा प्राप्त शंकालु युवती ने जाँच करा ली कि वरदान मिला भी या नहीं। पता चला कि गर्भ में बालक ही है। अपनी ही रिपोर्ट को वे गलत कैसे कहते, अतः चिकित्सकों ने कह दिया कि पिछली रिपोर्ट में कहीं क्लर्क की गलती हो गयी थी, नहीं तो गर्भ में लड़का ही है। आज वह महिला एक पुत्री तथा पुत्र की माँ है तथा नारी जाग्रति के कार्यों में समर्पित भाव से लगी हुई है।

गया (बिहार) की एक बहिन लिखती हैं कि १९७९ में वे अपने पिता के साथ हरिद्वार से यह आशीर्वाद लेकर गयीं कि उनका शीघ्र ही विवाह होगा एवं सुख-शान्तिमय उनका दाम्पत्य जीवन होगा। पूज्यवर की वाणी पर उन्हें दृढ़ विश्वास था। १९८१ में उनका उनके मन से मेल खाते एक युवक से विवाह हो गया। प्रारम्भिक जीवनक्रम ठीक चला, किन्तु तीन-चार वर्ष बाद ही सास व ननद के तानों के कारण जीवन में अशान्ति आ गयी। सन्तान न होने से मन दुःखी था व धीरे-धीरे कलह का दाम्पत्य जीवन में प्रवेश हो गया। किन्तु मन को निराश न कर वे सबके ताने सुनते हुए भी पूज्यवर के आश्वासन के अनुरूप जप-अनुष्ठान का क्रम यथावत चलाती रहीं तथा एक पत्र शान्तिकुंज लिखा। एक सत्र यहाँ आकर शक्ति-अनुदान लेकर जाने को कहा गया। १९८७ में उन्होंने यहाँ अनुष्ठान किया व १९८८ की जनवरी में उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई। उनका विश्वास दृढ़ हो गया वह अब उनकी ससुराल पक्ष के सभी पूरे तन-मन धन से मिशन के कार्यों में पूरा सहयोग देते हैं।

हमेशा पूज्य गुरुदेव ने श्रेय माता गायत्री के शुभाशीर्वाद को ही दिया। १९८९ से परमपूज्य गुरुदेव के महाप्रयाण के ठीक एक वर्ष एक सज्जन साधना-सत्रों में आए थे। उनसे व्यक्तिगत मेल-मुलाकात के दौरान पूज्यवर ने पूछा कि-"अभी तक तुमने संस्था की ही बात की। अपने लिए व्यक्तिगत कुछ नहीं माँगा। माँ की कृपा से तुम्हें सब मिलेगा।" निस्सन्तान वे सज्जन कहना नहीं चाहते थे कि ४८ वर्ष की उम्र हो गयी व मिशन का कार्य करते हुए प्रायः बीस वर्ष। अब उन्हें अच्छा लगेगा यह कहते हुए कि बच्चा चाहिए? किन्तु मन को पढ़ने वाले महायोगी ने औघड़दानी की तरह आशीर्वाद दिया -"तुम जो सोच रहे हो वही होगा। हमारे द्वार से कोई खाली हाथ वापस नहीं गया।" परमपूज्य गुरुदेव के महाप्रयाण के अगले दिन ही उनकी पत्नी ने एक स्वस्थ पुत्र को जन्म दिया। जहाँ इष्ट के स्थूल शरीर त्यागने का संताप उन्हें था, वहाँ पुत्र रूप में देवसंतति भेजकर उन्हें निहाल कर दिया गया।

समय-समय पर वे परिजनों को पत्र देते-"कन्या बहुत ही शुभघड़ियों में जन्मी है। उसे पुत्र समान ही प्यार करें।" कोई व्यक्ति जब पूज्यवर के पास आकर अपनी ओर से पुत्र होने, न होने की बात करता तो उसे रोष का ही सामना करना पड़ता था। उन्हें बड़ा गुस्सा आता था लोगों की इस मानसिकता पर। वे बेटा-बेटी में भेद न करने पर सतत जोर दिया करते थे। किसी के अधिक आग्रह करने पर कहते कि-"बेटा हो गया वह तेरी सम्पत्ति हड़प कर तुझे घर से बाहर निकाल दे, उससे अच्छा है कि तू बेटी से ही संतोष कर। वह देवी स्वरूपा है, तेरा नाम ऊँचा करेगी।"

वस्तुतः परमपूज्य गुरुदेव रूपी दैवी-अवतारी सत्ता ने जीवनभर पात्रता व मानसिकता के अनुरूप बाँटने का क्रम रखा। लॉलीपॉप, टॉफी, खिलौनों के द्वारा बच्चों को जैसे बहलाया जाता है, ऐसे ही मनोकामना पूरी करते रहे, किन्तु सतत यह प्रेरणा देते रहे कि मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है व उन्हें क्या करने भेजा गया है? इसे ध्यान में रखें। जिन्होंने प्राथमिक कक्षा पास कर उनके दूसरे परामर्श को ध्यान में रखा वह प्रगति कर सके, जीवन को ऊँचा उठा सके। जो प्रथम तक सीमित रहे वह थोड़ा पाने के बाद और पाने की ललक मन में बनाए रहे, उनका जीवन सामान्य ही रहा, जबकि ऐसी सत्ता का सामीप्य पाकर तो उसे आमूलचूल बदल जाना चाहिए था।

एक परिजन को १६-९-६९ को लिखे गए पत्र में वे प्रेरणा देते हुए कहते हैं-"*आपका छोटा बालक उन्हीं महान आत्माओं में से एक है, जो युगपरिवर्तन करने के लिए पृथ्वी पर आ रही है। यह बालक गौतम बुद्ध की तरह सारे संसार में धर्म की ज्योति जगाएगा। इसे बहुत प्रयत्नपूर्वक बुलाया गया है। ज्योतिषियों के जन्मपत्र इसके*

*ऊपर लागू नहीं होते । इसके दीर्घजीवन की देखभाल हम स्वयं कर रहे हैं ।''* इस उच्चस्तर का संरक्षण था व शक्ति का प्रवाह था, जो वह मथुरा व हरिद्वार में बैठे सतत करते रहे । इसके माध्यम से अगणित को उन्होंने अपनी सन्तान को सुसंस्कारी बनाने हेतु प्रेरित किया । पूर्व जन्म के सुसंस्कारों का हवाला देकर उन्हें स्वयं मनु-शतरूपा की तरह तप करते रहने व संतान की लौकिक नहीं, आध्यात्मिक प्रगति हेतु प्रयास करते रहने की सतत प्रेरणा दी । इक्कीसवीं सदी के लिए नव-निर्माण के स्तम्भ उन्हें इसी माध्यम से मिलने जो थे ।

एक पत्र में कार्यकर्त्ता को वे लिखते हैं कि वे अपनी धर्मपत्नी को उपासना के लिए प्रेरित करें, उन्हें मार्गदर्शन देते रहें । वे लिखते हैं-''*आपकी धर्मपत्नी इतिहास में अमर रहने वाली महापुरुषों की माताओं में से एक होंगी । उसके अनुरूप ही उन्हें बनना है ।''* यह कितनी सशक्त प्रेरणा है, जिसके माध्यम से परमपूज्य गुरुदेव ने गृहस्थ संस्था में एक अभूतपूर्व क्रान्ति कर दी । उन्हें समय के अनुरूप संन्यासियों की नहीं, सही जीवन जीने वाले सद्‌गृहस्थों की आवश्यकता थी । उन्हीं के माध्यम से जन-जन तक पहुँच सकने वाली क्रान्ति सम्भव थी । आज पीछे मुड़कर देखते हैं तो लगता है कि कितनी बड़ी प्रक्रिया उस महामानव के माध्यम से सम्पन्न हुई । श्रेष्ठता की ओर साथ यात्रा करने वाले, सही जीवनकला सीखकर वैसा ही जीवन में उतारने वाले सुसंस्कारी, सद्‌गृहस्थ-दम्पत्ती उन्होंने युग-निर्माण परिवार के रूप में दिए, यह एक चमत्कार नहीं तो और क्या है ?

अपने परिवार के एक-एक बच्चे की उन्हें कितनी चिन्ता रहती थी, यह इस पत्र से स्पष्ट होता है, जो उनके द्वारा ३-१०-५८ को बरेली की एक बहिन को लिखा गया-''*बच्चे के लिए जो अनिष्ट है, उसे हम तुम से भी अधिक स्पष्ट रूप में देखते हैं । उसे टालने की हमें पूरी-पूरी चिन्ता है और तुम्हें बिना बताए ही जो कुछ सम्भव है सो हम सब कुछ कर रहे हैं । तुम्हारा बच्चा हमें अपने बच्चे से अधिक प्रिय है ।''* आज वह बालक मिशन का एक सशक्त कार्यकर्त्ता है व प्राणपण से नव-निर्माण के प्रयोजनों में लगा हुआ है । श्रेष्ठ आत्माएँ कहाँ व कब अवतरित हों, जो आ चुकी हैं, उनका विकास किस तरह हो, इस सम्बन्ध में वे समय-समय पर पत्र द्वारा तथा लेखों द्वारा दिग्दर्शन कराते रहते थे ।

अक्टूबर, १९६७ में 'महाकाल एवं उसकी युग-प्रत्यावर्तन प्रक्रिया' के अन्तर्गत पूज्यवर ने 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका में लिखा कि-''विशेष प्रयोजन के लिए विशिष्ट आत्माओं का अवतरण हो चुका है । परिवर्तन प्रक्रिया की पृष्ठभूमि तैयार करने की ईश्वरीय जिम्मेदारी कुछ विशेष आत्माओं पर सौंपी गयी है । उन्हीं को 'अखण्ड-ज्योति परिवार' के अन्तर्गत संगठित कर दिया गया है । जो आत्माएँ बाहर हैं, वह भी अगले प्रवाह में साथ हो लेंगी ।'' इन आत्माओं का आह्वान वे १९७१ के बाद 'अखण्ड-ज्योति' के लेखों द्वारा सतत करते रहे । १९८०-८१ में जब शान्तिकुंज में देवपरिवार बसाने की उन्होंने चर्चा की तब भी इसी पक्ष को प्रधानता दी । बाद में १९८८ में १२ वर्षीय युगसंधि पुरश्चरण आरम्भ करते समय भी विशिष्ट आत्माओं के जन्म लेने की या जन्म ले चुकी हैं तो उन्हें आत्म-बोध होने की उन्होंने बार-बार चर्चा की । शान्तिकुंज द्वारा चलाए गए देवस्थापना कार्यक्रम के मूल में भी परमपूज्य गुरुदेव का ही निर्देश व प्रेरणा है कि इसी माध्यम से देवशक्तियाँ अवतरित हो, युगपरिवर्तन का मूल-प्रयोजन अगले दिनों पूरा करेंगी ।

जिन्हें पत्रों द्वारा, पत्रिका द्वारा अथवा व्यक्तिगत सम्पर्क के माध्यम से परमपूज्य गुरुदेव के दैवी-अनुदान भिन्न-भिन्न रूपों में मिले वे भूल न जाएँ कि किस सत्ता से उनका साक्षात्कार हुआ था, आश्वासन दिया गया है कि सूक्ष्म व कारण शरीर से वे बराबर उन सभी को झकझोरते रहेंगे । पहले जो कार्य प्रत्यक्षत: किया था, उसी को परोक्ष रूप में पूरे विश्वभर में विस्तारित करने हेतु ही स्थूल काया के बन्धन से परमपूज्य गुरुदेव मुक्त हुए हैं । यह स्मरण आते ही हमें अपनी नित्यसाधना में उनकी अनुभूति सहज ही होने लगेगी ।

## परोक्ष जगत में सक्रिय वह सर्वसमर्थ सत्ता

अलौकिक, अद्‌भुत लीलाप्रसंग जानने की सबकी इच्छा रहती है । कुछ दुनिया की रीति ही ऐसी है कि यह सब सुने बिना उस व्यक्ति के अवतारी पुरुष, युगान्तरकारी व्यक्तित्व के रूप में होने की मन को आश्वस्ति नहीं होती । शिष्यों से घटनाप्रसंग सुनकर अन्यान्य व्यक्तियों को यह लग सकता है कि अमुक महापुरुष में हमने कोई ऐसी बात तो देखी नहीं । वे तो एक सामान्य से ही व्यक्ति थे । ऐसे जैसे हमारे घर में रहने वाले दादाजी, नानाजी । सौम्य व्यक्तित्व, सतत मुसकान व जीवन के अन्तिम वर्षों में थोड़ा-सा रौद्ररूप, यही बहिरंग में दृष्टिगोचर होने वाला परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का स्वरूप था । ऐसे में जब हम उनके सरल व्यक्तित्व के साथ ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न गायत्री के सिद्ध-साधक वाला स्वरूप जोड़ देते हैं, तो कुछ घटनाप्रसंग के प्रमाण भी आज के बुद्धिवादी युग को देखते हुए जरूरी हो जाते हैं, मोटी दृष्टि विज्ञान के प्रत्यक्षवाद के चश्मों से पार देखती दृष्टि यही सब कुछ देखती है, किन्तु श्रद्धा जिसकी प्रगाढ़ हो उसे किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, श्रद्धा स्वयं में एक सशक्त मान्यता प्राप्त विज्ञान है ।

रामकृष्ण परमहंस, महर्षि अरविन्द, महर्षि रमण, स्वामी विवेकानन्द जैसे कुछ विगत एक सदी में भारत में जन्मे महापुरुषों का जीवन हम देखते हैं तो पाते हैं कि ज्ञान व विज्ञान का अद्‌भुत सम्मिश्रण उनके जीवन-प्रसंगों से जुड़ा हुआ है । एक ओर वे ज्ञानेन्द्रियों की सीमा में आने वाले प्रत्यक्ष विज्ञान की कसौटी पर कसे जाने वाले

प्रसंगों का विवेचन करते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर गुह्य विज्ञान, रहस्यवाद व परोक्ष विज्ञान की परिधि में आने वाले घटनाक्रम भी उनके जीवन में घटित होते दिखाई देते हैं । साधना द्वारा अपने प्रसुप्त को जगाकर इन सभी ने वह उच्चस्तरीय स्थिति प्राप्त की थी, जिसे साधना की चरमावस्था कहा जाता है या साधना से सिद्धि का अन्तिम सोपान माना जाता है । यही सब कुछ परमपूज्य गुरुदेव के अस्सी वर्षों के जीवन का नवनीत भी है । विज्ञान व अध्यात्म का समन्वय करने वाले इस ब्रह्मर्षि ने अपने जीवन के माध्यम से मनोविज्ञान, अतिचेतन व उससे जुड़ी उच्चस्तरीय शक्तियों का जो परिचय अपने निकटस्थ परिजनों को दिया, उससे बड़ी साक्षी परामनोविज्ञान व गुह्य विज्ञान जैसी विधाओं में मिल नहीं सकती ।

जो परमपूज्य गुरुदेव को सामान्य मनुष्य मानते रहे, उनके दुर्भाग्य को क्या कहा जाए, पर जो भी उनके अलौकिक अवतारी-अतिमानवी रूप को समझ व हृदयंगम कर पाया, उसका आध्यात्मिक कायाकल्प हो गया । यों पत्रों, घटनाक्रमों, प्रत्यक्ष चर्चा व अनुभूतियों के माध्यम से इसका परिचय उन्होंने अगणित व्यक्तियों को दिया । जो भौतिक अनुदान मात्र पाने की ललक तक सीमित रहे, वह वहाँ से आगे नहीं बढ़ सके । जो थोड़ा भी पुरुषार्थ आत्मिक प्रगति की दिशा में कर सके, उन्हें सतत प्रवाह, सशक्त चेतना का मिलता रहा । यों उन्होंने सुपात्रों को अपना शाश्वत रूप दिखाने का प्रयास प्रारम्भ से ही किया था ।

भविष्य के गर्भ में झाँककर सब कुछ जान लेना, पहले से ही भवितव्यता की जानकारी देना, सीमित दृष्टि वाले हम सामान्य मानवों को सचेत करते रहना महापुरुषों की रीति-नीति होती है । परमपूज्य गुरुदेव के जीवन से जुड़े इतने घटनाक्रम हैं, जिनमें उन्होंने पहले से ही परोक्ष हलचलों की जानकारी सम्बन्धित व्यक्तियों को दे दी थी व उन्हें साधना-पुरुषार्थ में जुटाकर सम्भावित स्थिति को टाल दिया या हल्का बना दिया था ।

एक परिजन अपनी अनुभूति में व्यक्त करते हैं कि १५ फरवरी सन् १९५८ को उन्हें पूज्यवर का एक पत्र प्राप्त हुआ कि-''*तीन माह भारी विपत्ति के हैं । इस अवधि में उन्हें विशेष सावधानी रखनी चाहिए । सूचना वे उन्हें दे रहे हैं, पर मौत उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकेगी ।*'' पत्र प्राप्ति के बाद वह विशेष सतर्क रहने लगे । कुछ दिनों बाद कुछ न होने पर वे असावधान हो गए । एक दिन दोपहर को वे साइकिल से तेजी से बैंक की ओर जा रहे थे कि अचानक मोड़ पर खाली ट्रक आकर साइकिल पर चढ़ गया । साइकिल दूर जाकर गिरी व वे आधे इंजिन के नीचे आधे बाहर की ओर ऐसे ट्रक के नीचे गिरे । कई व्यक्ति दौड़े आए व उन्हें ट्रक के नीचे से बाहर निकाला । देखा तो वे पूर्णतः स्वस्थ थे, कहीं खरोंच भी नहीं आई थी । साइकिल ठीक होने दी व वापस घर की ओर चल पड़े । घर जाकर देखा पोस्टमैन चिट्ठी डाल गया था । पूज्यवर का पत्र था व यह लिखा था कि-''तुम सावधानी नहीं रखोगे इसलिए मैं सतत तुम्हारे साथ रहूँगा । यह पत्र जिस दिन मिलेगा, वह दिन तुम्हारे सम्भावित संकट का अन्तिम दिन होगा ।'' उन्होंने आश्चर्य से तारीख देखी । ठीक तीन माह पूरे हो गये थे । उस दिन १५ मई थी, स्वयं पूज्य गुरुदेव उनके साथ इस अवधि में बने रहे, यह सोच कर ही उनकी आँखों में अश्रुप्रवाह होने लगा व अनुभूति हुई कि कितनी बड़ी सत्ता का संरक्षण उनके साथ था ।

१९८२ का एक घटनाप्रसंग है । गुजरात पंचमहल जिले की एक महिला की युवा बेटी रहस्यमय परिस्थितियों में घर से लापता हो गई । सब ओर से निराश वह हरिद्वार आये । यहाँ वह कच्छी आश्रम में ठहरे । वहाँ के स्वामी जी के कहने पर वह पूज्यश्री के दर्शनार्थ व अपनी वेदना कहने शान्तिकुंज आये-कहने का मौका मिला तो आँखों से मात्र अश्रु ही निकले । पूज्यवर ने सारा घटनाक्रम समझते हुए उनसे कहा-''परेशान न हों । बेटी घर आ जाएगी । कुछ समय लगेगा । बेटी का फोटो भिजवा देना । माँ गायत्री से प्रार्थना करेंगे ।'' फोटो ब्रह्मवर्चस के एक कार्यकर्त्ता के माध्यम से पूज्यवर के पास पहुँचा दिया गया । इसके बाद दो-तीन पत्र दुखियारी माँ के आ गए कि अभी तक बेटी नहीं आई । छह माह से ऊपर होने को आ रहे हैं । कार्यकर्त्ता महोदय पुनः पूज्यवर से आकर उसकी समस्या बताने लगे तो बताया गया कि-''बेटी शारदा अभी गर्भवती है । अतः यात्रा करने में दिक्कत है । जहाँ भी है, वह सुरक्षित है । प्रसव के बाद वह माँ के पास पहुँच जाएगी ।'' ऐसा ही हुआ । कुछ ही दिनों बाद नवजात शिशु सहित वह माँ, व उसकी माँ जिसने अपनी अर्जी पूज्यवर के दरबार में लगाई थी, शान्तिकुंज आए व स्वयं को कृतकृत्य मानते हुए चरणों में नमन किया ।

ऐसे एक नहीं अगणित घटनाप्रसंग हैं, जिनमें पूज्य गुरुदेव ने व्याकुल-दुःखी-क्षुभितों को संकट या विपत्ति से मुक्ति दिलाई । भविष्य में क्या कुछ होने वाला है, इसका विस्तार तो नहीं, फलश्रुति बताते हुए साधना पुरुषार्थ में उन्हें जुटा दिया तथा सारा श्रेय माँ गायत्री को दिया । राजनाँदगाँव (म० प्र०) के एक सज्जन लिखते हैं कि उनका ज्येष्ठ पुत्र उन्मादजनित मनोविकार से ग्रसित होकर घर से निकल गया । चार साल तक घर नहीं लौटा । अपनी परेशानी जान-बूझकर पूज्यवर को नहीं लिखी, क्योंकि कभी लौकिक दृष्टि से कुछ नहीं माँगा था । बच्चे की माँ एक माह के सत्र में शान्तिकुंज आई थी । व्यक्तिगत भेंट-मुलाकात के क्रम में वह रो पड़ी व बोल उठी-''पिताजी ! हमारे बच्चे का पता बताइये । वह जीवित है कि नहीं । है तो वापस बुला दें, चाहे वह कैसी भी मनः-स्थिति में हो ।'' पूज्य गुरुदेव बोले-''बेटी, तुम हमारा काम करती रहो । हम तुम्हारा काम जरूर करेंगे ।'' बच्चे की माँ के घर लौटने के एक सप्ताह के अन्दर चमत्कारिक ढंग से बच्चा लौट आया और वह भी पूर्णतः स्वस्थ स्थिति में । मिशन के कार्यों में पूर्ण समर्पित कर एक अनुदान देकर उस परिवार को उन्होंने चिरऋणी बना लिया ।

सम्प्रति गायत्री तपोभूमि, मथुरा में कार्यरत एक वरिष्ठ कार्यकर्त्ता की पत्नी उन्हें उलाहना देती थीं कि वे उनके छोटे भाई के बारे में पूज्यवर से क्यों नहीं पूछते ? इन सज्जन के साले बचपन में ही घर छोड़कर चले गए थे । कहीं पता नहीं चल पा रहा था कि जीवित हैं भी कि नहीं । पत्नी के बहुत आग्रह करने पर उन्होंने साले के घर से जाने के प्रायः पन्द्रह वर्ष बाद परमपूज्य गुरुदेव को पत्र लिखा । ६-८-१९७० को पूज्य गुरुदेव का जवाब आया । "पत्र और फोटो मिला । लड़का यदि जीवित होगा, तो इसी वर्ष मिल जाएगा । इसके लिए हम आवश्यक प्रयत्न कर रहे हैं ।" परिजनों को इसके आगे का वृत्तान्त जानकर आश्चर्य होगा, पर यह एक विलक्षण सत्य है कि ६-८-७० की ही तारीख में लिखा पत्र जो तेल अबीब (इजराइल) से चला था, उनके लापता साले साहब की हस्तलिपि में उन्हें दस दिन बाद प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने अपने भारत आने की सूचना दी थी । जिस दिन पूज्यवर ने पत्रोत्तर दिया उस दिन वे लापता युवक से सम्पर्क स्थापित कर (दिक्‌काल से परे) उसे घर लौटने की प्रेरणा दे चुके थे ।

दिल्ली के एक वरिष्ठ व विगत पैंतालीस वर्षों से परमपूज्य गुरुदेव से जुड़े परिजन को पूज्यवर ने २१-१२-१९५४ को एक पत्र में लिखा-"*वशिष्ठ के रहते हुए भी रघुवंशियों को और कृष्ण तथा धौम्य के साथ रहते हुए भी पाण्डवों को कठिनाइयों से गुजरना पड़ा था । हम भी अपनी सामर्थ्य के अनुकूल ही आप लोगों की सहायता कर रहे हैं । मंजिल तो आपको ही पार करनी पड़ेगी ।*" इसके पश्चात् वे लिखते हैं-"*तारीख १२ की घटना की सूचना मिली । अपना लक्ष्य किसी पर आक्रमण करना नहीं है, पर किसी के हमलों को निष्फल करने में बहुत कठिनाई नहीं होती । आप लोगों के संरक्षण की व्यवस्था हमने कर दी है ।*" पत्र में आत्मपुरुषार्थ व परोक्ष सहायता दैवीसंरक्षण का विलक्षण समन्वय है ।

ऊपर की पंक्तियाँ कितने निश्छल अंतःकरण से लिखी गयी हैं । एक ओर वे स्पष्ट लिख रहे हैं कि आप पत्र देते रहें, पर हम वहीं पर सूक्ष्मशरीर से विद्यमान हैं, अर्थात् ऊपरी जानकारी आये न आये, हमारा संरक्षण तो यथावत है । दूसरी ओर वे कहते हैं कि श्रेय उन्हें नहीं, शिष्य के पुण्य व माँ की कृपा को जाता है । कोई अहसान नहीं, कोई श्रेय लेने का संरक्षक भाव थोपने का भाव नहीं । यह एक कृपालु सिद्ध संत का स्वरूप है पूज्यवर का ।

२२ जुलाई, १९६२ को लिखा टीकमगढ़ के एक सज्जन के नाम पत्र भी कुछ इसी प्रकार का है-"*गुरु पूर्णिमा के दिन आप के जीवन के लिए एक अनिष्ट था । वही सर्प रूप में प्रस्तुत हुआ था । हमें उसका पहले से ही ध्यान था । आप को चिन्ता न बढ़े, इसलिए बताया नहीं गया था । वह अनिष्ट टल गया । आपकी जीवन-रक्षा हो गयी, यह बड़े संतोष की बात है । उस अनिष्ट को टालने में हमारी आत्मा स्वयं ही आपके पास थी । अब इस प्रकरण को समाप्त हुआ ही समझें ।*" अगणित शिष्य सब एक से एक निकट, किन्तु सबका ध्यान इतना कि विभिन्न रूपों में समय-समय पर उन तक स्वयं पहुँचकर उनकी रक्षा करना, यह विभिन्न लीला किसकी हो सकती है ?

परोक्ष जगत में विचरण कर सूक्ष्मशरीर से विभिन्न रूपों में सहायता पहुँचाने, भवितव्यता को जानकर पहले ही संकट को निरस्त कर देने या उसकी सूचना किन्हीं रूपों में देकर पुरुषार्थ उभारने की प्रेरणा देने का कार्य महामानव सदा से करते आए हैं । परमपूज्य गुरुदेव अवतारीसत्ता की उसी कड़ी में से एक थे । उनके हाथों से लिखे एक दुर्लभ पत्र का हवाला देते हुए एक घटना का उल्लेख यहाँ करना चाहेंगे । २९-१२-६१ को उन्होंने जबलपुर के एक वरिष्ठ परिजन को पत्र लिखा-"*श्री रणछोड़जी की आत्मा तारीख २१ को रात को हमारे पास आई थी । करीब एक घण्टा उनसे मिलन होता रहा । फिर वे ब्रह्मलोक को चले गए थे । कल ही वापस लौटे हैं । आपके पत्र में भी वही समाचार पढ़ा । उनकी आत्मा को पूर्ण शान्ति है और सद्‌गति मिली है । स्वर्गीय आत्मा ने आपको तथा अपने परिवार को आशीर्वाद भिजवाने का संदेश कहा है यह पत्र आप उनके बच्चों को सुना दें । उनके दुःख में म भी दुखी हैं । अब शोक को धैर्य और विवेक द्वारा शान्त करना ही उचित है ।*"

उपर्युक्त पत्र बानगी है दिव्यात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने की, महापुरुषों की सामर्थ्य की । जिन सज्जन के दिवंगत होने पर सभी दुःखी थे वहाँ वे सभी यह जानकर कि वे अब पूरी तरह मुक्त हैं, उनका श्राद्ध-तर्पण स्वयं गुरुदेव द्वारा सूक्ष्मशरीर से यात्रा करके हुआ है, आश्वस्त हो गए व मन को अपार शान्ति मिली ।

लेखनी कहाँ तक बयान करे उन सब घटनाक्रमों का, जो लाखों परिजनों के साथ भिन्न-भिन्न रूपों में समय-समय पर घटते रहे । उनका शून्य में देखकर कह उठना कि-"अमुक-अमुक नहीं आए । आ जाते तो उनसे मिलना हो जाता । अब तो उनकी शरीरयात्रा पूरी हो गई ।" व तभी उन सज्जन का यह पार्थिव देह डेढ़ हजार किलोमीटर दूर छोड़ देना क्या यह नहीं बताता कि वह सब कुछ देख सकने में समर्थ थे । गायत्री की सिद्धि की पूर्णता को प्राप्त कर वह ऋषिमुख से जो वाक्य निकालते थे वह वरदान रूप में तीर की तरह लगता था । ऐसी सत्ता हम सब के जीवन में सौभाग्य बनकर आई, यह सोचने के साथ-साथ यदि उनके बताए निर्देशों पर चलें तो सूक्ष्म व कारणशरीर की उनकी सत्ता सतत हमारा मार्गदर्शन कर हमारा पथप्रशस्त करती रहेगी ।

आने वाले समय में अगणित ऐसी अनुभूतियाँ हम सब के समक्ष आने वाली हैं, जो परमपूज्य गुरुदेव एवं वंदनीया माताजी के सूक्ष्मशरीर के सम्पर्क में आने से देश-राष्ट्र महाद्वीप की परिधि से परे विभिन्न व्यक्तियों को होगी । देह त्याग कर वे अनन्त विस्तार को प्राप्त हो गए हैं व अपने

पीछे एक राजमार्ग छोड़ गए हैं, जिस पर चलते हुए हर कोई आत्मिक-भौतिक सफलता को हस्तगत करते हुए जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति करता रह सकता है ।

# युगदधीचि की प्रेरणा

गुरुपूर्णिमा के पावन-पर्व पर जिस गुरुतत्त्व को श्रद्धापूर्वक नमन करते हुए हम अपने श्रद्धासुमन चढ़ाते हैं, उनके जीवन के अनेकानेक प्रसंग सहज ही मस्तिष्कपटल पर आ जाते हैं । एक तड़ित की तरह अनेकानेक यादें कौंधने लगती हैं व हमें अहसास कराती हैं कि एक युगान्तरकारी व्यक्तित्व का सान्निध्य, जीवन में स्पर्श पाकर हम सब किस प्रकार धन्य हो गए ।

गुरु शब्द भौतिकी के परिप्रेक्ष्य में भारीपन के लिए प्रयुक्त होता है । वजनदार भारी व्यक्तित्व से सम्पन्न, अज्ञान के अन्धकार से अनेक परिजनों को त्राण दिलाकर श्रेष्ठता पर चलने वाले पथ को दिखाने वाली दैवीसत्ता गुरु कहलाती है । गुरु वह जो आत्मसत्ता के व परमात्मसत्ता के मिलन में सहायक हो, जो गोविन्द अर्थात् ईश्वरीय-सत्ता से साक्षात्कार कराती हो ।

आज मनुष्य के पास सभी कुछ है-वैभव, समर्थता, कला-कौशल, पर जो नहीं है वही मानव-जाति के पतन का निमित्त कारण भी है । वह है, सही चिन्तन-पद्धति का न होना । उसी के कारण जीवन जीते हुए भी उस जीने की कला से अनभिज्ञ होते हुए महज काटते भर रहना । ऐसी स्थिति में यदि सत्ता का अनायास हमारे जीवन में उदय हो व हमें उँगली पकड़कर वह सही राह पर ला खड़ा कर दे तो इसे परम सौभाग्य ही मानना चाहिए ! आज सारी सुविधाएँ बाजार में उपलब्ध हैं, मात्र सच्चे दर्शकों की, मित्रों की कमी है वरन् अकाल है । यदि सच्चा पथ-प्रदर्शक एवं हित सोचने वाला मित्र मिल जाए तो दुरूह कण्टकों से भरा जीवन-पथ पार करने में कोई हिचक नहीं लगती । एक ऐसी ही मित्र सत्ता के रूप में हमारे परमपूज्य गुरुदेव का आगमन हुआ ।

अनेकानेक पत्रों में से जो उनके द्वारा समय-समय पर परिजनों को लिखे गए, एक पत्र को उद्धृत करने का यहाँ मन हो रहा है ।

*''हमारे आत्मस्वरूप,*

*आपके कुशल समाचार पढ़कर प्रसन्नता हुई । हमारा शरीर नहीं अन्तःकरण ही श्रद्धा के योग्य है । आप हमारी भावनाओं को सुविस्तृत करके हमारी सच्ची सहायता और प्रसन्नता का माध्यम बनते हैं । आपके ब्राह्मण शरीर से जीवन भर ऋषिकार्य ही होते रहेंगे और आप पूर्णता का लक्ष्य इसी जन्म में प्राप्त करेंगे, ऐसा विश्वास है । उस क्षेत्र में आप अपने संकल्प द्वारा प्रकाशवान सूर्य की तरह चमकें और असंख्यों का कल्याण करें, ऐसी कामना है ।''*

यहाँ पत्र में दिए गए शब्दों पर यदि ध्यान गहराई से दिया जाए तो भली-भाँति समझ में आता है कि व्यक्ति के रूप में शरीर की नहीं, विचारों-भावनाओं की श्रेष्ठता को मानते हुए उसे ही अपना इष्टलक्ष्य मानकर उसकी प्राप्ति हेतु पुरुषार्थरत रहने की प्रेरणा वे सदा परिजनों को देते रहे । आप हम नितान्त उलटा देखते हैं । धर्माचार्य तो अनेक हैं, पर श्रद्धायोग्य अन्तःकरण किस के पास है ? यदि यही सब देखकर मन नास्तिकता की ओर मुड़ जाए तो गलत क्या है ? गुरुतत्त्व के प्रति कैसी, किस स्तर की, किस प्रकार की घनिष्टतम आस्था होनी चाहिए, पत्र की प्रथम पंक्तियाँ स्पष्ट करती हैं ।

भगवान की प्रसन्नता भौतिक साधनों से नहीं, उनके कार्य को आगे बढ़ाने में निहित है । गुरुसत्ता यही कराती है, सतत प्रेरणा देती है कि पीड़ित-पतित मानवता के उत्थान के लिए सतत प्रयास चलते रहें । समर्थ रामदास इसी कार्य के लिए शिवाजी को शक्ति देते हैं । रामकृष्ण परमहंस इन्हीं उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए विवेकानन्द पर अपनी सारी सामर्थ्य उँड़ेल देते हैं तथा विरजानन्द अपनी ज्ञानसम्पदा से लेकर संचित शक्ति दयानन्द को वितरित कर देते हैं । यह शाश्वत गुरु-शिष्य की लेन-देन परम्परा है । गुरु को भावनाओं की उत्कृष्टता का उपहार चाहिए और कुछ नहीं । वे बदले में मनोबल बढ़ाते हैं, आत्मबल को उछाल देते हैं व सामान्य से मानव से असम्भव दीख पड़ने वाले पुरुषार्थ करा लेते हैं । व्यक्ति औरों के बलबूते नहीं, अपने संकल्पबल की ताकत से असंख्यों को प्रकाश दिखाने वाले सूर्य की तरह चमके अज्ञान का अन्धकार मिटाए, इससे बड़ा आशीर्वाद और क्या हो सकता है ? प्रत्यक्ष धन-सम्पत्ति, पुत्र-पुत्री, नौकरी वरदान रूप में चाहने वालों को यह लग सकता है कि यह वरदान कुछ समझ में नहीं आया, पर आत्म-सन्तोष, लोक-सम्मान व दैवी अनुग्रह की त्रिवेणी में स्नान कर उसका महत्त्व समझने वाला फिर और कोई क्षुद्र चाह नहीं रखता ।

सबसे बड़ा अनुदान पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य में आने वालों को जो मिला, वह था-विवेकशीलता का जागरण, दृष्टिकोण का परिष्कार । यही सही अर्थों में गुरु का शिष्य पर शक्तिपात है, यदि भ्रान्तियों से मुक्ति मिल जाए व इनमें उबरकर जीने की नई दृष्टि विकसित हो जाए तो जीवन में आनन्द आ जाता है । उनके सान्निध्य में आने वाले वे सब, जो सोचने का तरीका बदलना जानते हैं, उनका एक प्रकार से काया-कल्प हो गया । सांसारिक दृष्टिकोण रखते हुए अध्यात्म मूल्यों को जीवन में कैसे प्रविष्ट किया जा सकता है, यह उन्होंने धीरे धीरे शिक्षण दिया । सामान्यतया मनुष्य अतिवादी होते हैं या तो वे भौतिकवाद के एक सिरे पर प्रगति करते दीखेंगे अथवा वैराग्य के शीर्ष की ओर मुड़ जाएँगे । परमपूज्य गुरुदेव ने बीच का मार्ग सुझाया, अध्यात्मवादी भौतिकता का । उन्होंने कभी भौतिकवादी जीवन की उपेक्षा किए जाने की बात नहीं की । सतत जोर इसी बात पर दिया कि जीवन को श्रेष्ठ बनाने वाले विचारों व मूल्यों को इसी दैनन्दिन जीवन में न्यूनाधिक रूप

में समाविष्ट किया जाता रहे । इसे उन्होंने जीवन-साधना नाम दिया । जिन्हें भय था कि उनके परिवारीजन गायत्री परिवार से जुड़कर वैरागी, बाबाजी, पलायनवादी बन जाएँगे, उन्हें उससे मुक्ति मिली व लगा कि उनके लिए भी जीवन को नया मोड़ देने वाला यह मार्ग खुला पड़ा है ।

सद्गृहस्थों का निर्माण परमपूज्य गुरुदेव का मानव जाति के लिए किया गया ऐसा महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है, जिसका मूल्यांकन जब भी होगा तो लोग जानेंगे कि कितनी सहजता से एक-दूसरे के लिए जीने वाले और समर्पण भाव से साथ रहने वाले दम्पति विकसित होते चले गए । पश्चिम का उन्मुक्त भोगवाद, स्वच्छन्द यौनाचार व पारिवारिक कलह-विघटन से भरा समाज हमारे अपने देश में भी विकसित हो रहा था । अभी भी बड़े महानगरों में उसको किन्हीं-किन्हीं रूपों में देखा जा सकता है । ऐसे में परस्पर सौहार्द बढ़ाते हुए पारिवारिकता के संस्कारों को सींचने हेतु पति-पत्नी दोनों को उद्यत कर देना, सतत प्रेरणा देते रहने का कार्य हमारी गुरुसत्ता ने ६५ वर्षों तक किया । स्वयं वैसा जीवन जिया व अन्यान्यों को प्रेरणा दी । देखते-देखते परिजनों का एक संस्कारवान परिवार नमूने के रूप में खड़ा हो गया । उसी की छोटी अनुकृति के रूप में शान्तिकुंज, हरिद्वार, गायत्री तपोभूमि, मथुरा का देव परिवार देखा जा सकता है ।

किसी महापुरुष का मूल्याकन लोग उनके चमत्कारी कृत्यों से करते हैं, यह परिपाटी रही है । रामकृष्ण वचनामृत में सम्भवतः लोगों की रुचि कम होगी, पर लीला-प्रसंगों में खूब रस आता है, पर रामकृष्ण परमहंस को गहराई से समझने वालों को पता है कि यदि उन्हें जानना है तो कौतूहल वाले प्रसंगों को बाद में, पहले उनके अमूल्य विचारों, दृष्टान्त-कथानक वाली शैली से युक्त प्रतिपादनों को पढ़ा जाना चाहिए । परमपूज्य गुरुदेव का जीवन चमत्कारी प्रसंगों से भरा पड़ा है । उन्होंने समय-समय पर जो प्रेरणा भिन्न-भिन्न रूपों में देकर व्यक्ति के सोचने की, लोकव्यवहार की शैली जिस प्रकार आमूल-चूल बदली वह प्रकरण और बड़ा चमत्कारी है । पर तथ्य एक ही समझा जाना चाहिए कि सिद्धि-चमत्कार सारे विकसित सम्पन्न व्यक्तित्व में जन्म लेते हैं । जीवन-परिष्कार से लेकर सर्वांगपूर्ण विकास के सारे स्वर्णिम सूत्र पूज्यवर के चिन्तन व लेखनी से प्रस्तुत हुए हैं । यदि उन पर अमल किया जा सके तो सारी सिद्धियाँ इसी मस्तिष्क रूपी कल्पवृक्ष से व्यक्तित्व के उद्यान से उपजती रह सकती हैं ।

यहाँ पूज्य गुरुदेव द्वारा दिए गए अमूल्य विचार-रत्नों में से मात्र एक का ही हवाला व्याख्या सहित देने का लोभ संवरण नहीं हो पा रहा । एक वाक्य जो स्टीकर तथा आदर्श वाक्य के रूप में लोकप्रिय हुआ, पूज्यवर द्वारा १९६६-६७ में दिया गया था-"जीवन्त वे हैं, जिनका मस्तिष्क ठण्डा, रक्त गरम, हृदय कोमल तथा पुरुषार्थ प्रखर है ।" इस वाक्य को ध्यान से देखा जाए तो यह एक शोधप्रबन्ध लिखे जाने योग्य है । ग्रन्थि-रहित आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण जिन सोपानों पर होता है, वह इसमें दिए गए हैं । जीवन्त वे जिनसे कुछ आशा अपेक्षा समाज, विश्व-मानवता को है । जो ग्रुप लीडर्स बनते हैं व युग नेतृत्व करते हैं । महामानव बनने को इच्छुक ऐसे सभी लोगों के विषय में कहा गया है कि यदि उन्हें निज की प्रगति व समाज-देवता की आराधना अभीष्ट है तो उन्हें चार बातों पर ध्यान देना चाहिए । पहली यह कि उनका मस्तिष्क ठण्डा हो । आज अधिकांश व्यक्तियों के मस्तिष्क गरम हैं, आवेशग्रस्त हैं । यही कारण है कि परस्पर टकराव देखा जाता है । चिन्ता, आतुरता, बेचैनी, अनिद्राग्रस्त लोगों को देखा जा सकता है । ठण्डा मस्तिष्क अर्थात् संतुलित सोचने का तरीका । कभी भी अहंकार ग्रस्त न होने वाला आवेश में, अतिवाद में न आने वाला मस्तिष्क । निन्दास्तुति से परे ऐसा व्यक्ति जो हर निर्णय सोच-समझकर ठण्डे दिमाग से ले । गीता में अनेकानेक दैवीविभूतियों में से एक यह भी है कि व्यक्ति में समस्वरता हो, मनःसंतुलन हो । दूसरी बात और महत्त्वपूर्ण है । ठण्डे मस्तिष्क के साथ यदि रक्त में गर्मी अर्थात् सतत कार्य करने की उमंग, ऊर्जस्विता, उत्साह, स्फूर्ति तथा अनीति को देखते ही उसे मिटाने का साहस व्यक्ति में होना । ब्राह्मण मस्तिष्क के साथ क्षत्रिय रक्त इसीलिए जरूरी है कि वह व्यक्ति को कर्मठ, पुरुषार्थवादी बनाता है ।

तीसरा है हृदय की कोमलता । भाव संवेदना से लिया गया निर्णय ही विवेकयुक्त न्याय के पक्ष वाला निर्णय होता है । हृदय यदि कोमल न हुआ तो समाज में संव्याप्त दुख, दारिद्रय, दैन्य, पतन दिखाई नहीं देंगे व फिर दिशाधारा विलासिता के संचय की ओर होगी । जो भी महामानव लोक-सेवी, अवतार हुए हैं वे भाव-संवेदना की प्रेरणा से ही श्रेष्ठपथ पर अग्रगामी हुए हैं । हृदय की कठोरता व्यक्ति को नरपशु बनाती है व कोमलता उसे देवमानव बनाती है । हृदय मात्र मांसपेशियों की स्पन्दन करते रहने वाली एक थैली नहीं है, वह प्रतीक है व्यक्ति के अन्दर की उस गंगोत्री की जो करुणा, भावनाओं, संवेदना के रूप में सतत निस्रत होती रहती है । जब यह सूख जाती है तो व्यक्ति निष्ठुर, दुर्भावनाग्रस्त, कठोर बन जाता है व अचिन्त्य चिन्तन और न करने योग्य दुष्कर्म करने लगता है ।

जीवन्त व्यक्तित्व की चौथी पहचान है पुरुषार्थ प्रखर होना । यदि उपर्युक्त तीन गुण होते हुए भी व्यक्ति भाग्यवादी बना रहा, अकर्मण्य बना रहा तो क्या लाभ ? प्रेरणा उसे ऐसी मिले कि शरीर का पुर्जा-पुर्जा कट जाए पर वह रणक्षेत्र न छोड़े । दुःखी, अज्ञानग्रस्त मानव-जाति के लिए उसकी मांसपेशियाँ फड़कें व वह रामकृष्ण, बुद्ध, गाँधी की तरह उन्हें ऊँचा उठाने के लिए कृतसंकल्प हो जाए । कहना न होगा कि जिसमें इन चारों गुणों का समन्वय हो गया, वह व्यक्ति नरमानव के चोले में देवपुरुष बन गया । सारी सफलताओं की जननी ये छोटे-छोटे प्रतीत होने वाले विचारबिन्दु हैं, जिनका जीवन में समावेश काया-कल्प वाला परिवर्तन ला देता है ।

हम उस महामानव को श्रद्धा की अथाह गरिमा को, श्रद्धा-निधि को क्या श्रद्धांजलि समर्पित करें, हम उस युग-दधीचि को यही आश्वासन दे सकते हैं कि हम जन-मंगल के निमित्त लोक-कल्याण के लिए सतत गलेंगे । हम वह प्रकाशस्तम्भ बनेंगे, जो विकराल लहरों से भरे समुद्र में भटकते जहाजों को मार्ग दिखाते हैं ।

## तीर्थचेतना के उन्नायक

अन्तरंग चर्चा के प्रसंगों में कई बार परमपूज्य गुरुदेव कहते थे कि ''यह समय ऐसा है, जब महाकाल मानवी चेतना में आमूलचूल हेर-फेर करना चाहता है । ऐसे समय इतिहास में बार-बार नहीं आते । मानवी चेतना, मनःस्थिति, व्यक्ति के सोचने का तरीका यदि बदल गया तो धरती पर स्वर्ग स्वतः ही आ जाएगा । हमारे जितने भी निर्धारण हैं, इसी एक लक्ष्य पर केन्द्रित रहे हैं । धर्मतंत्र से लोक-शिक्षण से लेकर शान्तिकुंज की स्थापना तथा तीर्थों की प्रसुप्त चेतना जगाने से लेकर भारतभूमि की देवात्म-शक्ति की-कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया इसी उद्देश्य विशेष को लेकर सम्पन्न की गयी है ।''

उपर्युक्त बात को थोड़ा गहराई से समझने का प्रयास करें । इस धरती पर मानव-जाति के मसीहा, नई मानवता के अग्रदूत कितने ही एक के बाद एक आए, कई आध्यात्मिक व सामाजिक संगठन विकसित हुए, मत बने, पंथ बने, किन्तु मानवी प्रकृति को मूलतः बदला नहीं गया था, अतः प्रयत्न असफल रहे । देखा गया कि मनुष्य लगभग इसी स्थान पर खड़ा है, जहाँ से वह इतनी आशा और उत्साह के साथ कदम बढ़ाते हुए चला था । वस्तुतः मानवी-चेतना को बदले बिना परिस्थितियों को बदलने की इच्छा करना एक कोरे स्वप्न के समान है । कोई भी मानव जाति या विराट संगठन तब तक मूलतः बदला नहीं जा सकता, जब तक कि मानव-चेतना में स्वतः परिवर्तन न आए अथवा कोई बाहरी अपौरुषेय शक्ति यदि बदलाव क्रियारूप में न परिणत करे, महामानवों का आगमन इसीलिए होता है । वे व्यक्ति की मनःस्थिति को स्पर्श कर उसकी भाव-संवेदना के प्रसुप्त बीजांकुरों को अंकुरित कर आत्मजाग्रति व तदुपरान्त स्रष्टा के क्रिया-व्यापार में उसकी संलग्नता, समर्पण तथा तादात्म्य भाव बढ़ाते हैं । लगभग 'माइक्रोन्यूरो सर्जरी' स्तर की यह चीरफाड़ प्रक्रिया मानव की चेतना के धरातल पर सम्पन्न होती है तथा ऐसी जाग्रत चेतना अपने आस-पास के परिवेश से लेकर प्रक्रिया हलचलों को प्रभावित करती हुई सामूहिक चेतना को जगाती देखी जाती है । क्रमशः यही जाग्रत समष्टि चेतना उस आँधी का रूप ले लेती है, जिसे अवतार कहा जाता है व देखते-देखते धरा का रूपान्तरण होता देखा जाता है ।

योगीराज श्री अरविन्द ने रूपकों का प्रयोग करते हुए परमात्म-चेतना के प्रतीक के रूप में विष्णु को पति तथा पार्थिव-चेतना के प्रतीक के रूप में पृथ्वी को पत्नी बताते हुए इस धरती की संतान मनुष्य को भौमासुर कहा है तथा उसे पिशाच सम्बोधित किया है । जब-जब भी पार्थिव चेतना का परमात्मचेतना से मिलन होता है, तब युग बदलता है, भौमासुर की मृत्यु होती है तथा सतयुगी ऋषिगण जन्म लेने लगते हैं । श्री अरविन्द के अनुसार भस्मासुर अर्थात् पशु-प्रवृत्तियों के पलायन व देवसंतति अर्थात् मानव में देवत्व के अतिचेतन के अवतरण का ठीक यही समय है । परमपूज्य गुरुदेव ने संस्कृति के प्रतीकों का तथा तीर्थचेतना का पुनर्जागरण कर इस अतिचेतन के उतरने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया । श्री अरविन्द से आगे बढ़कर पूज्यवर कहते हैं कि ''मेरा अतिमानस, मेरा सुपरमैन किसी नयी मनुष्य जाति में नहीं, इन्हीं छोटे-छोटे साधारण से दीखने वाले प्रज्ञा-परिजनों में आ उतरेगा, इनको आदर्शवादी सत्प्रवृत्तियों को जीवन में उतारकर श्रेष्ठता के पथ पर बढ़ते शीघ्र ही देखा जा सकेगा और नवयुग इन्हीं के द्वारा आकर रहेगा । मानव में देवत्व जितना सही है, उतना ही धरती पर स्वर्ग का अवतरण भी ।''

कितना आशावादी व आस्तिकवादी चिन्तन है यह, जो हमें हमारी चेतना को गढ़ने वाला यह महापुरुष दे गया है । उनके जीवन के सभी पक्ष अद्भुत हैं, अलौकिकताओं से भरे-पूरे हैं, किन्तु कुछ घटनाक्रमों के द्वारा हमें पता चलता है कि किस तरह से उनका जीवन मात्र एक लक्ष्य के लिए ही नियोजित हुआ, वह था मानवी-चेतना का उत्थान व उसके लिए देव-संस्कृति को माध्यम बनाकर उसके विभिन्न उपादानों द्वारा उन्होंने चेतना को उसी तरह गढ़ा, जिस तरह मूर्तिकार एक शिला को तराशकर उसे अभिनन्दनीय मूर्ति का रूप दे देता है ।

वर्तमान मानव की दुर्दशा का कारण पूज्यवर ने आस्थासंकट बताया । उनका मत था कि संस्कारच्युत हो जाने के कारण ही आज की सारी समस्याएँ पनपी हैं । बढ़ते हुए मनोरोगों से लेकर सामूहिक विपत्तियों का एक ही कारण है कि व्यक्ति देव-संस्कृति के निर्धारणों के प्रति अपनी आस्था खो बैठा है । यदि आस्थासंकट का उपचार करना है, तो न केवल मानवी मन का परिपूर्ण शिक्षण करना होगा, उसके अचेतन को गढ़ना होगा, अपितु संचित कुसंस्कारों की धुलाई कर बिलकुल नये संस्कार रचने होंगे । मनुष्य की आस्था वर्णाश्रम धर्म से लेकर षोडश संस्कारों पर तथा संस्कृति चेतना के ज्योतिस्तम्भ कहे जाने वाले तीर्थों से लेकर आश्रम, देवालय, आरण्यक इन विद्या-विस्तार के तंत्रों पर बिठानी होगी, साथ ही उसके शिक्षण का एक व्यापक तंत्र चलाना होगा । धर्मतंत्र से लोक-शिक्षण हेतु एक व्यापक सुनियोजित तंत्र से लेकर चौबीस सौ गायत्री शक्तिपीठों के निर्माण तक तथा संस्कारों से जुड़े यज्ञों के संचालन से लेकर उनकी भारत भर की प्रव्रज्या तक यही सब घटक काम करते दिखाई पड़ते हैं ।

संस्कृतिपुरुष के इस स्वरूप को समझने के बाद देव-संस्कृति के उद्धार की शपथ लेने वालों को उज्ज्वल भविष्य का स्वरूप समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए ।

उन्होंने अपनी कार्यस्थली जो भी चुनी, वह संस्कारित तप:स्थली थी । शान्तिकुंज महर्षि विश्वामित्र की तपस्थली है,तो गायत्रीतपोभूमि जो मथुरा-वृन्दावन मार्ग पर यमुना किनारे स्थित है, महर्षि दुर्वासा की तप:स्थली रही है । वहाँ उन्होंने प्राय: पच्चीस वर्ष न केवल तप किया, वरन् अखण्ड-अग्नि स्थापित कर गायत्री तपोभूमि की नींव डालकर एक ऐसे तंत्र का प्रवर्तन किया, जिसे अगले दिनों धर्मतंत्र से लोक-शिक्षण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी थी । जब १९७९ में बसन्त पंचमी पर पूज्य गुरुदेव का संकल्प उभर कर आया कि अब चौबीस गायत्री तीर्थों की भारत भर में स्थापना होगी, कुछ कार्यकर्त्ताओं के मन में आया कि देश में पहले ही इतने मन्दिर हैं, तो फिर नये मन्दिर, बड़े निर्माण क्यों ? तार्किक मन का व सुधारवादी प्रगतिशील आन्दोलन के माध्यम से जुड़े व्यक्ति का यह सोचना ठीक ही कहा जाएगा । तब पूज्यवर का क्या उत्तर था, सम्भवत: सब जानना चाहेंगे । उनका कहना था कि-"अगले दिनों सारा वातावरण ही गायत्रीमय बनाना है । गायत्री उपासना चिरकाल से इस देश को शक्ति-सामर्थ्य प्रदान करती रही है । इस युग के लिए तो वह संजीवनी बूटी की तरह है । इन मन्दिरों की स्थापना के माध्यम से यदि वातावरण को संस्कारित कर लिया गया तो उससे राष्ट्र और विश्व को संयत-स्वस्थ व समर्थ देव-भावनाओं से ओत-प्रोत रखने का गतिचक्र अपने आप चलने लगेगा।" पूज्यवर ने युगशक्ति के अवतरण को निष्कलंक प्रज्ञावतार का आगमन बताते हुए उसके माध्यमों के रूप में प्रतीक-स्थापनाओं द्वारा प्रसुप्त भारत की भूमि के चप्पे-चप्पे को जगाने की बात कही । परमपूज्य गुरुदेव ने कहा कि-"देवी-देवताओं की साकारोपासना तो बहुत होती है, किन्तु आद्यशक्ति को जो जगत्जननी है, आदि स्रोत है, बिलकुल ही भुला दिया गया । इसलिए भारत के कोने-कोने में यह स्थापनाएँ अनिवार्य हैं, ताकि लोगों के मन में अवतारसत्ता के अवतरित होने की पृष्ठभूमि बन सके ।"

पहले संकल्प चौबीस का था, चौबीस सौ प्रज्ञा मन्दिर, प्रज्ञासंस्थान-शक्तिपीठ बन गए तथा संख्या चार हजार तक जा पहुँची । मोटी दृष्टि से देखा जाए तो ये ज्ञान मन्दिर हैं जिनमें ज्ञान-यज्ञ, विद्या-विस्तार को महत्त्व सर्वाधिक बताया गया है । किन्तु उनके मूल में जो भावना है, वह यह कि भारत भूमि का चप्पा-चप्पा प्रसुप्त संस्कारों से अनुप्राणित है । यदि साधना द्वारा शक्ति जगा ली जाए व इन्हें जन-जाग्रति का केन्द्र बना लिया जाए तो सांस्कृतिक क्रान्ति देखते-देखते इन्हीं के माध्यम से सम्पन्न होती देखी जा सकेगी । परमपूज्य गुरुदेव ने उपेक्षित पड़े शिवालयों-देवालयों को जगाने की एक योजना बनायी, जो बड़ी सफल सार्थक सिद्ध हुई । अब वहीं पर संस्कार-महोत्सवों को सम्पन्न किया जा रहा है, ताकि सुसंस्कारों से अनगढ़ मनुष्यों को देवमानव बनाया जा सके । यह अवतारीसत्ता के सुनियोजित क्रिया-कलापों की एक झलक मात्र है ।

ब्राह्मण कैसा होता है ? ऋषि को यदि देखना चाहें तो कहाँ जाएँ ? पुरोहित, परिव्राजक का स्वरूप क्या हो सकता है ? यह सभी रूप हम परमपूज्य गुरुदेव के बहुआयामीय व्यक्तित्व में देख सकते हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी रामचरितमानस में लिखते है-"**जस काछिय तस चाहिक नाचा**" (राम ! आप भगवान हैं, पर रूप जैसा जरूरी है, वैसा ही आपने बनाया है ।) परमपूज्य गुरुदेव ने आज के युग के समक्ष ब्राह्मण कैसा होता है, यह प्रत्यक्ष: जीवन जीकर दिखाया । वे बहुधा कहते थे कि "जो भी कुछ हमारा सिद्धिपक्ष लोगों को दिखायी देता था, किसी का रोग मिट गया, किसी को श्री-कीर्ति मिल गयी, हमारा इतना बड़ा संगठन खड़ा हो गया, यह सब हमारे ब्राह्मणत्व का चमत्कार है ।" गायत्री को वे ब्राह्मण की कामधेनु कहते थे । उनके जीवन में गायत्री प्रत्यक्षत: चमत्कार करती दिखायी देती है । जो भी उन्होंने उनसे माँगा, वह मिला । उन्होंने देव-संस्कृति का उन्नयन माँगा वह होने जा रहा है, उन्होंने सतयुग की वापसी माँगी तो वह अगले दिनों उज्ज्वल भविष्य के रूप में साकार होने जा रही है ।

वस्तुत: लोकसेवी ब्राह्मण से लेकर एक धर्म-धारणा का विस्तार करने वाले परिव्राजक तथा एक आरण्यक के आश्रम के अधिष्ठाता से लेकर भारतभूमि के-देवभूमि के चप्पे-चप्पे को पद-यात्राओं, साइकिल-यात्राओं, लोकसेवी कार्यकर्त्ता के जीप-कारों के कार्यक्रमों, उनके स्वयं के भारत भर के दौरों तथा राष्ट्र भर में राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों-शक्ति-साधना कार्यक्रमों के माध्यम से संस्कारों से अनुप्राणित करने वाले तीर्थचेतना के उन्नायक के बहुमुखी रूप में हम परमपूज्य गुरुदेव का जीवन देखते हैं । अपने अनेक जन्मों से चाहे कबीर के रूप में अथवा समर्थ रामदास के रूप में, परमहंस रामकृष्ण के रूप में अथवा अन्यान्य दैवी-चेतना के संवाहकों के रूप में वे जो कार्य करते आए हैं, वही इसी जीवन में उन्होंने किया व जितना किया, उससे कहीं अधिक अगले दिनों उनकी सूक्ष्मचेतना के माध्यम से होने जा रहा है । नोस्ट्राडेमस ने पूर्व से एक शक्तिशाली समर्थ धार्मिक नेता के उभरकर आने व विश्व-मानवता का नेतृत्व करने की बात कही है, उसका केन्द्र-बिन्दु यही निष्कलंक प्रज्ञावतार है । श्री अरविन्द ने जिस अति-मानसिक चेतना के अवतरित होने की बात कही है, उसका केन्द्र-बिन्दु भी यही तंत्र है, जिसके मार्गदर्शन में हम सब चलते रहे हैं । तीर्थचेतना को जन-जन तक पहुँचाने वाले देव-संस्कृति के आलोक को विश्वमानवता तक पहुँचाने को संकल्पित उस महापुरुष को शतशत नमन है ।

# संस्कृतिपुरुष पूज्य गुरुदेव

स्थान-दक्षिणेश्वर का वह कक्ष जहाँ रामकृष्ण परमहंस मृत्यु शय्या पर लेटे थे । चारों ओर उनके शिष्य बैठे थे । एकाएक ठाकुर बोल उठे-"मैं जा रहा हूँ, पर देखना । मेरे जाने के बाद एक विलक्षण चमत्कार होगा । अनजान, अगणित साधारण लोगों को भी मेरी चेतना के प्रभाव से मात्र तीन दिन में सिद्धियाँ मिल जाएँगी । ऐसे ऐसों को जिनकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते । बहुत बड़ा ज्वार आएगा । गंगा में बल्ली-बल्ली पानी चढ़ जाएगा ।" वास्तव में ऐसा ही हुआ, वह युग था अँग्रेजी दासता के पाश में जकड़े भारत का । पन्द्रह-बीस वर्ष के युवा स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े थे । जो जेल में थे उनसे लेकर वे जो गुप्त रूप में सक्रिय थे, कहने लगे थे कि हमें हमारी मौत स्पष्ट दिखाई दे रही है । उसके बाद जब अरविन्द जेल में थे तब की एक घटना है । आनन्दी बोस नामक एक सामान्य-सा युवा जो उनके साथ ही जेल में था, कहने लगा कि-"हमें स्पष्ट दीख रहा है कि हम भागने का प्रयास करेंगे, पकड़े जाएँगे, गोली लगेगी, अस्पताल भेजे जाएँगे व वहाँ हम शहीद हो जाएँगे ।" जो घटा नहीं था, वह कैसे दीख पड़ने लगा, इसका खुलासा करते हुए अरविन्द कहते हैं कि यह वही सिद्धि थी जिसकी चर्चा ठाकुर ने की थी । अपने अन्दर देश के लिए ऐसी भावना विकसित होना कि कुर्बानी सामने दिखाई होते हुए भी कूद पड़ना, यह सिद्धस्तर की देवात्माओं के बस की ही बात है व बंगाल से उपजे इस आन्दोलन का ज्वार ही था जिसकी चरम परिणति भगतसिंह, खुदीराम बोस से लेकर गाँधी-सुभाष, नेहरू व पटेल के आन्दोलन के रूप में हुई । दक्षिणेश्वर की माटी की शपथ खा-खाकर लोग कुर्बानी देने मचल उठे व देखते-देखते वह आँधी सारे देश में छा गयी । यदि आजादी की लड़ाई का इतिहास नये सिरे से लिखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि दक्षिणेश्वर के ठाकुर व युवा क्रान्तिकारी संन्यासी विवेकानन्द ने ऊर्जा उत्पन्न कर धर्ममंच से राजनीतिक पाश से मुक्ति के क्षेत्र में कितनी बड़ी भूमिका निभाई, पर सांस्कृतिक गुलामी की मुक्ति तब भी नहीं हुई, उसकी अब बारी आयी है ।

यह घटनाक्रम १८८७ के बाद पुनः अब इस सदी में इस शताब्दी के अन्तिम दशक में दुहराया जा रहा है । परमपूज्य गुरुदेव ने स्थूलशरीर से जिये गए अपने अन्तिम दो वर्षों १९८९-९० महत्त्वपूर्ण क्रान्तिधर्मी साहित्य का सृजन किया व अपनी काया के बन्धनों से मुक्त होने से पूर्व यह कहा कि हमारे जाने के बाद प्रतिभा-जागरण की प्रक्रिया एक विराट स्तर पर सम्पन्न होगी । प्रसुप्त प्रतिभाएँ जागेंगी व हमारी सूक्ष्मसत्ता उनको झकझोर कर नवयुग की तैयारी के कार्य में जुटा देगी, विवश कर देगी काम करने के लिए । इसके लिए परमपूज्य गुरुदेव ने एक ही बात कही थी कि वे अपना काम करेंगे, परिजन मात्र पूज्य गुरुदेव की चिंतनधारा से जुड़े रहें, शेष काम दैवीचेतना उनसे करा लेगी । चिंतनधारा से तात्पर्य है वह सब कुछ जो भारतीय-संस्कृति के पुनरुज्जीवन द्वारा मानव में देवत्व तथा धरित्री पर स्वर्ग के अवतरण की व्याख्या करते हुए परमपूज्य गुरुदेव 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका रूपी प्राण-प्रवाह के माध्यम से जो अपनी विरासत छोड़ गए हैं, उसे घर-घर पहुँचाने का संकल्प लिया जाना ।

हम सभी ने दक्षिणेश्वर की माटी की तरह परमपूज्य गुरुदेव की जन्मस्थली व प्रारम्भिक जीवन की कार्यस्थली आँवलखेड़ा की रज को हाथ में लेकर सप्त-सरोवर शान्तिकुंज, हरिद्वार में गंगाजल की साक्षी में वंदनीया माताजी के समक्ष १० जून (गायत्री जयन्ती-गंगादशहरा-पूज्यवर की द्वितीय पुण्य तिथि) की पावन प्रातः वेला में शपथ उठाई थी कि संस्कृतिपुरुष पूज्य गुरुदेव के तत्त्वदर्शन को घर-घर पहुँचाने का दायित्व हम लेते हैं । हम सभी ने एक साथ घोषणा की थी कि हमारा विश्वास है कि इस युग की व्यक्तिगत समस्याओं, पारिवारिक जीवन में बढ़ रहे विग्रह-विद्वेष तथा सामाजिक जीवन में मानवीय मूल्यों के पतन-पराभव का एकमात्र समाधान देवसंस्कृति के विस्तार में सन्निहित है । देवसंस्कृति में सांस्कृतिक मूल्यों, आदर्शवादी परम्पराओं और संवेदनामूलक समाज के समर्थक सभी तत्त्व विद्यमान हैं । राष्ट्रीय एकता, अखण्डता अक्षुण्ण बनी रहे इसके लिए हम सभी संकल्प लेते हैं कि अपने पितामह ऋषियों द्वारा प्रणीत-महापुरुषों द्वारा सेवित देवसंस्कृति की घर-घर प्राण-प्रतिष्ठा के लिए निष्ठापूर्वक कार्य करेंगे । इसके लिए तीन माह के समय तथा ब्राह्मणोचित आजीविका के दान न्यूनतम अंशदान, बौद्धिक सम्मेलनों तथा संस्कार-महोत्सवों में भागीदारी की हर व्यक्ति ने घोषणा की थी तथा उस रज को अपने उपासनास्थल पर पूजित-प्रतिष्ठित करने का आश्वासन दिया था ताकि वह सेवासाधना के निमित्त ली गयी, इस शपथ को पूरा करने की प्रेरणा व शक्ति देती रहे ।

यह एक असाधारण संकल्प था जो विराट शपथ समारोह के माध्यम से एक लाख से भी अधिक परिजनों द्वारा लिया गया था । विराट स्तर पर प्रतिभा-जागरण की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी है । नवयुग का मत्स्यावतार अँगड़ाई लेता हुआ अब विराट रूप लेता चला जा रहा है । परिवर्तन की प्रक्रिया हर ओर सक्रिय होती दृष्टिगोचर होने लगी है । संकल्प-समारोहों का आयोजन भारत व विश्व के कोने-कोने में करने के पत्रों से लेकर देवसंस्कृति का संदेश घर-घर पहुँचाने व बुद्धिजीवी वर्ग के मानस को मथने की प्रक्रिया विगत पाँच वर्षों में जितनी गतिशील हुई है, वह एक ही तथ्य की परिचायक है कि चेतन-जगत सक्रिय है, इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य के रूप में युग-ऋषि का उद्‌घोष निश्चित ही साकार होने जा रहा है । हमें तो बस उस चेतन-प्रवाह में स्वयं को जोड़ देना है ।

विगत वसन्त पर्व से आरम्भ हुई शक्ति-संचार साधना के व्यापक परिणाम देखने में आ रहे हैं । जन-जन का उत्साह जागा है एवं एक विराट स्तर पर देव-संस्कृति को

विश्व-संस्कृति बनाने की ललक जागी है । वस्तुतः शपथ समारोह परमपूज्य गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट आगामी दस वर्षों की कार्य-प्रणाली के अन्तर्गत श्रद्धांजलि समारोह के बाद दूसरा मील का पत्थर था, जिसके द्वारा मानवमात्र, जो इस मिशन से जुड़ा है, की सदस्यता की थाह लेने का प्रयास किया गया । मेले-समागम तो बहुत से होते रहते हैं, किन्तु उद्देश्यों की अस्पष्टता या उनके न होने से वे मात्र तमाशे बनकर रह जाते हैं, अपना समागम तमाशबीनों का हो-हल्ला नहीं है, अपितु विराट पुरुष को भारत-भूमि से उदित हो रही नूतन चेतना द्वारा दिया जा रहा आश्वासन है कि भारतीय संस्कृति-हिन्दू संस्कृति विश्वमात्र का मार्गदर्शन, आने वाली कई सदियों तक करेगी । इसी के लिए हम सब एकजुट होकर आगे बढ़ रहे हैं ।

परमपूज्य गुरुदेव ने 'प्रतिभा परिष्कार' को एक अवश्यम्भावी प्रक्रिया कहा, इसी प्रतिभा को जगाने व उसका संवर्द्धन करने की प्रक्रिया पूज्यवर की सूक्ष्म व कारणसत्ता सम्पन्न कर रही है, इन दिनों ।

प्रतिभाएँ ही किसी समाज-राष्ट्र या समूह की वास्तविक सम्पदा हैं । उनके द्वारा न केवल प्रतिभाशाली स्वयं भरपूर श्रेय अर्जित करते हैं वरन् अपने क्षेत्र, समुदाय और देश की अतिविकट उलझनों को भी सुलझाने में सफल होते हैं । संवेदना प्रधान ये देवमानव अधिक से अधिक इन धरित्री पर उपजें तो आस्थासंकट की विभीषिका देखते-देखते मिटती देखी जाएगी । इन्हीं प्रतिभावानों को विभिन्न वर्गों-शिक्षकों, चिकित्सकों, समाजसेवियों, प्रशासकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों, अधिकारियों, जन-प्रतिनिधियों, युवाशक्ति तथा नारीशक्ति रूपी क्षीरसागर से निकालने के लिए व्यापक स्तर पर बौद्धिक सम्मेलनों की रूपरेखा संस्कार-महोत्सवों के साथ-साथ शपथ समारोह के बाद बनायी गयी ।

कहना न होगा कि खराद पर चढ़कर आने वाली प्रतिभाएँ समुचित मार्गदर्शन मिलने पर समाज व राष्ट्र का काया-कल्प कर देंगी । विश्वास किया जाना चाहिए कि संस्कृतिपुरुष के अनुचर विराट स्तर की उपलब्धियों वाला काम ही करेंगे, उससे छोटा नहीं ।

# गायत्री के सिद्ध-साधक परमपूज्य गुरुदेव

गायत्री साधना कैसे जीवन को प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष बना देती है व अगणित सिद्धियाँ जिनका वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में देखने को मिलता है, वास्तव में मिलती हैं कि नहीं, यह उत्सुकता हर किसी को हो सकती है । कोई जीता-जागता उदाहरण मिल जाए, मॉडल दिख जाए तो मानने को मन भी करता है । पौराणिक नियम व भूतकाल के उदाहरणों से सम्भवतः आज का बुद्धिजीवी मानस प्रभावित न हो, पर यदि वस्तुतः ऐसा कोई नमूना सामने हो तो बरबस विश्वास हो उठता है कि हाँ गायत्री उपासना के माहात्म्य के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह सच हो सकता है, क्योंकि प्रमाण सामने है । यह नमूना यह मॉडल है स्वयं परमपूज्य गुरुदेव का जीवन । अस्सी वर्षों तक उन्होंने जो जीवन जिया, वह एक खुली किताब की तरह है । जो भी जब चाहे, तब इसमें से, जो अध्याय चाहे खोलकर देख सकता है व साधना से सिद्धि सम्बन्धी मार्गदर्शन प्राप्त कर सकता है ।

अपनी जीवनयात्रा को परमपूज्य गुरुदेव एक ब्रह्मकमल की जीवनयात्रा की उपमा देते थे । 'महाकाल का वसन्त पर्व पर संदेश' में उन्होंने लिखा था कि-''इस जीवन रूपी दुर्लभ ब्रह्मकमल के अस्सी फूल पूरी तरह खिल चुके । एक से एक शोभायमान पुष्पों के खिलते रहने का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय पूरा हो चला ।'' सूत्र-संचालक सत्ता के इस जीवन का प्रथम अध्याय पूरा हुआ । स्वयं वे वसन्त पर्व से प्रायः साढ़े चार माह बाद माँ गायत्री के अवतरण के पावन पुण्य दिवस गायत्री जयन्ती (२ जून १९९०) को अपनी आध्यात्मिक माता की गोद में विश्राम हेतु चले गए । यह स्थूलकाया के बन्धनों से मुक्ति भर थी । सूक्ष्म व कारणशरीर से सक्रिय होने व परोक्ष जगत को प्रचण्ड ऊर्जा से तपाने के लिए उन्होंने यह अनिवार्य समझा व अपनी मार्गदर्शक सत्ता के संकेतों पर स्वेच्छा से कायपिंजरों से दृश्य जीवन का पटाक्षेप कर दिया । जो जीवन इस महामानव ने अस्सी वर्ष तक जिया उसका एक-एक पल माँ गायत्री को समर्पित रहा है । गायत्री उनके रोम-रोम में थी, हर श्वास में थी ।

सारे जीवन भर जो भी दृश्य क्रिया-कलाप गुरुदेव के जीवन में देखने को मिलते हैं, वे सब उसी तपश्चर्या की-ब्राह्मणत्व की सिद्धि के हैं । वे अक्सर कहा करते थे कि-''स्थूल जीवन से मैंने जो कुछ भी किया है, वह ब्राह्मणत्व का चमत्कार है । जो विशिष्ट अनुष्ठानादि किए हैं, उनका उपयोग तो मेरे जाने के बाद कारणशरीर की सत्ता करेगी ।'' अपनी महत्त्वाकांक्षा को भौतिक से आध्यात्मिक मोड़ देकर सही अर्थों में ब्राह्मणत्व बनकर जीना कितनी कठिन साधना है, यह हर कोई नहीं समझ सकता, किन्तु परमपूज्य गुरुदेव का जीवन जिन्होंने देखा है, वे जानते हैं कि उनका एक-एक क्षण एक-एक पल औरों को ऊँचा उठाने के निमित्त नियोजित था । निज के लिए उन्होंने कभी कुछ माँगा नहीं । अपना सब कुछ पैतृक सम्पत्ति से लेकर आर्षग्रन्थों के भाष्य व तीन हजार पुस्तकों से मिल सकने वाली रायल्टी समाज को दान में दे दी । जो भी दिया वह बादल बनकर उनके पास लौटा, उन पर जीवन भर अनुग्रह बरसता रहा । जो भी कुछ उन्होंने समाज के खेत में बोया, उसे समय आने पर काटा व फिर समाज में बाँट दिया । यही तो सिद्धि से अभिपूरित ब्राह्मण जीवन है । उन्होंने निरन्तर तप किया । वे तपस्वी थे ।

''**दिवमारुहत तपसा तपस्वी**'' हमारी श्रुतियों का आदेश है । तप में प्रमाद न करने का ऋषि-मुनियों का निर्देश है । तप से ही सृष्टि का उद्भव हुआ व सूर्य तपकर ही प्राणऊर्जा का जगती के कण-कण में संचार करता है । यही सब प्रमाणों को साक्षी रख उन्होंने चौबीस महापुरश्चरण भी किए व इस बीच अनेकानेक घटनाक्रम उनके जीवन में घटे । ब्राह्मण व तपस्वी सही अर्थों में वे थे व इसी कारण उन्हीं दिनों छिड़े स्वतंत्रता संग्राम में उन्होंने भागीदारी सक्रियतापूर्वक की । यहाँ तक कि बापू (महात्मा गाँधी) ने देहात के इस स्वयंसेवक से मिलना चाहा व उनसे नैनीताल में मिले । यज्ञोपवीत के नौ धागे जो उन्होंने धारण किए थे, उसके एक-एक गुण उनके जीवन में फलितार्थ होते चले गए । सत्य, अहिंसा, अस्तेय, मैत्री, ब्रह्मचर्य, साधना, स्वाध्याय, शुचिता, सेवा के एक से एक मार्मिक प्रसंग उनके जीवनक्रम में देखे जा सकते हैं । उनके अधिक विस्तार में न जाकर जब 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका का शुभारम्भ हम देखते हैं तो पाते हैं कि यह छोटा-सा बीजारोपण गायत्री के तत्त्वज्ञान के विस्तार का था । इस बीज से जो वटवृक्ष बनने वाला था, उसी की छाया में अगले दिनों गायत्री परिवार तथा युग-निर्माण योजना का विशाल संगठन बनना था । ''**एकोहं बहुस्यामि**'' का मूलमंत्र उन्होंने 'अखण्ड-ज्योति' के प्रकाशन से कार्य रूप में उतारना आरम्भ किया व चिट्ठी की तरह निकली प्रारम्भिक पत्रिका की सौ प्रतियाँ देखते-देखते हजार व लाखों में छपने लगीं । यह वस्तुतः उनकी साधना की प्रत्यक्ष सिद्धि का प्रमाण है कि आज उसी पत्रिका की पाँच लाख से अधिक प्रतियाँ आधुनिकतम मशीनों द्वारा छपती हैं व दस गुने पाठकों द्वारा पढ़ी जाती हैं । गायत्री परिवार को जन्म वस्तुतः 'अखण्ड-ज्योति' ने दिया है व इसे पूज्य गुरुदेव 'नवयुग के मत्स्यावतार' की उक्ति दिया करते थे, जो कि नितान्त सटीक है ।

'गायत्री चर्चा' नामक स्तम्भ के माध्यम से पूज्य गुरुदेव ने 'अखण्ड-ज्योति' के पाठकों को प्रेरणा दी कि वे गायत्री उपासना को जीवन में स्थान दें । इसके चमत्कारी परिणामों से लेकर जीवन ऊँचा उठने तक की बातें उन्होंने पत्रिका, किताबों व व्यक्तिगत पत्र से सब तक पहुँचायीं । जिन्होंने सही अर्थों में गायत्री को समझा व जीवन में उनकी साधना को उतारा उनका जीवन ही बदल गया । कोई अभाव था, वह दूर होता चला गया, घर में साधन-समृद्धि आ गयी व प्रतिकूलताएँ मिटती चली गयीं । जीवन साधना के फलस्वरूप नीरोग, दीर्घजीवन अनुदान रूप में मिला व सद्ज्ञान मिलते चलने से जीवन के भावी स्वरूप के प्रति दृष्टि मिली । ये प्रत्यक्ष अनुग्रह जिन्हें मिले उन्हें उन्होंने उच्चस्तरीय कक्षाओं में चढ़ाया व उनके माध्यम से नये व्यक्तियों तक प्रेरणा पहुँचाई । देखते-देखते लाखों व्यक्ति जुड़ गए । गायत्री महाविज्ञान नामक एक विश्व-कोश जिसमें गायत्री साधना सम्बन्धी सब कुछ जो पाठक चाहते थे, वर्णित था इन्हीं दिनों पहले पाँच खण्डों में, फिर तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ । यह स्वयं में एक अभूतपूर्व रचना थी, क्योंकि अब तक गायत्री महाशक्ति पर कहीं भी संकलित रूप में कोई ग्रन्थ नहीं था । संस्कृत में संहिताएँ सब कोई तो पढ़ नहीं सकते थे, अतः सारे ग्रन्थों से सार निकाल कर अपना एक महत्त्वपूर्ण शोधप्रबन्ध उन्होंने जन-जन को समर्पित कर दिया । १९५८ में प्रकाशित इस ग्रन्थ के अट्ठाइस संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं व न्यूनतम पच्चीस लाख लोगों तक यह सद्ज्ञान पहुँच चुका है । अगणित व्यक्तियों की शंकाएँ मिटीं व गायत्री मंत्र जन-जन के लिए बिना किसी धर्म, जाति, मत, पंथ व लिंग के अब सुलभ हो गया है । यह क्रान्ति गायत्री महाशक्ति की सिद्धि की ही परिणति है । अवतारी स्तर की सत्ता ही यह सब कुछ कर सकती है ।

गायत्री तपोभूमि की अपने चौबीस महापुरश्चरणों की समाप्ति पर अखण्ड अग्नि की स्थापना, चौबीस सौ तीर्थों की जल व रज की स्थापना उनके संक्षिप्त से मथुरा निवास के महत्त्वपूर्ण क्रिया-कलाप हैं, यहीं पर १९५८ में एक विशाल गायत्री महायज्ञ १००८ कुण्डों में सम्पन्न हुआ, जिसमें पाँच से दस लाख लोगों ने भागीदारी की । गायत्री तत्त्वज्ञान को भारत के कोने-कोने व विश्व भर में पहुँचाने की रूपरेखा इसी यज्ञ में बनी । इस यज्ञ से जुड़ी अनेकानेक विलक्षणताएँ, चमत्कारी सिद्धियाँ समय-समय पर पाठकों को बताई जाती रही हैं व वे प्रमाण हैं परमपूज्य गुरुदेव की गायत्री सिद्धि का । हिमालय जाकर तप इसी के बाद उन्होंने किया व एक वर्ष तक अज्ञातवास में रहकर वेद, दर्शन, पुराण, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक आदि का भाष्य किया । यह बहुलीकरण की सिद्धि का चमत्कार है कि जो काम एक व्यक्ति ने किया, वह अनेक व्यक्तियों के श्रम के बराबर था । संगठन का सूत्र-संचालन, पत्रिका का सम्पादन, नियमित पुस्तकों का प्रकाशन, निजी जीवन की तपश्चर्या, सभी को पत्र, दैनन्दिन मार्गदर्शन, व्यक्तिगत भेंट-मुलाकात तथा देशव्यापी दौरे यह सब काम एक साथ सामान्य व्यक्ति नहीं चला सकता ।

मथुरा में ही उन्होंने एक असाधारण संकल्प का उद्घोष किया व उसे प्रकाशित किया 'युग-निर्माण सत्संकल्प' के रूप में । इसे उन्होंने नवयुग का संविधान कहा व बताया कि सतयुग इसी आधार पर अगले दिनों आएगा । यह दुस्साहस नूतन सृष्टि का सृजन करने वाले ब्रह्मर्षि के स्तर का ही तो था । आज जब हम इक्कीसवीं सदी के मुहाने पर खड़े हैं तो हमें प्रत्यक्ष दीख पड़ता है कि सतयुग की वापसी उनके द्वारा बताए गए सिद्धान्तों पर सुनिश्चित है ।

वर्णाश्रम धर्म के आधार पर मथुरा छोड़कर हरिद्वार आना, उनके जीवन का एक पूर्व नियोजित उत्तर अध्याय है, जिसकी घोषणा उन्होंने १९६१ से ही करना आरम्भ कर दी थी । हरिद्वार आकर दिव्यदृष्टि से ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की तपस्थली सप्तसरोवर क्षेत्र में उन्होंने ढूँढ़ निकाली व यहीं यह बीजारोपण आरम्भ हुआ, जिसे आगामी बीस वर्षों में

बढ़ना व अतिविस्तृत रूप लेना था । परमपूज्य गुरुदेव के जीवन के चौथे भाग जो १९७१ से १९९० के बीच का है, का बहुत-सा स्वरूप प्रत्यक्ष है जो गायत्रीतीर्थ शान्तिकुंज के विशाल विस्तार व देशव्यापी क्रिया-कलापों के रूप में दिखाई पड़ता है । किन्तु उसका बहुत-सा भाग परोक्ष है जो अभी सबकी निगाह में नहीं है, पर अगले दिनों साकार होता जिसे सब देखेंगे । उनकी तपश्चर्या के बहुमूल्य कुछ वर्ष शान्तिकुंज में ही व्यतीत हुए हैं । यहीं उन्होंने प्राण-प्रत्यावर्तन के, कल्प-साधना के व संजीवनी साधना के महत्वपूर्ण शिक्षण सत्र चलाए । यहीं पर उनकी एकाकी सूक्ष्मीकरण तपश्चर्या सम्पन्न हुई । यहीं पर अध्यात्म व विज्ञान के समन्वय का उनका संकल्प ब्रह्मवर्चस के रूप में साकार होकर सामने आया । यहीं पर उन्होंने भारत भर में प्रज्ञासंस्थान बनाने व जन-जन तक ब्राह्मणत्व के विस्तार का संकल्प लिया व देखते-देखते तीन हजार से अधिक शक्तिपीठें पूरे भारतवर्ष में बन गईं । यहीं पर उन्होंने देवात्मा-शक्ति के कुण्डलिनी जागरण की साधना सम्पन्न की व विश्व भर में गायत्री महाशक्ति के विस्तार के रूप में उसे अगले दिनों ही साकार होता देखा जा सकेगा । उसका शुभारम्भ इसी वर्ष पश्चिम के देशों की यात्रा व हजारों घरों में देव-स्थापना से हो चुका है ।

शक्ति-साधना कार्यक्रमों द्वारा जन-जन तक गायत्री महाविद्या के विस्तार का संकल्प जो परमपूज्य गुरुदेव के निर्देश पर यहाँ से उठाया गया है, वह भी यही संकेत देता है कि अगले दिनों वातावरण गायत्रीमय होने जा रहा है । प्रज्ञावतार का निष्कलंक निराकार रूप में अवतरण हो चुका है, दुर्बुद्धि का साम्राज्य मिटने वाला है व सद्बुद्धि का विस्तार जन-जन तक होने जा रहा है ।

गायत्री महामंत्र के सम्बन्ध में अथर्ववेद में जो सूक्त आया है वह कहता है- **स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानां । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।** इसका एक-एक शब्द, अक्षरशः सही है । यह सारा माहात्म्य हम परमपूज्य गुरुदेव के जीवन में, गायत्रीतीर्थ में शान्तिकुंज की युगान्तरीय चेतना में उतरा हुआ प्रत्यक्ष देख सकते हैं । यह साक्षी है उन सब फलितार्थों का, जो गायत्री महामंत्र से जुड़े हुए हैं व जिनके लिए हर व्यक्ति एक जीती-जागती मिसाल देखने को उत्सुक बना रहता है । उन सभी को आमंत्रण है, जो जानना चाहते हों कैसे माँ गायत्री के अनुदान जीवन में उतारे जाएँ ।

## परमपूज्य गुरुदेव, जिन्होंने सिखायी हमें खोज सद्गुरु की

सूर्य में कितना ही प्रकाश क्यों न हो, पर यदि आँख की पुतली काम न करे तो समझना चाहिए कि सर्वत्र अंधकार ही अंधकार है । दिन या रात में कभी उसका अन्त न होगा । यही बात शिष्य के सन्दर्भ में भी सच है । गुरु कितना भी समर्थ व योग्य क्यों न हो, परन्तु यदि व्यक्ति के अन्तराल में शिष्यत्व मौजूद नहीं है तो गुरु की योग्यता कारगर न हो सकेगी । गुरु बीज बोता है, खाद-पानी की व्यवस्था जुटाता है, लेकिन भूमि की उर्वरता भी चाहिए, अन्यथा बीजों का ढेर, खाद-पानी का जखीरा, ऊसर बंजर जमीन में यों ही व्यर्थ चला जाता है ।

परमपूज्य गुरुदेव जिन्हें हम सभी ने सद्गुरु के रूप में पाया है, उनके ज्ञान और तप से प्रकाशित-अनुप्राणित हुए हैं । उनकी प्राण-ऊर्जा से पोषित-परिपालित हैं । तनिक उनसे भी तो पूछें-भला वे अपने को किस रूप में पहचानते थे ? प्रायः सभी के मन में उठने वाली इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए प्रवचन में उन्होंने कहा था-"मैं एक समर्पित शिष्य हूँ, गुरु के हाथों का यंत्र, एक कठपुतली मात्र । मेरे गुरु ने जब जो कराया तब वह कर लिया, जैसे रखा वैसे रहे । मेरी अपनी भी कोई इच्छा है, यह कभी ख्याल आया ही नहीं । अपने जीवन की पोली बाँसुरी में गुरु के स्वर बजते रहे ।"

सद्गुरु की प्राप्ति अद्भुत अनुदान है, एक अजस्र सौभाग्य है, पर उनके लिए जो खुद को शिष्य के रूप में ढाल सकें । स्वयं की क्षुद्रता को गुरु की गुरुता में विसर्जित कर सकें । यों गुरु की ढूँढ़-खोज में भटकने वाले सैकड़ों, हजारों हैं, लेकिन उनकी भी संख्या कम नहीं, जिन्होंने रामकृष्ण परमहंस के पड़ोस में रहते हुए उन्हें पगला ब्राह्मण कहकर तिरस्कृत किया था । महर्षि दयानन्द के अतिनिकट रहते हुए भी कुछ रुपयों के लिए जहर देने वाले तथा थोड़ा-सा वैभव पाने के लालच में ईसा को शूली पर चढ़वा देने वाले भी इतिहास के काले पन्नों में दर्ज हैं ।

इन सबके जीवन भी लोकोत्तर महामानवों के सम्पर्क में आए । चाहते तो स्वयं की पात्रता विकसित कर ये सभी स्वयं को धन्य कर लेते, पर ऐसा नहीं हो सका । होता भी कैसे ? सद्गुरु को पहचानने-अपनाने के लिए अलौकिक दृष्टि चाहिए और ऐसी दृष्टि सिर्फ शिष्य में होती है । सूफी फकीर शेख फरीद के जीवन की एक घटना है । उन दिनों वह किशोरवय थे । घूमते-फिरते वे एक पेड़ के पास जा पहुँचे, जहाँ एक साधु बैठा ध्यान कर रहा था । उसे झकझोर कर उठाते हुए उन्होंने पूछा-क्यों बाबा ! हमें भी भगवान से मिलाएगा । साधु ने उत्तर दिया बेटा भगवान से तो गुरु मिलाता है । तो बता मेरा गुरु कौन है ? साधु ने उत्तर दिया मैं पहचान बताए देता हूँ, तू ढूँढ़ लेना । फरीद ने कहा-ठीक है तू पहचान ही बता । साधु बताने लगा-तेरे गुरु एक पेड़ के नीचे बैठे होंगे । उनके चेहरे पर प्रकाश का वलय होगा । आँखें तेजपूर्ण होंगी । शरीर से सुगन्ध निकल रही होगी । साधु की बात समाप्त होते ही शेख फरीद खोज में निकल पड़े । जैसे-जैसे दिन बीतते गए अभीप्सा गहरी होती गई । घटना को बीस वर्ष बीत गए । हारकर फरीद वापस लौट चले । वापस लौटने पर देखा

एक पेड़ के नीचे एक साधु बैठा है । उसके चारों ओर प्रकाशवलय, भीनी सुगन्ध एक-एक करके सारे लक्षण मिल गए । खुशी के मारे वह उसके चरणों पर लोट-पोट हो गए । साधु ने प्रसन्नता से उनकी पीठ पर हाथ रखा, उन्होंने उठकर उस साधु के चेहरे की ओर देखा । अरे यह क्या ? यह तो वही साधु है, जिसने गुरु के लक्षण बताये थे । शेख फरीद ने पूछा-"बाबा ! बीस वर्ष तक भटकाते क्यों रहे ?" साधु बोले-"पहली बार मेरे पास एक कौतुकी उद्धत लड़का फरीद आया था । अबकी बार बीस वर्ष की कठोर तपस्या से निखर कर समर्पित शिष्य फरीद आया है और बेटे ! गुरु केवल शिष्य को मिला करते हैं । जैसे ही तुम शिष्य बन गए, हम तुम्हें मिल गए ।"

गुरु की प्राप्ति इतनी कठिन, लेकिन परमपूज्य गुरुदेव को उनके समर्थ गुरु अनायास ही मिले, वह भी घर बैठे ? इस पहेली को सुलझाते हुए गुरुदेव के शब्द हैं-"इसके लिए लम्बे समय से जन्म-जन्मान्तरों में पात्रता अर्जन की धैर्यपूर्वक तैयारी की गई । उतावली नहीं बरती गई । बातों में फँसाकर किसी गुरु की जेब काट लेने जैसी उस्तादी नहीं बरती गई, वरन् यह प्रतीक्षा की गई कि अपने जीवन की बूँद को किसी पवित्र सरिता में मिलाकर अपनी हस्ती का उसी में समापन किया जाए । किसी भौतिक प्रयोजन के लिए इस सुयोग की ताक-झाँक नहीं की जाए, वरन् बार-बार यही सोचा जाता रहे कि जीवन-सम्पदा की श्रद्धांजलि किसी देवता के चरणों में समर्पित करके धन्य बना जाए ।"

उनके अन्तःकरण से निकली ये भाव-तरंगें ही हिमालयवासी महान ऋषिसत्ता को उनके घर तक खींच लाईं । यद्यपि आयु की दृष्टि से उस समय वे सिर्फ पन्द्रह साल के थे, लेकिन मनोभूमि का निर्माण पर्याप्त लम्बे समय तक व्रतशील रहकर किया गया था । संकल्प, धैर्य और श्रद्धा का त्रिविध सुयोग अपनाए रहने पर मनोभूमि ऐसी बनती है कि अध्यात्म के दिव्य-अवतरण को धारण कर सके । यह पात्रता ही शिष्यत्व है । समय पात्रता विकसित करने में लगता है, गुरु मिलने में नहीं । एकलव्य के मिट्टी के द्रोणाचार्य असली की तुलना में अधिक कारगर सिद्ध होने लगे थे । कबीर को अछूत होने के कारण जब रामानन्द ने दीक्षा देने से इनकार कर दिया तो उन्होंने एक युक्ति निकाली । काशीघाट की जिन सीढ़ियों पर रामानन्द नित्य स्नान के लिए जाया करते थे, उन पर भोर होने से पूर्व ही कबीर जा लेटे । रामानन्द अँधेरे में निकले तो उनका पैर लड़के के सीने पर जा पड़ा । साथ ही पात्रता की परीक्षा भी हो गई । रामानन्द ने कबीर को अपना शिष्य बना लिया ।

पात्रता की परीक्षा पास किए बगैर सद्गुरु का मिलन ही नहीं होता । किसी कारणवश हो भी जाए, तो कुपात्र को रिक्त ही लौटना पड़ता है । स्वाभाविक है इतने घोर परिश्रम और कष्ट सहकर की गई कमाई ऐसे ही किसी कुपात्र को विलास, संग्रह, अहंकार, अपव्यय के लिए हस्तान्तरित नहीं की जा सकती । देने वाले में इतनी बुद्धि भी होती है कि लेने वाले की प्रामाणिकता किस स्तर की है और जो दिया जा रहा है उसका उपयोग किस कार्य में होगा । जो लोग इस कसौटी पर खोटे उतरते हैं, उनकी दाल नहीं गलती ।

विचित्र, विलक्षण और बहुधा कठोर होती हैं, ये परीक्षाएँ । औसपेन्सकी ने गुरजिएफ के बारे में लिखा है कि वह किसी नये आने वाले के साथ बहुत कटुव्यवहार किया करते थे । यदि वह प्रसन्नतापूर्वक सब कुछ सहन कर जाता, तो उनके द्वारा कराई जाने वाली गोपनीय साधनाओं का अधिकारी होता । एक बार उनके किसी पुराने शिष्य ने उनसे पूछा-"आपका व्यक्तित्व इतना प्रेममय है, फिर आप इतना कठोर कैसे हो जाते हैं । गुरजिएफ का जवाब था कठोर कहाँ होता हूँ-मैं तो पत्थरों में हीरे छाँटता हूँ । हीरे छाँटकर उन्हें तराशने लगता हूँ, पत्थरों को फेंक देता हूँ । रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द के सामने उस समय अपनी समस्त सिद्धियाँ देने का प्रस्ताव रखा, जिस समय वे और उनका परिवार एक-एक अन्न-कण के लिए तरस रहे थे । ऐसे में भी विवेकानन्द ने उपेक्षा के स्वरों में कहा था, उन्हें ईश्वरीय प्रेम चाहिए, तुच्छ सिद्धियाँ नहीं । विजयकृष्ण गोस्वामी ने शिष्य बनने के लिए उत्सुक एक व्यक्ति से कहा था-बारह वर्ष तक लगातार गोवर्धन, पर्वत की परिक्रमा करो तेरहवें वर्ष मेरे पास आना । एक अन्य व्यक्ति के द्वारा कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा-जिसमें बारह सालों का भी धैर्य नहीं, वह मेरा शिष्य नहीं बन सकता । गुरुदेव के अपने जीवन में ऐसे एक नहीं, अगणित अवसर आए जब उन्हें कठोर से कठोरतम स्थिति से गुजरना पड़ा । इन परीक्षाओं का जिक्र करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा है-"लोग गुरु को, भगवान को अपनी इच्छापूर्ति का साधन मान बैठे हैं । उसे मनमर्जी से चलाना चाहते हैं, पर साधनात्मक जीवन में यह विडम्बना सम्भव नहीं । इसकी शुरुआत ही सद्गुरु में अपनी समस्त इच्छाएँ विसर्जित करने से होती है । मेरे गुरु ने मुझे धोबी की तरह पीट-पीट कर धुला है, धुनिए की तरह धुनाई की है ।"

समूचे जीवन इस तरह की परीक्षाओं का क्रम अनवरत चलता रहा, पर उनके अस्तित्व से एक ही ध्वनि झंकृत होती रही "गुरु सो गुरु आदेश सो आदेश, अनुशासन सो अनुशासन, समर्पण सो समर्पण, मार्गदर्शक पर विश्वास किया उसे अपने आपको सौंप दिया तो उखाड़-पछाड़, क्रिया में तर्क , संदेह क्यों ?" एक अन्य स्थान पर उनके शब्द हैं-"हमने अपना शरीर, मन, मस्तिष्क, धन और अस्तित्व, अहंकार सब कुछ मार्गदर्शक के हाथों बेच दिया है । हमारा शरीर ही नहीं अन्तरंग भी उसका खरीदा है । अपनी कोई इच्छा शेष नहीं रही । भावनाओं का समस्त उभार उसी अज्ञात शक्ति के नियन्त्रण में सौंप दिया ।"

अस्तित्व का ऐसा समर्पण लगता बड़ा भयप्रद है । जब मैं नहीं तो मेरा नहीं । तब फिर दुनिया में जीने का क्या प्रयोजन ? प्रत्यक्ष में घाटा ही घाटा दिखने वाले इस कारोबार के बारे में पूज्य गुरुदेव से उनके निजी अनुभव सुनना चाहें तो उनकी अभिव्यक्ति है-''यह घाटे का नहीं, असंख्य गुने लाभ का व्यापार है । जिसके हाथों हमने अपने को, शरीर और मन को बेचा । बदले में उसने अपने आप को हमारे हाथ सौंप दिया । हमारी तुच्छता जिसके चरणों में समर्पित हुई, उसने अपनी महानता हमारे ऊपर उँड़ेल दी । बाँस के टुकड़े ने अपने को पूरी तरह खोखला करके बंशी के रूप में प्रियतम के अधरों का स्पर्श किया, तो उसमें से मन-मोहक राग-रागिनियाँ निकलने लगीं ।

अपनी इच्छा का तब अस्तित्व ही नहीं बचा । उसी की तरह हर इच्छा जब अपनी इच्छा बन गई, तो वह अद्वैत स्थिति ब्रह्म और जीव के मिलन में आने वाले ब्रह्मानन्द की तरह अतिसुखद लगने लगी । जिसे सच्चे मन से बिना किसी प्रतिदान की आशा के गहरा आत्मसमर्पण किया गया, उसने भी अपनी महानता में, उदारता में, प्रतिदान में कमी नहीं रहने दी । हमारे पास जो प्रत्यक्ष दीखता है उसे हजार-लाख गुना अप्रत्यक्ष छिपा पड़ा है । यह हमारा उपार्जन नहीं है । विशुद्ध रूप से उस हमारी मार्गदर्शक सत्ता का ही अनुदान है, जिसके साथ हमारी आत्मा ने विवाह कर लिया और अपना आपा सौंपने के फलस्वरूप उसका सारा वैभव करतलगत कर लिया । इस प्रकार यह समर्पण हमारे लिए घाटे का नहीं, नफे का ही सौदा सिद्ध हुआ ।''

यह समर्पण ही वह कसौटी बनी, जिस पर बार-बार कसकर उनका शिष्यत्व खरा प्रमाणित हुआ । समर्पण को यदि शिष्यत्व का पर्याय कहें, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी ।

परिपूर्ण समर्पण की माँग, ऊपर से कठोर परीक्षाएँ पहली नजर में ऐसा लगता है कि गुरु से क्रूर व्यक्ति इस संसार में और कोई नहीं हो सकता, पर वास्तविकता इससे विपरीत है । गुरु से बड़ा प्रेमी-खोजने पर तीनों लोकों में न मिलेगा । जिसे समर्पण कहते हैं-उसकी अनिवार्यता तो इसलिए है कि हम अपने अस्तित्व को शल्यचिकित्सा के लिए भलीप्रकार सर्जन के हाथों सौंप सकें और जो परीक्षाएँ हैं, कष्ट-कठिनाइयाँ हैं वे और कुछ नहीं, जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों को निकालने के लिए बरती गई कठोरता है ।

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध रागात्मक सम्बन्ध है । प्रेम सम्बन्धों का उच्चतम आदर्श है । सांसारिक सम्बन्धों में सबसे घनिष्ट रिश्ते दो ही हैं-माँ और शिशु का सम्बन्ध, पति और पत्नी का सम्बन्ध । परन्तु इन रिश्तों की भावभूमि शरीर और मन के तल तक सीमित होकर रह जाती है, जबकि गुरु और शिष्य आत्मा की व्यापकता में फलते-फूलते, परिपुष्ट होते हैं । इस तथ्य को स्वीकार करते हुए उनके शब्द हैं-''हमारे मार्गदर्शक को हमसे बहुत अधिक प्यार है ।'' और उनका स्वयं का प्रेम अपने मार्गदर्शक के प्रति कैसा है ? इसे उन्हीं की अनुभूतियों में सुनें-''अपने मार्गदर्शक के प्रति हमारी प्रेम-साधना को यदि सांसारिक रिश्तों से तौला जाए तो उसकी उपमा पतिव्रता स्त्री के अनन्य प्रेम से दी जा सकती है । उनकी प्रसन्नता अपनी प्रसन्नता है, उनकी इच्छा अपनी इच्छा । अपने व्यक्तित्व के लिए कभी कुछ चाहने-माँगने की कल्पना तक नहीं उठी । केवल इतना ही सोचते रहे, अपने पास जो कुछ है । अपने से जो भी सम्पदाएँ, विभूतियाँ जुड़ी हुई हैं, वे सभी इस आराध्य के चरणों पर समर्पित हो जाएँ । उनके प्रयोजनों में खप जाएँ । ऐसे अवसर जब भी जितने भी आए हमारे सन्तोष और उल्लास की मात्रा उतनी ही बढ़ी । गुरुदेव पर आरोपित हमारी प्रेम-साधना प्रकारान्तर से चमत्कारी वरदान बनकर ही वापस लौटी है ।''

उनका हर आदेश, हर संकेत ब्रह्मवचन की तरह शिरोधार्य रहा है । 'माँगना कुछ नहीं देना सब कुछ' प्रेम के इस अविच्छिन्न सिद्धान्त को दोनों ने परमसीमा तक निबाहा है । दूसरी ओर से क्या किया गया, इसकी चर्चा हमारी वर्णन शक्ति से बाहर है । अपनी ओर से हम इतना ही कह सकते हैं कि भगवान से बढ़कर हमने उनके निर्देश को शिरोधार्य किया है । अरुचिकर और कष्टकर कोई प्रसंग आया, तो भी उसे सहज स्वभाव से स्वीकार किया । प्रेम की ऐसी ही रीति-नीति है । हमने अपनी ओर से प्रियपात्र बनने में कुछ उठा नहीं रखा फलतः गुरुदेव का अनुग्रह-अमृत भी अपने ऊपर अजस्र रूप से बरसा है । प्रेमतत्व के संवर्द्धन की साधना गुरुभक्ति से आरम्भ होकर ईश्वरभक्ति तक जा पहुँची । हमें इस प्रसंग में इतने अधिक आनन्द-उल्लास का अनुभव होता रहा है कि उसके आगे संसार का बड़े से बड़ा सुख भी तुच्छ लग सके । अपने गुरु के प्रति बढ़ती हुई हमारी प्रेम-साधना आत्म-प्रेम और विश्व-प्रेम में विकसित होती चली गई और देखने वालों को उस अंतःभूमिका की प्रतिध्वनि एक दिव्यजीवन के रूप में मिल सकी ।''

परमपूज्य गुरुदेव के गुरु प्रेम के आलोक में तनिक हम भी परखें, हमारा शिष्यत्व कैसा है ? ध्यान रहे मनुष्य जिसे प्यार करता है, उसके उत्कर्ष एवं सुख के लिए बड़े से बड़ा त्याग और बलिदान करने को तैयार रहता है । यदि अंतःकरण में गुरुप्रेम की पवित्र ज्योति जल सकी होगी तो अपने शरीर, मन, अंतःकरण एवं भौतिक साधनों का अधिकाधिक भाग समाज और संस्कृति की सेवा में लगाने से कदम पीछे नहीं हटेंगे । फिर तो ऐसी हूक उठेगी कि कोई भी सांसारिक प्रलोभन रोक सकने में समर्थ नहीं होगा ।अपने आराध्य के लिए, उनके आदर्शों के लिए सब कुछ लुटाकर भी अन्तःकरण ऐसे दिव्य-आनन्द से भरा-पूरा रहेगा जिसे भक्तियोग के मर्मज्ञ ही जान सकते हैं ।

## परिजनों ने गुरुदेव को जैसा देखा-पाया

गुरुदेव के सम्पर्क में आने वाले न केवल उनका स्नेह, सद्‌भाव, मार्गदर्शन, आशीर्वाद और सहयोग ही प्राप्त करते रहे हैं, वरन् आत्मशोधन और लोकमंगल के लिए अचूक

# मातृ लीलामृत

**'मातृ लीलामृत' का शुभारम्भ हम एक ऐसे लेख से कर रहे हैं, जो परमवंदनीया माताजी ने अपनी लेखनी से सितम्बर, १९९४ में महाप्रयाण से १½ माह पूर्व लिखा था। यह विशेष लेख अगस्त, १९९४ की 'अखण्ड-ज्योति' में उनकी अंत:व्यथा की अभिव्यक्ति एवं भविष्यत के विषय में उनकी घोषणा के रूप में प्रकाशित हुआ था। इस लेख को पढ़कर करोड़ों शिष्यों को अनुभूति हुई कि उनकी मातृसत्ता भी अब गुरुसत्ता के बाद सूक्ष्म में विलीन होने जारी है।**

## एक माँ की अंत:वेदना एवं अपेक्षा भरी गुहार

दो शरीर व एक मन, दूध व पानी घुल-मिलकर जिस प्रकार एक हो जाते हैं, ऐसी जीवनयात्रा हमारी एवं पूज्य गुरुदेव की रही, जिसमें हम दोनों ने एक-दूसरे के पूरक बनकर अपने नन्हें-नन्हें बच्चों के लिए जो भी कुछ सम्भव था, किया तथा बदले में असीम स्नेह, प्यार भरी संवेदना तथा अकथनीय सम्मान पाया। गुरुदेव का जीवन एक समिधा की तरह तिल-तिल कर जला व जीवनयज्ञ की इस प्रक्रिया में अपनी सुगंध बिखेरता हुआ अपने अस्सी वर्षीय जीवनकाल के एक-एक क्षण को मानवमात्र के लिए नियोजित होता चला गया। कैसे भुलाऊँ मैं अपने साथ बिताए गए उनके उन क्षणों को, जिनमें उन्होंने न केवल मुझे असीम स्नेह दिया, वरन् करोड़ों पुत्रों की माता के सर्वोच्च शिखर पर पदासीन कर दिया।

समष्टि की पीड़ा, उसके निवारण हेतु साधनात्मक पुरुषार्थ में ही जीवन की हर साँस लग जाए, यही शिक्षा उनके साथ जुड़ने के बाद पहले दिन से मिली थी। यथासम्भव मैंने उनके कंधे से कंधा मिलाकर चलने का प्रयास किया, यही क्रम पिछले कई जन्मों में भी तो चला आ रहा था, अत: कोई भी अटपटापन अनुभव नहीं हुआ। बदले में असीम शान्ति-चरम आनन्द की अनुभूति होती रही। रोतों के आँसू पोंछने, उनकी पीड़ा बँटाने, उनके प्रारब्ध को हलका करने के लिए जितना भी कुछ सम्भव था, वह गुरुदेव की साधना के साथ अपनी समर्पण साधना जोड़कर करते रहने का प्रयास किया। परिजन स्वयं ही इस तथ्य के साक्षी हैं कि ममता के असीम सागर पूज्य गुरुदेव, जिनका अंत:करण करुणा से लबालब था, कितना कुछ उन्हें देकर गए हैं। किसी को भौतिक उपलब्धि के रूप में मिला, तो किसी को कष्टों से मुक्ति के रूप में, किन्तु इस रिजर्व बैंक में कहीं कोई कमी नहीं रही।

मुझे अभी तक स्मरण है। विवाहित जीवन के बीस वर्ष ही बीते थे कि उन्होंने मुझे एक बड़ी जिम्मेदारी सौंप दी। वह थी हिमालय जाते समय अज्ञातवास की अवधि में 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका के संपादन की। साथ ही १९५८ के ऐतिहासिक १००८ कुण्डी यज्ञ की ऊर्जा से विनिर्मित गायत्री परिवार रूपी नन्हें पौधे की सुरक्षा, ताकि कोई भी परिजन अपने को एकाकी अनुभव न करे। पूज्यवर की दी हुई शक्ति से ही वह दायित्व निभा, उन्होंने इस अवधि में कठोर तप के साथ वेदों का भाष्य किया तथा एक साधक की डायरी के पृष्ठों के रूप में अपने अज्ञातवास के अनुभव लिख भेजे, जो 'सुनसान के सहचर' पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। मैं तो एक कठपुतली मात्र थी, नचाने वाला कलाकार वह था जो मेरा इष्ट था, आराध्य, मेरा गुरु, मेरा सब कुछ जिसे समर्पित था। निजी परिवार से बढ़कर समष्टि परिवार का दायित्व जिस सत्ता ने मुझे सौंप दिया था।

विश्व मात्र पर आसन्न विभीषिकाओं के गहन घटाटोप बादल जब उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से देखे, तो 'महाकाल की युगप्रत्यावर्तन प्रक्रिया' के अंतर्गत आगामी साधनात्मक पुरुषार्थों की व उसमें जन-जन की सहभागिता की घोषणा की तथा स्वयं मथुरा की अपनी कर्मभूमि स्थायी रूप से छोड़कर १९७१ में हरिद्वार सप्तसरोवर में मेरे लिए शांतिकुंज नामक एक साधनास्थली का निर्धारण किया तथा स्वयं हिमालय तप-पुरुषार्थ हेतु जाने की घोषणा की। विदाई की अवधि आयी एवं पुन: मुझे उनसे विलग होकर हृदयवेधी मर्मान्तक वेदना झेलते हुए सप्तसरोवर के शान्तिकुंज से २० जून, १९७१ को उन्हें विदाई देनी पड़ी। निविड़ एकान्त का निवास, कुछ तपस्विनी कुमारी कन्याएँ तथा मात्र तीन सहयोगियों के साथ चौबीस करोड़ गायत्री जप का अनवरत क्रम आरम्भ हुआ। मिशन की गतिविधियों ने तब एक नया मोड़ ले लिया, जब पूज्य गुरुदेव तपअर्जित रक्ताभ-लालिमा के साथ एक वर्ष बाद लौटे एवं प्राण-प्रत्यावर्तन सत्रों की, जीवन-साधना सत्रों की तथा ऋषिपरम्परा के बीजारोपण व उनके क्रियान्वयन की घोषणा उन्होंने की। उनका आना मेरे लिए संजीवनी का काम कर गया। गायत्री परिवार व उसकी गतिविधियाँ द्रुतगति से बढ़ती चली गयीं। फिर भी एक प्रत्यक्ष परिवर्तन सभी ने देखा कि पूज्यवर ने अपने को पृष्ठभूमि में रखा तथा मुझे ही सारे परिवार के लालन-पालन की व्यवस्था सँभालने हेतु आगे कर दिया। कई बार मैं कहती भी थी कि यह भार मुझ से सँभलेगा नहीं। उन्होंने कहा

कि शक्ति हमारी है, तुम प्यार बाँटती चलो। सभी को एक सूत्र में बाँधती चलो, महाकाल ने ही इस मिशन को माध्यम बनाया है, धरती के भाग्य को बदलने का। इसके लिए हम-तुम जितना भी कर सकें, किया जाना चाहिए।

वही हुआ भी एवं फिर एक और परीक्षा की घड़ी सूक्ष्मीकरण साधना के दौरान आयी जब उन्होंने एक-दो परिजनों व मेरे अलावा सभी से मिलना बंद कर कठोर तप आरम्भ कर दिया। आहार न के बराबर एवं सारा ध्यान जगती की पीड़ा पर। १९८६ की वसंत पंचमी पर यह क्रम समाप्त हुआ। मिशन बढ़ता चला गया चक्रवृद्धि गति से। नवयुग के मत्स्यावतार का रूप जो था एवं सभी आशा भरी दृष्टि से सतयुग की वापसी की प्रक्रिया के लिए शान्तिकुंज-इक्कीसवीं सदी की गंगोत्री की ओर निहारने लगे।

जिससे चोली-दामन का सम्बन्ध था, जिसके साथ आत्मा के सूत्र अविच्छिन्न गहराई से जुड़े थे, उसी गुरुसत्ता ने, मेरे भगवान ने जब १९९० वसंत पंचमी पर स्वेच्छा से गायत्री जयन्ती पर स्थूल काया के बन्धनों से मुक्त हो, सूक्ष्म व कारण में संव्याप्त हो कार्य को द्रुतगति से बढ़ाने की घोषणा की, तो यह शरीर-मन टूटता-सा दीखने लगा। जीवन की नैया कैसे उस सत्ता के बिना, खिवैया के बिना आगे बढ़ेगी, किन्तु हिम्मत उन्होंने ही दी। 'ज्योति कभी बुझेगी नहीं' शीर्षक से लिखे गए लेख से लेकर २ जून को दिए गए उनके अंतिम संदेश तक छाती पर पत्थर बाँधकर मैंने वह किया, जिसकी मेरे आराध्य ने मुझ से अपेक्षा की थी। प्रत्यक्षतः उनकी स्थूलकाया से उनसे बिछुड़ना इस प्रकार था, मानो जल से निकाली गयी मछली का पीड़ा से तड़पना । मेरे बच्चों को, करोड़ों गायत्री परिजनों को पूज्यवर सूक्ष्म व कारणसत्ता से जो देना चाहते थे, सारी जगती पर छाए संकटों के निवारण हेतु साधनात्मक पुरुषार्थ का माध्यम बनना चाहते थे, वह उनके गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० के महाप्रयाण के बाद सम्भव होता चला गया। श्रद्धांजलि समारोह, शक्ति-साधना सत्र, शपथ समारोह एवं संस्कार-महोत्सवों के उपक्रमों के बाद देव-संस्कृति दिग्विजय के क्रम में अठारह अश्वमेध महायज्ञों द्वारा भारत व पूरी धरित्री पर देवसंस्कृति का अलख जगाने की जो प्रक्रिया विगत ४ वर्षों में सम्पन्न हुई है, उसने करोड़ों व्यक्तियों की चेतना को प्रभावित ही नहीं किया है, बल्कि सतयुग का स्वप्न साकार होने की पूर्व भूमिका भी बना दी है, प्रत्येक महायज्ञ में पच्चीस-तीस लाख व्यक्तियों का जुड़ना, उनके द्वारा संस्कृति-विस्तार का संकल्प लिया जाना, दुष्प्रवृत्ति-उन्मूलन, सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन के कार्यक्रम आरम्भ होना- यह सभी बताते हैं कि महाप्रयाण के बाद गुरुदेव की सूक्ष्म व कारणसत्ता ने कितना कुछ कर दिखाया है। जो विगत साठ वर्षों में नहीं बन पड़ा था, उससे कई गुना अधिक विगत तीन वर्षों में सम्पन्न हुआ है। यह शक्ति का चमत्कार है।

अभी पीड़ा, पतन, पराभव से भरी इस दुनिया को आमूलचूल सही करने तथा २००५ तक उज्ज्वल भविष्य से भरा सतयुग लाने का संकल्प पूरा करने के लिए अभी भी बहुत कुछ करना शेष है। भारत भूमि ही नहीं, सारी विश्व-वसुधा इन दिनों अनैतिकता-आपराधिकता-द्वेष-उन्माद के आतप से झुलस रही है। मैंने सारी धरती की परिक्रमा विगत ३ वर्षों में की है तथा प्रत्यक्षतः देखा है कि व्यक्ति-व्यक्ति के मनों में दुःख, पारिवारिक जीवन के विग्रहों तथा समाज की विषमताओं, तोड़-फोड़ भरी विपन्नताओं से भरी परिस्थितियाँ कैसे परोक्ष जगत को प्रदूषित किए जा रही हैं। नारी पर हो रहा दमन, दहेज के नाम पर जलती बहुएँ, यौनशोषण बढ़ोत्तरी पर है। वैभव के बढ़ते चले जाने-तकनीकी प्रगति के बावजूद हर व्यक्ति आज बेचैन है, विक्षुब्ध है तथा भविष्य के प्रति उसके मन में अनिश्चितता है। अपहरण-फिरौती के मामले बढ़ते जा रहे हैं, व्यक्ति संवेदनहीन होता जा रहा है व ऐसे लगता है कि समाज के इस बढ़ते कैंसर के लिए कोई सूक्ष्मतम स्तर का उपचार शीघ्र ही खोजना होगा, ताकि सभी को शरीर, मन, अंतःकरण से पवित्र बना उन्हें आगामी कष्टों से जूझने के लिए एक सुरक्षाकवच दिया जा सके। दैवी प्रकोप भी तेजी से बढ़े हैं। शूमेकर-लेवी धूमकेतु जैसे क्षुद्रग्रह की बृहस्पति को टक्कर व उससे अंतरिक्ष जगत में परिवर्तनों के बारे में वैज्ञानिक जो नहीं बता सकते, वह आज से बारह वर्ष पूर्व पूज्यवर अखण्ड-ज्योति में जुपीटर इफेक्ट की व्याख्या के समय बता गए । विमान दुर्घटनाएँ बढ़ रही हैं व बाढ़-भूकम्प महामारी-दुर्भिक्ष-ज्वालामुखी विस्फोट के संकट वृद्धि पर हैं। कहने को तो तृतीय विश्वयुद्ध का खतरा टल गया, पर उत्तर कोरिया के पास आधुनिक हथियारों व आणविक बमों का जखीरा तथा विभाजित हुए रूस के एक-एक देश के पास विद्यमान अणुबम, इस्लामिक बम की आसन्न आपत्ति अभी भी शीतयुद्ध का वातावरण बनाए हुए है। कहने का आशय यह है कि अभी भी सूक्ष्मस्तर पर एक बड़ी व्यापक तैयारी होनी है, जिससे कि नव-सृजन को संकल्पित आत्मबल सम्पन्न देवमानवों की उत्पत्ति सम्भव हो सके एवं विनाश को टाला जा सके।

यह सब कब व कैसे होगा, कौन करेगा? इसकी चिंता परिजन न करें। महाकाल ने मिशन को

युगपरिवर्तन का निमित्त बनाने हेतु ही कौरवों की सेना के बीच ला खड़ा किया है। बुझती शमा जब भी लपलपाती है, कइयों को लगता है कि यह तो और बढ़ गयी है, किन्तु यह क्षणिक चमक कुछ ही पल में ओझल हो जाती है। मरणासन्न व्यक्ति तेजी से साँसें लेता है, तो पास बैठे रिश्तेदारों की आँखों में चमक आ जाती है कि सम्भवतः अब यह पुनः प्राणदान पा लेगा, किन्तु चिकित्सक जानते हैं कि यह अन्तिम वेला है। प्राण अब शरीर छोड़ने ही वाले हैं। ऐसा ही कुछ इन दिनों हो रहा है। हमें मनोबल खोना नहीं, सँजोना है तथा अनीति से मोर्चा लेने वाली ताकतों को एकजुट करना है। परिजन मात्र इतना ही करें कि अपने साधनात्मक पुरुषार्थ में वृद्धि कर दें तथा समष्टि में संव्याप्त महाकाल की सत्ता से एकात्मता स्थापित करने का प्रयास करें ताकि श्रेष्ठ वातावरण बनाने में मदद मिले।

मेरी अपनी स्थिति इन दिनों परमपूज्य गुरुदेव की सूक्ष्म व कारणसत्ता के साथ पल-पल स्पंदन लेती हुई-सी है। हर श्वास में मेरे आराध्य-गुरु, मेरे भगवान ही मुझे दिखाई देते हैं। उन्हीं के निर्देशों से विगत चार वर्ष की जीवननौका चलती रही। अब आगे भी उन्हीं के इशारों पर चलते चले जाना है। परिजन तनिक भी परेशान न हों, मन को दुःखी न करें, न ही उद्विग्न हों कि हम विगत दो माह से अपनी आध्यात्मिक माता के स्थूल दर्शन न कर पाए। यह शरीर तो शक्ति का वाहक हाड़-माँस का चोला भर है। इसे जितने दिन कार्य करना है, करेगा, पर अपना वह आश्वासन वह अपनी गुरुसत्ता के साथ मिलकर अवश्य पूरा करेगा कि जब तक अपना एक भी बालक दुःखी है, उसे दिलासा देने, सांत्वना देने, उसकी माँ उसके पास ही कहीं विद्यमान है। उसके डैने इतने बड़े हैं कि सारी जगती के दुःखीजनों को वह अपनी संरक्षण छाया में रख सकती है।

मात्र गायत्री परिवार के परिजनों के दुःख-कष्ट ही नहीं, सारी धरित्री के कष्ट जहाँ मिटाने का प्रसंग समक्ष हो, दैवी विधान बनकर वह सामने आया हो, तो अपना एक ही कर्त्तव्य रह जाता है कि जो भी निर्देश आ रहा है, वह स्वीकार किया जाए। बच्चे अपनी माँ के स्थूल कष्ट को देखते हैं तो अपनी पूरी कोशिश करते हैं एवं उसे यथासम्भव आराम देने का प्रयास करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उच्चतम स्तर पर उपलब्ध सहायता भी देने का प्रयास करते हैं, पर अपनी निजी इच्छा तो यही है कि स्वयं को प्रकृति के प्रवाह के अंतर्गत, महाकाल की सत्ता के अधीन कर दिया जाए। वह जो चाहे करे-जैसा चाहे करें। इस मिशन का भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल है। इसे वह भगीरथी पुरुषार्थ करना है, जिसमें साठ लाख सगर पुत्रों को शापमुक्त किया गया था। अब तो यह संख्या बढ़कर ६०० करोड़ तक जा पहुँची है। हम लोग अभी मात्र छह करोड़ हैं। सौ गुना होने के लिए मानवी पुरुषार्थ काफी नहीं। इसे अतिमानवी स्तर पर ही पूरा करना होगा। प्रत्यक्षतः वह कार्य कोई भी करता दिखाई पड़े, किन्तु शक्ति का प्रवाह सूक्ष्मजगत से ही चलेगा। आश्वमेधिक पुरुषार्थ ने मेरी उम्मीदें और भी प्रबल बना दी हैं एवं पूरी आशा है कि मजबूत कंधों वाले मेरे बच्चे हमारे सौंपे गए दायित्वों को जरूर निभाएँगे। जो इस समय इस प्रवाह में जुड़ा रहेगा, वह आगामी ११-१२ वर्षों में स्वयं को श्रेय-सम्मान का अधिकारी होता पाएगा। देव-संस्कृति दिग्विजय का यह उपक्रम जो पिछले दिनों चला है, उसने आशाएँ प्रबल कर दी हैं कि यदि सत्प्रयोजनों के लिए कुछ सज्जन जुट पड़ें, तो परिवर्तन होकर ही रहेगा। यह समय कुछ ऐसा ही विशिष्ट है।

संधिकाल की वेला वाला यह जो समय है, वह बार-बार नहीं आने वाला। सारी धरती के भाग्य को जब नये सिरे से लिखा जा रहा हो, तब कंधा मचकाकर उपेक्षा दिखाने वाले निश्चित ही अभागे कहलाए जाएँगे। विशिष्ट समय की जिम्मेदारियाँ भी विशिष्ट ही होती हैं। यदि हमारे परिजन यह समझ सकें, तो शक्ति की प्रक्रिया के साथ स्वयं को जोड़कर स्वयं को अर्जुनों, सुग्रीवों, हनुमानों की श्रेणी में ला खड़ा कर सकेंगे। यह चुनाव उन्हें ही करना है।

**अब हमारी भूमिका परोक्ष जगत में अधिक सक्रियता वाली होगी। गुरुसत्ता का आमंत्रण तीव्र पर तीव्र होता चला जाता है तथा एक ही स्वर हर श्वास के साथ मुखरित होता जा रहा है युग-परिवर्तन के लिए और अधिक और अधिक समर्पण।** ऐसे में प्रत्यक्ष रंगमंच की भूमिका अपने वरिष्ठ बच्चों के कंधों पर सौंपकर कभी भी हमें सूक्ष्म व कारणसत्ता के रूप में सक्रिय होना पड़ सकता है। शक्ति का प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं होता, इस तथ्य को जानने वाले कभी भी लौकिक स्तर पर चिंतन नहीं करेंगे तथा अपने पुरुषार्थ में, साधना-पराक्रम में कोई कमी न आने देंगे, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

परिजनों की इस माँ ने अपने जीवन का हर क्षण एक समर्पित शिष्य की तरह जिया है। अपने आराध्य की हर इच्छा को पूरा करने का अथक प्रयास किया है। प्रत्यक्ष दृश्यपटल पर यदि हम दिखाई न भी पड़ें, तो हमारा कर्तृत्व जो अब तक गुरुसत्ता की अनुकम्पा से बन पड़ा है, सबके लिए प्रेरणा का केन्द्र बना रहेगा एवं हमारे बच्चे सच्चे उत्तराधिकारी बनते हुए आदर्शों के क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा करते हुए उज्ज्वल भविष्य समीप लाते दिखाई पड़ेंगे, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

# ममत्व लुटाकर ही मातृसत्ता ने यह विराट परिवार बनाया

माताजी, स्नेहसलिला, परमवंदनीया, शक्ति-स्वरूपा, सजल श्रद्धारूपा, वात्सल्यमयी माँ कितने ही नामों से जन-जन तक परिचित माता भगवती देवी शर्मा, जिन्हें स्वयं पूज्यवर गुरुदेव पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी भी 'माताजी' नाम से सम्बोधित करते थे, का जीवन श्रद्धा और समर्पण का, ममत्व-विस्तार एवं अनुदान-वितरण से भरी एक ऐसी अनूठी जीवन-यात्रा का परिचायक है, जो बिरले ही देखने में आता है। आगरा नगर के हृदय क्षेत्र में जन्मीं माताजी का जीवन-परिचय अभी तक हमारे पाठकों-परिजनों तक अविज्ञात ही रहा है। उन्होंने थोड़ी-सी झलक भर देखी है, उनके प्रारम्भिक जीवनक्रम की। बहिरंग में तो १९५८ के सहस्र कुण्डी महायज्ञ से लेकर १९९४ के चित्रकूट अश्वमेध महायज्ञ तक वे पूज्य गुरुदेव की एक समर्पित शिष्या-आराधिका व सौंपे गए कार्यों को पूरा करने वाली एक शक्ति-स्वरूप सत्ता दिखाई देती हैं, किन्तु उनका जीवनकाल जो ६९ वर्षों का रहा, प्रारम्भिक क्षणों से लेकर अंत तक के ऐसे कई दुर्लभ संस्मरण, घटनाप्रसंग हैं, जो बताते हैं कि गायत्री परिवाररूपी वट-वृक्ष की स्थापना में उनका योगदान कितना बहुमूल्य रहा।

इन अविज्ञात प्रसंगों का परिचय कराने से पूर्व एक दृष्टि मातृसत्ता की जीवनयात्रा पर डालना समीचीन होगा। आश्विन कृष्ण संवत् १९८२, २० सितम्बर, १९२६ को प्रातः ८ बजे सॉवलिया बोहरे के श्री जशवंतराय के घर उनका जन्म चौथी संतान के रूप में हुआ। जन्म के समय ही द्रष्टा, भविष्यवक्ताओं ने बताया कि एक दैवीसत्ता, शक्ति रूप में उनके घर आयी है। साधारण से असाधारण बनती हुई यह ऐसे उत्कर्ष को प्राप्त होगी कि करोड़ों व्यक्तियों की श्रद्धा का यह पात्र बनेगी, हजारों-लाखों व्यक्ति इस अन्नपूर्णा के द्वार पर भोजन करेंगे व कोई भी, कभी भी इसका आशीर्वाद पा लेगा, तो वह खाली नहीं जाएगा। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों के सम्बन्ध में आगरावासी, जिन्हें वे क्षण देखने को मिले-बताते हैं कि एक ऐश्वर्यशाली सम्पन्न घर में जन्म लेने के बावजूद सादगी भरा जीवन ही उन्हें पसन्द था। रेशमी कीमती वस्त्रों की तुलना में वे गाँधी व बा की बात कहकर सभी को खादी अपनाने की प्रेरणा देती थीं व स्वयं भी वही पहनती थीं। औरों को भोजन कराने, उनका आतिथ्य करने, उनके साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार में वे सबसे आगे बढ़कर चलती थीं व जिसने भी एक बार उनके हाथों प्यार भरे स्पर्श के साथ भोजन कर लिया, वह उन्हें सदा याद रखता था। बड़े भाई व बहिन उन्हें प्यार से 'लाली' तब भी कहते थे, व अब जब वे करोड़ों की माताजी बन गयीं, तब भी निःसंकोच कहते रहे, वे वैसा ही प्यार व सम्मान उन्हें देती रहीं। अपनी स्वयं की पूजा-स्थली में शंकरजी की स्थापना कर नित्य पूजा करना, सूर्य की ओर देखकर ध्यान करना, परिवार वालों के लिए एक आश्चर्य की बात थी, क्योंकि किसी ने उन्हें यह सिखाया नहीं था। यह ईश्वराराधना स्वतः स्फूर्त थी तथा उनके पूर्व जन्म के दिव्य संस्कारों का परिचय दे सबको आने वाले समय में उनके महत्त्वपूर्ण होने का आभास देती थी।

यह एक विलक्षण संयोग ही है कि १९२६ के वर्ष में तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएँ एक साथ घटीं। सतयुग के आगमन की संधिवेला में श्री अरविन्द ने इसे सिद्धि-वर्ष का वर्ष कहा व पाण्डिचेरी से अपने सभी परिजनों को संबोधित करके कहा कि परिवर्तन की प्रक्रिया अब तीव्र वेग लेगी। उसी वर्ष आगरा नगर से यमुना पार उसी जिले की एक तहसील एत्मादपुर के छोटे-से गाँव आँवलखेड़ा नामक ग्राम में जो आगरा-जलेसर मार्ग पर १५ मील की दूरी पर स्थित था, १५ वर्षीय युवा साधक श्रीराम की पूजा-कोठरी में दिव्य प्रकाश के ऊर्जापुंज के रूप में एक सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता का प्रकटीकरण हुआ, जिसने उन्हें उनके पूर्व जन्मों का तथा आगामी जीवन के ६५ वर्षों के कार्यकाल का बोध कराके प्राणदीक्षा दी, गायत्री महाविद्या को जन-जन तक पहुँचाने के लिए २४-२४ लक्ष के चौबीस वर्ष तक २४ महापुरश्चरण सम्पन्न करने व अखण्ड दीपक प्रज्ज्वलित कर उस ज्योति के प्रकाश से विश्व-वसुधा के कल्याण के निमित्त स्वयं को तपाने का निर्देश दिया। 'श्रीराम मत्त' नाम से संबोधित यही युवा साधक बाद में पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य-वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ, युगऋषि, प्रखर प्रज्ञा रूपेण महाकाल की संज्ञा प्राप्त कर गायत्री परिवार के अधिष्ठाता बने तथा उनकी जीवनसंगिनी बनने का सौभाग्य भगवती देवी जी को मिला, जो दीपक प्रज्वलन वाले वर्ष १९२६ में ही जन्मी थीं। १९४३ में विवाह के बाद पहले आँवलखेड़ा, फिर मथुरा और बाद के चौबीस वर्षों में वे हरिद्वार के सप्तसरोवर स्थित शान्तिकुंज में रहीं। प्रारम्भिक ४५ वर्ष ब्रजभूमि में व अंतिम २४ वर्ष पावन पुण्य सप्तर्षियों की तपःस्थली में बीते, पर हर पल समर्पण-साधना में, जनहित के लिए तिल-तिल कर गलने में तथा स्नेह व ममत्व को लुटाने में ही नियोजित हुए।

विवाह के बाद बड़ी प्रतिकूल परिस्थितियों में वे उस जमींदार घराने में पहुँचीं, जहाँ आचार्य जी ओढ़ी हुई गरीबी का जीवन जी रहे थे। जैसा पति का जीवन, वैसा ही अपना जीवन, जहाँ उनका समर्पण, उसी के प्रति अपना भी समर्पण, यही संकल्प लेकर वे जुट गयीं, कंधे से कंधा मिलाकर पूर्वजन्मों के अपने आराध्य इष्ट के साथ चौबीस वर्ष के चौबीस महापुरश्चरणों का उत्तरार्द्ध चल रहा था। उन्होंने गायों को जौ खिलाकर, गोबर छानकर उनसे जौ निकालकर, उसकी रोटी व छाछ पूज्य गुरुदेव को खिलायी, उनके अखण्ड दीपक की रक्षा की। हर आने वाले अभ्यागत का आतिथ्य कर घर में जो भी था, उसी से उसकी व्यवस्था की। बच्चों के लिए आए दूध में पानी पड़ता जाता व उसी से चाय बनाकर दुखी-पीड़ितों की सेवा की जाती, कष्ट सुने जाते व घावों पर मलहम लगाए जाते। मात्र २००/- रुपये की आय में दो बच्चे, एक माँ, स्वयं दो, पाँच व्यक्तियों की व्यवस्था उन सौ-डेढ़ सौ व्यक्तियों के अतिरिक्त करना, जिनका अखण्ड-ज्योति संस्थान आना नित्य होता ही रहता

था, मात्र उन्हीं के वश की बात थी। हाथ से कागज कूटकर बना उसे सुखाना व फिर उससे पैर से चलने वाली हैंडल प्रेस द्वारा छोटे-छोटे ट्रैक्ट व 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका छापना, उन पर पते लिखकर डिस्पैच करना, बच्चों की पढ़ाई की, देखभाल की व्यवस्था यह सब अकेले ही उन्होंने किया। इस बीच उन्होंने पूज्य आचार्य जी की पहली पत्नी से उत्पन्न दो संतानों श्री ओमप्रकाश व श्रीमती दयावती शर्मा की विवाह की व्यवस्था की। भले घरों से बहू आयीं व लड़की भेजी गयीं व अपनों से अधिक प्यार दिया गया, जिसे अंत तक निभाया गया। आज भी दोनों श्री ओमप्रकाश जी शर्मा व श्रीमती दया उपाध्याय अपनी सगी माँ से भी बढ़कर आजीवन मिले वंदनीया माताजी के प्यार को याद कर-करके द्रवित हो उठते हैं।

ऐसे न जाने कितने सम्बन्धियों के मित्र व गैर-सम्बन्धी दुःखी हैं, जिन्हें परमवंदनीया माताजी का अगाध स्नेह व दुलार मिला है, जिससे उन्हें सदा सही राह पर चलने की प्रेरणा मिली, राहत मिली, संवेदना का स्पर्श मिला। जब गायत्री तपोभूमि की स्थापना का समय आया, तब पूज्य गुरुदेव १०८ कुंडी यज्ञ कर २४ वर्षीय अनुष्ठान की समाप्ति करना चाह रहे थे। स्वयं अपनी ओर से पहल करके माताजी ने अपने सारे जेवर अपने आराध्य के कार्य को सफल बनाने के लिए दे दिए। उन्हें बेचकर गायत्री तपोभूमि की जमीन खरीदी गयी, जमींदारी के बाण्ड्स बेचकर भवन खड़ा हुआ। निजी उदाहरण प्रस्तुत हुआ तो अगणित अनुदान देने वाले आगे आते चले गए व गायत्री परिवार के बीजांकुर को फलित-पल्लवित होने का अवसर मिला। १९५८ का सहस्र कुण्डी महायज्ञ अपने आप में एक ऐतिहासिक धर्मानुष्ठान था, जिसने गायत्री के सद्ज्ञान व यज्ञ के सत्कर्म की दिशाधारा को घर-घर पहुँचा दिया। गायत्री परिवार की संरक्षिका, दुलार बाँटने वाली-मातृसत्ता के रूप में उनका आविर्भाव हुआ तथा १९५९ से १९६१ तक पूज्यवर के हिमालयप्रवास-तपसाधना में उन्होंने वह सारी जिम्मेदारी निभाई, जिनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। कड़ी परीक्षा की घड़ी तब आयी, जब पूज्य आचार्य जी ने अपने हिमालय जाने व कर्मभूमि को स्थायी रूप से छोड़ने का संकल्प ले लिया। बाहर से रुद्र व योद्धा-अन्दर से कोमल व यति का रूप लिए पूज्यवर ने वह सब हस्तानान्तरण माताजी के कंधों पर करना आरम्भ कर दिया, जो उन्हें १९७१ के बाद उनके हिमालयप्रवास पर जाने पर सप्तर्षियों की भूमि सप्तसरोवर में शक्ति का स्रोत बनकर प्राप्त होने वाला था।

स्थायी रूप से घर-बार छूट गया-ममत्व देने वाली माँ समान सास जिन्हें 'ताईजी' कहते थे, महाप्रयाण कर गयीं, बेटी की शादी हो गयी तो वे अपनी छह गोद ली नन्हीं-नन्हीं पुत्रियों, जिनसे उन्हें २४-२४ लक्ष के २४ महापुरश्चरण अखण्ड दीपक के समक्ष सम्पन्न कराने थे, को लेकर शान्तिकुंज आ गयी थीं। १९७१ से १९९० की अवधि उनके लिए कड़ी कसौटी वाली थी, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। यह समय पूज्यवर के परोक्ष रूप से कार्य करने का तथा परमवंदनीया माताजी के एक संगठक के रूप में आन्दोलन का संचालन करने वाली मातृशक्ति के रूप में कार्य करने वाला समय था। इस अवधि में उन्होंने 'नारी जागरण अभियान' का शंखनाद करने वाली भारत की सम्भवतः पहली व एकमात्र पत्रिका का संपादन किया, चौबीस देवकन्याओं को कई गुना कर अगणित टोलियाँ क्षेत्रों में भेजीं तथा अनेकों नारी जागरण मण्डल अथवा शाखाएँ सक्रिय रूप से कार्य करने लगीं। विभिन्न सत्रों का संचालन-शिविरार्थियों को अपने हाथ से हविष्यान्न का बना भोजन कराके, उन्होंने लाखों परिजनों को अपने अंतःकरण की प्यार की सरिता में स्नान कराया। पूज्यवर बौद्धिक उद्बोधन देते, स्थूल-व्यवस्था सम्बन्धी निर्देश देते, कभी-कभी गलती होने पर कार्यकर्त्ताओं को डाँट भी लगा देते, पर प्यार का मलहम माताजी द्वारा लगाया जाता था। सभी इसी प्यार की धुरी पर टिके रहे।

१९९० का वर्ष, वसंत पंचमी की वेला में पूज्यवर द्वारा सूक्ष्मीकरण में प्रवेश व इस घोषणा के साथ आया कि अब ये सूक्ष्म में सक्रिय होंगे, किसी से नहीं मिलेंगे। अपना शरीर गायत्री जयंती २ जून को छोड़ने की घोषणा वे पूर्व से ही इन पंक्तियों के लेखक एवं परमवंदनीया माताजी के समक्ष कर गए थे। इस अवधि में अपने पर पूरा संतुलन रख २ जून को अपने आराध्य के महाप्रयाण के बाद करोड़ों बच्चों को हिम्मत बँधाकर उन्होंने १, २, ३, ४ अक्टूबर, १९९० शरद पूर्णिमा के श्रद्धांजलि समारोह में उपस्थित १५ लाख परिजनों के माध्यम से जन-जन को आश्वस्त कर दिया कि यह दैवी शक्ति द्वारा संचालित मिशन आगे ही आगे बढ़ता चला जाएगा। कोई भी झंझावात इसे हिला न पाएगा। इसके बाद सम्पन्न विराट शपथ समारोह एवं १८ अश्वमेध यज्ञ, गीता के १८ अध्यायों की तरह है, जिन पर पृथक-पृथक लेखमाला लिखी जा सकती है। परमवंदनीया माताजी की ६९ वर्षीय जीवनयात्रा का समापन पूज्यवर की सूक्ष्मजगत से अंतर्वेदना भरी पुकार के रूप में गायत्री जयंती से ही आरम्भ हो चुका था। चार वर्ष की आराध्य सत्ता से दूरी की सीमा-बन्धन वाली परिधि टूट चुकी थी। लगता था, कभी भी वे अपने आराध्य से जा मिलेंगी। पूज्यवर जिस समाज-यज्ञ में समिधा की तरह जले, उसमें अपनी अंतिम हविष्य की आहुति देती हुई परमवंदनीया माताजी भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ को अपने जन्मदिवस से ४ दिवस तथा पूज्यवर के काया के जन्मदिवस से १३ दिवस पूर्व महालय श्राद्धारंभ की वेला में महाप्रयाण कर उस विराट ज्योति से एकाकार ही गयीं।

## शिव-शक्ति का अद्भुत लीला-संदोह

मेरे बिना उनकी अभिव्यक्ति नहीं, उनके बिना मेरा अस्तित्त्व नहीं। शक्तिस्वरूपा वन्दनीया माताजी के ये उद्‌गार उनके एवं शिवस्वरूप परमपूज्य गुरुदेव के लीला-

सन्दोह का अहसास कराते हैं। शिव और शक्ति अभिन्न हैं। उनके सम्बन्ध भी अविच्छिन्न एवं नित्य हैं और उनकी यह लीला भी शाश्वत और चिरन्तन है। सृष्टि के आदि से एक ही परमचैतन्य अपना लीलानाट्य शिव और शक्ति के रूप में कर रहा है। इस चैतन्यऊर्जा का व्यक्त यानी कि गतिज रूप शक्ति है और अव्यक्त यानी कि स्थितिज रूप ही शिव है। इस सत्य को स्वीकारते हुए शास्त्रों का भी कहना है-

**उमारुद्रात्मिकाः सर्वाः प्रजाः स्थावर जंगमाः।**
**व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरः॥**

अर्थात् यह स्थावर, जंगम समूची सृष्टि उमा और रुद्र का ही रूप है। इसमें जो व्यक्त रूप है, वही भगवती उमा है और अव्यक्त रूप भगवान महेश्वर का है।

श्रुति भी यही कहती है कि संसार में जो कुछ देखा जाता है, सुना जाता है, स्मरण किया जाता है, सभी शिव-शक्ति है। रुद्र नर है, उमा नारी है। रुद्र ब्रह्मा है, उमा वाणी है। रुद्र विष्णु है, उमा लक्ष्मी है। रुद्र सूर्य है, उमा छाया है। रुद्र सोम है, उमा तारा है। रुद्र दिन है, उमा रात्रि है। रुद्र यज्ञ है, उमा वेदी है। रुद्र वह्नि है, उमा स्वाहा है। रुद्र वेद है, उमा शास्त्र है। रुद्र वृक्ष है, उमा वल्ली है। रुद्र गन्ध है, उमा पुष्प है। रुद्र अर्थ है, उमा अक्षर है। रुद्र लिंग है, उमा पीठ है। जो हृदय में ऐसी भावना रखते हैं। सर्वत्र नमन कर सकते हैं, वही शिव और शक्ति की लीला के रहस्य कोजानते हैं।

प्राचीन वैदिक युग के किसी मन्त्रद्रष्टा ऋषि से यह पूछा गया कि हमें कौन से देवता की स्तुति एवं पूजा करनी चाहिए, **कस्मै देवाय हविषा विधेम ?** उन्होंने दस ऋचाओं में इस प्रश्न का उत्तर दिया, इनमें से दो ऋचाएँ बहुत ही मोहक हैं-

**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।**
**स दाधार पृथिवीमुत द्यां , कस्मै देवाय हविषा विधेम॥**
**य आत्मदा बलदा यस्य विश्व, उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।**
**यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥**

आरम्भ में भगवान हिरण्यगर्भ शिव हुए, जो समस्त भूतों के पूर्वज एवं स्वामी थे, उन्होंने अपनी शक्ति से जो बाद में प्रकट हुई पृथ्वी और आकाश को धारण किया। हमें चाहिए कि हम उन्हीं की स्तुति एवं पूजा करें। जो समस्त क्रिया-कलापों को जीवन तथा शक्ति प्रदान करते हैं, जिनके तप से अग्नि में से स्फुल्लिंग के समान नवीनता प्रकट होती है, जो समस्त जीवों को पावन करने वाले हैं, जिनकी आज्ञा का सभी प्राणी आदरपूर्वक पालन करते हैं। मृत्यु एवं अमृत्व जिनकी छाया है, उन्हीं की हम लोग स्तुति एवं पूजा करें।

युगनिर्माण मिशन के आदि का रहस्य भी कुछ सृष्टि के रहस्य जैसा ही है। शिवस्वरूप परमपूज्य गुरुदेव भगवान महाकाल के शाश्वत प्रतिनिधि के रूप में आकर तपोनिरत हुए। बाद में उनकी नित्य शक्ति के रूप में वंदनीया माताजी का अवतरण-आगमन हुआ। उन्होंने ही इस मिशन को धारण किया। पूज्यवर की तपशक्ति से मिशन की अनेकानेक गतिविधियाँ जन्म लेती गयीं। माताजी इन्हें धारण करती गयीं और विस्तार देती गयीं। पूज्यवर की कृपाशक्ति हम सबको पावन करने का दुष्कर कार्य सम्पन्न करती है। उनकी आज्ञा ही हमारे क्रिया-कलापों, गतिविधियों का मूल है और आज हममें से कोई किसी से यदि प्राचीन ऋषियों की भाषा में प्रश्न करे- "**कस्मै देवाय हविषा विधेम?**" तो निश्चित ही हम सबका इंगित उन्हीं की ओर उठेगा- "**तस्मै देवाय हविषा विधेम।**"

शिव और शक्ति का यह लीलासन्दोह मिशन के जन्म, जीवन एवं इसके विविध क्रिया कलापों में स्पष्ट है। शिव और शक्ति में, गुरुदेव एवं माताजी में कौन वरिष्ठ है, कौन कनिष्ठ? यह प्रश्न तो तब हो, जब वे दो हों। जब वे एकात्म हैं, तब इस तरह के सवालों की गुंजाइश कहाँ रहती है। हाँ इतना अवश्य है कि गुरुदेव के तप की प्रभा जहाँ अपने तीव्र आकर्षण से चकाचौंध करती है, वहीं वन्दनीया माताजी का अपरिमित वात्सल्य हृदय की गहराइयों को तृप्त करता है। गुरुदेव-माताजी, माताजी एवं गुरुदेव इन दोनों के रहस्यमय जीवन की अबूझ पहेली भले ही समझ में न आए, पर इतना अवश्य है कि यदि माताजी न होतीं, तो मिशन का इतना विस्तार सम्भवतः न होता। यानी कि शक्ति न होती, तो शायद शिव अपना लीला-विस्तार न कर पाते।

प्राचीनकाल से ही इस सत्य की स्वीकारोक्ति होती आयी है। सौन्दर्यलहरी में आचार्य शंकर कहते हैं-

**शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।**
**न चेदेवं देवो नः खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥**

अर्थात् शक्ति के बिना शिव अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि शक्ति के बिना सृजन-पालन-संहार कुछ भी तो सम्भव नहीं। अधिक क्या इसके बिना तो स्वयं शिव स्पन्दनहीन हो जाएँगे।

भावुक भक्तों ने इस शक्तितत्त्व में तथा इसकी समस्त क्रियात्मक हलचलों में एकमात्र कृपा को ही कारण माना है। इनका अस्तित्व ही कृपापूरित मात्र है। इनके कोप में भी कृपा छिपी रहती है। तभी तो देवी माहात्म्य में भी कहा गया है-

**चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्ट्वा॥**

शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक कहा है- "माँ! भगवान शिव समस्त प्राणियों के हृदय में विराजमान हैं और तुम उनके हृदय में विराजती हो, पर तुम तो हृदय में भी करुणा-रूप में विराजती हो, हम तो तुम्हारा ही आश्रय लेते हैं।"

शास्त्रकार की यह उक्ति वन्दनीया माताजी के सम्बन्ध में शत-प्रतिशत सत्य है। जिन्हें उनका सान्निध्य मिला है, उन्हें मालूम है कि उनके कोप में भी करुणा छिपी रहती थी। गुरुदेव का व्यक्तित्व यदि सूर्य की भाँति प्रखर था, तो माताजी चन्द्रमा की भाँति शीतल एवं स्निग्ध थीं। गुरुदेव की प्रखरता-तेजस्विता को अपनी सन्तानों के लिए वात्सल्यपूर्ण शीतलता में बदल देना उनके व्यक्तित्व की सराहनीय विशेषता थी। शिव और शक्ति अपने अभिनव रूप में युगावतार पूज्यगुरुदेव एवं युगशक्ति माताजी के रूप में अपनी लोकलीला करते हुए भले ही अब परमतत्त्व में

विलीन हो गए हों, परन्तु सजल श्रद्धा एवं प्रखर प्रज्ञा के रूप में शान्तिकुंज में स्थापित उनके प्रतीक-चिन्हों के माध्यम से उनकी सूक्ष्मसत्ता एवं शक्ति के स्पन्दन अभी भी भावुक भक्तों को स्पष्ट रूप से अनुभव होते रहते हैं।

## दो तन किन्तु प्राण एक ही

''माताजी भगवान के वरदान की तरह हमारे जीवन में आयीं। उनके बगैर मिशन के उदय और विस्तार की कल्पना करना तक कठिन था।'' गुरुदेव की इन बातों से माताजी के प्रति उनके दृष्टिकोण का सहज अहसास हो जाता है, पर यह वरदान उनके जीवन में न अचानक आया और न अकस्मात उतरा। इसकी उन्हें वर्षों पूर्व जानकारी थी। उनकी मार्गदर्शक सत्ता ने अपने प्रथम दर्शन के दिन ही इसका संकेत करते हुए कहा था-''तुम्हारे विवाहित होने से मैं प्रसन्न हूँ। इसमें बीच में व्यवधान तो आएगा, पर पुनः पूर्व जन्मों में तुम्हारे साथ रही सहयोगिनी पत्नी के रूप में मिलेगी, जो आजीवन तुम्हारे साथ रहकर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगी। पिछले दो जन्मों में तुम्हें सपत्नीक रहना पड़ा है। यह मत सोचना कि इससे कार्य में बाधा पड़ेगी। वस्तुतः इससे आज की परिस्थितियों में सुविधा ही रहेगी एवं युगपरिवर्तन के प्रयोजन में भी सहायता मिलेगी।''

भगवान की कृपा और भगवान का विधान एक ही है। इस सत्य को कम लोग अनुभव कर पाते हैं। यह अनुभूति कड़वी-मीठी कैसी भी हो, पर होती औषधि की तरह गुणकारक है। गुरुदेव की प्रथम पत्नी का देहावसान भगवान के अकाट्य विधान की तरह उनके जीवन में घटित हुआ। लगभग इसी समय उनके पुराने सहयोगी मिशन के नैष्ठिक कार्यकर्ता बद्रीप्रसाद पहाड़िया की धर्म-पत्नी का भी निधन हुआ था। उन्होंने इसकी सूचना पत्र द्वारा पूज्यवर को दी, जिसका जवाब देते हुए उन्होंने लिखा-''पत्र में तुम्हारी पत्नी के निधन के बारे में पढ़कर दुःख हुआ। इसे नियति का खेल समझ कर सहन कर जाओ। मेरी पत्नी की मृत्यु भी इन्हीं दिनों हुई है। वर्तमान में हम दोनों को एक-सा दुःख झेलना पड़ रहा है। आगे मैं तो दूसरी शादी करूँगा, क्योंकि इसका सम्बन्ध मिशन के भविष्य से है। फिर मार्गदर्शक का आदेश भी कुछ ऐसा ही है, पर तुम शादी मत करना।''

अपनी गुरुसत्ता के आदेश को शिरोधार्य करते हुए वह माताजी के साथ दाम्पत्य सूत्र में बँधे। उन दिनों वह व्यस्तताओं और विवशताओं से घिरे थे। स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी के कारण स्वजनों का भरपूर विरोध था। चौबीस पुरश्चरणों की उग्र तपश्चर्या को कुछ लोगों ने पागलपन की सनक करार दे दिया था। भावनात्मक आघातों का सिलसिला जारी था। जरूरत थी टूटी-कुचली भावनाओं को फिर से पोषण देने की। माताजी ने अपने आगमन के साथ ही इस काम को बखूबी सँभाल लिया। इस तथ्य को गुरुदेव के शब्दों में कहें तो- ''उन्होंने अपने आने के पहले दिन से ही स्वयं को तिल-तिल गलाने का व्रत ले लिया। विरोध का तत्त्व तो उनमें जैसे था ही नहीं। यदि वह चाहतीं, तो साधारण स्त्रियों की तरह मुझ पर रोज नयी फरमाइशों के दबाव डाल सकती थीं। ऐसे में न तपश्चर्या बनती, न लोकसेवा के अवसर हाथ लगते। फिर जो कुछ आज तक हो सका, उसका कहीं नामोनिशान न होता।''

माताजी के आने के बाद गुरुदेव के जीवनक्रम में एक नया निखार आया। अखण्ड-ज्योति का प्रकाशन तो पहले से ही चल रहा था, पर अभी तक यह एक पत्रिका का प्रकाशन भर था। सामान्यक्रम में पत्रिका और पाठक के रिश्ते पढ़ने-पढ़ाने तक सीमित रहते हैं, माताजी की उपस्थिति के साथ ही 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका ने 'अखण्ड-ज्योति परिवार' का रूप ले लिया। पत्रिका को पढ़ने वाले उनके अपने आत्मीय हो गए। इस क्रम में लोगों का घर आने-जाने, ठहरने, खाने-पीने का सिलसिला चल पड़ा। आने वाले किसी व्यक्ति को उन्होंने स्नेह और ममत्व की कमी न महसूस होने दी।

उन दिनों 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका से जुड़े एक परिजन ने अपनी यादों की पुलकन उँड़ेलते हुए बताया-अहा! वे भी क्या दिन थे। मैंने 'अखण्ड-ज्योति' नयी-नयी पढ़ी थी। एक, दो महीने पत्रिका पढ़ने के बाद मन में विचार आया कि लिखने वाला तो बड़े कमाल का आदमी है, उससे मिलना चाहिए। बस फिर क्या था, मथुरा के लिए रवाना हो गया। मथुरा पहुँचते-पहुँचते ग्यारह बज गए। जैसे-तैसे घर ढूँढ़ा, दरवाजा खटकाते हुए मन बहुत हिचका, इतनी रात गए अजनबी आदमी का दरवाजा कैसे खुलवाए, लेकिन कोई दूसरा उपाय भी नहीं था। मथुरा में किसी और को जानता भी नहीं था। हिम्मत करके कुण्डी खटखटाई। माताजी ने दरवाजा खोला। पूछने पर पता चला-गुरुदेव कहीं बाहर गए हुए हैं। बहुत मना करने पर भी उन्होंने रात बारह-साढ़े बारह बजे के लगभग पराठा-सब्जी बनाकर खिलाई। खाने के बाद एक गिलास दूध पीने को मिला। सारी रात उनके ममत्व की छाँव में कटी। सुबह उठकर जब जाने लगा, तब अनुभव हुआ कि शरीर से तो जा रहा हूँ, पर मन माँ के पास ही छूट रहा है।

यह अनुभूति किसी एक की नहीं, वरन् उन सैकड़ों-हजारों की है, जो उनके स्नेह-ममत्व से पोषित हुए। इन्हीं ममता के धागों से मिशन का विस्तार बुना गया। तभी तो गुरुदेवजी ने एक स्थान पर लिखा है- ''मिशन को बढ़ाने में माताजी ने हमारे बायें या दायें हाथ की तरह नहीं, हृदय की भूमिका निभाई है। उन्हीं की भावनाओं के संचार से मिशन पलता और बढ़ता रहा है। औरों की तरह हम भी उनका प्यार-दुलार पाकर धन्य हुए हैं अन्यथा इतने आघातों के चलते कौन जाने हम कब टूट-बिखर कर चकनाचूर हो गए होते।'' एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं- ''वह भावमयी हैं, प्यार तो जैसे उनके रोम-रोम में बसता है। उन्हें हमारी तरह बातें बनाना तो नहीं आता, पर ममत्व लुटाने में वह हमसे बहुत आगे हैं। भले ही हमारी तरह वह बौद्धिक चातुर्य की धनी न हों, किन्तु ममता की पूँजी उनके पास हमसे कई गुना अधिक है। इसी कारण हम उन्हें सजल श्रद्धा

कहते हैं। मिशन के प्रत्येक परिजन ने उन्हें इसी रूप में अनुभव किया है।''

इसी विश्वास के सहारे गुरुदेव ने सन् १९५० एवं १९६१ में लम्बे समय तक हिमालय में अज्ञातवास किया। उन्हें यह भरोसा था कि उनके चले जाने पर माताजी मिशन की साज-सँभाल कर लेंगी। किसी को उनका अभाव न खटकेगा। हुआ भी यही। परिजनों से मिलना, पत्रों के जवाब लिखना, लिखवाना, पत्रिकाओं को संपादित, प्रकाशित करना, इन सारे कामों को वह अकेले सँभालतीं रहीं। गुरुदेव के वापस लौटने पर सब कुछ पहले से अधिक अच्छा मिला। परिजन माताजी का गुणगान करते थकते न थे। कुछ ने तो यहाँ तक कह डाला- ''गुरुदेव तो मध्यान्ह के प्रचण्ड सूर्य हैं, उनकी ओर तो आँखें उठाकर देख पाना भी सम्भव नहीं है। माताजी चन्द्रमा की तरह शीतल हैं। भले वह सूर्य से ऊर्जा प्राप्त करती हों, पर उसकी सारी गर्मी अपने अन्दर पचाकर हम बच्चों को शीतल प्रकाश देती रहती हैं।''

इन सब बातों को सुनकर वह और प्रसन्न हुए । समय बीतता गया। इतने में हिमालय की ऋषिसत्ता ने अपना तीसरा बुलावा भेज दिया। इस बार तो वापस लौटने के आसार भी नजर न आ रहे थे। माताजी को मथुरा स्थाई रूप से छोड़कर शांतिकुंज में रहना था। उस समय शान्तिकुंज का इलाका निरा जंगल था। चलो शहर छोड़कर जंगल में बसने की बात सोची जा सकती थी, पर बच्चों का मोह छोड़ पाना किसी माँ के लिए कितना कठिन होता है, इसे तो माँ का मातृत्व ही समझ सकता है।

इस विकट स्थिति को गुरुदेव के शब्दों मे कहें तो- ''यह माताजी की अग्निपरीक्षा थी। बेटी शैल की शादी हुए अभी कुछ दिन ही हुए थे। मृत्युंजय के विवाह को भी अधिक समय न गुजरा था। उनके सभी सगे-सम्बन्धी भी मथुरा के आस-पास ही रहते हैं। वह इन सभी का, बेटे, बेटी, बहू का मोह इतनी आसानी से छोड़कर हरिद्वार के जंगल में बसने के लिए तैयार हो जाएँगी, इसका मुझे भी विश्वास न था। मैंने अपने मन के असमंजस को छुपाते हुए उनसे जब शान्तिकुंज में तप-साधना की बात कही, तो वह बिना एक पल की देर लगाए, तुरन्त तैयार हो गईं। हमें भी उनके इस साहस भरे समर्पण को देखकर आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता हुई।''

बात शान्तिकुंज में रहने तक सीमित न थी। इसके साथ बहुत-सी जिम्मेदारियाँ थीं। इसमें कठोर साधनात्मक प्रक्रियाएँ भी शामिल थीं। जिन्हें निभा लेना सरल न था, पर वह तो जैसे कठिन कार्य के लिए ही जन्मी थीं। गुरुदेव इसे बड़ी मार्मिक भाषा में अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं- ''कार्य-विभाजन में दूसरी जिम्मेदारी माताजी के ऊपर डाली गई है। यों वे रिश्ते में हमारी धर्म-पत्नी लगती हैं, पर वस्तुतः वे अन्य सभी की तरह हमें भी माता की भाँति दुलारती रही हैं। उनमें मातृत्व की इतनी उदात्त गरिमा भरी पड़ी है कि अपने वर्तमान परिवार को भरपूर स्नेह दे सकें। हमारा अभाव किसी आत्मीयजन को खटकने न पाए, स्नेह के अभाव में कोई पौधा कुम्हलाने न पाए, यह भार उन्हीं के कंधों पर डाल दिया गया है।''

''हमारे जाने के बाद वे हरिद्वार और ऋषिकेश के बीच सात ऋषियों की तपस्थली, जहाँ गंगा की सात धाराएँ प्रवाहित हुई हैं, अपने छोटे-से 'शान्तिकुंज' नामक आश्रम में निवास करेंगी। जिस प्रकार हमने २४ लक्ष के २४ महापुरश्चरण सम्पन्न किये थे, उसी प्रकार वे भी करेंगी। अखण्ड घृतदीप मथुरा से उन्हीं के पास चला जाएगा। अपनी तपश्चर्या की उपलब्धियों से वे लोगों के उस दुःख-कष्टनिवारण के क्रम को जारी रखेंगी, जिसे हम जीवन भर निबाहते रहे हैं। हमारे चले जाने पर कोई अपने को असहाय न समझे । अपने बाल-परिवार की साज-सँभाल करने के लिए हम माताजी को छोड़े जाते हैं। वे अपनी तपश्चर्या इसी प्रयोजन में लगातीं खर्च करतीं हमारी परम्परा को जीवित रखेंगी। (१) नव-निर्माण अभियान का प्रत्यक्ष मार्गदर्शन, (२) हमारी बौद्धिक एवं साधनात्मक उपलब्धियों से सर्वसाधारण को अवगत कराते रहने का माध्यम, (३) अखण्ड दीपक एवं गायत्री पुरश्चरण शृंखला को गतिशील रखकर कष्टपीड़ितों की सहायता, यह तीन काम माताजी के जिम्मे हैं।''

माताजी ने यह जिम्मेदारी किस तरह निभाई, यह तथ्य किसी से छुपा नहीं है। इस दायित्व को स्वीकारने-निभाने का क्रम गुरुदेव के हिमालय से वापस लौट आने के बाद भी चला व १९९० तक चलता चला गया। यह सारा लीला- संदोह शिव-शक्ति के समन्वय का हर अवतारी सत्ता के साथ रहा है, हमारी आराध्य सत्ता के साथ भी यही सब हुआ।

## ऋषियुग्म का समन्वित पुरुषार्थ ही हुआ फलितार्थ

अक्टूबर सन् १९५९ की 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका के पृष्ठ ४ पर एक लेख छपा था- 'अखण्ड-ज्योति के उत्तरदायित्वों में परिवर्तन।' लेखिका के स्थान पर लिखा था- 'भगवती देवी शर्मा धर्मपत्नी पं. श्रीराम शर्मा आचार्य'। लेख का शीर्षक पढ़कर सब चौंके कि अकस्मात यह परिवर्तन क्यों? संपादक के रूप में तो हम आचार्य श्री को ही जानते आए हैं- उन्होंने अपना नाम या दायित्व क्यों माताजी को सौंप दिया, क्या वे अब हमें पत्रों-पत्रिकाओं, स्थूल दर्शनों के माध्यम से नहीं मिलेंगे? तरह-तरह की जिज्ञासाएँ सभी के मन में थीं। वस्तुतः परमवंदनीया माताजी के कंधों पर जो जिम्मेदारी मात्र बत्तीस वर्ष की आयु में ही जिन विशिष्ट उद्देश्यों के लिए पूज्यवर ने डाली थी, वह गायत्री परिवार की जीवनयात्रा में एक नया मोड़ था। वे परख रहे थे कि उनकी जीवनसंगिनी शिष्या, समर्पित साधिका, उनकी आगामी हिमालयप्रवास की अवधि में जहाँ वे कठोर तप कर ऋषिसत्ताओं के सान्निध्य में प्रचण्ड ऊर्जा उत्पादन हेतु जा रहे थे, वेदों के अतिरिक्त पुराण, ब्राह्मण-उपनिषद्, आरण्यक सहित समग्र आर्षग्रन्थों के भाष्य का दायित्व भी पूरा करने को संकल्पित हो प्रस्थान कर रहे थे,

इस परिवार की अभिभाविका, संरक्षिका का दायित्व भी सँभाल सकेंगी या नहीं। कुल चौबीस माह की अवधि तक यह परीक्षाक्रम चला। पूज्यवर गुरुदेव वापस हिमालयप्रवास से लौटे। इस बीच दुर्गम हिमालय से जहाँ देवता-ऋषिगण श्रेष्ठ आत्माएँ सतत विश्व-कल्याण के निमित्त तप करती रहती हैं, हिमालय के हृदय यमुनोत्री से लेकर नंदादेवी के तप-पूत ऊर्जापुंज क्षेत्र से 'एक साधक की डायरी के कुछ पृष्ठ' भी लिख-लिखकर भेजते रहे जो 'अखण्ड-ज्योति' में छपे। अखण्ड दीप इस बीच जलता रहा व वंदनीया माताजी की परीक्षा लेता रहा। पूज्य गुरुदेव ने आते ही पुन: संपादनक्रम अक्टूबर, १९६१ से सँभाल लिया और साधकों के मार्गदर्शन के निमित्त पंचकोशी जागरण साधना से लेकर उनके द्वारा आराधना उपक्रम के अंतर्गत युगनिर्माण योजना एवं सत्संकल्प-रूपी घोषणापत्र द्वारा मिशन को एक नया मोड़ दिया।

सितम्बर, १९६१ के 'अखण्ड-ज्योति' अंक के अंतिम दो पृष्ठों ३८, ३९ पर बड़ी विनम्रतापूर्वक उन्होंने लिखा कि उनके दुर्बल कंधों ने गुरुदेव की अज्ञातवास की अवधि में जो जिम्मेदारियाँ सँभालीं, उनमें कई त्रुटियाँ रही होंगी, जिसके लिए वे क्षमाप्रार्थी हैं। उन्होंने लिखा- ''सदा की भाँति अब पूज्य आचार्य जी ही 'अखण्ड-ज्योति' का कार्यभार आगामी माह से स्वयं ही सँभालेंगे। यद्यपि पिछले अंकों में भी उनके ही विचार और भावनाओं की प्रतिध्वनि ही पत्रिका के पृष्ठों पर गूँजती रही है, पर आगे तो वे स्वयं ही हम सबका मार्गदर्शन करेंगे''.... अखण्ड ज्योति अब आत्म-विकास के व्यावहारिक मार्गदर्शन की पत्रिका रहेगी। दसवर्षीय एक शिक्षण-योजना पूज्य आचार्य जी ने बनाई है, उसी से साधनात्मक मार्गदर्शन अब चलेगा।

एक परीक्षा पूरी हुई। कितनी विधि-व्यवस्था पूर्ण सुनियोजित लीलापुरुषों का जीवनक्रम होता है- यह 'अखण्ड-ज्योति' के पिछले पृष्ठों को पलट कर देखा जा सकता है। ठीक दस वर्ष बाद पूज्यवर ने अज्ञातवास पर मथुरा से स्थायी रूप से विदाई लेकर परमवंदनीया माताजी के कंधों पर पूरे मिशन की जिम्मेदारी सौंपकर साधना-उपक्रम हेतु हिमालय प्रस्थान किया। दोनों ने जिसे कर्मभूमि बनाया था व अखण्ड-ज्योति संस्थान (घीयामण्डी मथुरा) तथा गायत्री तपोभूमि (वृन्दावन रोड, मथुरा) से क्रमश: साधना-लेखन एवं सत्र-संचालन, प्रचार-संगठन का कार्य बखूबी ३० वर्षों तक संपन्न किया था, उसे सदा के लिए छोड़कर पूज्यवर २० जून को चले गए। परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज सप्तसरोवर हरिद्वार में अखण्ड दीपक चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महापुरश्चरण करने वाली छह कुमारी कन्याएँ व तीन वरिष्ठ कार्य-कर्त्तागणों के साथ नीरव एकान्त में रहने का निर्देश दे गए। कैसा निष्ठुर-सा लगता है यह कदम, एक वैरागी संत का, जिसे जीवनभर औरों के हित स्वयं को तिल-तिल कर जलाया था, अगाध स्नेह लुटाकर एक विराट परिवार का अभिभावक कहलवाया था, किन्तु ऐसा लगता भर है। यह एक सुनियोजित कार्य स्थानांतरण की प्रक्रिया भर थी।

परमवंदनीया माताजी के विषय में अपने विदाई संदेश में 'अपनों से अपनी बात' के क्रम में मई, १९७१ के अंक में पूज्य गुरुदेव लिखते हैं- ''अभियान का दिशा-निर्धारण माताजी ठीक तरह करती रहेंगी। उन्हें हमारी तरह अधिक बातें करना नहीं आता, पर आत्मिक गुणों की दृष्टि से वे हमसे कुछ आगे ही हैं, पीछे नहीं। परिवार को प्यार और प्रकाश देने की जिम्मेदारी उन पर छोड़कर हम एक प्रकार से निश्चिन्त हैं। हमें रत्ती भर भी भय नहीं है कि आन्दोलन या संगठन हमारे जाने के पीछे लड़खड़ा जाएगा।''...''इस बालपरिवार की साज-सँभाल करने के लिए हम माताजी को छोड़ जाते हैं। वे अपनी तपश्चर्या इसी प्रयोजन में लगातीं-खर्च करतीं हमारी परम्परा को जीवित रखेंगी।'' कितना सुव्यवस्थित शक्ति हस्तांतरण! जबकि स्वयं वे प्रत्यक्ष सशरीर आगामी गायत्री जयंती के पूर्व वहीं शान्तिकुंज आकर रहने वाले थे, किन्तु उन्होंने स्वयं को पीछे कर लिया व प्रत्यक्ष भूमिका आमूलचूल परमवंदनीया माताजी को सौंप दी।

इसके पश्चात् पूज्यवर की सुनियोजित पाँच पंचवर्षीय योजनाएँ आरम्भ हुई जिनमें प्रारम्भिक चार में दोनों गुरुदेव व माताजी को तथा अन्तिम में मात्र परमवंदनीया माताजी को ही सक्रिय भूमिका निभानी थी। १९७१ में जब परम वंदनीया माताजी ने पत्रिका संपादन से शक्ति-उपार्जन, अनुदान-वितरण की महती जिम्मेदारी अपने कंधों पर ली तब यह १९५९ की तुलना में और भी अधिक कठिन कार्य था। नया स्थान, नन्हीं-नन्हीं कुमारी कन्याएँ जिन्हें साधना पथ पर प्रशस्त करना था तथा श्री बलराम सिंह परिहार सहित मात्र तीन कार्यकर्त्ता। शांत-साधना के लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थान, किन्तु मथुरा में आते-जाते रहने वाले आगन्तुक दर्शनार्थी यहाँ नहीं थे, पूज्यवर भी साथ नहीं थे। अत: यह और भी कड़ी परीक्षा की घड़ी थी।

'अपनों से अपनी बात' के क्रम को जारी रखते हुए जुलाई, १९७१ की 'अखण्ड-ज्योति' में 'पत्रिकाओं का सम्पादन और मैं' शीर्षक से वंदनीया माताजी लिखती हैं ''मेरे लिए मेरे गुरु, अवलम्बन और भगवान आचार्य जी ही हैं। उनकी आज्ञानुवर्तिनी और इच्छा-अनुगामिनी बनने के अतिरिक्त और कभी कुछ सोचा नहीं। सो मथुरा छोड़ने, हरिद्वार रहने, चौबीस लक्ष के उन जैसे चौबीस पुरश्चरण करने के आदेश शिरोधार्य करने के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकती थी-''संपादक की जगह पर कानूनी दृष्टि से किसका नाम छपता है, इसका कुछ मूल्य-महत्त्व नहीं, वस्तुत: स्थिति यही रहेगी कि भूतकाल की तरह भविष्य में भी गुरुदेव के विचार ही परिजनों को निरन्तर उपलब्ध होते रहेंगे। 'अखण्ड-ज्योति' शत-प्रतिशत उन्हीं की अभिव्यक्तियों से आगे भी उसी तरह परिपूर्ण रहेगी, जैसी अब तक रही है।'' कितनी सरलता व विनम्रता से दिया गया आश्वासन है पाठकों को? वह पूरी तरह निभा भी। पूज्यवर की प्राणचेतना का प्रवाह 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका के रूप में परिजनों तक पहुँचता रहा व क्रमश: उनके निर्धारणों को

जीवन में उतारने वाले पाठकों की संख्या बढ़ती चली गई। अपना पूर्व से चला आ रहा संकल्प उसने पूरी तरह निभाया, लागत मूल्य पर पत्रिका सभी को मिले तथा उसमें किसी प्रकार का विज्ञापन न प्रकाशित हो, यह आज भी निभ रहा है।

पूर्व में निर्दिष्ट पंचवर्षीय योजनाओं को जरा हम परिजनों के समक्ष खोल दें कि किस सुनियोजित ढंग से १९७१ के बाद २००१ तक के समय का पूज्यवर पूर्व से विभाजन कर गए थे। इससे महापुरुषों के लीलासंदोह को समझने का भी अवसर सभी को मिलेगा। १९७२ में जनवरी माह के उत्तरार्द्ध में कुछ समय के लिए माताजी की अंतर्वेदना को जो कार्य भाराधिक्य एवं अचानक आए हृदय के दौरे से उठी थी, सुनते हुए पूज्यवर दुर्गम हिमालय में जहाँ थे, वहीं से सीधे शान्तिकुंज आए। माताजी के लिए वह एक अलौकिक रोमांचकारी क्षण था। सारा कष्ट-संताप उनको देखते ही दूर हो गया। ठीक भी है, शक्तिस्वरूपा को हो भी क्या सकता था? इन पंक्तियों का लेखक जनवरी, १९७२ के उन क्षणों का साक्षी है, जब पूज्यवर ने अपनी सारी आगामी योजनाएँ हृदयाघात के कष्ट से उबर रहीं वंदनीया माताजी को समझायीं तथा जैसे आये थे, वैसे ही वे चले गए, गायत्री जयंती तक कभी भी आने का आश्वासन देकर। अप्रैल, १९७२ की 'अखण्ड-ज्योति' में 'गुरुदेव क्यों आए और क्यों चले गए?' शीर्षक से परम वंदनीया माताजी ने विस्तार से इन सभी घटनाक्रमों का, भावी योजनाओं-प्राण-प्रत्यावर्तन से लेकर अन्य सत्रों की भूमिका पर विवेचन प्रस्तुत किया है, जो कि सभी के लिए पठनीय है। १९७१ के बाद की प्रथम पंचवर्षीय योजना में पूज्यवर के अज्ञातवास के बाद-प्राण-प्रत्यावर्तन के, जीवन-साधना के, वानप्रस्थों आदि के महत्त्वपूर्ण शिक्षण सत्र ऋषिपरम्परा के बीजारोपण प्रक्रिया के अंतर्गत चलने थे। १९७५ तक यही क्रम चला। इस बीच पूज्यवर पहले विदेश प्रवास पर तंजानिया व केन्या की यात्रा पर पानी के जहाज से गए तथा डेढ़ माह बाद फरवरी, १९७३ में लौट आए। प्रवासी भारतीयों को भी लगा कि कोई हमारा अपना भी है, जो मीलों दूर से हमारी संस्कार परम्परा को पुनरुज्जीवित करने आया है। देव-संस्कृति का विश्व-संस्कृति में विस्तार का यह प्रारम्भिक चरण था, जो बाद में १९९१ से १९९४ में विराट रूप लेकर सारे विश्व भर में फैल गया 'समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान' नाम का ग्रन्थ इसी के बाद लिखा गया, जिसे संस्कृति-इतिहास का मील का पत्थर माना गया।

१९७६ तक वंदनीया माताजी की तपःपूत बालिकाएँ अनुष्ठान सम्पन्न कर नारी जागरण सत्रों का संचालन कर रही थीं। पूज्यवर का प्रत्यक्ष शिक्षण ले, एक नयी लहर 'नारी जागरण' की पूरे भारत में फैली व पाँच-पाँच देवकन्याओं के जत्थे प्रव्रज्या पर निकल पड़े। तीन-तीन माह के नारी जागरण सत्र शान्तिकुंज में चलने लगे। इसी बीच ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान की भी स्थापना हो गई। गंगा तट पर कणाद ऋषि की तपोभूमि में विनिर्मित इस शोध संस्थान में देश-विदेश से ढेरों शोधग्रन्थ एवं उपकरण जुटाए गए तथा वैज्ञानिक अध्यात्मवाद का ढाँचा खड़ा किया जाने लगा। युवा, सुशिक्षित, चिकित्सक व वैज्ञानिक आजीवन काम करने आ गए। तृतीय पंचवर्षीय योजना १९८० के पूर्वार्द्ध में आरम्भ हुई, जब पूज्यवर ने प्रज्ञापीठों, शक्तिपीठों, स्वाध्यायमण्डलों के निर्माण व संगठन को सुव्यवस्थित बनाने का निर्देश किया। देखते-देखते भव्य निर्माण होते चले गए व दो वर्ष तक पूज्यवर स्वयं प्रवास पर गए एवं अनेक शक्तिपीठों में प्राण-प्रतिष्ठा अपने हाथों सम्पन्न की।

१९८४ का आरम्भ ही चौथी पंचवर्षीय योजना में उनके द्वारा सूक्ष्मीकरण साधना से हुआ। तत्पश्चात् वसंत १९८६ से भारत भर में युगसंधि महापुरश्चरण साधना का तीव्र गति से संपादन, राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों व १०८ कुण्डी महायज्ञों का भारत भर में सम्पन्न होने के साथ दीपमहायज्ञों का प्रचलन घर-घर होना उत्तरार्द्ध की चौथी व अतिमहत्त्वपूर्ण योजना का अंग था। अन्तिम ६ माह में पूज्यवर ने महाकाल की प्रेरणा से क्रान्तिधर्मी साहित्य विरचित कर इक्कीसवीं सदी के उज्ज्वल भविष्य के रूप में परिष्कृत प्रतिभा द्वारा लाए जाने की घोषणा की। उन्होंने २ जून, १९९० (गायत्री जयंती) को महाप्रयाण के साथ ही सारी शक्ति परमवंदनीया माताजी को सौंप कर सूक्ष्म में स्वयं को विलीन कर मिशन को प्रचण्ड शक्तिसम्पन्न बना दिया।

पूज्यवर के श्रद्धांजलि स्वरूप आयोजित ४ अगस्त, १९९० के आगाखाँ आडिटोरियम नयी दिल्ली के कार्यक्रम तथा विराट श्रद्धांजलि समारोह (१, २, ३, ४ अक्टूबर, ९०) से ही पाँचवीं पंचवर्षीय योजना आरम्भ हुई, जिसका संचालन परमवंदनीया माताजी को प्रत्यक्ष १९ सितम्बर १९९४ तक करना था। शक्तिसाधना समारोहों, संस्कार-महोत्सवों, रजवंदन समारोहों, विराट शपथ समारोह तथा देव-संस्कृति दिग्विजय अभियान के निमित्त सम्पन्न १५ भारत में तथा ३ विदेश के अश्वमेध महायज्ञों द्वारा मिशन की गति सौ गुनी बढ़कर मिशन के पक्षधरों की संख्या साढ़े पाँच करोड़ से अधिक जा पहुँची। निश्चित ही इन १८ आयोजनों तक की जिम्मेदारी प्रत्यक्ष रूप से परमवंदनीया माताजी ने ली थी। बुलावा आते ही उन्होंने अपनी चेतना को समेटा व सूक्ष्मीकृत हो अपने इष्ट के साथ जा मिलीं। समय भी चुनकर महालय श्राद्धारम्भ का निर्धारित किया, जो भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर का था व ११.५० घड़ी में बजे थे। महाप्रयाण से पूर्व ही वे अगली दो पंचवर्षीय योजनाओं के क्रम में, १९९० और अश्वमेधी पराक्रम आगामी २००० तक पूरे विश्व में सम्पन्न किए जाने का निर्देश दे गयी थीं।

## इस विराट गायत्री परिवार का पौधा रोपा गया था, गृहस्थी रूपी तपोवन में

अगर आपस की समझदारी हो, तो घर-परिवार का हर दिन खुशियों का त्योहार बन जाता है। माताजी का सारा जीवन इस समझदारी को अपनाने-सिखाने में बीतता रहा। पूज्य गुरुदेव के साथ में गुरुदेव के तीन बड़े

भाइयों की पत्नियाँ और बच्चों का समूह, कुल मिलाकर बड़ा कुटुम्ब था। इतने बड़े परिवार का संचालन-सूत्र गुरुदेव की माँ के हाथों में था। जिन्हें सब 'ताईजी' कहते थे। उनका ऊँचा कद, गौर वर्ण, तेज आवाज और विशाल पुष्ट शरीर स्वयं अपनी शान और दबाव रखता। देखते ही सब प्रभावित हो जाते। अंत:करण से अतीव कोमल होते हुए भी ताईजी स्वभाव से प्रशासक थीं। समूची जमींदारी के क्रिया-कलाप उन्हीं के मार्गदर्शन में चलते थे। लड़कों, बहुओं और परिवार के सदस्यों पर उनका रोब था।

इस घर का पहला दिन, उनके लिए बड़े परिवर्तन का दिन था। मायके की परिस्थितियाँ ससुराल से बिलकुल अलग थीं। माँ का साया बचपन में ही उठ जाने के कारण पिता जसवंतराय ने बड़े लाड़-दुलार से उन्हें पाला था। घर में छोटी होने की वजह से भाई-बहिनों की प्रीतिवर्षा कुछ कम न थी। ससुराल में जाकर किसके साथ कैसा व्यवहार करना है? परिवार में कौन समस्या कब उठ खड़ी हो, उसके कब किस तरह से क्या समाधान खोजने हैं? आदि शिक्षाएँ उन्हें न मिल पायी थीं। माँ के अभाव में इन छोटी-छोटी लेकिन बेहद जरूरी बातों को सिखाता भी कौन? ससुराल में सबसे छोटे होने का एक ही मतलब होता है- कर्त्तव्यों की भरमार, किन्तु अधिकारों का अभाव।

पारिवारिक जीवन की इस शुरुआत के साथ ही उनके सामने कुछ अन्य कसौटियाँ भी थीं। जिन पर उनके व्यक्तित्व को अनेकों रगड़ खाकर अपना खरापन साबित करना था। इन्हीं में से एक थे। गुरुदेव के पहले विवाह की संतानें, भाई ओमप्रकाश और बहिन दया। उन दिनों ये दोनों भोले-भाले अबोध बालक थे। माँ का स्नेहछत्र बचपन से ही हट जाने के कारण इन दोनों के मन प्यार के भूखे थे। ऐसा प्यार जो कभी न चुकने वाला हो। गुरुजी की अपनी सामाजिक व्यस्तताएँ थीं। स्वतंत्रता आंदोलन का जोर-शोर, समाज-सुधार की बढ़ती प्रवृत्तियाँ, साधना के नित नए आयामों का विकास । ऐसे में वे अपने बच्चों से प्यार भले ही कितना करते रहे हों, पर सान्निध्य-सामीप्य के अवसर तो दुर्लभ ही थे।

बालमन भला व्यस्तता की बेबसी को कहाँ समझता है। उसे तो आदत होती है बार-बार रूठने की। हर बार रूठकर वह यही सोचता रहता है, उसे कोई मनाए, प्यार-दुलार करता रहे। उनकी इस चाहत को यद्यपि ताईजी अपने ढंग से पूरा करती रहती थीं। फिर भी उन दोनों के मन में माँ का प्यार पाने की ललक थी- कसक थी। लेकिन इसके साथ ही बालमन में उठने वाले संदेह भी थे, बचकाना जिदें भी थीं। माँ का ममत्व ही जिनका समाधान था।

पारिवास्कि जीवन में प्रवेश के साथ ही माताजी को यह चुनौती स्वीकार करनी पड़ी। इसके साथ कुछ ऐसे अड़ोसी-पड़ोसी भी थे, जिनके बारे में गोस्वामी तुलसी दास की भाषा में कहें तो ''जे बिनु काज दाहिने बायें'' अर्थात् जो अकारण टीका-टिप्पणी करते रहते हैं। ऐसों की टिप्पणियाँ बड़ी मर्माहत करने वाली थीं। इन टिप्पणियों की शुरुआत उसी समय से हो गई, जिस क्षण माताजी बहू बनकर डोली से उतरीं। एक पड़ोसन बोली- अरे ये तो ऊँट बकरी की जोड़ी है। दूसरी का स्वर था भाई साँवली तो बहुत है, उसके चेहरे पर माता के दाग भी हैं। ऐसे न जाने कितने स्वरों को शान्त करते हुए माताजी की जिठानी (शीलवती जीजी की माँ) बोलीं- ''हमारे घर की बहू भगवती है, किसी दिन इसके पैर छुओगी।'' इन शब्दों के साथ ही वह इन्हें घर ले गईं।

घर पहुँचकर सबसे एक-एक करके परिचय हुआ। उनका भी, जो माँ के ममत्व के लिए प्यासे थे। माताजी के प्रथम दर्शन को बताते हुए भाई ओमप्रकाश की यादें बहुत जीवन्त हैं। उन्हीं के शब्दों में- ''माताजी उस समय सुनहरे काम की गुलाबी साड़ी पहने थीं। मस्तक पर टीका, नाक में नथ और गले में हार पहने थीं। हाथों में सोने के कंगन, पैरों में पाजेब, बिछवे और गहरे लाल रंग की चप्पल पहने थीं। एक बदामी रंग की चद्दर ओढ़े थीं। गाँव की परम्परा के अनुसार घूँघट निकाले हुए थीं।

हम दोनों (ओमप्रकाश एवं दया) एक-एक कर चुपके से जाते और इधर-उधर दूर-दूर चक्कर लगाकर लौट आते। मुसकराकर कहते ये तो बड़ी पतली हैं, छोटी हैं, थोड़ी-थोड़ी साँवली हैं। दया कहती- इनके हाथ कितने छोटे हैं, मुँह तो गोल है। दया जो फ्राक पहने थी हिम्मत करके पास खड़ी हो गई। माताजी ने हाथ पकड़ कर अपने पास बिठा लिया। मेरे मन ने भी जोर मारा, मैं भी उनके पास खड़ा हो गया। पास में खड़ी ताईजी तेज आवाज में बोलीं- देख क्या रहा है, पैर छू। मैंने पैर छू लिए। उन्होंने प्रेम से हाथ पकड़ा और पास बिठाते हुए बोलीं, तुम्हारा नाम क्या है? कौन-सी क्लास में पढ़ते हो। मैंने कहा- मेरा नाम ओमप्रकाश है, कक्षा ५ में पढ़ता हूँ।''

यही था ममत्व के प्यासे दो बालकों का अपनी दूसरी माँ से प्रथम परिचय। माँ और बच्चों के पारस्परिक सम्बन्ध सगे और सौतेलेपन की रेखा से विभाजित नहीं किए जा सकते। सामाजिक मान्यताओं की ऊपरी सतह से हटकर गहराइयों में भावनाओं की वत्सलता में इनका पोषण होता है। यहाँ वही था, जिसे माँ ने अनुभव किया, बेटे अनुभव कर रहे हैं।

पहले ही दिन से माताजी ने अपने स्वजनों को जो अपनत्व-आत्मीयता दी, उसे पाकर सबके सब उनके प्रशंसक होते चले गए। शीलवती जीजी (माताजी की भतीजी) उन स्नेह-स्मृतियों को समेटते-बटोरते कहती हैं, चाची की तत्परता देखते ही बनती थी। घर बड़ा था। बच्चों से लेकर बड़ों तक सब की अलग-अलग रुचियाँ, फर्माइशें थीं। सबके स्वभाव के अनुरूप अपने को ढाल लेना कुछ सरल न था, पर चाची को इसमें जैसे महारत हासिल थी। हर कोई यही समझता है कि वह उसी का सबसे ज्यादा ध्यान रखती हैं। ताईजी तो जैसे उन्हीं पर निर्भर हो गयीं। हर काम के पहले यही कहतीं छोटी बहू से पूछ ले।

सास-बहू के रिश्ते में इतनी मधुरता शायद ही कहीं अन्यत्र मिले।

आँवलखेड़ा में माताजी का निवास अधिक दिनों नहीं रह सका। देश स्वतंत्र होने की ओर अग्रसर था। गुरुदेव की गतिविधियाँ राष्ट्रमुक्ति की ओर से हटकर समाजमुक्ति की ओर मुड़ने लगीं। कुरीतियों, कुप्रथाओं, मूढ़मान्यताओं से जकड़े-बँधे समाज को मुक्त करने के लिए उनका रोम-रोम दीवाना हो रहा था। उन्होंने अपने अभियान की प्रथम केन्द्रस्थली मथुरा को चुना। स्वभावत: इसका असर उनके पारिवारिक जीवन पर भी आया। माताजी भाई ओमप्रकाश एवं बहिन दया को लेकर गुरुदेव के साथ मथुरा आ गईं।

मथुरा में आरम्भ किया गया पारिवारिक जीवन आँवलखेड़ा की तरह सुविधाओं से भरा-पूरा न था। यहाँ जमींदारी की सम्पन्नता न थी। यद्यपि यह गरीबी स्वत: की ओढ़ी हुई थी, फिर भी गरीबी तो गरीबी ही है। इस स्वत: अपनाई गई गरीबी में भी उन सारे अभावों का अनुभव मौजूद था, जो किसी गरीब के जीवन में होता है। हाँ ऋषिकल्प मन:स्थिति ने विपन्नता को कभी पास न फटकने दिया।

मथुरा के जीवनकाल में ही स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद माताजी की अपनी कोख से भी दो संतानें आईं, भाई मृत्युंजय (१९४९) और बहिन शैलबाला (१९५३)। इस तरह कुल मिलाकर छह लोगों का परिवार हो गया। गुरुदेव का अधिकांश जीवन तप-साधना, सामाजिक क्रिया-कलापों एवं अध्ययन-लेखन में बीतता रहता। अपने व्यस्त जीवन में शायद ही कुछ क्षण वह परिवार को दे पाते हों। कुल मिलाकर परिवार का संचालन भार माताजी पर ही था। पिता का प्यार और माँ का दुलार दोनों उन्हें ही जुटाने पड़ते थे।

गुरुदेव और माताजी के दाम्पत्य जीवन की तुलना यदि कहीं की जा सकती है, तो शिव-पार्वती से। नितान्त विरक्त, भगवान शिव तो प्राय: तपोलीन, समाधि निमग्न ही रहते हैं। माँ पार्वती को ही गणेश, कार्तिकेय के साथ अन्य गणों की भी सार-सँभाल करनी पड़ती है। यहाँ भी कुछ वैसा ही था। परेशानियाँ कम नहीं आयीं, अभावजन्य मुसीबतें कम नहीं उठानी पड़ीं, पर उन्होंने अपनी कठिनाइयों, मुसीबतों का रोना रोकर कभी गुरुदेव को तप से विरत करने की चेष्टा नहीं की। अभाव के इस दौर में कुछ क्षण ऐसे भी आए जब माँ का ममत्व छटपटा उठा। ऐसी ही एक घटना उस दिन हुई जब उनकी छोटी लड़की बहिन शैल को रास्ते में एक रुपये का सिक्का पड़ा मिला। एक रुपये के इस सिक्के को देखकर उनका बचपन, खिलौनों के लिए मचल उठा। उन्होंने सोचा आखिर पड़े सिक्के को उठा लेना कोई चोरी तो नहीं है। फिर क्या उन्होंने दुकान जाकर गुब्बारे, खिलौने खरीदे और प्रसन्न मन घर पहुँचीं।

घर पहुँचने पर माताजी की पहली नजर उनके हाथों में थमे गुब्बारों और खिलौनों पर पड़ी। घटना का विवरण पूछने पर उन्होंने सत्य बता दिया। सब कुछ सुनकर एक बार तो उनका मातृहृदय तड़प उठा। यदि हम खिलौने दे सकते तो बच्चे के मन में लालच क्यों आता, परन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने स्वयं को संयत करते हुए कहा- "देखो बेटी! इन सब चीजों को दुकान पर वापस कर आओ और पैसे को किसी मन्दिर में डाल दो।" "आखिर क्यों?" ६-७ साल की बालिका ने आश्चर्य से पूछा- "मैंने तो कोई चोरी नहीं की, पैसे तो पड़े मिले थे।" "पड़े मिले तो क्या हुआ, बिना मेहनत का पैसा चोरी का ही है।" बात समझ में आ गई, गुब्बारे खिलौने वापस किए गए। पैसा पास के मन्दिर में चढ़ा दिया गया।

ऐसे एक नहीं, अनेक घटनाप्रसंग उनके पारिवारिक जीवन में आते रहे, पर सभी विपरीतताएँ उनके मन को कमजोर करने की जगह मजबूत बनाती रहीं। 'अखण्ड-ज्योति' प्रकाशन के साथ ही छह लोगों का छोटा-सा परिवार बड़े गायत्री परिवार का रूप ले रहा था। इसी के अनुरूप लोगों का आना-जाना बढ़ रहा था। इसी बीच गुरुदेव के साधनात्मक प्रयास भी तीव्र होते जा रहे थे। दो हिमालय यात्राएँ भी मथुरा के जीवनकाल में ही हुईं।

गुरुदेव की हिमालय-यात्राओं के दौरान-उन्होंने पत्रिकाओं के प्रकाशन, गायत्री तपोभूमि की देख-रेख का काम भी खूबसूरती से सँभाला। पत्र-लेखन और कार्यालय के काम-काज के साथ उन्होंने बच्चों को किसी बात की कमी खटकने नहीं दी और न ही गुरुदेव को अनुभव होने दिया कि उनका कार्यविस्तार उनके एकान्तवास के कारण मंद पड़ जाएगा और न ही गायत्री परिवार के सदस्यों को इस बात का अहसास होने दिया कि उनके संरक्षण दाता उनके बीच नहीं हैं।

माताजी के पास इन दिनों की लड़कियों, महिलाओं की तरह भारी-भरकम डिग्रियाँ तो नहीं थीं, पर वह सूझ-समझ अवश्य थी, जिससे उन्होंने अपने परिवार को नन्दन कानन की तरह नित्य प्रफुल्लित बनाए रखा। शान्तिकुंज के निवासकाल में उन्होंने बाहर से आए हुए एक कार्यकर्ता को समझाते हुए कहा था- "बेटा! घर-परिवार झंझट-बोझ नहीं है। बोझ मानकर इसे छोड़ देने से कोई साधक नहीं बना करता। हमने भी साधना की है, पर अपने घर को तपोवन बनाकर। गृहस्थ जीवन में आने वाली तकलीफें, परेशानियाँ साधनात्मक जीवन की कठोर तप-तितिक्षा ही हैं, जिसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकारने पर व्यक्तित्व कुंदन की तरह चमक उठता है। फिर हमने तो परिवार को छोड़कर भागने, उसे घटाने की जगह बढ़ाया है। पहले हमारे परिवार में सात लोग थे। ताई, ओमप्रकाश, दया, सतीश (मृत्युंजय) और शैल, मैं और गुरुजी। फिर हुआ 'अखण्ड-ज्योति' परिवार, इसमें १०-२० हजार लोग रहे होंगे। अब तो हो गया है, गायत्री परिवार, जिसकी संख्या लाखों को पार कर करोड़ों में पहुँच रही है।

इस सबके पीछे उदारता और सहिष्णुता की भावना रही है। भावना हृदय की आन्तरिक वस्तु है। यदि हम झूठे

भाव से अपने पारिवारिक सदस्यों के बीच अपनत्व, उदारता और त्याग का भाव प्रदर्शन करना चाहेंगे, तो कभी न कभी कलई खुल ही जाएगी। कलई खुलने पर परिवार के सदस्यों का दृष्टिकोण हमारे प्रति गलत हो जाएगा। यदि भावना सच्ची है, तो जिनका दृष्टिकोण अपने प्रति गलत भी है, तो उसमें भी देर-सबेर सुधार आ ही जाएगा, हमने यही किया है। हम चाहते हैं, अपने मिशन का हर परिवार हमारी ही तरह अपने परिवार को नंदन-कानन बना ले। जिसमें रोज खुशियों के फूल खिल सकें।

# वंदनीया माताजी द्वारा वर्णित आराध्य की जीवन-गीता

**तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।**
**श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं, भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जना:॥**

परमपूज्य गुरुदेव की चर्चा करते-करते वन्दनीया माताजी श्रीमद्‌भागवत के इस श्लोक को भाव भरे स्वरों में अकसर दुहराने लगती थीं। पूज्य गुरुदेव के महाप्रयाण के बाद उनका समूचा जीवन अपने आराध्य का कथामृत बन गया था। रोजमर्रा के जीवनक्रम में निजी जीवन के अनेकों घटनाप्रसंगों के माध्यम से गुरुदेव के भाव, विचारों, उद्देश्यों को समझाया-बताया करतीं। एक दिन शिष्यों-बालकों को समझाते हुए कहने लगीं- बेटा! गीता की सही व्याख्या जानते हो कहाँ मिल सकती है? सुनने वाले कौतूहल और जिज्ञासा से उनकी ओर देख रहे थे। उनमें से कई ऐसे भी थे, जिन्होंने गीता की अनेकों टीकाएँ, अनगिनत भाष्य समालोचनाएँ पढ़ रखी थीं। शंकराचार्य, मधुसूदन, सरस्वती, रामानुज, मध्व न जाने किस-किस को पढ़ा था, पर सही-गलत का निर्णय नहीं हो सका। जब जिसको पढ़ा वही सही लगने लगा।

अद्‌भुत तर्क और अलौकिक व्याख्याएँ, माताजी आज इनमें से सही व्याख्या बताने वाली हैं। सुनने वालों का ऊहापोह अधिक देर तक नहीं चला। उनके मुख से समाधान के स्वर निकले, बोलीं गीता की सही व्याख्या सिर्फ कृष्ण के जीवन में मिल सकती है। जेल की काल-कोठरी में पैदा होने वाले कृष्ण का जीवन हर पल आपदाओं-विपदाओं से घिरा रहा। अघासुर, बकासुर, पूतना के ढेरों आघातों को सहते हुए भी उनकी प्रसन्नता यथावत रही । किसी ने कभी उन्हें निराश, हताश नहीं पाया। जिनके इशारे मात्र से युधिष्ठिर चक्रवर्ती सम्राट बन गए, वह स्वयं राजसूय यज्ञ में झूठी पत्तलें उठाने का, अतिथियों के पैर धोने का काम प्रसन्नतापूर्वक करते रहे। कुबड़ी, कुरूप स्त्री कुब्जा, गँवार गोप-गोपी उनके प्रेम से तृप्त हो गए। जहाँ कहीं पीड़ा देखी, पतन देखा अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए उतावले हो उठे। सब कुछ करके भी सर्वथा निस्पृह, पूरी तरह स्थितप्रज्ञ।

कहते-कहते माताजी की बातों का रुख बदला, कहने लगीं- गुरुदेव के चिन्तन-दर्शन का सही मर्म उनके जीवन में छिपा हुआ है। उन्होंने जो कहा उसे पूरी तरह किया। बेटा ! वह सिर्फ लेखक या कवि नहीं थे। वह ऋषि थे। क्रान्तदर्शी ऋषि। साहित्यकार और ऋषि में बड़ा फर्क होता है, इसका स्मरण रखना। तुमने कभी देखा, किसी की कविता पढ़कर मन डाँवाडोल हो जाता है। डोल-डोल उठता है, लेकिन उस कवि से मिलने जाओ तो बड़ी बेचैनी होती है। वह कोई साधारण आदमी से भी गया-बीता आदमी मालूम होता है।

यही तो कवि और ऋषि का फर्क है। कवि छलाँग लगाता है, एक क्षण आकाश में उठ जाता है, फिर जमीन का गुरुत्वाकर्षण खींच लेता है, फिर जमीन पर गिर जाता है। ज्यादा उचके-कूदे खाई-खड्ड में गिर जाते हैं। समतल जमीन तक खो जाती है। तो निरा साहित्यकार अक्सर ऐसी दशा में होता है- लँगड़ा-लूला, हाथ-पाँव तोड़े अपंग। उसकी कविताओं में तो हो सकता है। परमात्मा की बात हो और मुँह सूँघो तो शराब की बास आए। उसके गीत तो ऐसे हो सकते हैं कि उपनिषदों को मात करें और उसका जीवन ऐसा फीका हो सकता है, जहाँ कभी कोई फूल खिले, इसका भरोसा ही न आए।

ऋषि और कवि में यही अन्तर है। ऋषि जो कहता है, वही उसका जीवन है। सच तो यह है, कवि का जो जीवन नहीं है, उससे ज्यादा वह कह देता है और ऋषि का जो जीवन है, उससे यह हमेशा कम कह पाता है।

गुरुजी ऋषि थे और मैं तो कहूँगी कि ऋषि से कुछ और अधिक थे। अपने छोटे से जीवन में उन्होंने बड़े-बड़े प्रयोग किए। इनमें जो निष्कर्ष निकला, उसे सरल-सीधी भाषा में कह डाला। उनके जीवन के विविध घटनाप्रसंगों का चिन्तन-मनन करने से लोगों को पता चलेगा कि बाहर से सामान्य जीवनक्रम को स्वीकार करते हुए असामान्य-असाधारण कैसे बना जा सकता है। गीता में कृष्ण इसीलिए तो दसवें अध्याय में कह गये हैं

**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥**

यानी कि जो मेरे जीवन को बारीकी से जानते हैं, उन्हें मैं बुद्धियोग देता हूँ अर्थात् उनकी बुद्धि निष्कल्मष हो जाती है। यही बात योगदर्शन लिखने वाले महर्षि पतंजलि ने कही है कि **वीतरागविषयं वा चित्तम्** ॥१/३७॥ अर्थात् ऐसे वीतराग भापियों के जीवन का हृदय से चिन्तन करने पर व्यक्ति का अन्त:करण प्रकाशित होता है।

उनके जीवन की चर्चा का मतलब व्यक्तिपूजा नहीं है। वह तो व्यक्ति और व्यक्तित्व के सँकरे दायरे से अपने जीवनकाल में ही बहुत ऊपर उठ गए थे। मैं तो जब उनके जीवन की चर्चा करती हूँ, तो मेरा मतलब एक जीती-जागती प्रयोगशाला में किए गए छोटे-बड़े प्रयोगों से होता है, जिसे दुहराकर कोई इनसान धन्य हो सकता है। मुझे उनके नजदीक रहने का अवसर मिला। उन्हें देखा, उन्हें पाया, उनमें जो सकी यह मेरा सौभाग्य । यह सौभाग्य पत्नी होने के कारण मिला, ऐसी बात नहीं। मैं उनकी पत्नी के

रूप में कम-शिष्या बनकर अधिक रही हूँ। तुम लोग भी उनके शिष्य हो, उनके बच्चे हो, चाहो तो वह सब कुछ कर सकते हो, पा सकते हो जो मैंने पाया।

अब अध्यात्म के बारे में ही लो। कितनी भ्रामक मान्यताओं, भ्रम-जंजालों में छिपी पड़ी थी यह विद्या। लोगों ने इसे विज्ञान कम इन्द्रजाल का खिलौना ज्यादा समझ रखा था। यह भी मान्यता जनमानस में घर कर गयी थी कि आध्यात्मिक होने के लिए तो घर-परिवार छोड़ना ही पड़ता है। यह स्थिति उन्हें सदा अखरी और उन्होंने अध्यात्म-प्रेमियों को यही समझाया कि आज घर को ही तपोवन बनाने की आवश्यकता है और यदि वह ठीक ढंग से किया जा सके, तो आत्म-कल्याण के सारे प्रयोजन घर में ही पूरे हो सकते हैं। अपने इस कथन को उन्होंने चरितार्थ करके भी दिखाया और एक ऐसे सद्गृहस्थ का स्वरूप प्रस्तुत किया, जिस पर हजार गृहत्यागियों को न्योछावर किया जा सकता है। उन्होंने अपने महान जीवन की सुगन्धि से अपने छोटे परिवार को इस प्रकार सुगन्धित किया, देखने वालों के मुख से यही निकलता रहा- **"धन्यो गृहस्थाश्रमः।"** ऐसा गृहस्थ सचमुच ही धन्य है, जिसमें महानता के समस्त आधार ओत-प्रोत हो रहे हैं। अपने बालकों से उन्हें सन्तोष न होता था, जितने अपने उतने ही उन दूसरों के, जिनके पास बालकों के समुचित विकास की व्यवस्था न थी। अपने और पराये का अन्तर मिटाने के लिए उन्होंने सदा बाहर के बच्चों को अपने परिवार से सम्मिलित किए रहने की आवश्यकता समझी और इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा कि अपने और पराये के बीच स्नेह से लेकर लालन-पालन तक में किसी प्रकार का भेद-भाव तो उत्पन्न नहीं हो रहा है। व्यस्त कार्यक्रम से छूटकर जब भी वे अवसर पाते, बालकों के साथ खेलने-खिलाने में, हँसने-हँसाने में ऐसे तन्मय हो जाते मानो वे मात्र बालक ही हों। बड़ी आयु में बचपन का आनन्द लेने के इन क्षणों को वे सर्वोत्तम मनोरंजन मानते थे और कहते थे: अभागे लोग घर में इतने उत्कृष्ट स्तर का मनोरंजन साधन होते हुए भी बालकों को छोड़ जाने कहाँ क्लबों, शराबघरों की गन्दी दुर्गन्ध सूँघने चले जाते हैं।

इस शिक्षा को अपने परिवार के प्रत्येक व्यक्ति ने पाया है। घर की पाठशाला में जीवन-व्यवस्था के अनेक गुण जिन बालकों ने सीखे हैं, आशा की जानी चाहिए वे भी अपनी गृहस्थी ऐसे ही आनन्दमय बनाकर शान्ति से जिएँगे और साथियों को सन्तोषपूर्वक जीने देंगे।

परिवार का खर्च, व्यवस्था, सुझाव के बारे में घर के हर सदस्य का परामर्श लिया जाता और आवश्यकता तथा कठिनाइयों को हर एक से पूछा जाता। जितना निराकरण सम्भव था किया जाता, जो बात आर्थिक सीमा-मर्यादा के कारण सम्भव न थी, उसे वस्तुस्थिति समझा दी जाती। यही कारण था स्वल्प-साधनों में निर्वाह करने पर हममें से कभी किसी को असन्तोष नहीं हुआ, वरन् गरीबी को एक वरदान समझते रहे। जिसने गरीब देशवासियों के स्तर पर रहने तथा उस बचत का लाभ समाज को देने की प्रेरणा दी और अनेक दोष-दुर्व्यसनों से बचा दिया। कठोर परिश्रम, सादगी, प्रफुल्लता और व्यवस्था का सरल जीवन भी कितना सन्तोषजनक होता है, उसका मर्म यदि लोग समझ पाएँ, तो अधिक उपार्जन और उपभोग के कुचक्र में फँसे हुए लोग सादगी का मितव्ययी जीवन जीते हुए बहुत कुछ कर सकते हैं। फिजूलखर्ची और आरामतलबी की बुरी आदत वालों के लिए वह आनन्द और अवसर कभी मिल ही नहीं सकता, जो हम लोगों ने स्वल्प-साधनों में उत्कृष्ट दृष्टिकोण का समावेश करके निरन्तर उपलब्ध किया।

दुराव और संकोच का नाम नहीं। आयु और योग्यता के अन्तर की बात भूलकर हम लोग जब साथ-साथ हँसते, बातें करते, खेलते और खाते तो लगता कि स्वर्ग सिमट कर हम लोगों की इस कुटिया में एकत्रित हो गया। परस्पर स्नेह और विश्वास की इतनी सघनता कि एक- दूसरे को देखकर जिए। वातावरण में इतनी पवित्रता कि दुर्भाव एवं अचिन्त्य चिन्तन के लिए कोई गुंजाइश ही न रहे। परस्पर सहानुभूति और सहिष्णुता की इतनी सघनता कि एक के कष्ट को दूसरा अपने कष्ट से बढ़कर समझे।

इस आत्मीयता में दिखावट या किसी स्वार्थपरता की गन्ध भी न थी। विशुद्ध ममत्व, सरल और निश्छल व्यावहारिकता, खुली वास्तविकता का सम्पर्क में आने वालों पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे इस सरलता और महानता के अद्भुत समन्वय को देखकर दंग रह गए। जो एक बार सम्पर्क में आया, सदा के लिए अपना होकर रहा। गुरुजी की वाणी, विद्या, तपस्या का जो भी प्रभाव रहा हो, उसका मतलब लगाना दूसरों का काम है। पर मैं अपने अनुभव से कह सकती हैं कि खुली पुस्तक जैसे हम लोगों के सरल और स्नेहसिक्त जीवनक्रम की जो छाप सम्पर्क में आने वालों पर पड़ी है, उसकी पकड़ ने इस विशाल परिवार को स्नेह-सूत्र में बाँधने और इतना बड़ा संगठन खड़ा कर देने में कम योगदान नहीं दिया है।

आदमी प्रतिभा से ही प्रभावित नहीं होता। सज्जनता और सच्चाई इतनी बड़ी प्रभावशाली है कि पराये को अपना बनाने में उसे सार्थक माना जा सके। आचार्य जी के मार्गदर्शन और प्रतिपादन से जितना प्रकाश लोगों ने ग्रहण किया है उससे लाख गुना अधिक उनके देवोपम व्यक्तित्व और रहन-सहन से प्रभावित हुए हैं। कई लोग विचारों से मतभेद रखते हैं। कुछ उनकी उपासना-पद्धति से सहमत नहीं होते। फिर भी वे उनके जीवन से इस कदर प्रभावित रहते हैं कि मतभेद की बात प्रगाढ़ आत्मीयता के आदान-प्रदान से एक प्रकार से विस्मरण ही हो जाती है और बहस करने का प्रयोजन सामने लेकर आने वाले भी उनकी आत्मीयता की सघनता में इतने विभोर हो जाते थे कि बहस के लिए किसी का मुँह ही नहीं खुलता था। इस

प्रकार अपने उन महान गुणों के कारण वे अजातशत्रु और लोकजयी बन सके, जो गुण उन्होंने परिवार की प्रयोगशाला में विकसित किए थे। दूसरे शब्दों में, इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि इस प्रयोग-साधना ने विशाल युग-निर्माण परिवार के निर्माण का पथ प्रशस्त किया। उनके बारे में जितना कहा जाए, कम ही होगा। नजदीक से जानने के कारण मैं तो यही कहूँगी कि उनकी जीवनकथा पारसमणि है, जिसका स्पर्श पाकर किसी का भी जीवन सोने जैसा खरा हो सकता है।

## आत्मीयता, ममता, करुणा-यही थी उनकी उपासना

कहते हैं- भगवान वामन ने तीन कदमों में सारी दुनिया नाप ली थी। हम-आपको भी यदि वंदनीया माताजी के व्यक्तित्व की गहराइयाँ तीन अक्षरों से नापनी हों, तो वे तीन अक्षर होंगे 'करुणा'। यही उनका स्वभाव था। किसी के भी दुःख-कष्ट को देखकर वह विकल हुए बिना नहीं रह सकती थीं। उनकी उफनती भावना का विस्तार मनुष्यों तक ही सीमित नहीं था। वह कहा करतीं-"अपने आप को सिर्फ मनुष्य जाति का सदस्य मानने की बात संकुचित दृष्टिकोण की उपज है। यदि दृष्टिकोण का विस्तार हो सके, तो लगेगा कि अन्य जीवधारी भी अपनी विचित्रताओं, भिन्नताओं और विशेषताओं के कारण भगवान की इस दुनिया में खास स्थान रखते हैं। सभी प्राणी समान हैं, भले आकार में वह छोटे-बड़े हों। परमात्मा के अगणित पुत्रों में इनसान भी एक है।"

उनके अपने परिवार में यह भावना बराबर देखने को मिलती। घर में जितना ध्यान परिवार के अन्य सदस्यों का रखा जाता, उससे कम देख-भाल पशु-पक्षियों की नहीं होती थी। इनकी बीमारी-आरामी, सेवा-सुश्रूषा में वह कुछ इस तरह से जुटी रहतीं, जैसे ये सब उनके आत्मीय हों। खाने-पीने में भी इनका बराबर ध्यान रखा जाता। कई बार तो वह अपने सामने की थाली छोड़कर दौड़ पड़तीं-अरे देखो! अभी मैंने गाय के लिए इन्तजाम नहीं किया और खुद खाने के लिए आ बैठी।

गुरुदेव के चौबीस लाख के चौबीस महापुरश्चरण लगभग चौबीस सालों में सम्पन्न हुए। इन सालों में घर में गाय हमेशा रही। क्योंकि गाय की छाछ आदि की आवश्यकता अधिक रहती। इसके अलावा आचार्य जी गौ यावक व्रत भी करते थे। अर्थात् गाय को जौ खिलाया जाता। इसके बाद गाय के गोबर में जौ के जो दाने आ जाते, उनको बीनकर गोमूत्र में धोया जाता। फिर उन्हें सुखाकर, पीसकर उसकी रोटी छाछ के साथ वह खाया करते। यह क्रम लम्बे समय तक चला।

इसके लिए सारा इंतजाम माताजी स्वयं करती थीं। हर समय उनको गाय के चारे-पानी, सर्दी-गर्मी, उसे जौ देने की चिन्ता लगी रहती। शुरुआत के दिनों में वह और ताईजी (गुरुदेव की माताजी) आँवलखेड़ा में रहती थीं। उस समय घर में एक कपिला गाय रहती थी। काले रंग की यह गाय बहुत सीधी थी। छोटे बच्चे तक उसका थन पकड़ लेते, फिर भी वह चुपचाप खड़ी रहती। घर में जब भी जरूरत होती उसका दूध निकाल लिया जाता। बार-बार दुहे जाने के कारण यह कहना कठिन है कि वह कितना दूध देती थी।

एक बार वह बीमार हो गई। चारा खाना छोड़ दिया। गुमसुम खड़ी थी। चिकित्सक वहाँ था नहीं, दूसरे गाँव से उसे बुलाया गया। उसने आयुर्वेद की कई दवाएँ दीं, लेकिन सुधार न हुआ। माताजी की परेशानी बढ़ गई। उन्हें खाना-पीना अच्छा न लगता। हर समय यही सोचते बीतता कि गाय कैसे ठीक होगी। उन्हें इस तरह चिन्ताकुल-परेशान देखकर घर के सभी सदस्य हैरानी में थे। उन सबको यह लग रहा था कि पशु तो बीमार होते ही रहते हैं, भला इसमें परेशान होने की क्या जरूरत है? परन्तु माताजी के लिए तो जैसे उनका कोई अपना आत्मीय बीमार था। उन्होंने बरहन (पास के गाँव) से चिकित्सक बुलाया। चिकित्सक ने बताया कि उसे गला घोंटू है। उसके सारे प्रयासों का कोई खास असर न हुआ।

गाय को जितना शारीरिक कष्ट था, माताजी की मानसिक विकलता उससे कहीं अधिक थी। परिवार के सदस्यों ने उनकी परेशानी देखकर आगरा से पशु-चिकित्सक बुलवाया। अपनी समझ से उसने अच्छी चिकित्सा की, लेकिन अब तक गाय का पेट फूल चुका था। प्रातःकाल ६ बजे वह जोर-जोर से साँस लेने लगी। लगभग ७ बजे एकादशी के दिन सबको अपने प्यार से वंचित कर 'चिरनिद्रा' में सो गई।

माताजी का तो जैसे सब कुछ लुट गया। वह फूट-फूट कर रो पड़ीं। ढकेलगाड़ी मँगाई गयी। बहुत बड़ा गड्ढा खोदा गया। गड्ढे में पहले वह उतरीं, गंगाजल छिड़का। गंगाजल छिड़कते समय वह गायत्री मंत्र पढ़ती जा रही थीं और बिलख-बिलख कर रोती जा रही थीं। गाय को उसमें उतारा गया। उन्होंने अपने हाथों से उस पर लाल कपड़ा ओढ़ाया। गंगाजल छिड़का, अपने मस्तक को उसके पैरों पर रखा, फिर उस पर अपने हाथों से मिट्टी डाली। बाद में उस गड्ढे को मिट्टी से भर दिया गया। अंत में बालू बिछाई गई। जिस पर उन्होंने अपने हाथों से लिखा 'श्रीराम' यह सब करके वह घर आ गईं, परन्तु कई दिन तक उनका मन अन्यमनस्क रहा। लगभग एक सप्ताह बाद वह ठीक से खाना खा सकीं।

आँवलखेड़ा से उनका मथुरा आना हुआ। वह कहना बहुत कठिन है कि घर में माताजी पहले आयीं या बन्दर! क्योंकि उनके मथुरा छोड़कर जाने के बाद बन्दर भी घर छोड़ गए। हाँ यह सच है कि जब तक वह घर पर रहीं, बन्दर दिवाली मनाते रहे। बन्दरों का भी कमाल था। बीस-बीस बन्दर छत पर बैठे रहते, दीवालों पर गश्त लगाते रहते, पर घर का कोई कपड़ा-बर्तन न उठाते। जैसे

माताजी ने उन्हें पाल रखा हो। उनके लिए रोटी तो वह टुकड़ों में डाल देतीं। दाल, चावल और सब्जी एक निश्चित बर्तन में रख दी जाती। अपने लिए परोसे गए भोजन से वे सभी पूर्ण संतुष्ट हो जाते। आने वाले साधक, मेहमान, रिश्तेदार, अतिथि वगैरह तो बन्दरों से खूब डरते, पर घर वाले सभी लोग अभ्यस्त हो गए थे। बंदरों ने कभी किसी को काटा नहीं। जब माताजी के बनाए-परोसे गए भोजन से ही उन्हें तृप्ति मिल जाती, तब काटने खींझने की जरूरत भी क्या थी?

माताजी का जीवों पर अगाध प्रेम था। उनके लिए सभी जीव उनके अपने थे। किसी की सेवा करतीं, तो किसी के साथ हँस-खेल लेतीं, यदा-कदा चिढ़ा भी देतीं। हाँ पीड़ा-कष्ट किसी का भी हो, उनकी भावनाएँ आँसू बनकर बहने लगतीं। एक दिन वह धूप में कपड़े सुखा रही थीं। गुरुदेव के साधनाकक्ष के सामने खाली जगह थी। वहीं धूप में कपड़े सूखने के लिए डाल दिये जाते थे। अपनी धोती को तार पर फैलाकर अभी वह हटी ही थीं कि आसमान से एक घायल तोता 'लुढ़क-पुढ़क' करता हुआ छत पर गिरा और पंख फैला गया। उन्होंने समझा कि वह मर गया। स्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। उसकी गर्दन पर पीछे की तरफ गहरा घाव था, जिससे खून निकल रहा था। मुँह फटा था। आँखें पथरा रही थीं।

उन्होंने अपने गीले कपड़े वहीं छोड़ दिए। दोनों हाथों से धीमे से तोता उठा लिया। उठाकर उसे खुली रसोई की छत पर ले आयीं। उसके मुँह में पानी डाला। इतने में गुलाब देवी 'एजू' आ गई। पास आकर वह बोली- अरे इसके तो खून निकल रहा है। तो देख क्या रही है? उसे संबोधित करते हुए उन्होंने कहा- जल्दी-जल्दी हल्दी पीसकर ले आ। 'एजू' हल्दी पीसकर ले आई। माताजी ने उसके घाव में हल्दी भर दी। तोता थोड़ा छटपटाया, माताजी यह जानकर खुश हो गई कि चलो अभी जिंदा है।

रसोई में बचा हुआ भोजन रखने को काठ की एक अलमारी थी। बीच के खाने में तोता रख दिया गया। बाद में ख्याल आया कि तोता अलमारी में बीट करेगा, तुरन्त एक बड़ा पिंजरा मँगाया गया । अब उन्होंने तोते को अलमारी से पिंजरे में स्थानान्तरित कर दिया। पिंजड़े में कटोरी रखी। कटोरी में दाल, एक हरी मिर्च और अमरूद रखा। एक कटोरी में पानी भर कर रख दिया। पिंजड़े में तोता सिकुड़ कर बैठा हुआ था! माताजी ने शाम को फिर हल्दी लगाई। तीन-चार दिन यही क्रम चलता रहा। हर रोज वह पिंजड़े की खिड़की खोलतीं, हल्दी लगातीं और वापस पिंजड़े में बंद कर देतीं। धीरे-धीरे तोता पूर्ण स्वस्थ हो गया। रोज की तरह अबकी बार भी उन्होंने खिड़की खोली, हल्दी लगाई लेकिन इतने में उसने माताजी की उँगली जोर से काट ली। वह जोर से चीख पड़ीं। इतने में तोता हाथ से छूटकर उड़ गया। आसमान में उसे उड़ते देखकर वह प्रसन्नता से हँस पड़ीं। बोलीं चलो अपनी सेवा काम कर गई।

पीड़ा किसी की भी हो, विकल होकर उसकी सेवा में जुट पड़ना उनकी आदत बन गई थी। घीयामण्डी वाले घर में जीने के पास एक बुखारी थी। उसमें वह सूखी लकड़ी और उपले रखती थीं। एक रोज उसी बुखारी में बिल्ली ने चार बच्चे दिये। बिल्लियों के बारे में आम-तौर पर सोचा जाता है कि वह अपने बच्चों को कई घर घुमाती है। पता नहीं इसमें कितना सच है। कुछ भी हो, बच्चे देने के बाद वह बिल्ली लड़खड़ाई हुई छत पर चढ़ी। बाद में कहाँ गई कुछ मालूम नहीं। जब कई दिन बिल्ली वापस न लौटी तो बच्चों का बुरा हाल हो गया। उन छोटे-छोटे बिल्ली के बच्चों का सिसकता क्रन्दन, माताजी के हृदय को व्यथित करने लगा।

वह अपने को रोक न सकीं। भागकर बुखारी के पास गईं। उपले पलटने पर देखा, चार बच्चे थे। उनकी आँखें अभी तक खुली न थीं। भूख-प्यास से ये सभी लगभग मरणासन्न थे। वह कटोरी में गाय का दूध लायीं, रूई की बत्ती बनाई, धीरे से उनका मुँह खोला और रूई की बत्ती से गाय का दूध उनके मुँह में टपका दिया। यह क्रम कई दिनों तक चलता रहा। धीरे-धीरे बच्चे बड़े हो गए। वे जीने से नीचे बाहर घूमने लगे। इस तरह उनका घूमना-फिरना हर किसी के बिस्तर पर जब चाहे चढ़ बैठना, घर वालों के लिए मुसीबत बन गया। अब तक वह दूध-रोटी खाने लगे थे।

घर के सदस्यों को यह सब अच्छा नहीं लगता था। क्या मुसीबत घर में पाल रखी है? माताजी की आलोचना घर में चुपके-चुपके होने लगी। बर्तनों में मुँह देंगे, खाना झूठा करेंगे, तब पता चलेगा। उस समय जीवदया महँगी पड़ेगी। घर में इस तरह की बातें होती रहतीं, पर माताजी से सीधे-सीधे कहने का किसी को साहस नहीं होता था। इधर बिल्ली के बच्चे एक-दूसरे को यदा-कदा माँ का स्तन समझकर काट लेते। इस तरह काटते रहने से उनके शरीर में तकलीफ हो गई। माताजी उन चारों को एक लकड़ी की टोकरी में रखकर पशु चिकित्सक को दिखाने ले गईं। डॉक्टर बोला-बहिन जी इन्हें खाज हो गई है। इनको फेंक दो। जानवर की खाज आदमी को हो जाए, तो बड़ी मुश्किल हो जाती है। इस गन्दगी का क्या करोगी?

यह सुनकर उनका हृदय बेचैन हो उठा। वह काफी देर तक डॉक्टर से अनुनय-विनय करती रहीं, बोलीं- खाज की कोई अच्छी-सी दवा दे दो। डॉक्टर ने कहा- छोटे हैं, खाज की दवा बर्दाश्त न कर सकेंगे। फिर कुछ सोचते हुए उसने कहा-अच्छा ये शीशी ले लो, रूई की फुरहरी बनाकर दवा लगाना। दवा लगाकर हाथ साबुन से धोना। माताजी बच्चों और दवा के साथ घर आ गईं। डॉक्टर की बताई विधि से उन्होंने दवा लगाई। बच्चे एक-दूसरे से चिपट रहे थे। वे एक-दूसरे की दवाई चाट गए। रात को ७ बजे देखा उनमें से एक लम्बा पड़ा था। वह रोने लगीं बोली यह तो मर गई। कुछ देर तक रुआँसी घर का

काम करती रहीं। थोड़ी देर बाद अपने बड़े लड़के से बोलीं- ओमप्रकाश जरा तुम देखना। उन्होंने देखा दूसरा बच्चा भी लम्बा पड़ा है। दोनों लम्बे चारों खाने चित्त पड़े हैं। दो चिपट रहे हैं। वह सब काम छोड़कर दौड़-भागी आयीं और रोते हुए बोलीं- हाय ये भी मर गई। रात को नौ बजते-बजते तीसरा बच्चा भी लम्बा हो गया, माताजी सुबक रही थीं।

घर के सभी लोग सो गए थे। वह अकेली बिल्ली के बच्चों को लिए बैठी थीं। इतने में चौथा भी मर गया। उन्होंने भाई ओमप्रकाश को कई आवाजें दीं, पास आकर झकझोरा। बड़ी मुश्किल से उनकी नींद टूटी। नींद खुलने पर उन्होंने पूछा बात क्या है? जवाब में वह रोते हुए कहने लगीं- ओमप्रकाश ये चारों मर गईं। मुझ से बड़ा पाप हुआ। मैंने दवाई क्यों लगाई। मैंने चारों को मार डाला। उनके दुःख की कोई सीमा न थी। सारी रात रोते-सुबकते कटी। सुबह होने पर उन्होंने बिल्ली के मृत बच्चों को रघुवीर (तत्कालीन कम्पोजीटर) को देते हुआ कहा बेटा इन्हें लाल कपड़े में बाँध लो। चारों को अलग-अलग कपड़े में बाँधा गया। इन्हें लेकर जब रघुवीर चलने लगा तब उसे रोकते हुए वह बोलीं- बेटे! इन्हें दूर जमुना में डालना, पशु की योनि से छूट जाएँगे। उसके चले जाने पर वह भगवान से प्रार्थना करती रहीं कि इन आत्माओं को पशु योनि से मुक्ति मिले।

किसी का भी कष्ट उन्हें कातर बना देता। वह विह्वल हो उठतीं, करुणा का उद्रेक उन्हें बेचैन किए रहता। वह बेचैनी जितनी मनुष्यों के लिए थी, उतनी ही अन्य प्राणियों के लिए। हो भी क्यों न? सभी उन विश्वजननी की संतान ही तो हैं। एक दिन की घटना है-माताजी चटाई पर बैठी छत पर कुछ पढ़ रही थीं। यकायक उनकी नजर बिल्ली पर पड़ी। बिल्ली के मुँह में कबूतर था। कबूतर के पंखों सहित पिछला हिस्सा बिल्ली के मुँह में था। उसकी पेट और गर्दन सुरक्षित थे।

वह तुरन्त समझ गईं कि कबूतर की जान बचाई जा सकती है। उन्होंने बिल्ली को घेर लिया। निकल भागने का एक ही रास्ता था और वह रास्ता उन्होंने घेर लिया। बिल्ली उस रास्ते से जिधर को मुड़ती वह उसी तरफ से 'हुश' करतीं। उनके हाथ में कुछ नहीं था। बिल्ली भी कुछ कमजोर न थी। वह बराबर उछल-कूद मचा रही थी। वहीं पर एक चप्पल पड़ी थी। उन्होंने उठाकर बिल्ली को मारी, पर उसे लगी नहीं। खीझ से भरी बिल्ली ने उन्हीं के ऊपर छलाँग लगाई। पास में ही एक लकड़ी पड़ी थी, जिसे हाथ में लेकर उन्होंने बिल्ली को रोकने की कोशिश की। इस भमाचौकड़ी में बिल्ली के मुँह से कबूतर छूट गया।

उन्होंने दौड़कर कबूतर उठा लिया। कबूतर के पेट में नीचे की तरफ बिल्ली के दाँतों से हुए घाव से खून निकल रहा था, बायाँ पैर भी घायल था। बड़ी बुरी हालत थी बेचारे की। काफी देर तक उसे अपने हाथ में लिए वह सहलाती रहीं, फिर प्रेमवती को पास बुलाकर बोलीं- "जा जल्दी से हल्दी लेकर आ।" प्रेमवती बोली माताजी कबूतर तो मरेगा। बिल्ली के दाँतों का जहर चढ़ेगा। हल्दी से कुछ होने वाला नहीं। तोते की बात और थी।

एक क्षण के लिए उनका चेहरा उतर गया। फिर कुछ सोचकर उन्होंने कबूतर को कमरे में बन्द कर दिया। कमरे में उसके लिए दाना-पानी रख दिया। दोपहर में तपोभूमि से कुछ साधक खाना-खाने के लिए आए। उन्हीं में डॉ. जी. के. पारिख भी थे। वह अहमदाबाद से पधारे थे। माताजी ने अपने कबूतर का दुःख-दर्द उन्हें कह सुनाया। डॉ. पारिख अहमदाबाद के अच्छे सर्जन थे। कई आपरेशन उन्हें रोज करने पड़ते परन्तु कबूतर का इलाज उन्होंने कभी न किया था।

वह खाना खाते हुए इस गूढ़ गुत्थी को सुलझाते रहे। मानो ऑपरेशन टेबिल पर कोई मरीज मर रहा हो। डाक्टर को, उसकी एम. एस. की डिग्री को कबूतर चेलेंज कर रहा था। आखिर माताजी का कबूतर था। डॉ. पारिख खाना खाकर बाजार चले गए। दवा, सिरिंज, मलहम न जाने क्या-क्या लेकर लौटे। कोई दवा वहाँ लगाई, जहाँ से खून निकल रहा था। बाद में इंजेक्शन लगाया। पैर में मलहम लगाया। उनका यह क्रम तकरीबन पाँच दिन चलता रहा। धीरे-धीरे कबूतर पूर्ण स्वस्थ हो गया।

डॉक्टर ने कबूतर को अपने हाथ से उड़ाया। कबूतर पंख पसार कर आसमान की सैर करने लगा। उन्होंने चरण छूकर माताजी को प्रणाम किया और कहा कि वह अहमदाबाद के अमुक हस्पताल में सर्जन हैं। सिर्फ दो दिन की छुट्टी लाए थे। अब आठवें दिन जाकर ड्यूटी ज्वाइन करेंगे। माताजी खुश होकर मुसकरायीं और बोलीं "बेटा! बिना बात मैंने तुम्हें इतने दिन रोक लिया।"

डॉक्टर चले गए। कुछ समय बाद मथुरा में विदाई समारोह का भव्य आयोजन हुआ और माताजी भी मथुरा छोड़कर शान्तिकुंज में रहने लगीं। यहाँ आकर उनकी ममता और व्यापक हो उठी। उनकी करुणा के सरित प्रवाह में असंख्य लोग स्नान करने लगे। मनुष्यों के अलावा इनमें कुछ अन्य प्राणी भी थे। इन्हीं में से था पूज्य गुरुदेव का कुत्ता मन्टो। भूटान के किन्हीं कर्नल साहब ने इसे गुरुदेव को भेंट दिया था।

उस समय पूज्यवर अपनी तीसरी हिमालय-यात्रा से वापस लौटे थे। शान्तिकुंज में प्राण-प्रत्यावर्तन सत्रों का सिलसिला चल रहा था। उन दिनों जो भी परिजन शान्तिकुंज आए हैं। उन्हें मन्टो की आन-बान शान भूली न होगी। हर-हमेशा गुरुजी के साथ रहता। सुबह जब वह प्रवचन देने के लिए जाते, मन्टो उनके आगे-आगे चलता। दोपहर में उनके पास सोफे पर बैठता। जमीन पर बैठना उसे पसन्द न था। उसे माता का पर्याप्त लाड़-प्यार मिला। जब कभी उसे भूख लगती, दौड़कर माताजी के पास पहुँच जाता, दोनों पैर उठाकर खड़ा हो जाता और अपना पेट दिखाकर भौंकने लगता जैसे कह रहा हो, मुझे जोर की

भूख लगी है, जल्दी कुछ इन्तजाम करो। उसका इशारा समझकर माताजी जल्दी ही कुछ खाने के लिए जुटा देतीं। जो धोती पहनकर आता, भारतीय वेश-भूषा में गुरुदेव एवं माताजी के चरणस्पर्श करता, उन्हें तो वह कुछ न कहता, किन्तु विदेशी पोशाक वाले पर भौंक कर तुरन्त चेता देता कि अगली बार भारतीय वेश में आना । ऋषिसत्ता से मिलने दो-तीन साल वह माताजी का स्नेह-सान्निध्य पाता रहा। बाद में वह मर गया। गुरुजी, माताजी ने उसे गंगा की दूसरी ओर बालू में गढ़वा दिया।

मन्टो के अलावा माताजी का स्नेह बटोरा पंकज नाम के खरगोश ने। उसे पंकज नाम माताजी ने दिया था। पंकज माताजी के हाथों से दूध पीता, उन्हीं के इर्द-गिर्द मँडराता रहता। जब कभी वह उछलकर उनकी गोद में चढ़ जाता तो वह मुसकरा उठतीं। इस खरगोश को रूठना बहुत पसन्द था, तो माताजी को मनाना। कुछ सालों तक वह उनके प्यार से तृप्त होता रहा। बाद में एक दिन मर गया। उस दिन माताजी खाना न खा सकीं। कई दिन तक उनके चेहरे पर उदासी छायी रही। जब कभी उसके किस्से बयान करने लगतीं। उनकी इन ममता भरी यादों में बहुत कुछ था। रामायणकाल में जब सीता धरती पर आयी थीं। न जाने कितने बंदर-भालुओं ने, गीध-गिलहरी ने उनका प्यार पाया। आज के युग में सतयुग का अवतरण करने वाली परमशक्ति माँ भगवती के प्यार में, उनकी करुणा में अनगिनत प्राणी सराबोर हुए। वह ठीक ही कहा करतीं थीं 'प्यार-प्यार प्यार' यही हमारा मंत्र है। आत्मीयता, ममता, स्नेह यही हमारी उपासना है। सो बाकी दिनों अब अपनों से अपनी बात ही नहीं कहेंगे, अपनी सारी ममता भी उन पर उँड़ेलते रहेंगे। शायद इससे हमारे बच्चों को यत्किंचित सुखद अनुभूति मिले, प्रतिफल और प्रतिदान की आशा किए बिना हमारा भावना-प्रवाह तो अविरल जारी रहेगा। अपने बच्चों को भरपूर स्नेह-यही इन बीते दिनों का हमारा उपहार है। जिसे कोई भुला सके, तो भुला दे। हम कहीं भी रहें, शरीर रहे अथवा न रहे, धरती पर रहें या किसी और लोक में, अपने बच्चों पर ममत्व और करुणा उँड़ेलते रहेंगे।

## सेवा-साधना की यह तड़प हममें भी आ जाए

''अपने दिल में कसक हो, दूसरों का दुःख-दर्द खुद की पीड़ा बन जाए, तो सेवा मनुष्य का स्वभाव बन जाती है।'' वंदनीया माताजी का यह कथन स्वयं उनके अपने स्वभाव का बोध कराता है। वह जब जहाँ रहीं, वहाँ के अड़ोसी-पड़ोसी हों अथवा घर में काम करने वाले नौकर, मजदूर, रिश्तेदार, कुटुम्बी हों या मिशन में काम करने वाले कार्यकर्त्ताओं का समूह, इन सभी की तकलीफों में बराबर की हिस्सेदार रहीं। उनकी सेवा-संवेदना न कभी जाति-पाँति के बन्धनों में बँधी और न गरीबी-अमीरी के खाई-खंदकों में फँसी । सतत एक ही दर्द उनमें समाया रहा कि पीड़ित की पीड़ा का निवारण कैसे हो? भले ही उसके लिए उन्हें कुछ भी संकट क्यों न उठाना पड़े।

इतने पर भी उनका सेवाभाव कोरी भावुकता कभी नहीं रहा। इसके पीछे थी एक समग्र जीवन-दृष्टि, एक मौलिक चिन्तन-प्रणाली, जिसे अपना सकने पर जीवन-चेतना परमात्मचेतना की ऊँचाइयों को छूने लगती है। इसे उन्हीं के भावों में कहें तो आत्मविकास की ओर अभिमुख गतिविधियों, क्रिया-प्रणाली का नाम साधना है। इसकी अनेक प्रणालियाँ अनेक स्थानों पर प्रचलित हैं। अलग-अलग पंथ अपने दायरे के अनुरूप इनका विशिष्ट स्वरूप घोषित करते हैं। सभी का अपना महत्त्व भी है, पर समग्रता की दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण करने पर इनमें से ज्यादातर को प्रायः एकांगी मानना पड़ता है। समूची मानव प्रकृति को रूपान्तरित कर सके, जिन्दगी के हर हिस्से को दिव्यता से भरा-पूरा कर सके, ऐसी प्रणाली ढूँढने पर शायद ही एक-आध मिले। जो मिलेगी भी, वह किसी विशिष्ट योग्यता की अपेक्षा रखती हुई। समग्रता के प्रश्न पर विचार करने पर सर्वजनसुलभ साधना-प्रणालियों की खोज-बीन कर विभिन्न विचारकों, महापुरुषों, श्रेष्ठतम योगियों की दृष्टि एक ही बिन्दु पर टिकती है और वह है- सेवा।

इसके सभी आयामों को उन्होंने न केवल स्पर्श किया बल्कि जिया और अनुभव किया। उन्होंने सेवा कुछ पाने के लिए नहीं, बल्कि अपने अन्दर उभर आए दर्द को कम करने के लिए की है। बात उनके घीयामण्डी, मथुरा में निवास के दिनों की है। वहीं वैरागपुरा में एक विधवा स्त्री एक टूटी-फूटी कोठरी में अपने छोटे बच्चे के साथ रहा करती थी। उसका कोई सहारा न था। जिस किसी तरह गरीबी में दिन कट रहे थे। उसकी उम्र तो बीस-बाईस वर्ष रही होगी, पर गरीबी की मार ने उसे असमय बूढ़ा कर दिया था।

बाजार में सामान खरीदते समय एक दिन माताजी की नजर उस पर पड़ गई। क्या कुछ नहीं था इस नजर में । हृदय की अबूझ भाषा आँखों से बह निकली थी। एक ऐसी भाषा, जिसे उन्होंने कहा और गुलाब देवी नाम की उस महिला ने सुना और समझा। वह उसको अपने घर ले आयीं । उसके बालक को स्कूल में भर्ती कराया। गुलाब देवी की आदत हर बात पर 'एजू' कहने की थी। सो परिवार के सभी सदस्य उसे 'एजू' कहने लगे। माताजी भी उसे इसी नाम से पुकारतीं।

'एजू' भोजन पकाने में उनकी मदद करने लगी। परन्तु उसका प्रारब्ध-भोग अभी बहुत कुछ बाकी था, सो वह अक्सर बीमार रहती। उसके कई काम माताजी स्वयं करतीं । बाद के दिनों में उसे स्तन का कैंसर हो गया। उन्होंने उसे हर तरह के आश्वासन देकर किसी तरह सरोजनी नायडू अस्पताल आगरा भेजा। काफी दिन इलाज चला। ऑपरेशन का खर्चा, सवेतन छुट्टी और बच्चे की

पढ़ाई के साथ अखण्ड-ज्योति कार्यालय में काम की व्यवस्था उन्होंने की।

इतना करके ही वह सन्तुष्ट नहीं हुईं। बीमारी के दिनों में उसके हाथ-पैरों में मालिश जैसी सेवाएँ वह स्वयं करतीं। उनसे मालिश करवाना 'एजू' को अच्छा नहीं लगता था। रोकने का भरसक प्रयास करने पर भी जब वह सफल न होती तो रो पड़ती। उसकी आँखों से आँसू पोंछते हुए वह समझातीं- तू रोती क्यों है? यह सब मैं तेरे लिए थोड़े ही करती हूँ। फिर किसके लिए। गुलाब देवी की आँखों में आश्चर्य सघन हो उठता। अपने लिए। उनके मुख से निकले ये दो शब्द आश्चर्य का अद्‌भुत समाधान थे। हाँ अपने लिए तू बीमार पड़ी है, यह देखकर मुझसे रहा नहीं जाता। जी तड़प उठता है, मन बेचैन रहता है, क्या करूँ और कुछ तो कर नहीं पाती, मालिश कर देती हूँ, तुझे खाना बनाकर देती हूँ, तो मन को तसल्ली मिल जाती है।

सच तो यही है उनकी सेवा क्रिया की कुशलता में नहीं विवश, बेबस, व्याकुल भावनाओं में बसती थी। यों आजकल समाज-सेवा एक फैशन के रूप में उभर चुकी है। न जाने कितनी सेवा-संस्थाएँ कायम हो चुकी हैं। न मालुम कितने अस्पताल खुल चुके हैं, पर इनमें कहीं आध्यात्मिकता का भाव तो नहीं दिखाई देता। लगता यही है कि यदि इससे आध्यात्मिकता उभरती होती, आत्म-विकास की ओर जीवन गतिशील होता, तो सेवा करने वालों की संख्या के अनुरूप साधकों और योगियों की बाढ़ आयी होती, पर स्थिति ऐसी नहीं है। इस संदेह का समाधान करते हुए एक बार उन्होंने अपनी बातचीत के दौरान कहा था- यदि समाज-सेवियों की संख्या के अनुरूप आत्मविकसित लोग दिखाई नहीं देते हैं तो साधना के लिए, तपस्या के लिए घर से निकलने वालों की संख्या के अनुरूप आत्मोत्कर्ष के धनी संत-महात्मा कहाँ हैं? इसका सीधा मतलब यही है कि बात को समझा नहीं गया। उसे ठीक ढंग से अपनाया नहीं गया।

किसी भी साधना-प्रणाली में प्रवेश हेतु अनिवार्य योग्यता है- नैतिकता । पतंजलि हों या गोरखनाथ, कपिल हों या भगवान श्रीकृष्ण, लाओत्से, ताओ, बुद्ध कोई भी क्यों न हों, इस अनिवार्य योग्यता के बिना अपनी प्रणाली में प्रवेश नहीं देते। यदि प्रवेश मिलता भी है, तो प्रवेशिका स्तर पर। इसे उत्तीर्ण किए बगैर, पूर्ण नैतिक हुए बिना साधना-पद्धति में स्थान नहीं। लोकसेवा के लिए भी यही शर्त है। अनैतिक व्यक्ति कभी सच्चा लोकसेवी नहीं बन सकता।

प्रवेश पाने के बाद शुरू होता है- साधनाक्रम। इसमें हठयोग जहाँ अपना समूचा ध्यान शरीर पर जमाता है। राजयोग, मानसिकता में फेरबदल करता है। तंत्र की गुह्य पद्धतियाँ प्राणिक जगत में परिवर्तन व रूपांतरण का रुख अपनाती हैं, किन्तु इन तीनों आधारों में एक साथ निखार आए, ये शुद्धात्म-चेतना का प्रवाह धारण कर सकें, ऐसी स्थिति नहीं बन पाती है।

लोकसेवा, जिसे गुरुदेव ने साधना की समग्र प्रणाली कहा है, इसे अपनाने पर व्यक्ति के तीनों ही आधार न केवल सशक्त होते हैं और उनमें निखार आता है, वरन् समूची अंतर्शक्तियाँ अपने यथार्थ रूप में अभिव्यक्त होने लगती हैं। बात को और स्पष्ट करते हुए वह कहने लगे- अपना शरीर पार्थिव चेतना का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका गुण है जड़ता। इस तमस का सत्त्व में रूपांतरण ही अभीष्ट है। जिन्होंने लोकसेवा को साधनापद्धति के रूप में अपना लिया है, वे इसे प्रथम चरण में ही पा लेते हैं। क्योंकि सच्चे साधक को तो नाम, यशविहीन क्रियाशीलता चाहिए। इसे ही तमस का सत्त्व में रूपांतरण समझा जा सकता है। सारे आवेग, कामुकता, क्रोध, मोह, लोभ आदि प्राणिक स्तर पर अपनी जड़ जमाए रहते हैं। प्रचलित योगों के किसी भी साधक को इनकी जड़ें उखाड़ने में पसीना आ जाता है। फिर भी कभी-कभी असफलता हाथ लगती है। विश्वामित्र और दुर्वासा की कहानियाँ कौन नहीं जानता। सालों की तपश्चर्या के बाद भी अनेक बार काम-क्रोध के हाथों पराजित होना पड़ा, दूसरों का भी यही हाल हुआ।

जबकि अपने भाव में निष्ठ समाजसेवी इस स्तर को कुछ ही वर्षों में रूपांतरित करने में सफल हो जाते हैं। यह रूपांतरण, कामुकता का भावुकता में, क्रोध का बुराइयों के प्रति रोष में, मोह का प्रेम में और लोभ का उदारता में हो जाता है। मन के स्तर पर यही दशा है। इसमें साम्राज्य रहता है कामनाओं का। एक के बाद दूसरी आ धमकती है। यही सिलसिला चलता रहता है। अन्य मार्गों के पथिक जहाँ अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद स्वर्ग या किसी स्वप्नलोक के सुख सपने नहीं छोड़ पाते, वहाँ सेवानिष्ठ साधक '**सर्वे भवन्तु सुखिनः**' की भावना से ओत-प्रोत रहता है।

योग के विभिन्न मार्गों की चरम परिणति कैवल्य, स्थितिप्रज्ञता, समत्व, एकात्मभाव को ही माना गया है। इसी की विभिन्न स्थितियाँ मुक्ति, जीवन मुक्ति, विदेह-मुक्ति के नाम से जानी जाती हैं। विभिन्न योगियों को ये स्थितियाँ कब मिलती हैं यह तो पता नहीं, पर सेवानिष्ठ साधक अपने वर्तमान जीवन में ही इस परम लाभ से लाभान्वित होता देखा जाता है। लोभ, मोह, अहंकार से छुटकारा मिला कि उपर्युक्त स्थितियाँ मिलीं। जिसने सर्वहित में अपने स्वार्थों की बलि दे दी, उसे लोभ कैसा ? वैयक्तिकता से उपराम जो सारे समाज को अपना परिजन, समूचे विश्व को अपना घर मानता है उसमें मोह की गुंजाइश कहाँ? '**सुहृदं सर्वभूतानां**' में जिसकी स्थिति है, जो स्वयं को विनम्र सेवक, औरों को सेव्य मानता है, उसके पास अहंकार भला कैसे फटक सकता है। यही कारण है कि वह इसी जीवन में मुक्ति का परमलाभ प्राप्त कर जीवन मुक्त की स्थिति में आनन्दित रहता है।

वंदनीया माताजी स्वयं तो इस आनन्द से विभोर रही हीं, औरों को भी उन्होंने दोनों हाथों से यह आनन्द लुटाया। अनेकों की उन्होंने लोभ-मोह, अहंता की बेड़ियाँ

तोड़ीं। इस तथ्य के सत्य होते हुए भी शंकाकुल मन सवाल करता है। साधना की इस समग्र प्रणाली के रहते अपने ऊपर लोक-सेवी का लेबल चिपकाने पर भी जो लोग इसके लाभों से वंचित हैं, इसका कारण क्या है? स्वयं की खामीं, दो टूक जवाब था उनका। गरीबों को गले लगाने तथा कष्टपीड़ितों की मदद करने की बात हर कोई करता है, लेकिन अपने आस-पास के ऐसे लोगों पर ध्यान देना अनावश्यक लगता है, जिन्हें वस्तुतः सहायता की आवश्यकता है। इस संदर्भ में उन्होंने एक घटनाक्रम सुनाते हुए कहा था- मैं नाम तो नहीं लूँगी उनका, यद्यपि उस समय उनका बहुत नाम था। जब कभी हम लोगों का उनसे मिलना होता, वह यही कहते क्या बताऊँ आज अमुक मीटिंग में जाना है, आज दरिद्र बच्चों को दूध बाँटने का कार्यक्रम है, आज माताओं को बच्चों के पालन-पोषण का व्यावहारिक ज्ञान देना है।

एक दिन जब हम लोग (माताजी एवं गुरुजी) उनके घर पहुँचे, तो वह घर पर नहीं थे। उनकी नौकरानी थी। वह उनके बँगले के पीछे वाले कमरे में रहती थी। उस दिन उसका बच्चा न्यूमोनिया के कारण बुरी तरह तड़प रहा था। मैंने पूछा-दवा दी। उत्तर में वह मौन रही। मैंने कहा- क्यों दवा क्यों नहीं दी? अपने साहब से कहतीं तो वे किसी के पास भेज देते। उनकी जान-पहचान के बहुत से लोग हैं। नौकरानी फफक कर रो पड़ी। बोली-दो दिन से कह रही हूँ, लेकिन हम गरीबों की सुनता कौन है? पैसे माँगे थे, वह भी नहीं मिले। बाद में सुनने को मिला- उसका बच्चा दवा न मिलने के कारण गुजर गया।

आजकल ज्यादातर लोग लोकसेवा का सिक्का अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए उपयोग करते हैं। देखा यही जाता है उनके मन में दीन-दुखियों के प्रति करुणा और सेवा की बात तो दूर, नैतिकता से भी कोई वास्ता नहीं। लोकसेवा उनके लिए वीडियो फिल्म बन जाने, अखबारों में फोटो छपवाने का अच्छा माध्यम है। इस तरह की लोकसेवा का अगर विश्लेषण किया जाए तो वह मात्र फैशन साबित होती है। जिसके पास करने को कोई काम नहीं अथवा जो यह समझते हैं कि इस प्रकार समाज में कुछ इज्जत कमा लेंगे या जिसके पास पूर्वजों की कमाई हुई पैतृक संपदा है कि उससे आराम से निर्वाह हो जाए, वे लोकसेवा का मुखौटा लगा लेते हैं।

कहने का मतलब यह नहीं है कि लोकसेवा कोई करता नहीं। सच्चाई तो यह है कि निष्ठावान लोकसेवी आत्मप्रचार और अपनी सेवाओं का ढोल पीटने के स्थान पर मूक भाव से अहर्निश जनसेवा में लगे रहते हैं। हमने भी इनसान को भगवान समझकर सेवा की है। सेवा करते गए और धन्य होते चले गए। उनका जीवन उनके इस कथन का प्रमाण है। गुलाब देवी जैसे अनेक पीड़ितों के आँसू पोंछने हो या लोकसेवा के विश्वव्यापी सरंजाम जुटाना हो, हर कहीं उनमें आत्माहुति का भाव ही प्रबल रूप से सक्रिय रहा। एक तड़प जो उन्हें जीवन के अन्तिम क्षणों तक बेचैन-विकल किए रही, यदि हम लोगों को जनसेवा का व्रती बना सके, तो समझना चाहिए कि जीवन-मुक्ति का आनन्द दूर नहीं। बस जरूरत इस बात की है कि जिन आदर्शों की स्थापना हम समाज में होते हुए देखना चाहते हैं, उन आदर्शों को स्वयं हम अपने में उतारें। कथनी से नहीं, करनी से अपने जीवन को उदाहरण के रूप में रखकर ठीक अपनी माँ की तरह।

## साक्षात अन्नपूर्णा ही तो थीं वे

परमपूज्य गुरुदेव का समग्र जीवन एक खुली किताब के रूप में सबके सम्मुख रहा। अपने बारे में बहुत कुछ वे स्वयं लिख गए अथवा औरों के माध्यम से अपनी जीवन-गाथा वे बता गए। किन्तु परमवंदनीया माताजी, जिन्होंने उनके पूरक के रूप में शिव-शक्ति के आधे भाग के रूप में निरन्तर काम किया, का जीवन तो अभिसंख्य परिजनों के लिए अंत तक एक रहस्यमयी कथागाथा के रूप में रहा। उनका बहिरंग में सामान्य-सा दीख पड़ने वाला व्यक्तित्व उस हिमखण्ड की तरह था, जिसका एक भाग जो छोटा-सा जल के ऊपर होता है, उससे कई गुना हिस्सा जलमग्न होता है। जो उनके बहुत नजदीक रहे, वे जानते हैं कि कितनी विशाल शक्ति का सागर थीं वह सामान्य-सी दृष्टिगोचर होने वाली सत्ता। व्यक्तित्व जिन घटकों से मिलकर बनता है, उसकी पूर्णता का क्या स्वरूप हो सकता है, व्यावहारिक अध्यात्म जीवनचर्या में कैसे जिया जाता है तथा एक विराट हृदय वाली माता कैसी होती है, किस प्रकार समान रूप में सब पर स्नेह-ममत्व लुटाती रहती है? इसका जीता-जागता नमूना हम मातृसत्ता परमवंदनीया माताजी के जीवन में देखते हैं।

करीब १९४५ के मध्य की बात रही होगी। जिस महिला ने कभी सूती-खादी के सामान्य कपड़े न पहने हों, वह मोटी कण्ट्रोल की धोती में गुजारा करे एवं चेहरे पर एक शिकन भर नहीं। मथुरा में आस-पास रहने वाले ताने कसते किन्तु कोई मन में मलाल नहीं, हिम्मत अंदरूनी इतनी कि कोई आँख से आँख न मिला सके। औघड़दानी के साथ निर्वाह करना कोई आसान काम भी तो नहीं है। वे जिसे चाहे कंधे पर हाथ रखे घर ले आते। घर में कुछ है भी कि नहीं, यह ध्यान नहीं। पत्रिका का चंदा आया तो या कोई दान आदि की राशि आयी, माताजी के हाथ में गुरुजी पकड़ा देते । यह देखने का काम माताजी का ही था कि एक लोहे के तसले व एक लोटे से वे गृहस्थी कैसे चलाएँ? कैसे वे आतिथ्य का सामान जुटाएँ तथा हर आने वाले को भोजन कराएँ? किन्तु पूज्यवर भी जानते थे कि उनकी गुरुसत्ता ने जिसे उनकी सहयोगिनी बनाकर भेजा है, वह सामान्य नहीं है साक्षात अन्नपूर्णा हैं। माताजी ने तरह-तरह की कटौतियाँ की होंगी, स्वयं कितनी बार भूखी रही होंगी, पर किसी को पता लगने नहीं दिया तथा किसी को भी खाली पेट नहीं जाने दिया। यही तो लीलापुरुषों के सामान्य दीख पड़ने वाले क्रिया-कलापों का 'ऑकल्ट' पक्ष होता है।

सारे महीने का हिसाब-खर्चा माताजी स्वयं रखती थीं। साथ ही अखण्ड-ज्योति पत्रिका की हाथ से बने कागज पर, हाथ से छपाई, किताबों की छपाई व सिलाई तथा धीरे-धीरे करके पूर्व में उपेक्षा करने वाले, बाद में घर आकर बस जाने वाले, नजदीक-दूर के सभी रिश्तेदारों व उनके बच्चों की देखरेख, उनकी पढ़ाई का ध्यान व उनसे भी खाली समय काम करा लेना, पूज्यवर के पास आने वाली नित्य की डाक को खोलकर पढ़ते चले जाना व पूज्यवर द्वारा उनका हाथों-हाथ जवाब लिखते चले जाना ही सब नित्य-नैमित्तिक दिनचर्या थी। न जाने कितने बच्चे जो आज बड़ी-बड़ी पोस्ट पर मैनेजर हैं, अधिकारी हैं, उनके ऋणी हैं कि यदि माताजी ने उन्हें आत्मनिर्भर न बनाया होता, तो शायद आज वे वह न होते, जो बन पाए हैं।

द्रोणाचार्य की कथा सबको याद है कि कभी उनके पुत्र ने दूध पीने की जिद की थी व उनकी स्थिति एक भिक्षाधारी ब्राह्मण मात्र की थी, तब उनकी पत्नी ने आटे का घोल बनाकर, दूध पिलाया था व बच्चा अश्वत्थामा संतुष्ट हो गया था। इस युग में ऐसा ही एक घटनाक्रम फिर दुहराया गया तथा एक दिन जब सब अतिथि भोजन करके चले गए, तब माताजी ने मात्र नमक-मिर्च मिले पानी के साथ आधी रोटी खा ली व सोने की तैयारी करने लगीं। उनके पुत्र व पुत्री तब जग रहे थे। उन्होंने जिद की कि वे तो हलुआ खाएँगे। उस समय कहाँ से तो सामान आता व कैसे हलुआ बनता? किन्तु हँसते हुए माताजी ने अन्दर जाकर आटे का घोल बनाकर उसमें गुड़ मिलाकर दोनों बच्चों शैल व सतीश (मृत्युंजय) को हलुआ खिला दिया। प्रेमवती जो साथ रहती थीं, सब देख रही थीं। बोली मैंने तो कभी सोचा भी नहीं था कि तुम व तुम्हारी संतानें इतनी संतोषी हैं। बिना सिके आटे का, बिना घी-शक्कर का हलुआ मैंने आज देखा है। उन्होंने हँसकर उसे सुला दिया। आज भी उनकी बेटी व बेटे को उस हलुए का स्वाद याद है, जिसे खाकर संतुष्ट हो वे सो गए थे।

अपने निज के जीवन में कटौती, कठोरता से बरती गयी सादगी ही व्यक्ति को वास्तव में सही अर्थों में ब्राह्मण बनाती है। उनके व्यक्तिगत जीवन में जो ब्राह्मणत्व उतरा वह ऐसा टिका कि उस पर वैभव न्योछावर होता चला गया। बच्चों को उन्होंने परिश्रम के बदले राशि पुरस्कार रूप में देना आरम्भ किया था, एक पैसे से। उन पैसों को कोई चाहे तो मिठाई-कुलचे, बर्फ के गोले खाकर भी नष्ट कर देता, पर माँ की सिखावन तो चौबीस घण्टे काम करती है। उन्हीं पैसों से बच्चों ने अच्छी-अच्छी किताबें खरीदीं व शादी के समय कुछ पहनने लायक कपड़े बनवाए। यह उन्हीं की शिक्षा थी जो आगे भी हरिद्वार में विशाल शान्तिकुंज बनने तक भी चली व वही क्रिया-पद्धति यहाँ भी चली। इसी कारण यहाँ आने वाला भूखा नहीं रहा। प्रश्न यह नहीं है कि पैसे का अभाव है या किसी के पास साधन नहीं है। साधन न्यूनतम होते हुए भी अपने ब्राह्मणत्व के सहारे व्यक्ति बड़े-से-बड़े अवरोधों से जूझता हुआ चल सकता है व लोकमंगल के निमित्त एक बड़े से बड़ा निर्माण कर सकता है। शान्तिकुंज का गुरुद्वारा, उसका लंगर-बापा जलाराम का भोजनालय इसकी साक्षी है कि यहाँ कभी भी किसी बात की कमी नहीं पड़ी।

माताजी साक्षात अन्नपूर्णा ही थीं व संभवतः उनके पास द्रौपदी की तरह का कोई अक्षयपात्र था, ऐसा सोचने में किसी प्रकार का संदेह मन में नहीं आता। यह इस कारण कि लोहे का एक तसला घर से लेकर चला ब्राह्मण जो इस राष्ट्र की परतंत्रता के संघर्ष के लिए उसे लेकर निकला था व जिसे उसने अपनी भार्या को विवाह उपहार रूप में सौंपा, वह उसने अंत तक अपने पास ही रखा। ओढ़ी हुई गरीबी व्यक्ति को बदले में अनेक गुनी धन-सम्पत्ति देती है यदि परमार्थ के लिए जीवन जिया गया हो। उसका प्रत्यक्ष नमूना शान्तिकुंज है, जहाँ माताजी को दी जाने वाली हर खाने की वस्तु, पहनी जा सकने वाली वस्तु कोई भी भेंट की बहुमूल्य वस्तु समान रूप से इस विशाल कुटुम्ब में बाँट दी जाती है, उसके बदले उतना ही अधिक पुनः आ जाता है।

एक बार परमवंदनीया माताजी व पूज्यवर एक यज्ञ में एक साथ राजकोट, भावनगर आदि की यात्रा पर गए। जिस घर में पूज्यवर आए हों, वह भी १९६७-६८ के समय में, जबकि मिशन कहाँ का कहाँ पहुँच गया हो, वहाँ भक्तजनों का आना स्वाभाविक है। एक घर में माताजी ने स्वयं चौके में जाकर देखा कि ८-९ व्यक्तियों के लिए ही खाना बना था, इतनी ही उस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति भी थी, पर घर के सामने के मैदान में प्रणाम करने वालों की भीड़ थी। सबको भोजन कराए बिना माँ अन्नपूर्णा स्वयं भोजन कैसे करें? यही पशोपेश की स्थिति थी। माताजी ने गुरुदेव की ओर मुसकराकर देखा और कहा कि पहले सब भोजन के लिए बैठ जाएँ, तब हम करेंगे। वे भी मुसकरा दिए। माताजी ने चौके में जाकर एक दीपक वहाँ प्रज्वलित कर दिया, जहाँ राशन रखा था। घर की मालकिन से कहा कि अब वे रोटी बनाना चालू करें व सब्जी तैयार करती रहें। खाना बनता रहा। उसी भोजन-सामग्री में दो सौ से अधिक व्यक्तियों ने भोजन कर लिया, सभी ने दर्शन कर लिए, तब माताजी व गुरुदेव ने भी भोजन किया। उसके बाद भी घर वालों के अतिरिक्त आठ व्यक्तियों के लिए भोजन बचा था।

इस लीला को बताइए, क्या कहेंगे। चमत्कार अथवा एक गरीब की लाज की रक्षा लीलावतार द्वारा। ऐसे एक नहीं अनेक घटनाक्रम हैं, जो उनके समीप रहने वाले जानते हैं। शान्तिकुंज में रहने वाले हर कार्यकर्ता को उस समय तक की (१९८३-८४) जानकारी है, जब तक परम वंदनीया माताजी पर प्रत्यक्षतः पूरा भार नहीं आया था। प्रत्येक को बाजरे की रोटी बनाकर खिलाना, अपने सामने बिठाकर भोजन करा, तृप्त करना। कोयले की अँगीठी पर पापड़ सेंककर खिलाना, लगा कि बच्चों की इच्छा है, तो

बेसन नमकीन हलुए के रूप में बनाकर खिलाना हम सबको याद है। उस स्वाद की याद आती है तो मन माँ के स्नेह में भीगकर रस से सराबोर हो जाता है व लगता है, कौन-सा पूर्वजन्म का सौभाग्य था जो साक्षात माँ अन्नपूर्णा का इतना सामीप्य मिला। ये स्मृतियाँ हम सबके लिए एक सौगात हैं, अनमोल धरोहर हैं व हर किसी के लिए उस मातृसत्ता के एक अविज्ञात स्वरूप की झलक-झाँकी हैं, जिसे देख-पढ़कर हर कोई अध्यात्म सिद्धि का मूल जान-समझ सकता है।

## नारी-जागरण की धुरी बनीं वंदनीया माताजी

"माताजी को केन्द्र बनाकर नारी शक्ति का विकास होगा।" परमपूज्य गुरुदेव के इन शब्दों को वंदनीया माताजी की गतिविधियों, क्रिया-कलापों में साकार होते अनुभव किया जा सकता है। स्वयं गुरुदेव ने महिलाओं की पीड़ा को कम अनुभव नहीं किया। इस अनुभूति के पीछे उनका नारी-अंतःकरण था। जिसे उन्हीं की भाषा में कहें तो- "पुरुष की तरह हमारी आकृति बनाई है, कोई चमड़ी हटा कर देख सके, तो भीतर माता का हृदय मिलेगा। जो करुणा, ममता, स्नेह और आत्मीयता से हिमालय की तरह निरन्तर गलते रहकर गंगा-यमुना बहाता रहता है।" हृदय की इन्हीं विशिष्ट धड़कनों में उन्होंने नारी की पीड़ा-व्यथा-वेदना की गहरी अनुभूति की।

वंदनीया माताजी ने तो अंतःकरण ही नहीं, शरीर भी नारी का पाया था। ऐसे में स्वाभाविक है उनका हृदय हजारों साल से दलित, शोषित, उत्पीड़ित नारी का जीवन शास्त्र बन जाए। उनके दिल की धड़कनों में हमें बौद्धिक विवेचनाओं के आकर्षण, ग्रन्थों के भण्डार, लेखमालाओं, वक्तृताओं के अम्बार भले ही न मिलें, पर वह आकुलता-आतुरता जरूर देखने को मिलती है, जिसे छूकर कोई भी मन नारी-जागरण के लिए कुछ करने को हुलस उठे। प्राणों में वह तड़प भरी बेचैनी पैदा हो जाए, जो अपने समूचे जीवन को इसके लिए उत्सर्ग करने के लिए कृतसंकल्पित हो सके।

उनकी यही व्याकुल भावनाएँ हैं, जिसका खाद-पानी पाकर 'नारी-जागरण' का विशाल वट-वृक्ष आज युग-निर्माण योजना के आँगन में फल-फूल रहा है। जिसकी छाया हजारों महिलाओं के मन का संताप हरती हैं। इस विशालकाय हो चुके वृक्ष के बीजारोपण की कहानी बड़ी मार्मिक है। उन दिनों माताजी आँवलखेड़ा से मथुरा आई ही थीं। कुछ अधिक साल नहीं हुए थे। एक दिन एक महिला आकर उनसे लिपटकर रोने लगी। उसके आँसू थमते न थे। बहुत समझाने-बुझाने पर बोली- "भला आपके सिवा मेरा दुख-दर्द और कौन समझेगा?"

आखिर सुनूँ भी तेरा दुःख-दर्द? क्या पीड़ा है तुझे अपनेपन और प्यार के दो बोल सुनकर उसने अपनी कथा कह सुनाई। "मेरा नाम फूलवती है। मेरे पति ने मुझे घर से निकाल दिया है। मायके वाले रखने को तैयार नहीं है। इस संसार में मेरा कहीं ठिकाना नहीं।" लगभग तीस वर्ष की इस महिला से अधिक पूछताछ करने पर पता चला कि उसके पति ने उसे इस वजह से घर से बाहर कर दिया है क्योंकि मायके वालों ने अधिक दान-दहेज नहीं दिया है। अब तो मायके वालों ने भी मुँह फेर लिया है, क्योंकि लड़की घर का कूड़ा जो होती है और बाहर किए गए कूड़े को फिर से घर में ले आना कोई समझदारी तो नहीं। लेकिन माताजी के लिए तो उसका कष्ट अपना कष्ट था। उन्होंने समझा-बुझाकर प्यार के साथ अपने यहाँ रख लिया। हाँ इस घटना ने उन्हें सोचने के लिए विवश जरूर किया कि आखिर महिलाओं के प्रति इतना दूषित दृष्टिकोण क्योंकि माँ-बाप उसे घर का कूड़ा मानें। लड़कों की तुलना में लड़कियों का दर्जा निचला हो। पति की नजर में वह कामुकता की आग बुझाने का खिलौना है। जिसे जब तक मन आया इस्तेमाल किया, जब मन चाहा बाहर फेंक दिया। ससुराल वालों की दृष्टि में उसकी औकात महज एक दासी की है, जिसे दिन-रात काम में जुटे रहने के बदले किसी सम्मान या सुविधा पाने का अधिकार नहीं।

सिलसिला फूलवती तक सीमित नहीं रहा। इसी तरह की एक अन्य महिला भी आयी, नाम था- प्रेमवती देवी। इनकी उम्र लगभग तीस वर्ष थी। विधवा थी। उनकी लिखावट बहुत सुन्दर थी। उन्होंने माताजी का बहुत प्यार पाया। माताजी ने इनको डाक विभाग का काम सौंपा। जिसे वह बड़ी खूबसूरती और निष्ठा के साथ करती थी। एक अन्य महिला भी इस कड़ी में आ जुड़ी, नाम था- कौशल्या देवी। इनकी उम्र तकरीबन पचास साल रही होगी। ये लुधियाना की रहने वाली थीं। ये खाना बनाने में मदद करती थीं। कौशल्या की तरह रतन देवी भी आ मिलीं। इनका निवास स्थान नेपाल में था। इनके पति ने इन्हें छोड़ दिया था। आयु लगभग तीस वर्ष रही होगी। इन चार महिलाओं के साथ पाँचवीं महिला थी- नारायणी, जिन्हें माताजी का सहचरत्व मिला।

इन पाँच महिलाओं को लेकर एक महिला मण्डल बनाया गया। अब तो युग-निर्माण योजना के अंतर्गत सैकड़ों-हजारों महिला-मण्डल हैं, परन्तु यह पहला महिला-मण्डल था। यही थी नारी जागरण अभियान की शुरुआत, जिसे माताजी ने अपने हाथों सम्पन्न किया। वह स्वयं इन पाँचों को पढ़ने-लिखने की ही औपचारिक कला के साथ जीवन-विद्या सिखातीं, उन्हें यह भी सिखाया जाता कि जिन्दगी की समस्याओं से किस तरह जूझा और उबरा जाए। शिक्षा के साथ स्वावलम्बन का भी क्रम चलता।

शिक्षा और स्वावलंबन का अभाव ही है, जिसकी वजह से पर्दाप्रथा, अनुभवहीनता एवं सामाजिक कुरीतियों में आधी जनसंख्या बेतरह जकड़ी हुई है। इस पराधीनता का एक रूप यह भी है कि उसे पर्दे में, पिंजड़े में, बंदीगृह

की कोठरी में ही कैद रहना चाहिए। इस मान्यता को अपनाकर विश्वजननी अबला की स्थिति में पहुँच चुकी है। आक्रांताओं का साहसपूर्वक मुकाबला करने की बात दूर, अब तो आड़े समय में अपना और अपने बच्चों का पेट पाल सकने तक की स्थिति नहीं रही है। व्यापार चलाना, बड़े-बड़े पदों की जिम्मेदारी सँभालना तो दूर, परिवार व्यवस्था से जुड़े साधारण कामों में हाट, बाजार, अस्पताल तथा अन्य किसी विभाग का सहयोग पाने के लिए जाने में गूँगे-बहरों की तरह व्यवहार करती हैं।

इन परिस्थितियों में बदलाव आना तब तक मुमकिन नहीं, जब तक महिलाओं में आत्मबल नहीं जगता। साथ ही नारी के प्रति, मातृशक्ति के प्रति जनश्रद्धा का जागरण नहीं होता। गायत्री तपोभूमि के निर्माण के साथ इन दोनों कार्यक्रमों को आन्दोलन के स्तर पर चलाने की बात सोची गई। नारी आत्मबल सम्पन्न बने, इसके लिए सामान्य सामाजिक प्रयासों के अलावा साधनात्मक उपक्रम भी आवश्यक हैं। इसी को पूरा करने के लिए महिलाओं को गायत्री जप का अधिकार दिया गया। इसका उपयोग सबसे पहले माताजी ने स्वयं किया। फिर गुरुदेव के साथ देश भर में घूम-घूम कर हजारों महिलाओं को गायत्री मंत्र में दीक्षित किया।

यों गायत्री मंत्र सविता उपासना का मंत्र है। विभिन्न संप्रदायों में इसकी उपासना की अनेक पद्धतियाँ-विधियाँ देखने को मिलती हैं, परन्तु गुरुदेव-माताजी को तो वह उपासनाविधि प्रचलित करनी थी, जिससे मातृशक्ति के प्रति जन-भक्ति जाग्रत हो। इसी को लक्ष्य करके गायत्री माता की साधना का प्रचार हुआ। ऋषियुग्म के तप-प्रभाव से गायत्री शक्ति युगशक्ति बनकर अवतरित हुई। इस काम में संकट कम नहीं आए। पण्डे, पुजारियों, धर्माचार्यों ने कम विरोध नहीं किया। विरोध का यह क्रम अपमान-तिरस्कार तक ही सीमित नहीं रहा। मृत्युसंकट के कुचक्र भी खड़े किए गए, पर जिसका लक्ष्य ही आत्मबलिदान हो, उसने संकटों की कब परवाह की है?

समाज के इन ठेकेदारों ने अपने कुचक्रों के कारण नारी की स्थिति पंख कटे पक्षी की तरह कर डाली है। यद्यपि आज के इन प्रचलनों का प्राचीन भारतीय संस्कृति के साथ कोई ताल-मेल नहीं बैठता, स्वर्ग-नरक, आकाश-पाताल में जितना अन्तर है उतना ही नारी के प्रति प्राचीनकाल में उच्चस्तरीय श्रद्धा रखे जाने और सुविधा दिए जाने की स्थिति में और इस हेय प्रतिबन्धन की स्थिति में समझा जा सकता है। सामंती युग के इन अवशेषों ने जिसे नरक का द्वार कहकर उपेक्षणीय ठहराया, वैदिक ऋषिगण उसी की प्रशंसा करते नहीं अघाए।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण वैदिक भारत में ईश्वर की मातृ रूप में प्रतिष्ठा है। माँ की गरिमा एवं महत्ता को समझ कर ही ऋषियों ने मातृशक्ति की आराधना एवं पूजा का विधि-विधान बनाया। बुद्धि-विवेक से सम्पन्न मनुष्य ने सभ्यता की ओर जैसे ही कदम रखना प्रारम्भ किया, उसके दिमाग में यह सवाल उभरा वह आया कहाँ से? यहीं से माँ के प्रति श्रद्धा भाव उत्पन्न हुआ और ईश्वर को आदि जननी मानकर आराधना प्रारम्भ की। यहीं से प्रेरणा पाकर संसार की सभी संस्कृतियों में मातृशक्ति की उपासना किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

गायत्री महाशक्ति की उपासना का क्रम और कुछ नहीं प्राचीन का नवीनीकरण था। नारीशक्ति को महाशक्ति बनाने का उपक्रम था। गायत्री साधना से आत्मबल प्राप्त करके महिलाएँ समाज में अपना बहुमुखी विकास कर सकें, इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर शान्तिकुंज की स्थापना हुई। इस भावपूर्ण प्रयास को गुरुदेव के शब्दों में कहें तो- ''शान्तिकुंज की स्थापना का मूल प्रयोजन माता जी के मार्गदर्शन में महिला जागरण अभियान का आरम्भ करके उसे नारी के समग्र उत्कर्ष की अनेकानेक गतिविधियों को विश्वव्यापी बनाना है।''

शान्तिकुंज की स्थापना के तुरन्त बाद पूज्य गुरुदेव तो तप-साधना के लिए हिमालय चले गए। यहाँ माताजी ने नारी के अभ्युदय एवं विकास के लिए अनवरत साधना का क्रम अपनाया। अनेकों कन्याओं को उन्होंने इसमें अपना भागीदार बनाया। पहले इन लड़कियों की संख्या चार थी बाद में चौबीस हुई, बाद में बढ़ते-बढ़ते सौ से भी अधिक पहुँच गई। साधना के साथ इन लड़कियों के शिक्षण का काम भी वह स्वयं सम्पन्न करती रहीं। शिक्षण के इस क्रम में औपचारिक शिक्षा के साथ संगीत-कर्मकाण्ड, पौरोहित्य के साथ वक्तृत्व कला का भी समुचित स्थान रहता।

उन दिनों शान्तिकुंज का कलेवर इतना बड़ा न था। सिर्फ दो-तीन कमरों का छोटा-सा परिसर था। आस-पास वनप्रान्त, निकट में बहती गंगा की जलधारा, इस सब की सुरम्यता अनुभव ही करने योग्य थी। शब्दों में भला वह सामर्थ्य कहाँ कि इसका वर्णन कर सकें। जैसे-जैसे लड़कियों की संख्या बढ़ती गई, नए भवन भी विनिर्मित होते गए। बाद में गुरुदेव के वापस आने पर विधिवत देवकन्या प्रशिक्षण विद्यालय आरम्भ किया गया। जिसकी मुख्य अधिष्ठात्री भी माताजी स्वयं थीं।

उनके द्वारा प्रशिक्षित की गई कन्याओं ने सारे देश में कार्यक्रम सम्पन्न करके नए कीर्तिमान स्थापित किए। पन्द्रह से अठारह साल की इन भोली-भाली मासूम कन्याओं का उद्‌बोधन सुनकर लोग आश्चर्यचकित रह जाते। ऐसा ही एक कार्यक्रम लखनऊ में सम्पन्न हुआ। इस कार्यक्रम में उस समय के उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल एम. चन्ना रेड्डी भी उपस्थित हुए। कार्यक्रम की समाप्ति पर वह इन कन्याओं से मिले, पूर्ण जानकारी प्राप्त की। जानकारी मिलने पर उन्होंने कहा- आप लोगों के कार्यक्रम ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। मैं माताजी एवं गुरुजी से मिलने शान्तिकुंज जरूर आऊँगा और कुछ समय बाद आए भी। माताजी से मिलने पर बड़े भावविह्वल स्वर में बोले- धन्य हैं आप, जिसने ऐसी कन्याएँ प्रशिक्षित कीं। वैदिक साहित्य में घोषा-अपाला के बारे में पढ़ा था, आज देख भी लिया।

देवकन्या प्रशिक्षण के साथ वंदनीया माताजी ने पूज्य गुरुदेव के सहचरत्व एवं संरक्षण में विधिवत नारी-जागरण अभियान शुरू किया। इसे शुरू करते हुए उन्होंने कहा- हमारे नारी-जागरण का मतलब है- संवेदनाओं का जागरण और भावनाओं का विकास। इसे पश्चिम का 'नारी मुक्ति आन्दोलन' समझने की भूल न करनी चाहिए। जिसके अंतर्गत नारी-पुरुष बनने के लिए उतारू हैं। पुरुषों ने पहले ही क्या कम उलझनें पैदा कर रखी हैं? इन्हें पुरुष बनकर नहीं सुलझाया जा सकता। इन्हें सुलझाने के लिए तो महिलाओं को अपने अन्दर मातृत्व का विकास करना होगा। इस अभियान के क्रिया कलाप उन्होंने चार भागों में बाँटे- (१) साहित्य प्रकाशन, (२) नारी शिक्षण सत्र, (३) संगठन द्वारा संघशक्ति का उदय, (४) रचनात्मक कार्यक्रमों का व्यापक विस्तार।

उनके द्वारा चलाया गया यह सिलसिला अभी तक चल रहा है। वह भले ही आज स्थूल रूप से हम सबके बीच नहीं हैं, परन्तु उनका शक्तिप्रवाह यथावत है। जिससे ऊर्जा पाकर नारी-जागरण अभियान की गति और अधिक तेज हुई है। इसका प्रमाण आँवलखेड़ा अर्द्धपूर्णाहुति समारोह में उस समय देखने को मिला है, जब शान्तिकुंज में प्रशिक्षित ब्रह्मवादिनी महिलाएँ एक विराट अश्वमेध यज्ञ के समारोह का संचालन कर रही थीं।

## मातृसत्ता की अन्तर्वेदना काश हमारी भी व्यथा बन जाए

जैसे-जैसे प्रतिवर्ष भाद्रपद पूर्णिमा के दिन समीप आते हैं, विगत वर्षों का वह अभाव सतत अंतर्जगत को कचोटता रहता है, व्यथित करता रहता है कि जिनके कुछ पल का बिछोह भी दुखी कर देता था, जैसे कि छोटा बालक माँ से बिछुड़ कर क्रन्दन करने लगता है, कैसे उस माँ के बिना यह अवधि हमने काटी व आगे कैसे यह जीवन-यात्रा चला सकेंगे। विराट गायत्री परिवार की संरक्षिका, परमपूज्य गुरुदेव का जीवन भर ममत्व बाँटने में कदम से कदम मिलाकर साथ चलीं परमवंदनीया माताजी की पुण्यतिथि भाद्रपद पूर्णिमा महालय श्राद्धारम्भ पर मनाई जाती है।

१९ सितम्बर की पूर्वाह्न की वेला में परमवंदनीया माताजी अठारह विराट आयोजन सम्पन्न करवा के हम सबके कंधे मजबूत समझकर अपनी आराध्यसत्ता के साथ एकाकार हो गयी थीं। कंधे मजबूत नहीं थे, हम एक-दूसरे की उँगली पकड़कर साथ-साथ चलना सीख रहे थे, मात्र उनकी शक्ति के सहारे ही श्रद्धांजलि समारोह, शपथ समारोह एवं अठारह देव-संस्कृति दिग्विजय अभियान के आश्वमेधिक प्रयोग सम्पन्न कर पाए थे, जिन्होंने लाखों नहीं, तीन करोड़ से अधिक व्यक्तियों को गायत्री परिवार से जोड़ा था। प्रथम आघात हम सबने तब सहा, जब परमपूज्य गुरुदेव १९९० में हम सबको वसंत पर्व पर महाकाल का संदेश देकर पूर्व घोषणानुसार गहन सूक्ष्मीकरण की स्थिति में प्रवेश कर क्रमशः ब्रह्मबीज के उत्पादन-ब्रह्मकमल के विस्तार, ज्ञानबीज के घर-घर पहुँचने व उज्ज्वल भविष्य का संकेत देकर गायत्री जयंती के दिन स्थूलशरीर से महाप्रयाण कर सूक्ष्म में विलीन हो गए। वैसे तो १९८४ से ही पूज्यवर ने सूक्ष्मीकरण एवं बाद में क्रमशः मिलने का क्रम कम करते-करते स्वयं की चेतना को सिकोड़ लिया था, उनकी चेतना का एक बहुत बड़ा अंश विश्वराष्ट्र की परिस्थितियों को सुधारने-नवसृजन का उद्देश्य पूरा करने के निमित्त नियोजित हो चुका था। सारा भार वे परमवंदनीया माताजी के कंधों पर सौंप गए थे, मात्र अट्ठावन वर्ष की आयु में। १९२६ में जन्मीं माताजी ने यों १९५९-६०-६१ में भी अखण्ड-ज्योति का संपादन सँभाला, १९७१-७२ में भी पूज्यवर के हिमालयप्रवास पर मिशन की बागडोर सँभाली, किन्तु १९८४-८५ की स्थिति अलग थी। गायत्री परिवार विराट रूप ले चुका था। स्थान-स्थान पर गायत्री शक्तिपीठ, प्रज्ञासंस्थान विनिर्मित हो चुके थे, राष्ट्र भर में प्रज्ञायोजन सम्पन्न हो रहे थे। शांतिकुंज गायत्रीतीर्थ का रूप ले विराट आकार धारण कर चुका था, ब्रह्मवर्चस शोधसंस्थान का कार्यक्षेत्र बढ़ता ही जा रहा था, नये उपकरण, नये शोधग्रन्थ तथा गायत्री तपोभूमि में प्रज्ञानगर के निर्माण, नयी प्रेसों का लगना, कम्प्यूटर आदि का आना, आँवलखेड़ा शक्तिपीठ का निर्माण युगतीर्थ के रूप में हो चुका था। ऐसी स्थिति में पूज्यवर एक बन्द कोठरी में २ वर्ष तप कर रहे चैत्र नवरात्रि १९८४ से वसंत पर्व १९८६ तक तथा उसके बाद भी कक्ष में सीमित ही लोगों से मिलते रहे।

कैसे इन परिस्थितियों में इस मातृसत्ता ने इस सारे कार्य भार को सँभाला होगा, सोच-सोच कर आश्चर्य होता है, जब उनकी शारीरिक क्षमताओं की सीमा को हम सभी शिष्यगण देखते थे। माताजी की गुरुदेव के-अपने आराध्य के विषय में क्या धारणा थी, यह उन्होंने जून १९६० की अपनी पत्रिका में तब लिखा है, जब परमपूज्य गुरुदेव उत्तरकाशी से दुर्गम हिमालय की ओर प्रस्थान कर चुके थे-माताजी 'अखण्ड-ज्योति' के तब के संपादकीय में लिखती हैं- ''जब से मैंने इस घर में प्रवेश किया है, तभी से मैंने यहाँ जीवित तीर्थ के दर्शन किए हैं। देवप्रतिमा को चलती-फिरती, खाती-बोलती देखा है, फलस्वरूप मेरी अन्तरात्मा एक विशुद्ध 'भक्त' की भावना के ढाँचे में ढल गयी है। उनकी (गुरुदेव की) आकांक्षाओं के अनुरूप ही मैंने अपने को बनाने और चलाने का प्रयत्न किया है, परिवार की परिस्थितियों को भी ऐसा ही बनाया है, जिससे उनके लक्ष्य की पूर्ति में बाधा न पड़े। फिर भी मनुष्य, मनुष्य है, उससे गलतियाँ होना स्वाभाविक है। सम्भव है, कोई पारिवारिक कारण ऐसा हुआ हो जिससे उन्हें घर छोड़कर कहीं अज्ञातवास में साधना करना सुविधाजनक जँचा हो।''

कितनी सहज अभिव्यक्ति है कि कोई गलती कहीं हमसे रही होगी, इसीलिए पूज्यवर अज्ञातवास पर अपना

महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित करने गए हैं। सभी जानते हैं कि उस अज्ञातवास की अवधि में 'सुनसान के सहचर' (अँग्रेजी में कलीग्स ऑफ सॉलीट्यूड नाम से अनूदित) समग्र आर्षग्रन्थों का भाष्य, वेद, पुराण, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण, स्मृति, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान एवं सुव्यवस्थित तीन खण्डों में गायत्री महाविज्ञान की रचना हुई, नियमित गायत्री की कठोर तप-साधना चलती रही, गुरुसत्ता से विचार-विमर्श होता रहा एवं युगनिर्माण योजना की रूपरेखा भी वहीं बैठकर बनी। परमवंदनीया माताजी ने इन दिनों भी किसी को कमी महसूस नहीं होने दी कि उनको प्यार देने वाले, अपनी छाती से लगाकर, मुर्गी की तरह अण्डे को सेने वाले उनके पिता उनके पास नहीं हैं। यों बात अलग है कि अनेकों को उनके सामीप्य की, साथ बैठकर मार्ग-दर्शन देने की, स्वास्थ्य-लाभ हेतु स्वयं उनके अपने घर पधारने की उन्हीं दिनों अनेकानेक अनुभूतियाँ हुईं। यह परमपूज्य गुरुदेव का सिद्धपुरुष वाला वह पक्ष है, जिस पर वह हमेशा अपनी वाणी को लगाम देते रहे, कभी न कहा-न कहने दिया। उन्हीं दिनों बहुत से परिजनों को उन्होंने पत्र भी लिखे जो गंगोत्री पो. आ. से पोस्ट होकर भी दो दिन के अन्दर लोगों को मिले, जिनमें दैवी संरक्षण सतत उनके साथ होने की बात लिखी थी। एक बानगी उस पत्र की है जो एक परिजन को गंगोत्री से ४-७-६० को लिखा गया, ६-७-६० को पहुँच गया, लिखा था- "आप से एक वर्ष तक मिलन तथा पत्र-व्यवहार तो न हो सकेगा, परन्तु फिर भी आपका वैसे ही ध्यान रखेंगे जैसे आकाश में उड़ती हुई चिड़िया अपने अण्डे, बच्चों का ध्यान रखती है।" ऐसी अद्भुत जीवन-साधना व उसकी सिद्धि थी उस लीलापुरुष की तो फिर उनकी जीवन सहचरी रहीं परमवंदनीया माताजी की ओर से परिवार को संरक्षण-प्यार बाँटने में कहाँ कोई कमी थी? जो भी उनके पास अखण्ड-ज्योति संस्थान आया या शान्तिकुंज हरिद्वार दर्शनार्थ आया, उनका असीम स्नेह-अपनत्व पाकर गया, उनका बनकर चलता गया। यही तो सबसे बड़ी पूँजी ऋषियुग्म की थी, जिसकी याद आज इन पंक्तियों को लिखते समय बार-बार आ रही है।

परमवंदनीया माताजी का हृदय तो माँ का ही था, उन्होंने सदा अपने बच्चों की वेदना को समझा, इसीलिए उन्होंने उसी जून १९६० के सम्पादकीय में लिखा- "पूज्य आचार्य जी को अनेक कष्ट उठाने होंगे, वे हमसे दूर रहेंगे, इस विचार से हमारे दुर्बल हृदय में करुणापूर्ण आर्द्रता होनी स्वाभाविक है। आँखों से आने वाले आँसुओं से सींचे जाने पर ही धर्म का पौधा हरा रह सकता है, यह सोचकर अश्रुबिन्दु उनके चरणों में श्रद्धांजलि रूप में चढ़ाकर संतोष कर लेते हैं। वेदमूर्ति आचार्य जी ने अपने सारे जीवन को तिलतिल ज्ञान की ज्योति जलाने के लिए होमा है। माता उस महामानव के महान लक्ष्य को पूर्ण करे, यही कामना है।" कितनी कठोरता से अपने हृदय पर पत्थर रखकर परमवंदनीया माताजी ने यह सब संपादकीय के शब्द लिखे होंगे, सोचकर मन विचारशून्य हो जाता है। याद रखने की बात है कि उन दिनों आयु की दृष्टि से परमवंदनीया माताजी मात्र चौंतीस (३४) वर्ष की थीं। इतनी परिपक्वता, अपने पर नियंत्रण की इतनी क्षमता मात्र पूर्वजन्मों की सती-पार्वती स्तर की तप-साधना तथा युगावतार पूज्यवर के साहचर्य से ही आ सकती थी। यही उनकी क्षमता मिशन के दृढ़ आधारभूत स्तंभ विनिर्मित होने का निमित्त बनी।

सम्भवतः तप की यही पूँजी अगले दिनों १९७०-७१ में काम आनी थीं जब परमवंदनीया माताजी को दुहरे दायित्व निभाने पड़े। एक तो यह कि पूज्यवर पहले ही घोषणा कर चुके थे कि वे स्थायी रूप से मथुरा छोड़कर अब हिमालय चले जाएँगे। वहाँ जैसा गुरुवर का आदेश होगा, वैसा करेंगे, पर मथुरा वापस नहीं आएँगे। माताजी के लिए निर्धारण शान्तिकुंज रहने का हो गया था, जहाँ सप्तसरोवर में आज स्थित गायत्रीतीर्थ की भूमि पर १९६८-६९ से ही निर्माणकार्य देखने सतत पूज्यवर अकेले या किसी सहायक के साथ आते रहते थे। यह बात तो सुनिश्चित ही है कि जहाँ वर्षों रहे वहाँ से स्थायी रूप से जाना है, बेटा, बहू, बेटी सबसे नाता तोड़कर एक विराट परिवार की रक्षा के लिए कठोर तप कर अखण्ड दीपक की रक्षा करनी है। दूसरे उन्हीं दिनों पूज्यवर गुरुदेव के साथ बाहर वे कई क्षेत्रीय कार्यक्रमों में स्वयं भी गयीं, विशेष रूप से विदाई से पूर्व आयोजित पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजनों की शृंखला में उन्हें जाना ही पड़ा। सारी यात्रा मिलने-जुलने का दबाव झेला, जून, १९७१ माह के प्रथम सप्ताह में ही अपनी बेटी का विवाह कर उसकी विदाई की, विराट विदाई सम्मेलन की तैयारी की जो मात्र १२ दिन दूर था एवं २० जून को विराट भीड़ से अश्रुपूरित विदाई लेकर मथुरा छोड़कर हरिद्वार आना पड़ा।

इतने सारे दबावों के बीच उनकी माँ समान पूज्यवर की माताजी जिन्हें सब प्यार से 'ताईजी' कहते थे, वे भी फरवरी, १९७१ में महाप्रयाण कर गयीं। उस स्थिति को भी पूज्यवर के बाहर दौरे की स्थिति में झेला तथा सारा कार्य-भार सँभाला, सबको हिम्मत दी एवं कहीं भी थोड़ी भी विचलित होतीं वे दिखाई नहीं दीं। कोई सामान्य व्यक्ति इतने सारे तनावों-दबाव, दिन-रात का जागरण, आसन्न विदाई की बार-बार याद करके शायद पलँग पकड़ लेता किन्तु माताजी ने हिम्मत बनाए रखी। उस पर ३० जून को सबसे विदा लेकर स्थायी रूप से आचार्यश्री हम सबके आराध्य, मध्य रात्रि में पैदल हिमालय कब रवाना हो गए, किसी को कुछ नहीं जानकारी मिल पायी। विछोह की इस घड़ी में प्यारी-प्यारी १०-१२ वर्षों की नन्हीं-नन्हीं देवकन्याओं को, जिनके पिता उन्हें उनके पास तप हेतु छोड़ गए थे, मात्र भाई श्री बलराम सिंह जी परिहार व दो और भाई यहाँ शेष रह गए थे, चारों ओर जंगल-नितान्त एकान्त वातावरण, साथ रखकर माताश्री ने २४० करोड़ गायत्री जप का अखण्ड दीपक के समक्ष शुभारम्भ किया।

नित्य उनके शिक्षण की पूरे परिसर को सुव्यवस्थित बनाए रखकर, 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका के नियमित प्रकाशित होते रहने की व्यवस्था की। उन्हीं की शक्ति के सहारे आज तो यह रौनक भरे किन्तु १९७१-७२ में नितान्त सूने-छोटे आश्रम परिसर में तीन भाई सपरिवार यहाँ रह रहे थे। नीचे वे, ऊपर माताजी व बच्चियाँ । छह माह से अधिक माताजी सारा दबाव व पूज्यवर का वियोग सहन न कर पायीं।

कुछ परिस्थितियाँ भी दैवयोगवश ऐसी बनीं कि पूज्यवर को भी संकेत यही मिलने लगे कि उन्हें एक वर्ष में ही सारी मार्ग-निर्देशन लेने की प्रक्रिया, तप-साधना पूरी करके ऋषिपरम्परा का बीजारोपण करने के निमित्त वापस शान्तिकुंज ही आना है, किन्तु माताजी की हृदय विदारक वेदना उन्हें सूक्ष्म अनुभूति के रूप में हिमालय में हुई। वे अपनी हिमालयवासी सूक्ष्मशरीरधारी गुरुसत्ता से आज्ञा लेकर मात्र कुछ दिनों-घण्टों के लिए माताजी को देखने आ पहुँचे। माताजी को पहला दिल का दौरा तभी पड़ा था। न जाने कौन-सी बड़ी आपदा विश्व-वसुधा पर थी, जो अनायास नियति ने उन्हें झेलने को दी एवं उसे गुरुदेव की उपस्थिति में उन्होंने सहर्ष झेल लिया। सभी जानते हैं कि १९७१-७२ का समय बंगलादेश (पूर्व का पूर्वी पाकिस्तान) के विघटन का, भारत के इतिहास का एक अप्रत्याशित मोड़ था। आसुरी शक्तियाँ उन दिनों सक्रिय थीं। भारत पर सभी की निगाहें थीं। प्राकृतिक आपदाएँ भी जोरों पर थीं। सब कुछ उस हृदय के दौरे के साथ निकल गया। गुरुवर आए और चले गए। इन पंक्तियों का लेखक जो तब चिकित्सक बना ही था, सीख रहा था, कुछ दिनों के लिए संयोगवश यहाँ आया था, कुछ समझ न पाया कि जो भी कुछ परिवर्तन हृदय के इतने तीव्र आघात के स्थायी रूप से कार्डियोग्राम में बने रहते हैं, कैसे गायब हो गए। बाद में बहुत सोचने पर व पूज्यवर के लौटकर वापस आने पर पूछने पर उन्होंने कहा- ''यह गुह्यविज्ञान की गुत्थी है, तुम्हारी समझ में नहीं आएगी। अभी तुम्हारा विज्ञान इन सबको जानने की प्रगति नहीं कर पाया है।''

सच ही तो है-संवेदना का जो सागर हो, जिसने सब कुछ झेलकर अपनी आराध्य-शक्तिस्रोत के सहारे हँसकर विश्व पर आयी संकटों की घड़ी को निरस्त करने के निमित्त टाल दिया हो, उसकी इस लीला को एक चिकित्सा वैज्ञानिक समझ भी कैसे सकता है। बाद में स्थायी रूप से ६ वर्ष बाद शान्तिकुंज आने पर शक्तिस्वरूपा माताजी के, उनके आराध्य, हमारे इष्ट परमपूज्य गुरुदेव के अनेकानेक गुह्यपक्ष जीवन के ऐसे देखने को मिले, जिससे स्वयं को उनके लीला-सहचर बनने का अन्यान्य उनके साथ रहे कार्यकर्त्ताओं के नीचे रहकर स्वयंसेवक भाव से गलने के शिक्षण को, सौभाग्य को बार-बार सराहा, समय पर लिए गए निर्णय पर स्वयं को बधाई दी कि सही वक्त पर, शक्ति के साथ कार्य करने का मौका मिला है।

ऐसी मातृसत्ता, जिन्होंने इतना प्यार दिया, अपनत्व दिया कि किसी को सगी माँ से भी न मिला हो, सबके लिए समान रूप से जिसका हृदय विशाल हो, छोड़कर एकाएक चली जाए, तो अंतःकरण की स्थिति क्या होगी, कोई भी समझ सकता है। चित्रकूट से लौटते ही जब उन्होंने स्वयं को सिमेटने एवं अपने आराध्य के पास शीघ्र जाने की बात कही, तब सहसा विश्वास नहीं हुआ कि इतना शीघ्र ही यह सब हो जाएगा। वे अपने आराध्य के पास जाने को आतुर थीं। चार वर्ष का समय उन्होंने उनके बिना किस तरह काटा, उनके साथ रहने वाले, पूज्यवर पर बोलते समय उन्हें भावविह्वल होते देखने वाले जानते हैं, किन्तु इस अवधि में उन्होंने न केवल तीन बार लम्बी-लम्बी लंदन, टोरोण्टो (कनाडा) व लास एंजेल्स (अमेरिका) की कष्टप्रद यात्राएँ कीं, शेष पंद्रह अश्वमेध यज्ञों को भारत में न केवल सम्पन्न कराया, स्वयं उनमें गयीं। लाखों को प्राणदीक्षा दी, अपने भावपरक उद्‌बोधन से अगणितों को देवसंस्कृति का तत्त्वज्ञान आत्मसात कराया एवं सभी यज्ञों में स्वयं भी यज्ञशाला में संचालन हेतु पहुँचीं, उनके महाप्रयाण के बाद शक्ति और भी अगणित गुनी हो गयी है, क्योंकि वे गुरुसत्ता से एकाकार हो पूरी विश्वचेतना में संव्याप्त जो हो गयी हैं।

# परमवंदनीया माताजी का अंतिम प्रवास व उनके उद्‌गार

अभी भी याद आते ही रोमांच हो उठता है, जब परमवंदनीया माताजी ने चित्रकूट अश्वमेध महायज्ञ के लिए १६ अप्रैल, ९४ को शासकीय विमान से प्रस्थान करते समय बहुत कुछ ऐसा कह दिया था, जो आगे चलकर भवितव्यता बन गया। हम सब उनके प्रथम यज्ञ नवम्बर, ९२ जयपुर से अब तक के ऐतिहासिक स्तर के अतिमानवीय पराक्रम को देख रहे थे। जब स्वयं प्रत्येक स्थान पर पहुँचकर हजारों मील की यात्रा कर अपरिमित क्लांत स्थिति में भी उन्होंने बहिरंग में कहीं अन्तरंग की स्थिति की झलक भी किसी को नहीं लगने दी। अपने समीपस्थ व्यक्तियों को भी नहीं।

संक्षिप्त विदेशप्रवास से लौटकर विमानतल से सीधे कुरुक्षेत्र की यज्ञाश्व प्रवेश की प्रक्रिया में ३१ मार्च, १९९४ को भागीदार बनाने हम पहुँचे, उस दिन परमवंदनीया माताजी का बहिरंग का स्वरूप कुछ अलग ही पाया। चेहरे पर भव्य तेज व पास बिठाकर आगे की कई योजनाओं को उन्होंने लिपिबद्ध कराया। यात्रा की थकान देखकर भी उन्होंने पर्याप्त समय देकर आगे के कार्यक्रमों के सम्बन्ध में रीति-नीति भी बता दी। कुरुक्षेत्र बीता व स्नेहसलिला माताजी २ अप्रैल को हरिद्वार आ गयीं। बार-बार वे पूछती थीं कि रामनवमी के दिन हम कहाँ होंगे, जवाब यही होता कि उस दिन हम चित्रकूट में होंगे तथा यहाँ आने की तैयारी कर रहे होंगे। एकाएक विमान के जॉली ग्राण्ट हवाई अड्डे से दिल्ली होकर सतना हवाई पट्टी

के लिए रवाना होते समय वे बोलीं- "अब मैं शायद विमान यात्रा न कर पाऊँ, विमान की अब आवश्यकता भी क्या पड़ेगी?" सहज ही हमने उत्तर दिया कि "हाँ माताजी! उसके बाद भिण्ड व शिमला की यात्रा तो हमें सड़क से ही करनी है। क्योंकि वहाँ विमान की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।" वे मुसकरा दीं, बोल उठीं- "मेरा मतलब है कि विमान से अब यह अन्तिम यात्रा है।" फिर शिकागो क्या स्थगित करना होगा, मन में असमंजस उठा तो माताजी बोल उठीं- "आगे की अभी मत सोचो! आकर विचार करेंगे।"

कहती रहीं- "कहाँ गुरुदेव हमेशा तृतीय श्रेणी में सफर करते रहे, कभी जैसा अवसर मिला, उन्होंने वह वाहन चुन लिया, किन्तु मिशन को व हम सभी को कैसी ऊँची स्थिति में पहुँचा गए कि आज शासन ने हमें अपना अतिथि बनाकर, अपने प्रांत तक लाने के लिए विमान भेजा है। मेरे नन्हें-नन्हें बच्चों ने कितना परिश्रम किया, कष्ट झेला है, गाँव-गाँव जाकर रजवन्दन कार्यक्रम करने एवं यज्ञ-व्यवस्था जुटाने हेतु। हम तो बस चार दिन का मेला देखकर सबको आशीर्वचन दे आते हैं। कहाँ यह सम्भव हो पाता है कि प्रत्येक से मिल पाएँ। कितना विराट बना दिया है, हमारे आराध्य ने इस मिशन को।"

पूरी ढाई-तीन घण्टे की सतना तक की हवाईयात्रा के दौरान परमवंदनीया माताजी के शब्द याद आते रहे। अपने आराध्य के प्रति परिपूर्ण समर्पण। यही उनके जीवन की हर श्वास में था व अन्तिम समय तक रहा। कौन जानता था कि जैसा वे कह रही हैं, सम्भवतः यह उनकी अन्तिम यात्रा ही है। सतना हवाई तल पर उतरने के बाद से लेकर सतना शक्तिपीठ तक तथा वहाँ से सड़क की अस्सी किलोमीटर यात्रा पूरी कामदगिरि भगवान की ड्यौढ़ी पर प्रेमपुजारी महाराज द्वारा स्तुति तक तथा कामदगिरि भगवान से रथयात्रा द्वारा ऐतिहासिक दीक्षा समारोह में डेढ़ लाख से अधिक को दीक्षा देकर उनका गुप्त गोदावरी जाना, मंदाकिनी के तट पर बैठना तथा दूर से कामदगिरि पर्वत को देखकर कहीं खो जाना, यह कहकर कि "कितना विलक्षण इसका आकार है- सचमुच जैसा तुम कहते हो, हर ओर से धनुष के आकार का नजर आता है, सब कुछ अन्दर तक याद दिलाता चला जाता है।" वस्तुतः वह अपनी पूर्व तप:स्थली को ही तो देख रही थीं। जब कभी अपने आराध्य के साथ त्रेता के लीलासंदोह में उन्हें सम्भवतः इस क्षेत्र में विचरण करना पड़ा होगा, तभी सम्भवतः इतने मणिमुक्तक इस धरती ने शान्तिकुंज को स्थायी कार्यकर्त्ताओं एवं परिश्रमशील, भावनाशील, अगणित समयदानियों के रूप में दिए।

जब सतना से काफिला शक्तिपीठ की ओर आ रहा था, तब हमने अपने पूर्व के दो प्रवासों की स्मृति को ताजा करते हुए परमवन्दनीया माताजी से पहाड़ी से नीचे उतरते समय गाड़ी रोककर ओंकार आकार के उस पर्वत के, जिसके आँचल में पिण्डरा स्थित था, जहाँ के शक्तिपीठ की प्राण-प्रतिष्ठा हेतु वे जा रही थीं, दर्शन की तथा वहीं से दूर दिखाई दे रहे पावन कामदगिरि पर्वत के तथा आस-पास बसे अश्वमेध नगर के दर्शन की प्रार्थना की। वे उतरीं व उन्होंने देखकर अपनी आन्तरिक प्रसन्नता इन शब्दों में व्यक्त की- "प्रकृति ने इस क्षेत्र को कितना सुन्दर बनाया है। वास्तव में भगवान ने क्रीड़ास्थली बनाया है इसे। हिमालय तथा अमरकण्टक के बाद अब इस स्थान पर आकर मैं स्वयं को अपनी आराध्य सत्ता के अत्यन्त समीप पा रही हूँ।"

पिण्डरा शक्तिपीठ में माताजी उतरीं। उन्हें उस स्थान पर ले जाया गया, जहाँ कभी स्वयं गुरुदेव भगवान विराजे थे। उस तत्कालीन हवेली के एक-एक हिस्से को उन्होंने अपनी पद-रज द्वारा पवित्र किया था, फिर वहीं बैठकर सब के साथ भोजन किया था। जहाँ वह सबके साथ बैठे थे बातचीत की व प्रणाम का क्रम चला। इतिहास ने बारह वर्ष बाद उसी क्रम को दोहराया, परमवन्दनीया माताजी ने उसी पावन स्थान पर नवनिर्मित हॉल में गायत्री माता की मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा की। हमने प्राणप्रतिष्ठा के बाद परमवंदनीया माताजी को बताया कि "जहाँ पूज्यवर बैठे थे, वहीं आपने यह प्राण-प्रतिष्ठा की है। आपके हाथों प्रतिष्ठित हो यह स्थान पावन बन गया।" चित्रकूट शक्तिपीठ की प्राण-प्रतिष्ठा पूज्यवर ने की थी व बारह वर्ष बाद उसी अंचल में जो कभी राष्ट्र के प्रति समर्पित शूरवीरों की जन्मस्थली रहा-दस्यु समस्या से आक्रान्त रहने के बाद आश्वमेधिक ऊर्जा में स्नान कर अब यह पुनः एक तीर्थ बनेगा, ऐसा विश्वास उन उद्‌गारों को व्यक्त करते समय हमारा था। एकाएक परमवन्दनीया माताजी बोल उठीं- "बेटा, शायद यह अन्तिम प्राण-प्रतिष्ठा है। मैंने जयपुर में पहली प्राण-प्रतिष्ठा की थी। उसके बाद के क्रम में यह अब अन्तिम ही है। मैं शायद इसके बाद आगे कहीं और यह उपक्रम न कर सकूँ।" कौन समझ सकता था, इन सबके पीछे छिपे गूढ़ अर्थों को। १६ अप्रैल को उनके कहे गए यह शब्द आज भी सतत गुंजन करते रहते हैं, मन मस्तिष्क को मथते रहते हैं। माताजी ने सबकी भावनाओं का सम्मान कर सबको प्रणाम का अवसर दिया, स्वयं थोड़ा-सा प्रसाद ग्रहण कर सबके लिए अमृततुल्य प्रसाद बना दिया तथा चल पड़ीं चित्रकूट की ओर, जहाँ उन्हें कलश यात्रा समापन के पूर्व कामदगिरि भगवान मन्दिर पर अपने पुष्प चढ़ाकर गायत्री शक्तिपीठ पहुँचना था।

१६ से २० अप्रैल की उनकी यह यात्रा उनकी ही नहीं, मिशन की जीवनयात्रा के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस अवधि में वे उन सभी स्थानों पर अपनी शारीरिक अशक्तता के बावजूद गयीं जहाँ कभी भगवान श्रीराम अपने लीला-सहचरों, सीता माता तथा भाई लक्ष्मण के साथ कभी घनघोर जंगल में तपश्चर्या में लीन रहे थे। अज्ञातवास का एक बहुत बड़ा समय उनका यहीं कटा। उसी क्रम में अब हमारी

जबरदस्ती कहें या आंतरिक इच्छा कहें, हम उन्हें गुप्त गोदावरी ले गए। वह चढ़ नहीं सकती थीं, पर सतना, इलाहाबाद के परिजनों ने एक डोली-सी बनवा दी थी। जिस पर बिठाकर अपने कन्धों पर लेकर हम उन्हें अन्दर ले गए। पत्थरों की नक्काशी, गुफा का सौन्दर्य, गुप्त गोदावरी का स्रोत आदि सब देखकर वे अभिभूत थीं, किन्तु उनकी आँखों में व उन्हें उठाने वालों की आँखों में अश्रु थे। उनकी आँखों में इसलिए कि वे नहीं चाहती थीं कि इस तरह लोग उन्हें कंधों पर उठाकर स्वयं कष्ट सहकर यह सब करें, हम सबकी आँखों में इसलिए कि उठाते समय ही उन्होंने एक वाक्य कह दिया- ''अब उठा तो लिया है, ऐसे ही कंधों पर सीधे अपने आराध्य के पास चली जाऊँगी।''

यही हुआ। इसके पश्चात १९ सितम्बर को हम सब उनकी पार्थिव काया को अपने कंधों पर उठाकर शान्तिकुंज आवास से 'सजल श्रद्धा प्रखर प्रज्ञा' जब ले जा रहे थे, तब यही सब कुछ याद आ रहा था। कैसी अलौकिक होती हैं लीलापुरुषों की जीवनयात्रा की एक-एक घटनाएँ। यदि चित्रकूट क्षेत्र के अंचल से जुड़े सभी जिलों के अतिरिक्त पूरे भारत के, विश्व के परिजन जो आश्वमेधिक पुरुषार्थों में जुड़कर सौभाग्यशाली बन गए, अपना इस धरती पर आना सार्थक-सफल बनाना चाहते हैं, सुयश कमाना चाहते हैं, तो एक ही पुकार उस मातृसत्ता की है कि ''श्रवणकुमार की तरह मुझे व मेरी गुरुसत्ता को घर-घर पहुँचाओ। घर-घर तक नूतन चेतना का संदेश पहुँचाओ। कर दो आलोकित युगचेतना के प्रकाश से, हिमालय से विंध्याचल व विंध्याचल से सतपुड़ा-दण्डकारण्य एवं अरावली से कन्याकुमारी तक के हर क्षेत्र को, इन पावन सरिताओं की हर बूँद को व भारतभूमि को सांस्कृतिक दासता से मुक्ति दिलाकर इसे पुनः देव-संस्कृति की चेतना से अनुप्राणित कर दो।'' शतशत नमन है उस मातृसत्ता के चरणों में।

# युगनिर्माण प्रक्रिया के द्वितीय अध्याय का समापन

## परमवंदनीया माताजी का महाप्रयाण भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४

**'भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वास रूपिणौ।**
**याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वांतस्थमीश्वरम्॥''**

इस प्रार्थना के साथ गोस्वामी तुलसीदास जी अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित कर अपने रामचरित-मानस का शुभारम्भ करते हैं। वह ऐतिहासिक कृति जिसने घर-घर श्रीरामकथा को पहुँचा दिया, अपने आप में एक ऐसा ग्रन्थ महाकाव्य है, जो हमें जीवन जीने की कला के विभिन्न आयामों का बहुविधि शिक्षण देता है। भवानी अर्थात् पार्वती जहाँ श्रद्धा है, वहाँ औघड़दानी शंभु 'विश्वास' का रूप हैं। श्रद्धा-विश्वास के युग्म के बिना किसी की जीवनयात्रा चल नहीं सकती, चाहे वह एक ब्रह्मचारी हो, साधक हो, गृहस्थ हो, आयु के तीसरे चरण में प्रवेश कर रहा वानप्रस्थ हो अथवा परिव्राजक परम्परा पर चल रहा एक धर्म-परायण व्यक्ति हो। शिव व पार्वती जहाँ अतिउच्चस्तरीय साधना को जीवन में अंगीकार कर औरों को उस पथ पर चलने का शिक्षण देने वाले शिव अर्थात् कल्याण तथा पार्वती अर्थात् शक्ति । वह कल्याणकारी शक्ति जिसके अवलंबन के बिना जीवन अधूरा है, दम्पत्ति युग्म है, वहाँ वे प्रत्येक साधक स्तर का जीवन जीने वाले सिद्धि, भौतिक ऐश्वर्य-कीर्ति- ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के इच्छुक हर गृहस्थ के लिए एक प्रेरणा स्रोत भी हैं।

हम सबके लिए जहाँ परमपूज्य गुरुदेव शक्ति के साथ चलने वाली 'शिव' कल्याणकारी सामर्थ्य के 'विश्वास' के परिचायक हैं, वहाँ परमवंदनीया माताजी उस आद्यशक्ति 'पार्वती' की जो श्रद्धारूपेण है, जिसके बिना जीवन संवेदनहीन, श्रीहीन, शक्तिहीन, तेजसरहित है, उसकी द्योतक है। बिना विश्वास के श्रद्धा अधूरी है तथा बिना श्रद्धा के मात्र विश्वास बिना किसी ठोस आधार पर टिका एक छलावा है। दोनों मिलकर एक-दूसरे को परिपूर्ण बनाते हैं। दोनों का जीवन शिव-पार्वती के युग्म के रूप में देखा जा सकता है, जो सप्त-सरोवर समान पुण्य तीर्थ में कैलाश समान शान्तिकुंज में निवास कर करोड़ों के हृदय में श्रद्धा व विश्वास का अभिसिंचन करता रहा। स्नेह की गंगोत्री प्रवाहित कर संवेदना के मानसरोवर में स्नान करा उन्हें सतत हंसवृत्ति अपनाने की प्रेरणा देता रहा-उनमें देवत्व का संचार करता रहा।

पार्थिव देह का परित्याग कर अपने इष्ट-आराध्य के साथ एकाकार होने को आतुर हमारी मातृसत्ता १९ सितम्बर महालय श्राद्धारम्भ के दिन भाद्रपद पूर्णिमा की पुण्य बेला में पूर्वाह्न ११-५० पर महाप्रयाण कर गयीं, किन्तु सजल श्रद्धारूपी वह सत्ता हमें एक विश्वास दिला गयी है कि शिव व शक्ति का संरक्षण उसे सतत मिलता रहेगा, यदि हमारी निष्ठा उनके आदर्शों पर, कर्तृत्व पर यथावत टिकी रही। स्थूल शरीर का अपनों के बीच न होना हर किसी के लिए दुखदायी है, विशेषतः उस दैवी स्वरूपा मातृशक्ति ने ढेरों व्यक्तियों पर प्यार उँड़ेलकर उन्हें एक सूत्र में पिरो दिया, एक माला बनाकर उसे गायत्री परिवार का रूप दे दिया। परमपूज्य गुरुदेव ने सतत अपनी लेखनी द्वारा यह तथ्य लिखा है कि सजल श्रद्धारूपा माताजी उनकी जीवनयात्रा का एक ऐसा आधारस्तम्भ हैं, जिसके अभाव में वे इतना बड़ा संगठन खड़ा नहीं कर सकते थे। अपनी मथुरा से विदाई की पूर्व बेला में मई, १९७१ की 'अखण्ड-ज्योति' में परमवंदनीया माताजी के सम्बन्ध में पूज्यवर ने लिखा है कि ''यों वे रिश्ते में हमारी धर्मपत्नी लगती हैं, पर वस्तुतः वे अन्य सभी की तरह हमें भी माता की भाँति दुलारती रही हैं। उनमें मातृत्व की

इतनी उदात्त गरिमा भरी पड़ी है कि अपने वर्तमान परिवार को भरपूर स्नेह दे सकें। हमारा अभाव किसी भी आत्मीयजन को खटकने न पाए। स्नेह के अभाव में कोई भी पौधा सूखने-कुम्हलाने न पाए, यह भार उन्हीं के कंधों पर डाल दिया गया है।''

उपर्युक्त पंक्तियाँ तब की हैं, जब पूज्यवर अपने जीवन के चौथे सोपान में कठोर तप हेतु पहले एक वर्ष की हिमालय-यात्रा तथा फिर परोक्ष मार्गदर्शन हेतु शान्तिकुंज में स्थायी रूप से रहकर प्राण-प्रत्यावर्तन-ऋषिपरम्परा का बीजारोपण आदि की भूमिका बना रहे थे। १९७१ के बाद वह स्नेह गंगोत्री सतत निर्मल, निर्झर की तरह बरसती रही। प्रत्यक्ष न दिखाई पड़ने पर भी पूज्यवर के दर्शन की कमी किसी को खली नहीं। सभी परमवंदनीया माताजी का प्यार पाकर मधुमक्खी के छत्ते में रानी मक्खी के चारों ओर एकत्रित समुदाय की तरह गायत्री परिवार के एक घटक बनते चले गए व एक विशाल परिवार जिसे प्राय: ५ से १० लाख की संख्या में पूज्यवर आज से २४ वर्ष पूर्व छोड़ गए थे, सौ गुना कर परमवंदनीया माताजी ने भी हम सबसे मुँह मोड़ लिया। स्थूलकाया का परित्याग कर स्वयं को पूज्यवर की सत्ता से एकाकार कर लिया। कैसे विश्वास करें इस तथ्य पर कि वे अब नहीं हैं? कौन बागडोर थामेगा, परिवार में स्नेह बाँटने की? कौन रोतों के आँसू पोंछेगा तथा कौन कहेगा कि ''और कोई हो न हो, पर मैं तुम्हारा / तुम्हारी हूँ?'' ये प्रश्न अगणित परिजनों के मनों में उठ रहे होंगे।

इन पंक्तियों का लेखक जिसे उनके अगाध स्नेह का पयपान करने का अवसर मिला तथा उनके जीवनकाल के उत्तरार्द्ध की पाँच माह की अवधि में बड़ी समीपता से उन्हें देखने-समझने, उनकी सेवा-सुश्रूषा का अवसर मिला, कुछ इस सम्बन्ध में सभी परिजनों को आश्वस्त करने की इच्छा रखता है। परमपूज्य गुरुदेव व वंदनीया माताजी के मध्य कैसा अविच्छिन्न सम्बन्ध था-कितना पारस्परिक तालमेल व एक-दूसरे के लिए समर्पण था, इसे शब्दों में अभिव्यक्त करना हमारे लिए सम्भव नहीं। दोनों एक-दूसरे के पूरक थे। जहाँ गुरुदेव जीवन के हर पक्षों में कार्यकर्त्ताओं द्वारा व्यावहारिक भूलों के सम्बन्धों में कड़ा रुख अपनाते थे, वहाँ परमवंदनीया माताजी उन सभी को प्यार का मलहम लगाकर पूज्यवर के बताए मार्ग पर चलने की सतत प्रेरणा देती रहती थीं। बालक की तरह सरल हृदय वाले पूज्यवर स्पष्ट रूप में अपनी बात सामने वाले के समक्ष रख देते थे, वहाँ परमवंदनीया माताजी प्यार की डोर थामे अपने वात्सल्य से उसके अंतस्तल की चिकित्सा करती थीं। महाप्रयाण के पूर्व उन्होंने उपस्थित परिजनों से जिनमें श्री बलरामसिंह परिहार, श्री वीरेश्वर उपाध्याय, श्री गौरीशंकर शर्मा, शैलबाला पण्ड्या, श्री मृत्युंजय शर्मा एवं इन पंक्तियों का लेखक सम्मिलित था, एक ही बात कही कि ''निरन्तर प्यार-ममत्व बाँट कर ही हमने यह संगठन खड़ा किया था। तुम सब इसी जिम्मेदारी को निभाना। मिशन का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल है। मुझे अपने पुत्र-पुत्रियों पर पूरा विश्वास है कि वे स्नेह की डोर में परस्पर बँधे इस मिशन के संस्थापकों व दैवी-संचालन तंत्र के नियामक ऋषिगणों द्वारा निर्धारित लक्ष्य को अवश्य पूरा करेंगे। सूक्ष्मशरीर धारण कर पूज्यवर की सत्ता से एकाकार हो मैं सूक्ष्मरूप में और भी निकट अपने परिजनों की दैनन्दिन समस्याओं से लेकर विश्वस्तर की विषम विभीषिकाओं से मोर्चा लेने का कार्य कर सकूँगी।'' अगस्त, १९९४ की 'अखण्ड-ज्योति' का विशेष संदेश पढ़कर परिजनों ने परमवंदनीया माताजी के मन में क्या ऊहापोह चल रहा है, इसका एक अनुमान तो लगा लिया था, पर किसी को लीलासंदोह के एकाएक इस तरह पर्दा गिरने की तरह पटाक्षेप होने का अनुमान सम्भवत: नहीं होगा, किन्तु हमें था। होते हुए भी किसी को बता पाना सम्भव नहीं था कि यह कब होगा?

पूज्यवर ने २ जून, १९९० को अपने महाप्रयाण से पूर्व कहा था कि ''मेरी व माताजी की सत्ता अर्द्धनारीश्वर के रूप में है। मेरे बिना वे चार वर्ष से अधिक नहीं रह पाएँगी, अधिकतम चार वर्ष, किन्तु इस अवधि में वे इतना कुछ कर जाएँगी जो तुम्हारे कंधे सशक्त करने योग्य होगा, तुम्हें अपने पैरों पर खड़ा कर देगा तथा इस मिशन की जड़ें इतनी मजबूत कर देगा कि हजारों वर्षों तक कोई इसे हिला न सके।'' यह बात तब सतत याद आने लगी थी, जब अप्रैल माह में चित्रकूट अश्वमेध के बाद परम वंदनीया माताजी कहने लगी थीं कि ''अब मुझे इष्ट के पास जाना है, अपने आराध्य से मिलना है। यह स्थूल काया का जर्जर बन्धन तोड़ना है।'' हम नादान इस बात को समझ नहीं पाते थे व बार-बार कहते थे कि अभी तो आपको आँवलखेड़ा की अर्द्धपूर्णाहुति सम्पन्न करनी है। आपको हमें सन् २००१ तक लेकर चलना है, यही पूज्यवर का लिखित में 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका में वायदा है, आप इस तरह हमें छोड़कर नहीं जा सकतीं, अभी हमारे कंधे इतने मजबूत नहीं हुए हैं कि हम इतने बड़े मिशन की बागडोर सँभाल सकें, इत्यादि। हमें क्या मालूम था कि जानबूझकर ओढ़ी गई अशक्तता उनकी अपनी आराध्य से मिलने की आतुरता ही थी, पूर्व नियोजित थी तथा विधि-व्यवस्था के अंतर्गत थी, किन्तु गायत्री जयंती १९ जून, १९९४ के बाद लगने लगा था कि अब के बाद का प्रत्येक दिन एक प्रकार से पूज्यवर द्वारा दिया गया एक्सटेंशन है, बोनस का दिन है तथा कभी भी वे इस लीलासंदोह का समापन कर सकती थीं। हम नहीं जानते थे कि यह कब होगा व कैसे होगा? परन्तु मानवीस्तर पर जो भी सम्भव था, वह किया गया। जो भी कुछ पुरुषार्थ हो सकता था, उसमें कोई कमी नहीं रखी गई व जब भाद्रपद पूर्णिमा की प्रात: ११-४० की पुण्यवेला आयी, तो मात्र १० मिनट में वह सब हो गया, जो पूरे गायत्री परिवार के लिए एक वज्राघात के समान था। एक शिष्या अपने आराध्य गुरुसत्ता इष्ट के साथ एकाकार हो गयी। एक महाशक्ति ने

परमशक्ति के साथ अपनी ज्योति विलीन कर ली व युग-निर्माण के इस द्वितीय अध्याय का समापन हो गया। ऐसी विलक्षण दिव्य अनुभूति उस समय हमें हुई थी कि पूज्यवर प्रत्यक्ष दिखाई पड़े। उन्होंने परमवंदनीया माताजी के शरीर को अपनी गोद में उठाकर कहा कि मैं इन्हें ले जा रहा हूँ। तुम कदापि शोक न करना। अब मैं व ये हम दोनों और भी घनीभूत ऊर्जापुंज के रूप में पूरे शान्तिकुंज तथा समष्टि में संव्याप्त हो प्रत्येक को शक्ति देंगे। कोई भी कृत्रिम उपचार कर इनके शरीर को कोई कष्ट न देना। तुम एक विशेषज्ञ चिकित्सक हो, पर अब इन्हें चिकित्सक की नहीं, मेरी जरूरत है, मैं इन्हें ले जा रहा हूँ।''

बस इतना हुआ व दोनों देखते-देखते अंतर्द्धान हो गए। रह गयी वह पार्थिव देह, जिसने अपने हाथों के प्यार भरे स्पर्श से सिर पर हाथ फिराया था, अपने हाथों से भोजन कराया था व प्यार की घूँटी पिला-पिलाकर अपना अंतरंग अवयव बना लिया था।

## परमवंदनीया माताजी का अपने स्वजनों के लिए अंतिम संदेश

### भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४

*जिन चरणों में अपने आप को समर्पित किया, उनके बिना जीवन का एक-एक क्षण पीड़ा के पहाड़ की तरह बीत रहा है। जिस दिन उनके पास आई, उस दिन का पहला पाठ था-पीड़ित मानवता की सेवा और देवसंस्कृति का पुनरोदय, सो अपने आप को उसी में घुला दिया। यद्यपि यह एक असह्य वेदना थी तथापि महाप्रयाण से पूर्व परमपूज्य गुरुदेव की आज्ञा थी कि अपने उन बालकों की अँगुली पकड़ कर उन्हें मिशन की सेवा के मार्ग पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ा दूँ। जिन्हें अगले दिनों उत्तरदायित्व सँभालने हैं। पिछले चार वर्षों में मिशन जिस तरह आगे बढ़ा, वह सबके सम्मुख है, जो मैं देख रही हूँ। आगे का भविष्य तो इतना उज्ज्वल है, जिसे कल्पनातीत और चमत्कार कहा जा सकता है। उसके लिए जिस पुरुषार्थ की आवश्यकता है, हमारे बालक अब उसमें पूर्णतया प्रशिक्षित हो गए हैं।*

*शरीरयात्रा अब कठिन हो रही है। उनके जाने के पश्चात् से आज तक एक क्षण भी ऐसा नहीं बीता, जब वे आँखों से ओझल हुए हों। घनीभूत पीड़ा अब आँसू रोक नहीं पा रही, सो मुझे उन विराट तक पहुँचना अनिवार्य हो गया है। यह न समझें हम स्वजनों से दूर हो जाएँगे। परमपूज्य गुरुदेव के सूक्ष्म एवं कारणसत्ता में विलीन होकर हम अपने आत्मीय कुटुम्बियों को अधिक प्यार बाँटेंगे, उनकी सुख-सुविधाओं में अधिक सहायक होंगे।*

*हमारा कार्य अब सारथी का होगा। दुष्प्रवृत्तियों से महाभारत का मोर्चा अब पूरी तरह हमारे कर्तव्यनिष्ठ बालक सँभालेंगे। सभी क्रिया-कलाप न केवल पूर्ववत सम्पन्न होंगे, वरन् विश्व के पाँच अरब लोगों के चिंतन, जीवन-व्यवहार, दृष्टिकोण में परिवर्तन और मानवीय संवेदना की रक्षा के लिए और अधिक तत्पर होकर कार्य करेंगे। हम तब तक रुकेंगे नहीं, जब तक धरती पर स्वर्ग और मनुष्य में देवत्व का अभ्युदय स्पष्ट दृष्टिगोचर न होने लगे।*

### मातृसत्ता के संस्मरणों के कुछ पुष्प

परमवंदनीया माताजी विदेशप्रवास पर तीन बार गयीं १९९३ में। एक बार इंग्लैण्ड, एक बार कनाडा व एक बार अमेरिका। वहाँ की कुछ स्मृतियाँ संस्मरणों के पुष्प के रूप में समर्पित हैं।

लॉसएंजल्स अश्वमेध महायज्ञ सम्पन्न हुआ। परमवंदनीया माताजी को प्रज्ञापीठ की प्राणप्रतिष्ठा हेतु सेन्टयागो (मैक्सिको के पास) ४०० मील दूर जाना था। अश्वमेध संचालन हेतु शान्तिकुंज के १० परिजन वहाँ थे। तीन अश्वमेधों में बराबर मिलने, साथ रहने का क्रम नहीं बन पा रहा था अत: सभी को लग रहा था, तीन माह हो गए, माताजी का स्नेह चाहिए।

जब सेन्टयागो चलने के लिए तैयार हुए, तो निश्चित हुआ तीन गाड़ियाँ जाएँगी, किन्तु माताजी बोलीं- प्रणव! कोई ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती क्या, जिसमें सभी बच्चे साथ रहें। इन लोगों के साथ रहने का मेरा मन कर रहा है। अत: वहाँ के परिजन डॉ. दिव्यांग के बड़े मोटरहोम(एक वाहन जिसमें घर जैसी सुविधा एवं स्थान होता है) की व्यवस्था की गई। शान्तिकुंज के १० परिजन, स्थानीय दो परिवार, मोटर होम में बैठ गए। परमवंदनीया माताजी, शैल बहिन एवं डॉ. प्रणव पण्ड्या बीच में बैठे हुए थे। चारों ओर १५ बच्चे ४०० मील की यात्रा ५ घण्टे में तय की गई। इस बीच प्रज्ञागीतों की अन्त्याक्षरी, मिशन के अन्य गीत, चुटकुले आदि प्रस्तुत किए गए। परमवंदनीया माताजी ने भी पाँच गीत भावविह्वल हो गाए। कभी-कभी जब भावविभोर हो जाती थीं, तो विषय बदलने के लिए कभी डॉक्टर प्रणव एवं कभी शैल जीजी भी गाने लगते।

सेन्टयागो में प्राणप्रतिष्ठा का क्रम सम्पन्न हुआ। भोजन के बाद तत्काल लौटना था, अत: माताजी से निवेदन किया गया कि गाड़ी के पीछे कमरे में (जिसमें बिस्तर बिछा रहता है) चली जाएँ और कुछ समय आराम करें। माताजी मना करती रहीं, फिर भी बच्चों के बालहठ को देखकर अन्दर चली गईं शैल जीजी भी साथ में थीं।

अभी १० मिनट ही हुए होंगे, सभी आपस में चर्चा कर रहे थे बाहर। इतने में गाड़ी के पिछले कमरे का द्वार खुला। सभी दौड़कर पहुँचे आखिर क्या बात है? किस चीज की आवश्यकता है माताजी, जीजी को? तत्काल माताजी भरे हृदय एवं रुँधे कंठ की स्थिति में चलती हुई बाहर आईं। पूछा गया- ''माताजी क्या हुआ आप आराम करिए न! '' तो माताजी बोलीं-''मेरे बच्चे बाहर बैठे हैं, मुझे उनके बीच ही रहना है, हँसना है, बोलना है यही

आराम है! अन्दर तो बच्चों से दूर जेलखाना जैसा लगता है। जब तक शरीर चलता-फिरता रहेगा, प्यारे-प्यारे बच्चों के पास रहूँगी, उनको प्यार दूँगी, उनकी पीठ थपथपाऊँगी। यही तो एकमात्र आधार है, शरीर को बनाए रखने का, अपने इष्ट से विछोह को कम करने का। यदि बच्चों से मिलना-जुलना न होगा, तो इस शरीर को टिकाए रखना मुश्किल होगा।''

लॉसएंजल्स में बोले गए यह वाक्य सत्य प्रतीत हो रहे हैं और अनुभव हो रहा है कि चित्रकूट अश्वमेधों के बाद माताजी ने कैसे बच्चों से विछोह सहन किया होगा? उन्हें कितना कष्ट हुआ होगा अपने बच्चों से न मिलने पर। कितनी व्याकुल रही होंगी वे स्नेहरस पिलाने को, पयपान कराने को।

लॉसएंजल्स (अमेरिका) में अश्वमेध महायज्ञ सम्पन्न हो रहा था। परमवंदनीया माताजी का प्रवचन हिन्दी में जैसे ही प्रारम्भ हुआ, पाँच सौ अमेरिकन ध्यान की मुद्रा में बैठ गए। सभी आश्चर्यचकित थे, आखिर इन्हें क्या समझ में आ रहा होगा? किन्तु जैसे ही प्रवचन समाप्त हुआ, कुछ पत्रकार, अमेरिकन के पास गए और पूछने लगे, प्रवचन तो माताजी हिन्दी में दे रही थीं, उस समय आप ध्यान क्यों कर रहे थे, तो अमेरिकन बोल पड़े-

''माताजी सामान्य मदर नहीं हैं, स्प्रीच्युअल मदर हैं- हमें भावनाओं की भाषा से समझाती हैं, माँ और बेटे में भावनाओं का ही तो सम्बन्ध स्थापित रहता है। माताजी जो बोलीं, वह हमारे समझ में आ गया।''

जब और स्पष्ट पूछा गया कि प्रवचन में वे क्या बोलीं, विषयवस्तु क्या थी? तो आँखों में आँसू भरकर शब्दशः प्रवचन को सबने दुहराया। माताजी के प्रेमपूर्ण उद्गारों ने बैखरी ही नहीं, परा-पश्यंति वाणी ने ही उन्हें प्रेरित किया।

सच है परमवंदनीया माताजी बैखरी से अधिक परा-पश्यन्ति वाणी के माध्यम से प्रेरणा देती थीं- मार्गदर्शन प्रदान करती थीं, स्नेह भरा संरक्षण सतत देती रहती थीं।

लीस्टर अश्वमेध के बाद परमवंदनीया माताजी को भारत आना था। गेटविक एयरपोर्ट पर विदाई का क्रम रखा गया। सभी ५०० परिजन इकट्ठे थे। सबके हाथों में पुष्प-माला आदि थे। प्रणाम का क्रम चल पड़ा। प्रणाम समाप्त होने पर एअर पोर्ट के वेटिंग एरिया में पुष्प बिखर गए। माताजी को यह अच्छा नहीं लगा, तत्काल बोल पड़ीं- बेटा! हमारे कारण अव्यवस्था फैले, गन्दगी फैले यह अच्छी बात नहीं है। परिजनों ने फूल बिखराए हैं, उसकी सफाई करें। जैसा स्थान था, वैसा ही छोड़ें तो मुझे जाते हुए और अधिक प्रसन्नता होगी।

सभी परिजनों ने बिखरे फूलादि इकट्ठे किए। कुछ ही समय में एयरपोर्ट का वह क्षेत्र पूर्ववत हो गया। कुछ ब्रिटिशर्स बैठे यह दृश्य देख रहे थे। इतने अनुशासनप्रिय लोगों को देखकर जानने की जिज्ञासा हुई। परिचय होने पर पच्चीस ब्रिटिश नागरिक प्रणाम करने आए, जिन्हें परमवंदनीया माताजी ने आशीर्वाद दिया।

एक घटना लंदन की है। गेटविक एयरपोर्ट (लन्दन) में माताजी का विदाई समारोह था। माताजी बैटरीचलित गाड़ी में बैठकर अन्दर गईं। बाहर ५०० परिजन खड़े देख रहे थे। माताजी गाड़ी में बैठी हुई थीं, चेकिंग के लिए ब्रिटिश महिला कैथेरीन आई। सिर से लेकर पैर तक स्पर्श किया कहीं कुछ है तो नहीं।

माताजी प्रसन्न थीं परिजनों की ओर पीछे उनका चेहरा था। परिजनों की ओर देखकर एवं कैथेरीन की ओर इशारा किया। हमारे पास कुछ नहीं है (हाथ हिलाकर) हँसती हुई। फिर जब सिर से टटोलती पैरों तक आई, चरणों को स्पर्श किया तो माताजी का तो सहज स्वभाव था, जो चरणस्पर्श करे उनको आशीर्वाद देती थीं। सो दोनों हाथ कैथेरीन के सिर पर रखकर आशीर्वाद दे रही थीं।

कैथेरीन अचकचा गईं। आश्चर्यचकित थीं। परिजन कैथेरीन के भाग्य को सराह रहे थे, जगत जननी स्वयं दोनों हाथ से आशीर्वाद दे रही हैं। काश ऐसा प्यार भरा आशीर्वाद मिलता।

इसके बाद माताजी अन्दर चली गईं। आँखों से ओझल हो गईं। बाद में कैथेरीन बाहर आई एवं परिजन से चर्चा की कि कौन थीं, जिनके लिए आप लोग आए। जब पूरा परिचय दिया गया, तो अपने आपको धन्य मान रही थीं। अगली बार जब माताजी टोरण्टो जाने एवं आने, लास एंजल्स से आते समय गेटविक एयरपोर्ट पर उतरीं तो सबसे पहले चरणस्पर्श करने कैथेरीन आई एवं आते-जाते समय बिना चैकिंग किए हवाई जहाज तक छोड़ने के लिए जाया करती थीं। ऐसी थीं मानवमात्र के लिए आशीर्वाद लुटाने वाली माताजी।

## कुछ बहुमूल्य पल अंतरंग गोष्ठी के

संकल्प श्रद्धांजलि समारोह १-२-३-४ अक्टूबर १९९० की अवधि में पूरा हुआ। अपने आप में एक अभूतपूर्व आयोजन, जिसमें सभी शिष्यों ने मिलकर अपने आराध्य को संकल्प के साथ आश्वस्त किया कि वे शक्ति के कार्यों को आगे बढ़ाएँगे, कभी उस राह में पीछे न रहेंगे। इस समारोह के तुरन्त बाद परम वंदनीया माताजी ने ६ अक्टूबर को मध्याह्न ३ से ५ के बीच एक महत्त्वपूर्ण गोष्ठी ली। रविवार का दिन था। मिलने वाले भी बहुत थे, पर सभी कार्यकर्त्ताओं को संदेश भेजा गया कि मिलने का समय पूरा होते ही सभी नए बड़े हॉल में जो माताजी के साधना कक्ष से लगा हुआ है, एकत्र हों। उसी महत्त्वपूर्ण कार्यकर्त्ता गोष्ठी के कुछ बिन्दु जो हमने अपनी डायरी में नोट किए थे, यहाँ प्रस्तुत हैं-

''मेरे प्यारे बच्चो! इस समारोह की अभूतपूर्व सफलता के लिए मैं तुम सभी के परिश्रम की, तुम सभी की लगन व निष्ठा की ऋणी हूँ। जिस समय देश में चारों ओर आतंक छाया था, वहाँ तुम सभी ने कड़ी मेहनत कर सबको संगठित कर एक नमूना खड़ा किया है व अपनी इस माँ

को सही अर्थों में आश्वासन दिया है कि गुरुजी का काम किसी भी स्थिति में रुकेगा नहीं।''

''दिल्ली से लेकर यहाँ तक जहाँ देखो मारकाट, तोड़-फोड़ मची हुई है। कोई भी मार्ग निरापद नहीं है। सारी मुख्य गाड़ियाँ कैंसल हो गयीं, तब भी रुकते-रुकते कुछ नहीं तो १०-११ लाख व्यक्तियों की भीड़ यहाँ एकत्र हो गयी। यह नमूना है गुरुसत्ता के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करने वालों के स्नेह का। यदि देश की हालत ऐसी गम्भीर न होती तो आने वाली भीड़ को एक हरिद्वार जिला तो क्या, कई जिले मिलकर भी न सँभाल पाते। वास्तव में यह एक महाकुम्भ है, जिसमें कोई पोथी का पन्ना नहीं लिखा गया व सब इकट्ठे हो गए। दैवीसत्ता ने ही स्पष्टतः इस असम्भव कार्य को सम्भव बनाया है।''

''लाखों लोगों ने भोजन किया। इतने भोजनालय चले, फिर भी भण्डार की स्थिति जैसी की तैसी ही बनी हुई है। आगे चलकर तुम इससे भी बड़े-बड़े चमत्कार देखोगे।''

''आगे तुम्हें और भी बड़े-बड़े कार्य करने हैं। सारे राष्ट्र को जगाना है। बड़े कामों का समापन होता है, तो दो चार दिन विराम देकर थकान के निकाल लेते हैं। किन्तु तुरन्त बाद पुनः दूने उत्साह से अपने काम में लक्ष्य की ओर बढ़ जाते हैं। तुम लोग भी अपने इस उत्साह में लम्बा विराम न लगने देना, नहीं किसी प्रकार की कोई कमी ही आने देना। अभी जो स्फूर्ति का ज्वार उठा है, उससे आगे धुआँधार कार्यक्रम करना है, सारे राष्ट्र को हिलाकर रख देना है।''

''तुम सभी बेटे मेरे वरिष्ठ पुत्रों में से हो। अपनी इस परिवार-संस्था में अहंकारियों का कोई स्थान नहीं है। तुम सभी अच्छे हो। मुझे आशा है तुम में से किसी का अहंकार टकराएगा नहीं व टीम भावना के साथ तुम करते चले जाओगे। स्वभाव में जहाँ कहीं भी थोड़ी-बहुत कमियाँ हैं, उन्हें दूर कर अच्छी आदतों में बदलने की कोशिश करो। अपनी अपनी योग्यताएँ बढ़ाओ। तुम समर्पण करोगे, तो गुरुजी की आवाज ही तुम्हारे चोगे से निकलेगी, कुछ और नहीं।''

''तुम्हारे समर्पण के बाद तुम्हारे शरीर-मन पर तुम्हारा अधिकार कहाँ रहा? जो कुछ है मिशन का है, हमारा है। अपने आपको प्रामाणिकता की कसौटी पर कसो व अधिक से अधिक त्याग के लिए तैयार रहो। तुमने नौकरी छोड़कर जो त्याग किया है, उसकी जितनी भी सराहना की जाए, कम है। पर अभी तो उससे भी बड़ा कुछ हासिल करना है, जो हम तुम्हें देंगे।''

''मेरी तो अब चलाचली की वेला है बच्चो! मिशन को तो तुम्हें ही चलाना होगा। पूर्णाहुति के दिन से ही मेरा मन अब जाने को हो रहा है। मुझसे अपने आराध्य का वियोग सहा नहीं जाता। तुम बुजदिल मत बनना। वो तो बाजी मार ले गए। अस्सी साल में आठ सौ साल का काम करके चले गए। मुझे तुम्हारी देखरेख को छोड़ गए, तो बेटो, तीन-चार साल जब तक शरीर साथ देगा व देखूँगी कि तुम मजबूत हो गए हो, तो मैं भी चल दूँगी। मैं भला अपने आराध्य से दूर क्यों रहूँ। मेरा चिन्तन अब ऐसा ही बन रहा है, किन्तु तुम निराश मत होना। चार साल बहुत होते हैं।''

''तुम सबको देखना है कि आगे क्या होता है। सन् १९९५ से २००० में जो काम होंगे वे माताजी नहीं बेटे ही करेंगे। यह और भी शानदार होंगे। अब हम मिशनरी भावना की तरह फैलते चले जाएँगे। देखते-देखते कई गुना हो जाएँगे। तुममें से विवेकानन्द निकलेंगे, दयानन्द निकलेंगे और देखते जाओ तुम से यह करा लेंगे, जो तुमने सोचा भी नहीं था।''

''अशक्तता की वजह से मेरे हाथ, पैर भले ही न चलते हों, पर मेरी शक्ति पूरी तुम्हारे साथ है। मेरा हाथ और जुबान खूब चलती है। जब मैंने गुरुजी के साथ रहकर यहाँ तक विकास कर लिया, तो तुम मेरा आशीर्वाद लेकर चलो, देखो तो सही तुम्हें कहाँ से कहाँ पहुँचा दूँगी।''

# कुछ अनुभूतियाँ, जो अब हमारी अनमोल थाती हैं

अध्यात्म और आध्यात्मिकता की चर्चा शुरू होते ही सिद्धि, चमत्कारों, विभूतियों की कल्पनाएँ मन में जगमगाने लगती हैं। गोरखनाथ, दत्तात्रेय, अगस्त्य, विश्वामित्र, लोपामुद्रा, अनुसूया, मल्लीबाई आदि द्वारा किए गए चमत्कारों की चर्चा से पुराने शास्त्रों-ग्रन्थों के हजारों-लाखों पन्ने भरे पड़े हैं। इन्हें पढ़ने पर मन में सहज सवाल उठता है कि वर्तमान युग में भी कोई ऐसा तपस्वी हुआ है क्या? जिसमें अध्यात्म, समर्थ शक्ति बनकर प्रवाहित होता रहा हो। क्योंकि सामान्यक्रम में इन दिनों अध्यात्म की पहचान वेश और संवादों से होती दिखाई देती है। इस नाटकीय प्रचलन को हर कहीं खुलेआम देखा जा सकता है। निराशा के इस घने अंधकार में परमपूज्य गुरुदेव एवं वंदनीया माताजी प्रखरसूर्य बनकर उदित हुए। गुरुदेव की अलौकिक सामर्थ्य परिजनों से छुपी नहीं है। माँ का प्यार बच्चों पर पिता की अपेक्षा कुछ अधिक ही होता है। गुरुदेव के रहते हुए और उनके जाने के बाद भी माताजी का तप-प्राण अपने बच्चों के घर-आँगन में आशीर्वाद-वरदान बनकर बिखरता रहा है। सिलसिला अभी थमा नहीं है। शरीर न रहने पर भी अपनी मातृसत्ता सूक्ष्मरूप में पूर्ववत सक्रिय है। उनकी अलौकिक विभूतियाँ हम सबके जीवन को धन्य बना रही हैं। ऐसे सभी घटना-प्रसंगों को स्थानाभाव के कारण दे पाना तो सम्भव नहीं, परन्तु उनमें से कुछ की चर्चा नीचे की जा रही है। परिजन पढ़ें और अनुभव करें कि उनका और उनके परिवार का जीवन वंदनीया माताजी के आँचल की छाया में सुरक्षित है।

१९९१ अगस्त का महीना था। मेरे ऊपर एक झूठा आरोप लगा, जिसके कारण मैं बहुत दुखी थी। मेरे कमरे

में शंकर भगवान एवं माता पार्वती की फोटो लगी है। उस फोटो के आगे मैं बहुत रोई। रोते-रोते सो गयी। तब सपने में देखा चारों तरफ हरियाली है, वहाँ एक तख्त पर हरी किनारी की सफेद धोती पहने माताजी बैठी हुई हैं। वह चश्मा भी लगाए हुए हैं । मैं उनके पास से निकल कर जा रही हूँ। उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और कहा-बेटी! तू रात मुझे बहुत याद कर रही थी और अब मेरे पास से होकर जा रही है। मैं उनके चरणों में गिरने को हुई उन्होंने मुझे गले लगाकर बहुत प्यार किया। अरे! पार्वती माताजी कहकर मैं उनसे लिपट गयी, उन्होंने मुझे बहुत प्यार किया।

इस स्वप्न के समय तक मैं शान्तिकुंज के बारे में जानती तक न थी। स्वप्न देखने के कुछ दिनों बाद मेरी ननद व नंदोई कानपुर से मेरे घर आए। वे दोनों गायत्री परिवार के अच्छे कार्यकर्त्ता हैं। उन्होंने मुझ पर शान्तिकुंज चलने के लिए दबाव डाला। उनके बहुत कहने पर मैंने कहा-अच्छा नवरात्रि में चली जाऊँगी। अक्टूबर नवरात्रि शिविर में मैं शान्तिकुंज आयी। भेंट-मुलाकात के लिए १२ से ३ बजे के बीच जब मैं माताजी के पास पहुँची, तो अवाक रह गई। लगा इनको कहीं देखा है, दिमाग पर जोर डालने पर सपने की बात ध्यान में आयी। सोचने लगी- तब क्या माताजी ही माँ पार्वती हैं? मुझे इस तरह सोचते देखकर माताजी मुसकराते हुए बोलीं- "हाँ बेटी! तू ठीक सोचती है। हम अपने बच्चों को प्यार करने के लिए रात के समय उनके घर पहुँचते हैं।" उनके इस कथन पर मैं भाव-विह्वल हो उठी।

*-श्रीमती लता दुबे, मुरादाबाद*

सन् १९८५ में पूज्य गुरुदेव की हीरक जयंती मनायी जा रही थी। इन दिनों गुरुदेव सूक्ष्मीकरण साधना में थे। शिविर में आने वाले सभी लोग माताजी से मिलते-जुलते थे। मैं भी अपनी पत्नी के साथ पाँच दिवसीय शिविर में शान्तिकुंज पहुँचा। पहुँचने के दूसरे दिन से ही पत्नी को खूनी पेचिश शुरू हो गई। मुँह से भी खून आने लगा। शान्तिकुंज के चिकित्सक इलाज कर रहे थे। एक दिन शाम को हालत ज्यादा बिगड़ गई। आश्रम के मेटाडोर से हरिद्वार-जिला अस्पताल ले जाया गया। वहाँ के चिकित्सकों ने वापस भेज दिया। हालत में कोई सुधार न हुआ। डाक्टर प्रणव माताजी के आदेश पर देखने आए। उनके सांत्वना देने पर मैंने कहा- पत्नी मर जाएगी तो माताजी क्या करेंगी? वह समझाते हुए बोले-"चिन्ता न करो, यहाँ लोग रोते हुए आते हैं, हँसते हुए जाते हैं।" अगले दिन मैं माताजी से मिलने गया। उन्होंने कहा- बेटा घर जाओ। मैंने रोते हुए कहा- पत्नी मर रही है, घर कैसे जाऊँ। माताजी ने पत्नी को अपने पास बुलाया और शैल दीदी से कहा कि सेब हमारी बेटी को दो। उस सेब को खाते ही वह कष्ट से मुक्त हो गई। हम लोग हँसते-खिलखिलाते उसी दिन घर के लिए प्रस्थान कर गए।

*-दिग्विजय सिंह बघुआ*

चित्रकूट धाम में अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कराने का विचार हम सभी क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं के मन में उभरा। विचार को संकल्प का रूप देने के लिए हम लोग शान्तिकुंज पहुँचे। वहाँ पहुँचकर हम सभी लोगों ने माताजी के सामने अपना मंतव्य स्पष्ट किया। अपनी समस्याओं, परेशानियों की चर्चा करते हुए कहा, हम लोग तो माताजी आपके हाथ की कठपुतलियाँ हैं। जैसा नचाएँगी वैसा नाच लेंगे। आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा-बेटा! तुम लोग चिंता न करो, यह परमात्मा का काम है और भगवान का काम स्वयं भगवान ही करते हैं। कार्य का माध्यम बनने वाले यश की धरोहर जरूर पाते हैं।

उनके आशीर्वाद और प्रीतिवचनों से धन्य होकर हम लोग चलने लगे। एकायक ध्यान आया, उस इलाके में तो पानी नहीं बरसा, ठंड भी आ पहुँची। पानी के अभाव में फसल नहीं होगी और फसल के अभाव में जन-सहयोग कैसे जुटेगा, बस अपनी बात उनसे कह दी। कुछ सोचते हुए वह बोलीं--अच्छा अभी बरस जाए, तो कैसा रहेगा। हाँ ठीक रहेगा, सभी ने एक स्वर से कहा। अच्छा ठीक है, तो फिर अभी बरसाए देते हैं।

हम लोग इस वरदान पर आश्चर्यचकित होते हुए चल दिए। रास्ते में सोचते जा रहे थे, क्या माताजी का प्रकृति की शक्तियों पर नियंत्रण है? गर्मी, सर्दी, बरसात को भी वह नियंत्रित कर सकती हैं। इसी ऊहापोह में पड़े हम लोग चले जा रहे थे। इलाहाबाद तक पहुँचते-पहुँचते बारिश शुरू हो गयी। खूब जोर की बारिश शुरू हो गयी। खूब जोर की बारिश थी। पूरा इलाका माताजी की आशीर्वाद-वर्षा से भीग गया। लोगों की फसल भी अच्छी हुई और जन-सहयोग मिला। सब कुछ अनुभव करने पर अपनी अंतरात्मा ने समाधान दिया- माताजी शक्तियों का मूलस्रोत आदिशक्ति हैं। उन्होंने मानवशरीर धारण कर गुरुदेव की लीला में सहयोग दिया है। उनकी कृपा से सब कुछ सम्भव है।

*- निर्मल सिंह, सतना*

गुना अश्वमेध के उपरान्त ग्वालियर आने पर मेरे छोटे पुत्र चिरंजीव सिद्धार्थ को तेज बुखार आ गया। आठ वर्ष का बालक ज्वर में तड़प उठा। उसे पास के बालरोग विशेषज्ञ को दिखाया। उसने उसे दो दिन की दवा दी। दवा खाने के बावजूद कोई असर न हुआ। उलटा दो दिन बाद पहले वह चलने में लड़खड़ाया, फिर पैरों से एकदम असमर्थ हो गया। उसका चलना-फिरना एकदम बन्द हो गया। हमें पोलियो का भय था, सो उसे फिर चिकित्सक के पास ले गए। चिकित्सक ने कहा पोलियो तो नहीं है, पर एक और कठिन बीमारी की आशंका है। पूछने पर उन्होंने बीमारी का नाम मायोसाइटिस बताया और खून की सी. के. पी. एन्जाइमटेस्ट कराने का निर्देश दिया। सामान्यतया यह आठ वर्ष की आयु में २५ से २०० तक होता है, किन्तु वह ५१० निकला। अत: रिपोर्ट पाजिटिव आ गई। हम सभी परेशान हो गए। मैंने वंदनीया माताजी के चित्र के सामने बैठकर प्रार्थना की। प्रार्थना के समय कान में उनकी आवाज सुनाई दी- रो मत, तेरा लड़का ठीक हो जाएगा और आश्चर्य उसी क्षण से चिरंजीव सिद्धार्थ ठीक

होने लगा। रात्रि को १२ बजे हमने उसे अश्वमेध का प्रसाद दिया, जिसे उसने बड़े चाव से खाया। सुबह होने तक वह बिल्कुल ठीक हो गया। अगले दिन जब हमने उसे चिकित्सक महोदय को दिखाया, तो वे भी हैरान हुए। आखिर असम्भव जो सम्भव हो गया था।

*–श्रीमती सुनीता धर्माधिकारी, ग्वालियर*

हम इंग्लैण्ड के कार्यकर्त्ताओं ने मिलकर लीस्टर में १०८ कुण्डी यज्ञ का आयोजन किया था। शान्तिकुंज से डॉ. प्रणव पण्ड्या अपने सहायकों के साथ पहुँचने वाले थे। हम सभी ने खूब जोर-शोर की तैयारियाँ की थीं, परन्तु इंग्लैण्ड के मौसम का क्या करें, जिसका कोई भरोसा नहीं। मौसम की खराबी में किसी भी आयोजन में अधिक वाहनों के आने-जाने से सड़कें खराब होने की संभावना बनी रहती है। इसी कारण वहाँ बतौर इन्श्योरेंस ५००० पाउण्ड जमा कराने पड़ते हैं। डॉ. प्रणव की टोली समय से पहुँच चुकी थी, लेकिन जिसका डर था वही हुआ, यानी कि रात से ही पानी तेजी से गिरने लगा। अब क्या करें सुबह कार्यक्रम कैसे सम्पन्न होगा ? हम सभी विवश थे। सभी ने मिलकर माताजी का ध्यान किया, कातर स्वर में प्रार्थना की, कि जिस किसी तरह पानी बन्द हो। पानी का वेग कम हुआ। सुबह डॉक्टर प्रणव जी ने माताजी से फोन पर बात की, यथास्थिति बताकर उनसे अनुरोध किया कि पानी एकदम बन्द होना चाहिए। फोन पर उन्होंने हँसते हुए कहा- तुम लोग परेशान न हो, अभी आधे घण्टे के अन्दर बादल छँट जाएँगे और सचमुच आधे घण्टे में मौसम खुल गया। दो दिन तक यज्ञ चलता रहा, पानी की एक बूँद भी न गिरी। यज्ञ समाप्त होने पर, तम्बू-शामियाना उखड़ जाने के तुरन्त बाद घनघोर बारिश शुरू हो गयी। जिसका वेग तीन दिनों तक न थमा। सभी आश्चर्यचकित थे।

*–चन्द्रेश जोशी, लीस्टर इंग्लैण्ड*

उलझनों से भरी इस जिन्दगी को कैसे जिएँ? इस सवाल का जवाब सोचते-सोचते थक गया था। व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक संघर्षों की जटिलता से लड़ते-लड़ते अत्यधिक मानसिक दबाव महसूस होने लगा और अनिद्रा रोग की शुरुआत हुई। भिलाई, ग्वालियर आदि सब जगह इलाज कराया, किन्तु कुछ भी फायदा न निकला। हाँ, परेशानी जरूर बढ़ती गयी।

अंततः अपने छोटे भाई की सलाह के अनुसार फरवरी, १९८१ में शान्तिकुंज आश्रम पहुँचा। भेंट मुलाकात के दौरान वंदनीया माताजी से अपनी समस्या कह सुनायी। उन्होंने आश्वासन भरे स्वरों में कहा- परेशान मत हो बेटा! तू तो ये सोचा कर, मेरी एक माताजी हैं, भला माँ के रहते बालक को परेशान होने की क्या जरूरत। उनके शब्दों में कुछ जादू की मिठास थी, मन गद्-गद् हो गया। चलते समय उन्होंने रक्षाकवच और हवन-भस्म की एक पुड़िया दी। रक्षाकवच गले में धारण कर लिया। हवन-भस्म रोज रात में सोते समय लगाने लगा। दो वर्षों का अनिद्रा रोग दो दिनों में समाप्त हो गया। शान्तिकुंज से स्वस्थ प्रसन्नमन घर वापस लौटा। घर पहुँचने के बाद धीरे-धीरे अन्य पारिवारिक, सामाजिक समस्याएँ भी सुलझती चली गयीं। उनके कहे गए शब्द हमारा जीवन-सम्बल बन गए। आज भी मन उन्हें गुनगुनाता रहता है- ''भला माँ के रहते, बालक को परेशान होने की क्या जरूरत।''

*–श्री किशन देवांगन, बिलासपुर*

मैंने आश्विन नवरात्रि से ४० दिन का, सवा लक्ष का गायत्री महामंत्र के अनुष्ठान का संकल्प लिया। अनुष्ठान शुरू करने के पूर्व हमने संरक्षण एवं दोष-परिमार्जन हेतु वंदनीया माताजी को पत्र लिख भेजा। उस पत्र में यह भी लिखा कि चालीसवें दिन अनुष्ठान की पूर्णाहुति के समय परमवंदनीया माताजी स्थूलशरीर से न सही, सूक्ष्मशरीर से ही पूजापीठ पर पधारने की कृपा करें। पत्र के जवाब में लिखा था कि वह सूक्ष्मरूप में अवश्य आएँगी। जवाब पढ़कर प्रसन्नता हुई, मनोबल भी बढ़ा। यह बात एक-आध सप्ताह याद रही, फिर अनुष्ठान की दिनचर्या की व्यस्तता में कुछ भी याद न रहा।

चालीसवें दिन पूर्णाहुति का कार्यक्रम था। मैं सपत्नीक गायत्री महामन्त्र की आहुति देकर यज्ञ कर रहा था। बीच-बीच में माँ गायत्री का ध्यान करते हुए आँखें बन्द कर लेता। उसी समय एकायक दृश्य परिवर्तित हो गया। ध्यान तो मैं माँ गायत्री का कर रहा था, पर उनके स्थान पर माताजी का स्वरूप-पूजा वेदी के ऊपर रखे फोटो के थोड़ा ऊपर दिखने लगा।

उसके बाद अचानक ही हृदय की धड़कन बढ़ने लगी। शरीर शिथिल हो गया। मुझे यह नहीं मालूम पड़ रहा था कि मैं क्या कर रहा हूँ। यद्यपि मैं अपनी जानकारी में मंत्रोच्चारण कर रहा था, पर यह भान नहीं था कि कब मंत्र प्रारम्भ हो रहा है, कब स्वाहा बोला जा रहा है। दो-चार आहुतियाँ बिना स्वाहा के ही डाल दीं। पत्नी ने टोका भी, पर मेरी स्थिति अजीब थी। कुछ देर में धड़कनें कम हुईं। मैं होश में आने लगा। धीरे-धीरे दृश्य भी दिखना बन्द हो गया। यज्ञ कर्म समाप्त होने पर कन्याभोज के बाद माताजी की सूक्ष्मरूप में आने वाली बात ध्यान में आयी। साथ ही यह भी समझ में आया कि माँ गायत्री एवं वंदनीया माताजी एक ही महाशक्ति के दो रूप हैं।

*-पीताम्बर प्रसाद शर्मा, ग्रा. पो. सांड़ा जनपद सीधी (म. प्र.)*

गीत रिकार्डिंग का क्रम ऊपर वाले कमरे में चल रहा था। जब परमवंदनीया माताजी को अपने बचपन की याद आई तो स्वयं सभी वादक बंधुओं को सुनाने लगीं।

''जब मेरा जन्म हुआ, तो लड़की होने के कारण पास-पड़ोसी एवं घर वाले परंपरागत विचार होने के कारण रोने लगे। मेरे नानाजी उच्चकोटि के ज्योतिषी थे। जब उन्हें पता चला कि बच्ची के जन्म पर खुशियाँ मनानी चाहिए, उसके स्थान पर लोग रो रहे हैं, तो गुस्से से भरकर उन्होंने सबको चुप किया और ऊँची आवाज में बोले-मूर्खो! तुम्हें समझ में नहीं आ रहा है, कौन अवतरित हुई हैं, हमारे घर! साक्षात भगवती माँ अन्नपूर्णा, ईश्वर की सहचरी, भगवान शंकर की अर्द्धांगिनी,

शक्तिस्वरूपा माँ भगवती ने अवतार लिया है घर में, इसके पीछे करोड़ों लोग चलेंगे, करोड़ों को प्यार बाँटेगी, उनके आँसू पोंछेगी एवं दुःख-कष्टों को दूर करेंगी। इसके दर्शन मात्र से ऋद्धि-सिद्धियाँ व्यक्ति के ऊपर बरसेंगी। जहाँ जाएगी,जहाँ रहेगी, जहाँ चरण पड़ेगा, वह स्थान तीर्थ बन जाएगा।

इस प्रेरणाप्रद उद्गार को सुनकर सभी घर वाले स्तब्ध रह गए, उनकी बोलती बन्द हो गई।''

*-एक परिजन शान्तिकुंज*

पत्नी के पेट में पथरी हो गयी। डॉक्टरों ने एक्सरे के बाद बताया कि ऑपरेशन कराना पड़ेगा। हमने शान्तिकुंज पहुँचकर गुरुदेव को बताया, तो गुरुदेव ने कहा वह सब ठीक हो जाएगा। माताजी से रक्षाकवच ले लेना।

गुरुदेव से मिलने के बाद परिजन माताजी से मिल रहे थे। वह शिविर समाप्ति के बाद विदाई का दिन था। माताजी सबको यज्ञ-भस्म की पुड़िया दे रही थीं। उसी लाइन में खड़े होकर जब हमने प्रणाम किया, तो उन्होंने हमें भी भस्म दी। जब हमने बताया कि गुरुदेव ने रक्षाकवच के लिए कहा है, तो वह बोलीं- भस्म के साथ ही दे दिया है, बेटा। मैंने देखने पर पाया कि भस्म की पुड़िया के साथ ही रक्षाकवच भी था। मैं सोचने लगा कि माताजी तो सबको सिर्फ भस्म दे रही हैं, फिर मेरे बिना बताए उन्हें यह कैसे मालूम हो गया कि लाइन में खड़े इसी आदमी को गुरुदेव ने रक्षा-कवच के लिए कहा है। बहुत सोचने पर यही लगा कि वास्तव में गुरुदेव, माताजी दोनों एक ही हैं। ताबीज को धारण करने के बाद डॉक्टर ने कहा पेट में कोई रोग नहीं है।

*-सत्यम सिंह, सरगुजा (म. प्र.)*

कनाड़ा के टोरेण्टो शहर में अश्वमेध यज्ञ की तैयारियाँ चल रही थीं। सभी उल्लास में थे। एकायक बादलों के घिर आने से सभी के चेहरों पर उदासी छा गयी। प्रायः रोज पानी बरस जाता। टेण्ट हाउस के मालिक ने सलाह दी कि आयोजन का विचार छोड़ दो। भला ऐसे में किस तरह इतना बड़ा यज्ञ सम्पन्न हो सकेगा। शान्तिकुंज से अग्रिम तैयारी हेतु आए जयंती भाई ने उससे कहा- ''आप चिन्ता न कीजिए। हमारी माताजी आएँगी, उनके आते ही बरसात बन्द हो जाएगी।''

उसने जयंती भाई की ओर अविश्वास भरी नजरों से देखते हुए कहा- भला किसी के आने से बरसात बन्द होने का क्या सम्बन्ध? लेकिन भक्त का मान तो भगवान ही रखता है। वंदनीया माताजी को डॉ. प्रणव और शैल बहिन के साथ कनाडा पहुँचना था। वह जैसे ही हवाई जहाज से उतरीं कि पानी बरसना बन्द हो गया। यज्ञ समारोह पूरे उल्लास और धूमधाम से सम्पन्न होता रहा। समारोह के अन्तिम दिन मौसम विभाग ने सूचना दी कि आज दो बजे से ओलों के साथ वर्षा होगी। कार्यकर्ताओं ने इसकी सूचना माताजी को दी। उन्होंने कहा- तुम लोग चिंता न करो। यज्ञ को तीन बजे तक चलने दो। यज्ञ तीन बजे समाप्त हुआ। उसके बाद वह अपने सहायकों के साथ हवाई अड्डे आयीं। वहाँ से वह भारत के आने के लिए हवाई जहाज पर बैठीं। हवाई जहाज उड़ने के बाद ओलों के साथ जोरों से बारिश शुरू हो गई। पायलट ने आकाश में पहुँचने पर यात्रियों को बताया कि आज हमारा आखिरी विमान है, जो टोरेण्टो हवाई अड्डे से उड़ सका।

*- जयंत एवं प्रफुल्ल देसाई, टोरेण्टो कनाडा*

अक्टूबर सन् १९९१ में हमारी दुकान में चोरी हो गयी। दुकान हम दोनों भाई सँभालते थे। पिताजी के डर से हम दोनों भाई घर से भाग निकले। घर में पिताजी के लिए एक पत्र छोड़ दिया, जिसमें लिखा कि दुकान की चोरी के कारण घर से जा रहा हूँ। पर जहाँ भी रहूँगा आपके सम्मान में आँच न आने दूँगा। घर से किसी प्रकार हम लोग दिल्ली पहुँचे। वहाँ डाक टिकिट समारोह में हमने माताजी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य पाया। दिल्ली से शान्तिकुंज आना हुआ। यहाँ स्वागतकक्ष पर हम दोनों को सिर्फ दो दिन रुकने की आज्ञा मिली। परेशानी बढ़ती रही, रोना आता रहा। कैसे करें? क्या होगा? इसी सोच-विचार में मन उद्विग्न था।

जैसे ही हम लोग माताजी के पास चरण-स्पर्श के लिए पहुँचे। उन्होंने हम दोनों का तिलक कर दिया। बाद में माताजी ने कहा- हमारी दो बेटियाँ गौरी और इन्दू हैं। इन्हें तुम दोनों को दे रहे हैं। यदि ये न चाहो तो हम आशीर्वाद देते हैं, तुम दोनों घर जाओ, दुकान चलेगी, लखपति बन जाओगे, पर लक्ष्मी नहीं माया मिलेगी। हम भाइयों ने कहा- माताजी हमारे पास कुछ नहीं है, शादी करके क्या करेंगे। उन्होंने कहा, शादी कर रहे हैं तो सारे जीवन का खर्च उठाने की हैसियत भी हम रखते हैं।

तुम लोग हमारे बच्चे हो। मैं इतने बच्चों को इस शरीर से नहीं पैदा कर सकती थी, इस कारण विभिन्न स्थानों पर पैदा किया, पर हो तुम सब हमारे ही अंश, जो बिखर गए हो। तुम्हारी दुकान पर चोरी, भागना, आना, यह सब हमें मालूम है। तुम लोग निश्चिंत रहो। जब शादी सम्पन्न हो रही थी, उसी समय स्वागतकक्ष पर पिताजी आ पहुँचे। वह हम दोनों को ढूँढ़ते हुए आए थे। उन्हें शीघ्र विवाह-स्थल पर भेजा गया।

आशीर्वाद लेते समय मेरे पिताजी ने वंदनीया माताजी से कहा- कि शादी तो आपने इन बच्चों की करा दी। अच्छा ही हुआ, आपके ही बच्चे हैं। लेकिन घर पर इसकी माँ, बहिन, भाई हैं, वे सब क्या कहेंगे। सोचेंगे इसकी कहाँ शादी हो गयी, हम लोग देख भी नहीं पाए। माताजी बोलीं- देखने की बात है, तो बच्चों की शादी सबको दिखा देंगे और सभी परिवार वालों ने उसी दिन एक ही रात में अपने स्वप्नों में शान्तिकुंज में सम्पन्न हुई शादी का सारा विधि-विधान देखा। सुबह उठने पर सभी सन्तुष्ट थे। इस घटना के बाद मैंने अपना जीवन मिशन में समर्पित कर दिया।

*-ईश्वरी यादव, भिलाई नगर*

मुझे सन् १९६१ से ही परमपूज्य गुरुदेव एवं वंदनीया माताजी की स्नेह-छाया में रहने का सौभाग्य मिला है। शुरू से ही मेरा झुकाव गुरुदेव की अपेक्षा माताजी की ओर अधिक रहा है। शायद इसीलिए क्योंकि पिता के संरक्षण की अपेक्षा माँ का ममत्व बच्चों को अधिक आकर्षित करता है। कुछ भी हो, लेकिन माताजी का प्यार मेरी हर साँस में बसा है। जब कभी कोई परेशानी आयी, मन दुःखी हुआ, माताजी यादों में, भावों में जगमगाने लगतीं।

उस समय भी कुछ ऐसा हुआ। यों यह घटना आज से २९ वर्ष पुरानी है, पर सब कुछ मेरी यादों के खजाने में ज्यों का त्यों सुरक्षित है। भला ऐसी निधि को कौन खोना चाहेगा। बात सन् १९६६ की है। इन दिनों मैं कानपुर के जी. एस.पी. एम. मेडिकल कॉलेज में एम. एस. कर रहा था। निवास भी मेडिकल कालेज के पोस्ट ग्रेजुएट हॉस्टल में था। इस होस्टल के कमरा नम्बर १६ में मैं अकेला रहता था।

एक दिन अपने कमरे में दुःखी मन बैठा था। मेरे मोजे फट गए थे। टूटी-फूटी साइकिल से तीन चार मील दूर उर्सला अस्पताल जाना पड़ता था। पढ़ाई में अलग से कठिनाई थी, क्योंकि उस समय डॉ. सिन्हा के अधीन एम. एस. करना बड़ा कठिन माना जाता था। हम लोग कुल पाँच विद्यार्थी थे, जिसमें एक मद्रास विश्वविद्यालय का गोल्ड मैडलिस्ट, एक कलकत्ता यूनिवर्सिटी का टापर, लखनऊ मेडिकल कालेज से आया मेधावी छात्र था, एक विद्यार्थी और था जो चार सालों से फेल हो रहा था। पाँचवाँ मैं था, जिसके लिए एम. एस की पढ़ाई अति कठिन लग रही थी।

इसी सोच-विचार में डूबा माताजी की याद कर रहा था। पुकार रहा था, माताजी कुछ मदद करो। दुखी मन से खूब उनको याद किए जा रहा था। तभी किसी ने दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलने पर देखा एक लड़का खड़ा था। वह बोला- मैं यहाँ एम. बी. बी. एस. के पहले साल में पढ़ रहा हूँ। कानपुर के सूटरगंज मुहल्ले में मेरे माता-पिता हैं। वहीं पास में आपके छोटे भाई के श्वसुर रहते हैं। उन्होंने आपसे मिलने को कहा था। फिर कहने लगा कि आप पुरानी साइकिल पर उर्सला अस्पताल जाते हैं। आप मेरी नयी साइकिल ले लें। वैसे भी मैं फर्स्टइयर में हूँ, सीनियर लोग साइकिल ले जाते हैं। कई बार मना करने पर भी जबरदस्ती अपनी नयी साइकिल दे गया।

जब जूते पहनने गया, तो देखा एक नया नायलोन का मोजा जूतों के पास रखा था। अभी तक उसका रैपर तक न खोला गया था। कमरे में मैं अकेला था। समझ में नहीं आया कि मोजा वहाँ तक पहुँचाया किसने, पर सच्चाई सामने थी। शाम को एक और लड़के से मुलाकात हुई। उसने स्वयं अपना परिचय दिया, मेरा नाम डॉ. आर. सी. रेलन है। अपना एम. एस. पूरा करने के बाद मैं यहीं इसी कालेज में डिमॉंस्ट्रेटर हूँ। मुझे बॉस ने तुम्हारे एम. एस. की तैयारी के लिए भेजा है। उन्होंने मेरी बहुत मदद की। परीक्षा में केवल दो ही पास हुए, उनमें से एक मैं था। मथुरा पहुँचने पर मैंने पूरी घटना माताजी को सुनाई और पूछा- आपको क्या सबके कष्ट मालूम होते हैं? उनका जवाब था- अपने बच्चों का ख्याल तो रखना ही पड़ता है। सचमुच माँ के सिवा बच्चों का ख्याल और कौन रखेगा?

*-डॉ. अमल कुमार दत्ता, शान्तिकुंज*

मेरे एक घनिष्ट परिचित सज्जन हैं। उनके लड़के की तबियत काफी अरसे से खराब रहती थी। काफी इलाज करवाया, परन्तु सुधार के कोई लक्षण नहीं दिखाई दिए। काफी छान-बीन के बाद डॉक्टरों ने पाया कि लड़का ब्लड कैंसर का रोगी है। उसे टाटा कैंसर हास्पिटल ले जाया गया। वहाँ चिकित्सा विशेषज्ञों ने पाया कि लड़के का ब्लड कैंसर थर्ड स्टेज में है। ऐसी स्थिति में चिकित्सा का कोई उपयोग नहीं। उन्होंने कह दिया कि बच्चा कुछ ही दिनों जीवित रहेगा। सब निराश हो गए।

निराशा के इस घने अँधेरे में मेरे लिए आशा का एक ही सूर्य थीं-वंदनीया माताजी। मैंने उन लोगों को शान्तिकुंज चलने की सलाह दी। शान्तिकुंज पहुँचकर उन सभी ने लड़के की हालत से माताजी को अवगत कराया। लड़के, माँ-बाप विकल थे, उनकी रोनी सूरतें देखकर माताजी करुण हो उठीं, उनकी आँखें भर आयीं। रुँधे कंठ से कहने लगीं- बेटा! तू चिंता क्यों करता है, तेरा लड़का ठीक हो जाएगा। परेशान होने की जरूरत नहीं। सभी वापस घर लौटे। सभी ने आश्चर्य से देखा, लड़के की हालत दिन पर दिन सुधरने लगी थी। उसे फिर से टाटा कैंसर हास्पिटल ले जाया गया। अब तो डॉक्टरों के चौंकने की बारी थी। सारे परीक्षणों के बाद उन्होंने घोषित किया, अब तो लड़के में कोई रोग का निशान नहीं बचा। माँ की करुणा से भला क्या असम्भव है?

*-सुश्री आशा ज्ञानी, बम्बई*

नागपुर अश्वमेध महायज्ञ के सिलसिले में हम पाँच स्थानीय कार्यकर्त्ताओं की टोली लखनादौन तहसील में कार्यक्रम कर रही थी। टोली का नेतृत्व मैं कर रहा था। कार्यक्रम सम्पन्न करते हुए हम लोग नागनदेवरी के पास टोला नाम के गाँव पहुँचे। इस गाँव में बीस-पच्चीस घर हैं। यहाँ कोई युगनिर्माण से परिचित न था। हाँ गाँव वालों ने हमारे दादा स्व. पं. कन्हैया लाल तिवारी का नाम जरूर सुन रखा था। यह जानकर कि मैं उनका नाती हूँ, गाँव के लोग बड़े प्रसन्न हुए।

एक जगह दीपयज्ञ का आयोजन रखा गया। गाँव के प्रायः सभी लोग आ जुटे। दीपयज्ञ की समाप्ति पर बोरा नाम के दस वर्षीय बालक को लेकर उसका पिता आया और कहने लगा कि आप लोग हरिद्वार से आए हैं, महात्मा हैं, मेरे ऊपर कृपा कीजिए। विवरण पूछने पर उसने कहा-यह मेरा लड़का जन्म से गूँगा है, इसे ठीक कर दीजिए। डॉक्टरों की राय में तो यह अब जीवन में कभी नहीं बोल सकेगा, अब आप ही कृपा करें। मैं बहुत घबराया-सोचा आज सारी महात्मागिरी धूल में मिल जाएगी। लोग हँसेंगे सो अलग। फिर दिमाग में आया, इसमें मेरी प्रतिष्ठा का

क्या सवाल है? प्रतिष्ठा तो माताजी की है। हम लोग तो उन्हीं के कहने से भटक रहे हैं और उनकी कृपा से सब सम्भव है।

यही सोचकर हमने वंदनीया माताजी के चित्र के सामने प्रणाम करके सभी से चौबीस बार गायत्री मन्त्र जप करने के लिए कहा। सब लोग गायत्री मन्त्र का सस्वर पाठ कर रहे थे और मैं मन ही मन माताजी से कातर भाव से प्रार्थना कर रहा था, हे माताजी! इस बालक को बोलने, सुनने की शक्ति दो। गायत्री जप समाप्ति पर माताजी का स्मरण करते हुए उस पर शान्तिपाठ के साथ जल छिड़का, जल छिड़कते ही बच्चा माँ-माँ कहते हुए अपनी माँ से लिपट गया। इस अविश्वसनीय सत्य को सभी ग्रामवासी अपनी आँखों से देख रहे थे। हर कोई माताजी का जयघोष करते हुए प्रसन्नता से नाच रहा था। जिनका नामस्मरण करने पर असम्भव भी सम्भव हो सकता है, उनके व्यक्तित्व का गुणगान भला हम निपट अज्ञानी कैसे कर सकते हैं। बस हर साँस के साथ यही कहते रहते हैं माँ अपने बालकों पर अपनी कृपा बनाए रखना।

*-आनन्द तिवारी, लखनादौन*

मैं नर्स की नौकरी करती हूँ। दौड़-भाग की सैकड़ों परेशानियाँ लगी रहती हैं। छोटे अस्पतालों में नर्स की नौकरी करना कितना कठिन है, इसे तो कोई भुक्तभोगी ही बता सकता है। हम लोग सभी भाई-बहिन बचपन से अपने माँ-पिताजी के साथ शान्तिकुंज आते रहे हैं। हमारे लिए हर समस्या का एक ही समाधान रहा है-गुरुजी- माताजी से कह देंगे। जून, ९० में जब गुरुदेव ने महाप्रयाण किया, तब भावनाएँ कसमसा उठीं, मन तड़प उठा। भागी-भागी शान्तिकुंज आयी। माताजी से लिपट कर रो पड़ी। उन्होंने दिलासा देते हुए कहा -अरे, चिन्ता क्यों करती है? मैं तो हूँ। मेरे रहते, तुझे परेशान होने की क्या जरूरत है?

बात आयी-गयी हो गयी। मन माताजी में लग गया। सितम्बर, ९४ में जब माताजी के महाप्रयाण का हृदय-विदारक समाचार सुनने को मिला। मैं जार-जार रो पड़ी। अस्पताल जाना छूट गया। बस रोए जा रही थी। अब मेरा क्या होगा? किसकी शरण में जाकर अपना दुखड़ा सुनाऊँगी। उस दिन किसी तरह रोते-रोते झपकी आ गयी । देखती क्या हूँ मेरे सिराहने माताजी खड़ी हैं। उनका पूरा शरीर सूरज की तरह चमक रहा है। मेरे सिर पर हाथ फिराते हुए बोलीं- पागल कहीं की, रोती क्यों है? मैं मरी कहाँ हूँ, देख तेरे पास खड़ी हूँ। मैंने तो सिर्फ शरीर छोड़ा है। शरीर का बन्धन हटते ही अब तो और अधिक सक्रियता बढ़ गई है। मैं तेरी पहले से ज्यादा सहायता कर सकूँगी। कभी मेरी याद करके तो देखना, तुरन्त मेरी मदद तुम तक पहुँचेगी। सुबह उठने पर मन बहुत प्रसन्न था। शरीर भी काफी हल्का लग रहा था। उनकी कृपा से समस्याएँ भी एक-एक करके निबटती जा रही हैं। मेरे मन में पूरा विश्वास है कि मेरी माँ दूर नहीं गयीं। वह और अधिक हम लोगों के पास हो गयी हैं।

*-श्रीमती ऊषा उपाध्याय, बाँदा*

अपनी लड़की की शादी के लिए मैं इधर काफी दिनों से परेशान था। इधर वंदनीया माताजी के देहावसान की खबर मिली। खबर सुनते ही ऐसा लगा कि अपना सब कुछ लुट गया। एक माताजी ही तो थीं, जिनकी गोद में सिर रखकर थके जीवन को नयी ऊर्जा मिलती थी। अब क्या होगा? एक जगह जहाँ बच्ची की शादी के लिए बात चला रहे थे, वे सब कुछ तय होने के बाद मुकर गए। परेशानी बढ़ती जा रही थी। समाधान कुछ था नहीं।

एक रात को यही सब सोचते-सोचते सो गया। सोते समय मन बड़ा विकल था। यही विचार कर रहा था कि माताजी अगर आप होतीं, तो आज ये दिन क्यों देखने पड़ते। आपसे कह देते समस्या सुलझ जाती, पर अब किससे कहें, कहाँ जाएँ? नींद आने पर स्वप्न में दिखाई दिया- बेटा! तू परेशान क्यों होता है? शरीर तो मैंने अपनी मर्जी से छोड़ा है, शरीर छोड़ने को तूने मरना मान लिया। मैं कभी नहीं मरूँगी। अपने बच्चों को प्यार-ममत्व हम पहले से भी अधिक देंगे। तुम सभी की समस्याएँ सुलझाने, संरक्षण देने का दायित्व हम पर है, इसे हम पहले की अपेक्षा अधिक समर्थता के साथ पूरा करेंगे। तेरी लड़की की शादी उसी लड़के के साथ शान्तिकुंज में सम्पन्न होगी, परेशान होने की कोई जरूरत नहीं। अगले दिन लड़के के घरवाले मेरे यहाँ आए। उन्होंने सारी बातें मिल-बैठकर सुलझायीं। यही नहीं शान्तिकुंज जाकर शादी सम्पन्न करने के लिए तैयार हो गए। विवाह शान्तिकुंज में गुरुदेव-माताजी के सूक्ष्म-संरक्षण में सम्पन्न हुआ। डॉ. प्रणव भाई साहब, शैल दीदी की ओर से सूक्ष्म-सत्ता का आशीर्वाद मिला, निस्संदेह माता का प्यार भरा सहारा उनके शरीर छोड़ने के बाद घटा नहीं, बढ़ा है।

*-एक परिजन, कानपुर*

बात परमपूज्य गुरुदेव के महाप्रयाण के बाद की है। वंदनीया माताजी को ईश्वर के साथ, भगवान के साथ एकाकार वाले गीत पसन्द थे और वे उसी में तन्मय हो जाती थीं। इतनी भाव-विभोर हो जाती थीं, जैसे लगता था कि पूज्यवर स्वयं उपस्थित हैं, जिन्हें माँ गीत सुना रही हों। कभी भी गीत के अंत में फूट फूट कर रोती थीं, रिकार्डिंग करना मुश्किल हो जाता था। बाद में कहतीं- क्या करूँ गाया नहीं जाता।

एक दिन गीत रिकॉर्ड करने के लिए संगीत के सभी भाई बैठे थे, स्टूडियो के भी भाई बैठे हुए थे, अनायास ही माताजी बोलीं "बच्चो! तुम्हें लगता होगा, माताजी को गीत क्यों पसन्द हैं और इतने गहराई के साथ क्यों गाती हैं? मिलने-जुलने के समय भी ४-५ घण्टे संगीत में क्यों देती हैं? तो मैं आज बताती हूँ-रहस्य की बात।"

"गीत गाने के बहाने मैं अपने इष्ट, भगवान की उपासना करती हूँ, जब भी गाती हूँ वे साक्षात उपस्थित हो जाते हैं, मुसकराते हैं, प्रसन्न होते हैं, उतनी देर उनकी स्थूल उपस्थिति का लाभ मिल जाता है जिसके आधार पर

उनके विछोह में परेशान नहीं होती, इस शरीर को उनके बिना टिकाए रखने का आधार मिलता है। यही मेरी उपासना है, भक्ति है, जो संगीत के माध्यम से सम्पन्न होती है। *–एक परिजन शान्तिकुंज*

# अभिव्यक्तियाँ, बहुरंगी स्मृतियाँ

क्या कुछ नहीं समाया था वंदनीया माताजी के व्यक्तित्व में। आदर्श गृहिणी, वात्सल्यमयी माँ, उत्कट तपस्विनी, आध्यात्मिक शक्तियों की दिव्य स्रोत, ओजस्वी वक्ता एवं कुशल व्यवस्थापिका आदि न जाने कितने रूपों में वह अपना प्रकाश बाँटती-बिखेरती रहीं। उनके जिस रूप को जिसने देखा, मुग्ध होकर देखता ही रह गया। बात हमारी आपकी, उनके शिष्यों-भक्तों की नहीं उनकी भी है, जिन्हें समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। जिनके हाथ में देश और समाज ने अपनी बागडोर सौंपी है। वे सब भी माताजी के सामाजिक-सांस्कृतिक अनुदानों की चर्चा करते नहीं थकते।

ऐसे विशिष्ट लोगों का आना-जाना, मिलना-जुलना मिशन की शुरुआत से ही रहा है। स्वतंत्रता आन्दोलन में पूज्य गुरुदेव की सक्रिय भागीदारी के कारण उस समय के मूर्धन्य व्यक्तित्व उनके घनिष्ट सम्पर्क में थे। कुछ से तो उनके गहरे-घने पारिवारिक सम्बन्ध भी थे। बाद के दिनों में भी यही सिलसिला चलता रहा। गुरुदेव की प्रतिभा ने यदि उन्हें प्रभावित किया, तो माताजी के प्रेम ने जकड़ लिया। ऐसे विशिष्टजनों की बहुरंगी स्मृतियों की हलकी-सी झाँकी नीचे प्रस्तुत की जा रही है। समग्र विवरण देने के लिए तो शायद इस ग्रन्थ का कलेवर भी छोटा पड़े, फिर भी इस झलक में परिजन यह अनुभव कर सकेंगे कि समझदारों की भावनाएँ किस कदर माताजी को समर्पित होने के लिए आतुर-आकुल हैं।

माताजी सचमुच पारसमणि हैं। जिनका प्यार भरा स्पर्श पाकर काले-कुरूप लोहे जैसा अनगढ़ मनुष्य भी खरे सोने में बदल जाता है। भगवान से मेरी प्रार्थना है कि आचार्य जी एवं माताजी की भावधारा से उत्तरप्रदेश ही नहीं, समूचा देश और दुनिया परिचित-प्रभावित हो।

*–डॉ. एम. चेन्ना रेड्डी*
*भूतपूर्व राज्यपाल, उत्तर प्रदेश*

शांतिकुंज आकर मुझे पहली बार अनुभव हुआ कि माँ का प्यार और उसका प्रभाव क्या होता है। वंदनीया माताजी के प्यार के आकर्षण ने उच्चशिक्षित एवं प्रतिभा-सम्पन्न लोगों को भौतिकता का मोह छोड़कर शांतिकुंज आने एवं लोक-सेवा करने के लिए मजबूर किया है। उनके सान्निध्य में रहने वाले जो सदस्य हैं, उनसे इस देश को बहुत उम्मीदें हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि गायत्री परिवार के कार्यकर्त्ता सामाजिक बुराइयों को दूर करने के अपने प्रयासों में सफल होंगे और एक नये समाज का निर्माण हो सकेगा। *–पुरुषोत्तम कौशिक*
*पूर्व पर्यटन एवं उड्डयन मंत्री, भारत सरकार*

शान्तिकुंज आने पर प्रत्यक्ष हुआ कि यह आश्रम राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में रत है। जिससे न केवल विश्व-निर्माण होगा, अपितु एक युग का नवनिर्माण होगा। मुझे माताजी के स्नेहभरे व्यवहार ने अत्यन्त प्रभावित किया है।

*–सत्यप्रकाश मालवीय, पूर्व मंत्री, उत्तर प्रदेश*

समाज को सुधारने वाले यहाँ आकर खुली आँखों से देखें कि वंदनीया माताजी समाज-निर्माण के अनेकानेक कार्यों का संचालन किस चमत्कारिक ढंग से कर रही हैं।

*–पवन दीवान भूतपूर्व, समाज कल्याण*
*तथा सहकारिता मंत्री म. प्र.*

लोपामुद्रा, अनुसूया जैसी महिला ऋषियों के बारे में अब तक पढ़ता-सुनता रहा हूँ। शान्तिकुंज आने पर माताजी के रूप में उस ऋषितत्त्व का साक्षात्कार भी कर लिया। वह और आचार्य जी मानव-जाति के कल्याण के लिए जैसी शिक्षा दे रहे हैं, उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। उनका कार्य आगे भी प्रगति करता रहेगा।

*–म. र. देवरस, पूर्व सरसंघ चालक*
*राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ*

शान्तिकुंज न आता, तो पता भी न चलता कि नारी-शक्ति के विकास का सही स्वरूप क्या है। माताजी भारतीय नारी के आदर्शों की जीवन्त मूर्ति हैं। स्नेह, ममत्व, करुणा, साहस, सेवा, सदाशयता सभी गुण तो उनमें हैं। उनसे एक बार मिलकर हमेशा-हमेशा के लिए उनका अपना हो गया।

*–ब्रजलाल वर्मा*
*पूर्व संचार मंत्री, भारत सरकार*

इधर काफी अरसे से महसूस हो रहा था कि जैसे जीवन मुझसे बिछुड़ गया है। सब कुछ खोया-खोया, सूना-सूना लग रहा था। आज माताजी के पास बैठकर लगा कि मेरा जीवन मुझे वापस मिल गया। उनके सान्निध्य में मुझे जीवन को नया आधार देने वाला अलौकिक तत्त्व-चिन्तन मिला। उनका ममत्व मेरी जिन्दगी की सबसे बड़ी निधि बनी रहेगी।

*–जस्टिस वी. रामास्वामी*
*तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश, पंजाब*

माताजी के पास कुछ देर रहकर मैं शक्ति अर्जित करके जा रहा हूँ। उनके द्वारा संचालित यह केन्द्र वैज्ञानिकों, समाज-आन्दोलनकारियों, करुण हृदय साहित्यकारों, कलाकारों एवं पत्रकारों के लिए प्रेरणा का केन्द्र है। मेरी इच्छा है कि इन विविध विधाओं के मर्मज्ञ यहाँ आएँ और सीखें कि अपनी प्रतिभा एवं विशिष्ट क्षमता को नवनिर्माण के लिए नियोजित करने की सही तकनीक क्या है? *–सुन्दरलाल बहुगुणा*
*प्रख्यात समाजसेवी, पर्यावरणविद*

इस अंधकार में देश में एक किरण अभी बाकी है। वह युगनिर्माण योजना जिसे माताजी के आशीर्वाद का मूर्त रूप कहा जा सकता है। माताजी का आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन देश और विदेश के लाखों नर-नारियों को प्राप्त

हो रहा है और वे लोक-सेवा के लिए जुट रहे हैं। मनुष्य जाति के लिए इससे बड़ा अनुदान और क्या होगा। जब कभी मैं हरिद्वार आया, यहाँ से नया उत्साह, नयी ऊर्जा लेकर गया।

मैं अपने आपको भाग्यशाली मानूँगा, अगर वंदनीया माताजी मुझे जीवन के आखिरी समय इस मिशन की सेवा करने का अवसर प्रदान करें।

*-विद्याधर जोशी,*
*पूर्व विधायक, म. प्र. विधान सभा*

दूर बैठे, बिना देखे, माताजी के व्यक्तित्व की यथार्थ कल्पना करना कठिन है। जिसने भी उनको एक बार देखा, जो भी उनसे एक बार मिला, उनका अपना हो गया। उनके द्वारा संचालित यह संस्था ठीक उनकी ही तरह अद्भुत है। सही मायने में व्यक्तित्व-परिष्कार का पुनीत कार्य जो शान्तिकुंज कर रहा है, बहुत ही सराहनीय है। वाणी और आचरण के अद्भुत संगम का नाम है शान्तिकुंज।

*-सुषमा स्वराज*
*महामन्त्री भा. ज. पा. राष्ट्रीय समिति*

गायत्री परिवार से भावनात्मक रूप से जुड़ा रहने के कारण गायत्री मन्त्र से निरन्तर नवीन ऊर्जा प्राप्त होती रहती है। उसी तरह शान्तिकुंज से चिन्तन की एक नयी दिशा सदैव मिलती रहती है। विचार, कार्य और लक्ष्य का, अद्वैत सार्थकता के नये क्षितिज का, उद्घाटन का जीवन के सात्विक एवं तात्त्विक मूल्य का सृजन करता है। इसकी शक्ति, साधन एवं प्रेरणा की स्रोत वंदनीया माताजी हैं। जिनके चरणों में हमारे श्रद्धा-सुमन सदैव अर्पित होते रहेंगे।

*-राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल*
*तत्कालीन अध्यक्ष म. प्र. विधान सभा*

गुरुदेव विचार हैं, तो माताजी क्रिया। गुरुदेव तप हैं, तो माताजी शक्ति। गुरुदेव ज्ञान हैं, तो माताजी भक्ति। दो ऋषियों का यह युगल रूप मनुष्य जाति के बीच आज विद्यमान है, मनुष्यों के लिए भगवान का इससे बड़ा वरदान और क्या होगा?

*-रामानन्द सागर,*
*निर्देशक-निर्माता, रामायण सीरियल*

पहले कभी सुना था कि ऋषियों के दर्शन और चरण-स्पर्श से जीवन धन्य हो जाता है। आज माताजी के पास बैठकर इसे अनुभव कर लिया। बहुत कुछ पाकर जा रहा हूँ, यदि कुछ खोना पड़ा है, तो सिर्फ मन की अशान्ति।

*-लोकपति त्रिपाठी*
*पूर्वमंत्री उत्तर प्रदेश सरकार*

ऐसे पवित्र स्थान में आने का अवसर मिला और माताजी के दर्शन हुए, यह मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। उनके द्वारा संचालित गतिविधियों में ही समाज का उज्ज्वल भविष्य सँजोया है।

*-टी. एन. चतुर्वेदी*
*पूर्व कन्ट्रोलर एवं आडीटर जनरल भारत सरकार*

माताजी के कार्य की कल्पना हर कोई नहीं कर सकता। वह कल्पनातीत कार्य कर रही हैं। आध्यात्मिक सामाजिक कार्य के साथ देश की अखण्डता, एकता के लिए पूर्व ऋषियों तुल्य चिन्तन, मनन एवं कार्यप्रणाली मेरी राय में शायद ही कोई अन्य कर रहा हो। राजनीतिज्ञों एवं देश के कर्णधारों को उनका मार्गदर्शन लेना चाहिए। मैं जीवन को कृतार्थ समझूँगा, यदि उनके मार्गदर्शन के अनुसार कुछ कर सकूँ।

*-गिरिराज प्रसाद तिवारी*
*पूर्व अध्यक्ष, राजस्थान विधान सभा*

वंदनीया माताजी के दर्शन का शुभ अवसर मिला। थोड़े समय उनके सान्निध्य में बैठकर उनकी बातें सुनीं। उनके मन में देश की सुरक्षा एवं विकास के लिए अगाध प्रेम है। उनका सारा कार्य देश को समृद्ध बनाने के लिए चल रहा है। मनुष्यमात्र का कल्याण उनका मुख्य अभीष्ट है। आध्यात्मिक चिन्तन एवं सामाजिक सेवा का अभूतपूर्व संगम यहाँ पर है।

माताजी के दर्शन करने के बाद यहाँ रहने की इच्छा प्रबल हो जाती है। थोड़ी अवधि में मार्गदर्शन मिला, जो हर व्यक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है और लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है, मार्ग भी सुगम हो जाता है।

*-सत्येन्द्र नारायण सिंह, पूर्व मुख्यमंत्री बिहार*

आज शान्तिकुंज की अधिष्ठात्री माताजी के दर्शन का सौभाग्य मिला। मानवी प्रेम का अगाध समुद्र उनमें लहराता है। उसके कुछ कणों को पाकर मैं अपने को बड़भागी मानता हूँ।

*-अमर सिंह, पूर्व मुख्यमंत्री गुजरात*

मानवीय हित ही जिनका सब कुछ है, उनका नाम है माताजी। वह सचमुच में माँ हैं, किसी एक की नहीं सभी की, सारे मनुष्यों की, तभी तो सबके कल्याण की चिंता करती रहती हैं।

*-माधव सिंह सोलंकी, पूर्व मुख्यमंत्री गुजरात*

माताजी एवं उनका कार्य, कर्त्तव्य और धर्म के साथ मनुष्य को अपनी ऊँचाइयों में श्रेष्ठता तथा शान्ति देने का अभिनव स्रोत है। माताजी स्वयं में ज्योतिपुंज हैं और उनके कार्यकर्त्ता उनसे निकला हुआ प्रकाश।

*-श्रीपति मिश्र, पूर्व मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश*

भारत की प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता की महिमा यदि कोई जानना चाहे, तो उसे शान्तिकुंज आकर माताजी से मिलना चाहिए। उनके द्वारा विश्वकल्याण के लिए किया जा रहा कार्य सर्वथा अद्वितीय है। मुझे विश्वास है कि यह कार्य दिन पर दिन आगे बढ़ता जाएगा। मैं इसकी सफलता की कामना करता हूँ।

*-बी. सत्यनारायण रेड्डी, पूर्व राज्यपाल उ. प्र.*

मानव कल्याण के लिए वंदनीया माताजी जो कर रही हैं, उसमें सहयोग तो दिया जा सकता है, परन्तु उसके विस्तार को नापा नहीं जा सकता।

*-अर्जुन सिंह,*
*पूर्व मानव संसाधन एवं*
*विकास मंत्री, भारत सरकार*

इनसानियत, अमन, भाईचारे का पैगाम देने वाले इस आश्रम शान्तिकुंज को देखने की अभिलाषा आज पूरी हुई। इसका संचालन करने वाली माताजी मेरी अपनी भी माँ है।

*-इब्राहीम कुरैशी*
*महामंत्री म. प्र. मुस्लिम*
*एजूकेशन सोसायटी म. प्र.*

अपनी माँ की महिमा का बखान भला कौन नहीं करना चाहेगा? उनके ममत्व पर मेरा अधिकार है। मानवीय हितों में एवं उनके हितों में किए जा रहे कार्य, विश्व-इतिहास में एक नया कीर्तिमान स्थापित करेंगे। मैं उनके चरणों में अपने को समर्पित करते हुए मानव-सेवा में अपना योगदान देने का संकल्प लेता हूँ।

*-दिग्विजय सिंह, मुख्यमंत्री म. प्र.*

मेरी माँ बचपन में ही मर गई थीं। आज माताजी को देखकर ऐसा लगा कि फिर से मेरी माँ मुझे मिल गई।

*-लालू प्रसाद यादव, मुख्यमंत्री बिहार*

सचमुच आप विश्वमाता हैं। उड़ीसा ही क्यों सचमुच विश्व आपकी गोद में है।

*-बीजू पटनायक, मुख्यमंत्री उड़ीसा*

माताजी राष्ट्र की आध्यात्मिक ऊर्जा का स्रोत हैं। उनके द्वारा प्रारम्भ किया गया अश्वमेध अभियान राष्ट्र-निर्माण में अपनी सक्षम भूमिका निभाएगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

*-भजन लाल मुख्यमंत्री, हरियाणा*

माताजी के आशीर्वाद का सुख मिला। भावनाओं एवं विचारों का जितना अद्भुत सामंजस्य उनमें समाया है, उसे बिना देखे कल्पना करना कठिन है। शान्तिकुंज के कण-कण में उनकी प्रेरणा समायी है। गायत्री परिवार उनकी आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रवाह है, जिसमें शामिल होकर कोई भी उनकी चेतना का सुखद स्पर्श पा सकता है।

*-छबीलदास मेहता, मुख्यमंत्री गुजरात*

शान्तिकुंज संस्थान को देखकर मुझे अनिवर्चनीय आनन्द की अनुभूति हुई। यहाँ की प्रवृत्तियों का परिचय पाकर प्रतीति हुई कि यह संस्थान आत्म-कल्याण के लिए तो प्रयत्नशील है ही साथ ही, आत्म कल्याण के द्वारा लोक-मंगल भी इसे अभीष्ट है। सबसे बड़ी विशेषता इसकी यह है कि इसके पास अनमोल मानव सम्पदा है। वस्तुतः इसके पीछे एक महान विभूति की अथक एवं दूरदर्शितापूर्ण साधना है। सादगी, सरलता एवं सात्विकता की त्रिवेणी यहाँ से प्रवाहित है। इसकी अधिष्ठात्री तो प्रेम की प्रतिमूर्ति है। मैं इस संस्थान की उत्तरोत्तर उन्नति की कामना करता हूँ।

*यशपाल जैन*
*प्रख्यात साहित्यकार एवं*
*मंत्री सस्ता साहित्य मण्डल*

माताजी के श्रेष्ठ कार्यों से मैं बहुत वर्षों से परिचित हूँ। माताजी ने अपने प्रेमपूर्ण वात्सल्य के सूत्र में अनेक लोकसेवी कार्यकर्त्ताओं की मणिमाला तैयार की है। जिसे वह विश्वमानवता के लिए समर्पित कर रही हैं। उनकी तप-साधना के प्रभाव से सम्पन्न, वैभवशाली और आध्यात्मिकता से भरे-पूरे भारत का निर्माण होगा।

*-प्रो. राजेन्द्र सिंह रज्जू भइया*
*सरसंघ चालक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ*

माताजी के सान्निध्य से स्फूर्ति, प्रेरणा एवं बल लेकर जा रहा हूँ। उनके पास आकर चेतना को नई शान्ति मिली। उनके यह कार्य बढ़ें, केन्द्र अधिकाधिक सामर्थ्यवान बने, यही प्रभु से प्रार्थना है।

*-मुरली मनोहर जोशी*
*वरिष्ठ राजनेता, भारतीय जनता पार्टी*

मानवीय संवेदना अगर घनीभूत हो जाए, तो कैसी होगी, यह माताजी को देखकर पता चला। उनके द्वारा चलाया गया अश्वमेध अभियान राष्ट्रनिर्माण का वेगपूर्ण प्रवाह है।

*-अटल बिहारी बाजपेई*
*वरिष्ठ राजनेता, भारतीय जनता पार्टी*

जहाँ से आत्मिक शान्ति एवं आध्यात्मिक शक्ति का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, उनका नाम ही माताजी है। वर्षों से मेरा उनसे परिचय है। जितने दिन होते जाते हैं, उतनी ही आत्मीयता सघन हो जाती है। संक्षेप में इतना ही कह सकता हूँ कि शब्दों में उनके व्यक्तित्व की मर्यादा नहीं बाँधी जा सकती।

*-भैरों सिंह शेखावत*
*मुख्यमंत्री, राजस्थान*

समाज में संस्कारों की पुनः प्रतिष्ठा का जो कार्य माताजी कर रही हैं, उसके लिए सदैव यह देश ऋणी रहेगा। अल्पसमय में उन्होंने जितना कार्य किया है, उस चमत्कार को देखकर ऐसा लगता है कि एक सामान्य मानवी सामर्थ्य से इतना कुछ सम्भव नहीं। मानवीय शरीर में वह विशिष्ट देवशक्ति हैं। मेरा उनको नमन।

*-अशोक सिंघल*
*महामंत्री विश्व हिन्दू परिषद*

भारत परिक्रमा के अवसर पर पहली बार शान्तिकुंज आने एवं माताजी से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ। इस सुयोग को पाकर लगा कि जीवन के सभी पुण्यों का पारितोषिक मिल गया। वंदनीया माताजी के व्यक्तित्व से निकलती प्रेमपूर्ण तरंगों ने जीवन में जिस अलौकिक ऊर्जा को प्रवाहित किया, उसे बता सकना शब्दों के बूते की बात नहीं।

*- डॉ. एम. लक्ष्मी*
*अध्यक्ष विवेकानन्द केन्द्र कन्याकुमारी*

*भावभरी यादों की इस शृंखला का विस्तार बहुत बड़ा है, अंतहीन है। अनगिनत रूपों में अपनी ऊर्जा बाँटने वाली अपनी माँ के व्यक्तित्व ने वह सब कुछ सँजोया है, जिसकी स्मृति एवं अनुभूति हम में ऐसी पुलकन देती रहेगी, जिससे हमारा जीवन सुखद रोमांच से भर जाए।*

# जगज्जननी, आद्यशक्ति, सजल-श्रद्धा के चरणों में श्रद्धासुमन

किसी भावप्रवण कवि ने मातृसत्ता के प्रति अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए लिखा है-

**देवि! तू ही है परम पुरुष या,**
**अतुल, अगम्य, वीर्य पुरुषार्थ।**
**शक्ति रूप है, शक्तिमान या,**
**प्रेय स्वार्थ या तू परमार्थ ? ॥**
**जो भी तू है पर या अपरा,**
**यह तू है या वह अभिराम।**
**तुझ को तेरे शिशु अबोध का,**
**देवि! देवि! शतकोटि प्रणाम ॥**

वस्तुतः शक्ति के रूप में भगवत सत्ता की आराधना अनादिकाल से होती आ रही है तथा ''**वेदोक्त तस्मिन्ह तस्युर्भुवनानि विश्वा**'' के माध्यम से इसी आद्यशक्ति की इस संसार का आधार होने की बात बारम्बार दुहराई जाती रही है।

ऋग्वेद में मंत्रद्रष्टा ऋषि से बारम्बार पूछा जाता है- '**कस्मै देवाय हविषा विधेम?**' तो ऋषि उत्तर देते हैं- ''**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥** अर्थात् ''आरम्भ में प्रजापति हुए जो समस्त भूतों के पूर्वज एवं स्वामी थे। वे अपनी शक्ति से पृथ्वी और आकाश को धारण करते हैं। हमें चाहिए कि उन्हीं की स्तुति और पूजा करें।'' इन्हीं देवाधिदेव को ऋग्वेद में कहीं द्यौ पिता कहा गया है तथा कहीं मातृ रूप में 'अदिति' कहा गया है। यही उल्लेख करते हुए ऋग्वेद (२-६-१७) में एक वर्णन आया- ''अदिति स्वर्ग में है तथा स्वर्ग और भूलोक के बीच का जो द्युलोक (अंतरिक्ष) है, वहाँ भी विद्यमान है। वह समस्त देवताओं की जननी है और चराचर भूतों को रचने वाली है। सबकी पिता एवं रक्षक भी वही है। वह स्रष्टा और सृष्टि दोनों ही है। अपने उपासकों की आत्माओं को यह अनुकम्पा द्वारा पापों से मुक्त कर देती है। वह अपनी संतान को देने लायक सब कुछ दे डालती है। वह सभी देवताओं और दिव्य आत्माओं के विग्रह में निवास करती है। भूत एवं भव्य सब कुछ उसी का रूप है। वही सब कुछ है।''

ईश्वर की, आद्यशक्ति के रूप में व्याख्या केवल वैदिक संस्कृति की विशेषता है एवं यही कारण है कि हमारे यहाँ मातृसत्ता को ईश्वर समान माना गया है। जब हमें इस बात की अनुभूति होने लगती है कि प्रकृति अथवा ईश्वर का नारी रूप ईश्वर के व्यक्त स्वरूप का ही एक अंश है और विराट पुरुष अथवा परमात्मा के पुरुष रूप से सर्वथा अभिन्न है, तब यह बात हमारी समझ में आ जाएगी कि ईश्वर इस जगत की रचना अपने अंतस से करता रहता है। संसार के सभी पदार्थ और शक्तियाँ उसके विराट शरीर में ही विद्यमान रहती हैं, बाह्य उपादानों की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती।

''हे शिवे ! तुम्हीं परब्रह्म परमात्मा की परा प्रकृति हो और तुम्हीं से सारे जगत की उत्पत्ति हुई है, तुम्हीं विश्व की जननी हो।'' इस शास्त्रवर्णन द्वारा उस शक्ति की महिमा का हम गान करते हैं, जो हम सबकी उत्पत्ति व पोषण का मूल कारण है। जगदम्बा की यही शक्ति सारी सृष्टि को विकास के पूर्व अपने उदर में रखती है। वही ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर की जननी है, वही समस्त क्रियाओं का मूल है। वही आदि शक्ति जगदम्बा ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२५वें सूक्त में कहती हैं- ''मुझ पर किसी का प्रभुत्व नहीं। मैं पृथ्वी और आकाश से परे हूँ। अखिल विश्व मेरी विभूति है। मैं अपनी शक्ति से यह सब कुछ हूँ।'' वही जगज्जननी जिसके अन्दर हम जीवन धारण करते हैं, चलते-फिरते हैं और अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं, हम सबकी आराध्य हैं।

परमवंदनीया माताजी की स्मृति आते ही सतत उस आद्यशक्ति का स्मरण आता है व लगता है कि शक्ति का लीलासंदोह कितना अद्‌भुत है, जो द्रष्टा रूप में तो समझ में नहीं आता, अनुभूति उसकी सतत होती है, किन्तु अब स्थूल में न दीख पड़ने पर भी वह और भी व्यापक विस्तार में अपना कार्य करती, जब सूक्ष्म दृगों से नजर आती है, तब ज्ञात होता है हम किस महान शक्तिस्रोत से जुड़े थे व अब भी जुड़े रहकर सतत पाने के अधिकारी हैं। यदि उसकी महत्ता व निज की गरिमा को समझ सकें। परम पूज्य गुरुदेव ने स्थान-स्थान पर शक्ति की आराधना की बात लिखी है, उन्होंने गायत्री महाविद्या द्वारा अशक्ति से मुक्ति, अविद्या से मुक्ति, अभावों से मुक्ति का जो वर्णन किया है, उसका उन्होंने देवी भागवत व बाद में '**कुंडलिनी महाशक्ति व उसकी संसिद्धि**' प्रकरण में बड़ी विस्तृत व्याख्या की है। वस्तुतः शक्ति एक ही है। साकार भाव को प्राप्त परब्रह्म की ही मूर्ति देवी भाव में स्थित होकर सीता, राधा, सरस्वती, लक्ष्मी, महेश्वरी आदि विविध रूपों में विभिन्न उपासकों के द्वारा आराधित होती हैं। रामकृष्ण परमहंस ने उसी को काली के रूप में पूजा था व उसी के दर्शन अपने प्रिय शिष्य नरेन्द्रनाथ दत्त को कराकर साक्षात आद्यशक्ति के दर्शन कराए थे। श्री अरविन्द ने महाचेतना के रूप में सुपर जगत में विद्यमान सत्ता से अवतरित हो रही सावित्री महाशक्ति के रूप में उसी आद्यशक्ति की व्याख्या की एवं श्री माँ के माध्यम से उसका बहिरंग जगत को अवलोकन कराया। परमपूज्य गुरुदेव शाक्तमत के प्रचारक थे या किसी और सिद्धान्त के, इस विवाद में न पड़कर हम यही विचार करें कि उन्होंने हमारे समक्ष आद्यशक्ति का मातृस्वरूपा, एक जाज्वल्यमान रूप रखा जो स्नेह, ममत्व, करुणा, पोषण, लालन-पालन, सुधार-दुलार सभी का समन्वित रूप बन माता भगवती देवी के रूप में हम सबके बीच में आयीं। गायत्री महाशक्ति एक मंत्रछन्द के रूप में वेदों में विद्यमान हैं, उन्हें हम मातृसत्ता

के रूप में यदि मानें, तो उनमें किन गुणों को देखें, यह उन्होंने परमवंदनीया माताजी के रूप में साक्षात प्रतिबिंबित कर दिखाया।

सभी जानते हैं कि शक्ति के दो परस्पर विरोधी रूप होते हैं। एक रूप 'विद्या' का, जो ईश्वरोन्मुख स्वरूप होता है। जिसे संस्कृत में विद्या कहते हैं तथा दूसरा संसार प्रधान जिसे संस्कृत में 'अविद्या' कहते हैं। पहली मोक्ष और आनन्द देने वाली है और दूसरी बन्धन और दुःख का कारण है। दूसरी का आवरण पहली पर चढ़ा रहता है। उसे हटाकर ही शक्ति के वास्तविक स्वरूप को देखा जा सकता है। जगज्जननी के उपासक यही कहते हैं कि- "हे देवि! हम तुम्हारी अविद्या शक्ति से मोहित होकर तुम्हें भूल जाते हैं और संसार के तुच्छ पदार्थों में सुख का अनुभव करने लगते हैं, परन्तु जब हम तुम्हारी पूजा करते हैं, तुम्हारे प्रति अपनी श्रद्धा आरोपित करते हैं, तुम्हारी शरण आ जाते हैं, तब तुम हमें अज्ञान से एवं संसार की आसक्ति से मुक्त कर देती हो और अपने विराट परिवार के बच्चों को सुख-शान्ति प्रदान करती हो।"

विद्या और अविद्या शक्ति के इन दो आयामों को समझ कर बहिरंग 'अविद्या' वाले स्वरूप से नहीं, विद्या वाले स्वरूप को भली-भाँति समझकर यदि शक्ति को समर्पण किया जाए, तो वह सब मिल सकता है जो पाषाण की मूर्ति में विद्यमान महाकाली से परमहंस को मिला। वास्तविकता यही है कि मातृशक्ति रूपी देवी सत्ता के प्रति श्रद्धा जिसकी जिस परिमाण में हुई, उसे उसी अनुपात में मिलता चला गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अगस्त, १९७९ की 'अखण्ड-ज्योति' के अपने 'प्रज्ञावतार अंक' में स्पष्ट लिखा है कि "युगशक्ति का अवतरण श्रद्धा और विवेक के संगम के रूप में होने जा रहा है। अगले दिनों मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पदा एवं उपलब्धि ऋतंभरा-प्रज्ञा मानी जाएगी। ऋतंभरा वह जिसमें विवेक और श्रद्धा का समुचित समावेश हो।" इसमें 'श्रद्धा' की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि "श्रद्धा उस आस्था का नाम है, जो उत्कृष्ट आदर्शवादिता को अत्यधिक प्यार करे और उस स्तर के चिंतन तथा कर्तृत्व से भाव भरे रसास्वादन का आनन्द प्रदान करे।" विवेक और श्रद्धा का जहाँ जितना सम्मिश्रण होता है, वहाँ उतनी ही महानता दृष्टिगोचर होती है। उसी उपलब्धि के सहारे सामान्य परिस्थितियों में जन्मे-पले व्यक्ति भी ऐतिहासिक महामानवों की भूमिका निभाते और विश्व-निर्माण में ऐतिहासिक भूमिका निभाते चले जाते हैं।

परमपूज्य गुरुदेव 'प्रखरप्रज्ञा' के, विवेक के, बुद्धि के उत्कृष्टतम स्तर के प्रतीक के रूप में, अवतारी सत्ता के रूप में हम सबके बीच में आए। परमवंदनीया माताजी 'सजलश्रद्धा' के रूप में, शक्ति के स्वरूप में हम सबके बीच उनकी पूरकसत्ता के रूप में आयीं। दोनों के सम्मिलित पुरुषार्थ से प्रज्ञावतार की युगांतरीय चेतना ने जन्म लिया तथा सर्वप्रथम सुसंस्कारिता के जागरण, तत्पश्चात् संकल्पशक्ति व साधना-समर्पण के माध्यम से देव-संस्कृति विस्तार की प्रक्रिया के निमित्त गीता के अठारह अध्याय की तरह अठारह दिग्विजयी पुरुषार्थ अश्वमेधों के रूप में दो वर्ष की अवधि में सम्पन्न हो गए। यही शक्ति का प्राकट्य है, जो पहले स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता, फिर अपनी शक्ति का झंझावाती आभास देकर सूक्ष्म में विलीन हो और प्रखर शक्तिशाली रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है।

सबसे बड़ी उपमा जो पूज्यवर जैसी महाकाल की सत्ता ने उन्हें सतत दी है, वह है 'सजलश्रद्धा' रूपी शक्ति की, जिनसे उन्हें युगपरिवर्तन का कार्य कर सकने की ऊर्जा मिली। यह कृतज्ञता ज्ञापन मात्र नहीं, संक्षिप्त परिचय है उस आद्यशक्ति का, जो हम सबके बीच आयीं, सीमित अवधि की सामान्य-सी दीखने वाली असामान्य जीवनचर्या को जीती हुई देखते-देखते हमारे बीच से ओझल हो गयीं। यदि हम उनके सही रूप को समझ पाएँ तो महाकाल के सहचर महाकाली के रूप में उन्हें समझना होगा। एक ही पुरुष महाकाल पुरुष की दस शक्तियों में सर्वप्रसिद्ध प्रथम स्थान पर महाकाली का नाम है। अर्द्धनारीश्वर की उपासना का मौलिक रहस्य इसी तत्त्वज्ञान में छिपा है कि हम उन्हें एक-दूसरे का पूरक मानें तथा **'सा ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी'** के मर्म को समझते हुए अपनी श्रद्धा, अपना हृदय से समर्पण उसके प्रति अभिव्यक्त कर उससे एक ही प्रार्थना करें कि "माँ! हमें अविद्या से, माया से दूर हटाकर विद्या की ओर, सद्बुद्धि की ओर ले चल। हमारी तेरे प्रति सच्ची श्रद्धांजलि यही हो कि हम अधिकाधिक को तेरे सच्चे स्वरूप का भान कराकर सुपथ पर चलने को प्रेरित करें।" इसी भावना के साथ मातृसत्ता के युगल-चरणों में समर्पण।

□□□

# देवदूत आया हम पहचान न सके

## विश्वविख्यात मूर्धन्य दिव्यदर्शियों का भविष्य-कथन

आमतौर से यही सिद्धान्त सर्वमान्य है कि मनुष्य अपने भाग्य और भविष्य का निर्माता स्वयं है। जो आज हम करते हैं कल उसी का परिणाम पाते हैं। इस आधार पर वर्तमान में भविष्य के सम्बन्ध में कुछ कह सकने वाली बात का कुछ तुक नहीं दीखता।

पर संसार में ऐसे भी दिव्यदर्शी हैं जो मनुष्य जाति द्वारा किए गये सामूहिक कर्मों की भविष्य में होने वाली प्रतिक्रिया को समय से पहले ही देख, समझ और जान सकें। फलित ज्योतिष के आधार पर तो नहीं पर अध्यात्म तत्त्व की सूक्ष्मसामर्थ्य द्वारा ऐसी क्षमता किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों में हो सकती है, जो भविष्य की सम्भावनाओं को प्रत्यक्ष हस्तामलकवत देख सकें। संसार की अस्त-व्यस्त एवं विकृत परिस्थितियों को सुधारने, संतुलित करने के लिए भी ईश्वरीय-सत्ता कुछ विशेष व्यवस्था समय-समय पर बनाती रहती है। इस दिव्यप्रेरणा का रुख और प्रवाह देखकर भी यह समझा जा सकता है कि भविष्य में घटना-क्रम का चक्र किस प्रकार घूमने वाला है। इन सम्भावनाओं को आत्म-बल सम्पन्न तत्त्वदर्शी समय से पहले भी जान-समझ सकते हैं। उनमें से कितने ही उन जानकारियों को अपने आप तक सीमित रखते हैं और कितने ही जन-साधारण को चेतावनी देने एवं समय के अनुरूप ढलने की दृष्टि से उन बातों को प्रकट भी कर देते हैं।

समय के परिवर्तन और मनुष्यजाति के, संसार के नव-निर्माण की दिशा में इन दिनों सूक्ष्मजगत में भारी हलचल हो रही है। पिछले दिनों विश्वव्यापी अनाचार एवं अविवेक ने जो विकृतियों का घटाटोप खड़ा कर दिया है, उसकी प्रतिक्रिया कटु एवं भयावह प्रतिफल लेकर सामने आने वाली है। ईश्वर अपने प्रिय राजकुमार मनुष्य को और अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति इस वसुधा को यों ही नष्ट-भ्रष्ट नहीं होने दे सकता। इसके सन्तुलन के लिये महाकाल की नियामक व्यवस्था चल रही है। सूक्ष्म-जगत की इसी भारी हलचल को, उसकी प्रतिक्रिया, परिस्थिति, दिशा एवं सम्भावना को ठीक तरह समझ सकें ऐसे सूक्ष्मदर्शी, आत्मबल सम्पन्न महामानवों का सौभाग्य से अभी भी अस्तित्व है। यहाँ पर ऐसे ही दिव्यदर्शी महामानवों की कुछ भविष्यवाणियाँ दी जा रही हैं। समय-समय पर इनके भविष्यकथन ९९ प्रतिशत सही सिद्ध होते रहे हैं। उनके भविष्यकथन का आधार जो भी हो, पर इतना सही है कि प्रामाणिकता की कसौटी पर वे अब तक प्राय: खरी ही उतरती रही हैं। इस आधार पर उनकी वे बातें भी विश्वस्त समझी जा सकती हैं जिनके घटित होने की उन्होंने घोषणा एवं भविष्यवाणियाँ की हैं।

भविष्य में क्या होने वाला है, यह जानना मात्र कौतूहल ही नहीं, उपयोगी भी है। अवश्यम्भावी भवतव्यता को यदि जान लिया जाए तो व्यक्ति उससे टकराने-प्रतिकूल रहकर अपनी शक्ति नष्ट करने की गलती से बच सकता है। साथ ही अपने को भावी परिस्थितियों के अनुकूल ढालकर सुविधापूर्ण रीति-नीति अपना सकता है और उपयुक्त प्रवाह की दिशा में बहने की सरलता एवं सफलता का लाभ उठा सकता है।

मानव-जाति और विश्व का भविष्य किस दिशा में किस प्रकार विनिर्मित होने जा रहा है, इसकी झाँकी इन कथनों में जहाँ-तहाँ मिलती है। वे सभी हम सबके लिए बहुत उपयोगी हैं। आज का सड़ा-गला सामाजिक ढाँचा और मनुष्य का चिन्तन तथा आचरण जिस प्रकार बदला जा रहा है, इसका बहुत कुछ संकेत इनमें मिल सकता है।

युग-परिवर्तन एवं नव-निर्माण का छोटा-सा शुभारम्भ 'युग-निर्माण योजना' द्वारा आरम्भ हुआ है। देखने में यह प्रयोग एक छोटा आन्दोलन मात्र मालूम पड़ता है, पर इसके पीछे सूक्ष्मजगत के कौन तत्त्व काम कर रहे हैं और उनका कैसा विश्वव्यापी स्वरूप निकट भविष्य में विकसित होने वाला है उसकी एक झाँकी इन सूक्तियों में समझी जा सकती है। जिन हाथों के द्वारा इस योजना का सूत्रपात किया है, उसे इन दिनों हम एक व्यक्तिविशेष भर मानते हैं, पर इन उक्तियों की संगति मिलाने से पता चलता है कि वह नगण्य सा व्यक्ति दीखने पर भी वस्तुत: नवयुग का सन्देशवाहक एवं देवदूत है। 'युग-निर्माण योजना' की गतिविधियाँ और उसके संचालक पूज्य आचार्य जी के व्यक्तित्व एवं क्रिया-कलाप के साथ यदि हम उन भविष्यवाणियों की संगतियाँ मिलाते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रहा जा सकता कि यह तुच्छ-सा दीखने वाला अभियान एवं व्यक्तित्व उस छोटे से बीज की तरह है, जो कुछ ही दिनों में विशाल वृक्ष की भूमिका सम्पन्न करेगा।

यह सभी भविष्यवक्ता ऐसे हैं जिन्होंने शायद ही कभी 'युग-निर्माण योजना' और उसके संचालक का नाम सुना हो। उन्होंने वस्तुस्थिति को सूक्ष्मजगत में अपनी दिव्य-दृष्टि से जो देखा-समझा वैसा ही उल्लेख किया है। यह भविष्यवाणियाँ, जहाँ तक युग-परिवर्तन से सम्बन्ध है गम्भीरता से विचार करने पर उनकी संगति अपने 'युग निर्माण योजना' पर ही लागू होती है और उस प्रक्रिया के सम्पादन में जिस देवदूत की चर्चा है, उसकी तुलना पूज्य आचार्य जी के साथ ही बैठती है। यदि यह बात सही हो

तो यही कहना पड़ेगा कि हम असंख्य व्यक्ति इस महान आन्दोलन की गरिमा और उसके संचालक की महिमा समझने में समर्थ न हो सके।

समय है कि हम भावी परिवर्तन का स्वरूप समझें और उसके अनुरूप अपनी गतिविधियाँ बनाकर अपने उन तपस्वी देवदूत की भागीरथी प्रक्रिया को समझें और उनके संकेत, संदेशों के अनुरूप कुछ बड़े कदम उठाने का साहस संग्रह करें। इसी में हमारी दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता मानी जाएगी।

समय-समय पर 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका में विश्वप्रसिद्ध, प्रामाणिक, आत्मदर्शी भविष्यवक्ताओं की भविष्यवाणियाँ छपती रही हैं इसीलिए उनको बहुत हद तक विश्वस्त समझा जा सकता है। इनमें से प्रमुख हैं- संत प्राणनाथ, जान मेलार्ड, औरेचार्ड, महर्षि अरविंद, गोपीनाथ शास्त्री चुलैट, महात्मा विश्वरंजन ब्रह्मचारी, रोम्याँ रोलाँ, कीरो, विरिस्का सिलविगर, आनन्दाचार्य, जीन डिक्सन, एण्डरसन, गेरार्ड क्राइसे, आर्थर चार्ल्स क्लार्क, प्रो. हरार, जूलबर्न, परमहंस राजनारायण पट्टशास्त्री, केदारदत्त जोशी, जार्ज बावेरी, पैरासेल्सस, डेनियल, नोस्ट्राडेमस, पादरी वेल्टर वेन आदि। इनमें से कुछ का संक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

बुन्देलखण्ड के यशस्वी सम्राट छत्रसाल के गुरु महात्मा प्राणनाथ जी ने युगपरिवर्तन और अवतार आगमन की बात प्रस्तुत छंद में इस तरह दी है-

**विजयाभिनन्दन बुद्ध जी और निष्कलंक इत आय।**
**मुक्ति देसी सबन को मेट सबै असुराय॥**
**एक सृष्टि धनी भजन एकै एक ज्ञान एक आहार।**
**छोड़ बैर मिले सब प्यार सों भया सकल में जै जैकार।**
**अक्षर के दो चश्मै नहासी नूर नजर।**
**वीसा सो बरसें कायम होसी बैराट सचराचर॥**

'हीलिंग लाइफ' के सम्पादक पादरी जान मेलार्ड ने भी युगपरिवर्तन एवं देवदूत के आगमन का समर्थन करते हुए लिखा है-

आज संसार की समस्याएँ इतनी जटिल हो गई हैं कि उन्हें मानवीय बुद्धि और बल पर सुलझाया नहीं जा सकता; विश्वशान्ति अब मनुष्य की ताकत के बाहर हो गई है, तथापि हमें निराश होने की बात नहीं क्योंकि ऐसे संकेत मिल रहे हैं कि भगवान धरती पर आ गया है और वह अपनी सहायक शक्तियों के साथ नवयुग स्थापना के प्रयत्नों में जुट गया है। उसकी बौद्धिक और आत्मिक क्षमता उसे अपने आप अवतार होने की बात स्पष्ट कर देगी। वह दुनिया का उद्धारक देर तक पर्दे में छिपा नहीं रह सकता।

डब्लू ई. औरेचार्ड ने भी अपना मत ऐसे ही व्यक्त करते हुए लिखा है- "इजराइल के निवासी जिन प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, वह धरती पर आ गए हैं और अब उनके दुःखों के साथ सारे संसार से दुःखों का अन्त होने वाला है। भगवान अपनी सृष्टि में अमंगल, अन्याय, अत्याचार नहीं रहने देते, आज वह इस सीमा तक बढ़ गये हैं कि उन्हें व्यक्त होना ही पड़ेगा।

प्रसिद्ध भारतीय महायोगी और आजीवन अध्यात्म की मशाल प्रज्वलित रखने वाले महर्षि अरविन्द अतीन्द्रिय द्रष्टा थे। वे लोगों को भविष्यवाणियाँ करने जैसे चमत्कारों को आत्म-कल्याण में बाधक बताते थे। इसलिये उन्होंने अनावश्यक भविष्यवाणियाँ नहीं कीं, पर लोगों को शक्ति और धैर्य दिलाने वाली भविष्यवाणियाँ उन्होंने भी कीं और वह सच निकलीं। सन् १९३९ में उन्होंने कहा था- आठ वर्ष बाद भारत स्वतन्त्र हो जाएगा। पर शीघ्र ही वह दो टुकड़ों में बँट सकता है, दोनों बातें सच निकलीं।

युग-परिवर्तन के सम्बन्ध में उनकी भविष्यवाणी बहुत महत्त्वपूर्ण है- एक बार उन्होंने श्री यज्ञ शिखा माँ से बड़ी आह्लादपूर्ण मुद्रा में बताया-

"मेरे अन्तःकरण में दैवी-स्फुरणाएँ हिलोरें मार रही हैं और कह रही हैं कि भारत का अभ्युदय बहुत निकट है, कुछ लोग इसे पश्चिमी सभ्यता का अनुयायी बनाने का प्रयत्न करेंगे, पर मेरा विश्वास है कि भारतवर्ष में एक अभियान प्रारम्भ होगा, जो यहाँ की असुरता को नष्ट करके फिर से धर्म को एक नई दिशा देगा और इस देश की प्रतिष्ठा, यहाँ के गौरव को बढ़ाएगा। यह आन्दोलन संसार में फिर से सतयुग की-सी सुख-सौम्यता लायेगा"

महात्मा विश्वरंजन ब्रह्मचारी ने श्री शास्त्री जी के प्रधानमन्त्री होने की भविष्यवाणी करते समय दुःख के साथ कहा था-

शास्त्रीजी थोड़े ही समय प्रधानमंत्री रहेंगे, उनकी मृत्यु भारतवर्ष से बाहर होगी। उसके बाद एक महिला प्रधानमन्त्री होगी। इन दिनों देश में व्यापक उतार-चढ़ाव आयेंगे, पर उनमें उल्लेखनीय घटना होगी- देश में एक महान आध्यात्मिक, धार्मिक क्रान्ति। इस क्रान्ति का संचालन यद्यपि मध्यभारत से होगा तथापि उसका सम्बन्ध भारतवर्ष के हर प्रान्त से होगा। उत्तर और दक्षिण भारत को एक सांस्कृतिक-सूत्र में बाँधने का यश इस नई क्रान्ति के संचालक ही प्राप्त करेंगे। कुछ ही दिनों में भारतवर्ष नये आदर्शों की स्थापना करेगा, जिन्हें सारी दुनिया के लोग मानेंगे। लोग स्वेच्छा से अपनी बुराइयाँ छोड़कर अच्छाइयों के मार्ग पर चल पड़ेंगे। आगे प्रतिद्वन्द्विता रुपये-पैसे, पद-प्रतिष्ठा की न होकर इस बात की होगी कि कौन मनुष्य कितना सत्यनिष्ठ, कितना ईमानदार और कितना दानी, सेवाभावी, परिश्रमी और साहसी है।

स्मरण रहे कि श्री ब्रह्मचारी जी ने पूर्वी पाकिस्तान में जल-प्रलय की भविष्यवाणी की थी। उनकी कई भविष्यवाणियाँ आगे प्रतीक्षित हैं- भारतवर्ष को भी वैसा ही जल-प्रलय अथवा भूकम्प का सामना करना पड़ेगा। उसे चीन और पाकिस्तान के संयुक्त युद्ध का सामना करना पड़ सकता है। इनके बावजूद भी भारतवर्ष उन्नति करता रहेगा और भविष्य में उसको अमेरिका और रूस से

बढ़कर प्रतिष्ठा मिलेगी। विश्वयुद्ध से संसार को बचाने का श्रेय भी भारतवर्ष को ही मिलेगा।

बरार के विद्वान ज्योतिषी श्री ज्योतिर्भूषण गोपीनाथ शास्त्री चुलैट ने एक दिन दिव्यदृष्टि से देखा कि नये युग का निर्माता धरती पर आ गया और अब युगपरिवर्तन सन्निकट है। ठीक उसी दिन उसी समय किन्तु वहाँ से काफी दूर बैठे उनके पिता, जो कि भागवत के प्रकांड पण्डित थे और बरार में उन्हें घर-घर लोग जानते थे, उन्होंने भी यही अन्तर्ध्वनि सुनी। दोनों ने पत्र-व्यवहार द्वारा एक ही बात का जिक्र एक-दूसरे से किया और उससे भी आश्चर्य तब अनुभव किया जब दोनों ही ने यह देखा कि पिता-पुत्र दोनों ने ही एक ही समय, एक ही दिव्य-दृश्य कैसे देखा, विलक्षण आश्चर्य था।

श्री शास्त्री जी ने सन् १९४५ और १९५० के मध्य भारतवर्ष को स्वतन्त्र होने की भविष्यवाणी की थी, वह सच हुई। उन्होंने दस वर्ष पूर्व ही गाँधीजी की मृत्यु की भविष्यवाणी की थी, वह सच निकली थी, उन्होंने बताया था सन् १९७० में अमेरिका का कोई मनुष्य चन्द्रमा की परिक्रमा करेगा, यह भविष्यवाणी उन्होंने 'कलिवर्ज्य प्रकरण' में 'पृथ्वी की प्रदक्षिणा नहीं करनी चाहिये' इसका खण्डन करते हुए लिखा था कि भारतीय विमान आदिकाल से ही पृथ्वी और अन्य ग्रहों की प्रदक्षिणा करते हुए उड़ते और उतरते रहे हैं, यह बात शीघ्र देखने में आएगी, जबकि १९७० में अमेरिका निवासी चन्द्रमा पर उतर जाएँगे। इसीलिये हम भारतीयों को भी प्रदक्षिणा विज्ञान की शोध करनी चाहिए । श्री शास्त्री जी की अनेक भविष्यवाणियों में उत्तरी सीमान्त से आक्रमण (चीन का हमला) आदि की भविष्यवाणियाँ भी सच हो चुकी हैं। उन्हें अपनी अतीन्द्रिय अनुभूति के प्रति विश्वास-सा जाग्रत हुआ, फिर भी वे उस बात को एकाएक मान लेने वाले नहीं थे। उन्होंने उसी समय ५।९।२६ के मध्याह्न काल की लग्न कुण्डली बनाई जो इस प्रकार थी-

लग्न तुला उच्च के शनि से युक्त थी, पराक्रम के स्थान पर उच्च का केतु, सुख के स्थान में गुरु, सप्तम में स्वगृही मंगल, नवें में उच्च का राहु, कर्म स्थान में स्वगृही चन्द्र और शुक्र के साथ उसकी युति जो विज्ञान और नये धर्म की प्रतिष्ठा का सूचक होती है। लाभ भाव में बुद्ध और स्वगृही सूर्य का युक्तीकरण भारतवर्ष के धन और ऐश्वर्य की वृद्धि के सूचक थे। यह लग्न भगवान कृष्ण, भगवान राम के जन्म की लग्न के सन्दर्भ में याद दिलाती थी और यह बोध होता था कि संसार में फिर से धर्म की स्थापना करने वाली शक्ति व अवतार का प्राकट्य हो गया होना चाहिए, भले ही लोग उसे बाद में समझ पायें।
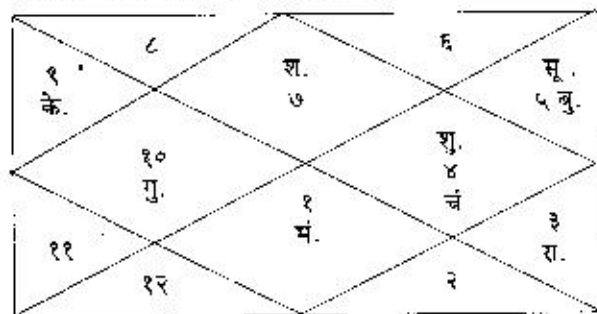
इस विचार के आते ही उन्होंने 'युग-परिवर्तन' नामक एक पुस्तक लिखी, जो अकोला (महाराष्ट्र) से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उन्होंने ज्योतिषगणना के आधार पर बताया है कि पौष कृष्ण ३० संवत् १९८१ से युगपरिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। अब युग सन्धि चल रही है जिसमें पिछले अज्ञानान्धकार का अन्त और नवयुग की लाली बढ़ती जाएगी। यह समय भारतवर्ष के लिये जहाँ तीव्र हलचलों का है, वहाँ इस देश को महान सफलता, समृद्धि, नेतृत्व का प्रतीक भी है। आने वाले समय में यह देश ज्ञान और विज्ञान दोनों ही दृष्टि से विश्व का सर्वोपरि राष्ट्र होगा।

युगों की कालगणना को ज्योतिष के जिन गणितीय सिद्धान्तों के आधार पर निकाला गया, उसे देश भर के विद्वानों ने सत्य माना और पुस्तक बहुत लोकप्रिय हुई। इस पुस्तक में जहाँ भारतीय समाज के अन्धश्रद्धालु वर्ग में फैली भ्रान्तियों का शास्त्रीय निराकरण किया गया है, वहाँ अन्तिम अनुच्छेद में ज्ञानक्रान्ति के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है और बताया है-

"इस देश में एक जबर्दस्त विचार-क्रान्ति होने वाली है। इस विचार-क्रान्ति के फलस्वरूप- (१) शिक्षण-पद्धति बदल जाएगी । अभी लोग नौकरी के लिए पढ़ते हैं, कुछ दिन में ही एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का आविष्कार होगा जिसमें पढ़े लोगों को नौकरी की नहीं नौकरों की दरकार होगी । (२) ईश्वरभक्ति का स्वरूप माला-जप तक सीमित न रहकर समाज के पिछड़े वर्ग की सेवा के रूप में आयेगा। (३) लोग मोक्ष की नहीं सेवा की कामना करेंगे।(४) वकील-बैरिस्टरों से लोगों को घृणा होगी और भूगर्भ विद्या, रसायन शास्त्र, यन्त्र विद्या, खनिज धातु, चुम्बक विद्या आदि के नये क्षेत्रों की ओर विज्ञान का विस्तार होगा जिसका कि नेतृत्व भारतवर्ष से होगा। (५) धर्म और आत्म-विज्ञान की आस्था का तीव्र विकास होगा। (६) बेहिसाब फैली जातियाँ सिमट कर चार वर्णों में ही सीमित हो जाएँगी, जातीय संकीर्णताएँ नष्ट होंगी, उसका प्रभाव खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाजों पर पड़ेगा। (७) वेदज्ञान का विस्तार सारे विश्व में होगा। (८) संविधान का आधार मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ होंगी। (९) विधवा-विवाहों को शास्त्र विरुद्ध न माना जाएगा। (१०) लोग संघशक्ति पर विश्वास करेंगे। (११) मन्दिर बनाने की अपेक्षा भग्न मन्दिरों का निर्माण पुण्यदायक माना जाएगा। मन्दिर जन जागृति के केन्द्र बनकर काम करेंगे. (१२) परिवारों में स्नेह सद्भाव बढ़ेगा। (१३) भारतीय लोग ऐसे विमान का अनुसन्धान

करेंगे जो निर्धूम होंगे। अग्नि, वर्षा, वायु, सूर्य आदि मानवीय इच्छा के अनुरूप काम करेंगे। मृत व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने वाली विद्या का विकास होगा। (१४) स्थान-स्थान पर प्रयोगशालाओं और उद्यमशालाओं की स्थापना होगी।''

युग-परिवर्तन इस शताब्दी की एक ऐतिहासिक घटना के रूप में प्रस्तुत हो तो उसे आश्चर्यजनक नहीं माना जाना चाहिए। विचारक्रान्ति और वह भी एक सुदृढ़ संगठन शक्ति के आधार पर होने की बात विश्व की अनेक उच्च आत्माएँ स्वीकार कर चुकी हैं। इस तरह की भविष्यवाणियाँ आगे के पृष्ठों में दी जा रही हैं, उनसे पता चलेगा कि एक ऐसे युग का आविर्भाव दूर नहीं जिसमें संसार प्रेम, मैत्री, समता और मानवता के आदर्शों पर चलेगा और सुखी जीवन जियेगा।

दिव्यदर्शी श्री रोम्याँ रोलाँ ने लिखा है-

मुझे विश्वास है कि श्वेत सभ्यता का एक बड़ा भाग अपने गुणों-अवगुणों सहित नष्ट हो जाएगा, फिर एक नई सभ्यता उदय होगी। रोम्याँ रोलाँ ने इस नई सभ्यता को स्पष्ट शब्दों में भारतीय सभ्यता स्वीकार किया है और कहा कि आगे भारतीय-संस्कृति और दर्शन ही विश्वधर्म, विश्व-संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित होंगे। एक नये समाज की रचना होगी। मुझे जीवन के बिगड़ने की चिन्ता नहीं, पश्चिमी देश आत्मा की अमरता पर विश्वास नहीं करते, पर मैं करती हूँ। जो लोग इस समय पश्चिम में जन्म ले रहे हैं, पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित हो रहे हैं, उन्हें भीषण विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा।

प्रसिद्ध भविष्यवक्ता प्रोफेसर कीरो ने भी श्वेत जातियों के विनाश, मुसलिम सभ्यता के अन्त के साथ एक नयी सभ्यता और नये धर्म के आने की बात को ग्रह-गणितीय सत्य मानते हुए लिखा है-

"सूर्य कुम्भ राशि पर प्रवेश करता है, तब बहुत तीव्र प्रभाव दिखाई देते हैं, क्योंकि उसके ग्रह यूरेनस और शनि हैं। गूढ़ विद्याओं के प्राचीन ज्ञाता इसे नये युग का शुभारम्भ मानते हैं। शनि एक ओर तोड़-फोड़ और विध्वंस करता है। यूरेनस के प्रभाव से पुराने नियम और कानून आमूलचूल बदलते हैं। सूर्य कुम्भ पर आता है, तब बड़ी हलचल, बड़े परिवर्तन, बड़ी क्रान्तियाँ होती हैं। यह नये युग का निर्माता ग्रह है। इसके प्रभाव से स्त्रियाँ नये रूप में आती हैं।''

यह सारी परिस्थितियाँ आज स्पष्ट हैं। ईरान, तुर्की, अरब और जोर्डन जैसे रूढ़िवादी देशों में भी स्त्रियों को पुरुषों के समान स्वच्छन्द सामाजिक जीवन जीने के अधिकार मिल गये। सूर्य कुम्भ राशि पर आ गया है। यह सारी ग्रह-संक्रान्ति हो चुकी, अतएव नया युग आना ही चाहिए। जिसमें पुरानी सभ्यता के स्थान पर दिव्य-संस्कृति की प्रतिष्ठापना होती है।

''भारत का अभ्युदय एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में हो जाएगा, पर उसके लिए उसे बहुत कठोर संघर्ष करने पड़ेंगे। देखने में यह स्थिति कष्टकारक होगी, पर इस देश में एक फरिश्ता आयेगा जो हजारों छोटे-छोटे लोगों को इकट्ठा करके उनमें इतनी हिम्मत पैदा कर देगा कि वही नन्हें-नन्हें लोग तथाकथित भौतिकवादी लोगों से भिड़ जाएँगे और उनकी मान्यताओं को मिथ्या सिद्ध करके दिखा देंगे। इसके बाद संसार में सीधे-सच्चे लोगों की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और अमनचैन फैलती चली जाएगी। इन्हीं दिनों छल-कपट, हत्या-लूटपाट की परिस्थितियाँ अत्यन्त उग्र होंगी अतएव कड़े संघर्ष के बाद ही मानवीय सद्गुणों का विकास होगा, पर यह विकास चिरस्थायी होगा। उसके लक्षण सन् २००० तक स्पष्ट हो जाएँगे। उसके बाद का संसार प्रेम, दया, करुणा, ईमानदारी, परोपकार और भाईचारे का संसार होगा।''

यह भविष्यवाणी हंगरी की सुप्रसिद्ध महिला ज्योतिषी बोरिस्का सिलविगर की है।

बोरिस्का वही है जिससे एक अँग्रेज आफीसर ने शर्त लगाई थी और कहा था कि हम भारत को कभी स्वतन्त्र नहीं करेंगे, पर बोरिस्का ने हँसकर कहा था- ''१९४४ के बाद भारतवर्ष को संसार की कोई सत्ता गुलाम रखने में समर्थ न होगी। उसका भाग्य अब चमकेगा और भारतवर्ष के ही धार्मिक लोग संसार को शान्ति का मार्ग बताएँगे।''

इसी तरह के प्रमाण बाइबिल में भी हैं। मैथ्यू २४ और रिलेवेशन अध्याय ६ पर अपनी समीक्षा देते हुए प्रसिद्ध भविष्यद्रष्टा सन्त और पादरी मि. बैक्स्टर ने लिखा है-

घोड़े पर बैठकर तलवार लेकर प्रकट हुए मनुष्य और उसके हाथ में तलवार लेकर आने का अर्थ है, एक ऐसे महान व्यक्ति का उदय, जो संसार में क्रान्ति करेगा और लोगों को धार्मिक मान्यताओं की ओर उन्मुख होने के लिए सशक्त विचार प्रदान करेगा। उस समय की पहचान यह होगी कि अन्न महँगा हो जायेगा, लोगों की आदतें काली अर्थात् पापपूर्ण हो जाएँगी, शरीर कमजोर हो जायेंगे। मृत्यु का देवता बढ़ती हुई आबादी को युद्ध, महामारी, अकाल आदि के द्वारा कम करेगा। प्राकृतिक प्रकोप बढ़ेंगे, सूर्य और चन्द्रमा की तथा नक्षत्रों की गतिविधियाँ मनुष्य के लिए अत्यन्त संकटपूर्ण बनेंगी, तभी उस शक्ति का अवतरण होगा, जो सारी दुनिया को फिर से शान्ति और मानवता की दिशा में अग्रसर करेगा।

बाइबिल की परिस्थितियों में और आज की परिस्थितियों में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए इन्हीं दिनों युग को नई प्रतिस्थापनाएँ देने वाली शक्ति के अवतरण की सम्भावनाएँ गलत नहीं कही जा सकतीं। ध्वंस और संघर्ष के मध्य नवयुग का सूर्य मुसकराता है, उसका यही समय है। महाकाल की इस शाश्वत विधि-व्यवस्था को रोक सकना किसी के वश की बात नहीं है।

बंगाल में सन् १८८३ में जन्मे सुरेन्द्रनाथ बराल ही आनन्दाचार्य थे। जिन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय की अध्यापक की नौकरी छोड़कर अध्यात्म-पथ का अवलम्बन लिया और नार्वे जाकर रहने लगे। वहीं पर

उन्होंने साधना की और कई पुस्तकें प्रकाशित कीं। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने १९१० में ही बता दिया था कि चार वर्ष बाद लोग विश्वयुद्ध (प्रथम) के लिये तैयार रहें। जुलाई की आखिरी तारीखों में किसी बहुत ही सामान्य घटना को लेकर युद्ध प्रारम्भ होगा, पर पीछे विश्व के जिन देशों में परस्पर तनातनी चल रही है, वे सब युद्ध में कूद जाएँगे। युद्ध नवम्बर, १९१८ तक चलेगा और जब युद्ध समाप्त हो जाएगा तो सारे विश्व की राजनीति एक स्थान पर केन्द्रित हो जाएगी, एक ऐसी संस्था बनेगी जिसमें विश्व के अधिकांश देश सम्मिलित होंगे, पर उसमें सच्चाई और ईमानदारी के स्थान पर कूटनीति का स्थान अधिक होने से लोग उसके निर्णय बहुत ही कम स्वीकार किया करेंगे।

तब इस भविष्यवाणी पर लोगों का कोई विशेष ध्यान नहीं गया, लेकिन जब उक्त भविष्यकथन सही निकला तो दुनिया वालों का ध्यान उनकी ओर गया। तब उनसे ब्रिटेन का एक पत्रकार मंडल विशेष रूप से मिला और भावी विश्व पर अपने विचार देने का आग्रह किया, तब उन्होंने कहा- अभी शीघ्र ही एक और विश्वयुद्ध के लिए तैयार रहिये। इस द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी का हिटलर और उसमें लाखों व्यक्ति एक क्षण में ही मारे जाएँगे, तब कहीं जाकर शान्ति-समझौता होगा।

इस भविष्यवाणी के कुछ वर्षों बाद ही सितम्बर, १९३९ को पोलैण्ड पर जर्मनी ने आक्रमण कर दिया और इस युद्ध के बाद उसकी ज्वालाएँ भड़कती ही गईं और फिर एक विश्वयुद्ध भड़का। इसी युद्ध में ६ अगस्त, १९४५ की प्रातः ही हिरोशिमा और नागासाकी (जापान) में अणु बम गिराये गये, जिसमें १ लाख से भी अधिक व्यक्तियों की मौत हुई।

आनन्दाचार्य के अनुसार, भविष्यवाणी का महत्त्वपूर्ण अंश तृतीय विश्वयुद्ध के २४ वर्ष पहले और २४ वर्ष बाद भारतवर्ष में तीव्र हलचल का समय होगा। पहले २४ वर्ष महाभारत के बाद से हुई विकृत परिस्थितियों की संध्या के रूप में होंगे और अन्तिम २४ वर्ष नवयुग के सूर्योदय के ऊषाकाल के होंगे। मैं तो अपनी जन्मभूमि को स्वतन्त्र हुआ देखने के थोड़े ही दिन पीछे अपना यह शरीर छोड़ दूँगा, पर दूसरे लोग देखेंगे कि स्वाधीनता के बाद भारतवर्ष में कैसे विलक्षण परिवर्तन होंगे?

"धर्म मेरे देश में संगठित 'संस्था' का रूप लेकर पनपेगा। जन्म तो उसका स्वतन्त्रता के साथ ही हो जाएगा पर २४ वर्ष बाद १९७१ में वह एक शक्तिशाली संगठन के रूप में सारे भारतवर्ष में प्रकाश में आ जाएगा। एक ओर विश्वराजनीति में व्यापक हलचलें होती रहेंगी और उनमें भारतीय राजनीति प्रमुख रूप से क्रियाशील होती दिखाई देगी। वह संगठन जो धार्मिक उद्धार के रूप में प्रकट होगा, इस बीच विश्व-कल्याण का एक नया नक्शा तैयार करेगा। इस संगठन का स्वामी, संचालक कोई गृहस्थ व्यक्ति होगा और अब तक के दुनिया के सबसे बड़े विचारक के रूप में ख्याति प्राप्त करेगा। वह व्यक्ति के सामाजिक उत्तरदायित्वों से लेकर संसार के सब देश शान्तिपूर्वक कैसे रहें, उसकी एक व्यवस्थित आचारसंहिता तैयार करेगा। उसके जीवनभर के संग्रहीत विचारों को यदि एक पुस्तक में लिखा जाए तो वह पुस्तक १०० पौण्ड वजन से अधिक होगी। उस समय तो लोग आश्चर्य करेंगे कि आज के भौतिक युग में इन विचारों का क्या उपयोग? पर संसार में व्यापक रूप से पड़ने वाली आपत्तियाँ और उसके बाद होने वाला विश्वयुद्ध संसार में छाई वर्तमान भौतिकता की दिशा को मोड़ देगा, तब यह आचार संहिताएँ वेद, बाइबिल, एंजल की तरह पूजी जाएँगी। आज लोगों में जो तत्परता भौतिक प्रगति की दिशा में दिखाई दे रही है, तब लोक-परलोक, आत्मा-परमात्मा, मोक्ष और सद्गति जैसे आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति तत्परता दिखाएँगे। महाभारत युद्ध के पूर्व भारत की जो स्थिति थी, उससे आगे का विकासकाल इस तृतीय विश्वयुद्ध के बाद होगा और उसका संचालन यह नया धार्मिक संगठन करेगा।

अमेरिकी भविष्यवक्ता श्रीमती जीन डिक्सन अपनी भविष्यवाणियों के लिए संसार भर में विख्यात हैं। उनकी भविष्यवाणियाँ अभी तक अक्षरशः सत्य साबित हुई हैं। उनकी भविष्यवाणियों में आगे होने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की भी झाँकी मिलती है। उनमें से एक यह भी भविष्यवाणी है

"एशिया के किसी देश सम्भवतः भारतवर्ष में एक नम्र ग्रामीण परिवार में एक महान आत्मा ने जन्म ले लिया है, जो एक महान आध्यात्मिक क्रांति का सूत्रपात, संचालन और नियन्त्रण करेगा। उसके पीछे क्रियाशील आत्माओं की शक्ति होगी, जो संसार की वर्तमान विकृत परिस्थितियों को बदल डालेंगी।"

इसी तरह एक अन्य अमेरिकी भविष्यवक्ता एण्डरसन का कहना है कि एक ओर जहाँ विश्व में विनाशलीलाएँ रची जा रही हैं, दुरभिसंधियों का बोलबाला है, वहीं एक फरिश्ता नवीन सृष्टि की संरचना में संलग्न है। उनके अनुसार-

"भारतवर्ष के एक छोटे देहात में जन्मे व्यक्ति का धार्मिक प्रभाव न केवल भारतवर्ष वरन् दूसरे देशों में भी बढ़ने लगेगा। वह व्यक्ति इतिहास का सर्वश्रेष्ठ मसीहा बनेगा, उसके पास अकेले उत्पादित इतनी संगठनशक्ति होगी, जितनी विश्व के किसी भी राष्ट्र की सरकार के पास भी नहीं होगी। यह संसार के तमाम संविधान के समानान्तर एक मानवीय संविधान का निर्माण करेगा, जिसमें सारे संसार की एक भाषा, एक संघीय राज्य, एक सर्वोच्च न्याय-पालिका, एक झण्डा की रूपरेखा होगी। इस प्रयत्न के प्रभाव से मनुष्य में संयम, सदाचार, न्याय, नीति, त्याग और उदारता की होड़ लगेगी। समाचार पत्रों के मुखपृष्ठों पर ऐसे समाचार छपा करेंगे, जो मानवीय सेवा, त्याग, साहस और उदारता के अद्वितीय उदाहरण होंगे। जिन्हें पढ़कर लोगों की भावनाएँ बरबस उमड़ने लगा करेंगी। हत्या, लूट पाट, राहजनी, चोरी, छल आदि अपराधों का अस्तित्व सदैव के लिए मिट जाएगा। सन् १९९९ तक इस

सारे ही संसार का स्वरूप बदल जाएगा और फिर हजारों वर्षों तक लोग सुख-शान्ति का जीवन व्यतीत करेंगे।''

उनका यह भी कहना है कि आज संसार धर्म और संस्कृति के जिस स्वरूप की कल्पना भी नहीं करता, उस धर्म का तेजी से विस्तार होगा और वह सारे संसार पर छा जाएगा। यह धर्म और संस्कृति भारतवर्ष की होगी और यह मसीहा भी भारतवर्ष का ही है, जो इन दिनों आने वाली क्रान्ति की नींव सुदृढ़ बनाने में जुटा हुआ है।

लगभग ऐसी ही भविष्यवाणी हालैण्ड के ख्यातिप्राप्त भविष्यद्रष्टा गेरार्ड क्राइसे की है। उनका कहना है कि- ''मैं देख रहा हूँ कि पूर्व के एक अति प्राचीन देश (भारत) जहाँ साधु और सर्पों की पूजा होती है, वहाँ के लोग माँस नहीं खाते, ईश्वरभक्त और श्रद्धालु होते हैं, उनकी स्त्रियाँ पतिव्रता और कभी भी पतियों को तलाक न देने वाली होती हैं। वहाँ के लोग सीधे, सच्चे और ईमानदार होते हैं इससे एक प्रकाश उठता आ रहा है वहाँ किसी ऐसे महापुरुष का जन्म हुआ है जो सारे विश्व के कल्याण की योजनाएँ बनाएगा। इस बीच संसार में भारी उथल पुथल होगी, भयंकर युद्ध होंगे, जिसमें कुछ देशों का तो अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा, वायु दुर्घटनाएँ इतनी अधिक होंगी कि लोग हवाई जहाजों पर बहुत सीमित संख्या में चला करेंगे। उस व्यक्ति के पीछे सैकड़ों लोग, जिनमें स्त्रियाँ बहुत अधिक संख्या में होंगी, चल रहे होंगे। वह सब लोग एक स्थान के न होकर सारे देश से इकट्ठे होंगे और आग जलाकर (यज्ञ) उसमें कोई सुगन्धित वस्तुएँ डालकर खुश होंगे। उसके धुएँ से वायु-मंडल शुद्ध होगा। तमाम संसार के लोग उधर देखेंगे और उसकी बातें मानेंगे। सब राजनैतिक नेता एक मंच पर इकट्ठे होने को विवश होंगे। इन सब बातों का प्रमाण इसी शताब्दी के अन्त तक मिलने लगेगा और फिर सारा संसार एक सूत्र में बँधता चला जाएगा। उसमें सर्वत्र अमनचैन होगा। कोई हिंसा न होगी, दमन, झूठ, फरेब के लिए कोई स्थान न रहेगा। दुष्ट, दुराचारियों और नारियों पर कुदृष्टि डालने वालों को सबसे अधिक दण्ड मिलेगा, लोग दूध अधिक पिया करेंगे, फूल-पौधों की संख्या बढ़ेगी, विश्व बड़ा सुन्दर लगने लगेगा।''

''किसी देश में कोई एकाध मुकदमा हुआ करेगा तो लोग आश्चर्य किया करेंगे कि पृथ्वी में ऐसे कौन आदमी हैं, जिसके मन में द्वेष, छल या वैमनस्य है। तब न तो कोई जातिभेद रहेगा न लिंग और वर्णभेद। सारी पृथ्वी पर एक धर्म-मानव धर्म स्थापित होगा। आज जिस तरह सारी पृथ्वी के देशों ने मिलकर अमेरिका में 'संयुक्त राष्ट्र संघ' (यूनाइटेड नेशन्स आर्गनाइजेशन) की स्थापना की है, तब समस्त ब्रह्माण्ड के निवासियों के एक 'संयुक्त ग्रह राज्य' (यूनाइटेड प्लैनेट्स) की स्थापना हो जाएगी। उसकी राजधानी पृथ्वी भी हो सकती है। मंगल, गुरु, बुद्ध या बृहस्पति ग्रह भी। बहुत सम्भव है संयुक्त ग्रहराज्य की राजधानी इस सौरमंडल के बाहर भी कहीं पर हो, पर यह निश्चित है कि मानवीयता के दायरे अब जैसे सीमित हैं वैसे आगे न रहेंगे। वह दिन समीप है जबकि ब्रह्माण्ड के सारे ग्रह-नक्षत्र एक जिले के गाँव, एक राज्य के जिले, एक देश के राज्य और सारी पृथ्वी के अनेक देशों के समान आस-पास बसे पड़ोसियों की-सी रिश्तेदारी में आ जाएँगे।''

यह शब्द विख्यात अमरीकी भविष्यवक्ता श्री आर्थर चार्ल्स क्लार्क के हैं, जो कलिंग पुरस्कार जैसे अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त करते समय उन्होंने उन सैकड़ों भविष्यवाणियों की तरह दृढ़तापूर्वक कहे, जो वह पहले कर चुके थे और जो कई बार तो अक्षरशः ज्यों की त्यों सत्य सिद्ध हो चुकी हैं।

चार्ल्स क्लार्क छोटे थे तभी से उनमें अतीन्द्रिय ज्ञान और पूर्वाभास की विचित्र क्षमता उत्पन्न हो गई थी। वह कहा करते थे- ''मनुष्य शरीर नहीं एक शक्ति है, उस शक्ति में प्रकाश है, तेजस्विता है और वह सब क्षमताएँ हैं जो मनुष्य भगवान में अपेक्षा किया करता है। मानव अन्तःकरण की यह शक्ति अभी सोई पड़ी है, पर मैं यह देख रहा हूँ

एशिया के किसी देश (भारतवर्ष की ओर संकेत) से कुछ ही दिनों में एक प्रचण्ड विचारक्रान्ति उठने वाली है। वह १९७१ तक उस देश और उसके १० वर्ष बाद सारे विश्व में इस तरह गूँज जाएगी कि मानव का सोया अन्तःकरण जागने को विवश हो जाएगा। आज जिन शक्तियों की ओर लोगों का ध्यान भी नहीं जाता तब वह शक्तियाँ जन-जन की शोध और अनुभूति का विषय बन जाएँगी। विज्ञान एक नई मोड़ लेगा, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों की प्रचुरता होगी। सारे ब्रह्माण्ड को एक सूत्र में बाँधने का आधार यह आध्यात्मिक सिद्धियाँ और सामर्थ्य ही होगी।''

प्रो. हरार को एक महान धार्मिक संत के रूप में ख्याति मिली है। उनकी भविष्यवाणियाँ कभी असत्य नहीं निकलीं। उनका कहना है-

''रात्रि का प्रथम प्रहर जब मैं प्रगाढ़ निद्रा में होता हूँ, स्वप्न में एक दिव्यपुरुष के दर्शन करता हूँ। किसी जलाशय के निकट बैठे हुए इस योगी के मस्तक में जहाँ दोनों भौंहें मिलती हैं। मुझे अर्द्धचन्द्र के दर्शन होते हैं। उसके बाल-श्वेत, शुभ्र वेष-भूषा, वर्ण गौर तथा पैरों में चर्मविहीन पाहन या पादुकाएँ होती हैं। उसके आस-पास अनेक सन्त-सज्जन व्यक्तियों की भीड़ दिखाई देती है। उनके मध्य में जलती हुई छोटी-बड़ी ज्वालाएँ देखता हूँ। यह लोग कुछ बोलते अग्नि में कुछ छोड़ते हैं। उसके धुएँ से आकाश छा रहा है। सारी दुनिया के लोग उधर ही दौड़े आ रहे हैं। उनमें से कितने ही कष्टपीड़ित, अपंग और अभावग्रस्त भी होते हैं। वह दिव्यदेहधारी पुरुष उन सबको उपदेश कर रहे हैं, उससे मन में प्रसन्नता भर रही है, लोगों के कष्ट दूर हो रहे हैं। लोग आपस के राग-द्वेष भूलकर परस्पर मिल-जुल रहे हैं। स्वर्गीय सुख की सृष्टि हो रही है। धीरे-धीरे यह प्रकाश उत्तर की ओर बढ़ रहा

है और किसी पर्वत के ऊपर दिव्यसूर्य की तरह चमकने लगता है। वहाँ से प्रकाश की किरणें वर्षा के जल की भाँति उठतीं और सारे पृथ्वीमण्डल को आच्छादित कर लेती हैं। बस यहीं आकर स्वप्न का अन्त हो जाता है।''

यह शब्द विश्वविख्यात उक्त भविष्यवक्ता प्रो. हरार के हैं जो उन्होंने 'नव-युग आयेगा' सम्बन्धी एक विचार गोष्ठी में कहे थे और उसका विस्तृत ब्योरा 'वेस्ट मिरर' पत्रिका में छापा गया था। प्रो. हरार का जन्म इजराइल के एक धर्मनिष्ठ यहूदी परिवार में हुआ था। अपनी अचूक और शत-प्रतिशत भविष्यवाणियों के लिए योरोप और उत्तरी अफ्रीका में उसी प्रकार विख्यात हुए हैं जिस तरह एण्डरसन और डिक्सन अमरीका में, प्रो. कीरो इंगलैण्ड और आचार्य वाराहमिहिर भारतवर्ष में।

लोगों के प्रश्न करने पर प्रो. हरार ने अपने उक्त स्वप्न के सन्दर्भ में बताया कि जो स्वप्न प्रातः देखता हूँ वह अधिकांश कुछ ही दिनों में सत्य होने वाले होते हैं। रात्रि के मध्य में देखे गये स्वप्नों में मुझे १ वर्ष के अन्दर घटित होने वाली घटनाओं का आभास होता है, पर जो स्वप्न मुझे प्रथम प्रहर में दिखाई देते हैं, वह कुछ वर्षों में पूर्ण होने वाले होते हैं। उक्त स्वप्न के सम्बन्ध में मेरे मस्तिष्क में जो विचार आते हैं जो यह कि- ''ऐसे किसी दिव्य-पुरुष का जन्म भारत में हुआ है, जो १९७० तक आध्यात्मिक क्रान्ति की जड़ें बिना किसी लोकयश के भीतर ही भीतर जमाता रहेगा, पर उसके बाद उसका प्रभुत्व सारे एशिया और विश्व में छा जाएगा। उसके विचार इतने मानवतावादी और दूरदर्शी होंगे कि सारा विश्व उसके कथन सुनने को बाध्य होगा। जब विज्ञान सारे विश्व में से धर्म और संस्कृति को नष्ट करके चौपट कर देगा, तब वह धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात करेगा और लोग ईसा के जन्म से पूर्व की तरह अग्नि, जल, वायु, आकाश, सूर्य और अन्य नैसर्गिक तत्वों की उपासना के महत्त्व को समझने लगेंगे।''

सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक डॉ. जूलबर्न का कहना है कि- ''इतिहास के सबसे समर्थ व्यक्ति का अवतार हो चुका है'। वह शीघ्र ही सारी दुनिया को बदल डालेगा। ज्ञानक्रान्ति उठेगी और आँधी-तूफान की तरह सारे विश्व में छा जाएगी।''

भावी परिवर्तनों के बारे में उनका कहना है कि- ''जैसा कि मुझे आभास होता है कि एक आध्यात्मिक क्रान्ति भारतवर्ष से उठेगी। उसके संचालन के बारे में मेरे विचार जीनडिक्सन से भिन्न यह हैं कि वह व्यक्ति सन् १९६२ से पूर्व ही जन्म ले चुका है। इस समय उसे भारतवर्ष में किन्हीं महत्त्वपूर्ण कार्यों में संलग्न होना चाहिए। यह व्यक्ति भारतीय स्वाधीनता संग्राम में भी रहा होना चाहिए और उसके अनुयाइयों की बड़ी संख्या भी है। उसके अनुयायी एक समर्थ संख्या के रूप में प्रकट होंगे और देखते ही देखते सारे विश्व में अपना प्रभाव जमा लेंगे और असम्भव दीखने वाले परिवर्तनों को आत्मशक्ति के माध्यम से सरलता व सफलतापूर्वक सम्पन्न करेंगे। यह परिवर्तन ही विश्व-शांति के आधार बनेंगे।''

वस्तुतः यह एक तथ्य है कि जब-जब इस धराधाम पर कोई अवतारी महापुरुष या देवदूत आये, तब-तब उन्हें बहुत कम ही लोग पहचान पाये हैं। जब वे चले गये तभी उन्हें पहचाना जा सका। इस संदर्भ में पिछले दिनों सन् १९३९ में उत्तराखण्ड के सन्तों, योगियों और विद्वानों की एक गोष्ठी हुई, विषय था कि ग्रहयोग की जिन दशाओं में, जिन नक्षत्रों के उदय होने पर तथा अवतार जिन परिस्थितियों में जन्म धारण किया करता है वह परिस्थितियाँ पूर्ण रूप से अस्तित्व में आ गई हैं क्या? उसमें निष्कलंक अवतार के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हुई और सर्वसम्मत निष्कर्ष यह निकला कि भगवान कल्कि का अवतार हो चुका है। मुसीबत यह थी कि अनेक नामधारी सन्त और महन्त अपने आपको कल्कि घोषित करने लगेंगे तब क्या होगा? वास्तविक कल्कि की पहचान कैसे होगी? इस सम्बन्ध में कुछ विशेषण निश्चित किये गये और यह निष्कर्ष दिया गया कि इन विशेषणों से संयुक्त व्यक्ति ही कल्कि अवतार होगा। 'कल्कि अवतार' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका छापकर उत्तराखण्ड के महात्माओं ने उसे सारे देश में वितरित किया, जिससे लोग अनेक कल्कियों के चक्कर में न पड़कर वास्तविक कल्कि की पहचान कर उनकी विश्व के नव-निर्माण प्रक्रिया में सहयोग दे सकें। इस पुस्तिका के कतिपय अंश-

''वह एक सुदृढ़ संगठन का स्वामी होगा और परब्रह्म परमात्मा से लेकर व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध तक के बारे में वह जो विवरण व आचार संहिताएँ निश्चित करेगा उसे तर्कवादी और शिक्षित व्यक्ति भी मानेंगे। वह समस्त वैज्ञानिकों का वैज्ञानिक होगा, पर उसकी अपनी देन धर्म और आत्मा के अन्तरंग रहस्यों का उद्घाटन ही होगा।

उन महापुरुष के मस्तिष्क में दोनों भौंहों के बीच (अंग्रेजी के 'वी' के आकार का ) चन्द्रमा होगा। गले में दो रेखाओं युक्त अर्द्धचन्द्र का चिह्न होगा। वह विशुद्ध भारतीय वेष-भूषा में होगा। उसका स्वभाव बालकों जैसा निर्मल, योद्धाओं जैसा साहसी, अश्विनी कुमारों की तरह चिरयुवा, वेदों और शास्त्रों का प्रकाण्ड पण्डित होगा। उसका पिता ही उसे योग-साधनाओं की ओर प्रेरित करेगा। २४ अक्षरों का उसके जीवन में अत्यधिक बाहुल्य और महत्त्व होगा। २४ वर्ष की आयु में योग की उच्च भूमिका में प्रवेश करेगा। २४ अक्षर वाले मन्त्र का जप करेगा। २४ वाँ अवतार होगा, २४ वर्ष तक वह तप करेगा, उसकी तपश्चर्या में भी २४ हजार, २४ लाख, २४ करोड़ जप आदि की खण्ड साधनाएँ सम्मिलित होंगी। २४०० यज्ञों का सम्पादन करेगा।''

श्री केदारदत्त जोशी के अनुसार- ''भारतवर्ष का भौतिक स्तर उठेगा। कुविचारों का समूलोच्छेदन करने

वाली शक्ति उदित होगी। यह एक छोटी-सी संस्था के रूप में जन्म लेगी, पर शीघ्र ही सारे विश्व में विचार क्रान्ति उत्पन्न करेगी।''

सूक्ष्म आकाश के संकेत और ज्योतिर्विज्ञान की उक्त मान्यताएँ यह बताती हैं कि विश्व के नव-निर्माण की शक्तियाँ और परिस्थितियाँ सम्पूर्ण शक्ति के साथ अस्तित्व में आ गई हैं, उन्हें रोक सकना अब मानवीय बल और बुद्धि के वश की बात नहीं।

जार्ज बाबेरी जो मिस्र की गुप्त विद्याओं के प्रकाण्ड पण्डित और तान्त्रिक थे, उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि-संसार को सतयुग का प्रकाश देने वाली आत्मा भारतवर्ष में जन्म ले चुकी है, पर उसका कार्य १९३० के आस-पास स्वतन्त्र रूप से विकसित होगा। १४ सितम्बर, १९३६ नये युग का प्रथम दिन होगा। उस दिन यह आत्मा अपने मनुष्य भाव से निकल कर सत्ता भाव (अवतार रूप) में आ जाएगी और फिर हजारों अज्ञानग्रस्त मूढ़ लोगों के विरोध के बावजूद वह अपने प्रखर और प्रचण्ड रूप से प्रभाव में आयेगी और संसार को झकझोरती चली जाएगी। १९६५ के बाद उसके स्वरूप की लोगों को स्पष्ट कल्पना होने लगेगी और सन् १९७० के बाद अधिकांश भारत में अवतार अपने प्रकट रूप में आ जाएगा। फिर भारतवर्ष अपनी तरह से संसार की व्यवस्था सँभालेगा और संसार को सुख-शान्ति की राह दिखाएगा।

पटना की खुदाबख्श ओरियन्टल लाइब्रेरी में बुखारा के सुविख्यात संत शाहबल्ली की फारसी में लिखी हुई एक पुस्तक रखी हुई है। उसमें लिखा हुआ है कि-''तृतीय विश्वयुद्ध बड़ा भयंकर होगा। अमेरिका इसका प्रमुख होगा। चीन दूसरा घटक। इस युद्ध के बाद अँग्रेज पूरी तरह समाप्त हो जाएँगे और भारत का अभ्युदय एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में हो जाएगा, पर उसके लिये उसे बहुत कठोर संघर्ष करने पड़ेंगे। देखने में यह स्थिति कष्टकारक होगी, पर इस देश में एक फरिश्ता आएगा जो हजारों छोटे-छोटे लोगों को इकट्ठा करके उनमें इतनी हिम्मत पैदा कर देगा कि वही नन्हें-नन्हें लोग तथाकथित भौतिकतावादी लोगों से भिड़ जाएँगे और उनकी मान्यताओं को मिथ्या सिद्ध करके दिखा देंगे। इसके बाद संसार में सीधे-सच्चे लोगों की प्रतिष्ठा बढ़ेगी और अमनचैन फैलती चली जाएगी।''

इस युग के मसीहा और निष्कलंक अवतार पर दक्षिण के प्रसिद्ध सन्त और भविष्यवक्ता रामन स्वामी अइय्यर के कथन अभी तक हुए भविष्यकथनों में से सबसे अधिक स्पष्ट हैं, श्री अइय्यर लिखते हैं- ''कल्कि न तो घोड़े पर चढ़ा हुआ आएगा न तलवार लेकर, तो भी यह दोनों प्रतीक ही उसकी पहचान के माध्यम होंगे। घोड़ा शक्ति का प्रतीक है, उस पर कल्कि के आसीन होने का अर्थ है कि वह इतना समर्थ व्यक्ति होगा कि 'शक्ति' इसकी इच्छानुसार कार्य करेगी। राम ने अपनी शक्ति को हठात् रावण जैसे तान्त्रिक पर भी थोप दिया था, कृष्ण अवतार थे क्योंकि उनकी शक्ति के आगे कौरव-पाण्डव तक थर्राते थे। अपने शुद्ध अहंकार को व्यक्त करना अवतार का काम है और उनकी यही पहचान होती है कि संसार के शेष सभी बुद्धिमान से बुद्धिमान और बलवान लोग भी उनकी शक्ति से नीचे पड़ जाते हैं। घोड़े का यही अर्थ है कि वह इतिहास का प्रबलतम शक्तिशाली व्यक्ति होगा।

तलवार का अर्थ काटना है। शत्रु के सिर नहीं काटे जाते विचार भी काटे जाते हैं, कल्किपुराण से भी प्रकट है कि कल्कि बौद्धों अर्थात् उन लोगों के बुद्धिवाद से युद्ध करेगा जो आज के युग में देखने में बहुत शिक्षित लगते हैं, पर वे पदार्थ से परे कुछ सोच ही नहीं पाते। नास्तिकतावादी, भोगवादी, संचय और उपयोगितावादी व्यक्तियों की ऐसी मान्यताओं को जो विस्मार करेगा, वही कल्कि होगा।''

श्री अइय्यर ने बताया है कि-''कल्कि का जन्म मथुरा के पास ही होगा। सम्भल का अर्थ चम्बल नदी के किसी तटवर्ती ग्राम से है। कार्यक्षेत्र उसका मथुरा होगा। उसके सहायक सभी प्रान्तों से आयेंगे। वह महान गायत्री उपासक और सावित्री तत्त्व का ज्ञाता होगा। विचारों को विचारों से काटने की कला में वह अत्यधिक प्रवीण होगा। अब तक समाज में जो मान्यताएँ फैली हैं, उनकी प्रतिस्थापनाएँ दे सकने में केवल मात्र वही समर्थ होगा। दूसरे कई लोग अपने आपको अवतार कहेंगे। वे थोड़े-बहुत चमत्कार भी दिखाएँगे, पर किसी प्रकार की रचना उनके वश की बात न होगी, इसलिए वे बरसाती कीड़ों की तरह निकलते और अपने आप नष्ट होते जाएँगे, जबकि कल्कि नाम्नी महापुरुष सम्पूर्ण आर्षग्रन्थों के उद्धार से लेकर सामान्य जीवन तक की सारी रीति-नीति सम्बन्धी नये विचारों का सृजन करेगा। पीछे इन विचारों का लोग अनुसरण करेंगे। वह गृहस्थ होगा। अतुल सम्पत्ति वाला होकर भी इसका रहन-सहन साधारण गृहस्थ जैसा होगा। उसकी सम्पत्ति लोक-मंगल के लिये होगी। उसके इस आदर्श को उसके देशव्यापी अनुयायी भी अपनाकर एक ऐसा समर्थ संगठन तैयार करेंगे, जो उनके दिए हुए विचारों को सारे विश्व में फैला देंगे। महिलाएँ उनकी विशेष सहायिकाएँ होंगी। वह अद्भुत स्वभाव वाला चमत्कारी व्यक्ति अपने जीवन के उत्तरकाल में स्थान परिवर्तन करेगा। तब उसका रौद्र रूप प्रकट होगा। जब उसके भयंकर विचारों से लोग काँपने लगेंगे, तब उनकी साध्वी पत्नी शासन सूत्र सँभालेंगी। फिर वह अपने अतुलित प्यार और स्नेहशक्ति से भूले-भटकों को रास्ता दिखाएगी। भारतवर्ष विपुल उन्नति करेगा और उसका प्रभाव अमेरिका और रूस पर भी छा जाएगा। यह दोनों देश भी उसके वैभव के आगे नगण्य जैसे होंगे।''

कल्कि होने का श्रेय किसे मिलेगा यह परिस्थितियों और समय के लिये छोड़ दिया जाए। अवतारों को लोग उसके जीवनकाल में ही पहचानते आये हैं, सो उनकी पहचान न हो ऐसा सम्भव नहीं। वे भले ही कितना ही

छुपकर रहें, उजागर होंगे ही पर इतना निश्चित है कि युग को पलट डालने वाली सत्ता का अवतरण हो चुका है। वह अपने **"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्"** संकल्प को पूरा करने न आती ऐसी कहाँ संभव है? यह अलग बात है कि कौन लोग उसका प्यार पाते हैं, कौन उसकी दाढ़ के नीचे पिसते हैं। चलना सबको ही लोकमंगल के पथ पर पड़ेगा। चाहे कोई इच्छा से चले या मजबूर करके चलाया जाए।

प्रसिद्ध भविष्यवक्ता पैरासेल्सस, डेनियल, नैस्ट्रोडेमस, वेजीलेटिन तथा पादरी वेल्टर बेन सबका निश्चित मत है कि युगपरिवर्तन इस शताब्दी की अन्तिम और सबसे जबर्दस्त घटना होगी। उसे रोकना किसी के लिए भी सम्भव न होगा। इन तत्त्वदर्शियों की कुछ भविष्यवाणियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं-

१-सारे संसार का शासनसूत्र एक स्थान से चलेगा, 'एक भाषा होगी-एक संस्कृति' शहरों की संख्या बहुत थोड़ी रह जावेगी। संचार के साधनों का यहाँ तक विकास हो जाएगा कि लोग अपने मन की बात दूसरे लोगों तक बेतार के तार की तरह पहुँचा दिया करेंगे।

२-सतयुग का प्रारम्भ २५ वर्ष से कम आयु के बालकों से प्रारम्भ होगा। वृद्ध लोग रूढ़िवादी मान्यताएँ छोड़ने को तैयार नहीं होंगे, तब भारतवर्ष में एक ऐसे सन्त का जन्म होगा, जो सारी दुनिया में विचारक्रान्ति खड़ी कर देगा। उसके प्रभाव में सैकड़ों लोग आ जावेंगे, पर उनमें से मूढ़मान्यताओं वाले लोग अपने को बदलने में लज्जा अनुभव करेंगे। तब नयी पीढ़ी उसके विचारों को आत्मसात् करेगी और नया युग का शुभारम्भ करेगी। लोग आशावादी होंगे। छल, कपट, हत्या, लूटपाट का स्थान प्रेम, दया, त्याग, ईमानदारी, परोपकार और भाईचारे की भावनाएँ ग्रहण कर लेंगी। धर्म की स्थापना होगी और अधर्म का अन्त हो जाएगा। यह सब सन् २००० तक स्पष्ट दिखाई देने लगेगा।

भृगुसंहिता के आधार पर श्री स्वामी असीमानन्द ने लिखा है कि "इस बार भी संसार का उद्धार करने वाला २४वाँ महाअवतार भगवान राम-कृष्ण की तरह सावित्री शक्ति का उपासक और भगवान बुद्ध की तरह सहस्रार चक्र का सिद्ध महायोगी होगा। वह अपने तपोबल से अनेक रोगियों को अच्छा करेगा, अनेक अभावग्रस्त व्यक्तियों के अभाव दूर करेगा, लोग उनकी पहचान अपने आप करेंगे और उनकी सेवा के लिए अपने आप तत्पर होंगे। उसके सहायक भारतवर्ष के हर प्रान्त से आयेंगे और भारतवर्ष को एक सांस्कृतिक सूत्र में बाँधने का प्रयास करेंगे।"

श्री असीमानन्द जी के अनुसार, जब ऐसी क्रान्ति उठ खड़ी होगी तब भारतवर्ष की ओर सारी दुनिया के लोग आकर्षित होंगे और उसके बाद ही संसार में एक नये युग का आविर्भाव होगा। यह समय यद्यपि जल्दी ही आयेगा तथापि उस तक पहुँचने में सारी दुनिया को भारी संकटों का सामना करना पड़ेगा। यहाँ तक सम्भव है कि दुनिया की आबादी का एक बड़ा भाग आन्तरिक संघर्ष में ही नष्ट हो जाए।

आज संसार में दुष्प्रवृत्तियाँ बहुत सघन हो उठी हैं। राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए विचारशील कहे जाने वाले लोग भी अन्याय करने और अनीति अपनाने से बाज नहीं आते। उच्छृंखलता बुरी तरह बढ़ रही है। जो चारित्रिक मर्यादाएँ आदिकाल से ही पवित्र भारतभूमि का शृंगार रहीं वह भी अब ध्वस्त हो चलीं। नारी को माँ का जो पवित्र स्थान मिला था उसे अब रमणी और भोग्या का रूप दिया जा रहा है। विश्वात्मा यह अन्याय सहन नहीं करेगी। युगनिर्माण योजना सुनिश्चित रूप से महाकाल की इच्छा-आकांक्षा ही है। अतः देखना और समझना चाहिए कि जो भविष्यवाणियाँ ऊपर दी गई हैं, कहीं उनका सीधा सम्बन्ध यहीं से तो नहीं। यदि उसमें कुछ भी सच्चाई है तो विचारशील एवं भावनाशील व्यक्तियों को इस ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति के लिए आगे आना ही चाहिए। उक्त तथ्य की पुष्टि नैस्ट्रोडेमस की भविष्यवाणी भी करती है।

फ्रान्स में जन्मे नैस्ट्रोडेमस मूर्धन्य ज्योतिषी और अतीन्द्रिय द्रष्टा थे, उन्होंने हिटलर और नेपोलियन के बारे में जो भविष्यवाणियाँ कीं, सभी सत्य निकलीं। उनकी भविष्यवाणियों का विस्तृत उल्लेख 'सेन्चुरीज एण्ड ट्रू प्रोफेसीज ऑफ दि माइकेल डी. नैस्ट्रोडेमस' पुस्तक में मिलता है। उसके अनुसार -

एक विश्वविख्यात व्यक्ति किसी महान धर्मनिष्ठ पूर्वी देश में जन्म लेगा। यह व्यक्ति अकेला ही अपने छोटे-छोटे सहयोगियों द्वारा संसार में तहलका मचा देगा। यह ऐतिहासिक महापुरुष, ऐसे महासंघर्ष को जन्म देगा कि घर-घर, नगर-नगर में अन्तर्द्वन्द्व छिड़ जाएगा। इस अंत:क्रान्ति का समय २०वीं शताब्दी के अन्त और इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का है। इसके बाद संसार में सर्वत्र मानवता का आधिपत्य होगा। लोग असुरवृत्तियों का परित्याग कर देंगे और संसार स्वर्गतुल्य सुखमय बन जायगा।

इतिहास के इस अद्वितीय महापुरुष के मस्तक में चन्द्रमा होगा, वेश-भूषा बहुत सादी होगी, दो विवाह होंगे, दो पुत्र होंगे, दो ही पुत्रियाँ होंगी और दो दो बार ही वह स्थान परिवर्तन करेगा, दोनों बार अपने निवास से उत्तर की ओर ही करेगा।

उपर्युक्त भविष्यवाणी का साक्ष्य यह है कि पूर्व देश भारत के छोटे-से गाँव आँवलखेड़ा (आगरा) में जन्मे परमपूज्य गुरुदेव पं. श्री राम शर्मा आचार्य ने ऐसी धार्मिक क्रान्ति की कि वस्तुतः लोगों की दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों में अन्तर्द्वन्द्व चल पड़ा। गायत्री परिवार, युग-निर्माण योजना के छोटे-छोटे समाजसेवियों ने सुदूर देशों तक पहुँचकर सत्प्रेरणा का ऐसा मंत्र फूँका कि लोग आसुरी वृत्तियों का परित्याग करने लगे। अश्वमेध यज्ञों के

माध्यम से तो अब देश से विदेश तक सत्प्रवृत्तियों का आकर्षण बढ़ता ही जा रहा है। उन्होंने दो बार ही स्थान परिवर्तन किया और दोनों बार उत्तर की ओर।

उक्त भविष्यवाणी में गुरुदेव के परिवार का विवरण तो भविष्यवक्ता को आँखों देखा-सा प्रतीत होता है, जबकि यह भविष्यवाणी सोलहवीं शताब्दी की है ।

## ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर परमपूज्य गुरुदेव का जीवनदर्शन

"मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है-" यह मूलमंत्र परमपूज्य गुरुदेव ने जन-जन को दिया व इसके माध्यम से उन्हें पुरुषार्थ में नियोजित कर उनकी भाग्य-रेखाएँ ही बदल दीं। यही नहीं, वे कहते रहे "आत्मबल यदि प्रचण्ड हो तो व्यक्ति कितनी ही प्रतिकूलताओं से जूझता हुआ परमात्मबल को आत्मबल का पूरक बनाते हुए अपने भविष्य का स्वयं निर्माण कर सकता है।" दैववाद व भाग्यवाद से ग्रसित समाज में यह एक विलक्षण विचार-क्रान्ति थी, जिसने अगणित रोतों को हँसा दिया, पुरुषार्थ में नियोजित कर उन्हें जीवन जीने की सही दिशा में चलने की प्रेरणा दी व उनका कायाकल्प कर दिया।

जहाँ परमपूज्य गुरुदेव ने पुरुषार्थ को प्रधानता दी व फलित ज्योतिष के निराशावादी, अकर्मण्य बना देने वाले स्वरूप का जीवन भर खण्डन किया, वहाँ स्वयं उनके जीवन में ज्योतिर्विज्ञान ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उज्ज्वल भविष्य के प्रवक्ता के रूप में वे अखण्ड-ज्योति के प्रकाशन वर्षों से ही सृजनात्मक चिन्तन को बढ़ावा देते आए हैं। स्वयं उन्होंने लिखा है कि अन्तर्ग्रही प्रभावों की वैज्ञानिकता को मान्यता दी जानी चाहिए। सत्प्रेरणा देने वाले व्यक्ति को विधेयात्मक चिन्तन की ओर ले जाने वाले ज्योतिर्विज्ञान के समर्थक होने के नाते उन्होंने गायत्री नगर में देवपरिवार बसाने के लिए एक वेधशाला स्थापित की, पंचांग प्रकाशित कराया तथा यहाँ से जन्मसमय के आधार पर श्रेष्ठता की दिशा में चलने का मार्गदर्शनतंत्र चलाया।

यह बात सही है कि एक ही समय में जन्मे अगणित व्यक्तियों का भाग्य ग्रहों की स्थिति के आधार पर एक-सा निर्धारित नहीं होता व उस आधार पर किया गया मूल्यांकन शाश्वत नहीं माना जाना चाहिए । परमपूज्य गुरुदेव ने ज्योतिर्विज्ञान सम्बन्धी अपनी विवेचनाओं में यही लिखा कि ग्रहों के अन्तर्ग्रही प्रभाव हो सकते हैं, परन्तु पुरुषार्थ द्वारा उन प्रभावों को वांछित मोड़ दे पाना संभव है। ग्रहों की चाल व दशा-दिशा को मनुष्य स्वयं मोड़ व प्रभावित कर सकता है। इसके लिए संकल्पबल व आत्मबल चाहिए। इन दोनों ही ऋद्धि-सिद्धियों ने कैसे स्वयं परमपूज्य गुरुदेव के जीवन का स्वरूप बनाया व विकासक्रम पर चलते हुए वे अपनी यात्रा को किस तरह उत्कर्षशिखर तक ले जा सके इसके लिए उनकी ही जन्म कुण्डली का ज्योतिर्विज्ञान पर विवेचन किया जाए तो कोई हर्ज नहीं। इससे यह जानकारी मिलती है कि कैसे आत्मबल के धनी विलक्षण योगों का अनुकूलन करते हैं। साथ ही यह भी प्रमाणित होता है कि जटिलतम प्रतिकूलताओं से भी मोर्चा लेकर अपने लिए अपना भाग्य विनिर्मित कर पाना हर किसी के लिए संभव है। लक्ष्य-सिद्धि की यात्रा की ज्योतिर्विज्ञानसम्मत व्याख्या यहाँ अखण्ड ज्योति परिवार के एक विद्वान डॉ. प्रेमभारती (सारंगपुर म. प्र.) के एक विशिष्ट अनुसंधान के आधार पर प्रस्तुत है। स्वयं पूज्य गुरुदेव एक प्रकाण्ड ज्योतिर्विद थे व उन्होंने स्वयं से जुड़ी सारी संभावनाओं का अध्ययन कर अपना भाग्य स्वयं अपने हाथों विनिर्मित किया था, यह इस अध्ययन से प्रतिपादित होता है। पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी की जन्म कुण्डली से स्वत: सिद्ध है।
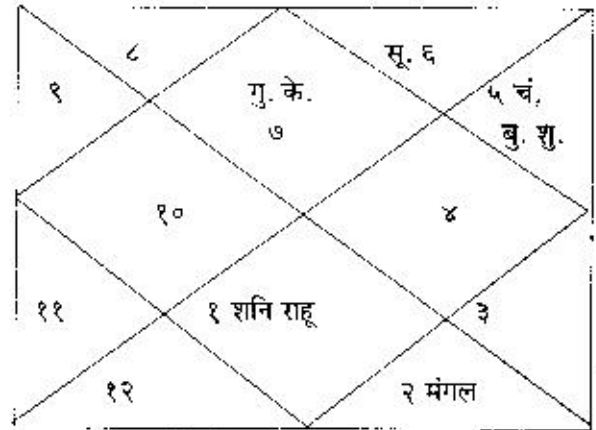
*जन्म दिनांक २०/९/१९११ गुरुवार*

*समय प्रात: ८ से ९ के मध्य अश्विन कृष्ण १३ संवत् १९६८*

अंतरंग जीवन की घटनाओं की जानकारी लेने के लिए चन्द्र कुण्डली देखी जाती है, जो इस प्रकार स्वीकृत मानी गयी है।
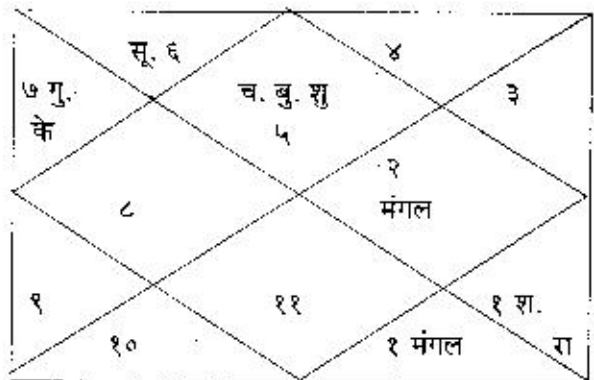
**( चंद्र कुण्डली )**

कुण्डली परीक्षण सम्बन्धी जानकारी हेतु जिन तथ्यों को दृष्टि में रखना पड़ता है वे हैं- प्रत्येक भाव और उसकी राशि, भाव का स्वामी और उसकी प्रकृति, भावेश की स्थिति व उसका अन्य ग्रहों से सम्बन्ध, भाव में स्थित

ग्रह, भाव पर अन्य ग्रहों की दृष्टि, भाव से सम्बन्धित विशेष योग। इन सबके विस्तार में न जाकर यहाँ जनसामान्य की जानकारी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर ही प्रकाश डाला जा रहा है।

प्रथम भाव को जन्मलग्न कहते हैं। इस भाव से शारीरिक-स्वास्थ्य, संकल्पशक्ति, पूर्वकर्मों की स्थिति आदि का अध्ययन किया जाता है। पूज्य गुरुदेव के लग्न में तुला राशि है, जिसका स्वामी शुक्र एकादश भाव में स्थित है। इसी लग्न में गुरु व केतु भी हैं, जिन पर शनि व राहू ग्रहों की पूर्ण दृष्टि पड़ रही है। अब तुला लग्न एक श्रेष्ठतम लग्न है तथा शुक्र के बलवान होने पर व्यक्ति को सत्यप्रिय, धर्मनिष्ठ व संगठन का स्वामी बनाता है। ऐसे व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। वायु प्रधान राशि विचारों की क्रांति से जुड़ी हुई है, विशेषकर जब तुला के साथ शुक्र व मिथुन का स्वामी बुध एकादश स्थान में हो और दोनों पंचम भाव को देख रहे हों। ऐसे महामानव स्थायी, नैतिक व धार्मिक क्रान्ति लाने वाले होते हैं। यथा महात्मा गाँधी, तुलसीदास, महर्षि रमण एवं ईसामसीह। इन सबको अपने-अपने स्तर में क्रान्तिकारी प्रवाह विनिर्मित करने में अपार सफलता मिली। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूज्य गुरुदेव की व ईसामसीह की जन्मकुण्डली में एक विचित्र साम्य है। ईसामसीह की कुण्डली में, जो नीचे दी जा रही है, लग्नाधिपति शुक्र पर गुरु तथा चंद्र का शुभ प्रभाव है, जो चतुर्थ भाव (जनता) को लाभान्वित कर रहा है। ऐसे व्यक्ति ममत्व द्वारा करोड़ों का संगठन खड़ा कर लेते हैं।

**ईसा मसीह की जन्म कुण्डली**

पूज्य गुरुदेव की कुण्डली में भी चतुर्थेश पर गुरु की लग्न में बैठकर दृष्टि गई है। वस्तुतः लग्न में स्थित गुरु का विरोधी भी सम्मान करते हैं व ऐसे महामानव सब जगह आदर पाते हैं। साधना की दृष्टि से भी यह योग सर्वश्रेष्ठतम है।

पूज्य गुरुदेव की कुण्डली में द्वितीय भाव में वृश्चिक राशि है, जिसका स्वामी मंगल है। वाणी, विद्या, साधन शक्ति व संगठन शक्ति की दृष्टि से अत्यधिक संपन्नता इससे परिलक्षित होती है। ऐसे व्यक्ति होते तो खाली हाथ हैं, पर अपनी साधनाशक्ति के बलबूते करोड़ों-अरबों की योजनाएँ चलाते हैं व सफल होते हैं। उनके इशारे पर सैकड़ों व्यक्ति दौलत का ढेर लगा देते हैं। युगनिर्माण योजना संगठन का आज का विराट रूप देखकर क्या यह सही नहीं लगता?

तृतीय भाव पुरुषार्थ, यात्रा, लेखन, चिन्तन, शौर्य व योगाभ्यास से सम्बन्धित है। पूज्य गुरुदेव के तृतीय भाव में धनुराशि है, जिसका स्वामी गुरु लगनस्थ है। गुरु की स्थिति यहाँ हर दृष्टि से शुभ है। ऐसे ग्रहप्रभावों वाले व्यक्ति श्रेष्ठतम लेखक होते हैं। पूज्य गुरुदेव के ही अनुसार, हमारा अभी तक का लिखा साहित्य इतना अधिक है कि शरीर के वजन से तौला जा सके। यह सभी उच्च कोटि का है। ३२०० पुस्तकों के लेखक पूज्यवर पं. श्रीराम शर्माजी के वेदान्त प्रधान लेखन तथा पाखण्डवाद के विरुद्ध सिंहनाद का परिचय गुरु के साथ-साथ तृतीय स्थान पर मंगल एवं राहू की दृष्टि से मिलता है। ऐसे व्यक्तियों का जीवन श्रेष्ठतम स्तर के योगी का होता है। उनके कोई संकल्प अधूरे नहीं रहते।

चतुर्थ भाव जनता का भाव है। इस भाव में पूज्य गुरुदेव की कुण्डली में मकर राशि है, जिसका स्वामी शनि है। यह शनि यहाँ एक विशेष राजयोग बनाता है व गुरुदेव को करोड़ों के हृदय का सम्राट घोषित करता है। आने वाले समय में उनके विचारों के नेतृत्व में एक क्रान्तिकारी युग आने की उद्घोषणा करता है। ऐसे व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति का त्याग कर जनहितार्थाय तीर्थों में निवास कर उन स्थानों को युगतीर्थ बना देते हैं। ज्योतिष का एक सिद्धान्त है- **''यो यो भावः स्वामी युक्तो दृष्टोवा तस्य तस्यास्ति वृद्धिः।''** आचार्य वाराहमिहिर के इस कथन के अनुसार जो जो भाव अपने स्वामी द्वारा युक्त अथवा दृष्ट होता है, उस उस भाव की वृद्धि समझनी चाहिए। चतुर्थ भाव को शनि के दशम दृष्टि से देखने के कारण उस भाव की शक्ति यहाँ कई गुना बढ़ गई है। इससे पूज्य गुरुदेव की जनता के मध्य अपार लोकप्रियता बढ़ाने वाला योग बनता है।

पंचम भाव की कुंभराशि, उसके स्वामी शनि की स्थिति जातक की कल्पना व विचार-क्षमता तथा वाणी की प्रभावोत्पादकता की द्योतक है। सात्विक बुद्धि के धनी ऐसे व्यक्ति भावुक, निर्मल-पवित्र विचार वाले होते हैं व इसी नाते से अद्वितीय प्रज्ञा-पुरुष बन जाते हैं। ग्रहों का योग ऐसा है कि मंत्रशक्ति का उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान हो जाता है। गायत्री मंत्र को जन-जन तक पहुँचाने वाले पूज्यवर पर यह योग पूरी तरह प्रमाणित होता है। उनकी वेद पिता और गायत्री माता की साकार उपासना इन्हीं प्रभावों को पुरुषार्थ द्वारा सहयोगी बना लेने से सिद्धिदायक बनती देख गयी।

जहाँ पूज्य गुरुदेव की कुण्डली में षष्ठभाव में मीन राशि के साथ गुरु का होना मंत्रशक्ति की सिद्धि तथा आध्यात्मिक दृष्टि से अद्वितीय सफलता रूपी महत्वपूर्ण उपलब्धि का परिचायक है, वहाँ सप्तम भाव में मेष राशि के साथ शनि व राहू का होना एक विचित्र योग बनाता है। इसका स्वामी मंगल होने से जीवन में प्रतिकूलताएँ भी वरदान बन जाती हैं, यदि जातक पुरुषार्थपरायण हो। उनके प्रारंभिक जीवन में पिता का विछोह, स्वतंत्रता-संग्राम में एकाकी संघर्ष, घर वालों के साथ न होने से मात्र अपनी संकल्पशक्ति के सहारे लक्ष्य सिद्धि की यात्रा व फिर पूर्व जन्म की सहयोगिनी वंदनीया माताजी का साथ में मिलकर कार्य करना, यह सब ग्रहों की स्थिति से स्पष्ट होता है।

अष्टम भाव का सम्बन्ध अन्वेषण से भी है तथा मृत्यु से भी। अष्टम भाव में वृष राशि का स्वामी शुक्र लग्नेश होकर एकादश भाव में स्थित होने से ऐसे व्यक्ति मनन-चिन्तन करने वाले क्रान्तिदर्शी ऋषि-वैज्ञानिक होते हैं। विज्ञान व अध्यात्म का समन्वय स्थापित करने वाले ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान के संस्थापक परमपूज्य गुरुदेव को इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इस विशिष्ट ग्रह स्थिति से इच्छामृत्यु का वरदान भी प्रमाणित होता है जो दो जून, १९९० को (गायत्री जयन्ती को) निर्वाण दिवस की कुण्डली देखने से स्पष्ट हो जाता है।
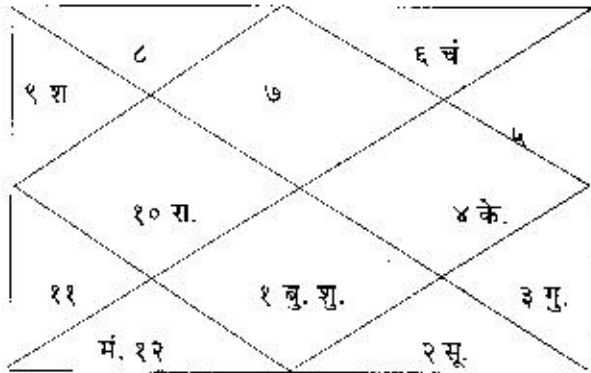
*गायत्री जयंती महाप्रयाण दिवस २/६/१९९०*

नवमभाव कुण्डली का त्रिकोण स्थल है व इसमें मिथुन राशि के साथ बुध स्वामी है, जो एकादश स्थान में है। यह पुण्य स्थान धर्म स्थान है। ऐसी सत्ता पर गुरुसत्ता की, परोक्षसत्ता की कृपा बनी रहती है। ऐसे व्यक्ति द्वारा करायी या की गयी उपासना-प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती। जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार प्रबल होने के कारण उनकी वाणी या भविष्यकथन पूरी तरह सत्य सिद्ध होते हैं। ऐसे जातक स्वयं आत्मबल संपन्न होते हैं व दैवी कृपा के कारण संपर्क में आने वालों में भी आत्मबल का संचार कर देते हैं। पूज्य गुरुदेव के जीवन में सतत उतरती रही भगवत कृपा व उनके माध्यम से औरों को वितरित अनुदान उसके परिचायक हैं।

इस दृष्टि से उनकी कुण्डली का रामकृष्ण परमहंस की जन्मकुण्डली के साथ तुलनात्मक अध्ययन बड़ी महत्वपूर्ण समानता बताता है। ज्ञातव्य है कि पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जी का पूर्व जन्म रामकृष्ण परमहंस के रूप में हुआ था जैसा कि उन्होंने अपनी आत्म-कथा में लिखा है।

**श्री रामकृष्ण परमहंस**
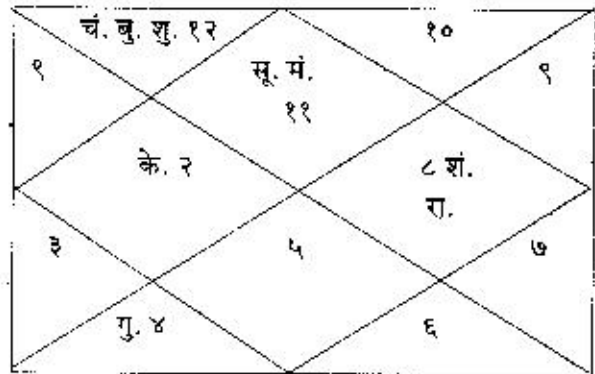
दोनों की कुण्डली में चन्द्र, बुध, शुक्र की युति तथा शनि-राहू की युति में अद्भुत समानता है। यह संयोग अध्यात्म व संन्यास की ओर व्यक्ति को ले जाता है। दोनों ही आत्मवेत्ता व ज्ञानी बने। दोनों कुण्डलियों में अन्नमय कोश व प्राणमय कोश की (बुध तथा शुक्र) समानता है। परमहंस जी की यात्रा मनोमय कोश तक हुई व यही यात्रा पूज्य गुरुदेव के रूप में मनोमय से आनन्दमय कोश तक होती देखी जा सकती है। मंगल मनोमय कोश का, शनि विज्ञानमय कोश तथा गुरु आनन्दमय कोश का सूचक है।

दशम भाव की राशि कर्क है, जिसका स्वामी चन्द्र है। इसका सम्बन्ध यश और कीर्ति से है। ऐसे व्यक्तियों के कर्म यशस्वी बनाने वाले होते हैं तथा वे दूसरों को भी कर्मयोग का उपदेश देते हैं। चन्द्र तथा शुक्र की युति पूज्य गुरुदेव के जीवन को कर्मनिष्ठ व कीर्तिवान बनाती देखी जाती है।

एकादश भाव की सिंह राशि है तथा स्वामी सूर्य द्वादश भाव में स्थित होकर धर्म, कर्म, मोक्ष की प्राप्ति जातक को करा रहा है। लग्नेश शुक्र, कर्मेश चन्द्र तथा धर्मेश बुध के यहाँ एकत्र होने से एक विराट जनसमुदाय पूज्य गुरुदेव के साथ चलता रहा है व उन्हें एक विराट संगठन का अधिपति बनाता है। इसी योग से उन्हें अपार धन की प्राप्ति हुई जो उन्होंने 'बोया-काटा' के सिद्धान्त पर समाज रूपी खेत में पुनः लगाया व संगठन खड़ा किया। ऐसे जातकों का बुध के स्थान से अगली राशि में सूर्य के होने से आशीर्वाद शत-प्रतिशत फलीभूत होता है। वे जिसे माध्यम बना जाते हैं, उसमें भी यही शक्ति आ जाती है।

द्वादशभाव आध्यात्मिक उन्नति एवं मोक्ष का द्वार है। यहाँ पूज्य गुरुदेव की कन्या राशि के साथ सूर्य स्थित है। अपूर्व स्मरणशक्ति, स्वाध्यायशीलता, आत्मीयजनों पर ममत्व की वर्षा तथा धर्म एवं कर्म द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का संकेत इस विलक्षण युक्ति से मिलता है, जो उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
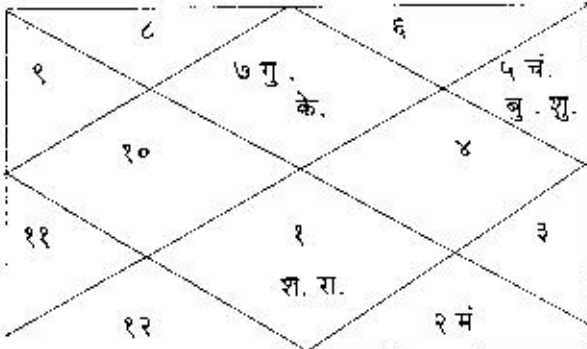
इस तरह ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर पूज्य गुरुदेव का जीवन एक चमत्कारी सत्य का उद्घाटन करता है कि ग्रहों के प्रभाव के साथ पुरुषार्थ के जुड़ जाने पर व्यक्ति अपनी विकासयात्रा को चरम उत्कर्ष तक पहुँचा सकता है। दृश्य गणित के आधार पर खगोल विज्ञान का अध्ययन यदि किया जाए तो पूज्य गुरुदेव के प्रत्यक्ष जीवन की पृष्ठभूमि में परोक्ष प्रभाव कार्य करता देखा जाता है जिसका उन्होंने स्वयं अध्ययन कर उसे वांछित प्रयोजनों के लिए नियोजित कर लिया।

परमपूज्य गुरुदेव के जीवन-दर्शन का अध्ययन यह बताता है कि कितनी ही प्रतिकूलताएँ क्यों न हों, व्यक्ति यदि अध्यात्म-तत्त्वदर्शन को हृदयंगम कर उसे जीवन में सही मायने में उतारे तो वह महामानव, युगऋषि, अवतार स्तर तक अपना विकास करने में समर्थ है। यह संभावना सबमें विद्यमान है। आत्मबल का उपार्जन ही इस सृष्टि का सर्वोच्च पुरुषार्थ है। यदि व्यक्ति को यह मिल जाए तो इससे वह ग्रहों के दुष्प्रभाव को टालते हुए अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बन सकता है। गायत्री मंत्र की सिद्धि प्राप्त कर पूज्य गुरुदेव ने ब्रह्मवर्चस अर्थात् आत्मबल का ही उपार्जन निज के जीवन में किया व अपने साथ अनेकानेक को आत्मबल का वरदान उस परमसत्ता से प्रदत्त कराके उनके जीवन को धन्य बना दिया। महापुरुष का जीवन आज मार्गदर्शक बना खुली पुस्तक के रूप में सबके समक्ष प्रस्तुत है। उनके जीवनदर्शन को देखकर ही यह समझा जा सकता है कि वे क्या थे?

# नूतन सृष्टि सृजेता– माँ गायत्री के वरदपुत्र

उस विराट व्यक्तित्व का वर्णन हम "तप के धनी, ज्ञान के सागर, चिन्तन के उद्गाता" के रूप में करते हैं जो हमारे बीच अस्सी वर्षों तक स्थूलरूप से सक्रिय रहे। यदि यह मूल्यांकन किया जाए कि अगणित मनोव्यथा पीड़ितों, अभावग्रस्त, शोषितों को उस करुण हृदय सम्पन्न महामानव ने कितनी सेवा की, किस सीमा तक उनके दुःख में दुःख बँटाया व किस तरह उन्हें पतन से उत्थान की राह दिखाई तो एक गौरव की अनुभूति होती है कि हम सौभाग्यशाली हैं, जो उनके जीवनकाल में उनके साथ रहे।

गुरुदेव की उदार-सहकार वृत्ति हर क्षेत्र में बढ़ी-चढ़ी रूप में देखी जा सकती है। उपासना के क्षेत्र में प्रवेश किया तो नवनीत रूपी हृदय वाला यह सन्त पिघल कर अगणित व्यक्तियों को अपनी तप-साधना के अनुदान बाँटता चला गया। उनके गुरु ने उनसे कहा था, "सौ हाथों से कमाना, हजार हाथों से लुटाना। जितना तुम समाज रूपी खेत में बोओगे, कई गुना तुम्हें वापस मिलेगा, उसे काटना व वितरित कर देना।" ऐसे औघड़दानी को साक्षात रुद्र न कहा जाए तो क्या कहें? नवनीत और हिमखण्ड जब गलते और पिघलते हैं तो धूप के सताने व तपाने पर। सन्त हृदय व्यक्ति पराई व्यथा को अपनी व्यथा मानकर अपनी सहज-संवेदना से व्यथित हो गलते-पिघलते रहते हैं तथा अपने तप-अनुदान सहज वितरित करते रहते हैं।

सामान्य गृहस्थों जैसा रहन-सहन व वेश-भूषा देखकर उन्हें एक अतिसामान्य व्यक्ति समझा जाता था। न वे तिलकधारी महामण्डलेश्वर थे, न छत्रधारी महन्त। जीवन भर एक ऐसा जीवन जिया जिसे पर्वतराज हिमालय की ऊँचाई जैसा माना जाता है। ऐसा जीवन जीने वाले की महानता को कूता जाना सामान्यतः साधारण बुद्धि वाले के लिए शक्य नहीं है। बच्चों जैसी निश्चल पवित्रता तथा बादलों जैसी उदारता उनके मुख्य गुण थे, किन्तु इन सब से बढ़कर भी जो सबसे बड़ा गुण था, वह था माता के स्तर की ममता। जो भी उनके सम्पर्क में आया, उनका होता चला गया और उनके सहज स्नेह से सराबोर होता चला गया। हर व्यक्ति जो पहली बार आता यही समझता कि हमसे अधिक गुरुजी का और कोई निकटवर्ती नहीं।

प्रत्यक्ष सिद्धियों की चर्चा करने वालों को यह समझा पाना मुश्किल है कि उनकी अगणित सिद्धियों, विभूतियों में एक यह भी थी कि वे जिसे चाहते अपना बना लेते थे, अपनी विकसित संवेदनशीलता, सहज औदार्य की वृत्ति के कारण। इसे जन्मजात संस्कार भी कह सकते हैं एवं चौबीस लक्ष महापुरश्चरणों की सिद्धि भी। पवन के विषय में हर कोई समझता है कि यह हमारे ही ऊपर हवा फेंक रहा है। सूर्य के विषय में सब यही मानते हैं कि उन्हीं के घर रोशनी, गर्मी बिखेरने वह आता है, पर समझा जा सकता है कि पवन और सूर्य दोनों ही इतने विशाल और महान हैं कि एक नहीं, असंख्यों को उनकी सहायता का लाभ समान रूप से मिलता रहता है। करुणा-ममता से भरा स्नेहसिक्त अन्तःकरण सब पर अपनी आत्मीयता बरसाता रहता है, यहाँ तक हिंस्र पशुओं पर भी। क्योंकि वह समष्टिगत विश्वात्मा का प्रतिनिधि होने के नाते मात्र

करुणा- स्नेह लुटाना जानती है। महर्षि रमण के पास जीव, जन्तु, मनुष्य सभी एक समान विचरते रहते थे। उनकी दृष्टिमात्र से जीव-जंतु अपनी हिंस्रवृत्ति छोड़ देते थे। यह चमत्कार उस विशाल अन्तःकरण का है, जो आत्मीयता से सराबोर है।

जो भी पूज्य गुरुदेव के पास आया वे उसे जी भर अनुदान देते रहे। कभी निराश नहीं लौटाया। कुछ गिने-चुने अमिट प्रारब्धग्रस्तों को छोड़कर प्रायः उन सभी की उन्होंने भरपूर सहायता की, जो तनिक-सा सहयोग अथवा अनुदान पाने की इच्छा से उनके पास आया। सदैव यह कहा कि हमारे पास कुछ नहीं, हम अपनी माँ से माँगेंगे व जो भी मदद संभव होगी, करेंगे। कभी यह नहीं कहा कि हम यह करेंगे। यह उनकी सबसे बड़ी महानता थी।

हिमालय निवासी त्रिकालदर्शी परमसिद्ध महात्मा विशुद्धानन्द जी महाराज ने उनके विषय में दिसम्बर, १९५७ की 'अखण्ड ज्योति' में लिखते हुए अपने उद्गार इस तरह व्यक्त किए हैं-

"आचार्य जी कच्ची मिट्टी के नहीं बने हैं। उनकी नस-नाड़ियाँ फौलाद की हैं। विगत तीस वर्षों में उन्होंने अपने को घनघोर तपस्याओं में तपा-तपाकर अष्टधातु का बना लिया है। जिन कमजोरियों पर शत्रु हमला करता है, उन्हें उन्होंने पहले ठोंक-पीटकर काफी मजबूत बना लिया है। गिराने वाली वस्तुओं में तृष्णा, कंचन, कामिनी, वासना प्रधान हैं। अपनी जीवन भर की कमाई पूर्वजों की छोड़ी सम्पत्ति का एक-एक पैसा उन्होंने मिशन के लिए अर्पण कर दिया है। उनकी धर्म-पत्नी माता भगवती देवी ने अपने शरीर के आभूषणों की एक-एक कील माता के चरणों में अर्पण करके एक सतयुगी उदाहरण प्रस्तुत किया है। जौ की रोटी व नमक-छाछ को अपना प्रधान भोजन और तन ढंकने भर के लिए खादी के टुकड़े पहनने का व्रत लेकर धन लोभ को एक प्रकार से इन दोनों ने अपने से हजारों कोस दूर कर दिया।" आगे स्वामीजी लिखते हैं कि "गृहस्थ को तपोवन बनाते हुए दोनों परस्पर एक-दूसरे को माता-पिता जैसी दृष्टि से ही देखते हैं। यह उनकी जीवनसाधना है। हिमालय जैसी उदार हृदय और मानसरोवर जैसी निर्मल इन आत्माओं में वह विषबीज निश्चित रूप से नहीं है, जो इतने बड़े अनुष्ठानों के संयोजकों-संचालकों को झुका सके। आचार्य जी असंख्यों को पार कराने वाले अनुभवी मल्लाह हैं, वे महान पैदा हुए हैं, महानता के साथ जी रहे हैं और उनका अन्त भी महान ही होगा।"

कितना सही कथन था इस दिव्यदृष्टा का, जिसने उन्हें सहस्रकुण्डी महायज्ञ का आशीर्वाद देते हुए ही अच्छी तरह पढ़ लिया था। उनकी गायत्री-साधना का यह चमत्कार था कि एक स्वर से सारे भारत के महात्मागण उन्हें गायत्री विद्या व उसकी साधना-पद्धति का एक अनुभवी निष्णात विद्वान मानते थे। ब्रह्मलीन श्री देवरहा बाबा से विगत महाकुंभ पर्व पर इलाहाबाद में मिशन से जुड़े एक उच्चाधिकारी ने पूज्य गुरुदेव के विषय में पूछा कि आपकी उनके सम्बन्ध में क्या मान्यता है, तो देवरहा बाबा ने पूर्व की ओर मुख करके कहा कि "साक्षात् सविता का जो रूप है, ब्रह्मतेज सम्पन्न उस अवतारी सत्ता को मेरा नमन है। वे माँ गायत्री के सिद्ध साधक हैं व युग-परिवर्तन उन्हीं के बताये पद-चिन्हों पर चलकर होगा।" युग-निर्माण योजना से प्रत्यक्ष उनके क्या सम्बन्ध हैं, यह पूछने पर दीर्घ-जीवी उस महापुरुष ने कहा कि "सभी देवसत्ताएँ धरती पर सतयुग लाने को जन्मी हैं। जो काम आचार्य जी ने प्रत्यक्ष रूप से अपनी स्थूल काया द्वारा किया है, उससे अधिक वे अन्यान्य ऋषि सत्ताओं के साथ जिनमें मैं भी शामिल हूँ, सूक्ष्म रूप में काया के महाप्रयाण के बाद सम्पन्न करेंगे। दुर्गम हिमालय से हम सबका सामूहिक तपोबल वह प्रचण्ड ऊर्जा उत्पन्न करेगा कि भारत को विश्वसंस्कृति में सर्वोच्च स्थान दिलाकर ही रहेगा।" यहाँ यह स्मरणीय है कि जून ९० में ही दोनों ही महाशक्तियों ने अपनी काया का परित्याग कर सूक्ष्मशरीर में प्रवेश किया। यह रहस्यमय प्रसंग मात्र संयोग नहीं है, नियन्ता की योजना का एक अंग है।

गायत्री उपासना उन्होंने जिस लगन व एकनिष्ठभाव से की, अगणित व्यक्तियों से करा ली उसने उन्हें युग का विश्वामित्र बना दिया। उन्होंने व्यक्ति-व्यक्ति को यह बोध करा दिया कि जीवनशोधन को स्वास्थ्य और कर्मकाण्डों को शृंगार मानकर चलना चाहिए। दोनों के समुचित समन्वय से ही बात बनती है। यह उन्होंने तब प्रतिपादित किया जब लोगों में यह भ्रान्ति बड़ी गहराई तक जड़ जमाए बैठी थी कि ब्राह्मणत्व अर्जित करने के लिए भीतर से उत्कृष्ट व बाहर से आदर्शवादी जीवन जीने की कोई आवश्यकता नहीं है। जीवन कैसा भी जिया जाए, बस स्थूल कर्मकाण्ड येनकेन प्रकारेण पूरा होना चाहिए। इस भ्रान्ति का उन्मूलन एक प्रकार की विचारक्रान्ति थी।

गायत्री यों एक ऐसा मंत्र माना जाता है जिसका अनुष्ठान करने पर संकटों के निवारण और सुख-सुविधाओं का संवर्द्धन होता है। पर यह एक अधूरी जानकारी है। गायत्री को महाप्रज्ञा कहते हैं। महाप्रज्ञा अर्थात् चिन्तन की वह शैली जो मनुष्य जैसे बुद्धिमान प्राणी को भटकावों एवं जंजालों की विपन्नता से छुड़ा सके।

पूज्य गुरुदेव कहते थे कि "गायत्री के चौबीस अक्षरों में सन्निहित अर्थ सूत्रों पर विचार किया जाए तो उन्हें संसार का सबसे छोटा, किन्तु समग्र प्रकाश प्रेरणाओं से भरापूरा महामंत्र कह सकते हैं। गायत्री के अन्तिम चरण में भगवान से सद्बुद्धि की याचना की गई है। यह मात्र याचना ही नहीं है, वरन् गायत्री का मंत्रोच्चारण उसी स्तर की क्षमताओं व प्रेरणाओं से भरा हुआ है। जिसने भाव भरे अंतःकरण से इस कामधेनु का पयपान किया, वह सद्बुद्धि सद्भावना का वरदान पाकर निहाल हो गया।" सही अर्थों में सामान्य व्यक्तियों को महामानव बनाने की क्षमता गायत्री मंत्र में है। यह पूज्य गुरुदेव ने अपने जीवन

को एक प्रयोगशाला बनाकर तथा अन्यान्यों से साधना कराके उनकी आत्मिक प्रगति का पथ-प्रशस्त कर प्रमाणित कर दिया। अन्यान्य देवताओं की अनुकम्पा पाने हेतु भटकने वालों के लिए उनका एक ही संदेश था कि एक ही मंत्र ऐसा है जो संसार भर के सभी मंत्रों की बराबरी करता है, वह है गायत्री मंत्र। सभी अवतारों ने इसकी उपासना की तथा महामानवों, ऋषिसत्ताओं ने भी। फिर जगह-जगह कुआँ खोदते रहने की विडम्बना क्यों रची जाए? आज के बुद्धिवादी युग में महाप्रज्ञा के तत्त्वदर्शन के विस्तार की और अधिक आवश्यकता है। वह सही अर्थों में नवयुग ला सकता है और लाकर रहेगा।

पूज्य गुरुदेव ने गायत्री-साधना के समग्र रूप का प्रस्तुतीकरण गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड रचकर किया जो कि एक प्रकार से विश्वकोश माने जा सकते हैं। उसमें उन्होंने लिखा है कि मंत्राराधना के अतिरिक्त एक निष्ठावान साधक को अपनी जीवनचर्या में उपासना, साधना और आराधना का समन्वय करना चाहिए। त्रिपदा गायत्री के तीन चरणों में इन्हीं तीन विशिष्टताओं को मनोभूमि में ओतप्रोत कर लेने की आवश्यकता बताई गयी है।

उपासना-कारण-शरीर अंतःकरण से सम्बन्धित है। साधना चिन्तन से-सूक्ष्मशरीर से और आराधना समाज-सेवा के लिए किए गये उदार सहकार भरे कृत्यों से-स्थूल शरीर से । पूज्य गुरुदेव ने अपने तीनों शरीरों से पूरी निष्ठा के साथ गायत्री साधना स्वयं सम्पन्न की व माँ गायत्री के वरदपुत्र बन गए। असंख्यों की सहायता करने वाला ब्रह्मवर्चस इससे कम में संग्रहीत हो भी तो नहीं सकता था। अपने व्यक्तित्व को उर्वर क्षेत्र की तरह विकसित करने में यदि इतनी सतर्कता न बरती होती तो संभवतः उनके चौबीस वर्षों के चौबीस गायत्री महापुरश्चरण तथा सामान्य समय के जप-तप उतने प्रभावी न हो सके होते, जितने कि देखे और पाये गये।

साठ वर्ष की आयु में देश के एक मूर्धन्य नेता ने तपोभूमि में भेंट करने पर उनसे अकेले में पूछा कि "आपके द्वारा अनेकों को जो असाधारण लाभ मिले हैं, उसका विवरण मुझे मालूम है। जरा उस सिद्धि का रहस्य हमें भी बता दीजिए।" उत्तर दिया गया कि "गायत्री उपासना के प्रतिफल तो अभी किसी विशेष कार्य के लिए तिजोरी में बंद कर रखे हैं। यह तो हमारी काया के इस पृथ्वी से ऊर्ध्वारोहण के बाद ही रहस्य खुलेगा। आपने जो कुछ जाना और सुना है, वह सब तो जीवन में उतारे गये ब्राह्मणत्व का प्रतिफल है। ब्राह्मणत्व अपने आप में एक तपश्चर्या है। अभी तक तो उसी का लाभ उठाया और दिया है व आगे भी यही प्रतिफल उससे मिलता रहेगा।"

कहीं किसी प्रकार का घमण्ड नहीं, कहीं कोई गायत्री के सिद्ध-उपासक होने का गरूर नहीं- सब कुछ सीधा-सादा स्पष्टवादी, यह है उनके जीवन का वह पक्ष जो साधारण दृष्टि देख नहीं पाती, मात्र स्थूल काया को ही सब कुछ मान बैठती है।

गायत्री साधना परमपूज्य गुरुदेव ने गहन स्तर की संपन्न की तथा उससे मानवमात्र की अंतःप्रकृति के परिशोधन की प्रक्रिया पूरी की। साथ ही सावित्री-साधना का प्रयोग उन्होंने बाह्यप्रकृति के परिशोधन के निमित्त किया व अभी भी सूक्ष्मकारण सत्ता से वही कर रहे हैं। सूर्य सम बनकर ही कोई अवतारी स्तर की सत्ता युग-परिवर्तन जैसा भागीरथी कार्य सम्पन्न कर सकती है। इससे कम में तो बात बन ही नहीं सकती। गायत्री व सूर्य हमारी संस्कृति के प्राण हैं। जब तक भारतवर्ष के देवमानव भगवान-भास्कर की गायत्री मंत्र के माध्यम से उपासना करते रहें, तब तक भारत ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी, स्वस्थ-प्रसन्न तथा सर्वांगपूर्ण प्रगति के पथ पर अग्रगामी रहा । जब-जब अनीति व असुरता बढ़ी है, तब-तब अवतारी सत्ताओं ने सूर्य का ही आश्रय लेकर मानवी प्रकृति में व्यापक स्तर पर परिवर्तन किया है। सूर्य में प्रखरता है, गति है, ऊर्ध्वगामी चिन्तन को गतिशील करने की सामर्थ्य है तथा विचारों को विकार मुक्त कर भाव-संवेदनाओं की परिष्कृति कर पाने की ताकत है। यही कारण है कि गुरुसत्ता परिवर्तनकारी सत्ताएँ तत्कालीन परिस्थितियों में इष्ट का निर्धारण मानवमात्र के लिए करती रही हैं। कपिल तंत्र में एक उल्लेख आता है-

**गुरवो योग निष्णाताः प्रकृतिं पञ्चधा गताम्।**
**परीक्ष्य कुर्युः शिष्याणामधिकार विनिर्णयम् ॥**

अर्थात् "योगपारंगत गुरुओं को चाहिए कि वे शिष्यों की प्रकृति एवं प्रवृत्ति की तत्वानुसार (पञ्चधा) परीक्षा कर उनके उपासनाधिकार अर्थात् इष्टदेव का निर्णय करें। कौन-कौन हो सकते हैं-आकाश के अधिपति विष्णु, अग्नि की अधिष्ठात्री महेश्वरी, वायु तत्त्व के स्वामी सूर्य, पृथ्वी के नायक शिव एवं जल के अधिपति भगवान गणेश, इनमें से कोई भी इष्ट हो सकता है, ऐसा श्रुति कहती है।

गायत्री व सूर्य में इन पाँचों ही सत्ताओं का समावेश हो जाता है तथा साधना सर्वांगपूर्ण बन जाती है, ऐसा परमपूज्य गुरुदेव ने युग-परिस्थिति को देखते हुए हम सभी को बताया । पूज्यवर कहते हैं कि-"यह सुनिश्चित है कि युगपरिवर्तन होने वाला है व उसकी मूल धुरी अब भारतवर्ष है। सारी धरती का अध्यात्म अब सिमटकर यहाँ आ गया है व नवयुग का सूर्योदय स्वर्णिम आभा लिए यहीं से होगा।" इस उक्ति को सार्थक करने के लिए संभवतः विगत ढाई सौ वर्षों में पुनः सतयुग की वापसी करने व दो सहस्र वर्षों के अंधकार को मिटाने सर्वाधिक महामानव भारतवर्ष में ही जन्मे। जो कार्य इन ढाई सौ वर्षों में हुआ है, वह विश्व के इतिहास में इतनी तीव्रता से पहले कभी नहीं हुआ। पूज्यवर लिखते हैं कि आगामी ८-९ वर्षों में जो कार्य होगा, वह इससे भी विलक्षण होगा, जब मानव की प्रकृति, सोचने की पद्धति तथा विश्वभर के सूक्ष्म वातावरण में अभूतपूर्व परिवर्तन होता देखा जाएगा। कैसे होगा, यह सब? यही सारा मर्म सूर्यमय बनने वाली हमारी गुरुसत्ता हमें समझाकर गयी व इक्कीसवीं सदी के

रूप में उज्ज्वल भविष्य के आने की भविष्यवाणी कर गयी है।

आस्था संकट के निवारणार्थ-मानवमात्र में पवित्रता के अभिवर्द्धन हेतु आज जिस शक्ति की आवश्यकता है वह सविता देवता ही है। तैत्तिरीय संहिता में ऋषि कहते हैं-

"**सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु।**" अर्थात् "हे सर्वज्ञ सूर्यदेव। कृपापूर्वक मुझे अपने मन से पवित्र करें।" संभवतः इसी कारण ऋषिगण आदिकाल से **योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्।**" (यजु. वा. स. ४०/१७) के माध्यम से आदित्यमंडलस्थ पुरुष की चेतन सत्ता के रूप में अभ्यर्थना करते आए हैं। शुक्ल यजुर्वेद (३१/१८) में ऋषि का मत है-

"**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं......नान्यः पंथा विद्यतेयनाय।**" मैं आदि रूप वाले सूर्यमंडलस्थ महान पुरुष को जो अंधकार से सर्वथा परे, पूर्ण प्रकाश देने वाले और परमात्मा हैं, उनको जानता हूँ। उन्हीं को जानकर मनुष्य मृत्यु को लाँघ जाता है। मनुष्य के लिए मोक्ष प्राप्ति का दूसरा कोई अन्य मार्ग नहीं है।" यह स्तुति अकारण नहीं है। ऋषियों ने प्राणरक्षक, रचयिता, पुष्टि प्रदाता के रूप में सूर्य की अवधारणा की व कहा है कि "हम दीर्घकाल तक सर्वव्यापी प्रकाश वाले सूर्य भगवान का सतत दर्शन करते रहें, यही हमारी प्रार्थना है। "**ज्योगेव दृशेम सूर्यम्**" (अथर्ववेद १/ ३१/४)।

परमपूज्य गुरुदेव ने मार्च, १९७७ से मई १९७७ तक चार माह सतत 'अखण्ड-ज्योति' के विशेषांकों द्वारा गायत्री-सूर्य-सविता-कुण्डलिनी साधना पर गहन विवेचना कर अपना अनुभूत निष्कर्ष प्रकाशित किया था। अप्रैल, ७७ के अंक में वे लिखते हैं कि समय को देखते हुए अब उच्चस्तरीय साधना के लिए उपयुक्त वातावरण विनिर्मित करने की आवश्यकता बढ़ गई है। शांतिकुंज के रूप में गायत्री तीर्थ व ब्रह्मवर्चस् के रूप में एक आरण्यक का निर्माण कर उसे उसी ऊर्जा से अभिपूरित करने का प्रयास किया गया है। सावित्री शक्ति का महाप्राण 'सविता' शीर्षक से प्रकाशित एक लेख में उन्होंने सद्बुद्धि को आज के समय की सबसे बड़ी शक्ति बताते हुए सविता के ब्रह्मतेज के ध्यान की महत्ता बतायी है। वे लिखते हैं कि यही अब हम सबका इष्ट-आराध्य-उपास्य होना चाहिए, ताकि सूक्ष्म जगत में व्यापक परिशोधन के लिए दैवीसत्ता को अवसर मिले। उन्होंने कुण्डलिनी शक्ति के सम्बन्ध में एक नूतन चिन्तन देते हुए जनवरी १९८७ के 'अखण्ड-ज्योति' के विशेषांक में लिखा कि विश्व की देवात्म कुण्डलिनी शक्ति का महाजागरण सूर्य-सविता की साधना द्वारा अगले दिनों संभव होगा व सारी धरती का भाग्य देखते-देखते बदल जाएगा।

कौन बदल सकता है सारी धरित्री का भाग्य? वह जो विश्वामित्र स्तर की, स्वेतास्तर की, वैदिक ऋषि का प्रतिनिधित्व करने वाली सत्ता हो। निराकार रूप में परमात्म-सत्ता को सविता के देदीप्यमान, पापनाशक भर्ग रूपी ब्रह्मतेज के समरूप देखते हुए उसके द्वारा सूर्यदेव की शक्तियों को आत्मसात कर आत्मबल संपन्न बन युग विभीषिकाओं से जूझा जा सकता है, यह पूज्यवर ने अपने विराट साहित्य के माध्यम से हमें समय-समय पर बताया। उन्होंने कहा कि नया युग आने के लिए सूर्य की हलचलें ही जिम्मेदार हैं। "इन दिनों धरती अपना भाग्य पलटने के लिए सूर्य के गर्भ में समा गयी है" इस आलंकारिक विवेचन द्वारा उन्होंने प्रतिपादित किया कि अब परिष्कृत, परिमार्जित होकर जो धरती निकलेगी वह नवीन होगी-सारी सृष्टि बदली हुई होगी। पृथ्वी पर आ रही सौरलपटें, सौरकलंकों की प्रतिक्रिया अनीति-असुरता के लिए अब घातक हैं तथा देवत्व को लाने को उद्यत शक्तियों के लिए सहायक हैं, यह हमें पूज्यवर ने ही बताया। पूज्यवर चर्चा प्रसंग में अक्सर कहते थे- "मैंने पीले-वसंती वस्त्रों का प्रावधान तुम सबके लिए इसलिए किया है कि सूर्य व बृहस्पति की, गायत्री व गुरु की दोनों की शक्तियों को ग्रहण कर पाना तुम सबके लिए संभव हो सके।" सूर्य व बृहस्पति के अंतर्सम्बन्ध जिस वर्ण को जन्म देते हैं वह पीला ही है। उन्होंने कहा कि- "अब गेरुए वस्त्र की नहीं-वैराग्य लेकर भागने की नहीं, समर क्षेत्र में जूझने वाले पीत वस्त्रधारी बंदा-वैरागियों की आवश्यकता है। इन्हें सतत सूर्य की प्रखरता का अनुदान मिलता रहेगा।" वस्तुतः गुरुतत्व (बृहस्पति) को ग्रहण किए बिना गायत्री सावित्री तत्त्व (सूर्य-सविता) को आत्मसात किया भी नहीं जा सकता।

यह जानते हुए कि तंत्र की जानकारी मेरे शिष्यों को नुकसान पहुँचा सकती है, पूज्यवर ने गायत्री मंत्र के विधिवत अनुष्ठान का क्रम बनाया व उस गायत्री में स्वयं की तांत्रिक शक्ति-तप अर्जित सामर्थ्य से सावित्री के साथ बृहस्पति का समावेश कर उसे सौम्य बना दिया, ताकि यह युग-साधना बन सके, किसी को हानि भी न पहुँचे। उन्होंने समय-समय पर स्पष्ट भी कर दिया है कि तंत्र से स्वयं जल्दी स्विच 'ऑन' होने का खतरा उठाने की जल्दबाजी न कर सभी परिजन नियमित गायत्री जप, नाड़ी-शोधन प्राणायाम सूर्य का ध्यान इतना भर करते रहें, शेष उनके योगक्षेम का वहन हम कर लेंगे। वस्तुतः गुरु ही मंत्र को चैतन्य करता है। दस संस्कारों द्वारा सिद्धि होने पर शब्द से मंत्र बनता है। कभी गोपनीय कही जाने वाली गायत्री साधना को पूज्यवर ने सूक्ष्म हेर-फेर करके जनसुगम बना दिया व जो व्यावहारिक सूत्र सूर्य के ध्यान के साथ जप वाले हमें समझा गये, वे विलक्षण हैं।

निम्न प्राण से उच्च प्राण में ऊर्ध्वगमन व पूरी मानव जाति का कायाकल्प करने का उद्घोष जिस सत्ता ने किया वह सूर्य से एकाकार हो चुकी थी व एक महत् संकल्प वसंत पर्व १९९० की वेला में ले चुकी थी। वह था सूक्ष्मशरीर धारण कर पूरी जगती के चिन्तन में सूक्ष्म

स्तर पर परिवर्तन कर नवयुग को लाने का। "इक्कीसवीं सदी के लिए हमें क्या करना होगा?" पुस्तक में पृष्ठ १७ पर वे लिखते हैं- "नवसृजन के आधार उपकरण, औजार या साधन यही वह समुदाय है जिसे शांतिकुंज के महागरुड़ ने अण्डे बच्चों की तरह अपने डैनों में छिपा कर रखा है। उनको समर्थ एवं परिपुष्ट बनाने की प्रक्रिया इसी तंत्र के अन्तर्गत चल रही है।" यह वह आश्वासन है, घोषणा है जो महाकाल की अंशधर सत्ता द्वारा हम सबके लिए है।

## महाकाल का अवतारी स्वरूप

प्रस्तुत समय के बारे में सभी विद्वान, ज्योतिर्विद, अतीन्द्रिय द्रष्टा एकमत हैं कि यह युगसन्धि की वेला है। विषमताएँ अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी है। चारों ओर काम, क्रोध, लोभ व मोह का ही साम्राज्य छाया दिखाई देता है। ऐसे ही समय में धर्म की रक्षा और अधर्म का विध्वंस करने के लिए भगवान द्वारा अवतार लिए जाने की शास्त्रीय मान्यता है, क्योंकि भगवत् सत्ता अपनी प्रेरणा, पुरुषार्थ द्वारा असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए वचनबद्ध है। "तदात्मानं सृजाम्यहम्" जैसे गीता के वचनों के माध्यम से दिया गया उनका आश्वासन ऐसे अवसरों पर ही प्रत्यक्ष होता रहा है।

ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार प्रस्तुत समय कलियुग के अंत तथा सतयुग के आरम्भ का है। कालगणना जो समस्त पूर्वाग्रहों को परे रखकर की गई है, बताती हैं कि यह हमारे इतिहास के पाँचवे कल्प का संक्रमण काल है। महत्कल्प, हिरण्यगर्भकल्प, ब्रह्मकल्प, पादपकल्प बीत चुके। बाराहकल्प १३८०० विक्रम पूर्व से आरंभ होकर अब तक चल रहा है। वैवस्वत मन्वन्तर (सप्तम) भी चल रहा है। भारत के प्रख्यात ज्योतिर्विदों ने सन् १९६४ में एक सम्मेलन आयोजित कर एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की थी कि नौ अवतारों के बाद कल्कि अवतार का प्राकट्य हो चुका है एवं इस समय उसे 'बौद्धों' अर्थात् बुद्धिजीवियों के दुष्प्रभाव को निरस्त करने तथा श्रद्धा-सद्भावना का नवयुग लाने में व्यस्त होना चाहिए। वे पाश्चात्य ज्योतिर्विदों की इस बात से सहमत नहीं थे कि उसका अवतरण इस सदी के अंत में होगा। उन सभी ने विश्व की कुण्डली बनाकर यह प्रमाणित किया कि निष्कलंक प्रज्ञावतार का अवतरण भारत भूमि में हो चुका है व इस समय उसे सक्रिय होना चाहिए। उनके अनुसार १९९० से २०१० के बीच उसका प्रभाव सूक्ष्म रूप से अति-तीव्र वेग से फैलने व सारे विश्व को अपने प्रभाव क्षेत्र में लेने की संभावना बतायी गयी है।

इस संदर्भ में सभी ज्योतिर्विद बरार के विद्वान ज्योतिषी ज्योतिर्भूषण श्री गोपीनाथ जी द्वारा ५ सितम्बर १९२६ को बनाई गई विश्वकुण्डली को प्रामाणिक मानते हैं।
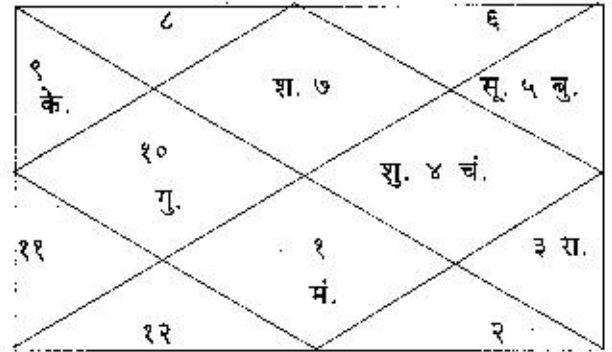
इस कुण्डली के अनुसार लग्न तुला उच्च के शनि से युक्त थी, पराक्रम के स्थान पर उच्च का केतु, सुख के स्थान में गुरु, सप्तम में स्वग्रही मंगल, नवें में उच्च का राहु, कर्म स्थान में स्वगृही चन्द्र और शुक्र के साथ उसकी युति थी। ये सभी विज्ञान और नये धर्म की प्रतिष्ठा के सूचक हैं। लाभ भाव में बुद्ध और स्वग्रही सूर्य का युक्तीकरण भारतवर्ष के धन और ऐश्वर्य की वृद्धि के सूचक थे। यह लग्न भगवान कृष्ण, भगवान राम के जन्म के लग्न की याद दिलाती है और यह बोध होता है कि संसार में फिर से धर्म की स्थापना करने वाली शक्ति व अवतार का प्राकट्य हो गया होना चाहिए, भले ही लोग उसे बाद में समझ पाएँ।

वस्तुतः गड़बड़ी वहाँ आती है, जब अर्थ का अनर्थ कर कालगणनादि के द्वारा आर्षग्रन्थों में उद्धृत प्रसंगों को भी उलट-पुलट दिया जाता है।

मनुस्मृति में कहा गया है-

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।<br>
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत॥<br>
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्॥<br>
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः।<br>
इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।<br>
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥

(मनु. १/६७-६९)

अर्थात् ब्रह्माजी के अहोरात्र में सृष्टि के पैदा होने और नाश होने में जो युग माने गये हैं, वे इस प्रकार हैं- चार हजार वर्ष और उतने ही शत अर्थात् चार सौ वर्ष की पूर्व संध्या और इतने ही वर्षों की उत्तर संध्या। इस प्रकार कुल ४८०० वर्षों का सतयुग, तीन हजार वर्षों का त्रेतायुग, दो हजार वर्षों का द्वापर तथा बारह सौ वर्ष का कलियुग हुआ।

इसके बाद श्रीमद्भागवत् के स्कन्द १२, अध्याय २ के ३४वें श्लोक को देखा जाए।

दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम्।<br>
भविष्यति यदा नृणां मन आत्मप्रकाशकम्॥

अर्थात् चार हजार दिव्य वर्षों के अन्त में अर्थात् चार हजार दिव्य वर्षों में कलियुग बीता, फिर सतयुग

आएगा, जो मनुष्यों के मन और आत्मा में प्रकाश भर देगा।

यहाँ दिव्य शब्द ध्यान देने योग्य है। भूल से पण्डितों ने इससे अर्थ देवता ले लिया एवं ३६० से गुणा करके (देवताओं का एक दिन बराबर एक मानुषी वर्ष) ४३२००० बना दिया और इतने वर्ष की कलियुग की अवधि लिख दी। ऋग्वेद २/१६४/४६ के अनुसार जो दिवि में प्रकट होता है, जो अग्निरूपी सूर्य है, वही दिव्य है। दिवि द्यु को कहते हैं और द्यु दिन का नाम है। अतः सूर्य के दिन के हिसाब से पुनः गणना करने पर सतयुग १२०० वर्षों का, त्रेता २४०० का, द्वापर, ३६०० का तथा कलियुग ४८०० वर्षों का है। ४००० सर्ष भागवत् के श्लोकानुसार कलियुग के व संधिकाल के ८००, इस प्रकार ४८०० वर्ष हुए जो अब समाप्त होने को आ रहे हैं।

महाभारत वनपर्व अध्याय १९० श्लोक ८८ से ९१ के अनुसार भी राशि गणना करते हैं, तो यह ज्ञात होता है कि संधिकाल का अंतिम पचास वर्षों वाला चरण संवत् २००० से आरंभ हो गया अर्थात् अब युगपरिवर्तन निकट ही है।

इस्लाम धर्म की पुस्तकों के अनुसार १९५० से २०२५ का समय कयामत का है। कयामत से तात्पर्य है कि फिर कोई पापी नहीं रहेगा। मक्का के हमीदिया पुस्तकालय में 'अल्कशफ वल्कत्मफी मार्फल' पुस्तक रखी हुई है। उसमें लिखा है कि "कयामत तब आयेगी जब फूट, कलह और व्यभिचार बढ़ जाएँगे। तब एक महापुरुष आएगा। वह आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण होगा एवं अपनी आत्मशक्ति के प्रभाव से सारे आग्नेयास्त्रों को बेकार कर देगा। वह संसार को स्वर्ग बना देगा और बूढ़ों को जवान बना देगा।" इसी प्रकार का विवरण 'इमामे आखिरुज्जमा' ग्रन्थ में भी मिलता है। मदीना की प्रसिद्ध पुस्तक 'मकसूम बुखारी' के अनुसार हिजरी सन् की चौदहवीं शताब्दी की दूसरी तिहाई में कयामत आएगी और हजरत मेंहदी प्रकट हो जाएँगे। वे सब धर्मों के मसीहा होंगे।

वस्तुतः अवतार की कालगणनाप्रसंग ऐसा टेढ़ा व विवादास्पद है कि उस पर ढेरों वाद-प्रतिवाद प्रस्तुत किए जा सकते हैं, पर वस्तुतः जो हलचलें परोक्ष जगत में सक्रिय रहती हैं व जो क्रिया-कलाप मानव कर्तृत्व के रूप में दिखाई देता है, वही यह निर्धारण करता है कि अवतार सत्ता किस रूप में, किस प्रकार, कहाँ क्रियाशील है।

अवतारों का भी क्रमिक विकास हुआ है। इनकी कलाएँ क्रमशः बढ़ती चली गई हैं। कच्छ-मच्छ एक-एक कला के अवतार थे। वाराह और वामन दो-दो के। नृसिंह और परशुराम तीन-तीन के माने जाते हैं। राम बारह के, कृष्ण सोलह के तथा बुद्ध बीस कला के अवतार माने गये हैं। निष्कलंक के बारे में यह कहा गया है कि वे चौबीस कला के अवतार हैं। यह क्रमिक विकास है। सृष्टिक्रम में अवतारों की यह शृंखला अनवरत चलती चली आ रही है एवं संपूर्ण चौंसठ कला को पहुँचने तक चलती ही रहेगी।

प्रज्ञावतार का व युगसंधि का प्रसंग यहाँ विस्तार से इसलिए दिया जा रहा है कि परिजन इस अवतारी विचार-प्रवाह को पहचान सकें, जो उनके जीवन काल में उनके समक्ष उपस्थित रहा, वे उससे जुड़े भी व आगे भी जुड़े रहेंगे। अवतार को जानने, पहचानने के बाद देवमानवों को आत्मबोध कराना कठिन नहीं है कि वे क्या हैं?

भूतकाल के अवतारों में प्रारंभिक कार्यक्षेत्र भौतिक परिस्थितियों से जूझना, अनाचारियों से लड़ना तथा श्रेष्ठता की स्थापना तक सीमित रहा है। प्रज्ञावतार से सबसे अधिक समीप है बुद्धावतार, जिसमें बुद्धि की शरण में जाने का, लोकमानस को सत्प्रेरणा देने का प्रचण्ड अभियान चला। प्रज्ञावतार का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक व क्लिष्ट प्रकार का है। उसे सामयिक समस्याओं एवं व्यक्तिगत उद्दण्डताओं से जूझना ही नहीं वरन् लोकमानस में ऐसे आदर्शों का बीजारोपण, अभिवर्द्धन, परिपोषण व क्रियान्वयन करना है, जो सतयुग जैसी भावना और रामराज्य जैसी व्यवस्था के लिए आवश्यक अंतःप्रेरणा एवं विस्तार को देखते हुए प्रज्ञावतार की कलाएँ चौबीस होना स्वाभाविक है।

पुरुषसूक्त में भगवान के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए उसे "**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।**" हजार सिर वाला, हजार हाथ-पैर वाला बताया गया है। अर्थात् ब्रह्म तो एक ही है, पर विशेष अवसरों पर वह अपने विशेष साधनों, उपकरणों द्वारा अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति करता है। सृष्टिसंचालन ही नहीं, युगपरिवर्तन जैसे विशिष्ट अवसरों पर हजारों जीवन्मुक्त उच्चस्तरीय आत्माएँ उसकी सहचर बनकर महाकाल का प्रयोजन पूरा करती हैं।

भगवान एक अवश्य हैं पर वे जब कुछ विशेष प्रयोजन पूर्ण करते हैं तब एकाकी नहीं रहते, वरन् सहस्र रश्मियों वाले अंशुमाली की तरह प्रकट होते हैं। युग-परिवर्तन जैसे प्रयोजनों में तो उनका सहस्र शीर्षारूप निश्चित ही स्पष्ट हो उठता है। महाकाल को विशेष अवसरों पर ऐसा महारास रचना पड़ता है, जिसमें उत्कृष्ट आदर्श के लिए सहस्रों महामानव कार्यरत दिखाई पड़ें।

इन दिनों यही सब हो रहा है। एक प्रबुद्ध विचार-प्रवाह उस कमलपुष्प से उद्भूत हुआ जिसे सहस्रदल कमल कहते हैं। ब्रह्माजी की उत्पत्ति कमल पुष्प से ही है। यह मस्तिष्क मध्य ब्रह्मरंध्र में अवस्थित है। अध्यात्मबल यहीं केन्द्रित रहने के कारण ईश्वर की उत्पत्ति एवं स्थिति का केन्द्रबिन्दु उसे ही माना गया है। प्रचण्ड विचारों का चक्रवात यहीं से उद्भूत हुआ। एक अवतारी महामानव के मस्तिष्क के माध्यम से उन विचारों ने चेतना क्षेत्र में बढ़ती असुरता के निवारण का तथा आध्यात्मिक पूँजी सम्पन्न प्रबुद्ध आत्माओं को जगाने का काम किया। दशम् निष्कलंक अवतार इन्हीं सबकी संघशक्ति का प्रतीक है।

महाकाल का, अवतारी प्रक्रिया का प्रबुद्ध आत्माओं में अवतरण स्वाति बूँद की तरह होता है, जिससे साधारण दीखने वाली सीपी को भी अपने गर्भ से महान मोती उगाने का सौभाग्य मिलता है। इस अनुग्रह से सामान्य व्यक्तित्व भी देखते-देखते महान हो जाता है।

संधिकाल की विषम वेला में भारत व विश्व के महान गौरव व वर्चस्व को पुनः अपने स्थान पर प्रतिष्ठापित करने वाली आत्माओं का अवतरण तथा प्रचण्ड विचार-शक्ति-प्रवाह के रूप में महाकाल का स्वयं का नरतन देह धारण करके आगमन इसी शताब्दी में हुआ है, जिसके लिए मानवता कब से तरसती प्यासी बैठी थी। भगवान बुद्ध के बाद पिछले २००० वर्षों में महापुरुषों का उत्पादन प्रायः रुक-सा गया था। अब पिछली एक शताब्दी में खण्ड अवतारों के रूप में तीन का प्राकट्य हो चुका।

खण्ड अवतारों में प्रथम थे- श्रीरामकृष्ण परमहंस, दूसरे योगीराज अरविन्द। तीसरा अवतरण शान्तिकुंज की युगान्तरीय चेतना, युगनिर्माण आन्दोलन के रूप में विगत कई वर्षों से सक्रिय है, अब चौथा विश्वव्यापी सूक्ष्म विचार प्रवाह के रूप में होगा तथा विचार परिवर्तन द्वारा वह पूरे विश्व का कायाकल्प कर देगा। ये चारों मिलकर पूर्ण अवतार का निर्माण करेंगे।

इन चारों ही खण्ड-अवतारों का प्रभाव रहा है कि भारतभूमि ने प्रखर चेतना सम्पन्न महामानव जितने इस अवधि में उत्पन्न किये हैं, उतने चिरकाल में उत्पन्न नहीं किये। ठाकुर श्री रामकृष्ण द्वारा भक्तियोग की तथा श्री अरविन्द द्वारा ज्ञानयोग की भूमिका सम्पन्न हुई। दोनों देवदूतों ने वातावरण को गर्मी प्रदान की तथा तपश्चर्या द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न किया, जिससे बंकिमचन्द, महामना मालवीयजी, गोपालकृष्ण गोखले, जस्टिस रानाडे, दादा नौरोजी, केशवचन्द्र सेन, तात्या टोपे, लक्ष्मीबाई, स्वामी विवेकानन्द, माँ शारदा, भगिनी निवेदिता, महात्मा गाँधी, नेहरू, पटेल, मौलाना आजाद, चितरंजनदास, राजेन्द्र बाबू, एनीबेसेन्ट, सरोजिनी नायडू, शचीन्द्र सान्याल, चन्द्रशेखर आजाद, रासबिहारी बोस, भगतसिंह, दुर्गादेवी, पाण्डिचेरी की श्री माँ, नीरोदवरण जैसी अनेकानेक विभूतियाँ जन्मीं तथा असाधारण पुरुषार्थ सम्पन्न कर गयीं। रामकृष्ण व माँ शारदा का तथा योगीराज अरविन्द एवं श्री माँ के स्वरूप की झाँकी महाकाल एवं महाकाली के प्रखर प्रज्ञा-सजलश्रद्धा के युग्म के रूप में देखी जा सकती है।

यहाँ ध्यान रखा जाना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति जन्म से ही देवदूत नहीं होता। महाकाल और महाकाली उसे किसी विशेष अवसर पर अपना वाहन बनाते हैं और देहधारी के माध्यम से वे सूक्ष्मताएँ अपना काम करती चलती जाती हैं। अदृश्य शक्ति, परोक्ष सत्ता किसी दृश्य माध्यम से ही अपने क्रिया-कलापों को सम्पन्न करती है। तब सामान्य मनुष्य भी असामान्य पुरुषार्थ दिखाते दीख पड़ते हैं। जिस प्रकार गंगावतरण के समय भगवती सुरसरि ने शिवजी की जटाओं को वाहन चुना था। समय-समय पर कितने ही नर-नारी इन जटाओं का प्रयोजन पूर्ण करते हैं।

वर्तमान काल में सन् १९११ में पूज्य गुरुदेव के रूप में एक देवदूत का अवतरण हुआ। महाकाल की सत्ता ने उसे अपना माध्यम बनाया एवं उसने ८० वर्ष की आयु तक युगनिर्माण योजना का एक विशाल संगठन खड़ा करके रख दिया, जिसमें कितनी ही सुसंस्कारिता सम्पन्न जाग्रतात्माएँ हैं। समय आने पर उन्हें झकझोरने के लिए हमारी गुरुसत्ता ने जो निष्कलंक प्रज्ञावतार के रूप में जन्मी थी, स्थूल काया से महाप्रयाण किया। महाप्रयाण के पूर्व भी स्वयं को पाँच में बाँटकर सूक्ष्मीकरण कर बहुमुखी आत्म-विस्तार कर डाला। अब वही सत्ता परोक्ष जगत से खण्ड अवतारों का बचा शेष कार्य सम्पन्न करने सूक्ष्मशरीर से सक्रिय हो गई है। हमें निश्चय करना है कि हम दुष्ट-दुष्प्रवृत्तियों की मरणासन्न कौरवी सेना में सम्मिलित हों अथवा धर्मराज की धर्मसंस्थापक सेना में।

जिन्हें मात्र प्रत्यक्ष में ही रुचि है वह मानना चाहते हैं कि महाकाल के तीसरे व चौथे खण्डावतार को, निष्कलंक प्रज्ञावतार की भूमिका वह महामानव कैसे सम्पन्न करेगा, जिसे हम साधारण मनुष्य के रूप में देखते थे, बात-चीत करते थे, साथ-साथ हँस-बोल लिया करते थे व अब जिसकी स्थूल देह भी अग्नि को समर्पित कर दी गई, उनके लिए पूज्य गुरुदेव की जन्मकुण्डली व उसका फलादेश प्रस्तुत है, जो सन् १९८३ में एक प्रज्ञाचक्षु ज्योतिर्विज्ञानी ने किया, जिसकी गणित ज्योतिष में महारत हासिल है तथा अभी भी प्रमाण देने के लिए विद्यमान है।

## आचार्य श्रीराम शर्मा जी की कुण्डली

पं. कन्हैया लाल दुबे ज्योतिषि भक्त गरीब दास महादेव द्वारा अध्ययन प्रस्तुत किया गया, जिसे श्री पुरुषोत्तम राव गरुड़ ने लिपिबद्ध किया। दिनांक ८-२-१९८३

पूज्यवर का जन्मागम
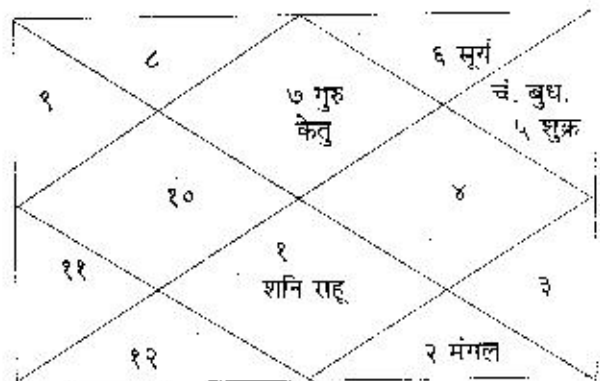
जन्मदिनांक २०-९-१९११ दिन गुरुवार, समय प्रातः ८ से ९ के मध्य, आश्विन १३ सम्वत् १९६८, जन्म सामान्य

स्थिति में। बचपन साधारण रहा, २४ से ३२ के मध्य द्वितीय विवाह। ४२ की अवस्था में चमत्कारिक व्यक्तित्व का परिचय, प्रारम्भ १४ वर्ष के आस-पास महान पुरुषों का सत्संग एवं दर्शन। ७ वर्ष की अवस्था से ही महिमावान बालक के रूप में माने जाने लगे।

साक्षात भगवान के अवतार रूप। ईश्वर अंश, आशीर्वाद दैवी शक्ति सम्पन्न होने का योग इस जातक को है। जिस कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया जा रहा है वह पूर्णतया सफल होकर रहेगा। अंशावतारी,महत्पुरुष, जन्म लग्न का स्वामी चन्द्र, शुक्र और बुद्ध से युक्त है। इस कारण महानपुरुष- यह जातक होना चाहिए। तंत्र, मंत्र, जंत्र का विशेषज्ञ, शुक्र की उद्‌भूत शक्ति इन्हें प्राप्त है।

**विश्वगुरु योग, विश्वयोगी योग, विश्वसम्राट योग**

अभी ७२ वर्ष के आस-पास की अवस्था होनी चाहिए। ८० वर्ष की आयु में विश्व, पूज्यनीय महान तपस्वी के रूप में विख्यात, आयु के बंधन से मुक्त। स्वेच्छाजीवी महापुरुष हैं। ऐसे ग्रह योग वाले जातक अमरयोग के धनी होते हैं। सप्तम शनि अपने चौथे घर को पूर्ण दृष्टि से देखता है अतएव इनके विरोधी नहीं रहेंगे। सभी मित्र भाव से रहेंगे। इनके प्रभाव से सभी मित्र हो जाएँगे। नास्तिक से नास्तिक मन वाला व्यक्ति भी प्रभावित हो जाएगा।

ये विश्व पिता कहे जाएँगे। विश्वसत्ता इनके कदमों के नीचे पड़ी रहेगी, इनकी सामान्य मृत्यु नहीं हो सकती। विचारों का संदेश प्रदान कर ये ब्रह्मलीन हो जाएँगे। स्वेच्छा से ईश्वर लीन होंगे। वर्तमान में इनकी अर्द्धांगिनी (माताजी) के चरणारविन्द में इतनी शक्ति है कि किसी स्त्री के खोटे ग्रहों की शांति उनके चरणस्पर्श से एवं चरणामृत पान से हो जाएगी। यहाँ तक कि चरणामृत लेने से खोटे ग्रहों के कारण लगने वाला वैधव्य योग भी कट जाएगा। आप साक्षात देवी हैं। अमर योग के धनी हैं। प्रथम पत्नी का मारकेश था। दूसरी पत्नी अमर योग वाली है। ब्रह्म के विधान से दो पत्नी योग बना।

इस जातक के पास संजीवनी शक्ति है। व्यक्ति को जीवित करने की ताकत इन्हें प्राप्त है। ये किसी भी व्यक्ति का कायाकल्प कर सकते हैं। शरीर के रोग को दूर कर सकते हैं। अन्धे को नेत्र ज्योति, बहरे को श्रवण दे सकते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की समस्त शक्तियाँ इनके शरीर में विद्यमान हैं। इनके कार्य इन्हें त्रैलोक्य में अमर करने के लिए पर्याप्त हैं। शुक्र, बुध, चन्द्र और तुला के गुरु के कारण यह सब है।

सन्तान पक्ष- दो लड़के दो लड़कियाँ। सभी योग्य होंगे। एक लड़का त्यागी होगा, कर्मनिष्ठ, भाग्यशाली, स्वभाव से खरे, विद्यावान, कर्मण्य, सभी सन्तान होंगी। धनेश मंगल अष्टम है। संस्थागत सम्पत्ति होगी और बहुत बड़ी होगी। वर्तमान समय में सिंह राशि पर छाया होने से २१-९-८२ तक साढ़ेसाती शनि का प्रभाव रहेगा। २३ जुलाई, १९८२ तक मंगल शनि से युक्त है। इस कारण मन में मलीनता के भाव उठ सकते हैं। ग्रह भाव का प्रभाव भी योगी पुरुष पर केवल छाया डालकर कट जाता है। उदर विकार १७ वर्ष से २७ वर्ष तक रहा होगा, किन्तु खान-पान समय के प्रभाव से ठीक हो गया। सूर्य १२वें में होने के कारण आँखों में कमजोरी चश्मे का प्रयोग किया जावेगा।

कर्मकाण्डी विवेकी योगबल एवं तपोबल सम्पन्न होने के कारण यह जातक स्वस्थ है अन्यथा रोगग्रस्त हो जाता। चन्द्रमा, बुद्ध, शुक्र, गुरु ये चारों ग्रह इस जातक के लिए वरदान स्वरूप हैं। इनका प्रभाव इन्हें देवांशी पुरुष बना देता है। नवम्बर, १९८२ आकस्मिक धनलाभ, पराक्रम, श्रेष्ठ प्रवास एवं स्थान वृद्धि, मित्र समागम योग बनाता है, विशेष सम्मान प्राप्त योग है।

सन् १९८३ वर्ष आनन्दायी, अर्थलाभकारी, स्थान वृद्धिसूचक, मान-सम्मान-प्रतिष्ठा, वृद्धिकारक वैभव सम्पन्न योग बनाता है।

सन् १९८४ अत्यन्त श्रेष्ठ वर्ष सन् १९८८ से १९९६ के बीच सारे संसार में शत-प्रतिशत कार्य सम्पन्न हो जाएगा।

सारे संसार के लोग इनके अनुयायी होने लग जाएँगे। सारे संसार में इनके नाम का डंका बज जाएगा। विश्व-योगी, विश्वपिता, विश्वसम्राट के रूप में पूज्य हो जाएँगे।

ईश्वर तुल्य साक्षात ईश्वर। सन् १९९१-१९९२ से किसी फलादेश का पता नहीं चलता। अज्ञातवास योग प्रारंभ हो सकता है। अदृश्य होकर भी विश्व को प्रकाशित करते रहेंगे। आत्मचेतना को ब्रह्मचेतना में अपनी स्वेच्छा से लीन करने की सामर्थ्य प्रदर्शित करके शांत ज्योतिस्वरूप रहेंगे।

महायोगियों की संपर्क डोर स्थूल से परे सूक्ष्म और कारण की गहराइयों में उन्हें परस्पर जोड़ती है। बाह्य रूप से अपरिचित दिखते हुए वे एक दूसरे से कितना घनिष्ट होते हैं, यह उस समय स्पष्ट हुआ जब एक कार्यकर्ता प्रांत के तत्कालीन पी. डब्लू. डी. मिनिस्टर के साथ देवरहा बाबा के दर्शन हेतु गए। बाबा उन दिनों वृन्दावन में मचान बनाकर रह रहे थे। पूज्य गुरुदेव उस समय अपनी मार्गदर्शक सत्ता के बुलावे पर सन् १९७१ में हिमालय प्रवास पर गए हुए थे।

कार्यकर्ता जैसे ही मचान के पास पहुँचा देखा दो मंत्री और खड़े हैं। बाबा थोड़ी देर बाद अन्दर से निकले और एक सेवक से उसे बुलाने को कहा। सेवक ने समझा किसी मंत्री को बुलाना है। उसके इस तरह भ्रमित होने पर दूसरे सेवक को भेज कर उसे बुलाया । पास पहुँचने पर बड़े प्रेम से आश्वासन देते हुए पूछा आचार्य जी हिमालय गये । उसके हाँ कहने पर समझाने लगे उनके काम में पूरी तरह तन-मन न्योछावर करना। तुम अभी नहीं जानते वह कौन है, समय पर जानोगे। फिर हँसने लगे, हँसी थमने पर मुसकराते हुए बोले- उनके काम तो अपने आप होते हैं। तुम लोग तो कठपुतलियाँ हो। देवरहा बाबा का उक्त

कथन अब स्पष्ट रूप से सबके सामने सार्थक सिद्ध होता दृष्टिगोचर हो रहा है।

## अवतारों की परम्परा एवं दशम अवतार का प्राकट्य

परब्रह्म की अवतार-सत्ता का कार्य क्षेत्र अदृश्य जगत है। युगसंतुलन तत्कालीन समुदाय को सँभालने सुधारने, अनीतिकारक तत्त्वों को मिटाने का कार्य वह उनसे कराती है, जिनमें दैवी-तत्त्वों का चिरसंचित बाहुल्य पाया जाता है।

जब-जब जिस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, तब असंतुलन को सही करने के लिए सूक्ष्म जगत से एक दिव्यचेतना का प्राकट्य हुआ है । अपने कौशल एवं पराक्रम से डगमगाती नाव को सँभालने, विकराल भँवर-प्रवाहों से उसे बचा ले जाने का लीला-उपक्रम ही अवतारों का चरित्र रहा है।

सृष्टि के प्रारंभ में जब इस धरित्री पर जल ही जल था और प्राणिजगत में जलचर ही प्रधान थे, तब छाई हुई अव्यवस्था को मत्स्यावतार ने सँभाला था। ब्रह्मा के कमण्डलु में प्रकट हुआ एक छोटा-सा मत्स्य बीज विस्तृत होते-होते महामत्स्य का रूप धारण कर ब्रह्मा को सृष्टि विस्तार की प्रेरणा दे गया। तदनुसार ही ब्रह्माजी ने सृष्टि संरचना की व देवमानवों से सृष्टि को भर दिया।

जब जल और थल दोनों पर छोटे प्राणियों की हलचलें बढ़ीं तो तदनुरूप क्षमता रखने वाली कच्छप काया ही उस समय का संतुलन बना सकी। समुद्र-मंथन, प्रकृति- दोहन का महापुरुषार्थ उन्हीं के नेतृत्व में आरम्भ हुआ। इससे निकली अगणित विभूतियों-पदार्थों ने सृष्टि विकास में अभूतपूर्व भूमिका सम्पन्न की।

हिरण्याक्ष रूपी संकीर्ण स्वार्थपरायण दैत्य द्वारा जल में, समुद्र में छिपी सम्पदा को ढूँढ़ निकालने तथा आसुरी सत्ता का दमन करने का कार्य वाराह रूप ही कर सकता था। यही किया गया तथा प्रयोजन पूरा हुआ।

जब भी असुरत्व उद्धत उच्छृंखलता को पार कर जाता है, तो ऐसे अवसरों पर शालीनता से काम नहीं चलता। तब नरसिंहों की आवश्यकता पड़ती है और उन्हीं का पराक्रम अग्रणी रहता है। भगवान ने आदिम परिस्थितियाँ देखीं और नर और सिंह का समन्वय आवश्यक समझ दुष्टता के दमन, सज्जनता के संरक्षण द्वारा अपना आश्वासन पूर्ण किया।

जब संकीर्णता, संचय और उपभोग की पशु-प्रवृत्ति को उदारता में बदलने की आवश्यकता पड़ी तो उस वृत्ति को मिटाने वामन भगवान के नेतृत्व में छोटे, बौने, पिछड़े लोगों की ही आवाज बुलन्द हुई और बलि जैसे सम्पन्न व्यक्ति को विश्व-हितार्थाय उदार वितरण के लिए स्वेच्छा सहमत किया गया। यही वामन अवतार था।

इनके बाद के परशुराम, राम, कृष्ण व बुद्ध के सभी अवतारों का लक्ष्य एक ही था-बढ़ते हुए अनाचार का, आसुरी आक्रामकता का प्रतिरोध और सदाचार का-सदाशयता का समर्थन, पोषण। परशुराम ने सामन्तवादी आधिपत्य को शस्त्रबल से निरस्त किया। क्षत्रियों का सिर काटने से तात्पर्य था, शक्ति के उन्मादी, अहंकारी छत्राधिपतियों के अहंकार का उन्मूलन। इस तरह परशु से वह कार्य सम्पन्न हुआ जो और कोई मानवीसत्ता नहीं कर सकती थी। राम ने मर्यादाओं की संस्थापना पर जोर दिया तथा धरती को निशिचरहीन कर डाला ताकि कोई वर्जनाओं की सीमा न लाँघ सके। कृष्ण नीतिपुरुष थे। उन्होंने मनुष्य में घर कर बैठी छद्म वृत्ति से विनिर्मित परिस्थितियों का शमन करने हेतु "**विषस्य विषमौषधम्**" का "**शठे शाठ्यम**" की नीति का उपाय अपनाया तथा कूटनीतिक दूरदर्शिता दिखाते हुए काँटे से काँटा निकालने के लिए टेढ़ी चाल चलकर लक्ष्य तक पहुँचने की प्रतिक्रिया संपन्न की। यह अपने युग का विलक्षण अवतार था।

जिन दिनों धर्मतंत्र में विकृतियों का समावेश हो गया, मद्य, माँस आदि के रूप में अनाचार धर्म की आड़ लेकर लोकव्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने लगा तथा धर्माडम्बरों ने जन-सामान्य को दुखी कर डाला, तब महात्मा बुद्ध ने सही धर्म की संस्थापना का, सज्जनों के संगठन का तथा विवेक को सर्वोपरि स्थान देने का प्रवाह जन-जन में फैलाया। **धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि** का शंखनाद ही बुद्ध का लीलासंदोह है। उनके आह्वान पर छोटी सुप्रिया से लेकर अम्बपाली, आनन्द, राहुल, अशोक अगणित व्यक्ति आगे आए। लाखों धर्मप्रचारक प्रव्रज्या पर निकले, संघाराम स्थापित हुए और विचार-क्रांति का आलोक विश्व के कोने-कोने में पहुँचा।

आज की परिस्थितियाँ तब की परिस्थितियों से भिन्न हैं। बदलती हुई परिस्थितियों में भगवान को भी आधार बदलने पड़े हैं। विश्वविकास की क्रमव्यवस्था के अनुरूप ही अवतार का स्तर एवं कार्यक्षेत्र भी विस्तृत होता चला जाता है। साधन एवं कर्मप्रधान विश्व में तो शस्त्र व साधनों के सहारे काम चल गया। आज तो चारों ओर बुद्धितत्त्व की प्रधानता है। सम्पन्नता, समर्थता और कुशलता का दुर्बुद्धिजन्य दुरुपयोग ही चारों ओर दिखाई देता है। विज्ञान के विकास ने दुनिया को बहुत छोटा व विश्वमानव को एक-दूसरे के समीप ला दिया है, गतिशीलता अत्यधिक बढ़ी है। ऐसी दशा में भगवान का अवतार युगान्तरीय चेतना के रूप में ही हो सकता है, इतनी व्यापक कि जन-जन के मन को बदल सके, अंतःकरण में सद्भावनाएँ जगा सके, तभी अनास्था से मोर्चा ले पाना संभव होगा।

बुद्ध के बुद्धिवाद का मूलभूत ढाँचा विचारक्रांति का था। पूर्वार्द्ध में धर्मचक्र-प्रवर्तन हुआ था। धर्मधारणा सम्पन्न

लाखों मानवों ने बुद्ध का अभियान भारत ही नहीं भारत की सीमाओं के पार भी धर्मतंत्र के परिष्कार का आलोक फैलाया। बुद्ध का कार्य पूरा नहीं हुआ उत्तरार्द्ध अभी बाकी है। प्रज्ञावतार वही कार्य सम्पन्न कर रहा है। बुद्धि-प्रधान, तर्कप्रधान युग में समस्याएँ भी चिन्तन प्रधान होती हैं। मान्यताओं, विचारणाओं के प्रवाह में ही सारा समाज बहता है। ऐसे समय में अवतार-प्रक्रिया लोकमानस की अवांछनीयता, अनैतिकता एवं मूढ़मान्यता को मिटाने वाली विचार-क्रांति के रूप ही इस युग की समस्याओं का समाधान कर सतयुग की वापसी कर सकती है।

परमपूज्य गुरुदेव का प्राकट्य जिस काल में हुआ उसमें सर्वाधिक आवश्यकता थी-विचारों की अवांछनीयता हटाकर सद्बुद्धि की स्थापना करना। इसी कारण इस युग का महाभारत चेतना क्षेत्र में लड़ा गया एवं गायत्री महामंत्र की प्रेरणा द्वारा सद्भाव सम्पन्न आस्थाओं के निर्माण एवं अभिवर्द्धन का प्रयोजन पूरा किया गया। व्यक्ति के चरित्र, चिंतन व समाज का विधान, प्रचलन क्या हो, इसका सुनिश्चित निर्धारण इस महामंत्र के विराट विस्तार द्वारा सम्पन्न हुआ है। देवसंस्कृति की जन्मदात्री, देवमाता, वेदमाता अब उनके महाप्रयाण के बाद विश्वमाता का रूप धारण करने जा रही है, इसे अगले दिनों ही देखा जा सकेगा। सुसंस्कृत-समुन्नत विश्व का निर्माण इसी चिन्तन-धारा की पृष्ठभूमि पर होने जा रहा है।

गायत्री जयन्ती के दिन, जिस दिन प्रजापति ब्रह्मा के मुख से गायत्री मंत्र की ऋचाओं का उच्चारण हो, मंत्र वेदों के रूप में लिपिबद्ध हुए, ही पूज्य गुरुदेव का महाप्रयाण हुआ। जिस नरतनधारी अवतारी सत्ता ने जन-जन को ऋतम्भराप्रज्ञा के चिन्तन से अनुप्राणित कर दिया, उसके लिए इससे श्रेष्ठ दिवस और क्या हो सकता था कि वह सूक्ष्मीकृत घनीभूत होने के लिए सीधा तरणतारिणी माँ गायत्री की गोद में ही जाए।

पूज्य गुरुदेव ने ऋतम्भराप्रज्ञा अर्थात् विवेक और श्रद्धा के समुचित समावेश से जन जन के मन को परिचित कराया एवं क्षुद्रता से महानता के स्तर पर पहुँचाया। विवेक वह प्रतिपादन है, जिसमें तर्क, तथ्य और दूरदर्शिता का समुचित समावेश हो। श्रद्धा उस गहन आस्था का नाम है जो उत्कृष्ट आदर्शवादिता से प्यार-करना सिखाती है। विवेक जहाँ बुद्धि का उत्कृष्टतम स्तर है, श्रद्धा वहाँ अन्तःकरण की श्रेष्ठतम उपलब्धि है।

सूक्ष्मजगत में बहने वाली प्रचण्ड शक्तिधाराओं का प्रवाह ऊपर से ही शान्त व सामान्य दिखाई देता है। भीतर वह ज्वालामुखी जैसी विस्फोटक क्षमता छिपाये बैठा होता है। जब यह विस्फोट होता है तो उलटे को उलट कर अवांछनीयता को निरस्त कर सब कुछ बदल कर रख देता है। सूक्ष्मजगत में गतिशील इसी अगम्य विलक्षणता को अवतार कहते हैं। अवतार का प्रधान कार्य है अपने लीलाकाय में, देवदूतों में, देवअंशधारी महामानवों में उच्चस्तरीय उमंगें भर देना। तत्त्वदर्शी इन्हीं अदृश्य हलचलों को जाग्रतात्माओं में हिलोरें भरती देखते हैं, तो कहते हैं कि अवतार का यह प्रचण्ड आवेश असंतुलन को संतुलन में बदलकर ही रहेगा। इन दिनों भी यह हो रहा है।

पूज्य गुरुदेव ने अपनी सूक्ष्मसत्ता के मार्गदर्शन में निष्कलंक प्रज्ञावतार की भूमिका निबाही एवं एक ऐसा प्रचण्ड विचार-प्रवाह विनिर्मित किया कि श्रद्धा और विवेक का संगम युगान्तरीय चेतना, युगशक्ति के रूप में उनके जीवनकाल में ही प्रकट होकर रहा। प्रस्तुत अवतार विचार-प्रवाह के रूप में आया था इसलिए उसे स्थूल काया तक सीमित न मान, यह समझा जाए कि वह सत्ता सूक्ष्मीकृत, घनीभूत होकर पूरे विश्व में संव्याप्त हो गयी है व बिगड़ों की बुद्धि को ठिकाने लगाने तथा बुद्धि वालों को विवेकश्रद्धा के अवलम्बन को स्वीकारने हेतु विवश कर रही है, झकझोर रही है। जाग्रतात्माओं का बढ़ता परिकर व विस्तार लेती चिंतन-चेतना इसका प्रमाण है। यही तो है निष्कलंक प्रज्ञावतार, जिसे दशमावतार कहा गया है।

# कल्कि अवतार का लीलासंदोह

नैमिषारण्य में सूत-शौनक वार्ता चल रही थी। समस्त अवतारों की कथा-लीलासंदोह सुनने के उपरान्त ज्ञान की अन्यतम जिज्ञासा वाले शौनक मुनियों ने महर्षि लोमहर्षक के पुत्र श्री सूत जी से प्रश्न किया-''भगवन्! द्वापर तक की व तदुपरांत बुद्धावतार की कथा पूरी हो चुकी। अब कृपया यह बताइये कि कलियुग जब पराकाष्ठा पर होगा तो भगवान का जन्म किस रूप में होगा। उस समय ऐसी कौन-सी दुरात्माएँ होंगी, जिन्हें मारने के लिए भगवान अवतार लेंगे। वह कथा भी हमें विस्तार से सुनाएँ।

श्री सूतजी बोले-हे मुनीश्वरो-ब्रह्माजी ने अपनी पीठ से घोर मलीन पातक को उत्पन्न किया, जिसका नाम रखा गया अधर्म। अधर्म जब बड़ा हुआ तब उसका मिथ्या से विवाह कर दिया गया। दोनों के संयोग से महाक्रोधी पुत्र दम्भ तथा माया नाम की कन्या जन्मी। फिर दम्भ व माया के संयोग से लोभ नामक पुत्र और विकृति नामक कन्या हुई। दोनों ने क्रोध को जन्म दिया। क्रोध से हिंसा व दोनों के संयोग से काली देह वाले महाभयंकर कलि का जन्म हुआ। इस चंचल, भयानक, दुर्गन्धयुक्त शरीर, द्यूत, मद्य, स्वर्ण और वेश्या में निवास करने वाले कलि की बहिन व संतानों के रूप में दुरुक्ति, भयानक, मृत्यु, निरय, यातना का जन्म हुआ जिसके हजारों अधर्मी पुत्र-पुत्री आधि-व्याधि, बुढ़ापा, दुख-शोक, पतन, भोग-विलास आदि में निवास कर यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय, उपासना आदि का नाश करने लगे। (कल्कि पुराण १ से २२ श्लोक)

## ११.२३ युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन

उपर्युक्त वर्णन पाठकों के मनोरंजन मात्र के लिए नहीं दिया गया। श्रुतियाँ देशकाल से परे होती हैं, अतः इनमें वह सब भी दिया होता है जो भविष्य में संभावित है। कलियुग जिससे इन दिनों हम गुजर रहे हैं, अपनी प्रौढ़ता के समापन काल पर है व ऐसे में उस अवतार की प्रतीक्षा सबको है, जो अविवेक, दुर्बुद्धि, निष्ठुरता, अधर्म का नाश कर धर्म की, सत्प्रवृत्तियों की स्थापना करेगा।

कल्कि अवतार की भाव भूमिका पर प्रकाश डालते हुए श्री सूतजी आगे लिखते हैं कि "देवता धरती को आगे करके ब्रह्माजी के पास गए और उन्हीं से भूमण्डल पर हो रहे अत्याचारों, कष्टों का वर्णन करवाया। ब्रह्माजी सब को लेकर विष्णुलोक गए। विष्णुजी ने सब कुछ सुनकर आश्वासन दिया कि हम तुम्हारे कष्ट दूर करने के लिए अवतार लेने आ रहे हैं। फिर देवताओं से कहा कि "तुम मेरी सहायतार्थ पृथ्वी पर जाकर जाग्रतात्माओं व प्रज्ञा-परिजनों के रूप में जन्म लो।"

उपर्युक्त कथानक का आशय यह है कि जब अज्ञान, अनीति, अधर्म पृथ्वी पर बुरी तरह संव्याप्त हो गया, तब विधि-व्यवस्था (ब्रह्मा) ने एक सर्वांगपूर्ण मानवीय सामर्थ्यों से सम्पन्न सत्ता का प्राकट्य किया, जिसने संघशक्ति का सहारा लेकर दुर्बुद्धि से मोर्चा लिया एवं सतयुग की स्थापना की।

कल्किपुराण में उल्लेख आता है कि- "भगवान कल्कि सम्भल ग्राम में विष्णुयशशर्मा के घर जन्म लेंगे, सावित्री उपासक होंगे। महेन्द्र पर्वत के निवासी भगवान परशुराम उनके गुरु होंगे, मथुरा का राज्य सूर्यकेतु को सौंपकर वे हरिद्वार में पत्नी सहित निवास करेंगे। बौद्धों से संग्राम कर उन्हें पराजित कर संसार में धर्म की संस्थापना का काम पूरा करेंगे। सच्चे ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा वे करेंगे तथा निष्कलंक कहलाएँगे।"

कुविचारों का समूलोच्छेदन करने वाली यह शक्ति एक श्रद्धा पर आधारित विचारप्रधान संस्थान के रूप में जन्मेगी और सारे विश्व में विचार-क्रान्ति उत्पन्न कर देगी।

उपर्युक्त आलंकारिक विवेचना व घोषणाओं से स्पष्ट होता है कि "**यदा यदा हि धर्मस्य**"...... की अपनी प्रतिज्ञा निबाहने को संकल्पित भगवत् सत्ता का अवतरणकाल यही है, जिससे हम गुजर रहे हैं। वस्तुतः वह अवतार लेकर स्थूलकाया से वह सब कुछ कर चुका, जो एक अवतारधारी सत्ता को करना था, अब वह सूक्ष्म रूप में संव्याप्त हो देवअंशधारी सत्ताओं को प्रेरित-अनुप्राणित कर अपनी लक्ष्य सिद्धि की ओर बढ़ रहा है।

भीष्मपितामह महाभारत में कहते हैं- "कृष्णावतार का स्वरूप व उद्देश्य मैं तुम्हें समझा चुका, अब कलियुग के बारे में बताता हूँ। कलियुग के अन्त में जब धर्म की शिथिलता आने लगेगी, पाखण्ड बढ़ जाएगा, तब धर्म की वृद्धि और सच्चे ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा के लिए भगवान पुनः अवतार लेंगे। वे भगवान के समान यश वाले 'विष्णु यशा' होंगे। भगवान के साथ अनेक देवतागण भी अपनी शक्तियों सहित पृथ्वी पर उनके सहायक बनकर आते हैं, ऐसा पुराणों ने गाया है।"

आज की परिस्थितियाँ ठीक अवतार के प्रादुर्भाव के अनुरूप हैं। जब सदाचरण का कोई महत्त्व न रह जाए, संसार की सभी धार्मिक-व्यवस्थाएँ अस्त-व्यस्त हो जाएँ, तब मानना चाहिए कि अब कलियुग पूरी तरह प्रौढ़ हो गया और इस प्रौढ़ हुए कलिकाल में ही कीचड़ में कमल की भाँति निष्कलंक अवतार के प्रकट होने की संभावना माननी चाहिए। अवतार आते रहे हैं, आये हैं और आते रहेंगे। उनकी पहचान संसार न करे तो वह अपनी पहचान स्वयं ही अपने कर्त्तव्यों, कर्मों की प्रचण्डता द्वारा अन्यान्यों को कराता है। वह अपने पीछे निर्धारणाएँ, व्यवस्थाएँ बनाकर जाग्रतात्माओं को उस काम को पूरा करने के लिए छोड़ जाता है। बहुधा अवतार के जाने के बाद ही उसका मूल्यांकन होता है।

शास्त्रकारों की, श्रुति रचने वालों की शैली यद्यपि आलंकारिक होती है तो भी वह थोड़ा-सा बुद्धि पर जोर डालने पर समझ में आ जाती है। कल्कि पुराण का कहना है कि वह सत्ता मनुष्य काया में होते हुए भी वंशकुल, गोत्र, कर्म, विचार-भाव, व्यवसाय, स्वभाव आदि से पूर्ण निष्कलुष होगा। पाप, लोभ, मोह उसे स्पर्श भी न कर पाएँगे। असत्य व अधर्म उसके पास भी न आ पायेंगे। वह पूर्णज्ञानी, पूर्णसन्त व बालकों के समान निर्मल अन्तःकरण स्वभाव वाला होगा। यह सारी बातें पूज्य गुरुदेव के जीवनक्रम से संगति खाती हैं, यद्यपि वे जीवन भर अवतार की बात का खण्डन ही करते रहे।

ग्रन्थ में उसके एक गाँव में जन्म लेने, उसके पिता के यशस्वी (विष्णुयशा) होने, माता सुन्दर बुद्धि वाली (सुमति) होने की बात कही। ज्ञानगंगा से वह अपने चित्त को निर्मल कर सावित्री साधना में प्रवीण-पारंगत बनेगा, यह बात भी कही गयी है। उपनयन संस्कार के बाद, ब्रह्म संस्कार, गायत्री उपासना व वेदाध्ययन करने का प्रसंग भी आया है। पुराण के ३५वें श्लोक से ४०वें श्लोक तक कल्कि द्वारा पिता से वेदों, सावित्री, ब्राह्मणत्व, यज्ञोपवीत, गायत्री ब्रह्मविद्या आदि की व्याख्या पूछी गयी है। सच्चा ब्राह्मणत्व क्या होता है व उसकी उपासना कैसे की जाती है? यह समझाया है। ब्राह्मण बालक को गुरुकुल अध्ययन के लिए तत्पर होते समय भगवान परशुराम का (परोक्ष सूक्ष्मसत्ताधारी मार्गदर्शक) दर्शन होता है। वे दर्शन ही नहीं देते, आत्मज्ञान की साधना के लिए अपने साथ हिमालय ले जाते हैं। समस्त वेदों का ज्ञान प्राप्त कर वे शिवजी की भस्म रूपी ज्ञानगंगा तथा परशु (विचारों की तीक्ष्णता रूपी अस्त्र) लेकर संसार के उद्धार के लिए चल देते हैं।

कल्कि लौटकर अपने ईश्वरीय ऐश्वर्य को प्रकट करते हैं एवं सारे देश में यज्ञ, दान, तपस्या और व्रत करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भगवान के कृपापात्र बनते हैं। ये सभी सहायक भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त से, सभी धर्म-सम्प्रदायों से व विश्व भर से आते हैं व युग-

निर्माण की प्रक्रिया के प्रभाव से सब की बुद्धि सात्विक, ईशपरायण बनती चली जाती है। भगवान कल्कि राजसूय व अश्वमेध रचकर यज्ञ भावना का विस्तार करते हैं तथा सभी सहायकों, शुद्ध अन्तःकरण वालों को आत्मस्वरूप बताते हुए मृत्यु के बाद उन्हें स्वयं में एकाकार करने का आश्वासन दे देते हैं। वे लौकिक नहीं, आध्यात्मिक इच्छाओं की पूर्ति की ही कामना करने वाला एक समाज अपने सूक्ष्मचिन्तन से विनिर्मित कर देते हैं। स्त्रियों को वे नव-जागरण की प्रेरणा देते हैं व उनसे नेतृत्व कराते हैं। 'कीकटपुर' अर्थात् संकीर्ण स्वार्थी मनोवृत्ति में निवास करने वाले बौद्ध अर्थात् तार्किक, घमण्डी, शिक्षित किन्तु स्वार्थपरायण बुद्धि वाले व्यक्तियों से वे युद्ध करते हैं। आस्थासंकट से जूझते हुए वे ज्ञानरूपी परशु से उनका सिर काटते हैं अर्थात् विचार-क्रान्ति द्वारा उनके विचारों को बदलकर उन्हें समर्पण अपनाने, क्षुद्र बुद्धि छोड़ सबके हित की बात सोचने के लिए बाध्य कर देते हैं।

अध्यात्मतत्त्वज्ञान का वे ऐसा वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करते हैं कि हर नास्तिक (बौद्ध) उन्हें पढ़ता हुआ बदलता चला जाता है। विचारों को विचारों द्वारा काटकर वे एक प्रकार का ज्ञानयज्ञ रच देते हैं। घर-घर फैले भौतिकवाद से जूझकर धर्मतंत्र का परिष्कार इस प्रकार उनके माध्यम से सम्पन्न होता है। पाठकगण उपर्युक्त विवेचन पर ध्यान दें कि यही रीति नीति पूज्य गुरुदेव की जीवन भर रही है। उन्होंने क्रांतिकारी जीवन जिया है, परम्पराओं से मोर्चा लिया है एवं अध्यात्म तत्त्वज्ञान की स्थापना करने के लिए विज्ञान एवं अध्यात्म का समन्वय किया। प्रचुर परिमाण में साहित्य रचकर ज्ञानयज्ञ के माध्यम से उन्होंने लाखों व्यक्तियों के विचार बदले हैं, उन्हें संकीर्ण स्वार्थान्धता से भरे जीवन से मोड़कर औदार्यभरी हँसती-हँसाती, खिलती-खिलाती जिन्दगी जीना सिखाया है।

गुरुदेव की ज्ञानयज्ञ, वाजपेय यज्ञ की शृंखला लम्बे समय तक चली। सहस्रकुण्डी महायज्ञ के माध्यम से अश्वमेध यज्ञ उन्होंने पहले मथुरा में व फिर १९७१ में पूरे भारत भर में पाँच स्थानों पर रचा। मथुरा की व्यवस्था सूर्यकेतु (उचित पात्रता वाले आत्मीय परिजन) को सौंपकर वे सपत्नीक उग्र तपश्चर्या हेतु हरिद्वार में गंगातट पर सप्तसरोवर क्षेत्र में आ गए (गंगा तीरे हरिद्वारे निवासं समकल्पयत)

हिमालय में अपने गुरु के दर्शन व तपश्चर्या करके आने के उपरान्त वे हरिद्वार में ऋषियों के अंशों से उत्पन्न आत्माओं से मिले व उनसे प्राण-प्रत्यावर्तन-जीवन शोधन साधना कराके अपने कार्य को उनके माध्यम से आगे बढ़ाने का संकल्प दिलाते हैं। वे एक विशाल परिवार की, जो मात्र सत्प्रवृत्तियों की स्थापना को कृतसंकल्प है, संरचना कर अपना कार्यभार अपनी धर्मपत्नी को सौंपकर स्वयं सूक्ष्मशरीर से गतिशील व सर्वव्यापी बनने हेतु महाप्रयाण कर जाते हैं।

अवतारों का स्वरूप एक विचारप्रवाह के समान होता है। मानवीकाया में अवतार के दर्शन करने वालों को यह देखना चाहिए कि क्या किसी एक महाप्राज्ञ की विचार-चेतना से अनुप्राणित हो श्रेष्ठ सज्जनों के समुदाय को उत्तम चरित्र एवं उदात्त प्रयास के विकास-विस्तार हेतु गतिशील देखा जा सका? यदि ऐसा कुछ दिखाई पड़े तो इसे अवतार की प्रेरणा ही मानना चाहिए। पूज्य गुरुदेव का कहना था कि यदि इस समय सब अवतार को खोजने लगें तो अगणित श्रेयाधिकारी खड़े हो जाएँगे। वे कहते थे कि जब भी समाज में संत, सुधारक और शहीद बढ़ने लगें, समझना चाहिए कि इसका सूत्र-संचालन परोक्ष रूप से अवतारी सत्ता ही कर रही है। सन्त वे जो सज्जनता से भरा, ब्राह्मणोचित जीवन जीकर प्रकाशस्तंभ का काम करते हैं। निराश व्यक्तियों में प्राण फूँकते हैं। संत हर प्रतिकूलता का हँसकर सामना कर आदर्शों का परिपालन करते हैं। इससे ऊँची श्रेणी सुधारक की है। सुधारक को न केवल अपना आपा सुधारना पड़ता है दूसरों को बदलने के लिए प्राणशक्ति का उपार्जन करना पड़ता है। उनका चरित्र ऊँचा, साहस अधिक, व्यक्तित्व प्रखर व पुरुषार्थ अधिक प्रबल होता है। वे एक हाथ में शास्त्र व दूसरे में शस्त्र लेकर चलते हैं। विचार-क्रांति की मशाल यही जलाते हैं।

''संत, सुधारक के बाद तीसरा चरण है-- शहीद। शहीद वे जो 'स्व' का 'पर' के लिए सब कुछ समर्पित कर दें। यही समर्पण है; शरणागति है। स्वजनों का परामर्श न मानकर वे अवतारचेतना की प्रेरणा से सारा कार्य करते हैं। मानसिक शहादत ही सच्ची शहादत है, जिसमें परमार्थी महत्त्वाकांक्षाएँ ही प्रधान हो जाती हैं एवं संकीर्ण स्वार्थपरता का अन्त हो जाता है।''

पूज्य गुरुदेव की अवतारचेतना की परिभाषा के अनुरूप निराकार प्रज्ञावतार के प्रवाह को इन दिनों चारों ओर संव्याप्त देखा जा सकता है। इतना सब कुछ सम्पन्न कर दिखाने वाला वह युगपुरुष जब आज हमारे बीच नहीं है, सूक्ष्मीकृत घनीभूत हो परोक्ष जगत में क्रियाशील है, हम देहधारी उनके अनुचर अब तो उनका सही मूल्यांकन कर सकते हैं। ''सुदृढ़ संगठन का स्वामी स्वयं अपनी संहिताएँ निश्चित करने वाला नीतिपुरुष, वैज्ञानिक, मनीषी, आस्था संकट को मिटाकर भावचेतना को जगाने वाला सत्पुरुष ही इस युग का कल्कि अवतार होगा,'' यह निर्धारण सन् १९३९ में उत्तराखण्ड के महात्माओं की एक बैठक में निश्चित हो 'कालगणना व कल्कि अवतार' नामक पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ था। उसमें लिखा है ''उसके मस्तिष्क की दो भौंहों के बीच चन्द्रमा होगा। विशुद्ध भारतीय वेशभूषा पहनेगा, स्वभाव से बालकों जैसा, निर्मल योद्धाओं जैसा साहसी तथा वेदों-शास्त्रों का प्रकाण्ड पण्डित होगा। २४ अक्षर का उसके जीवन में बड़ा महत्त्व होगा। चौबीस अक्षर वाले मंत्र का जाप कर वह २४ वर्ष तक तप करेगा तथा वही चौबीसवाँ अवतार होगा। सारे विश्व पर उसका प्रभाव छा जायेगा।''

अवतारों को प्रायः जीवनकाल में पहचाना नहीं जाता। राम पर भी लांछन लगे व कृष्ण को भी किसी ने नहीं बख्शा। हम सब को इस पर गर्व होना चाहिए कि हमारे बीच एक देवसत्ता आई व अपनी लीला दिखाकर चली गई। चलेंगे सब अब उसी की नीति पर । कहीं हम प्रमादग्रस्त न हो जाएँ, लोग यही न कहने लगें कि अवतार सत्ता आई व उनके साथ रहने वाले ही उन्हें न पहचान पाये। कर्तृत्व व यशोगाथा हमारे सामने है। करना सिर्फ यह है कि उनके विचारों का विस्तार विश्व के कोने-कोने तक, हम सब उनसे जुड़ने वाले व भविष्य में उन्हें पहचानने वाले, करके दिखाएँ।

# अवतारी पुरुष के अलौकिक कर्तृत्व

सामान्यतया साधना-क्षेत्र में बाह्योपचारों की नकल होती देखी जाती है एवं जो भी बहिरंग उपचार कोई साधक करता दीखता है, एक समुदाय उसके पीछे चल पड़ता है। उन प्रतीकों के पीछे छिपी भावनाओं को, आत्मशोधन व जीवन-साधना के अनुशासनों को न समझा जाता है, न निर्वाह किया जाता है, फिर वे फलित हों कैसे?

पूज्य गुरुदेव को उनके मार्गदर्शक ने कहा कि "तुम्हें अखण्ड घृतदीप हमारे-अपने सम्बन्धों के रूप में स्थापित करना है, ताकि कोई किसी को भूलने न पाए। हम जिस प्रकाशपुंज के रूप में आए थे उसकी स्मृति सतत बनी रहे।" पूज्य गुरुदेव ने अपने इष्ट का मार्गदर्शन सिरमाथे रखा तथा उसका निर्वाह करते चले गए।

जब १९४१, १९५१ व १९६० में पूज्य गुरुदेव हिमालय-यात्रा पर गए तब भी यह अनुशासन भलीप्रकार पाला गया। वंदनीया माताजी अक्टूबर १९५९ की 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका में लिखती हैं कि अब 'अखण्ड ज्योति' को सँभालने का गुरुतम दायित्व मुझ पर आ गया है। सम्पादिका के रूप में यह उनका पहला अंक था, क्योंकि इस बार पूज्य गुरुदेव का हिमालय-प्रवास एक वर्ष से अधिक था। जो तीन प्रमुख काम गुरुदेव वंदनीया माताजी को सौंप गये थे, उनमें पहला था- अखण्ड-घृतदीप को दस वर्ष और प्रज्वलित रखा जाए। पहले यह अखण्ड दीपक मात्र २४ पुरश्चरणों के लिए था, पर अब कार्य पूरा हो जाने पर भी उसका विसर्जन नहीं होना चाहिए, जिस प्रकार चालीस दिन में एक गायत्री अनुष्ठान (सवालक्ष का) पूर्ण हो जाता है, इसी प्रकार चालीस वर्ष तक जलते रहने पर अखण्ड घृतदीप भी 'सिद्धज्योति' बन जाता है। जब तीस वर्ष यह दीपक जल चुका एवं सारे परिवार ने क्रमशः चौबीस घण्टे जागरण रखकर उसे जलाए रखा तो अब दस वर्ष के लिए ही इसे अधूरा क्यों छोड़ा जाय? (अखण्ड-ज्योति अक्टूबर, १९५९ पृष्ठ ६, ७, ८)। चूँकि अभी १९७१ के बाद के निर्धारणों का रहस्योद्घाटन पूज्यवर ने हिमालययात्रा से लौटने के बाद तक के लिए सुरक्षित रखा था, स्थान-परिवर्तन पर हरिद्वार में पुनः इसी ज्योति को अखण्ड जलाये रखने के प्रसंग की चर्चा यहाँ नहीं की थी। जो हो पूज्यवर के निर्देशों का वंदनीया माताजी ने अक्षरशः पालन किया। उसी के प्रकाश में वे अपनी गुरुसत्ता पूज्य गुरुदेव एवं परोक्ष सत्ता का दर्शन कर पूरा परिवार चलाती रहीं, संपादन करती रहीं एवं सारे दायित्व वे निभाये, जो उन्हें एक संस्था के संचालक के नाते करना था।

दूसरा निर्देश था कि इस दीपक के सम्मुख अब अखण्डजप का आयोजन किया जाए और दस वर्षों में २४ लक्ष के २४ और अनुष्ठान कराने का उपक्रम बनाया जाए। तीसरा निर्देश था कि अखण्ड दीप और अखण्ड जप जहाँ रहें वहीं के संस्कार लेकर ही 'अखण्ड-ज्योति' पत्रिका प्रकाशित हो।

अखण्ड अग्नियों व दीपकों का असाधारण आध्यात्मिक महत्त्व होता है। इस लेख में जहाँ से शुरूआत की गई थी, इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हैं कि जन-सामान्य अनुकरण की प्रवृत्ति अपनाते हुए सारी सिद्धि का स्रोत एक दृश्य उपचार को मानते हुए अखण्ड दीपक या अग्नि प्रज्वलित तो कर देते हैं, पर उसका निर्वाह नहीं कर पाते। दीपक तभी सिद्ध हो पाता है, जब तप-साधना का पोषण सुपात्र साधक द्वारा किया जा रहा हो। यह कोई छोटा-मोटा काम नहीं है कि किसी और से करा लिया जाए। जप-अनुष्ठान भी स्वयं करना पड़ता है, तप-तितिक्षा भी स्वयं करनी पड़ती है तथा आत्मशोधन को अनिवार्य अंग मानते हुए उसे सतत निभाना पड़ता है। यही कार्य पूज्य गुरुदेव व वंदनीया माताजी ने किया तथा आज भी वह अखण्ड दीपक जो ६४ वर्षों से जल रहा है, शान्तिकुंज में स्थापित है। समस्त प्रेरणाओं व सिद्धियों का वह स्रोत है। इसके सामने अभी भी अखण्ड-जप चलता है। उसके सान्निध्य में एक करोड़ गायत्री जप नित्य सम्पन्न होता है व नौ कुण्डी यज्ञशाला में नित्य गायत्री यज्ञ में आहुतियाँ दी जाती हैं। इसी से यहाँ के प्रसुप्त बीजांकुर फलित-पल्लवित हुए हैं। पूज्य गुरुदेव ने इसी के प्रकाश में सतत लेखनी की साधना तथा अपनी उपासना सम्पन्न की। प्रस्तुत पंक्तियाँ भी उसी अखण्ड दीपक के प्रकाश में परोक्ष प्रेरणा से ही लिखी जा रही हैं। इसमें किसी का व्यक्तिगत पुरुषार्थ नहीं है, दिव्यसाधना का तपोबल जो पूज्य गुरुदेव रूपी ब्रह्मवर्चस् सम्पन्न महामानव के रूप में सिद्ध हुआ, ही इसके मूल में कार्य कर रहा है व आगे भी करता रहेगा।

यहाँ यह सब विस्तार से इसलिए लिखा गया है कि जो परिजन उस अखण्डदीपक के दर्शन यहाँ आकर करते हैं, उसके मूलभूत तत्त्वदर्शन व परोक्ष सिद्धि के स्वरूप को भी समझें । अनुकरण में वे अपने यहाँ दीप जला लें तो फिर उसे 'सिद्ध ज्योति' जैसा बनाने का पुरुषार्थ भी करें। यदि यह न बन पड़े जो कि असंभव ही है, क्योंकि दीप जलाने के साथ जो तप-साधना जुड़ी है, वह भी स्वयं की, वह कर पाना हरेक के लिए शक्य नहीं है, तो उस अखण्ड-दीप व अखण्ड-ज्योति से लाभ उठाएँ जो क्रमशः प्रत्यक्ष अग्नि व

लेखनी रूपी संजीवनी के रूप में उनके समक्ष प्रस्तुत है। तीर्थों का जो महत्त्व होता है, साधकों की तपस्थली-सिद्धपीठों का जो महत्त्व होता है, उससे कहीं अधिक महत्त्व ऐसी सिद्धज्योति का है जिसमें तिल-तिल कर एक साधक ने अपना जीवन होम किया व न केवल अपनी कुण्डलिनी जाग्रत की बल्कि विश्वात्मा की कुण्डलिनी जगाने हेतु सूक्ष्मीकृत-घनीभूत हो गया, जो अभी भी परोक्ष जगत में सक्रिय है।

बहुधा शान्तिकुंज पत्र आते हैं व मथुरा भी आते थे कि हमारे निमित्त इतनी संख्या का इतना जप करा दें, हम बदले में इतनी राशि भेज देंगे। लिखने वाले यह नहीं जानते कि जप-अनुष्ठान किराये पर संभव नहीं होते। यह तो पण्डे-पुजारियों का, धर्माडम्बर रचने वालों का खोला हुआ धंधा है, जिसका गुरुदेव ने जीवनभर उपहास किया, खण्डन किया। जप-तप स्वयं किया जाता है, हाँ! अनुष्ठान में कोई व्यवधान न आने पाए, कोई बाधक तत्त्व बीच में क्रम न तोड़ दे, इसका नियमित संरक्षण शांतिकुंज की ऋषिसत्ता करती रहेगी, यह आश्वासन उन्होंने सतत दिया। यह आश्वासन अभी भी है व आगे भी रहेगा कि कोई भी साधक स्वयं जप अपने यहाँ अथवा जहाँ कहीं भी करता है तो उसका संरक्षण, विपत्तियों का निवारण यहाँ की अलौकिक दिव्यसत्ता सदैव करती रहेगी। मूलभूत प्रसंग जो समझने का है, वह यह कि अपनी पवित्रता बढ़ाने पर, कषाय-कल्मषों के परिशोधन पर अधिक ध्यान दिया जाए तथा भावनात्मक परिष्कार को अधिक बाह्योपचार को कम महत्त्व दिया जाए। जप करते समय यदि मन गिनती में ही लगा रहा, यह तो ईश्वर से सौदेबाजी हो गई। भगवान के यहाँ- गायत्री माता के यहाँ ऐसा रजिस्टर नहीं है, जिसमें जप की गिनती लिखी जाती हो। वहाँ तो सद्भावनाओं का, परिष्कृत उच्चस्तरीय आकांक्षाओं का मूल्यांकन होता है व कभी भी कोई सिद्धि पाएगा तो उसी बलबूते, यह प्रतिपादन पूज्य गुरुदेव जीवन भर करते रहे।

गुरुदेव के सिद्धपक्ष पर चूँकि अब अनावरण का निर्देश मिल चुका है, प्रस्तुत पंक्तियों को लिखने का साहस किया जा रहा है। गुरुदेव के निकट सम्पर्क में रहने वाले इस तथ्य को भली-भाँति जानते थे कि वे एक शरीर में रहते हुए भी पाँच शरीरों जितना कार्य करते थे। भिन्न-भिन्न प्रकार के पाँच कार्यों का सम्पादन एक साथ कैसे होता था, है तो यह रहस्यमय प्रसंग, पर निकटवर्ती जानते हैं कि उन्होंने अस्सी वर्ष की आयु में आठ सौ वर्षों का जीवन जिया है। पाँच काम पाँच शरीर से कैसे होते थे, इसका थोड़ा खुलासा करें। पहले तो छह घंटे प्रतिदिन गायत्री माँ की उपासना जो आठ घण्टे शारीरिक श्रम व सात घण्टे मानसिक श्रम (चिन्तन, मनन, स्वाध्याय, लेखनी की साधना) के अतिरिक्त थी। यह सोचा जा सकता है कि २४ घण्टे में २१ घण्टे जब इसमें चले गए तो वे सोते कब थे। यही तो अलौकिक सिद्धि है, जो किसी भी नाम से पुकारी जा सकती है, पर उनके निकटवर्ती जानते हैं कि प्रात: १ बजे से उठकर जो उन्होंने कार्य आरंभ किया है तो उसे बिना विराम दिये सतत रात्रि १० बजे तक संपन्न किया है। यह संभव है तपोबल से अर्जित सामर्थ्य के सहारे।

दूसरा काम था एक हजार से अधिक परिजनों के पत्रों को जो नित्य आते थे, खोलना, पढ़ना व उन्हें २४ घण्टे के भीतर ही जवाब देना। यह भी इतना सटीक, आत्मीयता भरा कि सामने वाले को यह लगता था कि जो भी कुछ वह पूछना, जानना, मार्गदर्शन पाना चाहता था वह उसे मिल गया। पिता की आत्मीयता मिल गयी, स्नेह की पूर्ति हो गई। हरिद्वार आने पर भी यह काम उन्होंने सतत किया, पर सहायकों के माध्यम से वंदनीया माताजी का मार्गदर्शन १९७२ के बाद साधकों को पहुँचने लगा। पत्रों का वर्गीकरण स्वयं गुरुदेव करते थे, क्या जवाब किसको, किस प्रकार दिया जाना है, यह निर्धारण भी स्वयं करते थे। यह एक महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी वे वंदनीया माताजी व उनके सहायकों को सौंप गये हैं। परोक्ष मार्गदर्शन तो उनका है ही। उनके संगठन का मूलभूत आधार तो वे पत्र ही हैं, जो उन्होंने अगणित व्यक्तियों को लिखे, स्नेह के आधार पर जिन्हें उन्होंने अपना बना लिया।

तीसरा काम, जो एक काया से रहते हुए उन्होंने किया, वह था लेखन। अपनी वजन की तौल से दुगुना वे लिखकर चले गए हैं। नियमित रूप से ३ घण्टे पढ़ना व ४ घण्टे पत्रिका व किताबों के लिए लिखना। खाना छूट गया हो, पर उन्होंने कभी लिखने की नागा नहीं की। सतत स्वाध्याय द्वारा जो पढ़ा, दैवीसत्ता ने जो परोक्ष ज्ञान उन्हें दिया, उसे वे बहुमूल्य विचारों के रूप में, सशक्त संजीवनी के रूप में लिपिबद्ध करते गए। एक बात और ध्यान रखने योग्य है कि पढ़ने के बाद कभी संदर्भग्रन्थ सामने नहीं रखते थे। उनकी विलक्षण स्मृति थी। लगभग ढाई हजार पुस्तकों के रूप में, अनूदित भाष्यों के रूप में, स्वरचित प्रज्ञापुराण के रूप में इतना कुछ वे दे गए हैं व आने वाले दस वर्षों के लिए इतना कुछ लिखकर दे गये हैं कि अखण्ड-ज्योति सतत प्रकाशित होती रहेगी, सदा ज्वलन्त देदीप्यमान बनी रहेगी। भले ही लेखनी किसी की भी हो विचार उन्हीं की प्रेरणा से आयेंगे। गीता विश्व कोष के रूप में विशाल महाग्रन्थ की रूप-रेखा वे बना गए हैं, यह भी अगले दिनों उनका सूक्ष्म व कारण शरीर लिखवाएगा तथा १४ खण्ड प्रज्ञापुराण के भी।

चौथा काम था व्यक्तिगत सम्पर्क, शिक्षण एवं मार्गदर्शन-परामर्श। विश्राम कभी कुछ क्षणों का योगनिद्रा द्वारा किया हो तो ठीक है, नहीं तो अगणित व्यक्तियों से अपने अंतिम वर्षों के सूक्ष्मीकरण साधना के दिनों को छोड़कर नित्य वे मिलते ही रहे, उनमें प्राण फूँकते रहे, उनका मनोबल बढ़ाते रहे व दैनन्दिन जीवन-सम्बन्धी मार्गदर्शन, साधना-सम्बन्धी मार्गदर्शन तथा परिस्थितियों के अनुकूल कैसे मनःस्थिति बदली जाए यह वह बड़े ममत्व व लगन के साथ बताते थे। कार्यकर्त्ताओं के हृदय के सम्राट उन्हें कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी।

पाँचवाँ कार्य था मिशन की गतिविधियों के लिए सतत बाहर घूमते रहना व प्रचारकार्य को गति देना। प्रारंभ के कुछ वर्ष वे गाँधीजी के साबरमती आश्रम, वर्धा के सेवाग्राम, अरविन्द के पाण्डिचेरी आश्रम व कवीन्द्र रवीन्द्र के शांतिनिकेतन में रहे। श्री आडयार भी वे गए तथा एनीबेसेन्ट की बनारस की लायब्रेरी भी उन्होंने पढ़ डाली। इसके अतिरिक्त जहाँ-जहाँ कार्यकर्ता सुदूर क्षेत्र में रहते थे

मिशन के विस्तार हेतु उनके पास जाने का क्रम बनाया। रास्ते में यात्रा में लिखते भी थे, उपासनाक्रम भी चालू रखते थे। १९७१ की विदाई से १५ दिन पहले तक वे सतत घूमते रहे थे व एक-एक दिन में ३-४ स्थानों के कार्यक्रम उन्होंने निपटाये। न केवल सम्पन्न किए, वरन् जो मिलने आया उससे इतना समीप से मिले कि उसे लगा मुझसे अधिक उनका कोई और समीप नहीं है। १९८०-८१-८२ में शक्तिपीठों के शिलान्यास व फिर प्राण-प्रतिष्ठा हेतु निकले तो एक दिन में पाँच-पाँच कार्यक्रम सम्पन्न कराते चले गए।

किसी भी कसौटी पर परख लिया जाए, कोई संगति दिनों व क्षणों की बैठती नहीं कि कैसे यह कार्य सम्पन्न किया जाता होगा, पर महाकाल की शक्ति तो ऐसी ही प्रचण्ड होती है-- एक ही बार में वे पाँच जगह कैसे सक्रिय बने रहते थे, यह बात उनके कार्यकाल में उनके निकटवर्ती कार्यकर्त्ताओं ने कई बार पूछी, पर निर्देश न होने से समाधान यह दे दिया गया जो ऊपर पाँच शरीरों से किये जाने वाले काम के रूप में दिया गया है, पर यदि परिजन वास्तव में सिद्धपुरुष की सिद्धि सुनना, जानना चाहते हैं तो एक घटना सुन लें। मध्यप्रदेश (पश्चिम) के दौरे पर एक कार्यकर्ता उनके पीछे पड़ा कि गुरुदेव आप पाँच स्थान पर कैसे रहते हैं? उसकी जिद को पूरा करने व अपनी लीला दिखाने के लिए उन्होंने उसको उसी समय बिलासपुर का एक टेलीफोन नंबर दिया व कहा कि लाइटनिंग कॉल मिलाकर पूछो कि वहाँ क्या चल रहा है? जवाब मिला गुरुदेव का पूर्व से कार्यक्रम था। वे प्रवचन देकर आये हैं व उनके यहाँ भोजन कर रहे हैं। फोन उन सज्जन के हाथ से नीचे गिर गया व उन्होंने साष्टांग दण्डवत कर पूज्यवर से कहा- "अब कभी शंका नहीं करूँगा प्रभु।"

क्या कहेंगे आप इसे ? क्या यह भी मेस्मेरिज्म या हिप्नोटिज्म है। सिद्धपुरुषों की लीलाएँ निराली होती हैं। वे सशरीर थे, तब न जाने क्या रहस्यमय रच गए हैं, सूक्ष्मशरीर से तो परिजनों को अभी और अधिक अनुभूतियाँ होंगी।

## आत्मदेवता के साधक, सावित्री के सिद्ध उपासक

अपनी प्रचण्ड तपश्चर्या एवं गायत्री महाशक्ति की सुनियोजित उपासना कर वर्चस की सिद्धि करने वाले पूज्य गुरुदेव ने सदैव डंके की चोट पर यह कहा कि "जो भी उनके द्वारा निर्देशित साधना-उपक्रम को जीवन में अपनाएगा, वह सुनिश्चित ही प्रतिफल पाएगा। हमने गायत्री उपासना तथा पूजा-पद्धति लोगों को सिखाई है और साथ ही यह भी कहा है कि इनका पूरा लाभ उन्हीं को मिलेगा जो अपने व्यक्तित्व को पवित्र एवं उत्कृष्ट बनाने की साधना भी साथ ही करेगा।" आगे वे लिखते हैं कि "हमने प्रत्येक सहचर को शास्त्रों एवं ऋषियों का यही संदेश सुनाया है कि वे भी विश्व-मानव की सेवा को हमारी ही तरह जीवन का वैसा ही अंग बनाएँ, जैसा कि शरीरयात्रा के नित्यकर्म हेतु हम प्रयत्नशील रहते हैं। यही सच्चा अध्यात्म है।"

उपासना को सेवा-साधना से जोड़ने का उनका तरीका स्वयं में निराला था एवं अध्यात्म को सही प्रगतिशील दिशा देने वाला भी। लाखों व्यक्तियों को इस प्रकार उन्होंने अपनी ही मुक्ति, वैराग्य, समाधि वाले चिन्तन से विरत कर लोकसेवी बना दिया। यह एक क्रान्तिकारी स्तर का विचारक ही कर सकता था। धर्म के सम्बन्ध में जो भ्रान्तियाँ संव्याप्त हैं एवं जनोपदेशक जो भी कुछ कहकर उन्हें पोषण देते रहे हैं, उनसे जूझना व योद्धा की तरह संघर्षरत रहे, बिना विचलित हुए लक्ष्य सिद्धि तक पहुँच जाना उनके व्यक्तित्व के एक अनूठे पक्ष को प्रस्तुत करता है।

पिछले दिनों लिखे 'सावित्री महाविज्ञान' (अभी अप्रकाशित) ग्रन्थ में उन्होंने जो लिखा है, वह पूरे मानव समुदाय को एक चुनौती है। उसे उन्हीं की लिपि में यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

[illegible]

"गायत्री उपासना का प्रयोजन प्रमुखतया सद्बुद्धि का अवतरण है। वह ऋतम्भरा या महाप्रज्ञा कही जाती है।

उसका यही लाभ प्रमुख है। इस सन्दर्भ में हम जितना कुछ उपलब्ध कर सके हैं, वह गर्व करने योग्य तो नहीं, पर संतोषजनक अवश्य है। नवनिर्माण हमारे इस जीवन का प्रमुख उद्देश्य है। सज्जनों में ही सद्‌बुद्धि का अवतरण होता है। अपने सम्पर्क क्षेत्र में जितने भी लोग मिल सके, उनको इस मार्ग पर चलाया, घसीटा और धकेला भी है। उसका परिणाम भी लहलहाती फसल के रूप में दीखने लगा है और यह विश्वास बन गया है कि वर्तमान २४ लाख उपासक यदि अपने को बीज बनाकर बोने लगें तो हमारी ही तरह वे भी नयी फसल उगाने लगेंगे और युगसन्धि के आगामी वर्षों में यह विस्तारक्रम इतना व्यापक हो जाएगा कि सुसंस्कारी प्रकृति के लोगों में से कदाचित ही कुछ प्रतिशत ऐसे बचें जो आद्यशक्ति, युगशक्ति की गायत्री की तत्त्वचेतना से अनुप्राणित न हुए हों। अपने सहचरों, अनुचरों से हमें वैसा विश्वास भी है। यदि उनमें से कुछ शिथिल पड़ते दीखेंगे तो उन्हें झकझोरने की स्थिति में हमारी अदृश्य सत्ता यह शरीर उठ जाने के उपरान्त भी सक्षम रहेगी।''

कितना सुनिश्चित आश्वासन है व यह इलहाम भी कि संभव है शरीर के महाप्रयाण के बाद लोग प्रमादग्रस्त हो जाएँ तो सूक्ष्म व कारणशरीर के माध्यम से उन्हें सतत सक्रिय बनाते रहने का संकल्प भी वे प्रकट करते हैं।

अलौकिक दैवी सत्ताएँ, अवतारी महापुरुष इसी तरह अपना जीवन जीती अगणित व्यक्तियों के लिए प्रेरणा स्रोत बनकर अपना धरती पर अवतरण सार्थक कर जाती हैं। गुरुदेव कहा करते थे कि पाने लायक जो कुछ भी इस संसार में है, उसे आत्मदेव को जगाकर सहज ही पाया जा सकता है। उनका मत था कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति को समझना और उनका सदुपयोग कर सकना ऐसा प्रयोग है जिसके द्वारा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों को जगाया जा सकता है और उनके सहारे समर्थ सिद्धपुरुषों जैसा लाभ उठाया जा सकता है। वे यह भी कहते थे कि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और प्राण की पंचधा सूक्ष्म काया स्थूलशरीर से असंख्य गुनी सामर्थ्यवान है। (अखण्ड-ज्योति नवम्बर, १९७१, पृष्ठ ५४)

गायत्री की व्याख्या प्राणों की रक्षा करने वाली महाशक्ति('गय यानि प्राण का जो त्राण करे वह 'गायत्री') के रूप में भी की जाती है। पूज्य गुरुदेव ने पंचकोशों की तो सिद्धि अर्जित की ही, प्राणशक्ति को प्रबल और संकल्प को अडिग बनाकर स्वयं को अजर, अमर, मृत्युंजय बना लिया। इन्द्रियों से वे परिचारिकाओं जैसा काम लेते रहे, कभी उच्छृंखल नहीं होने दिया। स्वादेन्द्रियों की पवित्रता हेतु जौ व छाछ का सेवन तथा वाक् पवित्रता अर्जित करने हेतु सत्य का प्रयोग जीवन भर किया। निष्पाप व निर्मल जिह्वा पर साक्षात सरस्वती विराजमान रहती थीं। यही कारण था कि उनके आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं गए, न कभी परामर्श टाले गए, जिससे बात की उसे अपना बना लिया। जो कुछ भी सारगर्भित प्रवचनों में कहा लोगों के अन्तःकरण में उतरता चला गया।

यही बात घ्राणेन्द्रियों, चक्षुन्द्रियों, कर्णेन्द्रियों तथा कामबीज रूपी त्वकइन्द्रिय के सम्बन्ध में समझी जा सकती है। सर्वत्र उन्होंने सद्‌भावना व श्रेष्ठता की ही गंध सूँघी, आँखों से श्रेय ही देखा, कानों से दिव्य प्रयोजन के वचन ही सुने- कटुकर्कश वचनों को भुला दिया तथा ब्रह्मचर्य की साधना द्वारा उर्ध्वरेता बन अपनी कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत किया। यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जिस व्यक्ति ने मातृवत श्रद्धा के साथ सिद्ध कर लीं, उसके पास कोई कमी रह कैसे सकती है? पंचदेवों को भी उन्होंने इन्द्रियों की तरह सँभाला। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व प्राण सभी देवों की आराधना कर उन्हें परिष्कृति की ओर ही नियोजित किया।

गायत्री के पाँच मुख पंचकोश कहलाते हैं। यही सावित्री का स्वरूप है। दस भुजाओं का आलंकारिक विवरण आता है। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच मनस तत्त्व से सम्बन्धित देवता ही हैं, जो मिलकर महाशक्ति की दस भुजाएँ बनाते हैं। इस प्रकार पूज्य गुरुदेव ने पंचकोशों की सिद्धि व दस देवताओं को आत्मसात कर स्वयं को गायत्रीमय बना लिया था। गायत्रीमय स्वयं को ही नहीं अपितु अगणित व्यक्तियों को इस दिशा में मोड़ा व सद्‌बुद्धि की अवधारणा द्वारा देवत्व का अभिसंचार भी किया। यही तो है नूतन सृष्टि का सृजन।

यहाँ एक पक्ष विचारणीय है कि क्या उनकी जगह और कोई व्यक्ति होता तो वह मूढ़-मान्यताओं से ग्रसित इस देश में जहाँ ऊँच-नीच, जाति-पाँति, लिंग-भेद जैसी कितनी ही बुराइयाँ संव्याप्त हैं, इस स्तर का मोर्चा चलाता? सबसे गायत्री उपासना भी करवा लेता तथा यज्ञ में बैठाकर आहुतियाँ भी डलवा लेता? संभवतः नहीं। अछूत व स्त्री कैसे गायत्री का प्रयोग कर सकते हैं, यह भ्रान्ति जिस राष्ट्र में रोम-रोम में संव्याप्त हो, वहाँ यह क्रान्तिकारी कदम सारे खतरे मोल लेते हुए उठाना, एक अवतारीसत्ता का ही काम हो सकता था। संभवतः इसी काम के लिए, आमूलचूल परिवर्तन के लिए, तथाकथित बुद्धिवादियों व अनास्था बढ़ाने वाले कर्मकाण्डियों से मोर्चा लेते हेतु यह कालजयी जन्मा था। आजीवन वे अनाचार से, अविवेकपूर्ण प्रचलनों से, दुर्बुद्धि भरे कुतर्की प्रतिपादनों से मोर्चा लेते रहे, न जाने कितने घाव व चोटें खायीं पर राणा साँगा की तरह मोर्चे पर डटे रहे, यह शक्ति उन्हें कहाँ से मिली? संदेह नहीं कि माँ गायत्री ही स्वयं अपने पुत्र का संरक्षण कर रही थी व अंततः उसने गायत्री जयंती के पावन दिन अपने पुत्र को गोद में लेकर स्थूल शरीर के बंधन से मुक्त कर और सूक्ष्म, सघन, वायुभूत बनाकर अपना विश्वमाता वाला स्वरूप उजागर कर दिया कि सारे विश्व की कुण्डलिनी को जगाने व नवयुग लाने हेतु अब उस सिद्धपुरुष का पुरुषार्थ नियोजित होना है। जीवन- वृत्तान्त के इन प्रसंगों लिपिबद्ध उनके विचारों व साधना की सिद्धि के अलौकिक घटनाक्रमों से भी बढ़कर किसी को क्या कोई और प्रमाण चाहिए?

# दिव्य गुरुसत्ता के अनुपम अनुदान

आग का स्वभाव है गर्मी देना और रोशनी पैदा करना। जो वस्तु उसके निकट आती है वह परिस्थिति के अनुरूप सम्पर्क के कारण जलने लगती है। आग बुझ जाए तो ईंधन कितना ही क्यों न हो, ज्वलन जैसा उपक्रम दीख नहीं पड़ता। लकड़ी गीलेपन समेत जलायी जाए तो उसमें से धुँधला धुआँ भर निकलता रहेगा, आग नहीं लगेगी, न ही ईंधन जलते अंगारे की तरह प्रदीप्त हो सकेगा।

आग यदि डायनामाइट के सम्पर्क में आये तो पहाड़ की चट्टानों को क्षण मात्र में उड़ा देती है। मुर्दा जब आग के सम्पर्क में आता है तो चारों ओर की परिधि विषैले धुएँ से भर जाती है। इसके विपरीत यदि चन्दन या कपूर का अग्नि से स्पर्श कराया जाए तो मन को अच्छी लगने वाली सुगंधि उठती है। आग के अपने गुण हैं, ईंधन के अपने। पर पदार्थों और परिस्थितियों के अनुरूप उस ज्वलनशीलता में, सुगंधि व रोशनी, ध्वनि जैसी प्रतिक्रिया में असाधारण स्तर का अन्तर पाया जाता है।

परब्रह्म की परोक्षसत्ता को आग एवं व्यष्टिगत चेतना को ईंधन स्तर का माना जा सकता है। दोनों का सम्पर्क जब अनुकूल परिस्थितियों में होता है, तो चेतना प्रखर-परिमार्जित होने लगती है एवं व्यक्ति का स्तर सामान्य से उठकर असामान्य देवमानव स्तर का हो जाता है। यों ऊँचा उठने की अभीप्सा व प्रगति के स्फुल्लिंग सभी में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं, पर इसकी विशेष मात्रा योगियों और तपस्वीगणों में अपनी पूर्व जन्मों की अर्जित सुसंस्कारिता के बलबूते पायी जाती है। थोड़ा-सा भी अतिरिक्त प्रयास करने पर दोनों व्यष्टि व समष्टि, प्रत्यक्ष व परोक्ष, भक्त व भगवान के बीच घनिष्टता भी उत्पन्न हो जाती है तथा परस्पर आदान-प्रदान का क्रम भी चल पड़ता है।

जैसे मनुष्यों की अपनी-अपनी इच्छाएँ होती हैं, परब्रह्मसत्ता की भी समय-समय पर अपनी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ एवं योजनाएँ उभरती हैं। सृष्टि का संतुलन बनाये रखना ही उसका प्रधान लक्ष्य होता है। समष्टिगत विराट सत्ता का कोई आकार तो हो ही नहीं सकता, अंग-अवयव भी नहीं होते, उपकरणों से भी वह सिद्धि नहीं हो सकती। अतः दृश्यमान क्रिया-प्रक्रिया बनाने के लिए उसे भी मनुष्य शरीर का आश्रय लेना पड़ता है। इस विशाल विश्व में मात्र मनुष्य शरीर ही एक ऐसा है जो दैवी चेतना के अनुरूप कोई क्रिया-प्रक्रिया कर सकने में समर्थ है। मात्र मानवी काया व चेतना ही स्थूल व सूक्ष्मजगत का संचालन करने वाली परब्रह्म सत्ता की किसी इच्छा या अपेक्षा में योगदान दे सकती है, उसकी इच्छानुसार कुछ निर्माण या परिवर्तन कर सकने में समर्थ हो सकती है।

इस स्तर के मनुष्य जिन्हें दैवी सत्ता चुनती है, देवात्मा कहलाते हैं। इनमें मानवी-संरचना का समावेश तो होता ही है, इसके अतिरिक्त परब्रह्म की आशा, अपेक्षा एवं योजना के अनुरूप आवश्यक प्रयोजन पूरा करने में भी वे समर्थ होते हैं। इनमें भी उच्चकोटि के विलक्षण क्षमता सम्पन्न मनुष्यों को देवमानव, दिव्यमानव, सिद्धपुरुष, अवतार, देवदूत, पैगम्बर नामों से पुकारा जाता है। परोक्ष जगत में सक्रिय दैवी सत्ताएँ ईश्वरीय इच्छाओं की पूर्ति के लिए ऐसे ही देवमानवों के शरीर व मानस का प्रयोग करती हैं व उनके माध्यम से युगपरिवर्तन का प्राकट्य कर विश्व-वसुधा को धन्य कर देती हैं।

उपर्युक्त प्रसंग जिस संदर्भ में चल रहा है, उसे परिजन भली-भाँति समझ रहे होंगे। परोक्ष जगत से उभरी प्रेरणा पूज्य गुरुदेव की मार्गदर्शक सत्ता के रूप में प्रकट हुई व उसने संस्कारवान देवात्मा के रूप में उचित शरीर व मन, उदात्त अंतःकरण वाले शिष्य का चयन कर लिया ताकि बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध व इक्कीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध नवसृजन की आधारभूत पृष्ठभूमि बना सके। परमसत्ता ने अपने सामयिक अभीष्ट प्रयोजन सदैव इसी प्रकार पूरे किये हैं। जब मानव की सृष्टि नहीं हुई थी तब यह कार्य मत्स्य, कच्छप आदि अवतारों ने किया, फिर बाद में विकासक्रम की पूर्णता प्राप्त होने पर श्रीराम, कृष्ण, बुद्ध जैसे व्यक्तियों द्वारा ही अवतार प्रकरण पूरे किए हैं। अवतारों की तरह ही ऋषिसत्ताएँ भी यही प्रयोजन पूरा करती हैं। पृथ्वी पर सतयुगी वातावरण, सृष्टिसंतुलन स्थापित करने के अनेकानेक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन ऋषिस्तर के समर्थ व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न होते रहे हैं।

समय-समय पर दैवी चेतना आत्मिक प्रगति के पथ पर चलने के जिज्ञासुओं को विश्व-हितार्थाय जीवन जीने हेतु प्रेरणा देने के लिए, उनसे कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य कराने के लिए ऋषियों को, श्रेष्ठ व्यक्तियों को मार्गदर्शक या माध्यम बनाकर अपना कार्य करती रही है। गुरु-शिष्य परम्परा के ऐसे ढेरों उदाहरण हैं, जिनमें गुरु ने शिष्य की तलाश की, क्योंकि वह सुपात्र था तथा उसे समुचित आध्यात्मिक सम्बल व पूँजी देकर उससे वह कार्य करा लिया। शिष्य तो निमित्त मात्र होता है, किन्तु चूँकि मार्गदर्शक सत्ता को समर्पित मन वाले पुरुषार्थ की नरतनधारी के रूप में आवश्यकता पड़ती ही है, उसका चयन भी उच्चस्तरीय निर्धारण के बाद ही होता है एवं फिर वह कठपुतली की तरह वह सब कुछ करता चला जाता है, जो पर्दे के पीछे से बाजीगर की अँगुलियाँ कराती हैं। जब शिष्य प्रामाणिकता की कसौटी पर खरा उतरने लगता है तो उसी आधार पर क्रमशः उसे अधिकाधिक बड़े अनुदान मिलते चले जाते हैं। वरदान जिसे भी मिले हैं, दैवी अनुग्रह जिसे भी प्राप्त हुआ है, तप करने, अपनी पात्रता सिद्ध करने के उपरान्त ही मिले हैं।

सामान्यतया लोगों की दृष्टि बड़ी संकीर्ण होती है। जब भी वे किसी को लौकिक दृष्टि से घाटे में जाते व कड़ी तपश्चर्या में नियोजित होते देखते हैं तो परिवारीजनों से लेकर शुभचिंतकों व अन्यान्य व्यक्तियों को पहली दृष्टि में यह एक सनक, समय की बरबादी, मूर्खता ही जान पड़ती

एक विशिष्ट समय पर आते हैं एवं अपनी इस अनवरत यात्रा में अगणित को सखा-सहचर बना उनसे अपौरुषेय पुरुषार्थ संपन्न करा के सतयुगी संभावनाएँ साकार करते हुए आगे की ओर चल देते हैं।

अवतार शब्द का जिस प्रयोजन से प्रयोग होता है उससे भावार्थ निकलता है- महाचेतना का अवतरण। निष्कलंक प्रज्ञावतार के रूप में अपनी दुर्बुद्धि से अपने ही महाविनाश में जुटी मानव जाति को सद्बुद्धि की ओर मोड़ देने का काम जिस महाशक्ति ने करने का संकल्प लेकर आज से अस्सी वर्ष पूर्व जन्म लिया, उसके व्यक्तित्व पर लेखनी उठाना एक प्रकार का दुस्साहस है। संभवतः उस बहुमुखी विराट प्राणवान महापुरुष के साथ यह समुचित न्याय भी नहीं कर पायेगी, पर उसी शक्ति ने यदि यह शक्ति, सम्बल व प्रेरणा दी हो एवं लिखने का निर्देश भी दिया हो, तो एक अकिंचन प्रयास अपनी ओर से किया तो जा ही सकता है। यदि यह प्रकाश अनेक व्यक्तियों में अध्यात्मपरायण, ब्रह्मवर्चस् प्रधान जीवन जीने की उमंगें जगा दे, उन्हें देवमानव बन लोकहितार्थाय जीवन जीने की प्रेरणा देने का शुभारंभ कर दे तो उनके चरणों में चढ़ाई जा रही यह श्रद्धांजलि कुछ अंशों में सार्थक मानी जा सकेगी।

जीवन जीने को यों तो अनेक जीते ही हैं, नाम भी कमाते हैं, पर यश व कीर्ति उनकी ही अमर होती है, जो पिछड़ों को बढ़ाने, गिरों को उठाने, पीड़ितों का कष्ट मिटाने हेतु तिल-तिलकर अपना जीवन होम कर देते हैं, अपना सर्वस्व समर्पित कर देहयज्ञ, जीवनयज्ञ एवं समाजयज्ञ के माध्यम से विश्ववसुधा के लिए इतना कुछ कर जाते हैं जिसे कभी भुलाया न जा सके। स्वयं को ऊँचा उठाना, आत्मबल विकसित कर मुक्ति का पथ प्रशस्त करना तो सरल है पर विश्व-मानवता के लिए उस द्वार को खोल देना अत्यन्त कठिन है। ऐसे व्यक्ति न समाधि की इच्छा करते हैं, न स्वर्ग की, न मोक्ष की। वे तो महात्मा बुद्ध की तरह यही उद्घोष करते रहते हैं कि जब तक एक भी व्यक्ति इस वसुधा पर बंधनों से जकड़ा है, मैं अपनी मुक्ति नहीं चाहूँगा। ऐसे देवमानवों को ही पैगम्बर, देवदूत, अवतार की संज्ञा दी जाती है एवं वे कई सहस्राब्दियों में विरले, कभी एक बार जन्म लेते हैं जो स्वयं को व युग को धन्य बना देते हैं। ''आत्मवत् सर्वभूतेषु'' जीवन जीने वाले ये महापुरुष दीखने में तो साधारण व्यक्तियों के रूप में ही होते हैं, परन्तु उनके जीवन का हर क्षण विश्वमानव के उत्थान हेतु समर्पित होता है, इसीलिए वे हर पल का सदुपयोग करते हुए 'काल' को भी अपनी पाटी से बाँध कर स्वयं 'महाकाल' रूप धारण कर युगसृजन के श्रेयाधिकारी बनते हैं व अपने साथ चलने वालों को निहाल कर जाते हैं। ऐसे ही महाप्राज्ञ युगपुरुष थे- हमारे गुरुदेव।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पाँच दशकों एवं बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के कुछ दशकों का इतिहास देखें तो जानकारी मिलती है कि विश्वभर में व्यापक परिवर्तन लाने वाले व्यक्ति इसी अवधि में जन्मे हैं। विश्ववंद्य महात्मा गाँधी, साम्यवाद को कार्य रूप देने वाले ब्लादीमिर लेनिन, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, मौन तपस्वी महर्षि रमण, योगीराज अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, भगिनी निवेदिता, महाप्राज्ञ वैज्ञानिक आइन्सटीन, संत विनोबा, विशाल संगठन के जन्मदाता हेडगेवार, द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से जूझने वाले सर विंस्टन चर्चिल, विश्वशांति के प्रतिष्ठाता रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरतचन्द्र चटर्जी, चिकित्सा विज्ञान में नई क्रांति लाने वाले एलेक्जेन्डर फ्लेमिंग, लौहपुरुष सरदार पटेल व पं. नेहरू, भारत के वैज्ञानिकद्वय जगदीश चन्द्र वसु एवं सी. वी. रमन, हुतात्मा चन्द्रशेखर आजाद एवं भगतसिंह, अमर शहीद सुभाष चन्द्र बोस, दार्शनिक काण्ट एवं मैक्समूलर तथा विज्ञान के क्षेत्र में उड़ान द्वारा नयी क्रांति लाने वाले राइट बन्धु सभी इसी अवधि में जन्मे, यही उनका कार्यकाल रहा। यह सूची तो अत्यन्त संक्षिप्त है व इंगित मात्र करती है महाकाल की उस रीति-नीति को, जिसके अन्तर्गत अगणित चेतना सम्पन्न व्यक्ति एक साथ एक शताब्दी में किस प्रकार स्थान-स्थान पर अवतरित होते हैं। यहाँ इस प्रसंग को लाना इसलिए आवश्यक समझा।

पूज्य गुरुदेव आचार्य पं. श्रीराम शर्मा का जन्म भी इसी शृंखला में था, जिन्होंने समस्त प्रतिकूलताओं के बीच अपनी लेखनी, वाणी व ममत्व की त्रिवेणी बहाते हुए सारे कचरे को, दुष्प्रवृत्तियों के समुच्चय को महासागर में बहाते हुए देवमानवों के एक समुदाय को गठित कर दिया इस समुदाय ने 'गायत्री परिवार' का नाम ग्रहण किया एवं कालान्तर में 'युगनिर्माण योजना' को जन्म दिया। यह एक महत्त्वपूर्ण स्थापना थी, क्योंकि वे इस विशाल परिवार के अभिभावक थे, कुलपति थे, संस्थापक-संरक्षक सब कुछ थे। अगणित व्यक्ति अपने समय, ज्ञान, उपार्जन, विभूतियों की श्रद्धांजलियाँ उनके चरणों में चढ़ाते हुए उनके अंग-अवयव, सखा-सहचर बनते चले गए। अपनी चौबीस वर्ष की चौबीस लक्ष की महापुरश्चरण साधना के समापन पर जो पूर्णाहुति का प्रसाद माँ गायत्री ने उन्हें प्रदान किया था, वह था लाखों व्यक्तियों का उनके प्रति निश्छल प्यार, निष्काम समर्पण।

विराट जन-मेदिनी का प्रवाह जब उस पुण्य-तोया भागीरथी में समाहित हुआ तो स्वतः एक पवित्र ब्रह्म सरोवर में बदलते हुए महासागर बनता चला गया। संगठन तो राजनैतिक भी होते हैं, सामाजिक भी, जातीय भी तथा शोषकों के भी। किन्तु धर्म की रक्षा एवं संस्थापना संघशक्ति के जागरण से किस प्रकार हो सकती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण गुरुदेव आचार्य पं. श्रीराम शर्मा जी ने दिया जिन्होंने केन्द्रीय प्रवाह से गोमुख-गंगोत्री से जुड़ने की जन-सामान्य के लिए एक ही शर्त रखी- अपने आप पर नियंत्रण, सादगी भरा जीवन तथा लोक-मंगल के लिए सत्प्रवृत्ति-सम्वर्द्धन के लिए अपनी आजीविका एवं समय-सम्पदा का एक अंश समर्पित करना। जो उनके विचारों से

जुड़ता गया, वह बदलता चला गया। स्वयं गुरुदेव परोक्ष रूप से उसकी चेतना का मार्गदर्शन करने लगे। उसने भी समर्पण के बदले में दिव्य अनुभूतियों का रसास्वादन अपने जीवन में किया।

पूरे गायत्री परिवार के लाखों सदस्यों के प्रथम नाम से लेकर पारिवारिक जानकारी विस्तार से होना तथा मिलने पर तुरन्त याद कर सारी चर्चा कर अपना स्नेह उस पर उँड़ेल देना, एक चमत्कारी व्यक्तित्त्व सम्पन्न महापुरुष के ही बस का था। उनका आभामण्डल, हँसता-मुसकराता, खिल-खिलाता चेहरा बरबस हर किसी को उनका अपना अंतरंग बना लेता था। संभवतः यही कारण था कि बहुमुखी जीवन जीने वाले इस युगपुरुष ने विरासत में सबसे बहुमूल्य निधि अपने प्रति, अपने कार्यों के प्रति समर्पित कार्यकर्त्ताओं की मणि-मुक्तकों में पिरोई माला के रूप में छोड़ी है, जो मात्र महाकाल के गले का ही शृंगार बनने योग्य है। जिसका मुकाबला करोड़ों-अरबों की धनराशि से नहीं किया जा सकता, जो एक अति-बहुमूल्य थाती है, जिसे वंदनीया माताजी के माध्यम से वैसा ही स्नेह-दुलार मिलते रहने का आश्वासन वे दे गये थे।

पूज्य गुरुदेव के अस्सी वर्ष के जीवन के प्रत्येक पल का यदि लेखा-जोखा लिया जाए तो ग्रंथों का एक विशाल पर्वत खड़ा किया जा सकता है। लेखनी व कागज उनके व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व को अपनी सीमा में बाँध नहीं सकते, क्योंकि ऐसे बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी युगपुरुष को, जिसे निष्कलंक प्रज्ञावतार की गिनती में ही गिना जा सकता है, कोई साधारण व्यक्ति लिपिबद्ध नहीं कर सकता। प्रस्तुत ग्रन्थ में यह प्रयास किया गया है कि पूज्य गुरुदेव के जीवन के हर पक्ष की झाँकी, जन-जन को जो उनसे उनकी जीवनकाल में जुड़े अथवा विचारों के मनन के माध्यम से उनका परिचय पा सके अथवा प्रसुप्त सुसंस्कारिता के बीजांकुर जिनमें विद्यमान हैं व भविष्य में जिनकी उस विराट नवयुग अभियान में जुड़ने की संभावना है, सभी को परिलक्षित हो।

# प्रज्ञावतार के लीलासंदोह में भागीदारी का यह अंतिम अवसर

भगवान की बनायी इस सृष्टि की सुव्यवस्था, सौन्दर्य एवं कलाकारिता, पतन और उत्थान के, ध्वंस व सृजन के दोनों ही पक्ष दिखाई देते हुए भी यहाँ सृजन व उत्थान प्रमुख हैं। ऋतुओं के प्रभाव पशु-पक्षी, कृमि-कीटकों को अपनी नष्ट करने की प्रक्रिया चलती रहने के बावजूद यहाँ एक सत्य अटल है कि इसके बाद पुष्पों की शोभा, फल-सम्पदा व हरीतिमा का वैभव दिखाई पड़ेगा, वह अधिक समय तक रहेगा। उत्पादन का क्रम चलता रहे, इसके लिए अनिवार्य है कि दोनों ही क्रम नष्ट होने व बनने के यथाविधि सतत चलते रहें। सूर्य का उदय, अस्त होना, प्राणियों का जन्म लेना व फिर मृत्यु को प्राप्त होना इन तथ्यों की साक्षी देते हैं।

प्रगतिक्रम के इस इतिहास को देखते हुए जिसमें पतन और पराभव के तत्त्व भी अपना काम करते हैं तथा उत्थान व ऊर्ध्वगति की प्रक्रियाएँ भी साथ चलती रहती हैं, मनुष्य को कभी कोई परिस्थितिविशेष को देखकर, कभी निराश नहीं होना चाहिए। पहिए नीचे जाते व फिर ऊपर उठते हैं। अभी जन्म लिया शिशु क्रमशः शैशव, कैशोर्य, यौवन पूर्ण कर जरा को प्राप्त कर मरण को प्राप्त होगा, किंतु उसी दिन से नवजीवन की भूमिका भी आरम्भ हो जाती है। निराशा की सघन अँधियारी रात्रि को प्रत्यक्ष देखते हुए भी ऊषा की लालिमा द्वारा नवीन अरुणोदय का आश्वासन हर आस्थावान को उपलब्ध हो सकता है।

विश्व के इतिहास में संकट की घड़ियाँ अनेकानेक बार आई हैं, जब लगा है कि कहीं सर्वनाश होकर तो नहीं रहेगा? किंतु स्रष्टा का हर समय आश्वासन रहा है कि अपनी इस अद्‌भुत कलाकृति को विश्व-वसुन्धरा व श्रेष्ठतम संरचना, मानवी-सत्ता को वह कभी नष्ट नहीं होने देगा। परिस्थितियों को उलटकर स्रष्टा द्वारा चमत्कार दिखाना ही, अवतार की प्रकटीकरण क्रिया कहलाती है। कुछ ऐसा ही इन दिनों भी होने जा रहा है, जब हम चारों ओर निराशा भरी परिस्थितियाँ देखते व अनैतिकता, पतन-पराभव के उपक्रम को बढ़ते देखकर अपनी आस्था को क्रमशः ईश्वर पर डगमगाते पाते हैं। आज का समय असामान्य स्तर की विपन्नता का समय है। ऐसे में हर प्रज्ञावान को विश्वास रखना चाहिए कि अगले ५-१० वर्षों में जो कुछ होने जा रहा है वह असाधारण है।

इन दिनों जन-जीवन में सृजन की चेतना को उच्चस्तरीय बनाये रखने के लिए धर्मतंत्र अध्यात्म तत्त्वदर्शन पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ गयी है। वह है- भावनात्मक पृष्ठभूमि खड़ी कर जनश्रद्धा का सृजनात्मक सुनियोजन। अकर्मण्यता की स्थिति से निकल कर आस्तिकता का घर-घर बीजारोपण। प्रखरता भरा पराक्रम दिखाकर निकृष्टता को निरस्त करने के निमित्त अपने शौर्य-साहस का परिचय देना। यह एक जाना-माना तथ्य है कि सृजन के तत्त्व जब भी दुर्बल पड़ेंगे, आत्मिक क्षेत्र में अज्ञान और भौतिक क्षेत्र में दरिद्रता की विभीषिकाएँ जोर मारने लगेंगी, पूरा प्रयास करेंगी कि उनके इस उपक्रम से ध्वंस का सरंजाम जुटने लगे। ऐसी ही परिस्थितियों में पतन से मोर्चा लेने वाली प्रखरता भी अपनी वरिष्ठता भुलाकर ललक-लिप्सा, वासना-तृष्णा के गर्त में गिरने लगती है। निकृष्टता को खुला क्षेत्र मिल जाता है, अपनी विनाशलीला दिखाने के लिए। आज का समय कुछ ऐसा ही है, जिसमें सृजन की शिथिलता और विनाश की स्वच्छन्दता का असंतुलित रूप ही साम्प्रदायिक विग्रह, जातिगत विद्वेषों, भ्रष्ट-आचरणों, गिरते नैतिक मूल्यों, राजतंत्र व समाज-तंत्र के अग्रणी नेतागणों के आदर्शों की दृष्टि से पतन, पारस्परिक संघर्षों एवं अंततः आस्थासंकट की विभीषिका के रूप में दिखाई दे रहा है। देवतत्त्वों के दुर्बल पड़ने और दैत्यों के स्वच्छन्द घूमते रहने, सम्मान

पाते दीखने पर यह असमंजस स्वाभाविक है कि अब इस धरित्री का क्या होगा?

हम सब बड़े सौभाग्यशाली हैं कि हम देवभूमि भारतवर्ष में जन्मे। यद्यपि हमने १५०० वर्षों से अधिक का अंधकार युग देखा है फिर भी हमारी सांस्कृतिक धरोहर अपने मूल बीज रूप में कहीं न कहीं मत्स्यावतार के सुरक्षित रखे गये बीज की तरह विद्यमान है, गायत्री और यज्ञ रूपी तत्त्वदर्शन की अमूल्य निधि पारस की तरह हमारे पास है और अभी भी हमने उम्मीद छोड़ी नहीं है। यह अच्छा चिह्न है। जितने महापुरुष भारतभूमि पर विगत छह सौ वर्षों में कबीर के जन्म से लेकर अब तक जन्मे हैं, उतने संभवत: पहले कभी भी एक साथ, एक शृंखला में नहीं जन्मे। किन्हीं ने भक्ति की धारा बहाई, किन्हीं ने सुधारवादी आंदोलनों की, किन्हीं ने कर्मयोग द्वारा पुरुषार्थ परायणता की, किन्हीं ने पराक्रमी जीवनक्रम अपनाकर, अपनी दीन दुर्बलता मिटाने की बात कही तथा किन्हीं ने एकाकी तप-साधना कर सूक्ष्म जगत को प्रचण्ड ऊर्जा से अनुप्राणित करने की। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य इसी धारा में इस सदी के प्रथम दशक में भारत भूमि के उत्तर क्षेत्र में आगरा जनपद के आँवलखेड़ा गाँव में जन्मे महासाधक युगऋषि बनते हुए गायत्री की ज्ञानगंगा का अवतरण करने वाले भागीरथी, पुरुषार्थ को सम्पन्न कर करोड़ों व्यक्तियों में आशा का संचार करने वाले एक प्रकाशपुंज बनते चले गए।

गायत्री महाशक्ति जो लुप्तप्राय सी हो गयी थी, सम्भवत: कट्टरवाद के कारण मात्र पुरुषों, वह भी ब्राह्मण वर्ण तक सीमित होकर रह जाती, युगऋषि पूज्यपाद गुरुदेव के सत्पुरुषार्थ से घर-घर पहुँच गयी । करोड़ों व्यक्ति अब गायत्री उपासना में निरत हो सत्चिंतन करते दिखाई देते हैं। यही गायत्री महाशक्ति निराकार रूप में लोगों के चिंतन को, मन:स्थिति को परिष्कृत कर उन्हें आमूलचूल बदलने के लिए धरती पर अवतरित हुई है व ज्ञानगंगा को इस तरह लाने का भागीरथी पुरुषार्थ करने का श्रेय जाता है उस सत्ता को जिसने लघु से विराट बन एक विश्वव्यापी गायत्री परिवार की स्थापना कर डाली, लाखों सद्गृहस्थ पैदा कर दिए व संस्कारों के बीजारोपण की प्रक्रिया आरम्भ करवा दी।

गायत्री के चौबीस अक्षरों में से प्रत्येक को एक कला किरण माना जा सकता है। इन दिव्य-धाराओं में बीज रूप में वह सब कुछ विद्यमान है, जो मानवी गरिमा को स्थिर एवं समुन्नत बनाने के लिए अनिवार्य है। सूर्य जो गायत्री का देवता है, के सप्तमुख, सप्तअश्व, सप्तआयुध, सप्तरश्मियाँ प्रसिद्ध हैं, परन्तु सविता की, प्राणशक्ति गायत्री की शक्तिधाराएँ इससे अधिक हैं। गायत्री के चौबीस अक्षरों में साधनापरक सिद्धियाँ और व्यक्तित्वपरक ऋद्धियाँ अनेकानेक हैं। उनका वर्गीकरण चौबीस भागों में करने से विस्तार को समझने में सुविधा होती है। अंतरंग के परिष्कार और साधन-सुविधाओं के विस्तार यह दोनों ही तथ्य मिलने पर मनुष्य में देवत्व के उदय और समाज में स्वर्णिम परिस्थितियों के विस्तरण की सम्भावनाएँ प्रशस्त होने लगती हैं। प्रज्ञावतार का कार्यक्षेत्र यही है। वह व्यक्ति नहीं शक्ति के रूप में प्रकट हुआ है। जिस व्यक्ति में इस प्रज्ञातत्व की मात्रा जितनी अधिक प्रकट होगी, उसकी गिनती युगप्रजेताओं के अवतारी लीला-सहचरों में हो सकेगी।

निराकार सत्ता कैसे युगपरिवर्तन का सरंजाम जुटाती है, इसे जन-समुदाय आने वाले दिनों में प्रत्यक्ष देख सकेगा। यह निराकार चेतनसत्ता का ही चमत्कार है कि आज के आस्थासंकट की इस वेला में लाखों व्यक्ति अपना संस्कारों की दृष्टि से गया-गुजरा अशांति-उद्विग्नता, लौकिक आकर्षणों, प्रलोभनों से भरा जीवनक्रम छोड़कर सत्चिंतन के प्रवाह में जुड़ने चले आ रहे हैं। अब तक के छब्बीस अश्वमेध इसके प्रमाण हैं। लाखों व्यक्तियों की दुष्प्रवृत्तियाँ छूट गयीं, दुर्व्यसनों को त्यागकर देवत्व से जुड़ने को प्राय: छह से दस करोड़ व्यक्ति संकल्पित होते चले गए। श्रेष्ठ संकल्प लेते हुए उन्होंने अपना जीवनक्रम बदलकर संस्कारों को अपने जीवन में स्थान देना आज का युगधर्म माना और यही सतयुग की आधारशिला बनता चला जा रहा है। कोई विश्वास करे न करे, किंतु जब आगामी दस वर्षों में हुए ऐतिहासिक परिवर्तनों का इतिहास लिखा जाएगा, तब सबको वास्तविकता समझ में आएगी कि अभी जो कुछ लिखा जा रहा है, उसके पीछे चेतना का कौन-सा प्रवाह कार्य कर रहा था।

□□□

# जीवन के स्फुट प्रेरक-प्रसंग

* सन् १९६६ में एक कार्यक्रम में गुरुदेव प्रवास पर थे। कार्यक्रम के आयोजकों ने उन्हें अपने घर ठहराया। उनके आने की खबर सुनकर आस-पास के बहुत लोग आ जुटे थे। इसी सिलसिले में पड़ोस की एक नवविवाहित लड़की आयी। वेश-विन्यास की तड़क-भड़क के अतिरिक्त उसने ढेरों गहने-जेवर पहन रखे थे। परिवार की बातें, व्यक्तिगत कष्ट कठिनाई पूछने के बाद स्नेह भरे स्वर में बोले, ''अरे तूने इतने गहने क्यों लाद रखे हैं।'' लड़की तो मौन रही, पर पास खड़ी एक प्रौढ़ महिला बोल पड़ी, ''गहने पहनने से लड़कियों का सौन्दर्य बढ़ जाता है।''

सुनकर वह हँसते हुए तनिक आश्चर्य से बोले ''अच्छा! पर भाई मैं तो उसी को सुन्दर कहता हूँ जो सुन्दर काम करता है।'' फिर थोड़ा गम्भीर होकर बोले- ''गहने नारी जाति की हथकड़ी-बेड़ियाँ हैं। इस तरह अपने को भ्रमित रखने के कारण कितना त्रास सहा है उसने।'' कहते-कहते उनके हृदय की कोमलता सजीव हो उठी। नारी के प्रति उनकी इस जीवन्त सम्वेदना में उपस्थितजनों को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के कर्तृत्व का सादृश्य अनुभव हुआ।

* सन् १९८८ की सर्दियाँ शुरू हो चुकी थीं। नवम्बर महीने का प्रसंग है। वह अपने कमरे में बिस्तर पर लेटे हुए दर्शन सम्बन्धी किसी दुरूह तथ्य का खुलासा कर रहे थे। सुन रहे शिष्य ने कुतूहलवश पूछा ''गुरुजी! आप मरेंगे तो नहीं, सदा हमारे बीच रहेंगे न।'' मूर्खता पर हँसते हुए बोले ''मेरा मरना कैसा? मैं शाश्वत हूँ बेटा!'' फिर तनिक रुककर कुर्ते का एक सिरा उठाकर कहने लगे, ''जहाँ तक इस शरीर की बात है एक झटके में इस कुर्ते की तरह उतारकर फेंक दूँगा।''

''फिर तो आप हमसे दूर चले जाएँगे।'' उसने फिर जिज्ञासा व्यक्त की। ''न मुझे कहीं नहीं जाना है, मैं इसी शान्तिकुंज में रहूँगा पहले से भी अधिक सबसे निकट। बस मेरी चेतना की अनुभूति के लिए तनिक संवेदनशीलता बढ़ाने की जरूरत है।'' आज जबकि उन्होंने अपना शरीर कुर्ते की तरह उतार कर फेंक दिया है, याद आते हैं शिष्य समुदाय को उनके शब्द ''मैं शाश्वत हूँ।'' निश्चित ही वे शान्तिकुंज में पहले से अधिक सघन हो संव्याप्त हैं।

* शाम का समय था, वे शान्तिकुंज के अपने कमरे में बैठे व्यवस्था आदि कार्यों के सन्दर्भ में गोष्ठी ले रहे थे। इसी बीच बरसात के कारण लाइट चली गई। कुछ शाम अधिक हो जाने के कारण और कुछ घने बादलों के कारण कमरे में घना अँधेरा हो गया। बैठे हुए लोगों में से कुछ प्रकाश के लिए लैम्प आदि की व्यवस्था के लिए उठने ही वाले थे कि तनिक तीखी आवाज में वह स्वयं उठते हुए बोले- ''बैठे रहो! उठना नहीं। तुम्हें क्या पता कौन-सी चीज कहाँ रखी है। मैं अपनी हर चीज यथास्थान रखता हूँ।'' कहते हुए उन्होंने लैम्प जलाया और एक मन्द प्रकाश में वार्तालाप पुनः शुरू हो गया। कहाँ चेतना की उच्चतम भूमि पर निवास? कहाँ इन छोटी चीजों की ऐसी सुव्यवस्था? इन दोनों बातों का विरल एकीकरण उन्हीं के जीवन में सघन था।

* ईस्ट अफ्रीका जाने के लिए वह पानी के जहाज से यात्रा कर रहे थे। उद्देश्य एक ही था- सभ्यता के अहं में ग्रस्त लोगों द्वारा तिरस्कृत, अपमानित समुदाय को गले लगाना। वहाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति के बीज छिड़कना। समुद्री यात्रा अनभ्यासी के लिए कम कष्टकर नहीं होती, पर उनका लेखन, चिन्तन तथा अन्य दैनिक क्रम यथावत थे। इसी बीच पता चला कि उनके गन्तव्य स्थान के कुछ व्यक्ति साथ चल रहे हैं। बस मन की सीखने की वृत्ति ने प्रोत्साहित किया, क्यों न पहुँचने के पहले वहाँ की भाषा सीख ली जाए।

उमंग उत्साह में बदली, उत्साह कार्य में। सीखना शुरू हो गया। ठीक ९ दिन में उन्होंने स्वाहिली नाम से जानी जाने वाली भाषा पर अधिकार प्राप्त कर लिया। सिखाने वाले स्वयं दंग थे। यों प्रसिद्ध प्राच्यविद् सर विलियम जोन्स ने भी कलकत्ता के पण्डितों से संस्कृत सीखी थी। पर यहाँ गति की तीव्रता अद्भुत थी। सीखने की वृत्ति के इसी वरदान के बल पर उन्होंने वहाँ पहुँच कर सारे वार्तालाप उन्हीं की भाषा में कर सबको चकित कर दिया।

* 'किस्मत' के सम्पादक का पत्र १५-१६ वर्ष के बालक श्रीराम के पास आया था। इतने छोटे बच्चे के नाम किसी सम्पादक का पत्र देखकर गाँव का एक युवक उत्सुकतावश पास आ गया। चिट्ठी खोलने पर पता चला कि इसका सम्बन्ध उनकी हाल में ही छपी एक कविता से है। सम्पादक ने संवेदनशील हो लिखा था, तुम्हारी कविता किसी बच्चे के हाथ की लिखी नहीं लगती। निश्चित रूप से तुम में संवेदनाओं का स्रोत है, जो आगे चलकर निर्झर बिना बने न रहेगा। गाँव का युवक पढ़कर दंग रह गया।

बदलते समय के साथ इस टिप्पणी की सार्थकता हर्बर्ट स्पेन्सर की उस टिप्पणी की तरह सबने परखी, जो उन्होंने बालक विवेकानन्द के उस लेख पर लिखी थी, शीघ्र ही विश्व तुम्हें एक विचारक के रूप में जानेगा। संवेदनाओं के इस निर्झर ने कितने सूखते-मुरझाते जीवनों को हरा-भरा किया? यह गणना करना आकलन शक्ति के बूते की बात है?

* अपराह्न के करीब साढ़े तीन बजे होंगे। वह अपने कमरे में बैठे शेविंग कर रहे थे, साथ ही घर से लौटकर आए एक कार्यकर्त्ता से बात-चीत भी। शेविंग करने के उपरान्त जैसे ही उन्होंने सामान रखा कि

कार्यकर्त्ता उस ओर लपका। उन्होंने तुरन्त टोका-"अरे ! क्या कर रहा है।" "मैं धो दूँगा"-उसका जवाब था। "हाँ-हाँ! तू तो मेरे बदले मुँह भी धो आएगा।" कहते हुए उन्होंने स्वयं सामान उठाया और निकट के बाथरूम में साफ करने चले गये, लौटकर तौलिये से अपना मुँह पोंछते हुए बोले-"हारी-बीमारी अथवा अन्य किसी असहाय अवस्था के अलावा किसी दूसरे से सेवा लेना अपराध जैसा है।" सेवा न लेने की वृत्ति के इस उत्कट स्वरूप को कार्यकर्ता मौन हो निहार रहा था।

❀ विषधर सर्प आड़े समय पर केंचुए की भाँति बिलों में दुबके नहीं पड़े रहते। जिनके पास तनिक भी साहस, शौर्य, संघर्ष की शक्ति है, वह विषम समय पर प्रकट हुए बिना नहीं रहता। फिर जो इससे भरे-पूरे हैं, उनका कहना ही क्या? पूज्य गुरुदेव के साथ कुछ ऐसा ही था। राष्ट्रपिता के आह्वान पर देश भर में नमक सत्याग्रह प्रारंभ हुआ । आगरा जिले में एक स्थान पर १७-१८ वर्ष के तरुण श्रीराम भी अपने साथियों के साथ नमक बनाने में जुटे थे। प्रशासन का प्रतिरोध तो होना ही था। पुलिस की लाठियों के आतंक के मारे भगदड़ मच गयी। इस हड़बड़ी में वह नमक के कुण्ड में गिर गए। नमकीन घोल शरीर, स्वास्थ्य के लिए कितना हानिकारक होता है, यह जानकारी से छुपा नहीं, पर वह दम-साधे पड़े रहे। सारा तूफान शान्त हो जाने पर हँसते हुए कुण्ड के बाहर निकल आये। लोग उनके इस तरह निकलने पर भौंचक्के थे। किसी ने कहा-अमुक तकलीफ होगी, कोई कहता वह कष्ट तो होकर ही रहेगा, पर कहीं कुछ नहीं वह नहा-धोकर पूर्ववत हँस रहे थे। *शौर्य और जिजीविषा का यह* अद्‌भुत मिलन जिसने भी देखा, उसी ने दाँतों तले अँगुली दबा ली।

❀ जब वह टूण्डला जेल में राजनीतिक बंदी के तौर पर थे। अवस्था कम होने के कारण जेलर ने उन्हें प्रौढ़ व्यक्तियों के साथ रखने के बजाय-किशोरों, बालकों के साथ रख दिया था। इनमें से प्रायः सभी अपराधी श्रेणी के थे। वह अपने प्रेम बर्ताव से उनमें बुराइयों के प्रति वितृष्णा, अच्छाइयों के प्रति अनुराग जगाने की कोशिश में लगे रहते। उद्दण्ड, आवारा कहे जाने वाले ये लड़के भी उनके अपनत्व से प्रभावित हो उनके आज्ञाकारी बनने लगे थे।

ऐसे ही एक दिन उनका शिक्षण चल रहा था। इतने में जेलर अपने साथी के साथ आया और ओट में खड़ा सुनता रहा। दोनों चकित थे। मित्र ने आश्चर्यपूर्ण स्वर में जेलर से पूछा- "अरे, यह सुकरात है क्या? जेल में भी ज्ञान सिखा रहा है।" "न भी हो तो आगे चलकर बन जाएगा।" जेलर का जवाब था। उस दिन वह इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें बच्चों का शिक्षक नियुक्त कर दिया। यह थी उनके लोक-शिक्षण की नींव। इस पर आगे चलकर लोक-शिक्षण का एक व्यापक तंत्र खड़ा हुआ।

❀ अद्‌भुत होता है दो महान आत्माओं का मिलन। इन क्षणों में जो कुछ विशेष घटता है, उसे ये चर्मचक्षु भले न निहार पाएँ, फिर भी उतना ही क्या कम है जितना ये देख पाते हैं। गुरुदेव से लगभग २५ वर्ष उम्र में बड़े महात्मा आनन्द स्वामी शान्तिकुंज पधारे थे। एक तो संन्यासी, दूसरे आयु में ज्येष्ठ, तीसरे सघन आत्मीय। शिष्टता की प्रतिमूर्ति गुरुजी उन्हें माला पहनाने के लिए बढ़े, माला उनके हाथ में भी थी। कौन किसे पहनाए? प्रेम भरी नोकझोंक शुरू हो गई। गुरुदेव ने हँसते हुए अपने पक्ष में अनेकों तर्क दिए। बड़े हैं, संन्यासी हैं, पूजनीय हैं, कितनी ही बातें कहीं ।

छोटे कद के सुडौल शरीर वाले महात्मा जी ने सभी तर्कों के जवाब में एक बात कही, यह मेरी श्रद्धा का प्रश्न है, आप किसी से अपने को छुपा लें, पर मेरे से नहीं छुपा सकते। फिर हँसते हुए बोले-मुझे बड़ा मानते हो न, तब मेरा आदेश मानो, झुको! कद में छोटे होने के कारण माला पहनाने में उनको प्रेमवश झुकना ही पड़ा। उन्होंने हँसते हुए माला गले में डाल दी। बड़ी देर दोनों की बालवत् निश्छल हँसी वातावरण को पवित्र करती रही। "मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं" गोस्वामी जी की इस उक्ति को चरितार्थ होते जिसने भी देखा, धन्य हो उठा।

❀ सम्पादकीय विभाग के तीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के इस्तीफा दे देने के कारण सैनिक पत्र के बन्द होने की नौबत आ पहुँची। इस संकट से निबटने की जिम्मेदारी पालीवाल जी ने उन दिनों मत्त जी के नाम से परिचित गुरुदेव को सौंपी। वह स्वयं उन दिनों जेल में थे। श्रमनिष्ठा *की कठोर परीक्षा थी। सम्पादन, प्रूफरीडिंग करने के साथ* कम्पोजिंग, छपाई, वितरण की व्यवस्था सभी कुछ देखना पड़ता। बीस से लेकर तेईस घण्टे तक काम करना पड़ता। प्रेस के काम के साथ लोगों की घरेलू कामों में सहायता भी कर देते। जो देखता वही दाँतों तले अँगुली दबा लेता। पूछे जाने पर वह एक ही बात कहते "व्यक्ति की शक्तियाँ अपार हैं, पर इनकी अभिव्यक्ति का माध्यम है श्रम। जो जितना अधिक श्रम करता है, उसमें ये उतना ही अधिक प्रकट होती हैं।" प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या। लगभग एक साल में संकट का स्थाई हल निकला। इस बीच उनकी कर्मठता से सहकर्मी उसी तरह चमत्कृत रह गए जैसे हालैण्डवासी प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोजा के श्रम से हुए थे। जो सारे दिन ताला बनाता-चमकाता, रात को तंग कोठरी में टिमटिमाते दीपक के प्रकाश में अध्ययन-लेखन करता। तभी तो वह सारे जीवन यही समझते रहे कि श्रम महामानव बनाने वाला कीमिया है।

❀ सहस्र कुण्डी यज्ञ के समय की बात है। मथुरा के ही एक (पण्डा) समुदाय की अड़ंगेबाजियाँ, विरोध जारी था। इसे प्रायः हर दिन किसी न किसी बदले रूप में प्रस्तुत होना अनिवार्य था। एक दिन गुरुजी वन्दनीया माताजी के साथ रिक्शे पर जा रहे थे। इसी समय इन्हीं विरोध करने वालों में से एक व्यक्ति ने छपा हुआ पर्चा माताजी के

हाथों में थमा दिया। उन्होंने भड़काने वाली विरोधी बातों से-लिखे पत्रक को बिना पढ़े ही फाड़ दिया।

उनका इस तरह पर्चा फाड़ना देखकर वह बोले- "अरे! आपने यह क्या किया? आपको मालूम नहीं उसमें क्या था?" "हाँ, बकवास थी।" वंदनीया माताजी का उत्तर था। "पर इससे क्या! माना कि उसमें बेकार बातें थीं, पर इस तरह तो देने वाले का अपमान हो गया।" विरोधियों सतत अपमान की ही सोचने वालों के प्रति भी सम्मान का इतना ख्याल! माताजी उनका चेहरा देखने लगीं।

❀ तपोभूमि मथुरा में उस रोज सत्र की समाप्ति पर गुरुदेव का विदाई प्रवचन हो रहा था। सभी शान्तचित्त एकाग्र मन हो उनकी अमृतवाणी का पान कर रहे थे। भावविह्वल स्वर में वह कह रहे थे "अब तुम लोग जाओगे, यह तपोभूमि मुझे काटेगी। वह मुझसे पूछेगी तुम जिनके लिए आते थे, वह कहाँ? मैं क्या जवाब दूँगा।" शब्दों की मार्मिकता पर सभी फफक कर रो पड़े। उनकी भी आँखों से आँसू झर रहे थे। जिस किसी तरह अपने भाव को थामते हुए बोले- "यह आँसुओं की धारा ही अपने संगठन को सींचेगी। उसे हरा-भरा बनाएगी। उनकी हर विदाई ऐसी ही करुण होती थी।

आज उनके न रहने पर लाखों नेत्रों से आँसुओं का सागर उमड़ पड़ा है। भले ही वह सूक्ष्म में हो, अनुभूतियाँ भी पूर्व की अपेक्षा गहन हों, पर जिन आँखों ने उनकी एक झलक पायी है, वे क्या रोए बिना मानेंगी। रोने दो नेत्रों को, झरने दो प्रेमाश्रुओं की धारा जिससे सिंचकर संगठन की हरियाली बढ़े। पर ध्यान रहे कर्मरत हाथ शिथिल न पड़ने पाएँ। ऊपर से हमें देख रहा है वह प्रेम का अगाध सागर। उसका सिर्फ एक ही नाम है-"रसोवैसः"

❀ एक कार्यक्रम के सिलसिले में गुरुदेव को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना था। पहले स्थान के कार्यकर्त्ता उनके जाने की व्यवस्था बनाने में जुटे थे। किसी का मत था एयरकण्डीशण्ड कोच का टिकट ले लिया जाय, यात्रा आराम से कट जाएगी। कुछ लोग फर्स्टक्लास की वकालत कर रहे थे। उनके अनुसार इस तरह जाने से न केवल यात्रा आरामदायक रहेगी, बल्कि खुली हवा का लाभ मिलेगा।

चल रही इस चर्चा के कुछ शब्द गुरुदेव के कानों में पड़े। उन्होंने इन सबको पास बुलाकर कहा-मुझे पैसिन्जर ट्रेन में साधारण डिब्बे का टिकट खरीद कर ला दो। रिजर्वेशन की भी जरूरत नहीं। पैसे भी बचेंगे और मैं आराम से अपना लेखन भी कर लूँगा। उन दिनों उनकी चलती ट्रेन में लिखने की आदत थी। यद्यपि एनीबेसण्ट भी इस तरह लिखा करती थीं, पर उनका अपना निजी सेलून होता था। एकाग्रता और मितव्ययता का ऐसा अद्‌भुत मिलन शायद पहली बार हो रहा था। गाँधी के इस अनुयायी को यही सादगी शोभा भी देती थी।

❀ उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल डॉ. एम. चेन्ना रेड्डी शान्तिकुंज आये हुये थे। यह शुरू के दिनों की बात है। तब वे न केवल सभी को पर्याप्त समय देते थे, बल्कि कभी-कभी अतिथियों को स्वयं आश्रम की सारी गतिविधियों का परिचय देते। इस बार भी कुछ ऐसा ही हुआ।

आश्रम घूमने के बाद भाव-विमुग्ध हो माननीय राज्यपाल ने स्टेज से अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा- "यहाँ मैंने अपनी कल्पना से भिन्न देखा, अतएव जो सोचकर आया हूँ, उससे भिन्न बोलूँगा। मैं यहाँ से उस शक्ति को प्रस्फुटित होते देख रहा हूँ, जो गाँधी के सपनों को साकार कर सकती है।" कुछ रुककर वह भावुक होते हुए बोले-"मैं देख रहा हूँ कि यह कार्य गंगा से लेकर गोदावरी-कृष्णा-कावेरी तक फैलता चला जा रहा है। कभी दक्षिण ने भारत को आचार्य शंकर दिया था, जिन्होंने ठेठ हिमालय तक आकर भारत की सांस्कृतिक एकता स्थापित की। अब इस बार इसे आचार्य श्रीराम शर्मा कर रहे हैं। " उपस्थित समुदाय यह सुनकर गद्‌गद हो गया।

❀ सोलह से बीस जून, १९७१ की तिथियों में विदाई सम्मेलन आयोजन चल रहा था। प्रायः हजारों लोग आए हुए थे। उस दिन ग्यारह से एक बजे रात्रि तक तेज बारिश होती रही। किसी को कुछ परेशानी तो नहीं हुई, पर पाण्डाल अवश्य भीग कर गिर गया। सुबह विदाई प्रवचन था। सबसे मुलाकात भी करनी थी। यह सब कैसे सम्भव हो?

सुनकर उन्होंने एक स्वयंसेवक को बुलाकर कहा- "तुम सभी से जाकर कह दो कि सब अपने-अपने स्थान पर अपना काम करते रहें। मैं स्वयं आकर मिलूँगा।" "आप!" इस तरह स्वयंसेवक पूरी बात कहता कि वह बोले-"क्यों क्या मैं बहुत बड़ा आदमी हूँ?" और वह सचमुच स्नेहसिक्त हृदय से सबसे मिले। लगा जैसे अयोध्यावासियों से विदा लेते हुए राम सबसे मिल रहे हों। ऐसी निरभिमानता और प्रेम भरा हृदय और कहाँ मिलेगा? अभी भी ऐसा लग रहा है, जैसे वह कह रहे हों "मैं स्वयं आकर सबसे मिलूँगा।" "मिलेंगे वे अवश्य मिलेंगे।"

❀ जीवन रूपी परिधि के केन्द्र हैं- विचार। केन्द्र की तनिक-सी हलचल समूची परिधि को प्रभावित करती है और जब परिधि को पूर्णतया बदल डालना अनिवार्य लगने लगा हो, तब जरूरी है केन्द्र में व्यापक फेरबदल की जाए। इसी आधार पर विचारक्रांति का प्रवर्तन करने वाले पूज्य गुरुदेव ने अपने वार्तालाप में सामने बैठे हुए कार्यकर्ताओं को इसकी समर्थता बताते हुए कहा था- "तुम लोग विचार-क्रांति को मजाक मत समझना। मेरी विचारक्रान्ति के बीज जिस दिन फूटेंगे, धमाका कर देंगे।" अगले दिनों इसी धमाके और उससे होने वाले व्यापक परिवर्तन का समूचा विश्व साक्षी होने जा रहा है।

❀ रात्रि को जल्दी सोना व प्रातः डेढ़ बजे से उठकर अपनी दिनचर्या प्रारंभ कर देना उनकी एक नियत दिनचर्या थी। जब आँवलखेड़ा व मथुरा में थे, तो गुरुदेव

अपने साथ बच्चों को पास बुलाकर तारों में से एक-एक की पहचान करवाते । उन सभी ग्रह-गोलकों, नक्षत्रों के बारे में विस्तार से समझाते। बालसुलभ जिज्ञासाओं का वर्णन करते हुए बताते कि-''इन नक्षत्रों व पृथ्वी की स्थिति में क्या अन्तर है। चन्द्रमा कैसे बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा का चन्द्रमा व घटते-घटते अमावस्या बना देता है, गुरुत्वाकर्षण शक्ति क्या है व किस आधार पर सितारों से टँकी यह चादर ऊपर लगी हुई हमारे ऊपर नहीं गिरती? बिजली पहले चमकती है कि गरजती है?'' जिन सौभाग्यशालियों को यह अवसर मिला है, वे बताते हैं कि विज्ञान की विशद जानकारियों, जो उन्होंने अध्ययन से बढ़ाई थीं, से उन्हें किस तरह लाभान्वित कर उनकी रुचि विज्ञान की ओर मोड़ दी। अंतरिक्ष विज्ञान की उन्हें उतनी ही विस्तृत जानकारी थी, जितनी कि उस विषय के विशेषज्ञ को हो सकती है।

❈ अन्तःकरण की जाग्रत शक्तियाँ न केवल व्यक्ति बल्कि वस्तु को प्रभावित करने में समर्थ हैं। योगशास्त्रों का यह प्रतिपादन, जिसे अब परामनोवैज्ञानिक भी स्वीकारने लगे हैं-सन् ८१ की उस ग्रीष्मकालीन संध्या को प्रत्यक्ष हो गया। बगल में वन्दनीया माताजी भी बैठी थीं। एक कार्यकर्ता को काफी दिनों से इच्छा थी कि ऐसी किसी गोष्ठी को टेप किया जाए, अभी हाल में ही उसने नया टेपरिकार्डर भी लिया था। सो उसने नये कैसेट, नये सेल लगाकर भलीप्रकार जाँच लिया और उनके ठीक सामने टेपरिकार्डर चालू कर बैठ गया। गुरुदेव ने मुसकराकर एक बार उसकी ओर कनखियों से देखा और बात शुरू कर दी। गोष्ठी समाप्त होने के बाद उसने नीचे आकर टेप शुरू कर बातें सुननी चाहीं। पर उसमें सायं-सायं की आवाज के सिवा और कुछ न था। सोचा शायद कुछ मशीन में खराबी आ गई हो, इसलिए दुबारा जाँच की, पर वह तो पूर्ववत ठीक था। तब कहीं जाकर उसे उनकी मुसकान का गूढ़ार्थ स्पष्ट हुआ। उनकी इच्छा के बगैर बातें टेप होतीं भी तो कैसे । उसे रिकार्ड न हो पाने का दुख था, साथ ही योग की इस विभूति को साक्षात करने की खुशी भी।

❈ अणोरणीयान-महतोमहीयान-इन दोनों का एकीकरण परमेश्वर के अतिरिक्त यदि और कहीं होता है तो उनकी विभूति रूप महापुरुषों में। भारी-भरकम व्यक्तित्व व वृहताकार कर्तृत्त्व के साथ सरलता और सादगी यहीं आकर एकजुट होती है। इसका साक्षात्कार उनके डबरा प्रवास के दौरान हुआ। एक कार्यक्रम के सिलसिले में वह यहाँ आने वाले थे। स्टेशन पर लेने के लिए आस-पास कई मिलमालिक, गणमान्य व्यक्ति अपनी कारों, मोटर-साइकिलों के साथ उपस्थित थे। स्वागतार्थियों की इस भीड़ में सिर्फ एक व्यक्ति उन्हें पहचानता था। नियत समय रेलगाड़ी आकर रुकी। इन सभी ने एयरकण्डीशंड, फर्स्टक्लास के सारे डिब्बे खोज डाले- कहीं गुरुजी नहीं। आर्ष साहित्य का भाष्य करने वाला, इतना बड़ा लेखक, मनीषी, एक बड़े अभियान का संचालक के रूप में उन्होंने कुछ ऊँचे ठाट की कल्पना कर रखी थी।

गाड़ी तो चली गई। इसी बीच इन सबने देखा कि उन्हें पहचानने वाला वह व्यक्ति एक ऐसे आदमी के चरणों पर झुका है-जिसके एक हाथ में लोहे की छोटी पेटी है, कन्धे पर बिस्तर का पुलिंदा है। पहले उन्होंने सोचा कि हो न हो, इसका कोई रिश्तेदार आ गया हो। निकट पहुँचने पर पता चला-''यही गुरुजी हैं।'' गुरुजी और ये- सबने दाँतों तले अँगुली दबा ली। यह उनके अणोरणीयान रूप का साक्षात्कार था। कार्यक्रम में उनके दूसरे स्वरूप को लोगों ने देखा। सरलता और महानता के संगम रूप सचल तीर्थ को देख सभी कृतकृत्य थे।

❈ पश्चिम के एक ख्यातिनामा विचारक डॉ. मार्टीनो एक जगह कहते हैं-छोटी छोटी बातें मिलकर पूर्णता बन जाती हैं और पूर्णता कोई छोटी बात नहीं है। गुरुदेव के जीवन की हर छोटी बात में उनकी पूर्णता की झाँकी झलकती हुई दिखाई देती है। मथुरा के दिनों की बात है, वह कार्यक्रम के सिलसिले में लम्बे प्रवास पर थे। साथ चल रहे स्वयंसेवक की उनके साथ यह पहली यात्रा थी। एक स्थान पर रुकना हुआ। रात्रि में सोने के पहले उसे हिदायत देते हुए बोले, ''देखो ! यहाँ रात तीन बजे मत जगकर बैठ जाना। तुम्हारे इस तरह जगने से घर वालों को तकलीफ होगी। अपनी खाट पर बैठकर ही भगवान का नाम ले लेना! सुबह चाय-पानी हो तो आहिस्ते से स्टोव जलाकर पी लेना।'' ऐसी तमाम नगण्य-सी लगने वाली बातों के बारे में समझाकर उसे सोने की इजाजत दी।

सोने के लिए लेटे हुए स्वयंसेवक को अभी इन छोटी बातों में उनकी पूर्णता की झलक मिल रही थी ।

❈ यथार्थ शिक्षण वाणी से नहीं जीवन से होता है। उपदेश नहीं कर्तृत्व इसे बल प्रदान करता है। उन्हीं के ये शब्द उनके समूचे जीवन में रमे थे। उस दिन किसी कार्यक्रम के सिलसिले में वह रेलगाड़ी में जा रहे थे। गन्तव्य स्टेशन आने पर उतरना हुआ। पास में बिस्तरबन्द बैग आदि सामान था। साथ में आए कार्यकर्ता ने कुली! कुली!! की आवाज लगाई। निकट में कुली न दिखने पर थोड़ी दूर पर उसे खोजने निकल गया। लौटकर आने पर सामने के दृश्य ने उसके होशो-हवास गुम कर दिए। हुआ यह कि गुरुदेव उसका व अपना सामान सिर पर व कन्धे पर लादकर चल दिए थे। बेचारा कुली का साथ छोड़कर तेज कदमों से उनके पास पहुँचा। प्रार्थना की कि वह सामान उसे दे दें। इस पर वह बोले- ''न भाई मैं ठहरा गरीब ब्राह्मण और तू बड़ा आदमी।'' सुनकर कार्यकर्ता और शर्मिन्दा हो गया। जैसे-तैसे उन्होंने उसका सामान तो दिया, पर अपना यथावत लादे चलते रहे।

कार्यकर्ता लोकसेवी ब्राह्मण की मर्यादा का यथार्थ शिक्षण पा रहा था।

❀ एक दिन एक उच्चपदस्थ अधिकारी अपने एक मित्र के साथ पधारे। तपोभूमि के एक कमरे में उनके मुलाकात की व्यवस्था हुई। दोनों के अनेक बार न करने पर भी गुरुदेव ने उन्हें आग्रहपूर्वक कुर्सी पर बिठाया। कोई सुप्रसिद्ध सन्त इस तरह उन्हें सम्मान देगा, इसकी उन्हें कल्पना नहीं थी। लगभग आधा घण्टे बात-चीत का क्रम चला। तत्पश्चात वे दोनों बाहर आये। अपनी मोटर पर बैठते हुए अधिकारी महोदय अपने मित्र से कह रहे थे- "वन्डर फुल पर्सन! एवरीवन्स ऑनर इज सेफ इन हिज हैण्डस्" (आश्चर्यजनक व्यक्ति, प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान उनके हाथों में सुरक्षित है।) पास खड़े इसे सुन रहे एक कार्यकर्ता ने जब यह टिप्पणी उन्हें सुनायी, तो हँसते हुए कहने लगे- "शिष्टाचार व प्रशंसा में अद्भुत शक्ति है। इस शक्ति का सदुपयोग कर तुम सारी दुनिया के हृदय के सम्राट बन सकते हो।"

❀ आलोचनाएँ जहाँ सामान्य व्यक्ति को हैरान, परेशान और उद्विग्न करके रख देती हैं, वहीं महापुरुष इनसे खासा मनोरंजन कर अपना गूढ़ार्थ प्रकट कर देते हैं। एक दिन बाहर से आए एक कार्यकर्ता ने थोड़े दुःखी मन से कहा- "गुरुजी! कुछ लोग कहते हैं कि आप ब्राह्मण न होकर बढ़ई हैं।" उस समय वह अखबार पढ़ रहे थे। अखबार को मेज पर रखते हुए बोले- "अच्छा! पर मैं उतना ऊँचा नहीं हूँ। असल में मैं तो भंगी और धोबी हूँ।"

कार्यकर्ता को चकित होते देखकर वह जोर से हँसने लगे। हँसी थमने पर बोले- "देखो मेरा काम है संस्कृति की सफाई और धुलाई। अब हुआ न भंगी और धोबी।" सुनने वाला उनके इस सरल-निष्कपट भाव को देख हतप्रभ था।

❀ पारस पत्थर की तरह होते हैं सन्त, जिनके संसर्ग में आकर अनगढ़ सुगढ़ बने बिना नहीं रह सकते। घटना सन् १९८३ की है। पूज्य गुरुदेव दो तीन कार्यकर्ताओं के साथ कार में बैठकर आँवलखेड़ा जा रहे थे। उद्देश्य था, शक्तिपीठ के लिए जमीन देखना। रास्ते में एक सज्जन बोले "गुरुदेव! जब वहाँ शक्तिपीठ बन जाए तो एक ब्राह्मण नियुक्त कर दीजिएगा। इससे मन्दिर का संचालन उचित रीति से होता रहेगा।" सुनकर वह उसकी ओर मुखातिब होकर बोले "यदि बर्फ के पास बैठकर ठण्डक न लगे तो बर्फ कैसी? आग के पास बैठकर गर्मी न लगे, तो वह आग कैसी? हमारे पास बैठकर भी यदि कोई ब्राह्मण न बन सका, तो हम ब्राह्मण किस बात के।"

आत्मविश्वास से परिपूरित उनके ये वचन सुनकर सुनने वाले मौन होने के सिवा क्या करते, आगे चलकर सभी को उनके कथन की सार्थकता अनुभूत हुई। सचमुच उनके संसर्ग ने न जाने कितने ब्राह्मण उपजाए।

❀ सन् १९६८ के अक्टूबर माह का प्रसंग है। इंदौर के क्रिश्चियन कालेज में दर्शन विभाग द्वारा सम्पन्न हो रहे समारोह में गुरुदेव को वक्तृता देनी थी। सभा में महाविद्यालय के प्राध्यापक, छात्र, नगर के गणमान्य सदस्य भी उपस्थित थे। ठीक समय पर वह भी एक-दो स्थानीय कार्यकर्ताओं के साथ पहुँचे। उनकी सीधी-सादी वेशभूषा, चेहरे की सरलता देखकर महाविद्यालय के प्राचार्य विश्वास न कर सके कि वह विषय के अधिकारी विद्वान हो सकते हैं। अतएव पास आकर बोले-"आप कम समय में अपनी बात कह लीजिएगा। विषय से इधर-उधर भटक जाने में परेशानी होगी।"

उन्हें उचित आश्वासन देकर गुरुदेव ने पूर्वी-पश्चिमी दर्शन में समन्वय की स्थापना करते हुए जीवन-मूल्यों के परिपेक्ष्य में अपनी मौलिक व्याख्या आरंभ की। व्यावहारिक जीवन से कोसों दूर होती जा रही दार्शनिकता पर कटाक्ष करते हुए कहा- "जो विचार या सिद्धान्त मनुष्य के सर्वांगीण विकास में सहायक हों, उन्हीं के चिंतन-प्रतिपादन, क्रियान्वयन में दर्शन की सार्थकता है।" व्याख्या की समाप्ति पर प्राध्यापकों समेत प्राचार्य महोदय के हाथ जुड़े थे। प्राचार्य महोदय भावपूर्ण स्वर में बोले-"मैं आपको समझ नहीं सका था। डॉ. राधाकृष्णन् को सुनने के बाद मुझे सभी फीके लगते थे, पर आज आपको सुनकर लगा कोई उससे भी एक कदम आगे है, जो न केवल दर्शन की सार्थकता समझा सकता है, बल्कि स्वयं के जीवन में दर्शन को सार्थक कर रहा है।"

❀ युगनिर्माण विद्यालय का प्रथम सत्र समाप्ति पर था। इसी समय एक संस्कृतप्रेमी सज्जन जो काफी प्रतिष्ठित थे, गुरुदेव से मिलने पधारे। उन्होंने उनको साथ लेकर तपोभूमि की विविध गतिविधियों की जानकारी कराई। इसी क्रम में विद्यालय की बारी आयी। स्वावलम्बन सम्बन्धी शिक्षा, जीवन-परिशोधन प्रयोगों के साथ विद्यार्थियों का लोकसेवियों के रूप में गठन सारा कुछ स्पष्ट किया। वह सज्जन इसे सुना-अनसुनाकर, बार-बार एक ही बात कहते जा रहे थे-"यहाँ सब कुछ संस्कृत में क्यों नहीं पढ़ाया जाता? आप सारा जोर संस्कृत पर क्यों नहीं देते।" काफी कुछ सुन लेने के बाद उन्होंने जवाब दिया-"मेरा सारा जोर संस्कृत की जगह संस्कृति पर है। मैं यहाँ संस्कृत की जगह संस्कृति का शिक्षण देता हूँ।"

तनिक तेज स्वर में कहे गए इन वाक्यों ने आगंतुकों को स्तब्ध कर दिया। कुछ सोचते हुए उन्होंने कहा- "आप ठीक कह रहे हैं। आपके इस प्रयास की महत्ता स्वामी श्रद्धानन्द के प्रयासों से कम नहीं।"

❀ उस दिन वह घीयामण्डी के अखण्ड-ज्योति कार्यालय में बैठे मिशन की भावी रूप-रेखा पर चिन्तन कर रहे थे। पता नहीं क्या सोचकर बड़ी सरलता से पास बैठे एक स्वयंसेवक से पूछा-"क्यों जी, तुम्हीं कुछ बताओ, मिशन को विस्तार कैसे दिया जा सकता है?" स्वयंसेवक ने थोड़ा सोचते हुए कहा-"यदि शिक्षक और चिकित्सक इस काम में सहयोग करने लगें, तो प्रगति दूनी हो जाएगी। क्योंकि इन्हीं दोनों वर्गों से समाज उपकृत रहता है। उपकार करने वाले की बात मानने में किसी को संकोच कहाँ ?"

"जानते हो! शिक्षण और चिकित्सा किसके काम हैं?" कुछ रुककर स्वयं बोले-ब्राह्मण के। एकमात्र ब्राह्मण ही समाज को ज्ञान दे सकता है, उसे सारी व्याधियों से मुक्त कर सकता है। बाकी अन्य तो इसके नाम पर व्यवसाय करते हैं।" उनकी वाणी से ऐसा लगा, जैसे भगवान मनु ब्राह्मणों का कर्तव्य-निर्धारण कर रहे हों। ब्राह्मणत्व सम्पन्न व्यक्ति ही इस कार्य को आगे बढ़ाएँगे। शान्त भाव से कहकर वह चुप हो गए।

❀ प्रखरता की सर्वमान्य परिभाषा है आदर्शों से समझौता न करना। उनके जीवनपटल पर प्रखरता इसी रूप में प्रकाशित रही। उस रोज एक कार्यकर्ता कलकत्ता निवासी किसी सेठ को उनके पास लेकर पहुँचे। परिचय दिया, सेठजी समाज-सेवा के कार्य में कुछ दान करना चाहते हैं। सेठजी ने अपनी बात शुरू की- देखिए स्वामी जी! मैं दान तो बहुत करूँगा, पर मेरी एक शर्त है कि उस धन से कमरे बनें और उनमें हर कमरे में मेरे पारिवारिकजनों के नाम खुदवाएँ। सुनकर वह थोड़ा चकित हो कार्यकर्ता को झिड़कते हुए बोले-"अरे ये तो कब्रिस्तान बनाना चाहते हैं, इन्हें तुमने मिशन का स्वरूप और मेरे उद्देश्य नहीं समझाए क्या? जाओ ले जाओ मुझे इनका एक पैसा नहीं चाहिए।" सेठजी यह सब सुनकर सन्न रह गए। उन्हें अन्य जगहों और इनमें फर्क साफ नजर आने लगा था। अपनी इसी प्रखरता की दुधारी तलवार से वह आजीवन आदर्शों के अवरोधों को काटते रहे।

❀ स्वामी विवेकानन्द के जीवन की शोधकर्ता मेरी लुइस बर्क ने लिखा है- "व्याख्यान देते समय उनके शरीर से एक तरह की तरंगें निकलती थीं। फिर क्या मजाल कोई उनसे बँधे बिना न रहे।" फूलबाग कानपुर में, उनकी वक्तृता समारोह के दौरान इस तथ्य को सत्यापित होते बहुतों ने देखा। उस दिन लगभग १५ हजार की उपस्थिति थी। भारत सरकार के तत्कालीन गृहमंत्री आने वाले थे। उनकी देर के कारण काफी कुछ लोग इधर-उधर चले गये। खैर मंत्री महोदय आए, संक्षेप में उन्होंने अपनी बात पूरी की। पूज्य गुरुदेव ने माइक सँभालते हुए स्पष्ट घोषणा की, "जो मंत्रीजी को सुनने आए हों, सो चले जाएँ, जिन्हें मुझे सुनना हो, वे बैठे रहें।" घोषणा का परिणाम यह हुआ कि बाहर गए लोग भी लौट आए। उपस्थिति ज्यों की त्यों हो गई, एक घने सन्नाटे को चीरती उनकी वाणी डेढ़ घण्टे तक गूँजती रही। रात्रि के साढ़े बारह बजे मंत्रमुग्ध जनसमुदाय का सम्मोहन टूटा। लोग प्रवचन की चर्चा करते हुए अपने घरों की ओर गए। ऐसा था उनका सम्मोहक व्यक्तित्व, जिसका स्थायित्व एक व्यापक संगठन के रूप में सभी के सामने है।

❀ काका कालेलकर गाँधीजी के लिए मजाक में कहा करते थे- अपना सब कुछ लुटा देने वाले महापुरुष यदि कहीं कंजूस होते हैं तो अपने समय को लुटाने में। इसके छोटे से अंश को भी वह बेकार नहीं गँवा सकते। काका का यह मजाक गुरुदेव के जीवन में भी सोलह आने सच था। यों उनका सुबह का समय लेखन के लिए था, पर इस बीच वह अनेकों मुलाकातियों की न केवल दुःख-तकलीफ सुनते, बल्कि समाधान जुटा देते। एक दिन व्यक्ति उनके पास आया। आने के बाद उसने शाखाओं के झगड़े, कार्यक्रम की परेशानियाँ कहना शुरू कीं।

उसके कथन के बीच में ही पैनी नजर से ताकते हुए बोले -बेटा तू अपनी बात कह, तेरा घर-परिवार कैसा है। जवाब में उसने गृहकलह, बच्चों की पढ़ाई, पत्नी के स्वास्थ्य, अपनी नौकरी संबंधी अनेकों समस्याएँ कह सुनाईं। यथार्थ में वह कहना भी यही चाहता था। सब कुछ सुनकर वह बोले- अब देख तूने असली मुद्दे की बात कही न, पहले बेकार में मेरा और अपना समय खराब कर रहा था। जा तेरा ध्यान रखेंगे। वह व्यक्ति चला गया। समय की इतनी कीमत उसे आज पता चली।

❀ वैदिक साहित्य में विश्वजित यज्ञ की बड़ी महिमा बखान की है, पर कठिन होने के कारण उस समय भी इसे कम ही लोग कर पाते थे। कठिन इसलिए था, क्योंकि इसमें सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय अपना सर्वस्व अर्पण करना पड़ता था। महाराज रघु ने इसे सविधि किया था। नचिकेता के पिता तो सिर्फ चिन्ह-पूजा कर रहे थे- बालक के टोकने पर उस पर नाराज हो बैठे।

यज्ञमय जीवन जीने के महान संदेशवाहक भला इस वेदविश्रुत यज्ञ से कैसे चूकते। युगनिर्माण योजना की स्थापना के अवसर पर उन्होंने वंदनीया माताजी के सारे जेवर, सारा धन संस्था को दे दिया। बाद के दिनों में अपने हिस्से की पैतृक सम्पत्ति स्वयं द्वारा संस्थापित इण्टर कालेज को दे दी। जहाँ कहीं, जो कुछ भी उनका निजी कहा जा सकता था, वो सब कुछ सर्वहित में अर्पण करके कलिकाल में विश्वजित यज्ञ की महिमा को पुनरुज्जीवित कर गए। अंतिम समय में उनके पास अपना कहने को दो रुपये का डॉटपेन व एक चश्मा भर था।

❀ मन की अनदेखी परतों में होने वाली हलचल को खुली किताब की तरह पढ़ लेना योगियों की प्रखर चेतना के ही बूते की बात है। उनमें प्रायः इसकी झलक मिलती रहती थी। बात सन् ६० के दिनों की है। ग्वालियर से एक कार्यकर्ता घीयामण्डी, मथुरा पधारे। आते ही उन्होंने निचली मंजिल के दफ्तर में सौ रुपये का अंशदान दिया, बाद में गुरुजी से मिले। कुशलवार्ता के बाद ही गुरुदेव ने उनसे भोजन के लिए आग्रह किया। भोजन का समय भी था, वह स्वयं भी खाना-खाने बैठ रहे थे।

आगन्तुक कार्यकर्ता बैठ तो गये, पर उनके मन में उथल-पुथल हो रही थी कि सौ रुपयों की रसीद तो मिली नहीं, पता नहीं गुरुदेव को मेरे इन रुपयों का पता चलेगा कि नहीं। मन में उठ रहे उनके भाव के साथ ही अपनी चर्चा रोककर वह बोल उठे-"पहले नीचे से जाकर सौ रुपये की रसीद ले आओ, फिर हम दोनों आराम से भोजन करेंगे।" सुनने वाले को काटो तो खून नहीं, इस अनजानी बात को वह कैसे जान गए? झेंपते हुए वह उठा और

रसीद ले आया। मन में थोड़ी ग्लानि के साथ यह विश्वास दृढ़ हो रहा था कि किसी के भी मन की गहराइयों में छिपी बातें उनके लिए स्पष्ट हैं।

* शक्तिपीठों के उद्घाटन के समय पूज्य गुरुदेव एक परिजन के घर पहुँचे। घर में प्रवेश करते ही उन्हें सीधे उस विशाल कक्ष की ओर ले जाया गया, जहाँ सभी संभ्रान्त व्यक्तियों को बिठाया जाता था। इसकी भव्यता व रौनक, सजावट देखते ही वे पलट पड़े। सहज, सरल भाव से उस परिजन से कहा-''बेटा! यहाँ मैं प्रवचन करने नहीं आया हूँ, न आवभगत करवाने। मैं तो अपने बच्चों से मिलने आया हूँ। क्या तुम्हारे यहाँ कोई खुली जगह नहीं है बैठने की।'' इतना कहकर वे पास सटी एक छत के टूटे पाइप व एक पुराना तख्त पड़ा था। उन्होंने उसे बिछाने की चेष्टा की, इसी बीच हतप्रभ परिजन व उनके परिवार के सदस्यों ने उसे बिछाकर उस पर दरी बिछा दी। एक व्यक्ति ने कूड़ा कोने में कर दिया। वहीं बैठकर उन्होंने सबकी कुशल-क्षेम पूछी व अपनी आत्मीयता के स्पर्श में सबको निहाल कर दिया। इसी सादगी व सरलता के कारण ही तो वे लाखों व्यक्तियों के हृदय के सम्राट बने।

* बच्चों के प्रति पूज्यवर को बड़ा स्नेह था। अपनी बालसुलभ सरलता के कारण वे बच्चों के साथ घुल-मिलकर एक हो जाते थे। कहानी, वह भी बच्चों की, काव्यात्मक भाषा में सुनाना एक कला है। वे इस कला के महारथी थे। रेल का आना, इंजन का चलना, कुत्ते का भौंकना, बंदर की खीं‌खीं, ढोल की ढमढम, क्रोध, हास्य, प्रेम रस की अभिव्यक्ति इस प्रकार करते कि बच्चों की जिज्ञासा आगे का प्रसंग जानने के लिए सहज बढ़ जाती। सोद्देश्य बताते हुए कथा के एक मोड़ पर रुककर पूछते- बेटा, यदि ऐसा होता तो तू क्या करता एवं फिर बच्चे का जवाब सुनकर कथा को आगे बढ़ा देते। कहानी में ध्वन्यात्मक शब्द यथा-''खट, खट, खट, शेरसपट्टू इस तरह नाम हुआ खट्टू'' जोड़ते हुए उसे ऐसी रोचक बना देते कि सब एकटक, स्तब्ध हो सुनते ही रहते। अपने अंतरंग क्षणों में कार्यकर्ता से भी इसी शैली में बात कर गंभीर विषयों को भी सरस बना देना उनके प्रतिपादन का अनूठापन था।

* बात सन् १९६० के आस-पास की है। एक वरिष्ठ राजनेता गायत्री तपोभूमि पधारे। गुरुदेव ने बड़े ही आत्मीयता ढंग से मिशन की विभिन्न गतिविधियों से उन्हें अवगत कराया। देश-व्यापी संगठन का स्वरूप तपोभूमि द्वारा संचालित क्रियाकलापों ने उन्हें सुखद आश्चर्य से भर दिया। प्रसन्न होते हुए बोले ''आचार्यजी यह सब आपकी तप-साधना से प्राप्त दिव्य शक्तियों का चमत्कार है, अन्यथा मनुष्य कितना भी प्रतिभाशाली क्यों न हो, इतना सब नहीं कर सकता।''

गुरुदेव हँसते हुए बोले-''तप-साधना नहीं, ब्राह्मणत्व का चमत्कार कहिए। तप-साधना तो अभी तिजोरी में बन्द है।'' ''ब्राह्मणत्व! ब्राह्मण तो अनेकों हैं।'' शायद वह मन्तव्य समझ नहीं पाये। उनका जवाब था- ब्राह्मण वह है जो समाज से न्यूनतम लेकर समाज को अधिकतम दे। इसके बिना भी कभी कोई ब्राह्मण हुआ है। राजनेता चकित होते हुए बोले- ''ओह ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के ब्राह्मणत्व के चमत्कार तो मैं रामायण आदि ग्रन्थों में पढ़ा करता था, आज प्रत्यक्ष देख लिया।''

* खूड़, सीकर की एक घटना है। पूज्य गुरुदेव यज्ञ में वहाँ गए थे। शोभायात्रा वहाँ से निकलनी थी जहाँ से वे गाँव में प्रवेश करने वाले थे। स्व. वैद्य पं. रामगोपाल जी जोशी ने उनका स्वागत किया। देखा तो स्वागत करने वालों के पीछे आँखों में याचना भाव लिए साठ से अधिक कुष्ठ रोगियों की एक पंक्ति भी खड़ी थी। पूज्यवर तुरन्त उनके पास पहुँचे, सबको स्पर्श कर आशीर्वाद दिया एवं फिर कहा कि ''मैं आपकी तो कोई सेवा नहीं कर सकता, क्योंकि यह अनिवार्य प्रारब्ध है, जो आपको भुगतना पड़ रहा है, किन्तु एक आशीर्वाद व आश्वासन आपको देता हूँ कि आप लोगों के बाद आपकी संतानों को यह रोग नहीं होगा।'' रोगी निहाल होकर उनके चरणों में गिर पड़े।

आज तीस वर्ष से भी अधिक हो गये हैं। उन कुष्ठ रोगियों के परिवारीजनों में से किसी को भी कुष्ठ रोग नहीं है। पूरी पंचायत क्षेत्र से उन रोगियों की मृत्यु के बाद कुष्ठ उन्मूलन हो गया है। ऐसा फलदायी प्रत्यक्ष आशीर्वचन स्वयं परमसत्ता ही दे सकती है।

* संस्मरणों के माध्यम से अध्यात्म तत्वज्ञान का गूढ़ विवेचन कर श्रोताओं के गले उतार देना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, जो साधक स्तर का वक्ता ही अर्जित कर सकता है। यह सिद्धि पूज्य गुरुदेव को प्राप्त थी। उनके प्रवचनों का मूल आधार ही प्रेरक, मार्मिक, रुला देने वाला होता था। जापान के गाँधी कागावा, पिसनहारी, हजारी किसान, जलाराम बापा, नरसी मेहता, मीरा, चैतन्य, महात्मागाँधी इत्यादि के प्रसंगों में एक प्रसंग पर ही पूरा विवेचन कर श्रोताओं को उद्वेलित कर पूरे डेढ़ घण्टे तक बिठाये रहना उन्हीं का कौशल था। देवकन्याओं को वक्तृता का शिक्षण देते समय दहेज, बहू पर अत्याचार-खर्चीली शादी जैसे विषयों का सोदाहरण ऐसा मार्मिक चित्रण उन्होंने हृदयगंम कराया कि जहाँ-जहाँ उनके प्रवचन हुए, श्रोताओं को उस उद्बोधन ने हिलाकर रख दिया। यही कथा शैली 'रामचरित मानस की प्रगतिशील प्रेरणा' 'गीता कथा' 'बाल-निर्माण की कहानियाँ' एवं 'प्रज्ञापुराण' में प्रधानता पाकर जन-जन में लोकप्रिय बन गई।

* अखण्ड-ज्योति कार्यालय में तब पैर से चलने वाली ट्रेडिल मशीन लगी थी। बूढ़े नसरूमियाँ एवं लतीफ नाम का एक युवा लड़का मिलकर इसे चलाते थे। वे सतत काम करते हुए अखण्ड-ज्योति की छपाई करते थे। उनका अपना खर्च भी इसी से चल रहा था। इसी बीच १९४७ का भारत-पाक विभाजन का दौर आया। सभी नगर उसकी

चपेट में आ चुके थे। नसरू व लतीफ के न आने के कारण मशीन बंद हो गयी थी। पूज्य गुरुदेव स्वयं लतीफ के घर पहुँचे व उसके पूरे परिवार को अपने संरक्षण में अपने घर ले आये। नसरूमियाँ कहीं और जा चुके थे। बाद में उन्माद थमने पर उन्होंने लतीफ के पूरे परिवार की उसकी इच्छानुसार पाकिस्तान जाने की व्यवस्था भी कर दी। साम्प्रदायिक सौहार्द का यह अद्‌भुत उदाहरण था।

१९८४ में वही लतीफ कराँची से वीसा लेकर भारत आया व वंदनीया माताजी व गुरुदेव से मिलकर गया। १९४७ से अब तक सतत एक अखण्ड ज्योति ३८७६, कौरंगी कालोनी, कराँची लतीफ मियाँ के पते पर जाती है।

❀ सन १९४३ में पूज्य गुरुदेव ने एक पुस्तक लिखी 'मित्रभाव बढ़ाने की कला।' यह सद्ज्ञान ग्रन्थमाला का तेईसवाँ पुष्प था। पुस्तक के नाम की ही तरह उनके उन दिनों अनेक मित्र थे। कुछ गाँव के साथी, जो उन्हें मत्तजी कहते थे, घर जब मनचाहा, चले आते थे, कुछ काँग्रेस के कार्यकर्ता मित्र, कुछ आर्यसमाज के धर्मोपदेशक मित्र कुछ पण्डित, कुछ मुसलमान तो कुछ ईसाई मित्र। सभी से उनका परस्पर स्नेहभाव व सम्मान देने के गुण ही ने उन्हें सबका प्रियपात्र बनाया। वैसे प्रसंग चलने पर वे कहा करते थे-"मेरे ढाई मित्र हैं।" ये कौन हैं? कौन से दो हैं व शेष आधे में कौन-कौन हैं, यह पूछने पर सदैव मुसकरा देते।

❀ सम्मान की पूँजी देने पर मिलती, बाँटने पर बढ़ती और बटोरने पर समाप्त हो जाती है। उनका सहज स्वभाव सम्मान बाँटने का था। एक दिन एक उच्च प्रशासनिक अधिकारी का अपने परिवार के साथ आना हुआ। ऊपर के कमरे में पहुँचने पर गुरुदेव ने आग्रहपूर्वक उन सबको कुर्सियों पर बैठने का आग्रह किया। पहले तो वे चौंके, फिर न-नुकर की, पर बाद में स्नेहिल आग्रह के वश में हो बैठना पड़ा। घर परिवार, व्यक्तिगत व कार्यालय के जीवन संबंधी तमाम बातों की थोड़ी देर तक चर्चा होती रही। अधिकारी महोदय उनकी बातों से चकित होते रहे। नीचे उतरने पर वह अपनी पत्नी से कह रहे थे-"भाई! विचित्र सन्त हैं यह।" "क्यों क्या विचित्रता है इनमें?" पत्नी ने पूछा। "अन्य सन्त महात्माओं के पास जाकर उन्हें सम्मान देना पड़ता है। यहाँ उल्टे यह स्वयं सम्मान देते हैं।" उनका उत्तर था। न केवल उन सज्जन ने, अनेक ने उनके सान्निध्य में ऐसी अनुभूति पायी।

❀ ईश्वरीय प्रयोजन के लिए आये महापुरुष भावपुंज होते हैं। जहाँ-कहीं भी भावनाशीलता जीवित है, उनके आगमन पर उद्वेलित, आकर्षित हुए बिना नहीं रहती। शक्तिपीठों का निर्माण लगभग शुरू हो चुका था। जन-सहयोग उमड़ रहा था। इन्हीं दिनों एक बुढ़िया उनके पास आई और अपने दोनों चाँदी के कड़े उतार कर उनके पास रख दिये, बोली- "सुना है आप शक्तिपीठ बना रहे हैं, मेरा भी इतना दान स्वीकार कर लीजिए।" पूछने पर उसने बताया कि दस-बीस रुपये की साग भाजी खरीद कर बेच लेती हूँ। यही उसकी आजीविका है। सम्पत्ति के नाम पर यही चाँदी के कड़े हैं सो दे रही हूँ। विवरण सुनकर वह भाव-विह्वल हो उठे-उन कड़ों को स्पर्श करते हुए बोले "माताजी आपका दान सबसे बड़ा है। इतना बड़ा दान भला आपके सिवा और कौन देगा?" उसकी प्रशंसा में अनेक वाक्य कहे। वृद्धा अश्रुभर नयनों से उनकी ओर ताक रही थी। निश्चित ही उनकी दृष्टि में कार्य की अपेक्षा भाव के परिमाण का कहीं अधिक महत्त्व था।

❀ पूज्य गुरुदेव न केवल अँग्रेजी समझते थे, पढ़ लेते थे बल्कि बिलकुल शुद्ध उच्चारण भी उसका कर लेते थे। तपोभूमि आने वालों में कई विदेशी हुआ करते थे। कनाडा, रशिया, जर्मनी से आये व्यक्तियों से इस तरह बातचीत करते कि उनकी जिज्ञासा का समाधान हो जाता। शांतिकुंज आने पर भी यह सिलसिला चला। एक बार नये आए एक कार्यकर्ता ने ऊपर आकर बताया कि "मेक्सिको से एक स्पेनिश विद्वान आए हैं। उनकी पत्नी अँग्रेजी जानती हैं पर हिन्दी नहीं। मैं दुभाषिए का काम कर दूँगा। वे गायत्री मंत्र पर आपसे चर्चा करना चाहते हैं।" हँसकर वे बोले-"अच्छा बुला लो।" ऊपर आने पर जैसे ही बातचीत का क्रम आरंभ हुआ। उन सज्जन ने अपनी स्पेनिश में कुछ कहा। जब तक उनकी पत्नी अँग्रेजी अनुवाद करतीं व बीच में टपके वे कार्यकर्ता महोदय हिंदी अनुवाद, तब तक पूज्य गुरुदेव उसका अँग्रेजी में जवाब भी दे चुके थे। आधे घण्टे तक यह प्रसंग चलता रहा। सब अवाक् थे। समझने में आया कि मनीषी भाषाओं के धरातल से भी ऊँचे होते हैं। वे कभी भी अपनी महानता अपने मुँह से कहते नहीं।

❀ जिसे जनता पर विश्वास हो, जनता उसके ऊपर विश्वास करे। इन विश्वासों का मिलन जिसके दिल की गहराइयों में हो-वही तो सच्चा लोकनायक है। यह तथ्य ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के उद्‌घाटन दिवस पर मूर्त हो उठा। इस अवसर पर उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल जी.डी. तपासे आए हुए थे। अनेकों गणमान्य व्यक्तियों की उपस्थिति में गुरुदेव किसी संदर्भ में बोले "हम सरकार से पैसों की अपेक्षा नहीं करते। सरकार के पास अपने ही बहुत काम हैं, जो धन के अभाव में अधूरे पड़े हैं।"

समारोह की समाप्ति पर महामहिम राज्यपाल महोदय कुछ मजाक के स्वर में बोले "आचार्य जी! सरकार से आपको पैसा चाहिए नहीं, धनपतियों से आप माँगते नहीं। फिर आपका स्रोत क्या है?" मजाक का जवाब मजाक में देते हुए उन्होंने कहा "मैंने एक जिन्न सिद्ध कर रखा है। बड़ा करामाती जिन्न है।" सुनकर राज्यपाल आश्चर्य से उनकी ओर देखने लगे-वह भी हँसते हुए बोले-"चलो आप तो अपने हैं-बताए देता हूँ उसका नाम। मेरा जिन्न है-भारत की जनता।"

जनता पर उनके अखण्ड विश्वास को देख महामहिम राज्यपाल के मुख से निकला "आचार्य जी! आप सच्चे लोकनायक हैं।"

※ धरती पर विशेष प्रयोजन हेतु आए महापुरुष उदारता की प्रतिमूर्ति होने के बावजूद कहीं कठोर भी होते हैं और उनकी इस कठोरता का केन्द्र बनता है अपना और अपनों का जीवन। आश्चर्यजनक किन्तु सत्य की सीमा में आने वाली यह बात उनके अपने निकटस्थ शिष्य की बीमारी के दौरान स्पष्ट हुई। उस समय इस कार्यकर्ता को गंभीर ऑप्रेशन हुआ था। असह्य वेदना, असुविधाओं का जखीरा तो जुटना ही था।

कुछ के मन में आया गुरुदेव तो अपनी तपशक्ति से अनेकों संकट टाल सकते हैं। फिर इस संकट को क्यों नहीं टाल रहे? जबकि संकट उनके नितान्त अपने पर है। एक दिन इधर-उधर से उठी इस बात का समाधान देते हुए उससे बोले- क्यों भाई! तुम तो ऐसा नहीं सोचते। फिर समझाते हुए कहा-हमारी आत्मीयता के लिए कष्ट तो उठाना ही पड़ेगा। न जाने कितनों की तकलीफें मुझे लेनी पड़ती हैं। इन्हें मैं और मेरे अपने ही तो उठाएँगे। अपने प्रति ही नहीं, अपनों के प्रति भी कठोरता। यह कठोरता ही तो उनकी अमूल्य आत्मीयता का मूल्य है। तथ्य स्पष्ट हो चुका था।

※ चमत्कार का तात्पर्य बाजीगरी नहीं, बल्कि लोकहित में कुछ ऐसा कर गुजरना है जो अनुपमेय, असाधारण हो। उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल डॉ. एम. चेन्ना रेड्डी ने अपने दूसरी बार आगमन पर इन्हीं अर्थों में उन्हें चमत्कारी कहा। राज्यपाल महोदय भावुक हो अपने भाषण में कहने लगे- ''देश की स्वतन्त्रता के बाद लोकजीवन की मानसिकता ऐसी बदली कि स्वयं राष्ट्र-पिता को हताश हो कहना पड़ा- अब मेरी कौन सुनेगा? सत्ता शासन के मद में बहरे अँग्रेजों को सुनाने वाला अपनों को न सुना पाया। ऐसे में गाँव का साधारण ब्राह्मण कहता है कि मैं सुनने योग्य सुनाऊँगा, करने योग्य कराऊँगा। कहता ही नहीं करके दिखा रहा हूँ। इसे मैं सबसे बड़ा चमत्कार न मानूँ तो क्या मानूँ। न कुछ से कुछ, कुछ से बहुत कुछ की इनकी यात्रा आश्चर्य नहीं तो क्या है?'' महामहिम राज्यपाल के इन शब्दों ने सुनने वालों के मन में चमत्कार की सही परिभाषा लिख दी, पर सही माने में चमत्कार तो अब दिखाई देंगे। बहुत कुछ से सब कुछ की यात्रा तो अभी शुरू हुई है।

※ प्रकृति से पूज्य गुरुदेव को अगाध प्रेम था। हिमालय की आत्मा तो उनके कण कण में समाई हुई थी। 'सुनसान के सहचर' पुस्तक उसी आत्मभाव की अभिव्यक्ति है। शांतिकुंज में उनके कक्ष व लगी हुई छत से गढ़वाल हिमालय, शिवालिक पर्वत की शृंखलाएँ सामने ही दिखाई देती हैं। शीतऋतु में हिमाच्छादित चोटियाँ भी साफ दृष्टिगोचर होती हैं तथा वर्षाऋतु में तो यहाँ का सौन्दर्य देखते ही बनता है। अपने साथ कार्य करने वाले सहयोगी कार्यकर्ताओं व वंदनीया माताजी को भी वे मेघमालाओं से घिरे पर्वत शिखर, उनकी गोद में खेल रही माँ गंगा व हिमशिखरों को दिखा-दिखाकर अपने आनन्द की अभिव्यक्ति करते। संभवतः शांतिकुंज निर्माण का मूल कारण उस भूमि का सुसंस्कारित रहना हो, किंतु एक प्रमुख कारण प्रकृति का साहचर्य भी हो सकता है। दूर उत्तर दिशा में पूर्व में आज भी मात्र हरे-भरे वृक्ष हैं, पर्वत शृंखलाएँ हैं व प्राकृतिक सौन्दर्य अपनी छटा बिखेरे हुए है। यही सब देखने वे सतत बाहर आते व इसका अवलोकन कर समष्टि से अपना तादात्म्य स्थापित करते थे।

※ उन दिनों गुरुदेव नित्य प्रवचन देने नीचे जाते थे। 'शांतिकुंज' नाम उस आश्रम का इसलिए था कि स्थान-स्थान पर कुंज थे, लता-मण्डप थे, जड़ी-बूटियाँ लगी थीं। सभी की साज-सज्जा, कटाई-छँटाई पर वे बराबर ध्यान देते थे। एक दिन वे व्याख्यान के लिए निकले, तो देखा कि किसी कार्यकर्ता ने कटाई-छँटाई कुछ ज्यादा ही निर्ममता से कर ऊपर से दिखाने भर के लिए बेलों को बाँध दिया है, ताकि वे बिखरें नहीं, पर उसके इस प्रकार बाँधने व नीचे से कट जाने से ऊपर की शाखाएँ व पत्तियाँ सूख गई हैं। लौटकर उन्होंने व्यवस्था से जुड़े लोगों को बुलाया व उसका उदाहरण देते हुए आक्रोश में बोले-''तुम समझते हो इन निरीह पौधों में प्राण नहीं होते। कैसा हो यदि तुम्हारे हाथ-पाँव बाँधकर कोई ऐसे तुम्हें खड़ा कर दे।'' ऐसा लगा प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करने वाला वह महामानव वह दृश्य देखकर अंदर से तिल-मिला गया है। उन दिन सबने एक तथ्य समझा कि प्रकृति मात्र में वही परमसत्ता विद्यमान है व महापुरुषों की करुणा सहज ही ऐसे में उभर आती है जब उसके किसी भी अंग के साथ खिलवाड़ किया जाता है।

※ उन दिनों वह कार्यक्रम के सिलसिले में बाहर थे। आयोजन में उनके प्रवचन को कुछ ही देर रह गई थी कि खबर आई कि एक कार्यकर्ता मथुरा से अभी आए हैं और आपसे तुरन्त मिलना चाहते हैं। सुनकर आगन्तुक कार्यकर्ता को बुलाने का आदेश दिया। कार्यकर्ता ने पास पहुँचने पर बताया कि पूज्य ताईजी (पूज्य गुरुदेव की माताजी) की दशा बहुत चिन्ताजनक है, तुरन्त चलना होगा। सुनकर वह बोले-''तुम चलो, उनके शरीर छोड़ देने पर उचित व्यवस्था जुटाना, मैं कार्यक्रम के समाप्त हो जाने पर आ जाऊँगा।''

यह समाचार आयोजकों ने भी सुना-उन्होंने भी प्रार्थना की ''आपको चले जाना चाहिए, आयोजन बाद में हो जाएगा।'' सुनकर वह बोले-''सवाल आयोजन का नहीं है, सवाल मेरे कर्तव्य का है। इतने लोग जो मुझसे कुछ पाने आए हैं, खाली हाथ लौटेंगे। यह मैं देख नहीं सकता। मानवमात्र के हृदय में भगवान का निवास होता है। ऐसे भगवान की पूजा छोड़कर मैं नहीं जा सकता।'' तत्पश्चात उन्होंने स्वस्थ चित्त हो प्रवचन किया। कार्यक्रम भलीप्रकार समाप्त हुआ। कहना न होगा कि उनके पहुँचने के काफी पहले ताई जी संसार छोड़ चुकी थीं। पहुँचने पर सारा उत्तर कार्य निपटाया। महामानव मोह से परे होते हैं। उन्हें

निर्मम नहीं, कर्तव्य- मानवता का पुजारी मानना चाहिए। महामना मालवीयजी एवं बालकृष्ण गंगाधर तिलक के साथ भी ऐसा ही हुआ था।

❋ इतनी लम्बी जीवन-यात्रा में पूज्य गुरुदेव की न जाने कितनों से मित्रता हुई व स्वाभाविक है कि अध्यात्म क्षेत्र में मिली लोकप्रियता व कीर्ति को देखते हुए कुछ विरोधी भी बने। जब चौक आर्यसमाज मथुरा के प्रधान से त्यागपत्र देकर वे गायत्री तत्वज्ञान प्रतिपादन करते हुए मंदिर की स्थापना करने के लिए उद्यत हुए, तो स्वाभाविक था कि आर्यसमाजी उनका विरोध करें। गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार के तत्कालीन कुलपति रामनाथ वेदालंकार उनसे मिलने आए व कहा कि-''आपने आर्यसमाज को क्यों छोड़ दिया? सभी आपके मूर्तिपूजा पक्ष की आलोचना करते हैं।'' गुरुदेव ने कहा कि-''आर्यसमाज मेरे रोम-रोम में बसा है। मैंने तो सनातन धर्म एवं आर्यसमाज का समन्वय कर स्वामी दयानंदजी के काम को आगे ही बढ़ाया है, जबकि उधर आर्यसमाज परस्पर विवादों, अंतर्संघर्षों से घिरा हुआ है। हिन्दू धर्म को आज समन्वित स्वरूप की आवश्यकता है। इस भूख को आप मुझे मिले जन-सहयोग को देखकर समझ सकते हैं।'' वे निरुत्तर थे।

वस्तुत: एक ब्रह्मास्त्र उनके पास था-'उपेक्षा'। लड़कर, विवाद कर अपनी बात का प्रतिपादन करने की अपेक्षा जो आलोचना करता है, उसकी उपेक्षा करने पर वह स्वत: समाप्त हो जाता या पुन: उनका अपना बन जाता।

❋ पूज्य गुरुदेव लेखन से पूर्व चिंतन नियमित किया करते थे एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं को बिठाकर उनके दिमाग की अच्छी कसरत करवा कर उनसे संदर्भ ढूँढ़ने को कहते। इधर संदर्भों की तलाश होती, उधर इतनी चर्चा के बाद प्रात: उनकी लेखनी चल पड़ती। आश्चर्य यह होता था कि इन लेखों में बहुधा वही नाम, संदर्भ हुआ करते थे जो परिजन, शोधकार्य में सहयोगी उस समय पढ़ रहे या नोट्स ले रहे होते थे। सम्भवत: यह भी योग की एक सिद्धि है, जिसमें व्यक्ति विचारों को समष्टिगत प्रवाह बनाकर पढ़ लेता है व उसे युगप्रवाह का अंग बना देता है। ऐसा कई बार देखने में आया कि किसी नये विषय पर किसी कार्यकर्ता ने पुस्तक पढ़ी, तो अगले दिन पूज्य गुरुदेव का लेख उसी विषय पर नकल हेतु पहुँच गया। प्रवाह वही है, शक्ति उन्हीं की है। लेखनी भले ही किसी या किन्हीं के हाथों में हो।

❋ हीरे की परख जौहरी ही कर सकता है। इसी तरह ऋषि की परख वही करे, जो स्वयं ऋषि हो। इस कथन की सार्थकता विनोबाजी के ग्वालियर-मुरार कार्यक्रम के अवसर पर अनुभव हुई। उनके निवास स्थान पर ग्वालियर के एक कार्यकर्ता पूज्य गुरुदेव के वेदभाष्य लेकर भेंट करने गए। यह वेदभाष्य का प्रथम प्रकाशन था। शाम के यही कोई चार बज रहे होंगे। विनोबा जी ठहरे ठेठ सत्यवादी, वेदों को उलटते-पलटते हुए बोले-''अभी मैं तुम्हारी इस भेंट के बारे में कुछ नहीं कह सकता हूँ। कल सुबह आना।''

दूसरे दिन प्रात: पहुँचने पर वह वेद वापस करने लगे। लेते हुए कार्यकर्ता थोड़ा मलीन मन था, कुछ आश्चर्यचकित भी। उसके आश्चर्य को तोड़ते हुए बोले-''मेरे शाम के कार्यक्रम में आना, वहीं पर मैं यह भेंट स्वीकार करूँगा। ऐसी अमूल्य भेंट व्यक्तिगत नहीं सार्वजनिक स्तर पर स्वीकारी जानी चाहिए।'' कार्यकर्ता शाम के कार्यक्रम में पहुँचा-वेदों के महान पण्डित विनोबाजी ने उसे मंच पर बुलाया। वेदों को उसके हाथ से लेते हुए मस्तक झुकाकर वेद भगवान को प्रणाम करते हुए उन्होंने घोषणा की, ''कल रात मैंने वेदभाष्य को भली-भाँति देखा है। ऐसा सुन्दर भाष्य कोई वैदिक ऋषि ही कर सकता है, अन्य में भला ऐसी सामर्थ्य कहाँ? विनोबा जी पूरी सभा में काफी देर तक वेदभाष्य की प्रशंसा में बोलते रहे। कार्यकर्ता एक ऋषि से दूसरे ऋषि के स्वरूप को सुनकर मुग्ध हो रहा था।

❋ भावनगर के एक सज्जन ने मथुरा यात्रा के दौरान उनका नाम सुना। वे उनसे मिलने आये। १९५०-५१ का समय था। अखण्ड-ज्योति हाथ के कागज से छपने के बाद कुछ ही दिन पूर्व अखबारी कागज पर छपने की स्थिति में आई थी। आर्थिक संकट यथावत था।

उन सज्जन से उन्होंने उनकी सारी समस्याएँ सुनीं। फिर साथ-साथ विश्राम घाट तक बात करते चले गए। यमुना किनारे बैठकर आत्मीयतापूर्वक उनके कंधे पर हाथ रखते हुए उन्हें आश्वासन दिया कि वे दुख-कष्ट में हमेशा साथ रहेंगे। भावविभोर उस व्यक्ति ने श्रद्धापूर्वक इक्यावन रुपये उनको भेंट किए व इजाजत माँगी। उन्होंने कहा कुछ देर और कष्ट करना पड़ेगा, क्योंकि श्रद्धांजलि की रसीद तो लेनी ही पड़ेगी। साथ लेकर लौटे व कपड़ों की मण्डी जा पहुँचे। इक्यावन रुपये में चार सौ रूई की बण्डियाँ खरीदीं। कुछ उनके सिर पर रखीं, कुछ अपने व रास्ते में सड़क पर ठण्ड में ठिठुर रहे निराश्रितों को बाँटते चले गये। श्रद्धांजलि की पावती इस रूप में मिलती देख वे सज्जन स्तब्ध थे, बोले कुछ नहीं। चरणों में सिर नवाकर चले गये। पहला अंशदान पाँच हजार रुपयों का तपोभूमि निर्माण के निमित्त उन्हीं ने भेजा था। यह थी उनकी अपनत्व की सम्मोहन शक्ति, जिसने अगणित विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों को उनकी प्रामाणिकता के आधार पर उनसे स्नेह सूत्रों में बाँध दिया।

❋ विदुर की पत्नी योगेश्वर कृष्ण को केले के छिलके खिलाती रही और वह आनन्दमग्न हो खाते रहे। आखिर उन्हें पदार्थ नहीं भाव जो प्रिय था। ऐसी ही घटना उनके मध्यप्रदेश प्रवास के दौरान घटी। वे अपने सहायक कार्यकर्ता के साथ एक घर में पहुँचे। घर में अकेली महिला थी। गुरुजी आए हैं, सुनते ही भावविह्वल हो उठी। क्या खिलाऊँ। क्या स्वागत करूँ? कुछ सूझ नहीं रहा था।

दौड़ी-दौड़ी गई, दो गिलास दूध भरा, पर जल्दी के मारे उसमें शक्कर की जगह एक मुट्ठी पिसा नमक डाल गई।

दूध मिलने पर गुरुदेव तो बड़े प्रेम से उसे पीने लगे। पीते हुए कभी दूध की प्रशंसा करते, कभी उसकी जीवन-शैली की। इधर साथ के कार्यकर्ता को उबकाइयाँ आ रही थीं। इशारा करने के बावजूद वह कह ही बैठे, तब गुरुजी अपना दूध समाप्त कर चुके थे। महिला के दुखी होने पर बोले-"बेटी इसके में नमक होगा, मेरे में तो शक्कर थी।" थोड़ी देर तक उसे समझाते-बुझाते रहे। बाहर निकलने पर कार्यकर्ता अवाक हो "भावना ही जनार्दन।" इस उक्ति को साकार होते देख रहा था।

❊ स्वावलम्बन विद्यालय जो मथुरा व हरिद्वार में स्थापित है, देखकर सभी अनौपचारिक उपार्जन प्रधान इस शिक्षा का प्रारूप देखकर प्रशंसा करते हैं। पूज्य गुरुदेव के निर्धारणों के अनुसार बने ये दो केन्द्र तो पिछले दो दशकों में बने हैं, किन्तु अपनी किशोरावस्था में ही अपने गाँव आँवलखेड़ा में उन्होंने अपने इस विचार को कार्यरूप दे दिया था। 'शिल्पकला केन्द्र' नाम से अपने घर के सामने की जमीन पर उन्होंने सोलह-सत्रह वर्ष की आयु में ही सात करघों से खद्दर बुनने का कार्य चालू कर दिया था। सूत कातने के लिए गाँव की महिलाओं में बाँट दिया जाता। श्रम के बदले में उन्हें राशि भी दी जाती थी। नारी-उत्थान के लिए उनकी यह शुरुआत वाला कार्यक्रम था, जिसे बाद में सुनियोजित रूप दिया गया। कुछ अशिक्षित बेरोजगार युवकों से उन्होंने करघों पर बुनाई हेतु आने को कहा व बदले में राशि देकर मेहनत की कमाई पर जीना सिखाया। 'बुनताघर' नाम से गाँव में प्रसिद्ध इस केन्द्र के जन्मस्थली के सामने अवशेष विद्यमान हैं।

❊ विनोबा ने 'गीता प्रवचन' में तुलाधर वैश्य की कथा, जिसमें बच्चे-बूढ़े सबके साथ तुला जैसा व्यवहार किये जाने, बाल काटने वाले नाई के जीवन के साधनामय बनने पर दूषित विचारों की भी वैसी ही कटाई, किसान की तरह खरपतवार अपने जीवन में से निकाल बाहर कर अनगढ़ता से सुगढ़ता की साधना करना, ऐसे जीवन्त उदाहरण दिए हैं। पूज्य गुरुदेव की संभाषण व व्याख्यान की शैली भी यही थी। जीवन से जुड़े छोटे-छोटे उदाहरणों के द्वारा कैसे व्यक्ति साधारण से असाधारण बनता है, यह उन्होंने अनेकों तरह से समझाया है। कोयले से हीरा बनने से लेकर अनगढ़ पत्थर की मूर्ति की तरह तराशा जाना एवं बेल के वृक्ष से लिपटकर ऊँचा उठ जाने की तरह समर्पित का उत्कृष्टता की ऊँचाई को पा लेना, यही उनकी मर्मस्पर्शी उद्बोधन शैली थी। आश्चर्य इस बात का है कि बोलते समय ऐसी सुबोध शैली जो सीधी अंदर तक उतरती चली जाए व लिखते समय ऐसी संस्कृतनिष्ठ व उक्तियों-मुहावरों से भरी हुई कि हिन्दी के विद्वान भी उससे शिक्षण लें। यह बहुमुखी स्वरूप साधारण मानव का नहीं हो सकता।

❊ ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के सत्र चल रहे थे विज्ञान, दर्शन-विधा के कई विशेषज्ञों ने जो मिशन के कार्यकर्त्ता भी थे, उसमें भाग लिया था। सत्र समापन पर पूज्य गुरुदेव का अन्तिम प्रवचन हुआ, जिसमें समस्त संकल्पनाओं पर प्रकाश डाला तथा इस पुनीत कार्य हेतु समर्पित कार्यकर्ताओं का आह्वान किया गया था। अगले ही दिन सत्र में आए एक रसायनशास्त्र के पोस्ट ग्रेजुएट ऊपर गुरुदेव से आज्ञा लेने जा पहुँचे। बोले कि "यहीं रहकर काम करना चाहता हूँ।" बार-बार अपनी योग्यता की रट लगा रहे थे। गुरुदेव ने सारी बात सुनकर एक ही बात पूछी- "तुम क्या काम करोगे ब्रह्मवर्चस में?" उत्तर आया-"मैं तो उपकरणों पर काम करूँगा, निदेशक महोदय के साथ काम कर उनको सहयोग दूँगा।" गुरुदेव ने पूछा "कभी झाड़ू लगानी पड़े। प्रयोगशाला की सफाई करनी पड़े। पाखाने की धुलाई करनी पड़े, तो कर सकोगे?" उत्तर आया- "यह काम तो कोई भी नौकर कर लेगा। मैं तो वैज्ञानिक हूँ।" कड़े शब्दों में गुरुदेव बोल उठे- "जो स्वयंसेवक बन सके, वही मेरा प्रिय-परिजन बन सकता है। जाओ, तुम नौकरी करो। तुम्हारे अन्दर लोकसेवा के संस्कार जाग जाएँ तब आना।" यह थी इनकी मूल्यांकन की कसौटी।

❊ स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि छटाँक भर के दिमाग से कहीं रामकृष्ण की अवधारणा हो सकती है? स्वामीजी का कथन गुरुदेव पर भी सौ फीसदी खरा उतरता है। बात ७ दिसम्बर, १९८९ की है। गुरुदेव अपने ऊपर के आँगन में टहलते हुए पास बैठे एक शिष्य को मनोविज्ञान के कुछ सिद्धान्त स्पष्ट कर रहे थे। यही कोई साढ़े तीन-चार का समय होगा। सिद्धान्तों को भलीप्रकार स्पष्ट करते हुए बोले "जानता है! आजकल शान्तिकुंज क्या बन गया है?"

सुनकर शिष्य कुछ अचकचा गया, उसे हाल में हुए नये निर्माण के बारे में मालूम था। विश्वामित्र की तपस्थली के बारे में भी जानता था। अपनी जानकारियों को उसने कह सुनाया। सुनकर उसके बचकानेपन पर हँसते हुए बोले "अरे यह सब नहीं लड़के ! आजकल शान्तिकुंज बन गया है-महाकाल का घोंसला।" सुनने वाले की समझ को परखते हुए वह थोड़ा खुलासा करते हुए बोले- "धरती पर चल रही महाकाल की विभिन्न गतिविधियों का हैड आफिस अब यही है।"

सुनने वाले को चकित देख वह हँसने लगे। उसने भी घोंसले के निवासी को प्रणाम किया और चलता बना। उसके दिमाग में गोस्वामीजी की एक चौपाई गूँज रही थी "सो जानइ जेहि देहु जनाई।"

❊ विवेक चूड़ामणि में आचार्य शंकर ने परमसिद्ध को आनन्द का पिटारा कहा है- आनन्द का पिटारा होने का मतलब है बच्चों जैसा निश्छल हँसता-हँसाता विनोदी जीवन। जिन्हें भी उनके निकट आने का सौभाग्य मिला,

उनके हँसी के फव्वारों से नहाए बिना न रहे होंगे। ऐसे ही एक दिन गुरुदेव तपोभूमि में दो कार्यकर्ताओं के साथ बैठे हुए थे। इनमें से एक कार्यकर्ता को लम्बी दाढ़ी बढ़े हुए बाल रखने का शौक था। तिलक लगाने, पीत वस्त्र धारण करने पर उनकी शोभा किसी महन्त से कम न होती थी। वार्तालाप का क्रम चल ही रहा था कि एक व्यक्ति ने अन्दर प्रवेश किया। इन तीनों के पास पहुँचकर बोला, मुझे ''गुरुजी से मिलना है।''

गुरुजी हँसते हुए बोले-''पहचान लो गुरुजी को इन्हीं तीन में कोई गुरुजी हैं।'' आगन्तुक थोड़ी देर तक इधर-उधर देखता रहा। फिर लम्बी दाढ़ी वाले कार्यकर्ता के चरणों में माथा रख दिया। बेचारे कार्यकर्ता भौंचक्के हो समझाने लगे कि गुरुजी मैं नहीं, वह रहे। इधर वह सारे तमाशे को देख हँसते हुए कह रहे थे ''बहकावे में आकर गुरु के चरणों को मत छोड़ देना, यही गुरुजी हैं।'' आस-पास कुछ और लोग आ गए। बड़ी देर तक वातावरण में ठहाके गूँजते रहे। काफी देर बाद आने वाले को असली गुरुजी का पता चला, वह भी उनकी बालवत हँसी देख मुग्ध हो गया।

❁ शब्द सक्रिय होते हैं और निष्क्रिय भी। इनकी सक्रियता के लिए वाक्य-व्यंजना, व्याकरण-कौशल नहीं, चाहिए बोलने वाले के व्यक्तित्व की प्राणऊर्जा। जिसके बिना सभी कुछ निष्क्रिय है। प्रारम्भ से ही गुरुदेव की वाणी ऐसी प्राणऊर्जा से सनी होती थी। उन दिनों काँग्रेस का आन्दोलन मन्दा पड़ते देख अधिकांश कार्यकर्ता यहाँ तक कि वरिष्ठ कहे जाने वाले काँग्रेसी अपना काम-धंधा जमाने लगे थे। भू. पू. प्रान्तीय मन्त्री जगन प्रसाद जी रावत ने भी पुस्तकों, मुहर्रिर एवं स्थान की व्यवस्था करके अपनी वकालत प्रायः शुरू कर दी थी।

एक दिन जब वह ताँगे पर कचहरी जा रहे थे। रास्ते में नवयुवक श्रीराम ने एक क्षण के लिये ताँगा रुकवाया और बोले- रावत जी! ऐसे में आप भी वकालत करने लगोगे तो हम स्वयंसेवकों का क्या होगा? काँग्रेस कहाँ जाएगी? देश के प्रति उनके प्राणों की आकुलता ने सुनने वाले के अन्तःकरण को झकझोर दिया। ठेठ ब्रज भाषा में कहे गए शब्दों ने निर्णय परिवर्तित करा दिया। वकालत का निर्णय परे रख वे पुनः राष्ट्रसेवा में कूद पड़े, आगे चलकर सरकार में मंत्री बने। ऐसे थे उनके सक्रिय शब्द। जिनके प्रभाव ने, एक दो नहीं लाखों व्यक्तियों के जीवन बदले।

❁ अपनापन जहाँ पर जितना अधिक विस्तार करता है, लोकश्रद्धा वहाँ उतनी ही अधिक पल्लवित होती है। अहमदाबाद शक्तिपीठ के उद्घाटन अवसर पर पूज्य गुरुदेव के स्वयं के ये भाव साकार हो रहे थे। जनसमूह उमड़ पड़ा था। आयोजन में क्षेत्र के विभिन्न गणमान्य व्यक्तियों के अतिरिक्त गुजरात सरकार के तीन मंत्री भी उपस्थित थे। गुरुदेव ने अपने प्रवचन के दौरान हँसते हुए कहा- मेरे पास बहुत पैसा है। कहाँ? यह नहीं बताऊँगा। फिर विनोद भरे स्वर में बोले- ''बता दूँगा तो इनकम टैक्स वाले छापा नहीं मारेंगे? कहो तो बता दूँ!'' थोड़ा रुककर कहा- ''मेरा पैसा आप लोगों की जेब में है, जब चाहता हूँ निकाल लेता हूँ।

प्रवचन की समाप्ति पर विनोदपूर्ण माहौल में एक मंत्री महोदय हँसते हुए बोल पड़े ''आज एक बात समझ में आयी आचार्य जी, कहो तो बोलूँ! कहिए गुरुजी ने मुसकराते हुए कहा- ''देश की जनता के प्रशासन का केन्द्र भले दिल्ली हो, पर उसके दिलों का केन्द्र आप हैं। मंत्री जी ने कहा। हँसी में कही गई यह बात न केवल उनके जीवनकाल में प्रत्यक्ष होती रही, बल्कि अब और भविष्य में प्रत्यक्ष होती रहेगी। यह और कुछ नहीं उनके अपनेपन से उपजी लोकश्रद्धा की परिणति थी।

❁ जो स्वाध्याय में प्रमाद करता है, वह कभी अच्छा चिन्तक नहीं हो सकता। जीवनभर युगसाहित्य की संजीवनी द्वारा जीवन जीने की कला से लेकर आत्मिक प्रगति के उच्चतम सोपानों का शिक्षण देने वाले आचार्य श्री बचपन से ही अध्ययनशील थे। यदि स्कूली पढ़ाई ही उनका लक्ष्य होता, तो पाँचवीं से आगे भी अपनी पढ़ाई जारी रखते, किन्तु उसके बाद वह कार्य कहाँ होता जो वे कर पाए।

अपने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत के प्राथमिक ज्ञान के आधार पर ही उन्होंने आगरा की हीविट पार्क लायब्रेरी, मथुरा का सुख-संचारक पुस्तकालय, हाथरस की दो प्रसिद्ध लायब्रेरी, पटना की खुदाबख्श लायब्रेरी, जयपुर के मधुसूदन ओझाजी एवं विश्वविद्यालय के परामनोविभाग का ग्रंथालय, वाराणसी की एनीबेसेण्ट लायब्रेरी तथा कलकत्ता की नेशनल लायब्रेरी के सारे ग्रन्थ पढ़ डाले। उज्जैन के 'कल्पवृक्ष' के सम्पादक श्री दुर्गाशंकर नागर उनके घनिष्ठों में से थे। स्वयं उनकी लायब्रेरी बड़ी विशाल थी। प्रतिदिन २५ से ३० पृष्ठ प्रतिघण्टे पढ़ना उनका प्रिय व्यसन था। पढ़ना भी वही, जो अखण्ड-ज्योति या पुस्तकों के लिए लिखना है। यह ज्ञान के आधार पर ही वे तीस वर्ष की आयु में 'मैं क्या हूँ' लिखकर लगभग साढ़े तीन हजार पुस्तकों के लेखक बन सके।

❁ प्राकृतिक चिकित्सा एवं आयुर्वेद इन दो विधाओं से पूज्य गुरुदेव को बड़ा लगाव था। स्वयं उन्होंने गोरखपुर के प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र से १९४३ में प्रशिक्षण प्राप्त किया था एवं आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों का अध्ययन कर वैद्यक का उच्चस्तरीय ज्ञान अर्जित कर लिया था। गायत्री तपोभूमि में उन्होंने एक निःशुल्क आयुर्वेदिक चिकित्सालय स्थापना के साथ ही आरंभ कर दिया, जो अभी भी चल रहा है। प्राकृतिक चिकित्सा के विशेष सत्र उन्होंने तपोभूमि में भी चलाए व कल्प-साधनाएँ भी करायीं। बाद में शान्तिकुंज में आरण्यक के बन जाने पर चान्द्रायण व्रत एवं कल्पसाधना सत्र चलते रहे। आयुर्वेद के राष्ट्रीय बोर्ड से मान्यता प्राप्त वैद्य थे।

आयुर्वेद में भी उन्हें वनौषधियों से विशेष स्नेह था। यही कारण था कि शान्तिकुंज परिसर में काष्ठ औषधियों का पूरा परिचय देते हुए वनौषधि उद्यान भी उन्होंने लगाया व प्रयोग-परीक्षण हेतु एक सुसज्जित शोध संस्थान भी खड़ा किया। शान्तिकुंज फार्मेसी, वनौषधि चूर्ण व प्रज्ञापेय उन्हीं के महत्वपूर्ण निर्धारण हैं।

❋ पाँचवें दशक के प्रारंभिक वर्षों का प्रसंग है। पूज्य गुरुदेव नेशनल लायब्रेरी कलकत्ता से पुस्तकों का अवलोकन कर लौट रहे थे। रास्ते में गोरखपुर आरोग्य मंदिर के संचालक श्री मोदी से मिलने की इच्छा हुई। उनसे प्रत्यक्ष भेंट के बाद जब गुरुदेव ने बताया कि वे अपनी 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका को बिना विज्ञापन के निकालना चाहते हैं, तो मोदीजी ने कहा- ''मैं आपकी स्थिति अच्छी तरह देख रहा हूँ। आपके बैडिंग पर लगा पैबन्द व आपके कपड़े बताते हैं कि आपकी आर्थिक स्थिति बहुत सुदृढ़ नहीं है। अपना यह पक्ष सशक्त बनाने के बाद कोई व्रत लेना चाहिए। यदि आप विज्ञापन बन्द कर देंगे तो पत्रिका चलेगी कैसे? या तो पत्रिका बंद कर दीजिए या विज्ञापन के आधार पर उसे चलाइये।''

बात व्यावहारिक भी थी व कटुसत्य भी, किन्तु गुरुदेव की संकल्पशक्ति अडिग थी। उन्होंने उसके बाद ही चुनौती स्वीकार कर विज्ञापन बंद कर दिये। पत्रिका खूब चली। बाद में मोदीजी सन् १९५० में गुरुदेव के पास घीयामण्डी आए। गुरुदेव ने अखण्डदीपक के पास ले जाकर कहा- मेरी 'अखण्ड-ज्योति' यह है। इस दिव्य प्रकाश ने ही वह मनोबल प्रदान किया है, जो प्रकाशन का मूल प्राण है।

❋ जीवितों में तो लाखों में पूज्य गुरुदेव ने प्राण फूँके हैं किन्तु कई ऐसे प्रसंग हैं जो उनसे जुड़े पुराने परिजनों को ही विदित हैं। मृत घोषित व्यक्ति को जीवन दान दे देना, यमराज को चुनौती देने के समान है, किन्तु अवतारी सत्ता तो इसमें सक्षम है।

नवसारी के मगन भाई गाँधी गुजरात के कर्मठ कार्यकर्ताओं में से थे। दिल का दौरा पहले भी आ चुका था। दूसरे दौरे ने उन्हें मरणासन्न स्थिति में पहुँचा दिया। गुरुदेव उस समय वहीं से कुछ दूर नवसारी में प्रवचन दे रहे थे। तुरन्त समापन कर वे आणंद उनके घर एक कार्यकर्ता की गाड़ी से पहुँचे। चिकित्सकों से पूछा-''क्या स्थिति है?'' उत्तर मिला-''अभी-अभी हृदय की गति बंद हुई है।'' सबको बाहर जाने को कहकर वे हाथ में हाथ लेकर मौन गायत्री जप करते रहे व फिर आधे घण्टे बाद सबको अंदर बुला लिया। फिर बोले-''मगन भाई! उठो, नींद से जागो, तुम्हें अभी दस वर्ष और मेरा काम करना है।'' डाक्टर खड़े देख रहे थे कि मगनभाई उठकर बैठ गये, आँखें मलते हुए मानो गहरी नींद से जागे हों। गुरुदेव के चरणों में गिर पड़े। सभी परिजन हर्षातिरेक से रो रहे थे। परीक्षित का नवजीवन जो देखा था श्रीकृष्ण के हाथों। इसके बाद एक्सटेंशन की अवधि पूरी कर ठीक दस वर्ष बाद मगनकाका परलोक धाम चले गये। ऐसी मृत संजीवनी थी उनके पास।

❋ यमुना में एक बार बाढ़ आई हुई थी। पानी खतरे के बिन्दु से ऊपर बह रहा था। असकुण्डा घाट पर पूज्य गुरुदेव खड़े यमुना की उत्तंग लहरों को देख रहे थे। एकाएक एक छप्पर व उस पर बैठा एक कुत्ता दिखाई दिया। एक नाविक को उन्होंने दस रुपये में नाव में लेकर चलने को राजी किया व एक रोटी का टुकड़ा लेकर उसके पास पहुँच गये। कुत्ता भयवश नाव में नहीं आ रहा था। वे उछलकर छप्पर पर जा चढ़े व उसे गोदी में उठाकर नाव में ले आये। इस प्रकार अपनी जान खतरे में डालकर भी जीवरक्षा कर वे प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे। ऐसे ही छोटे प्रसंग व्यक्ति को देवमानव, ऋषि, भगवान बना देते हैं।

❑❑❑

# युगव्यास की लेखनी और यह विराट वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव के अस्सी वर्ष के जीवन का एक-एक पल इतना विलक्षण है कि उसकी विवेचना-उपलब्धियों, कर्तृत्व का वर्णन करने का प्रयास यदि किया जाए तो सम्भवतः ढेरों कागज भी कम पड़ें। एक असाधारण स्तर का व्यक्तित्व युगऋषि का था, जिन्होंने अपने ८० वर्ष के २९००० दिनों की अवधि का एक क्षण भी निरर्थक नहीं जाने दिया। यदि इसमें से बाल्यकाल के १५ वर्ष के ५ हजार दिन निकाल भी दिये जाएँ तो यह कहा जाना अतिशयोक्ति नहीं है कि शेष चौबीस हजार दिनों के एक-एक क्षण को उन्होंने गायत्री के लघु अनुष्ठान की तरह गायत्रीमय बनाकर जिया है। उन्होंने जीवन भर साधना की, अगणित पुस्तकों का स्वाध्याय किया, किन्तु जो एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि उनकी रही है, जिसने गायत्री परिवार रूपी विराट संगठन को भी जन्म देने का मुख्य निमित्त बनने का श्रेय प्राप्त किया, वह है उनकी लेखनी की साधना। युगव्यास की तरह जीवन भर वे लिखते रहे व अपने वजन से भी अधिक भार का साहित्य, हर विषय पर युग-संजीवनी के रूप में लिख गए।

मूर्च्छितों में भी प्राणों को लौटा दें, उदास मनों में नूतन शक्ति का संचार कर दें, जीवन जीने की कला का शिक्षण करते हुए कैसे इस यात्रा को आगे बढ़ाया जाए, भौतिक, आध्यात्मिक लाभ कैसे अर्जित किये जाएँ, गुह्यविद्याओं से लेकर उच्चस्तरीय योगसाधनाएँ कैसे सम्पन्न की जाएँ, विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय कैसे सम्भव बनाया जाए, शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक स्वास्थ्य कैसे हस्तगत किया जाए एवं राष्ट्र के नव निर्माण का, परिवार संस्थारूपी प्रजातंत्र के मेरुदण्ड का पुनरुत्थान कैसे हो, ऐसे हर विषय पर पूज्यवर ने अपनी लेखनी चलायी। एक भी विषय उनसे छूटा नहीं। जिस विषय को उन्होंने छुआ, पूरी गहराई से उसकी तह तक जाकर उसके सरल व्यावहारिक पक्ष को जनसमुदाय के समक्ष रखा। यह उनकी लेखनी का जादू ही था कि ममत्व में लिपटे उनके शब्द लाखों व्यक्तियों को उनके अंग-अवयव बनाते चले गए व एक विराट गायत्री परिवार विनिर्मित हो गया। शब्द, भाव संवेदना को छलकाते हुए हर लेख में ऐसे, मानो किसी विशेष राग पर मन को शान्ति देने वाली, तपन में तरावट लाने वाली कोई धुन कहीं बज रही हो।

उनका स्पर्श पाकर लेखनी भी धन्य हो गयी, इस युग का साहित्य-समुदाय भी धन्य हो गया एवं एक विलक्षण कीर्तिमान स्थापित हो गया। १९४० से अनवरत प्रकाशित अखण्ड ज्योति पत्रिका जो बाद में और कई सहचरी पत्रिकाओं जैसे युग-निर्माण योजना मासिक-पाक्षिक-साप्ताहिक, प्रज्ञा अभियान (पाक्षिक), युगशक्ति गायत्री, महिला जाग्रति अभियान, युग-साधना आदि अनेकों के साथ मिलकर पत्रकारिता का एक इतिहास विनिर्मित करती चली आयी है। इस पत्रिका को अब प्रायः साठ वर्ष प्रकाशित होते हो गये हैं, क्योंकि पहला अंक १९३७ में पूज्यवर ने हाथ से बने कागज पर छापा था, पर यह मासिक नियमित न रहकर दो-ढाई वर्ष तक एक पाली का ही काम करता रहा। बाद में नियमित रूप से वसन्तपर्व १९४० से यह पत्रिका पहले आगरा व फिर मथुरा से प्रकाशित होने लगी। इस व अन्य सारी पत्रिकाओं को अकेले एक व्यक्ति द्वारा लिखा जाना एक ऐसा पुरुषार्थ है, जो अवतारी स्तर की सत्ता द्वारा ही सम्भव है। व्यास जी को भी लेखनी के लिए गणेशजी की आवश्यकता पड़ी थी, किन्तु पूज्यवर अकेले लिखते चले गए, अगणितों को प्रेरणा देकर पत्रकारिता के क्षेत्र में जोड़ते चले गए, शताधिक व्यक्तियों को इस क्षेत्र में प्रशिक्षित कर उन्होंने रोजी-रोटी कमाने योग्य बना दिया व स्वयं इस पत्रिका के अतिरिक्त २७०० पुस्तकें भी लिख गए। इन पुस्तकों में आर्षग्रन्थों का आमूलचूल भाष्य (सरल हिन्दी में विज्ञान सम्मत टिप्पणियों के साथ) भी सम्मिलित है, जो उन्होंने १९५९ से १९६२ की अवधि में किया व जिसे अब पुनः संशोधित मुद्रित परम वंदनीया माताजी के सम्पादन में उन्हीं के निर्देशों के अनुरूप किया जा रहा है। इन पुस्तकों में गायत्री साधना सम्बन्धी पहला विश्वकोष, जो गायत्री महाविज्ञान के रूप में प्रकाशित हुआ, भी सम्मिलित है तथा इस विषय पर लिखी गयी ढाई सौ से अधिक पुस्तकें यही एकमात्र प्रामाणिक साहित्य विश्वभर में है, जो गायत्री साधना पर उपलब्ध है। ऋषिस्तर की सत्ता जिसने गायत्रीमय अपने को बना लिया हो, वही यह सृजन कर सकती है।

विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय पर नूतन चिंतन-नितान्त मौलिक चिन्तन पूज्यवर ने ही पहली बार जन-जन के समक्ष प्रस्तुत किया। प्रामाणिक आँकड़ों के माध्यम से साधना विज्ञान का विज्ञानसम्मत प्रस्तुतीकरण से लेकर सर्वधर्म समभाव, यज्ञ विज्ञान व यज्ञोपैथी, मनोविकारों का आध्यात्मिक उपचार, मरणोत्तर जीवन व मानवी काया से लेकर सृष्टि-ब्रह्माण्ड की विलक्षण गुत्थियों को उन्होंने अपने साहित्य के द्वारा जनसमुदाय के समक्ष रखा। व्यक्ति, परिवार और समाज-निर्माण के आधारभूत सिद्धान्त क्या हों, कैसे दाम्पत्य जीवन को शुचितापूर्ण तथा परिवार-संस्था को अटूट गरिमामय बनाया जा सकता है, नारी का उत्थान कैसे सम्भव है, यह युगऋषि के चिंतन-नवनीत के रूप में प्रकाशित वह निधि है जो प्रत्येक के लिए मार्गदर्शिका के रूप में विद्यमान है। रामचरितमानस से प्रगतिशील प्रेरणा से लेकर प्रज्ञापुराण रूपी १९वें पुराण के अठारह खण्डों

मानव-समुदाय सभी एक-दूसरे के सहयोगी हैं । मानव के साथ मानव न भी हो, तो सुनसान में भी वह प्रकृति का आनन्द वैसा ही लेता रह सकता है, वैसा ही नहीं और भी अधिक अच्छी तरह जब वह सूक्ष्म दृष्टि विकसित कर प्राकृतिक सौन्दर्य में अर्थ ढूँढ़ने की कोशिश करता है ।

यह गोमुख की यात्रा तब की गई थी, जब गाड़ियाँ सीधी ऋषिकेश से आगे नहीं चलती थीं । ऋषिकेश से देवप्रयाग का मार्ग भी सन् १९६१ में बना है । इसके बाद चट्टियों पर मुकाम करते-करते पैदल माह-डेढ़माह में यात्री गंगोत्री तक पहुँचता था । वे लिखते हैं-''सँकरी पगडण्डी पर चलते हुए पहली बार मौत का भय हुआ । एक पैर भी इधर-उधर हो जाए, तो नीचे गरजती गंगा के गर्भ में जलसमाधि लेने में कुछ देर न थी । जरा बचकर चलें, तो सैकड़ों फुट ऊँचा पर्वत सीधा तना खड़ा था, एक इंच भी अपनी जगह से हटने को तैयार न था । जीवन और मृत्यु के बीच डेढ़ फुट का अंतर था ।'' ...''सोचता हूँ वह यात्रा तो पूरी हो गई, पर यदि हम सदा मृत्यु को निकट देखते रहें तो व्यर्थ की बातों पर मन दौड़ाने वाली मृगतृष्णाओं से बच सकते हैं । जीवनकाल की यात्रा भी सँकरी पगडण्डी पर चलने के समान है, जिसमें हर कदम साध-साध कर रखना जरूरी है ।''

# विराट वाङ्मय के संकलन का एक नगण्य-सा प्रयास

इतने विराट परिमाण में प्रकाशित साहित्य व और भी जो अभी अप्रकाशित है, काफी कुछ दुर्लभ होने के कारण अब अनुपलब्ध है, परिजनों तक पहुँचे, यह चिन्तन काफी समय से चल रहा था । पूज्यवर ने महाप्रयाण से पूर्व संकेत दिया कि युगसंधि महापुरश्चरण की पूर्णाहुति के आने तक उनका समग्र साहित्य क्रमबद्ध, विषयबद्ध रूप में जन-जन तक पहुँचे, इसका प्रयास उनके उत्तराधिकारियों द्वारा किया जाए । इस साहित्य में वह ही नहीं, जो उन्होंने लिखा बल्कि जो उन्होंने अगणित उद्‌बोधनों, वक्तृताओं के रूप में समय-समय पर अमृतवाणी के रूप में अभिव्यक्त किया, वह भी सम्मिलित किया जाना था । अंततः एक विशाल स्तर के **पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय** की योजना बनी एवं सारा साहित्य प्रारम्भ से लेकर अब तक का संकलन करने की रूपरेखा बनाई गई । इसमें वह सब भी देने का विचार किया गया जो सूक्तियों, आदर्शवाक्यों, प्रेरणाप्रद निर्देशों के रूप में वे समय-समय पर लिखते या अभिव्यक्त करते रहे । साथ ही उनकी प्रेरणा से काव्यक्षेत्र में गोता लगाकर मणिमुक्तक खोज लाने वाले लोकमंगलपरक कविताओं का सृजन करने वाले कवियों व स्वयं पूज्यवर द्वारा रचित काव्य को भी संकलित कर प्रस्तुत करने की रूपरेखा बनी ।

परमपूज्य गुरुदेव का जीवन एक जीती-जागती प्रेरणा-गाथा के रूप में चमत्कारों विलक्षण अनुदानों की थाती के रूप में सभी परिजनों के समक्ष रहा है । जिन्होंने उन्हें नहीं देखा, न उनके साहित्य के सम्पर्क में कभी आये, वह सभी अब इस माध्यम से उन्हें अन्तरंग तक जान पाएँगे और इस संग्रह से लाभान्वित हो सकेंगे तथा उपलब्ध प्रेरणा व मार्गदर्शन से जीवन को नवीन दिशा में मोड़-मरोड़ सकने में सफल होंगे । इन खण्डों में अनेकानेक अनुभूतियाँ, जो लोगों के जीवन में प्रत्यक्ष फलीभूत हुई प्रस्तुत की गयी हैं, साथ ही महापुरुषों के जीवन-चरित्रों से लेकर इक्कीसवीं सदी की रूपरेखा क्या होने जा रही है, कैसे नयायुग सम्भावित है, मानव में देवत्व व धरती पर स्वर्ग अगले दिनों कैसे आएगा, यह सब उनकी ही लेखनी के माध्यम से परिजन पढ़ सकेंगे । यही नहीं, समय-समय पर पूज्यवर द्वारा परिजनों को लिखे गए प्रेरणापरक, मार्गदर्शक, साधनात्मक, परामर्शप्रधान, ममत्व व स्नेह में लिखे गए दुर्लभ पत्र भी प्रकाशित किये जा रहे हैं । अपने आप में यह एक ऐसा अनुपम व दुर्लभ संकलन है, जो सम्भवतः साहित्य जगत के इतिहास में स्वयं में एक अभूतपूर्व स्थापना के रूप में सामने आयेगा । यह अनूठा साहित्य हर घर में, सार्वजनिक वाचनालयों, स्कूल-कालेजों, विश्व-विद्यालयों आदि में रखने योग्य है ।

समग्र वाङ्मय के १०८ खण्डों में वह सब कुछ समेटने का प्रयास किया गया है, जो ऋषियुग्म के माध्यम से लेखन, वक्तृत्व व कर्तृत्व के रूप में प्रकट हुआ है । वाङ्मय का यह प्रथम खण्ड किसी भी विश्वकोष-'प्रोपीडिया' की तरह है, जिसमें समग्र खण्डों की विस्तृत जानकारी, पूज्यवर द्वारा लिखित व सम्पादित तथा अब तक प्रकाशित समूचे साहित्य की सूची, मिशन का संक्षिप्त इतिहास, परमपूज्य गुरुदेव एवं परमवन्दनीया माताजी की जीवन-यात्रा, लीलाप्रसंग विस्तार से दिया गया है । वाङ्मय के इस प्रथम खण्ड को एक प्रकार से भूमिका खण्ड समझा जा सकता है, जिसके द्वारा शेष एक सौ सात खण्डों के माहात्म्य की जानकारी सबको मिल सकेगी । इस माध्यम से पहली बार परमपूज्य गुरुदेव एवं परमवन्दनीया माताजी के जीवन के कई अलौकिक एवं गुह्य पक्ष भी लोगों के सम्मुख आयेंगे ।

१०८ खण्डों में प्रकाशित हो रहे समग्र वाङ्मय में से प्रथम ७० खण्डों के नाम इस प्रकार हैं-

(१) युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन (समग्र वाङ्मय का परिचय)
(२) जीवन देवता की साधना-आराधना
(३) उपासना-समर्पण योग
(४) साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
(५) साधना से सिद्धि-१
(६) साधना से सिद्धि-२
(७) प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
(८) ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?
(९) गायत्री महाविद्या का तत्त्वदर्शन
(१०) गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
(११) गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
(१२) गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ

का निर्माण कर उन्होंने वह साहित्यनिधि समाज को दी, जो जीवन के काया-कल्प का माध्यम बन गयी। सामाजिक जीवन में छाई कुरीतियों-मूढ़मान्यताओं से कैसे मोर्चा लिया जाए, अन्धविश्वासों को मिटाकर कैसे भव्य समाज की अभिनव संरचना हो, राष्ट्र एक व अखण्ड कैसे बने, यह मार्गदर्शन भी पत्रिका व पुस्तकों के माध्यम से युगऋषि ने सतत किया। संस्कार परम्परा का उन्होंने पुनर्जागरण किया व षोड़श संस्कारों को लोक-प्रचलित कर धर्मतन्त्र से लोकशिक्षण का एक सशक्त माध्यम खड़ा कर भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने, इसे विश्व-संस्कृति बनने के सारे आधार खड़े कर दिए।

परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी का परिचय पाना हो, तो कुछ बानगी यहाँ देखी जा सकती है-

**जब शुष्क मरुस्थल तपते हैं, बहती है मेरी निर्झरिणी।**
**आँधी तूफान मचलते हैं, तब चलती है मेरी तरनी।**
**मुझको हर मौसम सावन है, हर परिवर्तन भाया रहता।**
**आँखों में हरियाली बनकर, मेरा साजन छाया रहता।**
**"युग बीत गए चलते-चलते।"**

ये पंक्तियाँ पूज्य गुरुदेव की अखण्ड-ज्योति पत्रिका से उद्धृत की गयी हैं, जो सन् १९५३ में प्रकाशित हुई थीं। लेखनी का जादूगर, शब्दों का शिल्पी, नाचते-उछलते हृदयों को झकझोरते वाक्यों की रचना करने वाला, क्या उक्ति दें इस महामानव को, समझ में नहीं आता। सरकस में देखा जाता है कि सधे हुए जानवर रिंगमास्टर के इशारे पर सारे करतब दिखाते हैं। मदारी जब जानवरों को साध लेता है तो उनसे मनचाहे करिश्मे-नाच आदि दिखा देता है। हिप्नोटिज्म के विशेषज्ञ जिसे सम्मोहित करते हैं, उससे जो कहते हैं वह करता है।

लगता है पूज्य गुरुदेव की लेखनी में वह जादू था कि वे जो चाहते थे, जैसा चाहते थे, अक्षरों का गुंथन वैसा ही कर दिया करते थे। अक्षर उनके इशारों पर नाचते थे व लेखनी चिन्तन-चेतना के साथ जुड़कर माँ सरस्वती के इस वरद पुत्र के हाथ से स्पर्श होकर स्वयं को धन्य मानती थी। पूज्य गुरुदेव को सिद्धपुरुष, अवतारी, महामानव, उदात्त अंतःकरण वाला एक विशाल परिवार का अभिभावक, एक विराट संगठन का सृजन करने वाला, गायत्री व यज्ञ को जन-जन के मन-मन में स्थापित कराने वाले से लेकर एक वैज्ञानिक, मनीषी, ऋषि सब कुछ माना जाता है, किन्तु एक कुशल लेखनी का शिल्पी, हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक अनूठी विधा रचने वाला अभूतपूर्व साहित्यकार वाला पक्ष ऐसा था, जो स्वयं हिन्दी जगत उनके जीवित रहते नहीं जान पाया। जब भी उनके साहित्यकार पक्ष पर शोधकार्य होगा, तो यह प्रकाश में आएगा कि साहित्य की एक विलक्षण विधा का ही इस व्यक्ति के माध्यम से जन्म हो गया। हिन्दी की गरिमा गाने वाले तथाकथित बुद्धिजीवी सम्भवतः तब इस विराट व्यक्तित्व के प्रचुर परिमाण में लिखे गए साहित्य का मूल्यांकन करेंगे व पश्चात्ताप करेंगे कि उनके जीवित रहते उन पर यह कार्य क्यों नहीं सम्पन्न हो सका।

परिमाण की दृष्टि से पूज्य गुरुदेव ने बहुमुखी विषयों पर इतना कुछ लिखकर रख दिया है कि उसका विवेचन-प्रस्तुतीकरण इस लेख क्या, किसी ग्रन्थ में भी सम्भव नहीं। एक साक्षी के रूप में उनके साहित्यकार पक्ष को, शब्दों को गूँथने वाले कलाकार के रूप में दृश्यमान पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए एक ही पुस्तक का हवाला देना काफी होगा-'सुनसान के सहचर' जिसे पाठक विस्तारपूर्वक पूर्वार्द्ध के अंक में पढ़ चुके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक जैसा कि परिजन जानते हैं, पूज्य गुरुदेव द्वारा अपने १९६०-६१ के अज्ञातवास में लिखी गयी लेखमाला साधक की डायरी के पृष्ठ, 'कोई एक' के संस्मरण तथा 'सुनसान के सहचर' के रूप में अखण्ड-ज्योति के सन् १९६० व ६१ के अंकों में प्रकाशित हुई थीं। इसमें उन्होंने प्रकृति व हिमालय को जितना समीप से देखा व उसका अध्ययन कर अपनी अभिव्यक्ति-शब्दों के रूप में की है वह अत्यन्त भावभरी व बार-बार पढ़ने योग्य है। हरीतिमा व पहाड़, उस पर भी हिमालय से उन्हें अत्यधिक लगाव था। पूज्य गुरुदेव की मार्गदर्शक सत्ता ने उन्हें बार-बार वहीं बुलाया भी। अपनी शेष तीन बार की यात्रा में तो उन्होंने वह कार्य किया, जो उन्हें सौंपा गया था-कठोर तप, सूक्ष्म मार्गदर्शक ऋषिसत्ताओं का साक्षात्कार तथा शक्ति का हस्तान्तरण, साथ ही आर्षग्रन्थों का भाष्य एवं भविष्य की अपनी योजनाओं का ताना-बाना भी इन्हीं यात्राओं के दौरान उन्होंने बुना, किन्तु जो संस्मरण उन्होंने अपनी कृति 'सुनसान के सहचर' में लिखे हैं, वह स्वयं में अनूठे हैं। प्रकृति का यह विलक्षण स्वरूप भी हो सकता है, उसके कण-कण से महत्त्वपूर्ण शिक्षण इस तरह भी लिया जा सकता है, यह इस पुस्तक को पढ़ने के बाद समझ में आता है।

सैलानियों के, पर्यटन करने वालों के अनेकानेक संस्मरण छपते रहते हैं, किन्तु इस विलक्षण सैलानी ने जो कठोर तपस्वी भी था, जिस गहराई से उस परमात्मसत्ता का अध्ययन किया है, जो प्रकृति के रूप में हमारे चारों ओर संव्याप्त है व हमारी प्राणरक्षक सत्ता भी है, यह देखते ही बनती है। इसकी अनुभूतियाँ मन में उठतीं, भावभरी हिलोरें जिस तरह शब्दों का आकार पाकर कागज पर उतरती चली गईं, वह एक साधारण लेखक का नहीं, सैलानी का नहीं, प्रकृतिप्रेमी का नहीं, वरन् एक ऐसे महापुरुष का चमत्कार है, जिसे मानो सरस्वती सिद्ध हो, जो प्रकृति और पुरुष के एकाकार होकर अद्वैत होने के रूप में अपना अस्तित्त्व परमसत्ता में ही विलय कर चुका हो तथा जो सपेरे की बीन पर साँप को लहराने की तरह अपनी भाव-संवेदनाओं से, शब्द-व्यंजनाओं को नचाता हो, थिरकाता हो।

अपनी गंगोत्री-गोमुख यात्रा के दौरान पूज्य गुरुदेव ने दुर्गम हिमालय की यात्रा भी की थी। एकाकी व्यक्ति क्या प्रकृति के सान्निध्य का आनन्द ले सकता है? उत्तर है-हाँ। जब हम 'सुनसान के सहचर' के पृष्ठ पलटते हैं, तो लगता है जीवजगत, वनस्पति-समुदाय, यह विराट अंतरिक्ष व

(१३) गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
(१४) गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
(१५) सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
(१६) मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
(१७) प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
(१८) चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
(१९) शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
(२०) व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
(२१) अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
(२२) चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
(२३) विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
(२४) भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
(२५) यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
(२६) यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
(२७) युग-परिवर्तन कैसे ? और कब ?
(२८) सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
(२९) सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
(३०) मर्यादा पुरुषोत्तम राम
(३१) संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
(३२) रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
(३३) षोडश संस्कार विवेचन
(३४) भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
(३५) समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
(३६) धर्मचक्र प्रवर्त्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
(३७) तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
(३८) प्रज्ञोपनिषद्
(३९) नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
(४०) चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
(४१) जीवेम शरद: शतम्
(४२) चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
(४३) हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्तिस्तम्भ
(४४) मरकर भी अमर हो गए जो
(४५) सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक सेवाधर्म के उपासक
(४६) भव्य समाज का अभिनव निर्माण
(४७) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
(४८) समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
(४९) शिक्षा एवं विद्या
(५०) महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन-प्रसंग १
(५१) महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन-प्रसंग-२
(५२) विश्व-वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
(५३) धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
(५४) मनुष्य में देवत्व का उदय
(५५) दृश्य जगत की अदृश्य पहेलियाँ
(५६) ईश्वर-विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
(५७) मनस्विता, प्रखरता और तेजस्विता
(५८) आत्मोत्कर्ष का आधार-ज्ञान
(५९) प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
(६०) विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
(६१) गृहस्थ : एक तपोवन
(६२) इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
(६३) हमारी भावी पीढ़ी और उसका नव-निर्माण
(६४) राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
(६५) सामाजिक नैतिक, एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
(६६) युगनिर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
(६७) प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
(६८) पूज्यवर की अमृतवाणी-१
(६९) विचारसार एवं सूक्तियाँ-१
(७०) विचारसार एवं सूक्तियाँ-२

उपरोक्त खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं । इनके अतिरिक्त भी ३६ खण्डों की सामग्री संपादकीय प्रक्रिया में है, जिनके प्रस्तावित खण्डों की संख्या एवं विषय, सामग्री इस प्रकार है-

**प्रस्तावित खण्ड-**

(१) अध्यात्मदर्शन-१ खण्ड
(२) मनोविज्ञान एवं जीवन जीने की कला-५ खण्ड
(३) समाजपरक-२ खण्ड
(४) परिवारपरक नारी-३ खण्ड
(५) अमृतवाणी-४ खण्ड
(६) अपनों से अपनी बात-२ खण्ड
(७) युगशिल्पियों का मार्गदर्शन-२ खण्ड
(८) परिचयात्मक मिशन-१ खण्ड
(९) वैदिक वाङ्मय वेदसार-२ खण्ड
(१०) महापुरुषों के जीवन चरित्र-२ खण्ड
(११) कथानकों का-१ खण्ड
(१२) काव्य-४ खण्ड
(१३) ऋषिचिन्तन-१ खण्ड
(१४) अमृतकण-१ खण्ड
(१५) पत्र पूज्यवर के-१ खण्ड
(१६) अनुभूतियाँ-१ खण्ड
(१७) पुराण +उपनिषद +तंत्र-मंत्र महाविज्ञान-३ खण्ड

यह सभी सामग्री इन दिनों सम्पादन-मंडल के समक्ष है । कुल १०८ खण्डों में भी यद्यपि युगऋषि का समग्र लेखन, चिंतन, वक्तृत्व व कर्तृत्व समाता नहीं है, फिर भी उन्हें एक माला के मनकों की भाँति पिरोने का प्रयास किया गया है । निश्चित यह संग्रह जो युगव्यास की लेखनी से निस्सृत चिंतन चेतना का है, हर किसी के लिए प्राणों से भी बढ़कर अमूल्य निधि है । जो कुछ भी साहित्य परमपूज्य गुरुदेव ने आद्यावधि लिखा है, जो कुछ भी उन्होंने कहा है अथवा जो कुछ भी उन्होंने चिंतन कर लाखों-करोड़ों को उद्वेलित-आन्दोलित व अनुप्राणित कर श्रेष्ठ राह पर चलने योग्य बना दिया है, वह सब कुछ इस संग्रह में है । समग्र वाङ्मय जब सब के समक्ष आयेगा, तब ही वास्तविक मूल्यांकन सभी कर सकेंगे । सुनिश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि यह **"न भूतो, न भविष्यति"** की उपमा वाली एक ऐसा दुर्लभ संकलन है, जिससे वंचित रहने वाले को मात्र पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा ।

❑❑❑